ISSN : 09755756

कला - वैभव

KALA - VAIBHAW

UGC CARE LISTED JOURNAL

संयुक्तांक 28 – 29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)
विभागीय शोध – जर्नल (रेफरीड)

प्रधान संपादक
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

ISSN: 09755756

कला–वैभव

KALA-VAIBHAVA

(UGC CARE Listed Journal)

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

संरक्षक

डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर,
(पद्मश्री एवं संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित),
कुलपति,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

सम्पादक मण्डल

प्रोफेसर (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी,
कुलसचिव एवं अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) के. एन. तिवारी
अधिष्ठाता, कला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

पद्मश्री अरुण कुमार शर्मा,
सेवानिवृत्त, अधीक्षण पुरातत्त्वविद् एवं
पूर्व पुरातात्त्विक सलाहकार, छ.ग. शासन, रायपुर।

आचार्य (डॉ.) रमेन्द्रनाथ मिश्र,
इतिहासकार, रायपुर।

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी,
पूर्व विभागाध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रोफेसर (डॉ.) शिवाकान्त द्विवेदी,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)।

प्रधान सम्पादक

डॉ. मंगलानंद झा,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

परामर्श मंडल

प्रो.(डॉ.) मृदुला शुक्ल
पूर्व अधिष्ठाता, कला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) नीता गहरवार
अधिष्ठाता, नृत्य संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) नमन दत्त
अधिष्ठाता, संगीत संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) राजन यादव
अधिष्ठाता, दृश्यकला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

डॉ. योगेन्द्र चौबे
अधिष्ठाता, लोक संगीत संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

कला–वैभव

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

भारतीय कला, इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य का वार्षिक शोध जर्नल (रेफरीड)

(Included in UGC CARE List)

© प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)।

प्रकाशक : इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)–491881।

ISSN: 09755756

मुद्रक : छत्तीसगढ़ पाठ्य पुस्तक निगम, रायपुर।

प्रधान संपादक : डॉ. मगलानंद झा,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।

कला–वैभव (संयुक्तांक 28–29) में प्रकाशित लेखों/रचनाओं में वर्णित विषय–वस्तु/तथ्यों तथा निष्कर्षों इत्यादि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सम्बन्धित लेखकों/रचनाकारों का है। संपादकगण अथवा प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।

संपर्क : कुलसचिव – 07820–234232
डॉ. एम.एन. झा – 94241–11394
ई–मेल – kalavaibhav@ iksv.ac.in

आवरण चित्र : उमा–महेश्वर की अद्‌भुत प्रतिमा सिरपुर। इस प्रतिमा के पादपीठ पर श्री गणेश को माता पार्वती का चरण स्पर्श करते हुए एवं माता द्वारा श्री गणेश जी के शीश पर आशीर्वाद के रूप में हाथ रखे हुए प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार का दृश्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है।

– प्रधान सम्पादक

ISSN : 09755756

कला - वैभव

KALA - VAIBHAW

UGC CARE LISTED JOURNAL

संयुक्तांक 28 – 29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)
विभागीय शोध – जर्नल (रेफरीड)

प्रधान संपादक
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

कला–वैभव

संयुक्तांक 28–29

अनुक्रमणिका

❖ **शुभकामना संदेश**

- **डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर,** (पद्मश्री से सम्मानित),
  कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।
- **प्रो. (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी,**
  कुलसचिव, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।
- **प्रो.(डॉ.) के. एन तिवारी,**
  अधिष्ठाता, कला संकाय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।

❖ **सम्पादकीय**

- डॉ. मंगलानंद झा,
  प्रधान संपादक।

❖ **व्यक्तित्त्व – चर्चा**

क्र.	विषय	लेखक	पेज क्र0
1.	देदीव्यमान लोक–कलाकार डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर	मंगलानंद झा	1-6

शोध–लेख

ANCIENT INDIAN HISTORY, CULTURE AND ARCHAEOLOGY

2.	देवगढ़ का दशावतार मंदिर –	अमित कुमार	7-11
3.	1857's Freedom fighter Late. Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.	Anand K. Bhoyar	12-15
4.	आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला	अनुप परसाई प्रताप पारख	16-19
5.	बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमा	आराधनाचतुर्वेदी मंगलानंद झा	20-22
6.	छत्तीसगढ का भूमिज मंदिर भोरमदेव (परमार युगीन स्थापत्य कला का प्रभाव)	आशुतोष चौरे	23-27
7.	The Landscape and Settlement Pattern of Megalithic Sites of District Pulwama, Kashmir	Abdul Adil Paray Manoj Kumar	28-32

8.	स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य	चैन सिंह नागवंशी 'श्याम'	33-38
9.	Archaeological investigation of Bewarti, Kanker	Dinesh Nandini Parihar Bhenu	39-43
10.	प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	कृष्णकुमार त्रिपाठी	44-53
11.	Resonance Of Lust In Women Imagery With Special References To Ancient Till Medieval Indian Art	Loveneesh Sharma Ms. Srishti Banerjee	54-60
12.	अनन्तशायी विष्णु	मंगलानन्द झा	61-63
13.	Everything is Art: A Reality Check	Maninder Singh Dhunna	64-72
14.	पभोसा से प्राप्त अभिलेख	मीनू अग्रवाल	73-79
15.	छत्तीसगढ़ के नव–उत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृणकला	मोहन कुमार साहू	80-85
16.	एरण से प्राप्त नवीन सती अभिलेखों का पाठ वाचन एक अनुशीलन	मोहन लाल चढार	86-93
17.	एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष	नागेश दुबे	94-99
18.	Epigraphical evidences in Vidarbha region (Maharashtra) related to Buddhism	Nishant Sunil Zodape	100-107
19.	खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थलः सती स्तम्भ एवं योद्धा प्रतिमाओं के विशेष संदर्भ में	नितेश कुमार मिश्र ढालसिंह देवांगन भाग्यश्री दीवान	108-112
20.	विभिन्न स्वरूप की अद्भुत प्राचीन हनुमान प्रतिमायें	प्रसन्न सहारे	113-115
21.	पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ	प्रशांत चौरे मंगलानन्द झा	116-119
22.	The Historical Context of Nimlatapurana: Tracing its Evolution and Influence	Rashid Manzoor Bhat	120-126
23.	Exploring the Bene Ephraim: Uncovering the Jewish Identity and Culture in Andhra Pradesh	Ratna Successena Dr.E.V. Padmaja	127-135
24.	Newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga Image from Lupursingha, Subarnapur, Odisha: An Appraisal	Rudra Prasad Behera Panchanan Mishra Shankar Jai Kishan	136-140
25.	सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण	शबीना बेगम	141-145
26.	Chalcolithic Culture In Saryupar Region Of Uttar Pradesh	Sandeep Kumar Chaudhary	146-155

27.	ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन (छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगॉव जिले के संदर्भ में)	एस. कुमार सपना शर्मा सारस्वत	156-160
28.	Varanasi – An Iconic Cultural Heritage city of India: Exploring its cultural Heritage tourism products and the status of tourism post covid Pandemic.	Shipra Singh Chauhan	161-168
29.	दीदारगंज चामर धारिणी यक्षी	शुचि	169-172
30.	छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना	शुभ्रा रजक	173-174
31.	नव उत्खनित स्थल जमराव–एक अध्ययन	सुधीर कुमार उपाध्याय	175-178
32.	प्राचीन भारतीय लोकजीवन में अग्नि एक अध्ययन	सुनील कुमार,	179-182
33.	जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तनशील स्वरूप	तनूजा सिंह	183-186
34.	माटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्ण–लीला स्तम्भः एक अध्ययन	विनय कुमार	187-192
35.	An Overview Of Suggestive Resonance As Dhvani In Indian Arts Till The Mughals	Varij Khanna, Loveneesh Sharma,	193-202

DANCE

36.	''नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण'' (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में)	अंजना चौरसिया	203-211
37.	कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदन	कविता गंगबोईर	212-213
38.	पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान	शीतल कुमार उरांव	214-219
39.	कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली अंग भंगिमाएं	विशाल कुमार	220-225

ENGLISH

40.	Physical benefits and Indian Dance Forms: A scientific Approach	Anita Pandey Professor I. D. Tiwari	226-229
41.	The candour behindIbis	C.P. Pramod	230-233
42.	Hinua Achebe'sThings Fall Apart:A Colonial Analysis	Jabbar Ahmed	234-243
43.	Climate Fiction in 21st Century: (Re) awakening Eco-consciousness in Humans	Kaustubh Ranjan Ms. Sindhu Nair	244-247

44.	Digital Storytelling Of Indian Folklore And Mythology Through Social Media: An Empirical Study	kajal rahul bais kanchan thakur	248-254
45.	Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar	Niresh Kumar Kurre I. D. Tiwari	255-257
46.	Volue-Based Education	Prafulla Kumar	258-264
47.	Going Beyond The Language Dilemma: A Study of Poile Sengupta's Keats Was A Tuber	Satya Prakash Prasad Shiv Kumar	265-271
48.	Negotiating Marginalities: Gender, Sexuality and Disability inMargarita with a Strawand Barfi!	Satya Prakash Prasad Anisha Kaul Abhishek Jha	272-277
49.	The Oppression Faced By Female Characters In Ann Petry's Novel "The Street"	Shweta Mour, Ashok Singh Rao	278-280
50.	Environment in India: A Study of Continuity and Changes of Forest in Dandakaranya	Tirtharaj Bhoi	281-286

FOLK MUSIC

51.	उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप	अरूण मिश्रा	287-290
52.	बस्तर दशहरा (छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में)	अनिल कुमार पाण्डेय जितेन्द्र कुमार साखरे	291-297
53.	छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य–व्यंग्य	मानक चंद टंडन	298-304
54.	कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवन–शैली और संस्कृति	मोनिका साहू	305-308
55.	शरीर कला एवं दृश्य भाषा पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना	नीलिमा पाण्डेय	309-318
56.	बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवनद्ध वाद्य	पुनीत पटेल	319-328
57.	कमलनारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य विषय	राजन यादव	329-336
58.	छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना	रंजीत कुमार मोहने	337-341
59.	लोक कला को समर्पित कलाकार 'श्री ज्योति भट्ट'	श्रुति अम्बेश चन्द्र	342-347
60.	छत्तीसगढ़ी लोक–गीतों में ''राम''	विधा सिंह राठौर	348-354

HINDI

61.	नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार	अंबुज तिवारी	355-358
62.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता और डॉक्टर धर्मवीर भारती	देवराज वर्मा देवमाईत मिंज	359-363
63.	प्रेमचन्द कृत 'मंत्र' आंतरिक विकास की कहानी	जयति बिस्वास	364-368

64.	मिथिलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण – लोकवृत्त एवं लोककलागत	जीतलाल	369-374
65.	मोहब्बत के बाज़ार में ऐ 'नज़ीर' अब	कुमुद रंजन मिश्र	375-379
66.	छत्तीसगढ़ के मौखिक स्रोतों में गांधी दर्शन	सरिता साहू	380-388
67.	संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार	उमेंद कुमार चंदेल	389-392

MUSIC

68.	संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना	दिवाकर कश्यप	393-397
69.	Samyak Geetam	Indirani Chakravarti	398-406
70.	ख्याल के बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण	जगदेव नेताम	407-409
71.	ठेका एक संक्षिप्त अध्ययन	जगजीत शाह	410-411
72.	'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप	लिकेश्वर वर्मा	412-417
73.	वर्तमान शिक्षा में संगीत शास्त्र की सहभागिता	श्रुति कश्यप	418-422

PAINTING

74.	Humanising Animals In Advertising	Debasish Chakraborty	423-426
75.	Influence of Archetype Patterns in Indian Paintings	Juhi Latwal Mehra	427-429
76.	भारतीय चित्रकला में अमूर्तन – सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त	के. राजलक्ष्मी	430-434
77.	Advent of Modern Art in India	keshawram	435-438
78.	कला एवं धर्म में अन्तर्सम्बन्ध	कनक शर्मा	439-441
79.	भारतीय संस्कृति में अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ	पवन कुमार जांगिड़	442-448
80.	छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक	राखी कुमारी	449-453
81.	Emergence Of Evolutionary Art Systems: Is It Really Being A Help To The Art Or Are There More Negatives Than Positives?	Rabi Narayan Gupta	454-460

SANSKRIT

82.	नान्यदेव भूपाल कृत भरत–भाष्यम एक अध्ययन	प्रभाकर कश्यप	461-463
83.	संस्कृते स्तोत्र–परम्परा	पूर्णिमा केलकर	464-467
84.	भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण	पूजा चौधरी	468-470
85.	पुस्तक समीक्षा	कृष्ण कुमार त्रिपाठी	471-474

मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर
(पद्मश्री से सम्मानित)
कुलपति
Mokshada (Mamta)
Chandrakar
(Recipient of Padam Shri)
Vice Chancellor

इन्दिरा कला संगीत
विश्वविद्यालय,
(संगीत, नृत्य एवं ललित कलाओं का
विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़ – 491881
Indira Kala Sangit
Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC, DANCE AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग द्वारा विभागीय शोध–जर्नल कला–वैभव (**UGC CARE Listed Journal**), संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23) का प्रकाशन हो रहा है।

इस शोध पत्रिका में छत्तीसगढ के साथ– साथ भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य, लोककला एवं संगीत की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित लेख समाहित हैं। एक ही शोध–पत्रिका में अलग अलग विषयों से सम्बन्धित लेखों के समावेश से यह शोध–जर्नल अध्येताओं, शोधार्थियों एवं कला मर्मज्ञों के लिए उपयोगी तथा संग्रहणीय होगा।

संपादक को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ ...

(कुलपति)

प्रोफेसर (डॉ0) आई.डी.तिवारी
कुलसचिव

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

मैं अत्यन्त गौरवान्वित महसूस कर रहा हूँ कि यू. जी.सी केयर लिस्टेड जर्नल कला–वैभव, संयुक्तांक 28-29 का प्रकाशन होने जा रहा है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, विभाग द्वारा प्रकाशित शोध जर्नल कला–वैभव आज के प्रतियोगीशील युग में भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध संस्थानों , तकनीकी केन्द्रों आदि के लिए संग्रहणीय एवं पठनीय है, जो स्वर्णिम कैरियर के लिए लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। उक्त शोध–जर्नल के सफलतम सम्पादन एवं अनवरत प्रकाशन हेतु डॉ० मंगलानंद झा, (प्रधान संपादक) को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ देता हूँ।

अमित शुभकामनाओं सहित.....

(कुलसचिव)

प्रो0(डॉ0) काशीनाथ तिवारी
अधिष्ठाता, कला–संकाय

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, विभाग द्वारा प्रकाशित शोध–जर्नल (यू.जी.सी केयर लिस्टेड) कला–वैभव संयुक्तांक 28–29 का प्रकाशन हो रहा है।

छत्तीसगढ़ राज्य के साथ–साथ देश के विभिन्न क्षेत्रों की कला, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य, लोक–कला एवं थियेटर आदि से संबंधित 'शोध–लेखों' के समावेश से यह शोध–पत्रिका विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित शोधार्थियों, अध्यापकों एवं कला प्रेमियों के लिए निश्चय ही पठनीय तथा संग्रहणीय है। इसके अनवरत प्रकाशन के लिए संपादक डॉ. मंगलानंद झा बधाई के पात्र हैं।

अनंत शुभकामनाओं सहित.....

(प्रो० काशीनाथ तिवारी)

सम्पादकीय

या सांगोपांगवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती।।

(अर्थात् अंग और उपांग सहित ऋग्वेदादि चतुर्वेद एकमात्र जिसकी स्तुति करते हैं, वही अद्वैत ब्रह्म की शक्ति (सरस्वती) हमारा पालन करें)

भारत वर्ष की वसुन्धरा सृष्टि के समय से लेकर वर्तमान तक नित्य निरन्तर उर्वरा रही है। संगीत, नृत्य, चित्रकला, लेखनकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला आदि विधाओं में मानव की प्रगतिशीलता एवं रचना प्रियता का आभाष होता है। प्रागैतिहासिक कालीन समाज को आमतौर पर असभ्य माना जाता है, पर ऐसा कुछ भी नहीं था। उस समय के मनुष्य पग–पग पर अपनी आवश्यकता के अनुरूप आविष्कार में संलग्न थे। इतिहास गवाह है कि आदिमानवों ने ही कृषि, समाज, अग्नि, हल, कृषि, पहिया, गांव, प्रशासन, रीति–रिवाज, वस्त्र, धर्म, देवी–देवता आदि का समयानुरूप आविष्कार कर उनका विकास व प्रचार–प्रसार किया था। सिन्धु घाटी सभ्यता तो प्राचीन मानव के अत्याधुनिक प्रगतिशीलता को प्रदर्शित करते हैं। लेखनकला में तो मानव समाज इतना विकसित हो गया था कि उन्होंने वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, महाभाष्य, अष्टाध्यायी, चरक संहिता, धर्मसूत्र एवं स्मृति आदि ग्रंथों की रचना करके प्राचीन भारतीय समाज को अनुशासित एवं नियोजित किया।

प्राचीन भारतवर्ष महान आत्माओं की जन्मभूमि भी रही है। श्रीराम जी, श्री कृष्ण जी, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, गुरु नानक देव, कबीरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि का जीवन दर्शन आज भी समूचे विश्व के लिए अनुकरणीय है। इन्हीं महान आत्माओं की श्रेणी में तत्कालीन खैरागढ़ रियासत के महाराज राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं रानी पद्मावती देवी भी है जिन्होंने कला एवं ललितकला शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए अपना वैभवयुक्त विशाल राजमहल को दान में अर्पित कर दिया। जिसमें आज एशिया प्रायःदीप का प्रथम संगीत विश्वविद्यालय संचालित है। जिसका जनप्रिय नाम इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय है। इसी विश्वविद्यालय के हृदय स्थल में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग स्थित है जो प्रतिवर्ष कल–वैभव नामक विभागीय शोध जर्नल का प्रकाशन करता है। अभी तक इस शोध जर्नल के 27 अंक प्रकाशित हो चुके हैं, जो भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शिक्षण संस्थाओं, शोध केन्द्रों आदि के केन्द्र बिन्दु में स्थित रहे हैं।

वर्तमान में शोध जर्नल कला–वैभव संयुक्तांक 28–29 हेतु भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध–केन्द्रों पुरातत्व संचालनालय, तकनीक क्षेत्रों आदि में

सेवारत या सेवानिवृत्त विद्वानों एवं महानुभावों से शोध लेख प्राप्त हुए थे। इनमें से 84 शोध लेखों को दो विषय विशेषज्ञों के परीक्षणोंपरांत उपयुक्त एवं स्तरीय पाये जाने पर उनका प्रकाशन किया जा रहा है। इस अंक में शोध लेखों को अल्फा बेटिकल वर्णक्रम के अनुसार सज्जित किया गया है। उनका विभाजन प्रतिवर्षानुसार वर्ग क्रम में नियोजित है।

प्रस्तुत कला–वैभव (संयुक्तांक 28–29) के सफलता पूर्वक प्रकाशन में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति सम्माननीय पद्मश्री मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित) जी का योगदान अविस्मरणीय है। माननीया विदुषी कुलपति जी का निर्देशन, प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आर्शीवाद से कला–वैभव कृतकृत्य हुआ है। हमारा मार्ग सहज एवं निष्कंटक बनाकर माननीया ने कला–वैभव की यात्रा को निरंतरता प्रदान की है। अतएव उन्हें शत् शत् नमन एवं हार्दिक आभार....। कला संकाय के अधिष्ठाता प्रो.(डॉ.) के.एन.तिवारी जी ने कला–वैभव के प्रकाशन हेतु हमारा सदैव ही उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन किया है। मैं उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के कुलसचिव एवं विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी प्रो. (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी जी हमारे सदैव मार्गदर्शक रहे हैं। उनकी प्रेरणा तथा स्नेह हमें सदैव प्राप्त होता रहा है। जिनके सहृदयता से कला–वैभव का यह अंक अपने साकार रूप में प्रस्तुत है। अतएव मैं उनके प्रति तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ।

प्रथम आलेख व्यक्तित्व चर्चा के अन्तर्गत डॉ. मंगलानंद झा का है जिन्होंने छत्तीसगढ़ की सुप्रसिद्ध लोक गायिका डॉ.मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी के कृतित्व एवं जीवन दर्शन पर प्रकाश डाला है। Abdul Adil ने अपने लेख – The Landscape and Seltlement of Megalithic Site of District Pulwama, Kashmir के अन्तर्गत दृष्टिगोचर पुरावैभव का सफल प्रसारण किया है एवं उनकी पुरातात्त्विक जगत में महत्व को भी रूपाकार किया है। 'नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार' के अन्तर्गत अम्बुज तिवारी ने नारी समाज का सार्थक आकलन प्रस्तुत किया है। अमित कुमार ने ''देवगढ़ दशावतार मंदिर; लेख में उत्तर प्रदेश के पुरातत्व स्थल देवगढ़ में स्थित गुप्तकालीन मंदिर एवं मूर्तिकला का विवेचन प्रस्तुत किया है।

Andnd K. Vyavhar ने अपने लेख ''1875'S Freedom Fighter late veer Baburao Pullisurbapu Rajgond'' के अन्तर्गत भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शहीद आदिवासी वीर की वीरता का वैभव प्रकाशित किया है। ''Physical benfits and Indian Dance forms : A Scientific Approach'' नामक लेख में अनीता पाण्डे और प्रो.आई.डी. तिवारी जी ने भारतीय नृत्य मुद्राओं के परिप्रेक्ष्य में मानव जनित परिष्कार को भलीभाँति प्रतिबिम्बित किया है। अंजना चौरसिया ने अपने लेख –नाट्यशास्त्र एवं अभिनव दर्पण की हस्त मुद्राओं का तुलनात्मक विवरण (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में) के अन्तर्गत दोनों ग्रंथों में वर्णित हस्तमुद्राओं के माध्यम से कथक नृत्य के विकासात्मक स्वरूप को उकेरा है। ''आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला'' नामक लेख में डॉ. अनूप परसाई एवं डॉ. प्रताप पारख ने उक्त प्राचीन मंदिर वास्तु

वैभव को भली प्रकार व सारगर्वित रूप से प्रकाशित किया है। आराधना चतुर्वेदी ने अपने ''बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमा'' लेख में तत्सम्बन्धी विवरणों को प्रस्तुत किया है। ''उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप'' नामक लेख में अरूण मिश्रा ने प्रादेशिक लोक में व्याप्त सांगीतिक चेतना को दिखाया है। डॉ. आशुतोष चौरे ने भोरमदेव मंदिर स्थापत्य एवं उदयादित्य मंदिर स्थापत्य का तुलनात्मक विवरण देते हुए स्पष्ट किया है कि भूमिज मंदिर शैली का आगाज छत्तीसगढ़ की धरा पर भी हुआ। उनके लेख ''छत्तीसगढ़ का भूमिज मंदिर'' में उक्त तथ्य दर्शित है। ऐश्वर्या भट्ट ने ''वाद्य और संवाद'' के परिप्रेक्ष्य में दोनों के परस्पर समन्वय का प्रकाशन किया है। '' The Candour behindlbls'' के अन्तर्गत C.P. Pramod ने तत्सम्बन्धी विवरणों का अच्छा समावेशन किया है। डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम' ने अपने लेख ''स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य'' के तारतम्य में यह तथ्य प्रकाशित किया है कि दैवीय प्रतिमाओं के स्वरूप विधान में तंत्रयानी प्रभाव का महत्वपूर्ण योगदान है। Devasis Chakravarti ने '' Humauising Animals on Advrtising'' के अन्तर्गत अपने मंतब्यों को विषयानुरूप साकार करने का प्रयास किया है। ''स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता और डॉ. धर्मवीर भारती'' नामक अपने लेख में देवराज वर्मा ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में डॉ. धर्मवीर भारती के योगदान का विवरण प्रस्तुत किया है। ''Archaeological Investigation of Bewarti, Kanker'' के अन्तर्गत प्रो. दिनेश नंदिनी परिहार ने कांकेर क्षेत्र में पुरातात्विक अन्वेषण से सम्बन्धित विवरण साझा की है। दिवाकर कश्यप ने अपने लेख ''संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना'' के तहत विषयानुकूल तथ्यों को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया है। ''Chinna Achebe's Things fall aprat a Colonial Analvsis'' के परिप्रेक्ष्य में Jabbar Ahmad ने तत्संबंधी शोधात्मक विवरण प्रस्तुत किये हैं। "Samyak Gitam" में प्रो.(डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती जी ने अपने उच्च मनोभावनाओं का अभिव्यक्तिकरण किया है, जो अत्यंत ही उत्कृष्ट और ज्ञानात्मक है।

''ख्याल की बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण'' नामक अपने लेख में जगदेव नेताम ने विषय पर केन्द्रित सभी तथ्यों को केन्द्रित करने में सफलता अर्जित की है। जगजीत शाह ने ''ठेका : एक संक्षिप्त अध्ययन'' के तहत विषयवस्तु को सटीक रूप देने का सफल प्रयास किया है। डॉ. जयति बिस्वास ने प्रेमचन्द्र कृत 'मंत्र' आंतरिक विकास की कहानी नामक अपने लेख के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं को प्रतिबिम्बित करने में निश्चित ही सफल रही है। ''मिथलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण : लोकवृत एवं लोक कलागत'' के अन्तर्गत जीतलाल ने संबंधित विषय पर अपने सापेक्ष दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है। जितेन्द्र साखरे ने ''बस्तर दशहरा के माध्यम से छत्तीसगढ़ में प्रचलित लोक संस्कृति एवं कला का अच्छा निरूपण किया है। ''In Flnence of Archetype patterns in Indian Painting '' के तहत Mrs. Juhi latwal Mehra ने चित्रकला की विधा से सन्दर्भित अपने मन्तव्यों का बेहतरीन प्रस्तुतिकरण किया है। K. Rajlakshmi ने ''भारतीय चित्रकला में अमूर्तन : सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त'' को केन्द्रित कर चित्रकला में निर्विकारिता के साथ सौन्दर्य का अच्छा निरूपण किया है। Kajal Rahul Bais ने अपने लेख "Digital storytelling of indian folklore and mythology through social media: an empirical study" के अन्तर्गत दण्डकारण्य के वनों में Wify के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय दृष्टिकोण को समक्ष रखा है। कनक शर्मा ने ''कला और धर्म में अन्तर्सम्बन्ध'' के

तहत् दोनों पक्षों को समन्वित रूप से एकाकार कर सफल चित्रण किया है। "Climate Fiction in 21' Century (Re) Awakening Eco-Consciousness in Humans" को केन्द्रित करते हुए Dr. Kaustubh Ranjan ने विषयानुकूल तथ्यों को सार्थक रूप से प्रतिबिम्बित किया है। कविता गंगबोईर ने ''कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदान'' के अन्तर्गत कथक और महिला को गुणानुरूप सिद्धांतों में नियोजित करने में पूर्ण सफल हुए है। "Advent of Modern Art in India" के अधीन केशव राम ने आधुनिक कला को भारतवर्ष के सन्दर्भ में समीकृत करके अनोखी पहल की है। कुमुदरंजन मिश्रा ने ''मोहब्बत के बाजार में ऐ नजीर ''अब'' के अन्तर्गत अपने दृष्टिकोण को सरल एवं सुवाच्य शब्दों में पिरोया है। डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी ने ''प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि'' के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ प्रदेश का आदि से वर्तमान तक का सम्पूर्ण विवरण तथ्यात्मक रूप से प्रकाशित किया है। आप निश्चय ही साधुवाद के पात्र है। लिकेश्वर वर्मा ने अपने लेख 'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप में गायकी की विशिष्ट विधा तराना को केन्द्र बिन्दु में रखकर अपने विचार को तथ्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। "Resonance of Lust Women Imagevy with Special References to ancient till medieval Indian Art" के अन्तर्गत Loveneesh Sharma ने प्राचीन काल से लेकर मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में महिला पात्रों की उपस्थिति की विशिष्टता पर रूचिकर मंतव्य प्रकट किये हैं। मानक चंद टंडन ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य व्यंग्य'' के तारतम्य में उन प्रचलित लोकगीतों के सन्दर्भ पेश किये है जिन्हें पढ़कर या सुनकर दर्शक प्रसन्न हो उठते हैं। डॉ. मंगलानन्द झा ने ''विष्णु की विशिष्ट शयनासीन (शेषशायी) प्रतिमा'' के अन्तर्गत सृष्टि की उन दृश्यों को प्रत्यक्ष किया है, जब महा जल प्रलय के दौरान समस्त विश्व जल समाधिस्थ हो गये थे। उक्त प्रतिमा में तत्संबंधी दृश्य उत्कीर्णित प्राप्त होते है, जो अनोखी और अलभ्य है।

Maninder Singh dhunna के लेख "Everything's is Art a Reality Check" में विषयानुरूप की सूक्ष्मता पूर्वक विवेचना निश्चित ही सफलता की श्रेणी में है। डॉ. मीनू अग्रवाल ने अपने लेख ''पभोसा से प्राप्त अभिलेख'' को केन्द्रित करते हुए उसका भलीभाँति सराहनीय प्रकाशन किया है। मोहन कुमार साहू ने ''छत्तीसगढ़ के नवउत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृणकला'' के अन्तर्गत तत्संबंधी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है। ''एरण से प्राप्त नवीन सती अभिलेखों का पाठवाचन : एक अनुशीलन'' नामक लेख में डॉ. मोहन लाल चढार ने प्राचीन स्थल एरण एवं वहां से प्राप्त महत्वपूर्ण पुरावशेषों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यह एक सफल प्रयास है। मोनिका साहू ने अपने लेख 'कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवनशैली एवं संस्कृति'' के अन्तर्गत तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किये हैं।

डॉ. नागेश दुबे ने अपने लेख ''बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम स्थल एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष'' के अन्तर्गत विषयानुरूप सार्थक निरूपण प्रस्तुत किया है। जो उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण हैं। नीलिमा पाण्डेय ने ''शरीर कला एवं दृश्य भाषा : पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना'' नामक अपने लेख में गोदना से

संदर्भित रहस्यों और तथ्यात्मक सौन्दर्य का भलीप्रकार विवेचन किया है जो निश्चय ही अध्ययन के योग्य है। "Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar" में Niresh Kumar Kurre ने बौद्ध धर्म के उत्थान में डॉ.बी.आर. आम्बेडकर के प्रयासों की चर्चा की है तथा विषयानुकूल मंतव्य प्रकट किये हैं। Nishant Sunil ने अपने लेख "Epigraphical evidence in Nidarbha Region (Maharashtra) related to Buddhism" में चयनित विषय को भलीभाँति सन्दर्भित किया है और अपनी विचारधारा को प्रकट किया है। डॉ. नितेश कुमार मिश्र ने अपने लेख ''खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थल : सतीस्तम्भ एवं योद्ध प्रतिमाओं के विशेष सन्दर्भ में'' के अन्तर्गत चयनित विषय को सारगर्वित रूप से प्रस्तुत किया है जो उपयुक्त है। पवन कुमार जांगिड़ के लेख ''भारतीय संस्कृति में अकबर कालीन चित्रित ग्रंथ'' विषय की सार्थकता को प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सफल प्रयास का उदाहरण है। ''भर्तृहरि कृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण'' नामक अपने लेख में पूजा चौधरी ने पूर्वकालीन पर्यावरणीय सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है। प्रभाकर कश्यप ने अपने ''नान्यदेव भूपाल कृत भरत भाष्यम् : एक अध्ययन'' नामक लेख में तत्सम्बन्धी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है। जो पठन, पाठन और ह्रदयंगम के योग्य है। ''विभिन्न स्वरूप की अद्भुत हनुमान प्रतिमाएँ'' के अन्तर्गत प्रसन्न सहारे ने अपने लेख में हनुमान प्रतिमाओं के संदर्भ में विवरण प्रस्तुत किये हैं। Prafulla Kumar Mehar ने अपने लेख "Volue-Based Education में तत्संबंधी उम्दा विचार व्यक्त किये हैं। ''पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ'' के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ स्थित पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाओं पर प्रशांत चौरे एवं डॉ. मंगलानंद झा ने अच्छा प्रकाश डाला है। ''संस्कृते स्त्रोत परम्परा'' विषय पर डॉ. पूर्णिमा केलकर ने संस्कृति विधा पर अपनी असीमित ज्ञान का प्रकाशन किया है।

बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवनद्ध वाद्य के तहत पुनीत पटेल ने विषयानुरूप अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। "Emergence of evolntionary art Systems : Isit really being a help to the art or are there more nagatives than positives" नामक अपने लेख में Dr. Ravi Narayan Gupta ने तत्संबंधी मन्तव्यों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये है। जो उल्लेखनीय व पठनीय है। प्रो.राजन यादव ने अपने लेख ''कमल नारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य विषय'' को दृष्टिगत रखते हुए खैरागढ़ रियासत के पूर्व शासक की कला प्रियता के साथ रचना प्रियता का भी बखूबी प्रतिपादन किया है, जो अवलोकनीय है। डॉ.राखी कुमारी ने अपने लेख ''छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक'' के सन्दर्भ में विषयानुकूल अपनी लेखनी चलायी है, जो काबिले गौर है। ''छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना'' के तहत् रंजीत कुमार मोहने ने छत्तीसगढ़ प्रदेश के नाट्य विधा के माध्यम से नाट्य लेखकों की मनोभावनाओं का अच्छा चित्रण किया है। Rashid Manzoor Bhat ने अपने लेख "The Historical Context of Nimalatapurana : Tracinh its evolution and intlnence" के माध्यम अपने मन के उद्गारों को विषय के तारतम्य में सुरूचिपूर्ण ढंग से

सज्जित किया है। जो सराहनीय और उत्प्रेरक है। Ratna Successena ने "Exploring the bone ephrain : Vncovering the jiwish Identity and Culture in Andhra Pradesh" के तहत अपने मन्तव्यों को विषयानुकूल रख पाने में पूर्ण सफलता हासिल की है। अतएव वे साधुवाद के पात्र है। Rudra Prasad Behara ने अपने लेख "Newly decovered Sadabhinja Mahis Mardini Durga Image form lupursingh subhrnapur, oddisa An a appraisal" के परिप्रेक्ष्य में तत्संबंधी सभी विषयों का प्रकाशन किया है जो उनके मनोभाव में अविरल रूप से प्रवाहित हो रहा था। शबीना बेगम ने ''सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण'' नामक अपने लेख में उत्खनन से प्राप्त कलचुरि शासकों के मुद्राओं का भली प्रकार विवरण प्रस्तुत किया है, जो महत्वपूर्ण है। Dr. Sandeep Chaudhary ने "Chalcolithic culture in Sarynpur region of Uttar Pradesh" में वह समस्त तथ्यों की जानकारी साझा की है, जो उत्तरप्रदेश के क्षेत्र विशेष को प्रकाशित करते हुए सम्पूर्ण प्रदेश की संस्कृति को सुवासित कर पाने में पूर्ण सक्षम है। एस. कुमार और डॉ. सपना शर्मा सारस्वत के लेख ''ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन'' में वर्तमान को दृष्टिगत रखकर अच्छा व संतुलित रूप से समसामयिक विचारों का प्रतिपादन है। निश्चय ही आपके लेख आज के कृषि तकनीक को श्रेयस्कर बनाने में सर्वथा योग्य है। डॉ. सरिता साहू ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ के मौखिक स्त्रोतों में गांधी दर्शन'' के माध्यम से अपने विचारों को विषयानुकूल बनाया है। आपके लेख निश्चय ही बेहतरीन है। "Going Beyond the langnge Dilemma a study of poile Sengypta's Keats was a tuber" नामक लेख के लेखक Satya prakash prasad & Dr. shiv kumar ने तत्संबंधी विचारधारा को बखूबी अपनी लेखनी से मूर्त्त रूप प्रदान करने में सफलता अर्जित की है। यह निश्चय ही प्रशंसनीय है। "Negotiating marginalities heder Sexmality and Disability in marginalita with a Strawand Barfi" नामक अपने लेख में Dr. Satya prakash prasad, Anisha kaul & Abhishek Jha ने संयुक्त रूप से अपने विषय के अनुरूप विचारधारा को सापेक्ष एवं उत्तरोन्मुखी बनाया हैं। विषय की सार्थकता एवं लेखनी की विशिष्टता आलेख में झलकती है। Shital Kumar ने अपने लेख – ''पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान'' के सन्दर्भ में अपने विचारों को विषयानुकूल सुव्यवस्थित किया है। जिससे आपकी लेखनशैली की विशिष्टता सामने आ गई है।

"Varanasi- An Iconic Culture Heritage City of India : Exploring its Cultural Heritage Tomism post covid pandemic" नामक लेख में लेखिका Shipra Singh Chauhan ने अपनी बेहतरनी साभ्यता व सुन्दर शब्दों के संयोजन के लक्ष्य को पूर्ण किया है। डॉ. श्रुति अम्बेश चन्द्र ने अपने लेख ''लोककला को समर्पित कलाकार'' श्री ज्योति भट्ट'' में उक्ताशय के विचार रखते हुए ज्योति भट्ट के योगदान को अविष्मरणीय बताया है। जो उचित एवं समसामयिक भी है। डॉ. श्रुति कश्यप ने अपने लेख ''वर्तमान शिक्षा में संगीत शास्त्र की

सहभागिता के अन्तर्गत अपने विचारों का प्रस्तुतिकरण किया है। शुचि ने ''दीदारगंज चामरधारिणी यक्षी नामक अपने लेख में अत्युत्तम लेखनी चलायी है। जो ज्ञानवर्द्धक और मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले है। ''छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना'' के माध्यम से डॉ. शुभ्रा रजक ने त्रिदेवों में स्थान प्राप्त ब्रह्मा जी की प्रतिमाओं का अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। "The oppression Faced by Female characters in annpetry's Novel "The Street" नामक अपने लेख में Shweta Mour & Ashok Singh Rao ने The Street उपन्यास के नारी पात्रों के गुण धर्म का सटीक एवं प्रभावपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। डॉ0 सुधीर उपाध्याय ने अपने ''नव उत्खनित स्थल जमराव : एक अध्ययन'' के माध्यम से जमराव की पुरातात्विक सम्पदा एवं उनके महत्व पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है, जो महत्वपूर्ण है।

सुमन साहू ने अपने लेख ''मंगरोहण : आदिवासियों का विवाह मण्डप'' की अच्छी एवं मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। यह परम्परा छत्तीसगढ़ के ग्रामीण समाज में सर्वत्र ही प्रचलित है और सिर्फ आदिवासियों तक ही सीमित नहीं है। ''प्राचीन भारतीय लोक जीवन में अग्नि : एक अध्ययन'' के तहत् डॉ. सुनील कुमार ने प्राचीन काल से लेकर आज तक के मानवीय जीवन में अग्नि के महत्व को प्रतिपादित किया है, जो उल्लेखनीय है। डॉ. तनुजा सिंह एवं रूकैया खानम ने ''जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तन शील स्वरूप'' के सन्दर्भ में राजस्थान के जयपुर क्षेत्र में प्रचलित पॉटरी अलंकरणों पर व्यापक प्रकाश डाला है जो प्रशंसनीय एवं अवलोकनीय है। Dr. TirthRaj Bhoi ने अपने लेख "Environment in India : A Study of Continuity and Change of forst in Dandakaranya के परिप्रेक्ष्य में दण्डकारण्य क्षेत्र में परिवर्तनशील पर्यावरणीय स्वरूपों पर विस्तार पूर्वक विचार किया है जो सराहनीय है। इससे बस्तर के इस क्षेत्र में स्थित पर्यावरण की हर पहलू की जानकारी प्राप्त हो जाती है। डॉ. उमेंद कुमार चन्देल ने अपने लेख ''संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार'' में अच्छा मार्ग दर्शन प्रस्तुत किया है कि आज प्रतियोगीशील युग में हम किस प्रकार स्वयं को योग्य बनाकर सफलता का अनावरण कर सकते हैं। ''मॉटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्णलीला स्तम्भ : एक अध्ययन'' के माध्यम से विनय कुमार ने उत्तर प्रदेश स्थित उक्त क्षेत्र से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्णलीला स्तम्भ के अंकित प्रत्येक दृश्यों का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है जो अवलोकनीय है। "An overview of Suggestive Resonance As Dhvani in India Arts Till the Mughals" में वरिज खन्ना एवं प्रो. लवनीश शर्मा ने तत्संबंधी अध्ययनों को मूर्त्त रूप प्रदान किया है जो अध्ययन की दृष्टि से अति उपर्युक्त एवं ज्ञानवर्द्धक है। विधा सिंह ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में राम'' के माध्यम से छत्तीसगढ़ प्रदेश में प्रचलित श्रीराम के जीवन दर्शन को बहुरंगी रूपों में चित्रित किया है जो बहुत मनोरम एवं पठनीय है। विशाल कुमार ने अपने लेख ''कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली अंग भंगिमा'' के तहत् तत्सम्बन्धी विवरणों को क्रमबद्ध रूप से सुसज्जित किया है जो उपयोगी है।

कला–वैभव के प्रकाशन में प्रारंभ से लेकर पूर्णता प्राप्त होने तक सहयोगी डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी ने पूर्ण समर्पण एवं जिम्मेदारी के साथ सहयोग प्रदान किया है। इनके सहयोग को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। अस्तु डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी को कोटिशः धन्यवाद देते हुए आभार व्यक्त करता हूँ। संस्कृत की प्रतिष्ठित विदुषी डॉ. पूर्णिमा केलकर बहन ने भाषागत त्रुटियों को दूर करने में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में महती सहयोग दिया हैं, अतएव इन्हें भी कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। अल्प समय में स्वच्छ मुद्रण हेतु छत्तीसगढ़ पाठ्य पुस्तक निगम, रायपुर को धन्यवाद प्रेषित करता हूँ। अंत में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में जिनका भी तृण मात्र सहयोग परोक्ष और अपरोक्ष रूप से प्राप्त हुआ है और मानवीय भूल वश उल्लेखित नहीं हो पाया हो उन्हें भी मैं साधुवाद देता हूँ।

शुभमस्तु

श्री शुभ संवत् 2080 (पिंगल नामाब्दे)
आषाढ़ शुक्ल पक्ष द्वितीया (श्री रथयात्रा 20.06.2023)

(डॉ. मंगलानंद झा)
प्रधान सम्पादक

त्रिपुरान्तक, घटियारी
(जिला–खैरागढ़–छुईखदान–गंडई)

देदीप्यमान लोक कलाकार डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर

डॉ0 मंगलानन्द झा

सत्यं शिवम् सुन्दर की अनुभूति ही कला है। इस कला की अभिव्यक्ति का प्रमुख आधार कलाकार होता है, जो साक्षात् ईश्वर का स्वरूप है। रसिकों एवं साहित्यकारों ने जिस ब्रह्मानंद अनुभव की चर्चा की है, वह कलाकार की कला से साक्षात् अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः कलाकार की कला तो स्वयं ही बोलती है, वह किसी के द्वारा परिचय की अपेक्षा नहीं रखती। यदि कला लोक में रची–बसी है तो मिट्टी की सौंधी सौंधी सुगन्ध को लेकर कला की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती की कृपा से वह कलाकार उस कला का रस सर्वत्र प्रसारित करता है। कलाकार में ही कला बसती है, जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री का लावण्य उससे पृथक नहीं हो सकता उसी प्रकार कलाकार की कला उससे अलग नहीं हो सकती। अपनी मधुर आवाज का रंग भरते हुए शब्दों के उस केनवास पर सुर और ताल का सुन्दर चित्र अंकित करने वाला कलाकार धन्य है जिसके रोम रोम में सुर लहरियाँ जल प्रवाह की भांति अनुश्रुत है। वस्तुतः कलाकार का शरीर तो एक गात्र वीणा है जिसके रोम उस वीणा के तार हैं जिससे अत्यन्त स्वभाविक स्वर लहरियाँ अनुगुंजित होती हैं, जो सहज भाव से लोककला को व्यक्त करती है। इसी तारतम्य में छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला से नवाजे गए लोक–गायिका डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (सम्प्रति कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़) की तपस्यारूपी साधना ने छत्तीसगढ़ को एक लोक तीर्थ के रूप में पहचान दिलायी है।

कलाकार अनगिनत जानकारियों का एक जीता जागता खजाना होते हैं । यदि उनके अनुभवों का विस्तार निजी जीवन तक ही सीमित न हो, तो उनके संस्मरण एवं उनकी जीवन दर्शन, समाज की ऐतिहासिक घटनाओं के महागाथा की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं। यह वह अनुभव होते हैं जिन्होंने दुनियाँ, समाज में नया अध्याय रचा हो, जीवन के नये प्रतिमान गढ़े हों और संस्कृति को नया विस्तार देती रही हों । ऐसे ही संस्मरणों की समृद्ध दुनियां रची–बसी है, डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर की स्मृतियों में जिसे वे खुले हृदय से अपने इष्ट मित्रों और शोधार्थियों के बीच बांटते हैं।

डॉ. मोक्षदा चन्द्राकर छत्तीसगढ़ी लोकगीतों के गायन के क्षेत्र में एक हस्ताक्षर हैं जो किसी परिचय के मोहताज नहीं है। आपका जन्म दुर्ग में 3 दिसंबर 1958 को श्रीमान दाऊ महासिंह एवं श्रीमती दयाबाई चन्द्राकर के यहॉ हुआ था। आपके पिता जी भी स्वयं एक कलाकार होने के साथ–साथ कलाकारों के संपोषक थे। राज्य ही नहीं अपितु देश के अन्य क्षेत्रों के विविध कलाकार आपके यहॉ पहुंचते थे और उस समय के दिग्गज कलाकारों और साहित्यकारों की महफिल जमा करती थीं। तत्कालीन समय में ऐसा कोई कलाकार नहीं था जो छत्तीसगढ़ आये और दाऊ जी से न मिले। हर दिन कलाकारों का मजमा लगा रहता था। चर्चा के दौरान आपने बताया कि आपके घर का चूल्हा कभी नहीं बूझता था, पता नहीं किस वक्त कौन से कलाकार का आगमन हो जाय इसलिए पूरे समय जलते रहता था। उन दिनों की याद करते हुए डॉ0 मोक्षदा जी कहती है कि कलाकारों का सानिध्य मिलना सौभाग्य की बात है लेकिन कभी–कभी बड़े कलाकारों के समक्ष अपने कला को प्रदर्शित करना कठिन हो जाता है। आप बताती है कि 1975 में मशहूर तबला वादक निजामुद्दीन खॉ साहब का एक कार्यक्रम में दुर्ग आगमन हुआ था। कार्यक्रम समाप्ति के बाद रात्रि 1 बजे खॉ साहब दाऊ जी के घर पहुॅचे। स्वागत सत्कार के बाद दाऊ जी ने ममता जी को नींद से जगाकर निजामुद्दीन खॉ साहब को गाना सुनाने के लिए कहा। आधी रात को नींद से जागकर आपने कुछ पुराने फिल्मी गीत सुनाये जो निजामुद्दीन खॉ साहब को बेहद पसंद आया और दाऊ जी से कहा कि यह आगे चलकर अच्छी गायिका बनेगी, जो आज सच साबित हुआ है, जबकि बचपन में ममता जी की रुचि नृत्य में थी।

माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति सुश्री अनसुईया उइके जी से सौजन्य भेंट

डॉ0 मोक्षदा व श्रोताओं के बीच प्रसिद्ध नाम ममता चन्द्राकर जी 9 वर्ष की आयु से ही बड़े बड़े मंच पर कार्यक्रम की प्रस्तुति प्रारंभ कर चुकी थी। आपके पिता श्रीमान दाऊ महासिंह जी आपको एक श्रेष्ठ

लोक–गायिका के रुप में प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। समय के साथ चलते हुए ममता जी ने अथक परिश्रम से पिता जी के स्वप्न को पूरा किया और आज आपके गाये हुए गीत जनता के बीच काफी लोकप्रिय है। श्रीमान दाऊ महासिंह जी ने 1974 में छत्तीसगढ़ की लोककला और संस्कृति को समर्पित मंच ''सोनहा बिहान'' का गठन किया। यह नाम डॉ0 नरेन्द्रदेव वर्मा की पुस्तक ''सुबह की तलाश'' का छत्तीसगढ़ी अनुवाद था। छत्तीसगढ़ का राज्यगीत – ''अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार, इन्दरावती हा पखारय तोर पंइयां'' इस गीत को सर्वप्रथम ममता जी ने अपनी मधुर स्वर में लोगों के बीच प्रस्तुत किया। सोनहा बिहान कार्यक्रम का शुभारंभ अरपा पैरी के धार वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्यगीत से होता था। डॉ0 ममता जी बताती हैं कि पहली बार स्टेज पर इस गीत को प्रस्तुत करने के लिए आपने दिन–रात मेहनत की थी। अत्यधिक रियाज के कारण आपका गला बैठ गया था फिर भी हिम्मत के साथ गीत प्रस्तुत किया। प्रस्तुति के बाद आप दुखी मन से रोने लगती है यह सोचकर कि शायद गीत की प्रस्तुति ठीक नहीं थी। लेकिन शायद ममता जी को उस समय अंदाजा नहीं था कि इस गीत ने उन्हें रातों रात स्टार बना दिया। श्रोताओं और जनता ने आपके मधुर स्वर को चाहते हुए छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला की उपाधि से विभूषित किया जो एक कलाकार के लिए उनके प्रशंसकों के द्वारा दिया गया एक अनमोल तोहफा होता है। इसके बाद आपने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा और उतरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती गईं।

वर्तमान छत्तीसगढ़ का राज्यगीत अरपा पैरी के धार 15 वर्ष की आयु में आकाशवाणी रायपुर से पहली बार आपके स्वर में प्रसारित हुआ था। ''सोनहा बिहान'' मंच से आपको काफी प्रसिद्धि मिली और छत्तीसगढ़ के साथ–साथ अन्य राज्य के लोग आपको लोक गायन के लिए जानने लगे। आपके स्वर में 'अरपा पैरी के धार..' काफी मशहूर हुआ। लोकगीतों को सहज रूप से मधुर स्वर में प्रस्तुति करने के कारण श्रोताओं से छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला की उपाधि से बहुत पहले ही विभूषित हो चुकी थी।

1983 में आकाशवाणी रायपुर में कार्यक्रम अधिकारी के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। आकाशवाणी में जिम्मेदारी से भरे महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन की वजह से आपके पास समय की कमी होने के बावजूद छत्तीसगढ़ की संस्कृति को प्रचारित–प्रसारित करने में अपना महत्वपूर्ण व बहुमूल्य योगदान देती रही।

आपका पहला एलबम ममता के मया, दूसरा चिन्हा और तीसरा सुरता इससे आपकी ख्याति में चार–चाँद लग गया। इसी बीच दूरदर्शन पर ममता का नया एलबम लोकरंजनी आया जिसमें आपके गाये गीत

''तोर मन कइसे लागे राजा'' काफी लोकप्रिय हुए। आपकी 100 से अधिक एलबम है। आप बड़े ही सहजभाव से कहती हैं कि – मैं आज तक गिनती नहीं की है। केवल लोकगीतों को प्रस्तुत करने का काम किया है। आपका पहला छत्तीसगढ़ी फिल्म ''श्री प्रेम चन्द्राकर द्वारा निर्देशित – ''मया दे दे मया ले ले'' में पार्श्व गायिका के रूप में प्रस्तुति दी। इस फिल्म को जनता ने भरपूर आर्शीवाद दिया।

''तोर मन कइसे लागे राजा महल भीतरी म'' इस गीत ने मोक्षदा जी को स्टार गायिका के रूप में पुनः स्थापित कर दिया। आप 8–9 फिल्मों में प्रमुख पार्श्व गायिका रही है। लोक गायिका होने के साथ–साथ आप एक अच्छी अभिनयकर्ता भी है। क्षितिजरंग शिविर मंच के तले ''अंधेरे के उस पार'' नाटक में अभिनय किया। जिसे काफी सराहना मिली। आपने छत्तीसगढ़ के विभिन्न पर्व जैसे– गौरा–गौरी, बिहाव गीत, जस–पचरा, देवी गीत इत्यादि विधाओं से संबंधित लोकगीतों को अपने स्वर में प्रस्तुत करने मे कामयाब रही है।

''अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार'' एवं ''काबर समाये मोर बैरी नैना म'' आपके सर्वाधिक प्रिय गीत है। ''चंदैनीगोंदा'' मंच भी आपको काफी आकर्षित किया। फिल्म ''मया दे दे मया ले ले'' आपको अत्यधिक प्रिय है। ''सोनहा बिहान'' के बाद 2009 में अस्तित्व में आये ''चिन्हारी'' लोकप्रिय है। श्रीमती ममता चन्द्राकर एवं दाऊ श्रीमान प्रेम चन्द्राकर जी द्वारा इस मंच के माध्यम से छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोकगीतों को संरक्षित एवं संवर्धित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।

चर्चा के दौरान आपने बताया कि श्री केदार यादव जी छत्तीसगढ़ी गीतों की ओर आकर्षण दिलाया और पिता श्री दाऊ महासिंह, केदार कश्यप आपके प्रेरणा स्रोत है तथा छत्तीसगढ़ी लोकगीतों एवं फिल्मांकन में श्रीमान दाऊ प्रेम चन्द्राकर जी का भरपूर सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। सच पूछा जाय तो मेरी कामयाबी में श्री प्रेम चन्द्राकर जी का बहुत बड़ा योगदान है।

छत्तीसगढ़ी गीतों में अश्लीलता के सवाल पर आपने कहा कि यह स्थायित्व नहीं है। फिल्म बनाना विशुद्ध व्यवसाय है। निर्माता जब पैसा लगाता है तो उन्हें कमाई की भी अपेक्षा होती है। इसलिए उन्हीं गीतों को रखा जाता है जो हाथों–हाथ बिक सके। किन्तु इसमें स्थायित्व नहीं है। आनंद और गौरव तो पारम्परिक लोकगीतों में है।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों एवं संस्कृति के क्षेत्र में आपके महत्वपूर्ण योगदान को देखते हुए 2012 में लोककला सम्मान – ''दाऊ मंदराजी सम्मान'' छत्तीसगढ़ राज्योत्सव में महामहिम राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी द्वारा प्रदान किया गया। 2013 में ऑल इंडिया रेडियो से टॉपग्रेड प्राप्त हुआ। 2014 में लोक कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ द्वारा मानद डी.लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। 2016 में पद्मश्री सम्मान से नवाजा गया। हाल ही में 2019 में नामित संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार 2023 में माननीय राष्ट्रपति द्वौपदी मुर्मू द्वारा प्रदान किया गया।

छत्तीसगढ़ के विभिन्न पर्व संस्कार, देवी–देवता एवं अलग–अलग प्रकार के 100 से अधिक एलबम हैं, जिसमें गीतों को आपने स्वर दिया हैं। जो यू–ट्यूब पर काफी पसंद किया जा रहा है। अंत में छत्तीसगढ की स्वर कोकिला मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित) इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) की कुलपति ने कहा कि लोकगीतों का मूलरूप से संरक्षण हो तथा आगत पीढ़ी को यहां की मिट्टी संस्कार से जुड़े गीतों के लिए प्रेरित करने का प्रयास हो। कोशिश है कि लोग अपने जड़ों से जुड़े। विद्यार्थियों को संदेश देते हुए आपने कहा कि कलाकार बनने के लिए कड़ी मेहनत, धैर्य, लगन और उचित मार्गदर्शन आवश्यक है। इसके बिना आप किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते।

(साक्षात्कार पर आधारित)

श्री मंदरा जी सम्मान, (06 नवम्बर, 2012) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

मानद डी.लिट् (2014) की उपाधि प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

महामहिम राष्ट्रपति श्रीमान प्रणव मुखर्जी जी से पद्मश्री सम्मान, (12 अप्रैल, 2016) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

महामहिम राष्ट्रपति सुश्री द्रौपदी मुर्मु जी से संगीत नाटक अकादमी सम्मान, (23 फरवरी, 2023) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

देवगढ़ का दशावतार मंदिर

डा. अमित कुमार

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही धार्मिक दृष्टि से सदैव सम्पन्न देश रहा है जिसकी पुष्टि समय-समय पर लिखे जाने वाले अनेक महान धार्मिक ग्रंथों से होती है। सर्वप्रथम आदिम मानव ने ही प्राकृतिक शक्तियों को दैवीय नाम दिया तथा दैवीय शक्ति के रूप में स्वीकार करना प्रारंभ किया। तब उसने इन रहस्यात्मक गतिविधियों को नियंत्रित करने वाली सर्वोच्च सत्ता की कल्पना की। तत्पश्चात धीरे-धीरे इन्ही पारलौकिक शक्तियों के प्रति मानव ने स्वयं के प्रति भी कोई उत्तरदायित्व महसूस किया यथा इन्हीं शक्तियों की पूजा-अर्चना तथा उपासना इत्यादि। कालांतर में मानव ने इन्हीं शक्तियों की उपासना करने के लिए ध्यान, पूजा, यज्ञ तथा सामूहिक साधना का उपयोग करना प्रारंभ किया। इन्ही साधनों में सामूहिक साधना के लिए प्राचीन काल में लोग किसी विशेष स्थल में एकत्रित होकर अपने इष्ट की उपासना करते थे।

प्राचीन काल में मंदिर के उदभव से पूर्व लोग अपनी धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए किसी एक निश्चित स्थान पर इकठ्ठा होकर एक ही वेदी पर खड़े होकर ईश्वर अथवा अपने आराध्य देव के प्रति अपना समर्पण भाव व्यक्त करते थे। इसके अतिरिक्त लोग यज्ञ के द्वारा भी ईश्वर और प्रकृतितत्त्वों का आह्वान और प्रार्थना करते थे। वैदिक काल में वैदिक ऋषि जंगल के अपने आश्रमों में ध्यान, प्रार्थना और यज्ञ करते थे। लोक जीवन में मंदिरों का महत्व उतना नहीं था जितना आत्मचिंतन, मनन और शास्त्रार्थ का था। किंतु कालांतर में धीरे-धीरे यही विशेष स्थल मंदिर का आकार लेने लगे यद्यपि प्राचीन मंदिर वर्तमान मंदिरों की अपेक्षा भव्य, विशाल तथा अलंकृत नही होते थे।

इसमें कोई संदेह नही कि प्रारंभिक मंदिरों का उदभव बौद्ध विहारों से प्रभावित था। प्राचीन काल में बौद्ध मठों को बौद्ध अनुयायियों द्वारा साधना के लिए एक परंपरागत आदर्श स्थान माना जाता था जिनकी छत चपटी तथा इनमें गर्भगृह होता था। आगे चलकर यही तत्व प्राचीन भारतीय मंदिरों के निर्माण के आधार रूप बने। कालांतर में प्राचीन मंदिरों में रूप विधान की कल्पना की गई और तात्कालिक कलाकारों ने मंदिरों को साकार रूप प्रदान करने के साथ ही मंदिरों को एक देहरूप में स्थापित किया। इस प्रकार स्तूपों की प्रेरणा से स्तूपों की ही भांति खुले गर्भगृह वाले मंदिरों की स्थापना की गयी। इस शैली में निर्मित मंदिरों को 'एडूक मंदिर' कहा गया जिसकी संरचना मूलतः सीढ़ीनुमा होती थी जिसके शीर्ष पर मूर्ति की स्थापना की जाती थी। चौथी शताब्दी में भागवत धर्म के अभ्युदय के पश्चात (इष्टदेव) भगवान की प्रतिमा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत की जाने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि सर्वप्रथम वैष्णव मतानुयायियों ने मंदिर निर्माण की योजना पर कार्य करना प्रारंभ किया। सांची का दो स्तंभयुक्त कमरे वाला मंदिर गुप्तकाल में बने हुए मंदिरों के प्रथम चरण का माना जाता है। परवर्ती कालों में गुप्तकाल में वृहद्स्तर पर मंदिरों का निर्माण किया गया जिनमें वैष्णव तथा शैव दोनों धर्मों के मंदिर सम्मिलित हैं।

साहित्यिक दृष्टि से भारतीय साहित्यिक कृतियों में मंदिरों के लिए देवालय, देवतुल्य, देवकुल इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन साहित्यिक स्त्रोतों में मंदिर का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इसके अतिरिक्त शांखायन स्त्रोत सूत्र में प्रासाद को दीवारों, छत तथा खिड़कियों से युक्त कहा गया है।

देवगढ़ का परिचय

देवगढ़ वर्तमान में उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में बेतवा नदी के दाहिने तट पर ललितपुर जिला मुख्यालय से 33 किलोमीटर दूरी पर तथा 24°32‘ उत्तरी अक्षांश तथा 78°15‘ पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। गुप्तकाल में देवगढ़ नामक शहर का बसाव ऐसे महत्वपूर्ण स्थान पर किया गया था जहां से अधिकांश राजमार्ग गुजरते थे तथा ये राजमार्ग सांची, उज्जैन, झांसी, इलाहाबाद, पटना तथा बनारस इत्यादि स्थानों को जोड़ते थे। देवगढ़ क्षेत्र में प्रचलित स्थानीय मान्यता के अनुसार देवपति और खेव (क्षेव) पति नामक दो जैन धर्मावलंबी भाइयों ने देवगढ़ का किला बनवाया तथा देवगढ़ शहर बसाया[1]।

दशावतार मंदिर

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का मंदिर है जो कि गुप्त युग के मंदिरों में यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊंचे चबूतरे पर बीच में बने हुए इस मंदिर के गर्भगृह में चार द्वार है, जिनके प्रस्तर स्तंभों पर बहुत ही सुन्दर मूर्तियां बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से अंकित की गयी हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मंदिर के ऊपर शिखर भी व्याप्त है। भारत के आधुनिक मंदिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है किंतु गुप्तकाल के प्रारंभ में जो मंदिर निर्मित किये गये थे, उनकी छत चपटी होती थी और मंदिर के ऊपर शिखर नही रहता था। गुप्तकाल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण शुरू हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर संभवतः भारत में सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्व है[2] । सत्यनारायण दूबे के अनुसार देवगढ़ तथा भीतरगांव के मंदिर एक अन्य वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इनमें चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है। उपर्युक्त दोनों मंदिरों का रचनाकाल छठवीं शती ईस्वीं का है। देवगढ़ में दशावतार का पाषाण मंदिर एक चौड़ी आधार पीठिका पर बना है जिस पर पहुंचने के लिए चारों ओर सीढ़ियां बनी हैं। इस कुर्सी की दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट लगे हैं जिनमें से कुछ रामायण संबंधी तथा कृष्ण लीला संबंधी भी हैं। गर्भगृह की तीनों सादी दीवारों पर अत्यन्त कलापूर्ण शिलापट्ट जड़े हैं। इनमें नरनारायण तथा गजउद्धार के दृश्य विशेष प्रभावोत्पादक हैं[3] ।

मंदिर-विन्यास

इस मंदिर का निर्माण 4वीं से 6वीं शताब्दी के मध्य में किया गया है जिसका उल्लेख देवगढ़ में पाए गए शिलालेखों में किया गया है जोकि गुप्त लिपि में अंकित है। दशावतार मंदिर का निर्माण लगभग 9 फीट ऊंचे चबूतरे पर किया गया है जिसे कुछ विद्वानों ने मंदिर की नींव माना है। मंदिर में प्रवेश करने के लिए चार सीढ़ियों का निर्माण किया गया है। ऊंचे शिखर वाले उत्तर भारत के संभवतः प्रथम मंदिर की ऊंचाई लगभग 45 फीट अनुमानित की गयी है। मंदिर के गर्भगृह

के प्रवेश द्वार पर गंगा तथा यमुना की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। मंदिर के गर्भगृह में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित है तथा मंदिर के गर्भगृह के सामने ही एक मंडप के अवशेष विद्यमान है। मंदिर के गर्भगृह की दीवारों तथा उसके पीछे वाली दीवारों पर भगवान विष्णु के जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित दृश्य भी अंकित किये गये हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की पंचायतन शैली में निर्मित दशावतार मंदिर की कला के संदर्भ में पुरातत्विद स्मिथ ने अपना मत यह कहते हुए प्रकट किया है कि देवगढ़ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है। मंदिर की दीवारों पर लगे हुए तीन प्रस्तर फलकों में एक फलक पर गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है। दक्षिण दिशा की ओर के फलक पर शेषशायी विष्णु की प्रतिमा का अंकन किया गया है जिसमें चतुर्भुजी भगवान विष्णु शेषनाग के फनों की छाया में लेटे हुए हैं, लक्ष्मी जी उनका चरण दबा रही हैं। आकाश से इन्द्र, शिव इत्यादि देव बड़े ही श्रद्धापूर्ण भाव से इस लीला को देख रहे हैं। इस प्रतिमा के नीचे ही पांचों पाण्डवों तथा द्रौपदी का सुंदर अंकन किया गया है। इसी प्रकार तीसरे प्रस्तर फलक पर बद्रिकाश्रम का दृश्य अंकित है जिसमें शेर व हिरण को साथ-साथ तपोभूमि में विचरण करते दिखाया गया है।

गर्भगृह

देवगढ़ मंदिर के गर्भगृह का प्रवेश द्वार अत्यन्त कलापूर्ण है। उसे द्वार-रक्षकों, नदी-देवताओं आदि की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। द्वार-स्तंभों पर लता-अलंकरण आदि का आलेखन है। सिरदल की विभिन्न शाखाओं को मनोरम अलंकरणों से मण्डित किया गया। उष्णीय के मध्यभाग में चतुर्भुजी विष्णु भगवान को आसीन दिखाया गया है। मंदिर का बहिर्भाग भी पत्रावली, कीर्तिमुख आदि अभिप्रायों से सुसज्जित है। दीवारों पर शेषशायी विष्णु, नर-नारायण, गजेन्द्रमोक्ष आदि दृश्यों को अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढ़ंग से उत्कीर्ण किया गया। रामायण तथा कृष्ण-लीला के अनेक रोचक दृश्य भी प्रदर्शित है। परवर्ती देवमंदिरों में देवगढ़ के अनेक तत्त्व परिलक्षित हैं। दशावतार मंदिर गुप्तकाल का प्रारंभिक शिखर-मंदिर है[4] ।

शिखर

मंदिर का शिखर अधिक ऊंचा नही है किंतु इसमें कलात्मक क्रमिक घुमाव के कारण मोहक प्रतीत होता है। दुर्भाग्य से शिखर के निचले भाग के अवशेष ही प्राप्त हुए हैं जिससे ही मंदिर के पूर्ण शिखर का अनुमान लगाया गया है। शिखर के चारों ओर मंदिर के गर्भगृह से जुड़े हुए प्रदक्षिणा पथ की छत सपाट थी जिसके किनारों पर अनेक बड़ी तथा छोटी चैत्य खिड़कियों के भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

द्वारमंडप

मंदिर का द्वारमंडप दो विशाल स्तंभों पर आधारित था जिसके प्रवेश द्वार पर प्रस्तर की चौखट है जिस पर गंगा यमुना के साथ-साथ अनेक देवताओं की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। इस मंदिर की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इस मंदिर की आंतरिक तथा बाह्य भित्तियों पर अनेक कालों से संबंधित प्रकरणों अथवा घटनाओं का कलात्मक चित्रण किया गया है जिसमें से कुछ तो समय की धारा में नष्ट अथवा क्षतिग्रस्त हो गये किंतु कुछ दृश्य फलक आज भी लगभग अपनी

मूल अवस्था में ही प्रतिलक्षित हैं जिनसे सजीवता का दुर्लभ संयोग भी देखने को मिलता है। मंदिर की बाहरी भित्तियों पर बनी हुई अनेक विशाल पट्टिकाओं में गजेन्द्रमोक्ष, शेषशायी भगवान विष्णु इत्यादि की कलात्मक प्रतिमाओं का अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण और भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबंधित दृश्यों का चित्रण मंदिर की भित्तियों पर बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से किया गया है।

गजेन्द्र मोक्ष

मंदिर की उत्तरी दिशा वाले परकोटे में गजेन्द्र मोक्ष से संबंधित दृश्य-चित्रण है। इस दृश्य में एक कमल के सरोवर में असहाय रूप से खड़े हुए एक हाथी को एक नाग तथा नाग की कुंडलित पूंछ से मजबूती से बंधे हुए दिखाया गया है[5] जोकि अपनी कष्टप्रद स्थिति में नारायण को रक्षा के लिए पुकारते हुए प्रतीत हो रहा है। इस दृश्य में चतुर्भुजी भगवान विष्णु को गरूड़ पर विराजमान दिखाया गया है जो अपने दाहिने हाथ में गदा धारण किये हुए हैं। एक अन्य दृश्य में नाग युग्म भगवान विष्णु से हाथ जोड़कर क्षमा याचना करता हुआ प्रतीत हो रहा है जबकि संकट में पड़ा हुआ हाथी भगवान विष्णु के प्रति आभार प्रकट करते हुए अपनी ऊपर उठी हुई सूड़ से कमल के फूल चढ़ा रहा है।

नर-नारायण

पूर्व दिशा की ओर बने हुए आले में एक आश्रम में चट्टानों पर पेड़ों के नीचे बैठे नर और नारायण को तपस्यारत दिखाया गया है[6] जिनके समीप ही हिरण और शेर दिखाए गए हैं। दायीं ओर ललितासन में बैठे हुए नारायण चतुर्भुजी मुद्रा में हैं, जिनके दाहिने ऊपरी हाथ में एक माला अथवा अक्षमाला है, लेकिन निचले वाले हाथ को उनकी छाती के सामने तर्क-वितर्क मुद्रा में विद्यमान हैं। निचले बायें हाथ में एक लंबी गर्दन वाली कुप्पी धारित की गई है तथा ऊपरी हाथ में एक लंबे डंठल वाला फूल है। उनके बायीं ओर नर बैठे हुए हैं, उनके दाहिने हाथ की उंगलियों के चारों ओर एक माला के साथ अंगूठे तथा तर्जनी को स्पर्श कर रही है[7]। नर और नारायण दोनों ने अपने सिर पर अलग-अलग मुद्राओं में बालों को बांधा हुआ है, लेकिन कुछ लटें उनके कंधों पर भी गिरते हुए दिखाए गए हैं।

अनंतशायी विष्णु

दक्षिण दिशा के दीवार में बने दृश्य-पटल में अनंतशायी विष्णु या नारायण को सात फण वाले शेषनाग को सोते हुए दर्शाया गया है, जो अपने फण से विष्णु के ऊपर एक छत्र बनाते हैं। विष्णु के चरणों में बैठी हुई लक्ष्मी उनके दाहिने पैर को स्पर्श कर रही हैं। उसके पीछे भूदेवी एक चामर अथवा पंखा पकड़े हुए खड़ी है तथा उनके आगे गरूड़ श्रद्धापूर्ण मुद्रा में खड़े हुए दिख रहे हैं। चतुर्भुजी विष्णु किरीटमुकुट धारण किये हुए हैं, तथा कानों में तीन मोतियों वाले कुण्डल, एकावली, चंद्रहार तथा केयूर धारण किये हुए हैं।

रामायण से संबंधित दृश्य

इन दृश्यों में भगवान श्रीराम द्वारा लक्ष्मण तथा अपने गुरू विश्वामित्र के साथ गौतम ऋषि के आश्रम में अहिल्या का उद्धार[8], श्रीराम द्वारा अपनी पत्नी सीता तथा भ्राता लक्ष्मण के साथ वनगमन, श्रीराम द्वारा लक्ष्मण तथा सीता के साथ ऋषि अत्रि के आश्रम की यात्रा, लक्ष्मण द्वारा पंचवटी आश्रम में शूर्पणखा का अंग-विच्छेदन, दण्डक वन में अशोक

वृक्ष के पीछे से श्रीराम द्वारा राक्षसों का वध[9], रावण द्वारा पंचवटी आश्रम से सीता का अपहरण[10], राम द्वारा सुग्रीव को सुग्रीव-बालि युद्ध में माला पहनाने का दृश्य[11], लक्ष्मण द्वारा सुग्रीव को अपना वचन याद दिलाने का दृश्य[12], अशोक वाटिका में रावण द्वारा सीता को धमकाया जाना[13] तथा राम-रावण युद्ध में हनुमान द्वारा घायल लक्ष्मण के लिए मृत-संजीवनी बूटी लाने का दृश्य है[14] ।

कृष्ण से संबंधित दृश्य

कृष्ण की जन्म कहानी से संबंधित दृश्य, नंद और यशोदा द्वारा कृष्ण और बलराम के प्रति प्रेम प्रदर्शन, नंद की मूर्ति पर कृष्ण द्वारा प्रेम प्रदर्शन, कृष्ण द्वारा मथुरा के शासक कंस का वध[15], कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ किया जाने वाले रास का दृश्य तथा कृष्ण द्वारा अपने मित्र सुदामा का स्वागत जिसमें कृष्ण की पत्नी रूक्मणी द्वारा बड़े ही उत्सुकतापूर्ण ढंग से देखे जाने का दृश्य प्राप्त हुआ है।

विष्णु और उनके दसों अवतारों से संबंधित दृश्य

इस दृश्य पटल में भगवान नारायण अथवा विष्णु के दसों अवतारों को तथा उनके प्रत्येक अवतार से संबंधित घटनाओं का बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से अंकन किया गया है, यथा, वामन, नृसिंह, बुद्ध, राम इत्यादि। इसके अतिरिक्त अन्य कई पौराणिक प्रकरणों से संबंधित दृश्यफलक भी मंदिर की बाह्य तथा आंतरिक भित्तियों में उत्कीर्ण किये गये है जोकि गुप्तकालीन स्थापत्य कला के अनुपम उदाहरणों में से एक हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. द्विवेदी, महावीर प्रसाद, प्राचीन चिन्ह, प्रयाग, पृ. 72, 1929
2. विद्यालंकारसत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, पृ. 373, 1968
3.दुबे, सत्यनारायण, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, आगरा, पृ. 49, 1968
4. वाजपेयी, के. डी. , भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, पृ. 107, 1972
5.भागवत पुराण, स्कंध 8, अध्याय 2, श्लोक 25-27
6.भागवत पुराण, स्कंध 11, अध्याय 4, श्लोक 6
7.बनर्जी,जे. एन.,दि डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आईकोनोग्राफी,कलकत्ता,पृ. 278, 1956
8.ग्रिफिथ, एच., वाल्मीकि रामायण, वाल्यूम 1, पृ. 211-14
9.वत्स,पंडित माधोस्वरूप,दि गुप्त टेम्पल एट देवगढ़, दिल्ली, पृ. 17, 1952
10.ग्रिफिथ, एच., वाल्मीकि रामायण, वाल्यूम 1, पृ. 345-46
11.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 12, पृ. 39-40
12.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 31,
13.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 12, पृ. 489
14.वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग 74
15.विष्णु पुराण, अध्याय 5, सर्ग 3

1857's Freedom fighter Late. Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.

Dr. Anand K. Bhoyar

The Sub zamindar of main zamindari of Aheri is Molampalli aka Kishnapur. It is Situated on the banks of river Vena and is sourrounded by mountains and dense forests. Maharaj Pullisurbapu Rajgond of this sub-zamindari. They had a total of four children. Among them are Baburao, the eldest son and Laxmanrao, Govindra and Venkatrao. Baburao mother's Name was Jurjakuvar. Such a Baburao was born in the village of Poti Molampalli in Jurjakuvar on 12.03.1833 from an early age, Baburao was known for his Sportmanship, Shrewdness and agility. He was playing Gilli danda, Vortex, Lapachapi with his friends. Along with shooting arrows, going to the forest and hunting deer Rajeshwarrao , in sports like wrestling, musti, dandpatta etc.

Pullisurbapu entrusted the responsibility of Baburao's education to his faithful brother Pratap Singh. He taught all kinds of things. After that Baburao grew up watching. according to the Gandi tradition he got married on March 9 , 1851 to Rajkumar , the daughter of a cousin of the Madavi family of Zamindar in Chenoor Zamindari in Adilabad district of Andhra Pradesh. After the Marriage he explained to his wife how important the country work was and he had taken it upon himself. His wife Rajkuvar also expressed her full support for that work. Around this time the flame of the war of independence of 1857 which broke out in the country, was not late , but it ignited in Baburao's heart, burdend and finally extinguished.[1]

Ready for War :-

Baburao decided to regain his freedom definitely a stumbling block like pole. But there are many obstacles along the way and a network of dangerous people around. In a very short period of time, this brave and ingenious Baburao gathered 500 armies of God and Rohile and took controll of the entire Rajgad Pargana. When the news reached Chandrapur the captain sent troops to resist. Baburao with the british army at Nandgoan – Ghosari on. On March 13-1858 there was a good fight. The English army was defeated. Around this time Venkatrao pite Rajeshwarrao Rajgod, a 45 year old deputy land lord from Ajpatti- Ghot. come to Baburao's and found him. So the number grew well. The combined force of two marched North to by ruling the people sympathetic to the British. They too refuge on the hill. The defeated English army regrouped and laid siege to the hills. The British army was then pelted with stones. In the Gadhisurla area, it is said that Baburao collected thousands of rebels wheels from the surrounding hill and village and left them on the slope of the hills to the British troops. As soon as the news of the defeat reached Chandrapur, District Collector capt. Crichton dispatched a

new army. Fighting took place at Saganapur on April 19 1858 and at Bamnapeth on April 27 1858, in both the battels Baburao And Venkatrao Won.

Salvary and the attack on Chunchgundi :-

Lord Dalhousie had made significant strides in initiating the transmission of wires in the country. But since he swallowed up many Kingdoms. People begun to think that this useful. Thing was also harmful. At that time the work of laying wires was going on in Molampalli Sub Zamindari. The wire network that was being spread in the forest area is a network of slavery. That's how the simple people there felt. Therefore a joint force of Baburao and Venkatrao attacked Chunchgundi on April 29, 1858. Telegraph operators Gartland and Hall were kill in the attack. One of his Companions, Peter Escaped. He came to Chandrapur and captain Crichton Summoned captain Shakspeare the commander of new dynasty from Nagpur with an army and gave peter a secret khalita. 1851 sent to 1866. It suggested that both Baburao and Venkatrao be arrested and that if they did not do so they would be arrested on charges of Noting the rebles and the land confiscated. The shock had the desired effect and she began casting a spell.

Caption Shakespear's detachement called from Nagpur arrived. She was immediately dispatched by the collector. A great battle took place on 10.05.1858. The English were disbanded The British got angry and confiscated the sub lands of 37 villages of Venkatrao and also capture one of his relatives Barikarao Narsimirao Rajgoud aged 65 years, Diwan Gangadhar, Trimbak Kawadkar aged 60 years and servent Wazir Ali and confiscated their estates. Traps and spread around you. Baburaos has no idea. Laxmibai's men raided Bhopalpattanam and captured Baburao in July 1858. The above incident bears a striking reseblance to the capture of Umaji Naika by his sister and the capture of General Tatya Tope by his close friend Raja Mansingh of Narwar. While taking to Aheri with handcoffs on his hands, be escaped with the help of Rohilya on Maharaja and two months went by without a hitch finally in sep 1858, Laxmibai's men recaptured it. [2]

Baburao's hanging :-

He Caputred Baburao and brought him to Chandrapur. He was prosecuted. He was charged and sentenced to death on 21.10.1858.

1. From the evidence produced, the prisoner (Baburao) is found guilty of the rebellion against the British Govt. of Having collected armed men and apposed the toops of Govt. At the villages of Ghot on the 10th May 1858 and at Bamanpeth on the 27th April 1858 of having caused his armed followers to make prisoners of two propers in the service of the British Government and

of after they were brought before him , robbing and keeping them as prisoners for about 12 days, of habing caused his armed followers to attack the camp of Mr. Gartland and Hall at chunchgundi on the 29th of April 1858, when they were both murdered and all their property taken away and in having on the 29th of April, 1858 received over from him the stolen property of the above Gartland and Hall, well knowing that it had been acquired by the murders at both Gartland and Hall.

2. The court, having found the prisoner guilty as above and taking into consideration he was the leader of the distruvanees in the district and that no cause for acting as he did, proceeds to trap in him the following sentence.

3. That you Baboorao son of poolaist Bapu be hanged by the rich until you are dead and the execution there of is ordered to take place this afternoon at 4'Oclock in the galloqs in front of the Jail at Chandha.

4. The whole of his estates of property of whatever description is hereby ordered to be condiscated.

Chandah
Dt/ 21.10.1858

W.H. Chrichton
of Dy Commissioner
and Comissioner of District
Chandah under act XIV of 18957. [3]

He was hanged in Chandrapur jail of 4.30 P.M. on the same day. Baburao's accompliees were also charged and the some were sentenced to death , some to life imprisonment and some to long term, Gangadhara Kawadkar, the Diwan of Venkatrao and Buddhir Ali a servent were sentenced to 14 years hard labour. Barikraso Narshingrao sentenced him to any two yours of hard labour . All three estates were confiscated. After the execution of veer Baburao Venkatrao Rajeshwarrao set out to keep his great deeds alive as the British army was persuing them Venkatrao left his two as Bhagwantrao and Govindrao with his daughters Sajjan Koli and took refuge in the Kamlagatta are of Aheri Zamindari After this Venkatrao want to Jaravandi range he called his children and took them to the king of Bastar. The British got the news while watching he increase the pressure on the king of Bastar to hand over Venkatrao to us He did the trick at first but in the end under pressure the Bastar king along with the Motisingh Jamadar and some troops reached Venkatrao Chandagud. He was tried and sentenced to death but Venkatrao's Mother Nagabai mediated and was sentenced to black water on May 30,1860.[4]

After the exaction of Veer Baburao 24 Villages of his sub Zamindari and 67 Villages of his sub Zamindari were confiscated and the freedom movement was irrashed of the verdict on the execution of Veer Baburao was sent to the British Government. Out of that came the award of honor to captain crichtan the collector of Chanda and I Queen Victoria also thanked peter for helping him capture Veer Baburao. But like Veer Baburao million of young enthusiastic energetic young people came forward. He tied the knot to make mother India independent his true inspiration is Veer Baburao. [5]

Reference :-

1. Major C.B. Lucie Smith M.S.C. Report on the Land Revenue settlement of the Chanda District Central Provinces. 1869.
2. Rajurkar , A. J. Chandrapur History , Second Addition.
3. Sadmek , Purushottam, 1858 K Swadinta Shahid Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.
4. Chandrapur Nagarpalika Shatabdhi grant, Sa. Bhu. Tu. Na. Katkar 1967.
5. Gajhetiyar of India, Maharashtra State Chandrapur , First Addition 1909.

आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला

डॉ. अनुप परसाई,
डॉ. प्रताप पारख

आरंग छत्तीसगढ़ क्षेत्र के रायपुर जिला मुख्यालय से 34 किलोमीटर दूर स्थित है। यह नगर महानदी के तट पर स्थित है तथा प्राचीन काल से ही यह ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस नगर में अनेक मंदिर है जिनमें बाघेश्वर मंदिर का स्थान महत्वपूर्ण है।

स्थापत्य कला तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आरंग के प्राचीन मन्दिरों में भाण्ड–देउल के पश्चात् बाघेश्वर मन्दिर के उल्लेखनीय महत्व को स्वीकार किया जाता है। बाघेश्वर नामकरण का भौतिक आधार यहां संरक्षित व्याघ्र की एक प्राचीन मूर्ति जान पड़ती है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय परम्परा व्याघ्र को ही आद्य महाशक्ति (दुर्गा) का वाहन स्वीकार करती है। द्वितीय अधिकरण में बाघेश्वर नाम के प्रचलन में आने संबंधी अन्य संभावित आधार–भूत कारणों की ओर संकेत किया गया है। इस प्रसंग में यहां इतना उल्लेख कर देना यथेष्ट होगा कि व्याघ्र आदि वन्य पशुओं द्वारा पूजित शिव–पार्वती की युगल सत्ता की यहां उपस्थिति ही बाघेश्वर नामाभिधान का पौराणिक आधार माना जा सकता है।

आरंग बस्ती से पूर्वोत्तर दिशा में ढीमर पारा के पूर्वी छोर पर यह मन्दिर स्थित है। पूर्वोक्त समिया माता मन्दिर से सीधे आने पर यह उत्तर दिशा की ओर मात्र 200 मीटर की दूरी पर स्थित है। मूलतः यह मन्दिर किस धर्म सम्प्रदाय विशेष से संबंधित रहा है? इस प्रश्न को लेकर लम्बे समय तक मतभेद की स्थिति व्याप्त रही है। कुछ विद्वानों ने इसके मूलतः जैन स्थानक अथवा बौद्ध बिहार होने का अनुमान किया है। जहां तक बौद्ध धर्म से इसकी सम्बद्धता का सवाल है। ऐलेकजेन्डर कनिंघम ने इसे पूर्णतः अमान्य धारणा मानते हुए स्वीकार किया है। कनिंघम के सहयोगी बैगलर ने इसे पूर्व मध्य काल में निर्मित चौसठ योगिनी मंदिर बताया है। श्री पण्डित लोचन प्रसाद पाण्डेय ने भी वर्तमान बाघेश्वर मंदिर को चौसठ योगिनी मन्दिर स्वीकार किया है, और वे इसका सम्बन्ध पशुपति सम्प्रदाय के अन्तर्गत मत्तमयूर उपशाखा से स्थापित करते है। इसमें संशय नहीं कि यह मंदिर मकरध्वज जोगी एक शिक्षा पट पर मानोल्लेख होना भी इसकी शैव–शाक्त परम्परा से सम्बद्धता को प्रकट करता है। मुख्य मंदिर के गर्भगृह के मध्य में स्थापित मूर्ति की प्राचीनता भी इस धारणा को सम्बल प्रदान करती है।

प्रांगण के चारों और स्तम्भ धारित छत युक्त बरान्डे में आज भी संरक्षित अवस्था में पृष्ठ भित्ति से संलग्न पांच सिंहासनों की उपस्थिति है। इसको चौसठ–योगिनी मन्दिर मानना तर्क संगत जान पडता है। चौसठ योगिनी मंदिरों के प्राचीन उदाहरण खजुराहो, भेंड़ाघाट और

रानीपुर भुराल में विद्यमान है। यहां के वास्तु रुपों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनकी वास्तु योजना वृत्ताकार क्षेत्र पर की गयी है। सर्वप्रथम वृत्त के चारों और प्रवेश द्वार को छोड़कर एक ऊंची भित्ति निर्मित कर ली जाती थी, पश्चात् इस भित्ति से संलग्न लगभग डेढ़ (1.50 मीटर) चौड़ा तथा .50 मीटर से .8. मीटर की उंचाई वाला चतुर्दिक प्रवह मान चबूतरा का निर्माण कर लिया जाता है। पश्चात् इस चबूतरे के सामने की ओर स्तम्भों की रचना की जाती है। पृष्ठ भित्ति और स्तम्भ पर धारण रख दिये जाते थे। इसी तरह सभी स्तम्भ एक दूसरे से धरणबन्धों द्वारा जोड़ दिये जाते थे। इस धारणों पर आधारित छत्र का निर्माण किया जाता था। दो स्तम्भों द्वारा विभक्त क्षेत्र को एक योगिनी मूर्ति के लिए सुरक्षित स्थान माना जाता था। इस सैद्वान्तिक आधार पर निर्मित चौसठ योगिनी के सामने चारों ओर एक प्रागंण होता था। प्रागंण के मध्य में परम् उपसाय अथवा परम् गुरुतत्व के रुप में स्वीकृत शिव के लिए स्वतंत्र मंदिर की रचना की जाती थी। ये सामान्य वास्तु–लक्षण उक्त तीनों चौसठ योगिनी मन्दिरों में विद्यमान है। आरंग के विवेच्य मंदिर की वास्तु योजना परम्परागत वृत्ताकार न होकर आयताकार है, परन्तु शेष अंगों के निर्माण में वास्तु संबंधी सैद्धान्तिक एवं मान्यताओं का पूर्णतः पालन यहां किया गया है। अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर खजुराहों, भेड़ाघाट तथा रानीपुर झुराल के चौसठ योगिनी मन्दिरों का प्रत्यक्ष संबंध पशुपति सम्प्रदाय से होना सिद्ध है। यह सम्प्रदाय दक्षिण कोसल में भी लोकप्रिय रहा है और इस मत के मानने वाले साधक शिव की पूजा हट्टकेश्वर रुप में करते थे । अतः आरंग के इस मंदिर के मध्य भाग में निर्मित मुख्य मंदिर के गर्भ गृह में स्थापित शिव लिंग को हट्टकेश्वर शिव का अर्चाविग्रह माना जा सकता है। वास्तुकर्म की दृष्टि से बाघेश्वर मंदिर में निम्न वास्तु अंगों की पृथक–पृथक सत्ता स्पष्ट है –

1. पूर्वाभिमुख मण्डप युक्त प्रवेश द्वार या मुखमण्डप,
2. प्रवेशद्वार से आरंभ कर एक के बादएक चारों दिशाओं को आवृत करने वाली आयताकार भित्ति है।
3. मुख मंडप से संलग्न मुख्य प्रवेश द्वार से अंदर ही पृष्ठ भित्ति से संलग्न दो मीटर चौड़े और प्रागंण से 55 सेन्टी मीटर ऊंचे बरान्डे का निर्माण किया गया है। इस बरान्डे का विस्तार चारों दिशाओं की ओर है, इस बरान्डे तथा पृष्ठभित्ति का विस्तार पूर्व से पश्चिम की दिशा लम्बी भुजा और उत्तर से दक्षिण की दिशा चौड़ी भुजा को प्रकट करते है। बरान्डे के सामने वाले छोर पर आधार स्तम्भों की स्थापना की गयी है। हर एक स्तम्भ के ठीक सामने पृष्ठभित्ति से संलग्न स्तंभ बनाये गये है। इन समानान्तर स्तम्भों एवं कुड्य स्तम्भों के ऊपर धरणबन्ध है। इसी तरह सभी स्तम्भ चारों ओर से धरण बन्ध द्वारा परस्पर सम्बद्ध किये गये हैं।इस तरह पृष्ठाकृत छत का निर्माण किया गया है। हर दो स्तम्भों एवं उनके सम्मुखवर्ती कुड्य स्तम्भों को एक–एक योगिनी पीठ के रुप में प्रकट किया गया

है। इस तरह इस प्रकोष्ठ में पूर्व दिशा की ओर 8, पश्चित दिशा की ओर 9, उत्तर दिशा की ओर 13 और दक्षिण दिशा की ओर 13 कुल 43 देवी कक्षों का अस्तित्व प्रकट किया गया है। यह स्थिति दीर्धकाल से चले आ रहे शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों द्वारा रख–रखाव के लिए किये गये परिणामों की देन है। बहुत संभव है कि इन कक्षों में से कुछ में एक से अधिक देवी मूर्तियां रहीं हो। चौसठ योगिनी के अतिरिक्त दस महाविद्याओं के लिए भी अलग–अलग स्थान की रचना किया जाना इस विधान का अनिवार्य अंग होता है। स्तभ्भों की निर्माण शैली दसवीं शताब्दी की है। बरान्डे के छत्र के सम्मुख भाग पर हर एक कक्ष के मध्य में शैव शाक्त परम्परा से सम्बद्ध अलग–अलग प्रकार के तांत्रिक मंत्र उभार के बताये गये हैं।

योगिनी मडम्प के सामने चारों ओर सुविस्तृत खुला प्रागंण है। इस प्रागंण के मध्य में केन्द्रीय मंदिर का निर्माण किया गया है। आयताकार प्रांगण के मध्य भाग पर महामण्डप एवं विमान से युक्त विशाल मंदिर है। स्थानीय जनों के मध्य प्रचलित पारम्परिक विश्वास के अनुसार एक हजार एक सौ आठ विशाल शिला खण्ड़ों द्वारा अपुरित गर्भन्यास पर इस मंदिर का वास्तुविधान अवलम्बित है। वर्तमान में सम्मुख वर्तीय स्तभ्भाधारित मुख–मण्डप या नन्दी मण्डप से आरंभ कर गर्भगृह के विस्तार पर्यन्त एक आयताकार ऊंची जगती पर मंदिर का निर्माण किया गया है। यह जगती वास्तु कर्म द्वारा पूर्णतः ढक लिया गया है। परिणामस्वरुप जगती का अस्तित्व सचक लक्षण सामान्य दृष्टि से देखने पर कहीं भी गोचर नहीं हो पाता। मंदिर का वास्तुविधान भी मुखमण्डप से आरंभ कर गर्भगृह पर्यन्त एक आयताकार गर्भन्यास कर आश्रित रहा है। इस मंदिर के सामान्य निरीक्षक मात्र से इस धारणा को बल प्राप्त होता है कि अपनी पूर्णावस्था में इसका वास्तुस्वरुप अत्यन्त चिताकर्षक और भव्य रहा होगा परन्तु बाद में समय समय पर किये गए जीर्णेद्वार संबंधी कार्यो तथा इसके बाह्य आवरण को नख–शिख ढके हुए चूना सीमेन्ट के वर्तमान प्लास्टर की मोटी परत ने वास्तु योजना के मूल स्वरुप, विभिन्न अंगों तथा उपांगों की जटिल संरचना से युक्त अलौकिकता की अभियंजना तथा विभिन्न अंगों पर संस्थापित उत्खचित अथवा खुन्दबन्धीय प्रविधि द्वारा रुपांकित, विविध विषयों से सम्बन्धित मूर्तियों ज्यामितिक अलंकरणों, अल्पलता अभिप्रायों, मणिमुक्ता की लणियों, तोरणों, धरों आदि के माध्यम से प्रकट किये जाने वाली भव्यता एवं अभिरामता के भाव आदि पूर्णतः ओझल हो चुके हैं। परिणाम स्वरुप इनके सम्बन्ध में प्रमाणिकता के साथ कोई निष्कर्ष निकाल पाना संभव नहीं है। दीर्धकालीन परिवर्तनों के बाद भी यहां मंदिर स्थापत्य का जो स्वरुप शेष रह गया है, उसके आधार पर इसके मूल वास्तु स्वरुप के संबंध में समकक्षीय उदाहरणों तथा समकालीन मान्यताओं के आधार पर काल्पनिक अनुमान अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

महामण्डप के अति आरंभिक स्थल से प्रारंभ कर विमान तक की वास्तु रचना पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट भासित होने लगता है कि इस मंदिर का निर्माण आदि से अन्त तक

समान ऊंचाई वाले अधिष्ठान पर किया गया है। अधिष्ठान प्रागंण के धरातल से लगभग 1.75 मीटर की ऊंचाई वाला है। इसका वर्तमान प्रकट रुप चतुर्दिक प्रवहमान तथा निश्चित ऊंचाई वाले 5 सीढ़ीनुमा उत्तरोत्तर संकुचित होते गए उपांगों द्वारा किया गया है। निसंदेह इसका यह वर्तमान रुप चूना सीमेन्ट के प्लास्टर का परिणाम है। इस अधिष्ठान के ऊपरी भाग पर कहीं–कहीं विद्यमान परस्पर भिन्न प्रकार के उभारों को देखने से स्पष्टमान होने लगता है कि अधिष्ठान के बाह्य रुप गढ़न हेतु परस्पर उन्नत–अवनत क्रम में भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार तथा नाना प्रकार के प्रचलित अभिप्रायों के अनुरुप काटे तराशे गए गोल गतकों, थरों आदि के एक पर एक संस्थापन प्रक्रिया द्वारा इस अंग का निर्माण किया गया रहा होगा।

अधिष्ठान के गोला गलों के बाह्य प्रक्षेपण अथवा अन्तः संस्तरण संबंधी निर्धारित अनुक्रम के अनुरुप ही जंघे का स्वरुप निश्चित किया गया रहा होगा। महामण्डप के कक्षासनपर्यन्त अन्तः भित्ति उर्ध्व गतिमान समतल विन्यास वाली रही होगी और अन्तः भाग की संरचना के विपरीत इसका बाह्य प्रदेश का रुप गढ़न विभान के अनुरुप ही रहा होगा साथ ही इस पर सघन शिल्पांकन रहा होगा। विमान एवं अन्तराल के जंघे को दो समानातर अंगों में विभक्त किया गया रहा होगा। इन पर विभिन्न देवी देवताओं दिक्पालों, सुर–सुन्दरियों, नायक–नायिकाओं तथा अन्य विषयों से संबंधित मूर्तियां उपयुक्त स्थानों पर जड़ी रही होगी। इनके अतिरिक्त अन्य अंगों पर भी अलंकरणात्मक अभिप्रायों का खुन्दबन्धयुक्त रेखीय संरचना की गयी रही होगी। जंघे के इन मध्यवर्ती अंगों के ऊपर शुक्र नासिकाओं के निम्नोच्च क्रम में उभरे अंग रहे होंगे, पश्चात् जंघा और शिखर को परस्पर सम्बद्ध करने हेतु मणिबंधों की रचना की गयी रही होगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. व्ही. एन. स्मिथ : इण्डियन आर्ट
2. डेबेल : आर्चीटेक्चर ऑफ इंडिया
3. फर्ग्युसन : आर्चीटेक्चर ऑफ एन्शेन्ट इंडिया
4. पर्सी ब्राउन : इन्डियन आर्चीटेक्चर
5. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला
6. डॉ. राधाकमल मुखर्जी : भारतीय कला एवं संस्कृति
7. डॉ. बुद्धप्रकाश : धर्म एवं कला
8. स्टेला क्रेमरीज : आर्ट ऑफ इंडिया
9. दि जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
10. जरनल ऑफ बिहार ओरिसा रिसर्च सोसायटी
11. दि जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी

बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमाए

आराधना चतुर्वेदी
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन काल से ही शक्ति की उपासना पूरे विश्व में विद्यमान है। जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा की जाती थी, ठीक उसी प्रकार शक्ति के विभिन्न रूपों की भी पूजा प्रचलन में थी। हड़प्पा से प्राप्त मृण्मयी देवी प्रतिमायें, शुंगकाल, मौर्यकाल, सातवाहन, कुषाण तथा गुप्त राजवंशों के सिक्कें मुद्राओं आदि में शक्ति के कई रूपों का अंकन इस सन्दर्भ में स्वयं सिद्ध है। वैदिक काल में उषा को देवी कहा गया है। वैदिक काल में मातृ शक्ति की उपासना की भी शुरूआत हुई। शाक्त सम्प्रदाय की कुछ प्रमुख देवियों जैसे- 'अम्बा', 'उमा' आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य में नही मिलता, लेकिन उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में 'अम्बिका', 'उमा', 'दुर्गा', 'काली' आदि की जानकारी मिलती है, जो शक्ति से सम्बंधित है। शाक्त सम्प्रदाय का विस्तृत चित्रण महाभारत के दुर्गा स्रोत एवं हरिवंश पुराण के आर्यास्तवन में किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में महिषमर्दिनी के उदय में शैव, विष्णु और ब्रह्मा के उग्र तेज का वर्णन मिलता है। शुम्भ-निशुम्भ असुरों से पीड़ित देवताओं ने देवी की स्तुति की तो पार्वती से अम्बिका उत्पन्न हुई। अम्बिका काली थी, इसलिए उन्हें कालान्तर में काली कहा गया। चण्ड-मुण्ड का नाश करने के लिए चामुण्डा आई और इस प्रकार सप्तमातृकाओं की प्रतिमायें बनने लगीं। जिनमें ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा आदि प्रमुख देवियाँ परिगणित है।

बस्तर क्षेत्र में भी विभिन्न धर्मों का प्रचार-प्रसार लगभग 5वी.शती से 13वी.-14वी. शती तक देखने को मिलता है। यद्यपि कहा जा सकता है कि उस काल में भी बस्तर में शिल्प कलाकार विभिन्न देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण करने लगे थे। बस्तर में देवी उपासना यद्यपि प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित रही है तथापि इसके ठोस प्रमाण शिल्प और अभिलेखों के रूप में 8वीं शताब्दी ईसवीं से उपलब्ध है। बस्तर में अलग अलग हिस्सों में विभिन्न रूपों में शाक्त प्रतिमायें प्राप्त हुई है। छिन्दक नागवंशी शासक सोमेश्वरदेव के कुरूसपाल अभिलेख में विन्ध्यवासिनी देवी का उल्लेख मिलता है। उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ''मणिकेश्वरी देवी'' उनकी कुल देवी थी। जो दन्तेश्वरी देवी के नाम से आज भी दन्तेवाड़ा में विद्यमान हैं, जो उनके शक्ति आस्था के प्रतीक है। कांकेर के सोमवंशी शासक पम्पराजदेव के बारहवीं शती. ई. के कांकेर ताम्रपत्र में कात्यायिनी की स्तुति की गई है। भद्रकाली ग्राम में काली का मंदिर है, जहां प्रतिवर्ष ककसाड़ समारोह उनके द्वारा देवी के सम्मान में मनाया जाता है। इसके अलावा बस्तर के छोटे डोंगर, बारसूर, दंतेवाड़ा में महिषमर्दिनी, बड़े डोंगर, दंतेश्वरी मंदिर बारसूर, मातागुड़ी भैरमगढ़ में चतुर्भुजी पार्वती, समलूर में गौरी, देवरली मंदिर की अष्टभुजी दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, भैरवी, वाराही, शिवमंदिर की चामुण्डा, समलूर में शिवा, ओड़ागांव में महिषमर्दिनी, मंडपाल जगदलपुर में पार्वती, कात्यनी, अम्बिका, इंद्राणी आदि की विभिन्न प्रतिमायें प्राप्त हुई है, जो सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

माहेश्वरी (शिवानी) :- बीजापुर के चिन्गेर नामक गाँव के जंगल से एक अद्भुत देवी प्रतिमा प्राप्त हुई है जो लम्बे समय से धरती के अन्दर दबी हुई थी | इस प्रतिमा का केवल उपरी हिस्सा दिखाई पड़ता था जिसे स्थानीय लोग शिव समझकर पूजा करते थे | शोधकर्ता द्वारा ग्रामीणों से संपर्क करके इस प्रतिमा को बाहर निकलवाया गया, जिससे पता चला कि यह प्रतिमा देवी की है | प्रतिमा विज्ञान के अनुसार पता चलता है कि यह प्रतिमा शिवानी (माहेश्वरी) की है |

सौम्य शांत मुख वाली यह प्रतिमा अर्ध बैठी हुई मुद्रा में है | मुंडो का बाजूबंद दोनों भुजाओं में प्रदर्शित है | चतुर्भुजी प्रतिमा ऊपरी हाथो में त्रिशूल तथा डमरू पकडे हुए है वहीँ निचले हाथो में खप्पर तथा कटार का अंकन किया गया है | प्रतिमा सर्पधारी जटामुकुट, कर्ण कुंडल, हारावली, पायल, कटिमेखला, कंकण आदि से सुशोभित है | नीचे उनका वाहनअंकित है | प्रतिमा के दायें तथा बाएं ओर एक-एक सर्प का अंकन किया गया है | प्रतिमा का काल लगभग 13-14 वीं शती ई. निर्धारित किया जा सकती है | यह प्रतिमा रूप मंडन शिल्प-ग्रन्थ के अनुसार निर्मित है |

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के पुरातत्त्व संग्रहालय में माहेश्वरी (शिवानी) की एक प्रतिमा स्थापित है, जो लाल बलुवा पत्थर से निर्मित है | प्रतिमा चतुर्भुजी है | इनके आयुधों में दाहिने नीचे से क्रमशः खड़ग, डमरू, त्रिशूल तथा पात्र (संभवतः मधु पात्र) प्रदर्शित है | अर्ध-निमीलित नेत्र, अंडाकार मुखमंडल, कंठहार, स्तनहार, कर्ण-कुंडल, कंगन तथा नुपूर आदि आभूषणों से सुशोभित है | देवी की यह प्रतिमा, प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है |

प्राचीनता :- शिव के द्वारा उद्भूत शक्ति का नाम माहेश्वरी है | विष्णु धर्मोत्तर पुराण में बतलाया गया है कि श्वेतवर्णी, जटाजूटधारी माहेश्वरी के पाँच मुख और तीन नेत्र होने चाहिए, वह वृषभ पर आसीन होती है | उनकी 6 भुजाएं होती है तथा दाहिनी ओर तीन भुजाओं में क्रमशः सूत्र और डमरू रहता है और एक हाथ वरद मुद्रा में होता है | बांये हाथों में शूल, घंटा और एक हाथ अभय मुद्रा में होता है | "रुपमंडन" के अनुसार माहेश्वरी को वृषभ पर आरूढ़ होना चाहिए | उसकी चार भुजाएं होनी चाहिए, जिसमे से तीन हाथों में कपाल, शूल और खट्वांग होना चाहिए तथा एक हाथ वरद मुद्रा में होना चाहिए |"**अंशुमदभेदागम**" शिव को ही माहेश्वरी रूप प्रदान करता है | "**पूर्वकारणागम**" माहेश्वरी को शिव के समान आभूषण धारण करने वाली बतलाता है |

श्लोक:- माहेश्वरी प्रकर्त्तव्यावृषभासन संस्थिता |
कपालशूलखट्वांग वरद्हस्ता चतुर्भुजा || (रूपमंडन, 55, 24)

महिषमर्दिनी:-महिषमर्दिनी की उपासना प्राचीन बस्तर में कात्यायनी, माणिक्यदेवी, विन्ध्यवासिनी, दंतेश्वरी और मावलीदेवी आदि विभिन्न नामों से की जाती थी | बीजापुर के डूड़ेपल्ली गाँव से एक महिषमर्दिनी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो त्रिमुखी है, जिसमे दाहिना मुख क्षरित अवस्था में है | प्रतिमा में दाहिनी ओर 6 भुजायें है जिसमे ऊपरी हाथ में शंख तथा सबसे निचले में त्रिशूल प्रदर्शित है बाकी भुजाओं के आयुध खंडित है | बायीं भुजाओं में उपर से नीचे की ओर क्रमशः सनाल, पद्म पाश धारण किये है | तीसरे हाथ का आयुध अस्पष्ट है तथा चतुर्थ हाथ में महिष का पूँछ पकड़े हुए प्रदर्शित है| विचारणीय है कि इस प्रतिमा में दायीं ओर 6 भुजाएं तथा बायीं ओर केवल 4 भुजाएं दिखलाई पड़ रही है, संभवतः शिल्पकार इसे 12 भुजाओं वाली बनाना चाहता था जो कि नहीं बना पाया | इनका मुख मुद्रा रौद्र है तथा आंखे अर्ध निमीलित है | देवी कर्ण-कुंडल, गले में हारावली, कटिमेखला से सुशोभित है | दायाँ पैर भूमि पर तथा बायाँ पैर महिष के ऊपर अवस्थित प्रदर्शित है | दायीं ओर उनका वाहन सिंह अंकित है |

प्राचीनता :- "अग्निपुराण" में विविध आयुधों के साथ दसभुजी सिंहवाहिनी चण्डिका द्वारा शूल से महिषासुर के वध करने का उल्लेख मिलता है | "मत्स्यपुराण" में जटाजूट और अर्धचन्द्र से युक्त दसभुजी, त्रिनेत्र धारी कात्यायनी को सभी आभूषणों से सुशोभित त्रिभंग मुद्रा में सिंह पर आरूढ़ बताया गया है | उसके दाहिने हाथ में त्रिशूल, खड़ग, चक्र, बाण शक्ति और बाएं हाथों में धनुष, खेटक, पाश, अंकुश, घंटा या परशु होता है | उसके नीचे, हाथ में तलवार और

ढाल लिए महिषासुर को दिखाया जाता है जिसके वक्ष स्थल पर देवी का त्रिशूल धंसा रहता है | उसकी ऑखें, बाल और भौंहे लाल होती है और मुख से रक्त का फव्वारा निकलता हुआ दिखलाई देता है |"रूपमंडन" में मत्स्य पुराण के विवरण को ही स्वीकार किया गया है |

सन्दर्भ सूची :-

1. मिश्र, इंदुमती, प्रतिमा विज्ञान पृष्ठ ,181-182.
2. रूपमंडन - 24 55 ,
3. श्रीवास्तव, व्रजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, 111-112.
4. संग्रहालय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय से प्रकाशित ब्रोशर
5. बिजेंद्र नाथ, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 112.
6. देवीमहात्म्य31-6-2 ,
7. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 117,20-18

1. **माहेश्वरी (शिवानी)**

.2महिषमर्दिनी देवी

छत्तीसगढ़ का भूमिज मंदिर:भोरमदेव

(परमार युगीन स्थापत्य कला का प्रभाव)

डॉ. आशुतोष चौरे

भोरमदेव अद्वितीय प्राकृतिक सौन्दर्य एवं स्थापत्य कला के लालित्य से परिपूर्ण पुरातत्वीय स्मारक स्थल है। सतपुडा पर्वत माला के साल्हेटेकरी पहाडी से निर्मित वृताकार घाटी के मध्य विस्तृत सुरम्य वनांचल में पौराणिक नामों के अधिवास की आस्था और मान्यताओं से जुडे एक प्राचीन सरोवर के समीप भोरमदेव के नाम से प्रख्यात ऐतिहासिक महत्व का भव्य मंदिर विद्यमान है । यह देवालय कवर्धा जिला मुख्यालय से 18 किलोमीटर दक्षिण – पश्चिम दिशा में स्थित है।

फणिनागवंशी शासकों के कलात्मक अभिरूचि और धार्मिक आस्था का प्रतिरूप भोरमदेव मंदिर दक्षिण कोसल के स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है। ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई. में दक्षिण कोसल के अन्तर्गत रतनपुर के कलचुरि, बस्तर के छिंदक नागवंशी और कवर्धा के फणिनागवंशी समकालीन शक्ति सम्पन्न शासक थे। मडवा महल के समीप से विक्रम संवत के जय संवत्सर 1406 (ईस्वी सन 1349) में उत्कीर्ण प्रस्तर अभिलेख प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख से फणिनागवंशी राजाओं की वंशावली तथा इतिहास पर प्रकाश पडता है। इस अभिलेख में अनन्त शेष और मिथिला से उत्पन्न अहिराज से लेकर रामचन्द्र तक कुल 24 पीढी तक के राजाओं की जानकारी मिलती है। यह अभिलेख रायपुर से संग्रहालय में सुरक्षित एवं प्रदर्शित है। जनश्रुतियों के आधार पर भोरमदेव का मंदिर छत्तीसगढ में गौडों के शासन का एक महत्वपूर्ण स्मारक माना जाता है परन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों में यह बात युक्ति संगत नहीं है। 1 इस मंदिर के ललाट बिम्ब पर विष्णु का अंकन होने के कारण कनिंघम [2] इसे विष्णु का मंदिर स्वीकार करते है । उनके अनुसार गौडो के समय में इस मंदिर में प्रतिष्ठित लक्ष्मी नारायण की प्रतिमा के स्थान पर शिवलिंग प्रतिष्ठित कर दिया गया था। लक्ष्मी - नारायण की प्रतिमा मण्डप में स्थापित है ।

दक्षिण कोसल के कलचुरिकालीन मंदिर में यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ एवं सुरक्षित है। निर्माण योजना में इसमें अर्ध्दमण्डप, सभामण्डप, अन्तराल एवं गर्भगृह आदि निर्मित है । यह मंदिर सप्तरथ योजना पर आश्रित है जिसका भू-विन्यास (ग्राउंडप्लान) ताराकृत है । निरान्धार योजना पर आधारित इस मंदिर के उत्सेध विन्यास में अधिष्ठान,जंघा, कटि, शिखर एवं आमलक दृष्टिगोचर होता है । देवालय एक सादे प्रस्तर की आधार पीठ पर निर्मित है जिसमें खुर, कर्णिका, अन्तर्पट्ट, कुम्भ आदि निर्मित है । इस मंदिर का तल विन्यास मालवा की भूमिज शैली के समान है। यह मंदिर एक समानान्तर जगती पर निर्मित है इसका पूर्वाभिमुख मण्डप से गर्भगृह तक लेटिन क्रास रेखाकृति व्दारा किया गया है । जंघा भाग तीन अलंकृत पट्टिकाओं में विभाजित है जिनमें देवकुलिकाए निर्मित है। इन देवकुलिकाओं एवं बाह्य स्तम्भों में विष्णु , शिव , चामुण्डा, गणेश , लक्ष्मीनारायण, वामन, सरस्वती, नृत्यरत गणेश, हरिहर, अर्धनारीश्वर आदि देव प्रतिमाओं के साथ नायक नायिकाएँ, नृत्यांगनांएँ व्याल मूर्तियॉ, अप्सराओं आदि का अंकन किया गया है । यह उल्लेखनीय है कि खजुराहो की भॉति यहॉ मिथुन दृश्यों की बाहुल्यता है ।

इस मंदिर का शिखर अलंकरण, शिखर आकृति के प्रतिमा रूप तथा अवयवों की अनुपातिकता के लिए विख्यात है। इस शिखर का निर्माण कैलाश पर्वत की कल्पना के आधार पर हुआ है। इस मंदिर का शिखर नीलकण्ठेश्वर मंदिर के सदृश्य यहॉ भी मुख्य शिखर के चारों ओर उरूश्रृंग निर्मित है जो शिखर भाग को अत्यन्त

कलात्मक बनाता है । इस प्रकार भोरमदेव का शिखर उसके अंगशिखरों को सन्तुलित कर निर्मित किया गया है । अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज भुवनपाल (मण्डवा महल में वर्णित आठवॉ नागवंशी राजा गोपाल देव का पौत्र था) के शिवालय के कलश को माडव के पति ने तोडा और रतनपुर का महाराज बहुराय वह संगमेश्वर का स्तम्भ ले गया ।[3]

पूर्वाभिमुख मण्डप में तीन और मुखमण्डप निर्मित है परन्तु मुख्य प्रवेश पूर्व दिशा की ओर से है। दक्षिण दिशा के अर्ध्दमण्डप में 18 पंक्तियों के लेख में इस मंदिर के कलश को तोडने का उल्लेख है साथ ही मगरध्वज जोगी 007 का लेख उत्कीर्ण है । द्वार के सिरदल पर हंस, गज एवं शार्दूल आदि का अंकन है । मण्डप वर्गाकार है। तीनों दिशाओं के द्वारों के दोनों और एक - एक स्तम्भ है जिनकी लाट अष्टकोणीय है। स्तम्भ ऊपर की ओर षोडश कोणीय है। इनके भाग में कीचक निर्मित है जो मण्डप के वितान का भार सम्भाले हुए है । इस स्तम्भों की सीध में दो विशाल स्तम्भ है। इस प्रकार मण्डप में चार स्तम्भ तथा मण्डप के चार कोनों पर चार भित्ति स्तम्भ है। इस प्रकार कुल 16 स्तम्भों पर यह मण्डप आधारित है । मण्डप का वितान शतदल कमल अभिकल्प से अलंकृत है। अन्तराल आयताकार है तथा यह अंलकरण विहीन है । गर्भगृह का प्रवेश द्वार पंचशाख युक्त है । नीचे द्वार स्तम्भ शाखा में त्रिभंग मुद्रा में शिव का अंकन है। गर्भगृह वर्गकार है जो मण्डप से नीचे की ओर है जहाँ कुछ सोपानों से उतरकर पंहुचा जाता है। सम्प्रति - गर्भगृह के मध्य में विशाल जलहरी काले पत्थर से निर्मित है जिस पर शिव लिंग प्रतिष्ठित है। यह देवालय निरान्धार प्रसाद है परन्तु डॉ. सीताराम शर्मा ने इसे सान्धार प्रासाद बनाया है । गर्भगृह का वितान शतदल कमल अभिकल्प से युक्त है। भीतरी भित्तियॉ सादा एवं अलंकरण विहीन है। यहॉ पर शिवलिंग के अतिरिक्त पंचफणयुक्त नाग, नृत्य गणपति, ध्यानमग्न योगी, उपासकदम्पति आदि प्रतिमाएं भी रखी है। इस देवालय का निर्माण 11 वीं शती ई. में कलचुरि राजा पृथ्वीदेव प्रथम के समकालीन चवरापुर के फणिनांगवंशीय छठे- षासक गोपालदेव के राजत्वकाल में हुआ था।[4]

गुप्तोतरकाल में मालवा में सीमित संख्या में ही मंदिरों का निर्माण किया गया । राजनैतिक अस्थिरता एवं सांस्कृतिक संक्रमण के कारण सम्भवतः यह स्थिति रही। परमार काल में यह स्थिति परिवर्तित हो गयी। दसवीं सदी में राजनैतिक स्थिरता आने लगी। ऐसे वातावरण का प्रभाव कला जगत पर भी पडा। मालवा का परमारकालीन मंदिर वास्तु पूर्व परमारकालीन परम्परा को ही आगे बढाता है। परमार की वास्तु दृष्टि बडी लचीली और प्रयोगशील थी। इस कारण उन्होंने जहॉ पूर्व प्रचलित शैलियों को अत्मसात किया, वहीं उन्होंने प्रचलित विधाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी किये थे। आंचलिक शैलियों को भी मान्यता प्रदान की गयी । इस बात का प्रयास किया गया कि सारे व्यवधानों के विरुद्ध परमार मंदिर वास्तु को एक स्पष्ट वैशिष्ट्य प्राप्त हो सके। इस वैशिष्ट्य की स्थापना के लिये परमारकालीन वास्तुकारों ने कुछ वास्तु मूल्यों को विकसित किया और यह अपेक्षा की कि इस दृष्टि से वास्तुकार आधारभूत मूल्यों के विषय में अनुशासन बनाये रखें।

परमारकालीन मंदिर वास्तुकला पर अत्यधिक युक्तियुक्त समीक्षा महान कला समीक्षक एवम पुराविद कृष्णदेव द्वारा की गयी है। उनके अनुसार मध्यकालीन भारतीय मंदिरों को अपराजित पृच्छा ने एक स्थान पर14 और अन्य स्थान पर 8 विभागो में वर्गीकृत किया है। समरांगण सूत्रधार 16 प्रकार के भूमिज मदिरों की चर्चा करता है जबकि अपराजित पृच्छा भूमिज मंदिरों के 25 प्रभेद बताता है। दोनों ही ग्रंथों में भूमिज मंदिर त्रिअंग, पंचाग, सप्तांग और नवांग प्रकार के बताये गये है। दोनों में वृत जाति नामक गोलाकार मंदिरों की चर्चा भी आयी है। दोनों मंदिर शिखरों

की विभिन्न भूमियों की चर्चा भी करते है। समरांगणसूत्रधार में किसी एक ही नगर में एक देवता के एकाधिक मंदिरो का प्रायः इसलिए निषेध किया गया है कि इससे अनर्थ एवम् पीडा की संभावना है।

कृष्णदेव ने समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छा आदि साहित्यिक ग्रन्थों में उल्लिखित भूमिज मंदिरों की संगति उपलब्ध परमार कालीन अवशेषों से बिठाने का प्रयास किया है । उनका मानना है कि भूमिजशैली का सबसे स्वीकरण स्टेला क्रेमरिश ने किया और उपलब्ध मंदिर अवशेषों से उसकी पहचान करने का प्रयास किया। स्टेला क्रेमरिश ने भूमिज मंदिरों केा भूमि अथवा स्थान से जन्मा बताया।[7]कृष्णदेव का कहना है कि भूमिज मंदिरों का अर्थ पूर्व प्रचलित दैविक मंदिरों से न होकर लौकिक मंदिर (किसी देवी शक्ति से न होकर स्थानीय रूप से उद्भूत) से भी हो सकता है। उन्होने एक ओर अर्थ की भी चर्चा की है। इसके अनुसार मंदिर की भूमि (अवयव विशेष) पर स्थित मंदिर को भूमिज मंदिर माने जाने का आग्रह है।[8]

मंदिर मूलतः प्रतिहार तथा परमारकाल के संधिकाल का है। इसी प्रकार उदयपुर का सन् 1080 का नीलकंठेश्वर मंदिर,महाराष्ट्र के अंबरनाथ में 1060 का अंबरनाथ मंदिर, ओंकार-मान्धाता का अमरेश्वर, राजस्थान का महावीर मंदिर आदि भूमिज शैली के प्रारंम्भिक मंदिर माने जा सकते है। भूमिज शैली प्रथम पुरातत्वीय संदर्भ कर्नाटक के कुप्पतूर स्थित कटभेश्वर मंदिर से प्रारम्भ होता है । यह अभिलेख सन् 1231 का है । एम ए ढाकी का माना है कि कर्नाटक में भूमिज शैली के मंदिर लक्कुंडी का काशी विश्वेश्वर मंदिर (1008 से 1010 ई. तक) हवेरी का सिध्देश्वर मंदिर (1068 ई.) तथा अमृतपुर का अमृतेश्वर मंदिर (1196 ई.) के रूप में देखे जा सकते है। इसी प्रकार महाराष्ट्र अंबरनाथ का अंबरनाथ मंदिर, बलसाने का त्रिदेव , षिन्नार का गोंडेश्वर मंदिर तथा नासिक जिले में झोड्गा का मंकेश्वर मंदिर भूमिज शैली का प्रभाव क्षेत्र अंकित करते है।[9] राजस्थान में कोटा जिले का रामगढ का देवी का मंदिर झालरापाटन का सूर्य मंदिर तथा चितौड जिले में स्थित मैनल का महाबलेश्वर मंदिर भी भूमिज मंदिरों की परिसीमा में आते हैं।[10] इस प्रकार हम देखते हे कि भूमिज मंदिर केवल परमार कालीन मालवा तक ही सीमित नही रहे अपितु उनका फैलाव मालवा के निकट राजस्थान, महाराष्ट्र , आंध्रप्रदेश और कर्नाटक पर भी था।

भूमिज मंदिरों की विशेषताएँ :-

साधारणतः भूमिज मंदिरों की योजना स्वस्तिकाकार तारकाकृत होती थी। भूमिज मंदिरों की योजना पंचरथ अथवा सप्तरथ होती थी। शिखर तीन, पॉच, सात, नौ, ग्यारह भूमियों के होते थे । ग्यारह शिखरों वाले मंदिर का कोई पुरातत्वीय प्रमाण नहीं मिल पाया है। इस प्रकार परमार मंदिरों की मुख्य विशेषता उन मंदिरों के शिखर है जो भूमिज शैली में निर्मित हुए । चार शंकुआकार (नुकीले) सज्जित कोण मध्य में 5 से 7 प्रतिमाएं व सन्तुलित उॅचाई उनकी प्रथम विशेषता है। परमार मंदिरों की दूसरी विशेषता है स्थायी शुकनासा, मंदिरों की वेदिकाएं चैत्य की वेदिका के समान नहीं है ।

मण्डप की छत प्रायः घंटाकृति में होती है। स्तम्भ चौकोर है। अधिक से अधिक भाग को कलात्मक उच्चादर्श द्वारा उत्कीर्ण किया गया है, और किचित गोल आकार भी बनाया गया है। मंदिर बनाने में नियमों का पालन अत्यावश्यक था। समरांगण सूत्रधार में भूमिज मंदिरों के प्रकार भी दिये गये है। (1) निषध (वर्गकार योजना पर) मलयासद्रि माल्पवाम एवम् नवमालिका (2) वृक्ष जाती कुमुद, कमल कमलोद्भव, किरण, शतश्रृंग, निग्रध एवं सर्वांगसुन्दर (3) अष्टषाल श्रवस्तिक वज्रस्वस्तिक, उदयाचल एवम् गंधमादन।

मालवा के परमारकालीन वास्तुशिल्प का संमोजन सन्तुलित शास्त्रीय मापदण्डों को लेकर विकसित होता है। मंदिरों की रूपरेखा एक प्रामाणिक वास्तु शैली के अन्तर्गत प्रादेशिक व स्थानीय भेद प्रभेदों पर आधारित थी । विग्रह विम्ब को पवित्र स्थल पर प्रतिष्ठित कर उन्मुक्त्त वातायन में खुले चत्वर, वेदिका उन्नत अधिष्ठानों स्तम्भों सोपान श्रृंखलाओं तथा कोठिक शिखरों सहित मंदिरों की रचना हुई । उन्नत दीर्घांगश्रृगों से अमृत शिखरों का विभिन्न प्रकार से अंलकृत मण्डपों में संयोजन किया गया। मंदिर के चतुर्दिक, विकासक्रम में आन्तरिक मण्डपों की विस्तार परिधि अलंकृत स्तम्भ, अन्तराल विधि तथा रशिकाएं क्रमश प्रमुख अंग बनी । वास्तु रचना के साथ-साथ शिल्प संयोजन अलंकृत अभिप्रायों व आकृति परक चित्रण में प्रस्तुत होने लगा। पूर्णीत्कीर्ण मण्डप व व्दार चौखट आंगिक दृष्टि से मौलिक पृष्ठ लक्षण है। इन मंदिरों में कोणिक शिखर के अन्तरिम पृष्ठभाग पर अलंकृत शिल्पोंत्कीर्ण चन्द्राचल महत्वपूर्ण है। इसका शुकनासाम्र भाग अपने शिल्प में अभूतपूर्ण है।

तत्कालीन देवमृहों के निर्माण के सम्मुख सभा भवन की रचना की गयी। शिल्प के लाक्षणिक प्रयोगों का स्तंभों रथिकाओं, भित्तिओं तथा व्दार पल्लवों की वास्तु विलक्षणता से संकेत प्राप्त होता है । पौराणिक कथाओं को प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण कर वास्तु वैभव को समृध्द करने की परम्परा सर्वथा मौलिक रूप में प्रस्तुत की गयी है ।[12]

परमारकालीन मंदिरों और विशेषतःभूमिज मंदिरों का सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण प्रमाण उदयेश्वर का मंदिर है। उदयपुर में उदयादित्य व्दारा नीलकण्ठेश्वर नामक महादेव मंदिर का निर्माण कार्य 1056 ई0 में प्रारम्भ किया गया । ईस्वी सन् 1080 में मंदिर पूर्णरूपेण निर्मित हुआ। उदयादित्य के ही नाम पर इस मंदिर का नाम उदयेश्वर भी मिलता है । उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार वास्तुकला का एक भव्यतम उदाहरण है। इस मंदिर मं वास्तुकला एवम् मूर्तिकला का सुन्दर समन्वय हुआ है।

इस मंदिर की योजना ताराकार है। इसका गर्भगृह सप्तरथ प्रकार का है। इस मंदिर में अन्तराल, मण्डप तथा तीन द्वार मण्डपों का समावेश है। इस मंदिर के प्रांगण में प्रारम्भ से सात लघु मंदिर थे, जिनमें से दो पूर्णरूपेण नष्ट हो गये है शेष अभी - विद्यमान है। इनमें दर्शनीय केवल स्तम्भ ही है। मंदिर एक सुविस्तृत जगती पर निर्मित है जिस पर सोपान क्रम के व्दारा पंहुचने की व्यवस्था है। इसके पार्श्व में उच्चाकार की शैव व्दारपालों की मूर्तियॉ हैं । गर्भगृह के शिखर की आकृति के विन्यास में उच्चकोटि की निपुणता को समावेश किया गया है। इसके लघुशिखरों की सात उर्ध्वाकार तथा पॉच संतिजाकार पंक्तियों में प्रत्येक वृत्तपाद केा अलंकृत किया गया है। इसके साथ छाया एवं प्रकाश की बडी सुरम्य व्यवस्था भी है। शिखर मूर्तिकला से सुसज्जित है और कुछ दूर तक विभिन्न देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियॉ है। मध्यभाग में ताण्डवस्थ शिव तथा अनेक देवी-देवताओ की मूर्तियॉ है जो उत्कृष्ट सौन्दर्य तथा सजीवता को प्रतिध्वनित करती है। मंदिर का प्रमुख द्वार पूर्व की ओर है । इसके साथ ही साथ तीन द्वारों के मण्डपों के बडेरियो पर उत्कीर्णकों की मूर्तियॉ है जो अपने सौन्दर्य एवं भावभिव्यक्ति के लिए प्रख्यायत है। उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर अपने समृध्द अलंकरण शिखर - आकृति के अन्तिम रूप तथा उसकी अवयवों की अनुपातिकता के लिये प्रख्यात है। वह मंदिर परमार शैली के अन्तर्गत निर्मित मंदिरों मे विभिन्न दृष्टियों से विशिष्ट महत्वपूर्ण है तथा परमार शैली के विकास का सर्वोकृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। यह कथन उचित ही है कि नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार शैली के मंदिरों के मध्य रत्न के सदृश्य है। [13]

प्रमुख मंदिर के पूर्वी प्रवेश द्वार की दाहिनी ओर पाये गये शिलालेख से सूचना मिलती है कि परमार नरेश उदयादित्य ने उदयपुर नगर बसाया, शिव का एक मंदिर अर्थात उदयेश्वर का मंदिर निर्मिण करवाया तथा उदय - समुद्र नाम से एक सरोवर बनवाया। इस प्रकार उदयपुर, उदयेश्वर मंदिर तथा उदेय समुद्र परमार शासक उदयादित्य की देन है

। सम्प्रति उदयपुर एवम् उदय समुद्र दोनो ही क्षीणना को प्राप्त हो चुके है परन्तु यह मंदिर आज नौ सौ वर्षो के पश्चात् भी मस्तक ऊँचा किए खडा है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि परमारों की भूमिज शैली को छत्तीसगढ के कलचुरियों द्वारा पसंद किया गया और मालवा के शिल्प गुरू एवं शिल्पों ने यहा के भोरमदेव मंदिर को भूमिज शैली में निर्मित किया होगा ।

.....

संदर्भ -

1. एलेवजेण्डेर कनिघम, आर्कियोजाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया)1981-82(जिल्द 17,पृष्ठ 75।
2. उपरिवत जिल्द 13,पृष्ठ 36।
3. भोरमदेव मंदिर के दक्षिणी द्वार में जडे संवत । 608 (विक्रम संवत के (19 वे पंक्ति के प्रस्तर अभिलेख से उक्त जानकारी प्राप्त होती है । जी,चन्द्रौल भोरमदेव मदिर प्रदर्शिका .के . भोपाल -1984,पृष्ठ 14।
4. धरोहर, राज्य के संरक्षित स्मारक, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग छ,षासन रायपुर .ग. लेखक जीचन्द्रौ .के .ल, पृष्ठ 08।
5. अपराजितपृच्छा अ .171, स .अ.सू.65।
6. समरांगण सूत्रधार 40/13,10/46-50।
7. दा हिन्दू टेम्पल पृ .218-19,389।
8. आ .मा.प.
9. आ .मा.प.
10. आ .मा.प.
11. मालवा की परमारकालीन कला पृष्ठ 109-10 ,मालवा थ्रू दी एजेस, पृष्ठ 435,कृष्ण देव टेम्पल आफ नार्थ इण्डिया पृष्ठ 66-67, समरांगण सूत्रधार अध्याय -65।
12. मालवा की परमारकालीन कला, पृष्ठ 110।
13. मालवा की परमाकालीन कला, पृष्ठ 109- 10 (डॉ सुल्लेरे का लेख (।

भोरमदेव मंदिर उर्ध्व-विन्यास

उदयेश्वर मंदिर उर्ध्व-विन्यास

The Landscape and Settlement Pattern of Megalithic Sites of District Pulwama, Kashmir

Abdul Adil Paray
Dr Manoj Kumar

The present study is the first of its kind in the Kashmir valley that explores and documents the unexcavated Megalithic sites of district Pulwama of the south Kashmir region accompanied by the surface collections. Most of the megalithic sites in the Kashmir valley are unexcavated except Burzahom and Gufkral. This study attempts to decipher the cultural significance of standing stones left by the past civilization in the late Stone Ages in south Kashmir in general and district Pulwama in particular. This paper studies the megalithic practices in the Kashmir region to find out their distribution, nature, context, purpose, and relationship. The study aims to identify, document, collect surface finds and analyze megalithic sites. During the field survey of the study area, the landscape and settlement pattern of the megaliths is the central theme.After going through the available sources and field surveythrough walking and preliminary analysis of the surface collections, the general features of the Megalithic culture of district Pulwama that came forward are summarized. Moreover, this study is more to investigate and raise the research questions associated with the Megalithic culture of Kashmir.

Geographical Area under Study

The geographical area in the present study is district Pulwama in South Kashmir. Prior to that, evidence of occupation by early men through the middle Stone Age, late Stone Age and Neolithic times are visible in this region.The choice of the field area as Southern Kashmir is guided by two primary factors: (1) The region is geographically significant because of its hilly tract areas and Karewas, providing scope for investigating the relationship between past humans and their ways of life. (2) Archaeologically, this region has a high potential that helps us to explore and reconstruct the ancient past keeping in view the reported and excavated archaeological sites.

Statement of the Problem

The Kashmir megaliths are commemorative, and one cannot locate the burials associated with them in District Pulwama. The sites indicate the Neolithic-megalithic continuation, and the monuments were erected towards the end of the Neolithic period. Moreover, the study aims to trace any direct affinities or indirect connections or relations with that of Megaliths in other parts of India or North-Western regions and Central Asia. Moreover, what are the similarities and differences, and if they do or do not follow the uniform sequence of culture?

Aims and Objectives The rationale of the study is:

1. The documentation, interpretation and reconstruction of the history of the megaliths and megalithic sites to find out their purpose and significance.
2. To explore new megalithic sites, collect surface material culture, analyze landscape and settlement patterns through transect survey and obtain sections through trial excavations.

Methodology

In the present work, the researcher followed the method of exploration using various techniques. Therefore, standard archaeological tools and techniques have been applied for the collection of empirical data and identification and interpretation of archaeological sites, which include, Field Walking, Photography, Documentation and surface collections.

Megalithic Sites in District Pulwama

The distribution of Neolithic-Megalithic sites and material culture in district Pulwama encourages speculation about the broader nature of Neolithic-Megalithic culture in Kashmir. Inferences about the past behaviour depend on accurate descriptions of the materials on which they are based, and additional attempts to enlarge our knowledge of the database are essential. However, these sites are still waiting for the archaeologist's dig and investigation so that many issues can be resolved. Many empirical and theoretical problems are yet unresolved about the Megalithic culture of Kashmir in general. There are much more exciting avenues of research well worth pursuing regarding the Megalithic culture of Kashmir in general and in district Pulwama in particular.

In the study area, the identified Megalithic sites are situated on the Karewas accompanied by the Neolithic material culture. All the sites in Pulwama are along the right and left bank of river Jhelum. The megaliths are concentrated on high platform areas noticed near the water sources and where nearby the bounties of stones were available. There are more than a dozen Megalithic sites identified in district Pulwama Kashmir. Only five sites are represented by the presence of megaliths in the form of Menhirs, which include Gufkral, the only excavated site, Begund, Haripariqom, Dadsar, and Sombur all these are unexcavated sites.

Landscape and Settlement Pattern of Neolithic-Megalithic Sites of District Pulwama

Geologically, it is attested that the rise of the Pir Panjals around 4 MY to 85,000 years ago elevated and folded the lake sediments and shifted the primaeval lake to the Himalayan edge and drained out (Agarwal et al., 1988, 55-56). It resulted in the formation of upper and lower Karewas, where the prehistoric material culture was retrieved. The most primitivestone tools in India associated with the Paleolithic period, according to Prof. Sankalia, were recovered in the Lidder Valley and Sombur (Pampore) of the South Kashmir region.This is the region where most Neolithic-Megalithic sites have been reported, whereas, Neolithic sites in Northern Kashmir are void of Megalithic culture (Sankalia, 1971, 538-47).

These prehistoric sites are primarily located on these Karewa bedsat an elevation between 1550 to 1650 meters above sea level.It indicates that the water was not completely drained out of the valley, and the land could have been boggy, hence incompetent for the farming, and the Neolithic-Megalithic people might have practised agriculture on the Karewa beds or terrace cultivation. It is substantiated by the distribution of these Neolithic-Megalithic sites on the Karewa beds and present settlements and the terrace farming practised on the Karewas. Another significant feature of the Neolithic-Megalithic sites is positioned near the water sources, which helped them procure drinking water andcarry out farming, fishing, and conveyance. Therefore, all the prehistoric sites are located along the river Jhelum and its tributaries. Moreover, all the Neolithic-Megalithic sites are near the hills with rocks as raw material for tool making and forests for foraging, cattle rearing, and later procuring big stones to erect them near their settlements Megaliths.

Another aspect is if megalithic people had migrated to Kashmir during that time,and erected these structures. It needs a comparative analysis of the genetic and skeletal remains of the megalithic people from the neighbouring megalithic regions. However, the material culture, i.e., typical megalithic burials, iron and pottery, which are the hallmark of the Megalithic period, are not that encouraging in Kashmir valley. The presence of iron from excavated megalithic sites in Kashmir is scanty, which is found in abundance in the Indian context, and the burial system is also different from that of megalithic burials in the rest of India. Also, there are various types of

Megalithic structures in the Indian mainland, including Cist, Urn, Sarcophagus, Pit, Cairn burials, etc. In Kashmir valley, there are only Menhirs found.

Since prehistoric times we have evidence of boundary markers in the shape of stones or erecting stone walls for protection from beasts. That might have the purpose and belief of Megalithic people to erect stones and later bury them dead for their protection. Moreover, these structures in Kashmir might have a religious purpose or were associated with the belief systems. These structures might have also acted as commemorative to commemorate the birth, death, any particular heavenly or meteorological event. It is substantiated with the presence of cupule marks on the menhirs in Kashmir, and cup marks have been associated with the position of various groups of stars in the south Indian context.

Unlike in the rest of the Indian sub-continent, Kashmir megaliths seems non-sepulchral, i.e. not associated with the burials of the dead. However, at Burzahom Neolithic-Megalithic site, burials are associated with the Megaliths (Sharma, 1998, 30-31).So the difference between Gufkral and Burzahom Megalithic sites might be because of the time of settlement pattern and partial excavation at Gufkral.

In the rest of India, the Megaliths belong to the Iron age culture and are related mainly to the burials The myths about the presence of gods (probably aided by appropriate illusions, predictions and soothsaying) the burial place was treated as sacred. Efforts to stay in touch with the dead gave rise to the first sepulchral megalithic stone monuments. The mythology and folk tales associated with these stones also point towards the relation between the dead. It is believed that these stones were the humans who were punished by God for their evil deeds and turned into stones, a phenomenon called *Watiess* in the Kashmiri dialect.

It is a fact that Menhirs in Kashmir contain cupule marks. These cup marks need to be comparatively studied and correlated in context and orientation to those found in India and Eurasian context Megaliths in the light of archaeoastronomy. The evidence of Megalithic and material cultures associated with it was found at Gufkral, the only excavated site in the district Pulwama. It suggests there existed Megalithic culture in Pulwama succeeding Neolithic culture. The results may be the same at other sites in the vicinity of Gufkral with and without menhirs there. However, no menhirs or Megalithic culture are reported in Northern Kashmir, which requires future research and intensive archaeological studies.

There is a set of various questions related to the purpose of the erection of menhirs, their social, geographic and cultural affiliation, the system of management of the various social and economic activities and the ritual beliefs. These reflect the cognitive approach built up upon the earlier social approach. It is so that Kashmir megaliths are not associated with the burials as no burial has been reported at Gufkral near the habitation. However, at the same time at Burzahom(Sharma, 1991, 30-31), Neolithic people at Burzahom had a separate burial ground a little away from the living habitation. Because the result was seen when a new settlement of the megalithic period was found at Mahurjhari, and peripheral burials were found at Dhamna-Linga (IAR, 2000-01, 97-107). The burials were found away from the stone circles, thus reflecting the typical burial, a variation of Megalithic Culture found at sites mentioned above in India. So same may be the case in Kashmir Megalithic, where Megaliths were not erected on the burials as is common in South Indian Megalithic culture.

Summary

Pulwama has already revealed its archaeological potential extending from the Paleolithic to the historic sites. The region is rich with prospective archaeological sites. The

remotetopographies and socio-political conditions bar detailed archaeological survey and exploration, and though the region is rich with archaeological sites, not much work has been carried out to study the Megalithic confirmation from this region. The intermittent studies carried out earlier and the passing references in the IARs and this new survey indicate that the region has Megalithic monuments, mostly Menhirs. All of these Neolithic-Megalithic sites under study are unexcavated except Gufkral.

Moreover, no comprehensive study of these archaeological sites has been carried out so far. The paper proposes to study the Megalithic monuments keeping in view the historical, cultural and archaeological significance associated with them. Due to the lack of large-scale explorations and excavation of the Megalithic culture in the region, their antiquity is not analyzed and appropriately understood. The present work attempts to put forth the responsibility to find out more information through future archaeological fieldwork. The scope of the research and investigations into identifying and understanding megaliths and megalithic sites, their origin, purpose, and various dimensions for critical analysis of the Megalithic problem in the South Kashmir region is wide and open.

However, the evidence from two excavated Neolithic-Megalithic sites of Burzahom (Terra 1942) and Gufkral (Sharma 2000) provide the insights but not conclude that the Kashmir megalithic monuments are commemorative, and one cannot locate the primary burials associated with them as found in Indian Megalithic culture. The monuments are found in groups and single on the sites and show no association with skeletal remains as in south India. The people had the idea of the use of iron during the period; however, it can be ascertained once the above sites are excavated.

The following observations are made concerning iron artefacts associated with South Indian Megalithic Culture vis-a-vis their cultural relation to the South Kashmir Megalithic sites. From south Kashmir's excavated sites, iron artefacts have been reported from the Gufkral Neolithic-Megalithic site (1550–1300 uncal. BCE), in Megalithic phase and at Semthan (c. 700–500 BCE) with no archaeo-metallurgical or other Iron Age material evidence. The multi-cultural site of Semthan has yielded iron artefacts with a fewshreds of NBPW are dated c. 700–500 BCE. At Burzahom, iron objects retrieved during its excavation dated between c. 1st century – 5th century CE with no archaeometallurgical proof or other diagnostic Iron Age material evidence, e.g. settlement pattern, pottery types, etc.

However, the occurrence of tuyeres at four slag sites supports the smelting of iron in the past as tuyeres are directly associated with smelting, but again, there is no dating available. It is important to remember that the surface material from the new sites in Baramulla District that are analyzed means that these suggestions remain conjectural until clear dating evidence associated with this slag and tuyeres can tuyeres remains clear obtained after excavation for scientific dating samples.

The presences of cupules on most of the menhirs require expert analysis concerning their association with astronomical processes. Because most of the Neolithic-megalithic sites in south Kashmir belong to the era of agricultural activities or are preceded by the Neolithic period where agricultural activities demanded astronomical knowledge, it is logical to see traces of astronomy dating back to that stage as substantiated by both cupules and conjectured alignment of these megaliths.

Forces of the environment and humans' rising intellect and technical skills endorsedthem to craft megaliths that are remarkable for their architectural delicacies and technological talents.

The menhirs of diverseprofiles and sizes point to their craving to keeptrack of the necessities and resources around them. The knowledge of the use of architecture for habitation, their principalendeavour was to control their immediate milieu for confidentiality and better living. Nevertheless, something continued to give a sense of time and its constraint to them, and soon, the megalithic monuments appeared to result in anenthrallingdiversity of structures that seem to remain with the arrival of either devotion, astronomical or belief of anything. All these questions can be answered, and the answer is the detailed survey and excavation of megalithic sites in Kashmir in General and in Pulwama in particular.

Acknowlwdgement

I would like to express my gratitude and appreciation to ICHR for funding this work and thanks to my supervisor for his humble guidance.

References

Agarwal, et. al., (1988). Palaeoclimatic Data from Kashmir: A Synthesis and Corelation, *Palaeoclimatic and Palaeoenvironmental Changes in Asia, the last 4 MY,* New Delhi,pp. 55-56.

Binford, Lewis R., (2017). *Archaeology as Anthropology,* American Antiquity, Vol. 28 No. 2, Cambridge University Press, pp. 217-225. , De Terra, H. and Paterson, T.T. (1939). *Studies on Ice Age in India and Associated Human Cultures,*Carnegie Institution of Washington, pp. 233-34.

Khazanchi, T.N., *Indian Archaeology-A Review,*1960-61, 1961-62, 1962-63, 1964-65, 1965-66, 1966-67, 1968-69, 1971-72, and 1973-74., IAR, (2000-01).*ASI*, New Delhi, pp. 97-107

Sankalia, H.D. (1990). *Prehistory of India and Pakistan,* Bombay University Press,pp. 538-47.

Sharma, A.K. (1982-83). Gufkral 1981: An Aceramic Neolithic Site in the Kashmir Valley, Asian Perspectives XXV(2) pp. 23-25.

Sharma, A.K. (1998). *Prehistoric, Burials of Kashmir*, Agam Kala Prakashan, Delhi, pp. 30-31.

स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य

डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम'

भारतवर्ष में मानवीयता को अमानवीयता स्वरूप में परिभाषित करने का प्रारंभ अति प्राचीन कालीन है। सिंधु सभ्यता से पूर्व इसका अस्तित्व यहां की भूधरा पर स्थित हो चुका था। सिन्धु सभ्यता एवं उसके समकालीन अन्य स्थलों की पुरातात्त्विक बहुरूप सम्पदा उत्खनन फलस्वरूप उपलब्ध हुई। अनियमित आकार–प्रकार वाले मिट्टी के पात्र, छिद्र युक्त पात्र, पशु पक्षियों के आकार प्रकार वाले पात्र, कच्ची बिना पकी हुई छोटे आकार के पात्र, ताबीज, शिश्न, अर्धनग्न मानव आदि के स्वरूप से इसी तथ्य को बल मिलता है।

अथर्ववेद में प्रयुक्त मारण, मोहन, उच्चाटन, उद्वेषण, स्तम्भन आदि से सम्बन्धित मंत्र एवं प्रयोग अतिमानवीयता को ही सम्बल प्रदान करते हैं। कालान्तर में इसी के अनुरूप अनेकानेक धर्म ग्रंथों में तंत्र, मंत्र एवं यंत्र के प्रयोग एवं उनसे सिद्धि प्राप्त करने की विधि नियमों का भली–भांति निर्देशन किया गया। रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति ग्रंथ, अर्थशास्त्र आदि के साथ–साथ कई ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक ग्रंथों में तंत्रयान के महिमामंडन दर्शित होते हैं।

वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल से पूर्व तक तंत्रयान की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी और उनके प्रयोग बुद्ध के महानिर्वाण के बाद निर्बाध रूप से प्रदर्शित होना आरम्भ हुआ। जिनका प्रभाव मानव के दैनिक जीवन के विविध क्रियाकलापों में परिलक्षित हुए। तंत्रशास्त्रीय व्यवस्था में पुरुष और प्रकृति अर्थात शिव और शक्ति दो ही तत्वों की अहम भूमिका होती है। धर्मग्रंथों के अनुसार सृष्टि का आरम्भ ही एक नर एवं एक नारी की संयुक्तता के फलस्वरुप हुई, जो सतत क्रियाशील होकर आज पर्यन्त तक गतिशील है। अतएव आरम्भ से लेकर वर्तमान तक तंत्रयान का प्रभाव निरन्तर प्रवाहमान है।

धर्म ग्रंथ एवं तंत्रशास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार पुरुष और प्रकृति अर्थात नर एवं नारी से ही तंत्रयान के मूल तत्व आर्विभूत होते हैं। अतएव नर एवं नारी आकृतियों से युक्त प्रतिमाएँ इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप निर्मित करने की गतिविधियाँ आरम्भ हुई। सभी प्रमुख धर्मो ने भी इस प्रतिक्रिया को अंगीकार किया। पद्मपाणि या वज्रपाणि और अवलोकितेश्वर के साथ तारादेवी की मूर्तियाँ निर्मित करने की प्रक्रिया खासी लोकप्रिय हुई। ऐसी मूर्तियाँ भारतवर्ष के अनेकानेक कलाकेंद्रों में बनने लगी। मंजूश्री या पंचध्यानी बुद्धों के साथ भी तारादेवी या दूसरी बौद्ध देवियों की प्रतिमाएँ निर्मित हुई। मूर्ति शिल्प की पद्धति में विकासवाद या प्रगतिवाद की नींव तब पड़ी जब दो पुरुष मूर्तियों के साथ एकल नारी की मूर्ति निर्मित करना भारतीय समाज ने अंगीकार किया। फलस्वरुप आमजन की इच्छा और शिल्पकारों की अगाध रुचि के तहत ऐसी प्रतिमाएँ भारतवर्ष के सभी प्रमुख कला केंद्रों में सृजित हुई। इससे त्रिरत्न के सिद्धांत का साकार स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ। बुद्ध, धर्म और संघ के मानवीकरण की परिकल्पना धरातल पर उसी प्रकार परिलक्षित हुई, जिस तरह दक्षिण भारत के चोलकालीन मंदिरों में विष्णु जी एवं शिवजी के आयुधों का मानवीकरण स्वरूप प्रकाशित हुआ।

तंत्रशास्त्रीय परम्परा में सृजित साधनमाला नामक ग्रंथ बौद्ध तंत्र विज्ञान को नयी दिशा प्रदान करने वाली सिद्ध हुई। इससे मूर्ति विधान भी प्रभावित हुई। प्रकृति और पुरुष मूर्ति शिल्प रचना के प्रमुख विषय के रूप में भारतीय समाज के समक्ष उपस्थित हुए, जिनका सर्वत्र तहेदिल से स्वागत किया गया। इस निर्माण विधान में त्रिरत्न परम्परा के प्रकाशन को अपना मूल लक्ष्य के रूप में केन्द्रित किया गया। इससे समाज, धर्म, संस्कृति एवं कला को नई दिशा में गति प्राप्त हुई।

अगर अन्य धर्मों की कलाओं का रुख न करें तब भी तंत्रयानी सिद्धान्त पर मूलभूत प्रतिमाएँ निर्विवाद रूप से कल्पित और सृजित हुई। इनमें त्रिरत्न शैली या सिद्धान्त पर निर्मित प्रतिमाएँ अत्यन्त ही अह्म है। साधन माला (बौद्ध प्रतिमा विज्ञान) के अनुसार शिल्पकारों ने पुरुष और प्रकृति के सुंदर व कलात्मक कृतियाँ प्रस्तुत किये। इस चित्रण की विविधता के प्रयोग भी हुए और उनमें मूर्तिकारों को विशेष प्रगति भी हासिल हुई। उन्होंने धर्मशास्त्रीय, शिल्पशास्त्रीय एवं अपनी कल्पना को अमलीजामा पहनाकर लक्ष्य तक पहुंचने में कामयाब रहे। पुरुष और प्रकृति के अंकन में एक नारी और एक पुरुष के संयुक्तांक को महत्त्व दिया गया। इसमें उन्हें आशातीत सफलता हासिल हुई क्योंकि दूसरे धर्मों के शिल्पकार भी ऐसे कथानक अंकन को लगातार अंकित करते जा रहे थे तथा इन अंकनों से सामाजिक परिदृश्य भी प्रकाशित हो रहा था। आमजन इन मूर्ति शिल्पों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे और उनकी आकांक्षा की प्रतिपूर्ति भी इन शिल्पांकनों से हो जाती थी। उमा महेश्वर, राधा कृष्ण आदि युगल मूर्तियाँ प्रत्येक मानव मन को आनन्द से आत्मविभोर कर देती थी। इसी दौरान शिल्पकारों का एक नया प्रयोग भी मूर्तिमान हुआ। समय की मांग एवं नारी के वैदिक कालीन सम्मान एवं अधिकारों को पुनः वापस लाने का एक अनुपम प्रयास लोगों के मन को आह्लादित करने लगा। वैदिक कालीन सशक्त एवं साम्राज्ञी रूपिणी नारी के चित्रण की अविश्वसनीय कोशिशें रंग लाई और आमजन उनके साकार प्रयास को देखकर अतुलनीय रूप से हतप्रभ भी हुए और प्रसन्न भी। शिल्पियों ने नारी जगत को प्रकृति के मूलाधार के रूप में मूर्तिमान करना आरम्भ कर दिया। परिणामतया विश्व में प्रकृति या शक्ति के प्रति अपार श्रद्धा व सम्मान का वातावरण व्याप्तमान हुआ।

पूर्वकालीन शिल्पकारों की शिल्प चातुर्य इसी तथ्य में परिलक्षित होती है कि उन्होंने मनोविज्ञान की परिधि में गहरी पैठ बनाकर शिल्प सिद्धि करना चाहते थे। जिससे सम्पूर्ण मानव समाज के अंतःकरण में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम संदेश प्रवेशित कराया जा सके। ईश्वरीय सृष्टि का मनोवैज्ञानिक तथ्य यही है कि वनराज सिंह सदैव अकेले ही भ्रमण करता है। उसे अपनी सहायता या शिकार के मदद के लिए किसी अन्य सिंह की आवश्यकता नहीं होती। समूह में तो सिर्फ कमजोर प्राणी ही चला करते हैं। एक सत्य यह भी है कि एक राज्य में एक ही समय में दो शासक नहीं हो सकते। ठीक इसी सन्दर्भ को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी शिल्पकारों ने दो या अधिक पुरूषों के साथ एकल प्रकृति या शक्ति की नियोजना अंकित करनी प्रारम्भ कर दी। ऐसे मूर्ति शिल्पों में प्रकृति स्वरूपा नारी को बहुधा पुरूषों के मध्य में चित्रित करने की एक प्रथा विकसित हुई। जो कालान्तर में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। वज्रपाणि और मंजूश्री के मध्य में तारादेवी, पद्मपाणि और वज्रपाणि के मध्य तारादेवी, मंजूश्री और पद्मपाणि के मध्य तारादेवी, बुद्ध और पद्मपाणि के मध्य में तारादेवी, वज्रपाणि और बुद्ध

के मध्य तारादेवी आदि की संयुक्त प्रतिमाएँ एक ही प्रस्तर खण्ड या धातु पर निर्मित की जाने लगी। स्पष्टतया इन प्रतिमाओं के केन्द्र बिन्दु के रूप में शक्ति स्वरूपा नारी जगत का ही प्रभुत्व दर्शित होने लगा। शक्ति के मूल प्रतिबिम्ब नारी सर्वार्थ सिद्धि के रूप को उजागर करती हुई प्रकाशमान हुई। ऐसे प्रदर्शनों से निश्चय ही इस भूधरा पर त्रिरत्न परम्परा को स्थायित्व की प्राप्ति हुई और सिन्धु सभ्यता कालीन नारी का एकल अस्तित्व अपनी विकास यात्रा में इस प्रकार समर्थशीला होकर प्रकट हुई।

त्रिरत्न प्रतिमाओं के स्वरूप में परिवर्तन भी अवश्यसंभावी था। मध्य में स्थित होने से नारी शक्ति की प्रमुखता तो सिद्ध होती थी, लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह भी था कि जो सर्व समर्थशीला होती है, उसके लिए मध्य स्थल की अनिवार्यता क्यों? वह तो सर्वत्र विराजित हो सकती है। अतएव शिल्पकारों ने नये अनुसंधान की ओर अग्रसर हुए। तदन्तर उन्होंने अपने नवीन शोध में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि नारी शक्ति तो चतुर्दिक स्वामिनी होती है, अतएव उनका चित्रण पुरूष प्रतिमाओं के अगल–बगल और आगे–पीछे सर्वत्र की जा सकती है। वैसे भी प्रकृति स्वरूपिणी नारी शक्ति अग्नि परिक्रमा के वक्त पुरूष के आगे भी चलती है और पीछे भी। उसके दांये भी आसनस्थ होती है और बांये भी। अतएव इसी प्रक्रिया को आधार मानकर शिल्पकारों की शोध संरचना क्रियान्वित हुई। वज्रपाणि और पद्मपाणि के पार्श्व में तारादेवी, बुद्ध और पद्मपाणि के पार्श्व में तारादेवी, वज्रपाणि और बुद्ध के पार्श्व में तारादेवी, मंजूश्री और बुद्ध के पार्श्व में तारादेवी, पद्मपाणि और मंजूश्री के पार्श्व में तारादेवी, वज्रपाणि और मंजूश्री के पार्श्व में तारादेवी आदि के अंकन इसी परिप्रेक्ष्य के तहत परिपूर्ण हुए।

नेपाल जैसे सीमा पार देशों में तंत्रयान के विकृत स्वरूप भी मूर्तिमान हुए, लेकिन भारतवर्ष में तंत्रयानी प्रभाव मर्यादित ही दिखलाई पड़ता है। यहाँ उत्कीर्णित मूर्तियाँ मानव के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रदर्शित है। तंत्रशास्त्र तो अमर्यादित भी हुई, लेकिन मूर्तिशिल्प सदैव भारतीय परम्परा के ही अनुरूप ढलती रही है। ''मुण्डमाला तंत्र'' नामक ग्रंथ में दश महाविद्याओं और दशावतार का एकीकरण करने का अद्भुत प्रयास किया। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि जो पुरूष है, वही प्रकृति है और जो पुरूष है, असल में वही प्रकृति के अनन्य रूप है। संभवतया इसी प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप पूर्ण शिव अर्धनारीश्वर में परिवर्तित हो गये। इससे नारीत्व की सदैव उपस्थिति की भावना और बलवती हुई।

ऐसे ही वैज्ञानिक व मनोवादी भावनाओं को उजागर करती हुई बौद्ध देवी श्यामतारा की एक अनोखी प्रतिमा पटना संग्रहालय में संग्रहीत है। देवी की प्रसन्न मुखमुद्रा अति मनोहारी है। उनके दाहिने कर्ण में पुरूष का और बांये कर्ण में स्त्री का कुण्डल है, जो सृष्टि जगत में अर्धनारीत्व व अर्ध पुरूषत्व को प्रदर्शित कर रहे हैं।

नारीत्व और पुरूषत्व सदैव ही एक दूसरे की अनुगामी होते हैं, लेकिन यह पूर्ण सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि धर्मग्रंथों में सदैव ही नारी शक्ति की प्रतिष्ठा उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। देवी भागवत में स्पष्टतया नारी पूजन को सफलता की सीढ़ी के रूप में निरूपित किया गया है।

प्राचीन गुहा गृहों, बौद्ध स्थानत्य एवं मंदिरों में अपने पुरूष सहयोगियों के साथ नारी के अंकन प्रभावपूर्ण तो हैं, लेकिन नारी शक्ति की तेजस्विता भी काबिलेतारीफ है। त्रिरत्न का बाह्य प्रदर्शन तो मात्र दो पुरूषों के साथ एक नारी की उपस्थिति ही है, लेकिन अंतःचक्षु से देखने पर स्पष्ट होता है कि नारीत्व की छाया तले ही पुरूषत्व पालित पोषित होता है। अतएव हर स्थिति में नारीत्व सर्वश्रेष्ठा ही ठहरती है। कन्हेरी गुहा स्थापत्य संख्या 25 की भित्ति पर ऐसे ही एक अंकन से नारीत्व की पूर्ण आभा प्रकाशित हो रही है। इस अंकन के अनुसार बुद्ध धम्म यात्रा पर थे। मार्ग में कीचड़ मिलता है, तब उनके पवित्र चरणों को गंदगी से बचाने के लिए मेघ ने मार्ग पर उनके पैरों के सम्मुख अपने बाल कीचड़ के उपर बिछा देते हैं और बुद्ध के पैरों को कीचड़ युक्त होने से बचा लेते हैं। मूर्तिशिल्प में बुद्ध स्थानक द्विभंग मुद्रा में गतिमान है। उनके ऊभय पार्श्वो में एक–एक बौद्ध देव व बौद्ध देवी का अंकन है। यहां देव धर्म के प्रतिरूप हैं और देवी संघ के प्रतिमान के रूप में अवस्थित है। बुद्ध के शिरोभाग के ऊपर भी दोनों दिशाओं में एक–एक गान्धर्व पुरूष और गान्धर्व नारी आकाश मार्ग में उड्डीयमान है, जो क्रमशः धर्म व संघ के प्रतिरूप है।

तंत्रशास्त्रीय पद्धति में एक नारी, बहुत सारे पुरूषों की एक साथ साम्राज्ञी हो सकती है और उन पर हुकूमत भी चला सकती है। यह मानव प्रजाति के आम जीवन में भी सम्भव है। महाभारत में तो इसके स्पष्टतया साक्षात्कार होते हैं। शिल्पकारों ने यह प्राचीन परम्परा अपने मूर्ति शिल्पों में बरकरार रखी है। श्री लक्ष्मी जी की एक ऐसी ही प्रतिमा राजस्थान के राजकीय संग्रहालय में विद्यमान है। इस शिल्प स्वरूप में सत्तासीन नारी शक्ति कमलाकृति सिंहासन पर विराजमान है। शीर्ष के सर्वोच्च भाग में राजछत्र दमक रहा है। उसके ठीक नीचे ऊभय पार्श्वों में दो गजराज स्थित हैं, जो श्रीदेवी के ऊपर अपने सूड़ों से जलधारा की वर्षा कर रहे हैं। देवी प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में दो देव प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है। उक्त प्रतिमा में देवी की आभा और प्रज्वलन तीव्रता नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाली है।

प्राचीन भारतवर्ष में तंत्रयान का मूल उद्देश्य पुरूष और प्रकृति के परस्पर प्राकृतिक सम्बन्धों को रूपायित करना है। लेकिन साथ ही पुरूष के उत्तरदायित्त्व और प्रकृति के सर्वार्थ सिद्धि व सर्वशासिका स्वरूपा नारी को पुरूष की रक्षिका करार देते हुए स्पष्ट किया है कि वह चतुर्दिक हर व्याधियों एवं शत्रुओं से उनकी रक्षा करती है। धर्मग्रंथों ने खुद यह स्वीकार किया कि नारी अपने पति की प्राण रक्षिका होती है। (जातक सं. 239, 267 एवं वृहतकल्प भाष्य व्यालग्राही यथा व्याल बलदुद्धरते बिलात। एवं मुत्क्रम्य दूतेभ्यः पति सवर्ग वज्रेत्सती। यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम्।। स्कन्दपुराण, 7154–55)

शिल्प शास्त्रीय व्यवस्था में धर्मशास्त्र का दखल कहीं भी दिखलाई नहीं देता क्योंकि शिल्प विधान उन्मुक्त व बन्धन रहित होकर ही चतुर्दिक प्रकाशित होता है। लेकिन मानव समाज में व्याप्त परम्परा का पालन शिल्पी निश्चित ही करता दिखाई देता है। शिल्प शास्त्रियों ने उक्त तथ्य को अपने शिल्पाकृतियों में बखूबी स्थान दिया। नारी आकृति के साथ चाहे एक ही पुरूष हो या एक से अधिक पुरूष.... लेकिन एक अकेली नारी का उनके साथ अंकन सर्वथा सार्वभौमिक प्रदर्शित होता है। उनके प्रदर्शन में सृष्टि पर आधिपत्य एवं प्रभुत्व के साक्षात्कार होते हैं।

प्राचीन मूर्ति निर्माण प्रक्रिया के निष्कर्ष पर जायें तो एहसास होता है कि प्रकृति स्वरूपा नारी मूर्तियों के अंकन में सौन्दर्य शीला, कौमार्य, वैभवशीलता, सृष्टि विनायिका, सर्वशासिका, विश्व पालिका जननी, ममता रूपिणी और करूणामयी आदि के स्वरूप प्रकाशित होती है। उसके साथ ही पुरूषत्व पर नियंत्रक के रूप में भी उसकी छवि मुखरित होती है। सृष्टि के बाद से ही प्रकृति सदैव ही पुरूष जाति पर अपना प्रभुत्व कायम रखती आई है। पुरूषों के साथ अंकित नारी अपने नारीत्व की अभूतपूर्व अन्तःशक्ति से पुरूषत्व को निर्बल सिद्ध कर देती है। अब तक दृष्टिगत विधानों और जीवन दर्शन से यह तथ्य प्रदर्शित हुई कि एक अकेली प्रकृति इतनी समर्थशीला होती है कि वह एक ही साथ दो या दो से अधिक पुरूष जाति पर अपना सार्वभौमिक नियंत्रण स्थापित कर उन पर शासन कर सकती है। इसीलिए ही मूर्ति शिल्पकारों ने इस मानवीय भावना से रूबरू होकर उनका यथोचित अंकन किया। जो आज हमें विभिन्न प्राचीन स्थलों से मूर्तिमान प्राप्त है और देश–विदेश के संग्रहालयों में भी उनके साक्षात्कार सुलभ हैं।

सहायक ग्रंथ–

1. Debala mitra- Buddhist monuments, sahitya samsad, Calcutta- 9.
2. डॉ. रामनाथ मिश्र– भारतीय मूर्तिकला, दि मैकेमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।
3. Benoytosh Bhattacharyaa- The Indian Buddhist Iconography, Firma K.L. mukhopadhyay culcutta
4. डॉ. मारूतिनंदन तिवारी, मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. R.N. Mishra- Sculpture of Dahal and Dakshina kosal and their Background, Agam kala prakashan, Delhi.
6. डॉ. पृथ्वी कुमार अग्रवाल– प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
7. डॉ. जगन्नाथ मिश्र– प्राचीन भारतीय प्रतीक विद्या।

मातृका नांदचांद, जिला–पटना

दंपत्ति, कन्हेरी गुहा

लोकेश्वर, पटना संग्रहालय

बुद्ध, पटना संग्रहालय

बुद्ध, नागपट्टनम

बुद्ध, कुर्किहार

बुद्ध, अहिच्छत्रा

बुद्ध, पटना संग्रहालय

श्यामा, कुर्किहार (पटना)

बुद्ध की यात्रा, कन्हेरी गुहा

श्री देवी, राजस्थान

Archaeological Investigation of Bewarti, Kanker

Prof. Dinesh Nandini Parihar
Bhenu

The Archaeological investigation took place on the Village – Bewarti, Kanker. From the previous work, some archaeological remains already have been noticed in Kanker district by the researchers. Through the further investigation a Megalithic remains and Pictograph were noticed within the village. This research paper will mainly consist of the unreported pictograph and megalithic site of Bewarti. There will be the detailed information about the findings. The detailed study will be done of the figures of the painting in "Layamatta hill" and the megalithic remains within the village. The research paper also consists of the developing phase of the rock art which can be seen in the tribal communities. The research will content about the importance of the rock art and megalithic culture in the tribal society. Various rituals are performed on the both sites by the tribal people till today. This research paper will describe the new investigation site and related rituals which are performed by the tribal people. The paper will consists of the study of correlation between the rock art and the various arts forms and cultures present in the tribal community.

Bastar is known for rich tribal communities with that this area is very potential of archaeological remains. Till today the King policy still living with own places and they are attached with the tribal's. Going back to the primitive age, prehistoric evidences were notified by scholars from many places. After that prehistoric, early historic, historic, medieval and British remains are present. Some culture sequences are not in vague these days that is why Archaeological investigation is necessary to know about the facts related to these cultures. Kanker is an upper part of Bastar division and located southern part of Chhattisgarh state. In 1819 to 1904 Kanker comes under the Nagpur division and after that in 1905 it merge to central province in British Government. Kanker occupied 20'6' to 20'24' latitude and 80'48' to 81'48' east longitude of Uttar Bastar. At present 7 Block comes under the Kanker district – Kanker, Charama, Narharpur, Bhanupratappur, Durgukondal, Koyalibeda, and Antagarh.

When we look on to the historical and cultural aspects of kanker district we see to through different angle of history. From the prehistoric to the historical evidence scattered within the city and connected area. Bewarti village one of the important archaeological area were Pictograph and megalithic remains noticed by the exploration. Regarding to the megalithic culture is still in a practice. Ancient megalithic reported from the Dhamtari and Balod district which are very close to the District. Some site like Karhibhadar, Karkabhat, Mujgahan, Dhanora etc. Rock art investigation was started, when the site of Singhanpur, Raigarh district was highlighted in 1910, which was discovered by C.W. Anderson. Kanker was explored by many scholars and they discovered the culture continuity in the pictograph. In the field of pictograph

kanker consists of abundant rock arts. This area was noticed as a high concentration of artistic behavior of early man. Some important rock art sites are Gotitola, Guraoudi, Khairkheda, Kanhagaon, Udkuda, Kulgaon, Sita ramguda and Alor,Chandeli , were reported earlier.

The tribal people are still surviving in these regions; the Gond tribe is one of the tribal groups which consist of the highest population. The people of tribal community believe that, those paintings were made by their ancestors.

Research Methodology

The present research involves an investigation study of the Pictograph and Megalithic of Bewarti, district – Kanker. Field survey is the primary source of data collection. Village to village survey is very intensive method to understand the variations of the Pictograph. Through the survey, I tried to do the systematic and deliberate study. For the Primary data collection interview may be regarded as a systematic method, and along this documentation is also very important part of the study. Ethnic investigation is also very essential, without understanding the tribal lifestyle we unable to understand the correlation between the art form of recent tribal communities and prehistoric rock art.

Analysis

Bewarti village located north- east direction almost 11 km away from the historical city of Kanker. As per 2009 report it is a gram panchayat. Geographically it's same like a whole district of Kanker. It is situated on the right side of the Dodh River and at distance of about 2.5 km from the river. According to the survey two archaeological remains were found around the village. First remain known as a Megalithic tradition and second is pictograph.

Megalithic Site (20˚ 16' 21" N – 81˚ 22' 34") - The first remains related to the Megalithic culture have been noticed in middle of the village. Context of megalithic remains, it's not unusual because previous archaeological data shows a brief megalithic history of Chhattisgarh region and especially in Bastar division. The term 'Megalithic' is derived from two Greek words 'Mega' means 'Huge' and 'Lithos' means 'stone' and its used for a grave or memorial stone. Varity of mega stone structure noticed from the almost each part of India except for the plains of Punjab, Indo – Ganga divide, Ganga basin, the deserts of Rajasthan and part of north Gujarat. Especially in the South Indian context megalithic culture is very rich. This culture directly indicates to the mortuary practices in the ancient time. Various types of stone structures made for the dead one for example, Menhir, Dolmenoid cist or dolmen, slabbed cist, chambered tomb, pit circle, topical, crain circle, crain with urn burial etc. Menhir is a commonly noticed from the south and north – east India and it's in living tradition by the tribal communities. Tribe of Bastar has a living tradition of megalith for dead people. The important places where still this practice is prevalent are Raikot, Dillimilli, Bastanaar, Kilepaal, Kodenar, Dantewada, Tirtum, , Kapanaar, Durli, Dugeli, Dugalvengal, Godma, Mothe, Parond, Gammewada, Timmelwada, Handaguda,

Sankanpalli, Nelakanker and many more. Menhir or alignment of menhirs is a dominating feature of this area. Accept that stone, wooden carving, stone stab with wooden carving are in a living tradition. Muria and Maria gonds called that memorial pillars as a *"Gata pathra"* and *"Urshkal".*

The megalithic remains of Bewarti are quite similar as an ancient megalithic site(Fig.1). At present day no living tradition were noticed from here as a tangible form. All the memorial pillars are made from stone and belong to different size or shape. Some portion of the site was disturbed by the local construction. About 15 menhir's were noticed. Most of the used stones are intact and few are broken. Heights of mehir's are approximate 10 ft., 8ft, 5ft,3ft and ½ft etc. alignment is missing here. Two menhir (Fig.2) was erected closely, seems like they connected with each other. Rough stone or undressed stone are used for menhir (Fig.3). From the exploration no other artifact was noticed.

Pictograph (21˚ 15' 51'' N – 81˚ 33' 27'' E) - Small hill located between Pattoud and Bewarti villages, district – Kanker. This hill called as a layamatta. Layamatta is a Gondi name, used by the Gonds of Bastar, laya means 'girl' and matta means 'hill', so this is the hill of girls. The hill top is known for its ritualistic importance for the local villagers. Occasionally they go for worship on the hill. Pictograph site is on the corner of the mountain, where there is a large naturally formed open rock shelter which is laden with huge honeycombs. Near it there is a natural cave at the bottom where there is enough space sit or lie down. With the help of the tree we can reach the site, which is 7 to 8 feet in depth. Inside the shelter boulder consists of pictograph (Fig.4). Right side of the boulder ascent monkeys are depicted (Fig.5). Accept this no other depiction were noticed. The rock art depiction of animals is very common but the monkey is one of the rarest depictions. It's a very small thematic painting which is showing group of monkey. Almost 7 monkeys were identified clearly. 5 monkeys ascent on the tree root and one of them is a baby monkey. Dark ocher color used by artist and whole body fills with color. Other 2 figure of monkey is quite different from the 5 monkeys. This two monkeys are running on the ground below the tree root. View of making technique is a rough compare to the other 5 figures. Colour is also not dark as above; light yellow colour was used.

Conclusion

In the above paragraphs, I just tried to give information about explored village of Bewarti. Megalithic site seems ancient but at present scenario no one take care of that. Megalithic practices started from the Iron Age. With the help of big stones people started erecting memorial for burials and also buried iron implements in this burial. This type of practice is still in continuation. Since they represents the dead individual and ancestors or in other words the spirit world marks a lot of importance in the tribal kingdom, hence they regularly offers something which include rice, pulse, chicken etc. even ox and cow if the occasion can afford it. They are treated as an individual as they are fresh in the memory.The Memorials and Megalith's

are connected with Muria and Maria gonds of Bastar. Still through to the "Kunda Milan" Muria gonds worshipping and they believe that person become a part of their god family after the several years. Nowadays, little change can observe in the district. Context of Bewarti, in the present villagers using different ground for burial but still they are following all intangible rituals for the ancestors and dead one.

At the archaeological view monkey is generally found in this hill. Artist/maker seem them to claim a tree/root and then it's came as a painting. The meaning behind these paintings also tried to tell about intangible heritage of pictograph associated with ethnic groups. I know as many scholars believed whatever prehistoric people have seen, they draw those things on the stone walls, but again one question arise that, why they made these paintings? For these questions, we still don't have any answer. That's why I try to correlate those rock paintings to the common living tribal traditions. The villagers are coming eventually to worship this place. They believe this place of laya (girl) and they make all this things. Through this, we can understand the meaning of the various rock paintings made by our ancestors. Rock art has deep meaning inside it, which is the subject of curiosity for everyone. There are many aspects of rock art which are mysterious for the scholar, which has to be deciphered. Apart from this both site is very interesting and beautiful. By the Ethno- archaeological point of view, we can try to understand the facts and figures of different era. This paper generally tried to give detail based on Exploration.

Reference

1. Badam, G.L. and Shroti B.*,(2014)"A Multidisciplinary Approach to the Study of Rock Art: A Case Study of Chhattisgarh, India"* in B.L. Malla (ed.) *Rock Art Studies, VoIl. (Interpretation through Multidisciplinary Approaches),* IGNCA,New Delhi and Aryan Books International, New Delhi 2014
2. Badam G.L. and Shroti B.,*"A multidisciplinary approach to the study of rock arts, a case study of Chhattisgarh, India"* in B.L. Malla (ed.) *Rock Art Studies, VoIl. (Interpretation through Multidisciplinary Approaches),* IGNCA,New Delhi and Aryan Books International, New Delhi
3. Basa, K.K., Mohanty R.B., Ota S.B., 2015(ed.by*) "Megalithic Traditions in India. Archaeology and Ethnography*" Vol. I &II , Aryan book International, New Delhi
4. Bhagat,JR,Pradhan,A.K, Yadav,SN. and Goswami,D. *New Rock Art Sites From Bastar Division,C.G*
5. Elwin,V. 1945, "*Funerary customs in Bastar state*", Man in India, vol.25
6. Elwin,V. 1947,"*The Muria and their Ghotul"*. London : Oxford University Press
7. Ghosh, A., "*An Encyclopedia of Indian Archaeology"*, vol.-1, Munshiram Manoharlal publishers, page no-110
8. Jagdalpuri L., (2016) "*Bastar, itihas evam Sanskrit*" , Madhya Pradesh hindi granth akadmi(Hindi), chaturth sanskara
9. Kumar, Vinay, 2018, *"Rituals and practices associated with the megaliths of Bastar*",(research article), heritage journal of multidisciplinary studies in archaeology
10. Mahawar N.,(2011) "*Bastar Bronzes: Tribal religion and Art*"
11. Malla B.L. and Sonawane V.H,(2013) *"Global rock art"* IGNCA, Aryan book international, new delhi

12. Malla B.L., *(2014)"Rock art studies vol.1: Concept, Methodology, Context, Documentation and concervation"* & *"Rock art studies vol.2 :Interpretation through multidisciplinary approaches"* IGNCA, Aryan book international, new delhi
13. Parihar, D.N.,(1998)*"Dakshin Kosal Ka Itihas", New Delhi*
14. Postel, M., and Cooper, Z.,(1999) *"Bastar folk art , shrines, figurines and memorials"*
15. Sharma, A.K., 2000, "*Archaeo-anthropology of Chhattisgarh*", Sandeep Prakash an, New Delhi, page-31-33
16. Sharma, R., (1974), *"Madhya Pradesh Avam Chhattisgarh Ka Puratattvav Ka Sandarbh granth*", Chhattisgarh granth acadmy
17. Sharma, R.K. and Tiwari S.K., (2002)*"Tribal history of central India*"
18. Shotri, B., (2009) "*Sarangarh Tahsil Ke Chitrit Shailashraya"*, "Madhya Bharat ke Shail Chitra"

Fig. 1 – One of the highest Menhir, Bewarti

Fig. 2 – Two Mehnir erected together

Fig. 3 – Undressed Menhir

Fig. 4 - Pictograph

प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

डॉ. कृष्णकुमार त्रिपाठी

भौगोलिक परिवेश

छत्तीसगढ़ को प्राचीनकाल में 'दक्षिण–कोसल'' कहा जाता था। दक्षिण–कोसल के अंतर्गत छत्तीसगढ़ के सरगुजा, रायगढ़ बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव तथा बस्तर आदि जिलों के साथ उड़ीसा राज्य के सम्बलपुर, बोलांगिर तथा कालाहांडी जिलों का भी समावेश था। यह प्रदेश मेकल, रामगढ़, और सिहावा की ऊँची पहाड़ियों से आवृत्त तथा महानदी (प्राचीन चित्रोत्पला) और उसकी सहायक शिवनाथ, मांढ, रवारून, जोंक और हसदो आदि नदियों के जल से अभिसिंचित है। इन नदी–घटियों के तटों पर विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का उदय और विकास हुआ, जिसके पुरावशेष यत्र–तत्र बिखरे होने पर भी दक्षिणकोसल के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की ओर पुरातत्व–वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समय तक इतिहास और संस्कृति का स्वरूप परिलक्षित होता है।

प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक काल

प्रागैतिहासिक काल में यह भू–भाग आदिम मानवों द्वारा आवासित रहा है। प्रागैतिहासिक काल के पाषाण–उपकरण निर्माण में बलुये तथा क्वार्टज़ाईट, ट्रेप जैसे कठोर पत्थरों का उपयोग किया जाता था। महानदी, शिवनाथ नदियों के अतिरिक्त रायगढ़ ज़िले के सिंहनपुर, रायगढ़, टेरम तथा बस्तर क्षेत्र के खरगाघाट, घाट लोहांगा, मातेवारा, कालीपुर, देउरगाँव, गढ़बोधरा, पुजारीपाली, कांकेर, पोलमपल्ली, संकनपल्ली तथा कतिपय अन्य स्थलों से मिले हैं। इस काल के उपकरणों में हस्तकुठार, विदारिणी, बेधनी आदि उल्लेखनीय हैं। उत्तर पुरापाषाण (मेसोलिथिक) काल में पाषाण उपकरणों में ब्लेड, ब्यूरिन, नुकीले फलक सम्मिलित हैं। महानदी घाटी से प्राप्त सूक्ष्म पाषाण उपकरण अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं, जो फलक तथा अज्यामितिय आकार–प्रकार के हैं।

शैलचित्र

दक्षिण–कोसल (आधुनिक छत्तीसगढ़) के क्षेत्र के रायगढ़ तथा बस्तर से चित्रित शैलाश्रयों की उपलब्धि विशेष महत्त्वपूर्ण है। रायगढ़ में सिंघनपुर, बसनाझर, बोतलदा (खरसिया), कबरा पहाड़, नवागढ़ ओंगना, टीपाखोल,, करमागढ़, धरमजयगढ़, बेनीपाट, बस्तर जिले में मतनारा, नढ़पल्ली, नाम्बी, आलोर एड़का, कोरबा तथा बिलासपुर जिले के लोरमी आदि स्थलों से शैलचित्रों की उपलब्धि से आदिम मानवों की कलाप्रियता जीवन–पद्धति,

शिकार, आमोद–प्रमोद, धार्मिकवृत्ति आदि पर रोचक प्रकाश पड़ा है। कोरबा, राजनांदगाँव तथा कतिपय अन्य स्थलों से प्राप्त शैलचित्र उल्लेखनीय हैं।

नवपाषाण काल– दक्षिण–कोसल में नवपाषाण कालीन सभ्यता के उपकरण दुर्ग तथा बस्तर ज़िलों के अर्जुनी, नांदगाँव, बस्तर के अतिरिक्त रायगढ़ जिले के टेरम (घरघोड़ा, तहसील), कबरा पहाड़ (नवाश्म हस्तकुठार) उल्लेखनीय है। संभावना है कि महानदी तथा शिवनाथ नदी–घाटी के व्यापक सर्वेक्षण से इस संस्कृति पर और अधिक प्रकाश पड़ा है।

आद्यैतिहासिक काल– (ताम्राश्मकाल) महानदी घाटी के सर्वेक्षण से ज्यामितीय पद्धति से निर्मित विविध आकार–प्रकार के सूक्ष्म पाषाण उपकरण तथा मृद्भांडों के ठीकरे मिले हैं। इस सभ्यता का संबंध वैदिक आर्यों से जोड़ा जा सकता है। बिलासपुर के समीप खरोद से काले तथा लाल रंग के एक ठीकरे के अंदर की ओर काली सतह पर सफेद रंग से चित्रित रेखांकन मिला है, जो ताम्राश्मकालीन सभ्यता के चित्रित मृद्भांडों की निर्माणकला से साम्य रखता है। राजिम से भी ताम्रपाषाणकाल के मृद्भाण्ड उपलब्ध हुए हैं। दक्षिण–कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र बालाघाट जिले के गुंगेरिया नामक स्थान से 424 ताम्र–उपकरणों का अद्भुत भण्डार सन् 1870 में मिला था। यदि इस सभ्यता के प्रसार को विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाये, तो यह मानना युक्ति संगत होगा कि इन ताम्र–उपकरणों का सांस्कृतिक प्रभाव दक्षिण–कोसल क्षेत्र पर अवश्य रहा होगा। उत्तर भारत, बिहार, बंगाल, मध्य भारत, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत की सभ्यताओं ने समय–समय पर दक्षिण–कोसल के भू–भाग में सांस्कृतिक तत्त्वों की उद्भावना में विशेष योगदान दिया।

महाश्म शवागार संस्कृति (मेगालिथिक कल्चर) –

ईस्वी पूर्व एक हज़ार वर्ष के लगभग विवेच्य क्षेत्र में इस सभ्यता का उदय हुआ, जिसे महाश्म–शवागार (मेगालिथिक) सभ्यता के नाम से जाना जाता है। दक्षिण–भारत, बिहार, मध्यभारत तथा उत्तर भारत से लेकर काश्मीर तक के विस्तृत क्षेत्र में महाश्मशवागार स्मारक सभ्यता का प्रसार देखने को मिलता है। दुर्ग, रायपुर तथा बस्तर जिलों के भू–भाग से छतरी के आकार वाले (छत्रनुमा) तथा गोलाकार गर्त वाले शवागार प्रकाश में आए हैं। दुर्ग, धनोरा तथा रायपुर जिलों के कतिपय महाश्मशवागारों में डॉ. एम.जी. दीक्षित तथा डॉ. संतलाल कटारे (प्राचार्य) द्वारा क्रमशः उत्खनन–सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न कराया गया था। बस्तर क्षेत्र में महाश्म–शवागारों की खोज/सर्वेक्षण श्री व्ही.डी. कृष्णास्वामी तथा डॉ. विवेकदत्त झा द्वारा की गयी है, जिसके परिणामस्वरूप इस सभ्यता के संबंध में प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। दुर्ग, धमतरी–भुजगहन से ज्ञात अनेकशः महापाषाणीय शवागार स्मारक उल्लेखनीय हैं।

मल्हार (जिला बिलासपुर) के उत्खनन (वर्ष 1975–78) से दक्षिण–भारतीय महाश्म शवागार–सभ्यता से मिलते–जुलते पकी मिट्टी के बर्तनों के ठीकरे मिले हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ताम्रपाषाण काल तथा महाश्म–शवागार– सभ्यता के काल में मानव के भौतिक जीवन में उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ। प्रथम काल में केवल तांबे का प्रयोग होता था, बाद के युग में लोहा प्रयोग में आने लगा।

महाजनपद काल– उत्तर भारत के प्राचीन जनपदों में कोसल का नाम प्रसिद्ध था। वर्तमान छत्तीसगढ़ क्षेत्र का नाम भी कालांतर में कोसल रखा गया उत्तर वाले जनपद से (जिसकी राजधानी अयोध्या थी और बाद में श्रावस्ती हुई) भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दक्षिण वाले जनपद का नाम ''दक्षिण–कोसल'' प्रसिद्ध हुआ।

अनुश्रुतियों तथा वाल्मीकि रामायण से आभासित होता है कि अयोध्या के राजा दशरथ की बड़ी रानी, राम की माता कौशल्या कोसल देश की थीं। यह कोसल राजा दशरथ द्वारा शासित कोसल से भिन्न रहा होगा और संभावना व्यक्त की गई है कि वही दक्षिण कोसल रहा होगा। रामायण काल में यहां की राजकन्या अयोध्या में राजा दशरथ को ब्याही गयी। कोसल देश की होने के कारण उसे 'कौशल्या' कहा गया। कालांतर में कोसल का विस्तार हुआ, इसमें अयोध्या राज्य भी समाविष्ट हो गया। संभवतः राजा दशरथ को दहेज़ के रूप में अथवा उत्तराधिकारी की आवश्यकता के कारण कोसल राज्य प्राप्त हुआ था। दशरथ के पश्चात् राम ने राज्य किया और अपने उत्तराधिकारियों में राज्य का बँटवारा कर दिया।

अयोध्या (अर्थात् कोसल राज्य का उत्तरी भाग) बड़े लड़के, ''लव'' को दिया गया तथा दक्षिणी भाग छोटे लड़के 'कुश' के हिस्से में आया। कुश की राजधानी ''कुशावती'' कही गयी है, जो विन्ध्य एवं वेण्वा नदी के समीप स्थित थी। पुराणों में ''कोसला'' नामक ग्राम का उल्लेख मिलता है, जो अभिलेखों से ज्ञात ''कोसला'' से अभिन्न प्रतीत होता है। भरतबल के बम्हनी ताम्रपत्र, शूरबल के मल्हार ताम्रपत्र तथा वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण के बालाघाट, माहुरझरी एवं भाण्ढल ताम्रपत्रों में कोसला का उल्लेख मिलता है, जिसका अभिज्ञान ''दक्षिण कोसल'' से किया जाता है। मल्हार (ज़िला बिलासपुर) से सोमवंशी (पाण्डुवंशी) नरेश महाशिवगुप्त का एक और ताम्रपत्र प्राप्त हुआ, जिसमे कोसल नगर उल्लिखित है, मल्हार–उत्खनन से, ''गामस कोसलीया'' लेख सहित मृण्मुद्रा मिली है। यह दोनों कोसल एक ही स्थान के लिए अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति में कोसल का नामोल्लेख है। रामायण काल में इस भूभाग का विशेष महत्व था। मल्हार के देउर मंदिर परिसर में संरक्षित 'बालिवध' कथानक स्तंभ, श्रीराम की प्रतिमा तथा जांजगीर के विष्णु–मंदिर में प्रदर्शित सीता–हरण, मारीचि वध, पंचवटी में राम–लक्ष्मण तथा सीता, शिवलिंग पूजा के राम–कथानक प्रसंग रोचक हैं। रामायण तथा महाभारत के कथानकों का मूर्तिशिल्प विधान

तथा सामाजिक जन–जीवन में व्यापक प्रभाव पड़ा। छत्तीसगढ़ में चंदखुरी का श्रीराम से गहरा सम्बन्ध रहा है।

दक्षिण–कोसल के सुविस्तृत भू–भाग में नंद–मौर्य, सातवाहन, कुषाण, मघ, वाकाटक, गुप्त, राजर्षितुल्य कुल, नलवंश, शरभपुरीय वंश, दक्षिण–कोसल का पाण्डु (सोम) वंश, त्रिकलिंगाधिपतिसोमवंशी (श्रीपुर–सिरपुर), चक्रकोट के छिंदकनाग, त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि (11वीं शती), कांकेर का सोमवंश (ई. 1320) कवर्धा का नागवंश आदि प्रमुख राजवंशों के शासन की हमें जानकारी मिलती हैं। इन राजवंशों के समय में दक्षिण–कोसल का भू–भाग राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का उल्लेखनीय केन्द्र रहा है। प्राचीन छत्तीसगढ़ में शैव, वैष्णव शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध तथा जैन–मतों का साथ–साथ विकास हुआ, जिससे ''सर्वधर्म समभाव'' का स्वरूप यहाँ के जन–जीवन में आज भी देखने को मिलता है।

प्राचीन इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास, साहित्य एवं संस्कृति की उदभावना में छत्तीसगढ़ अंचल का विशिष्ट योगदान रहा है। साहित्यिक तथा पुरातत्त्वीय स्रोतों से ज्ञात होता है कि लगभग ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से इस क्षेत्र के सुविस्तृत भू–भाग में धर्म, साहित्य तथा ललित कलाओं का निरंतर विकास होता रहा है। दक्षिण–कोसल (वर्तमान छत्तीसगढ़) क्षेत्र प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण है। यहाँ मेकल पर्वत–श्रृंखला पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है। महानदी इस क्षेत्र की सबसे बड़ी नदी है। सोन तथा नर्मदा नदियां इस क्षेत्र से उत्तर–पूर्व तथा उत्तर पश्चिम भागों में प्रवाहित होती हैं। शिवनाथ, मनियारी, अरपा, लीलागर, हसदो, सोन, मांद, खारून, जोंक आदि अन्य उल्लेखनीय नदियां हैं।

उत्तर भारत के प्राचीन जनपदों में ''कोसल जनपद'' का नाम प्रसिद्ध था। छत्तीसगढ़ क्षेत्र का नाम भी कालांतर में कोसल रखा गया। उत्तर वाले कोसल जनपद से जिसकी राजधानी ''अयोध्या'' थी और बाद में श्रावस्ती हुई, भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दक्षिण वाले जनपद का नाम ''दक्षिण–कोसल'' प्रसिद्ध हुआ।

वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि अयोध्या नरेश दशरथ की बड़ी रानी तथा श्रीराम की माता कौशल्या 'कोसल' देश की थीं। यह कोसल राजा दशरथ द्वारा शासित कोसल से भिन्न रहा होगा। रामायण तथा परवर्ती साहित्य से ज्ञात होता है कि श्रीराम ने अपने प्रवास में दण्डकारण्य जाने के लिए चित्रकूट से आगे जिस मार्ग का अवलम्बन किया था, वह शहडोल, बिलासपुर तथा रायपुर जिलों से होकर जाता था। दण्डकारण्य का यह मार्ग ईस्वी चौथी शती तक पर्याप्त प्रचलित हो चुका था। गुप्त सम्राट् ''समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति'' में कोसल का नामोल्लेख मिलता है। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि इस

भू–भाग को कोसल की संज्ञा गुप्तकाल के पूर्व प्राप्त हो चुकी थी। पुराणों तथा महाकाव्यों में भी कोसल की चर्चा है।

मेकल के दक्षिण का क्षेत्र कोसल कहलाता था। कालांतर में मेकल क्षेत्र कोसल में समाहित हो गया और इस प्रकार ''महाकोसल'' का निर्माण हुआ। विगत वर्षों में छ.ग. क्षेत्र में किये गये पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों से मिट्टी के परकोटों से घिरे हुये अनेक गढ़ों की खोज पुराविदों द्वारा की गयी है। ये प्राचीन काल में ''आटविक दुर्ग'' कहलाते थे। उत्तर मध्यकाल (लगभग 14 वीं शताब्दी) में दक्षिण कोसल के स्थान पर ''छत्तीसगढ़'' नाम इन्हीं दुर्गों के समवाय का द्योतन करता है।

प्राचीन काल में उत्तर भारत को दक्षिणी पूर्वी समुद्र तट से जोड़ने वाला स्थल–मार्ग कौशाम्बी, (प्रयागराज), सतना, भरहुत, शहडोल, बिलासपुर तथा रायपुर से आगे बढ़ता था। इस मार्ग पर स्थित महत्त्वपूर्ण नगरों में बांधवगढ़, खरोद, शिवरीनारायण, मल्हार, सिरपुर आदि उल्लेखनीय हैं। इस मार्ग के माध्यम से कलिंग (उड़ीसा) के साथ दक्षिण कोसल के संबंध दृढ़ हुए। ईस्वी पांचवी शती के पश्चात् सोमवंशी शासकों का राज्य विस्तार कलिंग के समुद्रतट तक हो गया। इससे दोनों क्षेत्रों के बीच व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रगाढ़ हो गये।

''छत्तीसगढ़'' के सुविस्तृत भू भाग से पाषाणकालीन सभ्यता पर प्रकाश डालने वाले विभिन्न आकार–प्रकार के प्रस्तर–उपकरण नदी–घाटियों के पुरातत्वीय सर्वेक्षणों से मिले हैं। रायगढ़ जिले के शैलचित्र सुविख्यात् हैं। इसी अनुक्रम में बस्तर क्षेत्र के आलोर तथा राजंनादगांव के चितवा डोंगरी के शैलचित्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मृत्तिकागढ़ों की संख्या सर्वाधिक है, जो ताम्राश्मकाल (आद्यैतिहासिक काल) से लेकर लगभग 15वीं शताब्दी तक गढ़–निर्माण की परम्परा एवं सुरक्षा–व्यवस्था पर सर्वांगीण प्रकाश डालते हैं। छत्तीसगढ़ अंचल में वैदिक, पौराणिक, बौद्व, जैन तथा अन्य मतों का सांस्कृतिक समन्वय उल्लेखनीय है।

रामायण तथा महाभारत काल के अनेक रोचक प्रसंग मल्हार, खरौद, शिवरीनारायण, जांजगीर, रतनपुर, राजिम, देव बालोद, चंदरवुरी, तुरतुरिया, घटियारी तथा कतिपय अन्य प्राचीन कला–केन्द्रों के शिल्पांकन में देखने को मिलते हैं। छत्तीसगढ़ के सिरपुर (महासमुन्द जिला रायपुर) तथा मल्हार (बिलासपुर) के प्राचीन स्थलों के उत्खननों से पुरातात्त्विक महत्त्व के प्राचीन सिक्के, ताम्रपत्र, अभिलेख, मृण्मूर्तियाँ तथा पाषाण–कलाकृतियां आदि प्राप्त हुई हैं। ताला, खरौद, मल्हार, रतनपुर, शिवरीनारायण, अड़भार, जांजगीर, आरंग, राजिम, सिरपुर, तुरतुरिया, देव–बालोद, भोरमदेव, सिलीपचराही, कवर्धा, घटियारी, डोंगरगढ़, गंडई, अमलीडीह कला तथा छत्तीसगढ़ के सुविस्तृत भू–भाग में स्थित अनेक कलाकेन्द्रों से

वास्तुकला, मूर्तिकला, आंचलिक लोककला एवं साहित्य से संबंधित बहुसंख्यक प्रमाण निरंतर उपलब्ध हो रहे हैं। रामायण तथा महाभारत कालीन जन–जीवन से दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) का प्रगाढ़ संबंध रहा है।

इस क्षेत्र में मौर्य–सातवाहन, कुषाण तथा वाकाटक–गुप्त कालीन इतिहास के संबंध में प्रकाश पड़ा है। छत्तीसगढ़ के सुविस्तृत भू–भाग में राजर्षितुल्य कुल, नल वंश, शरभपुरीय वंश, पाण्डुवंश, मेकल के पाण्डव, त्रिकलिंगाधिपति, सोमवंशी नरेश, तुम्माण, रतनपुर–रायपुर के कलचुरि, चक्रकोट के छिंदकनाग, कवर्धा का नागवंश, कांकेर के सोमवंशी तथा परवर्ती राजवंशों की जानकारी हमें मिलती हैं। इस क्षेत्र पर गढ़ा–मण्डला के गौड़ राजाओं तथा नागपुर के भोसला शासकों का आधिपत्य भी रहा है। लगभग ईस्वी 1854 के आसपास छत्तीसगढ़ ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बन गया। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत क्षेत्रीय रियासतों तथा जमींदारों के शासन की जानकारी मिलती है, जिनमें राजनांदगाँव, कवर्धा, खैरागढ़, छुईखदान रियासतों सहित अम्बागढ़ चौकी मानपुर–मोहला आदि जमींदारियां सम्मिलित थीं।

छ.ग. के सुविस्तृत भू–भाग में साहित्य, कला एवं संस्कृति की त्रिवेणी सतत् प्रवाहमान दिखायी देती हैं। अनेक पूर्ववर्ती अध्येताओं, पुराविदों एवं साहित्य साधकों द्वारा छ.ग. के सांस्कृतिक स्वरूप को काल–क्रमानुसार स्पष्ट करने का यथेष्ट प्रयास किया है। छ.ग. के सुविख्यात् महान चिंतक एवं यशस्वी विभूतियों में राजा महंत घासीदास जी, पंडित रविशंकर शुक्ल, आचार्य बल्देव प्रसाद मिश्र, साहित्य सेवी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी, पंडित लोचन प्रसाद पाण्डेय, शहीद वीरनारायण सिंह, श्री खूबचन्द बघेल, ठा. प्यारेलाल सिंह, बैरिस्टर छेदीलाल जी, गजानन माधव मुक्तिबोध, पंडित मुकुटधर पाण्डेय, प्रभृति अन्यान्य सुधी–साधकों के अवदान तथा अनेक शीर्षस्थ साहित्यकारों, स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों, राजनीतिक विचारकों, इतिहासकारों ने छ.ग. के सांस्कृतिक वैभव को रेखांकित किया है। इस आदिवासी बहुल छ.ग. अंचल की जन–जातियों की लोक–भाषा, लोक–साहित्य, लोक कला, लोक–नृत्य, उत्सव, पर्व, रीति–रिवाज़ों, नृत्य–संगीत आदि से संबंधित सभी सांस्कृतिक तत्त्वों का तथ्यपरक विश्लेषण नितांत आवश्यक है। इस दृष्टि से आदिम लोक–संस्कृति के संरक्षण के लिये स्थल–स्थल पर परिभ्रमण करके पाण्डुलिपियों तथा कलाओं से संबंधित जानकारी एकत्रित कर उनका अनुशीलन तथा प्रकाशन एवं संग्रहालय को विकसित कर आदिवासी लोक–कला संग्रहालय की स्थापना किया जाना उपयुक्त है।

छ.ग. की सांस्कृतिक विरासत, उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति, उनके सौन्दर्य बोध और जीवन–पद्धति में मौजूद है। किसानों के घरों की दीवार–सज्ज़ा से लेकर श्रमजीवियों के नृत्य–संगीत तक उसकी उपस्थिति आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध है। सुआगीत, करमा, ददरिया, संस्कार–गीत, राउत नाचा, पंथी नृत्य की कलात्मकता आज राष्ट्रीय सीमा को पार कर चुकी

है। पंडवानी, राजा भर्तृहरि, चंदेनी जैसे कथा–गीत और लोक–नाट्य नाचा, आज रंगकर्मियों और कला प्रेमियों की अभिव्यक्ति को नया आयाम दे रहे हैं। ''नाचा'' का फार्म अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त रंगकर्मी स्व. हबीब तनवीर की रचनात्मकता का आधार बना, जिसके कारण भारत के रंगकर्म की एक नई पद्धति ने जन्म लिया। छ.ग के कलाकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगकर्म को अपनी कला से आश्चर्य चकित किया है। लोक–पर्वों से जुड़े चित्रांकन की कलात्मकता छ.ग. के ग्रामीण जन–जीवन का अनिवार्य हिस्सा है।

छ.ग. की जन–जातियों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अपनी–अपनी शैलियां विकसित हुई हैं। इसी तरह आदिवासियों की एक निजी सांस्कृतिक पहचान है, जो आज भी उनके प्रति जिज्ञासा और सम्मान का भाव पैदा करती है।

छत्तीसगढ़ी बोली में साहित्यिक कृतियों का सृजन मध्ययुग से प्रारंभ हुआ, जो आज भी जारी है। उसी के समानान्तर लोक–काव्य, लोक–कथाओं के विपुल भण्डार में लोक की आत्मा विद्यमान है। बच्चों के पारंपरिक खेलों तक में लोक–काव्य की छटा देखी जा सकती है। छत्तीसगढ़ी बोली भी आधुनिक कविता, आंचलिक अस्मिता और युगीन परिवर्तनों को अपने में समाहित करते हुए विकास की सीढ़ियां तेजी से बढ़ रही है।

छत्तीसगढ़ की यह सांस्कृतिक संपदा अपने पारंपरिक रूप में नई पीढ़ी तक पहुंची है। त्वरित गति से बदलते–सामाजिक परिवेश और जीवन–पद्धति में छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक उपकरणों और कलारूपों के डाक्यूमेंटेशन की आवश्यकता है। वेशभूषा–आभूषण से लेकर लोक–धुनें तक बाजारवाद का शिकार बन रही हैं। उपभोक्ता–संस्कृति के इस दौर में सांस्कृतिक तत्त्वों के वर्तमान रूप के संरक्षण के उत्तरदायित्व का निर्वाह कोई ऐसी संस्था ही कर सकती है, जो उसकी सूक्ष्मता को समझने में सक्षम हो तथा जिसके दैनन्दिन कार्य का ही यह हिस्सा है। छत्तीसगढ़ के भू–भाग में फिल्म–उद्योग की स्थापना होने से यहाँ की आंचलिक लोककथाओं एवं संस्कृति का त्वरितगति से विस्तार होना सुनिश्चित है।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय (खैरागढ़) प्रातः स्मरणीय महाराजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं महारानी पद्मावती देवी की परिकल्पना का शाश्वत स्वरूप है। सन् 1956 में स्थापित यह विश्वविद्यालय एशिया का सर्वाधिक प्राचीन प्रतिष्ठित साहित्य, कला–संगीत एवं संस्कृति का विशिष्ट एवं प्रमुख साधना–केन्द्र हैं। छत्तीसगढ़ की कला–संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये और पूरे देश के मानचित्र पर विशिष्ट पहचान स्थापित करने की दृष्टि से दक्षिण–भारत के एक प्रतिष्ठित शैक्षणिक संस्थान के साथ पुडुचेरी के मुख्यमंत्री जी की उपस्थिति में एक अच्छी रचनात्मक पहल हुई है।

''छत्तीसगढ़'' अंचल में बहुमूल्य सांस्कृतिक संपदा यत्र–तत्र फैली हुई हैं। कतिपय दुर्लभ सांस्कृतिक तत्त्व आज विलुप्त होते दिखाई देते हैं। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि छत्तीसगढ़ के प्राचीन साहित्य, पुरातत्त्व, आंचलिक लोक–कला, लोक–भाषा, लोक–संगीत,

वाद्य, नृत्य, उपलब्ध सांस्कृतिक तत्त्वों का संकलन एवं गवेषणात्मक शोध–परक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए।

1. दक्षिण–कोसल के भू–भाग से अब तक जो पुरावशेष प्रकाश में आये हैं, अभी तक उनकी समग्र रूप से विवेचना एवं प्रस्तुतीकरण का कार्य विधिवत् नहीं हो पाया है। सिली–पचराही, डमरूगढ़, सिरपुर, मल्हार, भरतपुर, मदकूद्वीप, रीवा (रायपुर) आदि के उत्खननों से ज्ञात पुरातात्त्विक अवशेष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।
2. दक्षिण–कोसल के बिलासपुर जिले के मल्हार में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग द्वारा कराये गए उत्खनन के परिणाम स्वरूप कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। मल्हार से विगत् वर्षों में शरभपुरीय तथा सोमवंशी शासकों से संबंधित अनेक ताम्रपत्र तथा कतिपय अभिलेख मिले हैं।
3. मल्हार के स्थानीय संग्रहकर्ताओं को सातवाहन, मघ, मित्र, नामांत शासकों, श्री शरभयुक्त लेख सहित दुर्लभ सिक्कों की उपलब्धि से इन राजवंशों से संबंधित राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ा है।
4. विगत वर्षों में दक्षिण–कोसल क्षेत्र के विविध स्थलों से रोचक पुरातत्त्वीय सामग्री निरंतर प्राप्त हो रही है। इस संदर्भ में कतिपय नवोपलब्ध सिक्के, शिलालेख, ताम्रपत्र, पकी मिट्टी की अभिलिखित मुहरें आदि उल्लेखनीय हैं।
5. दक्षिण–कोसल के भू–भाग से उपलब्ध विपुल पुरातत्त्वीय संपदा, अभिलेख, सिक्के, मृण्मुद्राएं अभिलिखित स्मृतिस्तंभ तथा अन्य पुरावशेषों का प्राचीन मूल साहित्यिक स्रोतों के आधार पर अध्ययन कर उसकी विस्तृत व्याख्या किया जाना सम–सामयिक होगा।
6. शरभपुरीय तथा सोमवंशी शासकों के शासनकाल में निर्मित कराये गए, संप्रति ध्वस्त मंदिरों के मलबे की सफाई एवं संरक्षण का कार्य केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासन के पुरातत्त्व विभागों द्वारा विगत वर्षों में सम्पन्न कराया गया है। फलतः अनेक दुर्लभ पाषाण कलाकृतियों तथा मंदिर–निर्माण–शैली की नवीन विधायें सामने आई हैं। ताला (बिलासपुर) का जेठानी–देवरानी मंदिर, मल्हार का देउर मंदिर, डीपाडीह के मंदिर समूह तथा दुर्लभ कलाकृतियों की उपलब्धि, गढ़–धनौरा, बारसूर तथा भोंगापाल की मूर्तियों तथा मंदिरों की वास्तु–संरचना एवं मूर्तिकला से विविध राजवंशों के सांस्कृतिक इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ा है।
7. दक्षिण–कोसल क्षेत्र का श्रृंखलाबद्ध प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के लेखन का कार्य अभी तक संभव नहीं हो पाया। यद्यपि प्राचीन इतिहास के अध्येताओं विद्वानों ने समय–समय पर विवेच्य क्षेत्र से उपलब्ध पुरा–सामग्री का अध्ययन किया है। परंतु दक्षिण कोसल से ज्ञात अद्यतन पुरावशेषों, अभिलेखीय विवरणों का अभिज्ञान एवं उसका समग्र रूप से उपयोग सांस्कृतिक इतिहास–लेखन में नहीं हो पाया है।

8. सिरपुर, मल्हार, ताला, रतनपुर, शिवरी नारायण, खरौद, राजिम, जांजगीर, अड़भार सहित अन्यान्य कलाकेन्द्रों, पुरा–स्थलों का विधिवत् सर्वेक्षण तथा कतिपय स्थलों में उत्खनन–कार्य से इस दिशा में नवीन प्रकाश पड़ेगा। पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा के निर्देशन में, सिरपुर–उत्खनन से बौद्धमत तथा अन्य प्रचुर मात्रा में पुरावशेष मिले हैं।
9. पुराविदों– पं. लोचनप्रसाद पाण्डेय जी, महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी, डॉ. एम, जी दीक्षित, पं. सुंदरलाल त्रिपाठी, डॉ. प्यारेलाल गुप्त, श्री रेवाराम जी, श्री हरि ठाकुर, श्री बालचन्द्र जैन, प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी, श्री कृष्ण देवजी, प्रोफेसर अजय मित्र शास्त्री, प्रोफेसर सुधाकर पाण्डेय, प्रोफेसर रमानाथ मिश्र, डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय, प्रोफेसर (डॉ.) विवेकदत्त झा, डॉ. हीरालाल शुक्ल, डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, केदारनाथ ठाकुर, प्रोफेसर (डॉ) एल.एस.निगम, डॉ. प्रोफेसर राकेश पाण्डेय प्रभृति अन्यान्य विद्वानों ने दक्षिण कोसल के प्राचीन इतिहास एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को समुचित रूप से प्रकाश में लाने का श्रेय अर्जित किया है। डॉ. एम.एन.झा (खैरागढ़), डॉ. गोपालशेष (बिलासपुर), डॉ. के.के. चक्रवर्ती, सेवा–निवृत्त (तत्कालीन प्रमुख सचिव, छ.ग. शासन), प्रोफेसर डॉ. रमेन्द्र नाथ मिश्र (रायपुर), प्रोफेसर (डॉ.) चन्द्रशेखर गुप्त (नागपुर), प्रोफेसर (डॉ.) ए.एल. श्रीवास्तव (भिलाई), प्रोफेसर (डॉ.) जी.एल बादाम (पुणे), प्रोफेसर (डॉ.) आर.एन. विश्वकर्मा (राजनांदगाँव), प्रोफ़ेसर निदेश नन्दिनी परिहार, श्री जी.एल. रायकवार, (सेवा–निवृत्त) उप–संचालक डॉ. जी.के चंद्रौल उप–संचालक, डॉ. के.के. झा (जगदलपुर), डॉ. राहुल सिंह, श्री एस.एस. यादव, डॉ. जे.एल. भगत (रायपुर) के प्रयास सराहनीय हैं। डॉ. के.पी. वर्मा तथा डॉ. प्रभात सिंह सहित अन्य अनेक पुराविदों ने अपने प्रकाशित ग्रथों के माध्यम से छतीसगढ़ के पुरातत्त्व, वास्तु–कला–संस्कृति को परिभाषित किया है। छत्तीसगढ़ के प्राचीन स्थलों का सर्वेक्षण पुरातात्त्विक उत्खनन, संगोष्ठियों के आयोजन तथा प्रकाशन–कार्य निरंतर हो रहे हैं।

बस्तर–अंचल सहित छत्तीसगढ़ के इतिहास, पुरातत्त्व, कला एवं संस्कृति इत्यादि पर अनेकशः भारतीय प्रबुद्ध इतिहासकारों, कला–मर्मज्ञों, पुराविदों, साहित्य– साधकों, नृतत्त्व एवं समाजशास्त्रियों, अन्य विधाओं से सम्बन्धित विचारकों सहित पाश्चात्य विद्वानों ने छत्तीसगढ़ की जनजातीय संस्कृति, लोक–कलाओं, लोकोत्सवों, प्रचलित आस्थापूर्ण परम्पराओं तथा जनजातीय परिवेश का गहन अध्ययन एवं शोध–कार्यों का बहु–विध प्रकाशन किया है। छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक विरासत एवं इतिहास की संरचना में जनजातीय विशिष्टताओं एवं उनकी कलात्मकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन जन–जातियों की छत्तीसगढ़ अंचल की अस्मिता एवं सांस्कृतिक समन्वय में परस्पर सहभागिता है।

संदर्भ सूची –

1. गुप्त, प्यारेलाल : प्राचीन छत्तीसगढ़, पं. रविशंकर वि.वि. रायपुर, 1973।

2. जैन, बालचंद्र : उत्कीर्ण–लेख (सूचीपत्र), रायपुर
3. वर्मा, के.पी : छत्तीसगढ़ की स्थापत्य–कला, भाग 1 तथा 2, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, वर्ष– 2014; बस्तर की स्थापत्य कला, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, वर्ष–2008
4. त्रिपाठी, के.के. तथा अन्य (संपादक) : कला–वैभव, अंक 8–9 से 17; इंदिरा कला संगीत विवि. खैरागढ़; तथा आगामी अंक 27 तक; वर्ष 2020–21 (प्रधान संपादक : डॉ. एम. एन. झा)
5. मिश्र, रमानाथ : भारतीय मूर्तिकला, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1978, : 'स्कल्पचर्स ऑफ डाहल एण्ड दक्षिण कोसल', आगमकला प्रकाशन, दिल्ली।
6. वाजपेयी, के.डी. तथा पाण्डेय, श्यामकुमार : मल्हार, प्रा.भा.इति. सागर वि.वि 1978
7. त्रिपाठी, के.के तथा पाण्डेय, रघुनंदन प्रसाद : मल्हार दर्शन, भेल, भोपाल
8. पाण्डेय, श्यामकुमार : छत्तीसगढ़ का इतिहास तथा वास्तु–शिल्प, म.प्र. हिं.ग्रं.अकादमी भोपाल, 2002
9. पुरातन, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, शैव–विशेषांक, अंक 6 तथा 7, 1989, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, दुर्ग, रायपुर, बिलासपुर।
10. प्राच्य–प्रतिभा, प्राच्य–निकेतन, भोपाल, दक्षिण–कोसल विशेषांक, आर्ट ऑफ़ छत्तीसगढ़ अंक 9, 1994
11. कोसल, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर छ.ग. (अंक 1–12 तक)
12. कला–सौरभ; कला–वैभव, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) (सभी अंक; 1–27 तक)।
13. विश्वकर्मा, आर.एन. (सम्पादक) : छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, वर्ष–2012.
14. सिंह, राहुल कुमार : सुनहला छत्तीसगढ़ (सिंहावलोकन) पृष्ठ 112–115, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2019.
15. सिंह, प्रभात कुमार : मदकूद्वीप उत्खनन (2010–11), रायपुर, वर्ष 2013.
16. रायकवार, जी.एल. : सिसदेवरी उत्खनन, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्व, रायपुर, 2013
17. चन्द्रौल, जी.के. : पुरा–स्थल गढ़–धनोरा, रायपुर, 2015.
18. सिंह, आदित्य प्रताप : ऐतिहासिक एवं पौराणिक संदर्भ में नगरी–सिहावा, कोसल अंक 12 (वर्ष 2021); पृष्ठ 146–159; संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, छत्तीसगढ़।

RESONANCE OF LUST IN WOMEN IMAGERY WITH SPECIAL REFERENCES TO ANCIENT TILL MEDIEVAL INDIAN ART

Prof. Loveneesh Sharma,

Ms. Srishti Banerjee

Lust have been used as anintangible jewel to embellish and have direct inclination towards Sringara(material embellish) in Indian aesthetical contexts. Images of Women in different poses and gestures in Indian art cannot be separated from this asset of lust been infused in them through use of different attributes (either physical or symbolic) belong to them.This paper aims to provide an elaborate discourse about the sentiment of lust in the depiction of women from Ancient till Medieval Indian Art periods. Present study gives that how the understanding of representing Indian women in art imbibed with elements of Sringara resonate the aesthetical notions inspiring and compelling spectators to response to the idea of enjoyment and pleasure.

Lust has been used as an essential intangible element for embellishingwomen. To define Lust in Indian philosophical mindset and on to the grounds of aesthetical understanding Women in Indian art has been represented infused with notions of Lust as a source life in them. The graceful poses and gestures are suggestion of lust in them. Thereby making them figures, owing the romance and confidence to enchant spectator's mind and let them to enjoy the infused. Moreover, these kinds of imagery satisfy the erotic urgesof both men and women.Indian images of women are filled with such elements of Lust play. Become classics of the time they have been done. Artists while infusing elements of lust in any work consider the play of balance and rhythm although at times exaggerated but did not distort the aesthetical notions of lust. Artist uses material attributes of decoration tangible in representations,the expressions on their faces such as compelling eyes (brought about by the emotions that the artists wanted to portray)and sensual poses to make spectator to experience the delightand their graceful poses (*bhangimas)* that they carry. Such representation of this kind suggests two outcomes of intangible experiences such as temporal pleasure experiences and which is been classified in two main projections of lustwhich are the material aspect and the spiritual aspect.

In English, the word "Lust" has various meanings other than sexual appetite. It simply indicates strong passion for anything. For example, the famous, positive phrase, "lust for life" (indicating enthusiasm to live). In Sanskrit, the word *Kāma* has various meanings besides simple sexual lust. Most of them have sexual connotations, some of which are gross and some of them are subtle. Women in our ancient culture were associated with not just temptations, but with fertility, abundance and prosperity. And at times sensuality was openly embraced as the route to divinity. It is this integral relationship between the sensual and the spiritual in Indian art that has always challenged western ideals and baffled artists and viewers alike.

Representations of Lust in Women imagery in Indian Art

It is observed that the role of woman in not much contributed in the narratives of rock paintings of Bhimbetka from the prehistoric times. Their reproductive power is celebrated more than their actual identity as human beings. In this concern, fertility has remained a parexcellence and an exclusive merit of womanhood, so, the society and surroundings of each antiquity sanctioned its uppermost place than any other quality of woman.

Since time immemorial Indian sculptor took great interest and delight in depicting several attitudes, postures, and moods of depicting women in sensuous representations (Figure 1). One of the most remarkable and early pieces of sculpture of Dancing Girl in bronze comes from Mohen-jo-daro, datable to c.2500-1500B.C. We find her standing audaciously, nude with her hand on that waist, thin limbs, bangles arranged geometrically, pendulous lips, hair tied in a bun and with three pendants on her neck and slightly upward chin is a suggestion of attitude. She is clearly an object of lust. Benjamin Rowland describes her as no less surprising in her sophistication and prophetic of metal- work of Chola period. Interestingly this image does not have any association with divine. So, the way she appeared is more contemporary to the civilization. Dancing girl is the perfect example of the culture prevailed in Indus civilization and affirms that people of the civilization were worth to understand material beauty and representations alike. Moreover, it gives a break to perception of a motherly image of women as have been perceived in general about women in representations before Indus civilization.

In the words of Mortimer Wheeler in 1973, "There is her little Baluchi-style face with pouting lips and insolent look in the eye. She's about fifteen years old I should think, not more, but she stands there with bangles all the way up her arm and nothing else on. A girl perfectly, for the moment, perfectly confident of herself and the world. There's nothing like her, I think, in the world."

Theon-material grounds or to justify female representations in lust, they have been depicted in full breasts with exaggerated hips and with movements and actions proportionate to making them to appear youthful and curvaceous (almost an hourglass figure). In most of them are loaded with jewellery and wear elaborate head dresses that fan out around their heads adding attributes to their decoration and beauty.

Another example of the concern is from the Mauryan period and is of Yakshi, which appeared to be a semi-divine have been represented time and again quite extensively. They are sculpted with a thin waist, deep set navel and round breasts. Yakshisin Indian tradition are considered as nature spirits, mischievous and benevolent, of mythical origins known as the protectors of forests and villages. One of the popular sculptures found is called 'DidarganjYakshi' (Figure 2) in Bihar. It is a free standing, highly polished sculpture. She has a voluptuous body and each fold in her dress is finely sculpted making her look delicate and formidable at the same time.The Yakshi from Didarganj is a perfect union of spiritual and

sensual metaphor that runs like a thread through all religious art in ancient India. There is an all-pervading serenity or cheerfulness, and this lady displays her charm with frank innocence, a suggestion on to her face. Voluptuousness and passion are as important as grace and spiritual charm. The colossal size, massively built body with emphasis on muscular strength, free-standing, carved in rounds, the drapery consisting of a heavy drape hanging below up to the antes fastened with a heavy girdle, and the ornaments consisting of heavy ear-rings, long necklaces, a flat necklace, armlets etc. as regards its position in the evolution of Indian art the most natural suffusion of representing lust as life. Although the figure of Yakshi considered divine due to mythological concern by she appeared more natural and of this world enchanting spectator's mind towards the rotundity and masculinity of the body. She is a bejewelled figure and her pose contributes to more material appearance of infused lust rather than a divine appearance. We must not forget here the expertise of artist that he could render such schematic folds of drape and sensuous contours and a welcoming gesture infused in it. In "Kumar Sambhava" Kalidasa has beautifully described the full breasts, which adds to be beauty of a woman. With its fully rounded form and fluid lines, in the lively and sensitive modelling of the limbs and the almost sensuous touch of the soft, warm flesh, the Yakshi from Didarganj makes us lust for it. Women and tree came closer in a number of interesting rituals and socio-religious customs, and this is reflected into their depiction together into extremely alluring forms, and motifs. One of the nature related ancient fertility rituals was visiting the forest groves or pleasure gardens on the outskirts of the city and sporting with trees and flowers, particularly those of Shala. Women would gleefully bend the branches of the Shala trees, pluck the flowers and sportively throw them at each other with great pleasure. Naturally the sport which came to be known as Shalabhanjika, became speciality of eastern region.

One of the young sensuouscreations (Figure 3) is shown standing in a graceful posture holding a wine glass in her right hand and drinking from it with full concentration by raising her face slightly upwards. She seems to have been emptying the last few drops of the precious drink by tilting the glass bottoms-up. Eyes half-closed her face is flushed with the effect of wine consumed tastily. On her supple body she is wearing nothing except a number of bangles on both the hands, lovely necklace, girdle around hips and anklets on her feet. This is a unique piece of sculpture showing a nude young woman drinking wine without slightest inhibition.

The beautiful Apsara from cave XVII at Ajanta (Figure 4) is a splendid illustration of wealth of jewellery worn by the princesses of the Gupta period. Her throat is circled by a necklace of large pearls separated by square-cut sapphires. Below this she wears a strand of sapphires, perhaps set in diamonds. Suspended from this chain are looped pendants of seed pearls. These jewels swing with apsara's flying movement, and so do the pearl bangles of her toque, which appears to be richly embroidered with foliage motifs. This one picture evokes this delight of Indian women in jewels and the pleasure and power these gems bestow on the wearers.

Women painted in Ajanta caves are the art connoisseur's delight. The Ajanta artist has painted the whole range of women characters: ladies of court and their maids, dancers, common women in their house-hold chores. The woman was the theme that gave full scope for expression

of creative genius for the Ajanta artist. The artist had succeeded in reproducing dynamic forms, different curves of hips, the turn of heads, head gears, lavish jewellery, the gestures of her hands and the slanting glance of her eyes (in Figure 4). It is intriguing that most of Ajanta heroines are depicted naked, or in near nudity, while all the others in the same scene are fully clothed. The women in this painting are naked above waist. These women are wearing simple ornaments and have veils over their heads. Hairstyles vary among women from elaborate to simple. Usually the feminine attire consists of three pieces, a light bodice, over which is worn a tunic of pleasing design, slit for almost the entire length at the sides to give freedom of movement and incidentally exposing the waist and a skirt or sari clinging close to the body and revealing the figure. Royal ladies are often painted wearing transparent clothes. Wherever they painted woman, ansuggestion of beauty is infused through attributes of embellishments. Women are not painted as a centre of attraction or physical charm but as an embodiment of divinity, affection, compassion, inspiration and power.

Here the paintings of women haven't got voice, their gestures, postures and actions clearly manifest the whole story. In the paintings of women in Ajanta, the artists have given more importance to spirituality than sensuality imbibed in narratives related to the life of Buddha. But images of women in Ajanta whatever they relate to either secular or divinestand out and also the conducts been follow by artists to make them classics which again in its definition the extremes of the beauty been felt embedded in spiritual notions are represented.Some scholars believe that it's only the beauty of graceful lines that hides the obscenity in the portrayal of woman in the paintings of Ajanta. In the figures Divine in Indian Shakti tradition, Great Goddess Uma (Parvati) (Figure 5) from Chola Bronzes, the gracious wife and mother, is also manifested as Durga (Impassable One), the powerful warrior goddess and slayer of monsters. Durga is referred as guardian, and depictions of her are often placed at the entrance to forts, palaces, and temples.This exquisite early image of Umarepresents a lithe, youthful goddess, whose bodily form is almost adolescent, particularly in rear view. One front hand is raised in the Abhaya (gesture of protection) while the other rests gracefully against her thigh in Katyavalambita (a gesture of ease). Her short, patterned lower garment is knotted with bow-like ties on both sides and held in place with a jewelled girdle, while a band of the garment forms a loop below the girdle clasp. Her breasts are softly modelled and naturalistic in profile, with a sacred thread that snakes between them; rich necklaces, armlets, bangles, and anklets complete her adornment. Beneath a tall conical crown, her face is gentle and introspective. She stands on a lotus base placed on a rectangular pedestal with vertical tangs to support a prabha (aureole). Now what represents in the notions of lust interpreted in terms of spiritual in the figure of Uma from chola is the delicacy of contours, position and face expression which become ecstatic experience to perceive her alike there by justifying the need of grace in her pose. Moreover, her pose is not that exaggerated although full breasts, cattle drum waist with slight bulge to the lower abdomen become under-shadowed with hand gestures and half-closed eyesand also the Ayudhas she is carrying transform the whole idea of sensuousness to divine concern.

From the temples in Central India built from c. 950 A.D. to 1050 A.D. especially from Khajuraho Women reliefs and sculptures are world known. Female representations as Devanganas adorn temple creating amazing world of beauty and charm. R. Nath in his book

"The Art of Khajuraho", observes the beauty of female figures in numerous Intimate postures, games, holding mirrors, musical instruments, nudes, and bejewelled. The beauty of those images is remarkable, placid, eloquent, dignified and splendid. Though material but truly define beauty of being a Devangana (godly) is an image of is the image of otherworldly femininity retaining perpetual beauty. They wearlushalluring ornaments, appealingly arranging enormous variety of hairdosoverhead and dressed (or undraped) in sophisticated costumes the females in Indian sculpture flout their gorgeous forms and ever young to dominate the world by their womanlycharm and unmatched beauty. Artist of Khajuraho have simply illustrated the Kamasutra in vivid details by showing woman in every conceivable act of love through their sculptures.Indian sculptor has created numerous love-images to glorify Prakriti, the feminine creative principle. They stand as a testimony to his artistic skill.

Further, tradition of sensuousrepresentation female Images can be seen in Medieval period in the temples. Indian temples started assuming more and more imposing form and to embellish their massive surfaces various motifs were evolved. The most popular among them all showed young beautiful girls in various alluring attitudes and postures. These girls were generally known as Surasundaris (Figure 6) meaning heavenly damsels or Apsaras, demi-godess meaning idle-girls. They are found everywhere but most profuse and concentrated sculptural depiction of female beauty is found on temples Central India. Imbued with grace and elegance these women of rounded breasts, narrow waists, lovely limbs can be described as sheer poetry in stone. Each and every posture, attitude devised for them is intended to bring out distinctly the feminine charm of their supple and ever youthful bodies into visual focus. Though carved out in a static medium like stone they exude tremendous energy and life-force, so much so that you see them move, show gestures, express various tender emotions and virtually participate in life outside with gusto.

Shilpa Prakash of 9th c talks that an architectural monument is incomplete and inferior without a Surasundari. Particular feature in the images of Surasundaries is the *Adho-dristi*(not looking at someone or looking down) suggesting the grace of modesty and shame. There are many images carved of figures of women, playing on drum, cymbals and other musical instruments adorn the temples suggesting lust and enjoyment of life for those who perceived them for perceiving material beauty and ecstasy of those who perceived them figures in services or in companionship of major deities.

Reflections of such images are the portrayal of psychological perception of life of a women in Indian culture thereby suggest that Indian women apart from being a motherly figure or a figure divine as perceive in ancient civilization has transformed to a socially active image where she has an ability to entertain masses satisfying their instinctual urges to view them as sensual and divine both. It also suggests that how status of women over period of time been reflected, understood and projected by the artists of India.

Conclusion:

Tradition of representing women in lust from ancient till Medieval Indian art is a way long discourse to discuss. The only thing that has come across from the time mentioned is female

in Indian art has been represented in lust either a social figure or a divine. In both the categories she played and important role to entice the masses as they feel for the female representations in art. There are many references can be traced in miniaturepainting traditions in Indian where she appeared as different kinds of Nayikas. Lavish, bejeweled, images of tender, love, affection, and laugh. All of these representations are mentioned in the ancient texts and manuscripts available of the time mentioned been visualized by philosophers and created by artists portraying different emotional intensities of lust, glamour and grace. On the other hand if we consider female as divine figure we see not as much exaggeration has been done in the icons. they are the way carry their graceful poses and serene gazes which comes up as a basic difference in understanding the images infused with the notions of lust and divine. The endeavor of the artist is to infuse both glamour and spiritual ecstasy for a spectator to make him capable of entering into the *Para-jagat*which connects to his subconscious instincts and a curiosity of unconscious experience filled with wonder.

LIST OF FIGURES:

Figure 1: Dancing Girl, Bronze, Mohen-jo-daro, National Museum, New Delhi, accessed from, Google Public Domain, (15-3-2022)

Figure 2: Yakshifrom Didarganjstatue in the Bihar Museum.jpg accessed from, Google Public Domain, (15-3-2022)

Figure 3: YakshiDrinking Wine, Sanghol, Punjab, Kushana Period, National Museum, New Delhi(15-3-2022)

Figure 4:A Nymph from Ajanta Paintings,retrieved from India Narratives , " Captures Lustre of Ajanta cave paintings in cyberspace", accessed from https://www.indianarrative .com/culture-news/ai-captures-luster-of-ajanta-cave-paintings-in-cyberspace-81844.html, (26thJanuary, 2020)

Figure 5: Durga, Chola period, ca. 970, Bronze ,The Brooklyn Museum of Art; Anonymous gift in honour of William H. Wolff (1992.142)

Figure 6: Surasundari, X-XI Century AD, from Khajuraho, Public Domain, (15-3-2022)

Figure 1: Dancing Girl

Figure 2 Yakshi fromDidarganj

Figure 3: Yakshi drinking Wine

Figure 4: A nymph from Ajanta

Figure 5: Uma (Parvati) from Cholas Figure

6: Surasundari from Khajuraho

REFERENCES:

1. Dasa, Satyanarayan, "Women and Lust" accessed from https://www.vina.cc/2019/03/08/women-and-lust/ on 16thJuly, 2020
2. Menon, Smitha Sringara: Sensual, aesthetic or spiritual? Love, beauty and grace in Natya
3. Shastra- Part I, retrieved from https://narthaki.com/info/articles/art246.html, accessed on 29/03/2022
4. Jyoti, "Sensual to Spirirual" *Guided Walks: India Curated*, accessed from https://insider.in/sensual-to-spiritual-women-in-indian-art-aug4-2019/event, on 20th September, 2020
5. Sharma, Mandakini, Gupta, Ila & Jha Pashupati, From Caves to Miniatures: Portrayal of Woman in Early Indian Paintings, *Chitrolekha International Magazine on Art and Design,* Volume 6, No. 1, 2016 retrieved from www.chitrolekha.com/v6n1, accessed on 29-03-2019
6. Varadpande, M.L. *Woman in Indian Sculpture*, Abhinav Publictions ,2006
7. Rowland, Benjamin *The Art and Architecture of Indian, Buddhist, Hindu and Jain*, Penguin
8. Books, 1984, p25-35
9. Roy, Suman "Dancing Girl, Mohanjodaro" accessed from,http://poetry.sangamhouse org/2014/01/dancing-girl-mohenjodaro-by-sumana-roy/ 23rdDecember, 2020
10. *"Yakshi from Didarganj": A Symbol of Beauty and Perfection in Ancient Indian Sculpture,* International Journal of Applied Home Science, Volume 5, April (2018s) by Aditi Jain.
11. Sabnis, Atul "Shalabhanjika : The Tree Deity", retrieved from https://thecustodiansin.wordpress.com/2017/10/13/shalabhanjika-the-tree-deity/, accessed on 5thDecember, 2021
12. Varadpande, M.L. (2006) Woman in Indian Sculpture, Abhinav Publictions
13. Rowland, Benjamin *The Art and Architecture of India: Buddhist, Hindu, Jain*, Puffin, 1971, p.253
14. Swaminathan, Subramanian "Ajanta Cave Paintings: the many-splendoured delights of Ajanta", accessed from http://www.indian-heritage.org/painting/ajanta/ajanta12.html, 20th January, 2020
15. Tripatin, Subha & Jain, Beena "Portrayal of Woman in the Cave Painting of Ajanta", accessed from http://granthaalayah.com/Articles/Vol7Iss11SE/25_IJRG19_ARTS11 _25.pdf, on 29thApril, 2020
16. Tripathi Shubha & Jain, Dr. Beena "Portrayal of Women in the Cave paintings of Ajanta," *International Journal of Research Granthaalayah: A Knowledge Repository*, Volume 7, 2010
17. https://www.rarebooksocietyofindia.org/book_archive/196174216674_1015043429680 6675.pdf, accessed on 5thJanuary, 2020
18. Nath,R *The Art of Khajuraho*, Abhinav Publication, 1980.
19. Ibid.
20. Gautam, Shreya, "The Lady with the Mirror, A Study of the Wrong Provenance and Significance of the Darpana Dharini in Indian Art", *Heritage: Journal of Multidisciplinary studies in Archaeology,* Vol. 7 2019
21. Dehejia, Harsha, "Beautiful Women", *Times of India,* 9th January, 2012
22. Dehejia Harsha & Paranjape M R, "Saundarya, the Perception and Practice of Beauty in India", *Samvad India Foundation*, 2003.

शेषशायी विष्णु की अलौकिक प्रतिमा

डॉ. मंगलानंद झा

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर स्थित महन्त घासीदास स्मारक संग्रहालय में संगृहीत विष्णु की यह प्रतिमा अपने निर्माण वैशिष्ट्य के कारण उल्लेखनीय है। प्रतिमा शेषशायी है, जो पौराणिक आख्यान को सन्दर्भित करते हुए निर्मित है। विवेचित प्रतिमा रूद्री, जिला धमतरी से प्राप्त हुआ है जिसका माप लगभग 32×20 फीट है। शैली के आधार पर इसका समय 12 वी. श. ई. निर्धारित किया जा सकता है।

नारायण की नाडायन शब्द से व्यंजना की गई है। उसका अर्थ नर या नरों के समूह के रुप में गृहित किया गया है। नर शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है। इसलिए नारायण शब्द देवों का आश्रय का अर्थ व्यक्त करता है। मनु के अनुसार नर का अर्थ जल भी होता है, जो नर परमात्मा की संतान है, वह नारा (जल) परमात्मा का प्रथम आश्रय है। इसलिए परमात्मा नारायण कहे जाते हैं। सातवें कल्प के आरंभ में 7वीं बार ब्रह्मा जी के जन्म ग्रहण का अवसर आया तब शुभ और अशुभ से अमित तेजस्वी भगवान नारायण ने सबसे पहले अपने नाभि कमल से ब्रह्म को उत्पन्न किया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक ऋषि का नाम नारायण वर्णित किया गया है जो संभवतः परवर्ती काल में आकर विष्णु से संबंधित किया गया। तैत्तरीय आरण्यक के विवरण में नारायण को उन समस्त विशेषणों से युक्त किया गया है जो उपनिषदों में वर्णित है। पौराणिक कथाओं में नारायण को क्षीरसागर में शेषनाग की शैय्या पर लेटे हुए प्रदर्शित किया गया है। अतः नारायण का जल से संबंध का आख्यान प्राचीनतम् है। परम पुरूष परमात्मा की प्रतिष्ठा वासुदेव के पहले ऋग्वेद काल में हो चुकी थी। नारायण का सुन्दर और सरल वर्णन महाभारत के वनपर्व (अध्याय–188–89) में हुआ है। सृष्टि के प्रलयकाल में सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था। उस समय उपस्थित शिशु के समक्ष मारकण्डेय मुनि आ गये। जब शिशु ने अपना मुंह खोला तब मारकण्डेय उसके मुख में चले गए। जहॉ उन्होंने अत्यंत आश्चर्य के साथ संपूर्ण सृष्टि को देखा। इसके बाद उस शिशु ने मारकण्डेय ऋषि को उगल दिया और वे फिर जल में आ गये। इस पर मारकण्डेय ने उस शिशु से पूछा कि आप कौन हैं? तब उसने उत्तर दिया मैने जल को नारा की संज्ञा दी है जो मेरा अयन है इसलिए मै नारायण हूँ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शेषशायी विष्णु पद्मनाभ नाम से वर्णित है। इस वर्णन के अनुसार पदम्नाभ जल के बीच शेषनाग पर शयन करते है। उनका एक चरण लक्ष्मी की गोद में और दूसरा शेषनाग की गोद में रख हुआ है। उनकी नाभी से उत्पन्न कमल पर ब्रह्मा प्रदर्शित हैं और कमलनाल से संलग्न मधु और कैटभ नामक दैत्य है। अपराजित पृच्छा और रुपमण्डन में भी विष्णु के इस रूप का वर्णन मिलता है। अपराजितपृच्छा के अनुसार किरीट मुकुट, माला, हार, कुण्डलों और केयूरों से अलंकृत विष्णु शेष पर्यंक पर शयन करते है। चतुर्भुजी विष्णु का हाथ एक सिर पर और दूसरा कमल पर स्थित हो। बांया ऊपरी एवं निचला हाथ क्रमशः चक्र और गदा से युक्त होते है। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर और पूर्वी भारत में विष्णु की शयन प्रतिमाओं की संख्या न्यून है।

विष्णु जी क्षीरसागर में शेषनाग की कुण्डलियों पर शयनसीन मुद्रा में है। शिल्पकार ने भारतीय धर्मग्रंथों द्वारा उल्लिखित महाजल प्रलय के दौरान क्षीर सागर में शयनासीन विष्णु जी के मनोभावों को सूक्ष्मता से प्रतिबिम्बित कर पाने में पूर्ण सफलता अर्जित की है। शेषनाग के कोमल अंगों का बिछावन और उसके

विशाल एवं दिव्य पंचफणों का छत्र विष्णु जी के वैभव, सामर्थ्य, शील, पराक्रम, प्रभाव आदि को स्वतः ही प्रदर्शित कर रहे हैं। विष्णुजी का सम्पूर्ण शरीर नागराज की कुण्डलियों पर विराजमान है।

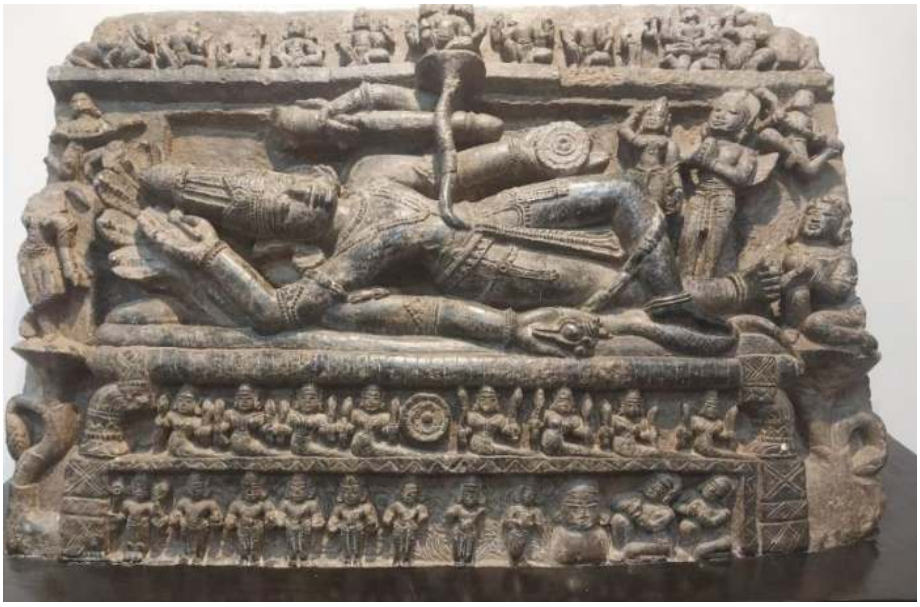

चतुर्भुजी प्रतिमा के पैरों के पास श्री लक्ष्मी जी चरण चाप करती हुई प्रदर्शित है। विष्णुजी के सिर पर किरीट मुकुट की आभा प्रज्वलित है और कौस्तुभ से सुशोभित हैं। मुखमुद्रा सौम्य और शांत, आंखें संसार को दृष्टिगत करती हुई अंकित है। उनके बांहों में अंगद, कड़े और पांवों में कड़ें का अंकन है। प्रतिमा के अघोभाग में परिधान धारित है, जिस पर यज्ञोपवीत, मेखला आदि के रेखांकन है। गहरी नाभि से कमलनाल ऊपर की ओर निकलकर नील गगन में प्रफुल्लित है, जिस पर ब्रम्हाजी ध्यान मुद्रा में आसनस्थ हैं। चतुर्भुजी विष्णु के हाथों में बांयें नीचे से क्रमशः शंख, पद्म, गदा और चक्र प्रदर्शित है।

संपूर्ण प्रतिमा खंड को चार भागों में विभाजित किया गया है। सबसे ऊपर के भाग में विष्णुजी के दशावतार के प्रमुख रूप अंकित हैं, जिनमें नृसिंह, परशुराम, बुद्ध और कल्कि मुख्य हैं। द्वितीय प्रमुख भाग में शेषशायी विष्णु का प्रदर्शन है। प्रतिमा के पैरों के पास श्री लक्ष्मी जी चरण चाप करती हुई प्रदर्शित है। लक्ष्मी जी के पार्श्व में अंजलीबद्ध मुद्रा में अर्ध मानवीयकृत गरूड अंकित है। गरूड के पार्श्व में द्विभुजी चामर धारिणी प्रदर्शित है। तृतीय भाग में अर्धमानवीयकृत अष्ट नागिन का अंकन है, जो प्रफुल्लित पद्म के दोनों पार्श्व में चार–चार की संख्या में द्रष्टव्य हैं। धार्मिक ग्रन्थों में अष्ट नागिन के नाम – अनन्तमुखी नागिन, कर्कोटमुखी, पद्मनी, तक्षकमुखी, महापद्म, वासुकि, कुलीर और शंखिनी प्राप्त होतें हैं। प्रतिमा में नागों के अंकन से एक तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि इस प्रतिमा में नाग समुदाय का अकंन सम्मानजनक मुद्रा में दर्शित है, जिनकें दोनों हाथ में पद्मकलिका सुशोभित है, जो उनके सम्मान, वैभव और शक्ति को दर्शाता है। सम्भवतः यह प्रतिमा कलचुरियों से पूर्व की है जब रतनपुर में नागवंशों का शासन था। उल्लेखनीय है कि रतनपुर में छिंदक नाग शासकों का कुछ समय के लिए वर्चस्व रहा है। कालांतर में जब रतनपुर में कलचुरियों का अधिपत्य स्थापित हो गया तब नागवंश के शासक अधीनस्थ हो गये और उनकी पराधीनता सूचक उनका अंकन होने लगा जिसमें उन्हें दोनों हाथ जोड़े हुए, सिर झुकाए हुए अंजलिमुद्रा में प्रदर्शित किये जाने लगे जो उनकी आधीनता को दर्शाता है।

शेषशायी विष्णु प्रतिमा में अप्रत्यक्ष रूप से धर्मशास्त्रों द्वारा वर्णित महाजल प्रलय का प्रभाव अंकित हो गया। विष्णुजी द्वारा संसार को निर्विकार भाव से देखते हुए शांत रहना यह सब आरेखन सांसारिक उथल–पुथल के मध्य सृष्टि के आरंभिक दृश्य को प्रदर्शित करता है। ब्रम्हाजी द्वारा ध्यानस्थ मुद्रा का प्रदर्शन भी महाजल प्रलय के तत्काल बाद सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होने का पूर्वाभास प्रस्तुत करता है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि धर्मग्रंथों में विवरण मिलता है कि महाजल प्रलय के दौरान समस्त विश्व जलमग्न हो गया था। उस दौरान क्षीर सागर में विष्णु जी शांत भाव से शयन कर रहे थे। उनके नाभि से कमलनाल निकलकर आकाश में आच्छादित हो गया था, जिसमें ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी। वह भी सृष्टि प्रक्रिया के निर्देश मिलने के बाद कुछ काल तक शक्ति हासिल करने हेतु ध्यान मुद्रा में आसनस्थ रहे। उन्हीं धर्मशास्त्रों के कथन का साक्षात स्वरूप इस प्रतिमा में शिल्पकार ने रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है जो अवलोकनीय है।

संदर्भ–सूची :–

1. जैन बालचन्द्र, उत्कीर्ण लेख, 1961 महंत घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर।
2. मिश्र, इन्दुमती, भारतीय प्रतिमा विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
3. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।
4. श्रीवास्तव, बृजभूषण प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. झा, मंगलानंद, दक्षिण कोसल के कलचुरि कालीन मंदिर, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर।

Everything is Art: A Reality Check

Maninder Singh Dhunna

Today, we all are experiencing aesthetics in our daily lives like a sip of perfectly brewed coffee which is refreshing yet soothing to eyes.It's just a matter of time that modern art has swaddled the whole world in its canopy and continues its glorious journey to create more wonders. Art is a perfect blend of tale, fantasy, idea and purpose. Art blesses people who have a desire to express themselves through it. Works of art may evoke a sense of wonder or skepticism, desire or despair, adoration or malice; a work of art can be direct or complex, subtle or clear, perceptible or ambiguous; and the themes and attitudes of the creation of art are bound only by the imagination of the artist. Different people hold different definitions of art; hence it varies from person to person. For some people things which are pleasing to their eyes come in the category of art, be it the blue sky, an egg's yolk, a colorful platter of salad, etc. It's quite intriguing how art as a notion can evade definition. Therefore, it has become essential to put a border around it with a view to prevent it from the tincture of ambiguous perception, opinion or belief. Without knowing the proper definition and comprehension of word art, it would be something like betraying or ignoring the very nature of art. To distinguish art among many things requires a proper understanding of it. A lack of adequate information regarding art can lead an individual to label and believe any beautiful object around them as an art. By saying everything is art, we are romanticizing the idea that art is a mere thing that can be found anywhere. Art is neither a mere thing, nor even futile. It surely has a value. Therefore, this paper discussed the existence of art while distinguishing and comprehending it with distinctive projections shared by some prominent artists. Another focus of this paper is to discuss controversial aspects of various art pieces made by legends to study and understand their idea of creating artworks that were disturbing enough to call them an art.

1.1 Emphasis on the Philosophy of Art

In layman's language, art is a form of creation that demands a certain amount of imagination and conception. Art is always beautiful; it depends on the effect it has on the audience. Needless to say, every person has their own perception while judging art, it varies from person to person. An artwork cherished by one person may be disliked by another. But diving into the depths of art, it can be defined as something created by an artist in order to quench the desire to create something that would later give him satisfaction.

To be specific, a real or true art must be powerful enough to grease the wheels of its spectator's subconscious mind. It must be able to cause a stir in the mind of spectators resulting in their evoked thoughts and emotions. When they discover the details of an art, they may likely identify the hidden concept or idea of creation, which means that the art has actually surpassed the assessment of relation between human and art. But again, not everyone has an eye for beauty or art, the beauty of art is for those who actually covet it. The main idea of any art is how excellently it blends with the viewer's mind or how positively it communicates with them. Many times, art works like painting, sculpture etc. might not be aesthetically pleasing to the eyes however, a true art must be able to instill mentation to the person who tries to study it. Paintings, music, performing arts or whatever form of art it may be, the only thing that

matters is that the admirer should go back with a light heart and sabbath. Admirers must feel a certain amount of satisfaction that the encounter with the art was worth their time while going back. (box)

In addition to it, every art has a message needless to say, for those who can listen to it. An artist puts a lot of effort, vigor of imagination, radiance of thoughts and hours of hard work to create an art. Therefore, art also has a story, an expression and a purpose behind its creation. So, basically it takes umpteen pieces of identification to decide whether or not something falls under the category of art.

Another matter people proudly possess is that everything that requires detailed work should be considered as an art. Art is not only limited to music, painting, sculpture, designing or acting, there are several things that can also be seen as art. Things that are around us can also be termed as art only if we observe how they are made. For instance, a perfectly aligned and decorated platter of food can be reckoned as art. Science itself is an art and how in chemistry a chemical reaction makes something alluring like crystals. Diving into the details of how a mobile phone came into existence is also an act that came out of art. The beautiful idols in temples in which believers or devotees see their Gods and worship is also a piece of art. This era of the Internet gives rise to digital art which has lately become popular. The animation, cartoon, E-cards, editing apps, etc. are the products of digital art only. However, there is a fine line between a true art and the belief system of an individual to call something as art. For example, if the same beautifully decorated plate of food is for a cooking contest, then it is treated as an art solely by the account of the audience or the judges. From the point of view of chemical reaction, if a person tries to make something beautiful from it, then it can be called art, but when the same person does a chemical reaction for his research or study, then there is nothing like art in it. A carved and painted stone that we often see at religious places holds a distinct place in the hearts of its worshipers, they look upon it with faith, immense respect and love. However, there is no art, no faith and nothing in the same stone located outside. Hence, it is clear that it also depends on the presenter what he/she is trying to show. Intention of the demonstrator plays a crucial role in all aspects. Art could be anything but not everything is art. There is a difference in both the lines.

Art is subjective hence, anything people find enjoyable and cherishable automatically becomes their definition of art. Some find solace in scribbling a wise thought or even an interesting novel and the other one feels amazed to read that novel. Indeed, writing is an art. Similarly, dance is also an art. Art is a medium to convey a message, emotion, or opinion to build a distinctive world, whether it be induced by the work of other people or something discovered that is completely new. Beauty is an aspect of anything that gives joy to people and makes them feel positive. Beauty solely is not art, but art can be made of, about or for beautiful things. The major difference between art and beauty is that art is about who has created it. On the contrary beauty depends on who is looking.

Another facet of art is it is a commodity. The recipe to make a creation is creative thinking, powerful imagination and a great concept of an artist but the most quintessential material which actually makes the recipe of art tasty is the monetary value of it. Monetary gains acts as a motivational force for artists. The commodification of art creates a wall between whom to be considered qualified for creating art and whom to be not.

1.2 Criticized art pieces

Art demands the intention of an artist. Many people blabber around recklessly labeling things as art, whereas all they are actually doing is designating things as artistic and not as art. Saying anything artistic conveys that the particular object possesses attributes that are aesthetically appealing. And people perceive it as art because it reminds them of art. In fact, it does not meet the requirements to call it art.

If we talk about the makers of controversial art, their intention was to provoke their audiences. Irrespective of the period or era, there are always some bold artists who go against the rule of artistic traditions. Some of them simply wanted to break the stereotype or presented something that was considered taboo. As a result, they had to bear the rage of folks in the form of their artworks being banned, vandalized or publicly scorned. At the same time, they also left a mark in the history of art while inspiring people throughout the centuries to follow the path of creative freedom. To understand such artworks, a case study has been conducted. (D'Orsay) (Editors)

I. Case Study: Marcel Duchamp, Fountain, 1917

Duchamp's Fountain has secured its place in the list of most controversial artwork of the 20th century. The artwork was none other than a urinal, a quintessential object in everyday life. Duchamp took the plunge and presented it as an artwork at the Society of Independent Artists. However, it was refused by the Society declaring Fountain not an artwork. Many questions were raised such as "what makes something an artwork?", and "what is the role of art institutions in evaluating and qualifying art?", after Duchamp unveiled his artwork. As a result, he also had to suffer the consequences as his porcelain urinal was thrown out of the exhibition, but its recreations now find pride of place in leading museums.

Duchamp's idea behind the 'Fountain'

Fountain was a litmus test for the role of taste in the world of art. Duchamp said he chose a urinal in part because he thought it had the least chance of being liked. He said: "I was drawing people's attention to the fact that art is a mirage. A mirage, exactly like an oasis appears in the desert. It is very beautiful until, of course, you are dying of thirst. But you don't die in the field of art. The mirage is solid." (Otto Hahn, 'Entretien Marcel Duchamp', Paris-

Express, 23 July 1964, p.22.) In a 1964 interview with Otto Hahn, Duchamp suggested he purposefully selected a urinal because it was disagreeable. The choice of a urinal, according to Duchamp, "sprang from the idea of making an experiment concerned with taste: choose the object which has the least chance of being liked. A urinal—very few people think there is anything wonderful about a urinal." (Wikipedia)(Martin) Duchamp moved on and became a member of the Dada movement, however not a full-time member. All his life he was dubious about the world of art like its deception, artificiality and its aesthetical disparity, which he presumed self-willed and pointless. Due to this belief and with his satirical sense of humor, he signed a urinal with the name 'R. Mutt' and sent it to a major art show in New York as a work of sculpture. Undoubtedly, it created a massive uproar but at the same time it also changed the world of art.

Why was it criticized? Duchamp's Fountain was criticized on many grounds by many renowned groups and people.

- The society's board of directors released a statement to the press: "The Fountain may be a very useful object in its place, but its place is not an art exhibition and it is, by no definition, a work of art." (Dunning)
- In December 2004, Duchamp's *Fountain* was voted the most influential artwork of the 20th century by 500 selected British art world professionals. Second place was afforded to Picasso's *Les Demoiselles d'Avignon* (1907) and third to Andy Warhol's *Marilyn Diptych* (1962). (Wikipedia) *The Independent* noted in a February 2008 article that with this single work, Duchamp invented conceptual art and "severed forever the traditional link between the artist's labour and the merit of the work". (Wikipedia)
- Jerry Saltz wrote in *The Village Voice* in 2006: Duchamp adamantly asserted that he wanted to "de-deify" the artist. The ready-mades provide a way around inflexible either-or aesthetic proposition. They represent a Copernican shift in art. Fountain is what's called an "acheropoietoi," [*sic*] an image not shaped by the hands of an artist. Fountain brings us into contact with an original that is still an original but that also exists in an altered philosophical and metaphysical state. It is a manifestation of the Kantian sublime: A work of art that transcends a form but that is also intelligible, an object that strikes down an idea while allowing it to spring up stronger. (Wikipedia)
- Grayson Perry stated in *Playing to The Gallery* in 2014: "When he decided that anything could be art he got a urinal and brought it into an art gallery. I find it quite arrogant, that idea of just pointing at something and saying 'That's art.'" (Wikipedia)
- Beatrice Wood, a friend of Duchamp, wrote that the maker of *Fountain* was irrelevant: "[Duchamp] CHOSE it. He took an ordinary article of life, placed it so that its useful significance disappeared under the new title and point of view – created a thought for that object."

What became of the Fountain later on?

Despite the controversies, rejections and mockery Duchamp's Fountain made its way to the list of influential artworks. Many artists and Intellectuals raise their voice to look at the brighter side of the porcelain urinal. A clear explanation of Fountain's could be seen when it was editorialized by Beatrice Wood about the importance of the artist.

It read: "Whether Mr. Mutt with his own hands made the fountain or not has no importance. He CHOSE it. He took an ordinary article of life, placed it so that its useful significance disappeared under the new title and point of view—created a new thought for that object." (Mann) He paid close attention to Duchamp's work and tried to understand his thinking and will power behind it. So that he can understand the point of view of the artist. There is also a theory that Duchamp attributed his work to a female friend of his. That female friend had presented her a male urinal, on which Duchamp gave the form of an art by signing her. Beatrice Wood built a bridge for Duchamp's work which showcased his vision of the world of art.

Monsieur Duchamp's work gave emphasis to the questions of what is the basic form of a work. And what should be its criteria? Who can call an art as art? Is an artist's ideological approach the father of art, or is it a condition of delusion, which is passed down from generation to generation? Is thought helpful for the development of art and what are its possibilities? (Mann) Emily Morgan, an assistant professor of art and visual culture, agrees. She says "Fountain" is easy for some to dismiss, because it is a urinal. However, Duchamp argued that art does not have to be beautiful; that an object can be ugly and still be an influential work of art. It's a significant piece because it makes a visual argument that the concept behind a work of art is as important, if not more important, than the object," Morgan said. "By deliberately choosing such a dumb, mundane object, Duchamp made that point very clearly." To sum up all the points, Fountain was indeed a readymade piece of junk. However, it's worth lies in its influence and in that way, it allowed the artists to challenge those who believed that the true art is something which must be approved by the council. It also showed that a mere urinal can mean something distinctive to different people and it dared a lot of people to change their understanding of art. However, the understanding and the meaning that we derive from things are actually based on the context in which we experience through seeing or hearing. Just like someone acts weird in a street full of crowds and we call him a nut but, on a stage, we'll call them brilliant. We don't cherish the cheap food at home, whereas we like it in restaurants because the same food is expensive there. Similarly, Fountain also is about context. It was a matter of fun at that time. Emphasis must be given on the meaning because the meaning of art is subjective.

It was not titled as art. It was given the title of anti-art. For Duchamp art had failed hence, he became the part of Dada movement which had sworn to put art into its coffin. Duchamp was hated for the mess he created but he maintained his sense of humor and ultimately prevailed.

The thing he taught us through his whimsical sense of humor was that art means different things to different people. In 1917, Fountain was criticized and destroyed arguing it was not art but the same Fountain has now changed the art world, perspective and meaning of art.

II. Case Study: Banana Duct Tape (Art or Insanity?)

A conceptual artist, Mauritzio Catellen shocked the whole world by presenting Banana duct tape as an art. The piece is titled as Comedian, where a banana is simply stuck to the wall using duct tape. According to Catallen, the reason behind that banana duct tape is showing

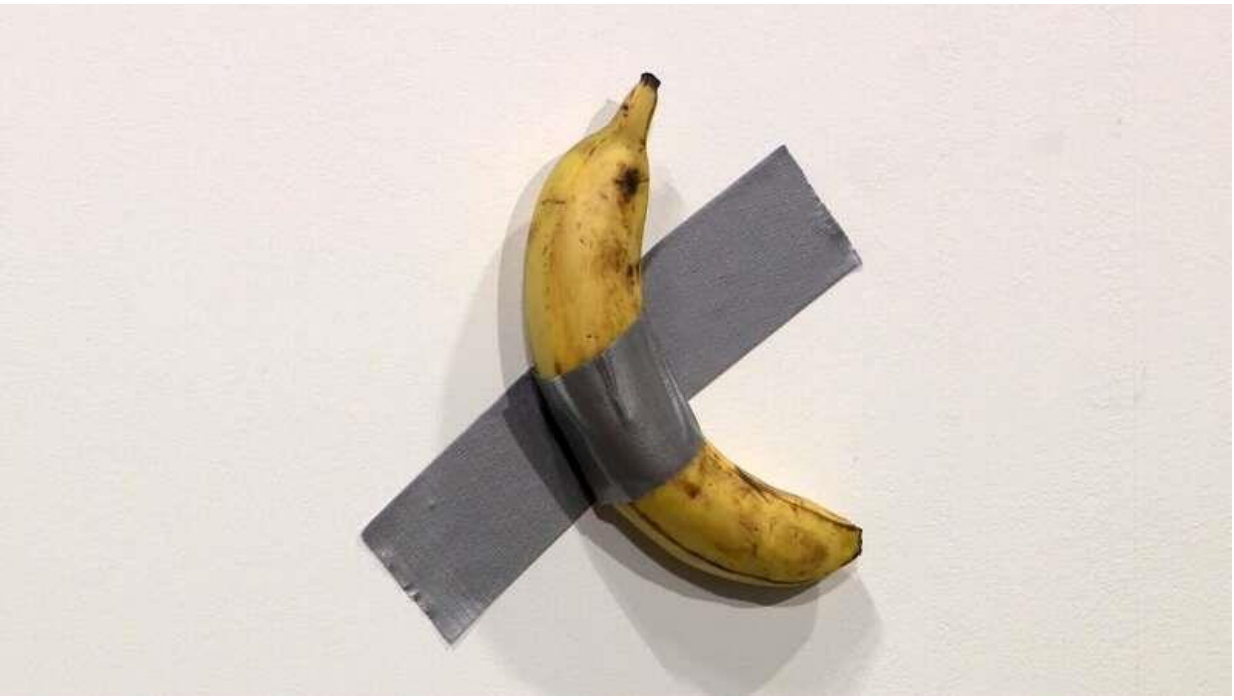

humor. It's also to learn the reaction of people and how they would react. Comedian bagged a huge amount of $120,000 which is quite unbelievable. For a lot of people, it was funny even for the artist himself. Reason behind the selling of Comedian is that many collectors were happily willing to buy it because of the well-known artist and they took it as an investment.

Criticism

According to an article published in Toronto Star by an entertainment columnist, the poor fruit vendors spent decades selling bananas that too in dozens for a couple of bucks. Then arrives this Italian artist Maurizio Cattelan, who bagged $120,000 just by tapping a banana with a silver duct tape to a gallery wall. He mocked the people who bought this expensive piece only to replace their beloved banana whenever it gets ripe. He also added that The Comedian is not art; it's a potassium-rich diet. (Menon) Cattelan's Comedian was not for many people, instead it was a mockery of artists who spend hours creating artworks. According to an article, the art world can be hysterical sometimes by showing an object usually associated with making a clown slip and fall. Cattelan distinctly nudges fun at how random art can be sometimes. Also,

the visual of duct-taped banana to a wall is something hilarious. In the same article, it was written that some joker spent $120,000 on a banana that will rot in a few days. (GREBEY)

The Miami heraldreports that Cattelan told the buyers of his masterpiece that they may replace the banana if they choose. This is ridiculous. Anybody who gives out $120,000—a life-changing amount of money for most American families—on rotten fruit is a rich villain who deserves to be scammed.

People who liked Comedian

When many people criticized Cattelan installing a banana to a wall there were many other people who appreciated his idea by calling that a conceptual art. “Maurizio’s work is not just about objects, but about how objects move through the world,” Emmanuel Perrotin added. “Whether affixed to the wall of an art fair booth or displayed on the cover of the New York

Post, Maurizio forces us to question how value is placed on material goods. The spectacle, which has been orchestrated so beautifully, is as much a part of the work as the banana.” Any person with similar skill can stick a banana on the wall, but it is not necessary that he should think of sticking the banana with the idea of art. The Catalans came up with an idea for their sculpture and the banana became their source of inspiration. He saw bananas around him, whether on a trip or on the dining table in a restaurant. Banana became the reason for his source and he tried to make bananas in many mediums of sculpture, but the real thing was not

coming in it, so he thought of using the real one and proceeded with this idea. Duchamp's work may sound ridiculous, but it encourages an idea. As vaudeville has pointed out in his reference to slipping on a peel, the banana peel proves its worth even when it is not in use. "Catalan banana artwork is a sarcasm for contemporary art that has mainstreamed itself into making itself appear classier, as if it were just the home of the rich?" said Half Gallery owner and art dealer Bill Powers. Bill power said that Andy Warhol made a comment 'Can you take the art away from you'? (TAYLOR)

Conclusion

If we return to the question of what can still be considered art, it is worth saying that Marcel Duchamp was looking for and finding the answers to this question throughout his mature career, in each of his ready-made works. In his opinion, absolutely any object could be considered a work of art, if the artist declared it as such, and if it was presented at the exhibition. The “fountain” met both of these criteria, but was also a conscious provocation. Just five years earlier, Duchamp's painting “Nude, descending the stairs” was also not accepted to the exhibition due to its inconsistency with the canons of the nude image. What to say about such a "shameful" subject, as a urinal. However, Duchamp tried to demonstrate to the public and critics that the perception of the subject literally depends on the point of view on it. Turning the urinal 90 degrees, the artist deprived him of the possibility of being used for its intended purpose. And having given it the name "Fountain", he, one might say, changed the function of this object to the opposite, turning something low into sublime. (debate.org) (PERSPECTIVES) (Cutler)In such a situation, the reason for the art critic is to determine what should be called art or not. Some efforts in art are not good, but it is on their own point of view whether you consider it art or not. The generalization that everything can be art is an exaggeration.

By the way, the extent of art is limitless, it will remain as long as there is a man on this earth. There are 7 billion people in the world. So, I would conclude that "art can be anything," and this is different from saying "art is everything." I can imagine at least one instance where all 7 billion people conclude that one thing is definitely not art. If anything, and everything is art, then what isn't? You wouldn't be able to define that. It can be said that everything is not art, because for art to be called art, it is necessary to have its thinking and vision behind it. Many things are also made for their utility in society. Maybe its form is related to art, but the purpose of its creation is different from art.

Bibliography

box, Smart art. *https://smartartbox.com/blogs/smart-art-blog/what-is-true-art*. 16 0ct 2016. laptop. 2022 march 5.

Cutler, Ellen B. *https://www.quora.com/profile/Ellen-B-Cutler*. 2020. laptop. 06 april 2022.

debate.org. *https://www.debate.org/opinions/is-art-everything*. 02 dec 2013. laptop. 05 april 2022.

D'Orsay, Joy. *https://joydorsay.com/too-pretty-the-trap-of-beauty/*. 18 nov 2015. laptop. 1 april 2022.

Dunning, Kelly. *https://medium.com/@GlobalGoose/did-marcel-duchamps-fountain-really-come-completely-out-of-left-field-96c33bf67903*. 25 MAR 2017. LAPTOP. 29 MARCH 2022.

Editors, Artland. *https://magazine.artland.com/10-controversial-artworks-changed-art-history/*. 21 november 2019-11-21. laptop. 29 march 2022.

GREBEY, JAMES. *https://www.gq.com/story/suddenly-the-koons-is-this-100k-banana*. 07 dec 2019. laptop. 03 april 2022.

Mann, Jon. *https://www.artsy.net/article/artsy-editorial-duchamps-urinal-changed-art-forever*. 09 may 2017. Laptop. 02 april 2022.

Martin, Tim. *Surrealists (Essential Art)*. Milton Keynes,UK: Parragon Plus, 2000. hardcover.

Menon, Vinay. *https://www.thestar.com/entertainment/opinion/2019/12/10/a-120k-banana-duct-taped-to-a-gallery-wall-is-not-art-its-a-scam.html*. 20 dec 2019. laptop. 2 april 2022.

PERSPECTIVES, RTF FRESH. *https://www.re-thinkingthefuture.com/article/is-everything-art-a-perspective/*. 29 june 2016-06-29. laptop. 5 april 2022.

Sharkey, Lauren. *https://www.highsnobiety.com/p/richard-prince-artist/*. 26 sep 2015. Laptop. 5 april 2022.

TAYLOR, ELISE. *https://www.vogue.com/article/the-120000-art-basel-banana-explained-maurizio-cattelan*. 10 dec 2019. laptop. 03 april 2022.

Wikipedia, the free encyclopedia. *https://en.wikipedia.org/wiki/Fountain_(Duchamp)#cite_note-Adcock,_1987-20*. 23 june 2005-06-23. Laptop. 28 march 2022.

पभोसा से प्राप्त अभिलेख

डॉ. मीनू अग्रवाल

उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद, जो अब प्रयागराज के नाम से जाना जाता है, में मंझनपुर तहसील में यमुना के उत्तरी तट पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कौशाम्बी, जो अब अलग जिला बन गया है, से लगभग 4 या 5 किमी पश्चिम में पभोसा की दो छोटी पहाडियॉ विद्यमान है,'इनपर कई अकृत्रिम शैल –गुफाऍ हैं, इन पर उत्कीर्ण लेख महत्वपूर्ण है, इनमें कुछ लेखों का सम्बन्ध जैन धर्म से है। प्रयाग से प्राप्त जैन लेखों की संख्या अत्यल्प ही कही जाएगी।

वर्तमान में इस क्षेत्र को प्रभाषगिरि के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ के रूप में स्थापित है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में प्रचलित नाम 'पभोसा' शब्द 'प्रभास' का विकृत रूप है, आधुनिक धर्मशाला में अंकित संवत 1881 के लेख में इसे 'प्रभासपर्वतोपरि' अर्थात प्रभास पर्वत कहा गया है। शब्द निष्पत्ति की दृष्टि से (प्र + भास् + घञ्) से निष्पन्न 'प्रभास' शब्द का अर्थ है– दीप्ति, सौन्दर्य, कान्ति। छठें तीर्थंकर पद्मप्रभ की साधना स्थली होने से यह क्षेत्र दीप्त, कान्तिवान हो गया था।

पभोसा कौशाम्बी के बाह्य क्षेत्र में :

पभोसा कौशाम्बी का ही एक भाग था, यहॉ उस समय वन था। संवत 1881 के लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि पभोसा कौशाम्बी नगर के बाहरी हिस्से में था। पभोसा की पहाडी को लेख में प्रभासपर्वत कहा गया है।(" कौशाम्बीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि")

जैन कल्याणक क्षेत्र –

जैन दिगम्बर समाज में तीन प्रकार के तीर्थक्षेत्रों की मान्यता है–

- निर्वाण क्षेत्र
- कल्याणक क्षेत्र
- अतिशय क्षेत्र

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के छठे तीर्थंकर पदमप्रभु का जन्म कौशाम्बी में हुआ था, पभोसा अर्थात प्रभासगिरि में उन्होने साधना की थी । जैन परम्परा के अनुसार पदमप्रभु का जन्म कौशाम्बी में कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को हुआ था – " *कौशाम्ब्यां धर–सुसीमा सुनुः पद्मप्रभोऽरूणः* " उन्होने कौशाम्बी के मनोहर उद्यान पभोसा में जाकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन दीक्षा ली थी और इसी दिन भगवान का दीक्षाकल्याण महोत्सव मनाया गया। पदमप्रभु

के दीक्षा और ज्ञान कल्याण के कारण यह क्षेत्र कल्याणक तीर्थ माना गया। जैन अनुश्रुति में जिस स्थान पर भगवान पदमप्रभु के दीक्षा और ज्ञान कल्याणक मनाए गए वह स्थान श्री प्रभाषगिरि अर्थात पभोसा है। यह जैनमतावलम्बियों का कल्याणक तीर्थ माना जाता हैं। पभोसा में पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी इसे पद्प्रभ का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र माना जाता है। (संवत 1881 का लेख जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है ''....प्रभासपर्वतोपरि श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाकल्याणकक्षेत्रे श्री.....''अर्थात सन 1824–25 ई में यह क्षेत्र पदमप्रभजिनकल्याणक क्षेत्र के रूप में जैन धर्म का प्रसिद्ध तीर्थ था।)

पभोसा में श्रीकृष्ण के अन्तिम काल

कृष्ण बलराम जैन धर्म में 22वेंतीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई भी है। पभोसा में 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ के काल में एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख जैन परम्परा में मिलता है जिसके अनुसार नेमिनाथ ने बलराम के पूछने पर भविष्य बताते हुए कहा कि आज से 12 वर्ष बाद मद्यपी यादवों द्वारा उत्तेजित किए गए द्वैपायन मुनि के शाप से द्वारका भस्म होगी अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन में शयन करेंगें और जरतकुमार उनकी मृत्यु का कारण बनेंगें। उनकी भविष्यवाणी सुनकर बलराम के मामा द्वैपायन विरक्त होकर मुनि बन गए और वन में जाकर तप करने लगें। श्रीकृष्ण के बडे भ्राता जरत्कारू भी वन में रहने लगे। बलराम और श्रीकृष्ण कौशाम्बी के इस वन मे पहुॅचे तो कृष्ण प्यास से व्याकुल हो गए। वे एक पेड़ की छॉव में लेट गए। बलराम जल लाने गए। जरत्कारू उसी वन में घूम रहा था। उसने दूर से कृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण समझा और बाण चला दिया। बाण जाकर श्रीकृष्ण के पैर में लगा और उन्होंने प्राण त्याग दिया। बलराम जब लौट कर आए तो मृत भाई को देखकर छः मास तक मृत देह को लिए फिरते रहे। अन्त में एक देव द्वारा समझाने पर तुंगीगिरि पर जाकर दाह संस्कार किया ।(उद्धृत, बलभद्र जैन, पृष्ठ 38)

पभोसा की भट्टारक परम्परा

लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयाग नगर के वणिजवृत्ति के पोषक अग्रोतक वंशी अग्रवाल जैनियों ने, जो जैन भटटारक परम्परा के अनुयायी थे, संवत 1881 में पभोसा में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाऍ स्थापित कराई थी।(''श्रीजिनबिंबप्रतिष्ठा कारिता अंगरेजबहादुरराज्ये शुभम्'' – एपिग्राफिआ इंडिका, खण्ड 2,) इनका सम्बन्ध काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण से था। उस समय अंग्रेज बहादुर का राज्य था। कदाचित पभोसा में काष्ठासंघ के भट्टारकों की गद्दी स्थापित थी (दृष्टव्य, इलाहाबाद की जैन कला एवं पुरातत्व विषयक संगोष्ठी प्रोसीडिंग्स एवं भारतवर्षीय दिगम्बरतीर्थ जीर्णोद्धार जर्नल में प्रकाशित डॉ मीनू अग्रवाल का आलेख, इलाहाबाद परिक्षेत्र में अग्रोतकान्वयी जैनियों की परम्परा)

पभोसा से प्राप्त अभिलेख –

पभोसा की पहाड़ियों पर अनेक शैल गुफाएँ हैं, उन गुफा की दीवार पर लगभग 10 छोटे छोटे यात्रियों के लेख हैं। जिनमें दो का पाठ स्पष्ट न होने और पढे न जा सकने के कारण बूलर महोदय ने नहीं दिया है।इनमें से 5 लेख 5वी–छठी शताब्दी ई के तथा एक लेख 8वी शताब्दी के आस पास का है । गुफा की पश्चिमी दीवार के 3 लेखों में से एक प्रथम शताब्दी ई पू का तथा दो लेख प्रारम्भिक गुप्त काल के है।

चित्र साभार : एपिग्राफिआ इंडिका,

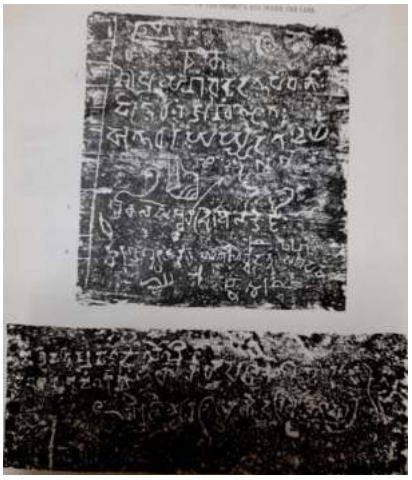

(Buhler, G., (1894) Further Pabhosa Inscriptions, *Epigraphia Indica*, vol.II, page 480,)

- श्रीप्रयागं वरोत्तं पोढकी सूत्तधार अखंडतः सूत्तधार ययौ उभ दय.....
- श्री कलशेश्वरदिशिल कुटटीर
- नन्ददत्तप्रसादो
- केरणेश्वरितिला केदलीव...
- किरणेश्वरीकर्ता
- श्रीकृष्णगोपीरूपकर्ता
- विजयसेनस्या । किरणभोजक

पभोसा पहाडी पर जो छोटे छोटे लेख मिले है उनमें एक लघु लेख में प्रयाग को उत्तम प्रयाग कहा गया है, तथा दो सूत्रधारों का उल्लेख है (''श्री प्रयागे वरे उत्तम पोढकी सूत्रधार अखंडतः सूत्रधरा ययो उभा दया––––––––'') लेख की लिपि 7वी 8वी शताब्दी की है तथा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है। लेख के मध्य में शंख की स्पष्ट आकृति वैष्णवीय निदर्शना की द्योतक मानी जा सकती है। ब्हूलर के अनुसार इस लेख से पोढकी तथा यया नामक दो सूत्रधारों औरा गुफा के जीर्णोद्धार का उल्लेख हो सकता है।

चित्र साभार : एपिग्राफिआ इंडिका,

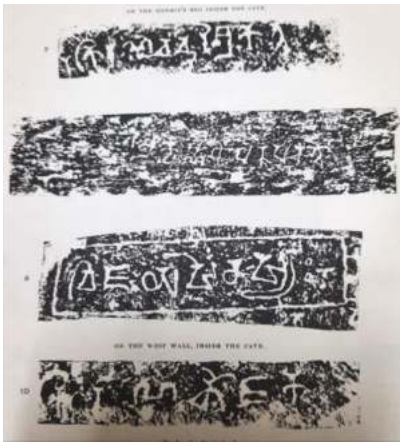

एक दूसरे लेख में पवित्र कलशेश्वर का मंदिर होने का अनुमान लगाया जा सकता है। लेख की पंक्ति इस प्रकार है – ''श्रीकलसे'श्वरदि ि ल कुटटीर

'' अर्थात पवित्र कलशेश्वर का मंदिर । कलशेश्वर शिव का भी नाम है कूर्म पुराण में तीर्थो की सूची में कलशेश्वर तीर्थ का नाम भी आया है। नारदीय पुराण के अनुसार 'कलत्रा उस तीर्थ का नाम हे जहॉ घट से अगस्त्य का जन्म हुआ, वहॉ उन्होंनेइन्द्र की उपासना से मुनिवरत्व को प्राप्त किया था। इस आधार पर इसे शैव प्रभावित लेख माना जा सकता है। लेकिन बूहलर के अनुसार कलसेश्वर उस नाग का नाम था जो उसगुफा मे रहता था जिसे बुद्ध ने पराजित कर उसमें अपनी प्रतिच्छाया स्थापित कर दी थी। इस प्रकार इस लघु लेख से जनसामान्य मे प्रचलित पिलक्ख गुहा में नाग के वास की परम्परा की पुष्टि होती है कुटी शब्द के आधार पर नाग देव के मंदिर और नागपूजा–परम्परा का भी बोध होता है। प्रयाग में बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा से भी पहले नाग–पूजा की परम्परा विद्यमान थी। पभोसा के अन्य लघु लेखों में किरणेश्वरी नामक देव, ''किरणेश्वरी श्री कर्ता'', ''श्री कष्णगोपीरूपकर्ता ', ''विजयसेनस्य किरणभोजक'' का उल्लेख आया है और समवेत रूप में निष्कर्शतः यह कहा जा सकता है कि पभोसा गुफा में सातवीं आठवीं शताब्दी के आस पास प्रयाग में दो सूत्रधारों द्वारा गुफा मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया, विजयसेन जो किरणश्वरी ,कलश नाग तथा कृष्ण के गोपी रूप का कर्ता था, ने इन देवों के प्रति भक्ति और आस्था से अपनी सेवाएॅ, अर्पित की।

ईसापूर्व द्वितीय शती में ही पभोसा में पहाडी पर कश्यपीय अर्हतों के लिए गुफा–निर्माण के अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध है इस गुफा का निर्माण आषाढसेन ने करवाया था ।

1 राज्ञो गोपालीपुत्रस
2 बहसतिमित्रस
3 मातुलेन गोपालीया
4 वैहिदरीपुत्रेन
5 आसाढसेनेन लेनं
6 कारितं उदाकस दस
7 में सवछरे काशपीयानं अरहं तानं————————————————————————''
1 अहिछत्राया राज्ञो शोनकायनपुत्रस्य वंगपालस्य
2 पुत्रस्य राज्ञो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण
3 वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं '' – ए,–इ– वॉ 2, 1894, पृ 242से 243

उक्त लेख के आधार पर पभोसा जैन गुफा के निर्माता आषाढसेन की वंशावली इस प्रकार ज्ञात होती है –

अहिच्छत्रा के शासक
शौनकायन
बंगपाल – विवाह – तेवणी
भागवत–विवाह–वैहिदरी

गोपाली आषाढसेन

ब्हसतिमित

इस प्रकार उक्त जैन गुफा का निर्माता आषाढसेन अहिच्छत्र का शासक था। वह कौशाम्बी के शासक वहसतिमित्र का रिश्ते में मामा था।

पभोसा की पहाडी पर आज भी गुफा विद्यमान है,एक प्राचीन जैन मंदिर भी है। वहसतिमित्र के सिक्के कौशाम्बी और अहिच्छत्र से मिले है, इसकी पुत्री यशोमती का विवाह मथुरा के किसी राजा से हुआ था,, इस प्रकार कौशाम्बी के वहसतिमित्र का सम्बन्ध अहिछत्रा और मथुरा दोनो से था। इस लेख से प्रमाणित होता है कि **ईसा पूर्व की प्रथम – द्वितीय शताब्दियों में पभोसा जैन धर्म का सुप्रतिष्ठित केन्द्र था।** आषाढसेन द्वारा पदमप्रभु की साधनास्थली पर जैन भिक्षुओं के लिए गुफा का निर्माण उसके जैन धर्म के प्रति अनुराग का परिचायक हो सकता है।

धर्मशाला लेख

धर्मशाला लेख
साभार, एपिग्राफिआ इंडिका

अधोलिखित लेख पभोसा ,में धर्मशाला लेख के नाम से प्रसिद्ध है। ए. फुहरर ने इसे एपिग्राफिआ इंडिका खण्ड 2 में पभोसा इंसकृप्शन्स के अन्तर्गत प्रकाशित किया है।

''संवत 1881 मिते मार्गशीर्षशुक्लषष्टयां शुक्रवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करणे लोहाचार्यान्वाये भटटारकश्रीजगत्कीर्तिस्तत्पटटे भटटारकश्रीललितकीर्तिजितदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोयलगोत्रे प्रयागनगरवासतव्यसाधु श्री रायजीमल्लस्तदनुजफेरू मल्लस्तत्पुत्र साधुश्रीमेहरचन्दस्तत् भ्राता सुमिरू चन्दस्तदनुजसाधु श्रीमाणिक्यचन्दस्तत्पुत्र साधुश्रीहीरालालेन कौशांबीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाज्ञानकल्याणक्षेत्रे श्रीजिनबिंबप्रतिष्ठा कारिता अंगरेजबहादुरराज्ये शुभम्''

इस लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि–

1 प्रभास पर्वत कौशाम्बी नगर के बाह्य सीमा पर स्थित था– कौशांबीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि'' आज भी कौशाम्बी में यमुना के किनारे मात्र यही पहाडियॉ है तथा जैन तीर्थस्थली के रूप में ख्यात है।

2 पभोसा श्रीपद्मप्रभ जिन का दीक्षा कल्याणक्षेत्र के रूप में विख्यात था– श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाज्ञानकल्याणक्षेत्रे

3 पभोसा में पहाडी पर पदमप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा संवत 1881 में स्थापित करवाई गई थी, उस समय अंग्रेज बहादुर का राज्य था– अंगरेजबहादुरराज्ये

4 प्रयाग में पभोसा में काष्ठासंष्ठा माथुरगच्छ पुष्करगण के लोहाचार्य के वंश परम्परा में भट्टारक श्री जगतकीर्ति और भट्टारक श्री ललित कीर्ति की कदाचित गद्दी स्थापित थी, ये दोनो भट्टारक उक्त प्रतिमा के प्रति'ठापक रहे होंगे।

5 पभोसा में प्रयाग नगर के रहने वाले अग्रोतक वंशी गोयलगोत्री साधु हीरालाल ने यह प्रतिमा स्थापित करवायी थी

साधु हीरालाल के पूर्वजों के नाम भी इस अभिलेख से ज्ञात होते है 'यथा साधु श्री मेहरचन्द्र सुमिःचन्द्र साधु श्री माणिवयचनद्र आदि। इन्हे अग्रोतकवंशी कहा गया है– अग्रोतकान्वये , इनका गोत्र गोयल था ।

6 लेख में तीन भौगोलिक नाम – कौशाम्बीनगर, प्रभासपर्वतोपरि, प्रयाग नगर आए है। जाति सूचक नामों में ''अग्रोतकान्वये', गोयलगोत्र, प्रमुख है। जैन काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण की भटटारक परम्परा में दो भट्टारकों के नाम – ललितकीर्ति और जगत्कीर्ति दिए गए है।

बेरूई नामक स्थान पर रखी पभोसा की जैन मूर्तियॉ

बेरूई नामक स्थान से लाकर बेनीगंज के नवनिर्मित मंदिर में रखी गई तीन जैन मूर्तियों पर भी लेख की ये पंक्तियॉ उत्कीर्ण है। इन मूर्तियों का अभिज्ञान तीर्थंकर लांछन – मृग, शंख और कमल–के आधार पर कृमशः आदिनाथ, नेमनाथ और पदमप्रभ के रूप में किया जाता है। इन मूर्तियों पर अंकित लेख की प्रथम तीन लाइनों तक का विवरण एकदम सुस्पष्ट रूप से पाठय है लेकिन मूर्तियों का निचला हिस्सा आसनवेदी पर जड दिए जाने से आगे की पंक्तियॉ सम्प्रति नहीं पढ़ी जा सकती। स्थानीय जैनियों के अनुसार पभोसा में पहाड़ी के टूटने पर कुछ मूर्तियॉ सराय आकिल में बेरूई के मंदिर में सुरक्षित रखी गई थीं।

ये लेख जैन धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण तो हैं ही, लेकिन प्रयाग परिक्षेत्र में जैन धर्मावलम्बी अग्रोतक वंशी अग्रवालों, जैन भटटारकों की परम्परा, और उनकी शाखा आदि के सन्दर्भ में विशिष्ट रूप से भी महत्त्वपूर्ण है। अग्रोत वंश का सम्बन्ध अग्रोतकवश अर्थात अग्रवालों से लिया जाता है। हरियाणा में अग्रोहा नामक स्थान प्राचीन काल में अग्रोतक नगरी के नाम से विख्यात था । अग्रोहा हिसार से फतेहाबाद जाने वाली सडक पर 14 मील की दूरी पर है। यहॉ पर 1938–39 में भारत सरकार के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा उत्खनन का कार्य कराया गया। कहा जाता है कि अग्रोतकवंशियों की शाखॉ, यही से देश के विभिन्न भागों में फैली। ध्यातव्य है कि काष्ठासघ माथुरगच्छ पुष्कारगण शाखा के गुरूओं को ही महाकवि रइधू ने अपना गुरू माना है। महाकवि रइधू ने अपने साहित्य में काष्ठासंघ माथुर गच्छ की पुष्कर गण शाखा के मध्यकालीन लगभग 17 भटटारको ने नाम दिए है। कवि के आश्रयदाताओ में प्रायः अग्रवाल ही रहे है, स्वयं महाकवि रइधू के आश्रयदाता मतलसिंह संघवी ग्वालियर के नगरश्रे"ठ तथा अग्रवाल जाति के शिरोमणि थे।, इस प्रकार कहा जा सकता है

कि प्रयाग नगर के रहने वाले अग्रवाल जैनियों ने पभोसा में जैन धर्म के प्रसार में प्रभूत योगदान दिया था। पभोसा में उस समय काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्करगण शाखा के अग्रोतक वंशी भटटारकों का प्रमुख केन्द्र स्थापित था।

बेरूई नामक स्थान से लाई गई आसीन मुद्रा में जैन मूर्तियॉ जिनकी पीठिका पर संवत 1881 का लेख अंकित है, पीछे प्रभामंडल जो बाद में जोडा गया है।

पभोसा की मर्तियों पर अंकित लेख

सन्दर्भ ग्रन्थ–

- जैन, बलभद्र : *भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ,* भाग 1, बम्बई, 1974
- तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद : *जैन प्रतिमा विज्ञान,* पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी,1982
- शाह, यू.पी. : *स्टडीज इन जैन आर्ट,* वाराणसी, 1955
- प्रमोदचन्द्र : *स्टोन स्कल्पचर्स इन दि इलाहाबाद म्यूजियम,* पूना 1970,
- फयूहरर, ए.ए.: 'पभोसा इंसकृप्शन्स' *एपिग्राफिआ इंडिका,* खण्ड 2,
- रावत, बृजेशः *जैन प्रतिमा कला,* अगम कला प्रकाशन
- भटटाचार्या, बी.सी. : *दि जैन आइकोनोग्राफी,* दिल्ली, 1974
- राव, टी. एन. गोपीनाथ : *एलीमेंटस ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी,* खण्ड 1, भाग 2,
- अग्रवाल, मीनू : *प्राचीन भारत की सांस्कृतिक विरासत,* पाल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2012, ISSN, 978-93-81663-03-5
- अग्रवाल, मीनू : 'इलाहाबाद परिक्षेत्र मे अग्रोतकान्वय जैनियों की परम्परा', *प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार,* मई 2017, ISSN, 0972-4737
- श्रीवास्तव, एच.एल. मेमायर्स ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, न. 61,'
- कनिंघम, ए., आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया रिपोर्टस फॉर दि इयर 1871–72, वॉ. III, पृ. 66

छत्तीसगढ़ के नव उत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृण्मयी मूर्तिकला

मोहन कुमार साहू

भारतीय जीवन के अनन्त स्रोतों का मूल उद्गम लोक संस्कृति है । भारतीय संस्कृति का संस्कार लोक संस्कृति द्वारा ही हुआ है । लोक संस्कृति अपने प्राकृत रूप में आज भी गांवों, जंगलों और पर्वतों में प्रकृति की छाया में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखेहुए हैं । लोक संस्कृति की आत्मा गांवों और जंगलों में रहने वालों के रीति- रिवाजों, लोक गीतों और आचार -विचारों की परंपराओं में निहित है । संस्कृति कभी मरती नहीं, वरन समयानुसार उसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहता है ।

आदिवासी बहुल छत्तीसगढ़ क्षेत्र का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इस क्षेत्र में राजिम, सिरपुर, तरीघाट, पचराही, मदकूद्वीप, करकाभाट, मल्हार, देवरी आदि स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक संपदा से यहां की मृण्मूर्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मृदभांड एवम् मृण्मूर्तियों की एक अत्यंत प्राचीन परंपरा इस अंचल में पल्लवित होती रही है । मृण्मयी कला मानव की सहज प्रारंभिक कला मानी जाती है । इस अंचल की मृण्मूर्ति यहां की संस्कृति का एक अभिन्न अंग है । ये मृण्मूर्तियां एवं मृद्भांड अत्यंत प्राचीन काल से लेकर अद्यतन लगभग एक ही शैली में बनती रही है ।विशिष्ट पर्वों पर या विशिष्ट उद्देश्य एवं अनुष्ठान हेतु इन कला कृतियों का निर्माण किया जाता रहा है । इन मृण्मूर्तियों के निर्माण की न केवल एक सुनिश्चित शैली है वरन् एक सुदीर्घ परंपरा भी प्राप्त होती है।

छत्तीसगढ़ की मृण्मयीकला के अंतर्गत जीवन के विविध पक्षों यथा- धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक के साथ ही साथ फसल चक्र, ऋतु चक्र,कृषि संस्कृति के अनेक प्रतीक चिन्हों एवं देवी - देवताओं तथा लोक - विश्वासो का उद्घाटन होता है । मृण्मयी कला के माध्यम से इस क्षेत्र की लोकमूर्ति कला जीवंत हो उठी है । मृण्मूर्तियों में देवी-देवताओं,नर- नारी, पशु- पक्षियों एवं घरेलू जीवन में उपयोगी मृद्भाण्डो का निर्माण

किया जाता है। छत्तीसगढ़ की आदिवासी एवं जनजातियों में देवताओं को प्रायः अश्वरोही योद्धा के रूप में निर्मित किया जाता है। लोग प्रायः योद्धाओं के मरणोपरांत स्मृति स्वरुप स्तंभों एवं प्रस्तर फलकों पर अश्वारोही आकृतियां बनाते हैं । कालांतर में ऐसे व्यक्ति भी देवताओं के समान पूजनीय हो जाते हैं । इन्हें योद्धाओं (देवताओं) की आत्मा को प्रसन्न करने से हेतु मिट्टी की अश्वारोही मूर्तियां या मात्र अश्व ही भेंट स्वरुप प्रदान किए जाते हैं। उदाहरण स्वरुप बस्तर के राव भंगाराम, खंडा कंकालिन, घोड़ादेव, तथा भैरव देव आदि अनेक देवी- देवताओं को खुश करने के लिये अश्वरूढ़ प्रस्तुत किया जाता है।

उत्खनन से प्राप्त मृणकला : प्रारंभ में पुरातत्व से तात्पर्य मात्र उत्खनित स्थलों, पुरावशेषों व कलात्मक वस्तुओं से ही था। पुरातत्ववेत्ता का उद्देश्य प्राचीन महत्त्वपूर्ण व मूल्यवान वस्तुओं को प्रकाश में लाना था। मृद्भाण्ड, जो बहुत कम ही पूर्ण अवस्था में प्राप्त होते हैं, का महत्त्व तब तक नगण्य था। सर्वप्रथम फ्लिण्डर्स पेत्री, आरेल स्टीन एवं मजूमदार ने क्रमशः मिस्र, बलूचिस्तान और सिंध के उत्खनन में मृद्भाण्डों के महत्व को स्थापित किया। भारत में तक्षशिला के उत्खनन से उनका पुरातात्विक महत्व ज्ञात हुआ। हड़प्पा के उत्खनन द्वारा उनकी महत्ता और अधिक सुदृढ़ हो गई। उत्तरी कृष्ण मार्जित, लाल -काले एवं लाल मृद्भाण्डों की प्राप्ति के पश्चात् पुरातत्व के क्षेत्र में मृद्भाण्ड और भी उपयोगी दिखाई देने लगे। इसी तरह से मृद्भाण्ड छत्तीसगढ़ के नव उत्खनित पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त किये गये हैं।

छत्तीसगढ़ राज्य निर्माण के पश्चात् **मल्हार** : यह पुरास्थल बिलासपुर जिला मुख्यालय से लगभग 35 किलोमीटर दूर मस्तूरी तहसील के अंतर्गत स्थित है।

लीलर : यह पुरास्थल धमतरी जिला मुख्यालय से लगभग 20 किलोमीटर दूर महानदी के किनारे पर स्थित है।

तरीघाट : यह पुरास्थल दुर्ग जिला में पाटन तहसील के अंतर्गत खारून नदी के बाएं किनारे पर स्थित ह।

डमरू : यह पुरास्थल बलौदा बाजार जिला मुख्यालय से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर शिवनाथ नदी के दाहिने तरफ नदी से थोड़ी दूर पर स्थित है।

पचराही : यह पुरास्थल कबीरधाम जिला में बोड़ला तहसील के अंतर्गत स्थित है ।सिरपुर यह पुरास्थल महासमुंद जिला में महानदी के तट पर स्थित है।
राजिम : यह पुरास्थल गरियाबंद जिला में महानदी के तट पर स्थित है । इन पुरास्थलों से प्राप्त मिट्टी के बने हुए मृत्पात्र, खिलौने, पशु-पक्षी की आकृतियां, मिट्टी के बने हुए सिक्के, मिट्टी के अलंकृत मटके, दिये, नांद, मुहरें व अन्य मूल्यवान कलात्मक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जिससे यह स्पष्ट होता है प्राचीन समय में मिट्टी के बनें हुये बर्तनों की उपयोगिता अधिक मात्रा में होता रहा होगा ।

आज के वर्तमान युग में इनकी उपयोगिता भले ही कम हो गई है परंतु मानव जीवन का प्रारंभ ही मिट्टी के बर्तन के साथ हुआ है। जैसे-जैसे मानव विकास करता गया वैसे-वैसे उनके जीवन-शैली में परिवर्तन होता गया। प्राचीन समय में उपयोग किए जाने वाल्ले पात्र-परम्पराआज हमें उत्खनन से पुरावशेषों के रुप में प्राप्त होतेहैं और अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति का ज्ञान करातेहैं ।

छत्तीसगढ़ की मृत्तिका कला उसकी सांस्कृतिक चेतना की एक प्रमुख देन है। यहां की प्रस्तर की मूर्तियों में प्रधानतः धार्मिक विषयों का अंकन हुआ है किंतु मिट्टी की कला में लोक जीवन का प्रतिबिंब उतरा है , विषयवस्तु की दृष्टि से इसकी कोई सीमा नहीं है। मृत्तिका कला लोक जीवन से ओत- प्रोत थी। इसको तत्कालीन समाज का प्रलेख कहा जा सकता है। इसकी लोक व्यापिनी शक्ति का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि छत्तीसगढ़ में यह अनेक शताब्दियों तक एक लोकप्रिय माध्यम बनी रही।

छत्तीसगढ़ अंचल की मृण्मयमूर्तियों में विविध प्रकार की पशु- पक्षियों यथा- हाथी, घोड़े, सिंह, नन्दी,बंदर आदि की मूर्तियों को बनाए जाने की विशिष्ट परम्परा है। हाथी वैभव एवं शालीनता का द्योतक है। अतः उसे धन - धान्य की देवी श्रीदेवी के वाहन के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति के प्रतीक सिंह या बाघ को शक्ति की देवी (दुर्गा -शीतला- दंतेश्वरी देवी आदि) के वाहन के रूप में पूजा जाता है। गति और शौर्य के प्रतीक अवयव को योद्धाओं के वाहन के रूप में मान्य किया गया है। इस क्षेत्र के ग्रामीण अंचलों के पूजा स्थलों पर (जिसे मैदानी भाग में

माता देवालय और अरण्य क्षेत्र (बस्तर) में मातागुड़ी कहते हैं) मृण्यमूर्तियों को अर्पित करते हैं। जब उनकी कोई मन्नत (इच्छा)पूरी हो जाती है , तो वे अपने इष्ट देवता के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से कुम्हारों से मिट्टी की मूर्तियां बनवाकर भेंट स्वरुप अर्पित करते हैं। इस प्रकार की मृण्मयमूर्तियों को अर्पित करने का उद्देश्य ग्रामीणों का ऐसे पशुओं की पराशक्तियों में आस्था होना माना जाता है।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में पशु आकृतियों में सर्वाधिक मृण्मयीमूर्तियां नंदी अथवा नांदियां बैल की बनाई जाती है। नंदी कृषि (संस्कृति) का प्रतीक है तथा सभी भारतीयों के लिए पूजनीय है। कृषि कार्य में उनकी महत्ता को समझकर उसकी पूजा की जाने लगी । प्रजनन शक्ति के प्रतीक शिव-लिंग के साथ उसकी स्थापना की गई। प्रजनन की भावना की दृष्टि से यदि शिवलिंग की आराधना आवश्यक मानी जाती थी, तो भरण -पोषण के लिए नंदी का उतना ही महत्व स्वीकार किया गया।

छत्तीसगढ़ में भाद्र मास में पोला त्यौहार मनाया जाता है। इस अवसर पर कुम्हारों द्वारा बनाई जाने वाली मृण्मूर्तियों में नंदी की मूर्तियां प्रमुख होती है, जिनकी पूजा की जाती है । संपूर्ण अंचल में इस त्यौहार में सभी घरों में खुर्मी-ठेठरी नामक विशिष्ट पकवान बनाया जाता है। इसी पकवान से नंदी की पूजा का विधान है। उल्लेखनीय है कि खुर्मी- ठेठरी जो क्रमशः शिवलिंग और योनि (जलहरी) का प्रतीक होती है। इस प्रकार प्रजनन शक्ति के देवता शिव -पार्वती को प्रतीक रूप (खुर्मी-ठेठरी) को मिट्टी से बने नंदी पर आरूढ़ कर पूजा जाता है। पूजा के पश्चात् नंदी के पैरों में पहिया लगाकर बैलगाड़ी बनाकर बच्चों को खेलने को दिया जाता है ।

दीपावली के अवसर पर विविध प्रकार के कलात्मक दीपों को बनाने की परंपरा मिलती है । इन दीपों में लक्ष्मी दीपक, गज लक्ष्मी दीपक, ग्वालिन दीपक, स्तंभ दीपक आदि प्रमुख होते हैं। इन दीपकों में निर्मित सभी अभिप्राय शुभ एवं मांगलिक होते हैं। समृद्धि की प्रतीक गजलक्ष्मी एवं लक्ष्मी दीपक का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज को पशुपालन अवस्था के महत्व को

प्रतिपादित करती ग्वालिन दीपक में ग्वालिन कोसिर पर पात्र लिए बनाया जाता है। उसके हाथों एवं प्रभामंडल में दीप सजाए जाते हैं। आभामंडल से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्वालिन 'श्रीदेवी लक्ष्मी' का ही कोई लोक स्वरुप है। इसमें दीपों की संख्या पांच,सात,नौ या ग्यारह की विषम संख्या में होती है। इसी अवसर पर लक्ष्मी के साथ ही गणेश की मूर्तियां भी बनाई जाती हैं । इसके अतिरिक्त विविध अभिप्रायों यथा- हाथी, उल्लू , चूहा आदि से युक्त गुल्लकें भी बनाने की परंपरा है । प्रेत एवं दुष्टात्माओं से रक्षा हेतु रायगढ़ और सरगुजा आदि क्षेत्रों में ग्रामीणों के घरों की छप्पर (कवेलू) के शीर्ष पर पशु -पक्षियों के आकृतियों को बनाकर लगाने की परंपरा का प्रचलन है।

पक्षियों से संबंधित दीपों में सुआ अभिप्राय दीप विशेष प्रचलित है । सुआ छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रिय विषय है । संदेश वाहक सुआ अभिप्राय वाले दीपक को प्रायः वे स्त्रियां जलाती हैं, जिनके पिया परदेश गये हुए होते हैं। इस क्षेत्र में देव -उठनी के अवसर पर मिट्टी के मिट्टी के खिलौने बनाने की समृद्ध परंपरा है। बच्चों को खेलने हेतु मिट्टी की गाड़ी , चक्की -चूल्हा , रसोई की भोजन पकाने के विविध पात्र आदि प्रदान किए जाते हैं ,जिन्हें यहां के कुम्हार लोग बनाते हैं ।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मृण्मूर्तियों को बनाने का कार्य कुम्हार जाति के लोग परंपरा से करते हैं। इन कलाकारों द्वारा निर्मित मूर्तियां संपूर्ण भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । विशेष रूप से हाथी एवं घोड़ों की छोटी एवं आदमकद तक बनने वाली मूर्तियां अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है । इस प्रकार की मूर्तियों को लोग अपने कलाकक्ष में प्रदर्शित साज-सज्जा कर गौरवान्वित होते हैं। प्राचीन काल से बनने वाली ये मूर्तियां आज भी अपने प्राचीन रूप को अपने में समेटे हुए हैं । इस प्रकार एक सुदीर्घ कला एवं सांस्कृतिक परंपरा को धरोहर के रूप में बचाए हुए छत्तीसगढ़ की मृण्कला आज भी एक जीवंत धारा के रूप में विद्यमान है ।

संदर्भ -ग्रंथ

1. कला वैभव
2. निहारिका, प्राचीन भारतीय पुरातत्व अभिलेख एवं मुद्राएँ, पृ.46

3. पाण्डेय, जयनारायण, भारतीय कला, पृ. 201
4. तरीघाट, एक्सकेवेशन रिपोर्ट, पृ. 103-05
5. पचराही, एक्सकेवेशन रिपोर्ट, पृ. 56-57
6. कोसल अंक 10, वर्ष, 2017, पृ. 46-51
7. प्रधान, अतुल, वाजपेयी, शिवाकांत, एक्सकेवेशन इन छत्तीसगढ़, पृ. 23-41

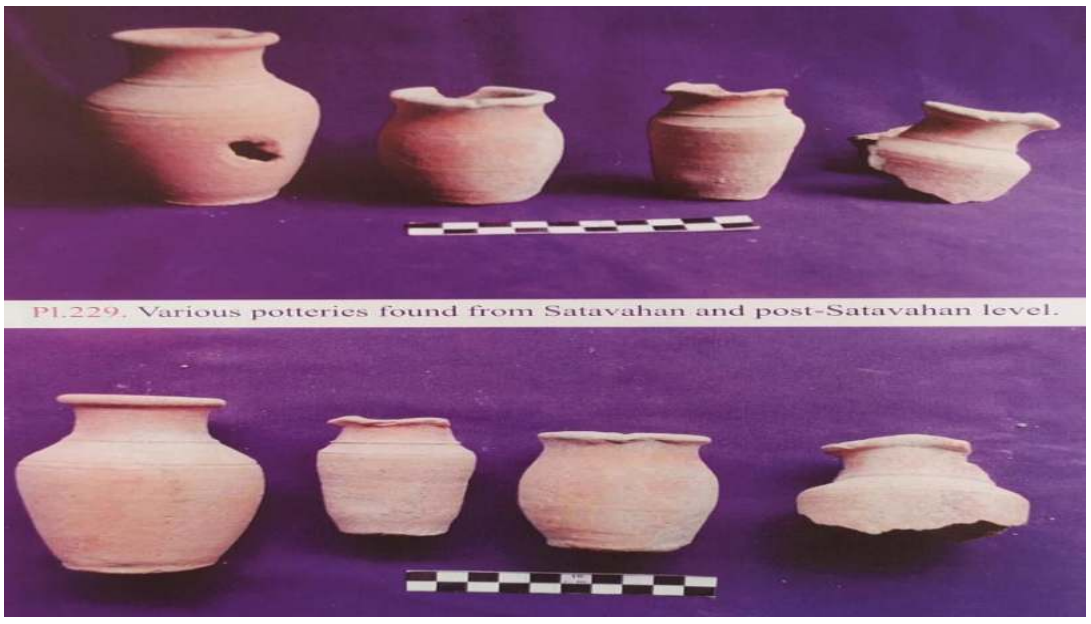

Pl.229. Various potteries found from Satavahan and post-Satavahan level.

एरण से प्राप्त बीना सती अभिलेखों का उद्वाचन एवं अनुशीलन

डॉ. मोहन लाल चढ़ार

एरण ग्राम सागर नगर से उत्तर-पश्चिम दिशा में 75 किमी की दूरी पर स्थित है। यह पुरास्थल मध्यप्रदेश के सागर जिले की बीना तहसील में अवस्थित है।[1]यह स्थल बेतवा नदी की सहायक बीना नदी के किनारे बसा है। वर्तमान एरण ग्राम को प्राचीन काल में मध्यभारत के प्रमुख नगर के रूप में ख्याति प्राप्त थी। इसकी जानकारी हमें एरण से प्राप्त विभिन्न अभिलेखों और सिक्कों से मिलती है। ब्रिट्रिश सरकार के इन्जीनियर टी. एस. बर्ट ने 1838 ईस्वी में इस पुरास्थल की खोज की थी। जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम को एरण ग्राम से अनेक अभिलेख,सिक्के और मंदिरों के पुरावशेष प्राप्त हुए थे। इस पुरास्थल पर किये गये उत्खननों से प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक की विभिन्न संस्कृतियों का क्रमिक विकास देखने को मिला है। इस पुरास्थल से पाषाणकालीन संस्कृति, ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति के साथ-साथ मौर्य, शुंग, सातवाहन, शक-क्षत्रप, नाग, गुप्त, हूण, कलचुरि, चंदेल, परमार एवं स्थानीय विभिन्न राजवंशों के प्रमाण मिले है। एरण पुरास्थल गुप्त काल में मध्यभारत के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रुप में स्थापित हुआ था।

इस पुरास्थल के सर्वेक्षण में गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक के अनेक सती स्तम्भ लेख प्राप्त हुए है। एरण से प्राप्त तीन सती स्तम्भ लेखों के पाठ का वाचन इस शोध पत्र में किया गया है। इन सती स्तम्भ लेखों से मध्यकालीन भारत की विभिन्न सामाजिक परम्पराओं की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। एरण पुरास्थल से प्राप्त इन सती स्तम्भ लेखों से बुन्देलखण्ड की राजनीतिक,सामाजिक,आर्थिक,धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है।[2]एरण ग्राम से अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[3] इन अभिलेखों में तीसरी शती ईस्वी का शक शासक श्रीधर वर्मा का स्तम्भलेख[4],गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का एरण अभिलेख[5], महाराजाधिराज बुधगुप्त का अभिलेख[6],हूण शासक तोरमाण का वराह मूर्तिलेख[7]एवं भानुगुप्त के सेनापति गोपराज का सती स्तम्भलेख[8] उल्लेखनीय है। भारतीय दृष्टिकोण से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज का सती स्तम्भलेख काफी महत्वपूर्ण है। सेनापति गोपराज का यह सती स्तम्भलेख भारत का प्रथम तिथियुक्त सती प्रथा का प्राचीनतम प्रमाण माना जाता है। इस सती स्तंभ लेख में गुप्त सम्वत् की तिथि 191 का अकंन किया गया है।[9]इस लेख के अनुसार गुप्तवंशी महाराज भानुगुप्त के प्रिय मित्र और सेनापित गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी पतिव्रता सुन्दर पत्नी अपने पति की चिता के साथ अग्नि में विलीन हो गई थी।[10]इस महत्वपूर्ण अभिलेख की खोज जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम ने 1875 ईस्वी में की थी।[11] इस सती स्तंभलेख के अलावा एरण ग्राम से मध्यकालीन एवं आधुनिक काल के लगभग 20 सती स्तंभ लेख प्राप्त हुए हैं। जिसमें से लगभग सात सती स्तंभों के लेख नष्ट हो चुके हैं,लेकिन 13 सती स्तंभों के लेख अभी भी पूर्ण रुप से सुरक्षित हैं।[12]जिनसे एरण पुरास्थल की तत्कालीन कला एवं संस्कृति की भी जानकारी मिलती हैं। एरण पुरास्थल से प्राप्त सती स्तम्भ लेखों में स्वर्गवासी व्यक्ति का नाम,तिथि,माह,स्थान का नाम उसके कुल का नाम,पिता का नाम,सती होने की घटना के बारे में जानकारी दी गई है।[13]इन सती स्तंभों में सूर्य,चंद्रमा,तारे,शिव का डमरु एवं आशीर्वाद देते हुए सती का हाथ उत्कीर्ण किया गया हैं। इन सती स्तम्भों पर किये गये उक्त अंकनों से यह सिद्ध होता है कि जब तक सृष्टि में सूर्य,चंद्रमा,तारे अथवा शिव का अस्तित्व विद्यमान रहेगा,तब तक सती होने वाली नारी की प्रसिद्धी रहेगी। उल्लेखनीय है कि भगवान शिव की

पत्नी सती ने अपने पिता दक्ष के यहां होने वाले यज्ञ में शिव के घोर अपमान के कारण अपने प्राण यज्ञ कुण्ड में कूदकर दे दिये थे।[14]माना जाता है कि इसी घटना से सती प्रथा का प्रारम्भ हुआ था।

एरण से प्राप्त लगभग सभी सती स्तम्भ लेख देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण किये गये है। लेखों में प्रयुक्त भाषा अशुद्ध संस्कृत एवं आंचलिक बुन्देलखण्डी है। इस क्षेत्र के जनमानस और सती होने वाली महिला के वंशज इन सती स्तंभों की पूजा आज भी करते हैं। इस क्षेत्र के लोगों में यह दृढ़ विश्वास है कि सती माता की पूजा करने से उनके परिवार को सुख समृद्धि मिलेगी।एरण से प्राप्त सती स्तंभों पर पति और पत्नी कीप्रतिमाएं बनी है। कुछ सती स्तम्भों में युद्ध के दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। इन सती स्तम्भों में सती होने वाली पतिव्रता नारी की भक्ति का भावपूर्ण उल्लेख किया गया है। एरण से प्राप्त इन सती स्तंभ लेखों से तत्कालीन समय की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती हैं। एरण ग्राम में अधिकतर सती स्तम्भ लेख ग्राम के बाहरी क्षेत्रों में बिखरे पड़े हुए है। एरण से प्राप्त सती स्तंभों पर कलात्मक रुप में पति-पत्नी को एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए,शिवलिंग की पूजा करते हुए एवं चिता पर सोते हुए अंकित किया गया है। एरण से प्राप्त तीन सती स्तम्भ लेखों का पाठ वाचन व उनका विस्तृत विश्लेषण अग्र प्रकार है।

प्रथम सती स्तम्भ:

1- खोज: यह सती स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र 2004 में बरेली उत्तरप्रदेश में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय इसका पाठ नही पढ़ा जा सका था।
2- खोज स्थल: ग्राम एरण में प्राथमिक विद्यालय भवन के पास में नीचे जमीन में गिरा पडा है।
3- पत्थर: कठोर लाल रंग का पत्थर
4- तिथि: शक संवत 788
5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।
6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री व उसके परिवार की जानकारी दी गई है।
7- स्तम्भ की माप: लंबाई- 1.67 मीटर,चौड़ाई 40 सेमी और मोटाई 10 सेमी है।
8- लेख की लिपि: देवनागरी (शिलालेख चार लाइनों में लिखा गया है) वर्ण आकार 3 सेटींमीटर (चित्र क्रमांक 01)
9- लेख की भाषा: अशुद्ध संस्कृत

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- संवतु 788 दामहा पुत्रसय (न)
2- मुसतीरफर चैत्र मासे पंचमी तिथि (पया)
3- ऐरनी मुकामसय सरहद युद्धे मरे
4- मां सतेर रामो रामस्यो

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- शक सम्वत् 788 में दमहा का पुत्र
2- मुसतीरफर चैत्र मास की पंचमी तिथि में
3- ऐरनी ग्राम की सीमा में युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

4- मां सती राम राम

इस शिलालेख की भाषा अशुद्ध संस्कृत है,शिलालेख में कुछ स्थानीय शब्द डाले गए हैं। ये शिलालेख सती स्तम्भ के मध्य भाग पर उत्कीर्ण हैं। इस शिलालेख में कुल 4 लाइनें हैं। इस शिलालेख की ऊपरी दो लाइने पूर्ण रुप से सुरक्षित है और अंतिम दो लाइनों के कुछ अक्षर नष्ट हो गये हैं। शक संवत 788 की तिथि एवं युद्ध में शहीद वीर योद्धा के पिता के नाम का अंकन प्रथम पंक्ति में किया गया है। इस स्तंभ में सती होने वाली स्त्री का नाम का उल्लेख नही है। इस शिलालेख में दूसरी पंक्ति युद्ध में मारे गये योद्धा का नाम मुसतीरफर लिखा है। तृतीय लाइन में एरन ग्राम का नाम ऐरनी तथा एक युद्ध का उल्लेख किया गया है। लेख की अंतिम पंक्ति में मांसती एवं राम राम नाम को उत्कीर्ण किया गया है। इस स्तम्भ पर एक योद्धा को घोड़े पर सवार दिखाया गया है। योद्धा की कमर में तलवार दिखाई गई है। इस स्तंभ पर सूर्य,चंद्रमा,पांच तारे और भगवान शिव का डमरू उत्कीर्ण हैं। सती स्तंभ पर पति और पत्नी को एक दूसरे का हाथ पकड़े दिखाया गया है। (चित्र क्रमांक 02) सूर्य और चंद्रमा और तारे का चित्रण प्रकृति की पूजा आराधना एवं सती की महिमा के प्रतीक है। यह सती शिलालेख एरण में हुए एक युद्ध में शहीद सैनिक की पत्नी का है। इस स्तंभ के शीर्ष भाग पर आशीर्वाद देते हुए सती का हाथ बनाया गया है। जो यह सिद्ध करता है कि जब तक सूर्य,चन्द्रमा,और तारे तथा शिव की शक्ति रहेगी तब तक सती का आर्शीवाद सम्पूर्ण पृथ्वी वासियों पर बना रहेगा।

प्रथम सती स्तम्भ

द्वितीय सती स्तम्भ

तृतीय सती स्तम्भ

द्वितीय सती स्तम्भ: (चित्र क्रमांक : 03)

1- खोज: यह स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय लेख पढ़ा नहीं जा सका था।
2- खोज स्थल: ग्राम एरण में रामू भागीरथ केवट कृषि फार्म माता की मड़िया के पास स्थित है।
3- पत्थर: लाल बलुआ पत्थर
4- तिथि: शक संवत 1832
5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।
6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री की जानकारी दी गई है।

7- स्तम्भ की माप: लंबाई 1.32 मीटर,चौड़ाई 43 सेंटीमीटर,और मोटाई 10 से.मी.

8- लेख की लिपि: देवनागरी (शिलालेख में नौ लाइन है) वर्ण आकार 3 सेटींमीटर (चित्र क्रमांक 05)

9- लेख की भाषा: यह लेख स्थानीय भाषा बुन्देलखण्डी में लिखा गया है।

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- श्री पंचसेनु कौ कुरनवे एरन से
2- सवतु 1831 की सती की
3- सलग्न पूस सुद सुमवार कौ स
4- ती नन्दी ने वीर के सहत कीरत पाइ
5- श्री पंचसेनु कौ कुरन के वीर एरन से
6- खणज लगत अग्रैजो राज्य फौज
7- कौ द (...) मरन लरयौ पर सुरगवस
8- ने सेया के चेता (.....) वर संवा
9- तु 1832 मुकम ऐरन सती सही।

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- एरण निवासी श्री पंचसेन के कुल में
2- शक सम्वत् 1831 में यह सती हुई।
3- हिन्दी माह पूस लग्न सुदी सोमवार के दिन
4- सती नन्दी (सती होने वाली स्त्री का नाम) वीर योद्धा के साथ कीर्ति प्राप्त की अर्थात सती हो गई।
5- एरन के श्री पंचसेन के कुल के वीर
6- अंग्रेजों के राज्य की फौज की तलवार लगने से
7- युद्ध में लडते हुए मृत्यु होकर स्वर्गवासी हो गये।
8- पति की चिता पर सती हुई।
9- शक सम्वत् 1832 में मुकाम ऐरन में लिखा गया यह लेख सत्य है।

यह सती स्तंभ रामू भागीरथ केवट कृषि फार्म में माता की मड़िया के पास में स्थित है। शिलालेख देवनागरी लिपि और बुन्देलखण्डी भाषा में लिखा गया है। इस शिलालेख की 9 पंक्तियां पद्य में लिखी गई हैं। शिलालेख में कुछ बुन्देलखण्डी के स्थानीय शब्द भी लिखे गये हैं। स्तम्भ पर अश्व को उल्टा उत्कीर्ण किया गया है। यह सती स्तम्भ लेख सती पत्थर के निचले हिस्से पर नीचे से ऊपर की ओर उल्टा उत्कीर्ण गया है। यह लेख सम्भवतः लेख उत्कीर्ण करने वाले की गलती से उल्टा लिखा गया है। लेख की पहली पंक्ति में श्री पंचसेन के कुल का उल्लेख है। दूसरी पंक्ति में शक सम्वत 1831 का अंकन है। तीसरी पंक्ति में हिंदी के महीने पौष एवं दिन सोमवार लिखा गया है। लेख की चतुर्थ पंक्ति में सती होने वाली पतिव्रता नारी का नाम नन्दी मिलता है। पांचवी पंक्ति में गाँव का नाम एरन उत्कीर्ण है। छठवी पंक्ति में अंग्रेजों की फौज का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि यह योद्धा अग्रेजों की सेना से लडते हुए मारा गया था। सातवी पंक्ति में युद्ध में सती होने वाली पत्नीके स्वर्गवासी पति का उल्लेख किया गया है। आठवी पंक्ति में पति की चिता में सती होने का उल्लेख किया है। अंतिम पंक्ति में लेख लिखे जाने का सम्वत् एवं ग्राम एरन का अंकन है। इसमें दो तिथियों का उल्लेख है पहली तिथि शक सम्वत 1831 की दी गई है

जो सती होने की वास्तविक तिथि है एवं दूसरी तिथि शक सम्वत 1832 सती शिलालेख लिखे जाने की है। इस स्तम्भ में पति-पत्नी को एक-दूसरे का हाथ पकड़े दिखाया गया है। सती स्तंभ के शीर्ष भाग पर आशीर्वाद देते हुए दो हाथ,सूर्य,चंद्रमा,पांच तारे,शिव के डमरू का कलात्मक अंकन किया गया है। सूर्य और चंद्रमा, तारे एवं शिव का डमरु सती होने वाली नारी की महिमा के प्रतीक माने जाते थे।

तृतीय सती स्तम्भ: (चित्र क्रमांक 04)

1- खोज: यह स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय लेख का पाठ वाचन नही हो सका था।

2- खोज स्थल: ग्राम एरण में दोनावीर के टीले पर स्थित है।

3- पत्थर: लाल बलुआ पत्थर

4- तिथि: शक संवत 1628

5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।

6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री की जानकारी दी गई है।

7- स्तम्भ की माप: स्तम्भ की लंबाई 1.80 मी.चौड़ाई 48 से.मी. और मोटाई 10 से.मी. है।

8- लेख की लिपि: देवनागरी (छः लाइनों में शिलालेख) वर्ण आकार 3 सेटीमीटर (चित्र क्रमांक 06)

9- लेख की भाषा: स्थानीय भाषा बुन्देलखण्डी में लिखा गया है।

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- संवतु 1628 में पुस सुदी द

2- सी दिन बुधबार कर धंहेरी मा स

3- ती भयै रजनीस एरनु गांव के वासि

4- है सती साहरगवासी पतै कुल

5- कौसीलवटह के सती है

6- सु मगलं

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- शक सम्वत् 1628 में पूस माह शुक्ल पक्ष की दसवी तिथि

2- दिन बुधवार को धहेरी (सती का नाम) मां सती

3- हुई। रजनीस (सती होने वाली स्त्री के पति का नाम) एरन ग्राम के निवासी है।

4- सती स्वार्गवासी पति के कुल

5- कौसीलबट की सती है

6- सभी का मंगल हो।

यह सती स्तम्भ एरण ग्राम से आधा किलोमीटर की दूरी पर दोनावीर टीले पर स्थित है। इसके समीप एक गुप्तकालीन शिवलिंग भी स्थापित है। लेख की भाषा बुन्देलखण्डी एवं लिपि देवनागरी है। लेख में कुल छः पंक्तियां है। प्रथम पंक्ति में लेख की तिथि 1628 के साथ हिन्दी माह पौष शुक्ल पक्ष की दसवी तिथि का उल्लेख किया गया है। यह तिथि अंग्रेजी सम्वत 1706 एवं माह दिसम्बर जनवरी की है। द्वितीय पंक्ति में सती होने वाली पतिव्रता नारी के साथ साथ दिन बुधवार का उल्लेख किया गया है। स्तम्भ के शीर्ष भाग पर आर्शीवाद देते हुए हाथ का अंकन है। हाथ के आस-पास सूर्य,चन्द्रमा,पांच तारे व भगवान शिव के डमरु का कलात्मक उत्कीर्णन किया गया है। पति-पत्नी को हाथ पकड़े स्थानक मुद्रा में दिखाया गया है।

निष्कर्ष:

इस प्रकार कहा जा सकता है,कि एरण पुरास्थल से लेखक को अनेक सती स्तम्भ प्राप्त हुए है। उनमें से उपर्युक्त तीन सती स्तम्भ लेखों को अभी तक सफलता पूर्वक पढ़ा जा सका है। अन्य सती स्तम्भ लेखों के पाठ वाचन का प्रयास किया जा रहा है। अनेक सती स्तम्भों को ग्रामवासियों ने अपने मकानों व चबूतरों में लगा लिया हैं। जिसके कारण इनके लेख नष्ट हो गये है। एरण से प्राप्त उक्त सती स्तम्भ लेखों से मध्यकालीन संस्कृति के विषय में काफी महत्वपूर्ण तथ्यपरक जानकारी प्राप्त होती है। हालांकि समाज में सती प्रथा एक कुरीति के रुप में प्रचलित रही है। आज यह पूर्ण रुप से बन्द हो चुकी है,किन्तु सती स्तम्भों पर की गई कलाकारी से तत्कालीन समय की विविध कलाओं की कलात्मक जानकारी देखने को मिलती है। उपर्युक्त लेखों के पाठ अनुवाद से स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन भारत में एरण ग्राम के आसपास एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र के लोग भगवान राम एवं भगवान शिव की पूजा आराधना करते थे। प्रथम सती स्तम्भ लेख में राम रामस्य लिखा गया है। आज भी बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अधिकतर लोग आपस में मेल मिलाप करते समय राम-राम शब्द से एक दूसरे का अभिवादन करते है। सती लेखों से ज्ञात होता है कि एरण में सती होने वाली अधिकतर स्त्रियां क्षत्रिय वर्ण से सम्बधित थी। उक्त लेखों के अनुसार अधिकांश स्त्रियों के पति शत्रु सेना से युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये थे। एरण से पूर्व में लेखक को एक सती स्तम्भलेख मिला था। इस लेख में महाराजाधिराज सुजीतानमह की मृत्यु के बाद राजा की पत्नी के सती होने की जानकरी मिली है। इससे ज्ञात होता है कि एरण क्षेत्र में योद्धाओं के साथ साथ राजपरिवारों में भी सती जैसी कुप्रथाओं का प्रचलन था। एरण से प्राप्त अधिकतर सती स्तंभों पर शिव के डमरु का अंकन किया गया है जो शिव के साथ सती के कथानक की पुष्टि करता है। प्रत्येक सती स्तम्भ पर सूर्य, चंद्रमा और तारों का चित्रण प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-उपासना का सूचक माना जाता है। लगभग सभी सती स्तम्भ पर आर्शीवाद देते हुए हाथ को कलात्मक ढ़ग से बनाया गया है, जो सम्पूर्ण सृष्टि के जनमानस के कल्याण का सूचक माना जाता है। सूर्य,चंद्रमा,तारे एवं शिव के डमरु के चित्रण से यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि जब तक ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्रमा, तारों व शिव का अस्तित्व है तब तक सती का आर्शीवाद व उसकी महिमा संसार में बनी रहेगी।

प्रथम सती स्तम्भ में राम राम का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भगवान राम की पूजा उपासना एरण ग्राम के आसपास एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र में व्यापक रुप में की जाती थी। इस लेख में एरण का नाम ऐरनी लिखा गया है। उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल में एरण का प्राचीन नाम ऐरिकिन मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में एरण का नाम ऐरनी हो गया होगा। सल्तनत काल में इस ग्राम का नाम ऐरनी से एरन पड़ गया था। उल्लेखनीय है कि मुगल काल में यहां से बत्तीस गांवों का प्रशासन चलाया जाता था। इस काल में एरन को आसपास के बत्तीस ग्रामों का मुख्यालय बनाया गया था। इसी कारण मुगल काल से आज तक इस ग्राम को एरन बत्तीसी भी

कहा जाता है। बुन्देलखण्ड के अधिकतर लोग इस ग्राम को एरन बत्तीसी के नाम से ही जानते है। प्रथम सती लेख में सती होने वाली नारी को मां लिखकर आत्मिक सम्मान दिया गया है। इस लेख में एरन ग्राम की सीमा के अन्दर एक युद्ध का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि एरण ग्राम में किसी शत्रु राजा ने आक्रमण किया होगा। इस आक्रमण में वीरगति को प्राप्त करने वाले योद्धा की पत्नी के सती होने की जानकारी लेख में दी गई है। इस सती लेख में तिथि शक संवत में अंकित है। इस लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि एरण क्षेत्र में वैष्णव संप्रदाय,का समाज में काफी वर्चस्व रहा होगा। इस क्षेत्र के लोग रामायण में वर्णित राम कथा के कथानकों को याद करने के साथ साथ आने वाली पीडियों को कहानियों के रुप में राम की महत्वपूर्ण घटनाओं को सुनाते होगे। आज भी एरण ग्राम में रामायण की विविध कहानियां प्रचलित है। इस लेख से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारत में भी एरण राजसत्ता का महत्वपूर्ण केन्द्र था, इसलिए इस नगर पर आक्रमण होते रहते थे। लेख में उल्लेख मिलता है कि युद्ध में शहीद होने वाले सैनिक की पत्नी सती हो गई थी। लेख में सती को मां कहा गया है। अतः कहा जा सकता है कि सती होने वाली नारी को माता के रुप में समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। समाज में सती को भगवान शिव और सती के कथानक से जोड़ कर सम्मान के साथ देखा जाता था किन्तु यह सती जैसी कुप्रथा मध्यकाल में अधिक बढ़ गई थी जबकि भारत के प्राचीनतम् ग्रन्थ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन भारत में सती प्रथा सांकेतिक रुप में प्रचलन में थी। इसमें पति की चिता पर सांकेतिक रुप में स्त्री लेटती थी और बाद में उसके परिवार के वृद्धजन विधवा नारी को पुनः नया जीवन जीने का विशेष आग्रह करके घर वापिस ले आते थे और सामान्यतः देवर य अन्य कोई परिवार के विवाह योग्य अविवाहित सदस्य से पुनः विवाह कर देते थे। रामायण व महाभारत महाकाव्यों में सती प्रथा पत्नी की स्वेच्छा पर आधारित थी। महाराज दशरथ के स्वर्गवासी हो जाने के बाद उनकी तीनों पत्नियां सती नही हुई थी। रावण के मरने के बाद उसकी पत्नी मंदोदरी सती नही हुई थी जबकि मेघनाद की पत्नी सुलोचना सती हुई थी। महाभारत में उल्लेख है कि पाण्डु की मृत्यु के पश्चात उनकी छोटी पत्नी माद्री सती हो गई थी और बड़ी पत्नी कुन्ती सती नहीं हुई थी।

इस शोध पत्र में वर्णित द्वितीय सती अभिलेख में दो तिथियों का उल्लेख किया गया है। पहली शक संवत 1831 की तिथि सती होने की वास्तविक तिथि है। दूसरी तिथि शक सम्वत् 1832 की सती लेख लिखे जाने की तिथि का उल्लेख करती है। सती होने वाली स्त्री का नाम नन्दी लिखा गया है। इस सती लेख में अग्रेजों से युद्ध में एक वीर योद्धा के वीरगति को प्राप्त हो जाने की घटना का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 1909 ईस्वी में एरण क्षेत्र पर अंग्रेजों की फौजों ने आक्रमण किया था। जिसमें अनेक भारतीय वीर सैनिक वीरगति को प्राप्त हो गये थे। लेख में एरन ग्राम को मुकाम ऐरन लिखा गया है। तृतीय सती लेख में भी सती को मां के रुप में उल्लेख किया गया है। इस लेख में सुमंगल शब्द का उल्लेख किया गया है इससे स्पष्ट होता है कि सती का आर्शीवाद लोक कल्याण के लिए मंगलकारी माना जाता था। इस लेख में शुद्ध बुन्देलखण्डी भाषा का प्रयोग किया गया है। एरण पुरास्थल में गुप्तकाल से सती प्रथा के प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते है। भारत का प्रथम सती स्तम्भ लेख एरण से ही प्राप्त हुआ है। गुप्तकालीन शासक भानुगुप्त के एरण सती लेख से पता चलता है कि गुप्त सेना को हूण शासक मिहिरकुल ने एरण में पराजित किया था। लेख के अनुसार भानुगुप्त के मित्र व सेनापति गोपराज की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी गोपाबाई अपने मृत पति के शरीर के साथ इस पुरास्थल पर सती हो गई थी। उक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक एरण सेना तथा राजसत्ता का महत्वपूर्ण केंद्र रहा था। गुप्तकाल में मथुरा से उज्जैन जाने वाले प्रमुख व्यापारिक राजमार्ग पर यह नगर स्थापित था। यह व्यापारिक मार्ग यमुना नदी के किनारे बेतवा नदी और नर्मदा नदी के समीप से होते हुए भृगुकच्छ वर्तमान भड़ौच तक जाता था। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग भारत के प्रमुख नगरों को

समुद्री मार्ग से जोड़ता था। उल्लेखनीय है कि यमुना और नर्मदा नदियों का वर्णन बुद्धगुप्त के एरण शिलालेख में किया गया है। एरण पुरास्थल पर किये गये उत्खननों से ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक यह स्थल भारतीय संस्कृति की निरन्तरता एवं विकास के अनुक्रम का साक्षी रहा है। युगों युगों से इस पुरास्थल के विकास में अहम योगदान देने वाली प्राचीन बेण्वा वर्तमान बीना नदी आज भी एरण ग्राम के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। एरण पुरास्थल से प्राप्त सतीस्तंभ लेखों से हमें एरण क्षेत्र एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र की पूर्वमध्यकालीन एवं उत्तरमध्यकालीन कला,संस्कृति,धर्म,समाज एवं राजनीतिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है।

सन्दर्भ:

1- वाजपेयी,कृष्णदत्त : सागर थ्रू दि एजेज,सागर, 1954,पृ .35

2- दुबे,नागेश : एरण की कला,सागर, 1997,पृ. 11

3- द्विवेदी,चन्द्रलेखा : एरण का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास,दिल्ली, 1985,पृ. 99

4- चढ़ार,मोहन लाल : एरण एक सांस्कृतिक धरोहर,नई दिल्ली, 2016,पृ. 124

5- दुबे,नागेश : पूर्वोक्त,पृ. 58

6- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख,जयपुर,राजस्थान, 1992,पृ. 185

7- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 126

8- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : पूर्वोक्त,पृ. 187

9- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 130

10- वाजपेयी,कृष्णदत्त : सागर थ्रू दि एजेज,पूर्वोक्त,पृ. 27

11- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख,जयपुर,राजस्थान, 1992,पृ. 199

12- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 36

13- शर्मा राजकुमार: मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ,भोपाल, 1974,पृ. 311

14- शिव पुराण 19/30

एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष

प्रो. नागेश दुबे

बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम स्थल एरण राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। एरण, लोक कला के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। एरण की कला एवं स्थापत्य में लोक–संस्कृति अनेक रूपों में दर्णित हुई है। लोक संस्कृति में जनसामान्य के आदर्श, विश्वास एवं रीति–रिवाज आदि विविध पक्ष व्यक्त होते हैं। लोक संस्कृति, लोक क्रियाकलापों, लोक–काव्यों, लोक सम्बद्ध कथाओं एवं लोककलाओं में प्रतिबिम्बित होती है। एरण की लोक–संस्कृति अत्यंत प्राचीन है।

एरण, मध्यप्रदेश के सागर जिले की बीना तहसील में स्थित है। एरण, सागर नगर से लगभग 75 किलोमीटर उत्तर पश्चिम दिशा में स्थित है। विदिशा से इसकी दूरी 72 कि.मी. उत्तर पूर्व में स्थित है।[1] एरण, बीना नदी के तट पर बसा हुआ है। बीना नदी उत्तर–पश्चिम एवं पूर्व दिशा से एरण को अपने घेरे में लेकर अर्द्धचन्द्राकार रूप में प्रवाहित होती हुई इसकी स्वाभाविक सुरक्षा करती है। चौथी ओर ताम्रपाषाण युग में निर्मित सुरक्षा दीवार है।

प्राचीनकाल से एरण प्रमुख राजमार्ग पर स्थित था। यह राजमार्ग उज्जयिनी, विदिशा होता हुआ एरण आता था, यहाँ से भरहुत होता हुआ कौशाम्बी जाता था। जनरल कनिंघंम[2] तथा जॉन एलन[3] ने एरण की यही स्थिति दी है। भौगोलिक दृष्टि से एरण का महत्व अधिक रहा है। इसके एक ओर बुन्देलखण्ड तथा दूसरी ओर मालवा का भू–भाग है। अतः यह बुन्देलखण्ड तथा मालवा के मध्य एक प्रवेशद्वार के समतुल्य था।[4] पूर्वी मालवा की सीमा रेखा पर स्थित होने के कारण यह दशार्ण जनपद को चेदि जनपद से जोड़ता था।[5] प्राचीन राजमार्ग पर स्थित होने के कारण एरण का महत्व अधिक था।[6]

जर्नल अलेक्जेण्डर कनिंघम ने सन् 1874–75 में इस क्षेत्र का दौरा किया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम प्राचीन 'एरिकिण' नगर की पहचान एरण से की। एरण की प्राचीन संज्ञा 'ऐरिकिण' या 'एरकण्य' अनेक अभिलिखित मुद्राओं एवं अभिलेखों में मिलती है।

एरण की जनपदीय मुद्राओं में एरकण्य[7] गुप्तकालीन अभिलेखों में 'ऐरिकिण' साँची अभिलेख में 'एरकिन' के रूप में एरण का उल्लेख हुआ है।[8] इस स्थान में जो महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें समुद्रगुप्त का अभिलेख[9] (यह अभिलेख वर्तमान में कलकत्ता संग्रहालय में संग्रहीत है)। शक शासक श्रीधरवर्मा का अभिलेख[10], बुधगुप्त का अभिलेख[11] प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साँची के मुख्य स्तूप के निर्माणार्थ एरण के निवासियों के द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख करने वाला अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें 'एरकिन' का नाम उल्लेखित हुआ है।[12]

लोककला मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है। कलाकार अपने अव्यक्त भावों को कतिपय माध्यमों के द्वारा व्यक्त करता है। एरण की कला एवं स्थापत्य पर अंकित मूर्ति शिल्प के द्वारा प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष उजागर हुए हैं।

भारतीय मृण्मूर्ति–कला जो कि नवपाषाणकाल से अस्तित्व में आई, इसके द्वारा मानव के सामाजिक एवं घरेलू जीवन का आकलन संभव हो सका है। पृथ्वी (भूमि) से जुड़ी यह कला जनसाधारण के सुख का साधन थी। मृण्मूर्तियों का निर्माण काफी सरल सुलभ व सस्ता था। इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित भी सरलतापूर्वक किया जा सकता था। यह कला मुख्यतः निर्धनों की कला के रूप में भी जानी जाती है। मृण्मूर्तियों को आग में पका देने से उनमें दृढ़ता लाई जाती थी। मृण्मूर्ति कला साधारण कलाकारों के माध्यम से जनसाधारण में पहुँची थी। इस कला के द्वारा निर्मित मानव, पशु–पक्षी, खिलौने तथा बौनों की मृण्मूर्तियों के द्वारा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थिति का आकलन करने में पर्याप्त मार्गदर्शन मिलता है।

सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में एरण में सर्वप्रथम सन् 1960 से 1965 के मध्य प्रो. के.डी. बाजपेयी तथा डॉ. उदयवीर सिंह के निर्देशन में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ। उक्त उत्खननों के द्वारा ताम्रपाषाणकाल से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक के अवशेष एरण से उजागर हुए। सन् 1984 से 1987–88 तथा 1998 में प्रोफे. सुधाकर पाण्डेय तथा डॉ. विवेकदत्त झा के निर्देशन में सम्पन्न उत्खननों में उपरिवर्णित अवशेषों के अतिरिक्त नवपाषाण तथा कायथा संस्कृति के मृद्भाण्ड एवं अन्य अवशेष भी प्रकाश में लाये गये। एरण में किये गये उत्खननों के फलस्वरूप आद्यऐतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[13]

छायाचित्र 1 : मानव मृण्मूर्तियाँ

छायाचित्र 2 : पशु मृण्मूर्तियाँ

एरण उत्खनन में मानवीय एवं पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनकी संख्या मानव मृण्मूर्तियों की तुलना में कहीं अधिक है। प्रारंभिक मृण्मूर्तियों की बनावट बेडौल

है। परवर्ती काल की प्रतिमाएँ सुडौल और सजीव हैं। इन आकृतियों के द्वारा सिद्ध होता है कि कलाकार को पशु–पक्षियों के शारीरिक अवयवों का पूर्ण ज्ञान था। तत्कालीन पशु–पक्षियों के अस्तित्व की जानकारी के अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि वृषभ लोकप्रिय पशु था। कृषि में योगदान के फलस्वरूप सम्भवतः वृषभ का महत्व था। ककुदमान वृषभ की एरण में प्राप्ति द्वारा हड़प्पा संस्कृति से एरण का संपर्क होना प्रमाणित होता है। एरण में हरिण की आकृतियों की प्राप्ति द्वारा प्रमाणित होता है कि हरिण एरण के आद्यैतिहासिक मानव का प्रिय पशु था।[14]

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि एरण निवासियों ने मिट्‌टी की मानव, पशु व पक्षियों की मृण्मूर्तियों का निर्माण किया। इससे उनकी कलाप्रियता दर्शित हुई है। इन मृण्मूर्तियों द्वारा एरण के कायथा संस्कृति तथा मालवा की ताम्रपाषाण संस्कृति के निवासियों के जीवन के विविध पक्ष उजागर हुए हैं।

एरण में लगभग 600 ईसा पूर्व से 200 ईसा पूर्व तक विद्यमान संस्कृतियों में मृण्मूर्ति कला की परम्परा विद्यमान रही है। उत्खनन में बहुत सी मानवीय व पाश्विक मृण्मूर्तियाँ व खिलौने मिले हैं, जो तत्कालीन मृण्मूर्ति कला प्रियता का प्रशंसनीय परिचय देते हैं। लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर पहली शताब्दी ईस्वी तक की समयावधि में निर्मित शुंग कला का प्रभाव यहाँ की मृण्मूर्तिकला पर सर्वाधिक परिलक्षित होता है। परन्तु सीमित उत्खनन होने से इनकी संख्या अधिक नहीं है। इस कालावधि की पुरूष मृण्मूर्तियाँ ही मुख्य रूप से प्राप्त हुई हैं। पाश्विक मृण्मूर्तियों में अश्व, एक श्रृंगी पशु, श्वान व वृषभ की आकृतियाँ तथा कुछ अस्पष्ट आकृतियाँ भी हैं। लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी से छठी शताब्दी ई. तक की समयावधि में भी एरण में मृण्मूर्ति कला की परम्परा विद्यमान रही है। इस काल में साँचे में ढली मृण्मूर्तियाँ निर्मित की गई। गुप्तोत्तर काल में उत्तरी भारत में राजनीतिक अस्थिरता का युग बना रहा। मध्यभारत में चन्देलों के पूर्व तक यह स्थिति बनी रही। राजनीतिक अस्थिरता ने कला को भी प्रभावित किया। गुप्तोत्तर काल में मृण्मूर्ति परम्परा के अन्तर्गत मानवीय व पाश्विक मृण्मूर्तियाँ निर्मित कीं गयीं।

एरण की प्रस्तर मूर्तिकला में हिन्दू देव प्रतिमाओं के अतिरिक्त प्राप्त मानव मूर्तियों में लोक संस्कृति व लोक जीवन के विभिन्न पक्ष उजागर हुए हैं। पूजा उपासना के दृश्य, यौद्धा, प्रणय प्रसंग, स्त्री व पुरूष इत्यादि की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुईं हैं।

लगभग पाँचवी शताब्दी ईस्वी के अभिलिखित सती स्तंभ में स्त्री–पुरूष की आकृति उकेरी गयी है। यह स्तंभ एरण व निकटवर्ती ग्राम पहलेजपुर के मध्य एरण से लगभग आधा कि.मी. दूर पर स्थित है। इसमें अंकित स्त्री–पुरूष की आकृति को भानुगुप्त के सेनापति गोपराज व उसकी पतिव्रता स्त्री की आकृति माना गया है।[15] चोली, साड़ी, हार से सुसज्जित नारी का केशविन्यास मनमोहक है। पुष्पित वृक्ष के नीचे आसन पर गोपराज व उसकी पत्नी को बैठा दिखलाया गया है।

भग्न स्तंभों व शिलापट्‌टों को एकत्रित कर निर्मित किये गये चबूतरे के स्तंभों पर मिथुन युगल प्रदर्शित हैं। एक अन्य गुप्तकालीन स्तंभ पर सुन्दर केश सज्जा वाले नारीमुख दिखलाए गये हैं। कृष्णलीला से संबंधित दृश्य के नीचे की पंक्ति में मानव युगल को झरोखे से झाँकता दिखाया गया है। युगल मूर्तियों को भी मंदिरों के प्रवेश द्वार, स्तंभों के आधारों आदि पर

स्थापित करने का विधान था। ये युगल मूर्तियाँ यथार्थ में सृष्टि के विकासक्रम का प्रतीक हैं, ये अनुराग तथा समर्पण के भावों को व्यक्त करतीं हैं।[16]

महाविष्णु मंदिर के समीप एक द्वारपक्ष की चार द्वार शाखाएँ हैं। तीसरी द्वारा शाखा में मिथुन युगलों का उत्कीर्ण किया गया है। बाजू में नीचे की ओर एक पुरूष आकृति त्रिभंगमुद्रा में उकेरी गयी है। ध्वस्त मंदिर के द्वार के ललाट बिंब पर मिथुन युग्म हैं। ऊपर की शाखा में 27 नारी मस्तक और सबसे ऊपर दम्पत्ति की आबद्ध आकृति सिंह मुखों के मध्य है। दोनों पाश्वों में दो–दो गवाक्षों के अंदर नारी आकृतियों के अर्ध्व भाग दर्शाये गये हैं। भग्न स्तंभों पर अनेक सुन्दर अभिकल्पों के दर्शन होते हैं। एक स्तंभ की पहली पंक्ति में स्त्रीमुख, दूसरी में कीर्तिमुख तथा तीसरी में वीणावादक, मजीरावादक तथा हाथों में मदिरा का चषक लिए मद्यपों का भी दृश्य हैं। इन दृश्यों से तत्कालीन कलायें, नृत्य तथा संगीत की स्थिति का ज्ञान होता है। वाद्यों का सामान्य परिचय तो मिलता ही है, तत्कालीन निवासियों के आनंद तथा समृद्ध जीवन की झलक मिलती है। नृत्य एवं संगीत इत्यादि मनोरंजन का साधन था।[22]

एरण क्षेत्र के लोक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाले कलावशेष प्राचीन भारत की वैभवशाली कला परम्परा को उजागर करने में सक्षम है। एरण के गुप्तकालीन मंदिरों के भग्नावशेष एवं उत्खनन में प्राप्त मृण्मूर्तियाँ से ताम्रपाषाण काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक की लोक संस्कृति परिलक्षित हुई है। मानव तथा पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियों, आकृतियों द्वारा आद्यैतिहासिक युग से लेकर मध्यकालीन कला के विविध पक्ष प्रकाश में लाये गये हैं। एरण–क्षेत्र से प्राप्त कलावशेषों के माध्यम से तत्कालीन शिल्पियों, कलाकारों एवं कलामर्मज्ञों की निपुणता, कला–दक्षता, मौलिक सूझबूझ व शास्त्र–मर्मज्ञता का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही उस काल की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक, सांस्कृतिक व अवस्था की जानकारी भी मिलती है।

सामाजिक स्थिति

एरण के लोक जीवन व लोक संस्कृति से सम्बन्धित कलावशेषों द्वारा सामाजिक स्थिति के अनेक पक्ष उजागर हुए हैं।

आद्यैतिहासिक काल की स्त्री–पुरूष की मृण्मूर्तियों के द्वारा उस समय के वस्त्राभूषण की जानकारी मिलती है। कुछ मानवीय, आकृतियाँ अधोवस्त्र धारण किए हुए हैं। स्त्री आकृतियों के गले में एकलड़ी हार, सादा हार या पट्टीदार हार (जिसमें मनके भी अंकित हैं), चक्राकार कर्णाभूषण, भुजबंध, कटिमेखला, पैरों में सादे कड़े अथवा पायल का अंकन है। एक मृण्मूर्तियाँ नग्न हैं। ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियाँ हस्तनिर्मित हैं, कुछ साँचे में ढालकर बनायीं गयीं हैं। ये आकृतियाँ सुडौल हैं। ऐतिहासिक काल में मंदिर की भित्तियों पर उत्कीर्ण आकृतियों से भी तत्कालींन समाज में प्रचलित वस्त्राभूषणों का परिचय मिलता है। गुप्तकालीन मंदिरों के वास्तु खण्डों पर उकेरी गयीं आकृतियों पर भी वस्त्र परिधान व आभूषणों का अंकन हुआ है।

आद्यैतिहासिक काल की तथा ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियों एवं मंदिर के वास्तु खण्डों पर प्रदर्शित आकृतियों द्वारा संकेत मिलता है कि स्त्रियाँ साड़ी, चोली उत्तरीय व पुरूष धोती तथा उत्तरीय धारण करते थे। स्त्रियाँ कटिमेखला व पुरूष आभूषण रूपी कटिमेखला के अतिरिक्त कमरपट्ट भी धारण करते थे। स्त्री व पुरुष दोनों कर्णाभूषण, हार, ग्रैवेयक, कण्ठहार,

कड़ा, कंगन, भुजबंध आदि धारण करते थे। अंगुलियों में मुद्रिका, पैरों में पायल या पादवलय धारण करते थे। परवर्ती गुप्तकाल में आभूषण की अधिकता दृष्टव्य है।

स्त्रियाँ सुन्दर केशसज्जा करतीं थीं। स्त्री व मातृदेवी की आकृतियों में सुन्दर केशविन्यास दृष्टव्य है। कुछ आकृतियों में दोहरे–तिहरे गुच्छक शैली के सामान्य उभारों के माध्यम से सुन्दर केशविन्यास हुआ है। नारी की अन्य मृण्मूर्तियों के केशविन्यास भी कलापूर्ण हैं।

एरण के निवासी अपने मनोरंजन के लिए अनेक साधनों का प्रयोग करते थे। बालकों के क्रीड़ार्थ अनेक मृण्मूर्तियाँ निर्मित की गयीं थीं। कुछ पशु आकृतियाँ ऐसी मिली हैं, जिनमें डोरी पिरोकर बालकगण खींचते होंगे। मिट्टी की छोटी–छोटी गाड़ियाँ इनके क्रीड़ार्थ निर्मित कीं गयीं थी। प्राप्त मृण्मूर्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन शिशुओं तथा वयस्कों के आमोद–प्रमोद के पर्याप्त साधन उपलब्ध थे। नृत्य और संगीत के प्रचलन को प्रमाणित करने वाली आकृतियाँ एरण की कला में दृष्टव्य हैं। यहाँ के निवासी नृत्य संगीत, शतरंज, आखेट और खिलौने के द्वारा अपना मनोरंजन किया करते थे। नृसिंह मंदिर के सामने निर्मित चबूतरे के कलात्मक स्तंभों पर वीणावादक, मंजरीवादक तथा हाथ में चषक लिए मद्यपों के दृश्य से तत्कालीन जीवन में नृत्य तथा संगीत की लोकप्रियता का ज्ञान होता है। उनके तत्कालीन आनंद तथा समृद्धिपूर्ण जीवन की झलक मिलती है। उनके जीवन में मनोरंजन के लिए पर्याप्त स्थान था, वे उत्सवों तथा नृत्य–संगीत के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे।

एरण के निवासी वृषभ, हिरण, सिंह, हाथी, गाय, श्वान, मकर, कच्छप, चिड़ियाँ, हंस, आदि पशु–पक्षियों व जन्तुओं से परिचित थे। एरण से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ तथा मंदिर की भित्तियों पर उकेरीं गई आकृतियों द्वारा यह प्रमाणित है। वृषभ की बहुसंख्यक मृण्मूर्तियों से उसकी उपयोगिता प्रमाणित हुई हैं। हरिण भी आद्यैतिहासिक काल का लोकप्रिय पशु था।

धार्मिक–स्थिति

एरण उत्खनन में प्राप्त मातृदेवी एवं वृषभ की मृण्मूर्तियाँ आद्यैतिहासिक कालीन एरण की धार्मिक दशा का परिचय देतीं हैं। मातृदेवी की उपासना प्रारंभिक काल में की जाती थी। वृषभ की उपासना भी प्रचलित थी। वृषभ की कलात्मक मृण्मूर्तियाँ एरण उत्खनन में प्राप्त हुई हैं। अधिकांश मृण्मूर्तियों के निर्माण का प्रयोजन धार्मिक है। मातृदेवी की मृण्मूर्तियों एवं वृषभ की मृण्मूर्तियों से लोक जीवन में उनकी धार्मिक रूप से लोक जीवन में उनकी महत्ता सिद्ध होती है। इसी तरह एरण की पाषाण मूर्तिकला में नागों, वृक्षों, ऋषिमुनियों, शिव लिंग, कृष्ण लीला दृश्य, सूर्य, अप्सराओं, मिथुन दृश्यों, कल्पवृक्ष, घटपल्लव आदि के अंकन से लोक संस्कृति के विविध पक्षों प्रकाश पड़ता है।

कला–पक्ष

कला के स्वरूप और उसके क्रमिक विकास के अध्ययन हेतु दीर्घ समयावधि एरण ने प्रदान की है। आद्यैतिहासिक युग के लगभग प्रारंभिक चरण से लेकर लगभग 12वीं शताब्दी ईस्वी तक के कलावशेष एरण में उपलब्ध हुए हैं। कला का प्रारंभिक स्वरूप उत्खनन में प्राप्त मृण्मूर्तियों द्वारा परिलक्षित हुआ है। प्रारंभिक मृण्मूर्तियां हस्तनिर्मित तथा बेडौल हैं। विशेषतः मानवीय आकृतियाँ बड़ी भौडीं हैं। मातृदेवी प्रतिमाओं में सिर, नाक और वक्ष के प्रदर्शन हेतु गीली मिट्टी को अंगुलियों से दबाकर रूपांकित किया गया हैं। हाथ, पैर और धड़ भी बेडौल

हैं। इसके विपरीत वृषभ आकृतियों के निर्माण में आश्चर्यजनक दक्षता प्रदर्शित हैं। सुडौल शरीर और शरीर के अनुपात में निर्मित पशुओं के अंग–प्रत्यंग कला के विकसित स्वरूप के परिचायक हैं। ताम्रपाषाणयुगीन वृषभ आकृतियों में प्रदर्शित श्रृंग और ककुद हड़प्पा संस्कृति के वृषभ का स्मरण कराते हैं।

एरण–पुरास्थल पर स्थित पाषाण मूर्तियों का मूर्तिशिल्प तत्कालीन लोक संस्कृति में प्रचलित प्रतिमानों को प्रदर्शित करता है। एरण की पाषाण प्रतिमाओं की कलात्मकता तत्कालीन कलाशैली से समृद्ध है। पाषाण–प्रतिमाओं एवं स्थापत्य खण्डों में अंकित मिथुन दृश्य, युगल दम्पति, अप्सराएँ, नृत्य एवं कृष्ण लीला दृश्य, वानस्पतिक अलंकरण, मांगलिक प्रतीक पशु–पक्षी तत्कालीन लोक, संस्कृति एवं लोक जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थल एरण की मृण्मूर्तियों, मंदिर स्थापत्य एवं स्थापत्य खण्डों पर अंकित मूर्तिशिल्प के माध्यम से तत्कालीन लोक जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं कला पक्ष से सम्बन्धित विविध पक्ष ज्ञात हुए है। जिनसे तत्कालीन लोक संस्कृति पर व्यापक प्रकाश पड़ा है। एरण की लोक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती मृण्मूर्तियाँ एवं वास्तु शिल्प पर अंकित दृश्य भारतीय कला का वैभवशाली पक्ष उजागर करती हैं।

संदर्भ –

1. दुबे नागेश एवं मोहन लाल चढ़ार :– एरण : एक परिचय, अमरकण्टक, 2016, पृष्ठ 4
2. कनिघंम – ए क्वायंस आफ द एन्शियेन्ट इण्डिया, लंदन, 1891, पृष्ठ 99
3. एलन, जे – केटलाग आफ द क्वायंस ऑफ द एन्शियेन्ट इण्डिया, लंदन, 1936, पृष्ठ 96
4. सागर जिला गजेटियर, 1970, पृष्ठ 511
5. चढ़ार, मोहन लाल, एरण एक सांस्कृतिक धरोहर, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 13
6. वाजपेयी, के.डी. एवं पाण्डेय एस.के. – भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योगदान 1967, इलाहाबाद, पृष्ठ 114
7. दुबे, शैली – एरण के कलावशेष, (अप्रकाशित शोध प्रबंध), डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1983, पृष्ठ 1
8. वाजपेयी, कृष्णदत्त – सागर थ्रू द एजेज, पृष्ठ 24
9. एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड–2, पृष्ठ 87, 116
10. बाजपेयी, कृष्णदत्त – पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ 36
11. वही, पृष्ठ 30
12. एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड–2, पृष्ठ 375
13. दुबे, नागेश – एरण की कला, सुप्रिया प्रकाशन, सागर 1997, पृष्ठ 35–36
14. वही, पृष्ठ 36
15. द्विवेदी, चन्द्रलेखा – एरण का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 159
16. वही, पृष्ठ 178
17. दुबे, नागेश – एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ 142

Epigraphical evidences in Vidarbha region (Maharashtra) related to Buddhism.

Nishant Sunil Zodape

Abstract

Inscriptions are one of the most reliable tools of ancient history. Inscriptions are often found on rock or copper plates. The oldest inscription in Vidarbha is inscribe by Ashoka's Mahamatras. It is found in Deotek village in Chandrapur. district. It is containing Ashoka's teachings. Excavations at Pauni and Adam yielded many inscriptions from the Shunga, Satavahana period. A column inscription of Mahakshatrap Rupiamma has been found at Pauni. Ancient inscriptions have been found in the caves of Chandala, Patur Kunghada, Bhuyari etc. The inscriptions in the Nashik caves light on Buddhism in Vidarbha. Which has helped a lot in the study of history, religion and culture of Vidarbha. In this paper details discussion about related to Buddhism of Vidarbha region.

***Keywords:* -**

Archaeology of Buddhism, Vidarbha, Chandala, Cave, Okiyasa, Putasa, Buddhist Inscriptions, Deotek, Bhuyari.

Introduction

Vidarbha is in Central part of India. It is historically important from past to present time. In this region archaeological remains related to Buddhism found in large scale. All type of evidences has been unearthed. Excavated sites, stupa sites, coin, epigraphical evidences, sculpture etc. is related to Buddhism. Pauni, Adam, Bhon and Mansar are stupa sites. These are the excavated sites. Deotek, Chandala, Pauni etc. having epigraphical evidences. Mahurzari mudra may be Buddhist evidence. Vihara sites are Bhadravati, Patur, Chandala, etc., Bhadravati rock-cut only having direct evidence of Buddhism other cave are not direct evidence Buddhism.
Inscription have a unique general significance in the field of archeology. While studying Buddhism in Vidarbha, excavation evidence, ancient coins, inscriptions, copper plates etc. have to be used. Engraving is very important in all these tools. The script, language, personal names, village names, geographical structure, contemporary social, political and cultural conditions are reflected in the ancient Buddhist writings of Vidarbha. Moreover, the information obtained from inscriptions and copper-plates is considered to be the most reliable historical evidence. Evidence before Ashoka's account is not yet available in Vidarbha. The following records give information about Buddhism in Vidarbha.

Environment of Vidarbha

Geographically, Vidarbha lies on the northern part of the Deccan Plateau Unlike the Western Ghats, there are no major hilly areas. The Satpura range lies to the North of Vidarbha

region in Madhya Pradesh. Wainganga is the largest river in Vidarbha with Kanhan and Wardha being the two other big rivers which drain the region.[1](Joglekar, 2017)

Nagpur and Wardha districts are under the Deccan traps and other districts formation is Archean and Gondwana. The Archaean, Dharwars the Cuddappahs and the Vindhyan all are exposed in Chandrapur, Nagpur and Bhandara districts[2] (Dikshit: 1986).

Eastern Maharashtra is therefore virtually a museum of a whole sequence of rocks from the Archean to Cambrian(Dikshit, 1986)

Previous work and review

The excavated sites from Vidarbha for which published data is available are Kaundinyapur, Pavnar, Takalaghat-Khapa, Khairwada, Pauni, Naikund, Mahurjhari, Bhagimahari, Mandhal, Tharsa, Nagara, Arni, Arambha, Adam, Shrikhanda, Pachkheri, Bhawar, Hamlapuri, Mansar, Bramhapuri (district Chandrapur), Bhon (District Buldhana), Kholapur (District Amaravati) and others. As far as presence of Buddhism in Vidarbha is concerned, which is the main focus. Excavations at Pauni (Bhandara district), Adam (Nagpur district), Mansar (Nagpur district) and recently at the site of Bhon (Buldana district) have unearthed the evidence of stupa structures. New discoveries in the form of Buddhist sculptures or rock-cut caves had been reported. These studies notwithstanding, Buddhism in early historic Vidarbha has never been a main object of any detailed study. But few researches are worth mentioning, such as an article S.B. Deo focusing on Hinayana Buddhism in Vidarbha. Dr. Pradeep Meshram also looked into various aspects such as the architecture of Buddhist cave, sculpture, and reading of inscriptions.[3](Sawant, Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric, 2010, p. 57)

Dr. Pradeep Meshram wrote one book in Marathi entitled, "Vidarbha Cha Buddha Dhammacha Itihas". V.V. Mirashi has done some work on the history of Vidarbha region but in his work Similarly, Dr. Chandrashekhar Gupta wrote thesis on "Vidarbha Ka Saskrutik Itihas" and after he published books on some title. Dr. V.N. Meshram book name is "Eye Pavchiye Nagari" and Chandrabhan Narnavare book name is "RamtekParichay" both books written about Pauni and Ramtek. H.L. Kosare written some article and he published research thesis as a book "Prachin Bhartatil Nag". B.J. Gokhale book "Buddhism in Maharashtra" and M.S. More book "Maharshtratil Buddha Dhammacha Itihas" both books written about Maharashtra Buddhism but they ignored Buddhism of Vidarbha region.[4](Meshram, 2007, pp. 3-4)Dr. Reshma Sawant book

[1]Joglekar, J. (2017). A note on Archelian Findings near Nagardhan, Nagpur District, Maharashtra. *Man and Environment XLII*, 114-117.

[2]Dikshit, K. (1986). *Maharshtra in Maps.* Mumbai: Maharshtra State Board for Litetature and Culture.

[3]Sawant, R. (2010). Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric. *Man and Environment XXXV(2)*, 45-65

[4]Meshram, P. (2007). *Vidarbhatil Buddha Dharmacha Itihaas.* Nagpur.: Shri Mangesh Prakashan.

"Historical Archaeology of Vidarbha" wrote about Vidarbha. These books are very useful to understand the history of this region but these narratives in this book is centered mainly on historical archaeology but in her article written about Buddhism of Vidarbha. On basis of these sources Vidarbha region neglected separate study on archaeology and inscription of Buddhism in Vidarbha region.[5](Sawant, Historical Archaeology of Vidarbha, 2012)

1. **Deotek Inscription**

The oldest inscription in Vidarbha is at Deotek near Nagbhid in Chandrapur district. It's inscribed by Ashoka's Dharma Mahamatra and dates back to the 3rd century BC. it contains an old temple in a dilapidated and a large stone slab bearing two epigraphs. Out of two inscriptions, one dates back to the time of Asoka(Mirashi, New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I , 1986, pp. 125-134) and the other to the Vakatakas.

Deotek inscription slab Nagpur Museum (Mirashi, Siddham, 2017)

The inscription dated to Mauryan period is four-line inscription with characters of the early Brahmi alphabet resembling in many cases those of Girnar edicts of Ashoka. The language is early Prakrit, similar to the used in the Girnar edits. The object of the inscription was to record the command of some lord (Sami) prohibiting the capture and slaughter (evidently of some animals in certain seasons as in Asoka 5th pillar edict, or maybe throughout the year) and declaring some punishment for those who dared to disobey it. The third line mentions executive officers (amacha= amatyah) whose duty may have been to enforce these orders. The last line contains the date 14, denoting probably the regnal year in which the record was incised.

In some of his inscriptions (e.g., Rupnath Rock inscription). Asoka orders his officers to get his edicts engraved on stone pillars, rocks and stone slabs throughout the districts in their charge. The Deotek inscription probably is the only instance of its kind. According to V.V. Mirashi (Mirashi, New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I , 1986)

Text - ***1. Sami Antrepayati Chikan (Ba) Ris - Sa (Pa)***

2. Hananto bandhato va tas daso - nidha

3. Amcha

4. Rano Lesho x x x x 10 (+)4 Badhe

Chandala Cave inscription

2. Chandala forest cave Inscriptions

Chandala forest is 55 kms. to the South-West of Nagpur. It is approachable from Pullar. The caves under the present study arc situated in the deep forest at present and are on the hillocks, facing east. The cave bearing the inscriptions is in the most dilapidated condition. Its stone walls

[5]Sawant, R. (2012). *Historical Archaeology of Vidarbha.* Bhopal, New Delhi: Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, Aryan Books International

are lying helter-skelter, braving the vagaries of the nature. Quite a few stones having inscriptions of this cave attract the attention.6(Kale, 1994)

The type of stones is typical basalt of the Deccan trap. After polishing the stone, the matter was inscribed. Seventeen alphabets and two anuswaras are adjusted in the space of eleven inches by twenty-eight inches (27 cm x 70 cm) Each alphabet is the size of cm 7. All these alphabets are meticulously inscribed and very clear. The script is Brahmi without any ornamentation. It is very simple and attractive. There is even space provided between two alphabets. The paleographical features indicate, according to Dr. S.B. Deo, former director of Deccan College Research Institute, that the inscription belongs to third century B.C.

The alphabets measure 5cm in height and are adjusted in the space of 10" (25 cm). The word okiyasa might be the name of a person. It may be of a later period could be stated from the paleographical features as suggested by okiyasa. These alphabets are also in the Brahmi script without ornamentation. Though they are carved on the similar type of polished stone, they are not artistically inscribed, nor are they in one line. Space between two alphabets is also uneven.7(Kale, 1994) *Language of Both Inscriptions is Prakrit*

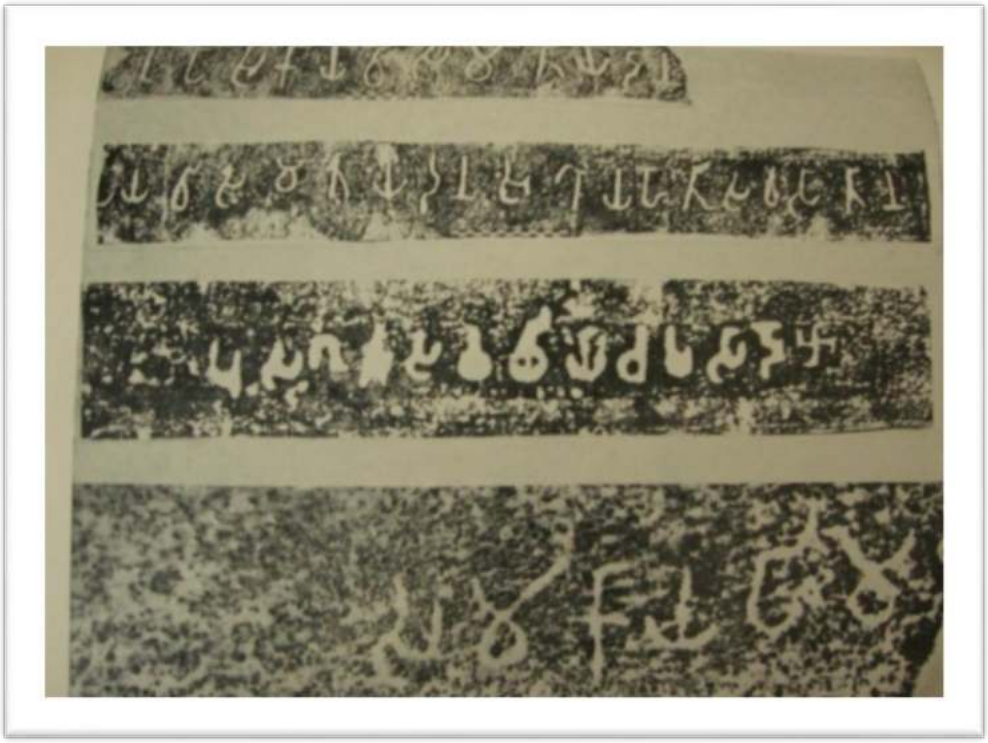

Pauni Inscriptions

[6]Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77

[7]Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77

3. Pauni

Excavation of Jagannath mount Stupa period is 2 century B.C.E to 2 century C.E. A Large number of inscriptions are engraved on stupa railing and other part of stupa. The stone carvings of the stupa and their lists often had to be repaired during this period, as can be seen from the inscriptions and the study of the alphabet. Stupa famous during the Satvahana period before Ashoka

All the inscriptions found in the excavations are related to donations for the stupa. Like Sanchi and Bharhut, these inscriptions are short and concise. Some of these are donated by two or more individuals, while in one Inscription, the donations made by a devotee named 'Vismita' are given for the welfare of all creatures.

all the Inscriptions found in Pauni excavations are donations. Some put up sculptural columns, some put back broken *suchi*, some repaired entrances, or donated top stones. No king's name is mentioned in any of the inscriptions. All the common man's names are mentioned. There are monks, there are nuns, there are worshipers, there are Nagas, there are hiranyakars and grihapatis, some have given alms for their own good, while others have given alms with the generous intention that 'these alms should be useful for the welfare of all souls'.(Meshram, 2007)

4. Pauni Inscription of Bhar King *Bhagadatta*

Bhararayas Bhagadatas Pajugapati

A king named Bhagadatta of Bharashiva dynasty laid a stone inscribed with the footprints of Lord Buddha. The date of this inscription is 1st century CE.(Meshram, 2007)

5. Pauni Chhayastambh inscriptions

At Pauni half feet high piece of the column, an inscription of three-line Mahakshatrap Rupiyamma Chhaya Stambha

in Brahmi script and Prakrit language has been found. From the alphabet formation it must have been in the second century CE.

Text: - 1 ***Sidhan (I) Mah (I) Khattavakumaras***

2. Rupeeammas Chhaya

3. Khambo.

6. Mohadi Mokasa (Kunghada) cave Inscription

cave no. second on the west wall in the first room (north to south). An inscription is carved in a wide space. The inscription consists of two lines, of which only one line can be read. The letters in the second line are obscure. The first line has 13 letters and the second line has three letters. The script of the inscription is Brahmi and must be from the second century. Although the language of the inscription is Sanskrit, the influence of Prakrit prose is felt with intensity.

Text: - ***Shivaswamis Putras Grame Pramai***

Pramai village son of Shivaswami. From this inscription you know the name of Shivaswami. But the name of their son is not known. Also, the name of Pramai village has come to light.(Meshram, 2007)

7. Bhadravati (Bhandak) Inscription

There is no consensus as to the origin of the Bhadravati (Bhandak) inscription of the Bhavadeva Ranakesari. But according to Mahamahopadhyaya V V Mirashi, this inscription is from Bhandak. The language of this inscription is Sanskrit and the script is a kutila Nagari. At the beginning of the inscription, in the *Mangala Charana*, the names 'Jin', 'Tai' and 'Sugat' are used to praise Buddha and also wish to protect all. According to the inscription, King Suryaghosh's beloved son fell down from the roof of the palace and died. Bhavadeva surrendered to Buddha and he renovated the old temples and built Vihar, Vapi, Koop, Udyan, Sabha Bhavan, Chaitya etc. and his fame increased. Etc. information is in this article(Meshram, 2007)

8. Bhuyari Inscription

The script of the inscription is Brahmi of the later southern turn.

Period - After Satavahana and before Vakataka. The end of the second century and the beginning of the third century (approximately 225-250 CE). The inscription is one line and consists of seven letters.

Text - Samay Riddhi Dano.

Meaning - Donation for the development of the place (meeting)

9. Buddha image inscription: Hamalpuri

Inscriptions presented by Hamlapuri Bronze icon carved on all four sides of the pedestal. The pedestal has lion legs.

Language: - The language of the present article is Sanskrit

Script and Time - The script is a slang title and resembles the inscriptions in Aksharvatika Prabhavati Gupta's Pune, Riddhapur copperplate and Ramtek's only Narasimha temple. Considering the other evidence, the date of this article is There is no problem in deciding the 5th century.

Text - ***1) (Siddham) (I) Dey Dharmiyam Shakyami***
2) Ksho Bhadatr (Bhadant) Sanghasenasya (II)
3) Yadatra Punya (Ta) Da (Bha) Vatu
4) Ma (Tapitro) (:) (III)

Translation - This is a wonderful gift given by Bhadant Sanghsen in honor of his parents. (Meshram, 2007)

10. 'Pullar' Inscription

Pullar is a small village on the Bhivapur-Mandhal road in Nagpur district. On the right side of the lake, on the ridge of Shri Ganveer's rice form, on a red sandy rock about 6 feet high and about 1.5 feet wide, 27 cm. Four letters are engraved in the space. Their average height is 8 to 10 cm. **Script** – Brahmi, **Language**– Prakrit, **Period** - 2nd Century BCE

Text - 'Vandalas'

Meaning - Donations made by Vandala.(Kambale, 2013)

Conclusion

Chandala cave inscriptions is very important for reconstruction of past history of Vidarbha. It is the one of the earliest inscriptions of Nagpur district that inscriptions words like *Vandalaka, Putasa, Apala, Okiyasa*. Different scholars given different opinion about the meaning of inscriptions that's I explain above.

One word coming is *Putasa*. Kunghada inscription having *Putasa* word. That means there was a tradition given father name, now also in Vidarbha region same tradition going on after the name of person given father name, so from second century BCE this tradition continuous now also in Vidarbha region. Scholars given date of this inscriptions from third century BCE to first century BCE, but my opinion is period of this inscriptions are second to third century BCE.

Vidarbha is a very important area about study of Buddhism in this area related Buddhism every type of evidence found in this area for example stupa, Vihara, sculpture, archaeological sites, coins, antiquities etc. *Chandada* inscriptions are rock-cut cave inscriptions. 2nd century BCE in that's period Buddhism in his peak all over India having evidence of related to Buddhism. In this period most of caves are Buddhist cave. Maybe Chandala was *Hinyana* cave. S.B. Deo also writes about *Hinyana t*radition in this region because Adam stupa, *Pauni* stupa, Deotek inscriptions, *Kunghada* rock-cut cave inscription, *Pullar* inscription and Bhadravati Buddhist rock-cut cave are near from Chandala. and Puani inscription having same name *Vadalaka.* For the meaning and explanation of Inscriptions, I agree with Dr. S.B and Dr. Pradeep Meshram. One more thing is we can say it is Buddhist cave and inscription because Dr. Chandrashekar Gupta write in article Chandala was in trade route. So, most of the Buddhist cave and stupa was in ancient trade route. It is possible to it was a Buddhist cave made for the monk.

Swami's (Ashoka's) command that no one should violence animals. It was inscribed in the 14th year of his coronation. Chikamburi is mentioned in the present inscriptions. This place is Chikmara near present day Deotek.

May be Buddhism inter in Vidarbha region in time of Buddha because Pauni Stupa having the evidence of pre-Mauryan period evidences and very developed from of stupa and Vihara. In this region Buddhism survive more than 1000 year. Hinyana and Mahayana Buddhism was survived here. Buddhism popular in Mahurzari, Mandhal, Ramtek, Bhadrvati, Bhon, Pauni, Patur and Salburdi area.

Buddhism was speared in large scale in Satvahana period. Vidarbha was development social, economically, and educationally. Trade also increases. Adam having evidence of Indo-Roman trade. Educational institute developed in Vakataka period

References

Chaudhary, P. M. (2010). Deotek Inscription: A Re-examination, studies in Indian Epigraphy vol-XXXV. *Purva Prakashan*.

D., D. C. (1971). *Geography of Maharashtra.* New Delhi: Natinal Book Trust, India.

Deo, S. (1972). Mandhaljavadil Lekhyukta Prachin Lene. *Vidarbha Sanshodhan Mandal Varshika 1971*, 108-111.

Deo, S. (1972-73, 6). New Evidence of Hinayana Buddhism in Vidarbha. *Puratattva*, 84.
Deo, S. (1973). New Evidence of Hinayana Buddhism in Vidarbha. *Puratattva 1972-73*, 84-86.
Deotare, B. (2005). Discovery of structural Stupa at Bhon District Buldhana, Maharashtra. *Puratattva (Pravarpur Special), 3*, 1-16.
Dikshit, K. (1986). *Maharshtra in Maps.* Mumbai: Maharshtra State Board for Litetature and Culture.
Gupta, C. (1971). Chandala Guhakkha. *Dhammadipa, Nagpur Vol.-7*, 49-55.
Gupta, C. (1976). Chandala Rock Inscriptions. *Journal Of Epigraphical Society of India vol.- 2 Studies in Indian Epigraphy*, 116.
Joglekar, J. (2017). A note on Archelian Findings near Nagardhan, Nagpur District, Maharashtra. *Man and Environment XLII*, 114-117.
Joshi, D. S. (1972). *Pauni Excavation (1969-70).* Nagpur: Nagpur University Vidyapeeth Mudranalay.
Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77.
Kambale, V. (2013). *Vidarbhatil Boudh Abhilekh.* Nagpur: BSPK Publication.
Kane, P. (1965). Ancient Geography and Civilization of Maharashtra . *Journal of Bombay of Royal Asiatic Society Vol. XXIV (1914-17)*, 621.
Meshram, P. (2007). *Vidarbhatil Buddha Dharmacha Itihaas.* Nagpur.: Shri Mangesh Prakashan.
Mirashi, V. (1986). *New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I .* Nagpur: Vidarbha Sandhodhan Mandal.
Mirashi, V. (2017, November 6). *Siddham*. Retrieved from siddham the asia inscriptions database: https://siddham.network/palce/deotek/
Nath, A. (1989). Archaeology of the Wardha Wainganga Divide. *Puratattava 20*, 97.
Sawant, R. (2010). Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric. *Man and Environment XXXV(2)*, 45-65.
Sawant, R. (2011). Buddhism in Regional Perspective. *Monasteries Shrines & Society, Manak Publication, New Delhi*, 84-111.
Sawant, R. (2012). *Historical Archaeology of Vidarbha.* Bhopal, New Delhi: Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, Aryan Books International.
Sharma, J. J. (2005). Mansar Excavation 1998-2004: Discovery of Pravarapur. *Puramanthan (Pravarapur Special) 3*, 1-16.
Vaidya, M. S. (2016 Issn No : 0474-7269 Volume Lv No). Newly Discovered Terracotta Figurines from Recent Exploration in Nagpur District, Vidarbha. *The Odisha Historical Research Journal Odisha State Museum, Bhubaneswar* , 47.

खारून नदी घाटी के नवअन्वेषित पुरास्थल सती स्तम्भ एवं योद्धा प्रतिमाओं के विशेष संदर्भ में

डॉ. नितेश कुमार मिश्र

श्री ढालसिंह देवांगन

भाग्यश्री दीवान

सती प्रथा का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से ही देखा गया है। सती प्रथा कुछ पुरातन समुदाय विशेष में प्रचलित एक ऐसी धार्मिक प्रथा थी, जिसमें किसी पुरुष के मृत्यु उपरान्त उनकी पत्नी अपने पति के अंतिम संस्कार के दौरान उनकी चिता में प्रविष्ट होकर आत्मदाह कर लेती थी जो सम्भवतः स्वेक्छापूर्ण होता था। साहित्यिक एवम् पुरातात्विक स्त्रोतों के माध्यम से इस बात की पुष्टि होती है।

सती प्रथा का प्रारंभ माँ सती जो कि राजा दक्ष् की पुत्री थी, के समय से माना जाता है। मान्यताओं के अनुसार जब सती अपने पिता द्वारा अपने पति शिव के अपमान करने पर नाराज होकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है एवम् आत्मदाह कर लेती है।सम्भवतः इस घटना ने इस प्रथा को जन्म दिया होगा किन्तु निश्चित तौर पर यह कहना उचित नहीं होगा क्योकि इसमें शिव जीवित रहते हैं और सती होने के लिये पति की मृत्यु आवश्यक मानी गई है। रामायण एवम् महाभारत में भी इस प्रकार की घटना का उल्लेख मिलता है। रामायण काल में रावण के पुत्र मेघनाथ की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी सुलोचना के सती होने के प्रमाण मिलते हैं एवं महाभारत कालीन कुरु वंशी पांडु के मृत्यु के उपरांत उनकी छोटी रानी माद्री ने अपने पति के साथ अग्नि में समाहित हो गयी थी।

अभिलेखों में सती होने की सर्वप्रथम सूचना गुप्त कालीन अभिलेख भानुगुप्त के "एरण अभिलेख" से मिलता है।[1] इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि युद्ध में गोपराज की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी सती हुई थी। छत्तीसगढ़ अंचल में मल्हार, सेमरसल (बिलासपुर) एवं आतुरगाँव (कांकेर) से अभिलिखित स्मृति-प्रस्तर के प्रमाण मिलते है[2] किन्तु इनमें दुर्ग जिले के छातागढ़ (मोहलई) से प्राप्त प्रस्तर लेख महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। इस लेख में प्रथम एवम् द्वितीय सदी ई की ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है।[3] इस अभिलेख में निशा एवम् समिनिका नामक गृहणी के पंचत्त्व में विलीन होने की सूचना मिलती है।

मध्यकाल एवम् उत्तर मध्यकाल में बाह्य आक्रमणों की सर्वाधिक सूचना मिलती है इस दौरान पुरुषों की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी अपनी अस्मिता व आत्मसम्मान को महत्त्वपूर्ण समझते हुए भी अपने पति की चिता में खुद को झोंक देती थी अथवा विवशतावश आत्मदाह को उचित समझती थी। किन्तु कालांतर में इस प्रथा में कई कुरीतियों का समावेश हुआ एवं इसने एक कुप्रथा का रूप धारण कर लिया। सती स्तम्भ, सती चौरा एवम् योद्धाओ की प्रतिमा यें छत्तीसगढ़ राज्य के अनेक पुरास्थलों से प्राप्त हुए है, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रथा का चलन या प्रभाव इस अंचल में भी रहा होगा। इन सही स्तंभों को मुख्य रुप से गाँव के मुख्य चौराहे, तालाब के किनारे एवं नदी के तटवर्ती भू-भागों में गडाया जाता था। छत्तीसगढ़ राज्य के प्रमुख पुरास्थल जैसे राजिम[4], भोरमदेव[5], तरपोंगा[6],देवबलोदाआदि से सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। बस्तर क्षेत्र के विभिन्न स्थलों जैसे बड़ेडोंगर, छोटेडोंगर, बांगोली, तीर्थगढ, चपका, टेमरा से भी सती स्तंभों की प्राप्ति हुई है।[7]

छत्तीसगढ़ में प्रवाहित होने वाली नदियों में खारून नदी का विशेष स्थान है। इस नदी के नवीन अन्वेषण के फलस्वरुप इनके तटवर्ती भू-भागों से शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, बौद्ध एवम् सौर संप्रदाय की प्रतिमाओं के साथ ही अत्यधिक मात्रा में सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थलों से प्रकाश में आये सती स्तंभ एवम् योद्धा की प्रतिमाओं की जानकारी देना है।

कलात्मक दृष्टि से सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं का निर्माण

सती स्तंभ

सती स्तंभ का निर्माण चार-पाँच फुट ऊँचे एकाश्म एवम् चौकोर प्रस्तर पर किया जाता था।[8] यह समान्यतः तीन सूचियों में विभाजित होती थी शीर्ष, मध्य एवम् मूल तथा कहीं-कहीं चार या पाँच सूचियों में मिलते हैं। इस स्तंभ के शीर्ष भाग पर शिवलिंग, स्त्री का उठा हुआ हाथ, हाथ की कलाई में सौभाग्य चिन्ह चूड़ी एवम् कंगन तथा हाथ के पंजे खुले हुए होते हैं। चाँद एवम् सूरज प्रत्येक स्तंभ में बने हुए होते हैं। चाँद एवम् सूरज एक निश्चित तिथि एवम् काल को दर्शाते होंगे जिस समय यह घटना घटी हो। जिन व्यक्तियों की स्मृति में यह स्तंभ बनाया जाता था उनकी आकृति मध्य में बनाई जाती थी। इस कारण इसे मृतक स्मृति स्तंभ या छाया स्तंभभी कहा जाता है। मध्य भाग में पुरुष के साथ उसकी पत्नी को उनके समीप पालकी, राजसिंहासन, सीड़ी एवम् झूले में बैठे तथा शिवलिंग की पूजा करते दिखाये जाते हैं। मूलतः स्तंभ का निचला भाग सादा होता है किन्तु कई स्तंभ में घोड़े, हाथी, कुत्ते जैसे पशुओं का चित्रण मिलता है।

योद्धा की प्रतिमा

योद्धाओ की प्रतिमाओं के निर्माण का प्रयोजन भी लगभग एक ही था। इन प्रतिमाओ में योद्धा को घोड़े पर बैठे या स्वतंत्र रूप में अपनी पत्नी के समीप दिखाया जाता है। इन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये युद्ध के लिये तत्पर हैं, इनके हाथों में तलवार एवम् ढाल इस बात की पुष्टि करते हैं। इन वीर योद्धाओं की बनी प्रतिमओं को HERO STONE भी कहते है।[9]

खारून नदी घाटी के प्रमुख पुरास्थल -

निमोरा (21ñ20′52″N 81ñ38′19″ E)

ग्राम निमोरा खारून नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के रायपुर तहसील के अंतर्गत आता है। यह रायपुर से 14 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इस गांव के पटेल पारा के चन्डी देवी मन्दिर में एक सती स्तंभ पूजित अवस्था में रखा हुआ है। यह स्तंभ पूर्णतः सुरक्षित है। इस स्तंभ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। ऊपरी भाग में तीन हाथ के पंजो को देखा जा सकता है। मध्य भाग में एक स्त्री एवं पुरुष को पद्मासन मुद्रा में हाथ जोड़े शिवलिंग की पूजा करते दिखाया गया है। तीन हाथ के पंजों एवं तीन स्त्री के होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस पुरुष की तीन पत्नी रही होगीं। मूर्ति में चंदन का लेप लगा दिया गया है, इस कारण इसके कलात्मक पक्ष को नहीं देखा जा सकता है।

मुर्रा (21ñ27′10″N81ñ37′49″ E)

मुर्रा खारून नदी के तटवर्ती ग्राम में से है। यह नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के रायपुर तहसील के अंतर्गत आता है। यह रायपुर से 26 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। इस गांव के मंडल पारा एवम्

गौटियापारा चौक में एक-एक चबुतरा बना हुआ है जिसमें अन्य मूर्तियों के साथ एक-एक सती-स्तंभ रखाहुआ है। यहां से प्राप्त दोनों स्तंभ टूटे हुए हैं तथा इनमें एक स्त्री एवम् पुरुष को अंजलिबद्ध मुद्रा में पद्मासन पर बैठे देखा जा सकता है । एक स्तंभ में स्त्री का उठा हुआ हाथ तथा खुले हुए पंजे स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं । (58से.मी.X40से.मी.X24से.मी.)।

जुलुम(21ñ07′23″N 81ñ36′59″ E)

जुलुम खारुन नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के अभनपुर तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 20 कि.मी. तथा अभनपुर तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के शीतला मंदिर के पास एक चौरे में एक सती-स्तम्भ के टूटे हुये भाग को पूजा हेतु रखा गया है। इसमें एक स्त्री एवं पुरुष को अंजलि बद्ध मुद्रा में देखा जा सकता है।

ढ़ाबा (21ñ26′43″N 81ñ37′51″ E)

ढ़ाबा बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत एक गाँव है। यह खारुन नदी का तट्वर्ती ग्राम एवं नदी के बायें तट पर स्थित है। यह रायपुर से 27 कि.मी.की दूरी पर स्थित है। गाँव के बीच में एक चौरे पर दो योद्धा प्रतिमायें एवं एक सती स्तंभ रखा हुआ है। प्रथम योद्धा प्रतिमा एक घोड़े पर बैठी हुई है इनके साथ एक शिशु को भी घोड़े के ऊपर बैठा देखा जा सकता है एवं दूसरी प्रतिमा में योद्धा को ढाल एवं तलवार लिए देखा जा सकता है। सती स्तंभ तीन सूचियों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में एक हाथ के पंजे के साथ सूर्य एवं चन्द्रमा प्रदर्शित हैं। द्वितीय खण्ड में एक स्त्री एवं पुरुष को हाथ जोड़े दर्शाया गया है। तीसरे खण्ड में एक पुरुष को शिवलिंग की पूजा करतें देखा जा सकता है।

खुड़मुड़ी (21ñ23′38″N 81ñ37′22″ E)

खुड़मुड़ी बेमेतरा जिले के बेरला तहसील का एक गाँव है। यह खारुन नदी का तट्वर्ती ग्राम है एवं नदी के बायें तट पर स्थित है। रायपुर से इसकी दूरी लगभग 25 कि.मी. है। इस गाँव के बस्ती पारा शक्ति चौक में शक्ति मंदिर के अंदर तीन प्राचीन मूर्तियाँ रखी हुई है। सभी मूर्ति भग्न अवस्था में है। इनमें से दो योद्धा प्रतिमा है। पहली प्रतिमा में एक योद्धा एवं उसके दोनों पाश्र्व में एक-एक स्त्री खड़ी है। सम्भवतः ये दोनों उनकी पत्नी है। दूसरी प्रतिमा में केवल योद्धा को ही अकेले दर्शाया गया है। सभी प्रतिमाओं में लेप लगा दिया गया है।

अछोली (21ñ34′11″N 81ñ37′49″ E)

अछोली खारुन नदी के बायें तट से लगा हुआ ग्राम है। यह शिवनाथ एवं खारुन नदी के दोआब में स्थित है । यह बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 35 कि.मी. तथा बेरला तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के राधाकृष्ण मंदिर के पास एक चौरे पर चार छोटी-छोटी प्रतिमाएँ रखी हुई है इनमें से तीन योद्धा-प्रतिमायें है। ग्रामीणों द्वारा इन सभी प्रतिमाओं में बन्दन का लेप लगा दिया गया है जिसके कारण ये स्पष्ट नहीं दिख रहे हैं।

जमघट(डीह) (21ñ32′53″N 81ñ39′33″ E)

जमघट (डीह) खारुन नदी के बायें तट से लगा हुआ ग्राम है। यह शिवनाथ एवं खारुन नदी के दोआब में स्थित है। यह बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 37 कि.मी. तथा बेरला तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गांव के हनुमान मंदिर में एक स्थापत्य खण्ड के साथ एक योद्धा की मूर्ति रखी हुई है।

खुड़मुड़ी(21ñ06′41″N 81ñ33′53″ E)

खुड़मुड़ी गाँव खारुन नदी के बायी तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत आता है। यह दुर्ग से पूर्व दिशा की ओर 36 कि.मी.की दूरी पर, पाटन तहसील से 11 कि.मी. की दूरी पर एवं राजधानी रायपुर से लगभग 20 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इस गाँव के सर्वेक्षण के दौरान पाँच योद्धा प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इसमें से चार प्रतिमायें गाँव के मुख्य तालाब के तट पर खुले में रखी गई है जिनमें से तीन प्रतिमायें को एक चौरे पर एवं चौथी मूर्ति इनके सामने कुछ ही दूरी पर रखी गई है। पाँचवी एवं सबसे छोटी प्रतिमा तालाब के किनारे निर्मित एक शिव मंदिर में रखी गई है। इन सभी मूर्तियों में अत्यधिक रंग-रोगन, बंदन का लेप किया गया है साथ ही इनका क्षरण हो गया है। गाँव वाले इन मूर्तियों को अखरा देवता अर्थात युद्ध में जाते हुए योद्धा कहते हैं। (चित्र फलक क्र.8,9)

चौरे में रखी प्रथम प्रतिमा युद्ध के लिए तत्पर दिखाई दे रही है। इनके दाहिने हाथ में एक तलवार एवं बाये हाथ में ढ़ाल स्पष्ट दिखाई देते हैं। (34से.मी.X27से.मी.X25से.मी.) चौरे में रखी द्वितीय प्रतिमा को घोड़े की पीठ पर बैठा देखा जा सकता है। इस प्रतिमा के साथ एक स्त्री को दर्शाया गया है सम्भवतः ये इनकी पत्नी रही होगी। (55से.मी.X36से.मी.X20से.मी.) चौरे में रखी तृतीय प्रतिमा प्रथम प्रतिमा की भाँति युद्ध के लिए तत्पर एवं इससे अधिक चलायमान दिखाई दे रही है। इनके दाहिने हाथ में एक तलवार एवं बाये हाथ में ढ़ाल स्पष्ट दिखाई देते हैं। (36से.मी.X28से.मी.X18से.मी.) चतुर्थ प्रतिमा को भी घोड़े की पीठ पर बैठा देखा जा सकता है। इस प्रतिमा के साथ एक स्त्री को दर्शाया गया है जो सम्भवतः इनकी पत्नी रही होगी। (39से.मी.X46से.मी.X18से.मी.) पाँचवी मूर्ति बहुत छोटी एवं खड़ी हुई है।

केसरा (20ñ59′05″N 81ñ36′42″ E)

केसरा गाँव खारुन नदी तटवर्ती ग्राम है ये खारुन नदी के बाऐं तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत एक ग्राम पंचायत है। यह रायपुर जिला मुख्यालय से 32 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के कुटीपारा शिव चौक के पास एक प्राचीन शिव मंदिर है इस मंदिर के परिसर में एक योद्धा प्रतिमा रखी हुई है।

बोरेन्डा (20ñ57′22″N 81ñ35′58″ E)

बोरेन्डा खारुन नदी से लगा हुआ गाँव है। ये खारुन नदी के बाऐं तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत एक ग्राम पंचायत है। इस गाँव के अलग-अलग हिस्सेमें तीन योद्धा प्रतिमा रखी हुई है। ग्रामीण इसे ठाकुर देव व हनुमान मानते है। सभी प्रतिमा भग्न अवस्था में है।

कचना (20ñ59′42″N 81ñ38′10″ E)

कचना खारुन नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह धमतरी जिले के कुरुद तहसील के अंर्तगत आता है। जिला मुख्यालय धमतरी से इसकी दूरी 41 कि.मी. तथा कुरुद तहसील से 15 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के ठाकुर देव चौक में एक योद्धा की टूटी हुई प्रतिमा रखी हुई है। यह लगभग एक फिट की होगी। इनके आयुध ढाल एवं तलवार स्पष्ट दिखाई दे रहे है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गुप्त,परमेश्वरी लाल,"प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख"विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,2013, पृ.क्र. 204
2. जैन बालचन्द्र,"उत्कीर्ण लेख" संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व रायपुर,छत्तीसगढ, पृ.क्र. 182, 2005.
3. उपर्युक्त पृ.क्र. 182

4. ठाकुर,विष्णु सिंह, ″राजिम″ मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ,1972 भोपाल, पृ50 .क्र.
5. शर्मा, सीताराम, ″भोरमदेव″ मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी,1989 , भोपाल,
6. पृ.क्र. 44- 45
7. Bajpai,S.K. And Verma,K.P.,″State Protected Monuments of Chhattisgarh at a Glance″ Directorateof Culture And Archaeology Government Of Chhattisgarh, Raipur, 2015, P. 15
8. झा, विवेक दत्त, ″बस्तर का मूर्तिशिल्प″, अभ्युदय प्रकाशन, भोपाल, 1989 , पृ.क्र. 114
9. Ghosh, A., “An Encyclopaedia of Indian Archaeology Volume two” Munshiram Manoharlal Publisher Pvt Ltd, 1889,pp.269-270
10. Ibid pp. 269

विभिन्न स्वरूप की अद्भुत प्राचीन हनुमान प्रतिमायें

डॉ. प्रसन्न सहारे

छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोसल) प्रारंभिक काल से आदिमानव की शरणस्थली रहा है। छत्तीसगढ़ भारत के हृदय स्थल में स्थित है। छत्तीसगढ़ का प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। छत्तीसगढ़ में लगभग 7वीं शताब्दी ई. से लेकर अद्यतन निर्मित होने वाले मंदिरों में हनुमान की प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं जो विभिन्न कालों की है। छत्तीसगढ़ में अभी तक जहाँ से स्थापत्य में हनुमान की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं उसकी जानकारी निम्नानुसार है :- मल्हार, राजिम, बारसूर, महेशपुर, डीपाडीह, पचराही, घटियारी, खरोद, फिंगेश्वर, भोरमदेव, रमईपाट, दूधाधारी मंदिर, नागरीदास मंदिर रायपुर आदि। उक्त प्राचीन स्थल विभिन्न राजाओं के काल में निर्मित किये गये हैं तथा हनुमान की प्रतिमाएं मंदिरों के जंघा, द्वार शाखाएं तथा मण्डप के स्तंभों में उत्कीर्ण प्राप्त हुई हैं जो 6वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक की है। वर्तमान में ज्ञात लक्ष्मणेश्वर मंदिर खरोद के मण्डप के स्तंभ में प्राप्त हनुमान की प्रतिमा प्राचीनतम है जो सोमवंशी काल की लगभग 6-7वीं शताब्दी ईकी है। .तत्पश्चात् कल्चुरी, फणिनागवंशी, सोमवंशी, त्रिपुरी कल्चुरी, मराठाकाल तथा आधुनिक काल में निर्मित प्रतिमायें भी निरंतर मिलती हैं। प्राप्त आधुनिक प्रतिमाएं पूर्णरूपेण पूजित होने के कारण सिंदूर तथा वंदन से ढंकी होने के कारण उनके वास्तविक काल की पहचान नहीं हो पाती है।[1]

भोरमदेव क्षेत्र तथा उसके आसपास का भू-भाग प्राचीन काल से कला के विकास में इन क्षेत्रों की महती भूमिका रही है। यही कारण है कि छत्तीसगढ़ के इस क्षेत्र प्राचीन कालीन कला के अनेक स्थलों, यथा- भोरमदेव, मड़वा महल, छेरकी महल, कामठी, सहसपुर, पचराही, बकेला, बोरिया, पण्डरिया, पाण्डातराई, डोंगरिया, कवर्धा, नवागाँव, दशरंगपुर आदि में अद्यपर्यन्त पर्याप्त मात्रा में कलाराशि के दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र में रतनपुर के कलचुरियों के पश्चात् फणीनागवंश के शासकों ने सम्भवतः स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इनके राजनैतिक सुस्थिरता तथा सम्पन्नता के कारण ही भोरमदेव, मड़वा महल, छेरकी महल, पचराही जैसे कलात्मक मंदिरों का निर्माण सम्भव हो सका। उपरोक्त कला केन्द्रों में से भोरमदेव, पचराही, बिरोडा, कामठी तथा दशरंगपुर से विभिन्न स्वरूप के प्राचीन हनुमान प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। ये प्रतिमाएँ भारतीय संस्कृति एवं कला की उत्कृष्टता की परिचायक हैं। इन प्रतिमाओं के मिलने से हनुमान के विभिन्न प्राचीन स्वरूप पर नवीन प्रकाश पड़ने की सम्भावना के साथ-साथ हनुमान के विभिन्न गुणों यथा –साहस वीरता, बल-बुद्धि, भक्ति, संगीत विशारद आदि भी प्रदर्शित हैं। उपरोक्त प्रतिमाओं का प्रतिमा शास्त्रीय विवेचन ही इस शोध-आलेख का प्रतिपाद्य विषय है

1. पचराही से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - उत्तर कलचुरि काल में भूरे प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा की परिमाप 13X5 इंच (लग गभग) है। प्रत्यालीढ़ मुद्रा में द्विभुजी हनुमान के दायें हाथ में गदा तथा बायां हाथ पूर्णतः खंडित (जिस पर संभवतः संजीवनी पर्वत रहा होगा) है। वे किरीट किये मुकुट, कुंडल , द्विलड़ी मेखला, कौपीन, कड़ा आदि धारण किये हुए है। मेखला से लटकती हुई सामने की ओर घंटीकएँ हैं। उनकी पूँछ पीछे लटकती हुई प्रदर्शित है।

2. बिरोडा से प्राप्त हनुमान प्रतिमा- कलचुरि काल में काले प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा की परिमाप 40x24x10इंच (लगभग) है। द्विभुजी हनुमान अपने दोनों हाथ से सीना चीरते हुए प्रदर्शित हैं। वे मुकुट,कड़ा आदि से विभूषित हैं। हनुमान का मुख कपिमुख तथा विशाल देह वाले है। उनकी बड़ी पूँछ दायें परिकर में ऊपर की ओर सिर तक उठी हुई प्रदर्शित है सम्प्रति यह प्रतिमा गाँव में पीपल पेड़ के नीचे एक छोटे मंदिर के गर्भगृह में अधिष्ठित है।

3. भोरमदेव शिव मंदिर से प्राप्त हनुमान प्रतिमा -कलचुरि काल में काले प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा फलक की परिमाप 24x18 इंच है। द्विभुजी स्थानक हनुमान नृत्यरत है जो मंदिर के दक्षिण दिशा की बाह्य भित्ति के बीच के आले में अधिष्ठित है।[2]हनुमान का दाहिना हाथ सिर के समीप ऊपर की ओर उठा हुआ है तथा बायां हाथ नृत्य मुद्रा (सिंहकर्ण मुद्रा) में प्रदर्शित । बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति की पीठ पर अवस्थित है। पूँछ सिर के पृष्ठभाग से होती हुई बायीं ओर लटकी है।गले में भारी माला घुटनों तक विस्तारित है कमर पर कटार बंधी हुई है। सिर पर मुकुट, ताँटंक,त्रिलड़ीय स्तनहार, उरूजाल, कौपीन, कटिबंध तथा पैरों में कड़े दृष्टव्य है। भंगिमा युक्त इनका वीरभाव दर्शनीय है हनुमान कटिभंग की स्थिति में है। नृत्य की मुद्रा "आमद-मुद्रा" कही जा सकती है। [3]तदनुसार बायां आमद की स्थिति में तथा दाहिना हाथ किरीट मुकुट शीर्षभाग को स्पर्श करता हुआ दिखाया गया है। यह प्रतिमा हनुमान की दुर्लभ प्रतिमा है, क्योंकि हनुमान को नृत्य करते हुए बहुत कम प्रदर्शित किया जाता है।

4. कामठी से प्राप्त हनुमान प्रतिमा- उत्तर कलचुरि काल में भूरे प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा फलक की परिमाप 52x22x12 इंच है। स्थानक द्विभुजी हनुमान कटिभंग स्थिति में प्रदर्शित हैं। उनका बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति की पीठ पर अवस्थित है। पूँछ सिर के पृष्ठ भाग से होता हुई बायीं ओर लटका हुई है हनुमान के दायें हाँथ में गदा तथा बाएं हाथ वक्षःस्थल अवस्थित है।

5. पचराही (कंकाली टीला) से प्राप्त हनुमान प्रतिमा -12वीं शती ईसामें काले रंग के चिकने ओपदार पत्थर से निर्मित इस प्रतिमा की माप 36x21 इंच है। स्थानक हनुमान कटिभंग मुद्रा में स्थित हैं, जो सम्प्रति उत्खनित स्थल पचराही नवनिर्मित एक छोटे से मंदिर में अधिष्ठित है। हनुमान का बांया हाथ आमद मुद्रा में तथा दाहिना हाथ शीर्ष भाग को स्पर्श कर करता हुआ दिखाया गया है। प्रतिमा करण्ड मुकुट, कर्णकुण्डल, एकावली हार, अंगद, कड़ा, कटिमेखला की लटकती हुई घंटीकायें दृष्टव्य हैं) से विभूषित हैं। उनका दाहिना पैर पादपीठ पर अवस्थित है तथा बायां पैर ऊपर उठा हुआ राक्षस के ढाल पर टिका हुआ है। यहाँ प्रहाररत दृश्य प्रदर्शित किया गया है। यह हनुमान की दुर्लभ प्रतिमा है, क्योंकि हनुमान को नृत्य करते हुए बहुत कम प्रदर्शित किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे हनुमान वीरता के ही प्रतीक नहीं बल्कि नृत्य और संगीत के भी विशारद हैं। प्रतिमा की भाव प्रवणता अतुलनीय है वर्तमान में प्रतिमा को बंदन रंग से रंग दिया गया है

6. भोरमदेव मंदिर प्रांगण से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - भोरमदेव शिव मंदिरप्रांगणके दक्षिणदिशा में नीम वृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर द्विभुजी हनुमान की स्थानक प्रतिम अधिष्ठित है। प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा का माप 42 x 18 इंच है। प्रतिमा का दाहिना हाथ सिर के पीछे की ओर ऊपर उठा हुआ है और बायां हाथ कमर से बंधी हुई कटार पर अवस्थित

है। प्रतिमा मुकुट, एकावली कण्ठहार, कटिमेखला आदि से विभूषित है। उनका बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति के ऊपर अवस्थित है। इनका भंगिमा युक्त वीर भाव दर्शनीय है।

7. पुत की मंदिर, दशरंगपुर से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - उत्तर कलचुरि काल में निर्मित इस प्रतिमा की माप 45x23 इंच है द्विभुजी हनुमान न स्थानक मुद्रा में स्थित हैं। हनुमान के बायें हाथ में गदा तथा दायां हाथ अभयमुद्रा में है। वे मुकुट, कंकण तथा कड़ा धारण किये हुए हैं। हनुमान का बायां पैर ऊपर उठा हुआ है, जो राक्षस के ढाल पर अवस्थित है। उनकी लम्बी पूँछ ऊपर की ओर उठी हुई सिर के बायीं ओर प्रदर्शित है। सम्प्रति यह प्रतिमा मराठा कालीन शिवमंदिर (पुतकी मंदिर) के मण्डप में अधिष्ठित है।

सन्दर्भ सूची -1.डॉकामता प्रसाद वर्मा. का लेख, दक्षिण कोशल टुडे – छत्तीसगढ़ के स्थापत्य में हनुमान

2. शर्मा, सीताराम, भोरमदेव क्षेत्र - पश्चिम-दक्षिण कोसल की कला, पृ.41

3. रागिनी देवी, डाँस डायलेक्ट्स ऑफ़ इण्डिया, पृ.168

4. जी.एल. रायकवार, छत्तीसगढ़ की मूर्तिकला में हनुमान, बिहनिया, अंक -17, पृष्ठ 27-31; संस्कृति विभाग, छत्तीसगढ़ शासन,रायपुर

पचराही से प्राप्त

बिरोडा से प्राप्त

भोरमदेव शिव मंदिर से प्राप्त

कामठी से प्राप्त

पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ

प्रशांत कुमार चौरे

डा. मंगलानंद झा

प्राकृतिक संपदा की दृष्टि से छत्तीसगढ़ जितना ऊर्जावान और समृद्धशाली है, उतना ही भू-तात्विक दृष्टिकोण से अत्यन्त प्राच्य भी है। प्राचीन काल में कोसल, दक्षिण कोसल, विंध्य पाद, महाकोसल, महाकांतर, दंडकारण्य इत्यादि नामों से अभिज्ञात यह प्रदेश अपने प्रारंभिक अवस्था से ही समसामयिक, सामाजिक, कलात्मक तथा तत्जनित ऐतिहासिक परिपेक्ष्य का सृजनात्मक साक्षी रहा है। आर्य तथा अनार्य दो भिन्न संस्कृतियों को समन्वित रूप से पोषित करने वाली यह भूमि अन्यान्य कलाओं के अंगो-उपांगोंको संरक्षण भी प्रदान करती रही है। फलतः छत्तीसगढ़ में कला के विभिन्न स्वरूपों का पल्लवन एवं विकास होता रहा। भारतीय कला का विशुद्ध धरोहर हमें इस क्षेत्र की कला अवशेषों में दृश्यमान होती है, यहाँ का कला वैभव विश्व परिदृश्य में ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अतुलनीय है। प्रारंभ से ही **कला** प्रयोजनमूलक रहा है, मानव ने अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उसे आधिभौतिक रूप प्रदान किया जिसके मुख्य दो उद्देश्य रहे हैं -एक अतीत को संरक्षित करना एवं दो अव्यक्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना। अस्तु मूर्तिकला का उद्भव इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित माना जा सकता है। भारतीय मूर्तिकला में कला परंपरा का निर्वाह करते हुए ऐतिहासिक, धार्मिक तथा अलंकरण परक प्रतिमाओं का प्रभूत मात्रा में निर्माण किया गया जिसका अवलंबन अपरिमित रूप से छत्तीसगढ़ के शिल्पकारों ने भी किया।

छत्तीसगढ़ में प्रतिमा निर्माण की परंपरा अत्यंत प्राचीन हैं। बूढ़ीखार (मल्हार) से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। यहाँ कला के आदर्श रूप में धार्मिक प्रतिमाएं बाहुल्य रूप से निर्मित की गई, वही धर्मेत्तर (स्मारकीय) प्रतिमाएं बहुतायात तथा प्रचुर मात्रा में उकेरी गई। भारतीय इतिहास का मध्यकालीन परिपेक्ष्य राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा, आत्मगौरव, आक्रमण-प्रत्याक्रमण, विद्रोह अशांति और अनिश्चितता के दृश्यों का आगार माना जा सकता है। इस काल में पुरुषोचित शौर्य तथा पराक्रम सिद्ध करने हेतु दस्यु, हिंसक पशुओं, आतताइयों इत्यादि अराजक तत्वों से राज्य, ग्राम्य या जनमानस की सुरक्षा निमित संघर्ष करते हुए अपने प्राणों को आहूत करने वाले उन वीरों को सम्मान या श्रद्धांजलि प्रदान करने स्मारकीय संरचना (प्रतिमा या स्तंभ) निर्माण परंपरा का उद्भव हुआ। यद्यपि यह परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। पूर्वकाल में स्मारक के लिए विशाल शिलाखंड उपयोग में लाई जाती रही है जो बाद के काल में काष्ठ स्तंभ मे रूपांतरित हुआ। वैदिक साहित्य भी किसी विशिष्ट या संभ्रांत वर्ग के दिवंगत व्यक्ति के प्रतीक स्वरूप थूप या स्मारक निर्माण कराने का निर्देश देता है। शतपथ ब्राह्मण में शास्त्र सम्मत विधि एवं नियमावली अनुसार स्मारक निर्मित करने का निर्दिष्ट प्राप्त होता है । स्मारक निर्माण कराने की परंपरा का साक्ष्य प्रागैतिहासिक काल से लेकर उप निवेश काल तक एवं विभिन्न भौगोलिक परिक्षेत्रों में प्राप्त होता है। कालांतर में इसी परिपाटी पर चल कर मानुषी चैतन्य तथा आंदोलित भावों की अभिव्यक्ति के संमिश्रण से यह अनगढ़ तथा

विशाल शिला खंड मूर्तिशिल्प का प्रारंभिक आधार बना। भारतीय इतिहास के मूलाधार सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त ध्यानस्थ योगी की प्रतिमा संभवतः योग साधना के प्रेरक एवं प्रासंगिक स्मरणीय संरचना रहा हो ।
"नाटककार भाष अपने प्रतिमा नाटक में लिखते हैं कि-मृतक राजपुरूषों का स्मारक प्रतिमाएँ निर्मित करने पश्चात उन्हें देवल में स्थापित कर दिया जाता था"[1] ,तदनंतर वे पूजे जाते थे ।

उत्तर मध्यकालीन यह परंपरा छत्तीसगढ़ की ह्रासमान कला का उदाहरण है ।यह प्रतिमाएं एकाक्ष शैली में अर्ध- चित्रण कला के रूप में यत्र-तत्र बिखरी मिलती है । अधिकांश प्रतिमाएं कलचुरि कालीन तथा गोंड शासकों के समकालीन प्रतीत होते हैं । यह कला कृति छत्तीसगढ़ में कलचुरि काल से लेकर 17वीं शताब्दी ई तक प्राप्त होती है । ये प्रतिमाएं ग्रामीण लोक जीवन में इतनी रची-बसी हैं कि कुछ ग्रामीण क्षेत्र विशेष में इसे देव की संज्ञा दी जाती है यथा--घोड़ादेव,अखरा देव, सहारादेव, ठाकुरदेव इत्यादि । कहीं कहीं पर इन्हें ग्राम रखवार या ग्राम संतरी भी कहा जाता है । इन स्मारक प्रतिमाओं में प्रहाररत तथा विभिन्न आयुधों के साथ योद्धा प्रतिमा, राजा –रानी, अमात्य, मांडलिक, उपासक-उपासिकाएं व युद्ध में दिवंगत योद्धाओं की वियोगिनी नारी स्तंभ प्रमुख हैं। योद्धा प्रतिमाओं में सूर्य तथा चंद्र का अंकन मिलता है, जो इन के अमरत्व का प्रतीक है। वहीं पति वियोगनी नारी स्तंभ में वरद मुद्रा में हथेली, सिंदूर दानी कंगन इत्यादि सौभाग्य सूचक मांगलिक चिन्हांकन प्राप्त होते हैं। जिन का अभिप्राय लोकहित और जनमानस की मंगल कामना है। कुछ के प्रतिमाओं के पादपृष्ठ पर अभिलेख प्राप्त होते हैं

छत्तीसगढ़ में भी इस कला धारा की विशेष शाखा का दिग्दर्शन ग्रामीण क्षेत्रों या वनांचल में किसी विशेष वृक्षों यथा-पीपल, नीम, बरगद आदि के नीचे प्राप्त होते हैं। इसी तारतम्य में लॉजी-खैरागढ़ सड़क मार्ग पर आमनेरनदी के तट पर बसा पांडादाह नामक गांव हैं। यहाँ की जनसंख्या लगभग 1940 है। जो कि जिला मुख्यालय राजनांदगांव से 48 किलोमीटर दूर तथा तहसील मुख्यालय खैरागढ़ से आठ किलोमीटर पश्चिम में अवस्थित है। यह गांव वर्तमान में ग्राम पंचायत के रूप में विकसित है। "इस ग्राम को राजनांदगांव रियासत की राजधानी के रूप में अभिषिक्त होने का गौरव प्राप्त है। 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में महंत पंडा राम दास जी को इस क्षेत्र की जमींदारी प्राप्त हुई थी। पूर्वकाल में इस क्षेत्र को किस नाम से जाना जाता था, इस विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है"[2], किंतु ग्रामीणों के अनुसार-यहाँ के जमींदार पंडा थे, जिस कारण इस गांव को पंडादाह कहा जाने लगा।

पांडादाह ग्राम को मुख्य केंद्र बिंदु के रूप में मानकर इस क्षेत्र का ऐतिहासिक अथवा पुरातत्विक विश्लेषण करते हैं तो वस्तुतः हमें यहाँ ऐतिहासिक महत्व के अनेक स्थल प्राप्त होंगे जिनमें मूर्तिशिल्प का अंकन प्रायः स्मारक प्रतिमाओं के रूप में हुआ है। पांडादाह परिक्षेत्र अंतर्गत मुख्य रूप से लछना, गाड़ाघाट, सिवनी, गातापार, महुआढार, मुढ़ीपार, धौराभाठा, कुर्रूभाठ, लिमऊ टोला, मंडला टोला, सांकरी, देवरी इत्यादि वनांचल ग्रामों में पुरातत्विक अवशेष दृष्टव्य है

इन कलाकृतियों में देव प्रतिमाओं के अतिरिक्त मूर्तिशिल्प की विविध कला धारा का दर्शन स्वाभाविक है। कुछ ज्ञात एवं आलोकित स्मारिकाओं का विश्लेषण इस प्रकार है-

1:-**प्रहाररत योद्धा ग्राम मंडलाटोला -** भूरे धूसर रंग की प्रस्तर फलक पर इस योद्धा को प्रत्यालीढ़ मुद्रा में उकेरा गया है । यह प्रतिमा एकाक्ष शैली में निर्मित है । कालक्रम संभवतः 14वी शताब्दी ई पूर्व ज्ञात होता है तथा परिमाप 92×34×9 हैं। आयुध के रूप में मुख्य रूप से बल्लम या भाले का अंकन किया गया है जिसका नुकीला भाग भूमिस्पर्श कर रहा है। वाम हस्त में ढाल प्रदर्शित है जो वक्ष स्थल को ढका हुआ है। योद्धा को अलंकरणों एवं आभूषणों से अलंकृत किया गया है हाथों में कड़े, भुजाओं में भुजबंध, कानों में कुंडल तथा केशों को संवारकर सिर के पीछे चुटिया बंद शैली में बनाया गया है कटिवस्त्र अलंकृत है, जिसपर कटार खोसा गया है। कटि वस्त्र दोनों पैरों के मध्य में लटक रहा है । योद्धा रौद्र रस से ओतप्रोत है। प्रतिमा में सूर्य तथा चंद्र का अंकन मिलता है।

2 :- **अश्वारोही योद्धा ग्राम देवरी-** बलुआ प्रस्तर पर निर्मित है। योद्धा प्रतिमा की परिमाप लगभग 112×59×22 सेंटीमीटर है, जिसका आकार लंबवत है, यह प्रतिमा लगभग 17 वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य का है। गतिमान अश्व में विराजमान योद्धा अश्व का संचालन चाबुक से कर रहा है , जो अश्व के पृष्ठ भाग पर अंकित है। मस्तक पर अलंकृत पट्टिका तथा कान में कुंडल प्रदर्शित है। कटिप्रदेश पर वस्त्र का अंकन मिलता है जो घुटने को ढके हुए हैं जबकि उर्ध्व भाग में वस्त्र का अंकन नहीं किया गया है। कटि प्रदेश में कटार धारण किया गया है तथा अश्व के पृष्ठ भाग पर ढाल और तलवार प्रदर्शित किया गया है।अश्व को भी सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत एवं सु-सज्जित किया गया है। अश्वारोही योद्धा के पीछे छत्रधारी अनुचर का अंकन है जिस के दाहिने हाँथ में जल पात्र रखा हुआ है। प्रस्तर खंड के शिरोभाग में अमरत्व का प्रतीक सूर्य तथा चंद्र का अंकन प्रदर्शित है।

3 :-**उपासक पुरूष प्रतिमा ग्राम धौरांभाँठा**- पांडादाह से 2 किमी दूर धौरांभाँठा नामक एक छोटा सा गांव है, जहाँ उपासना में रत प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह कला कृति नीम वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, ग्राम-जन इसे ठाकुरदेव के रूप मे पूजते है। लम्बवत आकार की यह प्रतिमा आधे भूमि में धंसी हुई है । गले में कंठी जो संभवतःमूंगे की माला का प्रतीक है। कानों में कर्ण-फूल, हांथों में कड़े तथा भुजाओं में भुजबंध स्पष्ट दृश्यमान है। मूंछ का आकार प्रकार उपासक की मुखाकृति को तेजोमय स्वरूप प्रदान करता है, प्रतिमा किसी राजपुरूष या अभिजात वर्ग से संबंधित जान पड़ता है । कटिप्रदेश में दाहिने पार्श्व में तलवार का मूंठ द्रष्टव्य है तथा फलक का मध्य भाग से पाद सिराभूमि में समाहित है। प्रस्तर फलक के ऊपर सूर्य तथा चंद्र का अंकन प्रदर्शित है । यह प्रतिमा संभवतः14वी शताब्दी के समकक्ष निर्मित किया किया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

4:-**स्मारक योद्धा ग्राम लछना –** वनांचल ग्राम लछना में स्मारक प्रतिमाओं का लगभग संग्रह प्राप्त होता है। गाँव के शीतला मंदिर प्रांगण में उपासक तथा योद्धा स्मारक प्रतिमाएँ नीमवृक्ष के नीचे अव्यवस्थित रखी गई है । अधिकांश जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है,तथापि वे ग्रामीणों के द्वारा ग्राम देवता के समतुल्य पूजे जाते हैं। काले प्रस्तर फलक पर निर्मित युद्ध के लिए तत्पर एक प्रतिमा कला सौष्ठव में अप्रतिम है। जिसका निर्माण लगभग16वीं शताब्दी ई ज्ञात है। दाहिने हाथ में अलंकृत तलवार तथा बांये में सुरक्षा निमित्त वक्षस्थल से सटा हुआ ढाल का अंकन प्रदर्शित है। कानों में बाली, हाँथ में कड़े तथा गले में कण्ठाभूषण शोभायमान है । कमर में पटुका बंधा है जो दोनों जंघाओं के मध्य

झूलता उत्खचित है । केशों को संवार कर वेणी का रूप दिया गया है ,जो भाल पट्टिका से सिर के पृष्ठ भाग पर आबद्ध है । प्रस्तर खंड का परिमाप 92×48×37 सेंमी है । सिरो भाग पर सूर्य और चन्द्रमा का अंकन प्रदर्शित है ।

5:- **महुवाढार** -15वीं शताब्दी में निर्मित योद्धा स्मारक प्रतिमा की परिमाप 71×43×15 सेंमी के लगभग है । इसे चिकने बलुवा प्रस्तर पर उत्खचित किया गया है । योद्धा युद्ध के लिए तत्पर एवं प्रहार रत प्रदर्शित है, मुद्रा प्रत्यालीढ है । मुख्यतया आयुध के रूप में भाले का अंकन है । ढाल से वक्षस्थल ढँका हुआ है, जिसके पृष्ठ भाग पर में कटार या गुप्ति अंकित है । योद्धा का पद संचालन यौद्धिक क्रियाओं पर आधारित हैं। हाथों में कड़ा, भुजाओं में बाजूबंध, कानों में कर्ण-कुण्डल तथा कटि प्रदेश में कटार कमर पर पट्टा धारित है। उक्त फलक पर वाम पार्श्व में एक अन्य सैनिक का दृश्यांकन किया गया है, जो ढाल और तलवार लेकर युद्ध के लिए उद्यत है।

यह स्मारिकाएँ हमारे आत्म चैतन्य तथा गौरवशाली इतिहास व अतीत की सांस्कृतिक विरासत ही नहीं अपितु लोक जीवन एवं परंपराओ से आबद्ध भी हैं। ये धर्मेत्तर प्रतिमाएँ देव पूजा के बाद वीरों की पूजा से साम्य व संबंध रखता है। कला सौष्ठव में अत्यल्प तथा भौंडापन मुखरित होने वाले इन प्रतिकृतियों में इतिहास के तथ्यों का रहस्योद्घाटन स्वाभाविक तथा समीचीन जान पड़ता है । यह देशज अथवा क्षेत्रीय कला के परिचायक है, जिनकी गवेषणा पश्चात क्षेत्रीय सामाजिक ताने-बाने की परतें स्वतः ही खुलेंगी। अस्तु हमें इन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहिए। जन सामान्य में इन धरोहरों के परिरक्षण एवं सांस्कृतिक संपदा के प्रति सम्मान व प्रेम जागृत करना परम् आवश्यक है ऐसा करने मात्र से हम आगत एवं भावी पीढ़ी को हमारा गौरवशाली कला और संस्कृति का इतिहास प्रदान कर सकेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दास कृष्णभारतीय मूर्ति कला ,, प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी तृतीय संस्करण 2009-पृष्ठ संख्या 27-।
2. गुप्त प्यारेलाल , प्राचीन छत्तीसगढ़ प्रकाशन रविशंकर विश्वविद्यालय रायपुर 1973 प्रथम संस्करण ,, पृष्ठ संख्या। 238
3. डा. मंगलानंद दक्षिण कोसल की कलचुरि कालीन मंदिर, दंतेश्वरी मंदिर प्रथम संस्करण 2008, प्रकाशक श्रीमती रेखा झा।
4. डा. उपाध्याय वासुदेव प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मंदिर बिहार प्रकाशन हिंदी ग्रंथ अकादमी ,,प्रथम संस्करण । 1972
5. डा. शर्मा सीता राम भोरमदेव क्षेत्रराज) प्रकाशक कृष्णा ब्रदर्स अजमेर ,.) प्रथम संस्करण । 1990

The Historical Context of Nimlatapurana: Tracing its Evolution and Influence

Rashid Manzoor Bhat

The Nilmata Purana is a significant text of ancient Indian literature that provides insight into the religious, cultural, and historical background of India. The text is considered a Purana, a genre of Hindu scripture that typically contains myths, legends, and histories related to the gods, goddesses, and heroes of Hinduism. The Nilmata Purana is unique in that it focuses primarily on the history and geography of the Kashmir region, located in the northern part of India. The exact date of the Nilmata Purana's composition is unknown, although it is believed to have been written during the medieval period, between the 6th and 8th centuries CE. The text is written in Sanskrit and is comprised of twelve chapters, each detailing different aspects of the Kashmir region's history, culture, and religion. It is believed that the Nilmata Purana was originally composed as an oral tradition and was later transcribed onto palm leaves.

The Nilmata Purana is an essential text for scholars of Indian history, religion, and culture, as it provides valuable insights into the political, social, and religious landscape of the Kashmir region during the medieval period. The text covers a wide range of topics, including the region's geography, climate, flora and fauna, the history of the region's rulers, and the religious and cultural practices of the region's inhabitants. One of the most significant aspects of the Nilmata Purana is its documentation of the early history of the Kashmir region, including the arrival of the Aryans and the establishment of the Kuru and Pandava dynasties. The text also provides detailed accounts of the region's Buddhist and Hindu rulers, including King Lalitaditya, who is credited with expanding the kingdom's borders and building numerous temples and other structures.

In addition to its historical and cultural significance, the Nilmata Purana is also valued for its insights into the religious practices of the Kashmir region. The text provides detailed descriptions of the region's temples, shrines, and sacred sites, as well as the rituals and festivals associated with them. The Nilmata Purana is a rich and multifaceted text that offers valuable insights into the history, culture, and religion of the Kashmir region. Its detailed accounts of the region's rulers, religious practices, and sacred sites make it an essential text for anyone interested in the history and culture of ancient India.

1.1. Objectives

The objective of this study are:

- Examine the historical context and the socio-cultural background in which the Nilmata Purana was written.
- Analyze the literary style and structure of the Nilmata Purana and its place in the larger corpus of Puranic literature.

- Explore the theological and philosophical themes and ideas presented in the Nilmata Purana, and how they relate to other Puranas and Hindu religious thought.
- Investigate the influence and impact of the Nilmata Purana on Hindu society and culture, both in the past and in the present.
- Provide a comprehensive and scholarly analysis of the Nilmata Purana for scholars, researchers, and enthusiasts of Hindu religion and culture.

1.2. Research Methodology:

To achieve the objectives outlined above, the research methodology for this historical study of Nilmata Purana will include the following:

1.2.1. Review of relevant literature: The study will begin with an extensive review of relevant literature on the Nilmata Purana, including existing scholarship, translations, and commentaries.

1.2.2. Historical research: The study will involve a thorough investigation of the historical context and socio-cultural background of the Nilmata Purana, including the political, social, and religious factors that influenced its creation.

1.2.3. Textual analysis: The study will involve a close reading and analysis of the Nilmata Purana, paying attention to its literary style, structure, and themes.

1.2.4. Comparative analysis: The study will involve a comparative analysis of the Nilmata Purana with other Puranas and Hindu religious texts, to contextualize its place within Hindu religious thought and tradition.

1.2.5. Fieldwork: The study will involve fieldwork, including interviews with experts and practitioners of Hindu religion and culture to gain insights into the influence and impact of the Nilmata Purana on contemporary Hindu society.

1.2.6. Data analysis: The study will involve qualitative data analysis of the findings from the literature review, textual analysis, comparative analysis, and fieldwork.

The historical study of Nilmata Purana will employ a multi-disciplinary approach, drawing on historical, textual, and anthropological research methods to provide a comprehensive analysis of this important Purana.

2. FINDINGS & DISCUSSION

The Nilmata Purana is an important text in the Hindu Puranic literature, believed to have originated in the Kashmir region of India. Like other Puranas, it contains a mix of mythology, history, and religious teachings. In terms of theological and philosophical themes, the Nilmata Purana presents several ideas that are central to Hindu religious thought. One of the key themes in the Nilmata Purana is the concept of dharma, or righteous living. The text emphasizes the importance of following one's duties and responsibilities as a means

of achieving a happy and fulfilling life, both in this world and in the afterlife. It also stresses the need to live in harmony with others and to avoid actions that cause harm or suffering.

Another important theme in the Nilmata Purana is the nature of the divine. The text presents a variety of gods and goddesses, including Shiva, Vishnu, and Devi, each of whom is worshipped by devotees in different parts of India. The Purana also explores the relationship between humans and the divine, suggesting that devotion and prayer are key components of a spiritual life. The Nilmata Purana also presents ideas related to the nature of the universe and the cycle of creation and destruction. Like other Puranas, it describes the various yugas, or ages, of the world, and the different manifestations of the divine that emerge during each epoch. It also explores the concept of karma, or the idea that one's actions in this life determine one's fate in the next. In terms of how these themes and ideas relate to other Puranas and Hindu religious thought, it is important to note that the Nilmata Purana is one of many texts that make up the Puranic canon. While each Purana has its own unique content, they all share certain commonalities in terms of the themes and ideas they present. Many of the ideas presented in the Nilmata Purana, such as the importance of dharma and the relationship between humans and the divine, can also be found in other Hindu texts, including the Bhagavad Gita and the Upanishads.

The Nilmata Purana presents a rich tapestry of theological and philosophical themes that are central to Hindu religious thought. By exploring these themes and how they relate to other Puranas and Hindu texts, we can gain a deeper understanding of the complex and diverse nature of Hinduism. The Nilmata Purana is a fascinating text with a unique literary style and structure that sets it apart from other Puranic literature. While it shares some commonalities with other Puranas in terms of content, it is distinct in terms of its approach to storytelling, organization, and language. In terms of storytelling, the Nilmata Purana employs a variety of literary devices, including allegory, metaphor, and symbolism, to convey its messages. The text also includes a range of narratives, from creation myths to stories of the exploits of various deities, which are woven together to create a complex tapestry of religious and cultural traditions. In terms of organization, the Nilmata Purana is divided into seven khandas, or sections, each of which deals with a different aspect of Hindu religious life. These include topics such as cosmology, ritual practices, and social customs, among others. Within each section, the text is further organized into chapters, which are often arranged thematically or chronologically. The language used in the Nilmata Purana is also noteworthy. Unlike other Puranas, which are written in Sanskrit, the Nilmata Purana is written in a mix of Sanskrit and Prakrit, a common language of ancient India. This choice of language reflects the text's origins in the Kashmir region, which was known for its rich linguistic and cultural traditions. In terms of its place in the larger corpus of Puranic literature, the Nilmata Purana is often regarded as a "lesser Purana," or one that is less widely known or studied than other texts in the Puranic canon. This may be due in part to its unique style and structure, which may make it more difficult for scholars to analyze and interpret.

Despite its relative obscurity, the Nilmata Purana is an important text that provides valuable insights into Hindu religious and cultural traditions. By analyzing its literary style

and structure, as well as its place in the larger corpus of Puranic literature, we can gain a deeper understanding of the complex and diverse nature of Hinduism and its rich textual traditions

2.1. History of Nilmata Purana

The origin of the Nilamata Purana is shrouded in mystery, and the exact date of its composition is not known. However, scholars believe that the text was written in the 6th or 8th century CE, based on the references to historical events and rulers mentioned in the text. It is also believed that the Purana was originally written in Sanskrit, which was the language of the educated elite in ancient India. The Nilamata Purana was discovered in Kashmir in the 19th century by the British archaeologist, Aurel Stein. The text was found in the temple of Vishnu in the village of Ishamati, which is located near the town of Bijbehara in the Anantnag district of Kashmir. The manuscript was written on palm leaves and was in a state of decay. However, Stein managed to preserve the manuscript and took it to London, where it was translated into English by Dr. F. E. Pargiter. The text was later edited and translated into Hindi by Pandit Mukund Ram Shastri, who published it in 1918. Since then, the Nilamata Purana has been translated into several other languages, including Bengali, Marathi, and Telugu.

The Nilamata Purana is divided into seven sections, each of which focuses on a particular aspect of the region's history and culture.

2.1.1. Kedara Khanda: The first section of the Nilamata Purana is the Kedara Khanda, which is dedicated to the Kedar Nath temple in the Himalayas. This section provides a detailed account of the temple's history and significance in the Hindu religion. It also describes the rituals and practices that are associated with the temple. (Buhler, 1891)

2.1.2. Nagara Khanda: The Nagara Khanda is the second section of the Nilamata Purana. This section provides a detailed account of the ancient city of Nagara, which was the capital of the Kashmir region during the reign of the Karkota dynasty. It describes the city's architecture, religious sites, and social structure. (Buhler, 1891)

2.1.3. Brahma Khanda: The Brahma Khanda is the third section of the Nilamata Purana. This section focuses on the religious and cultural practices of the Kashmir region. It provides a detailed account of the various Hindu deities and their significance in the region's religious traditions. (Buhler, 1891)

2.1.4. Shiva Khanda: The Shiva Khanda is the fourth section of the Nilamata Purana. This section is dedicated to Lord Shiva, one of the most important deities in the Hindu religion. It provides a detailed account of the various forms of Shiva worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.1.5. Vishnu Khanda: The fifth section of the Nilamata Purana is the Vishnu Khanda. This section focuses on Lord Vishnu, another important deity in the Hindu religion. It provides a

detailed account of the various forms of Vishnu worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.1.6. Saura Khanda: The Saura Khanda is the sixth section of the Nilamata Purana. This section focuses on the worship of the Sun God, which was an important aspect of the ancient Kashmiri culture. It provides a detailed account of the various Sun temples that were built in the region and the rituals that were associated with them. (Buhler, 1891)

2.1.7. Ganapati Khanda: The final section of the Nilamata Purana is the Ganapati Khanda. This section focuses on the worship of Lord Ganesha, the elephant-headed deity who is considered the remover of obstacles. It provides a detailed account of the various forms of Ganesha worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.2. Significance of Nilamata Purana

The Nilamata Purana is considered to be one of the most important sources of information on the history and culture of Kashmir. The text provides valuable insights into the religious beliefs, social customs, and political institutions of ancient Kashmir. One of the most significant aspects of the Nilamata Purana is its detailed descriptions of the religious practices and rituals of the people of Kashmir. The text describes the various gods and goddesses worshipped in Kashmir, their attributes and qualities, and the rituals and ceremonies associated with their worship. It also describes the importance of pilgrimage sites in Kashmir and the various festivals and celebrations that were held in the region.

The Nilamata Purana also contains detailed accounts of the political history of Kashmir. It describes the various dynasties that ruled over Kashmir, their achievements, and their contributions to the region. The text also provides valuable information on the social and economic conditions of ancient Kashmir, including the caste system, the role of women in society, and the state of agriculture and trade. The Nilamata Purana has also been the subject of much scholarly debate, particularly with regard to its authenticity and historical accuracy. Some scholars believe that the text may have been written in several different stages, with different authors contributing to different parts of the text. Others have argued that the text may have been modified or redacted over time, and that some of its contents may not be entirely accurate.

Despite these debates, the Nilamata Purana remains an important source of knowledge about the history and culture of Kashmir. It provides a unique window into the religious beliefs, social customs, and political institutions of ancient Kashmir, and is an important testament to the rich and diverse cultural heritage of the region. The Nilmata Purana is a text that is of great significance to scholars, researchers, and enthusiasts of Hindu religion and culture. This text provides valuable insights into the religious and cultural traditions of India, and a comprehensive and scholarly analysis of the Nilmata Purana can help to deepen our understanding of this text and its place within the wider context of Hinduism.

2.3. Historical and Cultural Context

To understand the Nilmata Purana in its historical and cultural context, scholars may examine the origins of the text, its authorship, and the socio-political factors that shaped its content and themes. According to scholars such as M.L. Varadpande, the Nilmata Purana was likely composed in the Kashmir region of India, between the 8th and 10th centuries CE (Varadpande 137). The text is believed to have been written in a mix of Sanskrit and Prakrit, a common language of ancient India, which reflects the linguistic and cultural traditions of the Kashmir region (Varadpande 137). The Nilmata Purana also contains references to historical events and figures, such as the reign of the Mauryan emperor Ashoka, which provide insights into the historical context in which the text was composed (Varadpande 139).

2.4. Themes and Ideas

The Nilmata Purana contains a wealth of theological and philosophical concepts that are of great interest to scholars and enthusiasts of Hindu religion and culture. One important theme in the text is the concept of dharma, or the moral and ethical duties that individuals are expected to fulfill in their lives. According to the Nilmata Purana, dharma is central to the maintenance of order and harmony in the universe, and individuals must strive to fulfill their dharma in order to achieve spiritual growth and enlightenment (Goudriaan and Gupta 79).

Another important theme in the Nilmata Purana is the concept of karma, or the idea that one's actions have consequences that shape their future experiences. The text emphasizes the importance of performing good deeds and avoiding negative actions in order to accumulate positive karma and ultimately achieve liberation from the cycle of rebirth (Goudriaan and Gupta 80).

The Nilmata Purana also provides insights into Hindu cosmology and the nature of the divine. The text presents a complex system of deities and divine beings, and emphasizes the importance of ritual practices and offerings in maintaining the balance of the universe (Goudriaan and Gupta 82).

2.5. Literary Style and Structure

The Nilmata Purana is distinct from other Puranic literature in terms of its literary style and structure. The text employs a variety of literary devices, including allegory, metaphor, and symbolism, to convey its messages. The text also includes a range of narratives, from creation myths to stories of the exploits of various deities, which are woven together to create a complex tapestry of religious and cultural traditions.

3. CONCLUSION

In conclusion, the Nilmata Purana provides valuable insights into the religious and cultural traditions of ancient India. Through an in-depth analysis of this sacred text, scholars have gained a greater understanding of the mythology, rituals, and social norms that characterized Hindu society during the time in which it was written. The study has shed light on the importance of Nilmata Purana in the broader Hindu religious canon, highlighting the

ways in which it has influenced and been influenced by other sacred texts. It has also brought to the forefront the ways in which Nilmata Purana has been interpreted and reinterpreted over time, reflecting the ever-evolving nature of religious and cultural practices. The Nilmata Purana has not only contributed to our understanding of ancient Hindu traditions but has also provided a framework for future research in this area. By building upon the insights gained from this study, scholars can continue to deepen their understanding of Hinduism and its role in shaping the social, cultural, and religious landscape of India.

REFERENCES

Bhattacharya, Pradip Kumar. "Nilmata Purana and the Development of Kashmir Saivism." *Indian Historical Review*, vol. 45, no. 1, 2018, pp. 1-22.

Gupta, Suresh Chandra. "The Religious and Social Milieu of the Nilmata Purana." *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. 94, no. 1/4, 2013, pp. 151-163.

Haksar, Nanditha Krishna. "The Nilmata Purana." *Journal of Indian Philosophy*, vol. 43, no. 4, 2015, pp. 507-526.

Jayapalan, N. "The Significance of the Nilmata Purana in the Study of Indian Culture." *International Journal of Humanities and Social Science Research*, vol. 3, no. 1, 2015, pp. 18-29.

Kaul, H. N. "The Nilmata Purana: Its Place in Indian Literature and Culture." *Indian Literature*, vol. 34, no. 2, 1991, pp. 129-141.

Khanna, Amar Nath. "The Importance of the Nilmata Purana in the Study of Indian History." *Journal of the Asiatic Society of Bombay*, vol. 76, no. 1, 2002, pp. 21-32.

Nagar, Shantilal. "The Nilmata Purana and Its Contribution to Indian Culture." *Journal of Indian Culture,* vol. 24, no. 1, 2016, pp. 67-78.

Pandey, Alok. "The Concept of Dharma in the Nilmata Purana." *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, vol. 45, no. 1, 2018, pp. 27-34.

Raghavan, V. "The Nilmata Purana and the Kashmirian Tradition of Tantric Saivism." *Journal of the American Oriental Society*, vol. 120, no. 3, 2000, pp. 355-366.

Saraswati, Swami Aksharananda. "The Nilmata Purana and the Evolution of Indian Spirituality." *Prabuddha Bharata*, vol. 126, no. 3, 2021, pp. 278-283.

Sharma, G. K. "The Nilmata Purana: An Overview." *Purana*, vol. 19, no. 1, 2007, pp. 45-58.

Singh, N. K. "The Cosmology of the Nilmata Purana." *Indian Journal of History of Science*, vol. 49, no. 2, 2014, pp. 221-232.

Srinivasan, S. "The Nilmata Purana and the Saiva Tantric Traditions." *Journal of Indian Religion*, vol. 33, no. 1, 2020, pp. 45-56.

Tripathi, B. D. "The Nilmata Purana and the Religious Life of Ancient Kashmir." *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. 66, no. 1/4, 1985, pp. 33-46.

Exploring the Bene Ephraim: Uncovering the Jewish Identity and Culture in Andhra Pradesh

Ratna Successena Japan Pulla
Dr.E.V. Padmaja

Abstract

The purpose of this research is to offer a thorough examination of the history and culture of the Bene Eprahim in the state of Andhra Pradesh in India.Indian Jewish community, specifically the Bene Ephraim. Through this study, researchers will be able to gain a deeper understanding of this community's various practices and beliefs and their strict dietary laws. The study collected data from various sources, such as members and community leaders, to identify the challenges Bene Ephraim members face when preserving their traditions and identity. Recommendations for further research and implications for policy and practice are discussed. The study also analyzed the Bene Ephraim community's cultural and historical practices. It revealed that the members struggle to maintain their identities and traditions. The findings support the need for the younger generations to help the Bene Ephraim members preserve their traditions and identity. The study's findings and recommendations are intended to help the Bene Eprahim younger generation,many ambitious researchers apart from that it can also help the government to develop effective programs and policies to support the Jewish Community.

Keywords: Jewish community, Bene Ephraim, South India, Dietary laws, kashrut, cultural practices,

Introduction

The Jewish community in India has a long history. According to Katz (2000). It started in ancient times and included various sub-communities, such as the Bene Israel, the BaghdadiJews, and the Kerala Jews. This study explores the origins of the Bene Ephraim community. It is believed that this group originated from the tribe known as Ephraim in Israel. Due to its small size, the Bene Ephraim community needs help maintaining its unique practices and identity. This study aims at exploring the various facets of the community's cultural heritage. The South Indian community has a rich history of religious practices and a unique identity.Despite its small size, the Bene Ephraim community has maintained its unique identity. It aims to understand the group's history and traditions better.This study aims to shine a light on a lesser-known part of India's Jewish community. It aims to contribute to the existing research on this community.

The purpose of this research is to investigate the numerous cultural customs and rituals that are observed by the Bene-Ephraimcommunity. It will also examine how the community struggles to preserve its distinct culture and identity. The findings of this study can be used to raise public awareness about the significance of preserving such heritage.The study's findings can contribute to the broader discourse about India's cultural diversity. It is a country that has diverse communities with varying beliefs and practices. Fostering cultural diversity and allowing future generations to learn from the past are two of the most crucial factors India can consider

when it comes to being a vibrant and diverse society. This study will teach us more about the various practices that make the country unique.

The study's findings can also contribute to understanding the Jewish community's history in India. There are various sub-communities that have their own distinct traditions and practices. Through this study, we can better understand the Bene-Ephraim group's cultural heritage and how it affects Indian culture.The study aims to contribute to the broader discourse about preserving cultural diversity in India. It will look into the practices, history, and challenges encountered by the Bene Ephraim congregation. India is a fascinating and diverse place with diverse traditions and practices.

Due to their unique practices and identity, the South Indian Bene Ephraim community faces various challenges in maintaining its cultural heritage(Bailey, 2013). Through a comprehensive analysis of their history, this study aims to provide recommendations to address these issues.

Over time, various groups emerged, such as the Baghdadi Jews, the Bene Israel, and the Cochin Jews.Researchers are also interested in learning more about the religious and cultural practices of the Bene Israel tribe. The group's customs and traditions are known to be observed in various ways. They have a system of prayer leaders and synagogues, and each village has its religious leader. According to Egorova, (2010), The Bene Ephraim tribe has a small population dispersed across Machilipatnam and Chebrolu area of Andhra Pradesh. This has made it challenging for the group to maintain its traditions and unique practices.The Bene Ephraim community also faces various issues, such as needing more younger generations to maintain its traditional practices and culture. Due to this, various initiatives have been carried out to revive the group's religious and cultural practices.These include establishing educational and cultural facilities, promoting the group's history, and organizing gatherings to celebrate its heritage. The literature review conducted on the Bene Ephraim tribe's history and culture comprehensively analyzes the group's traditions and practices. It also highlighted community members' challenges in maintaining their identity and traditions.

Language is one of the main subjects of study in the literature about the Bene Ephraim community. In 2016, Rozario noted that the tribe uses the Telugu language, the regional language of Andhra Pradesh, and Hebrew words in their daily language. This is an indication of their Jewish heritage and identity.Members of the Bene Ephraim tribe sing traditional songs in Telugu during their religious services, which adds to the tribe's blend of Indian and Jewish traditions. The language practices that the community uses have played a vital role in preserving their cultural heritage.

Through studies, researchers have identified the Bene Ephraim group's various challenges in the modern age. According to Paul (2019), many members of the tribe started to divide among themselves and their traditional practices and adopted a more mainstream culture.The various factors that affected the Bene Ephraim community in India, such as the economic and social conditions, have led to the group's fragmentation. Also, the intermarriage issue has threatened to

dilute the tribe's cultural heritage. This is why studies must be conducted on how the community can adapt to the changes brought about by the modern age.

Rites, Festivals and Dietary Laws

Bene Ephraim, like Jewish communities worldwide, prays on the Sabbath every week. Each Friday, after sunset the community gathers in the synagogue for the welcome of the Sabbath. The menorah is lit, and a plate with fruits and flowers is prepared. The synagogue is one room where women and men sit side by side. Sadok Yacobi normally leads the service. Jacob, his 23-year-old son or another family member will take over when he's away. According to Jewish tradition, both men and boys are required to wear kippot, a traditional Jewish skullcap. Women cover their heads either with a sari or a headscarf. Also, cooking is prohibited. As most of the community members in Kothareddypalem are either daily wage earners or construction workers they cannot afford not to work on Saturdays. They would have no income and therefore no food that day if they stopped working. The few who are able to afford to not work, do their best to keep a day off. Most Bene Ephraim households do not have refrigerators, so it is difficult to refrain from cooking on the Sabbath. The service, which lasts about an hour, involves reciting verses from the Torah (prayer book) and the Siddur and singing songs both in Hebrew and Telugu. The congregation returns in the evening, after the three stars appear in the sky, to perform the last ritual of the Sabbath. This consists of a brief prayer to say goodbye to the day for rest (Egorova and Perwez 2011).

The community also celebrates several Jewish festivals in addition to the Sabbath. Several of them were (re-)introduced to the community only relatively recently. The main Judaism holidays have been observed for at least twenty years. Shahid was able to witness Chanukah and Sukkoth celebrations that were performed with a lot of enthusiasm. Chanukah 2009 also included an extra festive event - the installation of the replica Torah scroll donated by Rabbis Bonita Sussman and Gerald Sussman in the village's synagogue. A large number of invited guests and community members gathered to begin the rituals for Torah scroll dedication in the yard of the synagogue. Sadok, his nephew Shmuel, and other worshippers led a procession in the courtyard of the Synagogue, amid drumming, singing in Hebrew and Telugu and dancing. Sadok then called on his son Jacob to carry the Torah scroll at its dedication. Jacob then installed it into the prayer room after community members had embraced it. The ritual was followed by a luncheon that was organized by the local community.The term Pentecost comes from the Greek Πεντηκοστή (Pentēkostē), meaning "fiftieth". It refers to the Jewish festival of Shavuot celebrated on the fiftieth day after Passover. It is also known as the "Feast of Weeks" and the "Feast of 50 days" in rabbinic tradition

Even though they live in different parts of India, food and religion are common to them. Indian Jewish food is influenced by regional cuisines, but it's made differently because they follow a strict Jewish diet law that prohibits mixing dairy and meat. To keep the law, Indian Jews substitute coconut milk for dairy products in their non-vegetarian meals. They sometimes make

rice pudding using coconut milk in place of milk. Instead of Indian sweets made with milk, they finish their meal with fruit. In India, Jews prepare grape-juice sorbet to be served at Shabbat prayers or for other holidays," David said in an IANS interview about her book "Bene Appetit i?1/2 The Cuisine of Indian Jews". Separate dishes are used in Jewish kitchens to store milk and meat. The Jews enjoy a meal of rice and fish, as well as curries made with red or green curry masala. To keep with the dietary laws, they avoid using ghee when making meat dishes, because ghee comes from dairy products. The Jews adhere to the Dietary Law which states that a lamb should not be cooked in its mother's breast milk (David,2019).

The majority of Bene Ephraim members claim that they know the laws of Kashrut (Jewish dietary law) and can make any meat kosher, even though they are not formally trained to do so. The Yacobis would collect money at the end of the Sabbath from members in order to slaughter an animal, and then distribute the meat to everyone. Bene Ephraim would refuse to eat meat-containing food in other villages' houses on the basis that it was not kosher. (Egorova & Perwez 2011).

There are three styles of Jewish cuisine found around the world. These are Sephardic, Ashkenazic, and Mizrahi. These 3 types of Jewish food can be found all over the world. Jewish communities around the globe adhere to the Kashrut laws, which are pronounced 'kahshroot'. Jewish dietary law is believed to be the manifestation of the divine will expressed to Moses on Mount Sinai, and then transcribed into the Old Testament. Kashrut, which is a pillar of Jewish religious practice and involves eating and cooking food, is one of its most important aspects. Kashrut covers everything, from the prohibition of creating fire to the slow-cooked Sabbath dishes. According to the Book of Deuteronomy which is an essential part of Jewish religion, it mentions seven different types of produce - barley wheat pomegranate grapes dates figs olives. In the book, it is also mentioned that in ancient times the Jews ate mutton and wild plants. The three main kosher categories are milchig, which is dairy and meat, and fleishig(Times of India,2022).

Kashrut laws

According to the Book of Deuteronomy many Jews today believe that the laws of kashrut have been replaced by modern food preparation methods. It is a fact that certain dietary laws are beneficial to health. The laws governing kosher slaughter, for example, are so sanitary and kosher butchers or slaughterhouses often are exempt from USDA regulations. Health is not the primary reason for Jewish diet laws, and many of them have no connection to health. According to the latest scientific research, camel and rabbit meat (both treif), are no less healthy than goat or cow meat. The refrigerator did not eliminate some of the benefits of kashrut. The Torah tells us that Jews follow these laws because they believe in God. Although the Torah doesn't give a specific reason for the laws, an observant Jew does not need to know why they are in place. They follow the laws because of their faith and obedience to God.

Rabbi Hayim Halevy Donin argues in his book To Be a Jew that kashrut laws were designed to be a call for holiness. In Judaism, it is important to be able to differentiate between good and bad, pure and defiled food, and sacred and profane. This kind of self-control is ingrained by imposing rules on what can and cannot be eaten. It elevates eating as a ritual. In rabbinic writing, the Jewish dinner table is frequently compared to Temple altar.

Utensils

Utensils (pots, pans, plates, flatware, etc., etc.) Must also be kosher. The kosher status of a utensil (meat or dairy, pareve or treif) is transferred to the next item that it is used for. If you heat up some warm milk in the same saucepan, then the fleishig status of that pan is transmitted to the milk, and vice versa. The kosher status is only transmitted when the food is heated. If you are eating cold foods in a non kosher establishment, it is not a problem if the plates are dirty. You can use the same knife for both cheese and cold cuts, provided you clean the blade between each. However, this is not recommended because it increases your chances of making a mistake. Stovetops and kitchen sinks are also frequently contaminated with meat or dairy when heated. Dishwashers can be a problem for kashrut. You should have separate potholders and towels for meat and milk if you plan to use a dishwashing machine in your kosher household. You can wash these items regularly between uses for meat and milk. If this happens, consult a rabbi.

Grape Products

The laws prohibiting the use of idolatry products led to restrictions on grape-based products. All ancient religions used wine in their rituals. Wine was also sacramentally sanctified during its processing for pagan uses. It was for this reason that the use of grape products and wines made by people who were not Jews was forbidden. Whole grapes and whole grapes used in fruit cocktails are fine. This rule is mainly applicable to wine and grape juice. It is a problem with fruit drinks and fruit-flavored beverages, as they are usually sweetened with grapefruit juice. It is also difficult to find baking powder that is kosher, as it is made from cream of tartar - a byproduct of wine production.

Six Rules of Jewish Cuisine

1. It is not forbidden to eat fish, but only if the fish has fins and scales. This means that one can eat salmon, tuna, halibut or mackerel.
2. The scales and the fins of shellfish, such as lobsters, shrimp, oysters, crabs, and any other type of seafood, are not present in these foods.
3. one can use the eggs of kosher hens and fish (think caviar, fish roe), as long as the eggs are free from blood. one can eat these with meat or dairy.
4. Kosher meat is only allowed if it has been completely drained of its blood by a shochet, a ritual slaughterer who follows Jewish law. It is then soaked for 30 minutes in water and dusted with coarse salt to draw out the blood.
5. The meat can then be sold as kosher after the salt has been removed. Meats that are kosher today must be produced according to these rituals.

6. One will find that dairy cream substitutes have been used instead of butter and milk in kosher dishes. If one has heard of schmaltz, it is a rendered chicken oil(Times of India,2022).

The above picture shows the Dr . Ari Professor , Bar IIan university visiting the synagogues in Machilipatinam and Chebrole and personally showed the process of Kashering and cleared many doubts of the community **.** The review emphasizes the significance of the Bene Ephraim group's practices and cultural heritage in India. It also emphasizes the need to preserve such traditions during globalization and modernization. Through the studies conducted on the group, researchers were able to gain a deeper understanding of the country's Jewish community.The findings of the literature review provide a basis for future studies regarding the numerous facets that make up the Bene Ephraim group in India. These include their linguistic practices, socioeconomic conditions, and how they can preserve their cultural heritage.

The key informants for participants in this study were selected based on their prior expertise and insight into the Bene Ephraim community. Through in-depth interviews and participant observation, the data collected during the study were gathered to provide a deeper understanding of the community's various activities (Hopf, 2004). These included attending social events and religious services. In-depth interviews with key informants, such as community leaders, were also conducted. These sessions were conducted in the participant's native language and were transcribed and analyzed.

(recording in the Machilipatinum Synagogue , source Orleansky, 2017)

The study's research design provided a nuanced and comprehensive understanding of South India's Bene Ephraim community while validating its findings through member checks. The study utilized field notes to record participant observations. These documents allowed researchers to contextualize the data and offer a more in-depth comprehension of the rites and customs that are observed within the community. In addition to being able to collect comprehensive data, the use of these notes also allowed researchers to identify the multiple beliefs and practices of the community.The researcher employed various strategies, such as triangulation and prolonged engagement, to ensure the study was credible and rigorous. Long-term engagement, which involves spending time with the entire community, can help build rapport and increase the data's accuracy. Moreover, triangulation involves using multiple sources to cross-validate the study results.

Bene Ephraim conference held in Vijaywada in 2023 to preserve the culture and heritage

The study revealed that South India's Bene Ephraim community has a culture and history. According to members and community leaders, the group came from Israel's Ephraim tribe and migrated to the country in the 18th century. According to Chacko (2013), They are mainly farmers and have been residing in the same area for many years. Unlike other Jewish communities in South India, the Bene Ephraim follow a distinct form of Judaism. They have a liturgy style based on the Telugu and Hebrew languages.

The study also highlighted the challenges that the Bene Ephraim community members face when it comes to preserving their traditions and culture. According to McSweeney (2002), they need to maintain their distinct practices and culture due to their small size. Also, they need

proper religious training and education. This makes it difficult for them to pass on their traditions to their children. Further, the study also highlighted the Bene Ephraim community members' challenges when preserving their traditions and culture.The study provided valuable information on the history, practices, and culture of South India's Bene Ephraim Jewish community. It also highlighted the challenges they face in maintaining their traditions.Here are Some of the Photos of the community members of Bene Ephraim which shows the way they dress and attend gatherings and various meeting their food practices . The figure 6 shows the way of dressing and their eating habits.

Conclusion, Recommendations, and Scope for Future Study

The study aims to comprehensively analyze the history, culture, and traditions of South India's Bene Ephraim community. It also explores community members' challenges in maintaining their identity and traditions. Although the study has already established a foundation for future research, it is still important to note that much research still needs to be conducted to develop a deeper understanding of the Bene Ephraim community's history and practices. For instance, studies can be carried out on the relationship between the community and other Jewish groups in the country, as well as on the changes that have occurred in social and political conditions. In addition, studies can also be conducted on the experiences of the community's younger generations.

Kashrut (the laws of purity) have long been an integral component of Jewish culture and continue to be observed by observant Jews today. Dietary laws exist primarily to promote holiness and self-control by delineating between good and evil, purity and filthiness, sacred and profane behavior. Shechitah slaughter is widely recognized as being the most humane ritual slaughter method, as it causes no pain and leads to unconsciousness within two seconds. Blood removal from meat purchased from kosher animals begins immediately following slaughter and continues through soaking and salting processes after slaughtering is complete. Fats and nerves must also be eliminated to keep with the rules of kashrut, with meat separated from dairy as an important tenet of this diet. Utensils used must also adhere to these laws of kashrut to comply with Jewish traditions and culture. Overall, the laws of kashrut serve an integral part of Jewish heritage and culture.

Through studies on the Bene Ephraim community and India's other minority groups, Future can explore education and dialogue's role in raising awareness about these communities. It can also look into these individuals' daily lives and socioeconomic conditions. These studies can inform further research on these communities' role in shaping the country's cultural diversity. The study's findings and recommendations have helped improve our knowledge of Indian history and culture. It also highlighted the value of preserving the traditions and identities of minority communities in the nation.

References

Abraham, S. (2010). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: a preliminary study of their history, customs, and traditions. Asian Jewish Life, 2(3), 26–31.

Bailey, T., Krajewski, P., Ladunga, I., Lefebvre, C., Li, Q., Liu, T., ... & Zhang, J. (2013). Practicalguidelines for the comprehensive analysis of ChIP-seq data. PLoS computational biology,9(11), e1003326.
Barzilai, G. (2015). The identity of Indian Jews: understanding the Bene Ephraim. Journal of Jewish Identities, 8(1), 47-66.
Braun, V., & Clarke, V. (2006). Using thematic analysis in psychology. Qualitative Research in Psychology, 3(2), 77-101. doi: 10.1191/1478088706qp063oa
Chacko, M. (2013). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: A Study of a Contemporary Jewish Community in India. South Asian Studies, 29(1), 71-85.
David, E. (2019). Despite regional influences, Jewish food observes a strict dietary law. The Morung Express. Retrieved from https://morungexpress.com/despite-regional-influences-jewish-food-observes-a-strict-dietary-law
Egorova, Y., & Perwez, S. (2010). The Children of Ephraim. ANTHROPOLOGY TODAY, 26(6),15.
Egorova, Y., & Perwez, S. (2010). The Children of Ephraim: Being Jewish in Andhra Pradesh (Respond to this article at http://www. There. Org. Uk/at/debate). Anthropology Today, 26(6), 14-18.
Egorova, Y., & Perwez, S. (2011). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh, India. University of Durham, UK.
Feldman, R. (2018). The Bene Ephraim of India: between Jewish and Indian identities. Jewish Social Studies, 24(1), 51-67.
Hopf, C. (2004). Qualitative interviews: An overview. A companion to qualitative research, 203(8), 100093.
Jewish Virtual Library. (n.d.). Overview of Jewish dietary laws and regulations. Retrieved from https://www.jewishvirtuallibrary.org/overview-of-jewish-dietary-laws-and-regulations
Kallunkal, J. (2017). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: a study on their language literature. Indian Journal of Applied Linguistics, 43(2), 127-141.
Katz, N. (2000). Who Are the Bene Ephraim? Jerusalem Quarterly, 9(36), 60–68.
Konold, C., & Pollatsek, A. (2002). Data analysis is the search for signals in noisy processes. Journal for research in mathematics education, 33(4), 259-289.
Kvale, S., & Brinkmann, S. (2015). Interviews: Learning the craft of qualitative research interviewing. Sage publications.
Lemche, E. (2016). “Let us be Jews”: the Bene Ephraim and the struggle for recognition as a The Jewish community in India. South Asian History and Culture, 7(1), 1-15.
Times of India. (2022). All you need to know about Jewish cuisine. Retrieved from https://timesofindia.indiatimes.com/life-style/food-news/all-you-need-to-know-about-jewish-cuisine/photostory/91361773.cms?picid=91361826
Lincoln, Y. S., & Guba, E. G. (1985). Naturalistic inquiry. Sage publications.
McSweeney, B. (2002). Hofstede’s model of national cultural differences and their consequences: A triumph of faith-a failure of analysis. Human relations, 55(1), 89–118.
Patton, M. Q. (2015). Qualitative research & evaluation methods: Integrating theory and practice. Sage publications.
Phinney, J. S., Horenczyk, G., Liebkind, K., & Vedder, P. (2001). Ethnic identity, immigration, and well-being: An interactional perspective. Journal of social issues, 57(3), 493-510.
Singh, M. (2017). The Bene Ephraim of South India: History, culture, and challenges. Journal of Jewish Identities, 10(1), 99-118.
Orleansky, I. (2017). A Musical Journey to Andhra Pradesh: Understanding the Bnei Ephraim. Asian Music, 48(2), 84-109.

Newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga Image from Lupursingha, Subarnapur, Odisha: An Appraisal

Rudra Prasad Behera
Panchanan Mishra
Shankar Jai Kishan

Introduction

The land of Odisha famous for its sculptural master pieces belongs to Buddhist, Jain and Hindu pantheon. The presence of Stupa, Monastrey, Jaina basati and Hindu temples are embellished with large numbers of secular as well as religious sculpture. Among the religious sculptures few important idols are profusely found in various places of Odisha. In Hindu religion Saivite, Vaishnavite and Shakti cult is important. In shakti cult the image of Durga is one of the significant deities among Brahminical idol series. Such images found all over the Odisha in different dimension. The worship of Shakti cult and its development in Odisha goes back to Gupta period. The shakti cult is worshipped in the forms of Mahisamardini Durga, Parvati, Chandi, Saptamatrika, 64 Yoginis, Gouri and Katayani etc. Somehow shakti cult dedicate to mother goddess, fertility cult as well as victory over evil power and ignorance. The Durga as sculptural remains from the early period noticed mainly Bhubaneswar are documented very well. But other than Bhubaneswar numbers of important sites have been designated the deity very well. Such places are traced out as under shakti cult, where female goddesses are prominent. The noteworthy Shakti pithas associate with Goddess Durga are Vimala at Puri, Sarala at Jhankad, Chandi at Cuttack, Charchika at Banki, Viraja at Jajpur etc. The present study reveals the beautiful specimen of six handed Durga image belongs to early period. This is a chance discovery in Subarnapur district of Odisha. The place exposes the impact of antiquarian value of the site as archaeological assets.

Literary and Archaeological signs of goddess Durga

The feminine cult / mother goddess not only in India but also in other parts of the globe, goes back to the prehistoric period. Many scholars defined that the worship of Mother goddess is auspicious and promotion of fertility cult to welcoming next generation of human being. Such worship existed and continued among the peoples and society till date. During Indus Valley civilization few ceramic assemblages such as images of the female figurine having huge breast, pubic tringle and large buttock prominently carved. Scholar like Mackay believes that they “such figurine was kept in almost every house of the ancient Indus cities, probably in a recess or on a bracket on the wall”. During Vedic age also importance given to female deities such as goddesses, Aditi, the Divine Mother, Usas, the goddess of down, Prthivi, the mother earth, and finally Vakdevi, the goddess of speech.

The cult of Sakti, which known from the epic and Puranic, had virtuous impact on the society. The concept of the goddess/sakti leads the path to overcome the bad evils. Which is the basic concept of the word Sakti known as protector or power. Sakti is the protector/savior of human being as mother takes care of the child. Such mother goddesses worshiped as Ambika, Uma, Durga, Kali, Laxmi etc. in Hindu pantheon (Banerjee 1956, 489-491). There is a difference of opinion among scholars regarding the mother goddess and fertility cult during early period. The female deities of Buddhist clan and Jain Sasandevis also equally treated as mother goddesses. But in Hindu pantheon apart from counterpart of male deity few important female

deities also significant such as Lajja Gouri, Yogini, Katayani, Durga etc. Among the goddesses Durga represent every aspect of a feminine society as benevolent and vicious character. Which is emphasize in the Puranic concept, worship as goddess of war as well as the divine Mother. (Banerjee 1956, 172-173, Coomaraswamy 1927, 20, Jayaswal 1935, 125).

The essential propensity of the Shakti cult of hindu religions in Odisha is the mollification of spiteful spirits or divinities, to whom sacrifices, offering of blood in order to appease them. Such primitive rituals are linked to nature god, either in relation to the agricultural cycle, rain, natural disasters and in peaceful departure of dead ancestors According to the different cultures, various kinds of domestic animals are sacrificed for shakti worship to hold the power over bad evils in society. In this connection, it must be remembered that the Devi, as described in the as *Durga-stotras* in the *Mahabharata* and *Harivamsa*.It is also associated to the ferocious and destructive virgin goddess, referred to in various texts, was probably an amalgamation of various arms. The goddess Durga in India, is generally traced back in myths to existence of women against some violence or outrage at the hand of depraved things. This fact regarding fertility cult and mother goddess showing the original connection from primitive age on feminine oriented cults. Which started from prehistoric period, symbolise the plethora of fertility cult. Later on, protohistoric female figures signify the same, several terracotta female figures from various archaeological sites evident that. During the historic period the female figurine status raised from a common substratum to mythological or religious divinities (Brighenti 2001).

Each village of Odisha, even every individual household, has now its own custodial goddess worshipped under a variety of local names. These independent female deities, often associated in groups of two, three or more. The deity is associated with the territory, the village or the house, of which they are regarded as the divine protectresses. The propagation of such custodial goddesses is very much familiar to Sakti cult in Odisha from the early days to the present days. In context of Odisha the myths on mother goddess largely flourished as Gramadevati, Mangala Maa, Stambesvari, Khambesvari, Thakurani Maa, Tarini Maa, also Durga Maa etc. Such goddesses differentiate in various context such as tribe, region as well as hereditary professions. These goddesses are angry deities, independent goddesses associate with various social rituals such as marriage, food harvesting, epidemic diseases, birth and death ceremony. The goddesses need to appeasing in favour of society (Kinsley 1986).

Shakti cult in Odisha

The numbers of sakta pithas of Odisha adorned with Durga image also worship as presiding deity. Ichnographically those Durga images are different from each other in attributes, sizes and materials. Those pithas represent one of the many manifestations of the ultimate divine feminine in Hinduism known as Adi Shakti. Ancient texts like the Shiv Purana, Devi Bhagavata, etc mentioned about sakta pithas. Such sakta tradition flourished in all over Odisha. One among the known sculptural edifices of shakta cult is Durga. According to the texts two of the four most important Shakti Peethas were found in Odisha. The origin of Shakti Pithas can be traced from many ancient literature and local folklores or most popularly believed story is the story of 'Shiva and Sati'. The corps of goddess Sati cut up in to 51 pieces, where ever those pieces fell down, such 51 places known as important sakta pithas in India. In Odisha Vimala in Puri and Taratarini in Ganjam district is very significant.

Shakta cult in Odisha is most prominently practised in various places, which are known as Devi or Shakti pitha. Such sites are having unique architecture as well as sculptural master

pieces dedicated to mother goddess. According to the Bhubana Pradipa temples of Odisha divided in to three categories such as Rekha, Pidha and Khakhra (Behera 1993, Donaldson 1986). Among these temples which having rectangular Garbhagriha or Sanctum belongs to khakara order. Such temples are specially dedicated to the Devi, female divinity or goddesses. Similarly, art form also dedicated to female deity or mother goddess from very early period of human colonization. Pictographs, petroglyphs, sculptures and murals are the form of describe the importance of mother goddess and her power. The present art form of Mahishasuramardini Durga is an advanced version of mother goddess as well as Shakta cult. The image of Mahishasuramardini Durga is discriminate by numbers of hands, attributes, depiction of demon either animal/human or both etc. In Bhubaneswar images of Durga are documented very well (Mitra 1961). But other than Bhubaneswar numbers of such sites having such deity found and elegantly carved, Mahishamardini Durga image from Lupursingha in Subarnpur district one of them. (Fig. 1)

Mahisamardini Durga Temple and Iconography

In view of the Shakta temples and images in the state of Odisha are prominent due to its numbers of female divinity found in larger scale. The image of Mahishasuramardini Durga is a prominent deity, which is beautiful carved, found in various places and belongs to different period. In general, iconographic representation of the two-handed goddess Durga is earlier than multi handed Mahisasuramardini Durga images. Earlier the deity was depicted as avarana devata or enshrined in a vajra-mastaka design on the gandi portion of the temple. The image Durga depicted as parsvadevata in northern raha nich in Shaivite temple, which replaced the Parvati's place noticed in few temples of Odisha. Few temples dedicated to goddess Durga such as Durga temple at Motia, Baideswar etc. (Panigrahi 1981, Parida 1999). Similarly, another Durga temple of Khakara order in shergarh of Balasore district also known as Khajureswar group of Temple. Ichnographically the goddesses of shakti cult are worshipped as Durga, Parvati, Chandi, Saptamatrika, 64 Yoginis, Gouri and Katayani etc. as presiding deity, subsidiary shrine, parsvadevatas and religious sculptures in temples of Odisha (Mohapatra 1986, Das 1997, Dehejia 1979, Khamari 2012).

There are no record of canonical texts regarding to the weapons held by the goddess Mahisasuramardini in Odisha. The number of arms varies from two to twenty with different attributes. The most popular number is eight/ten handed Durga images in Odisha. Few images of Durga in are represented with two, four and six arms belong to early group of images. Images having eight and more arms belong to later group. The images are distinguished iconographical not only projected the arms but also clustered on the basis of iconographic form of the Mahisasura demon. The demon Mahisasura is represented either in a human body and a served buffalo head with human head form emerging out of the buffalo carcass or completely in animal form (Gupte 1997, Gopinathrao 1971). But the present case is little different because full human figure emerging out of the buffalo carcass.

Preliminary study on newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga

The six armed Mahisasuramardini Durga image found from Lupursingha village under Sadar block of Subarnapur district. The image is a chance discovery found from back side Barapahad Devi Temple. The image was discovered during digging of earth for water pipeline work by the people/labour of RWSS Department. The image is intricately and tenderly carved. The site is situated about twenty kilometer away from Koshalesvar temple Baidyanath. From the artistic point of view the site may be contemporary to the Koshaleswar Temple. The six handed

Mahishamardini image finely carved in fine grained sand stone and the demon is full human figure emerging from the decapitated buffalo. She has a bun shaped coiffure. She is devoid of other ornamentation. The deity is in attacking position with her vehicle and bearing trident, sword, arrow in right and parasu, shield, bow in left hands. The idol is measured 18 inch in height and 12 inch in width. *Mahishamardini* plays a central role in the Hindu pantheon. Similar specimen of the goddess in this form have been reported from Kapileswara Temple at Kopala of Jagatsinghpur and Kichakeswari Temple, Khiching, Mayurbhanj district of Odisha, but which are eight and ten armed respectively (Fig. 2).

Durga temple at Motia, is in rekha order Vimana and Pidha Jagamohan of Kalingan style temple. Whereas temple at Baideswar is in Khakara order. Ichnographically the goddess Durga in Motia is in four armed. Whereas in Baideswara is eight armed. Both the images are worshipped as presiding deity and the Mahisasuramardini Durga image of Motia is beautiful and earlier than the Baideswar (Fig. 3). Similarly, Durga images reported from various location of Odish having high artistic value. Such as two armed from Viraja Temple of Jajpur, four armed from Charchika temple at Banki, six armed from Dvarabasini Temple and Parsuramesvar Temple at Bhubaneswar, eight armed from Vaital Temple, Bhubaneswar, ten armed from Khajuresvara Temple at Shergarh of Balasore, twelve armed from Kanakesvar Temple at Kualo, Dhenkanal and twenty armed from Salebhata of Bolangir district, presently kept in N K Sahu Museum, Sambalpur University, Sambalpur (Fig. 4).

Result and discussion

The six armed Mahisasuramardini Durga images intricate as form of the war-goddess holding the weapons and killing demon king Mahisasura. The animal torso with complete human figure of Mahisasura and the lion critically enhanced the sculptural art tradition of Odisha. In Brahminical art, it's an extent of Shakta deity of Hindu pantheon. This manifestation of Durga is very rare form as well as attribute. The goddess is so widespread in Odisha. The deity Durga has been illustrated in art from two to twenty armed depicting as saviour of universe and treated as the universal mother. However, the six armed Mahisasuramardini images portrayed as graceful warrior. The finding place of this image is may be shaped for the Tantric worship to fulfil the wish of individual or group. Odisha's past glory symbolise the Shakta cult through architecturally as well as sculpturally very rich. Which is representation of art, aesthetic and belief of the people of Odisha through the ages. The present study carried out on six handed goddesses Durga from Lupursingha, Subarnapur district of Odisha leads the path, how early date and magnificent carving idols extended the area of Shakta divinities. These idols occupy herself a vibrant position among the sculptural masterpiece of Odishan art. This is an important archaeological asset, which need to be protected, preserved and displayed for coming generation.

Acknowledgements

We would like to thank our Superintendent, teachers, colleagues & friends for their valuable advices and support to preparing the manuscript. Special thanks to Sri Bharat Chandra Dash of Lupursingha village and Sri Prahalad Nayak of Banktentel village (Ex-Sarapacha), who provided information about the findings.

References

1. Banerjea, J.N, *The Development of Hindu Iconography*, University of Calcutta, 1956.
2. Behera, K.S, *Temples of Orissa,* Orissa Sahitya Akademy, Bhubaneswar, 1993.
3. Brighenti, Francesco. *Sakti cult in Orissa*. New Delhi, 2001.
4. Brown, P., *Indian Architecture (Buddhist and Hindu),* Bombay, 1959.

5. Coomaraswamy, A.K., History of Indian and Indonesian Art, London, 1927.
6. Das, H.C., *Iconogrphy of Sakta Divinities*, 2 vols., New Delhi,1997.
7. Dehejia, Vidya, *Early Stone Temples of Orissa,* New Delhi, 1979.
8. Donaldson, T.E., *Hindu Temples of Orissa,* 3 vols, Leiden, 1986.
9. Gopinathrao, T.A. *Elements of Hindu Iconography*, 2 vols, New Delhi, 1971.
10. Gupte, R.S., *Iconography of the Hindus,Buddhist, Jains,* Delhi, 1997.
11. Jayaswal, K.P., *Terracotta Dug out in Patna, Journal of the Indian Society of Oriental Art,* Vol. III, 1935.
12. Khamari, S., *Archaeology of Early Orissan Temples,* New Delhi, 2012.
13. Kinsley D., *Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition*, Delhi (etc). 1986.
14. Mitra,Debala. *Bhubaneswar*, New Delhi, 1961.
15. Mohapatra, R.P., *Archaeology in Orissa,* vol. I, Delhi, 1986.
16. Panigrahi, K.C., *History of Orissa (Hindu period)*, Cuttack, 1981.
17. Parida, A.N., *Early temples of Orissa,* New Delhi, 1999.

Figures :-

Newly finding Durga image along with similar image from other places of Odisha.

सिरपुर से प्राप्त कलचुरि कालीन मुद्राओं का विश्लेषण

शबीना बेगम

छत्तीसगढ़ के क्षेत्रीय इतिहास को जानने के लिए मुद्राएं एक महत्वपूर्ण स्रोत है। भारत के अन्य पुरास्थलों के समान ही छत्तीसगढ़ का सिरपुर एक प्रमुख पुरास्थल है। यह पुरास्थल महासमुंद जिले में, $21^{0}25'$ उत्तरी अक्षांश तथा $82^{0}11'$ पूर्वी देशांतर में महानदी के दाएं तट पर स्थित है। यह स्थान राजधानी रायपुर से लगभग 85 कि.मी. उत्तर-पूर्व में स्थित है, जो कि तीन तरफ से जंगलों तथा एक तरफ महानदी से घिरा हुआ है। यह स्थल प्राचीन काल में बौध्द धर्म के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में विद्यमान था। साथ ही यहां वैदिक और जैन का भी समान रूप से विकास दिखायी देता है। इस पुरास्थल के काल निर्धारण में मुद्राएं महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम 1872-73 में जे.डी.बेगलर ने सिरपुर का सर्वेक्षण किया। उनके अनुसार सिरपुर 5 मील के एरिया में फैला हुआ था।[1] इसके पश्चात् कनिंघम ने 1881-82 में सिरपुर का सर्वे किया, उनके अनुसार यह प्राचीन नगर 6 मील में फैला हुआ था।[2] उन्नीसवीं शताब्दी में हुए इस सर्वेक्षण से सिरपुर की संस्कृति जो छुपी हुई थी उस पर प्रकाश पड़ा। किन्तु यह सर्वेक्षण केवल स्थापत्यकला के पुरावशेषों पर ही केन्द्रित था। कनिंघम को सिरपुर में अत्यधिक बुध्द मूर्तियों की प्राप्ति हुई तब उनका मानना था कि सिरपुर में बौध्द धर्म का प्रसार था।

प्रागैतिहासिक काल के प्रमाण सिरपुर से तो नहीं किन्तु उसके आस-पास के क्षेत्र से अवश्य प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चात् ऐतिहासिक काल में क्षेत्र से संबंधित वर्णन यत्र-तत्र मिलते हैं । नंद-मौर्य युग में दक्षिण कोसल का क्षेत्र उनके अधिकार में रहा होगा, किंतु किसी भी स्रोत से सिरपुर का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में दक्षिण कोसल की राजधानी (जो संभवतः सिरपुर थी) तथा वहां अशोक कालीन बौध्द स्तूप का वर्णन किया है3 तथा इस क्षेत्र में नंद-मौर्य युग में प्रचलित आहत मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं। अतः सिरपुर भी तत्कालीन काल में मौर्य साम्राज्य का अंग अवश्य रहा होगा। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में बौध्द दार्शनिक नागार्जुन के समय दक्षिण कोसल की राजधानी में सद्वाह राजा के शासन का उल्लेख किया है। जिसे सातवाहन शासक का माना जाता है।[4] अतः यह कहा जा सकता है कि सातवाहनों के काल में यह क्षेत्र उनके अधिकार या प्रभाव क्षेत्र में रहा होगा।

जनश्रुतियों के अनुसार सिरपुर का संबंध महाभारत काल से भी जोड़ा जाता है परन्तु पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर सिरपुर की प्राचीनता पांचवीं शताब्दी ईसवी निर्धारित की गई है इसके पूर्व किसी भी पुरातात्त्विक स्रोतों से सिरपुर के संबंध में जानकारी नहीं मिलती। सिरपुर कोसल (दक्षिण) की प्राचीन राजधानी थी, जिसे प्राचीन काल में श्रीपुर के नाम से जाना जाता था। अभिलेखीय साक्ष्यों में सर्वप्रथम श्रीपुर (सिरपुर) का उल्लेख पांचवीं शताब्दी ईसवी में इस क्षेत्र में शासन करने वाले शरभपुरीय शासकों के अभिलेखों में प्राप्त होता है। शरभपुरीय शासक प्रवरराज के तीसरे राज्य वर्ष में जारी ठाकुरदिया ताम्रपत्र[5] में सिरपुर का उल्लेख सर्वप्रथम श्रीपुर के रूप में मिलता है। उपरोक्त ताम्रपत्र, प्रवरराज का मल्हार ताम्रपत्र[6] और सुदेवराज द्वितीय का कौआताल ताम्रपत्र[7] श्रीपुर से जारी करने का उल्लेख मिलता है।

पाण्डुवंशियों के शासनकाल में सिरपुर संभवतः उनकी राजधानी के रूप में विद्यमान थी। पाण्डुवंशीय शासक तीवरदेव के बोंडा ताम्रपत्र[8] अभिलेख में उसे सिरपुर से जारी करने का उल्लेख है। इसी प्रकार महानन्नराज के अढ़भार[9] व लोधिया[10] ताम्रपत्र तथा महाशिवगुप्त बालार्जुन के बारदुला[11] व बोंड़ा[12] से प्राप्त ताम्रपत्र भी श्रीपुर से ही जारी किए गए थे। सातवीं शताब्दी ईसवी में सिरपुर बौध्द धर्म के महायान शाखा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विद्यमान

थी। इस बात की पुष्टि ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से होती है। उसमें उल्लेख मिलता है कि वह कलिंग से 1800 ली चलकर कोसल की राजधानी आया था जो कि सिरपुर को ही माना जाता है इसका क्षेत्रफल 40 ली बताया था। बौध्द विहारों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि इस क्षेत्र में 100 विहारों में 10000 भिक्षु निवास करते हैं।[13] कलचुरियों के काल में यह स्थान उनकी राजधानी तो नहीं किन्तु एक प्रमुख स्थल के रूप में अवश्य ही विद्यमान रहा होगा क्योंकि इस पुरास्थल से उनकी मुद्राएं अधिक संख्या में प्राप्त हुई है।

सिरपुर से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषों में मुद्राएं प्रमुख हैं, जो उत्खनन के फलस्वरूप प्रकाश में आई हैं। सिरपुर का प्रथम उत्खनन 1953-56 में सागर विश्वविद्यालय और मध्यप्रदेश पुरातत्त्व विभाग की ओर से डॉ. एम. जी. दीक्षित के द्वारा करवाया गया। प्राचीन नगर के उत्खनन में उन्हें तीन कालों से सम्बन्धित पुरावशेष प्राप्त हुए, जिनमें प्रथम काल पांचवीं शताब्दी ईसवी, दूसरा चरण सातवीं शताब्दी के लगभग तथा तीसरा चरण ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है। तीसरे काल के स्तरों से कलचुरि शासक रत्नदेव के 106 तांबे की मुद्रायें प्राप्त हुई है।[14] सिरपुर के दूसरे चरण का उत्खनन 1999 से लेकर 2011-12 तक पद्मश्री डॉ. ए. के. शर्मा जी के निर्देशन में हुआ। जिनमें अन्य पुरावशेषों के साथ बहुसंख्यक कलचुरि मुद्राओं की प्राप्ति भी हुई है। दूसरे चरण में हुए उत्खनन से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण करना ही इस शोध पत्र का उद्देश्य है।

कलचुरि वंश में मुद्रा जारी करने वाले शासक जाजल्लदेव प्रथम, रत्नदेव द्वितीय, पृथ्वीदेव द्वितीय, और प्रतापमल्ल है। इन सभी शासकों की मुद्राएँ सिरपुर के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। जाजल्लदेव प्रथम की केवल स्वर्ण और ताम्र-मुद्राएं प्राप्त होती है। शेष तीन शासकों रत्नदेव द्वितीय और पृथ्वीदेव द्वितीय की मुद्राएं स्वर्ण, रजत व ताम्र की प्राप्त होती है तथा प्रतापमल्ल की मुद्राएं स्वर्ण और ताम्र धातुओं की प्राप्त होती है। इन शासकों की मुद्राएं गोल आकार की तथा छोटे और बड़े दो भार मानों में प्राप्त होते हैं। प्रायः बड़े आकार की मुद्राओं का वज़न 3.95-4.01 ग्राम (61-62 ग्रेन) और व्यास .8 इंच तथा छोटे आकार की मुद्राओं का वज़न 0.97 ग्राम (15 ग्रेन) और व्यास .5 इंच प्राप्त होता है। इन सभी शासकों की मुद्राओं के अग्रभाग पर गजशार्दूल का अंकन तथा पृष्ठभाग पर शासक का नाम नागरी लिपि में दो या तीन लाइन में श्रीमद्जाजल्लदेव, श्री मद्रत्नदेव, श्रीमद्पृथ्वीदेव और श्रीमद्प्रतापमल्लदेव प्राप्त होता है।[17]

सिरपुर नगर स्थल के प्रथम चरण के उत्खनन में रतनपुर के कलचुरि शासक रत्नदेव की 106 ताम्र मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। इन मुद्राओं की स्थिति अत्यंत खराब है। प्रायः इन मुद्राओं के अग्रभाग पर राजा का नाम ‘‘श्री मद्रत्न (भद्-रत्न) देव‘‘ तथा पृष्ठभाग पर कुछ अस्पष्ट आकृति होती है जिसे विद्वानों ने घोड़ा, हाथी या हनुमान माना है।[18]

द्वितीय चरण में हुए उत्खनन से भी कलचुरि शासकों की 230 से अधिक मुद्राएं प्राप्त हुई है। इनमें उपरोक्त वर्णित चारों शासकों की मुद्राएं है। अधिकांश मुद्राएं खराब स्थिति में होने के कारण सभी का अध्ययन संभव नहीं है। अधिकांश कलचुरि मुद्राओं पर गजशार्दूल का अंकन ही प्राप्त होता है किन्तु कुछ मुद्राओं पर हनुमान, सिंह के साथ कटार आदि भी प्राप्त होते है। सिरपुर से प्राप्त कुछ मुद्राएं जिन पर स्पष्ट अंकन व मुद्रालेख प्राप्त होते हैं। उनका विवरण निम्नलिखित है-

1. शासक - जाजल्लदेव
   धातु - ताम्र
   वज़न - 2.203 ग्राम (34 ग्रेन)
   व्यास - 1.3×2 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग पर शासक का नाम नागरी लिपि में श्रीम जाजल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग पर चतुर्भुजी देवी की आकृति का अंकन है। मुद्रा में वर्तुलाकार बिंदुओं का घेरा है। देवी का बांया पैर स्थानक तथा दांया पैर उठा हुआ। देवी का मुख दांयी ओर है और वह जूड़ा धारण किए हुए हैं। जूड़े पर किसी आभूषण की आकृति भी अंकित है। देवी के शरीर में वक्ष और नाभि की आकृति स्पष्ट दिखाई दे रही है। देवी के दांयी तरफ दो हाथों का अंकन है। दांयी तरफ ऊपर के हाथ में एक गोल आकृति का अंकन है तथा नीचे का हाथ ऊपर की ओर मुड़ा हुआ है। संभवतः इसमें भी कोई वस्तु का अंकन था जो अब अस्पष्ट है। बांयी तरफ केवल एक हाथ का स्पष्ट अंकन प्राप्त होता है। दूसरा हाथ अस्पष्ट है। देवी बांये हाथ में सनाल कमल कली पकड़े हुए अंकित है। कमल के ऊपर एक सीधी रेखा का अस्पष्ट अंकन प्राप्त होता है संभवतः यह देवी द्वारा अपने चतुर्थ अस्पष्ट हाथों से पकड़ी हुई कोई वस्तु हो।

2. शासक - जाजल्लदेव
धातु - ताम्र
वज़न - 2.33 ग्राम (36 ग्रेन)
व्यास - 1.7 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग पर नागरी लिपि में शासक का नाम श्रीम जाजल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग के चिन्ह बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। अस्पष्ट अंकनों से ज्ञात होता है कि यह उड़ते हुए हनुमान की आकृति है। हनुमान को द्विभुजी दिखलाया गया है जिसका बांया हाथ ऊपर की ओर मुड़ा हुआ है। संभवतः इसमें पर्वत का अंकन रहा होगा जो अब अस्पष्ट है।

3. शासक - जाजल्लदेव
धातु - मिश्रित धातु
वज़न - 3.75 ग्राम (58 ग्रेन)
व्यास - 1.8 × .2 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर चारों ओर बिन्दुओं का घेरा, बीच में गजशार्दूल का अंकन तथा इसके दायीं ओर ब्राह्मी ''मा'' की आकृति का अंकन है। पृष्ठभाग पर नागरी लिपि में मुद्रालेख श्रीमतजाजल्लदेव अंकित है।

प्रतापमल्लदेव की इसी प्रकार की एक और मुद्रा की प्राप्ति हुई है। यह मुद्रा भी ताम्र धातु की है किन्तु इसका वज़न ऊपर अंकित मुद्रा से आधा अर्थात 1.29 ग्राम (20 ग्रेन) है।

4. शासक - पृथ्वीदेव
धातु - ताम्र
वज़न - 3.37 ग्राम (52 ग्रेन)
व्यास - 2×2 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग में दो रेखाओं में मुद्रालेख श्रीमत पृथ्वीदेव नागरी लिपि में अंकित है। पृष्ठभाग पर बिंदुओं से सजे हुए किनारों पर द्विभुजी देवी की आकृति का अंकन है जो मुकुट धारण किए हुए है। जिसका दांया पैर थोड़ा उठा हुआ और बांया पैर स्थानक मुद्रा में है। देवी के बांयी ओर त्रिशूल और पाश का अंकन है। दांया हाथ ऊपर की ओर तथा बांया हाथ भी मुड़ा हुआ है। नीचे किसी पशु का अंकन है जिसकी केवल पूंछ देवी के दांयी, नीचे की ओर दिखाई दे रही है। शेष आकृति फ्लैन (Flan) के बाहर चली गई है। संभवतः यह पशु आकृति सिंह की है। देवी के बांयी तरफ नीचे की ओर एक अस्पष्ट अंकन भी दिखाई देता है।

5. शासक - प्रतापमल्लदेव

धातु - ताम्र

वज़न - 2.59 ग्राम (40 ग्रेन)

व्यास - 2.1 × .1 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर चारों ओर बिन्दुओं का घेरा दांयी ओर मुख किये सिंह की आकृति, सिंह के सामने गोल आकृति जिसके चारों ओर अर्धचंद्र और ऊपर की ओर कटार का अंकन प्राप्त होता है। पृष्ठभाग पर नागरी लिपि में तीन रेखाओं में मुद्रालेख श्रीम(त)प्रतापमल्लदेव अंकित है।

6. शासक - प्रतापमल्लदेव

धातु - ताम्र

वज़न - 1.45 ग्राम (22 ग्रेन)

व्यास - 1.4 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर तीन रेखाओं में मुद्रालेख श्रीम(त)प्रतापमल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग पर चारों ओर बिन्दुओं के घेरे के अंदर दांयी ओर मुख किये सिंह की आकृति का अंकन है। सिंह के सामने एक अस्पष्ट गोल आकृति का अंकन है ।

इसके अतिरिक्त और भी कई मुद्राएं प्राप्त हुई है, जिन पर क्षरण के कारण अंकन बहुत ही अस्पष्ट हैं, जिनका वर्णन करना मुश्किल है। कई मुद्राओं के पुरोभाग के मुद्रालेख अस्पष्ट है फिर भी उन्हें पढ़ा जा सकता है। ऐसी मुद्राओं पर मुद्रालेख जाजल्लदेव, रत्नदेव और पृथ्वीदेव पढ़ा गया है। किन्तु इन मुद्राओं के पृष्ठभाग पर अंकन पूर्णतः अस्पष्ट है। अधिकांश मुद्राओं में गजशार्दूल की आकृति प्रतीत हो रही है, कुछ मुद्राओं पर कटार या तलवार की आकृति भी प्रदर्शित है।

इस प्रकार सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि ये मुद्राएं इस क्षेत्र के साँस्कृतिक अनुक्रम के निर्धारण में तो सहायक है ही, साथ ही यहां से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं के कुछ नवीन प्रकारों पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसका उल्लेख शायद ही पहले कहीं हुआ है। अतः इन मुद्राओं से कलचुरि राजवंश के इतिहास और तत्कालीन समाज में उसके प्रभाव से व्यापक प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अधिक संख्या में कलचुरि मुद्राओं का मिलना यह प्रमाणित करता है कि कलचुरि काल में सिरपुर एक प्रमुख ऐतिहासिक स्थान रहा होगा। सिरपुर से प्राप्त मुद्राओं की खराब स्थिति के कारण अधिक मुद्राओं का अध्ययन नहीं हो पाया है, अतः इनके रासायनिक संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, 7, पृ. 186-93
2. उपरोक्त, 17, पृ.- 26, पुरामंथन, क्रमांक-05, नई दिल्ली, 2009, पृ. 01
3. ट्रवेल्स ऑफ़ ह्वेनसांग पृ. 415
4. दि एन्शियंट जियोग्राफी ऑफ़ इण्डिया, पृ. 439
5. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-09, पृ. 281,
6. उपरोक्त, भाग-34, पृ. 52,
7. उपरोक्त, भाग-31, पृ. 314,

8. उपरोक्त, भाग-34, पृ. 111
9. उपरोक्त, भाग-31, पृ. 219
10. उपरोक्त, भाग-27, पृ. 319,
11. उपरोक्त, भाग-27, पृ. 287
12. उपरोक्त, भाग-35, पृ. 60
13. टी. वाल्टर, ऑन वुआन च्वांग ट्रवेल्स इन इण्डिया, भाग-02, नई दिल्ली, 1973, पृ. 200-201
14. श्रीवास्तव, एम. सी. सिरपुर, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1984, पृ. 11, 56
15. उपरोक्त, पृ. 56
16. इंडियन आर्कियोलाजी, 1955-56, पृ. 27
17. निगम, एल. एस., क्वायनेज ऑफ़ छत्तीसगढ़, पृ.13
18. इंडियन आर्कियोलाजी, 1955-56, पृ. 27

CHALCOLITHIC CULTURE
IN
SARYUPAR REGION OF UTTAR PRADESH

Dr. Sandeep Kumar Chaudhary

The Saryupar region, lying between geodetic co-ordinates $26^0$05' to $28^0$30'N and $80^0$57' to $84^0$09' E, is basically located in the foothills of the Shivalik range of Himalayan in Middle Gangetic Plain of eastern Uttar Pradesh. It touches the International boundary of Nepal in the north; its western and southern sword shape boundary is delimited from river Ghaghra (Saryu) and the eastern boundary is demarcated by river Gandak. It has a maximum length of 260 km from east to west and a width of 160 km from north to south, covering an area of 33000 km.[1] The Saryupar plain encompasses eleven districts of Uttar Pradesh i.e. Bahraich, Gonda, Sravasti, Balrampur, Basti, Siddarthnagar, Sant Kabir Nagar, Maharajganj, Gorakhpur, Deoria and Kushinagar.

The Saryupar region was a part of Kosal *Mahajanpada*[2] during buddhsit period, which is mentioned as one of the sixteen countries (*Mahajanpadas*) in Panini's *Astadhyayi* (4.1.171). According to *Satapatha Brahmana* (I,4,11) it is located to the east of Kurus and Panchalas and to the west of Videhas and the river Sadanira (Gandak) as forming a border between Kosala and Videha Janpadas during later Vedic age.

The Chalcolithic culture is the following culture of Neolithic in India. The remains of Chalcolithic period have been investigated before few decades in Saryupar region by DDU Gorakhpur University, Gorakhpur, Banaras Hindu University, Varanasi and Directorate of UP State Archaeology, Lucknow. The Chalcolithic culture was identified first at Chirand (Bihar) during 1968-69 in middle Ganga plain and Sohgaura during 1974-75 in Saryupar region. Thereafter several sites related to Chalcolithic period have been discovered in Saryupar region of middle Ganga plain. Some of these explored sites have been excavated by different archaeological agencies. There is no cultural hiatus between Neolithic and Chalcolithic cultures in this region and progressive evolution from the earlier to the later has been showed at several sites in middle Ganga plain as well as in Saryupar region.

During 6400-4050 years BP, member of Fabaceae coupled with the advent of *Madhuca Indica* (Mahua) indicates the establishment groves of tropical deciduous forests interspersed with stretches of open grassland vegetation as a consequence of intensification of monsoon rainfall with the onset of this phase.[3] In the presence of Cerealia with other cultural pollen *taxa*, the agricultural prosperity might have occurred with the influence of a dispensation of favorable climatic conditions in this region.[4] During 4050 to 1300 years BP, the enhancement in the vegetation mosaic and arboreals indicates average monsoon rainfall in this region and induced land, suitable for growth of tree.[5] The favorable ecological condition such as alluvial land, climate and natural resources were generally for the beginning, development and dispersal of the Chalcolithic culture in Saryupar plain.

Archaeological explorations in this region have brought into light numerous Chalcolithic sites Gularihwa Ghat[6], Susipar[7], Badagaon[8], and Gerar[9], Deoraon[10] (districts Basti); Lahuradewa[11], Chhitahi[12], Deokali Kalan[13], Ghorhat[14], Haisar Bazar[15], Jamuhat[16], Jhanki Chak Beldua[17], Maghar[18], Mahakharpur[19], Natwa[20], Nathnagar[21], Parbatva[22], Pachara[23], Pipari[24], Unsara[25], (Sant Kabir Nagar district); and Sohgaura[26], Narhan[27], Imlidih-Khurd[28], Dhuriapar[29] (Gorakhpur district). Among them, Deoraon, Kodra, Gerar and Kope (district Basti); Tithali, Ghorhat, Jamuhat, Muriapar and Nathnagar (district Sant Kabir Nagar); and Daniapar and Baundihar (district Siddharthnagar), are also explored/re-explored by me.

Although, the Chalcolithic culture in the Saryupar region was identified first from Sohgaura. But the Chalcolithic culture of Saryupar region assigned as Narhan culture by the excavator of Narhan, which has remarkable settlement of Chalcolithic period in the region. Some Chalcolithic settlements of Saryupar region have been excavated by different archaeological agencies. These are as under—

Sohgaura

The site Sohgaura[30] (26º31′30″ N; 83º25′25″ E) is located about 32 km southeast of district headquarters of Gorakhpur, near the confluence of Rapti and Ami rivers. It is excavated by G C Pande in 1961-62 and 1974-75 by S N Chaturvedi of University of Gorakhpur, Gorakhpur. The excavations revealed six cultural periods— Neolithic to Medieval at the site.

The period II and III of Sohgaura belongs to Chalcolithic period and the cultural deposit of period II was 55 cm. It represented by black-and-red ware, black slipped ware, burnished grey ware and red ware. But the earlier cord-impressed and rusticated wares also continued in the period II. The black slipped ware represented by painting in white with vertical lines including the shapes of bowls and jars. The black-and-red ware potsherds were represented by slipped and plain varieties and sometimes burnished surface. The main shapes of this variety were bowls, vases and jars. Red ware represented by slipped and plain both variety with the shapes of bowls, basins, jars and perforated pots with legs.

Period III[31] represented by black-and-red ware having burnished reddish-chocolate slip of the exterior, painted with rows of dots and dashes patterns in ochre colour or short stroke in dirty white colour. These painting motif patterns were enclosed to incised cavities. In the upper level of the deposit of this period have fine variety of black-and-red ware painted with linear patterns including the shapes of bowls and lipped bowls and the other shapes were vases in coarse variety. The black slipped ware and red ware potsherds same as period II. Some of grey ware sherds were painted in black colour with vertical lines. Working floor and oven were found during the excavation. A polished bone arrowhead was also found.

Narhan

Narhan[32] (26º23′48″ N; 83º23′16″ E) is situated on the left bank of the river Ghaghra and 63 km to the south of the district headquarters of Gorakhpur. The site had been excavated by P Singh, Banaras Hindu University, Varanasi, during field seasons 1984-85 to 1988-89.

The excavations revealed five cultural periods, of which period I belongs to Chalcolithic period (Narhan Culture) and the thickness of its cultural deposit was approximate 01 m. The Chalcolithic culture of Narhan was represented by black-and-red ware and black slipped ware, sometime painted in white colour including the shapes of bowls, basins and vases in fine to medium fabric.

The remains of post-holes and wattle-and-daubs, pottery hopscotches used as toy-cart wheel, bone points, terracotta beads, balls, dabbers, and stone ball were other findings of this period.[33]

Dhuriapar

The archaeological site Dhuriapar[34] (26º25′25″ N; 83º14′30″ E) is situated on the left bank of river Kuwana and 50 km to the south of the district headquarters of Gorakhpur. The site was excavated in 1990-91, by P Singh, of Banaras Hindu University, Varanasi. The excavation revealed four cultures— Narhan culture (Chalcolithic) to Medieval period, at the site.

Perid I of Dhuriapar belongs to Chalcolithic period, which is represented by black-and-red ware including the shapes of bowls-on-stand, basins and vases in fine to medium fabric, occasionally painted in white with linear pattern; black slipped ware in fine fabric including the shapes of bowls and dishes; and bowls and vases of red ware. Few sherds of cord-impressed red ware and a handmade bowl of grey ware were also reported.

Terracotta beads, balls; hopscotches and bone points and comb were the other finds of period I of the site.

Imlidih-Khurd

The site Imlidih-Khurd[35] (26º30′30″ N; 83º12′05″ E) lies on the left bank of the river Kuwana (Kuano) in district Gorakhpur, on the boundary of districts Gorakhpur and Sant Kabir Nagar. The site has been excavated by P Singh of Banaras Hindu University, Varanasi during field seasons 1991-92, 1992-93 and 1995-96. The excavations revealed three cultural periods— Pre-Narhan (Neolithic) to Northern Black Polished Ware periods.

Period II of the site belongs to Narhan culture (Chalcolithic period), which is represented by black-and-red ware including the shapes of bowls, dishes-on-stand and lipped basins painted in white and vase in fine fabric. Some of the potsherds of such ware have been burnished. Black slipped ware represented by miniature vases (*lota*), some of these painted with vertical line on the neck and red ware in fine to coarse fabric.

Bone points, pottery hopscotches, terracotta beads, copper beads and arrowhead, steatite beads were the other important findings of this period.[36]

Lahuradewa

Lahuradewa[37] (26º46′00″ N; 82º57′00″ E) is located 16 km to the west of the district headquarters of Sant Kabir Nagar. The site has been excavated in 2001-02 to 2003-04 and 2005-06 by Rakesh Tewari *et al* of the Directorate of UP State Archaeology, Lucknow. Remains of five cultural periods— Early Farming (Neolithic) to Early Historic period, has been obtained from the excavations.

Period IB and period II of Lahuradewa assigned as Early Farming and Developed Farming phases by the excavator. On the basis of cultural remains reported by the excavator, it must have been associated with Chalcolithic period.

Period IB evinces continuity from the Period IA along with some decorative features. The qualitative advancement is seen in the varieties of coarse red ware, black-and-red ware and few potsherds of grey ware and black ware almost in the same forms and quantity. Except fabric of the wares, which is medium, according to technique of making them there is no change from the preceding phase, Period IA. There is variety in the shape of bowls as perforated legged bowls, channeled bowls, knobbed bowls; bowls/dishes-on-stand and spouted vases.

The Chalcolithic people of sub-period IB also lived in wattle-and-daub houses/huts as indicated by burnt nodules bearing reed and straw marks, mud floors and post-holes. The other important finding of sub-period IB comprises copper sheet arrowhead and a fishhook from the lower level. These copper objects are similar to those in Early and Mature Harappan context and the excavator suggests that there were some cultural contacts in this period between middle Ganga plain and Harappan region.[38] and another fragmented copper object like clamp; terracotta bead and sling ball; fragment of bone/antler bangle; a bone awl; a small stone scraper; beads of steatite, carnelian and semi-precious stones. Carbonized archaeobotanical remains of wheat, barley, lentil and field pea, including wild and domesticated rice were found. Charred and uncharred faunal remains, some of them having cut-marks, were recovered.[39]

Period II of Lahuradewa assigned as Developed Farming Phase with the cultural deposit of 1.50 m by the excavator, but the archaeological remains of this strata would have been seems of Chalcolithic period. It is represented by plain and painted black-and-red ware, black slipped ware and red ware with the presence of earlier wares. Some of the principal ceramic types were burnished. The main ceramic types dishes-on-stand, bowls-on-stand, pedestal bowls, perforated legged vessels etc. The painting motifs executed in white/creamy white pigment on black slipped ware, while decorative motifs occurred in ochre and black pigments on black-and-red ware potsherds. The geometric and linear patterns were main decorative pattern.

Copper fishing-hook and arrowhead, bone arrowheads, steatite disc shaped beads; stone pestle, sharpeners, balls and pounders; and terracotta objects were the other remains recovered from the excavations.

Deoraon (26º45'34'' N; 82º45'17'' E)

The site Deoraon is located 02 km northwest of Siswania in district Basti. A trial excavation was conducted at this site by B R Mani of Archaeological Survey of India (during the excavations at Siswania).[40] According to excavator, the chronology of this site is same as Siswania. The period I of Deoraon belongs to Pre-Northern Black Polished Ware period.

But during my visit at the site, I have found corded ware, black-and-red ware, black slipped ware, grey ware (occasionally burnished), slipped and plain red ware as ceramic assemblage; and some lithic assemblage in the form of raw materials, flakes, chips etc from the surface of the site.[41] On the basis of my analysis the period I of Deoraon seems to be of

Chalcolithic period in the absence of painted sherds of black-and-red ware. Incidentally, the painted black-and-red ware have been neither reported by the trail digging nor found during the surface exploration.

Kodra (27º00'05" N; 82º44'33" E)

The site Kodra[42] is situated in the vicinity of horse-shoe lake, locally known as Puraina *tal*, to the north of the district headquarters of Basti at a distance of 28 km. The site is scattered over an area of 25 hectares with the approximate elevation of 2.5 m. from the surrounding ground surface. The site comprises potsherds of cord-impressed red ware, black-and-red ware in fine fabric, black slipped ware in fine to medium fabric, grey ware in fine fabric, and red ware in medium to coarse fabric. Some potsherds bear design of rope pattern and nail headed in appliqué.

The site also revealed lithic assemblage, such as raw material, flakes and chips. The burnt wattle-and–daub has been also found from the surface of the site. According to these remains, the earliest habitation of the site belongs to Chalcolithic period. Unfortunately, the painted black-and-red ware, the prime ceramic tradition of Chalcolithic culture, have been not found during the exploration, but other remains of the site belongs to this period.

Ceramic Tradition

The ceramic assemblage of Chalcolithic period of Saryupar region consists of black-and-red ware, black slipped ware, red ware and grey ware. These ceramic types have been reported from the excavated sites associated to the Chalcolithc culture. The potsherds are generally wheel turned though handmade sherds also reported from the excavated sites of the region. In the manufacturing of pots, the Chalcolithic people of this region did not use well levigated clay. Whereas the clay contains small grits; rice-husk, sand and mica dust have sometime been used as degraissant.

The principal ceramic assemblage of Chalcolithic culture of the region is black-and-red ware (plain and painted both varieties). The painting was executed in white, cream, brownish and occasionally in reddish colour. The painting motifs were executed over the blackish surface on the interior or exterior and sometimes on both the surfaces. This process constitutes a salient feature of the Chalcolithic culture of Saryupar region. The types of painting motifs are generally in linear patterns— straight lines, oblique stokes and wavy lines; dots, dashes, semi-circle etc. The black-and-red ware have been reported from Sohgaura period II and III, Narhan period I, Imlidih-Khurd period II, Dhuriapar period I and Lahuradewa period IB and II. The potsherds in this variety have been found in fine to medium fabric. Occasionally, it was burnished also. The main shapes of this variety were bowls, pedestalled bowls, lipped/channeled bowls, bowls-on-stand, dishes-on-stand, basins, vases and jars.

The black slipped ware, another important ceramic assemblage represented from the excavated sites has also been found in plain and painted at Sohgaura, Narhan, Imlidih-Khurd and Lahuradewa. The painting is executed in white or creamy white or black pigments on the outer or inner surface. The painting motifs executed in the form of vertical and horizontal lines,

straight or oblique strokes, dots, wavy lines, lattice, oblique or slanting lines, and concentric arcs. The main shapes are bowls, globular vases, *lota* etc in fine to medium fabric.

In the association of these two ware, grey ware and red ware (slipped and plain both) in fine to coarse fabric have been reported from the excavated sites of the region. Of which, the red ware is in majority from all the excavated sites with slipped and unslipped surfaces. The red ware may be divided into sub-categories of the basis of fabric, shades, surface treatment and also in the manner of decorations. Generally painting motifs were executed over the reddish surface in black colour. The painting motifs are represented by vertical bands, oblique bands, single or group of horizontal bands. A few sherds of red ware bear painting in ochre colour, reported from Narhan.

Except painting, the red ware is decorated with incised, appliqué, knobbed and corded patterns. The incised pattern executed on the exterior surface of the pots contains linear patterns, series of dots and strokes, chevron, *zig-zag*, wavy lines, *criss-cross* etc. In-applique, thumbnail impression forming rope pattern on the potsherds have been reported from excavated sites of the region. The main shapes of this ware were perforated legged bowls, basins, vases, jars, *handis*, etc.

Subsistence Pattern

The survival of Chalcolithic culture was principally based on the agriculture. The archaeobotanical remains obtained from the excavated sites of the Saryupar region provide a rough idea for survival of the Chalcolithic people. A good number of archaeobotanical remains have been reported from Narhan[43], Imlidih-Khurd[44] and Lahuradewa.[45]

The cultivated rice (*Oryza sativa*), Barley (*Hordeum vulgare*), club wheat (*Triticum compactum*), bread wheat (*Triticum aestivum*), dwarf wheat (*Triticum sphaerococcum*), *bajra* or pearl-millet (*Pennisetum galaucum*), kodon-millet (*Paspalum scrobiculatum*) have been identified as cereal grains. The field pea (*pisum sativum*), *mung* or green gram (*Vigna radiata*), chickpea/gram (*Cicer arietinum*), horse-gram (*Dolichos biflorus*), khesari/ grass-pea (*Lathyrus sativus*), and *Masoor* or lentil (*Lens culinaris*) have been identified as pulses. Pluses have a group of legume family, which fix the atmospheric nitrogen and improve soil fertility with the help of bacteria in their root nodules.

The remains of mustard (*Brassica campastris*), field-Brassica (*Brassica juncea*), *til* or Sesame (*Sesamum indicum*) and *alsi* or flax/linseed (*Linum usitatissimum*) have been oilseeds reported from the excavated site of the region. Fruits like wild jujube (*Ziziphus nummularia*) and anwala (*Emblica officianalis*), jack fruit or Katahal (*Artocarpus heterophyllus*), grape possibly raisin or currants (*Vitis vinifera*), date (*Phoenix dactylifera*) have been obtained from Chalcolithic culture of excavated sites of the region. The common weeds *Bathua* / Goosefoot (Chenopodium album) and foxtail-millet (Setaria glauca); seeds and leaves of *Chaulai*/ amranthus are also reported from Chalcolithic culture of the region.

Albeit the Chalcolithic people of Saryupar region chiefly based on agriculture but the faunal remains shows the meat was included in their diet. A large number of charred and uncharred animal bones and antlers have been recovered from the excavated sites of the region. Some of the specimens were chopped off (cut-mark) also. The animal bones including humped Indian cattle (*Bos indicus*), sheep, goat (*Ovis/Capra*), and remains of wild animals like deer/antelope (*Axis sp*) and horse (*Equus sp*) have been identified from Narhan.[45] Faunal remains of Domesticated cattle, sheep/goat, horse and dog; and bears, hog-deer, spotted-deer, and *Barasingha*/swamp deer of wild animals have been reported from period II of Imlidih-Khurd.[47] Except cattle (*Bos indicus*) and buffalo (Bubalus bubalis), the presence of charred bones of large cat have been especially reported from the sub period IB of Lahuradewa.[48] Charred and uncharred bone remains along with antlers were also reported from period II of Lahuradewa.

The presence of botanical remains, charred and chopped off faunal remains from Chalcolithic period of excavated sites in the area represents that they were user of both type of foods - vegetarian and non-vegetarian.

Structural Remains

he remains of post-holes, wattle-and-daub (burnt clay lumps/nodules bearing reed marks), successive floors made of rammed earth, oven and hearths have been reported from period I of Narhan.[49] The post-holes, rammed mud floor, a mud wall, wattle-and-daub, hearth and earthen storage bin were reported from period IB and II of Lahuradewa.[50] Post-holes appear in a circular alignment. On the basis of wattle-and-daub it shows that, they were made screens of huts reeds and similar material supported by mud plaster. Two types of hearths have been reported from Lahuradeva period II— pit hearths which were dug below the floor and hearths made of clay placed on the floor. The rammed earth floors, generally 05-07 cm thick, were reported from Lahuradewa.[51] Some circular structures of grain silos/storage bins were exposed either below the surface or in natural soil from period II of Lahuradewa, whose internal surface have been coated sometime with clay plaster.[52] Among them one storage bin/silo was of 85 cm in diameter with internal depth of 70 cm. The internal surface of it was plastered with varied thickness of 2.5 to 08 cm. The measurements and shape of the storage bin, reported from the same period of Imlidih-Khurd, having internal diameter 85 m and the thickness of its wall is approximate 07 cm.[53] The other structural activities reported from period II of Imlidih-Khurd are— two successive mud-floors, post-holes, silos (storage bins) and ovens.[54]

On the basis of these structural activities, it is clear that the Chalcolithic people lived in huts made of wood/bamboo, reeds and similar materials. They were made their hut screen windproof with clay plaster.

Settlement Pattern

These settlements are principally located either on the bank of the tributaries of Ghaghra, Rapti and Gandak river, rivulet (*nullah*) or on the lake side. They provided fresh water; and foods through the fishing of the aquatic animals and agriculture also. The availability of fertile land for agriculture was the main reason of selection of this plain land (middle Gangetic plain)

for settlements in ancient time. The thickness of occupational deposit of Chalcolithic period in this area is 01 m from Narahan, 55 cm from Sohgaura period II, and 50 cm from period IB of Lahuradewa.

Chronology

The chronology of Chalcolithic culture of the Saryupar region has been given on the basis of material culture and thickness of habitational deposit. It suggests that these sites were occupied for a long time. Some sites have an overlapping phase i.e. late phase of Neolithic culture overlapped with early phase of Chalcolithic and late phase of Chalcolithic culture with the Iron age/pre NBPW culture.

C^{14} dates obtained from some of the excavated sites i.e. Sohgaura, Narhan and Lahuradewa etc.

Comparative assessment of C^{14} dates from different sites of middle Ganga plain

SN	Sites	Stratigraphic Context	C^{14} Dates	Calibrated dates (BCE)
1.	Sohgaura[55]	Period II	3280 ± 130 BP 1330 ± 110 BCE	1230 1490
2.	Imlidih-Khurd	Period II	--	--
3.	Narhan[56]	Period I	1123 ± 110 BCE 930 ± 100 BCE	
4.	Lahuradewa[57]	Period I B	3750 ± 90 BP 4170 ± 180 BP	2135, 2079, 2056 2919, 2570 2345 (2273) 2200 (AMS)
		Period II		1519, 1319, 2012, 1750
5.	Khairadih[58]	Period I	3070± 90 BP 1030± 160 BCE 940± 150 BCE	
4.	Jhusi[59]	Period III	1340±90 BCE 950±90 BCE 830±90 BCE	1597 (1490, 1480, 1450) 1400 1107 (973, 956, 941) 844 966 (830), 799
5.	Chirand	Neolithic	1655±100 BCE 1585±100 BCE 1540±90 BCE 1050±85 BCE 720±105 BCE	
6.	Senuwar[60]	Transitional Phase between Neolithic and Chalcolithic	1770 ± 120 BCE 1660 ± 135 BCE 1500 ± 110 BCE 1400 ± 110 BCE	

According to these C^{14} dates, the antiquity of Chalcolithic settlements in Saryupar region goes back to 2nd millennium BCE (about 1800 BCE). The late phase of Chalcolithic period with iron may be placed between 1100 BCE to 700 BCE.

References:

1. Singh, R L, *India-A Regional Geography, National Geographical Society of India*, Varanasi, 1971, p. 129.
2. *Anguttar Nikaya*, part I, 1885, p 213.
3. Chauhan, M S et.al, Pollen records of Holocene vegetation, Climate Change and Human Habitation from Lahuradewa Lake, Sant Kabir Nagar District, Uttar Pradesh India, *Man and Environment*, XXXIV (I), 2009, pp 88-100.
4. Chauhan, *op.cit*.
5. Chauhan, *op.cit*.
6. *Indian Archaeology: A review*,2009-10, pp 119-120.
7. *Indian Archaeology: A review*, 1983-84, p 87.
8. *Indian Archaeology: A review*, 1983-84, p 87.
9. *Indian Archaeology: A review*,1990-91, pp 69-70.
10. *Ibid.*
11. Tewari, R and B R Mani, Further Archaeological Investigations in Saryupar Area, *Pragdhara*, no. 06, p 159; Tripathi, Krishnanand, A note on the Archaeological remains collected from the Lahuradewa mound, *Pragdhara*, no 13, pp 69-72.
12. *Indian Archaeology: A Review*, 1996-97, pp 126-135; 2009-10, p 152.
13. *Indian Archaeology: A Review*, 2009-10, p 152.
14. *Ibid*.
15. *Ibid*.
16. *Ibid*.
17. *Ibid*.
18. *Indian Archaeology: A Review*, 1963-64, p 45.
19. *Indian Archaeology: A Review*, 2009-10, p 152.
20. *Op.cit,* 2009-10, p 153.
21. *Ibid*.
22. *Op.cit,* 2009-10, p 154.
23. *Ibid*.
24. *Indian Archaeology: A Review*, 1996-97, p 135.
25. *Indian Archaeology: A Review*, 1963-64, p 45.
26. *Indian Archaeology: A Review*, 1962-63, p 56; 1974-75, pp 46-47.
27. *Indian Archaeology, A Review*, 1963-64, p 45; 1984-85, pp 89-91; 1985-86, pp 81-82; 1986-87, p 79.
28. *Indian Archaeology A Review*, 1991-92, pp 107-109; 1992-93, pp 92-93.
29. *Indian Archaeology, A Review*, 1990-91, pp 71-72.
30. *Indian Archaeology, A review*, 1974-75, pp 46-47. Chaturvedi, S N, Advance of Vindhyan Neolithic and Chalcolithic Cultures to the Himalayan Tarai: Excavations and Explorations in the Saryupara Region of Uttar Pradesh, *Man and Environment*, XI, 1985, pp 102-108.
31. Chaturvedi, *op.cit*.
32. Singh P et.al, Excavations at Narhan 1983-85, *Puratattva*, no 15, pp 117-120.
33. Singh P et.al, 1984-85, *op.cit*.
34. *Indian Archaeology A review*, 1990-91, pp 71-72.
35. *Indian Archaeology A review*, 1991-92, pp 107-109; Singh, P, 1992-93, Archaeological Excavations at Imlidih Khurd- 1992, *Pragdhara*, no 03, pp 21-35.
36. *Indian Archaeology A review*, 1991-92, pp 107-109; Singh, P, 1992-93, *op.cit*.

37. Tewari R, *et al*, 2001-02, 'Excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar (UP)', *Puratattva* No. 32, pp 54-56; Tewari, R, *et al*, 2002-03, 'Preliminary Report of the Excavation at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar, UP 2001-2002 wider archaeological implications', *Pragdhara*, No, 13, pp 37-68; Tripathi, Krishnanand, 2002-03, 'A note on the Archaeological remains Collected from the Lahuradewa mound', *Pragdhara*, No. 13, pp 69-72; Tewari, *et al*, 2005-06, 'Second Preliminary Report of the excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar, U P: 2002-2003-2004 & 2005-06', *Pragdhara*, No 16, pp 35-68; Tewari, et al, 2005-06, Further Excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar (U.P.) 2005-06: Preliminary Observations, *Puratattva*, no 36, pp 68-75.
38. Tewari, *et al*, 2005-06, *op.cit*.
39. Tewari, R, *et al*, 2001-02, *Pragdhara, op.cit*.
40. *India Archaeology, A review*, 1995-96, p 86.
41. Chaudhary, Sandeep Kumar, *Palaeoenvironment and Ancient Settlement Pattern along river Kuwana (Kuano)*, Lucknow, 2016, pp 45-48.
42. Chaudhary, *op.cit*, pp 58-61; Srivastava, D K and S K Chaudhary, Kodra: An ancient Settlement near Ox-bow Lake in Saryupar Plain, *Kosala*, no X, 2017, pp 119-124.
43. *Indian Archaeology, A Review*, 1985-86, p 123; 1987-88, p 151, Saraswat, KS et al, Plant economy at ancient Narhan, In Singh, P. (Ed.), *Excavations at Narhan* (1984-89), 1994, Delhi, pp. 255-346.
44. *Indian Archaeology, A review*, 1992-93, p 93; Saraswat, KS, 1992-93, Seed and Fruit remains at Ancient Imlidih-Khurd, Gorakhpur: A preliminary Report, *Pragdhara*, no 03, pp 37-41.
45. Tewari, R, *et al*, *op.cit*.
46. *Indian Archaeology, A review*, 1984-85, p 90.
47. *Indian Archaeology, A review*, 1992-93, p 93.
48. Tewari, R, *et al*, 2001-02, *Pragdhara*, *op.cit*.
49. *Indian Archaeology, A review*, 1984-85, p 90; 1985-86, p 81.
50. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
51. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
52. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
53. Singh, P, 1992-93, *op.cit*.
54. Indian Arcaeology, A review, 1992-93, p 93.
55. *Indian Archaeology, A review*, 1974-75, p 76.
56. *Indian Archaeology, A review*, 1988-89 p 110.
57. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*; 2005-06, *op.cit*.
58. Singh, BP, Khairadih- A Chalcolithic Settlement, *Puratattva*, no 18, 1989, pp 28-34.
59. Mishra, VD, JN Pal and MC Gupta, Further Excavations at Jhusi (1998-99), *Pragdhara*, no 10, 1999-2000, p 28.
60. Singh, BP, Early Farming Communities of Kaimur Foot-Hills, *Puratattva* no 19, 1988-89, p 18.

ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन (छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगाँव जिले के संदर्भ में)

एस. कुमार
डॉ. सपना शर्मा सारस्वत

मुख्य शब्द- पारंपरिक, कृषि, पशुपालन, गोबर खाद।

प्रस्तावना - भारत गाँवों का देश है क्योंकि आज भी हमारे देश की कुल जनसंख्या का लगभग 68.84 प्रतिशत, 83.3 करोड़ (2011 के जनगणना के अनुसार) से अधिक भाग ग्रामीण समाज में ही निवास करता है भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि 54.6 प्रतिशत आबादी कृषि और उससे संबंधित कार्यों में लगी हुई है अतः भारत में ग्रामीण जीवन का अत्यधिक महत्व है। ग्राम या गाँव कोई नवीन शब्द नहीं है क्योंकि आदिकाल से ही इसका प्रयोग सामाजिक संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने वाले संगठन के रूप में किया जाता रहा है। गाँव के लिए पहले 'ग्रिह' अर्थात 'गिरोह' अथवा झुण्ड तथा 'याली' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता था यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि आखिर गाँव किसे कहते हैं तथा इसकी प्रकृति कैसी है? प्रमुख विद्वान गाँवों में समान्यतः मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य निकट प्रत्यक्ष व घनिष्ठ संबंधो का पाया जाना अनिवार्य मानते हैं। सिम्स के अनुसार गाँव वह नाम है'' जो साधारणतया प्राचीन कृषकों की बस्ती को दर्शाता है।'' ग्रामों या गाँवों का धीरे-धीरे विकास हुआ और वहाँ के निवासी ग्रामीण तथा कृषक कहलाये। इसी आधार पर गाँवों में निवास करने वाला निवासी ग्रामीण तथा कृषक कहलाएँगे। इसी आधार पर गाँवों में निवास करने वाला समाज ग्रामीण अथवा कृषक समाज कहलाता है।[1]

ग्रामों में ही कृषि कार्य की उत्पत्ति तथा प्रारंभ हुआ, गाँव में कृषक अपने पूर्वजों के द्वारा सिखाए गये विधियों और तरीकों को अपना कर कृषि कार्य करते थे परन्तु आधुनिक समाज के संपर्क के आने से गाँवों में कृषि कार्य अब आधुनिक तरीकों से किया जाने लगा है। रासायनिक खाद व उर्वरकों, रासायनिक कीटनाशकों तथा आधुनिकतम संकर बीजों का प्रयोग कृषि कार्यों में होने लगा है। पहले कृषि कार्य कृषक अपने उपलब्ध संसाधनों के माध्यम से करता था, कृषि कार्यों हेतु बैल, हल, कुदाल, आदि का प्रयोग करता था साथ ही खाद का निर्माण भी खुद ही करता था जो कि बहुत ही गुणवत्तापूर्ण तथा मृदा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभकारी होता था, खाद निर्माण हेतु गोबर का प्रयोग तथा चारे के अपशिष्ट व कृषि अपशिष्टों का प्रयोग कर घुरूवा (खाद निर्माण करने का गड्ढा) में एकत्रित करता था तथा प्रतिदिन निकलने वाले घर तथा पशुओं के अपशिष्ट गोबर, गोमूत्र आदि को उस गड्ढे में एकत्रित किया जाता था। इससे जैविक खाद निर्मित कर खेतों में उसका प्रयोग करता है, परन्तु कृषकों का आधुनिक खेती के प्रति आकर्षण ने परम्परागत कृषि तकनीकों तथा विधियों को विलुप्ति के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। पर्यावरण तथा समाज पर कृषि के आधुनिक तरीकों के नकारात्मक प्रभाव को देखते हुए, बहुत से वैज्ञानिक तथा कृषक आन्दोलन अब कृषि के पारम्परिक तरीकों तथा अधिक सावयवी बीजों के प्रयोग की ओर लौटने की सलाह दे रहे हैं। बहुत से ग्रामीण लोग स्वयं विश्वास करते हैं कि संकर किस्म, पारम्परिक किस्मों से कम स्वस्थ होती है।[2]

कृषि की ऐसी प्राचीन शैली जिसमें स्वदेशी ज्ञान, पारंपरिक उपकरण, प्राकृतिक संसाधनों, जैविक उर्वरक और किसानों की सांस्कृतिक मान्यताओं का गहन उपयोग हो उसे पारंपरिक कृषि कहते हैं। संयुकत राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार, विश्व में 250 मिलियन से अधिक आबादी अपनी जीवन निर्वाह के लिए इसी प्रकार की कृषि पर निर्भर है।[3]

भारत में अभी भी विभिन्न कृषि पारिस्थितिक दशाओं में प्राचीन परम्परागत कृषि पद्धति के कुछ अवशेष विद्यमान हैं, जिन्हें पुनर्जीवित, संशोधित व सम्वर्धित करके पोषणीय कृषि के आधार को सशक्त किया जा सकता है। परम्परागत कृषि पद्धति में स्थायी कृषि/टिकाउ खेती की संभावनाएँ छिपी हुई है।[4]

भारत में जैविक खेती की परंपरा और महत्व आरम्भ से ही रही है। पूर्ण रूप से जैविक खादों पर आधारित फसल पैदा करना जैविक कृषि कहलाता है। दुनिया के लिए भले ही यह नई तकनीक हो, लेकिन देश में परंपरागत रूप से जैविक खाद पर आधारित खेती होती आई है। जैविक खाद का इस्तेमाल करना देश में परंपरागत रूप से होता रहा है।[5] परम्परागत कृषि तकनीकें अनुभव आधारित, पारिस्थितिकी की मांग के अनुरूप, स्थानीय सभ्यता से जुड़ी, कृषक समाज में स्वीकार्य एवं सस्ती होती हैं। अतः ये कृषि के लिए लाभकारी होती हैं।[6]

शोध अध्ययन का उद्देश्य:-

1. परम्परागत कृषि तकनीकों एवं विधियों के प्रति ग्रामीणों के ज्ञान, दृष्टिकोण तथा व्यवहार का विश्लेषण करना है ।
2. ग्रामीण समाज में विद्यमान पारंपरिक कृषि पद्धतियों का विश्लेषण करना।

शोध क्षेत्र एवं प्रविधि-प्रस्तुत अध्ययन में छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगॉव जिले के विकासखण्ड क्रमशः छुईखदान, खैरागढ़ एवं राजनांदगॉव के10 - 10 ऐसे ग्राम पंचायतों का चयन किया गया है जहॉ सुराजीगॉव योजना का क्रियान्वयन किया जा रहा है, सुराजीगॉव योजना के माध्यम से कृषि के पारंपरिक एवं प्राकृतिक संसाधन नरवा, गरूवा, घुरूवा और बाड़ी को संरक्षण एवं संवर्धन का कार्य किया जा रहा है। आदर्श संख्या प्रति ग्राम पंचायत 15 मानते हुए कुल 450 सूचनादाताओं का चयन सुविधामूलक उद्देश्यपूर्ण निदर्शन प्रक्रिया द्वारा संपादित किया गया है। प्रत्येक ग्राम से ग्राम गौठान समिति एवं महिला स्वयं सहायता समूह के सदस्य जो ग्राम गौठान में कार्यरत हैं को सूचनादाता के रूप में चयन किया गया है।

प्राथमिक समंको को एकत्र शोधकर्ता द्वारा साक्षात्कार अनुसूची तैयार करके साक्षात्कार विधि द्वारा किया गया है। द्वितीयक समंको का संकलन प्रकाशित अप्रकाशित अभिलेखों के माध्यम से किया गया है। एकत्रित आंकड़ों का वर्गीकरण, सारणीयन, प्रतिशत आदि सांख्यिकी विधियों का प्रयोग करके निर्वचन किया गया है।

शोध परिणाम एवं व्याख्या -चयनित उत्तरदाताओं में से प्राप्त जानकारी को आधार बनाकर प्रस्तुत अध्ययन में परम्परागत कृषि तकनीकों एवं विधियों के प्रति ग्रामीणों के ज्ञान, दृष्टिकोण तथा व्यवहार का विश्लेषण निम्नवर्णित तालिका में स्पष्ट किया गया है।

तालिका क्रमांक 1.1

उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ

क्रमांक	गोवंशीय पशुएँ	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	369	82
2	नहीं	81	18
योग		450	100

यदि हाँ तो गोवंशीय पशुओं का नश्ल			
क्रमांक	गोवंशीय पशुओं का नस्ल	आवृत्ति	प्रतिशत
1	देशी	358	97.01
2	अन्य	8	2.16
3	दोनों	3	0.82
योग		369	100
1			
2	नहीं	81	18
योग	450	100	
यदि हाँ तो गोवंशीय पशुओं का नश्ल			
क्रमांक		गोवंशीय पशुओं का नस्ल	आवृत्ति

इस प्रकार अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वाधिक 82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ है तथा 18 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ नहीं है। उसमें से सर्वाधिक 97.01 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर देशी नस्ल के गोवंशीय पशुएँ है तथ 2.16 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर अन्य नस्ल के हैं तथा 0.82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर देशी एवं अन्य दोनों नस्ल के गोवंशीय पशु हैं। सर्वाधिक 78.04 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर दूध की प्राप्ति होती है तथा 21.95 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर दूध की प्राप्ति नहीं होती है।

ग्रामीण समाज में कृषि के साथ गो-पालन प्रमुखता से पाया जाता है। पशुपालन से परिवार के आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में देशी नस्ल के गोवंशीय पशुओं की अधिकता है जिनसे दूध भी कम प्राप्त होता है तथा आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक लाभ दायक नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में नस्ल सुधार कर गो-पालन को अधिकाधिक लाभदायक बनाया जा सकता है।

आरेख क्रमांक 4.1 पशुपालन की उपयोगिता

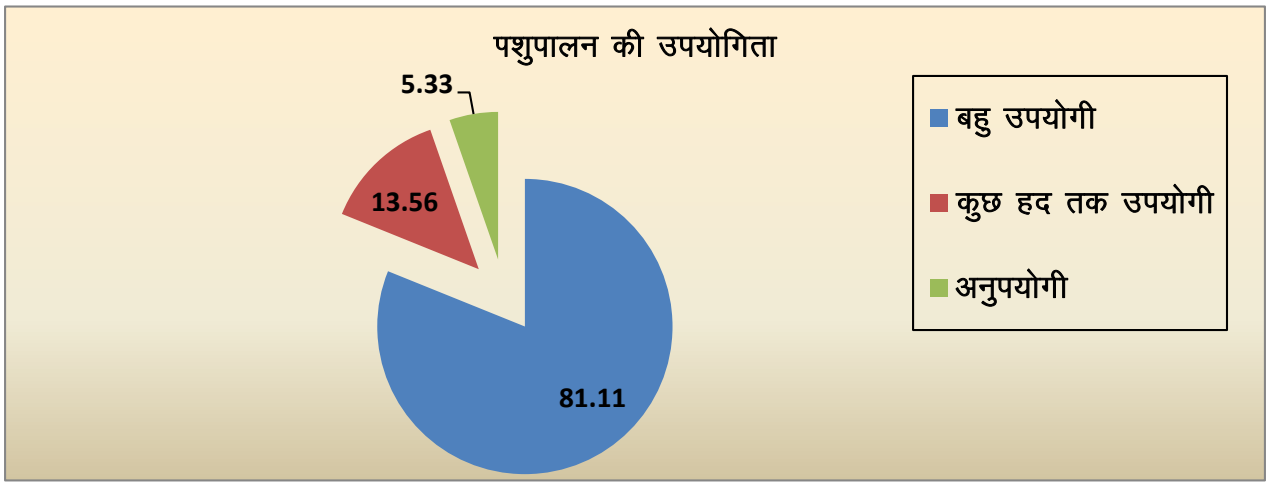

आरेख क्रमांक 4.1 से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 81.11 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने ग्रामीण समाज के लिए पशुपालन को बहुउपयोगी माना है, 13.56 प्रतिशत ने कुछ हद तक उपयोगी तथा 5.33 प्रतिशत ने अनुपयोगी माना है।

सर्वेक्षण में यह पाया गया कि पशुपालन आज भी ग्रामीण समाज का अभिन्न अंग है तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्थान रखता है। पशुपालन से कृषि पर आश्रित परिवारों को अनुपूरक आय प्राप्त होता है साथ ही पशु उत्पाद ग्रामीणों के लिए पोषणीयता का प्रमुख साधन भी है।

तालिका क्रमांक 4.2

उत्तरदाताओं के घर गोबर से खाद निर्माण किया जाना

क्रमांक	गोबर से खाद निर्माण किया जाना	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	369	82
2	नहीं	81	18
योग		450	100

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार उनके घर गोबर से खाद निर्माण किया जाता है तथा 18 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोबर से खाद निर्माण नहीं किया जाता है।

अतः निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण समाज में लोगों के द्वारा प्रमुखता से गोबर से खाद निर्माण किया जाता है। ग्रामीण कृषकों के लिए खाद आपूर्ति का यह अच्छा माध्यम है। ग्रामीण कृषक बहुत ही सरलता एवं सुगमता से गोबर से खाद निर्माण कर खेती-बाड़ी में उपयोग करते हैं, इससे रासायनिक खाद की निर्भरता में कमी के साथ कृषि लागत में भी कमी आती है।

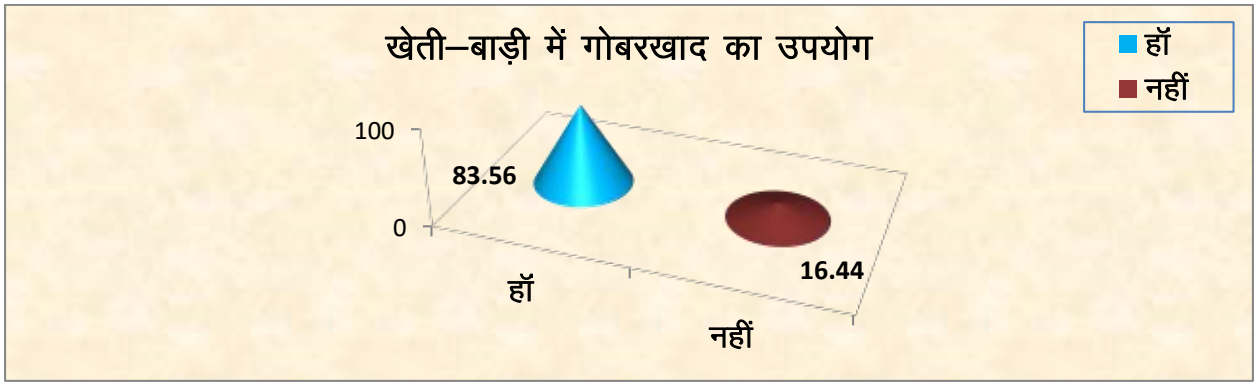

आरेख क्रमांक 4.2 खेती-बाड़ी में गोबर खाद का उपयोग

आरेख से स्पष्ट है कि 83.56 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर खेती-बाड़ी में गोबर खाद का उपयोग किया जाता है तथा 16.44 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर नहीं किया जाता है। स्पष्ट है कि ग्रामीण कृषकों द्वारा गोबर खाद का उपयोग आज भी प्रमुखता से किया जाता है। इसके बहुत से लाभ है एवं ग्रामीण कृषक उन लाभो से भली-भांति परिचित भी हैं। गोबर खाद के उपयोग को अधिकाधिक बढ़ावा देकर रासायनिक खाद के दुष्परिणामों को कम किया जा सकता है।

तालिका क्रमांक 4.3

घुरूवा खाद का उपयोग

क्रमांक	घुरूवा का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	प्रतिवर्ष	365	81.11
2	2 वर्ष के अंतराल में	19	4.22
3	कभी नहीं	66	14.67
योग		450	100

घुरूवा खाद का उपयोग संबंधी उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 81.11 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर घुरूवा खाद का प्रयोग प्रतिवर्ष किया जाता है, 4.22 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर 2 वर्ष के अंतराल में तथा 14.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर घुरूवा खाद का उपयोग कभी नहीं करते है। अतः निष्कर्ष कहा जा सकता है कि ग्रामीण कृषकों द्वारा घुरूवा खाद का उपयोग प्रति वर्ष किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्र में घुरूवा खाद निर्माण तथा उपयोग प्रमुखता से किया जाता है।

निष्कर्ष:-कृषि के क्षेत्र में परंपरागत व्यावहारिक तकनीक को आधुनिक विकास के अनुरूप ढाल कर प्रयोग में लाया जाए तो कृषि लागत को कम कर कृषि को लाभकारी बनाए जाने की संभावनाएँ हैं। असिंचित क्षेत्रों में अधिकांशतः वर्तमान में पारंपरिक खेती ही की जाती है। पारंपरिक कृषि में कृषक अपने पारिवारिक साधन, श्रम और ज्ञान का प्रयोग करता है। प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में पशुपालन प्रमुखता से किया जाता है। जिससे कृषि पर आश्रित परिवारों को अतिरिक्त आय प्राप्त तो होती ही है, साथ ही पशु पोषणीयता का प्रमुख स्त्रोत भी है। ग्रामीणों द्वारा प्रमुखता से गोबर खाद बनाया जाता है, गोबर की खाद के उपयोग से मृदा की उर्वरा शक्ति बनी रहती है। मृदा कणों को आपस में जोड़कर मृदा कटाव को रोकती है। गोबर खाद के उपयोग से भूमियों की जल धारण क्षमता व पोषक तत्व धारण क्षमता उच्चकोटि की होती है। परम्परागत कृषि पद्धति को पुनर्जीवित, सवंर्धित व संशोधित करके स्थायी व टिकाउ कृषि को सशक्त किया जा सकता है। ग्रामीणों को परम्परागत कृषि पद्धतियों का ज्ञान हजारों वर्षो से करते आ रहे कृषि कार्यो से प्राप्त हुआ है। उसके लिए आवश्यक अथाह ज्ञान किसानों को एका-एक नहीं मिला, न ही किसी वैज्ञानिक द्वारा उन्हें सुझाया गया है। यह ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कारों और अनुभवों से अर्जित किए है। इस पारंपरिक ज्ञान का हस्तांतरण शीघ्र होना चाहिए नहीं तो यह व्यवहारिक ज्ञान की संपदा सदा के लिए समाप्त हो जाएगी।

संदर्भ सूची-

1. अग्रवाल अमित(2013)''भारत में ग्रामीण समाज'' विवेक प्रकाशन जवाहर नगर दिल्ली पृ.क्र.91 - 92
2. एन.सी.ई.आर.टी. (2015-16) ग्रामीण समाज में विकास एवं परिवर्तन पृ.क्र 65
3. https://www.jagranjosh.com/general-knowledge/traditional-agriculture-and-its-impact-on-the environment-in-hindi-1522411444-2
4. https://www.agriculturestudyy.com/2021/05/traditional-farming-in-hindi.html
5. **https://hi.vikaspedia.in/agriculture/policies-and-schemes**
6. बी.डी. सिंह (2019) परम्परागत कृषि तकनीकों का महत्व खेती जनवरी पृ.क्र.14

Varanasi – An Iconic Cultural Heritage city of India: Exploring its cultural Heritage tourism products and the status of tourism post covid Pandemic.

Shipra Singh Chauhan
Srishti Banerjee

Abstract

A positive effect of the Covid pandemic found on the Indian tourism industry is that our domestic tourist has now generated interest and are now more inclined to the domestic destinations rather than preferring foreign destinations. We have seen good growth in domestic tourism in recent times since the tourism industry is resumed. Though some destinations have always been on the top list of tourists before and after the pandemic, some downfall has been observed in the post-pandemic phase, in such a category falls a beautiful city of rich heritage and culture that is Varanasi which is also known for various names. In this paper, we will explore and discuss the cultural heritage tourism products of Varanasi consisting of tangible and intangible heritage products and how the scenario of tourism has changed in the post-pandemic phase. We will applyan S (Strength) W (Weakness) O(Opportunities) T(Threats) analysis to get a check on the tourism status of Varanasi. Varanasi has always been popular as a spiritual and religious tourism destination but what else one can find here willbe discussed in this paper.We will discuss our findings to promote and develop tourism in Varanasi in the post-pandemic phase.

Keywords: Heritage, cultural tourism, tangible heritage, intangible heritage, tourism product.

1. Introduction

As per the report of UNWTO, the major proportion accounted for international tourism arrival is in the form of cultural tourism. Culture has always been an integral part of tourism**.**Cultural sights, attractions, and events provide an important motivation for travel, and travel in itself generates culture. But it is only in recent decades that the link between culture and tourism has been more explicitly identified as a specific form of consumption: cultural tourism. Cultural tourism is one type of tourism for which we have recently received an operational definition in the 22nd session the of General Assembly held by UNWTO in China (2018).As per this new operational definition, cultural tourism is a type of tourism activity in which the visitors' main motivation is to learn, discover, experience, and consume tangible and intangible cultural attractions/ products in a tourist destination.

Culture is a combination of many aspects of our society such as religion, dresses, style of dressing, food, language, dance, music, and so on. Culture is different all over the world and in India itself, one can experience diversity in culture in every corner it is rightly said in the context of India that "Do kos pe pani badle char kos pe boli" which means at every 2 miles there is a change in taste of water and every 4-mile change in language. This diversity of culture works as a catalyst to boost tourism in India. But to retain the progressive growth and maintain the graph

of visitors and visitor satisfaction in the upward direction we need to explore our tourism assets and should initiate grouping them as per tourist interest and serve some new packages which fulfill the desire of tourists. In India, Uttar Pradesh is one of the states which has a rich treasure of cultural and heritage-based tourism products but among all the cities of Uttar Pradesh, Varanasi is one place that has always been in the bundle of options for all kinds of tourists whether spiritual, religious, historian, archaeologists, educationist, leisuretravelers and so on. In short, we can say that Uttar Pradesh is not all about the Taj Mahal. We have places like Varanasi where one can experience several kinds of feelings at one destination. Here, one can talk about cuisine, art, handicraft, temples, history of the city, Buddhist places of value, etc. In this paper, we will explore the culture and heritage-based tourism products of Varanasi and will discuss the actions required to be taken for the publicity of it, as this is the biggest irony with India most of our assets have been overlooked and are not brought on the menu of attractions. There are so many places, so many cultural aspects which even we Indians are not aware of, then how come we can expect foreign visitors to know about such things. If such products are given proper consideration and tourists are made aware of them before visiting this place can change the face of tourism in Varanasi. Else tourists will visit only a few places and move on to some other destination and gradually, by the passing time will lose their interest in this destination.

2. Objectives of the study

- Exploring the key aspects of cultural heritage tourism products of Varanasi.
- Evaluating the tourism growth or decline in the last 4-5 years.
- Bringing out what else can be offered to tourists in Varanasi to retain the interest of the tourist.
- Evaluating the potential of Varanasi as a cultural tourist destination.
- Evaluating the challenges for tourism in Varanasi.

3. Methodology

In this study, we have used descriptive and explorative methods. The secondary source of data has been used to achieve defined objectives, for this, we have used published research articles, research papers, conference proceedings, magazine articles, books, newspapers, and data from the Uttar Pradesh tourism official website.

4. Study Area Background

Varanasi is one of the oldest surviving cities in the world, records say human settlement in this city dates back to 1000 BC, and as per ancient scriptures it is 2500 BC. Varanasi is one of the most popular spiritual and pilgrim destinationsin India. It has over 3000 Hindu shrines, about 1400 Muslim shrines 12 churches, 3 Jain temples, 9 Buddhist temples, and 3 Sikh temples.India's most sacred river Ganga is the USP of Varanasi. Many travelers visit Varanasi especially to attend Ganga Arti and to take a dip in its holy water. Thiscity lies between the Varana River in the north and the Asi stream in the southwhich is why it is called VARANA+ASI = Varanasi. It is also famousfor several names such as Banaras (The Buddhist literature like the *Jatakas* frequently referred to Varanasi as Banarasi or Banaras. Britishers

misperceived the name and spell it as Benares), Benaras, Kashi ('concentration of cosmic light), Avimukta ('never forsaken'). Varanasi is also popular as the cultural capital of India.

Since the river Ganga holds high religious value for Indians, So the culture one experience inVaranasi findsclosely associated and linked with it. It has become a cultural and religious hotspot in the Northern part of India for years. It has the origination of Indian classical music and the most famous Indian philosophers, writers, poets as well as musicians. Banaras is the most religious city in the world as Gautama Buddha has given his first sermon at Sarnath, the famous tourist place located in Kashi.

The three main religions of India were born in Varanasi; Hinduism, Jainism, and Buddhism. These spiritual beliefs and rituals revolve around the holy river Ganga.It is known for narrow lanes, chanting monks on every corner of ghats, illuminated ghats (river banks), and aimless crowds searching for their meaning in life, Varanasi is completely a different experience to be enthralled with.This city is the epicenter for studying Yoga, medicine, holistic healing science, natural science, and others, which enhances its potential for spiritual tourism.

5. A trail to Cultural Heritage Tourism Products of Varanasi

Tourist attractions of Varanasi are, in fact, a combination of religion, culture, heritage, and ecology. Although the Buddhist Stupa of Sarnath was included in the tentative list of UNESCO World Heritage sites in 2015 finally was not included in the final one.

5.1. Art & Literature

Varanasi has a unique art culture. In the past, it was the center of traditions and culture. The topartworks that flourished on this land were metal works (Ivory work, Brassware, copperware), Banaras silk weaving, Bhadohi carpet, clay toys, etc. Among this list,the Banarasi silk saree is something which is a must in all Hindu marriages, the wardrobe of the bride is incomplete without a Banarasi saree, and ladies used to wear these hand-woven sarees on special occasions. Varanasi has an old culture of fine art and literature. Great Indian writers such as Kabir Das, Ravidas, Tulsidas, Bharatendu Harishchandra, Jaishankar Prasad, Hazari Prasad Dwivedi, Tegh Ali, Acharya Shukla, Munshi Premchand, Sudama Pandey, Devaki Nandan Khatri, and Vidya Niwas Mishra and many more have lived in this city.

5.2. Music

Varanasi is an epitome of music, since ancient times. Vocal and instrumental music thrived in Benaras. Notable music personalities of Varanasi are Samta Prasad, Kishan Maharaj, Ravi Shankar, Bismillah Khan, Samar Saha, and others.

5.3. Dance forms

Popular classical dance forms of Varanasi are Kathak, Raslila, and Ramlila.

5.4. Medical significance

Sushruta was a great surgeon and author of the book Sushruta Samhita has also lived in Varanasi. This city has hospitals for Ayurveda and Panchkarma treatment. Hence this city has got good scope for Ayurveda and wellness tourism too.

5.5. Food Culture in Varanasi

One can easily find the cultural and traditional food on the streets. For example,fora break,fast one can have Jalebi and Dahi, Samosa and dahi with green chatani, Kachaudi, and a variety of delicious sweets. Here, People love to eat tasty chaat, which is easily available at every corner and Uttar Pradesh itself is famous for the variety of tasty chaat. In the summer season, one can cherish Lassi with Malai and ice pieces. On the occasion of any fairs or festivals, locals prepare a variety of food including Papad, Dahi bade, Desserts, Gujhiya, Chips, Pani puri, and other dishes. Litti Chokha and sattu ka paratha are also very popular in Varanasi and one can easily find these things in restaurants and at roadside vendors too.The most famous among all is the Banarasi Pan, even we have songs in Bollywood mentioning banarasi pan. Which itself is the proof of Banarasi food items.

6. Built Architecture and tourist sites

Tourism is flourishing in terms of pilgrims and sightseeing lovers. Varanasi is a beautiful destination filled with numerous tourist destinations like

6.1. Ghats

Life on the ghats of the Ganga and the evening Ganga Arti change the way you see the holy river. Some important ghats of Varanasi are riverfront ghats, Assi ghat, Manikarnika ghat, and many more ghats to see at Varanasi.

6.2. Temples

Varanasi is most popular for its temples and is also called the holy city of temples. Among all the temples few of the most famous temples are:

6.2.1. Kashi Vishwanath temple

The Kashi Vishwanath temple is dedicated to Lord Shiva and is the 12 Jyotirlingas. The current temple was built in 1776 by Ahilya Bai Holkar of Indore with about 800 kg of gold plating on the towers.

6.2.2. Bharat Mata Temple

This temple is located in the Kashi Vidyapeeth Campus and is unique in itself. This temple is themanifestation of Bharat in human figure popularly known as Mother India or Bharat Mata and the sanctum of the temple does not have any statueof Bharat Mata; instead, it

manifests a very big relief map of India sculpted out of marble. The temple was inaugurated by Mahatma Gandhi.

6.2.3 Ratneshwar Mahadev Temple

This temple is also famous as the leaning temple of Varanasi, it is among the two leaning buildings in the world and is unique of its kind. This is one of the most clicked temples and even sites of Varanasi, located on a popular known as Manikarnika Ghat. There is no physical or written evidence of who built this built however, there are many fictitious stories about this temple which one can enjoy from the locals here. It is tilted at an angle of 9 degrees which is almost 5 degrees greater than the world's famous leaning tower of Pisa

6.3.Ramgarh Fort

The fort is built in red sandstone and has a temple and a museum on the grounds the temple is dedicated to Ved Vyasa, who wrote Mahabharata, the great Indian epic. It is located around 14 Km from Varanasi.

6.4.Jantar Mantar

Maharaj Jai Singh was a great admirer of science and technology and he was particularly passionate about astronomy. It was used to measure the local time, the sun's declination, altitude, the declination of stars, planets and to determine eclipses. Several masonry instruments can be found at the Jantar Mantar in Varanasi which were usedto record the motion, speed, and properties of stars and planets and study astronomy that are accurate and can still be used efficiently today. It was built in 1737.

6.5.Dhamek Stupa- Sarnath

This amazing stupa is built with a balanced mixture of stone and brick.The stone fixed in the lower part is adorned with delicate floral carvings of Gupta origin. It has a great religious value inthe Buddhist sect.

6.6.Some lesser popular sites of Banaras

Apart from this Varanasi has a lot more to offer the visitors which can potentially be used to motivate tourists such as: -

Ghats: Dashashwamedha ghat, Man Mandir ghat, Harishchandra ghat, Scindia ghat, Kedar ghat, Chausathi ghat, Panchganga/Adikeshav ghat

Temples: Vishwanath Khanda, Durga temple, Kedareshwar temple, Sankat Mochan temple, Shitla temple, Chausath Yogini temple, Tulsi Manas temple.

Sarnath: Light and sound program, Mulagandha Kuti Vihar, The garden of spiritual wisdom, Sarnath museum, Chaukhandi stupa.

This is just an overview of a few tourism resources or products that Varanasi offers to its tourist instead there are many such things to see and experience in Varanasi which work as a pull factor for tourists and creates great scope for Varanasi as a potential tourist place. The effect can be seen in the database of tourist arrival at Varanasi from the year 2016-to 2019 before covid pandemic

S.No	Year	Indian	Foreign	Total
1	2016	5300146	312519	5912665
2	2017	5947355 (+)	334708 (+)	6282063
3	2018	6095890 (+)	348970 (+)	6444860
4	2019	6447775 (+)	350000 (+)	6797775
5	2020	876303 (-)	106189 (-)	982492

Annual Tourist Visit Statistics of Varanasi, year:2016-2020

Source: Uttar Pradesh Tourism Board website

DISTRICTWISE / DESTINATIONS DOMESTIC AND FOREIGN TOURIST VISITS AND RANKING IN UTTAR PRADESH IN YEAR-2020

The decline in the percentage of tourist arrival (Domestic) = 86.409%
The decline in the percentage of tourist arrival (Foreign) = 69.66%
From the above stats, we can see the continuous growth in tourist influx (Both domestic and international) at Varanasi pre covid pandemic and a steep decline in 2020 when Covid pandemic hit the world and impacted specially the tourism industry.

2019		**Rank**	
Domestic tourist visits (DTV)	Foreign Tourist Visit (FTV)	Domestic tourist visits (DTV)	Foreign Tourist visit (FTV)
6447775	350000	6(⇧	3 (⇩)

2018		**Rank**	
Domestic Tourist visit (DTV)	Foreign tourist Visit (FTV)	Domestic Tourist Visit (DTV)	Foreign Tourist visit (FTV)
6095890	348970	7	2

Previous ranking of Varanasi in terms of Tourist arrival, A comparison in incline and decline from 2018 to 2019.

From the above table, it is clear that domestic tourist arrival is increasing annually however foreign tourist arrival is decreasing which is an indicator of some lacking in terms of services or might be some other reasons. At the same time, there have been many challenges in post covid phase to attract tourists to this destination.

7. Challenges for tourism in Varanasi Post Covid pandemic

After analyzingthe given database one can find out how Covid has changed the picture of tourism in Varanasi. The crowded lanes and markets were all empty, only priestsused to be present at the time of Ganga art and so on.So here the question rises are that will the city be able to resume tourism like before or does the tourism approach need to be upgraded?

My finding through the literature review is that tourists are looking for less populated and cleaner places post covid pandemic. This could be a big challenge for Varanasi as the city is densely populated with narrow lanes and crowded market places, old-built houses, open eating joints, etc.This could impact the tourist influx of the city, even domestic tourists nowadaysare also looking for remote and exotic places preferably eco-resorts or rural places and similar greener places.

8. Suggestions

- Authorities should look into the sanitation status,especially at the tourist sites.
- Hygiene should reach the international standard to convince tourists regarding their health safety.
- Authorities should keep a check on guidelines,especially for the crowded places at ensuring social distancing.
- Shift of tourists' interest through some innovative new tourism products or packages to ensure the lesser gathering of tourists at one place at a particular point of time.
- Time scheduling or time management should be closely watched in collaboration with various stakeholders working in the Varanasi tourism industry.
- Check on the number of tourists to participate in Ganga arti or any other such event at one point in time by either start keeping tickets for entrance or some other scheme.
- Special awareness campaigns and promotion of less popular tourist attraction is highly required.
- Orientation program should be conducted for host and guest to ensure health safety of both.

Recently, adventure tourism has started gathering the attention of tourists but just a few in numbers, in this case,stakeholders can shift the focus of tourists towards adventure-based activities, heritage walks, etc by repetitive promotion of these activities. Varanasi is blessed with the biggest resource that is the river Ganga which is the mother of water-based adventure sports and activities in India, places such as Rishikesh and many more are getting benefitted from this

single resource in the name of adventure space then why not is Varanasi can avail the benefits from this holy river.

References

1. Richard, G. (2018). Cultural Tourism: A Review of recent research and trends. Journal of Hospitality and Tourism Management, Volume 36, Pg 12-21
2. What are Cultural Tourism and its importance - Iberdrola
3. Tourism and heritage of Varanasi. (2022). NNVNS.org
4. Culture of Varanasi, TravelogyIndia.com
5. Shyju, P. J. (2008). Key Issues in Visitor Experience and Tourism Development- A study of Varanasi. *IIM Kozhikode Society & Management Review*, Part XI- Health, Spiritual and Heritage Tourism.
6. Culture and heritage. department of culture, Varanasi. Culture & Heritage | District Varanasi, Government of Uttar Pradesh | India.
7. Rastogi, S. (2021). Ratneshwar Mahadev-The leaning temple of Varanasi. Varanasi Guru.
8. Rana, P. (2011). Sacrdscapes and Pilgrimage Landscapes. Planet Earth & Cultural Understanding Series, Pub. 7. New Delhi.
9. Rana P. (2017). Banaras, the cultural capital of India: Visioning Cultural heritage planning.
10. Rana, P. (1993). Varanasi: A world heritage city: The frame, historical accounts; in Rana, P., Banaras(Varanasi). Cosmic order, the sacred city, Hindu traditions. Tantra book agency. Pg297-316.
11. Rana, P. (2017). Scaredscapes of Banaras (Kashi/Varanasi): Cultural landscapes and cosmic geometry. Special Issue on Cultural Landscapes, Vol XIII.

दीदारगंज चामरधारिणी यक्षी

डॉ. शुचि

वर्ष 1917 में पटना के दीदारगंज से प्राप्त मौर्यकालीन प्रस्तर प्रतिमा "दीदारगंज चामर - धारिणी यक्षिणी " ,जिसे भारत की प्रथम त्रिविमीय नारी मूर्ति होने का गौरव प्राप्त है। एकाश्म बादामी चुनार प्रस्तर से निर्मित, इस प्रतिमा का काल लगभग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य माना जाता है। दीदारगंज की यक्षिणी मूर्ति में अनाम मूर्तिकार ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं को अपनी छेनी - हथौड़ी के माध्यम से निर्मित कर प्रस्तर कला को नई ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया है। वजन और घनत्व के संतुलन का यह अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

यक्षिणी के द्वारा धारण किए गए नख से शिख तक आभूषणों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन करना ही मेरे इस शोध पत्र का विषय है। चामर धारिणी यक्षिणी की प्रस्तर कला में निहित सौंदर्य का तथ्यात्मक अध्ययन करने के साथ ,आभूषण विन्यास की गहन व्याख्या द्वारा इस प्रस्तर कला का कालात्मक मूल्यांकन करना शोधार्थी का द्वितीयक उद्देश्य है।

चामर धारिणी यक्षिणी के आभूषणों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

- शिखाभूषण , चूड़ा रत्न
- कर्णाभूषण
- ग्रीवा आभूषण (कंठिका) संख्या एक ,ग्रीवा आभूषण (चंद्रहार, पत्रलता) संख्या दो
- दाहिने हाथ में धारण की हुई चूड़ियों की बड़ी श्रृंखला
- कटि आभूषण(करधनी, मेखला), जो 5 बड़ी चेन के माध्यम से जुड़ा हुआ है , ऊपर की चार चेन एक जैसी है किंतु नीचे की चेन अलग प्रकार की है , मेखला के पृष्ठ भाग के ऊपर वस्त्र विन्यास प्रदर्शित किया गया है।
- नख में नुपूर , जो कि बिना पॉलिश किया हुआ है।

बीज शब्द: चुनार पत्थर, एकाश्म, चूड़ा रत्न, चंद्रहार, पत्र लता, कंठिका

विश्लेषणात्मक प्रमुख बिन्दु

- यक्षी का इतिहास
- शिखाभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या
- कर्ण आभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या
- ग्रीवाआभूषणों का विश्लेषण
- हस्त आभूषणों का वैज्ञानिक विश्लेषण

- कटि आभूषणों का विस्तृत विश्लेषण
- नासिका के आभूषणों का विस्तृत विश्लेषण
- शोधपत्र के अंतिम परिणाम

दीदारगंज यक्षी, की खोज, वर्ष1917 में दीदारगंज (पटना, बिहार) में हुए आकस्मिक उत्खनन से हुई थी। भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र 25°34'18"उत्तर से 85°15'45"पूर्व में स्थित है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पहली शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य, चुनार के बलुआ पत्थर से निर्मित हुई यह एकाश्म शालभंजिका मौर्य मूर्तिकला और पॉलिश का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। वर्तमान में यक्षिणी पटना के बिहार संग्रहालय की ऐतिहासिक कला दीर्घा की दूसरे तल पर रखी सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा है। 5 फीट 2 इंच "ऊंची चामर धारिणी 1 फीट 7 इंच की चौकी पर खड़ी हुई है। इतनी शताब्दी बीतने के पश्चात भी यह यक्षिणी अपने स्वरूप में अनेकों रहस्य समेटे हुए हैं। इतिहासकार इस यक्षिणी को भारत की मोनालिसा मानते हैं, (मैं इस मत को दृढ़ता के साथ रखना चाहती हूं की यक्षिणी मोनालिसा से कई शताब्दियों पूर्व निर्मित हुई थी, पूर्व में निर्मित रचना की तुलना आधुनिक काल की रचना से किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती है।) देश ,काल और तकनीक में यक्षिणी, मोनालिसा से कहीं ज्यादा आगे और अप्रतिम है। यक्षी, प्राचीन भारत के स्त्री सौंदर्य के सभी प्रतिमानों को पूर्ण करती है। यक्षिणी सीधे खड़े होने की अपेक्षा आगे की ओर थोड़ा झुकी हुई है, उसकी मुस्कान एक अजीब से रहस्य को स्वयं में समेटे हुए हैं। त्रिवितीय आधार होने के कारण इसका परीक्षण किसी भी कोण से किया जा सकता है। हजारों वर्षों तक धरती के गर्भ में दबे रहने के कारण यक्षिणी की बाई भुजा वर्तमान तक भी प्राप्त नहीं हो पाई है ,साथ ही यक्षिणी की नाक पर भी थोड़ी टूट-फूट हो गई है। (जयप्रकाश नारायण सिंह एवं अरविंद महाजन, पटना संग्रहालय प्रकाशन, 2012)*

हिंदू धर्म व बौद्ध धर्म के अंतर्गत यक्ष-यक्षिणी की रचना, स्थानीय भावना में , जल, वृक्ष के देवताओं के संदर्भ में की जाती है। इसके पीछे मुख्य आधार संभवतः पर्यावरण संरक्षण रहा होगा। यह प्रस्तर शालभंजिका, विस्तृत व्याख्या किये जा सकने वाले आभूषणों द्वारा अद्भुत सौंदर्य का प्रदर्शन करती है। इस शोध पत्र में शोधार्थी पहली बार आभूषणों के आधार पर दीदारगंज यक्षिणी के त्रिवितीय स्वरूप की व्याख्या करने का लघु प्रयास कर रही है। शोध को अधिकतम वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए शोधार्थी ने आभूषण बनाने वाले कारीगरों के साथ बहुत लंबे समय तक विचा-विमर्श किया उसके पश्चात ही इस शोधपत्र का लेखन आरंभ किया।

यक्षिणी द्वारा धारण किए हुए आभूषण इस तथ्य को नहीं उद्घाटित कर पाते हैं कि यह आभूषण मोती स्वर्ण या चांदी किस धातु से बने हुए थे, लेकिन एक तथ्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आभूषणों की इतनी अधिक मात्रा तत्कालीन समय की अति सुदृढ अर्थव्यवस्था को इंगित करती है। (श्रीमती सरोज , विशिष्ट आभूषण निर्माता, नई दिल्ली) अगर यह आभूषण मोती के बने हुए थे तो निसंदेह यह अनुसंधान का विषय है कि दीदारगंज और दक्षिण भारत, जो कि सच्चे मोती का सबसे बड़ा क्षेत्र माना जाता था, इस प्रकार व्यापारिक मार्ग द्वारा जल या थल द्वारा आपस में जुड़े हुए थे। एक अन्य प्रश्न यहां यह भी उठता है कि अगर यह आभूषण बहुमूल्य धातुओं से बने हुए थे तो वह बहुमूल्य धातु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर किस प्रकार इस क्षेत्र में पहुंचती थी? साथ ही विनिमय का माध्यम क्या रहा होगा ?

आभूषणों के विश्लेषण के लिए सर्वप्रथम शिख-आभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर रही हूं, यक्षिणी ने अपने सिर पर संभवतः मोतियों या स्वर्ण या चांदी के दानों से निर्मित आभूषण को धारण किया हुआ है। दाहिने हाथ के नाखून की तरफ से देखने पर 3 दानों की संख्या के पश्चात एक खंडित दाना स्थित है, जो कान के पीछे तक छह

अन्य दानों के साथ लगातार जुड़ा हुआ है। कुल दानों की संख्या 20 है, वर्तमान के आभूषणों से तुलना करने पर यह मांग टीका कहा जा सकता है। मध्य की दानों की संख्या 10 है जो दाहिने और बाएं दानों की अपेक्षा अधिक बड़े हैं। इन दोनों को आपस में पिरो कर बनाया गया है या धातु के माध्यम से इन्हें आपस में जोड़ा गया है इसका प्रमाण हमें मूर्तिकार नहीं देता है। (श्री टिल्लू कारीगर, स्वर्ण आभूषण निर्माता, नील गली , मेरठ, उत्तर प्रदेश) * इस शिखा भूषण का अंतिम छोर पीछे की तरफ यक्षिणी के केश में जाकर छिप गया है। यक्षी के पृष्ठ भाग को देखने पर केश के नीचे बड़ी मात्रा में धागों की गुच्छी दिखाई देती है जो संभवत है ग्रीवा आभूषणों का अंतिम छोर रहा होगा, लेकिन इन धागों की गुच्छी की मोटाई देखकर यह अनुमान लगाना अत्यंत कठिन है कि क्या शिख आभूषण और ग्रीवा आभूषण आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए थे? या अलग-अलग थे? मूर्तिकार अंकन के साथ क्या सूचना प्रेषित करना चाहता है यह स्पष्ट नहीं है । संभवतः मूर्ति को अधिकतम वास्तविकता प्रदान करने के लिए इतनी मोटी धागों की गुच्छी का अंकन किया गया है।

कर्ण आभूषणों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यक्षिणी ने अपने कानों में भारी आभूषणों को धारण किया हुआ है जिनका आकार लगभग डमरू के समान है। कान के छिद्र , आभूषण के भार के कारण अधिक बड़े हो गए हैं , जब इन आभूषणों का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया तो स्पष्ट हुआ कि ऐसे आभूषण आज भी अफ्रीका में कई जनजातियां धारण करती हैं, साथ ही भारत में पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली अनेक महिलाएं कानों में आज भी इतनी भारी आभूषण धारण करती है यह अंकन, उस समय के सौंदर्य के प्रतिमानो को स्पष्ट करते हैं। अगर इसका दूसरा परिप्रेक्ष देखा जाए तो कान में इतने, भारी आभूषणों को धारण करना किसी भी स्त्री के लिए काफी देय हो सकता है, लेकिन एक दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि जब यह आभूषण कान की त्वचा को भेद देते होंगे तो स्त्रियां किस प्रकार की शल्य चिकित्सा का प्रयोग करती थी। (श्रीमती सरोज, स्वप्न साकारम, विशिष्ट आभूषण निर्माता)

यक्षिणी ने अपनी ग्रीवा में एक छोटी कंठमाला, और एक -दो लड़ी वाली माला धारण की हुई है, नीचे की तरफ एक बड़ा लॉकेट जैसा दिखाई दे रहा है, किंतु वह खंडित है अतः उस पर अंकित चित्रण को अब नहीं देखा जा सकता। यहां एक तथ्य स्पष्ट करना चाहूंगी कि मूर्तिकार ने इस माला को तराशने का कार्य बाई ओर खड़े रहकर किया होगा, अगर ध्यान से देखा जाए तो बायीं ओर के मोतियों का अंकन में अस्पष्टता है जबकि दाहिनी और के मोती के अंकन स्पष्टता के साथ दिखाई दे रहा है। अतः मूर्तिकार ने अपने छेनी - हथौड़ी का प्रयोग सामने की ओर से ना कर खंडित हाथ की ओर से किया है। (श्री अनूप कुमार, मोती पराई वाले, नील गली सर्राफा बाजार)

हाथों में बहुत बड़ी संख्या में आभूषण धारण किए हुए हैं, वर्तमान आभूषणों से अगर तुलना की जाए तो यह राजस्थानी महिलाओं द्वारा धारण किए हुए आभूषणों से साम्यता रखते हैं। पंजाबी समुदाय द्वारा धारण किए गए चूड़े के समान भी यह दिखाई देते हैं। हाथ के आभूषण का अंकन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति में विदेशी आक्रमणों के पश्चात भी अपनी परंपराओं को आभूषणों के माध्यम से महिलाओं ने जीवित रखा है।

यक्षी ने कटि भाग पर कटिबंध पहना हुआ है, सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर स्पष्ट तरह दृष्टिगोचर होता है कि ऊपर की चारों श्रृंखलाएं बेहद स्पष्टता के साथ अंकित की गई है, जबकि सबसे नीचे की श्रृंखला मैं स्पष्टता नहीं दिखाई देती, जो इस तथ्य को इंगित करती है कि सबसे नीचे की श्रृंखला को मुख्य मूर्तिकार ने नहीं बनाया था, यह भी कहा जा सकता है कि इस मूर्ति का निर्माण किसी एक मूर्तिकार ने नहीं किया, क्योंकि कटि की सबसे नीचे की श्रृंखला तथा नख में धारण किए गए आभूषणों की अस्पष्टता इस ओर ध्यान आकर्षित करती है कि यह किसी एक शिल्पी की ना होकर ,एक मुख्य शिल्पी और शेष उसके सहायक शिल्पियों द्वारा तराशी गई है।

यक्षिणी ने पैरों में बहुत मोटी झांझर पहनी हुई है, जिस पर चिताई की कारीगरी की गई है जो प्राचीन भारत की अद्भुत आभूषण निर्माण कला को प्रदर्शित करती है। यद्यपि अंकन में स्पष्टता नहीं है और पैरों की पॉलिश की ओर भी मूर्तिकार ने बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया है। वास्तविक स्वरूप में यह आभूषण चांदी का बना हुआ रहा होगा। (श्री नसीरुद्दीन चिताईवाले, नील की गली, मेरठ)

शोधार्थी ने एक लंबे समय तक शोध करने के पश्चात इस शोध पत्र का लेखन पूर्णता मौलिक रूप से किया है और पहली बार यह प्रयास किया है दीदारगंज यक्षिणी की कलात्मक व्याख्या वैज्ञानिक और अनुसंधान पद्धति द्वारा प्राचीन भारत की आभूषण कला को ध्यान में रखकर की जाए। शोधार्थी का अंतिम उद्देश्य यही है कि आभूषण कला द्वारा किसी भी समाज की सामाजिक, आर्थिक स्थिति की सुस्पष्ट व्याख्या की जा सकती है। आभूषणों की रचना और बनावट के द्वारा हजारों वर्षों के पश्चात भी प्राचीन संस्कृति और आधुनिक संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन अनुसंधान के नए आयामों को खोलता है, जो भविष्य में होने वाले शोध को और भी अधिक प्रामाणिक बनाने में सहायक सिद्ध होंगे।

*दीदारगंज यक्षी की खोज गंगा नदी के किनारे दीदारगंज गांव में कदम रसूल, जोकि कदम ए रसूल मस्जिद के पास ही है ,ग्रामीणों ने की थी। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस मूर्ति का उत्खनन किसी भी इतिहासकार के द्वारा नहीं किया गया है। प्रसिद्ध उत्खननकर्ता और इतिहासकार प्रोफ़ेसर जे.एन सामदार ने सी.एच.सी वेल्स और डॉक्टर डी. भी. स्पूनर की सहायता से यक्षिणी को संरक्षित किया।

*1 मेरठ एशिया की सबसे बड़ी स्वर्ण मंडी है, फिल्म जोधा अकबर के सभी स्वर्ण गहने मेरठ की कार्यशाला में , मेरठ के कारीगरों द्वारा तैयार किए गए थे।

संदर्भ ग्रंथ-सूची:

- *हर्ले , जे. सी. : द आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडियन सबकॉन्टिनेंट, 1994 येल यूनिवर्सिटी प्रेस ISBN : 0300062176*
- *सिंह, उपेंद्र: द हिस्ट्री ऑफ* ऐश्येंट *एंड अर्ली* मैडिवल इंडिया, 2008 पीयरसन एजुकेशन, इंडिया
- मंडल ,धनेश्वर : अयोध्या आर्कियोलॉजी आफ्टर डिमोलिशन; क्रिटिक ऑफ न्यू एंड फ्रेश डिस्कवरी, 2003 ओरियंट ब्लैकस्वान
- *Roland Benjamin: The art and architecture* of India,1967 Pelican history of art Penguin
- कुमार ,अरविंद: यक्षिणी, 2017 सुनीता पब्लिशिंग हाउस, पटना
- Chaudhari , Pranav : A fortress chockfull of chinks, Indiatimes, Retrieved 17thFeb2011
- "Didarganj Yakshi", Bengal archaeological website
- Chinki Sinha, news/lifestyle/culture/this museum in Bihar houses a 2300 year old sculpture carved out of single stone, October 13, 2017
- Bihar museum booklet: " I am the Bihar museum"
- भारती ,सुनीता : दीदारगंज यक्षिणी; संपूर्ण नारीत्व का प्रतीक, प्रज्ञा भारती जनरल ऑफ केपी जयसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट डिपार्टमेंटर् ऑफ एजुकेशन बिहार सरकार, 2018
- Didar Ganj image, Dr D.B. spooner JBORS, 1919 , Vol 5th,part 1

छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना

डॉ. शुभ्रा रजक

भारतीय धार्मिक पृष्ठभूमि में त्रिदेवों का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें ब्रह्मा को सृष्टी का सृजनकर्ता माना गया है। त्रिदेवों में सम्मिलित होने के बाद भी ब्रह्मा को वह लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई जो विष्णु एवं महेश की है। इसलिए ऐसी संभावनाएं व्यक्त की गई है की ब्रह्मा का अपना कोई स्वतंत्र समुदाय नहीं हुआ। हिन्दू त्रिमूर्ति में ब्रह्मा का प्रथम स्थान माना गया है।[1]पुराणों में उल्लेखित है कि ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण करते वक्त पहले प्रजापति का सर्जन किया फिर बाद में अपने मानस पुत्रों को प्रजा के निर्माण करने के लिए आदेशित किया। इसलिए उन्हें प्रजापति भी कहा गया है।[2] सृष्टिकर्ता होने के कारण ब्रह्मा को पितामह भी कहा जाता है। ब्रह्मा ने सतरूपा, सावित्री, सरस्वती और ब्रह्माणी के रूप-दर्शन हेतु चारों ओर मुख और पांचवां मुख ऊपर धारण किया। प्राचीन काल में भारत में ब्रह्मा की पूजा होने के अनेक प्रमाण प्राप्त होते है। ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाओं, मंदिरों एवं अभिलेखों में वर्णन प्राप्त होता है।

इसी तरह हमें छत्तीसगढ़ में भी ब्रह्मा की अनेक स्वतंत्र और मंदिरों में उत्कीर्ण प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं। ब्रह्मा की प्रतिमाएं प्रायः द्विभुजी, चतुर्भुजी एवं चार मुखों वाली होती है। ब्रह्मा की प्रतिमा शिव-पार्वती के विवाह में पुरोहित के रूप में, विष्णु की शेषशायी प्रतिमा में उनके नाभि से निकले कमल पर आसनस्थ एवं त्रिदेवों के रूप में प्राप्त होती है। पद्मपुराण तथा भागवत् पुराण में भृगु द्वारा ब्रह्मा को सम्पूर्ण संसार में अपूज्य होने के लिए शाप दिया गया है।[3]ब्रह्मा का एक मात्र मंदिर राजस्थान के पुष्कर में स्थित है। ब्रह्मा को सदैव ऋषि के रूप में जटायुक्त चतुर्भुजी, चतुर्मुखी बनाया जाता है। उनका चौथा मुख पीछे की ओर अदृश्य होता है। इनका एक हाथ अभय मुद्रा में तथा शेष अन्य हाथों में रूद्राक्ष की माला, पुस्तक एवं कमण्डलु स्थित होता है। छत्तीसगढ़ में शिल्प के साथ-साथ ब्रह्मा का वर्णन यहां से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में भी हुआ है।

भवदत्त वर्मा के ऋद्धिपुर ताम्रपत्र[4] में प्रजापति का उल्लेख हुआ है। जिसका अर्थ ब्रह्मदेव से लिया गया है। स्कन्द वर्मा के पोरागढ़ अभिलेख[5] में ब्रह्मा का उल्लेख ''पुरूष'' रूप में किया गया है। इसी तरह कलचुरि कालीन बहुत से अभिलेखों में ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है। पृथ्वीदेव प्रथम के आमोदा ताम्रपत्र[6] लेख (कलचुरि संवत् 831), पृथ्वीदेव द्वितीय के घोटिया ताम्रपत्र लेख[7] एवं पृथ्वीदेव द्वितीय के बिलाईगढ़ ताम्रपत्र लेख[8] (कलचुरि संवत 890) में अभिलेखों का प्रारंभ ब्रह्मा की उपासना से किया गया है। जाजल्लदेव द्वितीय के अमोदा ताम्रपत्र लेख[9] तथा प्रतापमल्ल के बिलईगढ़ ताम्रपत्र लेख[10] में ब्रह्मा के निर्गुण, व्यापक, शिव, नित्य, संसार के परम-ज्योति, परम कारण तथा भाव ग्राह्य आदि रूपों की चर्चा की गई है। गोपालदेव के पुजारीपाली अभिलेख[11] का आरम्भ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की वंदना द्वारा, त्रिदेवों के रूप में एक साथ की गई है।

ब्रह्मा की प्रतिमाएं छत्तीसगढ़ के अनेक स्थानों से प्राप्त हुई है, जैसे - मल्हार के केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के स्थल संग्रहालय में ब्रह्मा की प्रतिमा स्थापित है जिसका निर्माण काल सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी है। खरौद के इन्दलदेव मंदिर में द्वार शाखा के सिरदल के दाएं तरफ त्रिमुखी ब्रह्मा का अंकन हुआ है, जो हंसारूढ़ है। इसका निर्माण काल सातवी शताब्दी ईसवी माना गया है।[12] सिरपुर से भी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। त्रिमुखी ब्रह्मा की एक प्रतिमा राजिम स्थित मंदिर पर भी उत्कीर्ण है। रायपुर स्थित मठपुरैना में तालाब किनारे स्थित शिव मंदिर के अंदर भी ब्रह्मा की पद्मासन मुद्रा में एक आकर्षक स्वतंत्र प्रतिमा स्थित है, जिसका निर्माण काल सातवी - आठवीं शताब्दी ईसवी माना गया है। इसी तरह सिद्धेश्वर मंदिर पलारी की द्वार शाखा में द्विभुजी ब्रह्मा, तीन हंसों पर आरूढ़ हुए अंकित है। अडभार के शिव मंदिर की द्वार शाखा के ऊपर त्रिदेव रूप में ब्रह्मा अंकित है। महादेव मंदिर पाली के द्वार शाखा के सिरदल में दाएं ओर ब्रह्मा की प्रतिमा अंकित है।[13] केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय तुम्माण में ब्रह्मा की प्रस्तर निर्मित दसवी शताब्दी ईसवी की प्रतिमा स्थित है। इसी तरह शास्त्र-सम्मत निर्मित ब्रह्मा की प्रतिमाएं डीपाडीह और बेलसर से भी प्राप्त हुई है। बंकेश्वर मंदिर तुम्माण के प्रवेश द्वार में चतुर्भुजी ब्रह्मा की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस मंदिर परिसर के संग्रहालय में भी ब्रह्मा की प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा का काल दसवीं - ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी माना गया है।

सिलीपचराही उत्खनन में परिक्षेत्र क्रमांक-3 से ब्रह्मा की प्रतिमा प्राप्त हुई है। शिव मंदिर घटियारी में द्वार- शाखा के सिरदल पर चतुर्भुजी ब्रह्मा का अंकन हुआ है। इसका निर्माण काल आठवी-नवमी शताब्दी ईसवी है।[14] शिवरीनारायण में अवस्थित केशव नारायण मंदिर की द्वार शाखा के मध्य में चतुर्भुजी ब्रह्मा की प्रतिमा अंकित है। इसका निर्माण काल दसवी शताब्दी ईसवी माना गया

है। धमतरी जिले में शिव मंदिर देवखूट के परिसर में ब्रह्मा की प्रतिमा स्थित है जिसका निर्माण काल ग्यारहवी शताब्दी ईसवी है। इसी तरह ब्रह्मा का अंकन जांजगीर के विष्णु मंदिर की द्वार शाखा के सिरदल में हुआ है।[15]

बिलासपुर जिले में सरगांव स्थित धूमनाथ मंदिर में निचले पंक्ति मे त्रिसिर युक्त चतुर्भुजी ब्रह्मा का अंकन हुआ है। इस मंदिर का निर्माण तेरहवी शताब्दी ईसवी के पूर्वार्ध में माना गया है। शिव मंदिर नगपुरा के दक्षिणी जंघा भाग के भित्ति में ब्रह्मा की चतुर्भुजी प्रतिमा स्थित है। यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में स्थित है। जिसके चारों हाथों में त्रिशूल, अक्षमाला वेद तथा एक हाथ में कमण्डलु धारण किए प्रदर्शित है। इस मंदिर के द्वार शाखा के ऊपरी सिरदल में दाएं तरफ चतुर्भुजी ब्रह्मा की एक अन्य प्रतिमा अंकित है। यह प्रतिमा भी जांजगीर मंदिर के समकालीन है।

छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला में ब्रह्माअधिकांश जगह त्रिदेवों के रूप में प्राप्त हुए हैं परन्तु ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाओं का अंकन इस अंचल में बहुत कम हुआ है। अभिलेखों एवं प्रतिमाओं में दृष्टव्य होने वाले विकासक्रम से ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में अन्य देवताओं की तरह ही ब्रह्मा की लोकप्रियता भी छत्तीसगढ़ अंचल में समान रूप से रही है।

संदर्भ ग्रंथ -

1. बनर्जी, जे. एन., द डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, तृतीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल प्रकाशन, नई दिल्ली,1974, पृ. 122-510.
2. ऋग्वेद, 10, 121, शतपथ ब्राह्मण, 6,5,9.
3. पद्मपुराण, उत्तर खण्ड, अध्याय - 282.
4. एपिग्राफिआ इंडिका, भाग-19, पृ. 102.
5. वही, भाग-21, पृ. 153.
6. जैन, बालचन्द्र, उत्कीर्ण लेख, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्व, छत्तीसगढ़, रायपुर, 2005, लेख क्र.26.
7. वही.
8. वही, लेख क्र.-27.
9. वही, क्र. 26.
10. वही, क्र. 27.
11. वही, क्र. 20.
12. वर्मा, कामता प्रसाद, छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला (मध्य छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में), संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्व, छत्तीसगढ़, रायपुर, 2014, पृ. 35.
13. बेगलर, जे. डी., 1878, कनिंघम ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, वॉल्यूम - 7, रिपोर्ट ऑफ अ टूर ऑफ बुन्देलखण्ड एण्ड मालवा, 1871-72, एण्ड इन द सेन्ट्रल प्रोविंसेज 1873 - 74, कलकत्ता. पृ. 219.
14. वर्मा, कामता प्रसाद, छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला (मध्य छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में), पृ. 132.
15. वही, पृ. 167

ब्रह्मा की प्रतिमाएं

(1) ब्रह्मा की प्रतिमा, राजिम

(2) ब्रह्मा की प्रतिमा. बेलसर

(3) ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिमाएं, बेलसर

(4) ब्रह्मा विष्णु, महेश की प्रतिमाएं, सिरपुर

नव उत्खनित स्थल जमराव एक अध्ययन।

डॉ. सुधीर कुमार उपाध्याय

छत्तीसगढ़ में पुरातात्विक महत्व के अनेक स्थल हैं जिनसे यहां के समृद्ध इतिहास का पता चलता है। इनमें सिरपुर, ताला, पचराही, राजिम जैसे अनेक स्थल शामिल हैं। यहां हजारों साल पुरानी सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इनसे पता चलता है कि सदियों पहले यहां किस तरह के लोग रहते थे। उनकी धार्मिक आस्थाएं कैसी थीं, उनका सामाजिक जीवन कैसा था। पहनावा ओढ़ावा कैसा था, खानपान कैसा था। उनकी आजीविका क्या थी आदि। ऐसा ही एक स्थल जमराव है जो हाल ही में सामने आया है।

यह खारुन नदी से लगा हुआ इलाका है जो दुर्ग जिले की पाटन तहसील और पाटन विधानसभा क्षेत्र में आता है। यहां स्थित टीले की खुदाई में कुषाणकाल के सिक्के मिले हैं। कुछ मूर्तियां मौर्यकाल की हैं। मिट्टी की भट्ठी, मिट्टी के बर्तन, मिट्टी के मनके आदि मिले हैं। जो वस्तुएं यहां से मिली हैं उनसे संकेत मिलते हैं कि किसी समय यह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र था। यहां से शिवलिंग, पार्वती व कुबेर की प्रतिमायें भी मिली है। इससे पता चलता है कि यहा रहने वाले हिंदू धर्मावलंबी थे। ये सारी वस्तुएं ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर 13वीं–14वीं ईस्वी सन के बीच की हैं। यानी करीब 1500 साल का इतिहास इनमें छिपा हुआ है। विशेषज्ञों का कहना है कि यहां का इतिहास और भी पुराना हो सकता है। जमराव में जो टीला मिला है वह 7–8 एकड़ का है। अभी सिर्फ आधा एकड़ में 12–14 फीट की उत्खनन हुआ है। आगे पुरातात्त्विक के लिए एएसआई को प्रस्ताव भेजा जा रहा है। यहां से 5–7 किलोमीटर दूर तरीघाट है जहां हजारों साल पहले की सभ्यता के अवशेष मिल चुके हैं। माना जा रहा है कि खारुन तट पर बनने वाले उत्पाद शिवनाथ होते हुए महानदी के किनारे बसी बस्तियों तक जाते होंगे। उदाहरण के लिए धमतरी में बंदरगाह के अवशेष मिले हैं। यह भी माना जा रहा है कि नदी तट की आबादियों के बीच जलमार्ग से व्यापारिक लेनदेन होता रहा होगा।

जमराव के संबंध में यह बातें भी सामने आती है कि यहां लज्जा गौरी की लगभग 2 हजार साल पुरानी मूर्ति मिली है। पुरातत्वविदों के अनुसार ये खुदाई में मिली देश की पहली ऐसी मूर्ति है जिसमें माता गौरी के साथ दो शिवलिंग और एक नंदी भी हैं। इसमें माता गौरी भी एक विशिष्ट मुद्रा में हैं। यहां भगवान कृष्ण और बलराम की मूर्तियां भी मिली हैं। संस्कृति विभाग के एक कार्यक्रम में हिस्सा लेने आईं कोलकाता की पुरातत्वविद् डॉ. सुस्मिता बोस मजुमदार, दिल्ली के डॉ.के.के चक्रवर्ती और औरंगाबाद से आए शिवाकांत वाजपेयी ने जमराव उत्खनन क्षेत्र में मिले पुरावशेषों का अध्ययन किया है। विशेषज्ञों ने दावा किया कि अवशेषों के अनुशीलन से जमराव लगभग 2 हजार साल प्राचीन स्थल है। तब यहां पर बस्ती नहीं थी, लेकिन लोग आते–जाते और ठहरते थे। (भास्कर डाट काम)

पुरातात्विक दृष्टि से खारुन नदी के किनारे बसे गांव काफी महत्वपूर्ण हैं। इनमें जमराव के अलावा कौही, तरीघाट, केसरा, उफरा, पहंदा, बठेना, असोगा, आगेसरा, गुढियारी, झीट शामिल हैं। 2017 में अमलेश्वर के करीब ठाकुर देव मंदिर के पास एक बटलोही में 200 पुराने सिक्के मिले हैं। इसके अलावा कौही, अमलेश्वर, तरीघाट, केसरा, रानीतराई, मोतीपुर के करीब टीलेनुमा स्थान पर प्राचीन सिक्के व चमकीले पत्थर मिलने की खबरें आती रही हैं। उत्खननकर्ता से प्राप्त जानकारी के अनुसार जमराव टीले के चारों तरफ़ पत्थर के परकोटे बने हुए हैं। खुदाई के दौरान हमें सिंह प्रतिमा व पासे मिले। कुषाण काल में लोग सिंह की पूजा करते थे,

इसलिए इसकी प्रतिमा हमेशा साथ में लेकर चलते थे। वहीं मनोरंजन के लिए चौसर का खेल खेलते थे। (दैनिक छत्तीसगढ वाच डॉट कॉम)

खारून नदी धनुषाकार रूप में मुड़ती है। इसके चारों ओर ट्रेंच बने हुए हैं। इसे देखकर अनुमान है कि मूल नदी के इस पार इन ट्रेंच के माध्यम से नावों को प्रवेश कराने में सुविधा मिलती होगी। प्राचीन काल में राजधानियां मुख्य नदियों के किनारे बनती थीं और सहायक नदियों के किनारे व्यापारिक केंद्रों का विकास होता था। जमराव की स्थिति भी ऐसी हो सकती है। सिरपुर में भी महानदी मोड़ लेती है। बसाहटों को कटाव से रोकने के लिए ऐसी भौगोलिक स्थिति महत्वपूर्ण होती थी। (नई दुनिया डॉट कॉम)

जमरांव पुरातात्विक खुदाई के डायरेक्टर बताते हैं कि – बात पुरानी है। संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग से संबद्ध अतुल प्रधान पचराही, तरीघाट की खुदाई में शामिल थे। उन्होंने मुझसे कहा कि खारून नदी में एक सर्वे करते हैं। फिर हम खुडमुंडा गए जो जमराव से लगा गांव हैं। वहां कुछ अवशेष मिले जिन्हें इकट्ठा कर जमराव गए। जमराव में भी पहले ही दिन मिट्टी के बर्तन और कुषाणकाल का एक सिक्का टीले की सतह पर ही मिल गया। फिर यहां आगे काम करने का फैसला लिया और उसकी रिपोर्ट बनाकर आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (एएसआई) को दी गई। वहां से खुदाई की अनुमति मिली। तब यह मालूम नहीं था कि यह जगह निजी संपत्ति है। फिर संबंधित लोगों से अनुमति ली गई। यहां दो टीले हैं। एक टीले में 12 फीट की खुदाई की गई । वहां दो सिक्के और पत्थर का स्ट्रक्चर मिला। 7–8 एकड़ का टीला है। नदी से लगा है। अभी सिर्फ आधा एकड़ में ही 12 से 14 फीट की खुदाई हुई है। (जैसा जमरांव की पुरातात्विक खुदाई के डायरेक्टर श्री प्रताप चंद्र पारख ने बताया)

जमराव खुदाई के संबंध में पुरातत्ववेता ने बताया कि हैं कि जमराव में कुछ साल पहले खुदाई हुई। यहां मिले मिट्टी के बर्तन समेत अन्य को देखकर इस बात के संकेत मिले की यहां करीब 2200 साल पहले मृद्भाण्ड का उपयोग करने वाली संस्कृति जमराव में निवास करती थी। यहां दो प्रकार के सिक्के मिले हैं। दोनों ही तांबे के थे। यह सिक्के पहली शताब्दी ईसा पूर्व से पहली–दूसरी शताब्दी ईसवीं तक चलन में थे। एक तरह का जो सिक्का मिला वह वर्गाकार है, उसमें हाथी अंकन है। अनुमान है कि यह सिक्का वहां के स्थानीय राजा चलाते थे। इसी तरह दूसरे प्रकार का सिक्का कुषाण काल का है। यह गोलाकार, मोटा व वजनी है। कुषाण कालीन सिक्कों पर प्राप्त आकृति व अभिलेख के आधार पर माना जा रहा है यह कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्क के शासन काल का है। इन सिक्कों से यह अनुमान लगाया जा रहा है कि प्रारंभिक इतिहासकाल में जमराव एक व्यापारिक बस्ती के रूप में था और खारून नदी के माध्यम से यह छत्तीसगढ़ के बड़े प्राचीन व्यापारिक केंद्र तरीघाट से जुड़ा हुआ था। इस तरह जमराव में धार्मिक प्रकृति को उजागर करने वाले कुछ पुरातात्त्विक प्रमाण भी मिले। पकी हुई मिट्टी की मूर्तियां और पत्थर निर्मित मूर्तियाँ मिली हैं। इसमें यक्ष–यक्षी, एक मुख लिंग, लज्जा गौरी, कृष्ण–बलराम, सिंह आदि की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। यह मूर्तियां आकार में छोटी हैं। उत्खनन में जो संरचनात्मक अवशेष प्राप्त हुए हैं, वह आवासीय प्रकृति के हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जमराव के लोग अपने पूजा–गृह में इनकी पूजा करते थे। मिट्टी व कांच के बने आभूषण मिले, उनमें चूड़ियां, कान के आभूषण शामिल हैं। इससे उस समय के लोगों की आभूषण प्रियता का पता चलता है। इसी तरह आर्थिक गतिविधियां से संबंधित कुछ प्रमाण मिले हैं, जैसे नाप–तौल के लिए बटखरे इत्यादि। यह भी पकी हुई मिट्टी से बने हैं। छह पहलुओं वाला पासा भी मिला है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोग मनोरंजन के लिए इनका उपयोग करते थे। मिट्टी के बर्तन में प्रमुख रूप से घड़े, सुराही, कटोरे

व थाली हैं। इससे यह पता चलता है कि उस समय वहां माटी कला मृद्भाण्ड कला काफी उन्नत अवस्था में थी। छत्तीसगढ़ में पूर्व मध्यकाल से लेकर ब्रिटिशकाल तक के अवशेष काफी संख्या में मिले हैं, लेकिन प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के क्रम को ज्ञात करने में जमराव का नाम महत्वपूर्ण है। (जमराव की खुदाई में शामिल पुरातत्वक्ता डॉ.प्रभात सिंह ने जैसा बताया)

जमराव के संबंध में कहा जा सकता है कि यह अपने आप में इतिहास समेटे हुए हैं। खुदाई के बाद अब तक जो जानकारियां सामने आई है उससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि यहां का इतिहास दो हजार साल से ज्यादा पुराना है। जो मिट्टी के बर्तन मिले वह सामान्य नहीं है, उसमें उनकी मृद्भाण्ड कलाप्रियता झलकती है एवं लोगों में आभूषण प्रियता थी। आर्थिक गतिविधियों के साथ ही मनोरंजन के प्रमाण भी मिले। जमराव के कुछ हिस्से में अभी खुदाई हुई है। माना जा रहा है कि बाकी जगह खुदाई होने पर और भी नई ऐतिहासिक जानकारियां सामने आ सकती है।

संदर्भ :

– वार्षिक प्रतिवेदन, संस्कृति विभाग छग शासन, 2021–22, छग संवाद।

– कोसल, जर्नल ऑफ द डायरेक्टोरेट ऑफ कल्चर एंड आर्किलॉजी, 2015, छग संवाद।

– दैनिक भास्कर (2019), Retrieved मई 20, 2022, भास्कर डाट काम
https://www.bhaskar.com/chhatisgarh/raipur/news/chhattisgarh-news-two-thousand-years-old-krishna-balram-and-lajja-gary-statue-found-in-excavation-075005-5076384.html

– नई दुनिया रायपुर (30 मई 2019), Retrieved मई 20, 2022, नई दुनिया डॉट कॉम
https://www.naidunia.com/chhattisgarh/raipur-secret-of-2000-years-old-civilization-will-open-in-chhattisgarh-as-excavation-at-jamrao-starts-2975017

– पत्रिका (21 फरवरी 2020), Retrieved मई 18, 2022, पत्रिका डॉट काम
https://www.patrika.com/raipur-news/ancient-civilization-buried-in-tarighat-rewa-and-jamrao-will-come-out-5807722/

– दैनिक छत्तीसगढ वाच डॉट कॉम (30 सितंबर 2021), Retrieved मई 20, 2022,
https://dainikchhattisgarhwatch.com/2021/09/30/2000-year-old-kushan-era-coins-and-dice-found-in-chhattisgarh/

प्राचीन भारतीय लोकजीवन में अग्नि : एक अध्ययन

डॉ. सुनील कुमार

लोकजीवन का तात्पर्य सामान्य लोगों की जीवन पद्वति तथा आचार-विचार से है। लोक शब्द का सन्दर्भ किसी समाज का वह वर्ग है जो प्रतिस्थापित मूल्यों एवं आचार-संहिता से सम्बद्व होते हुए अपना स्वाभाविक चरित्र रखता है। इसका प्रयोग उस समाज के लिए किया जाता है जो अपने परम्परागत आदर्शो, विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा कला की अभिव्यक्ति के स्वरूपों के प्रति आस्थावान तथा आग्रही होता है। प्रो.वी.एस.अग्रवाल के अनुसार लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है जिसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान निहित रहता है। इसके माध्यम से ही सामाजिक जीवन को गति तथा प्रवाह मिलता है। भारतीय चिन्तन परम्परा लोक निरन्तरता, अखण्डता, नूतनता, विविधता तथा समावेशिकता का समन्वय है जिसे समग्रता तथा सम्पूर्णता का प्रवाह माना जाता है। भारतीय चिन्तन परम्परा लोक को संग्रह तथा संयोजन करके चलता रहता है। भारतीय जीवन में लोक की विशालता असीम है। लोकजीवन में देवी-देवता की आराधना तथा महिमा का वर्णन अथर्ववेद के प्रसिद्व सूक्त-माता भूमिः पुत्रोः अहं पृथिव्या की वैश्विक अभिव्यक्ति से होती है।

यज्ञ शब्द यज धातु से निकला है जिसके विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में वर्णन करते है-यज्ञ देवपूजा संगतिकरण दानेषु अर्थात यज्ञ धातु देव पूजा, संगतिकरण तथा दान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यज्ञ शब्द का तात्पर्य उस समय उस क्रिया कलाप को लिया जाता था जिसमें लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक विषयक गूढ़तत्वों का अनुसंधान किया जाता था। वैदिक काल के लोकजीवन का एक लक्ष्य यज्ञ ही होता था। उस समय मन्दिर अथवा शिवालय जैसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। वेद में अग्नि शब्द सर्वत्र भौतिक अग्नि का ही बोधक नही बल्कि जहां उपास्य देव के अभिप्राय से अग्नि शब्द आया है।

स्वास्तिनो दिवो अग्न पृथिव्या विश्वायुधेहि यज्ञथाय देव[1]

अर्थात हे अग्नि देव आप उपासक के लिए सम्पूर्ण आयु दे तथा द्युलोक तथा पृथ्वी लोक के मध्य में उसको स्वास्ति तथा ऐश्वर्य प्रदान करें।

वैदिक कालीन लोकजीवन में यज्ञ एवं बलि की परम्परा का प्रचलन अत्यधिक था। यज्ञ के सम्पादन में अग्नि की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। इसके अभाव में यज्ञ को सम्पन्न कराना सम्भव नही था। यज्ञीय कर्मकाण्डों के दौरान अग्नि में हवि अथवा आहुतियाँ दी जाती थी। साथ ही बलि देने की परम्परा का भी निर्वाह्व किया जाता था। यह परम्परा एक प्रकार से तत्कालीन लोकजीवन का अभिन्न अंग थी। वैदिक जन यज्ञ एवं बलि के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न करते थे जिससे उनके जीवन में कठिनाईयाँ न आये। साथ ही अपने पशुओं एवं कृषि की सुरक्षा के लिए भी यज्ञ-परम्परा का सम्पादन करते थे।

यज्ञ प्राचीन सभ्य मनुष्य के सम्पूर्ण विचार जगत का एक मुख्य केन्द्र है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि ई०पू० 4500 से लेकर ई०पू० 300 तक के प्राचीन काल में यज्ञ परम्परा पौराणिक, दार्शनिक एवं सामाजिक विचारों के तक सीमित थी। उदाहरण के लिए ताम्र पाषाण युग के प्राचीन मिस्रियों से लेकर प्रसिद्व चिन्तक अरस्तू के परिपक्व विचारों तक देखने को मिलता है। लेकिन पूर्वी सभ्यता में जैसा भी हो यज्ञ एकमात्र आधार एवं विचारों की गतिशील शक्ति रह गई है।[2] यज्ञ वेद की आत्मा है। यह मंत्रों से पुराना है जो इसको सम्पादित करने के लिए बनाये गये थे। जब आदि मानव ने देखा कि पका हुआ भोजन बिना पके हुए भोजन की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट एवं खाने योग्य था तब

उसने विचार किया कि दैवीय अतिथि अर्थात् प्राचीन मानव ने देवताओं को अग्नि से तैयार किये हुए भोजन खिलाकर स्वागत किया। बलिदान दो प्रकार के हैं, इनमें से प्रथम अग्नि सहित बलिदान एवं द्वितीय अग्नि रहित बलिदान। अग्नि सहित बलिदान उसको कहा गया है जिसमें दी जाने वाली बलि का उपभोग हो जाता है जो लौह एवं धुएँ के रूप में ऊपर देवताओं के भोग के लिए बाहर रख दी जाती है। सर्वविदित है कि वैदिक बलिदान जैसे कर्मकाण्डों में अग्नि केन्द्रीय देवता एवं केन्द्रीय विचार है। वैदिक काल अपने आध्यात्म ज्ञान, मुख्य उत्पाद के रूप में अग्नि अपने आप में ऊष्मा, प्रकाश एवं जीवन है।[3] वैदिक कर्मकाण्ड मुख्य रूप से अग्नि एवं सोम को दिये जाते थे। अग्नि स्वयं में एक देवता ही नही अपितु दैवीय संदेशवाहक एवं मध्यस्थ है। विष्णु एवं इन्द्र ने बलिदान के लिए विशाल संसार का निर्माण किया था।[3] बलिदान विश्व के चक्र की धुरी है एवं समस्त वस्तुओं की उपजाऊ शक्ति है।[4] यह स्थायी एवं सार्वभौमिक है जो देवताओं एवं मनुष्यों के द्वारा किया जाता है।[5] यह दृष्टिगत होता हैं कि प्रारम्भिक वैदिक संस्कारों में बलिदान कालान्तर के संस्कारों की अपेक्षा बहुत ही साधारण थे। पौरोहित्य के उत्थान एवं विकास के साथ बलिदान इतनी सीमा तक बढ़ गया कि देवताओं, मनुष्यों एवं ब्रह्माण्ड का भी स्रोत माना जाने लगा[6] बलिदान के द्वारा देवता समस्त चीजो की रचना करते थे। बलिदान के द्वारा वे अमर बन गये।[7]

अग्नि आर्यों की बलिदानी अग्नि है एवं बलिदान के समस्त कर्मकाण्ड पवित्र अग्नि के आस-पास केन्द्रित थी। ऊष्मा एवं गर्मी का लाभ अग्नि प्रदान करती है एवं इसकी सेवा भोजन पकाने के लिए ली जाती थी जो पुरस्कार के तौर पर देवताओं द्वारा दिया जाने वाला प्रत्यक्ष उपहार है। अग्नि अमर है जो मानव के मध्य सम्मानजनक स्थान बनाता है। वह त्याग करने वालों में सबसे सम्माननीय ऋषियों में सर्वाधिक दैवीय समस्त बलिदानों का निर्देशक एवं पूर्णकर्ता है। वह 'बलिदानों का पिता' है जो स्वर्ग एवं पृथ्वी के मध्य एक गतिशील संदेशवाहक है जो साधकों एवं उपहारों एवं मंत्रों को ले जाता है एवं बलिदानों के लिए देवताओं का आवाह्न करता है। कभी-कभी वह मुख के रूप में वर्णित है जिसके द्वारा देवता व मनुष्य बलिदान में भाग लेते हैं।

वैदिक लोकजीवन में शुद्धता एवं कर्मकाण्डों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। किसी संस्कार को प्रारम्भ करने से पूर्व उसे अग्नि द्वारा शुद्धिकरण किये जाने की प्रथा का प्रचलन था। शुद्धिकरण के संदर्भ में 'पोत्र' शब्द मिलता है जिसका मूल 'पु' है तथा इसका अर्थ शुद्धिकरण है। अग्नि की शुद्धि करने वाली योग्यता प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात है। अग्नि का कार्य 'पोत्र' पुरोहित का कर्तव्य होना कहा जाता है। ऋग्वेद में 'पोत्र' बलिदान वाले कर्मकाण्डों के एक पुरोहित का नाम है।[8] पोत्र, शुद्धिकारक अथवा सफाई कर्मी अथवा प्रार्थना करने वाले पुरोहित का सहायक है जो कर्मकाण्डों में किसी भी त्रुटि का निवारण करता है।[9]कर्मकाण्डों के रूप में पशुओं के बलिदानों की चर्चा मिलती है। समय-समय पर पशुओं के बलिदानों को उक्सन्ना, बसन्ता जैसे विशेषणों से संकेत किया गया है।[10] यह विशेषण प्रदर्शित करते है कि घृत को अक्सर बड़ी मात्रा में बलिदान में दिया जाता था। अग्नि कर्मकाण्ड में यह घी के महत्व की ओर भी संकेत करता था। वास्तव में घी अग्नि के समस्त अस्तित्व में समाया हुआ माना जाता है जैसे कि घृत योनि, घृत-प्रस्तर,[11] घृत प्रतीक,[12] घृतनिर्णीक[13] इत्यादि विशेषणों द्वारा संकेत किया गया है। देवताओं की शान्ति एवं बलिदान करने वालो की प्रसन्नता सभी बलिदानों का उद्देश्य है। "ईश्वर करें यह बलवर्धक बलिदान उसे संतुष्ट करे।[14] ईश्वर करें हमारे बलिदानों द्वारा तुम्हें संतुष्टि मिले।[15] ईश्वर करें कि ऋग्वेद बलिदान के द्वारा अनश्वर देव प्रसन्न हों।"[16] इन मंत्रों के द्वारा अग्नि संतुष्ट हो जाओ।[17] ऋग्वेद के अन्य श्लोकों में 'ईश्वर करें कि उदार व्यक्ति सदैव प्रसन्न रहें जो तुमको निरन्तर भेटों एवं प्रशंसाओं से शान्त करते हैं। ईश्वर करें कि परिश्रमपूर्ण उसके जीवन में सभी दिवस प्रसन्नतापूर्ण हो तथा ईश्वर करें कि उसका यह बलिदान पारितोषिक देने वाला हो।[18] ऋग्वेद के समय में सभ्यता विकसित हो रही थी

जैसा कि उसके श्लोकों में देखा जा सकता है। बलिदान को भी उसी प्रकार विकसित होते हुए देखा जाना चाहिए। इसे पृथक घटना के रूप में व्यवहार में नही लाया जा सकता, जिसकी प्रकृति किसी भी गूढ़ एवं अनुमान से निर्धारित की जा सकती है जो सभ्यता के अन्य पहलुओं से अलग है।[19] वास्तव में वैदिक कालीन बलिदान न केवल शताब्दियों तक अनुकरण में लाये गये अपितु वैदिक काल के बाद वर्तमान काल तक प्रचलन में हैं। पूर्वजों की पूजा करने की परम्परा आदि काल से चली आ रही है। अर्थात् मृत पूर्वज पितृ के रूप में जाने जाते है। ऐसा माना जाता है कि पितृ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित परिवार से जुड़े होते हैं। वे भी आशा रखते हैं कि हमारे परिवार के लोग हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति करेंगे। ऐसी भावना लोक में सदैव से विद्यमान रही है। लोगो का यह मानना है कि यदि हमारे पितरगण यदि अप्रसन्न हैं तो घर में सुख-शान्ति का अभाव हो जाता है। वे तरह-तरह से लोगों को बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में लोक में पितर पूजा की परम्परा का सूत्रपात हुआ। पितरों को विभिन्न प्रकार के भेंट, बलिदान एवं हवि के समर्पण द्वारा प्रसन्न किया जाता है। वैदिक कालीन लोकजीवन में भी पितर संस्कार का सम्पादन किया जाता था जिसका उल्लेख तत्कालीन ग्रंथों में प्राप्त होता है।

पितृयज्ञ अथवा पूर्वज पूजा अग्नि-पूजा का दूसरा सामाजिक पक्ष है। व्यक्ति के मृत्योपरान्त उसको स्वर्ग में स्थान दिलाना आवश्यक माना जाता था। यह कार्य केवल शव को अग्नि को सौपने के बाद ही किया जा सकता था। अग्नि द्वारा जब मृत शरीर का उपभोग किया जाता था। तब इसके राख में बदलने के उपरान्त यह मृतक यम के संसार में नया शरीर प्राप्त कर सकता था एवं पितरों एवं अपने पूर्वजों से मिल सकता था।[20] प्रारम्भिक आर्यों के मस्तिष्क में दिवंगत हुए पूर्वजों की आत्मा के लिए अन्य सामाजिक कर्तव्य सदैव वर्तमान रहने वाला उनका सम्मान था। आधुनिक श्राद्ध संस्कार धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग हो गया है। इसलिए किसी मनुष्य के मरने के उपरान्त उसको उपहार स्वरूप भेंटे प्रदान की जाती थी। अतः भेंटों को प्रस्तुत करना एक मात्र कर्तव्यपूर्ण सेवा नही रह गई एवं धार्मिक पूजा बन गई। इस प्रकार पूर्वजों की आत्मा उनकी पीढ़ियों के परिवारो में देवता बन गई।[21] प्रतिदिन पितृयज्ञ अथवा पूर्वज पूजा अग्नि का बलिदान बन गई जो प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के द्वारा पूरी की जानी चाहिए। वेदों में पितर प्रायः अग्नि के साथ बुलाये जाते हैं। अग्नि को मृतक आत्मा को उनके निवास स्थल तक ले जाने वाला माना जाता है। पितरों को मूलतः तीन वर्गों अर्थात् उच्च, मध्यम एवं निम्न रूपों में वर्गीकृत किया गया है, जैसा कि प्रारम्भिक एवं अंतिम जो सदैव अपने पीढ़ियों द्वारा अज्ञात रहते हैं, उनको अग्नि ही बतलाती है।[22] अतः लोग अपने पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए अग्नि की पूजा करते हैं। केवल इतना ही नही, ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पाँच मंत्र चिता के संस्कारों एवं भविष्य के जीवन के विचारों पर प्रकाश डालते हैं। दाह संस्कार मृतक शरीर समाप्त करने का सामान्य तरीका था। भविष्य के जीवन का विचार इससे विशेष रूप से सम्बन्धित है।

वैदिक लोग अग्नि को संस्कारों का निर्देशक संचालक एवं नैतिकता का संरक्षक मानते थे।[23] प्रत्येक संस्कार उसकी उपस्थिति एवं अनुबंध में पूरा किया जाता था। अग्नि की उपस्थिति में उसको साक्षी मान कर संविदा एवं बंधन को पूरा किया जाता था। इस बंधन[24] एवं संविदा को अग्नि के द्वारा प्रयोग में लाया जाता था। यह एक आंतरिक प्रमाण था जो विवाह एवं उपनयन के अवसरो पर उसके चारो तरफ विद्यमान रहता था एवं विद्यार्थियों, पति-पत्नी को उस परिवेश के अनुकूल बनाता था, इसलिए उनके ये बंधन वैध एवं स्थायी हो सकते थे।

भारत में विवाह परम्परा से सम्बन्धित प्रारम्भिक संदर्भ ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। तत्कालीन समाज में विवाह को एक सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्य तथा आवश्यकता माना जाता था। विवाह संस्कार में पवित्र अग्नि की उपस्थिति को प्रमाणित करता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि 'हे अग्नि हमे बच्चों के साथ पतियो एवं पत्नियो को पुनः

वापस दे दो ।[25] पुनः ऋग्वेद के दसवें मंडल में उल्लेख मिलता है कि अग्नि से नव वधु को गौरव एवं बड़े जीवन का साथ दिया जाता था । वह दीर्घजीवी हो एवं उसका जो स्वामी है, वह सैकड़ों पतझड़ की ऋतुओं तक जीवित रहे ।[26]वैवाहिक अवसरों पर अग्नि महान देवता होता था जो उनका प्रमुख साक्षी होता था । पत्नी को अपने कर्तव्यों को पूरा करने पड़ते थे जिसमें दिव्य के साथ-साथ लौकिक प्रकृति दोनों शामिल थे । उसके धार्मिक कर्तव्य निरपेक्ष कर्तव्यों की तुलना में सबसे महत्वपूर्ण थे । उसका प्रमुख कार्य आर्यों के घरों में सम्पूर्ण घरेलू अग्नि को जलाये रखना था । आर्यों की पूजा के प्रमुख दृष्टिगत रूप अनेक प्रकार के बलिदान थे एवं वे समाज के धार्मिक मान्यताओं पर प्रभाव रखते थे । बलिदानों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अग्नि का होना आवश्यक था । अग्नि उस समय के देवताओं का पुरोहित था । आर्य जन द्वारा उसी अग्नि को निरंतर प्रज्जवलित रखा जाता था । पारिवारिक चूल्हे में अग्नि को निरंतर जलाये रखना पत्नी का कर्तव्य बना दिया गया । यह उसी प्रकार का विवाह था जो एक नवीन आत्मा के साथ उसके संगठन को प्रमाणित करती थी ।[27] देवता अधिकाशतः अग्नि के धार्मिक संस्कार से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे । वैवाहिक जीवन में अग्नि का पति के साथ पत्नी उसके साथ तीन फेरे लेकर नवीन घरेलू अग्नि को प्रज्जवलित करके जोड़े के रूप में जीवन भर उसके साथ रहती थी । पत्नी अनेको देवताओं की उपासना अपने पति के साथ मिलकर करती थी । यह संयुक्त जोड़ा उपासना करके एवं न्याय संगत रूप से अग्नि के साथ निष्ठा व्यक्त करते हुए बुढ़ापे की तरफ बढ़ता है ।[28]

समाहार

प्राचीन भारतीय लोकजीवन में धार्मिक अनुष्ठानों तथा यज्ञीय कर्मकाण्डों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है । वेद भारतीय संस्कृति की अनुपम राशि है जो अपने दर्शन एवं मूल्य के कारण अद्वितीय है । अग्नि तथा यज्ञ के सम्बन्ध अटूट है। अग्नि बिना यज्ञ का कोई अस्तित्व नहीं है । कहा जाता है कि मानव सभ्यता का आरम्भ अग्नि से हुआ है । सभ्यताओं के विकास में इसका योगदान सार्थक तथा स्पष्ट है । इसकी खोज ने अनेक नई आदिम खोजो को जन्म दिया। अग्नि का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्व सर्वजनीन तथा सर्वविदित है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद, 10-7-1
2. बेडकर, डी.के., 1950, प्रीमीटिव सोसाइटी एण्ड यज्ञ, जर्नल आफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वालूम 31, पृ॰ 70.
3. स्टाल, फ्राइट्स, 1983, अग्नि, द वेदिक रिचुअल आफ द फायर आलटर, वालूम पु, एशियन ह्यूमनिटीज प्रेस, बर्कले, पृ॰ 73.
4. ऋग्वेद, 7.99.4, 5. ऋग्वेद, 1.164.34, 35, 6. ऋग्वेद, 10.96, 7. शतपथ, ब्राह्मण, 10. 43.1,8
8. ऋग्वेद, 1.94.6, 9. ग्रीफिथ, राल्फ टी.एच., 1889, पूर्वोद्धत, पृ॰ 130., 10. ऋग्वेद, 8.43.11, 11. ऋग्वेद, 5.15. 1, 12. ऋग्वेद, 1.143.7, 13. ऋग्वेद, 10.122. 2, 14. ऋग्वेद, 1.17, 15. ऋग्वेद, 8.19.20, 16. ऋग्वेद, 7.17.4, 17. ऋग्वेद, 4.3.15, 18. ऋग्वेद, 4.4.7
19. पोतदार, के. आर., 1953, सेक्रीफाइस इन द ऋग्वेद, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, पृ॰ 14.
20. ऋग्वेद, 10.14. 8
21. क्लेटोन, ए.सी., 1913, द ऋग्वेदा एण्ड वैदिक रिलिजन, क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसाइटी फार इण्डिया, लंदन एण्ड मद्रास, पृ॰ 98-101
22. मैक्डानेल, ए.ए., 1933, पूर्वोद्धत, पृ॰ 164.
23. ऋग्वेद, 7. 43. 24
24. पाण्डेय, राजबली, 1949, हिन्दू संस्काराज, विक्रम पब्लिकेशन, बनारस, पृ॰ 62., 25. ऋग्वेद, 10.85.38, 26. ऋग्वेद, 10. 85. 39
27. उपाध्याय, बी. एस., 1933, वूमेन इन ऋग्वेद, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, पृ॰ 134., 28. ऋग्वेद, 5.43. 15

जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तनशील स्वरूप

रुकैया खानम

डॉ. तनूजा सिंह

राजस्थान की राजधानी व बहुमूल्य विशेषताओं की धनी जयपुर जिसे उसकी धरोहरों की विशेषताओं के कारण 2019 में यूनेस्को ने विश्व विरासतीय स्थलों की सूचीं में शामिल कर वैश्विक रूप से इसकी विशेषता को प्रमाणित किया । जयपुर की बहुत सी विशेषताओं में से एक विशेषता यहॉ की ब्लू पॉटरी है, जो अपनी कोबाल्ट नीली डाई से अलंकृत नीले व सफेद पात्रों के कारण प्रसिद्ध है। ब्लू पॉटरी की सौन्दर्यात्मक विशेषता के कारण भारत सरकार ने इसे 2019 में जीआई टैग (भौगोलिक संकेत) का सम्मान दिया । वैसे तो यह कला फारस से भारत में आकर दिल्ली से होती हुई जयपुर पहुंची। फारस के पात्रों का वर्णन हमें ह्यूस्टन के ललित कला संग्रहालय में हुसैन अफसर संग्रह के फारसी पात्रों के आधार पर कर सकते हैं। इस संग्रह के पात्रों में देखने को मिलता है कि आरम्भिक फारस के पात्रों को कम व सादा अलंकरणों से सजाया गया है। परंतु जयपुर आकर उसने अपना रूप उसी तरह परिवर्तन कर लिया जैसे समस्त क्षेत्रीय कलाएं प्रचारित होकर अपना रूप परिवर्तित कर उसी क्षेत्र की विशेषताएं लिए पहचान बनाती रही है।

चित्र संख्या - 1 ह्यूस्टन संग्रहालय के पात्र

चित्र संख्या - 2 ह्यूस्टन संग्रहालय के पात्र

जयपुर ब्लू पॉटरी के विवरण से पूर्व ये समझना आवश्यक होगा कि पात्रों का निर्माण किस प्रकार आरम्भ हुआ। पात्र शिल्प सम्भवतः मनुष्य की सबसे प्रारंभिक कृतियों में से एक है। इस विनम्र वस्तु के साथ धर्म का जुड़ाव ही इसे एक गहरा महत्व और व्यापक आयाम देता है। यह समझने के लिए एक रोचक किंवदंती है कि मिट्टी के बर्तन कैसे बने? तो कहते हैं कि जब समुद्र का मंथन हुआ और देवताओं ने अमृत निकाला तो उन्हें इसे रखने के लिए एक बर्तन ढाला(चटोपाध्याय 3) । मानव ने पात्रों को पहले उपयोगी कला के रूप में प्रयोग किया उसके पश्चात इस कला में सौंदर्य तत्त्वो का समावेश होता गया।

पात्रों के निर्माण के पश्चात मनुष्य ने इसे चमकदार बनाने का प्रयास किया जिसे ओपदार पात्र (ग्लेज्ड पॉटरी) कहा गया। ओपदार पात्रों का सबसे पुराना उदाहरण हमें मोहनजोदड़ो से मिलता है इसके बाद ये कई वर्षों तक लुप्त हो गई तथा पुनः इस का आरम्भ कुषाण युग में दिखाई देता है। इसके बाद से ओपदार पात्रों की परम्परा अब तक बनी हुई है (Blue Pottery)।

ओपदार पात्रों में ब्लू पॉटरी का विशेष स्थान है, जो मूल रुप से तुर्की फारसी कला है परन्तु चीनी पात्रों से भी इसका संबम्ध है। इन सभ्यताओं का जुड़ाव तब हुआ जब मंगोलों ने चीन पर कब्जा कर लिया। फारसी कुम्हारों ने पहले तो चीनी सामानों की नकल की लेकिन फिर अपनी स्वयं की कला के अनुसार विकास किया व इस्लामी सौन्दर्य तत्वों के अनुरूप चित्रित किया(बोर्डिया 7)। अलंकरणों में धीरे-धीरे बदलाव आए व ब्लू पॉटरी का प्रयोग महलों में धार्मिक इमारतों में हुआ। चित्र संख्या-3 में प्रदर्शित टाइल महल की टाइल है जो चीनी पुष्प व वनस्पति के साथ शक्ति के शाही प्रतीकों, ड्रैगन और फिनिक्स को भी दर्शाया गया है, जो चीनी प्रभाव को दर्शाता है (artsofasia)।

चित्रसंख्या-3ह्यूस्टनसंग्रहालयकेपात्र

यह कला लोदी वंश के पश्तून शासकों (1451-1526) द्वारा उत्तर भारत में लाई गई(बोर्डिया 13), उदाहरण स्वरुप दिल्ली के महरौली में जमाली-कमाली के मकबरों और मस्जिद पर मिले हैं, जहां नीले के साथ लाल व भूरे रंग से ज्यामितीय एवं पुष्पाकृतियों का प्रयोग इस्लामिक कला तत्वों के रूप में हुआ है। इसी तरह के अलंकरण 1583 में

मुगल कला में निर्मित लाहौर किले (पाकिस्तान) में देखने को मिलता है, परन्तु ये अधिक विकसित व रंगीय विविधता लिए हुए हैं तथा इसमें पशु व मानवाकृतियों का प्रयोग देखने को मिलता है(बोर्डिया 17)। एक अन्य उदाहरण बीदर (दक्कन) का किला है जहां विविध रंगों की टाइलों का प्रयोग हुआ है तथा कुरान की आयतों को भी अलंकरण में प्रयोग किया है। यहां पर कुछ टाईलें केवल नीले व सफेद रंग की बनी हुई है जो पुष्पाकृतियों व ज्यामितीय अलंकरणों से सजी हुई हैं(बोर्डिया 21)।

पद्मश्री कृपाल सिंह शेखावत ने ब्लू पॉटरी के इतिहास के विषय में स्थानीय कलाकारों ने बताया कि जयपुर में महाराजा सवाई रामसिंह कला प्रेमी थे, वे अनेक प्रतियोगिताएं आयोजित करते थे। पतंगबाजी की एक प्रतियोगिता में भरतपुर के कालूराम व चूड़ामणि नाम के दो कुम्हारों ने इनाम जीता। रामसिंह के पूछने पर पता चला कि यह भरतपुर राजा के महल में बेल-बूटे भी बनाते हैं तथा रामसिंह ने इन दोनों को दिल्ली ब्लू पॉटरी कला सीखने भेजा। 1868 ईस्वी में जयपुर वापस लौटे तो जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट में ब्लू पॉटरी सिखाने के लिए नौकरी पर रखा गया। अध्यापन का यह सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा(कासलीवाल 33)।

जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट के छात्रों द्वारा निर्मित पात्रों का अध्ययन हम जयपुर अल्बर्ट हॉल म्यूजियम के संग्रहण से कर सकते हैं। यहां के छात्रों पर प्रारम्भ में मुगलकालीन पात्रों का प्रभाव दिखता है जो संभवतः दिल्ली से प्रशिक्षित अध्यापकों के कारण हुआ होगा। ये पात्र सफेद व नीले रंग के हैं। आगे चलकर इन कलाकारों ने इसी वर्णीय विशेषता का प्रयोग करते हुए मानवाकृतियां व प्राकृतिक अलंकरणों से पात्रों को सजाया-जैसे-जल महल के सामने नाव सवार, मछलियां व किले पर पंखयुक्त मानवाकृतियां आदि। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यार्थियों द्वारा पात्रों में देवी-देवताओं की आकृतियों को उनकी विशेषताओं के साथ चित्रित किया जो विशुद्ध भारतीयता को दर्शाता है।

कलाकारों के रूढ़िवादी विचारों ने इस कला को अपने परिवारों तक सीमित कर दिया व इसका ज्ञान सामान्य जनता की पहुंच से दूर हो गया। लुप्त सी होती इस कला को पुनर्जीवित करने का श्रेय जयपुर की महारानी गायत्री देवी, ऑल इंडिया हैंडीक्राफ्ट बोर्ड, नई दिल्ली की प्रथम चेयरपर्सन श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने यह निर्णय लिया कि जयपुर में कृपाल सिंह शेखावत के निर्देशन में विद्यार्थियों को ब्लू पॉटरी का प्रशिक्षण दिया जाए। इस कार्य को आगे बढ़ाते हुए 1963 में कृपाल सिंह शेखावत ने इस कार्य का आरम्भ कर विद्यार्थियों को ब्लू पॉटरी का प्रशिक्षण देना शुरू किया व अत्याधिक महंगी दर पर बिक रहे सामान को जगह-जगह जाकर सस्ती दर पर खोजा तथा इसका ज्ञान आम जनता तक पहुंचाया।

कृपाल सिंह शेखावत राजस्थान के प्रमुख कलाकारों में रहे हैं और यही प्रमुखता उनके पात्रों में दर्शनीय हैं। अभी तक जयपुर के पात्रों में पारम्परिक रंगो का प्रयोग हो रहा था, परन्तु कृपाल सिंह ने इनमें राजस्थानी विशेषताओं के रंगों का प्रयोग प्रारम्भ किया। उनके लघु चित्रों के प्रमुख विषय मुख्यतः राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंग, महाकवि जयदेव कृत गीत गोविंद व राजस्थान के लोक नायकों की जीवन घटनाओं पर आधारित होते हैं। उन्होंने इसी लघु चित्र शैली का प्रयोग ब्लू पॉटरी के पात्रों पर किया (कासलीवाल 31-32)।

शेखावत जी के शिष्य श्री गोपाल सैनी ने इस कला को नए आयाम देते हुए आगे बढ़ाया व 1993 में अपनी कार्यशाला की जयपुर में स्थापना की। उन्होंने लघुचित्रों की सूक्ष्म विशेषताओं का समावेश कर पॉटरी में शैडिंग व बारीकियों का कार्य शुरू किया तथा लय व गति को अपने चित्रण की विशेषता बनाई तथा अपनी असाधारण प्रतिभा से ब्लू पॉटरी में जाली काटने जैसा असंभव कार्य किया व जयपुर स्थापत्य की प्रतीक 51'' ऊँची ईश्वर लाट को ब्लू पॉटरी में बनाकर कीर्तिमान स्थापित किया तथा मुगल शैली के लघु चित्रों से सुसज्जित 25'' ऊंची जालीदार लैम्प

बनाया। भारत सरकार द्वारा सम्मानित श्री गोपाल सैनी ने सरकार की ओर से कई बार विदेश भेजा गया जहॉ उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन कर भारत का प्रतिनिधित्व किया। अभी भी यह देशी व विदेशी कलाकारों को प्रशिक्षित कर इस कला को आगे बढ़ा रहे हैं।

जैसे हर कला में सामाजिक परिवर्तन के साथ बदलाव आता है उसी तरह ब्लू पॉटरी का स्वरूप भी बदल रहा है। ब्लू पॉटरी अब केवल पात्रों तक ही सीमित नहीं रही, कुछ कलाकारों व संगठनों ने इसे विविध रूप में निर्मित किया। इनमें से एक संगठन नीरजा इंटरनेशनल फाउंडेशन मुख्य रूप से कार्यरत है जिसकी संस्थापक श्रीमती लीला बोर्डिया ने अपने प्रयासों से ब्लू पॉटरी के द्वारा ज्वैलरी, खेल की वस्तुओं, कुर्सी, टेबल, चम्मच, चाकू व घर की सजावट की वस्तुओं आदि का निर्माण करवाया व वैश्विक रूप से अपनी पहचान बनाई।

ब्लू पॉटरी आज भी वैश्विक रूप से अलग-अलग रूपों में अपनी पहचान बनाए हुए हैं तथा कलाकार संगठन व व्यापारी इस कला को विशेष स्थान दिला रहे हैं।

संदर्भ:-

1. चटोपाध्याय‘‘.कमलादेव,हैंडीक्राफ्ट आफ इंडिया.‘‘न्यू दिल्ली:एशिया बुक क्रोप3.सं.पृ,1975,
2. Blue Pottery, https://industries.rajasthan.gov.in/content/industries/handmadeinrajasthandepartment/artandcraft/bluepottery/bluepottery.html.
3. बोर्डियालीला,."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजा इंटरनेशनल7 .सं.पृ,2014,
4. Doe, John. “Between Sea and Sky: Blue and White Ceramics from Persia and Beyond at the Museum of Fine Arts, Houston.” Arts of Asia, 10 Feb. 2022, artsofasia.com/2020/09/20/between-sea-and-sky-blue-and-white-ceramics-from-persia-and-beyond-at-the-museum-of-fine-arts-houston-2.
5. बोर्डियाजयपुर ब्लू पॉ".लीला,टरी .सं.पृ,2014,नीरजा इंटरनेशनल:जयपुर."13
6. बोर्डियालीला,. ."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजाइंटरनेशनल,2014,पृ.सं. 17
7. बोर्डियालीला, ."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजाइंटरनेशनल,2014,पृ.सं. 21
8. कासली वाल मीनाक्षी "कृपाल सिंह शेखावत."समकालीन कला,ललित कला जुलाई,-अक्टूबर.,2006पृ.सं33 .
9. कासली वाल मीनाक्षी "कृपाल सिंह शेखावत."समकालीन कला,ललित कला जुलाई,-अक्टूबर.,2006पृ.सं3 .1-32

माटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्ण लीला स्तम्भः एक अध्ययन।

डॉ. विनय कुमार

माटीगांव (25°18′23″ उत्तरी अक्षांश व 83°14′7″ पूर्वी देशांतर) का पुरास्थल एक बृहत टीले के रूप में है जो कि उत्तर–प्रदेश के चंदौली जिले में चंदौली शहर से आठ कि०मी० उत्तर–पश्चिम में तथा निकटतम रेलवे–स्टेशन कुचमन से दो कि०मी० दक्षिण–पूर्व में स्थित है। चंदौली जिले में मानव के प्राचीनतम बसावट का अध्ययन विन्ध्य पठार क्षेत्र के नौगढ़ तहसील में उत्तर–प्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग द्वारा किया गया जहाँ से पुरापाषाणकालीन उपकरण प्रतिवेदित हुए हैं। अभिलेखों के अनुसार माटीगांव का मूल नाम फरसण्डमोहनपुर है।

क्षेत्र की पुरातात्विक पृष्ठभूमि व पूर्ववर्ती कार्य

चंदौली जिले का पुरातात्विक अन्वेषण सर्वप्रथम 1875–76 ई० में सरअलेक्जेंडर कनिंघम ने की (कनिंघम 1880) व पुरातात्विक महत्व के कुछ पुरास्थलों को प्रतिवेदित किया। 1999–2000 ई० में उत्तरप्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग और काशी हिंदू विश्वविद्यालय की टीम ने माटी गांव के प्राचीन पुरास्थल की सूचना दी।

माटीगांव स्थित भांडेश्वर प्रांगण वाले टीले पर हमें भिन्न–भिन्न देव समूहों की मूर्तियाँ यत्र–तत्र देखने को मिल जाती है। इन्हीं मूर्ति खंडों में एक रोचक सुन्दर प्रस्तर स्तंभ भी प्राप्त हुआ है जो कि ऊर्ध्वाधर दो भागों में विभाजित है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

यह प्रस्तर स्तंभ किसी देवालय का अंग न होकर एक स्वतंत्र स्तुतिपरक एकाश्मक स्तंभ रहा होगा। आकार प्रकार में यह प्रस्तर स्तम्भ–फलक आयताकार एवं वर्गाकार है। इस स्तम्भ के चारों भद्रों में सोपानवत छोटे–छोटे सुंदर रथिकाएँ निर्मित है। रथिकाओं को दर्शाने के निमित्त पार्श्व में दो छोटे अलंकृत स्तम्भनुमा रचनाओं को उकेरा गया है। आयताकार छाद्यकी ज्यामितीय अलंकरणों से अलंकृत हैं। रथिका के बीच में कृष्ण–लीला संबंधित दृश्य को अत्यंत ही सजीवता से तराशा गया है। स्तम्भ के अधोभाग में पादकी स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है परन्तु शीर्ष भाग खंडित है। संभवतः शीर्ष भाग घंटाकृति अथवा आमलख जैसी संरचना से अलंकृत रहा होगा। स्तम्भ के चतुर्दिक रथिकाओं में अधिकांशतः वासुदेव और देवकी पुत्र कृष्ण की बाल–लीला से संबंधित दृश्यों का सुंदर रूपांकन किया गया है। इस स्तम्भ के प्रत्येक भद्रों में निर्मित रथिकाओं में निरूपित कृष्ण–लीलाओं का वर्णन क्रमशः नीचे से शीर्ष की ओर (भद्रपीठ) जाने वाली दिशा में किया गया है–

प्रथम भद्र–

1. एक वृक्ष और उसके नीचे वामाभिमुख आसनस्थ गौ।
2. दधि मंथन दृश्य।
3. गोवर्धनपर्वतधारी श्रीकृष्ण।
4. भद्रपीठ पर आसीन बालकृष्ण के सम्मुख माता यशोदा।
5. खंडित।
6. ललितासन मुद्रा में हलधर बलराम।
7. स्थानक चतुर्भुज कृष्ण।

द्वितीय भद्र–

1. एक वृक्ष के नीचे आसनस्थ वामाभिमुख गौ।
2. केशी वध।
3. दधि मंथन दृश्य।
4. धेनुकासुर वध।
5. शिशु कृष्ण को लिए हुए वासुदेव का यमुना पार करना।
6. हलधर बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण का वध।
7. मरणासन्न शकटासुर (शकट भंग)।

तृतीय भद्र–

1. एक वृक्ष के नीचे वामाभिमुख स्थानक गौ।
2. अरिष्ठासुर वध।
3. यमलार्जुन उद्धार।
4. मथनी युक्त दधि–पात्र के सम्मुख बालक।
5. दधि पात्र लिए हुए स्त्री आकृति।
6. प्रवेशद्वार के मध्य शिशु कृष्ण को गोद में लिए हुए वासुदेव।
7. पर्यंक पर अर्ध शयन मुद्रा में बाल–कृष्ण को दूध पिलाती माता यशोदा।

चतुर्थ भद्र–

1. वृक्ष के नीचे आसीन वामाभिमुख गौ।
2. वरद मुद्रा में आसनस्थ पुरुषाकृति संभवतः कृष्ण।
3. कुवलयापीड़ वध।
4. योग माया को शिलापट पर पटकता कंस।
5. अन्य नवजात शिशु को शिलापट पर पटकता कंस।
6. मल्ल युद्धरत कृष्ण।
7. खंडित व अस्पष्ट।

माटीगांव से प्राप्त कृष्ण लीला स्तंभ में शिल्पकारों ने जिस प्रकार से वर्णन करते हुए सजीवता से उकेरा है उन दृश्यों का वर्णन निम्नवत प्रस्तुत है–

शकट भंजन– इस दृश्य का रूपांकन लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की सप्तम् रथिका में हुआ है। इस रूपांकन में शकटासुर के मानवीय स्वरूप को दिखाया गया है और अभिव्यंजना के तौर पर शकट के गोलाकार पहिए को दिखाया गया है। शकटासुर वामाभिमुख मरणासन्न मुद्रा में अपने एक हाथ को ऊपर मुख के पास किए हुए हैं तथा उसका दूसरा हाथ नीचे पहिये की तरफ है। शकटासुर के बड़े बाल व दाढ़ी सुस्पष्ट देखे जा सकते हैं। उसकी आँखें खुली हुई प्रतीत होती है। यहाँ पर ध्यान देने वाली बात यह है कि बालक कृष्ण का अंकन यहाँ नहीं मिलता है या नहीं किया गया है।

यमलार्जुन उद्धार– इस दृश्य का रूपांकन कृष्ण लीला स्तंभ के तृतीय भद्र की तृतीय रथिका में हुआ है। इसमें श्री कृष्ण यमलार्जुन के दो वृक्षों को उखाड़ते हुए दर्शाए गए हैं। वह अपने बाएँ पैर से बाएँ ओर के वृक्ष के तने को लपेटे हुए हैं और बाएँ हाथ की भुजा से उसे मजबूती से पकड़े हुए हैं। उनका दायाँ पैर भूमि पर है तथा दाएँ ही हाथ से दाईं ओर के वृक्ष को

मजबूती से लपेटे हुए हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार धनपति कुबेर के दो लड़के जिनका नाम नलकुबेर और मणिग्रीव था नारदमुनि के शाप से ये दोनों पुत्र अर्जुन वृक्ष होकर यमलार्जुन के नाम से प्रसिद्ध हुए जिनका उद्धार कृष्ण ने किया।

गोवर्धन धारण– इस दृश्य का अंकन लीला स्तम्भ के प्रथम भद्र की तृतीय रथिका में देखने को मिलता है, इसमें कृष्ण को त्रिभंगी मुद्रा में बाएँ हाथ से गोवर्धन पर्वत को धारण किए हुए दिखाया गया है तथा दाएँ हाथ को कटि पर रखे हुए दर्शाया गया है। इसमें श्रीकृष्ण को अंग वस्त्र धारण किए हुए भी दिखाया गया है। इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत धारण किए हुए लीला दृश्यों का अंकन कुषाण काल से ही दिखाई देने लगता है।

अरिष्ठासुर वध– इस दृष्टांत का अंकन लीला स्तंभ में तृतीय भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथों से वृषभ रूप धारण किए हुए अरिष्टासुर को पकड़े हुए हैं। उनका एक पैर अस्पष्ट रूप से अरिष्टासुर के ऊपर है। अरिष्ठासुर को पैरों से कुचलकर वध करने का वर्णन *भागवत महापुराण* में मिलता है।

केशी वध– इस लीला दृश्य का सुंदर व जीवंत अंकन लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इसमें कृष्ण स्थानक मुद्रा में वामाभिमुख केशी के सम्मुख उसके दोनों अग्रपादों को पकड़े हुए तथा अपने दाहिने पैर से केशी के पैर को दबाकर उसे पटकने की चेष्टा करते हुए दर्शाये गए हैं, जिसमें उनका बायां पैर पीछे की ओर है।

धेनुकासुर वध–कृष्ण लीला स्तम्भ में इस दृश्य का अंकन केशी वध के ही समान है, जिसमें गधे के रूप में आए असुर धेनुकासुर के दोनों पैरों को स्थानक मुद्रा में वामाभिमुख बलराम दोनों हाथों से पकड़े हुए हैं तथा अपने बाएं पैर से धेनुकासुर के पैर को दबाएँ हुए हैं। इस दृश्य में बलराम दाएं पैर को थोड़ा पीछे कर पूरे जोर के साथ उसे भूमि पर पटकने की चेष्टा करते हुए प्रतीत होते हैं। पुराणों में वर्णित है कि जब कृष्ण और बलराम ताड़ के वन में अपने मित्रों के साथ फल खाने गए तभी धेनुकासुर ने गधे के रूप में उन पर हमला किया तब बलराम ने उसका वध किया था।

कृष्णा–चाणूर मल्लयुद्ध– इस दृश्य का अंकनकृष्ण–लीला स्तम्भ के चतुर्थ भद्र की सप्तम रथिका में हुआ है। चाणुर, कंस का एक प्रमुख एवं कुशल मल्ल था। इस दृश्य में वामाभिमुख कृष्ण अपनी बाएं हाथ से चाणुर के बाएं पैर को उठाए हुए हैं। चाणुर अपने दाहिने हाथ से कृष्ण का बायां हाथ पकड़ कर छुड़ाने की चेष्टा करता प्रतीत होता है। कृष्ण का दायां हाथ चाणुर के बाएं हाथ को पकड़े हुए ऊपर मुखमंडल के ऊँचाई पर दिखाई दे रहा है।

बाल कृष्ण को लिए हुए वासुदेव का यमुना पार करना– लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की पंचम रथिका में इस मनोरम दृश्य का अंकन किया गया है। इसमें वासुदेव मथुरा से नवजात शिशु कृष्ण को गोद में लेकर गोकुल जाने हेतु यमुना नदी पार करते हुए दर्शाए गए हैं। स्थानक मुद्रा में वासुदेव दक्षिणाभिमुख हैं। गोद में शिशु कृष्ण को लिए हुए वासुदेव के सम्मुख थोड़ी वक्रता लिए हुए यमुना नदी उनके घुटने के ऊपर तथा कटि भाग के नीचे यानी जाँघ तक प्रवाहमान हैं।

नवजात शिशु को लिए हुए प्रवेश द्वार पर खड़े वासुदेव– लीला स्तम्भ के तृतीय भद्र की षष्ट रथिका में उक्त दृश्य का रूपांकन किया गया है। इसमें वामाभिमुख वासुदेव अपनी गोद में

नवजात शिशु कृष्ण को लेकर स्थानक मुद्रा में कारागार के प्रवेश द्वार पर खड़े हुए दर्शाए गए हैं। उनके दोनों पार्श्व के प्रवेश द्वार के दोनों कपाट अधखुले प्रदर्शित है।

कुवलयापीड वध– कुवलयापीड एक हस्ति था जिसका वध बालकृष्ण के द्वारा हुआ था। इस हस्ति को कंस ने विशेष प्रशिक्षण दिया था ताकि कृष्ण और बलराम को मारा जा सके। इस घटना का दृश्यांकन लीला स्तम्भ के चतुर्थ भद्र की तृतीय रथिका में हुआ है। इस लीला दृश्य को शिल्पी ने बहुत ही बारीकी से यहाँ निरूपित किया है। इसमें वामाभिमुख कृष्ण कुवलयापीड को नीचे पटकर, उसके सूंड़ पर अपना बायां पैर रखे तथा अपने दोनों हाथों से उसके दोनों पैरों को पकड़े हुए दर्शाए गए हैं।

कंस का योगमाया को शिलापट्ट पर पटकना–कृष्ण लीला स्तंभ के चतुर्थ भद्र की चतुर्थ एवं पंचम रथिका में इसका दृश्यांकन हुआ है। *पुराण* कथा के अनुरूप कंस को अपने दाहिने हाथ से योगमाया (यशोदा के नवजात शिशु कन्या) के दोनों पैरों को पकड़कर शिलापट पर पटकते हुए दर्शाया गया है। स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित कंस का बायां हाथ निकट के शिलापट पर स्थित है। इसमें कंस के बाएं पैर को शिलापट्ट की तरफ आगे किये हुए तथा दाहिने पैर को पीछे रखे हुए दर्शाया गया है। कंस के दाहिने हाथ को शीर्ष के ऊपर उठाएं हुए दर्शाया गया है जिसमें वह योगमाया के दोनों पैरों को पकड़कर उछालते हुए प्रतीत होता है। ऐसा ही दृश्य इसी भद्र के पंचम रथिका में भी दर्शाया गया है। संभवतः यह वासुदेव–देवकी के अन्य किसी नवजात शिशु को शिलापट्ट पर पटकने का दृश्य हो ।

दधि मंथन– कृष्ण लीला स्तंभ में इस मनोरम दृश्य का अंकन चतुर्थ भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इस दृश्यांकन में स्थानक मुद्रा में माता यशोदा दक्षिणाभिमुख होकर दधि मंथन कर रही है और वामाभिमुख बालकृष्ण अपने दोनों हाथों से मथनी पकड़े हुए दर्शाए गए हैं।

माखन चोरी का दृश्य– इसी लीला स्तम्भ मेंएक अन्य कलाकृति तृतीय भद्र के चतुर्थ रथिका में भी दर्शाया गया है, जिसमें कोई पुरुषाकृति दक्षिणाभिमुख स्थानक मुद्रा में मथनी युक्त दधि पात्र के पास दुबके हुए अवस्था में है। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कि यह दृश्य माखन चोरी से संबंधित है जिसमें बालकृष्ण माखन चोरी करते हुए दर्शाए गए हैं।

चतुर्भुज कृष्ण– लीला स्तम्भ में चतुर्भुज कृष्ण का रूपांकन प्रथम भद्र के सप्तम रथिका में दर्शनीय है। इसमें स्थानक मुद्रा में श्रीकृष्ण को दर्शाया गया है जिसमें उनका बायां हाथ नीचे की ओर गदा पकड़े हुए हैं। दायां भाग खंडित है जिससे दायें हाथ की स्थिति अस्पष्ट है। संभव है कि दायाँ हाथ नीचे की ओर अथवा कटि भाग पर रहा होगा (?)। इस रथिका के दृ श्य में बायें तरफ ऊपर उठा हुआ एक अन्य हाथ जिसमें शंख सी आकृति है थोड़ी अस्पष्ट है। संभव है कि यह चतुर्भुज कृष्ण का दृश्य रहा हो जिसमें कृष्ण बायें ऊपर उठे हाथ में शंख और बायें नीचे की तरफ वाले हाथ में गदा धारण किये हुए हैं। इसके विपरीत दायें दोनों हाथों में चक्र और पद्म रहा होगा जो कि खण्डित होने की वजह से स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा है।

हलधर बलराम– लीला स्तंभ में इस दृश्य का अंकन बहुत ही सुंदरता से किया गया है। लीला स्तंभ के प्रथम भद्र की प्रथम रथिका में इस दृश्य को शिल्पकार ने दक्षता से निरूपित किया है इसमें हलधर बलराम भद्र पीठ पर ललितासन मुद्रा में बैठे हुए दर्शाए गए हैं। इनके बायें हाथ

में हल है जो कि बाएं कंधे से टिका हुआ प्रतीत होता है, जबकि दाहिना हाथ दाहिने पैर के जांघ पर रखे हुए दर्शाए गए हैं।

ललितासन मुद्रा में श्री कृष्ण– लीला स्तंभ के चतुर्थ भद्र की द्वितीय रथिका में ललितासन मुद्रा में बैठे कृष्ण को दर्शाया गया है। कृष्ण के दाहिने हाथ को वरदमुद्रा में दर्शाया गया है जबकि बाएँ हाथ वाला भाग खंडित व अस्पष्ट है। संभवतः बायां हाथ बाएं पैर के जंघा पर रहा होगा। इस दृश्य में कृष्ण आँखें बन्द किये हुए ध्यान लगाए हुए प्रतीत होते हैं।

गौ और वृक्ष का अंकन– लीला स्तंभ के सभी चारों भद्रों के प्रथम रथिकाओं में गौ को स्थानक या आसनस्थ मुद्रा में कदम्ब वृक्ष के नीचे दर्शाया गया है। प्रथम भद्र के प्रथम रथिका में वामाभिमुख आसनस्थ गौ को चार पत्रकों से युक्त वृक्ष के नीचे मुख को ऊपर उठाए दर्शाया गया है। ऐसे ही द्वितीय भद्र के प्रथम रथिका में भी वामाभिमुख गौ को वृक्ष के नीचे आसनस्थ मुद्रा में दर्शाया गया है। इसमें भी गौ अपने मुख को ऊपर उठाए हुए प्रतीत हो रहा है। इसके अलावा तृतीय भद्र की प्रथम रथिका में भी वामाभिमुख स्थानक मुद्रा में गौ को वृक्ष के नीचे दर्शाया गया है।

बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण का वध–लीला स्तम्भ के द्वितीय भद्र के तृतीय रथिका में बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण वध के कथानक को दर्शाया गया है, जिसमें मुनि रोमहर्षण दक्षिणाभिमुख आंखें बंद किए हुए दिख रहे हैं जबकि उनके सम्मुख बलराम हल की नोक से उनके शीर्ष पर प्रहार करते हुए दर्शाए गए हैं।

बालकृष्ण और माता यशोदा–लीला स्तंभ के प्रथम भद्र की चतुर्थ रथिका में इस सुंदर दृश्य को दर्शाया गया है। इसमें ऊंचे भद्रपीठ पर आसीन वामाभिमुख कृष्ण नीचे की ओर पैर लटकाए हुए दर्शाए गए हैं। दक्षिणाभिमुख स्थानक मुद्रा में माता यशोदा बालकृष्ण के सम्मुख खड़ी हैं तथा कृष्ण माता यशोदा के हाथ को पकड़े हुए प्रतीत होते हैं। संभवतः शिल्पकार द्वारा इस दृश्य में माता यशोदा और बालकृष्ण के वार्तालाप को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

पर्यंक पर आसीन माता यशोदा–इस लीला स्तंभ के तृतीय भद्र की सप्तम रथिका में इस दृश्य को दर्शाया गया है। यह रथिका अल्प रूप से खंडित है जिसकी वजह से दृश्य थोड़ा अस्पष्ट है परन्तु पर्यंक के दो पाद और पर्यंक स्पष्टतः दिख रहे हैं। जिसपर माता यशोदा अर्धशयन मुद्रा में बालकृष्ण को दुग्ध पान करा रही हैं। पर्यंक के ऊपर की छाद्यकी स्पष्ट रूप से दिख रहा है।

संदर्भ

1. अग्रवाल, आर०सी०, 1979 ' कृष्णा लीला सीन इन अर्ली राजस्थानी स्कल्पचर्स 'बुलेटिन ऑफ म्यूजियम एंड आर्कियोलॉजी इन यू०पी०', नं. 21–24 जून 78– दिसंबर 79।
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, 1963. पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा–परिषद।
3. अवस्थी, रामाश्रय, 1967, खजुराहो की देव प्रतिमाएं, आगरा, ओरिएंटल पब्लिशिंग हाउस।
4. कनिंघम, ए० 1880. अ रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन गंगेटिक प्रोविंसेस फ्रॉम बादौन टू बिहार इन 1875–76 एंड 1877–78, वॉल्यूम ग्, कलकत्ता।
5. कार्लाइल, ए०सी०एल० 1885. रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन गोरखपुर, सारण एंड गाजीपुर इन 1877–80, कलकत्ता।
6. जाश, पी० 1997, ग्लिम्प्सेस ऑफ हिन्दू कल्ट्स एंड कल्चर, डेल्ही, संदीप प्रकाशन।

7. जोशी, एन०पी०, 1979, 'कृष्णा इन आर्ट ह्वेदर टू आर्म्ड एंड मल्टी आर्म्ड', बुलेटिन ऑफ म्यूजियम एंड आर्कियोलॉजी इन यू०पी०', नं. 21–24 जून 78– दिसंबर 79।
8. तिवारी, राकेश एवं सिंह, गिरिश चंद्र, 1992–93, कैमूर उपत्यका में रामकृष्ण कथांकन, प्राग्धारा, अंक–3।
9. देव, कृष्ण, 1960, 'लक्ष्मण टेम्पल ऐट सिरपुर', जर्नल ऑफ मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, नं– 2।
10. देव, कृष्ण एंड एस०डी० त्रिवेदी, 1996, स्टोन स्कल्पचर इन द अलाहाबाद म्यूजियम, न्यू डेल्ही, मनोहर पब्लिकेशन, अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज, वॉल्यूम–2।
11. बनर्जी, आर०डी०, 1928, 'बास रिलिफ्स ऑफ बादामी', आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, मेमोरीज, कलकत्ता, नं–25।
12. सिंह, आर०एल० 1971. इंडिया–अ रिजिनल जियोग्राफी, वाराणसी,नेशनल ज्योग्राफिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया ।
13. सिंह, अमर, 1979, ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मंदिर में कृष्ण लीला दृश्य, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, उ०प्र०, अंक 21–24।
14. सिंह, गिरीश चंद्र, 1999–2000. सर्वतोभद्र कृष्ण–लीला स्तम्भः मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, प्राग्धारा, अंक–10, उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन।
15. सिंह पुरुषोत्तम, राकेश तिवारी एंड रविन्द्र एन० सिंह, एक्सप्लोरेशन्स इन चंदौली डिस्ट्रिक्ट (यू०पी०) 1999–2000ः अ प्रीलिमिनरी रिपोर्ट, प्राग्धारा खंड–10।

भाण्डेश्वर महादेव शिवमंदिर

AN OVERVIEW OF SUGGESTIVE RESONANCE AS DHVANI IN INDIAN ARTS TILL THE MUGHALS

Mr. Varij Khanna,
Prof. Loveneesh Sharma,

Dhvani, which has been aptly called the suggested sense in a work of art, can be identified as a major preoccupation of Indian artistic expression. In Music, Dance, Theatre, the art of Painting and Sculpture, and most of all Poetry(Kavya)- considered superior among all the arts in our Indian art traditions (Bhatt & Shastri 106) - it has been recognized as an independent measure for spiritual and aesthetic relish. But before we seek to identify Dhvani in Visual Arts, it is important to understand Dhvani in terms of poetics, since it is in this context that it has been discussed by earlier thinkers. The term Dhvani traces itself back to the Rigveda, where it simply implies sound, echo, or noise in general (Bhartruhari 25). The early grammarian, Bhartrhari (Stephanie,) was among the first to discuss the concept of Dhvani as resonance in his discussions on Sphota.Bhartrhari spoke of Dhvani as a natural consequence of Sphota which enlivens Sabda (the spoken word), allowing Artha (meaning) to manifest, in the Bramhakandam of his Vakyapadiyam, he says -

"स्फोटस्यग्रहणेहेतुःप्राकृतोध्वनिरिष्यते" (Bhatt & Shastri 106)

Bharata spoke of Dhvani in context to Rasa in the Natyashastra, but it was Anandavardhana who dealt with it in great depth in his Dhvanyaloka, where he dealt with Dhvani purely in poetic respects, identifying it as an independent aspect, that is necessary to recognize when appreciating poetry. In the Dhvanyaloka, he says –

"अन्येब्रूयुः - नास्त्येवध्वनिः ।

प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्यकाव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेवकाव्यलक्षणम्।

न चोकप्रस्थानातिरेकिणोमार्गस्यतत्सम्भवति ।

न च तत्समतान्तः पातिनः सहृदयान्कांश्चित्परिकल्प्यतत्प्रसिद्धयाध्वनौकाव्यव्यपदेशः

प्रवर्तितोऽ पिसकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।" (Anandvardhanacharya15)

Often learned men say that Dhvani is not true (नास्त्येव), their argument is, that to identify Dhvani as an independent measure for appreciation, outside of the known / crystallised measures- alankar, riti, vritti etc. - will only bring harm to Kavyatattva (the essence / essential element/s in poetry).

Anandavardhana goes on to say that Dhvani is perceptible to those blessed with Pratibha (innate poetic understanding) and Sa-hridyata (a tender and sensitive heart) (Anandvardhanacharya15).

Abhinavgupta (950-1016 AD) (Dhar), too discusses the concept of Dhvani and Sphotavada, according to him Dhvani is the suggestive power in awork ofart, significantly inpoetry. Essentially, Dhvani signifies the resounding sense of a feeling that cannot be described but is subtly suggested in a work of art. Dhvani manifests in works of art, often making it seemingly strange and somewhat ambiguous at first glance, but with time, and keen observation, itopensanentireworldof layered meaning, wherealmostnothingissaid, and whatisfelt, cannotbedescribed. Thus, our use of the term Suggestive Resonance in context of Dhvani seems to be most appropriate. There are numerous examples of Dhvani in Indian Literature, which also includes the great wealth of Stotras and Mantras from our ancient religious scriptures, for instance the Shiva Tandavstotra–

"जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले
गलेऽवलम्ब्यलम्बितांभुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं
चकारचण्डताण्डवंतनोतुनःशिवःशिवम् ॥१॥
जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी_
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि।
धगद्धगद्धगज्जलल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरेरतिःप्रतिक्षणंमम ॥२॥" (Chakrabarti 91)

The sounds- **"डमड्डमड्डमड्ड", "धगद्धगद्धग",** indicative of the Shiva's Pellet drum (Damroo) and the celestial fire on Shiva's head, send lasting reverberations on the mind of the speaker and listener, and reader giving a complete, immersive experience of the iconography of the Shiva, i.e., Dhvani.

This fascination for Dhvani as suggestive resonance was perfected in the classical Sanskrit poetry of India, examples of which are as follows:

"अनवरतरसेनरागभाजाकरजपरिक्षतिलब्धसंस्तवेन ।
सपदितरुणपल्लवेनवध्वाविगतदयंखलुखण्डितेनमम्ले॥"(Magh 220)

'A fresh young shoot, bright red and full of sap, was severed by a girl's nails and mercilessly plucked, immediately dried up.'

In the explanation of the above, when Krishna enters the forest of Mount Raivataka, the local women are overcome by ecstasy and resort to all sort of passionate expressions in their interactions with nature. Here the enchanting sight of Krishna and its effect on their mind resonates as Dhvani in the mind of the reader.

In another example, again from the ShishupalVadham by Magh-

"रेजुर्भेष्टावक्षसःकुङ्कुमाङ्कामुक्ताहाराःपार्थिवानांव्यसूनाम् ।

सैन्यान्सास्थीन्स्वादतोरक्तरक्तानष्टानूनेप्रेतराजस्यदन्ताः॥"६९(Magh 624)

'Pearl necklaces smeared with saffron gleamed as they fell from the breasts of slaughtered kings; most likely Yama's bloodstained fangs had been dislodged while he gorged on soldiers and their bones'.

In these beautiful verses, Magh brings to the fore, the delicacy of Vibhatsa in his explication of the fight between Shishupal and Krishna. In a manner very much like our Stotras, Magh (7-8th century) (Britannica) champions the use of repetitive sound to emulate the wight of an elephant wearing all kettle drums and mimicking dark clouds-

"भूरिभिर्भारिभिर्भीराभूभारैरभिरेभिरे ।

भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥ "६६(Magh 25)

It seems that Magha is meditating more on the nature of Vibhatsa Rasa within the linear structure of the narrative, bringing forth such sensitive insights charged with Dhvani.

In the Riti Kaal of the Indian Poetics too, we see such a zest for Dhvani in the works of poets like Biharilal (1595–1663) who, in his "Satsai", presents us with several exquisite examples-

"चमकतमकहाँसीसिसकमसकझपटलपटानि।

ए जिहिंरतिसोरतिमुकतिऔरमुकतिअतिहानि॥"५४५(Snell 63-79)

'Glitter, titter, passion, sobbing, hugging, pinching, squeezing; Salvation lies in such a love no other kind's so pleasing'.

The feverish temperament and pace of Rati (Romance), which the poet Biharilal conveyed through the above-mentioned verse, is unparalleled.

Again, we see sound taking predominance in the manifestation of Dhvani-

"रससिंगार-मंजनुकिए, कंजनुभंजनुदैन।

अंजनुरंजनुहूँबिना, खंजनु, गंजनुनैन ॥"५०(Snell 63-79)

Employing UpamaAlamkara, the poet compares the eyes of the nayika (heroine) with the beauty of the eyes of the Khanjana (Wagtail) bird.

Though, a concious concern in art creation for the most part, very few Poets, Artists, have been able **t**odojusticeto Dhvani. The interpretations by ancient Indian aestheticians, philosophers, and the grammarians till Anandavardhana and their assertions affirm that Suggestiveness isn't a specific meaning, rather it is an object of investigation carried out at different levels of perceptibility. Anandvardhana passionately states that to understand Dhvani in any art the reader/ viewer should have the innate capability to match the wavelength of the poet's insight (Pratibha). He also famously states that when a poet writes, he creates a resonant

field of emotions, which implies that Dhvani can be variable, holding meaning across different fields of resonance, it is not constant or stagnated in a specific meaning only, rather it is becomes an object of investigation, carried out by the reader/viewer according to his or her wavelength. It is thus more appropriate to use the term Suggestive Resonance since the poet/artist according to Anandavardhana creates a "resonant field" of "meaning" and this finds implication not only in poetry, but in all arts and their creation and representation. In visual arts too, several works of art seem to possess this quality.

Even in the Visual Art tradition of the Pre-Vedic times, one sees a great sensitivity towards Dhvani, The Dancing girl a bronze sculpture made between 2300–1750 BCE from the Indus Valley Civilization , too possesses a deep Dhvanic quality, with her one hand on her hip, and the other on her thigh, she seems to exude a graceful, resting quality.

The Hariti Shrine, cave 1, Hariti and Panchika at Ajanta, a fine example of the classical art of ancient India, depicts Goddess Hariti with her consort, at the very base of the sculpture, the creator/s chose, of all things, to depict students attending a class, the students sitting in front row seem to be listening intently, while students at the back are busy dancing, frolicking, fighting rams. Such a lifelike depiction creates a resounding field of emotions, urging the viewer to appreciate the circumstances of everyday life in light of the eternal glory of the divine.

In Khajuraho, the artist infuses sensuality to accentuate the divine. Adding multiple layers of imbibed sensitivity. These sensibilities were further seen in miniature painting traditions of India. In the Mughalschool too, we see a great fascination and zeal for Dhvanic expression.

The Mughal Painterwasapeculiarcharacter, esteemedforhistalent, yet observed as a servant of nobility, open to life, yet expected to captureonly that which isopulentandmagnificenttocourtlyeyes. Unlike the painters of other schools, who, in comparison enjoyedmuchgreaterfreedom with respectto their work, the Mughal painter was expected to work underseveral conforming conditions. The appropriacy of subject, for one, was a major concern, the proofof knowledge from earlier Persian masters, as well as the learnings from the West were a major pre-occupation as well. Above all else, learnings from the then immediate masters, of the Karkhana (workshop), were proof of the irdeservingstatusaspractitionersin the Mughalatelier. Insuchconditions, finding the Mughal painter will ingtodisplay varietyandversatility, bothinsubjectandrendering, isa rarity. So, the discourse here is to aim at their capacity to move beyond the often-limiting conventions ofMughal painting, creating a unique space with Dhvani (Suggestive Resonance) at its center, while maintaining the opulenceandformalreserve that Mughal painting issocharacteristic of.

Mir Sayyid Ali and Abd'al Samad, were the first to establish a school of painting under the Mughals, yet they were always considered painters continuing the Iranian practices here in

India. The first generation of painters considered distinctly Mughal, were in fact the Hindu recruits, were Daswanth, Basawan, Tara, Shravan among others.

The first among the early Mughal's -who seemed to have made Sanskrit Poetics a distinct characteristic of his work- was Daswanth (d. 1584).

In Umar Kills a Dragon, 1577, from the Hamzanama Manuscript, we see a panorama of emotions seldom seen in Mughal painting. The onlookers of this glorious scene seem to be looking on with faces of doubt, reassurance, wonder and amusement. This great variety and emotional intensity only add to the suggested resonance of the scene.

Basawan, the father of Manohardas, (Britannica) was Daswanth's famous contemporary in the Mughal atelier. The early works of Basawan, too, shows a conscious attempt to imitate much of Daswanth's splendour, until of course he created his own independent identity, much in line with the same conventions.

However, it was only in the very next generation, that of Manohar (Britannica) and Govardhan, that these two painters seem to have synthesized a method for Dhvani, having gone about it in a systematic, almost scientific manner, which we often see in the ancient classical art of India.

In all honesty, not all works of Manohar and Govardhan possess thesubtleties of suggestive resonance, this may be due to several reasons, for one, the collaborative practice may have restrained their freedom, another possiblereasoncouldbethatthestrictconventions of the time may dictated only a certain conception. However, one finds, occasionally, that one drawing or painting, thatbrimswithvitality.

Manohar's earliest work can be traced back to the year 1597, from the beginning, the then nineteen-year-old Manohar displayed sparksofinherent greatness.

A painting titled Hamid Bhakari Punished by Akbar, a miniature from Akbarnama manuscript, depicts the humiliation ofHamid Bhakari. The setting being a royal hunting expedition, thedisgraced Bhakari is shown sitting stripped of his dignity, backwardson a donkey (figure 5a). A fitting punishment for conspiring against the emperor. Right above him, one sees Akbar slaying a fox in motion, the simplecontrast, appropriately conveys the intention behind the creation ofsuch an image, the supreme status of theemperor being expressedwith clinicalclarity.

In another painting by Manohar titled The Elderly Akbar receives Murtaza Khan, (figure 6), painted in 1610, depicts Murtaza Khan, Akbar'spaymasterbowingbeforehim, to the rightof Akbar stands his grandson Parviz Mirza, below, the two be Emperor ShahJahan, gestures toaseatedpoet. Akbar, (figure: 6b), has been portrayed very humbly, without any intricatepatterns on his Jama, and without any unnecessaryornamentations. The plain purple tunic only accentuates his royalty and subdued affluence. Another area of interest is the character ofthe poet seated below, the poet's plump figure, rendered without any effort to

hide the anomalies of nature, add a profound resonance to thepainting. It is very rare to see the somewhat disagreeable nature of the poet'scharacter, on thesameplainbearingtheemperor.

In painting Black Buck from the Shah Jahan's Album isanother one of Manohar's acclaimed renditions of the animal, this work isstarkly different to Mansurand Abu'lHassan'swork, starkin the delineation of form, against a pale brown, this work possesses astated charm (figure 7a). Theanimal possessesanalmosthumanlikecharm, smirkingflirtatiouslyat the viewer, almost seeming to whisper the poetry calligraphed alongwith the work, taken from a religious Mathnavi (Rumi 19) or Masnavi (in Persian) in the Mutaqarib (Elwell-Sutton 172) (Persian meter of approximate 10 verses or more), perhaps Sa'di's Bustan (Bosworth207), which reads:

"To the wise man who solves difficulties [it is evident]: Youareaguest, theworldisaguesthouse...

andends:

Even though a person is famous by a hundred names, The"seekerofgood" isbetterthanallofthem." (Welch 182)

Another important work and a perfect example of Manohar's proficiency is, Emperor Jahangir weighing his son Khurramin Gold isthe last of Manohar's masterpieces, rendered in exquisite detail, this politically charged image is true testament to Manohar's technical proficiency, what is mostinteresting about the work is the masterfuluseofdevicessuchaspatterns and artifactstoaddtothenarrative.

Rightbelow to thefigureofPrinceKhurram, arethreefiguresofdancers, though part of the carpet, they seem to come to life and arebrimming with energy, only adding more to what is already a gloriousscene. In figure 8b, one sees a discreet conversation taking place betweentwo porcelainfigures, inthedistance.

Another marvel of the Mughal atelier was Govardhan (Beach), who joined the imperial service during the reign of Akbar, andcontinued to work until the reign of Shah Jahan, he was the son ofBhavani Das, who, though a minor painter in the Mughal court, wasesteemed as one with versatile capabilities.

The other major influence in Govardhan's life was probablyManohar, as teacher. Manohar worked in several Karkhanas, training entire teams of painters. Govardhan, as a keen student, picked upseveral of Manohar'ssensi bilities, which arevery evidentin his work.

The early drawing attributed to Govardhan is of greatsignificance, master fully rendere dinlight ink washes which is a keenly observed portrait of Akbar. Taken from the artist's sketchbook, it was probably drawn in court, mid-session, with the artist standing in a suitable spot, with the emperor within sight, and unaware.

It is probably in the immediacy of the moment that the drawingcaptures the very essence of the emperor, seen here, quiet, meditative and in amoment of silence and

contemplation, without anyobservablesignsofgrandeurorroyalty. Lookingatthisdrawing, nothing of his political significance, wealth, and conquests come tomind, however, a sense of his comfortable, leisurely life and hisintelligence, does come across. This portrait cannot be dismissed as a statement portrait, intent on cementing people's perception of the strength andaffluence of the Mughal Empire, rather, it is a portrait that lets us inon his being, we catch him unaware, and we see him for what he is, aman, andnot theshadow ofGod.

Another painting by Govardhan entitled Shaikh Hussein Jami and Attendant, which presents two personalities, on the left Shaikh Jami, observably a man ofdistinction and learning-book in hand- is seen staring into space with eyes which seem to be clouding his aged vision, his face tells us all weneed to know about him, he is a man who is pious, cultivated and hasprofound things to say. With age wisdom has come, and that he hastranscended to a greater plane of existence, one free of attachments, spendinghisremainingdayscontentandpeaceful. On the right we see a very different personality, that of the attendant, engaged inpreparingassortments for his disinte rested master, hereis aman living in the phenomenalrealm, eager to please his master. Both personalities are rendered with utmost sensitivity, incomparison to coldandreservedportraitureprevalentatthetime, this work stands out.

The painting Hindu Holy Men, painted by Govardhan between 1625-1630, from the St Petersburg Album is conceived andcomposed dramatically in which one can see a gathering of five sages resting andcontemplating, withatempleon theupperrightanddistant cityscape on the left. Again, Govardhan uses each portrait to signifythe various stages in a life devoted to spiritual pursuits. In theforeground, (figure: 11b) the resting youth, newly initiated, is seen with his backfacing us, his young curly hair has a stark contrast with the matted,ash grey locks of the others, his body and mind still seems to beunaccustomed to yogic life. Welch, points out that this figurewas probably inspired by an engraving ofSaint Chrysotom, (figure: 11a),byGerman engraver BartholdBeham, he says "Govardhan not only changed her sex but trimmed several years from her age. So convincing is the young sadhu that Govardhan's adjustments to the western prototype must have been studied from life." To his leftsits a middle-aged yogi, who looks out beyond the frame rosary in hand, though stillyoung he seems to have savored some of the fruits of ascetic live. Thecentral figure, who many speculate to be a depiction ofShankaracharya, is a man who seems most content, with ease he looksoutintoinfinity, withhismind fixedon theabsolute.

To his leftrestsadrowsyfigure (figure: 11c),deluded,andconfused,disturbedand possibly doubtful, as one often is, when one tries to understand God. Finally, before him rests an aged figure, with a grave silence,arisingout ofwisdomandawareness.

The painting Sa'di's in a Rose Garden, is Govardhan's most celebrated work, and probably his best. Painted in the last phaseofhisillustriouscareer, this painting epitomizesallgreatqualitieshegarnered through the ages. At first glance the composition is simple and sophisticated, itis only upon further inspection that the subtle, profound, symbolismoftheworkgets noticed.The painting depicts the great poet Sa'di of Shiraz(right), and a youngman sharing a tender moment in a rose garden, the figure on the left isdispersingflowers carefullycollectedinhistunic,atthepoets'feet (figure 12b).When we look closely, we realize that the young man is butaloverofthegreatpoet, as hisotherhandplayfully tuggingonthepoet's robe.

Immediately the appeal of the image changes, there is still, howeversome room for doubt, until one notices Sa'dis hand on his heart (figure 12a),settling the plates of his tunic with the other. So subtle yet so profound is the suggestiveness nature of this image. This work is from theGulistan album,which depicts scenes from Sa'di's Gulistan,which has beenwidelydiscussed forthehomoeroticnatureofits poetry.

Thepresent study laidemphasis on the work of Manohar and Govardhan, within the larger context of Dhvani as a major preoccupation of Indian Art. It also gives us insight into the impact their works have on the way we look atMughal paintings.HowSanskrit poetics, by virtue of either oral transmission, or organic observation, made its way into the Mughal world view. This research also gives us an insight into the freedom and constraints that painters at the time may have experienced.

The works left by Manohar and Govardhan served as a constantreference for their immediate students and painters of latergenerations. Even as painters of the MughalKarkhanas dispersed toseveral kinships throughout the subcontinent, they took theirlearnings from these masters with them. Painters such as Bichitr andRamdas made a conscious attempt to create the subtlysuggestiveportraits of Manohar and compose dramatic compositions likeGovardhan. The practice of drawing scenes of daily life which wasformalized by Manohar after his close observations of Basawan'sdrawing, was continuedbyInayatamongothers.

As painters like the later Bhavani Das moved to Kishangarh school,he incorporated several Mughal tendencies in his work, he alsoensured this great quality of suggestiveness in his work, producingsome of the greatmasterpieces of the Kishangarh school. ThePahari Masters, who are most famous for the suggestive quality of the irwork, wereinclosecontactwiththestudentsofthesepainters, onlywithin twogenerationsoftheirpassing, Pandit Seu and his sons took Dhvanitoitszenith.

In modern, contemporary times, Dhvani could not secure its place. Inspite of several attempts to be suggestive in itsexpressions, modern, contemporary Indian art never seemed to reach the suggestive resonance that it had achieved in times past.

REFERENCES:

- [1] Bhatt, Nagesh & Shastri Kapildev, *Vyakarn Siddhant Parm Laghu Manjusha*, Krukshetra Vishvavidyalaya Prakashan, 1975, p. 106, also in https://jainqq.org/explore/020919/167, accessed on 12th November 2021
- [1] Bhartruhari,*The Vakyapadiyam of Bhartrhari Brahmakanda,*Translated by K Subrahmanyam,Sri Satguru Publications, Delhi, 1992, p. 25
- [1] Bharthrihari or Bhartrhari (c. 450-510 C.E) was a scholar who considered as writer and philosopher, wrote on language and grammar, Vakyapadam is an important inscribed text by him, retrieved from, TheodorouStephanie, "Bhartrihari", *Internet Encyclopedia of Philosophy*, IEP, https://iep.utm.edu/bhartrihari/, accessed on 17th November 2021
- [1] Bhatt Nagesh & Shastri, Kapildev, *Vyakran Siddhanta Param Laghu Manjusha*, Kurukshtra Vishwavidyalaya Prakashan, 1975 p.106, reterived from https://jainqq.org/explore/020919/167, accessed on 2nd November 2021 & http://conor-quinlan.com.au/0kykog/792582-Dhvani-meaning-in-sanskrit, accessed on 8th November 2021
- [1] Anandvardhanacharya, Abhinavaguptacharya, Prasad, Durga, Pt., Shastri, Wasudev Laxman *Kavyamala*, published in Sanskrit and Hindi, Pandurang Jawaji, 1928, p 6, retrieved from https://jainqq.org/explore/023466/15, p. 15, accessed on 2nd November 2021
- [1] Ibid.
- [1] Dhar, K N *Abhinavagupta-The Philosopher*, Shri Parmanand Research Institute, Srinagar, Kashmir, retrieved from https://ikashmir.net/glimpses/abhinavagupta.html, accessed on 12thNovember, 2021
- [1] Chakrabarti, Bishnupada, *The Penguin Companion to the Ramayana*, Penguin, 2008, p. 91
- [1] Magh, *The Killing of Sisupala*, Verse 21, (ed.) by Paul Dundas, Murty Classical Library of India. Harvard University, Press, 2017, Magh, Sisupalvadham, Verse 31, p. 220
- [1]Ibid, p.624
- [1]Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Magha". *Encyclopedia Britannica*, 14 May. 2012, https://www.britannica.com/biography/Magha-Indian-Sanskrit-poetaccessed on 2nd November 2021
- [1]Mahakavi Magh, Sisupal Vadham, Verse 66, in Rampratap Tripathi, Shastri (ed.) Shishupal Vadham, Hindi Sahitya Sammelan, Prayag, p. 25
- [1] The famous poet and author of The Satsai, https://en.wikisource.org/wiki/1911
- _Encyclop%C3%A6dia_Britannica/Bih%C4%81r%C4%AB-L%C4%81l, accessed on
- 5th November 2021
- [1] Snell, Rupert, 'Humour in the Satsai of Biharilal' Of Clowns and Gods Brahmans and Babus: Humor' in *South Asian Literatures*, Verse 545, Manohar Publications, Delhi, pp. 63-79 retrieved from https://eprints.soas.ac.uk/1867/, accessed on 2nd November 2021
- [1] Ibid, Verse 50.

- [1]Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Basavan". *Encyclopedia Britannica*, 3 Oct. 2011, https://www.britannica.com/biography/Basavan, accessed on 16th December 2021
- [1] He was a miniaturist during Mughal time period worked between 1580 and 1620, retrieved from Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Manohar". *Encyclopedia Britannica*, 27 Aug. 2010, https://www.britannica.com/biography/Manohar, accessed on 16th December 2021
- [1] A Hindu painter in Mughal atelier and worked under the patronage of Akbar, Jahangir, Shahjahan, retrieved from Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Govardhan". *Encyclopedia Britannica*, 6 Feb. 2009, https://www.britannica.com/biography/Govardhan, accessed on 16thDecember, 2021
- [1] Mathnawi is a specific poetry written in rhyming couplets or some more individualistic rhyming lines, assessed from Mojaddedi Jawid, *Introduction*, Rumi, Jalal ad-Din. The Masnavi Book one. Oxford University, 2004, p.19
- [1] Mutaqarib is length of poetry. It is also called persian meter which suggests length of poem, accessed fromElwell-Sutton, L. P. "The Foundations of Persian Prosody and Metrics." *Iran*, vol. 13, British Institute of Persian Studies, 1975, pp. 75–97, https://doi.org/10.2307/4300527. accessed on 28thMarch, 2022
- [1] Bustan is a poetry book written by Saadi written around 1257, narrates his experiences about life and a vast collection of anecdotes, retrieved from Bosworth, Clifford Edmund*The New Islamic Dynasties,* Columbia University press, 1997, p. 207.
- [1] Welch, Stuart Cary *The Emperor's Album: Images of Mughal India*, Metropolitan Museum of
- Art, 1987, p.182
- [1]Beach, Milo C., "Govardhan", in: Encyclopaedia of Islam, THREE, Edited by: Kate Fleet, Gudrun Krämer, Denis Matringe, John Nawas, Everett Rowson. accessed on 16th December 2021
- [1] Welch, Stuart Carry "Indian Paintings in the St. Petersburg Muraqqa'', ARCH Foundation, Lugano, Switzerland, 1996, p.125

"नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण" (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. अंजना चौरसिया

नृत्य में हथेलियों एवं उंगलियों को मिलाकर बनाई गई भिन्न-भिन्न कलात्मक आकृतियों को 'मुद्रा' कहा जाता है। ये मुद्रायें किसी विशेष अर्थ, संकेत व प्रतीक की द्योतक होती हैं। इन मुद्राओं का प्रयोग नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति एवं खूबसूरती पैदा करने के लिये होता है। प्रत्येक कला से एक संदेश या उपदेश भी समाज के लिये होता है। नृत्य में इस अभिव्यक्ति के लिये मुद्राओं का विशेष स्थान है। हस्तमुद्राओं की उत्पत्ति मानव की उत्पत्ति के साथ ही मानी जा सकती है। जब मनुष्य का जन्म हुआ और प्रारंभिक काल में भाषा का विकास नहीं हुआ था ना ही उसे बोलने का ज्ञान था। तब वे एक दूसरे से सांकेतिक भाषा के माध्यम से ही अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त करते थे। अर्थात् प्रारंभिक समय में मानव के पास विचार तो थे, किन्तु विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम नहीं था। प्रकृति से अनुकरण लेकर अंतस्चेतना द्वारा भावों को व्यक्त करने के लिये अंगों का सहारा लिया। चूँकि आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है इस प्रकार जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे आदिम युग के मानव मस्तिष्क का भी विकास हुआ और उसके अनायास ही प्रयुक्त किये जाने वाले सहज संकेतों का स्थान मुद्रा ने लिया। इन सांकेतिक भाषाओं का हस्तमुद्राओं से सीधा संबंध है। परन्तु निश्चित ही उसे मुद्रा या हस्तमुद्रा यह नाम उस काल में नहीं दिया गया किन्तु मानव सभ्यता के प्रगति पथ पर पहुँचते-पहुँचते उसने विभिन्न दिशाओं में अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया। और कुछ ऋषि मुनियों तथा विद्वान लोगों की सहायता से उनकी कला के प्रति अभिरूचि ने मानव के दैनिक जीवन की हलन-चलन रूपी क्रियाओं ने सांकेतिक भाषा को 'हस्तमुद्रा' यह नाम निश्चित कर दिया।

यदि हम कथक की बात करें तो कथक नृत्य का संबंध कथाओं से जुड़ता है क्योंकि प्राचीन काल में मानव के मनोरंजन के लिये कोई खास माध्यम नहीं हुआ करता था तब तक किसी व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग विशेष के द्वारा कथाओं का वाचन किया जाता था जो जनसामान्य के ज्ञानवर्धन में सहायक होने के साथ-साथ जीवन को आसान बनाने के लिये संदेश होतीं थीं और इन कथावाचकों ने कथा को रोचक ढंग से सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये उसमें अंग भंगिमाओं का खूबसूरती से प्रयोग करना शुरू कर दिया, जो कि नृत्य के रूप में था कहा जाता है यही शैली आगे चलकर कथक नृत्य के रूप में पहचानी जाने लगी। वैसे तो भारत में प्रादेशिकता के आधार पर नृत्य की आठ नृत्य शैलियों का निर्माण हुआ जैसे - भरतनाट्यम, कथकली, मणिपुरी, कथक, कुचिपुड़ी, ओडिसी, मोहिनीट्टम तथा सत्रिया। इस प्रकार प्रत्येक शास्त्रीय नृत्य में शुद्ध नृत्य एवं अभिनय दोनों पक्ष होते हैं। इन दोनों पक्षों में मुद्राओं की अहम् भूमिका होती है। जिससे मुद्राओं के द्वारा नृत्य में शास्त्रानुगत अवयवों के प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। ये सभी नृत्य शैलियाँ भारत के नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों पर आधारित हैं। यहाँ पर कथक नृत्य के संदर्भ में नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं की तुलना नाम, लक्षण तथा विनियोग के आधार पर की गई है नाट्यशास्त्र के अनुसार 24 असंयुत हस्त हैं, इनके नाम हैं- "(1) पताक, (2) त्रिपताक, (3) कर्तरीमुख, (4) अर्धचन्द्र, (5) अराल, (6) शुकतुण्ड, (7) मुष्टि, (8) शिखर, (9) कपित्थ, (10) कटकामुख, (11) सूचीमुख, (12) पद्मकोश, (13) सर्पशीर्ष, (14) मृगशीर्ष, (15) कांगुल, (16) अलपद्म, (17) चतुर, (18) भ्रमर, (19) हंसास्य, (20) हंसपक्ष, (21) सन्दंश, (22) मुकुल, (23) ऊर्णनाभ तथा (24) ताम्रचूड।"[1]

जबकि अभिनयदर्पण के अनुसार 28 असंयुत हस्त है तथा चार अतिरिक्त मुद्राओं के साथ इनकी संख्या 32 हो जाती है- "1. पताक, 2. त्रिपताक, 3. अर्द्धपताक, 4.कर्तरीमुख, 5. मयूर, 6. अर्द्धचंद्र, 7. अराल, 8. शुकतुण्ड, 9. मुष्टि, 10. शिखर, 11. कपित्थ, 12. कटकामुख, 13. सूची, 14. चन्द्रकला, 15, पद्मकोश, 16. सर्पशीर्ष, 17. मृगशीर्ष, 18. सिंहमुख, 19. कांगूल, 20. अलपद्म, 21. चतुर, 22. भ्रमर, 23. हंसास्य, 24. हंसपक्ष, 25. संदंश, 26. मुकुल, 27. ताम्रचूड और 28, त्रिशूल।"[2]

चार अतिरिक्त हस्त मुद्रायें - (1) व्याघ्र, (2) अर्धसूची, (3) कटक तथा (4) पल्ली ।

अभिनयदर्पण की ये चारों हस्तमुद्रायें कथक नृत्य में किसी भी भाव के अर्थ को प्रदर्शित करने में प्रयुक्त नहीं होती है। नाट्यशास्त्र में अभिनयदर्पण की जो हस्तमुद्रायें वर्णित है वे इस प्रकार हैं - अर्धपताक, मयूर, चन्द्रकला, सिंहमुख, त्रिशूल, व्याघ्र, अर्धसूची, कटक तथा पल्ली।

अभिनयदर्पण में ऊर्णनाभ को छोड़कर शेष सभी हस्तमुद्राओं के नाम नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में सूचीमुख हस्त व अभिनयदर्पण में सूची हस्त नाम वर्णित किये गये हैं। कथक नृत्य में ऊर्णनाभ हस्त का प्रयोग दशावतार के प्रदर्शन के समय नरसिंह अवतार के भाव में हिरण्यकशिपु के वध के समय इस मुद्रा का प्रयोग कलाकार करते हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र व अभिनयदर्पण दोनों में वर्णित हस्तमुद्राओं में नाम के आधार पर तुलना दृष्टिगोचर होती है।

हस्तमुद्रायें अर्थाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है सामान्यतः हाथों के द्वारा विभिन्न क्रियाओं का क्रियान्वयन हमारे द्वारा किया जाता है। यदि समस्त क्रियाओं को नृत्यात्मक दृष्टि से नहीं बल्कि सामान्य दृष्टि से रेखांकित करें, तो हाथों की क्रिया किसी न किसी मुद्रा को जरूर अभिव्यक्त करती है। भले ही वह सहज ही दृष्टिगत क्यों न हो। पानी भरकर मटकी उठाकर सिर पर रखने वाली नायिका मटकी को दोनों हाथों से संभालते हुये दिखलाई पड़ती है तो हस्तमुद्रा "सर्पशीर्ष" जैसी प्रतीत होती है। क्रोध आने की स्थिति में सहसा ही सारी अँगुलियाँ आपस में दृढ़ता से एक हो जाती है; निश्चित ही वह "मुष्टि" मुद्रा की ओर इंगित करती है। ऐसे असंख्य उदाहरण जो यत्र-तत्र हमें दिखलाई पड़ते हैं, जो निश्चित जनसामान्य हैं; किन्तु नृत्यगत एवं प्रदर्शनात्मक दृष्टि से देखें तो शास्त्रगत यह मुद्रा संबंध के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही उच्च है। जिसमें "नाट्यशास्त्र" एवं "अभिनयदर्पण" ग्रंथ इस विषय में बहुत ही प्रासंगिक एवं समृद्ध है। दोनों ग्रंथों में हस्तमुद्राओं के नाम, लक्षण के साथ विनियोग भी वर्णित किये गये हैं जिनका प्रयोग कथक में आवश्यकतानुसार किया जाता है। इन ग्रंथों में वर्णित हस्तमुद्राओं के विनियोगों के अतिरिक्त रूप में भी कथक में प्रयोग किये जाते हैं।

पुराने कलाकार उपमा देते समय संचारी भावों का प्रयोग करते हैं। जो कि शास्त्रों में वर्णित नहीं है पर कलाकार उसे बड़ी खूबसूरती से बनाते हैं। जैसे- दोनों पताक हस्तों को सिर के बराबर में हल्का कम्पन करते हुये बालों को दर्शाते हुये नीचे की ओर लाने पर काले बादल का भाव प्रदर्शित किया जाता है। हथेली के पृष्ठ भाग से नायक का भाव तथा हथेली को सामने की ओर दर्शाने पर नायिका का भाव प्रदर्शित किया जाता है। चूँकि पृष्ठ भाग का रंग साँवला होता है और हथेली का रंग साफ होता है। पताक हस्त द्वारा एक हाथ की रेखाओं को दूसरे हाथ से दिखाने पर रास्ता या मार्ग आदि की उपमा दी जाती है परन्तु आजकल इनका प्रयोग बहुत कम देखने को मिलता है।

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं में स्वरूप अथवा लक्षणों के आधार पर जिन हस्तमुद्राओं में तुलना दृष्टिगत होती है। वे इस प्रकार हैं:- अर्धचन्द्र, कटकामुख, सूचीमुख, हंसास्य, संदंश तथा ताम्रचूड। इनके अतिरिक्त अभिनयदर्पण में वर्णित हस्तमुद्राओं के लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त:-

"यदि अँगुलियों को अंगूठे सहित धनुष जैसी झुकाकर फैला दी जाए तो 'अर्धचन्द्र' मुद्रा कहलाती है।"[3]

अभिनयदर्पण के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त:-

"यदि पताक हस्तमुद्रा में अंगूठे को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाये, तो उसे 'अर्धचन्द्र' हस्त कहा जाता है।"[4]

नाट्यशास्त्रानुसार अर्धचन्द्र हस्त

अभिनयदर्पण के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त

नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षण एवं विनियोग के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त का कथक में प्रयोग नहीं होता बल्कि इस मुद्रा का अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार इसमें वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में प्रयोग मुख को प्रदर्शित करने में किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार कटकामुख हस्त:-

"यदि कपित्थ हस्तमुद्रा में अनामिका तथा कनिष्ठा अँगुलियों को (ऊपर) उठाकर मोड़ा जाये तो कटकामुख मुद्रा कहलाती है।"[5]

अभिनयदर्पण के अनुसार कटकामुख हस्त:-

"यदि कपित्थ हस्त में तर्जनी और मध्यमा उठी हुई हों और अँगूठे के अग्रभाग का स्पर्श करती हों, तो उसे कटकामुख हस्त कहा जाता है।"[6]

नाट्यशास्त्रानुसार कटकामुख हस्त

अभिनयदर्पणानुसार कटकामुख हस्त

कथक नृत्य के अभिनय प्रदर्शन में यह मुद्रा सर्वाधिक प्रयुक्त होती है। इस मुद्रा का प्रयोग परम्परावादी कलाकार भी बड़ी कुशलता से करते आ रहे हैं। जबकि आधुनिक युग के कलाकार इसके अतिरिक्त भी अनेकानेक

हस्तमुद्राओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक कर रहे हैं। परम्परावादी कलाकार कटकामुख मुद्रा का प्रयोग तो करते थे, परन्तु इसके नाम से अंजान थे। ये कलाकार इसी मुद्रा से परिचित थे तथा अधिक से अधिक भावों के अर्थप्रदर्शन जैसे - मुरली पकड़ने, घूँघट लेने एवं राधा-कृष्ण की छेड़छाड़ से संबंधित भावों में इसी मुद्रा का प्रयोग करते थे।

नाट्यशास्त्र के अनुसार सूचीमुख हस्त:- "यदि कटकामुख मुद्रा वाले हाथ की तर्जनी अँगुली फैला दी जाये तो 'सूचीमुख मुद्रा' कहलाती है।"[7]

अभिनयदर्पण के अनुसार सूची हस्त:- "यदि कटकामुख हस्त मुद्रा में तर्जनी को सीधे फैला दिया जाये तो उसे सूची हस्त कहा जाता है।"[8]

अभिनयदर्पणानुसार सूची हस्त

नाट्यशास्त्रानुसार सूचीमुख

दोनों ग्रंथों में वर्णित लक्षण के अनुसार यह मुद्रा कथक नृत्य में प्रयोग की जाती है। इन ग्रंथों में दिये गये विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में कथक नृत्य में प्रयोग चुप रहने के लिये, घुँघराले बाल के भाव को दिखाने के लिये, आदेश से जाने के लिये कहने, इंगित करने, सूचित करने आदि के भाव में यह मुद्रा प्रयुक्त होती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार हंसास्य हस्त:- "यदि तर्जनी तथा मध्यमा ऊँगली अँगूठे के अग्रभाग पर हो तथा अन्य (दो) ऊँगलियाँ फैली हुई रहें तो 'हंसास्य हस्त' होता है।"[9]

अभिनयदर्पण के अनुसार हंसास्य हस्त:- "यदि अंगुष्ठ और तर्जनी दोनों परस्पर मिले हों और मध्यमा आदि तीनों ऊँगलियाँ अलग-अलग हथेली की ओर ईषत् मुड़ी होकर फैली हों तो उस मुद्रा को 'हंसास्य हस्त' कहा जाता है।"[10]

नाट्यशास्त्रानुसार हंसास्य हस्त

अभिनयदर्पणानुसार हंसास्य हस्त

नाट्यशास्त्र के लक्षणानुसार कथक नृत्य में इस हस्त का प्रयोग काजल की डिब्बी खोलने के लिये किया जाता है। जबकि अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार इस हस्तमुद्रा का कथक में प्रयोग सींक से काजल लगाने, दीपक की लौ जलाने, फूल तोड़ने, वर्षा की हल्की बूँदों को दिखाने के लिये, कान में कुण्डल पहनने, गले में हार धारण करने, किसी नजाकत वाली वस्तु को पकड़ने जैसे मोती फूल आदि के भावों के प्रदर्शन में हंसास्य मुद्रा प्रयोग की जाती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार संदंश हस्त:- "यदि अराल हस्त में तर्जनी तथा अँगूठे का अग्रभाग मिल कर हथेली को थोड़ी नमा दी जाये तो 'संदंश हस्त' हो जाता है।"[11]

अभिनयदर्पण के अनुसार संदंश हस्त:- "यदि पद्मकोश मुद्रा में उँगलियाँ बार-बार सटाई तथा हटाई जाय, तो नृत्यकोविदों के अनुसार उसे संदंश हस्त (संडासी) कहा जाता है।"[12]

नाट्यशास्त्रानुसार संदंश हस्त

अभिनयदर्पणानुसार संदंश हस्त

अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार कथक नृत्य में यह मुद्रा प्रयुक्त होती है। अभिनयदर्पण में वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में कथक में मणि या चमक के लिये, नृत्य करते समय किसी तोड़े में थुनथुन आदि को प्रदर्शित करने में यह हस्त प्रयोग किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार ताम्रचूड हस्त:- "यदि मध्यमा उँगली तथा अँगूठा मिला हुआ हो, उंगली सिकुड़ी हुई तथा शेष (दो) उंगलियाँ हथेली पर हो तो 'ताम्रचूड' हस्त हो जाता है।"[13]

अथवा

"यदि हाथ की अँगुलियाँ एक दूसरे से मिली हुई हों तथा टेढ़ी रहें, ये ऊपर अंगूठे से दबाई जायें तथा कनिष्ठिका उँगली फैली हों तो भी 'ताम्रचूड' हस्त कहलाता है।"[14]

अभिनयदर्पण के अनुसार ताम्रचूड हस्त:- "यदि मुकुल हस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाय (किन्तु वह हथेली को स्पर्श न करती हो) तो उसे ताम्रचूड हस्त कहा जाता है।"[15]

अभिनयदर्पणानुसार ताम्रचूड हस्त

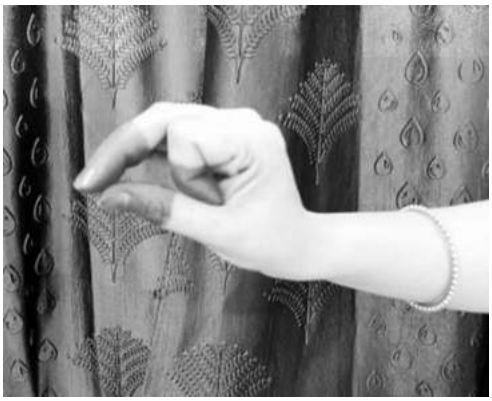

नाट्यशास्त्रानुसार ताम्रचूड हस्त

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की उपर्युक्त हस्तमुद्राओं के लक्षणों में भिन्नता स्पष्ट होती है। तत्पश्चात् दोनों ग्रन्थों के असंयुत हस्तमुद्रा के विनियोग के आधार पर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र व अभिनयदर्पण में वर्णित असंयुत हस्तमुद्राओं के विनियोगों में काफी अन्तर है। यहाँ पर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना अतिआवश्यक है कि नाट्यशास्त्र की हस्तमुद्राओं के विनियोग नाट्य प्रयोग को ध्यान में रखकर वर्णित किये गये हैं जबकि अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं के विनियोग नृत्य की क्रियाओं के आधार पर वर्णित किये गये हैं। लेकिन फिर भी अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं के विनियोगों का प्रयोग कथक नृत्य में एक-एक विनियोग के आधार पर तद्नुसार नहीं पाया जाता है । नाट्यशास्त्र की हस्तमुद्राओं के भी कुछ विनियोग ही कथक नृत्य में प्रयोग के लिये उपयोगी है।

दोनों ग्रंथों में वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में भी कथक में इन हस्तमुद्राओं का प्रयोग होता है। नर्तक भावाभिव्यक्ति के समय शब्द के अनुसार उपयोगी हस्त मुद्रा का प्रयोग करते हैं, जो किसी न किसी भाव के अर्थ को प्रदर्शित करने में सहायक होती है। इस उद्देश्य हेतु हस्तमुद्राओं के संबंध में नाट्यशास्त्र में एक स्पष्ट निर्देश है कि "इसके अतिरिक्त जो अन्य अर्थों से सम्बद्ध लोक सामान्य हस्त हों उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहिये।"[16] अर्थात् आचार्य भरत की उपर्युक्त बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने लोक सामान्य हस्तों को आधार मान कर ही उन्हें शास्त्र सम्मत बनाया होगा और आगे भी स्वतंत्र रूप से लोक सामान्य हस्तों का प्रयोग करने के संकेत दिये हैं। अतः निश्चित ही ऐसे हस्त या हस्तमुद्रायें नृत्य के लिये उपयोगी हैं जो रस तथा भावों की सूचक हो तथा खूबसूरती पैदा करें। ऐसे हस्तों का नृत्य में प्रयोग करना चाहिये।

नाट्यशास्त्र के अनुसार संयुत हस्त 13 है, इनके नाम इस प्रकार हैं:- "(1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) कटकावर्धमानक, (6) उत्संग, (7) निषध, (8) दोला, (9) पुष्पपुट, (10) मकर, (11) गजदन्त, (12) अवहित्थ तथा (13) वर्धमान।"[17] जबकि अभिनयदर्पण के अनुसार संयुत हस्त 23 हैं, इनके नाम निम्नानुसार है:- "(1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) डोला, (6) पुष्पपुट, (7) उत्संग, (8) शिवलिंग, (9) कटकावर्धन, (10) कर्तरी स्वस्तिक, (11) शकट, (12) शंख, (13) चक्र, (14) सम्पुट, (15) पाश, (16) कीलक, (17) मत्स्य, (18) कूर्म, (19) वराह, (20) गरुड़, (21) नागबंध, (22) खट्वा, (23) भेरुण्ड।"[18]

दोनों ग्रन्थों में जो संयुत हस्तमुद्रायें वर्णित हैं वे हैं:- (1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) डोला नाट्यशास्त्र के अनुसार दोला , (6) पुष्पपुट, (7) उत्संग, (8) कटकावर्धन नाट्यशास्त्र के अनुसार कटकावर्धमानक, (9) "नाट्यशास्त्र का मकर हस्त अभिनय दर्पण में मत्स्य है।"[19] अभिनयदर्पण में वर्णित संयुत

हस्तमुद्राओं के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में वर्णित संयुत हस्तमुद्रायें हैं - (1) निषध, (2) गजदन्त, (3) अवहित्थ तथा (4) वर्धमान।

नाट्यशास्त्र में वर्णित निषध, दोला, गजदन्त, अवहित्थ तथा वर्धमान हस्तमुद्राओं के लक्षण एवं विनियोग के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये हस्त नाट्य प्रयोग हेतु उपयोगी है लेकिन कथक नृत्य में प्रयोग के लिये इनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है । नाट्यशास्त्र में वर्णित संयुत हस्तमुद्राओं के अतिरिक्त अभिनय दर्पण में वर्णित हस्तमुद्रायें हैं:- (1) शिवलिंग, (2) कर्तरी स्वस्तिक, (3) शकट, (4) शंख, (5) चक्र, (6) सम्पुट, (7) पाश, (8) कीलक, (9) कूर्म, (10) वराह, (11) गरुड़, (12) नागबन्ध, (13) खट्वा, (14) भेरुण्ड। नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण में वर्णित जिन संयुत हस्तमुद्राओं के लक्षणों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है वे इस प्रकार हैं:- (1) स्वस्तिक, (2) उत्संग ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वस्तिक हस्त:- "दो अराल हस्तों को कलाई पर सामने की ओर से ऊपर मुँह रखते हुए बाँयी बाजू की ओर रख देने पर 'स्वस्तिक' मुद्रा जानो।"[20]

अभिनयदर्पण के अनुसार स्वस्तिक हस्त:- "जब पताक हस्त की मुद्रा में दोनों हाथों की कलाई बाँधकर उत्तान करके रखा जाये, तो उसे स्वस्तिक हस्त कहा जाता है।"[21]

नाट्यशास्त्रानुसार स्वस्तिक हस्त

अभिनयदर्पणानुसार स्वस्तिक हस्त

अभिनयदर्पण के अनुसार इसमें वर्णित विनियोग में से अतिरिक्त रूप में स्वस्तिक मुद्रा को वक्षस्थल के समीप रखने से कथक में शीतलता, लज्जा व आलिंगन आदि के भाव को व्यक्त किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार उत्संग हस्त:- "यदि दो अराल हस्त ऊपर की ओर मुँह वाले एवं स्वस्तिक दशा में दोनों कंधों पर रखे जायें तो 'उत्संग' मुद्रा हो जाती है।"[22]

अभिनयदर्पण के अनुसार उत्संग हस्त:-"यदि मृगशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनों हाथों को एक-दूसरे की बाजुओं के ऊपर रख दिया जाये तो उसे उत्संग हस्त कहा जाता है।"[23] कथक नृत्य में उत्संग हस्त मुद्रा द्वारा भी आलिंगन का भाव प्रदर्शित किया जाता है।

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की संयुत हस्तमुद्राओं के विनियोगों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अंजलि, कपोत, कर्कट, पुष्पपुट हस्तमुद्राओं के विनियोगों में समानता है । किन्तु कटकावर्धन, डोला, मकर, स्वस्तिक तथा उत्संग हस्तमुद्राओं के विनियोगों में पूर्ण रूप से तुलना पाई जाती है । दोनों ग्रंथो में संयुत हस्तमुद्राओं के लिये जो विनियोग वर्णित किये गये हैं, उनसे अतिरिक्त रूप में कथक में प्रयोग इस प्रकार हैं जैसे - "अंजलि हस्त" द्वारा निवेदन

का भाव, "कपोत" हस्त का किसी वस्तु को छुपाने, चौसर खेलने, "पुष्पपुट" हस्त द्वारा किसी वस्तु को माँगने, मुँह धोने, "चक्रहस्त" द्वारा विरह का भाव प्रदर्शित करने के लिये वक्षस्थल के समीप हल्का घुमाते हुये रखने पर विरह के भाव को व्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार सम्पुट हस्त का प्रयोग कथक नृत्य में शोक या दुख को प्रकट करने के लिये इस हस्त को मस्तक के समीप रखने पर यह भाव प्रदर्शित किया जाता है। राज या गुप्त बात तथा ततकार के अभ्यास के समय यह उदर के समीप अवस्थित की जाती है।

नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण में वर्णित नृत्त हस्तों में से "नाट्यशास्त्र में 30 नृत्त हस्त दिये गये हैं:- (1) चतुरस्र, (2) उद्वृत्त या तालवृत्त, (3) तलमुख, (4) स्वस्तिक, (5) विप्रकीर्ण, (6) अरालकटकामुख, (7) आविद्धवक्त्र, (8) सूचीमुख, (9) रेचित, (10) अर्धरेचित, (11) उत्तान्वंचित, (12) पल्लव, (13) नितम्ब, (14) केशबन्ध, (15) लता, (16) करिहस्त, (17) पक्षवंचित, (18) पक्षप्रद्योतक, (19) गरुडपक्ष, (20) हंसपक्ष, (21) ऊर्ध्वमण्डल, (22) पार्श्वमण्डल, (23) उरोमंडल, (24) पार्श्यावर्त या पार्श्वार्धमण्डल, (25) मुष्टिक स्वस्तिक, (26) बलिनी पद्मकोष, (27) अलपल्लव, (28) उल्वण, (29) ललित तथा (30) वलित।"24 जबकि "अभिनयदर्पण में नृत्त हस्तों की संख्या 13 दी गई है। इनके नाम भी इस प्रकार हैं:- (1) पताक, (2) स्वस्तिक, (3) डोला, (4) अंजलि, (5) कटकावर्धन, (6) शकट, (7) पाश, (8) कीलक, (9) कपित्थ, (10) शिखर, (11) कूर्म, (12) हंसास्य और (13) अलपद्मक।"25

अभिनयदर्पण में इन नृत्त हस्तों के लक्षण अंकित नहीं किये गये, केवल नाम दिये गये हैं । इस प्रकार असंयुत एवं संयुत हस्तों से इनकी कोई भिन्नता सिद्ध नहीं होती ना ही सार्थकता।

नाट्यशास्त्र में असंयुत एवं संयुत हस्तमुद्राओं के लक्षण एवं विनियोगों का विधिवत वर्णन किया गया है। किन्तु नृत्त हस्त में विनियोग नहीं दिया गया, केवल लक्षण बताया गया है जो किसी अर्थ के प्रतिपादन के लिये प्रतीत नहीं होते, केवल शुद्ध नृत्य में आवश्यकतानुसार नर्तक इनका प्रयोग करता है। इस आधार पर नाट्यशास्त्र तथा अभिनयदर्पण में वर्णित नृत्त हस्तों में पूर्णरूप से भिन्नता पाई जाती है।

अभिनयदर्पण में असंयुत, संयुत एवं नृत्त हस्तों के अतिरिक्त देवताओं के लिये हस्तमुद्रायें दशावतार हस्त, विभिन्न जातियों एवं वर्णों की हस्तमुद्राएँ भी दी गई है। जो कि संयुत एवं असंयुत हस्त मुद्राओं के योग से ही भाव के अनुसार प्रयोग होते हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र में इनकी चर्चा नहीं की गई है। समाज में प्राचीन काल में शैव धर्म के बाद वैष्णव धर्म आया और विष्णु के अनेक रूप आये जैसे-लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, गणेश आदि । हो सकता है कि तब नन्दिकेश्वर को इन देवी-देवताओं की मूर्ति के भाव के प्रदर्शन की आवश्यकता महसूस हुई हो और उन्होंने देवता हस्तों, दशावतार हस्तों आदि को वर्णित किया हो । तत्पश्चात् विभिन्न जातियाँ एवं वर्ण बने जिसके आधार पर नन्दिकेश्वर ने इनसे संबंधित हस्तमुद्राओं का वर्णन किया होगा। इसी प्रकार नवग्रहों एवं सम्बन्धीजनों से संबंधित हस्तमुद्राओं का निर्माण भी किया होगा किन्तु इसे केवल एक अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है।

अंत में हम कह सकते हैं कि आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण तथा आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र दोनों में मुद्राओं को प्रमुखता दी गई है।

संदर्भ सूची:-

1. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 39-40।
2. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 212।
3. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 46।

4. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 216।
5. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 51।
6. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 218।
7. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 51।
8. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 219।
9. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 60।
10. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 224।
11. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 61।
12. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 225।
13. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 63।
14. ----------वही---------- पृष्ठ 64।
15. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 08।
16. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 72।
17. ----------वही---------- पृष्ठ 40।
18. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 228।
19. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 08।
20. ----------वही---------- पृष्ठ 66।
21. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 229।
22. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 67।
23. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 230।
24. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 40-41।
25. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 247।

कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदान

कविता गंगबोईर

सृष्टि की संरचना के साथ ही कलाओं की उत्पत्ति कही गई है | जीव-जंतुओं और मानव का अस्तित्व जब से इस पृथ्वी पर है, तब से ही प्राणी ने अपनी भावनाओं को संप्रेषित करने के लिए जिन माध्यमों का प्रयोग किया वहीं कालान्तर में कला के रूप में सामने आए है। भावनाओं का संप्रेषण ही कला नहीं है, अपितु भावनाओं को सुंदरता के साथ सुसज्जित रूप से व्यक्त करना कला है। वात्स्यायन ने 64 कलाएं मानी है, जिसमें ललित कलाओं को विशिष्ट स्थान है यह ललित कलाएं पांच मानी गई हैं- स्थापत्य कला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत कला और काव्य कला। जिनमें से नृत्य को संगीत के अंतर्गत रखा गया है। भारतीय परंपरा अनुसार शिव को नृत्य का आदि प्रवर्तक माना गया है, शिव द्वारा किए गए नृत्य को तांडव कहा गया। शिव को नृत्य करते देख पार्वती ने सुकोमल अंगहारों से युक्त जो नृत्य किया वह लास्य कहलाया। जिस प्रकार संपूर्ण सृष्टि का संतुलन पुरुष और प्रकृति के संयोग से माना जाता है, उसी प्रकार तांडव और लास्य के संतुलन से नृत्य की रचना हुई। भारत के विभिन्न शास्त्रीय नृत्यों में यह दो तत्व (ताण्डव व लास्य) मुख्य रूप से पाए जाते हैं। कत्थक में भी तांडव और लास्य दोनों का उत्तम समागम देखने को मिलता है। यद्यपि शिव नृत्य के आदि पुरुष माने जाते हैं परंतु आज भी समाज में नृत्य को स्त्रीसाध्य कला के रूप में ही देखा जाता है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को बहुत से क्षेत्र में मान प्रतिष्ठा तो प्राप्त थी, किन्तु नृत्य के क्षेत्र में उनका प्रवेश तक वर्जित था। समाज नृत्य और नर्तकी को पसंद तो करता था, परंतु उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। स्त्रियों को नृत्य करना तो दूर उन्हें नृत्य देखने की भी अनुमति नहीं होती थी। समाज का जो तबका नर्तकियों को थोड़े सम्मान से देखता था, वह भी अपने घर की स्त्रियों को नृत्य सीखने की अनुमति नहीं देता था। यदि नृत्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो प्रत्येक काल में नृत्य के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति का अवलोकन किया जा सकता है:-

पूर्व मध्यकाल - भारतीय इतिहास में पहली शताब्दी से 10 वीं शताब्दी तक का काल पूर्व मध्यकाल माना जाता है। हजार वर्षों की लंबी अवधि में बहुत से राजवंश जैसे- शुंग, कनिष्क, नाग, गुप्त व राजपूत आदि का उत्थान व पतन हुआ। इनमें से कई राजवंशों के शासक स्वयं भी अच्छे संगीतज्ञ थे। इस काल में वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार अत्यधिक हो रहा था, जिससे संगीत, नृत्य, नाट्य आदि कलाओं को बहुत आश्रय मिला और ईश्वर आराधना का श्रेष्ठतम मार्ग इन्हीं कलाओं को कहा गया। वैष्णव शासकों के काल में कला और कलाकार दोनों फलीभूत होते रहे। इस समय में ही देवदासियों की परंपरा प्रचलित थी। इन देवदासियों का कार्य सुबह-शाम भगवान की पूजा के समय एक विशाल प्रांगण में नृत्य करना होता था, जो उनके आराधना का माध्यम था। 'मालविकाग्निमित्रम्'' नाटक की नायिका मालविका, 'विक्रमोर्वशियम्' की नायिका उर्वशी, 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की अप्सरा सानुमति इत्यादि का उल्लेख हमें इस काल में मिलता है, जो इस काल की उत्कृष्ट नृत्यांगनाओं का एक उदाहरण है। स्त्रियां सामाजिक कार्यक्रमों में भी सक्रिय रूप से भाग लिया करती थी।

उत्तर मध्यकाल - 11 वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के समय को उत्तर मध्यकाल कहा गया है। यह काल इस्लामी सत्ता का था जिसमे क्रमशः खिलजी, तुगलक, लोदी और मुगलों ने भारत पर आक्रमण कर अपनी सत्ता जमा ली थी। भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला पर उनके आगमन का अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। इतिहास के

पन्नों को पलटने से यह ज्ञात होता है ग' कि कुछ शासकों को छोड़कर सभी इस्लाम शासक संगीत प्रेमी थे, परंतु यह जानना आवश्यक है कि इन शासकों के लिए नृत्य और संगीत केवल मनोरंजन का साधन मात्र था। सभी भारतीय शास्त्रीय नृत्य में इनके आगमन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, परंतु कथक नृत्य इनके आगमन से अत्यधिक प्रभावित हुआ। कथक नृत्य की वेशभूषा से लेकर उसके प्रत्येक तत्वों में परिवर्तन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन शासकों ने नर्तकियों को राजाश्रय तो दिया, परंतु वे उनके दरबार की प्रतिष्ठा नहीं बन पायी। देवदासियों को भी बंदी बनाकर आध्यात्मिकता से परे विलासिता से पूर्ण नृत्य करने को मजबूर किया गया। कथक नृत्याचार्यों को वैश्याओं के कोठे पर नियुक्त किया गया ताकि वैश्याओं को भी कत्थक सिखाया जा सके। सामान्य तौर पर देखा जाए तो मुगलों के आक्रमण के पश्चात कथक नृत्य का प्राचीन स्वरूप विकृत होकर रह गया और नर्तकियाँ राज दरबारों की भोग-विलास का साधन बनकर रह गईं एवं समाज में नर्तकियों को अत्यधिक हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

आधुनिक काल- 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से वर्तमान तक का काल आधुनिक काल कहा जाता है। अंग्रेज भारतीय नृत्य का आनंद लेते थे। हालांकि उनकी दृष्टि नर्तकियों के प्रति कोई विशेष सम्मान जनक नहीं थी। ये वो समय था जब भारतीय कलाकारों में उत्थान की एक लहर दौड़ रही थी कला के प्रत्येक क्षेत्र में नए आयाम बनाए जा रहे थे। इसी कड़ी में नृत्य के क्षेत्र में भी खूब कार्य हुए जिसमें प्रत्येक नृत्य के क्षेत्र में पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी बढ़चढ़ कर भाग लिया। जैसे- भरतनाट्यम के क्षेत्र में श्रीमती रुकमणी देवी अरुंडेल, श्रीमती बाल सरस्वती इत्यादि | इसी प्रकार कथक नृत्य के क्षेत्र में भी मैडम मेनका, माया राव, कुमुदिनी लाखिया, दमयंती जोशी, सितारा देवी इत्यादि नाम उल्लेखनीय है।

वर्तमान समय में कथक नृत्य और नृत्यांगनाओं को जो सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त है वह इन महान विभूतियों के कड़े परिश्रम का फल है। ऐसा कहना अनुचित होगा कि पुरुषों ने नृत्य के उत्थान के लिए कुछ भी नहीं किया पुरुष कलाकार और स्त्री कलाकार दोनों का नृत्य के प्रति निश्छल प्रेम और उनकी नृत्य के प्रति अपार श्रद्धा ने ही कथक नृत्य को एक सम्मानजनक स्थिति प्रदान की है। परंतु जहां तक बात स्त्रियों के कथक नृत्य के प्रति स्वतंत्रता, नृत्यांगनाओं के सम्मान तथा एक मध्यम वर्ग की स्त्री तक कथक नृत्य को पहुंचाने की है तो मैडम मेनका, माया राव, दमयंती जोशी, कुमुदिनी लाखिया, सितारा देवी इत्यादि नाम अग्रगण्य रहेंगे |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

- कथक नृत्य शिक्षा, द्वितीय भाग - डॉ. पुरु दाधीच
- कत्थक और आध्यात्म - भारती गुप्ता
- कथक अक्षरों के आरसी - ज्योति बख्शी

पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान

शीतल कुमार उरांव

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में नृत्य जीवन के उच्चत्तर सत्य की अभिव्यक्ति के प्रबलतम माध्यमों में से रहा है। इसे ईश्वरोपासना एवं मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन माना जाता है। हिन्दू मस्तिष्क की प्रकृति सदैव से ही ज्ञान तथा कलाओं के अनेक शाखाओं की उदगम को किसी न किसी दैवी स्त्रोत से संबन्धित करने की रही है। नृत्य के विषय में भी यही बात है। नृत्यकला यदि ईश्वर साक्षात्कार के लिए साधन का विषय है तो, साध्य को भी यहां नर्तक या संगीतज्ञ के रूप में देखने की परंपरा रही है। भगवान शिव नृत्य, संगीत एवं नाट्य के आदिगुरु माने गए है। वो नटराज रूप में आदिनर्तक है, एवं तांडव नृत्य उन्ही से आविष्कृत है। शिव अर्धांगिनी 'पार्वती' इस कला के प्रति विशेष स्नेह रखती है एवं वो लास्य नृत्य की सृजिका है। इसी प्रकार भगवान विष्णु भी इस कला में निपुण है एवं मोहिनी वा कृष्ण रूप में वो भी नृत्य करते है।

नृत्य एवं नृत्त की शास्त्रीय परंपरा में शिव एवं पार्वती द्वारा आविष्कृत 'तांडव' एवं 'लास्य' का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में ये दो नृत्य ही प्रचलन में थे। जिनका प्रभाव वर्तमान नृत्य शैलीयों में भी देखा जा सकता है। तांडव एवं लास्य नृत्य की उत्पत्ति के संबंध में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में बताया गया है की "दक्ष प्रजापति के यज्ञ के विध्वंश करने के उपरांत उसी संध्यावेला में नटराज शंकर ने विविध रेचकों,अंगहारों, तथा पिंडिबंधों सहित तांडव नृत्त किया और भगवती पार्वती ने सुकुमार नृत्त (परवर्ती काल में लास्य नृत्य) की योजना कर उसमें भगवान शंकर का साथ दिया"[1] यहां ध्यान देने योग्य बात है कि भरत ने पार्वती के नृत्य को लास्य नृत्य ना कहते हुए सुकुमार नृत्त कहा है। तांडव का वर्णन भी उन्होंने नृत्त रूप में ही किया है यह भ्रामक स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई है क्योंकि भरत काल में लय ताल आश्रित भावहीन नृत्त ही प्रचलन में था, भावाभिव्यंजना की विशेषता रखने वाला नृत्य भरतोत्तर काल में विकसित माना जाता है। "भरत ने नाट्यशास्त्र में नृत्य शब्द का उपयोग भी नहीं किया है, एक दो स्थानों में अगर किया भी है तो उसे नृत्त के अर्थ में ही किया है"[2] विद्वानों के मत से "आचार्य कोहल ने नृत्य का निर्माण कर उसे रूपकों के माध्यम से प्रचलित किया ये मत अभिनव गुप्त ने भी अपने अभिनव भारती में दिया है"[3] कुछ विद्वान मानते है कि पांचवीं शताब्दी ई. तक नृत्य स्वतंत्र कला के रूप में स्थापित हो चुका था तथा "छठवीं शताब्दी में मतंग ने नृत्य को मार्गी व देशी में विभक्त किया जिसे साधारणतःशास्त्रीय व लोक नृत्य कहा गया है"[4] इसके पश्चात 10वीं से 15वीं शताब्दी के ग्रंथों यथा अभिनयदर्पण, भावप्रकाशनम, संगीतरत्नाकर, नृत्तरत्नावली, नृत्यरत्नकोश आदि में नृत्य स्वतंत्र कला के रूप में उल्लेखित है। इन ग्रंथों में तांडव तथा लास्य (पार्वती के सुकुमार नृत्त) को नृत्य संज्ञा से ही कहा गया है। अस्तु!इसे हम नृत्त एवं नाट्य के मेल से एक नई कला 'नृत्य' के निर्माण तथा तांडव एवं सुकुमार नृत्त का तांडव एवं लास्य नृत्य में विकास के दृष्टिकोण से देख सकते है।

पार्वती सृजित लास्य को यदि परिभाषित करने की कोशिश की जाए तो कहा जा सकता है कि- लास्य वह नृत्य है जिसमें कोमल अंग – भंगिमाओं के द्वारा मधुर भावों का प्रदर्शन होता है और जो श्रृंगार, करुणा, भक्ति आदि कोमल रसों को उद्दीप्त करने वाला है। यह ऐसा लालित्यपूर्ण नृत्य होता है जो स्त्रियों के किए जाने योग्य होता है। इसमें ग्रीवा, भ्रू , नेत्र, कलाई आदि बड़ी चातुर्यपूर्ण तरीके से चलाई जाती है ,चाल मादकता लिए होता है और इसका संगीत कैशिकी वृत्ति से पूर्ण तथा सुमधुर होता है। इस लास्य के मुख्यतः तीन प्रकार विषम, विकट, एवं लघु विद्वानों ने कहे हैं । इसके प्रचार-प्रसार के विषय में ग्रथों में वर्णन है कि पार्वती ने स्वयंसृजित लास्य को बाणासुर की पुत्री को सिखाया। कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से उषा का विवाह हुआ तब उषा ने इसे द्वारका के ललनाओं में प्रसारित किया, द्वारका से यह नृत्य सौराष्ट्र पहुंचा फिर अन्य जगहों पर भी इस नृत्य का प्रसार हुआ। लास्य की तुलना में तांडव की बात की जाए तो "आरभट्टी वृत्ति तथा उद्धत करण- अंगहारों से युक्त वीर, अद्भुत, रौद्र और वीभत्स आदि रसों से युक्त नृत्य 'तांडव' कहा जा सकता है। इसमें अंगों का संचालन आवेशपूर्ण होता है एवं यह पुरुषोचित नृत्य है। इस तांडव के मुख्यतः सात प्रकार- संध्या, आनंद, गौरी, उमा, संहार, कलिका एवं त्रिपुर तांडव माने गए है। ज्ञातव्य हो कि पुराणों, शैव ग्रंथों एवं नाट्य-नृत्य संबंधी ग्रंथों में तांडव एवं लास्य का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। यह आदि पुरुष शिव एवं शक्ति (पार्वती) का एक्य एवं अद्वैतता को दर्शाता है। फिर भी यदि मात्र शिव की इस शक्ति की बात की जाए तो यह शिव की इच्छा या लीला करने की शक्ति है। "शिव चिद्रूप है, परंतु अचेतन है, बिना शक्ति के शिव अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं कर पाते (शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है) शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है" ।[5] इसी शक्ति को माया एवं प्रकृति भी कहा जा सकता है। "प्रलयकाल में जीव जिसमें लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा है 'माया' ।[6] इसी तरह सृष्टि के प्रकृति शब्द में 'प्र' प्रथम अर्थ में तथा 'कृति' सृष्टि के अर्थ में है। अतः सृष्टि के आदि में जो देवी विराजमान रहती है उसे प्रकृति कहते है" ।[7] इस चराचर जगत में जो भी क्रिया- प्रक्रिया हो रही है वह इसी शक्ति के कारण से है, बिना ऊर्जा बिना शक्ति कुछ भी संभव नहीं।

उपरोक्त वर्णित परब्रह्म स्वरूपा, मूलप्रकृति, निराकार, ईश्वरी, नित्या, सर्वस्थानावासनी शक्ति का ही साकार या सगुण स्वरूप है 'पार्वती' । देवी पार्वती निराकार परब्रह्म, सदाशिव के साकार रूप कैलाशवासी रुद्र की सहधर्मिणी है। शक्तिस्वरूपा होने के बावजूद पार्वती देवी का जीवन एक सामान्य स्त्री सा है। सर्वशक्तिशाली होने के नाते सहज ही वह शिव को पा सकती थी किंतु उन्होंने एक साधारण मानव कन्या के रूप में पर्वतराज हिमालय के यहां जन्म लिया। पर्वत सा अटल उनका आत्मविश्वास एवं श्रद्धा था कि तीन सहस्त्र वर्ष तपस्या कर उन्होंने शिव को पति के रूप में प्राप्त किया था। यही पार्वती पूर्व जन्म में सती थी। सती चंचल मन-बुद्धि एवं चंचल इंद्रियों वाली देवी थी। जो ईश्वर से विमुख हुई और जिसके कारण दक्ष यज्ञ का प्रसंग घटित हुआ। परिमाण स्वरूप पार्वती के रूप में उनका जन्म हुआ। और उसने समस्त इंद्रियों, मन एवं देह को संयमित कर ईश्वर शिव को पति के रूप में फिर से पाया। शिव उन्हें तब तक नहीं मिले जब तक उनका रोम-रोम शिवमय नहीं हो गया। अतः पार्वती अध्यात्म की आदर्श है। उनका पूर्व जन्म सती, चंचल मन एवं इंद्रियों के समान है जो ईश्वर को नहीं पा सकता। परमात्मा का साक्षात्कार तो तभी संभव है जब

संपूर्ण इंद्रियां, मन और देह संयमित हो। इसी प्रकार वह एक आदर्श पत्नी, आदर्श माता एवं गृहिणी भी है, जिसके गृह में ऋषभ, सर्प, मयूर, भूतप्रेत सभी एक साथ रहते है। यदा-कदा देवगण भी उस अन्नपूर्णा के यहां सत्कार पाते है। वैसे तो पार्वती देवी करुणामयी, वरदायिनी एवं सौम्य स्वभाव वाली है किंतु महाकाली, दुर्गा (महिषासुर के वध निमित्त देवताओं द्वारा व्युत्प देवी) दस महाविद्या, नवदुर्गा जैसे प्रचंड शक्तियां उन्हीं में अंतर्निहित रहती है एवं आवश्यकता पड़ने पर प्रकट भी होती है। दुर्गा सप्तशती के पंचमोध्याय एवं श्रीमद्देवीभागवतम के प्रथम स्कंध में वर्णन है की शुंभ - निशुंभ के वध हेतु देवों के द्वारा स्तुति करने पर पार्वती के देह से ही अंबिका एवं काली देवी का प्राकट्य हुआ था। शिव महापुराण के उमा संहिता में वर्णन है कि दुगर्मासुर के अनाचार से पृथ्वी असंतुलित हो गई थी। देवों के यज्ञ हविस मिलना बंद हो गया था। संपूर्ण पृथ्वी पर अकाल पड़ गया था तब दयापूर्ण पार्वती देवी नौ रात नौ दिन तक हजारों अश्रुधारा बहा कर रोई थी जिससे समस्त भूमंडल पर हरियाली हो गई थी। अनेकों शाक - औषधि आदि उग आए थे। अतः वो शताक्षी और शाकंभरी कहलाई। पार्वती के देह से ही दुर्गा प्रगट हुई थी एवं उसने दुगर्मासुर का नाश किया था। महाकाली पार्वती की ही एक उग्र, क्रोधी एवं शक्तिशाली रूप मानी गई है। वह संहार की देवी है। पापी, अधर्मी, दुराचारी, कामी एवं अहंकारी दुरात्माओं का संहार एवं भक्षण करने में वह तनिक भी देर नहीं लगाती। पर जगतमाता का ये संहार भी प्रपंच एवं लीला मात्र है। संहार होता है, ताकि पुर्न आगमन - पुनर्जन्म हो सके और दुरात्मा अपना कर्म सुधार सके तथा अध्यात्म का मार्ग अपना कर ईश्वर को पा सके। संहार करते वक्त काली की अवस्था एक मूर्तिकार की भांति होती है जो विकृत रचित मूर्तियों को पुनः पुनः गीली मिट्टी में मिला कर नयी मूर्ति की संरचना करता है। लास्य नृत्य इसी सौम्य स्वरूप वाली एवं कभी रौद्र रूप वाली पार्वती का सृष्टि नृत्य है। "लास्य शब्द 'लस'धातु जिसका अर्थ होता है 'संश्लेषण' एवं 'ण्यत' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। अर्थात लास्य वह है जहां अंगो से अंगहारों का संश्लेषण हो"[8] इस संश्लेषण शब्द का शाब्दिक अर्थ जोड़ना या पृथक - पृथक को एक्य करना भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यदि लास्य नृत्य को देखा जाए तो उसकी प्रकृति भी ऐसी है जो आनंद, प्रेम, करुणा, आकर्षण और सम्मोहन आदि के माध्यम से संपूर्ण सृष्टि में संतुलन, शांति तथा सौहार्द आदि की स्थापना कर सबको एक करने का सामर्थ्य रखता है। अतःसमष्टि को व्यष्टि बनाने वाला नृत्य है।

कथक नृत्य संपूर्ण उत्तर भारत का शास्त्रीय माना जाता है। इस नृत्य शैली की प्रतिनिधि अक्षर ता, थेई ,तत है। त्रयी शक्ति के रूप में इन अक्षरों को कथक नृत्यचार्यो ने अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। नृत्यकला के विद्वानों ने 'ता' को तांडव और 'थेई' को लास्य की संज्ञा देकर उन्हें शिव – पार्वती स्वरूप स्वीकार किया है। जयचंद्र शर्मा जी के अनुसार "जिन रचनाओं के आदि मध्य और अंत में 'थेई' का विशेष प्रयोग किया जाता है तो ऐसी रचनाओं में भगवती पार्वती प्रसन्न होती है"[9] कथक नृत्य में 'तांडव' एवं 'लास्य' दोनों का समन्वय दिखाई देता है। जहां इसके नृत्तांग (परण, तोड़ा आदि) तांडव अंग में नाचे जाते है, वहीं इसका नृत्यांग या भावपक्ष लास्य अंग में नाचा जाता है। कथक नृत्य के नृत्यांग में मुख्यतः ठुमरी, दादरा, होरी, कजरी, चैती एवं गजल आदि गीतविधाओं पर भाव प्रस्तुत किया जाता है। दादरा, होरी, कजरी, चैती आदि गीतों की विषयवस्तु अधिकतर शृंगारिक होते है। कृष्ण राधा की छेड़छाड़, प्रेम –

व्यवहार, प्रेमियों के उलाहने, शिकायत, विरह- वेदना, आसक्ती, नाज – नखरे, चुहलबाजी आदि विषयवस्तु इन गीतों में प्रधान्य रखते हैं। ऊपर से सोने में सुहागा कि रूठना – मनाना, शिकवा - शिकायत प्रेम की छेड़छाड़, तकरार, कलाई मरोड़ना जैसे सुकुमार भावों के सुंदर अंदाज कथक नृत्य के भाव पक्ष में बेशुमार हैं, जो गीतों के सहज सरल शब्द में निबद्ध होकर हाव – भाव, तथा हेला के साथ इस नृत्य में फूट पड़ते हैं। गजल जिसकी वर्ण्य विषय घोर श्रृंगार परक होता है, पर भी कथक नर्तक भाव प्रस्तुत करते है। उपरोक्त गीतविधाओं के माध्यम से शृंगार रस की परिपूर्ण भावाभिव्यक्ति कथक नर्तक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। श्रृंगार रस लास्य का विषय है। किंतु ऐसा नहीं है कि शृंगारिक होने के कारण यह अनैतिक है। कथक का भाव पक्ष शृंगारिक अवश्य है किंतु नैतिकता के घेरे में।

कथक नृत्य का प्रारंभ हमेशा वंदना से होता है जिसमें किसी देवी - देवता संबंधी भक्तिपरक संस्कृत श्लोक आदि पर भाव प्रस्तुत किया जाता है फिर नृत्तांग की प्रस्तुति के पश्चात कई नर्तक भजन पर भी भावाभिनय करते हैं। ये दोनों अंग भी कथक के नृत्यांग के अंतर्गत ही हैं एवं स्वयं में भक्ति एवं आध्यात्मिक भावना को समेटे हुए हैं, जिस पर सौंदर्यपूर्ण हस्ताभिनय एवं मुखाभिनय के द्वारा भाव प्रदर्शन किया जाता है। भक्ति को भी लास्य का विषय माना जाए तो यह अमान्य नहीं होना चाहिए क्योंकि क्रोध,उत्साह, रौद्र आदि भावों से ईशभक्ति संभव नहीं।

कथक नृत्य के नृत्तांग को प्रधानतयः तांडव अंग में नाचने का प्रावधान है किंतु विभिन्न घरानों में तांडव एवं लास्य के प्रभावानुसार कलाकार इसे अपने अपने तरीके से नाचते है जैसे जयपुर वाले तोड़े - टुकड़े, तिहाई आदि को खूब तेजी तैयारी, अनगिनत भ्रमरियों और क्लिष्ट पादघातों के संयोजन से नाचते है जो कि तांडव का विषय हैं। वहीं लखनऊ घराने के कलाकार उपरोक्त को बड़ी सुंदर सौंदर्यपूर्ण तरीके से नाचते हैं,उनके बोलों एवं अंगों को बरतने में नजाकत, खूबसूरती सौंदर्ययुक्त भंगिमाओं आदि का समावेश रहता है जो की लास्य का विषय है। कत्थक के अन्य दो घराने बनारस घराना एवं रायगढ़ में से बनारस घराना जिसका उद्भव जयपुर से ही माना जाता है के कलाकारों के नृत्तांग प्रदर्शन में मुख्यतः तांडव अंग ही दर्शनीय होता है। स्व. गोपीकृष्ण द्वारा किया जाने वाला तोड़ - मरोड़ वाला अंग विक्षेप तथा धरती पर फिसलते हुए अचानक से सम लेना आदि इसी विचार के घोतक हैं। वहीं रायगढ़ घराने के नृत्तांग में तांडव एवं लास्य दोनों का समिश्रण दिखाई देता है क्योंकि राजा चक्रधर सिंह के दरबार में जयपुर एवं लखनऊ दोनों घराने के गुरु थे जिनसे पं कार्तिक राम, भगवान दास, फिरतू दास जैसे शिष्यों ने शिक्षा ली थी। रायगढ़ घराना अपने वैविध्यपूर्ण बोलो के लिए सुप्रसिद्ध है। इस घराने के कलाकार लास्य प्रधान जिन रचनाओं को नाचते है उनमें मुख्य है त्रिचक्री कृष्णलास्य, कृष्णलास्य त्रोटक(तोड़ा), दुर्गाकाली लास्य, राधिका लास्य, माधवी लास्य आदि। इन बंदिशों को लास्य अंग में ही नाचने का प्रावधान इस घराने में है। यों तो तांडव पुरुषोचित माना गया है किंतु ऐसा कदापि नहीं है कि पुरुष लास्य ना करे वा स्त्री तांडव ना करे। शिव का आनंद, संध्या, गौरी, उमा आदि तांडव जो कि प्रसन्नता एवं पार्वती के प्रति सद्भावना एवं प्रेम का प्रतीक है में,शिव किंचित लास्य की योजना अवश्य करते होंगे क्योंकि समर्पण के भाव में उत्साह, क्रोध, ग्लानि आदि का कोई स्थान नहीं। वहीं कालिका तांडव करते हुए काली उद्धत अंगों का ही प्रयोग करती होंगी और लास्य का उसमें कोई स्थान ना होगा। इस बात की सार्थकता कथक नृत्य में भी देखने को

मिलती है। इसमें चाहे तो कोई पुरुष नर्तक लास्यांग में भी नाच सकता है और कोई स्त्री नर्तकी इच्छा अनुसार तांडव अंग में भी नाच सकती है। जयपुर घराने के कानूजी एवं हनुमान प्रसाद जी, लखनऊ घराने के लच्छू महाराज (लास्य सम्राट) एवं पं. बिंदादीन महाराज आदि लास्यअंगी ही थे। वही स्व. सितारा देवी जी के नृत्त पक्ष में ओज, उत्सव आदि तंडवीय गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते थे। कथक नृत्य में उपरोक्त विविधतायें इसलिए देखने को मिलती है क्योंकि कथक एक खुला एवं प्रयोगधर्मा शास्त्रीय नृत्य शैली है। इसमें शास्त्र का बंधन तो है किंतु ऐसा कदापि नहीं है कि शास्त्र या अनुशासन का बंधन पूरी तरह छूट जाए। इसमें खुलापन है किंतु आवश्यकता पड़ने पर शास्त्र का अंकुश ढीला भी कर दिया जाता है। ऐसा कदापि नहीं है कि शास्त्र या अनुशासन का बंधन पूरी तरह छूट जाए। इसमें खुलापन है किंतु शास्त्र के परिधि के अंतर्गत। वैसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो कथक के नृत्तांग में भी लास्य संगुफित रहता है। भरतकृत नाट्यशास्त्र एवं परिवर्तित ग्रंथों में 'मुखराग' शब्द आया है। इस मुखराग को भरत ने नाट्याभिनय के लिए बहुत महत्वपूर्ण माना है। यहां मुखराग से तात्पर्य चेहरे पर सौंदर्य या चेहरे की भावात्मक आकृति से है जो कि दर्शकों को आकर्षित करने वाला हो। मुखराग में दृष्टि के साथ होने वाले चेहरे के सूक्ष्म परिवर्तनों द्वारा भावों का सूक्ष्म निरूपण देखा जा सकता है। नाट्य एवं नृत्य के लिए मुखराग एक अनिवार्य तत्व माना जाता है किंतु नृत्त की प्रस्तुति में भी इसका प्रयोग संभव है। आशय है कि जब नृत्त में ताल लयानुसार अंगों के संचालन के दौरान यदि मुखराग (मुख, नेत्र, कपोल, आदि का यथोतिष्ट सन्निवेशन) की योजना हो तो नृत्त पक्ष और ज्यादा आकर्षक एवं चमत्कार पूर्ण हो जाता है। कथक नृत्य के गुणी- ज्ञानी, गुरुजन एवं साधक कलाकार अपने नृत्तांगमें मुखराग का उचित प्रयोग करते देखे जाते हैं। मुख्यतः थाट प्रस्तुति के समय भौंह, कपोल, ओठ, नयन आदि का सुंदर हलन- चलन तथा सम के समय मुख पर सुंदर हंसी मुखराग की सुंदर झांकी है। जिसके प्रयोग से नृत्तांग की शोभा द्विगुणित हो जाती है। निरर्थक बोल बंदिश भी इसके प्रयोग से सार्थक एवं बोलते हुए जान पड़ते है। अस्तु! कथक नृत्तांग में भ्रू, कपोल, नयन आदि का ऐसा महत्वपूर्ण सूक्ष्म एवं सुंदर प्रयोग लास्य का ही तो विषय है। इसी प्रकार गतनिकास एवं कवित्त जो कि कथक नृत्तपक्ष का ही अंगवस्तु है, पूर्णतयः लास्यगामी है। जहां कवित्त में सौंदर्यपूर्ण हस्त मुद्राओं एवं मुखाभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित किया जाता है, वहीं गतनिकास में सार्थक हस्त मुद्राओं (यथा मुरली, मुकुट, मटका आदि) को धारण कर मार्दव पूर्ण एवं सुंदर तरीके से चाल चला जाता है। इस प्रकार का लावण्यमय चाल लास्य के अंतर्गत ही माना जाएगा।

निष्कर्षतः लास्य, ललिता संज्ञा से कहीं जाने वाली पार्वती का नृत्य है। यह उस महामाया शक्ति स्वरूपा गौरी का नृत्य है जो अनवरत चलता रहता है। जिससे सृष्टि में आनंद, शांति, संतुलन एकता आदि का पादुर्भाव होता है। ये लास्य इस लौकिक प्रकृति का भी नृत्य कहा जा सकता है। यदि बिजली का कड़कना, घनघोर बादल का छाना और मूसलाधार वृष्टि का होना तांडव का रूप है तो इसी स्थिति में पेड़ - पौधे लता - पत्तों का झुम उठना, मोर का नाच उठना लास्य का रूप है। मीरा पग में घुंघरू बांध, कृष्ण प्रेम में नाच उठती थी मीरा का यह नृत्य तांडव तो नहीं होगा, वह लास्य रूप ही होगा। देवदासियाँ ईश्वर मूर्ति के समक्ष नृत्य करती थी वो उन्हें पति मानती थी, लास्य भाव के बिना वो उनको रिझा भी नहीं सकती थी। अतः लास्य नृत्य वह है जिसमें उस सर्वौच्च के प्रति समर्पण का भाव निहित है।

नृत्य हो या अन्य नृत्यकला यह सौंदर्य का अनुसरण करता ही है। कथक नृत्यकला का प्रदर्शनकर्ता भी हमेशा ध्यान रखता है कि उसके प्रस्तुति (चाहे नृत्तांग हो या नृत्यांग) में सौंदर्य एवं आकर्षण पर गुण अवश्य रहे। इस उद्देश्य को सार्थक करने का प्रयत्न प्रत्येक कलाकार अवश्य करता है। यह सौंदर्य एवं आकर्षण लास्य का ही प्रमुख गुण है। अस्तु! कथक नृत्य में पार्वती सृजित लास्य का प्रमुख स्थान है और लास्य के प्रयोग से यह नृत्य सम्पूर्ण विश्व को सम्मोहित करने का सामर्थ्य रखता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनय दर्पण, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, प्रकाशन दिल्ली 1989, पृष्ठ 82 -81 –
2. सिंह मांडवी, भारतीय संस्कृति में कत्थक परंपरा, स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली,) 1990 प्रथम संस्करण35 – पृष्ठ (वही
3. बख्शी ज्योति, अक्षरों की आरसी, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल,2000 , 24 – पृष्ठ (प्रथम संस्करण),25
4. आचार्य बलदेव, भारती दर्शन, शारदा मंदिर रविंद्रपुरी दुर्गाकुंड वाराणसी 5-प्रकाशन, पृष्ठ 300 -
5. वही पृष्ठ 493 -
6. पाण्डेय रामतेज,श्रीमद देवी भागवत (टीकाकार), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,(उ.प्र2004 वर्ष (, पृष्ठ 1030-
7. अग्रवाल डॉ मोहन (हिन्दी भाषानुवादकार),शारदातनय विरचितभावप्रकाशनं, चौखम्बा सुरभरतीप्रकाशन .,2020, पृष्ठ 66-65
8. शर्मा जयचंद्र, संगीत नृत्याक्षर दिग्दर्शन, अंक6-, जून1989-, संगीत कार्यालय हाथरस (प्र.उ), पृष्ठ .15-

कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली कतिपय अंग भंगिमाएं

विशाल कुमार

कथक नृत्य उत्तर भारत की शास्त्रीय नृत्य शैली है। कहा जाता है कि कथक नृत्य की उत्पत्ति कथावाचनसे हुई है । कथावाचक की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रही है,जिससे इस नृत्य शैली और कथकों के संबंध को प्रमाणिक रूप से देखा जा सकता है। यह मान्यता हैं "कथन करे सो कथक या कथा कहे सो कथन कहिये।" प्राचीन काल में लोगों के मनोरंजन की दृष्टि से कथावाचकों ने कथा प्रवचन में रंजकता हेतु अंग भंगिमाओं के प्रयोग से नृत्य का समावेश करने लगे । जिससे कि आध्यात्मिकता के साथ लोगों को रंजकता का अनुभव होने लगा। मंदिरों में कथावाचन के साथ-साथ एक विशेष नृत्य शैली भी विकसित होने लगी और कालांतर में भिन्न भिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर समृद्धि होते रही । कथावाचक विभिन्न सामाजिक उत्सवों के अवसर पर भी समाज को पौराणिक कथाओं के माध्यम से मनोरंजन तथा उपदेश के उद्देश्य से भी कथावाचन करते थे । इस प्रकार यह कथावाचन आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिक परिवेश से भी प्रभावित रहा। कथक नृत्य को जब महलों एवं दरबारों का सरंक्षण मिला तो इस शैली में अनेक आयाम जुड़े।

कथक नर्तकों से शासकों की रूचि के अनुसार अनेक प्रयोग हुए तथा दर्शकों को प्रभावित करने के लिए प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी। अंग संचालन व लयकारी के साथ पद क्रियाओं को विकसित किया गया। कथक नृत्य की प्रस्तुति में तेजी तैयारी, चमत्कारिकता, विविध रचनायें तथा जोश व उत्साह के साथ पढ़ंत आदि की शैली विकसित की गई। कथक नृत्य में श्रृंगारिता का भी विकास हुआ। जिससे अंगों की नजाकत एवं अभिनय को भी महत्व दिया जाने लगा। कथक नृत्य में तोड़े, परने व तत्तकार आदि के साथ-साथ कथा रूप को भी सुरक्षित किया गया । जिसमें कवित, भजन तथा कथानक आदि नवीनता के साथ प्रस्तुत किए जाने लगे।

भारती गुप्ता से गुरु रोहिणी भाटे जी ने अपने विचार साझा करते हुए कहा कि " वह मुगल काल को संस्कृति काल के नाम से भी पुकारती हैं। यह कहती है कि इस समय एक तरफ हानि हुई तो दूसरी तरफ लाभ भी हमने उठाया। हमारे कथक नृत्य में नयापन भी तो आया, नहीं तो अभी तक हम कथा वाचक ही रहते।"[1]मुगल शासकों की कथक नृत्य के प्रचार - प्रसार में अत्यधिक भूमिका वर्तमान के कथक नृत्य में भी स्वतः ही परिलक्षित होती है। आज कथक नृत्य इतना विकसित हो गया है कि उसमें अलग-अलग धाराओं अर्थात घराना पद्धति में विविधता तथा विशेषता से जनमानस को प्रभावितकिया है। वर्तमान कथक ने भारत तथा अन्य देशों में सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं,कला समीक्षकों एवं विभिन्न प्रयोगशील कला रूपों में अपना क्षेत्र विस्तृत किया है। आज का कथक नृत्य जब मंचीय कला रूप में स्थापित है तो उसमें मंचसज्जा से लेकर मंचीय ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ कुशल संगतकारों की भी अहम भूमिका रही है। विद्वान साहित्यकारों, मूर्तिकारों तथा चित्रकारों ने भी अंतःमन से नृत्य शैली को अपने विषय के साथ जोड़ते हुए कथक नृत्य के स्वरूप एवं चिंतन को विस्तार प्रदान किया है। वर्तमान में कथक नृत्य के नये स्वरूप या दिशा प्रदान करने में स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज का बहुमूल्य योगदान है। महाराज जी ने न केवल कथक नृत्य के सौंदर्य में वृद्धि की अपितु इसमें सरलता तथा सर्वसामान्य के लिए भी अनुकूल बनाया। इन्होंने कथक नृत्य के आंगिक

स्वरूप को स्पष्ट एवं प्रमाणित करते हुए अंगों में ठहराव, नवीनता व संतुलन बनाया। इसके अतिरिक्त वर्तमान परिदृश्य में कथक नृत्य के विकास में अनेक गुरुओं, कलाकारों तथाचिंतकों आदि का बहुमूल्य सहयोग रहा है। इन सभी के सार्थक प्रयास से विविध प्रयोगों के बाद कथक नृत्य का स्वरूप आकर्षक एवं प्रभावशाली हुआ है।

सामान्यतः कथक नृत्य वस्तु क्रम निम्नलिखित अनुसार है।

- वंदना :- वर्तमान में कथक नृत्य की परंपरागत प्रस्तुति का प्रारंभ वंदना से होता है। इसमें नर्तक गणेश, शिव, विष्णु, सरस्वती, कृष्ण तथा देवी आदि की स्तुति में नृत्य प्रदर्शन करता है।

- थाट :- 'थाट' विलंबित लय की प्रारंभिक प्रस्तुति हैं ।इसमें कसक - मसक तथा कटाक्ष का प्रदर्शन 'थाट' का प्रमुख आकर्षण होता हैं । "थाट के संदर्भ में स्वर्गीय श्री कल्याणपुरकर के अनुसार 'थाट' एक सौन्दर्यमयीलावण्यायुक्त भंगिमा हैं ।"[2]

- आमद :- 'आमद''फारसी'भाषा का शब्द है । जिसका अर्थ आगमन या प्रवेश होता है। मुगल काल में कलाकार दरबार में नृत्य के लिए प्रवेश करता था तो उसे 'आमद' कहा गया। वर्तमान में 'आमद' एक विशेष प्रकार की रचना है, जिसमें ताथेईततथेई, आ थेईततथेई, के बोलों का प्रयोग आवश्यक है। कथक नृत्य के घरानों में 'आमद' की परंपरा में लखनऊ धा त क थू गा तथा जयपुर घराने में धातिटधातिट इत्यादि कूटाक्षरों के परन बोलो को 'आमद'के बोलों के साथ जोड़कर 'परन आमद'रूप में नाचते हैं।

- सलामी :- 'सलामी'की प्रस्तुति भी कथक नृत्य को मुगलकाल की देन है। इसमें कलाकार अदब के साथ सलाम या नमस्कार की क्रिया से इसे प्रस्तुत करता है।

- टुकड़ा -:'टुकड़े' का अर्थ कोई छोटा अंश, भाग या सूक्ष्मतम रूप से है। तबले के कूटाक्षरतकिटधिकिट तक, तिरकिट आदि बोलो की रचना को कहा जाता है। 'टुकड़ा'

- तोड़ा :- नृत्य के बोलोंकी ऐसी रचना जिसमें ताथेईततथेई, तिग्धादिगदिगथेई, त्राम इत्यादि बोलो का सम्मिश्रण हो वह 'तोड़ा'कहलाता है।

- परन :- पखावज पर बजाये जाने वाले बोलो की रचना को 'परन'कहते हैं।'परन' में खुले व दमदार बोलो में सामान्यतः तांडव प्रधान अंगों का संचालन होता है।

- परमेलू जब नृत्य के बोल -:पखावज,प्रकृति तथा लोक वाद्य जैसे नगाड़ा, झांझ, मंजीरा इत्यादि वाध्यों के ध्वनिमय प्रधान बोलों का सौंदर्यमयी मिश्रण किया जाये तो वह विशेष रचना 'परमेलू'या 'प्रिमलु'कहलाती है।

- तत्तकार ' कथक नृत्य की परंपरागत प्रस्तुति में -:तत्तकार' से कार्यक्रम का समापन होता था, किंतु वर्तमान प्रदर्शन में ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।'तत्तकार'का अर्थ पद संचालन से है। यह कथक नृत्य की विशेष

प्रस्तुति है, जो अन्य नृत्य शैलियों में दृष्टिगोचर नहीं होती। यह कथक नृत्य के सशक्त पद संचालन का बेजोड़ नमूना है।

- गत निकास ' -:गत'शब्द का अर्थ गति तथा 'निकास'का अर्थ निकल कर आने की क्रिया से है। इसमें नर्तक किसी विशेष भंगिमा में स्थित होकर विभिन्न पल्टे व चाल का सौंदर्यपूर्ण प्रदर्शन करता है।

- गत भाव :- 'गत भाव'में किसी कथानक की प्रस्तुति होती है। यह कथानक पौराणिक ही होते हैं। इसमें एक ही नर्तक कथानक में निहित विभिन्न चरित्रों के साथ कथा को कलात्मक ढंग से प्रदर्शित करता है।

- कवित्त :- 'कवित्त'कथक नृत्य की ऐसी रचना या बोल है, जिसमें कविता या पद को लयबद्ध करके प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी इसमेंनृत्य तथा अन्य वाध्य के बोलों को भी सम्मिलित किया जाता है।

- तराना :- यह एक संगीतिक रचना है। वर्तमान कथक नृत्य में इसका बहुधा प्रदर्शन देखा जाता है।

उपर्युक्तरचनाओं के प्रदर्शन के पश्चात अभिनय के प्रदर्शन में ठुमरी, भजन, गजल, अष्टपदी या ध्रुपद धमार आदि का प्रदर्शन किया जाता है। इन सभी रचनाओं के प्रदर्शन में आंगिक अभिनय की मुख्य भूमिका होती है। नाट्यशास्त्र तथा अभिनय दर्पण में आंगिक क्रिया को लेकर विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। किसी भी नृत्य शैली का ढांचा या स्वरूप आंगिक अभिनय पर ही आधारित होता है। कथक नृत्य शैली में भी तोड़े, टुकड़े, परन, गत आदि प्रदर्शित करते समय निश्चित अंग भंगिमाओं का प्रयोग किया जाता है। यहां पर कुछ ऐसे अंगो के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है जो कथक नृत्य के पारंपरिक प्रदर्शन में मूलतः प्रयोग होते हैं। कथक नृत्य के वर्तमान में आंगिक सौंदर्य, हस्तकों के रखाव तथा संचालन में स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज का महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इन्होंने कथक नृत्य की संपूर्ण अंग भंगिमाओं को एक नई दिशा दी है ।

❖ कथक नृत्य प्रदर्शन की यह प्रारंभिक भंगिमा है। इस स्वरूप को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने' उत्पत्ति'का नाम दिया है। क्योंकि इस स्वरूप से ही कथक नृत्य की अन्य भंगिमाओं का संचालन का प्रारंभ होता है। इसीलिए 'उत्पत्ति'शब्द इसके लिए बहुत सार्थक है। यह स्वरूप नृत्य के हस्तकों का आधार है।'उत्पत्ति'कथक नृत्य की संपूर्ण शारीरिक अंग संरचना को संतुलित, नियंत्रित तथा सौंदर्यपरक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके साथ ही साथ इस स्थिति में नर्तक नृत्य प्रस्तुति के लिए अपने आप को केंद्रित करता है। मात्र इस स्थिति से नर्तक की योग्यता का अंदाजा लगाया जा सकता है। यह अपने अंग में योग की स्थिति हैं ।

कथक नृत्य के आंगिक स्वरूप एवं स्थिरता हेतु 'उत्पत्ति'के प्रति नर्तक की सजगता अत्यंत आवश्यक है। इसमें ठहराव तथा आवश्यकतानुसार कलाइयों का संचालन इस भंगिमा को सौंदर्य प्रदान करता है। अतः 'उत्पत्ति'कथक नृत्य की आंगिक क्रियाओं का केंद्र बिंदु है।[3]नाट्यशास्त्र के नवे अध्याय (श्लोक संख्या-178) में आचार्य भरत ने 'नृत हस्त' के अंतर्गत 'चतुरस्त्र' का वर्णन किया हैं ।[3] इसका स्वरूप 'उत्पति' के समान ही हैं, अंतर इतना हैं कि 'उत्पति' में दोनों हाथों में 'अराल मुद्रा' को धारण किया जाता हैं ,जबकि 'चतुरस्त्र' में दोनों हाथों में 'कटकामुख मुद्रा' को धारण किया जाता हैं । 'उत्पत्ति' और 'चतुरस्त्र' की स्थिति लगभग समानहैं और दोनों ही स्थिति में एक योग जैसा शरीर का सामजस्य स्थापित होता हैं । इसमें आचार्य भरत ने दोनों हाथों को शरीर से 'आठ अंगुल' के अंतर पर रखने

की बात कही हैं । स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज अपने नृत्य प्रशिक्षण में इस अंतर के लिए 'एक बीतें' का माप बतातें थे । इसके अध्ययन से 2000 वर्ष पूर्व लिखे गये नाट्यशास्त्र और कथक नृत्य की मौखिक परम्परा का गहरा सम्बन्ध स्थापित होता हैं ।

(1) (2) (3)

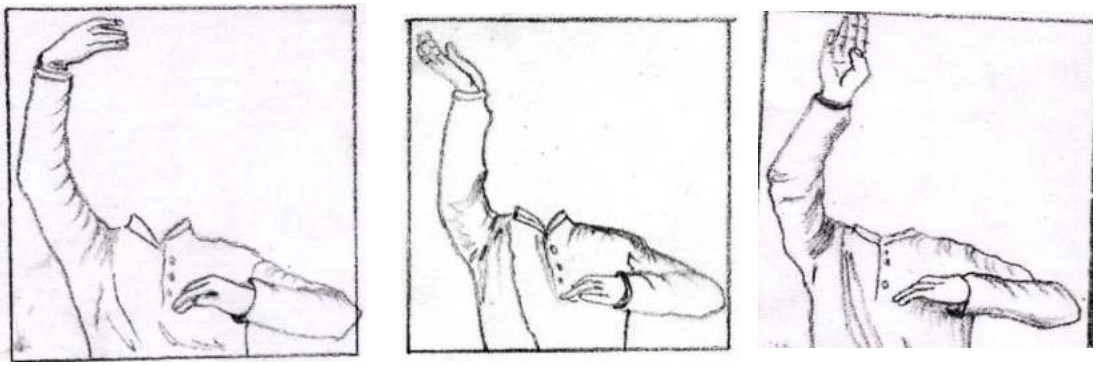

❖ यह प्रथम हस्तक संचालन की स्थिति है । कथक नृत्य शिक्षा के दौरान हस्तकों की श्रृंखला में यह प्रथमतः सिखाया जाता है । इसका उचित अभ्यास इसे पूर्णता और सौंदर्य प्रदान करता है । इस हस्त संचालन क्रिया को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'ऊर्ध्व हस्त चक्र'नाम से संबोधित किया है । इस हस्त संचालन में परिक्रमा तथा गुरूत्वाकर्षण का भाव दिखता है । जिसमें एक हाथ संचालन करता है, तो वही दूसरा हाथ 'उत्पत्ति'में अवस्थित रहता है ।

सर्वप्रथम यह हस्त क्रिया दाहिने हाथ से प्रारंभ होती है । जो कि 'उत्पत्ति'मुद्रा से ऊपर की ओर अर्थात एक रेखा का अनुकरण करते हुए पताका हस्त मुद्रा में तर्जनी उंगली तथा कलाई की सहायता से वृत्ताकार शिर के समक्ष हाथ को बाहर से अंदर की ओर हथेली घुमाकर हथेली बाहर की ओर रखते हुए पुनः उसी रेखा के अनुसार हस्तक को नीचे उतारा जाता है । इसी प्रकार बाये हाथ की भी प्रक्रिया होनी चाहिए । यह भीकहा जाता है कि अंगूठी दिखाते हुए ऊपर की ओर तथा हथेली की मेहंदी दिखाते हुए हाथ को नीचे लाना है । इससे हस्त संचालन में भाव पैदा हो जाता है ।

❖ यह नीचे की ओर संचालित होने वाला हस्तक संचालन है । इस हस्त क्रिया को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'तल हस्त चक्र'नाम दिया है । यह हस्त क्रिया में 'उत्पत्ति'से नीचे की ओर अर्थात भूमि की ओर कटि भाग से एक निश्चित दूरी बनाते हुए वृत्ताकार घुमाकरकंधे के समान्तर हाथ को वापस 'उत्पत्ति'पर स्थापित किया जाता है । कथक नृत्य की हस्त क्रियाओं में कलाई का सही घुमाव तथा हाथ को संभालते हुए प्रयोग किया जाता है ।

❖ इस हस्तक संचालन के दौरान हाथ की हथेली खुली व पताका मुद्रा में बाहर की ओर तर्जनी उंगली का अनुकरण करते हुए क्रिया पूर्ण कर 'उत्पत्ति'में स्थित हो जाती है । जबकि इस क्रिया में भी एक हाथ के संचालन के दौरान दूसरा हाथ 'उत्पत्ति'मुद्रा मेंअवस्थित रहता हैतथा क्रिया के दौरान दाहिने हाथ का अनुकरणकर अपनी क्रिया को पूर्ण करता है । इस हस्तक को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'तल हस्त चक्रका नाम दिया हैं' । इस क्रिया

मेंशरीर के ऊपरी भागअर्थात मुख्यतकमर का कटाव तथा कसाव अहम भूमिका निभाता है ।इसके अतिरिक्त : संपूर्ण हस्तक्रियामें रेखीय,कोणीय तथा वृत्तीय रूप का ध्यान आवश्यक होता है ।

- ‘उत्पत्ति’की स्थिति से एक एक हाथ को दाये और बाये फ -ैलाते हुए संचालित किया जाता है । यह हस्त क्रिया आड़ी रेखा के अनुरूपपरिलक्षित होती है ।

इस हस्तक को स्वर्गीय पंडितबिरजू महाराज ने ‘समतल’नाम रखकर परिभाषित किया है ।कथक नृत्य में इस हस्तकका प्रयोग बहुत होता है, जो कि यह एक संचालन क्रिया है । जिसे तत् तत् नृत्य बोलों के साथ अधिक प्रयोग में देखा जाता है ।

- यह अंग ताथेईततथेई, आ थेईततथेईमें अधिक प्रयोग होता है । इसका प्रारंभ ‘उत्पत्ति’से या कहीं कहीं ऊपर से नीचे की ओर प्रवाह के सदृश होता है । इसीलिए स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने इस हस्त संचालन क्रिया को ‘स्त्रोत’कहा है । इसमें पैरोंकी स्थिति पर भी ध्यानआवश्यक होता है, क्योंकि अंग झुकाव पृष्ठ भाग की ओर होता है । इसके अतिरिक्त इस संचालन क्रिया में शरीर से हस्तक की निश्चित दूरी तथा कटि के कटाव व रखाव के साथ साथ हस्तक द्वारा अंगों की रेखाओं में संतुलन की अहम भूमिका होती- है ।
- नर्तक हस्त भंगिमाओं को ‘उत्पत्ति’से प्रारंभ करते हुए शरीर से दूर एक विशेष स्थिति में रखता है । तत्पश्चात हस्त भंगिमाओं को ‘उत्पत्ति’की ओर गति के साथ खींचते समय वृत्ताकार अर्थात घड़ी की सुईयों के विपरीत दिशा में पद, शिर, कंधे आदि की सहायता से एक साथ घूमते हुए, जो कि 360 डिग्री वृत विकसित होता है । उसे स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने ‘भ्रमरी’कहां है । इन्होंने ‘भ्रमरी’के पांच प्रकार बताए हैं । जिसमें "फेरी,अर्ध फेरी, बद्ध फेरी, मुक्त फेरी, पवन फेरी"[4] उल्लिखित है ।

कथक नृत्य के प्रदर्शन में ‘भ्रमरी’एक महत्वपूर्ण क्रिया है । इसे कथक नृत्य की भाषा में ‘चक्कर’भी कहा जाता है । यह प्रक्रिया कथक नृत्य को आकर्षक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । आकर्षण के साथ-साथ कथक नृत्य के प्रदर्शन को गति एवं चमत्कार देने में इसका प्रयोग एवं मायने रखता है । कथक नर्तक ‘चक्कर’को कितने संतुलन तथा परिपूर्णता के साथ गति दे सकता है, यह उसकी अपनी तैयारी और योग्यता अनुसार प्रयोग पर निर्भर करता है ।यह क्रिया सामान्यतः एक स्थान पर होती है परंतु वर्तमान परिदृश्य में रंगमंच की जगह व स्थानों का सही से प्रयोग करने के लिए भी ‘भ्रमरी’का प्रयोगहोता है ।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैलियों में ‘भ्रमरी’का प्रयोग एकमात्र कथक नृत्य शैली में ही परिलक्षित होता है । जिसमें कि कथक नृत्य के जयपुर घराने के चक्करों में विविधता एवं चमत्कारिकता की एक विशेष परंपरा रही है । आचार्य नंदीकेश्वर ने अभिनय दर्पण में इस क्रिया को ‘भ्रमरी पाद’भेद के अंतर्गत बताया है ।

" भ्रमर्यालक्षणान्यत्रवक्ष्येलक्षणभेदतः ।।
उत्प्लुतभ्रमरी चक्रभ्रमरीगरुड़ाभिधा ।
तथैकपादभ्रमरीकुंञ्चितभ्रमरी तथा ।।
आकाशभ्रमरीचैवतथाङगभ्रमरीति च ।

भ्रमर्यः सप्त विज्ञेयानाट्यशास्त्रविशारदैः ।।"[5]

'भ्रमरी पाद' के सात प्रकार बताते हुए उसके लक्षण सहित व्याख्या की गई है। जिनके नाम इस प्रकार से है - उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एक पाद, कुंचित, आकाश तथा अंग । नाट्याचार्यों द्वारा 'भ्रमरी' विस्तृत व्याख्या से यह अनुमान लगाया जा सकता हैं कि वर्तमान ही नहीं हजारों वर्ष पूर्व भी 'भ्रमरी' का प्रदर्शन नृत्य में आवश्यक रूप से किया जाता रहा हैं। कथक नृत्य के उपर्युक्तवर्णित कुछ हस्त भंगिमाओं व 'भ्रमरी'की व्याख्या प्रदर्शन के दृष्टिकोण से की गई हैं । इसी प्रकार से अन्य भंगिमाओं की परिकल्पना की जा सकती हैं। प्रयोग करने से पूर्व प्रत्येक हस्तक ,भंगिमा तथा प्रक्रियाओं का चिंतन या अध्यनन कथक नृत्य के प्रदर्शन में सौदर्यवर्धन के साथ - साथ आनंद प्रदान करता हैं ।

संदर्भ सूची ;-

1. गुप्ता भारती, कथक और आध्यात्म, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण :2001, पृष्ठ -73।
2. रघुवीर डॉ श्रीमती गीता, कथक के प्राचीन नृत्तांग (दुर्लभ बंदिशों का संकलन एवं विश्लेषण), पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, प्रथम संस्करण :2000 -पृष्ठ,72।
3. शास्त्री बाबू लाल, वाराणसी,चौखम्भा संस्कृत संस्थान,2- भाग (हिंदी अनुवाद) नाट्यशास्त्र , संस्करण : पुनर्मुद्रित,वि स. 76- 75- पृष्ठ ,2072.।
4. Maharaj Pt.Birju ,Ang Kavya ,Har - Anand Publications Pvt.Ltd,page - 41- 45.
5. गैरोलावाचस्पति,, भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनय दर्पण, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण :2013, पृष्ठ -256।

Physical benefits and Indian Dance Forms: A scientific Approach

Anita Pandey
Professor I. D. Tiwari

Indian dance forms declare their allegiance to the Vedas which are the ancient most written documents of history. The proper documentation of Indian classical dance forms and their division is found in Nattyashastra of Bharat Muni. Before independence these art forms were promoted and protected by the rulers and religious institutions across the country. After India's freedom and balkanization of Indian subcontinent these Indian art forms have been taught and researched in institutions funded by government as well as non -government organizations. Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya Khairagarh came into being in 1957 and since then it has been serving Indian music and dance with its affiliated colleges and centers across the country. University has departments of these classical art forms where students from across the country and overseas religiously study and research in these dance forms. There are many art forms in India but Khairagarh University teaches and researches in Kathak, Bharatnatyam and Odishi only. The study collected data of 127 post graduate and undergraduate students of these departments to reach certain conclusions. Students of all these three departments participated in the online survey through Google Form for this study.

Indian classical dances were originally meant for spiritual well being and physical fitness. All dances begin with Guru Vandana and the worship of deity, mostly Lord Shiva or Saraswati - who are mythologically known as the deities of learning. The physical activity involved in these dances is complex and intricate These activities are identical to yoga postures practiced by ascetics and yoga gurus. However, the moves and postures of theses dances are rhythmic and coordinated as per the precepts of dance traditions. As these dances are practiced by all age groups the health benefits are not delimited to any particular age group. Physical fitness, spiritual calmness and emotional equilibrium are achieved by its practitioners as per their level of perfection of a particular dance form.

The primary purpose of this article is to evaluate the Indian dance forms in terms of health benefits, including mental and emotional one. This study also evaluated positive and adverse effects of these dances on the target group.

In ancient times Indian classical dances were performed in front of the deity for spiritual purposes but these dance also very deeply influence over all health of the dancers of every age group. Inhaling and exhaling, synchronized with physical movement, help lungs and heart to exercise. Proper supply of required amount of oxygen to mind, along with rhythmic movement increase dancer's mental and physical agility. Intricate dance postures of Indian dance forms strengthen the muscles of the dancers as well. The motor deficiency can also be toned up with the help of dance. The end result of whole exercise is aerobic fitness, mental alertness and physical well being.

We conducted online Survey of students of Indira Kala Sangeet University, Khairagarh C.G. through Google Form. The questionnaire was developed and questions were asked to the students online. This study gathered quantitative data through structured questionnaire to

understand each of the objectives. The study involves students ranging in age from nineteen to twenty-five, including all years of graduation and post-graduation. This study gathered quantitative data through structured questionnaire to understand each of the objectives. Individual survey questions were used to assess: form of dance, years of practice, and effects of sleeping, before and after health-related problems, fatigue, weight loss and mental health.

A literature search was done using Pub Med, Google Scholar, and Google search engines for original and review articles, using keyword health benefit from dance. The answer of the students' interview was analyzed and fused with the researcher's scientific study.

Discussion and result- A total of 128 participants were analysed at the end of the study. In which the experience of dance was found to be positive. All students who participated in the survey considered dance as an exercise. Earlier studies corroborate our findings. Dance as a form of physical activity can be performed in a range of environments. (Hauer K. et al.2002). Dance as a form of participation-based physical exercise was found to reduce anxiety and depression levels•(Adam, D 2016) 94.5% students are of the view that dance maintains weight, burns calories, strengthens muscles, improves balance, increases flexibility and proves good workout for heart. Dance, if performed properly and regularly also contributes to positive thinking and enhances self-confidence.

99.2% of students reported that dancing improves mental health. The data collected suggests that dance participation affects individuals in a range of ways that can improve health by reducing stress and depression leading to good physical, emotional and mental health. Earlier studies also suggest that dance practices release physical and mental stress, decreasing depressive symptoms. (Malchiodi CA.2003).4). 97.6 % students reported that they felt happier at the time of the dance. Scientific studies show that when someone is happy, the hormones like dopamine, serotonin, and endorphin are produced by different glands across our body. In fact, Dopamine is 'feel good hormone' associated with pleasurable sensation. Serotonin is neurotransmitter that helps to regulate mood, learning ability, memory and sleep. Endorphin is natural pain reliever. 21% of participants also experienced some illness during dancing. Impairment is the most frequent medical problem among classical and modern dancers as it involves intricate body movements. Research in the United States suggests that pain in the lower leg is the most common problem among ballet dancers followed by problems associated with the knee, ankle, foot, and lower spine. •Bowling A. (1989). An injury has been noticed on the lower part of the dancer's body. (Rovere GD1983), (Bowling A. 1989).6). 56% of student participants do not have any kind of respiratory trouble during the dance and they perform their dance in a very enjoyable way. Indian classical dances have rhythm of the ups and downs of breath that maintains their respiratory value 96.8% of Students who participated in the survey admitted that dance improved their self-esteem. Mobility and good physical work such as dance make important contributions to an individual's confidence and maintain overall health. Dance participation appears to contribute positively to individual's wellbeing and health across cultures and age groups. SheppardaA. (2020). 99% of students believe that their energy labels are maintained during the dance and their health is also maintained.

Dance may promote all round wellness by strengthening the immune system through muscular action and physiological processes. Dance conditions an individual to moderate,

eliminate, or avoid tension, chronic fatigue, and other disabling conditions that result from the effects of stress. Hanna,J L., (2007).

Evidences show that dance therapy is suggested for patients today as treatment for emotional and therapeutic support, as dance allows individuals to connect with their inner-self. Dance is also used as stress relieving exercise. The study found that dance has a positive effect on mental health physical health self-confidence, Self-Esteem and relationship with others.

Conclusions - The data analysis of this study which is based on the students of well known Indian dance forms like Katha, Bharatnattyam and Oddishi of Indira Kalam Sangit Vishwavidyalaya evidences that Indian dance forms have healthy effects on the physical mental and psychological health of the dancers. The result of the study also indicates that Indian dance forms also contribute to manage mental stress cardio vascular disorder, physical structural disorder and overall well-being of dance practitioners. Apart from these benefits Indian classical dance forms nurture and preserve a value system that is an important attribute of Indian culture.

References :-

• Adam, D., Ramli, A., & Shahar, S. (2016). Effectiveness of a combined dance and relaxation intervention on reducing anxiety and depression and improving quality of life among the cognitively impaired elderly. Sultan Qaboos University Medical Journal, 16, e47–19. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar

• Bowling A. (1989) Injuries to dancers: prevalence, treatment, and perceptions of causes. BMJ. 1989;298(6675):731–734. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar] [Ref list]

• Butt, C. A. (2017). “Move your arm like a swan”: Dance for PD demedicalizes Parkinson disease. JAMA, 317, 342–343. [PubMed]

• Bungay, H., & Vella-Burrows, T. (2013). The effects of participating in creative activities on the health and well-being of children and young people: A rapid review of the literature. Perspectives in Public Health, 133, 44–52. [PubMed] [Google Scholar]

• Coubard, O. A., Duretz, S., Lefebvre, V., Lapalus, P., &Ferrufino, L. (2011). Practice of contemporary dance improves cognitive flexibility in aging. Frontiers in Aging Neuroscience, 3, 1–12. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar]

• Cruz-Ferreira, A., Marmeleira, J., Formigo, A., Gomes, D., & Fernandes, J. (2015). Creative dance improves physical fitness and life satisfaction in older women. Research on Aging, 37, 837–855. [PubMed] [Google Scholar

• Duberg, A., Moller, M., &Sunvisson, H. (2016). “I feel free”: Experiences of a dance intervention for adolescent girls with internalizing problems. International Journal of Qualitative Studies on Health and Well-being, 11, 31946. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar]

• Fresnillo S. H. (2016) Dance participation and academic performance in youth girls, Nutr Hosp. 2016; 33(2):000-000

• Hanna,J L., (2007). The power of dance: health and healing The Journal of Alternative and Complementary MedicineVol. 1, No. 4[PubMed]

• Hauer K, Specht N, Schuler M, Bärtsch P, Oster P. Intensive physical training in geriatric patients after severe falls and hip surgery. Age Ageing. 2002;3:49–57. doi: 10.1093/ageing/31.1.49. [PubMed] [CrossRef] [Google Scholar] [Ref list]

• Hackney, M. E., & Earhart, G. M. (2010). Effects of dance on gait and balance in Parkinson's disease: A comparison of partnered and nonpartnered dance movement. Neurorehabilitation and Neural Repair, 24, 384–392. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar.
• Hwang, P.W.N., and Braun, K. L.(2015) The Effectiveness of Dance Interventions to Improve Older Adults' Health: A Systematic Literature Review, Altern Ther Health Med. 21(5): 64–70.
• Jensen, Eric. Arts With The Brain In Mind. Alexandria, Virginia: Association for Supervision and Curriculum Development, 2001.
• Karkou, V., &Meekums, B. (2017). Dance movement therapy for dementia. Cochrane Database of Systematic Reviews, 2, Cd011022. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar].
• Lapum, J. L., & Bar, R. J. (2016). Dance for individuals with dementia. Journal of Psychosocial Nursing and Mental Health Services, 54, 31–34. [PubMed] [Google Scholar].
• Lovatt, Peter. Dance Psychology. Norfolk, United Kingdom: Dr. Dance Presents, 2018
• McNeely, M. E., Duncan, R. P., & Earhart, G. M. (2015). A comparison of dance interventions in people with Parkinson disease and older adults. Maturitas, 81, 10–16. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar.
• Malchiodi CA. Handbook of Art Therapy. 1st ed. New York, USA: Guilford Press; 2003. pp. 5–24. [Google Scholar] [Ref list]
• Muro, A., &Artero, N. (2017). Dance practice and well-being correlates in young 5. Douglas S, James I, Ballard C. Non-pharmacological interventions in dementia. Adv Psychiatr Treat. 2004; 10:171–7. doi: 10.1192/apt.10.3.171. [CrossRef] [Google Scholar] [Ref list]women. Women & Health, 57, 1193–1203. [PubMed] [Google Scholar]
• Nimfa F. Buedron, EdD, (2015) Perceptions towards Folk Dancing of College Students in the University of Eastern Philippines. International Journal of Science and Research (IJSR) Volume 6 Issue 10,pp2092-2096.
• Rovere GD, Webb LX, Gristina AG, Vogel JM. Musculoskeletal injuries in theatrical dance students. Am J Sports Med. 1983;11(4):195–198. [PubMed] [Google Scholar] [Ref list]
• Russell J.A.,(2013). Preventing dance injuries: current perspectives. Open Access J Sports Med.;V 4: 199–210. [PubMed]
•
• Shepparda A. and Broughtonb M.C. (2020)Promoting wellbeing and health through active participation in music and dance: a systematic review15(1): 1732526.;
• Salo, A., (2019)"The Power of Dance: How Dance Effects Mental and Emotional Health and Self-Confidence in Young Adults". Master's Theses. 133.
https://digscholarship.unco.edu/theses/133
• Strassel JK, Cherkin DC, Steuten L, Sherman KJ, Vrijhoef HJM. A systematic review of the evidence for the effectiveness of dance therapy. Alternative Therapies. 2011;17(3):50–59. [PubMed] [Google Scholar]
• www.indiastudychannel.com/resources/161365-origin- evolution-indian-dance.
• https://kamat.com/kalranga/dances/dances.htm
• https://www.healthline.com/health/happy-hormone

The candour behind *Ibis*

Dr. C.P. Pramod

Choosing a title either for the work of fiction or non-fiction is a quite an interesting and at times challenging exercise of the author for the simple reason that it is really is not that simple as it might look like. The approach could be just to keep the reader guessing; at times the popular customs and beliefs or the objects themselves offer some clue for selecting the title of writing. The present hypothesis is about the possible reasons for Amitav Ghosh to come out with this title *Ibis* to his fiction-trilogy work based on the historical event on first Opium War in mid 19th century between China and Britain. Interestingly, *Ibis* is name of schooner on which plot of the first book of trilogy, *Sea of Poppies* (2008) revolves around. What intrigues me is the fact that, for Amitav there would not have been dearth of names for the ship as the title of the book, at his disposal, for his trilogy! But then, surprisingly it is *Ibis*, why not some other name? The term *Ibis* provides different connotations in this regard and my effort would simply to unearth probable logical relations in its proper perspectives in adapting the given title. This is merely my justification for the title *Ibis* and I leave it to Amitav Ghosh, the novelist to unveil the truth behind it, if really exists there, any.

Keywords: Opium war, bird *Ibis*, river Nile, land of Egyptian civilization, Opium trade.

In ancient civilisation of Egypt there are few birds and animals which enjoyed extremely high place in their belief system and mythology either in their original forms or inhybrid animalforms. The baboon for exampleheld an important place in among ancient Egypt sacred animals.Similarly, some other animals had different services to their credit. The elephants (seven of them)for instance supported the Earth on their backs, themselves standing on the back of a great turtle.And even if an animal was neither God nor the home of somebody's souleven if it had not taken part in the battles and did not support the Earth on its back it still was a symbol of reverence. The lion was the symbol of strength; the dog, was the symbol of watchfulness; the rooster and the peacock besides watchfulness also embodied pride; the white bull embodied justice and virtue.(Raissa, p.28-31) This we should not forget that man and animals always maintained a bonding or a kind of relation that survived from time immemorial.

In other words, the list of sacred animals, commanding respect and immunity embraced nearly the whole of the animal kingdom. A true believer did not dare to strike to say nothing of killing, an animal. He had no right to squash a worm or swat a fly.

In India the cow,the symbol of goodness and a true friend of Vishnu was heldin inordinate esteem. The Brahmins in India bestowed great honour on the cow. The homage paid to bulls and cows in ancient Egypt paled before the veneration of cow in India. Premeditated killing of cow was held on a par with the murder of Brahmin and was punished accordingly by death.

It's very interesting yet true that there are imagery animals which do not exist in reality still find, for some reason or other, important places in various mythologies in the world. They are venerated with utmost piety and reverence.Similarly, hybrid animals are revered as sacred animal or gods and goddessesall across the various civilisation of the world. In Hindu religion there is a belief that God takes*avatars* in different forms on earth as and when he feels his

presence is required to emancipate his devotee or to punish the individual not fit to survive any more on this earth. It is also said that whenever the sins committed by an individual king or *daanav*goes undeterredgod takes notice of it and lands on the earth in an avatar or incarnation to punish the culprits. Similarly,Egypt has number of these forms of animal which are depicted by many stone carvings and also depicted on the walls of the temples and other locations of importance. In India we have many such examples which are widely prevalent and are depicted at the places like walls of temples and other places of worship. Vishnu avatars like Varah, Narsimhaetc. and of course the very popular lord Ganeshand Hanuman are the glaring examples of Indian religious pantheons.

Most of the Indian ruling dynasties since the beginning of the Christian era or even before that shown immense interest in building the temples dedicated to various Indian deities mainly lord Siva, and Visnu, besides belonging to other lesser popular deities. These temples were constructed with tasteful designs and soothing architecture of various styles. The walls were decorated by exclusive carved designs and figures from both Ramayana and Mahabharatha and other gods and goddesses. Also independent stone sculptures of animals like Nandi, imagery figure of lion are placed in the temple premises. Siva linga and Garuda pillar are the symbol of Siva and Visnu temples respectively. Thus these majestic temples represented a centre of great artistic expression beside a place of worship.

As far as *Ibis* is concerned, in fact it is the name of a bird found in almost every continent of the world. According to Britannica Encyclopaedia there are twenty six species in this family. They wade in shallow lagoons, lakes and marshes and use their slender, down-curved bills to feed on small fishes and soft molluscs. The Sacred *Ibis* (Threskiornisaethiopica), of southern Arabia and Africa south of the Sahara and formerly of Egypt, was sacred to the ancient Egyptians. It is about 75 cm (30 inches) long, white with black in its wings, and has dark plumes on the lower back and a bare black head and neck. (Lotha Encyclopaedia) It is supposed to be found abundantly in the swampy banks of river Nile,the life line of Egypt for centuries.

Interestingly, Amitav, the author was addressed as Indian Doctor bythevillagersin rural region of Egypt that shows his personnel rapport with the local people of his locality. He spent his early twenties in rural Egypt for his doctoral dissertation and maintained a regular diary that culminated finally into a remarkable autobiographical piece of work,*In An Antique Land*. (Ghosh Blog). Living in these rural areas he caught the imagination of the local people their faith, belief systems and their love and affection,being amongst one of them and so on which somewhere *Ibis* the bird and also the popular deity Thoth reflected in his thoughts while in the company of the rural people of Egypt. Their bond of great strength and unwavering relationship spread the cultural horizon before him of the country he was passionately involved with.

Secondly, Thoth is one of the ancient Egyptian ardent deities. It is in hybrid form. In art, he was often depicted as a man with the head of an *Ibis* or a *baboon.* These forms are highly revered in ancient Egypt that is usually animals and human form sacred to ancients. According toEgyptian mythology he is the god of wisdom, writing, hieroglyphs, science, magic, art, judgment, and the dead. The *Ibis* had religious significance which is symbol of wisdom. Since Amitav spent enough time in the rural villages in Egypt, he might have observed the bird as divine entity and equally as people's aspirations of ancient civilization of Egypt. (Joshua Thoth)

It's highly interesting fact that man interacted with the animals from the time he opened his eyes on this planets thousands of years ago. Initially he lived in the caves and jungles in the primitive stage of evolution. He found himself surrounded by all kinds of animals, birds, insects and was also got gradually acquainted with aquatic life, as well. In due course of time he discovered that on the one hand where the ferocious animals were threat to his life on the other there were some that were great source of food for him and his people.It was great boon to him. All along his nomadic life he found animals mostly as a ample source of food stocks and hardly gave any other thought. It's true that during the course of the time he learnt quickly to use the hide of animals he killedfor various purpose of his daily life. Its horns, hooves and so on came handy also for other useful items in his day to day life.

Domestication of wild animals was a revolutionary step in his long journey of evolution. This probably came to him when man began to lead a settled life and needed few animals for his help to share his manual labour in farming, cultivation and so on. He needed those animals with strong physical structure to fulfil his desired activities.And of course it is much later that a typical relation with man emerged and it caught the imagination of man that he included most of the animals into godly status or simply accepted them as god-animals for some reason or other and which finally culminated into a newer relations that parthuman and part animal form accepted as a godly pantheons also. Almost all the leading and ancient civilisations of the world included such hybrid forms into their relation of veneration.

Thirdly, Crescent moon for Islamic population is quiet significant because historically and traditionally they follow the Lunar Calendardeveloped after Prophet Mohammed's death that is different than the Gregorian calendar or Solar Calendar. Muslim festivals like Ramadan and Idu-al-Fitrexclusively depend solely on the sight of the Crescent moon. The down-curved beak of *Ibis* symbolises Crescent moon and also represents the Fertile Crescent observed at the end of the month of Ramadan and the sighting of Crescent moon is highly critical due to its poor visibility, which would otherwise delay the event of festival. (Joshua Fertile Crescent)

Fourthly, the Fertile Crescent, often called the "Cradle of Civilization", is the region in the Middle East which curves, like a quarter-moon shape, from the Persian Gulf, through modern-day southern Iraq, Syria, Lebanon, Jordan, Israel and northern Egypt. The region has long been recognized for its vital contributions to world culture stemming from the civilizations of ancient Mesopotamia, Egypt, and alsothat included the Sumerians, Babylonians, Assyrians, Egyptians, and Phoenicians, all of whom were responsible for the development of civilization. (ibid)

The term Fertile Crescent was first coined in 1916 CE by the Egyptologist James Henry Breasted in his work Ancient Times: A History of the Early World and his phrase was widely circulated through the publications of the day becoming, finally, the common designation for this region. The Fertile Crescent is traditionally associated in the Jewish, Christian and Muslim faiths with the earthly location of the Garden of Eden. The area features prominently in the Bible and Quran and a number of sites there are associated with narratives from those works. Known as the Cradle of Civilization, the Fertile Crescent is regarded as the birthplace of agriculture, urbanization, writing, trade, science, history and organized religion and was first populated c. 10,000 BCE when agriculture and the domestication of animals began in the region. By 9,000

BCE the cultivation of wild grains and cereals was wide-spread and, by 5000 BCE, irrigation of agricultural crops was fully developed. By 4500 BCE the cultivation of wool-bearing sheep was practiced widely. Virtually every area of human knowledge was advanced by these people, including: Science and Technology, Writing and Literature, Religion Agricultural Techniques, Mathematics and Astronomy, Astrology and the Development of the Zodiac, Domestication of Animals,and Long-Distance Trade Medical Practices (including dentistry).

Lastly in one of his interviews, Amitav Ghosh himself admitted that being highly influenced by the Egyptian civilisation from the very early of his age, he opted Egypt for his Social Anthropology research studies, once he gets scholarship from Oxford University. He opts a village named Lataifa on his way to take up research and in the process learns Arabic to communicate with locals of the place. He remains very friendly with the poor and young and old people of the village and keeps minutedetails in his diary about the way of peoples living, belief system and always keen to understand the psyche of their rural philosophy.

Conclusion: Amitav's non-fiction narratives basically offer enough indication of his liking and somehow the hidden passion for Egypt and its civilization from the very early period of his life. The days he spent in Egypt as a research scholar in a small village and the habit of writing diary passionately in those days were his formative days which he confessed himself. Also he confessed that he was highly passionate about the Sphinx, Pyramids and so on. Thus *Ibis* as a choice for his trilogy, in my opinion, must have come to him naturally or otherwise it's just a matter of coincidence out of many other names at his disposal.

References:

1. Bobrova, Raissa, translator. *Man and Animals* by Yuri Dmitriyev, Raduga Publishers, Moscow.
2. "Fertile Crescent." Ancient History Encyclopaedia, 28 March 2018, www.ancient.eu/ Fertile Crescent. Accessed 10 October 2019.
3. Ghosh, Amitav. "Books." In An Antique Land – Blog, www.amitavghosh.com/antique.html. Accessed 09/06/2020.
4. Ghosh,Amitav. "A critical companion." edited by TabishKhair, Permanent Black, Delhi, 2003.
5. Lotha, Gloria, et al. "ibis bird - Threskiornithinae Subfamily." Encyclopaedia Britannica, May 20, 2019, www.britannica.com/animal/ibis-birdsubfamily#ref5918. Accessed 11 November 2019.
6. Mark, Joshua J. "Thoth." Ancient History Encyclopaedia, 26 July 2016, www.ancient.eu/ Thoth/#:~:text=Thoth%20is%20the%20Egyptian %20god,from%20the%20forehead%20of%20Set . Accessed 08/06/2020.
7. Singh, Anil Kumar. "Motifs of History and Ethnography: A Study of the Novels of Amitav Ghosh." shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/ 10603/171010/6/06_chapter%202.pdf. Accessed 08/06/2020.

Chinua Achebe's*Things Fall Apart :* A Colonial Analysis

Jabbar Ahmed

Chinua Achebe is an illustrious African novelist, poet, essayist and short story writer who made substantial contribution to African literature particular and global literature in general. *Things Fall Apart* is his most monumental fictional work effecting, scathing attack on colonial exploitation and suppression. The present paper is an attempt to re-analyse and re-assess the colonial onslaught on the Africans as reflected in Chinua Achebe's *Things Fall Apart*. It also aims to highlight the impact of colonialism on African cultural values and the projected justification of the colonizers in colonised nations. Rudyard Kipling's views on the divine justification of colonisers' presence in colonized nations are meticulously and critically examined in the light of Chinua Achebe and Frantz Fanon's understanding of colonialism. Methodology employed in this paper is close textual analysis as the research is qualitative in nature.

Rudyard Kipling has been discussed in this paper to bolster the argument that there were colonial intellectuals who tried to project colonialism as divinely ordained. At the same time Frantz Fanon's *Black Skin, White Mask* assists Achebe to prove his point that colonizers under the grab of "Civilizing Mission" actually destroyed the African cultural and religious fabric. This paper is a critical reanalysis of colonialism and claims that Achebe's portrayal of life and situations in *Things Fall Apart* is realistic.

Keywords: *Colonialism, White man's burden, Racism, Igbo, Hegemony, Cultural superiority, Power struggle.*

Introduction

This paper attempts a critical understanding of colonialism in the light of Rudyard Kipling and Frantz Fanon. Rudyard Kipling is an English author famous for an array of works like *'Just So Stories*, '*If*' and *'The Jungle Book'*. He received the 1907 Nobel Prize in Literature. In February 1899, British novelist and poet Rudyard Kipling wrote a poem entitled "*The White Man's Burden: The United States and the Philippine Islands."* In this poem, Kipling urged the U.S. to take up the "burden" of empire, as had Britain and other European nations. Published in February, 1899 issue of McClure's Magazine, the poem coincided with the beginning of the Philippine-American War and U.S. Senate ratification of the treaty that placed Puerto Rico, Guam, Cuba, and the Philippines under American control. Thus, Kipling appears as an agent of colonialism and this paper makes use of his works to draw a line of parallelism between colonial thinking and Kipling's own thinking.

On the other hand Frantz Fanon is one of the foremost writers of the 20th century mostly writing on racism, colonialism and decolonization. He produced two enduring books*: Black*

Skin, White Masks which is regarded as the preeminent study of the lived experience of racism, and *The Wretched of the Earth* is regarded as "the handbook of decolonization", presenting itself as both a clear-eyed prediction of the lasting legacy of neo colonialism. These two books encapsulate the major themes not only of Fanon's writing but also of his extraordinary life. This paper considers Fanon juxtapose with Achebe.

Understanding Colonialism

Colonizer can be defined as a culturally, economically and politically rich/powerful nation taking control over economy and polity of less powerful nation. Daniel states "the phenomena associated with colonialism include monopolistic, seizure of territory, enslavement of the indigenous population, racism and militarism" (1980). Thus Daniel points to the exploitative and discriminatory motif of the colonizers. Colonialism in simple language, as evident from definition given by various scholars is the presence of colonizers in colonies with an exploitative intent. The exploitation and grabbing of political power go hand in hand in the colonised nations because, in order to make the presence of the colonizers permanent in colonies, they need to become strong by taking over the polity of the colonies.

Colonialism left a deep and lasting impact on African religious and cultural values. It remains a fact that in African traditional belief, God is the ultimate of everything. The world is created by God. The Africans believes that the universe reflects the presence of God. Mbiti in this context says, "God is the explanation of man's origin and sustenance; it is as if God exists for the sake of man"(1969:119). To maintain law and order in the society, God's agents are charged with their responsibility. Thus both physical and supernatural forces are always present in the society for its administration.This centres on the idea of finding a causal link between religion and values. African religion commonly known as Afrel is uncompromisingly theonomous. The morality or values in Afrel is strictly traced to the supernatural being. In Africa, there are agents of moral implementation. They police the responses of man to the values of the society. They reward the obedient and punish the culprit. According to the philosophy, of the Afrel everything, including human beings can be given a natural explanation without appealing to the supernatural.

Colonialism stimulated positive and negative changes in Africa. Colonial rule was an imposition that unleashed deadly blow on African culture with the immediate consequence of the introduction of such values as rugged individualism, corruption, capitalism and oppression. Colonial rule disrupted the traditional mechanism, underdeveloped homogeneity and practices. The method of moral inculcation was vitiated, which resulted in the abandonment of traditional norms and values through a systematic depersonalisation of the African and pagination of its values. Instead of the cherished communalism which defined the life of the African, a

burgeoning societal construct was introduced which alienates and destroys the organic fabric of the spirit of we-feeling.

One consequence of this was the erosion of the values, culture and religion of the subordinatory. The African cosmos became a victim of extraneous ideology which it has continued to grapple with, with little or no success. For instance, as part of the African cultural values, Africans now bear at least a European or Christian name. This means that African names, arts, music, religion, etc. are inferior of pagan in orientation and value.

Colonial power justified their conquest by asserting that they had a legal and religious obligation to take over the land and culture of indigenous peoples. Conquering nations cast their role as civilizing "barbaric" or "savage" nations, and argued that they were acting in the best interest of those whose lands and people they exploited. Despite the power of colonizers who claimed lands that were already owned and populated by indigenous peoples, resistance is an integral part of the story of colonialism. Even before decolonization, indigenous people on all continents staged violent and nonviolent resistance to their conquerors as happened in India and all other nations carrying the baggage of colonial experiences.

As the imperial powers of Europe set their sights on new geographic regions to expand their spheres of influence in the 19th century, Africa emerged as a prime location for colonization due to its wealth of natural resources and purportedly undeveloped economies ripe for exploitation. In reality, European colonization devastated traditional African societies and economies. However, the leaders spearheading the movement cited the *"White Man's Burden,"* a term popularized in Rudyard Kipling's poem to morally justify imperialist expansion. The philosophy underpinning the *"White Man's Burden"* consisted of the "Three C's of Colonialism: Civilization, Christianity, and Commerce."

In 1884, the Berlin Conference marked the official beginning of colonialism in Africa. One of the justifying principles behind colonialism was the need to civilize the purportedly backward peoples of Africa. Fifteen years following the Berlin Conference, the supposed imperative of civilizing non-whites was expressed in Rudyard Kipling's poem published in 1899 in McClure's Magazine entitled *"White Man's Burden":*

The idea of the *White Man's Burden* was to better ("seek another's profit") an ostensibly backward people (anyone who was not white). The lines following this initial declaration reveal the prevailing attitude in regards to how such a civilizing mission would proceed. Kipling bemoans that the African people will come "slowly to the light" and would lament their release from "bondage." In essence, Kipling believed that these non-white racial groups were so backward that they would be unable to comprehend the benefits of Europeanization. It was Kipling's belief that Africans must be pulled toward the "light" in order to see their own errors.

The sentiments expressed in "*White Man's Burden"* were not uncommon during this time. Africans were considered culturally inferior, an idea that was supported by scientific racism. According to a lecture given the USA, 35 years before the official start of colonialism, the so-called inferiority of Africans was evident in the "deep-rooted intellectual and physical differences seen around us, in the White, Red, and Black Races, are too obvious and too important in their bearings, to be longer overlooked…"(1851:3). The speaker, Dr. Nott, a medical doctor, goes on to assert that the black, white, and "red" races are categorically different from one another and could not possibly be related. Dr. Nott gave this lecture in the United States 35 years before the official beginning of colonialism. However, the same ideas, the same ideological belief in the inferiority of Africans and call toward a European view of civilization remained, as white settlers began to claim swathes of Africa for their homeland's possession. Towards the end of his speech, Dr. Nott states that Africans are incapable of civilizing themselves:

"There Africa stands with her fifty millions of blacks, and there she has stood for the last five thousand years, with this people occupying the same countries, without one step towards civilizations; and all the experiments in the United States, the West Indies, &e., have failed" (1851:19-20).

Ultimately, such mentalities led to a violent, forceful takeover (1895-1930:230-231). However, prior to this the idea existed Europeans had a responsibility to colonize and thus civilize Africans (1895-1930:12). The idea of civilization was "the triumph and development of reason, not only in the constitutional, political, and administrative domains, but in the moral, religious, and intellectual spheres… the essence of French achievements compared to the uncivilized world of savages, slaves, and barbarians" (1895-1930:14). In France, this idea was followed by a campaign to popularize ideas about Africans' lack of civilization through educational and media materials (1895-1930:13-14). Practically, this was carried out in the colonies through increasing infrastructure, public health campaigns, education, and political reform (1895-1930:38-39; 73-74). Unfortunately, the eventual result of this was the use of coercive measures, including forced labour and violence that would ultimately cripple the continent (1895-1930:230-231).

To many European nations, Christianity represented western civilization and the basis for Anglo-Saxon morality. Christianity served as a major force in the partition and eventual colonization of Africa (1880-1935:12). During the late 19th century, European nations increasingly vied for global power. In an attempt to augment political and regional influence, nations like Great Britain and France needed a justification for expansion.

Essentially Christianity was a garb by which Western governments justified the exploitation and conquest of African nations. In the poem '*The White Man's Burden'* Rudyard Kipling exclaims, "Take up the White Man's burden/The savage wars of peace/Fill full the

mouth of Famine and bid the sickness cease". Originally denoted as a reference to USA'S imperialism in the Philippines, the Anglos-centric basis of the poem holds true to the root structure of imperialist ideology. Denouncing the religious practices of Africans as witchcraft and heathenism, European nations sought to convert, and then exploit the indigenous peoples of Africa.

In Kipling's poem, the lines, "Your new-caught sullen peoples, Half-devil and half-child" refer to the European belief that Africans were heathens, resigned to live a life of savagery. Furthermore European missionaries called upon the tenants of Christianity, to spread what they believed was a just and compassionate doctrine. In practice they were used to degrading the culture and society of the Africans. Under the pretence of humanitarian theology, European powers strategically implemented Christianity as a divisive imperialistic tool.

Kumle Flickinger in his missionary memoir describes the state of African culture, religion, and society in the nation of Ethiopia. In the memoir entitled "Evangelization—Its Difficulties" Flickinger states, "The only reason why our theological views are not as foolish and corrupting as theirs (Ethiopians), and that we are not believers in witchcraft, devil-worship, and a thousand other foolish things, is simply because the light of Heaven shines upon us" (1877:84). Flickinger articulates an argument to be used by Christian missionaries to justify the exploitative and coercive tactics implemented by European nations.

Frantz Fanon offers a different view about colonial intent which contradicts Kipling and stand in uniformity with Chinua Achebe. Fanon's monumental work *Black Skin, White Masks* (originally published in French as *Peau noire, masques blancs*) analyzes the colonial effects on the psyche of both the colonized and the colonizers. The book explores, "various attitudes that the Negro adopts in contact with white civilization" (1952:5). In the first chapter titled "The Negro and Language", Fanon notices that the colonized adopt the colonizer's language to reduce their inferiority complex. They become mimic men. Referring to the adaptation of European way of life as manifests in *Black Skin, White Mask* Professor D. Westermann quotes:

"The wearing of European clothes, whether rags or the most up-to-date style; using European furniture and European forms of social intercourse; adorning the Native language with European expressions; using bombastic phrases in speaking or writing a European language; all these contribute to a feeling of equality with the European and his achievements(1952:14)."

Fanon refers to some examples of the Eurocentric gaze. In a similar vein, Sir Alan Burns notes that black men are inherently inferior to the white (1952:18). Césaire is reviewed by Charles-André Julien as "a Negro poet with a university degree" (1952:26) or "a great black poet" (1952:26) which shows that the emphasis is on colour and not on his talent. The second chapter titled "The Woman of Colour and The White Man" manifests that black women bleach skin and

dream of magically turning white. They seek white men with blue eyes, blond hair and light skin (1952:29) as they think that black is a curse unlike white, the symbol of daylight, virtue and beauty (1952:31). A woman named Mayotte Capecia even feels proud that her grandmother was white (1952:32). The Negro women suffer from neurotic orientation as they hate black men as savages. Hence, both races suffer from neurosis according to psychoanalytic study. In ''The Man of Colour and the White Woman'', black men marry white women, the emblem of white culture, white beauty, white whiteness (1952:45). It is not love but a way to elevate oneself and to get *statusquo* to the white man's level, the master illustrious race. It is a way to be subject, not the other (1952:55). Fanon negates the colonial gaze of M. Mannoni in "The So-called Dependency Complex of Colonized Peoples" who posits that the inferiority complex among Malagasies is not high but Fanon counters it by highlighting that two hundred whites in Martinique consider themselves superior to 300,000 people of colour and in South Africa there are two million whites against almost thirteen million native people, and it has never occurred to a single black to consider himself superior to a member of the white minority (1952:68). In "The Fact of Blackness" Fanon shares his bitter experience when a white boy felt terrified after seeing him, a Nigger (1952:84). Negro is associated with an animal (1952:86) and cannibals (1952:91). Locked in an infernal circle, one Negro hates another. Fanon wants to bring an end to all such wrong myths regarding Negro which calls them savages, brutes, illiterate (1952:88). Fanon asserts "I was not a primitive, not even a half-man, I belonged to a race that had already been working in gold and silver two thousand years ago" (1952:99).Thus, Fanon points out that colonized class was a rich race. The colonizers use literarydevices such as writing to belittle the blacks. The chapter titled, "The Negro and Psychopathology" shows that colonizers release their aggression on the blacks through magazines, comic books and Tarzan stories where Negroes are shown as wolf, devil, evil spirit and bad man (1952:113). Ironically, black children identify themselves with the explorer, the bringer of civilization. The occidentals are not correct as they say that in the collective unconscious of human beings, the black symbolizes darkness, immorality, wretchedness, death, war and famine (1952:148). The dichotomy is not true – justice, good, truth, virginity is white but Satan is black. A Negro is a victim of the white civilization who calls them a biological-sexual-sensual-genital nigger (1952:156). Fanon in "The Negro and Recognition" captures the Negroes who want to be, to emerge and to elevate their ego and be recognized. Tearing off the blanket ofthe colonial gaze, they seek love, freedom, generosity, no degradation and no exploitation (1952:193). In the concluding chapter "By Way of Conclusion", Fanon identifies that fighting against hunger, misery and exploitation is the only solution for sugar plantation workers. Voting for equality, his ultimate prayer is that "the enslavement of man by man cease forever" (1952:180). Fanon registers his views, observations and experience in different chapters of *Black Skin, White Mask.* His clear reference to subjugation, exploitation, insult, humiliation, denigration the blacks are subjected to, points to the author contempt of colonial rule.

Part II

Just like Fanon, Achebe believesthat the colonized people are not primitive. A critical examination of Achebe's *Things Fall Apart*, brings to the fore, his efforts to portray the African democratic society. All Umuofia villagers are asked to gather during a village meeting when one of their village women is killed by one Mbaino man. The elders of the village talk about this problem in front of all the villagers. It means that law and order of this society is neither partial nor corrupted. Moreover, Achebe focuses on the community feeling prevalent within the Igbo society. Readers can see that the whole village participates in the wedding. Nwakibie helps Okonkwo with eight hundred yams so that Okonkwo can raise financially inspite of the fact that Okonkwo's father lived in debt. So, Okonkwo is given opportunity to flourish in the Igbo community. Obierika and his mother's family support Okonkwo during his exile from Umuofia to Mbanta. Okonkwo's cousins do not abandon him during his crisis period. Hence, it becomes evident that the members of African Society stood by each other in the difficult times. Furthermore, the judiciary is impartial in Africa and all accept the code of law. Odukwe accepts the decision of the clan. He begs his wife Mgbafo to return to him after he has beaten her as per the decision of the elders. Okonkwoalso accepts the punishment for beating his wife during the sacred week. This manifests that law is not biased and it remains equal for all.

Aside from these factors, the Igbo have rich language which is passed orally from one generation to another. They have proverbs, epics, folk stories, songs, dances and other artistic devices which suggest that they are not primitive at all. The Igbo society practices orature. According to Anthonia C.Kalu:

The oral tradition is the backbone of African arts and literature. It is a living tradition that spans ancient and contemporary periods and all aspects of African life. It contains verbal and nonverbal forms such as poetry, oral narratives, riddles, proverbs, songs, festival drama, music and dance, sculpture, and different kinds of artwork made from various materials. (2008:2)

In Achebe's opinion proverbs express the life of the people (1981:5). He mentions in the novel that ''among the Ibo the art of conversation is regarded very highly, and proverbs are the palm-wine with which words are eaten'' (1981:5). Proverbs are frequently used to describe Okonkwo. Okonkwo is described as "a bushfire in the harmattan" (1981:1) because of his tall, huge bushy eyebrows, wide nose and his commanding personality. "If a child washed his hands he could eat with kings" (1981:6) renders Okonkwo's achievements. By the same token, ''looking at a king's mouth one would think he never sucked at his mother's breast" (1981:19) is about his courage and diligence. Igbo words like ''gome, gome, gome, gome" (1981:7) create the African environment and Achebe writes "ten and one" (1981:37) to display their counting method. Through language we know about African superstitions as Ekwefi says "Is it me?" (1981: 29) to answer calls from outside as it might be an evil spirit calling. Igbo words like agbala (1981:10), chi (1981:13), ozo(1981:48),ogbanje (1981:54), iba (1981:60), efulefu (1981:110), osu (1981:111) and many others depict the Igbo culture. These Igbo words are used

along with English in such a way that the readers don't encounter any problem in understanding the meaning. The marriage, the wrestling and funeral songs are tools by which the writer unearths the poetic creative potentiality of the Igbo race. Women dance, plait hair and paint themselves with cam wood and paint huts with red earth. Through English, therefore, Achebe captures their sense of aesthetic art and beauty. Orature is the key corner stone of this Igbo culture. Kalu writes ''For children, cultural education begins with learning core local narratives with simple plots'' (2008:5) and these oral narratives entertain, inform and explore the universe, life, death, the value of kindness, courage, love, honesty, justice (2008:4) and so on of the Africans. Here, the story of the repentant snake-lizard killing his mother in Chapter Nine and the cunning Tortoise who is punished for his harmful actions in Chapter Eleven gives the message that they like peace and honesty. From one generation to another, these folk tales are passed on which itself is the evidence that it has inherited rich linguistic art and passes it on to their children.

Kalu emphasizes that Epics are descriptive narratives of long journeys, conflict and reconciliation and the brave and honest hero has difficult beginnings which he overcomes by valor, friends or combination of all these (2008:7). Okonkwo's tale is written like an epicas, he succeeds by hard work with the help of his clan members from his poverty-stricken family. He is also the sole voice of protest against the colonizers. In a nutshell, Okonkwo is an epic hero.

Fanon upholds the thesis that decolonization which means the replacing of a certain species of men by another species of men is always a violent phenomenon (1961:27).Fanon wants colonized people to fight for their lands as violence is the only one way to decolonize themselves from the colonizers. When the Abame villagers attempt to kill one white man, it leads to the wiping out of their entire village by the Europeans. When Okonkwo senses that the British have brought abomination in their clan by fragmenting their religion and it has converted his own son Nwoye into Christianity, he is ready to go to war against them. We find Okonkwo as the sole rebellious Igbo voice. Fear has been instilled in other Umuofian members in such a way that they cannot gather courage to fight their oppressors. They become ''Phobogenic object'' (1952:117) or afraid of the British who overpowered their leaders in jail. Okonkwo kills himself as he does not want to die in the hands of the colonizers. He refuses to be a mimic man. Eurocentric gaze in *Things Fall Apart* (1958) makes the ferocious unlawful Europeans wipe out the entire village of Abame on the pretext that the Igbo inhabitants have killed one of their members. More and more, they want to give bicycles, singlets, towels along with the jobs of clerks if blacks became Christians. In the land case, they give the land to "Nnema's family'' (1958:124) who has given money to the white man's interpreters and messengers. We get to know that non-blacks have created prison cells to punish those who have offended against their laws and religion. This is utter dictatorship. When Okonkwo along with other leaders of Umuofia destroy the church, the British administrators invite them for discussion and craftily

handcuff the Igbo leaders and later shave their heads and even beat them. Instead of trying to comprehend the views of Africans. The District Commissioner lectures to them:

We have brought a peaceful administration to you and your people so that you may be happy. If any man ill-treats you we shall come to your rescue. But we will not allow you to ill-treat others. We have a court of Law where we judge cases and administer justice just as it is done in my own country under a great queen. I have brought you here because you joined together to molest others, to burn people's houses and their place of worship. This must not happen in the domination of our queen, the most powerful ruler of the world. I have decided that you will pay a fine of two hundred bags of cowries. (1958:137)

This speech pinpoints that whites do not want to know about Igbo culture. In contrast to the Igbo egwugwu members who have not killed Mr. Smith or the one Igbo judiciary associate who talks rationally "you can worship your own god" (1958:134), the colonizers have given shelter to Enoch though he has committed the Igbo sacrilege of unmasking an egwugwu in public. The cunning Europeans give feast of eating and drinking to Ogbuefi Ugonna, a prestigious Igbo who has embraced Christianity. They have hanged Aneto who has killed Oduche in the fight over the land instead of knowing about the judiciary customs of the Igbo land. They do not punish Okoli for killing the sacred python. They introduce trading system in Nigeria to use Igbo palm-oil and Kernel in England.

Ironically, these non-Africans are lecturing to Africans who are efficient enough to solve judiciary cases democratically. The Igbo Christian missionary tells the Igbo "we have been sent by this great God to ask you to leave your wicked ways and false gods and turn to Him so that you may be saved when you die" (1958:102). The Christian Missionary says to Nwoye "Blessed is he who forsakes his father and his mother for my sake" (1958:108). The colonial false partial beliefs and trickeryis evident in the figure of the District Commissioner who not only arrests the six leaders cunningly but also decides to write a book on the Africans. He wants to devote only one paragraph to Okonkwo and his book title is The Pacification of the Primitive Tribes of the Lower Niger (1958:148). Neither are the Igbo primitive nor do they need any pacification though they had no King or Queen in their acephalous society.

Achebe has written a whole novel on Okonkwo to show the insufficient knowledge of the English imperialists who hardly try to gather any knowledge of the native laws and customs. He undermines the Igbo languages as "superfluous" (1958:146) which in turn exposes his racist perspective. Just like the nameless Africans of *Heart of Darkness* (1902), the District Commissioner has no name. Achebe is here sarcastic of the discourse which is written by inept colonizers to misrepresent Africans as primitive savages.

Conclusion

History of Colonialism is more or less same in every colonized nation. The politico-economic hegemony imposed on the colonised renders the subjects helpless and thus the colonizers carry out their exploitation and suppression. Fanon refutes the colonial gaze exhibits in *Things Fall Apart* the false Eurocentric beliefs of the District Commissioner, themissionaries and other British colonizers. He has successfully shown that the colonized people are not primitive and savages as per the false notion of the Whites. *Things Fall Apart* concludes that the colonial gaze does not give identity to Africans. Like Fanon, Achebe also admires the pre-colonial African past. Okonkwo commits suicide as he does not want to imitate colonizers and be a subservient mimic man. All-inclusive, Fanon correctly delineates the colonial mistreatment of the colonized and we find a fictional representation of Fanon's ideas in Achebe's novel. Achebe's *Things Fall Apart* refutes of the Africans. The lines in Kipling's poem, "Your new-caught sullen peoples, Half-devil and half-child" which refer to the European belief that Africans were heathens, resigned to live a life of savagery. Thus every page of *Things Fall Apart* is a testimony to the colonial exploitation.

References :-

Achebe, C. *An Image of Africa*. Research in African Literatures, 9 (1), 1-15. Retrieved from http://www.jstor.org/stable/3818468---. *Things Fall Apart*. England: Penguin. (1996)

Fanon, F. *Black Skin, White Masks*. (Charles LamMarkmann,Trans.). London: Pluto Press. (2008)

Kalu, A. C. *The Rienner Anthology of African Literature.* India: Viva Books,(2008)

Achebe, C. *Morning Yet on Creation Day*. London: Heinemman.. (1982).

Achebe, C. *Things fall apart*. South Africa: Heinemann. (2000).

Boehmer, Elleke. *Colonial and postcolonial literature:* second edition. New York: Oxford University Press. (2005).

J.D. Fage, *A History of Africa New Fetter Lane*: London. (1995)

Rev D.K. Flickinger Ethiopia; *Twenty Years of missionary Life in Western Africa*.Dayton Ohio: United Brethren Publish House 1877.

Conklin, Alice L. *A Mission to Civilize*: *The Republican Idea of Empire in France and West Africa,*(1895-1930)

Kipling, Rudyard. *The White Man's Burden. McClure Magazine* (1893-1926)

Climate Fiction in 21st Century: (Re) awakening Eco-consciousness in Humans

Dr. Kaustubh Ranjan
Ms. Sindhu Nair

Climate change fiction has emerged as a literary genre that arose at the turn of the twenty-first century in reaction to what may be considered as the greatest problem that the planet earth is facing. As the name suggests climate fiction or Cli – fi is a genre that focuses mainly on the themes related to the modern-day climate crisis. Cli – fi is also termed as anthropocene fiction as it displays the inevitable climate catastrophe resulting from the human centered activities on the planet. The utilitarian nature of human makes them believe of their superiority over nature and their right to exploit natural resources and animal species for their own purposes. Anthropocene has been described as the most recent period in the earth's history, when earth's environment and weather conditions started to alter since the industrial revolution, having an adverse effect on the nature. Many geologists believe that human beings are now living in a new epoch called the anthropocene. Today, everyone can perceive the climatic shifts that are bringing the world closer to the catastrophe. The mis-happenings surrounding the globe has alarmed everyone, and the writers as part of their social responsibility, are trying to pen down the possible crisis into scripts in order to educate people regarding environmental management and protection. The issue was also deliberated at great length in the iconic, Jaipur Literature Festival (JLF), held annually in the city of Jaipur with an objective to have a constructive dialogue on contemporary issues, there also it was observed that the main concern of the writers as well as others present there was of the drastic changes that are being observed in the environment.. The co- founder of JLF, Namita Gokhale addressed the festival by saying that, it is not only the cli-fi, that paints the dystopian future rather this year the festival also holds the theme centered on the future of the planet.

Climate Fiction is a combined narrative of genetics, cosmology and artificial intelligence to talk about the devastations that can be caused by anthropocentrism. Radical change in the weather and frequently occurring natural disasters have left the writers to brood over the harmful consequences that humans can face, for instance Maja Lunde, a Norwegian author in her work, *The History of Bees*, has portrayed China in 2098, where the insects that pollinated trees have become extinct. The story is a retrospective narrative which narrates the lives of three bee keepers and the consequences faced when these bees disappeared from the earth, depleting the resources that are produced with their help. In the post- apocalyptic world, due to the country's early use of pesticides, the natives are compelled to hand- pollinate trees, failing which they would have no food to eat. The author here depicts the importance of other living things in the nature that are inevitably connected to human survival. The story shows that insects are one of the most important components of the food chain and their extinction poses the danger of calamity. Climate fiction narrates the stories that confront us with the very way we organize our society. Cli-fi views climate change within the context of global poverty, population growth,

environmental devastation and other prodigious challenges of the 21st century. The writings of this genre enhance the thought process of the reader by providing the idea to meet the challenges by changing the basic rules of our society to overcome the devastating actions practiced by man to develop a solution with which humankind maybe benefitted. Cli- fi has extended its tentacles worldwide and is gaining great pace in creating awareness of climate change, which is slowly and gradually becoming deadly for humans and the planet earth. Movies, T.V shows, OTT and other popular mediums have been producing dystopian fantasies with the theme of climate change as a theme to penetrate the public consciousness. Jason Mark, on September 10, 2014, wrote about ' Climate Fiction Fantasy', in The New York Times, in which he gave review of movies like *Interstellar* and *Snowpiercer*, addressing it as climate fiction and discusses the threat human world is confronting. Humans have slowly begun to realize that climate change is real and only few are thinking of the ways to prevent the consequences which are being predicted in mediums of writings and celluloid. Cli- fi tends to force people think of what it means to live with uncertain future.

Dan Bloom, a writer and climate activist, was the first to use the term Cli- fi, which was an attempt made by him to replace the phrase "Climate fiction" into something which would be more popular and compelling to raise awareness among masses about global warming. When Margaret Atwood introduced the term 'Cli-fi' to her followers through her tweet, environmental concerns have been used as a prominent theme in her works like *Oryx and Crake (2003), The Year of the Flood (2009)* and *MaddAddam (2013).* Atwood has been quite vocal about climatic catastrophe the world is facing, in one of her interviews, she says that, "We're facing growing climate change, more floods, more droughts, more crisis on a planetary level, and the systems we put in place in the twentieth century are just not going to work. We've run out of stuff. Our big problems are going to be energy supplies and food supplies. This is not a right-left issue. It's a people issue, and it cuts across all our categories." (*Margaret Atwood Interview*) While writing a feature for 'The Guardian', Sarah Holding, one of the famous cli-fi author expressed that cli-fi is the genre that reconnects young readers with their environment by making them realize its importance. Now literature has become a gateway to address the issue of climate emergency and it has been included in many courses and syllabus in various universities. Cli-fi cannot be stereotyped as a subject concerning only literary scholars but it appeals to the young readers because it's a discourse that has the ability to inspire the present generation to take action towards the preservation of our planet by finding the solution to the existing climate crisis and work towards a sustainable future.

Barbara Kingsolver's *Flight Behaviour* is not about the after effect of any disaster rather it is focused on the growing urgency to create a bond with nature. Environmental crisis in the novel is the migration of monarch butterflies to the land of Tennessee due to extreme weather events brought about by climate change. Ted Howell, a literary scholar and lecturer at Rowan University in New Jersey, who takes class on climate fiction is of the opinion that authors try hard to understand science to ensure the accuracy and then depict science and nature in a realistic

manner. Rachel Carson, in her work *Silent Spring,* acquainted the world with the harmful effects of the pesticide DDT, which changed the way of using pesticide after knowing the after effects. The authors are sure that their scientific details are not misleading and they also know that readers are not reading the fiction for scientific facts, so the Cli-fi writers attempt to use their work as a tool to acquaint the readers with the scientific fact, for instance, science provides the data that the future would be warmer by 2.4 degree Celsius and the sea level would rise by 3.6 meters higher, Cli-fi writers in their works bring out the themes which makes the reader realize of what it actually means to live in a world where weather is extremely hot.

The inheritance of environmental damage is the prime concern of environmentalists and authors. Novels that reflect climate crisis by reshaping the stories that surround it are found in abundance today. Climate fiction talks about cultures, hope, thoughts, fear and instill us with emotional aspects by building such characters that are related to the readers and of whom the readers' care. People read about climate crisis in newspapers, magazines, non- fiction and even in research articles but the emotional spark which is infused in the reader by climate fiction are counted more than facts to inspire readers. Cli- fi novels like Margaret Atwood's *MaddAddam* trilogy, N. K Jemisin's *The Broken Earth* trilogy, Barbara Kingsolver's *Flight Behaviour,* Jeanette Winterson's *The Stone Gods,* Amitav Ghosh's *The Gun Island* etc. are such novels that are the amalgamation of fiction and research- backed facts that provide education to the readers. Nina Greimel in her article *Cli-Fi, The Next Literature Trend?* published in Books Are Our Superpower quotes Theodora Sutcliffe, "Cli-Fi is teaching us about the world as we need to see it: a planet in the grip of a climate crisis."

There have been series of climate change stories that narrate the dual sufferings of people, for instance authors such as Amitav Ghosh, who is an Indian, Omar El Akkad, an Egyptian and Octavia Butler, an African- American, have incorporated issues of race and climate crisis to figure out the injustice bestowed upon them. In Butler's work, black and mixed groups experience racism, Ghosh's *Gun Island* brings into light the dual victimization of Bangladeshis as climate refugees and then as cheap labours. The most powerful piece written by Amitav Ghosh , *The Great Derangement : Climate Change and the Unthinkable* in which he has talked about the science of climate change reflecting on our unorganized modes of socio – economical organization through three themes: literature, history and politics which he indicates to be the prime cause of climate rupture. It is a fact accepted by scientific researchers, politicians and intellectuals that the most pressing issue of our time is climate change. One of the most prolific authors of Climate fiction, who is based in California has witnessed the vulnerability of the state to climate change that has been marked by the string of deadly wildfires summoned a future eco-utopia in his novel *Pacific Edge*, published in 1990.

Climate fiction gives the description of general populace who is living in a world that is on the verge of apocalypse due to climate crisis. It was revealed in a study published in the journal *Environmental Communication* that, after reading climate fiction, readers believed that climate change is the outcome of anthropocentrism, where human is exploiting the resources

more than their requirement giving damn care to its availability in the nature. As of result of which man is facing calamities like drought, floods, poverty etc. but it is found that this awareness of human induced disasters remains in the readers for a very short period and they seldom discuss or think of the action required to save the environment. It is high time that we realize the grave climatic concerns and adopt all the possible means to safeguard the only human habitat-earth. The contribution of Cli-fi is not to entertain the people but to educate them, to prepare them, as climate change is one of the biggest threat that mankind is currently facing and shall further experience its serious repercussions in future. Cli-fi writers are turning their creativity to work on the issues of climate change and are playing their role to change the minds and hearts of the masses to achieve the action that the planet needs immediately for our sustainable future.

References

- 12th Jaipur Literature Festival: Climate fiction rules the festival, as books on black holes, killer robots predict dystopian future. https://www.financialexpress.com.
- Atwood, Margaret. *The Year of the Flood*. Anchor Books, 2013.
- Funk, Anna. "Can Climate Fiction Writers Reach People In Ways That Scientists Can't?". Smithsonian Magazine, 2021.
- Greimel, Nina. Cli-fi, The Next Literature Trend? https://baos.pub/cli-fi-the-next-literature-trend-b68e157ab274.
- Jemisin, N.K. *The Fifth Season.* Orbit, 2015
- Johns Putra, Adeline. *Climate change and the Contemporary novel*, Cambridge University Press, 2019.
- Rothschild, Matthew. "Margaret Atwood Interview". *The Progressive Magazine*, 2010, https://progressive.org/magazine/margaret-atwood-interview/ . Accessed 10 Apr 2022.
- Sutcliffe, Theodora. A Brief History of Cli-fi: Fiction That's Hooking Readers on ClimateActivism.Dec3, 2020. https://meansandmatters.bankofthewest.com/article/sustainable-living/arts/and/culture.
- Ullrich, J.K. Climate fiction: Can Books Save the Planet? *The Atlantic*: Aug 14, 2015. https://www.theatlantic.com.

Digital Storytelling Of Indian Folklore And Mythology Through Social Media: An Empirical Study

Kajal Rahul Bais
Kanchan Thakur

Digital storytelling has evolved as a significant platform for preserving and disseminating Indian folklore and mythology's rich cultural history. Social media platforms have played an important role in promoting and disseminating these narratives to a worldwide audience in recent years. This essay investigates the different roles played by social media in fostering digital storytelling of Indian folklore and mythology, such as audience reach, engagement, community building, and cultural preservation.

Indian culture and mythology are brimming with enthralling stories passed down through generations. These stories not only entertain, but they also convey important cultural, historical, and moral aspects. The digital revolution has created new avenues for preserving, recounting, and researching these stories in recent years, while also generating entrepreneurial prospects for small-scale firms.

Digital platform for storytelling

Interactive Websites: Digital Storytelling Platforms Users can immerse themselves in Indian folklore and mythology thanks to interactive websites. To engage the audience, these platforms can include multimedia elements such as films, photos, and animations. Users can browse through different stories, characters, and locales to gain a better grasp of Indian culture. Small businesses can help by building and maintaining such websites and providing services such as content creation, design, and web development.

Mobile Apps: Mobile apps provide a handy way to access Indian folklore and mythology stories while on the go. To make the learning experience more engaging, these apps can contain elements such as audio narration, quizzes, and interactive games. Small-scale firms can create and distribute these applications to a diverse audience interested in Indian culture and mythology.

Virtual Reality (VR): VR offers an immersive and participatory experience that transports users into the realms of Indian folklore and mythology. Individuals can use virtual reality to explore ancient landscapes, engage with mythological animals, and witness historic conflicts. Small-scale firms can create virtual reality experiences and sell them as paid attractions at cultural events, museums, or on virtual platforms, attracting both local and worldwide audiences.

Cultural Heritage Preservation: Digital storytelling not only enables for the preservation of Indian folklore and mythology, but it also aids in the creation of digital archives for future generations. Small-scale businesses can help to preserve cultural heritage by digitising historic stories. This can involve activities like as digital documentation, audio-

visual recordings, and translations, which will ensure that these stories are available to a wider audience for many years to come.

Through different digital platforms such as interactive websites, smartphone applications, and virtual reality, digital storytelling of Indian folklore and mythology has gained traction. In this context, social media marketing plays an important role in promoting these digital efforts and assisting small-scale enterprises affiliated with them.

Promoting Digital Storytelling through Social Media:

Content Promotion: Social media channels like as Facebook, Instagram, and Twitter are great places to promote digital storytelling projects. Small companies can use these platforms to provide fascinating content about Indian folklore and mythology, such as story snippets, visually appealing images, and interactive aspects, drawing a larger audience and generating traffic to their digital channels.

Creating a Community: Using social media, small companies can create a community of people who are interested in Indian culture and mythology. Businesses can encourage discussions, offer ideas, and engage with their audience by creating specialised social media groups or pages. This sense of community cultivates a devoted following and raises the profile of digital storytelling efforts.

Influencer collaboration: Collaborations with social media influencers interested in Indian folklore and mythology can dramatically increase the reach and impact of digital storytelling. Small-scale businesses can collaborate with relevant influencers to develop sponsored content, hold live sessions, or organise contests and giveaways, which will generate buzz and attract a wider audience.

User-generated Content: Encouraging user-generated content can increase audience engagement and create a sense of ownership. Small enterprises might hold contests or challenges in which people are encouraged to create and share their own versions of Indian folklore and mythology. This not only raises awareness of digital projects, but also develops a sense of community participation.

Through digital storytelling, social media platforms have revolutionised the promotion and transmission of Indian folklore and mythology. Social media, with its immense audience reach, interaction skills, community-building possibilities, and commitment to cultural preservation, is critical in keeping these ancient narratives alive and thriving in the digital age. Storytellers and content makers may continue to inspire, educate, and engage audiences globally with the captivating tales of Indian folklore and mythology by leveraging the power of social media.

Review of literature

The purpose of this literature study is to investigate the function of social media in fostering digital storytelling of Indian folklore and mythology. It investigates a variety of scholarly articles, research papers, and publications that shed light on the importance of

social media platforms in maintaining and sharing these tales to a wider audience. The review covers major results, thoughts, and points of view on the issue.

Many studies highlight the tremendous audience reach and engagement potential of social media platforms in promoting digital storytelling. Ahmed and Bist (2018) examine the transformative potential of social media in allowing folklore and mythological stories to be shared beyond geographical borders. They point out that networks such as Facebook and Twitter allow storytellers to interact directly with their audiences, resulting in a more dynamic and engaging storytelling experience.

Community Building and Collaboration: According to the literature, social media platforms play an important role in forming communities centred on Indian folklore and mythology. Dwivedi and Bhardwaj (2019) emphasise the importance of these narratives' social media groups and pages. These online networks, they explain, establish a sense of belonging, boost knowledge exchange, and promote collaboration among enthusiasts, storytellers, and researchers.

Researchers highlight the impact of internet platforms and technical improvements on the promotion of Indian folklore and mythology. Mehta and Sharma (2020) talk on the rise of interactive websites, mobile apps, and virtual reality experiences that give immersive storytelling experiences. They emphasise the significance of social media platforms as distribution mechanisms for these digital projects, hence increasing their reach and accessibility.

Audience engagement and User-Generated Content: Several studies emphasise the importance of audience engagement in promoting digital storytelling via social media. According to Shrivastava and Verma (2017), user-generated material is important because it allows audiences to develop and share their own interpretations, artwork, and stories inspired by Indian folklore. They point out that social media platforms allow users to participate in the storytelling process, generating a sense of ownership and collaboration.

Cultural Preservation and Revitalization: According to the review, social media platforms help to preserve and revitalise Indian folklore and mythology. Researchers emphasise the importance of social media in preserving these narratives by digitising and disseminating them across several platforms. Nanda and Mohapatra (2019) highlight how social media enables the merging of traditional storytelling with modern technologies, giving historical tales new life and engaging younger viewers.

Through digital storytelling, Jain and Chaurasia investigate the function of social media as a catalyst for conserving Indian tradition and mythology. They emphasise how social media platforms may be used to reach a larger audience and engage them in storylines. Through user-generated material and active involvement, the review highlights the potential of social media in maintaining and promoting traditional cultural assets.

Mitra and Nandi investigate the use of social media platforms for digital storytelling in the preservation of Indian mythology. The study emphasises the participatory and immersive quality of modern platforms like social media, as well as their ability to engage viewers in Indian mythical themes. It explores the role of social media in cultural preservation and renewal, as well as the integration of modern technologies.

Panjabi and Kaur provide a thorough overview of the literature on the function of social media in the promotion of Indian folklore. The review examines the role of social media platforms in spreading Indian cultural narratives such as folklore and mythology. It emphasises the role of social media in spreading these narratives, encouraging involvement, and forming communities around Indian folklore. The review sheds light on the possibilities of social media for cultural promotion.

Patil and Dange give a literature analysis focusing on digital storytelling of Indian mythology and folklore. The review looks at how social media platforms might help with the digital preservation and dissemination of these tales. It emphasises how social media interactive aspects, such as user-generated material and audience involvement, may improve the storytelling experience. The review highlights the significance of social media in connecting storytellers, listeners, and enthusiasts, hence contributing to the preservation and appreciation of Indian cultural heritage.

Singh and Kumar investigate the use of social media and digital storytelling to promote Indian folklore and mythology. The review emphasises the significance of social media platforms in raising knowledge of and participation in Indian cultural narratives. It examines how social media supports the sharing and exchange of digital content linked to folklore and mythology, hence improving understanding and enjoyment of Indian cultural heritage. The review sheds light on social media's potential for propagating and perpetuating these narratives.

3.objectives:

The following are the objectives of the empirical study on digital storytelling of Indian folklore and mythology through social media:

To analyse the existing landscape of digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media platforms.

To investigate the function of social media in promoting and conserving Indian culture and mythology.

To identify the challenges and possibilities related with digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media.

To provide insights and recommendations for effectively promoting and maintaining Indian folklore and mythology using social media.

Research methodology:

Research Design:

Purposive sampling will be used to select participants who are actively engaged in digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media platforms.

Sampling:

The sample will include storytellers, content creators, social media influencers, and enthusiasts who have expertise or interest in Indian folklore and mythology. The sample size will be determined based on data saturation, where new information or insights no longer emerge from the interviews.

Data collection:

Semi structured interviews with chosen participants will be done to study their experiences, attitudes, and practises linked to digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media.

Content Analysis: Digital storytelling content relating to Indian folklore and mythology will be identified and analysed on social media platforms such as Facebook, Instagram, Twitter, and youtube. The analysis will concentrate on the themes, narratives, degrees of involvement, and audience responses.

Data Analysis:

Thematic Analysis: Thematic analysis will be performed on the interview transcripts and content analysis data.

Based on reoccurring patterns, ideas, and concepts, the data will be coded and categorised into themes and sub themes. The analysis will include identifying significant themes linked to the role of social media, obstacles, cultural preservation, engagement, and audience responses in Indian folklore and mythology digital storytelling.

Limitations:

The study's conclusions may be limited to the opinions and experiences of the people that were chosen.

Because of the small sample size and specific focus on digital storytelling of Indian folklore and mythology, the findings' generalisability to a larger population may be limited.

The research approach given above provides a framework for conducting a qualitative study on social media based digital storytelling of Indian folklore and mythology. It examines the practises, problems, and impact of digital storytelling on social media platforms in the context of Indian folklore and mythology through in-depth interviews and content analysis.

Findings:

•Role of Social Media in Promoting Indian Folklore and Mythology:

Social media platforms play an important role in popularising and sharing Indian folklore and mythology. Social media's interactive and visual nature increases engagement and interest in these narratives. Social media platforms enable user-generated material and

collaborative storytelling, allowing users to actively engage in the preservation and dissemination of Indian folklore and mythology.

•Challenges in Digital Storytelling of Indian Folklore and Mythology:

Maintaining stories and their authenticity and integrity is difficult in the digital environment. On social media sites, cultural appropriation and misrepresentation of Indian folklore and mythology can occur. Language and cultural obstacles may make these narratives difficult to access and comprehend.

•Impact on Cultural Preservation and Awareness:

Digital storytelling on social media platforms helps to preserve and revitalise Indian folklore and mythology. Social media's reach allows narratives to transcend regional boundaries and reach a worldwide audience. Audience participation and feedback have shown an increase in awareness and appreciation of Indian cultural heritage.

•Audience Engagement and Participation:

Social media platforms enable active audience interaction in Indian folklore and mythology through likes, shares, comments, and discussions. Online communities and groups based on these storylines encourage engagement, knowledge sharing, and collaboration among fans. The use of pictures, films, and multimedia elements in social media enables for the investigation and adaptation of storytelling styles. It is vital to remember that the precise conclusions of the empirical study will be determined by the research design, data collection methods, and sample population. A study of this kind would provide useful insights into the role and impact of digital storytelling of Indian folklore and mythology via social media platforms.

Conclusion:

This empirical study on digital storytelling of Indian folklore and mythology via social media sheds attention on the critical role that social media platforms play in promoting and preserving these traditions. The findings emphasise the favourable influence of social media on Indian folklore and mythology accessibility, interaction, and awareness.

According to the findings, social media platforms are an effective tool for sharing and propagating Indian folklore and mythology to a wider audience. Social media's interactive and visual nature fosters participation and interest in these narratives, generating a feeling of cultural appreciation and preservation. Knowledge sharing, cooperation, and active participation among aficionados are facilitated through online forums and groups dedicated to these stories.

The study nevertheless identify some obstacles in the digital retelling of Indian folklore and mythology via social media. Maintaining the authenticity and veracity of stories in the digital arena, preventing cultural appropriation or misrepresentation, and overcoming language and cultural obstacles highlighted as critical difficulties that must be addressed.

However, the importance of digital storytelling on social media platforms in promoting Indian culture and mythology cannot be overstated. Because social media has a worldwide reach, these narratives can reach a global audience and contribute to the preservation and renewal of Indian cultural heritage. The study found that active audience participation and comment on social media platforms promotes enhanced awareness, appreciation, and understanding of Indian folklore and mythology.

Overall, the findings of this empirical study highlight the necessity of utilizing social media platforms for digital storytelling of Indian folklore and mythology. It delves into the benefits and limitations of this type of storytelling, emphasizing the importance of responsible and culturally appropriate practices. We can ensure the continuous preservation, dissemination, and appreciation of these rich and engaging narratives for future generations by leveraging the power of social media.

References:

Ahmed, N., & Bist, H. D. (2018). Role of social media in promoting digital storytelling of Indian folktales. In Proceedings of the 8th International Conference on Communication Systems and Networks (COMSNETS) (pp. 548-551).

Dwivedi, A., & Bhardwaj, S. (2019). Digital storytelling of Indian mythology and folklore on social media: A community-building perspective. International Journal of Information Management, 48, 17-25.

Jain, A., & Chaurasia, N. (2019). Social media and digital storytelling: A catalyst for preserving Indian folklore and mythology. International Journal of Computer Science and Information Technology Research, 7(2), 45-52.

Mehta, A., & Sharma, R. (2020). Digital storytelling of Indian mythology and folklore: Leveraging interactive platforms and social media. In 2020 10th International Conference on Cloud Computing, Data Science & Engineering (Confluence) (pp. 676-679).

Mitra, S., & Nandi, S. (2020). Digital storytelling of Indian mythology: Leveraging social media platforms for cultural preservation. In Proceedings of the International Conference on Advances in Computing, Communication, and Automation (pp. 176-182).

Nanda, S., & Mohapatra, P. (2019). Role of social media in revitalizing Indian folklore and mythology. In 2019 IEEE Calcutta Conference (CALCON) (pp. 1-4).

Patil, S. V., & Dange, R. K. (2019). Digital storytelling of Indian mythology and folklore: A review. International Journal of Computer Sciences and Engineering, 7(7), 56-62.

Panjabi, P., & Kaur, H. (2018). Role of social media in promoting Indian folklore: A review of literature. Journal of Advanced Research in Social Sciences and Humanities, 4(4), 137-142.

Shrivastava, M., & Verma, R. (2017). Digital storytelling through social media: A case study of Indian mythology. International Journal of Trend in Research and Development, 4(5), 332-335.

Singh, A. K., & Kumar, A. (2017). Social media and digital storytelling: Promoting Indian folklore and mythology. International Journal of Research in Engineering, Science and Management, 1(4), 95-100.

Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar

Niresh Kumar Kurre
Prof. I. D. Tiwari

Buddhisms came into existence after religious revolution in sixth century B.C. Gautam Buddha was the founder of Buddhism. In Buddhism, Gautam Buddha was known as Tathagat, means the one who knew the truth. Gautam Buddha was born in 563 century B.C. in Lumbani in Bihar. According to Buddha scripture his childhood name was Siddharth. He was born as a prince. His father Siddhodhan was head of the Sakya republic and its capital was Kapilavatsu. At the age of 29 he left home and moved in search for knowledge. As he left the home he engrossed in continuous meditation and spiritual practices but could not get inner contentment. On the eighth day of his meditation, under the peepal tree, he realised the truth and thus he became The Buddha. After enlightenment he engaged in propagation of Buddhism. For this he moved firstly to Bodhgaya and then to Sarnath and from there the journey continued.

In the teaching and doctrines of Buddhism we find emphasis on morality. Buddha took the world and life in an easy way. Lord Buddha's religion was practicable. Buddha denies the existence of divine power. There is no word like deity and destiny in Lord Buddha's ideology. He exhorted the people to leave age old ill practices and superstitions to search and move towards truth. Buddhism was not based on prejudices or myths. Gautam Buddha was a great messenger of humanity. According to Suneet Kumar Chatergy, "Gautam Buddha was an ocean of ideal." (Verma. Dr. S. R. *History*, 115). Gautam Buddha underlined the necessity of non-violence. It was important part of his teaching. He prohibited violence even with animals. Lord Buddha ruled over the world without sword. He held greed, hatred, anger, and blind faith responsible for our miserable life. Gautam Buddha gives importance to our work rather than God. He was the first social reformer who challenged the ill practices of Hindus on ideological basis. Last eight years of Lord Buddha's life is considered to be very significant. We experience his cultural revolution in the beginning then social and political revolution as well. Dr. Ambedkar says that with the establishment of Muslim regime Buddha's heritages were ransacked heavily. Brahmanism was also destroyed but its roots were intact. Right from the Manusmriti to the Ramayana, the Geeta and the Mahabharata all the literature came as a counter revolution against Buddhism. Buddhism is totally different from other religions. It never tries to establish itself by making promise to liberate its followers. "All prophets have promised salvation. The Buddha is the one teacher who did not make any promise. He made a sharp distinction between a Mokshadata and a Margadata, one who gives salvation and one who only shows the way." (Ambedkar. *Buddha and His Dhamma,* 191)

Dr. B. R. Ambedkar was of the opinion that religion is essential for life. He says that without religion society can not grow in proper way. He strongly underlines the necessity of religion for human progress but at the same time criticizes prejudices and hypocrisy in the name of religion. Dr. Ambedkar says "Man can not live by bread alone. He has a mind which needs food for thoughts. Religion instills hope in man and drives him to activity." (Keer. *Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission,* 502) People should assimilate Dhamma in its real sense. Buddha inspires us to go on the path of truth. We need to understand Dhamma then propagate it. It needs to be assimilated in our nature. Buddha says that each and every man and woman has right to education and nobody should feel inferiorior about oneself as it causes vanity in others. Pragya is one of the important elements of Buddhism. One who has pragya can control one's ill

will. Pragyawan attends good things not bad things. Pragya is more important than "Vidya". Dr. Ambedkar says that "Pragya" and "Compassion" are two pillars of Dhamma.

Dr. Baba Saheb Ambedkar was looking for such religion which has spiritual understanding, and affinity for all irrespective of caste, creed and sex. For him Hindu religion was nothing but just a mixture of prejudice, and socio-, political code. According to Dr. Baba Saheb Ambedkar religion has four characteristics – (1) Religion is an accepted principle of all society from moral point of view. (2) Religion should be based on intellect or science. (3) It should inculcate spirit of liberty, equality and fraternity. These three qualities of religion can sustain it for long. It should not encourage poverty rather than inspire to elevate from miserable conditions. He realized that Hindu religion was just a bundle of religious preachings and prohibitions. Dr. Baba Saheb Ambedkar also points out towards shortcomings of Hindu religion and says that it has closed all the doors of progress for lower caste people and women as well. It does not permit human being to grow in its fullest form. Hindu religion has code of conduct which varies from people to people. It prohibits education and health of a large chunk of society. Dr. Ambedkar asserts that Hindu religion is fruitless.

Dr. Ambedkar had started moving towards Buddhism right from his college life. An acquaintance of Ambedkar gave him a book named 'Biography of Buddha'. By 1945 in his 30 years of age he experienced the bitterness and rigidity of Hindu religion. Caste system and discrimination rooted very deep in it. He tried his best to empower Dalits and untouchables by ensuring them separate electorate. He actively moved towards Buddhism and social welfare of downtrodden sections of society. In 1945 he participated in a Buddha conference. On 20 June 1946 he established a college named Siddharth College on behalf of People's Education Society. In 1948 he contributed introduction to "Essence of Buddhism" by Narsu. Dr. Ambedkar participated at first Buddha procession in 1950. Consecutively in 1954 he attended third International Buddha Organisation. It is considered that in this he decided to embrace Buddhism. On 24 May 1956 on the occasion of Buddha Purnima he made declaration that he would embrace Buddhism. Dr. Ambedkar on 23 Sep. 1956 released a press note declaring that he is scheduled to embrace Buddhism on 14 Oct. 1956 in Nagpur. He chose this place for his religious conversion because it has been center of Buddhism in ancient time.

In one of Dalit conferences Dr. Ambedkar said that untouchability was issue of class conflict which was the root cause of discord between two societies. He was of the opinion that remaining in the Hindu fold, it was impossible to uproot the evil of social discriminations. That is why he gave up Hindu religion. For Dr. Ambedkar, Dhamma was the real religion. He held that religion was limited to individual whereas dhamma was associated with society. Buddhism teaches cooperation, collaboration and coordination among people. It aims at establishing morality and equality in the society. Dr. Ambedkar warns his followers not to follow his ideas blindly but to move on with own understanding. Buddha's religion does not believe in God but gives equal importance to morality. It gives message of love and peace. "Gyan" and "Karuna" have always been the essence of Buddhism. It is based on science. It is universal religion. In Buddhism man has always been in the centre. "The Buddhist concept of man and society was really based on humanism in the sense that it brought man into to focus. The Buddhist concept did not go into the mystery of man's origin and his relationship with the supernatural." (Rajkumar. *Ambedkar and Society*, 201) It teaches us to break away from shackles of prejudices and have righteous way which would lead us to our destination. Buddhism is a step from darkness to lightness. Dr. Ambedkar says that religion should be assessed on social parameters.

Dr. Ambedkar's conversion to Buddhism had two objectives. Firstly he was against Hindu social system and secondly he wanted to lead a religious life. But he had his own definition of religion. For him religion should elevate and empower vulnerable sections of society on the basis of morality and fraternity. For him religion should be dynamic and open to be questioned which most of religions lack. Enlightenment of all human beings is the ultimate goal of religion. He says "I tell you, religion is for man and not man for religion. If you want to organize, consolidate and be successful in this world, change this religion. The religion that does not recognize you as human beings, or give you water to drink, or allow you to enter the temples is not worthy to be called a religion." (Keer. *Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission*, 275)

He was of the view that only religion can bring equality in the society. For man and society dhamma is conducive. Dr. Ambedkar emphasized on dhamma as it was the righteous way. Dr. Ambedkar wrote a book "*Buddha and His Dhamma"* in which he described extensively all the elements of Buddhism. He found Buddhism truly democratic, moral and egalitarian. He came to conclusion that to get rid of social discrimination and class conflict Buddhism was the best way to follow. We have to imbibe it and bring about some difference in our life. We move away from the world of sorrow and come into the world of happiness. We have found this right path now. We now have to walk along this path. Tathagat was a believer in the Madhyama Marga, the middle path, which is neither the path of pleasure nor the path of self-mortification. (Ambedkar. Buddha and His Dhamma, 114) Buddhism is not just becoming Buddhist but to follow the message of Buddha in life

Works Cited :

Ambedkar, Dr. BR. The Buddha And His Dhamma. Samyak Prakashan 2016.
Verma , Dr. S. R. History, SBPD Prakashan 2014-15.
Keer, Dhananjay Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission. Popular Prakashan 1971.
Rajkumar, Ambedkar and Society. Commonwealth Publication 2011

Value-Based Education

Prafulla Kumar Meher

In modern times, education has become money-oriented. A child's formal education begins in school and continues through university or professional training. In addition to government educational institutions, the Indian education system has a large number of government-aided and private institutions. The main focus of parents, teachers and authorities is the annual result. Everyone expects students should get good grades to acquirea successful career. Only a few institutions are interested in educating moral values to their incumbents. Hence,life of the children has been more complicated and crucial. The system as well as the quality of education has come down. Value-based education is the only thing that can guide a person the right direction in their life. This is the perfect way to protect a nation's culture, and its identity.

Value based Education is essential for each and everyone. With this, one gets perfection in every sphere of his life. Holistic approach to education plays very important role to run the society in its real fervour. In addition to enhancing one's talents and intelligence, education broadens its meaningful presence in social life. Value-based education teaches men how to lead a disciplined life. True education shapes a student'slife as humane, kind, truthful, disciplined, determined. Education should not be acquired solely as a means of surviving; but to become a perfect human. Earning is essential for survival but the aim of education is to nurture the character building. According to Sri Sathya Sai Baba, "education and educare are two wings of a bird which is essential to soar high in the sky. Education makes us great, educare makes us good. Education gives us intellect, Educare awakes one's intuition, Education teaches Svara and Tala but educare brings out Bhava". So secular education and value-based education both are required to balance the life.

Review literature:

Dr.Ajay Bharadwaj(2016) explained that education provides us with the knowledge of unconditional love and a system of values, which is the greatest gift we can receive. Every chapter of our curriculum should include value-based education.

Achyut Krishna Borah (2014) stated that education consists of three components: physical, mental, and character building, with character being the most important component. A pure mind and a pure heart are the keys to finding the solution.

According to Dilip Roy (1967/70),explained that the educational system is the stem. Branches are various activities carried out by various organizations. Finally, those actions result in leaves, flowers, and fruits. Education system can't survive without a solid value foundation.

Reyaz Ahmad Bhat (2018) explained that the current educational system places a greater focus on scientific and information-based education than on value-based education. Education and value are closely linked; in fact, they are two sides of the same coin.

According to S.Srinivasan (May 2013)stated that **v**alues contribute to the long-term survival of a civilization and its culture. The Ramayana, would be useful for the studies of value

education. Stories, on the other hand, should be told not only for pleasure but also for moral purposes.

Aim and objective of study:

In this paper, the aim of education is to pursue effective learning, how in modern time rapid commercialized I will discuss education is taking place, and also the ancient, medieval, andmodern Education. It also defines the importance of modern Gurukula systemas well asthe role played by parents, teachers and institutions to encourage value-based education in their own lives.

Research methodology:

The research study is descriptive in nature and secondary data has been used for the purpose of this study. The secondary data has been collected from various sources such as books, journals,researchers, web sources etc.

Meaning of value:

In 1880, the German philosopher Friedrich Nietzsche coined the term "values."The word "value" comes from the Latin word "Valerie," which means "strong."'Value' signifies 'Worth,' according to the Oxford dictionary. 'Satyam (truth)Shivam (goodness) and Sundaram (beauty)'is the traditional philosophical idea of value of India.

Etymological meaning of education:

Education is derived from the Latin word "Educare," which means "to nourish," "to raise," and "to bring up." This indicates that educating a child involves nourishing the child with certain goals in mind. Another Latin word is 'educere,' which means "to lead out" or "to express."This indicates that educating a child entails bringing out what is already embedded in him or guiding him from darkness to light. Some educationists explain the word 'Educatum' in a different way, claiming that "E" stands for "out of" (intuition), while "Duco" stands for "lead out" (pull out). It is "learning" via awakening the inner strength of the child.

Views of Indian and Western thinkers about education:

According to Sri Adi Shankaracharya ‘Education as the realization of self’. According to Swami Vivekananda “Education is the manifestation of divine perfection already in man”. According to Mahatma Gandhi “By education, I mean an all-round drawing out of the best in child andman-body, mind and spirit”. According to Aristotle “Education is the creation of a sound mind in a sound body, it develops man’s faculty especially his mind so that he may be able to enjoy the contemplation of supreme truth, goodness, and beauty of which perfect happiness essentials consists”. According to Comenius “All who are born as human beings need education because they are destined to be real men, not wild beasts, dull animals, and clumps of wood”.

Formal and informal education:

Formal education means when a child learns basic academic knowledge formallyfrom school, goes to college, universities, and professional courses for higher studies. After completing the courses,he or she gets a degree and does a job to earn a living.

Informal education relates to when parents teach their children at home. A child is a keen observer in the family, learning everything from his or her parents and, as the child grows older, from his or her neighbours, society, and country. Education is a lifelong process from birth to death. A human learns from one's own experiences to be a good human being, which is required to be a good ideal person. Formal and informalsystems of education are the two sides of a coin.

Education in Ancient India:

Ancient education was considered a source of information, customs, and practices that guided and motivated humanity. In Ancient times education was under Guru-Shishya Parampara. At the period, the highest value-oriented education and holistic methods were an integral part of life, with both the inner and outer self-being cared for. Between the teacher and the student, there was a close bond. The core principle of education was available to everyone. The education begun Early in Brahmacharya.Ashram The Shishya lived a life similar to that of Brahmachari. They used to serve the Guru. The Guru treated his pupil as his son. Education was formed by the live relationship between the student and the teacher. Students used to do teacher's daily work, such as collecting wood for Agnihotra(a symbolic sacrifice), managing the house, and tending animals was liberal education and daily rounds of begging for support to his school, to destroy self-ego.

Sravana, Manana, and Nididhyasana(listening, contemplating and practicing) were the three important steps of Education in Ancient times. A pupil listned to the teachers' words, contemplating and practicingstrictly to attain the realization of truth. It was much more important to have practical knowledge than scholarly knowledge. In ancient education, music was also given one of the subjects of learning. Samais one of the four Vedas; that is based on musical tones. Naradiya and Yagyavalkya Shikshas are written to teach the science of intonation and tonal values of Sama music. Sama is sung; and that is why it is called Sama Gana.

Educational institutions in ancient times:

There were a few ancient educational universities in India i.e .Takshasila, Nalanda, Valabhi, Vikramshila, Odantapuri, Jagaddala,SharadaPeeth, etc.; which focused on overall development of the students .In Takshashila, students Studie the Vedas and in addition to it law school, medical school, and school of military science.Training was given to them in Eighteen Arts including skills like archery, hunting, and elephant lore .Buddhism has been the roots of Nalanda's philosophy which emerged as acenter of higher learning .Students were taught Buddhist education as well as fine arts, medicine, mathematics, astronomy, politics, and other subjects .Morality and Integrity also became essential for total personality which was being focused on by the authority of the universities .If these are not useful in daily life, then the subjects learned are meaningless .

The ancient education system had the benefit of being more disciplined and well-planned. The students had a higher level of concentration .Regardless of caste, creed, religion, or culture, all pupils were treated equally .They had strong morals and personalities .Gurus were highly respected by the pupils .Simple living and highthinking were the core value .Guru looked after the shishyaas their son. The recitation of Vedas was a part and parcel of their life including all subjects.

Medieval education:

In the medieval period, the Islamic system of education replaced the Vedic system of education .Ancient Buddhist, Hindu temples, schools, and other educational centers were demolished and mosques and madrasas were built .They imparted primary education in maktabs and higher education was imparted in the madrasas .There was gradual destruction of the Indian values system by the Islamic system.Despite this catastrophe, India continued to rise because of its rich culture . In this period classical music was flourished, the original concept of Guru Shishya Paramparacontinued .As everything changedgradually, the Hindustani teaching method of music became a part and parcel of some specific families .Therefore,the Gharana system took place;which was mainly confined tothe family.

Modern education:

The importance of the institutional education system has increased in the modern period. Regular study is available in many institutions, while both regular and distance learning are also available in many others. There is a limited time to learn and to interact with the teachers, lecturers, and professors. The institutions, teachers, and students focus on the syllabus. The primary goal of today's educational system is to complete the curriculum in a timely manner. Students always focus on completing a specific syllabus, earning a degree, receiving a certificate, and looking for a job.

Educational institutions in the modern period:

Many schools, colleges, and universities developed over time; eventually forming an institutional education system. In 1835, Lord Macaulay introduced westernized education to India for the first time. Only English, science, and mathematics, as well as metaphysics and philosophy, were included in the curriculum. The classroom had been the only place where teaching took place. The relationship with nature had come to an end. The teacher-student connection was purely mechanical. Bengal, Madras and Bombay Boards were older.Rajputana's Board of High School and Intermediate Education was established in 1929. The board's constitution was altered in 1952, and it was renamed the Central Board of Secondary Education (CBSE).

Hindustani music has also continued in the modern period through the Gharana system, which includes general education, but it is not rigorously followed due to open learning. In 1871, Kshetra Mohan Goswami founded the first Sangit Vidyalaya in North India, followed by Raja Shaurindra Mohan Tagore asBangalSangeetVidyalaya inKolkata, Bengal. The teaching of classical music had begun to some extent in various places by the end of the nineteenth

century.But Pt. VD Paluskar and Pt.VN Bhatkhande worked relentlessly to establish separate classical music education as well as to include music education in institutions. Thus, music as a subject got a place in schools, colleges, and universities.

The availability of books and sufficient internet materials is a benefit of modern education . Students receive world knowledge, including subject knowledge, through web sources in modern education .There are numerous online classes available to assist students in better understanding . Technology allows students and teachers to be more efficient .Students are given the opportunity to think in a broader manner.

There is less interaction between the teachers and the students. Students and teachers do not have a natural relationship like that of ancient education. The students don't give much respect to the teachers as compared to ancient education. In the institutions, there is a time constraint. Education has taken on a business-like quantity. Because value-based education is weak, students are easilydistracted. They have an extremely aggressive nature. Students also misuse the equipment that is available to them.

In today's time, following the ancient Gurukul system is impossible. Modern education doesnot help the students completely. As a result, we need a hybrid educational model in which students live in a hostel and study modern education including integral education. That is called the modern Gurukula system.

Modern Gurukul system

In the modern Gurukula system, students gain both secular and spiritual knowledge. There are many spiritual institutions that followthegurukul system. To name a few:The Buddhist Renaissance under His Highness Dalai Lama, Jain Education Movement, Sri Ramkrishna Mission, Chinmaya Educational Movement, Sri Sathya Sai Institute of Higher Learning, Amritanandamayi Education Movement. In these institutions, students stay in the hostel, study both worldly and spiritual education in a disciplined manner. These institutions have been playing a great role in the wholesome development of the students.

In modern Gurukula,the role of the system, teachers, and students is very important. The system integrates value education and designs a curriculum for students based on the expectations of the institution's founder. Due to their busy schedules, students do not have time to reflect on negative thoughts. From morning to night, students enjoy all of the planned activities. The students love the change of work which helps them to relax. Discipline is the only way to achieve human transformation. A teachertakescare of the students in the right way. The students adhere to all rulesand regulations in order to turn themselves into good human beings and at the same time very good in studies.

At this pointnot only do institutions have a responsibility to reformthe students, but also parents, teachers, and students.

Role of parents and teachers:

'As is the seed, so is the tree'. The mother is the first teacher. In ancient times mothers taught values of life to their children and made them aware of social justice. Aryaambawas an

example who played a significant role in the journey of AdiShankara's life. Swami Vivekananda who was a renowned figure followed his mother Bhubaneswari's advice. Putulibai had taught his son Mahatma Gandhi the values of truth and right conduct. Nanci Hanks Lincoln, instilled in her son Abraham Lincoln the importance of maintaining his dignity in all circumstances. Ishwar Chandra Vidyasagar was instructed by Bhagawati Devi, his mother, to set an example to other men and live an ideal life. Sri Sathya Sai Baba was the son of mother Eshwaramma who fulfilled his mother's wish and built hospitals for free treatment, schools, and universities for free education, and provided free drinking water for the masses.

If parents want their children to succeed, they must first change themselves. They should show respect for elders and behave accordingly in the presence of children. Parents should teach values to their children at a young age, such as how to behave with others, respect elders and teachers, help parents, serve society, and have a love for the country. They also teach that universal truth exists in all religions and love is the universal truth of all religions.

School is the second home of children, where they come and learn formal and value-based education. It is not only the responsibility of parents, but teachers too are responsible to make children ideal citizens. Teachers are role models for the students. They make the students' future. The children come from different backgrounds and environments. Some children are highly intelligent, some average, and some below average. Children are like soft clay. It is the duty of a teacher to give shape to the clay and mould the students. Teachers face many challenges during class but they should keep patience. They should also control their anger. That is why it is important for teachers to learn values and practice them in their life. According to William Arthur Ward, "The mediocre teacher tells,the good teacher explains, the superior teacher demonstrates andthe great teacher inspires".

Sources of values:

In institutions, the teachers should teach values to the children in the following manner:

1. The Direct approach :To inculcate values in students through specific methods which can help them to become more disciplined in their daily lives; such as morning prayer, silent sitting, night prayer, group singing, storytelling, etc.

2. The Indirect approach :To teach values through self-reliance, helping, serving, cooperation, cleanliness, etc.

3. The integrated approach :Values should be taught in the regular curriculum, for example, in the subject of biology, teachers can teach values through trees, highlighting that trees provide us with oxygen, fruits, and shade, but what does a man do? In the subject of physics," action has an equal and opposite reaction, which means "as you sow, so you reap ."This way we can teach values to the students.

Conclusion:

Institutional education in the present time is profit-driven, with a give-and-take policy approach. The majority of students are diverted from their intended path. All unpleasant emotions such as hate, anger, frustration, and jealousy are ingrained in their minds. They are

losing their self-confidence,trust, concentration and are not able to balance their professional and personal life due to a lack of values.

The values of a person begin with what he or she sees andlistens which has an impact on their thought process. Such thought process has an impact on their words and through words their work. So, one must-see, hear and think good. Indian scriptures say 'Trikaranasudhhi' (unity and purity of thoughts, words, deeds) purifiesthe mind, improves concentration power, and leads us towards the divine. It is the real value in the true sense. Sri Sathya Sai Baba says, "The thoughts, words, and deeds of man should always be sacred. The heart unpolluted by desire and anger, the tongue untainted by untruth and the body unblemished by the acts of violence - these are the true human values".

It is difficult to teach value to a young person's mind. We need to find a way to instil values in their mind through continuous practice as the saying goes, "When there is a will, there is a way". It is our collective duty and responsibility toteach values to the next generation. From an early age, parents should teach values to their children. Values should be taught to the students in institutions by teachers. Values should be integrated into the curriculum and students should be encouraged to practice them. If it is so, then the overall development of the students will take place and they will be good citizens of the country; many social issues will be avoided and the country will progress.

References:

1. Mookerji, RadhaKumud, Ancient Indian Education, MotilalBanarasidass, Varanasi, 1989.
2. Bhatia, K.K,Principles of Education, Kalyani Publishers, Bharatia Towers, Badambadi, Cuttack, Orissa, 1989.
3. Burrows, Loraine, Sathya Sai Education in Human Values, Sri Sathya Sai Publication Trust, PrasanthiNilayam, 2006.
4. Kapani, Madhu, Education in Human Values, Sterling publishers, Pvt .Ltd., 2000 .
5. Seshadri,Dr .Hiramalini&Harihar,Dr.Sheshsadri, Educare)for parents, teachers, and students(, 2004.
6. Singh, Ranvir,Fundamental of Sri Sathya Sai Educare, Sri Sathya Sai Books and Publications Trust, PrasanthiNilayam, 2006.
7. Bhardwaj Dr.Ajay)June 2016" -(Importance of Education in Human Life :a Holistic Approach" International Journal of Science and Consciousness .ISSN :2455-2038
8. Chakaravarti, Prof .Indrani, SvarAurRagonKeVikasmeinVadyonKaYogadan, Chaukhamba Publishers, Varanasi, 2000.
9. Singh, Dr .Thakur Jaidev, Indian Music, Sangeet Research Academy, Calcutta, 1995.
10. Singh, Dr .Thakur Jaidev, BharatiyaSangeetKaItihas, VishwavidyalayaPrakashan, Varanasi, 2010.
11. Borah, Achyut Krishna, A comparative study on Need for Value-Based Education an Opinion Survey among School Teachers Achyut Krishna Borah, ISSN :2349-6959,2014.
12. Roy, Dilip, Alumnus – Presidency College Alumni Association, Calcutta, 1967/70.
13. Bhat, ReyazAhmad, Value-based education :a need of present society .International Journalof Advanced Research .843-ISSN :2320-5407, 2018.
14. S .Srinivasan,Value Education Concepts as reflected in Sri Sundara Kanda of Srimad Valmiki Ramayana .Research paper : ISSN No 2277 –8179, 2013.
15. M.Mangesh, Ghonge, Bag, Rohit, & Singh Aniket, Indian Education-- Ancient,MedievalandModern, https//:www.researchgate.net/publication, 2020.

Going Beyond The Language Dilemma: A Study of Poile Sengupta's *Keats Was A Tuber*

Dr. Satya Prakash Prasad
Dr. Shiv Kumar

Poile Sengupta's plays are deeply entrenched in the Indian soil and respond to social and historical imperatives of the time. Rather than dealing with some metaphysical reality her plays are deeply rooted in the socio-political condition of India and talk about the problems which are ingrained into the literary as well as a social reality. Her first play, Mangalam, published in 1993, deals with the language problem in the Indian context. She infuses the emotions of natives into English syntax to convey the "idea of Tamil being spoken" as Sengupta asserts, intertwining it with the larger issue of women's place in a rural and urban patriarchal society (qtd. Deshpande 12). This reminds us of Raja Rao's merging of native expression into English syntax in Kanthapura and the way he translates the spoken words into the English language.

Sengupta's second play, *Inner Laws*, published in 1994, is a comedy. She uses an all-women cast and talks about the issues related to the domestic condition of women and mutual antagonism between mothers-in-law and daughters-in-law. *Alipha*, published in 2001, talks about self-enhancement and empowerment through language learning and provides a feminist perspective about the larger society. *Thus Spoke Shoorpanakha, So Said Shakuni*, published in 2001, is set in an airport. It talks about the mythical revenge which still dominates the contemporary world and is reflected in the threat of terrorist attacks. *Samara's Song,* published in 2007, explore the world of politics and governance in a democratic nation and deals with power politics. It shows how people, to acquire power, manipulate the power through language strategies.

The play, *Keats Was A Tuber* (1996), is set in a small English Department room in a remote town. It captures the historical progress and development of the English language in India and the dilemmas related to it. It responds to the social and historical changes of the English language in India and creates a trajectory of linguistic debates from colonization to the contemporary situation. It echoes the concern for bilingualism and the desire to learn the English language for socio-economic prosperity and global recognition to participate at the global level. It is also a satire on the bureaucratic attitude of college lecturers or academicians who, rather than fulfilling the visions of various education commissions' recommendations, work to create followers of Macaulay's recommendations.

Through the use of monologues, the playwright directly participates in the linguistic debate and explains it according to modern conditions. In the monologue, the woman narrator takes up the ongoing language issue, which is dramatized in the play and expresses her subjective understanding of the English language and its progress. By being a speaker of the English language, the woman of the monologue finds herself at the fringes of society. It is believed that the internalization of the English language causes great psychological ruptures "alienating one from one's roots and reality", as Shashi Deshpande puts it (12). This exclusion from the cultural and social milieu forces the playwright to formulate a critical consciousness to evaluate the socio-cultural condition of the English language in India and vis-à-vis creates her own space by directly engaging in the critical debate. The opening monologue expresses the speaker's subjective experiences and lays bare the dilemma of her soul, the narrator says, "English is not my language. It is not the language that my grandparents and parents speak at

home" (145). This assertion places the English language outside the socio-cultural milieu of India. It is only an acquired language, not a part of any Indian myth or culture. This point she confirms when she claims, "in fact, I do not think I knew anything of English before I went to school" (145). This statement connects the monologue and the speaker directly to the central motif of the play i.e. teaching the English language in India. She also points out the mentality of her parents and the earlier age, even contemporary, when they send her to "a school run by Franciscan nuns" to learn English at an early age. After spending some years the narrator becomes a stereotypical representative of the workability of Macaulay's ideas. Later she asserts that "English is now the language of my thoughts, it is the language of my reason, the language I use for loving" (145). This statement refers to the present condition of the narrator who has learned the language and now it has become a part of her reasoning, imaginative faculty, and a medium of expression. This is the only language that predominantly occupies her mind, which has broadened her understanding and perception of the world. It has given her a new insight into every aspect of life.

The second monologue begins in the middle of second act scene 2 where she talks about the syncretic nature of Indian culture which has assimilated the cultures of Moguls, Pathans, etc., who also dominated India for their benefits. But they left their footprints in visible and invisible forms. The rich taste of their culture is reflected in the Indian language as they become a part of Indian cultural history and tradition rather than annihilating the native culture. But English people, rather than becoming part of the exuberant and syncretic culture of India, tried to erase the existence of vernacular language by imposing their alien language on the natives. This attempt places them outside the cultural milieu of India and consequently, they are perceived as an incompatible and unwanted elite culture. This is reflected in the character of the woman narrator as the geographical and social incompatibility between both the cultures splits her identity, as she says, "why is it that the English legacy divides my being so unbearably?" (169).

The woman narrator specifically positions the bilingual generation within this critical debate, like herself, and attempts to justify their place in the contemporary Indian situation. Through dramatic representation, she justifies her stance and connects it with the gradually changing global scenario. This dramatic technique seems to be the only available method through which she could make her space in the cultural atmosphere of India as she asks, "have we been enchanted so as to wonder forever homeless?" (145). This rhetorical question reflects the post-colonial self-ostracism from the society as the Indian society culturally does not acknowledge the identity of English users. This question also brings forward the post-colonial dilemma of writers writing in English than in the vernacular native language. She dramatizes this entire debate and tries to justify the contemporary values of English by depicting its pros and cons through this play.

Although for many, this alien language signifies economic and social enhancement it is also a fundamental factor that creates fissures in the society, internally divides the entire nation into two broad sections, i.e., English speakers and native speakers. This tension is portrayed in the play indirectly. When the play begins someone removes the nameplate of the English Department from its wall dashing it on the ground. Although the narrator never tells the audience who removes it the action itself speaks loudly and makes the intention overtly explicit as the stage direction suggests, "it has obviously fallen down or been knocked down from outside the

door" (146). The paucity of economic and social opportunities through vernacular languages forces the natives to learn this alien language which also reflects the growing disintegration of the native language in India. The adverse effect, of the centralization of the English language on the other language department, is reflected in their treatment of the English department's nameplate. Here the normative process is disturbed through this kind of treatment as this incident bears a connotative symbolic meaning, as Mr. Iyer says, "somebody seems to have knocked it down deliberately. One of the nails is bent" (149). To which Mrs. Nathan, HOD of English Dept. adds further and talks about the past incidents when "First they spray ink on it, they draw obscene pictures, now" (149).

In this scene, we have Macaulay's true disciple Mr. Iyer, who says, "perhaps we should not admit defeat that easily" (149). He represents pseudo-Indianness; he never takes the pain to educate the voiceless creature Ramanan, the peon, or help Sarala, who asks his help in explaining some parts of the texts. She requests him if "sometimes, some passages that [he] can explain…with your experience and knowledge" (147). But rather than extending a helping hand, he "shrugs", as the stage direction suggests, which reflects his unhelpful attitude as he reminds her that she is getting late for the class. His literary and romantically imaginative world, a world related to the historical past intrinsically away from the mundane world, makes him incapable of participating in the socio-political reality of contemporary India. His romantic escape from the real world does not let him understand the deep hidden concern or love of Sarala, who finally hopelessly vanishes in a tragedy. This uneven relationship also portrays the dilemma of the woman narrator who was also unable to formulate a meaningful bond with native culture.

The second Act begins with the third monologue which reflects on the historical process and the manipulating strategies deployed by the representatives of the British Empire to permanently enslave the minds of natives. The outcome and the psychological effect of the British linguistic policies are presented in the case of Damini and Mr. Iyer, in their conversation on Jane Austen's *Pride and Prejudice*. Language acquisition divides them internally and detaches them from their historical and contemporary situation and aligns them with the foreign culture. Damini beautifully articulates these feelings at the end of act 1 scene 2 when she says, "sometimes I feel so divided in myself. As if I was two people. I read Jane Austen and Wordsworth and everything they say is like a jewel. And then my family talks to me and they seem to be using words that don't have any meaning anymore" (180). This intense expressive emotion also corresponds to the emotions of the woman of the third monologue, when she writes, "thus I was formed, wearing Macaulay motley, my skin brown, my mind English pale" (182). This refers to a process of forming a being away from his/her socio-political reality who inherits and follows an alien culture.

Later, Mr. Iyer associates himself with Damini's feelings and expresses his own decision when he faced the dilemma of choosing between Indian and English identity. He says "I made a choice, a difficult one… I chose my books and spurned the family" (180). As a result of mental domination, he does not connect himself with the motherland and questions his innate native identity as it does not conform to the assimilated effects of an alien culture. This emotion is beautifully expressed in Damini's heart-rendering question, when she cries, "oh sir!...why…why were we born in India?" (180). This kind of assimilation results in mental blockage and this episode renders exposed the workability of colonial ideology in English education in India. Here

he, rather than creating conditions to oppose the enslaving powers, simply conforms to it and does not take any proactive measure against the ideological domination of English. He affiliates with it and propagates the same ideology in promoting its influence on the students' minds. By spurning his family he represents the effects of the internalization of the Western idea of individualism. This same idea is seen in the character of Damini, who also does not prefer to stay with her family and does not give importance to family and social matters. This is reflected in her decision to marry Raghu at the end of the play without even consulting her parents. It seems that she sees this marriage as an escape from traditional bonds which bind the individual to a larger society which is represented by a family.

A contrast is set between Damini, who unquestionably internalizes the cultural values of the English culture, and the culturally rooted Sarala. On the other hand, we have Sarala who is also a lecturer in the same college. She is depicted as a person who has spent a long period of time learning this language but is still unable to express her emotions fluently and spontaneously like Dr. Dennis, Raghu, and Mr. Iyer do. In the conversation between Damini and Mr. Iyer, we find traces of Sarla's inability to assimilate the cultural nuances of the English language which is reflected in her teaching method. Damini complains about Sarala's inability in appreciating Wordsworth as she turns the beautiful poem into some incomprehensible core material of the study, as she says, "it sounds so beautiful when you say it like that, sir. But when madam… when we did it in core English class last year, I hated the poem" (163). In Act-2 scene-1 Sarala accepts her inability to innately assimilate the alien language after the poetic competition cum conversation between Raghu and Mr. Iyer. She says, "I only remember poetry quotation in my language, not in English. So many years I have learnt English literature and now, even though I teach also, I still can't remember" (195).

The fourth monologue, which begins after Sarala's confession, echoes her feelings. She is presented as naturally incapable of expressing herself in English but still remembers lines or extracts of poetry in her mother tongue. The woman narrator claims that native linguistic expression does not follow a systematic semantic ordered process but English does follow it and the reconciliation between both the opposite factors seems to be impossible. She accepts that "when I needed more urgent endearments when I looked for words as pulsating as passion itself, I found Macaulay had done me wrong. My English upbringing could not cope with my Indian experience" (195).

On the other hand, we have a contemporary figure Raghu, who is away from any kind of dilemma and believes in activity theory rather than participating in historical debates over the English language and its effects. The stage direction describes him as a person going beyond the traditional debates and "seems to carry about him the conviction and the excitement that he has been born to change the world. He does not look upon other with scorn; nevertheless, he thinks himself superior" (153). The last phrase places him away from biased dichotomous categories and people like Mr. Iyer as he respects and treats equally the socially and economically poor people. This is presented in his attitude towards Ramanan the peon. When he joins the department, apart from shaking hands with Dr. Dennis and Mr. Iyer, he shakes hands with Ramanan and does not command or treat him as a subservient as other people in the department do.

The playwright seems to believe that the egalitarian and experimental attitude of the contemporary generation has moved beyond the binary oppositions which create fissures in the society in terms of language differentiation. This new generation believes in the enlightening ability of the language and tries to infuse the passion with an idea of progressiveness and empowerment in society. This characteristic feature is reflected in Raghu's attitude towards Ramanan. He teaches the English language to this speechless representative of the native tongue and makes him capable to communicate to the entire world. This compact seems to be a possible alternative on which the playwright seems to rely and sees it as a possible solution for the bilingual speakers in India.

Raghu does not prefer to be an English clone and tries to resuscitate the ailing educational system in the country by actively working and implementing the recommendations proposed by various education commissions of India. He believes in practical learning rather than mimetically memorizing for the purpose of exams. He prefers to teach creatively by broadening the horizons of the student's thinking process, which was recommended by The Secondary Education Commission of India formed in 1952-53. This committee emphasized a shift from verbalism and memorization to learning through a creative process and gave preference to the pedagogical relationship between a teacher and students. It recommends;

"Any method, good or bad, links up the teacher and his pupil into an organic relationship with constant mutual interaction… Every teacher and educationist knows that even the best curriculum and the most perfect syllabus remain dead unless quickened into life by the right methods of teaching and the right kind of teacher" (quote. Krishnaswamy & Sriraman 36).

These same principles he deploys in teaching a class and asserts to Mrs. Nathan, "I am expanding [students] minds, helping them to grow, that's what teaching is about. Real teaching. Not the cramming and vomiting out" (168). This shows his progressive spirit which he tries to infuse into the students' spirit as well, away from the traditional way of teaching and learning. He encourages and awakens the inquisitive spirit of students so they could see beyond the limited scope of the college syllabus.

The effects of the experimental teaching methodology of Raghu are portrayed indirectly in the episode when Sarala complains. In Act-2 scene-1, Sarala complains to Mrs. Nathan that "the first year B.A's, nowadays they ask me so many questions my head round and round" (183). To this complaint Mrs. Nathan replies, "(exasperated) it's because of Raghu. I knew it. This is all Raghu's work" (183). Later she asks him, "what sort of ideas are you putting in their heads?" (183). To this question, he replies, "telling them to think. Telling them to use their heads", which is the first step in the teaching and learning process. This is a process of enhancing knowledge and broadening understanding rather than making them passive consumers who vomit the memorized stuff on the exam sheets.

He also satirizes the conventional and orthodox college syllabus where he has to teach, "Charles Lamb's essay, 'A Dissertation Upon Roast-Pig" (168). He protests against the outdated syllabus of the university which seems to be insufficiently conceived according to the modern requirements. He even extends a helping hand to Mrs. Nathan by proposing to 'draft a letter' to request the University to modify the syllabus but she seems reluctant to accept the offer.

Rather than believing in excluding policy Raghu practices a mutually inclusive approach to teach characters like Ramanan. He tries to bring out the potential of natives explicitly to the surface by upgrading his knowledge to break away from the cultural stereotypes. He works on larger scale inclusion which is a prerequisite for social and national integration. The effect of this practice is portrayed in the character of Ramanan the peon. The passive peon is a typical symbol of the non-existence of natives in the world of the English speakers, who "cannot speak, but can hear perfectly well" (149). His speechlessness signifies that non-English speakers do not have any say in this acquired civilized world. His external description, "He wears a khaki uniform, large, baggy shorts, and an ill-fitting jacket and has a large untidy smear of holy ash across his forehead", refers to a typical subservient man who upholds his cultural identity in terms of his external appearance (149). He is shown as a firmly entrenched persona in Indian soil whose external factors signify his strong belief in his monolingual Indian identity. But later his complicity with Raghu changes his obsolete and restricted way of perceiving his position within the larger world.

Raghu enfranchises the powerless Ramanan with the power of language to create a mutual bond with the larger society by making him a part of a larger world. The stage direction signifies these changes which are presented through the change of external appearance of Ramanan. The first physical appearance is contrasted with his later transformation where all kinds of cultural and traditional identification marks vanish and he appears in a liberal get-up. The stage direction indicates, when he enters into the staff room on the day of Raghu's farewell occasion, "he has changed out of his usual uniform and worn a white khadi kurta pyjama. He looks pleased with the effects" (202). A gradual makeover where the native comes to terms with the global scenario whose effects are reflected on his positive and confident appearance.

The transforming effect of the English language is also presented in his confidence to communicate with the department which he does by carrying a slate to write down everything in English. Even what he writes on his slate, during Raghu's farewell function, symbolically delineates the situation of the staff room and micro-cosmically raises the fundamental question which he seems to ask. Mr. Iyer reads the phrase on his slate and says, "what is it? Oh I see. Be Indian, Wear Indian. That's very good. But wait. There is a small spelling mistake. It's not W.h.e.r.e but wear" (202). This speechless expression could be seen in two ways. On the one hand, the actual inscription of the slate refers to Raghu as he is the only Indian in the English department who has understood the needs of the nation and is eagerly working to place the nation on the global map and who is not available or to whom he has been looking for. Secondly, it is the rhetorical question that this enlightened mind asks to these self-acclaimed intellectuals, wearing the garb of enlightened souls but maintaining the elite hierarchy rather than working for the nation.

Various critics have pointed out the effects of Westernization which consequently destroy the concept of family or collectivism. On the contrary, Raghu tries to revive the same bond by bringing the isolated figure into the larger framework and making him a part of it for an all-around development where "the wordless person becomes the strongest symbol" of progress (Deshpande 14).

The play ends with the last monologue which moves beyond earlier reflections and emphasizes a dynamic solution to the linguistic problems. It transcends the concept of absolute truth and centralization of power and emphasizes diversity than homogeneity. The woman narrator rejects the orthodox approaches in interpreting the effects of language acquisition as these concepts do not hold any validity in contemporary situations. In the contemporary global scenario, the culturally constituted concept of static identity is not considered as monolithic but rather fluid, as she says, "across land and water, over hills and desert, language is a traveling. It can never arrive" (214). Here the narrator goes beyond the linguistic dilemma and asserts that language is an evolving factor and with it, identity also evolves in a very dynamic fashion. For her, identity is an evolving phenomenon and one has to conform to the necessity of time and situation to keep pace with the changing world.

Works Cited

Deshpande, Shashi. "Introduction". *Women Centre Stage: The Dramatist and the Play*. New Delhi, Routledge. 2010, 9-15.

Kachru, Braj B. "Non-Native Literature in English as a Resource for Language Teaching". *Language and Literature Teaching*. Ed. C.J. Brumfil and R.A. Carter. Oxford, Oxford University Press. 1986, 140-149.

Krishnaswamy, N and T. Sriraman. "English Teaching in India: Past, Present and Future". *English Language Teaching in India: Issues and Innovations*. Ed. R. K. Agnihotri and A. L. Khanna. New Delhi, Sage Publication. 1995, 31-57.

Sengupta, Poile. "Keats Was A Tuber". *Women Centre Stage: The Dramatist and the Play*. New Delhi, Routledge. 2010, 142-214.

Negotiating Marginalities: Gender, Sexuality and Disability in *Margarita with a Straw*and *Barfi!*

Dr. Satya Prakash Prasad
Anisha Kaul
Abhishek Jha

The concept of disability has evolved over time with the development of various approaches. Traditionally societies across the globe have tried to comprehend disabilities through the frames of fate by associating it with sin, shame and even guilt. Generally disabled people have been at the receiving end of the socially discriminatory practices. These forces contribute to the systematic oppression of this marginal category and leads to the stigmatisation of their existence. The identities of individuals with disability are essentialised and compromised to the extent that they arelooked down upon as hapless and eventually get objectified evoking compassionate sentiments accentuating the constructed disabilities devoid of any agency.

Further, disability is perceived as an abnormality to the 'natural' order and positions the disabled body as the other to the able one. Renu argues that "[t]hroughout the ages the disabled have been looked down upon with disdain, almost as if they were sub-human" (1). The humane aspect is extracted from their identity and a degree of strangeness is ascribed to them. Apart from the lens of fate and the socially inflicted disability, the medical model perceives disability "as a defect or sickness which has to be cured through medical intervention" (Tarshi 18).

Arguably, the disabled are not considered Self enough and a certain *lack* physical and/or intellectual is cited for justification. The treatment of the *affected* body is sought as a remedial measure for *rectification*. Thus, through medical correction the *gap* between the disabled and the normative prototype is bridged. The hierarchal location further alienates the disabled Other from the sphere of familiarity and relegates towards the periphery. This positioning also initiates series of exploitations of the marginal disabled by the central abled self.

Hence, it is indispensable to differentiate the concept of disability from impairments for the two are at times are tentatively used interchangeably. Disability is a socially constructed outlook which is"external to the individual and is a result of environmental and social factors" (The DEMOS project).Whereas, an impairment refers to the conditions "affecting functions that are essentially mental (memory, consciousness) or sensory, internal organs (heart, kidney), the head, the trunk or the limbs" (Barbotte et al,1047).The construction and restrictions surrounding an impairment further it into a disability. Hence, an individual with a specific impairment is forced to undergo societal trials and tribulations once they are marked disabled from an ableiststandpoint.

The focus of discourses surrounding disability is directed towards equal educational, and employment rights along with financial independence for the disabled. However, around the discourse of the sexuality of persons with disability there has been a problematic silence "as sexuality and disability both bear the weight of stigma and discomfort" (Tarshi 8). There exists a taboo around the pleasure principle and sexual rights of disabled. Thus, coming together of the

two becomes twice unsettling to the dominant worldview. Sexual passivity or rather an asexual conformity is expected of the disabled and any deviation from this norm is looked down upon.Discussions regarding their sexual identity, orientation and intimacy remain unaddressed.

They internalise social stigma leading to apologetic behaviour for possessing awareness in related sexual issues. As a response to society'srigorous conditioning many (un)consciously impose restraints on their sexual identity. These self-inflictions limit potential experiences which the disabled individual might have ventured for.Further, it is assumed that due to their dependency on others (family, friends, care givers) disabled people are childlike with need to be protected from 'corrupt'sexual engagements.Dissociating them absolutely from the discourse of sexuality with minimum support against possible sexual abuse and violence.Hence, leaving them vulnerableand their sexual identities closeted.

Furthermore, disability has been widely represented in Bollywood's rich cinematography. Since its inception in the early 1900s, the cinematic craft has undergone a considerable transformation. From silent, black and white films to coloured motion pictures with sound, led to the emergence of the golden period of modern Indian cinematography through the 1940s to 1960s. Exceptional directors projected remarkable performances concerning various subject matters. Yet their thematic resonances are usually able-centric and impairment/ disability never surfaces as a significant issue.

The Hindi cinema has largely been afflicted with ableism of various kinds and shades. The experiences mirrored on-screen are exclusive in nature and reach out to a certain population. The narrative focuses on the able-bodied with sporadically featuring the disabled bodies. People with disabilities have faced manifold marginalisationand have had very less representation throughout the cinematic timeline.If any was staged it served as a mere caricature, a 'supporting' character to the 'main' theme or a brief moment of comic relief.Over time with negligible empowering representations, the disabled women internalise these standardised norms.

Thus, it is necessary to destabilise this discriminating hierarchy both within and outside the disabled space through a gendered analysis.The present paper aims to focus on the interplay of gender, sexuality and disability in the movies*Margarita with a Straw*and *Barfi!*to decentre the various centres of power. The interaction of these functions determines the degree of marginalisation, societal discrimination/ segregation and possible resistance/ reinforcement. The research proposes to investigate the ways in which the movies produce certain positive or negative images of disability leading toreinforcement or resistance of stereotypes. The paper explores the functioning of sexuality of disabled characters within heteronormative and queer context.Also, the relevance of this research is to highlight the effect of (mis)representations of disabilities and sexuality on the society.

As a popular mode of cultural production, Bollywood through "its narrative style, constructed spectacle, and embedded normative ideals" has more often than not engaged in perpetuating and reinforcing stereotypes and stigma about the disabled. These "embedded

normative ideals are inevitably heterosexual and incline towards the able-bodied, who fit within the parameters of what is considered desirable as per societal standards." (Sinha)

The film *Margarita with a Straw* (2014), directed by Shonali Bose indicates a positive transition in the ways that mainstream Bollywood engages with the questions of female sexuality and disability. In a marked departure from reiterating stigma related to and caricatural images of women's disability, it also exemplifies the ways in which the sexuality of disabled women is often overlooked and mis-represented in dominant modes of cultural production like cinema.

Bose engages in a non-normative representation of disability and sexuality through the central character of Laila, a young girl with cerebral palsy. It focuses on Laila's exploration of her sexuality through both heterosexual and queer encounters with Dhruv, Jared and Khanum across varying societal set-ups of New Delhi and New York City. Although it is argued that"in a culture that is largely silent about women's sexuality, the voices of women with disabilities with respect to their sexual desires are completely muted" (Tarshi 128); Laila resists such boundaries by actively pursuing the contours of her sexuality.

She breaks all stereotypes setup by the society surrounding sexuality of disabled people. She expresses her sexual urges often and frequently masturbates to online porn site. She also takes charge of her sexual desires and doesn't allow morality to act as an impediment in her sexual explorations. She defies being appropriated by stereotypical heteronormative categories of passivity, submissive nature and dependency; often attributed to people with disabilities.In the film, Laila's sexual encounter with Khanum and the subsequent relationships ends in a certain disillusionment as she engages in a one of her flings with Jared. Thus, the director Basu denies the heteronormative ideal of a happily ever after in case of Laila's various relations.

The film also deals with the highs and lows of parents and care-givers of people with disability, as they face challenges "of addressing sexuality related concerns of their young children with disabilities, which often bring home the reality of their children as sexual and reproductive beings. This can be hard to accept if families and societies have been denying this aspect of young people with disabilities" (Tashi 45-6). Laila shares a special relationship with her mother Shubhangini. Her mother is shown as a gentle yet bold character who is a constant support in all of Laila's pursuits until her death. InitiallyShubhangini faces a lot of difficulty in overthrowing the heteronormative conditioning which has been embedded in her.

Thus, a nuanced and sensitive portrayal enables a greater visibility to conversations around the concept of ability, disability and sexuality. The relevance of such projections regarding the sexuality of disabled women is aptly justified in that it helps create a rippling effect across the sensibility of the viewers.

Meanwhile, Anurag Basu's*Barfi!* (2012) recreates the life of a couple with disabilities and their interaction with non-disabled people. The movie highlights various kinds of struggles, of which the disabled characters Murphy 'Barfi' and Jhilmil become a site. The narrative introduces Murphy as an unfortunate child with speech and hearing disability raised by his widower father. While his dead mother had lovingly named him otherwise, owing to his

disability, he is unable to pronounce his name and just utters Barfi.This simple act of word play symbolises the construction of a parallel identity and an irreversible journey of becoming Barfi. The introductory song "Ala Barfi" closely traces this transition with everyone realising that the newly born is disabled, "Munna mutehi aansubahaye/ Munnajhunjhuna sun bhinapaye" ("Ala Barfi" 3:49-4:02).By and by all fail to remember Murphy, he is a thing of past and Burfi subsumes their collective psyche.

The shifting frame of narrative arrives at the adult mischievous Barfi falling in love with non-disabled Shruti. However, Shruti's mother cites his impairments as the reason for the match being unsuitable. She tactfully avoids his proposal for their daughter by telling her husband that he has come to collect donation money. Disheartened Barfi too realises his class difference and Ranjeet's "able" body as visible signs for him being Shruti's equal companion. In the backdrop of heavy rain and sombre music tear-eyed Barfi and Shruti part ways. Disability is often seen as a hinderance in relationships romantic or not. It leads to systematic exclusion of the disabled individuals, isolation and even depression.

The other disabled protagonist and chief character in the movie is Jhilmil Chatterjee, Barfi's childhood acquaintance and the daughter of his father's employer. Jhilmil's autism is a cause for her parents being ashamed and she is uncared for at her home. Her drunk mother had previously tried to kill her andher gambler fatheris only interested in Jhilmil's inheritance.

The disorderly home and equally problematic relations fail to understand her. She receives no nurturing and shares a distanced relation with her family members. No medical assistance is sought to diagnose the severity of her condition. Rather her maternal grandfather leaves her at the care home *Muskaan* where she receives the love (but not medical treatment). Autism is a condition faced by all genders yet it "is rarer in females than in males" (Rudy) with possibilities ofeven underdiagnosis and/or misdiagnosis. Lisa argues that "it seems likely that many girls with autism do not receive accurate diagnoses until much later than boys. Some are not diagnosed until adulthood despite having had autism symptoms since early childhood." (Rudy) Thus, left untouched the conditions of autistic individuals might even deteriorate with time giving way to other associated complexities.

The viewer first meets Jhilmil in the acute autistic disorder and unsettled condition. She is leaving the care house to return home. Ironically, each time she is extracted from this comfort space it creates only distress and anxiety forher. Later, Jhilmilis subjected to staged and real kidnapping cycles without considering the impact of these on her psyche. Barfi with speech and hearing impairment is her only solace. He kidnaps/ rescues her and together the couple ease Jhilmil's stress. The film closely underlines the struggles of autistic individuals in social situations such as their resistance to touch or hyper-active response to brightness, movement and sound etc. It further elaborates the use of compensatory strategies"also known as camouflaging strategies, to fit in" (Oswald) used more likely by women than autistic men.

The director engraves Jhilmil with a developmental character graph. Though she is unable to comprehend the profoundness of her relationship with Barfi, yet she notices and

reconstructs the social relation of a man and wife with him in the platonic sense. She mimics Shruti's dressing style and body language "mimicking someone's body language, is a strategy that has helped autistic women or girls" (Oswald). More females (un)intentionally camouflage their traits to conform to the social norm.

However, along with the disabled women, even disabled men have to align with dominant structures and discourses. This can be exemplified through the titular character Barfi. Until his father's death, Barfi is depicted as dependent on him for financial and emotional sustenance. The male head of the family takes charge while other members go about their daily routines. Significantly, with the decline of his father's health and his consequent tragic death, Barfi is locked in this site forever. Barfi's gradual character development is visible through his outward behavioural maturity and the subtle characteristics like sporting a beard which are added to his personality. He (un)knowingly conforms with the ideal masculine role and works to financially support himself and Jhilmil.Together they stage the perfect homely scenario.

Further, their relationalso epitomises the only way of existence which is known to Barfi. His experiences with heteronormativity have naturalised and conditioned his orientation prior to him even exploring much. While delineating Barfi's life history, no references are made to single men or homosexual men (disabled or non-disabled) living life comfortably. There are only normative archetypes abundantly provided to him to mime from and before he is even aware Barfi is constrained within the heteronormative world order. He had also previously tried to establish the same circumstance with Shruti, however the disparities between them are never resolved. With his second encounter with Jhilmil, as both of them belong to the same side of the margin and he simply replicates the cycle.

Moreover, Jhilmil'spresence in the narrative is not accidental and she has a progressive development within the movie as well. She has more agency in deciding to continue the relationship or not. Barfi is greatly dependent on her,he feels lost without her and even Shruti is unable tofill that void. Though the narrative focuses on various tangents, still Jhilmil emerges as the agent of change and hope while teaching young girls with special needs.

Conclusively, the sensitive and nuanced portrayal of issues concerning gender, sexuality and disabilityin movies like *Margaritawith a Straw*and *Barfi!*are encouraging signposts in an otherwise burgeoning series of stereotypical cinematic representation. Therefore, it is incumbent upon Indian filmmakers to further engage and create films problematising and dismantling ableism. The movies holistically employ a sensitive approach while dealing with the themes of disabilities. Both the directors highlight the concerns of disabled individuals without essentialising any of their characters. On the contrary, both Basu and Bose's depictions resist attempts of caricaturing by portraying the humane character

With the immense power wieldedby the medium of cinema, it is necessary to moderate the representations which are bombarding the minds of masses. Instances of mis-representations have the potential of undoing the positive effort done by others. Progressive, palpable changes

can make suitable and sustainable differences not only on the big screen but also in the society as well. Whereby all individuals enjoy equal life to right, opportunities and fair representation.

Works Cited

Addlakha, Renu. "Gender, Subjectivity and Sexual Identity: How Young People with Disabilities Conceptualise the Body, Sex and Marriage in Urban India." *Centre for Women's Development Studies*, No.46, 2007. https://www.cwds.ac.in/wp-content/uploads/2016/09/GenderSubjectivity.pdf.Accessed17 Mar. 2022.

"Ala Barfi! - Official Full Song – Barfi." *YouTube*, uploaded by Sony Music India, 23 Aug. 2012, https://www.youtube.com/watch?v=VBHjGRi4OqA.Accessed 27 Mar. 2022.

Barbotte, et al. "Prevalence of impairments, disabilities, handicaps and quality of life in the general population: a review of recent literature." *Bulletin of the World Health Organization* vol. 79, no.11,2001,World Health Organization.https://apps.who.int/iris/bitstream/handle/10665/268464/PMC2566690.pdf?sequence=1&isAllowed=y.Accessed 20 Mar. 2022.

"Barfi!" YouTube, uploaded by Movies Now, 21 June 2019, https://www.youtube.com/watch?v=TcDmarWK68c&t=6947s.Accessed 27 Mar. 2022.

"Margarita with a Straw."YouTube, uploaded by YouTube Movies, 2014, https://youtu.be/86LGFVlD0uA.Accessed 28 Mar. 2022.

Oswald, Dr Tasha. "Women with Autism: Autism Traits are Often Missed or Ignored in Women."*Open Doors Therapy*,16 Mar. 2020, https://opendoorstherapy.com/women-with-autism-autism-traits-missed-ignored-women/.Accessed 22 Mar. 2022.

Rudy, Lisa Jo. "Women With Autism: How Autistic Traits May Differ." *Very Well Health,* 7 Dec. 2021, https://www.verywellhealth.com/autism-in-women-5209272. Accessed 22 Mar. 2022.

Sinha, Priyam. "Margarita with a Straw: Female Sexuality, Same Sex Love, and Disability in India." *EPW Engage*, 8 April. 2020, https://www.epw.in/engage/article/margarita-straw-female-sexuality-same-sex-love-and.Accessed 15 Mar. 2022.

Tarshi. "Sexuality and Disability in the Indian Context." 2018,https://www.tarshi.net/downloads/Sexuality_and_Disability_in_the_Indian_Context.pdf.Accessed 23 Mar. 2022.

The DEMOS project. "Definitions." Feb.2003,https://jarmin.com/demos/course/awareness/091.html.Accessed 10 Mar. 2022.

The Oppression Faced By Female Characters In Ann Petry's Novel "The Street"

Shweta Mour,
Ashok Singh Rao

Ann Lane Petry was a renowned writer. She was born and brought up in Old Saybrook, Connecticut, on 12October, 1908. Ann was the youngest of three daughters born to Peter Clark Lane and Bertha James Lane.They were from the black middle class of a tiny town. Her father was a pharmacist who owned and operated a neighborhood drugstore.Her mother was a licensed chiropodist. Petry began writing short stories and plays while still in high school. She earned her bachelor's degree in pharmacy from Connecticut College. She worked as a journalist for two Harlem Newspapers as a sort of apprenticeship. Furthermore,she came up with the slogan of perfume advertisement, while she was in a high school.

In 1938, she married George D. Petry, a mystery writer from New York, and relocated to the city. After her marriage, her life took a turn for the better. In New York, she worked as a reporter for The Amsterdam News and The People's Voice, two Harlem newspapers. Marie of the Cabin Club, her debut short story, was published in 1939. Petry was awarded the Houghton Mifflin Literary Fellowship in 1945 for the opening chapters of her first novel, The Street.Petry was a role model for a new generation of black women writers, including Alice Walker, Toni Morrison, and Gloria Naylor, who had followed in the footsteps of Zora Neale Hurston. Petry's historical works for young readers include The Drugstore Cat (1949), Harriot Tubman: Conductor on the Underground Railroad (1955), Tituba of Salem Village (1964), and Legends of the Saints (1970)are among Ann Petry's historical books for young readers. Miss Muriel and Other Stories (1971), a collection of short stories, illustrates her extraordinary flexibility.

She also worked on a sociological study on the effects of segregation on ghetto children in addition to her writing career. She was a recreational specialist at a Harlem elementary school while also teaching a course at the National Association for the Advancement of Coloured People. Ann Petry's work was significantly impacted by her experiences as a reporter, social worker, and active community member in the inner city. After a brief illness, she died on April 28, 1997, near her home in Old Saybrook. Her characters were average, law abiding African-American from the working class. They were dedicated to hard work and aspired to be a middle-class aspirant who believed in the American Dream.

Ann Lane Petry's novel The Street was a masterpiece of African American Literature. Lutie Johnson, a young black mother, and her struggle to raise her son in Harlem was the subject of the film. Harlem was in the midst of a racial and economic crisis in the late 1940s. Ann Petry's novel was her debut.The Street (1946) was the first book written by a black woman to sell over a million copies.A newspaper article about an apartment home administrator teaching a young child how to collect letters from mailboxes inspired The Street.Petry claims that, the goal of the picture was to "highlight how cheaply and readily the environment can affect the path of a person's life".The Street concentrates on a young woman's frustrated and natural efforts as a spectacle, as a body to be begun with and exploited by male sexual desire. The accomplishment of The Street must be viewed in the context of the objectification of women; rape and dismemberment of women are preconditions for Bigger's ascension into manhood.

Oppression faced by female characters in the Street

The Street was generally praised as the first female novel written by a Black American Woman. It was translated into Spanish, French, Portuguese, Japanese, among other languages. The novel is set in Harlem in the 1940s. It premieres in November 1944 in New York City. In the 16th Century, black women were depicted as “icons of evil”. Western culture further degraded the image by portraying Black Women as a sexual excess in the minds of White men. As a result, black males were enslaved, while women were relegated to the role of "sexual receptacles for men.” Afro-American women brought to America were forced to work as breeding animals. They were designed to be used as a "body toy" or a "sexpot." Slavery existed in the United States even after it was abolished.

Lutie Johnson, the main protagonist of the novel. She was a Black Woman. She was looking for a place to live that was available for rent. AnPetry explained how women's prior experiences and current situations made them strong enough to fight for what they wanted. Lutie and Bub were living with her father and Lil, his girlfriend. Lil was a terrible woman. Lutie wished to separate Bub from Lil. Bub was a tiny baby.Lil had him light her cigarettes for her and give him sips of gin when he was just eight years old. Lutie was concerned that Bub might develop a liking for smokes and gin. That was really detrimental to his future. Lutie was also concerned about Lil's intentions toward Bub, and Lil's potential to teach the small kid anything.Petry eloquently depicted in this story how the breakdown of the family leads to a generation of lost children.

Lutie Johnson is trapped on all sides by the great "three isms" of American White and Black societies, namely Capitalism, Racism, and Sexism, unleashed on her by the Chandlers, Junto, Mr.Croose, Jones, Boots Smith, Mrs. Hedges, and Jim. The Chandlers, for whom Lutie works as a "domestic," represent and personify capitalism at the top of the story. The Chandlers are also racist and sexist towards Lutie(both men and women).Lutie Johnson was challenged and made aware of the threefold oppression perpetrated by members of society (American citizens).Lutie Johnson was a young, self-assured white black lady who confronted triple oppression from her estranged husband and white Americans.

Lutie, a single mother living in Harlemand with her eight-year-old son Bub, was subjected to three forms of discrimination.It emphasizes race and gender as persisting hurdles to achieving the American dream.Lutie Johnson is a very ambitious and native black lady, filled with all of the necessary concepts and ideals for success, as well as the drive to carry out her goals as a single black mom, but she was unfairly denied entrance to the world of Benjamin Franklin's philosophyLutie couldn't overcome her sense of self, and she firmly believed that even if Ben Franklin could survive on a small sum of money and thrive, so could she. Following her divorce from her marriage, she relocated to Harlem, New York. Harlem is a black neighborhood in New York City. She is still there, repressed and silenced as a result of triple oppression.

As more than just a young mother and a Black African woman, Lutie Johnson suffers prejudice in all aspects of her life, both personal and professional. Because they are believed to be of a lesser race, Lutie and the other African Americans in the story are wrongly denied various rights and opportunities that are accessible to Anglo-neighboring Americans. Housing in New York City was separated by race at the time Petry wrote her novel, and only certain buildings would rent flats to black tenants—a kind of institutional racism that severely limited African Americans' options.Lutie, like many other black New Yorkers, wishes to leave crowded Harlem but is unable to do so because she has the financial means to do so.Due to the extreme

severe poverty and gender inequality that existed before to the 1960s civil rights struggle, the novel's Black American protagonists are inextricably tied to Harlem.

they feel angered and upset since they would not have the same rights and privileges as others. The notion that Black People should have fought alongside other Americans in World War II for liberties that predominantly favor white Americans magnifies these emotions. The representation of misogyny and communism in the 1940s in the U. S. is also significant in Petry's work. Those who do not value Lutie as a woman approach her as a commodity in her search of a good job. She feels compelled to conceal the fact that she has ason because possible employers, such as Boots, are only interested in her for her romantic potential.As the novel's sad climax illustrates, hard work alone is unable to overcome the barriers of race, gender, and class that exist in American culture. The heroine, Lutie Johnson, is introduced to the notion that achievement and economic independence are inevitable results of hard work and perseverance while working for the Chandlers, a white family of considerable wealth—the American ideal.Lutie adopts this mind-set and is always concerned with money, wanting to climb above her poor circumstances in Harlem.

Bub, her son, does not really comprehend why Lutie is so concerned about money, but he too tries to impress his mother, so he works hard to make money. William Jones is imprisoned after trying to take advantage of his desire to earn his mother's affection by luring him into stealing mail. However, as Petry's work vividly portrays, American in the 1940s was not really a place of equal rights for Black People or females. Lutie faces cultural and class prejudice while trying to generate money. Finally, she seems unable to achieve her dream of winning the street war.

Conclusion

Ann Lane Petry was one of the most illustrious authors of African American literature, and her novel The Street was profoundly moving. The notion of a woman's struggle and defeat played a significant role in this story. Petry's most well-known piece, The Street, was a picture of African Americans' economic suffering.Lutie was a novel's black female protagonist who was both distinct and significant. Petry was a well-known author in African American literature who focused on contemporary social concerns such as female struggle, single parenting, and sex politics.The Street addresses the African American woman's specific role in sustaining her position in a world of classism, sexism, and racism. Through the work, Ann Petry studied the black woman as the heart of the family and community. Lutie owed race a moral and ethical obligation.

References

1. Alain Locke, ed., The New Negro, Atheneum, New York, 1968.
2. Bernard W. Bell "Ann Petry's Demythologizing of American Culture and Afro-American Character," in Marjorie Pryse and Hortense Spillers' Conjuring: Black Women, Fiction, and the Literary Tradition. Indiana University Press, Bloomington, 1985.
3. Greenbie, Barrie. 2006. Home Space: Fences and Neighbors. Signs of Life in the U.S.A. 5th ed. Sponia Maasik and Jack Solomon. Boston: Bedford/St. Martin's.
4. Petry, Ann L. 1946. The Street. Boston: Beacon.
5. http://en.wikipedia.org/wiki/AnnLanePetry
6. http://en.wikipedia.org/wiki/AfrianAmericanLiterature

Environment in India: A Study of Continuity and Changes of Forest in *Dandakaranya*

Dr. Tirtharaj Bhoi

The Governance identifies the power dependence involved in the relationships between institutions involved in collective action. The contribution of the governance perspective to theory is not at the level of causal analysis. Nor does it offer a new normative theory. Its value is as an organizing framework. The value of the governance perspective rests in its capacity to provide a framework for understanding changing processes of governing. Theoretical work on governance reflects the interest of the social science community in a shifting pattern in styles of governing. The traditional use of 'governance' and its dictionary entry define it as a synonym for government. Yet in the growing work on governance there is a redirection in its use and import. Rather governance signifies 'a change in the meaning of government, referring to a new process of governing; or a changed condition of ordered rule; or the new method by which society is governed (Rhodes, 1996). On this level Kautilya's work is remarkably modern in the way it attempts to describe the impact of administrative governance mechanisms on the daily lives of the citizenry. He discovered the science of administration and used in the day to day practices.

The Historical Geography of *Dandakaranya*:

On this region the Geographers (Johnson, 2001) distinguish some fourteen physiographic regions in India and the dandakaranya plateau is one of four sub-regions in the "Plateaus and Basins" category. Geographers, differ on the precise boundaries of these regions. In ancient period part of the *dandakaranya* was governed by Kusa in his kingdom Kosala. The Mahabharata speaks of a mass migration of the people of eastern Kosala to the south owing to the terror caused by Jarasanda and the immigrants resided in the Chhattisgarh region. The Mahabharata also refers to the Uttara and Daksina Kosala. Bhima conquered the Uttara Kosala during his eastern conquest and Sahadeva won over the Daksina Kosala during his southern campaign.

Historiography:

In the Balghat inscription of Narendrasens II (440 to 460 A. D.), he has been described as lord of the Kosala and Mekala. Harisena of the Basin branch of the Vakataka is said to have conquered Kuntala, Avanti, Lata, Kosala, Kalinga and Andhra. The Vakataka supremacy remained over Kosal up to the fifth century A. D. In the Aihole inscription of Pulakesin II, he has been credited with the conquest of Kosala and Kalinga. According the B. C. Law, Daksina Kosal is referred to in the Allahabad pillar inscription of Samudragupta during whose region it was ruled over by the King Mahendra who was defeated by the Gupta Monarch. According to H. C. Roy Chaudhuri, Daksina Kosala comprised of the modern Bilaspur, Raipur an Sambalpur district

and its capital was Sripura, the modern Sirpur, about 30 miles from Raipur. The Kosala Khanda states that there was a king named Kosala who ruled the territory on the south of Vindhya, from the capital Nagapatan, which was probably the present Nagpur, and after him, the state came to be known as Kosala. It is from the work of Alexander Cunningham an important endeavour was made in the direction of understanding historical geography. His work, *Geography of Ancient India* is an attempt of identification of places mentioned by Xuan Zang in his work. After him scholars like, B. C. Law, D. C. Sircar, Mark Collins, S. B. Choudhary, N. L. Dey, Motichandra and M. R. Singh enriched the study of historical geography in India.

Adopted Methods:

An attempt is made to give an extensive evaluation of existing historical writings that deals with ancient governance. It is focusing on in-depth study of actual condition pertaining in the village and the people's perceptions on a forest governance related issues such as, traditional governance system of forest, status of present forest and PESA act, protection and rights over the forest etc. Standard anthropological tools and technique has been used for data collection in the villages of Madhya Pradesh, Chhattisgarh and Western part of Odisha.

The Forests in ancient India have been well mentioned in *Vedic* texts, *Epics* and *Puranas*. The principles regarding forests and their sustainable management are well encroached in pre-historic India. The Vedas provide description about the uses and management of forests. In ancient India, several plants were considered sacred because of their natural, aesthetic and medicinal qualities. Further, they were also believed to be significant because of their proximity to a particular god or goddess. It is believed that archaeological evidence in the form of artifacts and animal remains are a more reliable guide to the changes in the land in centuries past than literature is. There is little doubt that there were several sites in India where hunting, the rearing of goats or sheep, and cereal-eating, often went together. The Chinese traveler Hieun-Tsang in his travels across India during Seventh century A. D. refers frequently to the immensity of the forested spaces that made travel unsafe and difficult.

The Brahmanas texts, which are ascribed by the leading Sanskritists to the period 800 to 500 B.C., speak of the *Govikartri* or "Master of Forests" as one of the twelve important officers of State, to whom the King or Raja was bound to make handsome offerings, on the occasion of his accession or coronation. Kautilya in his *arthasastra* declares various classes of forest to be essential to the well-being of an Indian kingdom in the year 300 B.C., the forest are such forest use for Brahmanas, use for forest products, use for royal game and use for general public.

The *Dandakaranya* area is rich in forest. This area could be divided into four belts from the point of view of its distribution such as mixed forest of the north part, central moist region comprising the Sal belt, the teak belt, the dry region comprising mixed forest. During ancient

period this region was ruled by various dynasty and they maintain the forest as per their administrative system.

The punch marked coin of Sonepur hoards tell us about Nanda rule in this region. P. K. Deo described that there is a prospect of Punch marked coins to have been minted by local people in this region since this area is been rich for iron ore. This region probably formed the eastern Attavika land of South-Kosala and some part of this reign was included in Mauyan Empire. The special Kalinga Edict of Ashoka reveals that the Maurya emperor conquered only the coastal plains of Kalinga and the wild uplands in the west, which was known as the Attavika territory was left unconquered. King Ashoka was interested to conquer Kalinga because it had the more coastal area, and he wanted to extend the trade and commerce to Ceylon through this route. So, it is very difficult to say that whether Mauryas ruled this region.

Pulsalkar says that the Chedi rastra was situated in Madhyadesa during the Mahabharata period. Sircar is of the opinion that, in the first century B.C. Kalinga became one of the strongest powers in India under the vigorous rule of Kings belonging to the Maha-Meghvahana family of the Chedi clan. The Brahmi inscription of Kharavels has been discovered in Guntupally village of the west Godavari district of Andhra Pradesh. This was the evidence of the extension of Chedi dynasty to south. The above evidences tell us that; the region either came under the Chedi dynasty before or, it was totally independent region, which was not conquered by Kharavela. From the Allahabad pillar inscription of Samudragupta, we came to know that he sent an expedition to southern India through Kosala and Mahakantara. The route which was followed by the Samudragupta was probably the most frequented one by the caravan of traders of *Dandakaranya* region, when they used to keep touch with the north. During the military excursion of Samudragupta, to the Deccan, Mahendra was the king of South Kosala, whose territory comprised southern part of Madhya Pradesh and Orissa.

The excavation reports reveals that, sites like Sirpur, Malhar, Tarighat, Asurgarh, Manamunda, Maraguda valley, Kharligarh, Nehena had their existence even during early historical period in this region. Sirpur, the ancient *Shripura* located in the upper Mahanadi valley served as political centre of Sarabhapuriyas and Panduvamshis and they issued number of inscriptions from here. The appropriate location of Malhar which is surrounded by three rivers Arpa, Lilagarh and Seonath helped Malhar in gaining political and economic importance. It is one of the most important early historic and early medieval fortified sites in the upper Mahanadi basin. From here evidence of black and red ware, two pieces of northern black polished ware bricks corresponding to Mauryan and Satavahana types has been found. Apart from these findings, this site also yielded a baked pendant and a clay seal. This seal is really important as it bears the legend *Maharaja Mahendrasya*. Some identified him with Mahendra of Koshala mentioned in the Allahabad pillar inscription while some relate him with Mahendraditya of Sarabhapuriya dynasty. On the basis archaeological findings it appears that Malhar was a major

centre of trading and commercial activities. It was an epicenter of urban conglomeration in upper Mahanadi basin which played a significant role in giving impetus to historical developments in this region.

Even the Mughals, they did not do much to change India's forest environment particularly in this region. Their expansion limited to the Bengal province. During medieval period this region was called as *Gondwana* where the majority of the population belonged to the Gond tribe. **Ibn Khaldun was the first scholar who deals the environmental issues in this period. There are large number of literature deals with the forest administration of this region were Abul-Fazal.**

The East India Company, a trading firm, paved the way for India's colonization by the British up to 1887. The main aim of the colonial rulers was conquest with a strong military thrust into resistance areas including the forest depths, the hill sides and hill tops. In the name of good governance tribal areas were opened up and contractors, civil and military officials, traders, alcohol vendors and timber merchants entered these areas and under the Nelson's eye of the rulers forced the tribal into indebtedness, alienated lands, looted the environment and pushed the tribal into slavery, while reservation of forests made them intruders in their own home. It is not that the tribal took the intrusion quietly. Confrontation was the quintessence of the situation in tribal areas after the rise of 'state' as a formal political and administrative authority. While the people in the rest of the country living under the aegis of the erstwhile, feudal states quickly adjusted to the rule of the 'conquerors' and found their survival spaces under the new regime, the tribal, living in relative isolation from the rest, in a political economy and system of governance that was integrally and uniquely their own, rightly saw the imposition of the formal state an act of subjugation.

Traditional Governance:

With the beginning of the Panchayati Raj system, this region was under covered by fifth scheduled area. This villager has always followed a collective system of governance where, whenever any conflict or issue arose in the villages, the matter was brought to the court of "Gaonpanchayat" i.e. the respected, older members of the village forming a bench. They used to resolve the matter. This governance system used to be unbiased and just for all. People used to swear in the name of "Bhagavat Gita" and God before the bench in this process. This was a very simple but just and accepted means of conflict resolution in the village. If someone was not satisfied with the proceedings of this bench, the matter was referred to forest department. This system of governance had its own legal recognition. In most serious matters related to forest, the case was supposed to be referred to the court. Most of the matters used to get resolved in the village itself.

Present Status of Forest:

The villagers are protecting forest in three parts or places. First their parents started protecting the nearby hill. Till date on the festival days, people go there and sow seeds of different trees. After few years, they started protecting forest. Then, the youth group and other villagers got together and first collected seed and started sowing. The forest patches started growing well. Whenever there occurred any problem related to forest, all the villagers are called for a meeting and the matter is resolved there only. The village youth group and some aged persons were the pioneers in this process. To increase the support of villagers, they used to act plays on roadside (Nataka) spreading message of benefits of forest and need of conservation. Villagers have received enormous support from *various NGOs* in the form of training, capacity building, and awareness.

The Protection System:

The villager used to sit five to six times a year in the collective general village meeting on forest protection and related issues. Men, Women and Youth of the village participate in this meeting. Some people due to their otherwise personal engagements/ emergencies do not attend the meeting. This general body looks after the work of the Executive Committee on forest protection comprising eleven members. This also decides the members to represent in the executive committee. The Executive committee does not have a time limit but whenever General committee feels, they can bring in changes in the composition, rules and regulations of the executive committee. The role of the executive committee is to resolve the conflicts related to forest. When the matter remains unresolved, it is brought to the notice of the Village general meeting. The executive committee bears the responsibility of enforcing rules related to forest and whoever breaks the rules of forest protection is punished by this committee either in terms of collecting fine or begging excuse with a bond of non-repetition. There is no restriction regarding collection of minor forest products from the protected patch of forest but People of neighboring villages have no rights over it. These people from neighboring villages also agreed to the villager's demand and respect their forest protection initiative.

Forest Protection and other Institutions:

The Villagers almost have no relation with outside agencies intervention on the issue of forest protection. Only when a serious situation arises like when someone denies abiding by the village forest committee decision, the case is handed over to the forest department. Even they don't have much relation with forest department on this matter. Neither they are at loss nor in benefit from relationship with forest department. Forest department are pursuing them to form *Van Samrakshyan Samiti* (VSS) and make Forest Department a partner in the forest protection initiative. The people have relations with non-government organization for forest protection which provided them saplings for plantation in the barren land and trained them on plantation techniques and protection measures. No one has objected their forest protection initiatives till

date.

Future of Forest Protection:

As far as future of forest is concerned, it is difficult to say, about the forest. One thing people have promised that they will continue forest protection. According to villagers, they do not know what the next generation would do with this forest, but, they will try to make them understand the importance of forest for existence of life. The rapid industrialization and mining processes are definitely a threat to today's forest. The presence of Naxal movement in this region may be the positive for the forest to deforestations.

Conclusion:

The forest is governed by the system of governance from ancient period in this region. The role of Forest Protection committees has to be more effective. An active Forest department needs to play vital role in forest protection and regeneration in the interest of the poor and marginalized. There needs to be laws in place in favor of forest and people. There has to be proper plan of afforestation every year on the waste land and forest management plans with people's participation. Both people and Forest Department can collectively make a lush and green forest possible. The Jungle Bachao campaign is continuing in the villages of this region and they intend to continue protecting and regenerating our forest. At least one more generation will care for and preserve the forest for the future. They are also teaching their children to preserve and protect the forest. There is a need to raise the consciousness of the community regarding forest protection by explaining the importance of forest in human lives.

Notes and References:

- Gerry Stoker, *Goverance as Theory: Five Prepositions*, Blackwell, 1998, pp. 49-72.
- Shamasastry, R, *Kautilya's Arthashastra*, Mysore, 1960, p. 10.
- Sabhaparva, XIII, pp.591-92.
- E. I. vol. IX, p. 267.
- B. C. Law, *Geography of Early Buddhism*, Varanasi, 1973, p. 61.
- Kisala Khanda, in Hindi, is referred in the explanation of the Maurayans Pius, doha -118, 4th edition.
- Sahu, J. K., *Historical Geography of Orissa,* New Delhi: Decent Books, 1997, *p*. 6.
- V. K. Gupta, *Forest and Environment in Ancient India*, B. R. Publication, 2010, pp. 27-39.
- S. M. Edwardes, "Sidelights on the Maintenance of Forests in Ancient India," *Empire Forestry Journal*, Vol. 5, No. 1, 1926, pp. 32-38.
- Orissa Historical Research Journal, vol. XIV, No.4, pp. 25-61.
- S. Beal, *Buddhist Record of the Western World,* vol. II, pp. 204-17.
- D. Pusalkar, *The Bharata War*, vol. I, 1965, p. 306.
- D. C. Sircar, *Kalinga and the Chedis*, vol. II, 1968, p. 211.
- Sahu, B. P, *The Changing Gaze, Regions and the Constructions of Early India,* New Delhi, Oxford University Press, 2013, p. 83.
- Ranajit Guha, *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*, Oxford, 1983.

उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप

अरूण मिश्रा

"गायन वादन नृत्यम् त्रयम् संगीतमुच्यते "

गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का सामूहिक नाम संगीत है। अर्थात् संगीत के अन्तर्गत यह तीनों कलाएँ मानी जाती हैं। संगीत में गायन तथा नृत्य के साथ-साथ वादन का भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वादन का तात्पर्य विशिष्ट पद्धति से निर्मित किसी वाद्य यंत्र पर थाप देकर, फूंककर या तारों में कम्पन्न-उत्पन्न कर के लय बद्ध तरीके से संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करना है।

उत्तर प्रदेश की संस्कृति, सभ्यता, मान्यता एवं मौलिकता आदि स्वरूपों को निश्चित ढंग से कंठस्थ करने की कृति लोकगीत सर्वथा प्रसिद्ध एवं सम्पन्न विधा मानी गयी है उत्तर प्रदेश प्रतिभा सम्पन्नजन मानस का ऐसा स्थल है जिसका वर्णन कर पाना असंभव है यहाँ प्रचलित भाषाओं ,बोलियों में लोक संस्कृति की झलक दिखती है | यदि हम लोक की बात करे तो लोक का अर्थ इस प्रकार है- लोक शब्द संस्कृत के लोक दर्शने ने धातु से धञ प्रत्यय करने पर उत्पन्न हुआ है। इस धातुका अर्थ देखना होता है। जिसका लट्लकार में अन्य पुरूष एक वचन का रूपलोक होता है। लोक शब्द का अर्थ देखने वाला है। लोक गीत ऐसा संगीत है, जो परम्पराओं में पड़कर समय-समय पर परिवर्तित होती है। लोकगीतों में हमारे समस्त जीवन के पहलुओ को प्रकट करती है। जो हमारे मन प्राण को शीतलता और संतोष प्रदान करता है। लोकगीतों में हमारे काव्यों और संगीत का मिला-जुला संगम होता हैं। सामान्य भाषा में हम कह सकतें हैं कि मनुष्यों के हृदय के ज्ञानों को **लोकगीत** कह सकतें हैं। लोक संगीत दो शब्दों से मिलकर बना है **लोकसंगीत** | जिसका अर्थ जनमानस में प्रचलित संगीत | लोक संगीत सहज, सरल, सुलभ बंधन रहित एवं परिवर्तनशील है क्योंकि इसका मुख्य आधार लोक रूचि है विभिन्न क्षेत्रों की परम्पराएँ, रीत-रिवाज़, आचार-विचार, भाषा, संस्कार, व्यवहार, तौर-तरीके, विश्वास, रूढिया, धार्मिक, अनुष्ठान आदि को सामान्य प्रवृत्तियों के दर्शन वहाँ के लोक में होते हैं | अर्थात जीवन का कोई भी प्रसंग भावनायां प्रवत्तियां अछूती नहीं है |

लोक संगीत का छंद यद्यपि संक्षिप्त होता है, परन्तु भाव के अनुकूल होने से वह मन मस्तिष्क पर पूरा प्रभाव डालता है। भावों की सनातनता के कारण लोक संगीत कभी पूराना नहीं पड़ता, वह सदाबहार है। गायक और श्रोता के बीच सीधा जुड़ाव होने के कारण भाव सम्प्रेषण की प्रक्रिया में लोक संगीत सबसे अधिक सक्षम है। सशक्त भाव पक्ष के कारण ही लोक संगीत अन्य सभी शैलियों में अग्रणी है।

माँ की ममता, मृत्यु का विशाद, दीन की करुणा, ईष्या, राग-द्वेष, उल्लास, कामना, क्रोध, अहम्, मद, लोभ, मोह आशा-निराशा, सभी का दिग्दर्शन लोक संगीत में सहजता से होता है। अपने इस भाव के पक्ष की प्रधानता के कारण लोकसंगीत पूरे संसार में लोकप्रिय है।

हमारे लोक साहित्य की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। यह परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा के माध्यम से चली आ रही है। लोक संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग गीत होता है। लोकगीतों के माध्यम से हमारी संस्कृति व

सभ्यता का परिचय मिलता है जोकि आने वाली पीढ़ी के लिए उदाहरण स्वरूप रहता है लोकगीतों में हम अपने जीवन में होने वाली घटनाओं, सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्राकृतिक आपदाओ इत्यादि को हम गीतों नृत्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं जो कि लोकसंगीत का ही एक स्वरुप है । इनमें से किसी प्रकार कि बाध्यता या बंदिश नहीं रहती है । लोकगीतों में जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत होते हैं । इसके अंतर्गत संस्कार गीत, सोहर, बन्ना-बन्नी, चैती-कजरी, चौमासा, बारहमासा, धोबिया, छठगीत, सावन गीत इत्यादि और भी प्रकार के गीत आते हैं । इन गीतों में एक खास बात होती है कि इनके रचयिता अज्ञात होते है । हमारी लोक परम्परा से ही शास्त्रीय संगीत कि उत्पत्ति हुई है । यह कहना गलत नहीं होगा | लोकगीत किसी एक व्यक्ति की व्यक्तिगत पूंजी नहीं होती है । ये पूरे समाज कि धरोहर होती है । इन लोकगीतों में सामूहिक सदभावना की भावना होती है । इन गीतों में किसी भी प्रकार के रागों का प्रभाव कम होता था । मगर ये लय-प्रधान गीत होते थे । इनमें जब गायक गाने कि लाइन गाता था तो समूह के सभी लोग उस लाइन को दोहराते थे और आज भी ये देखने को मिलता है |

लोक संगीत के भाव पक्ष का विश्लेषण किया जाए तो उसमें निहित निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं।

1. लोक संगीत का उद्देश्य अपनी परम्परागत कला को जीवित रखना होता है, अतः किसी अहं की भावना को, वे उसमें नहीं आने देते और परिपाटी के अनुसार मुक्त हृदय से उसका प्रदर्शन करते हैं ।

2. जाति, समुदाय, धर्म, पर्व और राष्ट्रीयता की चेतना कायम रखते हुए लोक संगीतकार अपने भावों को उत्साह के साथ प्रकट करते हैं । लोक संगीत की यही प्रेरक शक्ति सामाजिक उत्थान मे सहायक सिद्ध होती है ।

3. लोक संगीत किसी बौद्धिक विश्लेषण या बौद्धिक सम्प्रेषण की अपेक्षा नहीं रखता, अतः कलाकार सहज मन से प्रेरित होकर शीध्रता से संवेदनशील हो उठता है और भौतिक दुख सुख भूलकर एक अद्वितीय आनन्द से पूरित हो जाता है । यही इसका मानसिक धरातल, सृजनात्मक शक्ति से ओत-प्रोत होकर नवस्फूर्ति एवं नवरस का संचार करने में समर्थ हो जाता है।

4. लोक संगीतकार छोटी से छोटी धनु में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि भाव प्रदर्शन करने के लिए नवीन स्वर, नवीन ताल या नवीन लय की भिन्नताओं का दिग्दर्शन अलग से कराने की जरुरत नहीं होती । उनकी समस्त भावनाएँ बंधी-बंधाई लोक धुन में धनीभूत होकर, रसो का स्वंय संचार और संचालन करती हैं ।

लोकगीत लोक के गीत हैं। जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है । सामान्यतः लोक में प्रचलित लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक समर्पित कर देता है । शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भतू करता है वही लोकगीत है । लोक संगीत हमारी संस्कृति को जीवित रखने में महत्वपूर्ण योगदान निभाते हैं भारत के लोकसंगीत का क्षेत्र बहुत विशाल एवं विस्तृत है, विभिन्न प्रान्तों में उत्तर प्रदेश क्षेत्र का लोकसंगीत बहुत ही आकर्षित और सराहने

योग्य है जहाँ के लोक संगीत में हमें यहाँ सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की झांकी देखने को मिलती है।

उत्तर प्रदेश के लोकसंगीत को हम निम्न वर्गो में वर्गीकृत कर सकते है –

- **ऋतु सम्बन्धी गीत**
- **संस्कार गीत**
- **जातिगत गीत**
- **खेल गीत**
- **प्रणय सम्बन्धी गीत**
- **प्रबंध गीत**

ऋतु सम्बन्धी गीत

मानव जीवन में ऋतुओ का विशेष महत्व होता है अपने यहाँ चौमासा, बारहमासा, फागुन, सावन, बसंत इन विषयों पर भी गीत है, कृषि कार्य एवं दैनिक क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज आदि ऋतुओ केआधार पर विभाजित होते है हमारेउत्तर भारत में 4 मुख्य ऋतुये होती है वर्षा, शरद, बसंत और ग्रीष्म |

संस्कार गीत

भारतीय संस्कृति में संस्कारो का विशेष महत्त्व है संस्कारों का मिला-जुला स्वरुप ही संस्कृति है मनुष्य का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु सब संस्कारों में गुंथा हुआ है संस्कार गीत में जन प्रचलित मान्यताओं तथा परम्पराओं के माध्यम से आज भी गतिशील है इन गीतों मै पुत्रजन्म, मुंडन यज्ञोपवीत, विवाह गौना तथा मृत्यु प्रधान संस्कार गीत है | हमारे वेदों में 16 संस्कार माने गये है जो इस प्रकार है– गर्भाधान, पुसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चुड़ाकर्म, कर्णवेद, उपनयन, वेदारम्भयाविद्यारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्ठी |

जातिगत गीत

आर्यों की वर्ण व्यवस्था के शिथिल होते ही जाती व्यवस्था का विकास हुआ धीरेधीरे जातियों की कई - अहीर -इसमें | उपजातियां बनी जिनमे रोटी और बेटी का व्यवहार संकीर्ण होता चला गया गी ,पासी गीत ,धोबी गीत , | नाइयो के गीत ,कहार गीत ,कुम्हार गीत

खेल सम्बन्धी गीत

पहले समय में खेलों के भी गीत हुआ करते थे और खेल से सम्बंधित गीतों की श्रंखला कुछ इस प्रकार है– लोरी गीत, बालको के खेल के गीत, बालिकाओं के खेल के गीत, तुक शब्द उच्चारण सम्बन्धी गीत, जलक्रीडा के गीत |

प्रणयसम्बन्धीगीत

प्रणय का अर्थ प्राणियों के बीच का परस्पर स्नेह ,प्रेम, स्नेह इत्यादि | प्रणय सम्बन्धी गीत के अन्तर्गत निम्न गीत आते है– नकटा, पूर्वी, झूमर , लचारी, विदेसियाँ, ग़ज़ल |

प्रकीर्णगीत

इसकेअन्तर्गत दो प्रकार के गीत आते है– गारी गीत और मुसलमानों के गीत |

प्रबंध गीत

प्रबंध गीत को गाथागीत या लोकगाथा गीत कहते है किसी लोककथा को प्रबंधात्मक शैली में गायन परम्परा को लोकगाथा कहते है |

निष्कर्ष

इस लेख के माध्यम से **निष्कर्षतः**उत्तर प्रदेश क्षेत्र का लोक संगीत उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय संस्कृति का र्दपण है। अर्थात यहाँ के लोक संगीत में इस प्रदेश की संस्कृति व सभ्यता प्रतिबिम्बित होती है। इस की क्षेत्र लोक संस्कृति को प्रवाहशील बनाए रखने में यहाँ के लोक संगीत ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उत्तर प्रदेश में बहुत सी संस्कृति एवं सभ्यता के लोग निवास करते है जिसका प्रभाव हमें अपने आस-पास में देखने को मिलता है लेकिन हम आधार की बात करें तो हमारी लोक संस्कृति अत्यधिक प्राचीन है जो की पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा के माध्यम से चली आ रही है इस लेख में लोक संगीत एवं उसमें निहित स्वरूपों को दर्शाया गया है |

सन्दर्भग्रन्थसूची–

- मिश्र,डॉ० लालमणिभारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन :दिल्ली .भारतीय संगीत वाद्य ., .2011
- डॉसुमन (उ०प्र०) गाज़ियाबाद ,ऋतु कालीन लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत के तत्व ,नैतिक प्रकाशन२०१२ ,
- गोस्वामी ओम, 1980, डोगरी लोक गीत भागजम्मू प्रकाशक -:5-,जम्मू ललित कला संस्कृति एवं साहित्य अकादमी।
- सिंह डॉ संजय कुमार २०१० ,कनिष्क पब्लिशर्स , नईदिल्ली ,भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी लोकसंगीत,
- shabdkosh.raftaar.in
- इन्टरनेट के माध्यम से |

बस्तर दशहरा (छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में)

जितेन्द्र कुमार साखरे
डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय

वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य प्राचीन दक्षिण महाकोसल का मध्य स्थल था। अतीत से ही हिन्दुस्तान के हृदय स्थल मध्यप्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भू-भाग का क्षेत्र छत्तीसगढ़ का एक विशिष्ट सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक महत्व रहा है। वैभव-संपन्नता, सुख-शांति एवम् सांस्कृतिक समन्वय यहॉं के प्राचीन सुप्रशासन के द्योतक रहे है। वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य व्यतीतकाल में दक्षिण कोसल, महाकांतर, दण्डकारण्य आदि नामों से जाना जाता रहा है। यह क्षेत्र प्राकृतिक संपदा से सपन्न होने के साथ-साथ आदिवासी संस्कृति के लिए भी प्रसिध्द रहा है।[1]

छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में एक ऐसा त्यौहार मनाया जाता है, जो 75 दिनों तक चलता है। यह है, विश्व का सबसे लंबा चलने वाले त्यौहारों में शामिल ''बस्तर का दशहरा''। बस्तर अंचल के दशहरे का संबंध रावण वध से नहीं है। इसकी जन स्वीकृति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यह 75 दिनों तक चलता है, एवम् इसमें शामिल होने बस्तर के कोने-कोने से आदिवासी आते हैं। बस्तर दशहरे का स्वरुप बस्तर के राजघराने की परंपराओं एवम् जगन्नाथ पुरी की रथ परिक्रमा परंपरा से जुड़ा हुआ है। मॉं दन्तेश्वरी के साथ ही बस्तर के सभी देवी-देवताओं के छत्रों की इस अवसर पर उपस्थिति इसे जनस्वीकृति एवम् धार्मिक स्वरुप प्रदान करती है। एक लोक उत्सव के रुप में इसकी ख्याति अत्यधिक है। इस अवसर पर हजारों पर्यटक जगदलपुर आते हैं। पूर्व बस्तर राज्य के परगनिया मांझी, मुकद्दम और कोटवार आदि ग्रामीण आज भी दशहरे की व्यवस्था में समय से पहले मनोयोग से जुट जाया करते हैं। भूतपूर्व बस्तर राज्य में मंदिर व्यवस्था की देख-रेख में दशहरा मनाया जाता था। हर गॉव में खाने-पीने की सामग्री जुटाई जाती थी एवम् इस सामग्री को कोठी के कोठिया को सौप दी जाती थी। समय एवम् परिस्थितियों के बदलने पर शासन ने जनभावनाओं का सम्मान करते हुए दशहरा कमेटी के माध्यम से इसे मूर्त रुप दिया है।[2]

बस्तर का पारम्परिक दशहरा पूरे विश्व में अपने तरह का विशिष्ट आयोजन है। विश्व के प्रत्येक कोने में दशहरा का त्यौहार "असत्य पर सत्य की विजय" का प्रतीकात्मक त्यौहार है, जिसे विजय पर्व भी कहॉं जाता है। लेकिन बस्तर का दशहरा पर्व यहॉं के राजघराने की अधिष्ठात्री कुल देवी तथा आदिवासियों की आराध्य देवी मॉं दंतेश्वरी को केन्द्र मानकर मनाया जाता है। यह परम्परागत पर्व विधि विधानों के मध्य अनेक चरणों:- काछन गादी, नवरात्रि, जोगी बिठाई, फूल रथ चालन, मावली परघाव (देवी बुलावा, दंतेवाड़ा से जगदलपुर), भीतर रैनी, बाहरी रैनी, रथ चोरी, गोन्चा (रथ उत्सव), काछिन जात्रा, मुरिया दरबार (काछिन जात्रा के दिन सायंकाल मुरिया दरबार का आयोजन) का आयोजन किया जाता है। इसके पश्चात् ही इस पर्व का समापन होता है। बस्तर का यह ऐतिहासिक दशहरा विविधताओं से पूर्ण है। इसे देखने न केवल देश के वरन् विदेशी भी पहुचते है। इस पर्व के मध्य यहॉं मेले में अनेक शासकीय, गैरशासकीय प्रदर्शनियॉं आयोजित की जाती हैं। इस प्रकार यह पर्व सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ व्यावसायिक एवम् आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बन गया है।[3]

बस्तर संभाग मुख्यालय जगदलपुर से 85 किलोमीटर दूर स्थित दंतेवाड़ा दंतेश्वरी देवी के प्राचीन मंदिर के कारण प्रसिध्द है। यह मंदिर शंखनी तथा डंकिनी नदी के तट पर बना है। गर्भगृह में महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा

प्रस्थापित है, जिसे दंतेश्वरी कहॉं जाता है। दशहरे के अवसर पर दंतेश्वरी मॉं की शोभायात्रा इस त्यौहार का मुख्य आकर्षण का केन्द्र है। इसके लिए माता की डोली दंतेवाड़ा से जगदलपुर लायी जाती है। दशहरे का विधि-विधान सम्पन्न होने के पश्चात् उन्हें ससम्मान दन्तेवाड़ा के लिए विदा कर दिया जाता है।[4]

प्रचलित लोकश्रृति के अनुसार जिन स्थलों पर मॉं सती के पार्थिव शरीर का अंग गिरा वहॉं-वहॉं शक्ति पीठ की स्थापना की गई। भारत के दक्षिणी भाग में दंत-खंड के गिरने का उल्लेख पुराणों में मिलता है। दण्डकारण्य के बस्तर भूखण्ड में दंतखंड गिरने से मॉं दंतेश्वरी प्रकट हुई तथा दंतेश्वरी शक्तिपीठ की स्थापना दंतेवाड़ा में हुई। बस्तर में महापर्व दशहरा का प्रारंभ हरियाली अमावस्या के दिन मॉं दंतेश्वरी की पूजा से प्रारंभ होता है, जो 75 दिनों तक चलता है। इस पर्व का समापन आश्विन शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को होता है, जब गंगा मुण्डा के मावली शिविर से पूजा मण्डप में अन्य ग्रामों से आयी हुई आराध्य देवी-देवताओं की विदाई की जाती है। गॉव-गॉव से आए विभिन्न देवी-देवताओं के क्षेत्र व मावली माता की विदाई के साथ दशहरा महापर्व सम्पन्न हो जाता है।[5]

दंतेश्वरी माता की प्रतिमा को पालकी में बिठाकर बाहर निकालने का अनुष्ठान उत्सव का महत्वपूर्ण पक्ष होता है। रथ खींचने का कार्य दंडामी माड़िया व धुरवा आदिवासी करते हैं। गोंड आदिवासी इस अवसर पर भवानी माता की पूजा करते है। गॉव की रक्षा के लिए भूमिया आदिवासी इस अवसर पर गामसेन देव की पूजा करते है।[6] इस उत्सव का प्रारंभ काकतीय राजवंश के राजा ने किया था। बस्तर में 14 वी शताब्दी के पूर्वार्ध्द में काकतीय राजवंश का शासन रहा है। यह वंश चालुक्य वंश के नाम से भी जाना जाता रहा है। इस वंश का उदय दक्षिण भारत के तेलंगाना राज्य से माना जाता है। शिलालेखों में भी इस का उल्लेख किया गया है। इस वंश के नरेश पुरुषोत्तम देव 1408 ई. में गद्दी पर बैठे एवम् 1439 ई. तक शासन किया। ऐसा प्रचलित है कि पुरुषोत्तम देव ने पैदल चलकर जगन्नाथपुरी की तीर्थ यात्रा की एवम् भगवान जगन्नाथ के मंदिर में दान दिया। बस्तर नरेश की श्रध्दा से प्रसन्न होकर भगवान जगन्नाथ ने स्वप्न में आकर उन्हें ''रथपति'' की उपाधि दी। तब से लेकर आज तक बस्तर में दशहरा पर्व के अवसर पर विशाल काष्ठ रथ की परिक्रमा होती है। पहले रथ पर राजा बैठा करते थे, किन्तु बदली परिस्थितियों में अब मॉं दंतेश्वरी का छत्र रथ पर रहता है।[7]

यहॉं के आदिवासी गीतों में भी पुरुषोत्तम देव बस्तर दशहरा का वर्णन मिलता है। बस्तर दशहरा पर्व के अवसर पर मुंडा आदिवासियों द्वारा ''चूड़ामणि गीत'' गाया जाता है, इसमें बस्तर दशहरा के अंतिम चरण में मुरिया दरबार के आयोजन का उल्लेख है।

मुड़ी दरबार एबे बैठे महाराजा, रंगीन के माहला लागै आज
हुजूर प्रभु बाना बॉंधे, नेगी असा बैठे जोगी असा बैठे, बैठे सैदार

संस्कृत वंशवली श्लोक 17 में उल्लेख है कि विष्णु ने प्रसन्न होकर राजा पुरुषोत्तम देव को सौभद्र प्रदान किया और उन्हें बारह मंगलमय चक्रों से युक्त किया। तब उन्होंने बस्तर में बारह पहियों वाले रथ का निर्माण करवाया अपनी रथपति उपाधि के अनुसार-

सौभद्रं दत्तवान विष्णुश्चक्रद्वादशसंयुतम्
बस्तरे नगरे राजा साधितं स्यन्दनोत्तमम्।

उन्होंने "भारी तथा हल्के" दोनों प्रकार के रथों का निर्माण करवाया और यह सब कुछ विष्णु की कृपा से हुआ। वे तथा उनकी पत्नी ने दुर्गोत्सव के अवसर पर पहली बार रथ पर आरोहण किया-

विष्णुशक्त्या तया तं वैकृत्वा लघुगुरुन् द्विधा
साधु दुर्गोत्सवे तस्य चारोहणमकारितः।

इस प्रकार पुरुषोत्तम देव बस्तर के "रथयात्रा" महोत्सव के प्रवर्तक हैं, और उन्होंने उक्त महोत्सव को देवी जात्रा से जोड़ दिया। उक्त महोत्सव 1490 ई. में दुर्गोत्सव के अवसर पर पहली बार आयोजित किया गया था। रथयात्रा पर्व भी बस्तर में इन्होंने ही प्रारंभ किया। बस्तर में यह पर्व गोंचा के नाम से प्रसिध्द है। आज भी यह पर्व जगदलपुर में प्रति आषाढ़ मास में मनाया जाता है।[8]

पाठजात्र:- इस त्यौहार का प्रारंभ पाठजात्रा पूजा से होता है, जो कि सावन मास की अमावस्या को होती है। इस दिन रथ के लिये लकड़ी का पहला तना लाया जाता है, जिसे यहॉ के आदिवासी तुरलू खोटला कहते है। इसका अर्थ है, सम्पूर्ण या मजबूत स्वस्थ लकड़ी का तना।[9] यह एक प्रथा प्रचलित है, जिसे पाठजात्रा के नाम से जाना जाता है। इसमें वन विभाग से स्वीकृति प्राप्त कर जंगल से लकड़ियॉ लाकर रथ बनाना शुरु होता है। सबसे पहले सिंह द्वार के पास लकड़ी का एक लट्ठा लाकर रख देते है और उसकी विधिपूर्वक पूजा करते हैं। इसके कुछ दिन बाद फिर रथ निर्माण के लिये लकड़ियॉ लायी जाती है। हरेली अमावस के दिन यह प्रथा पूरी की जाती है। पर्व से दो माह पूर्व पर्व को सार्थक बनाने में लकड़ी काम आती है। लकड़ी के इस महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसलिये इस प्रथा के माध्यम से बस्तर का जन-जीवन लकड़ी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है। बस्तर दशहरे की तैयारी में इस प्रथा का प्राथमिक महत्व है। बेड़ाउमर गॉव के आदिवासी रथ बनाने का दायित्व पूरा करते थे। अछॉड पाटा, मोंगरमोही, खंभे मचान, छवनी आदि रथ के अलग-अलग भागों का निर्माण कार्य अलग-अलग दलों में बॅट जाता है, और सब मिलकर रथ का निर्माण करते है। दशहरा उत्सव में स्थानीय प्रतिनिधि, ग्रामीण सरकार सभी का सहयोग रहता है।[10]

श्रम सहकार:- रथ निर्माण हेतु जंगल से लकड़ी लाने के लिये अगरवारा, कचोरापाटी और रायकेरा परगनों के आदिवासी निश्चित है और तीनों परगनों के विभिन्न गॉवों से लोग इस कार्य में भागीदारी बनते हैं। प्रत्येक ग्राम के प्रत्येक घर से एक सदस्य सम्मिलित होता है। झाड़ उमरगॉव और बेड़ा उमरगॉव के बढ़ई और लुहार मिलकर बस्तर दशहरे के विशालकाय रथ का निर्माण कार्य प्रति वर्ष बड़ी जिम्मेदारी के साथ पूरा करते हैं। करंजी, केसरपाल और सोनाबाल गॉव के आदिवासी रथ खींचने के लिये रस्सी निर्माण का काम पूरी तत्परता के साथ सम्पन्न करते हैं। चार पहियों वाले प्रारंभिक फूल रथ को कचोरापाटी और अगरवारा परगनों के लोग खींचते हैं। 8 पहियों वाले बड़े रैनी रथों पर सीढ़ी लगाने वाले आदिवासी गढ़ेया गॉव के लोग होते हैं।[11] रथ खींचने 30 गॉवों से सियाड़ी पेड़ की छाल को लाया जाता है। रथ को खींचने के लिए सियाड़ी के पेड़ की छाल से ही रस्सी बनाई जाती है। इस रस्सी का निर्माण पिछले 40 सालों से करंजी और उसके आस-पास के ग्रामीण करते हैं। दशहरा खत्म होने पर यह लोग इस रस्सी के छोटे-छोटे टुकड़े कर अपने घर ले जाते हैं। यहॉ ऐसी मान्यता है कि इससे धन वैभव प्रतिष्ठा के साथ वंशवृध्दि होती है।[12]

काछिनगादी:- बस्तर दशहरा पर्व मनाने की शुरुआत काछनगादी से होती है। काछिनदेवी बस्तर के मिरगान आदिवासियों की कुल देवी है। आश्विन मास की अमावस्या के दिन काछिनगादी का कार्यक्रम आयोजित होता है।

रथ परिक्रमा प्रारंभ करने से पहले काछन गादी में कुवारी अनुसूचित जाति की कन्या को कांटे के झूले में बिठाकर झूलाते हैं तथा उससे दशहरा की अनुमति एवम् सहमति ली जाती है।[13] काछिनगादी का अर्थ होता है काछिन देवी को गद्दी देना। काछिनदेवी की गद्दी कॉटों की झूलेदार होती है। मान्यता के अनुसार काछिनदेवी धन-धान्य की रक्षा करती हैं। कार्यक्रम के तहत् एक भैरम-भक्त सिरहा, आव्हान करता है और उस कुंवारी लड़की पर काछिन देवी आरुढ़ होती है। जिसे झूले पर झुलाया जाता है। देवी की पूजा के पश्चात् दशहरा मनाने की स्वीकृति प्राप्त की जाती है। अनुसूचित जाति की देवी को बस्तर के भूतपूर्व राजाओं द्वारा इस प्रकार प्राथमिक सम्मान दिया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि बस्तर भूमि के उन विगत राजाओं की दृष्टि में अनुसूचित जाति अस्पृश्य नहीं थे। काछिन देवी कॉटों को जीतने का संदेश देती हैं।[14]

रैला पूजाः- बस्तरांचल में एक दंत कथा प्रचलित है कि बस्तर के प्रथम काकतीय नरेश अन्नमदेव की बहन का अपहरण कर लिया गया था। बाद में उसे छोड़ दिया गया, परंतु कुलीन राज परिवार ने उसे नहीं अपनाया तो एक अनुसूचित जाति परिवार ने उसे अपना लिया। राजकुमारी राजपरिवार के ऐसे व्यवहार से दुःखी होकर जल-समाधि ले ली। यह दिन दशहरा का था। मिरगान लोग अपनी इस लाडली राजकुमारी का प्रतिवर्ष अपने ढंग से श्राध्द मनाने लगे। राजकुमारी का नाम "रैलादेवी" था। राजकुमारी रैलादेवी का वहीं श्राध्द कर्म बस्तर के दशहरा पर्व में रैला-पूजा के नाम से जाना जाता है। काछिन मंदिर में काछिन गादी हो जाने के बाद जगदलपुर के बाजार में शाम को रैला पूजा होती है। रैला पूजा मिरगान जाति की पूजा है। रैला-पूजा में मिरगान महिलाए अपनी मिरगानी बोली में एक गीत-कथा प्रस्तुत करती है, जिसमें रैला-देवी का कारुणिक चित्रण मिलता है।[15]

जोगी बिठाईः- आश्विन शुक्ल से बस्तर-दशहरा अपना नवरात्र कार्यक्रम आरंभ करता है। इसके अंतर्गत देवी देवताओं की पूजा के पश्चात् सीरासार नामक स्थान में जोगी बिठाई की रस्म पूरी की जाती है। ऐसी मान्यता है कि दशहरे का कार्यक्रम निर्विध्न चले, किसी प्रकार की कोई परेशानी ना आयें। इसी कामना के साथ हल्बा समाज का एक आदमी सीरासार भवन के मध्य भाग में बनाये गये गड्ढे में दशहरे की समाप्ति तक लगातार नौ दिनों तक योगासन की मुद्रा में बैठता है। जोगी इस बीच सिर्फ फलाहार करता है।[16] जोगी बिठाते समय सात "मॉगुर माछ" काटने का रिवाज है। पहले एक बकरा भी कटता था।

रथ चालनः- जोगी बैठने के दूसरे दिन रथ चलना प्रारंभ हो जाता है। प्रारंभ में बारह पहियों वाला एक विशालकाय रथ किसी तरह चलाया जाता था, परंतु चलाने में असुविधा होने के कारण बाद में उस एक रथ को आठ और चार पहियों वाले दो रथों में विभाजित कर दिया गया। आश्विन शुक्ल द्वितीया से लेकर लगातार आश्विन शुक्ल सप्तमी तक चार पहियों वाला रथ चलता है। यह रथ पुष्प-सज्जा प्रधान रथ होने के कारण फूल रथ कहलाता है।[17] आश्विन द्वितीया से आश्विन शुक्ल सप्तमी तक चलने वाले फूलरथ पर राजा बैठते थे अब राजपरिवार के सदस्य रहते है। उनके साथ देवी दंतेश्वरी का छत्र आरुढ़ रहता है। साथ में देवी का पुजारी रहता है। प्रतिदिन शाम एक निश्चित मार्ग पर रथ परिक्रमा करता हुआ राजमहल के सिंह द्वार के सामने खड़ा हो जाता है। रथ के साथ-साथ गॉव-गॉव से आमंत्रित देवता भी चलते हैं। पहले बस्तर दशहरा में इस रथ यात्रा के दौरान हल्बा (आदिवासी) सैनिकों का वर्चस्व रहता था। आज भी उनकी भूमिका उतनी ही महत्वपर्ण हैं।[18]

मावली परघाव:- आश्विन शुक्ल सप्तमी को चार पहियों वाले रथ की समापन परिक्रमा चलती है। तत्पश्चात् दूसरे दिन दुर्गाष्टमी मनायी जाती है। दुर्गाष्टमी के अंतर्गत निशा-जात्रा का कार्यक्रम होता है। निशा-जात्रा का जुलूस नगर के बाजार के समीपस्थ पूजा-मंडप तक पहुचता है। आश्विन शुक्ल को संध्या जगदलपुर स्थित सीरासार में बैठे जोगी को समारोह पूर्वक उठाया जाता है। फिर जोगी को भेट सम्मानित करते है। इस कार्यक्रम में दंतेवाड़ा से दंतेश्वरी माई की पालकी में श्रध्दा पूर्वक लायी गयी मावली-मूर्ति की अगवानी की जाती है। मावली देवी दंतेश्वरी माई का ही एक भिन्न रुप है। नये कपड़े में चंदन का लेप देकर एक मूर्ति बनायी जाती है और उस मूर्ति को पुष्पाच्छादित कर दिया जाता है। यहीं मावली देवी की मूर्ति है। मावली माता निमंत्रण पर दशहरा पर्व में सम्मिलित होने जगदलपुर पहुचती है। इनकी डोली को राजा, कुवर, राजगुरु और पुजारी कंधे देकर मावली मंदिर तक पहुचाते थे। आज भी पुजारी, राजगुरु और राज परिवार के लोग डोली को श्रध्दा सहित उठा लाते है, और दंतेश्वरी मंदिर में पहुंचाते हैं।[19]

दंतेवाड़ा से डोली तृतीया को निकलती है। यह डोली जगदलपुर नवमी के दिन पहुँचती है। छड़ी, चॅवर, छत्र, चांद, सूरज के निशान आदि साथ में रहते है। दो राउत डोली उठाते है। इस क्षेत्र के निवासी नाइक, भुइया, आदि डोली के साथ जाते है। रात को जगदलपुर में डोली का स्वागत (परघाव) किया जाता है। यहॉ पूजा के पश्चात् कुछ दिन माई को रखने के बाद माई डोली जगदलपुर से रवाना होती है। विदाई के दिन अनाज, चावल, खाने का सामान, कपड़ा, अनेक आभूषण, आदि दिए जाते है। दंतेवाड़ा आने पर सब नये कपड़े तथा गहने बड़ी मूर्ति को पहनाकर श्रृंगार किया जाता है।[20]

भीतर रैनी- बाहिर रैनी:- विजयादशमी के दिन भीतर रैनी तथा एकादशी के दिन बाहिर रैनी के कार्यक्रम होते हैं। दोनों दिन आठ पहियों वाला बड़ा रथ चलता है। भीतर रैनी अर्थात् विजयादशमी के दिन यह रथ अपने पूर्ववर्ती रथ की दिशा में ही होता है। इस पर झूले की व्यवस्था रहती है, जिस पर रथारुढ़ शासक वीरवेश में बैठे झूलते रहते थे। आज इस झूले पर देवी का छत्र आसीन रहता है। विजयादशमी की शाम को पहले भैंसे की बलि दी जाती थी। विजयादशमी के रथ की परिक्रमा जब पूरी हो जाती है, तब भतरा, मुरिया आदिवासी आठ पहियों वाले रथ को चुराकर प्रथा अनुसार कुम्हड़ाकोट ले जाते हैं। कुम्हड़ाकोट में राजा अपनी कुल देवी को नया अन्न चढ़ाकर प्रसाद रुप में उसे खाते थे। कुम्हड़ाकोट राजमहल से लगभग 2 मील दूर पड़ता है। बाहिर रैनी का झूलेदार रथ कुम्हड़ाकोट से चलकर चौराहे से गुजरता है। भीतर रैनी और बाहर रैनी के कार्यक्रमों में रियासती शासन काल में भतरा जाति के आदिवासी युवा अपनी पारम्परिक एवम् विचित्र वेश-भूषा में लगातार दो दिन सक्रिय हुआ करते थे, उन्हें धनुकॉडेया कहॉ जाता था। अब यह प्रथा बंद हो चुकी है। धनु कॉडेया का अर्थ होता है धनुष-तीर वाला। इनका कार्य था, किसी भी ग्रामीण को (स्त्री या बच्चे को छोड़कर) पकड़कर रथ के पास तक ले जाते और उसके हाथों रथ की रस्सी थमा देते थे। निश्चित गॉवों तथा निश्चित परिवारों के अधिकृत सदस्य ही धनुकॉडेया बनाये जाते थे।[21]

मुरिया दरबार:- आश्विन शुक्ल 12 को निर्विध्न दशहरा संपन्न होने की खुशी में काछिन-जात्रा के अंतर्गत काछिनदेवी को काछिन गुड़ी के पास वाले पूजा मंडप पर पुनः सम्मानित किया जाता है। इस दिन संध्या को सीरासार में ग्रामीण तथा शहरी मुखियों की आम सभा लगती थी, जिसे मुरिया-दरबार कहॉ जाता था। इस दरबार में राजा-प्रजा के बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ करता था। विभिन्न समस्याओं के निराकरण हेतु खुली चर्चा होती थी।[22] सही मायने में यह काकतीय राजवंशीय बस्तर के राजाओं की संसद रही है, जिसमें राजा, राजगुरु एवम् उनके मंत्री सीधे

विभिन्न ग्रामों से आये मांझी, मुखिया एवम् अन्य ग्राम प्रतिनिधियों से चर्चा करते थे। आज भी मुरिया दरबार के स्वरुप को प्रजातांत्रिक स्वरुप में स्वीकार किया जा रहा है। इस परंपरागत दरबार में राज्य के मंत्री, बस्तर के सांसद, विधायक भाग लेते है साथ ही बस्तर क्षेत्र में विकास योजनाओं पर चर्चा की जाती है। बदले हुए स्वरुप में जनप्रतिनिधि बस्तर क्षेत्र के विकास के लिये संकल्प लेते है। इस प्रकार इस परंपरागत दरबार का एक सार्थक उपयोग बस्तर दशहरे की विशेषता है।

ओहाड़ी:- मावली माता के मण्डप से आश्विन शुक्ल 13 को मावली माता को समारोह पूर्वक दंतेवाड़ा के लिये विदा किया जाता है। इस विदायी समारोह को ओहाड़ी कहते है। ओहाड़ी के साथ ही बस्तर दशहरे के कार्यक्रम समाप्त हो जाते हैं। लोकोत्सव का स्वरुप ग्रहण कर चुके बस्तर दशहरे को देखने देश-विदेश से हजारों शैलानी आते हैं। इस अवसर पर राज्य शासन की ओर से विकास प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है।[23] बस्तर का यह दशहरा कुछ बातों में प्रजातांत्रिक भी है। बस्तर के इस राजकीय पर्व के प्रति बस्तर का आदिवासी समाज इतना आस्थावान है। उनकी आस्था का एक बड़ा कारण है- देवी दंतेश्वरी आरण्य की संस्कृति के

तहत् देवी-देवताओं का स्थान सर्वोपरि है। देवी दंतेश्वरी बस्तर के काकतीय राजघराने की इष्ट देवी है। इसी कारण बस्तर दशहरा अपने संपूर्ण अंचल की भावात्मक एकता को रेखांकित करता है।[24]

बस्तर का दशहरा सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्वाह के साथ विश्व में सर्वाधिक दिनों तक चलने वाला पर्व अनेक देवी-देवताओं का एक स्थल पर सम्मिलन, राजा पुरुषोत्तम देव के पन्द्रहवीं शताब्दी में सिंहासनारुढ़ होने से लेकर अद्यतन वर्ष तक बिना किसी विध्नबाधा के सांस्कृतिक धरोहर को निर्बाध बनाए रखने की परम्परा ने इसे अनूठा

स्वरुप प्रदान किया है। सम्पूर्ण दशहरा पर्व के पूजन अर्चन में मॉ दंतेश्वरी का विशेष स्थान है।[25]

आदिकाल से चले आ रहे दशहरा पर्व का बस्तर में मनाने का ढंग अत्यंत निराला तथा परंपरा के निर्वहन में विभिन्न प्रथाओं को पूरा किया जाना, बस्तर की सांस्कृतिक धरोहर है। साथ ही एकता के प्रतीक हेतु आज भी प्रासंगिक है। बस्तर की लोक संस्कृति में बस्तर के महापर्व दशहरा का संबंध आदिशक्ति के रुप में मॉ दुर्गा से है। मॉ दुर्गा के शक्ति पीठों में से एक मॉ दंतेश्वरी शक्तिपीठ जन आस्था का केन्द्र है, तथा बस्तर के विभिन्न ग्रामों में मॉ दंतेश्वरी के विभिन्न रुपों की पूजा अलग-अलग देवियों के नाम से की जाती है। मॉ दंतेश्वरी को ही मावली माता के रुप में दशहरा पर्व तक लाया जाता है। दंतेवाड़ा दंतेश्वरी व दशहरा बस्तर की आदिम संस्कृति की प्रतीक है, सांस्कृतिक धरोहर है। नए परिप्रेक्ष्य में बस्तर वासियों के लिए एकता सूत्र का द्योतक है।[26]

छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर क्षेत्र का दशहरा पर्व एकता का प्रतीक है। सभी मिलकर एक उद्देश्य के लिये कार्य करने की झलक यहॉ दृष्ट्रिगोचर होती है। समानता, श्रम विभाजन, प्रकृति के विविध रुपों की पूजा, आदिवासी संस्कृति आदि बस्तर दशहरा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. शुक्ला शांता, (1988),छत्तीसगढ़ का समाजिक-आर्थिक इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,नई दिल्ली, पृ0 6
2. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता,(2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 32,33
3. त्रिपाठी संजय, त्रिपाठी चंदन, (2002), वृहद संदर्भ, उपकार प्रकाशन आगरा, पृ0 460
4. आगत से अतीत तक की धरोहर, फोल्डर, छत्तीसगढ़ पर्यटन मंडल, रायपुर पृ0 2 क्रम 14
5. तिवारी सुरेश, (2011), बस्तर पर्यटन इतिहास और संस्कृति, द्वितीय संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 202,203
6. देवांगन, रमेशचंद्र, (2019), प्रतियोगिता सारांश, ईशिता प्रकाशन, जुना बिलासपुर, पृ0 350
7. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 37, 38
8. शुक्ल, हीरालाल, (2007), आदिवासी बस्तर का वृहद् इतिहास, चतुर्थ खण्ड, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन दिल्ली, पृ0 120, 121
9. विश्व का सबसे लंबा त्यौहार बस्तर दशहरा, उपलब्ध, www.kosalkathlcom पृ0 1
10. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 126, 11. वही पृ0 127
12. पत्रिका रायपुर, 30 सितम्बर 2019 सोमवार, पृ0 3
13 .बस्तर दशहरा उपलब्ध, patrika.com/jagdalpur-news/jagdalpur dussuhra
14. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 128, 15. वही 129
16. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 34
17. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 130
18. बस्तर दशहरा, उपलब्ध, patrika.com/jagdalpur-news/jagdalpur dussuhra
19. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 131
20. ब्रिटिश कालीन छत्तीसगढ़ हिंदी गजेटियर, (2017),भाग-1, छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर
21. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 132, 22. वही 133
23. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 36
24. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 127
25. तिवारी सुरेश, (2011), बस्तर पर्यटन इतिहास और संस्कृति, द्वितीय संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 2011, पृ0 206, 26. वही 208, 209

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य व्यंग्य

डॉ. मानक चंद टंडन

लोकगीत, लोकमन की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोकगीत लोककण्ठों में विराजता है, जो उनके दीर्घकाल के अनुभव, चिन्तन एवं साधना के द्वारा संचित ज्ञानकोष का जीवन्त रूप है। यही कला रूप युगानुरूप परिवर्तन के साथ अपनी मूलभावना को सहेजे पीढ़ी दर पीढ़ी वाचिक परम्परानुरूप हस्तांतरित हो रही है। लोकजीवन के क्रमिक इतिहास, लोक संस्कार, रीति-नीति, परम्परा, खान-पान, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि के बहुरंगी रूप लोकगीतों में स्वतः ही समाहित रहते है। छत्तीसगढ़ में लोकगीतों के इन्द्रधनुषी रंग विद्यमान है-लोरी, फुगड़ी, सुआ, बारहमासा, ददरिया, भोजली, गौरी-गौरा, फाग, जस, जंवारा, करमा, पंथी, छेरछेरा, पंडवानी, भरथरी, चंदैनी, ढोलामारू, बांसगीत, संस्कारगीत, देवारगीत आदि। इन लोकगीतों ने छत्तीसगढ़ी लोकजीवन के सुख-दुख, जीवन-मरण, मिलन-विरह, आसू और मुस्कान सब को जीवन्तता प्रदान की है।

हास्य-व्यंग्य लोकजीवन का प्रमुख अंग है। विसंगतियों-बुराईयों पर व्यंग्य करना लोक का स्वभावगत गुण है। मनोविनोद एवं मनोरंजन के लिए भी गीतों में हास्य-व्यंग्य को माध्यम बनाया जाता है। लोकगीतों में हास्य-व्यंग्य के पुट जनमानस को स्वस्फूर्त बनाता है, आंदोलित करता है एवं दीर्घायु बनता है। ऐसे सहज व्यंग्य में व्यंग्यकर्ता तथा जिस पर व्यंग्य किया जा रहा है, उस पर किसी तरह का मतभेद, दुराव या घृणा का भाव नहीं होता, ये व्यंग्य मनोविनोद या प्रेमवश किये जाते है। लोकगीतों के व्यंग्य सीधे और सटीक पड़ता है। लक्ष्य पर सीधा प्रहार होता है। रिश्तों-नातों में प्रगाढ़ प्रेम को स्थापित करने एवं समालोचना कर या कहे ताना कसकर कमियों को दूर करने में हास्य-व्यंग्य प्रधान गीतों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। 'प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंड का पर्दाफाश करता है। वे कहते हैं-''व्यंग्य एक माध्यम है कोई राजनीतिक पार्टी नहीं, व्यंग्य उजागर और सचेत करता है।' व्यंग्य एक सही मापदण्ड है व्यवस्थित जीवन के लिए। उनके अनुसार-''सही व्यंग्य व्यापक जीवन परिवेश को समझने से आता है, परिवेशगत विसंगतियों की तह में जाना, कारणों का विश्लेषण करना, उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखना-इसी से सही व्यंग्य बनता है। उनके अनुसार ''सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार कराता है, चेतना मे हलचल पैदा करता है, व्यवस्था की सड़ाँध की ओर इंगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है।''[1]

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य और व्यंग्य की स्वभावतः जुगलबंदी होती है। लोकगीतों में जनमानस का जहाँ सहज उमंग-उल्लास होता है, वहाँ हास्य मौजूद होता है तथा विपरीत परिस्थिति में वही व्यंग्य का रूप ल लेता है। 'व्यंग्य' अपने साथ चमत्कारीक गुण को समाये होता है, कटाक्ष सम्पन्न होता है। यह किसी को आल्हादित लगता है और किसी को नीम सा कड़वा भी लगता है। लोकगीतों में समाहित हास्य-व्यंग्य लोकजीवन के कमियों को उजागर करने वाला प्रकाश-परावर्तक होता है और सुधार करने वाला कोंचक हथियार भी। इसका प्रयोग विसंगतियों-बुराईयों को आहत और नष्ट करने के इरादे से किया जाता है। कहीं-कहीं यह व्यंग्य, विशुद्ध रूप से हास्य से सज्जित होता है, लेकिन दूसरी ओर करूणा के भाव को भी दर्शाता है। प्रियतम से बिछुड़ने का दुख तथा देशकाल पर व्यंग्य भाव इस देवार गीत में चित्रित है-

''मन मिले जोही अब तो भुलागे वो गुने ल भइगे
दिल मिले जोही अब तो भुलागे.....
एक तो भुलागे दीदी बन के कोयलिया वो
बन के कोयलिया
दूजे भुलागे संगी साथी वो गुने ल भइगे
मन मिले जोही..... ।''[2]

दरोगा, पटवारी, अमीन आदि के अत्याचारों को लोकगीतों के माध्यम से गाया जाता हैं। नेताओं द्वारा भ्रष्टाचार, भोगलिप्सा और ऐश्वर्यप्रियता भी लोकगीतों के विषय क्षेत्र में अपना स्थान बना लेते है। देवार करमा गीत में वही व्यंग्यात्मक भाव परिलक्षित हो रहा है-

''एक तारा हो टुटे पहाड़ म परे
पटवारी के लइका जुलुम किये
हो एक तारा..... ।
काबा म काबा फुले, बन बन पटवारी
छोटे सही जान परे, साल होगे भारी
हो एक तारा..... ।''[3]

विवाह संस्कार के इस अवसर पर चूलमाटी लाने वर-वधु पक्ष के लोग गौठान में जाते हैं। इस रस्म में मिट्टी खोदते समय जीजा-साली, भाभी-ननद, दादा-दादी, ढेड़हीन-ढेड़हा, सुवासिन-सुवासा में गीतों के माध्यम से आपसी नोंक-झोंक होता है। हास्य व्यंग्यात्मक गीतों से ये एक दूसरे पर ताना कसते है। यह दृश्य बड़ा ही मनमोहक होता हैं-

तोला माटी कोड़े ल
तोला माटी कोड़े ल
नई आवय मीत धीरे-धीरे
धीरे-धीरे अपन मेछा ल तीर धीरे-धीरे
तोला माटी बोहे ल
तोला माटी बोहे ल
नई आवय मीत धीरे-धीरे
धीरे-धीरे अपन लुगरा ल तीर धीरे-धीरे

विवाह संस्कार के अवसर पर विविध रस्मों के अनुरूप अनेक प्रकार के गीत गाये जाने की परम्परा है। इस अवसर पर भड़ौनी गीतों में हास्य-व्यंग्य के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं-

''राती राती आये बरतिया दिखे कंवल के फूल हो
डफड़ा बरोबर छतिया दिखत हे, घोड़ा बरन तोर मुँह हो..... ।
नंदी तीर के करू करेला फरगे झोंपा चार हो
समधी राजा का डांड़ पड़गे अपन बहिनी बेचे ला जाय हो..... ।''[4]

भड़ौनी गीत की एक अन्य शैली यह भी है-

''आइन बरतिया वो गाँथे अउ कोरे,

वो गाँथे अउ कोरे
कि खड़े हे दांत निपोरे रे सगा ह
खड़े हे दांत निपोरे।।
आइन बरतिया वो पेट संधोये
वो पेट संधोये
कि मुंह घलो नइतो धोये रे सगा
मुंह घलो नइतो धोये।।''[5]

डिड़वा नाच छत्तीसगढ़ का स्त्री प्रधान गीतिनाट्य है। इसके गीत विशुद्ध रूप से श्रृंगारिक तथा हास्य-व्यंग्यपूर्ण होता है। गीतों के माध्यम से एक-दूसरे को ताना कसकर मनोरंजन करना कलाकारों का मुख्य उद्देश्य होता है-

''समधिन भऊजी के दाई, ओकर छेना बिने गये हे
छेरका म मन लगगे
झऊहा म लइका बियाये हे
ये दे झऊहा म लइका बियाये हे
झऊहा म लइका बियाये.....
झऊहा म लइका कऊन रंग होवय
झऊहा म लइका कऊन रंग होवय
के कारी बिलई लमचोची
कारी बिलई लमचोची भऊजी के
कारी बिलई लमचोची भऊजी के
ओकर चोंचे म बैठे हे कऊआ
भौजी के चोंचे म बइठे हे कऊआ।''[6]

छत्तीसगढ़ में प्रचलित राउत दोहों में जहाँ शौर्य का भाव है, वहीं हास्य-व्यंग्य के भी विविध भाव परिलक्षित होते हैं। ऐतिहासिक संदर्भों के साथ ही सम-सामयिक गतिविधियों पर भी लोक की पैनी नजर रहती है। राउत दोहों में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है-

''बामन होय से का होत है, पहिरे तीन ताग के सूत।
भाव-भंजन जाने नहिं, रहे भूत के भूत।।
भले गाँव भरतपुर जिहाँ बहुते फरे हे पिकरी रे।
निपनिया के टूरी मनला देखतो खसखस ले चिपरी रे।।
बइला ला देहंव दाना-पानी, भईसा ल देहंव भूसा रे।
ये खपरी गांव के टूरी मन हा मोला कइथे मोसा रे।।
सबके लउठी रिंगी-चिंगी, अउ मोर लउठी कुसुवा रे।
धर बांध के डउकी लानेंव, उहू ल लेगे मुसुवारे।।
ठाकुर ल जोहारे आयेन संगी, बुचुआ हंडिया मा बासी हो
ठाकुर पहिरे सोन चांदी, ठकुराइन पहिरे घांटी हो।।''[7]

लोक अपने आराध्य देवी-देवताओं के चरित्र या घटनाओं को भी लोकजीवन की कसौटी में कसकर देखता है । वह उन पर भी व्यंग्य करने से नहीं कतराता । लोकनाट्य 'रहस' में प्रचलित गारी गीत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है-

''गारी गावय सबे बिरीजनारी, सुनले तंय घनस्याम ।
गोरिया हे नंद जसोदा गोरी, गोरिया हे बलराम
कइसे तंय करिया भये मोहन, जनम लिये नंद धाम ।
बहिनी तोरे रानी सुभदरा, जाने नगर समाज
अरजुन के संग भागे उढ़रिया, बोरे कुल के नाम ।''[8]

सुवा गीत मूलतः श्रृंगारिक गीत है किन्तु इनमें लोक जीवन के विविध प्रसंगों एवं क्रियाकलापों का समावेश स्वतः ही हो जाता है । हास्य-व्यंग्य का सुन्दर रूप इस सुवागीत में चित्रित है-

''तरि हरि ना-ना मोर ना-ना सुवना खोरवा बनिया
खोरवा बनिया हला-हला कनिहा बेचै धनिया
पहिरे चिक्कट पटकू, अऊ निच्चट चेंदुवा, खोरवा-बनिया
मुँड़ी ल चाबै घेरी-बेरी मँगसा-खोरवा बनिया ।
मारे थपरा मुँड़ी म आगे झारा झारा कचरा खोरवा बनिया ।
खोरवा बनिया हलाहला कनिहा बेचै धनिया ।''[9]

छत्तीसगढ़ के सामाजिक जीवन मूल्यों पर आधारित जनप्रिय लोकनाट्य विधा है-नाचा । नाचा में ऐतिहासिक चरित्रों के गुण-व्यवहार को आधार बनाकर उन्ही के सदृश चरित्रों पर हास्य प्रधान शैली में व्यंग्य किया जाता है-

तोला जोगी जानेव रे भाई
का जानंव लंका पति रावन जोगी जानेंव
अरे दंड कमंडल धर के तंयहा
साधू भेस मं आयेजी
धोखा देके भिक्छा मांगे
लाज घलो नइ आये, तोला जोगी जानेंव
तोला जोगी जानेव रे भाई.....

नाचा में साखी के माध्यम से भी जनमानस के समक्ष हास्य-व्यंग्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये जाते है जिनसे लोक का मनोरंजन के साथ-साथ तार्किक बुद्धिमत्ता का भी विकास होता है-

1. नदी बियाये ढ़ोड़गी अऊ ढ़ोड़गी बियाये रेत
बुढ़िया-बुढ़िया के लइका होगे, मुटियारी ठठाये पेट जी ।।
2. चारमहिना के छोकरी छः महिना के पेट
अट्ठारह ठन लइका बियाय, पुरूष संग नइये भेंट ।।
3. दस चरण दस नेत्र है, पाँच मुड़ जीव चार,
उलटा घड़ा पनिहारिन के, संगी करो विचार ।।

छत्तीसगढ़ की पावन भूमि संत-महात्माओं की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली भी रही है । यहाँ गुरू घासीदास, धनी धर्मदास, रैदास आदि संतों के विचारों, आदर्शों का गहरा प्रभाव है । वे अपने चरित्र एवं वाणी से निर्गुण भक्ति का

संदेश देकर यहाँ के जनमानस में भक्ति तथा आध्यात्म का संचार किये हैं। इस नश्वर शरीर पर अभिमान ना कर आडम्बर रहित उच्चतम मानवीय जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। इस निर्गुण भजन में समाज को करूण भावों के साथ व्यंग्यात्मक शैली में यही बात कही गयी है-

'पंछी के कउन हे ठिकाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना.....
बढके सुख संतोस ल नइये
लोभिया गिधवा समाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना.....
जीयत भर मन मोर-मोर भावे
मिरीत सरीर तुरते हटावे
मोह माया तोर चार दिन बर
धन, बल कछु संग नइ जावे
जुच्छा आये जाना हे जुच्छा
एक दिन सब हे गवाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना..... ।''[10]

सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरू घासीदास बाबा के चरित्र, उपदेश तथा संदेशों को पंथी गीत में गाया जाता है। इनमें मानवीय जीवन के बाह्य आडम्बर पर तीखा व्यंग्य किया जाता है जिससे वे सत्मार्ग पर अग्रसर हो-

मंदिरवा मा का करे जइबो
अपन घट के ही देवा ल मनइबो.....
पथरा के देवता हाले नइतो डोले वो
ना तो कुछु खाये पीये ना तो कुछु बोले
मंदिरवा मा का करे जइबे.....

ददरिया लोकगीत श्रम और साधना के गीत है। खेत-खलिहानों पर मेहनतकस मजदूर हरे-भरे फसलों के मनोहारी दृश्य को देखकर अनायास ददरिया लोकगीतों को गुनगुनाने लगता है। इनमें भी हास्य-व्यंग्य के अनेक रूप व्याप्त होते हैं-

''खाये ल कहेंव तंय नई खाये
मोर जीव ल लेवाके तंय नई आये
कारी बिजुनारी कुदारी बन मा
कइसे गोहरावंव जवानी पन मा
झुलके मारे झुलनी उठाके मारय बान
का जानंव भऊजी तोर भाई बेइमान
जोरे पीरीत ल, जोरे पीरीत ल काबर टोरे वो... ।''[11]

लोकगीतों में देशकाल एवं तत्कालीक घटनाओं के दृश्य भी समाहित होते हैं। भारतीय स्वाधीनता आंदोलनों में जनजागरण में लोकगीतों की महती भूमिका रही है। इस करमा गीत अंग्रेजों द्वारा भारत को गुलाम बनाने के घटनाओं का व्यंग्यात्मक शैली में वर्णन हुआ है-

''ओ हो हो हो हाय रे गुलाम भये रे
देस हमर अंगरेजन के गुलाम भये रे
सात समुन्दर पार ले आके, बनिन हे बैपारी
संगी बनिन हे बैपारी
राज पाठ ला कबजा डारिन, करे अतियाचारी
रे गुलाम भये रे.....
जात धरम म हमला लड़ाके, अपन बनगे हितवा
भइया अपन बनगे हितवा
सोना-चांदी सबो नंगालिस, जइसे मांस ल गिधवा
रे गुलाम भये रे..... ।''[12]

लोकजीवन के उमंग का पर्याय है-फाग गीत। फागगीतों में भी अवसरानुकूल हास्य-व्यंग्य के मनोहारी स्वरूप दिखाई देते हैं-

''चल हां दसोदा तोर बेटवा अतलंगहा हे
कलसा फोर लेवना चोराय
दसोदा तोर..... ।
कलेचुप लुका के वो घर भीतरी आथे
सींका टोर सबो संगी ला खवाथे
दसोदा तोर..... ।''[13]

पूस पुन्नी के दिन छेरछेरा पर्व का गांव-नगर सभी जगह धूम रहता है। छेरछेरा गीत में भी हास्य-व्यंग्य की प्रचुरता रहती है-

''छेरीक छेरा छेर बरतनीन छेरछेरा
मांई कोठी के धान ल हेर, हेरा..... ।
धनी रे पुनी रे ठमक नाचे डुवा, डुवा
अंडा के घर बनाये, पथरा के गुड़ी
तीर-तीर मोटियारी नाचे, बीचे मं बुढ़ी
धनी रे पुनी..... ।
कारी कुकरी करकराय, पुसियारी सेय
बुढ़िया ल पाठा मिले, मोटियारी रोय
धनी रे पुनी..... ।
कबरी बिलई दउड़े जाय, कुकुर पछुवाय
बिलई ह टांगमारय, कुकुर गुर्राय

धनी रे पुनी..... ।''[14]

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में भिन्न-भिन्न वस्तुस्थिति, जीवन दृष्टि, सामंतवादिता, मनोविनोद, प्रेम तथा जीवन में नये आदर्शों की स्थापना के लिए भी हास्य व्यंग्य समाहित किये जाते है । धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विसंगतियों पर भी लोकगीतों के माध्यम से लोक, समाज पर व्यंग्य बाण छोड़ता है ताकि लक्ष्य उन विसंगतियों को दूर कर सकें।

संदर्भ सूची-

1. हिन्दी व्यंग्य-कर्म एवं समकालीन दृश्य-संपादक-डॉ. विनय कुमार पाठक, श्रीमती जयश्री शुक्ला, प्रकाशन-प्रयास प्रकाशन सी-62, अज्ञेय नगर, बिलासपुर 495001 प्रथम संस्करण 2002 पृ. सं.-15
2. श्रीमती रेखा देवार, ग्राम-कुकुसदा, थाना-पथरिया, जिला-मुंगेली, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 13.05.2013
3. श्रीमती रेखा देवार, ग्राम-कुकुसदा, थाना-पथरिया, जिला-मुंगेली, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 13.05.2013
4. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
5. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
6. श्रीमती गनेशिया बाई रात्रे, ग्राम-मुढ़ीपार, थाना-बिल्हा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 26.03.2015
7. श्री पीरीत राम यादव, ग्राम-भरतपुर, थाना-भाटापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 15.09.2014
8. पं. जैतराम गर्ग, ग्राम-मुढ़ीपार, थाना-बिल्हा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक-12.04.2014
9. छत्तीसगढ़ के सुवागीत-डॉ. जगदीश कुलदीप, प्रकाशन-बिलासा प्रकाशन प्रेस क्लब भवन ईदगाह मार्ग बिलासपुर, छ.ग. प्रथम संस्करण 2007 पृ. क्र. 37
10. नाचा-अनिल जांगड़े गौतरिहा, प्रकाशन-वैभव प्रकाशन, अमीन पारा चौक, पुरानी बस्ती, रायपुर, छ.ग.1 संस्करण 2015 पृ.क्र. 56
11. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
12. श्री सुखराम ध्रुव, ग्राम-सेम्हरा, थाना-भाठापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक-11.02.2016
13. श्री सुखराम ध्रुव, ग्राम-सेम्हरा, थाना-भाठापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 11.02.2016
14. छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति- डॉ. पीसीलाल यादव, प्रकाशन-सर्वप्रिय प्रकाशन 1569, प्रथम मंजिल, चर्च रोड काश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 2020 पृ. क्र.-81

कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवन शैली और संस्कृति

मोनिका साहू

छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर संभाग में स्थित "उत्तर बस्तर" नाम से विख्यात कांकेर ज़िला भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही समृद्ध रहा है। कांकेर ज़िला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है, जहाँ प्रचलित विशिष्ट मान्यताएँ, रीति-रिवाज़, पर्व-उत्सव, लोकगीत, लोक-नृत्य एवं लोककला आदिम संस्कृति के परिचायक हैं। यहाँ निवासरत गोंड जनजाति का संपूर्ण जीवन मानों लोककला तथा लोकसंगीत से सराबोर है। गोंड जनजातियों का जीवन मुख्यतः कृषि, पशुपालन एवं प्राकृतिक वनोपज पर आश्रित रहते हुए गोंड़ जनजाति प्रकृति की अनुपम गोद में पला-बढ़ा है। इस क्षेत्र में निवासरत गोंड जनजाति नगरीकरण की चकाचौंध से कोसों दूर आज भी अपनी आदिम परंपरा तथा लोक संस्कृति को संरक्षित एवं सुरक्षित बनाए हुए हैं।

आदिवासियों को "प्रकृति पुत्र" कहा जाता है, इसके पीछे का कारण यह है कि आदिवासी प्रकृति से जुड़े हुए हैं। आधुनिकीकरण के इस दौर में भी वे जंगलों में रहना पसंद करते हैं। कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासी आज भी अपनी मूल अवस्था में है, जहाँ आदिवासी समाज गैर आदिवासी समाज के संपर्क में आकर अपनी संस्कृति छोड़ नगरीय संस्कृति अपना रहा है, वही कांकेर के गोंड़ आदिवासी अपनी संस्कृति को समेटे हुए हैं। यहाँ के आदिवासियों की संस्कृति अपने आप में अनूठी है। इनका जीवन प्रकृति से जुड़ा हुआ है। अन्य जनजाति की ही तरह ये भी प्रकृति के पुजारी हैं। जन्म से लेकर मृत्यु संस्कार तक हर स्थान पर यह लोग प्रकृति की पूजा विशेष रूप से करते आए हैं। इनके भोजन, आवास आदि सभी तत्व एवं आवश्यकताएँ मूलतः प्रकृति से ही प्रभावित हैं। मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा के बाद मकान का स्थान आता है। आश्रय एक ऐसा कारक है जो मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। इन्हीं कारणों से आदिकाल से आश्रय के लिए नए-नए तरीके अपनाए गए। प्रारंभ में तो प्राकृतिक आवास का उपयोग किया जाता था जिसमें पत्थरों की गुफाएँ, वृक्ष आदि थे। जैसे-जैसे मानव चेतना विकसित होती गई, फिर मनुष्यों ने कठिन मौसम से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए मकान या आवास के नए-नए तरीके अपनाने लगा। सामाजिकों के लिए आवास एक आवश्यक अंग है, जो पारिवारिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके साथ-साथ सुरक्षा की दृष्टि से भी यह अति आवश्यक है। किसी जनजाति के सामुदायिक संगठन, पारिवारिक संगठन, जीवन-स्तर तथा आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ संस्कृति व रीति-रिवाज़ों को समझने में उनके आवास की व्यवस्था का अध्ययन अत्यंत सहायक होता है। इससे आदिवासियों की प्रकृति उनकी प्रवृत्तियों पारस्परिक संबंधों विश्वास व आस्थाओं कला-बोध आदि का सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है।'

यह क्षेत्र प्राकृतिक रूप से पतझड़ वन वाले हैं। इस दृष्टिकोण से यहाँ वर्षा की स्थिति के अनुकूल है। ग्रीष्म एवं शीतकाल के अनुरूप आवासों का निर्माण किया जाता है। 'घर विभिन्न संस्कारों को क्रियान्वित करने का स्थान है, जहाँ जन्म, विवाह और नित्य संस्कार घर में ही रहकर किए जाते हैं। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है, कि घर

संस्कार निर्माण का एक महत्वपूर्ण सोपान है।' गोंड जनजाति का व्यक्ति मकान बनाने हेतु सर्वप्रथम ऐसे स्थान का चयन करता है, जहाँ आसपास उसके परिजन निवास करते हों। स्थान का चयन करते समय इस बात का भी ध्यान दिया जाता है कि मकान के आसपास उसकी आवश्यकताओं की वस्तु आसानी से उपलब्ध हो सके। विशेष बात यह है कि स्थान के चयन मात्र से मकान नहीं बनाया जाता अपितु मकान बनाने के लिए उस स्थान का परीक्षण करने की भी परम्परा है। अपने देवी-देवता और धरती माता से अनुमति मांगी जाती है। अनुमति मिलने पर ही उस स्थान पर मकान बनाया जाता है। इस प्रक्रिया को कुछ लोग "अनुमति मांगनाँ तो कुछ लोग वह लोग "परीक्षण" करना कहते हैं। अनुमति हेतु घर का मुखिया गाँव का गायता (सिरहा) एवं देवी-देवता संबंधी जानकारी रखने वाले लोग उस स्थान पर एकत्र होते हैं। निश्चित स्थान का सेवा (पूजा) किया जाता है। महुआ का शराब से तर्पण किया जाता है। तत्पश्चात स्थान के चारों ओर घर के मुखिया द्वारा चावल रखा जाता है। इस प्रक्रिया को "कुडही" देना कहा जाता है। कुडही रखकर गोंड जनजाति अपने देवी-देवता एवं धरती माता से अनुमति मांगते हैं। साक्षात्कार के दौरान बांसपत्तर निवासी श्री मोहन वट्टी एवं श्री यशवंत कश्यप जी ने यह बताया, कि- 'गोंड जनजाति का यह विश्वास है, कि अगर कुडही 24 घंटे तक जैसा रखा गया था, ठीक वैसा ही है। न कुडही दिया गया चावल बिखरा हो और न किसी पशु-पक्षी के द्वारा खाया गया हो, तो देवी-देवता उस स्थान पर मकान बनाने की अनुमति प्रदान करते हैं। यदि चांवल इधर-उधर बिखरा हो या उस स्थान में पाया ही नहीं जाता, तो यह मान लिया जाता है कि वह स्थान देवी-देवताओं के आने-जाने का मार्ग है। तो उस स्थान पर मकान नहीं बनाया जा सकता। इस स्थिति में दूसरे स्थान का चयन किया जाता है, लेकिन उस व्यक्ति के पास और कोई स्थान न होने पर पूजा-पाठ करके देवी-देवताओं को मनाने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे करने से अगर संभव हो तो देवी-देवता उनका अप्रत्यक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त करते हैं।

कांकेर जिले के गोंड आदिवासी अपने प्रत्येक कार्य को करने से पहले देवी-देवताओं का स्मरण अनिवार्य रूप से करते हैं। कोई भी शुभ कार्य पूजा से ही प्रारंभ होती है। गोंड जनजाति पूजा को 'सेवा' कहते हैं, जिस प्रकार गैर गोंड समाज अपने आराध्य देव की 'जय' बुलाते हैं, उदाहरण- "शंकर भगवान की जय", ठीक उसी प्रकार गोंड़ समाज "बूढ़ादेव बाबा ना सेवा सेवा" कहकर अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

गोंड़ आदिवासियों की जीवन-शैली अत्यंत सरल एवं स्वाभाविक है। सुबह उठते ही गोंड़ परिवार अपने-अपने कामों में लग जाते हैं। महिलाएँ घर के कार्यों में तथा पुरुष जानवरों एवं खेत के कार्यों में अपना दिन व्यतीत करते हैं। गोंड़ पुरुषों को शिकार करना बहुत पसंद है। आज भी गोंड़ पुरुष चूहा और चिड़िया का शिकार करते हैं। चूहे का मांस इन्हें बहुत प्रिय होता है इस कारण यह लोग चूहे के शिकार में दिनभर लगा देते हैं। चूहे का शिकार सामूहिक रूप से किया जाता है। महिलाएँ अपना बचा हुआ समय झाड़ू बनाने या जंगल से लकड़ी लाने में उपयोग करती हैं। जंगलों से वनोपज संग्रहण करना गोंड समाज का अभिन्न अंग है। लगभग सभी गोंड़ परिवारों के घरों और खेतों में महुआ का पेड़ होता है। महुआ गोंड समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि कोई भी सामाजिक एवं धार्मिक कार्य महुआ के शराब के बिना संपन्न नहीं होता है। कांकेर ज़िले की गोंड़ जनजातियों में किसी भी मौसमी फल के

उपयोग से पहले त्यौहार मनाने की परम्परा है। त्यौहार में देवी-देवताओं को पहले वह फल अर्पित किया जाता है, उसके पश्चात प्रसाद के रूप में सभी को दिया जाता है। इन सब त्योहारों को गाँव के 'ठाकुर दाई' नामक स्थान पर संपन्न किया जाता है। उस स्थान को लीप कर, चांवल आटे से गायता (सिरहा) के द्वारा चौक पूरा जाता है। दीपक जलाकर महुआ का शराब, मुर्रा, लाई एवं जो भी मौसमी फल है उसे देवी-देवताओं को अर्पित किया जाता है। जब तक यह त्यौहार नहीं मना लिया जाता तब तक कोई भी गोंड़ परिवार का सदस्य उस फसल का उपयोग नहीं करता। उदाहरण के लिए जब तक 'महुआ जोगानी' का त्यौहार नहीं मना लिया जाता, तब तक कोई भी परिवार नए महुआ के फूल से शराब नहीं बना सकते। ठीक उसी प्रकार गोंड समाज में 'चईत-रईत' (चैत-रैत) या 'आमा तिहार' नहीं मनाते, तब तक कोई भी गोंड़ परिवार के व्यक्ति के द्वारा आम नहीं तोड़ा जाता। न ही गिरे हुए आम से सिलबट्टा में चटनी बनाया जाता है और न ही हंसिया से काटा जाता है। गोंड़ समाज का ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से देवी-देवता नाराज हो जाते हैं और गाँव में विपत्ति आती है। महुआ जोगानी मनाने के पश्चात् गाँव की महिलाएँ एवं लड़कियों के द्वारा 'रेला नृत्य' किया जाता है। यह नृत्य वे अपने गाँव के सभी मोहल्लों एवं दूसरे गाँव में जाकर भी करते हैं। चौराहों में रेला नृत्य किया जाता है इसके बदले सभी घरों से उन्हें महुआ मिलता है।

कांकेर जिले के गोंड जनजाति जिस प्रकार सभी मौसमी फलों को देवी-देवताओं को अर्पित करने के बाद खाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो उनकी मुख्य फसल धान के उपयोग से पहले भी त्यौहार मनाया जाता है। यह गोंड़ समाज का प्रमुख त्योहार है, जिसे 'नवा तिहार' के नाम से जाना जाता है। कांकेर ज़िला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र होने के कारण नवा त्यौहार के दिन ज़िला स्तरीय अवकाश दिया जाता है। नवा तिहार सब अपने-अपने घरों में मनाते हैं। नई फसल को अपने कुल देवी-देवताओं को अर्पित करते हैं एवं नए चांवल के बने 'चिवड़ा' को प्रसाद के रूप में सभी घरवाले ग्रहण करते हैं। इस प्रसाद को केवल घर के सदस्य ही खाते हैं। दूसरे दिन 'बासी तिहार' मनाया जाता है। इस दिन सभी के घरों में मुर्गा, मछली, सूअर आदि के मांस पकते हैं। अपने सगे संबंधियों एवं पड़ोसियों को खाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस दिन सब गोंड़ परिवार ठाकुर दाई जोहरनी पूजा में जाते हैं। घर से पाव भर चावल एवं पाव भर महुआ का शराब लेकर ठाकुर दाई के पास जाकर सेवा किया जाता है। इसके उपरांत गाँव में 'हुल्की' एवं 'रेला नृत्य' किया जाता है। गोंड पुरुष भी हुल्की बजाकर नृत्य में शामिल होते हैं-

सिरक रोलो रोरोले, रोलय रोरो रोरो लय।
रोलय सिरक रोलो रोरोले रोला रोरो लय।।

समाज का प्रथम इकाई परिवार होता है न कि व्यक्ति। व्यक्ति से परिवार बनता है और परिवार से समाज। पारिवारिक जीवन का आधार वैवाहिक जीवन होता है। विवाह संस्कार मानव जीवन के प्रमुख 16 संस्कारों में से एक महत्वपूर्ण संस्कार है। गोंड जनजाति में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित है, किंतु सबसे प्राचीन विवाह 'टीका विवाह' है। टीका विवाह में वर बारात लेकर वधु के घर जाता है और वहाँ सगाई करके वधु को अपने साथ ले आता है। इसे 'सत्ता मडवा' कहा जाता है। इस विवाह में वर और वधू का विवाह सभी वैवाहिक रस्मों साथ में ही एक ही मंडप में

होता है। विवाह के सारे खर्च वर-वधू दोनों पक्षों के द्वारा मिलकर किया जाता है। जैसे कि पहले ही बताया गया है कि गोंड आदिवासी किसी भी शुभ कार्य से पहले अपने देवी-देवताओं का स्मरण करते हैं। विवाह के पहले दिन उपस्थित सभी युवक-युवती (चेलिक-मोटियारिन) के द्वारा मंडप में गीत गाकर रेला नृत्य किया जाता है और अपने देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता है। यह नृत्य मंडपाच्छादन से पूर्व किया जाता है-

गीत -

रिरिलोयो रेला रेला रेरेला रिरिलोयो रेरेला।
रेला साय रेला, रेरेला, रिरि लोयो रेरेला -2
जोहर-जोहर जिमिदारिन जोहरी, जोहर जोहर जोहारी।
तोला लागे भने गुरु जी जोहर जोहर जोहारी।।
जोहर-जोहर बूढ़ादेव ला जोहरी, जोरि, जोहर जोहारी।
तोला लागे भेल गुरु जी जोहर, जोहर जोहारी।।

इस प्रकार गीतों का सिलसिला चलता रहता है और युवक-युवती कंधे से कंधा मिलाकर नृत्य करते हैं। गोंड समाज के विवाह में आडंबर के लिए कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार गैर आदिवासी समाज अग्नि को साक्षी मानकर उसके चारों ओर सात फेरे लेते हैं वैसे ही गोंड समाज में भी विवाह के समय मंडप में सात फेरे लगाए जाते हैं। इसे 'लगीन मारना' कहा जाता है। रस्म में वर एवं मधु के भाई उन्हें पीठ में बिठाकर मंडप के साथ चक्कर लगाते हैं। वर-वधु को चादर से छुपा दिया जाता है। वर की माँ कलश सर में लेकर सामने घूमती है। उपस्थित सभी लोग मुर्रा एवं लाई छिड़क कर आशीर्वाद देते हैं। विवाह के 10 से 15 दिन बाद वर-वधू और वर के परिवार के सदस्य सगे संबंधी सभी वधू के घर जाते हैं। इस रस्म को 'सगा देखना' कहा जाता है। इस दिन वर पक्ष की तरफ से मुर्गा, बकरा, सूअर एवं महुआ का शराब वधू के घर ले जाकर स्वयं बनाकर वधू पक्ष के लोगों को खिलाने की परम्परा है।

हम यह पढ़ते और सुनते आए हैं कि आदिमानव अपना भोजन जंगलों से प्राप्त करते थे। वे कच्चा मांस का सेवन करते थे धीरे-धीरे मानव चेतना विकसित होती गई तो वह मांस का आग में भूनकर खाने लगे। गोंड आदिवासियों में यह संस्कृति आज भी दिखाई देती है। वह आज भी जंगलों में से सब्जी एकत्र करते हैं। गोंड जनजाति चूहे के मांस को आग में भूनकर बड़े चाव से खाते हैं। अन्य सब्जी उबाल कर या भूनकर बनाया जाता है। गोंड़ आदिवासी तला हुआ भोजन करना पसंद नहीं करते, यही उनके स्वस्थ जीवन का रहस्य है। लगभग 90 प्रतिशत महिलायें एवं पुरुष शराब का सेवन करते हैं। महुआ के शराब के साथ-साथ सल्फी, ताड़ी एवं छींद रस का सेवन भी किया जाता है।

संदर्भ सूची-

- पाटिल, डॉ अशोक, "कोरकू आदिवासियों की ग्राम रचना व आवास व्यवस्था की विशेषताएँ ,"**चौमासा,** वर्ष 8, अंक 26, जुलाई-अक्टूबर 1991, पृ. 62
- निरगुने .पृ ,भोपाल ,मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी ,**"लोक साहित्य"** ,बसंत ,501

शरीर कला एवं दृश्य भाषा : पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना

डॉ. नीलिमा पाण्डेय

गोदना एक प्रकार की विजुअल लैंग्वेज या दृश्य भाषा है जिसकी समझ हमें जनजातीय समाज को जानने, समझने और विश्लेषित करने योग्य बनाती है। इस भाषा में दक्षता जनजातीय संस्कृति को समझने में मदद करती है। ज्यादातर जनजातियों ने गोदने को अपनी दैनंदिन की चर्या में शामिल कर रखा है। सबसे खास वह विशिष्ट गोदना चिन्ह हैं जो एक जनजाति को दूसरी से अलग करते हैं और उन्हें पृथक रूप् से चिन्हित करने में मददगार होते हैं। तमाम सांस्कृतिक विशिष्टताओं की सूचना देने के साथ-साथ एक तरह से ये अलग-अलग जनजातियों की निशानदेही में काम आते हैं।

गोदने की कला का इस्तेमाल जनजातियों ने आकर्षण-विकर्षण, शौर्य प्रदर्शन, विरोध-प्रतिरोध आदि अनेक संदर्भों में किया है। अनेक जनजातियाँ इसे न खोने वाले जेवर, गहने और आभूषण की तरह साज-सज्जा के लिए इस्तेमाल करती हैं। कुछ शत्रु एवं परपुरुष की कुदृष्टि से अपनी स्त्रियों को बचाने के लिए इसे विकर्षण का माध्यम बनाती हैं। तानी (अरुणाचल प्रदेश), कोंध/खोंड (ओडिशा) और धनुक (बिहार) जनजाति की स्त्रियाँ इनमें प्रमुख हैं। नागालैंड की कोन्याक जनजाति के पुरुष शौर्य के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे और छाती पर गोदना गुदवाते हैं। वहीं छत्तीसगढ़ के रामनामी संप्रदाय के लोगों ने जातीय विद्वेष के विरोध के प्रतीक के रूप में इसे चुना। कुल मिलाकर गोदने के माध्यम से विविध मनोभावों को व्यक्त किया गया है। गोदने का इस्तेमाल जनजातियों में बहुउद्देशीय दिखता है। इस शोध पत्र में हम पूर्वी भारत में निवास करने वाली संथाल एवं कुई जनजातियों और पूर्वोत्तर की नागा जनजाति के विभिन्न समूहों में प्रचलित गोदना चित्रांकन और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व का विश्लेषण करेंगे।

झारखंड और बिहार में गोदना प्रथा:

झारखंड में आस्ट्रो-एशियाटिक नृजातीय समूह की अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। इनमें संथाल, मुण्डा, हो, खरिया आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। आस्ट्रो-एशियाटिक दक्षिण एशिया में निवास करने वाला एक लातिनी (लैटिन) शब्द है। लैटिन प्राचीन रोम में बोली जाने वाली भाषा थी। झारखंड में निवास करने वाली इन सभी जातियों ने गोदना कला को अंगीकार कर रखा है। कला के सतही प्रारूप में समानता के बावजूद उसके मायने सबके लिए अलग-अलग हैं। संथालियों की गोदना से अभिन्नता और उसका सांस्कृतिक विस्तार अन्य की तुलना में अधिक है। इस जनजाति के पुरुष अपने शरीर पर गोदना नहीं करवाते हैं। गोदने की जगह उनके हाथ की त्वचा को जलाकर उस पर सिक्के जैसा गोल निशान बनाने की परम्परा है। संथाल स्त्रियाँ गोदने को आभूषण और अक्षुण्ण सम्पत्ति की तरह त्वचा पर धारण करती हैं। संथालियों में प्रायः गोदना बनाने का काम जुलाहिन स्त्रियाँ करती हैं। आजीविका से अधिक पारिवारिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए अथवा उससे प्रेरित होकर ये काम करती हैं।

जुलाहा इस्लाम के मानने वाले हैं। उनके अपने समाज में गोदने का प्रचलन नहीं है। पीढ़ियों से उनके परिवार दूसरों के शरीर पर चित्रांकन करते रहे हैं। इस वजह से जुलाहिने इस काम में पर्याप्त दक्ष हैं। गोदना बनाने वाली स्त्रियों को संथाली खुदनी कहते हैं। उनके यहाँ गोदना खुदा कहलाता है।

उराँव जनजाति में गोदने की शुरुआत स्त्रियों के चेहरे से होती है जो क्रमशः हाथ, पीठ आदि शरीर के विविध अंगों पर फैलता जाता है। चेहरे पर गोदना रचने की शुरुआत बचपन से हो जाती है। इस जनजाति की स्त्रियों में आम धारणा है कि गोदने के दौरान जिस तकलीफ से शरीर गुजरता है वह उसे आगे के कष्टों को झेलने के लिए पुख्ता बनाता है। उनके लिए गोदना व्यक्तित्व को मजबूती देने का माध्यम है।

तर्क जो भी गढ़े जाएँ जनजातीय अंचलों में गोदना बनाने के लिए जो आदिम तरीके इस्तेमाल होते हैं उनसे शरीर निहायत ही तकलीफदेह प्रक्रिया से गुजरता है। दूसरे जनजातियाँ गोदना बनाते समय किसी दर्द निवारक या एनेस्थीसिया का प्रयोग नहीं करती हैं। यह भी दर्द बढ़ाने की वजह बनता है। उराँव और पूर्वोत्तर की जनजाति एओ नागा (Ao Naga) से इस बात के संदर्भ मिलते हैं कि गोदना करवाने वाली लड़की के मुँह में कपड़ा ठूँस कर गोदना बनाया जाता है। उसके हाथ पाँव दो तीन स्त्रियाँ कस कर पकड़े रहती हैं जिससे दर्द होने की वजह से वह हाथ पाँव न हिलाए और उसका करुण रुदन गोदना बनाने वाले को विचलित न कर दे।

उराँव जनजाति में गोदना बनाने वाली स्त्रियाँ मालारिन कहलाती हैं। ये सात सुइयों से गोदना रचती हैं। रंग के लिए काजल और नवजात की माँ के दूध का इस्तेमाल किया जाता है। रचने के बाद गोदने को गोबर से ढक दिया जाता है। गोबर का इस्तेमाल एंटीबायोटिक की तरह किया जाता है।

गोदना बनाने की प्रक्रिया में आम तौर पर तीन दिन लगते हैं। हालाँकि दर्द हफ्तों बना रहता है। उराँव स्त्री-पुरुष ये मानते हैं कि शरीर, आत्मा, सौन्दर्य, त्वचा सब नष्टप्राय है। गोदना ही है जो जीवन के साथ ही रहता है और जीवन के बाद भी रहता है। उराँव लोग खासकर स्त्रियाँ ये मानती हैं कि मरने के बाद की नई दुनिया में गोदना उन्हें संगी ढूँढने में मदद करता है। इसलिए भी वे बेहद चाव से अपने शरीर पर गोदना रचवाती हैं कि जीवन और मृत्यु के किसी मोड़ पर वे अकेली न पड़ जाएँ।

झारखंड की मुण्डा और खरिया जनजाति शौर्य के प्रतीक के रूप में गोदने का इस्तेमाल करती हैं। मुण्डा पुरूष अपने माथे पर तीन खड़ी लकीरों के रूप में गोदना धारण करते हैं। ये तीन लकीरें उनके जनजातीय इतिहास से सम्बद्ध हैं। परम्परा से मुण्डा जनजाति ये मानती हैं कि इतिहास में तीन ऐसे मौके आये जब मुण्डा जनजाति का मुगल सेना से आमना-सामना हुआ और वे मुगलों को पराजित करने में सफल रहे। माथे की तीन गोदना लकीरें तीन विजयों की प्रतीक हैं।

हो जनजाति गोदने को पवित्रता के प्रतीक के रूप में धारण करती हैं। भारतीय समाज के स्तरीकरण में पवित्रता-अपवित्रता का भाव गहरा है। जाति व्यवस्था का पूरा दारोमदार ऊँच-नीच और पवित्रता-अपवित्रता के भाव पर टिका हुआ है। जनजातियों में भी पवित्रता के भाव को लेकर तमाम अंधविश्वास और टोटके पसरे हुए हैं।

बिहार की धानुक जाति में भी गोदने की प्रथा है। परम्परा के अनुसार, 'धनुक' संस्कृत शब्द 'धनुषकः' से लिया गया है जिसका अर्थ धनुषधारी है। धानुक जाति के लोग अपनी सटीक निशानेबाजी की वजह से राजतंत्र के दौरान सैनिक के रूप में शासकों की पहली पसंद थे। सामाजिक स्तरीकरण में धानुक एक नीची जाति मानी जाती है। जहानाबाद के भूमिहार बहुल इलाके में धुनक स्त्रियाँ ऊँची जाति के लोलुप पुरुषों की कुदृष्टि से खुद को बचाने के लिए अपने शरीर पर गोदना गुदवाती हैं। उनके लिए अनेक जनजातियों की तरह गोदना विपरीतलिंगी आकर्षण का माध्यम नहीं है। बल्कि उन्हें विकर्षित करने का माध्यम है। स्त्रियाँ ये मानती हैं कि गोदना उन्हें कुरुप बनाकर सामर्थ्यवान ऊँची जाति के पुरुषों से सुरक्षा देता है।

सुरक्षा के साथ-साथ उन्हें अपनी सामाजिक हैसियत बताने के लिए भी गोदना पहनना होता है। एक तरह से गोदना स्त्रियों के जाति के संकेतक की भूमिका निभाता है। नीची जाति की स्त्रियों को अपने शरीर के खुले अंगों पर अनिवार्य रूप गोदना करवाना होता था जिससे घूँघट या पर्दे में होने पर उन्हें चिन्हित किया जा सके। पुरुषों के लिए यह जरूरी नहीं था। सीमित जनसंख्या वाले ग्रामीण समाज में सभी एक दूसरे के नाम जाति पेशे से पीढ़ियों से वाकिफ होते हैं। पुरूषों के पहनावे में घूँघट और पर्दा शामिल नहीं थे। इसलिए उन्हें किसी किस्म की निशानदेही की आवश्यकता नहीं थी।

इन जातियों को दिए गये नाम भी अपना इतिहास रखते हैं। संथाली अपने मूल स्थान मिदनापुर के सोअन्त नामक स्थान से पहचाने गए और संथाली कहलाये। मुण्डा का अर्थ मुखिया है तो उराँव का घुमंतू। हो मानव या आदमजात का समानार्थी है। धानुक अपनी धनुर्धर विद्या से पहचाने गए।

संथाली गोदना: सिक्का और खुदा

सजना-सँवरना मानव का मूल स्वभाव है। ये गुण नैसर्गिक है। प्रकृति प्रदत्त है। अलग-अलग मानव समुदायों के साज-सज्जा के तौर-तरीकों में प्रायः अंतर होता हैं पर निखरने-सँवरने और आकर्षक दिखने की प्रवृत्ति सभी में अभिन्न है। आकर्षक दिखने के लिए नाना प्रकार के आभूषण, केश-सज्जा, रंग-रोगन का इस्तेमाल सूदूर अतीत से किये जाने की परम्परा रही है। गोदना भी त्वचा का रंग-रोगन कर उसे आकर्षक बनाने का एक तरीका रहा है। इसे कभी-कभी पछेता या अंकन कह-कर भी सम्बोधित किया गया है। आज की तारीख में अंग्रेजी में इस्तेमाल किया जाने वाला टैटू शब्द अधिक व्यापक है। इसे पोलिनेशिया के सैमोनन द्वीप समूह में बोली जाने वाली भाषा से लिया गया है। 18वीं शताब्दी में इस शब्द को यथावत बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिया गया। इस शब्द का अर्थ चोट पहुँचना है। गोदना चित्रांकन की प्रक्रिया में बार-बार सुई को त्वचा में चुभाए जाने की पीड़ा की यह उचित व्याख्या करता है।

गोदने का इस्तेमाल जनजातियों ने आकर्षण, विकर्षण, शौर्य, प्रदर्शन, प्रतिरोध, जनजातीय पहचान आदि अनेक संदर्भों में किया है। अनेक जनजातियाँ इसे कभी न खोने वाले आभूषण की तरह इस्तेमाल करती हैं। कुछ के लिए यह बुरी नजर से बचाने वाला जंतर है तो कुछ अन्य के लिए विपरीत लिंगी आकर्षण का माध्यम। कुल मिलाकर

जनजातीय समाज में गोदने की उपादेयता को किसी एक खाँचे के भीतर बाँधा नहीं जा सकता है। विविध रंग-रूप रखने के साथ ही इनकी सुगंध में भी पर्याप्त भिन्नता है।

भारत अनेकानेक जनजातियों का निवास स्थान है। कुल 645 जनजातियाँ गणना में हैं। जनसंख्या के दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, गुजरात, राजस्थान, झारखंड, छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल और कर्नाटक जनजाति बहुल माने जा सकते हैं। इन राज्यों में कुल जनजातीय जनसंख्या का 83 प्रतिशत निवास करता है। इन राज्यों में निवास करने वाली जनजातियों में अनेकानेक समानताओं के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर अनेक भिन्नताएँ भी हैं। इस तथ्य को गोदने से जुड़ी मान्यताओं के संदर्भ में भी देखा जा सकता है।

जनजातीय समाज का गोदना कला के साथ अभिन्न सांस्कृतिक जुड़ाव है। इस कला में शरीर की त्वचा को कैनवास की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इस कैनवास पर बनाए जाने वाले मोटिफ्स में खुदपसन्दगी आमतौर पर नहीं होती। उनका निर्धारण सुदूर अतीत में कभी जनजातीय पंचायत द्वारा किया गया होगा। जो लम्बे समय में निरंतरता में बनाए जाने की वजह से परम्परा में ढल गए और जनजातीय अस्मिता के प्रतीक बन गए। मानवशास्त्र के अध्येताओं ने अपने शोध और अध्ययन के दौरान गोदना मोटिफ्स के प्रतीकात्मक महत्व को समझने और उन्हें विश्लेषित करने के अनेक प्रयास किए हैं।

मुंडा नृजातीय समूह से सम्बद्ध संथाल जनजाति झारखंड की बहुसंख्य जनजाति है। झारखंड के अलावा संथाल बिहार, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, छत्तीसगढ़, असम और त्रिपुरा में भी पाए जाते हैं। मिदनापुर के सओन्त (Saont) नामक स्थान को इनके मूल स्थान के रूप में चिन्हित किया गया है। सओन्त के नाम पर ही ये संथाली कहलाए। गोदना संथालियों की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। इन जनजाति में स्त्री और पुरूष के लिए अलग-अलग चिन्ह निर्धारित है।

पुरूष आमतौर पर अपनी कलाई पर एक सिक्के जैसा चिह्न अंकित करवाते हैं जो दिखने में गरम धातु से दागे हुए निशान जैसा दिखता है। समरूपता की वजह से इसे सिक्का या सिका कह कर संबोधित किया जाता है। इनकी संख्या विषम रखी जाती है। ये 01 से 07 के बीच होती है। संथालियों में मान्यता है कि विषम संख्याएँ जीवन की प्रतीक होती हैं जबकि सम संख्याएँ मृत्यु की द्योतक हैं।

त्वचा पर सिक्का बनाने के लिए सूती कपड़े या कपास को बीड़ी/सिगरेट का आकर देकर सुलगाया जाता है। जिस जगह गोदना चिह्न अंकित करना हो उसे इस बीड़ी नुमा कपड़े से जलाते हैं। चमड़ी पर जलने के निशान बनने के साथ उसे राख से ढक कर ठंडा करते हैं। त्वचा पर पड़ा हुआ छाला कुछ दिन तकलीफ देकर ठीक हो जाता है और त्वचा पर एक गोल निशान छोड़ जाता है। पुरूषों के हाथ पर दागा गया सिक्का स्त्रियों के गोदने के समकक्ष है। इसे बाएँ हाथ पर बनाया जाता है।

संस्थाल स्त्रियों में गोदना चित्रांकन खोदा कहलाता है और इसे बनाने वाली स्त्रियाँ खुदनी कहलाती हैं। तमाम अन्य जनजातियों की तरह संथाली भी गोदने को स्थायी सम्पत्ति की तरह देखते हैं जो मृत्योपरांत भी उनके साथ रहती

हैं। संथालियों में एक किस्सा आम है कि मरने के बाद स्वर्ग में जब कोई स्त्री पानी की तलाश में जाती है तो जल स्रोत के पास उसे एक मेंढकनुमा दरबान मिलता है। कीमत चुकाए बिना वह पानी भरने की अनुमति नहीं देता है। स्त्रियाँ पानी की कीमत गोदने का कुछ हिस्सा देकर चुकाती हैं। इसी वजह से जिस स्त्री के शरीर पर गोदना चित्रांकन बहुतायत से होता है उसे धनाढ्य समझा जाता है। ये किस्सा जीवन में जल के महत्व और गोदने को आभूषण अथवा सम्पत्ति मानने से अभिप्रेरित है। स्त्रियों के लिए गोदना ऐसी सम्पत्ति है जिसे उनसे विलग नहीं किया जा सकता, ऐसी सम्पत्ति जो आड़े वक्त काम आती है। अपनी इस सम्पत्ति को स्त्रियों ने ससुराल और मायके के बीच विभाजित कर रखा है। दायें हाथ के चित्रांकन को वह मायके का उपहार मानती हैं और बाएँ हाथ के चित्रांकन को ससुराल पक्ष से मिलने वाले तोहफे के रूप में कबूल करती हैं। उनके लिये गोदना गौरव, आस्था और जनजातीय अस्मिता का प्रतीक है।

संथाली में खुदा का अर्थ छापा बनाना है। गोदने में जो चिन्ह/छापे शरीर पर अंकित किये जाते हैं उनमें नेक्की खुदा (लकड़ी का कंघा), कदम बहा (कदम का फूल), पान सकम (पान का पत्ता), मिरू खुदा (सूरज), सिम कटा (मुर्गे की टाँग), हर/होर चिन्ह (जनजाति का प्रतीक चिन्ह) प्रमुख हैं। इनके अलावा हाथ और गले पर फूल जैसे छापे अंकित करने का चलन है। गले में छापे नेकलेस की तरह अंकित किये जाते हैं। हाथ के ऊपरी हिस्से में और अंगूठे के नीचे मछली जैसे चित्रांकन भी बनवाने की परम्परा है। स्त्रियों में छाती पर भी गोदना बनवाने का चलन है। इसे छाती गुदायी कहा गया है। छाती गुदायी किशोरावस्था में प्रवेश के समय अथवा ब्याह के समय करवाई जाती है। शरीर पर सबसे अधिक बनवाये जाने वाले चिन्हों में नेक्की और होर के छापे हैं। संथाली ये भी मानते हैं कि जो व्यक्ति बिना गोदना गुदवाए मर जाता है उसके शरीर को कीड़े खा जाते हैं।

वर्तमान में संथालियों में गोदने की प्रथा में निरंतर गिरावट देखने को मिल रही है। नई पीढ़ी इस प्रथा से लगभग विमुख हैं। सामाजिक जागरूकता और मुख्यधारा से जुड़ने की चाह इसके मूल में है। राजनीतिक उद्देश्यों से अपनी जनजातीय अस्मिता को भुनाने वालों से इतर ज्यादातर आम लोग बड़े पैमाने पर गोदना करवाने से गुरेज करने लगे हैं। इनमें युवा अधिसंख्य हैं जो आम नागरिक के रूप में पहचाना जाना पसंद कर रहे हैं। समाज के वयस्क और बुजुर्ग भी उनके तरक्की पसंद नजरिए का स्वागत और समर्थन कर रहे हैं।

कुई जनजाति में गोदना

कुई जनजाति कोंध और खोंड के नाम से भी जानी जाती है। यह जनजाति ओडिशा में निवास करती है। जनजातियों में शरीर पर गोदना गुदवाने की प्रथा आम है। गोदने से जुड़े हुए उनके विश्वास आस्था व्यवहारिक वजहें अंधविश्वास जरूर एक दूसरे से जुदा हैं। कुछ जनजातियाँ अपनी स्त्रियों के चेहरे पर गोदना गुदवाने की परम्परा रखती हैं। ऐसा उन्हें परपुरूष की कुदृष्टि से बचाने के लिए किया जाता है। कोंध जनजाति में भी यह परंपरा पाई जाती है। बालिकाओं के आठ वर्ष की उम्र पूरी करने के बाद उनके चेहरे गोदने से चित्रांकित करवा दिए जाते हैं। दुश्मन कबीलों के पुरूष घात लगाकर उनकी स्त्रियों को उठा ले जाते थे। इस वजह से स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए यह परम्परा

अस्तित्व में आई। एक दूसरी वजह मृत्योपरान्त पाताल लोक/world of spirits में प्रवेश लेने पर एक दूसरे को चिन्ह लेने से भी जुड़ी हुई है। ये वजह अधिक दमदार लगती हैं क्योंकि स्त्रियों के चेहरे पर छापे गए गोदने मोहर (seal) सरीखे ही दिखते हैं।

गोदना बनाने के लिये ये जनजाति काँटे का इस्तेमाल करती है। गोदने की प्रक्रिया में त्वचा के ऊपर बने घावों को संक्रमित होने के लिए खुला छोड़ दिया जाता है। इससे चित्रांकित गोदना आकार में बड़ा होकर स्पष्ट रूप ले लेता है और त्वचा में गहरा उतर जाता है। स्त्रियों के चेहरे को विरूप कर सुरक्षा देने का यह उपाय कितना कारगर रहा होगा कहना मुश्किल है। जनजातीय अस्मिता के तहत अनेक स्त्रियाँ इसे पीढ़ियों से अपनाती रही हैं। अबोध उम्र में गोदने की प्रक्रिया से गुजरने वाली बच्चियों से किसी परम्परा के नकार की उम्मीद नहीं की जा सकती है। वयस्क समाज की सहर्ष सहमति ने ही उसे निरन्तरता में बनाये रखा होगा।

कोंध स्त्रियों के चेहरे पर अंकित गोदने में जो एकरूपता दिखती है, वह चेहरे को विरूप करने से अधिक जनजातीय ठप्पे की तरह लगती है। स्त्री को देख दूर से ही उसकी जनजाति चिन्हित की जा सकती है। जाहिर है कि गोदने का प्रारूप/पैटर्न पूर्व निर्धारित है। उसके चुनाव अथवा उसमें किसी किस्म के बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं है। बुजुर्ग स्त्रियाँ ये जरूर कहते सुनी जा सकती हैं कि चेहरे पर गोदना उन्होंने स्वेच्छा से करवा रखा है। उसे वह जनजातीय गर्व और गौरव की तरह प्रदर्शित करते हुए भी देखी जा सकती है। उम्मीद है कि इस 'स्वैच्छिक चुनाव' और 'गर्व' में उनकी 'अपनी मर्जी' का कितना प्रतिशत है इसका इल्म भी उन्हें एक दिन होगा।

नागा जनजाति में गोदना:

नागा जनजाति अपने साहस, निर्भीकता और क्रूरता के लिये खासी प्रसिद्ध है। विषम से विषम परिस्थितियों में जीवित रह लेना उन्हें खूब आता है। दुर्दान्त होने के लिये कुख्यात इस जनजाति में लम्बे समय तक हेड हंटिंग का प्रचलन रहा है। दुश्मन को मार कर उसका सर काट लेना और उसे ट्राफी की तरह घर के बाहर टांग देना उनका शगल था।

नागाओं के अनेक कबीले रहे हैं जो अपनी तमाम सांस्कृतिक विशेषताओं में समान होने के बावजूद भाषाई भिन्नता की वजह से एक दूसरे से अलग विशिष्ट पहचान रखते थे। नागाओं के मूल स्थान को चिन्हित करना संभव नहीं हो सका है। प्रायः नागा भाषाओं को तिब्बती-बर्मा (Tibeto-Burman) मूल का स्वीकार किया जाता है। साहित्य से जो संदर्भ उपलब्ध हैं उनमें उन्हें पूर्वोत्तर से प्रव्रजित (migrated) जनजाति कहा गया हैं इस आधार पर हम तिब्बत, पूर्वी चीन अथवा मंगोलिया में उनके मूल स्थान के स्थित होने की संभवना जता सकते हैं। उनके समाज में प्रचलित मिथक और प्रथाएँ Iban of sarwak & the bugis और Sea Dayaks of Indonesia से साम्य दर्शाते हैं। उनके कर्मकाण्डों में कौड़ी की केन्द्रीय भूमिका उनके समुद्री मूल (marine origin) की आहट देती है। जनजातीय समाज में हेड हंटिंग और चेहरे तथा छाती पर किया गया विस्तृत गोदना उनका पहचान पत्र थे। वर्तमान में अधिकांश नागा जनजातियाँ पूर्वोत्तर भारत और उत्तर पश्चिम म्यामांर (बर्मा) में बसी हुई हैं। उनकी संस्कृति और

परम्परा में पर्याप्त समानता दिखती है। नागालैण्ड और नागा सेल्फ एडमिनिस्टर्ड जोन ऑफ म्यांमार में बहुसंख्यक होने के साथ-साथ भारत में मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश, असम में भी वे ठीक-ठाक उपस्थिति दर्ज करते हैं।

नागा जनजाति में स्त्रियों और पुरूषों में गोदना करवाने की परम्परा रही है। पुरूष शौर्य के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे, छाती और शरीर के अन्य अंगों पर गोदना करवाते हैं। शौर्यवान होने का तमगा उन्हें हेड हंटिंग से मिलता था। स्त्रियाँ शरीर में आने वाले परिवर्तनों और सामाजिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की सूचना के निमित्त गोदना करवाती थीं। नागा जनजाति में यह अंधविश्वास रहा है कि व्यक्ति की आत्मा की पूरी शक्ति उसकी खोपड़ी में निहित होती है। उनकी मान्यता है कि खोपड़ी समृद्धि और उर्वरता से लबरेज होती है। व्यक्तिगत जीवन को सुखमय बनाने के लिये, गाँव और फसल को बेहतरी के लिये दुश्मन के शरीर से काटकर उसे अपने साथ रखना जरूरी है। शत्रु को आघात पहुँचा कर उसकी खोपड़ी हासिल करने को नागा जनजाति में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। हेड हंटर्स अपने शौर्य और साहस के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे और धड़ को गोदना से चित्रांकित रखते थे। गोदना बनाने का काम शुरूआत में स्त्रियाँ ही करती थीं। बाद में कुछ लड़कों ने अपनी माँ से सीख कर इस काम में कौशल हासिल किया।

भारत में नागाओं की कोन्याक जनजाति मुख्य रूप् से नागालैण्ड में निवास करती है। उनके हेड हंटर्स की आखिरी पीढ़ी के कुछ सदस्य अभी जीवित हैं। उनके रंग-रूप (गोदना) पहनावे और अनुभवों से हम हेड हंटिंग की प्रथा और उससे जुड़े गर्व और शौर्य के मनोभावों को समझ सकते हैं। उनका विश्लेषण कर सकते हैं। आने वाले समय में यही दर्ज अनुभव इतिहास बन जायेंगे।

कोन्याक जनजाति की आन्तरिक सामाजिक संरचना में गोदना कला का विशेष महत्व था। गोदना चित्रांकनों के माध्यम से वे अपने समाज के सदस्यों को अलग-अलग स्तर और प्रस्थिति प्रदान करते थे। गोदने का इस्तेमाल बच्चों, किशोर, युवा और वयस्क (वरिष्ठ) सदस्यों में अंतर के लिये किया जाता था। आमजन और योद्धा में अंतर, अभिजात्य स्त्री को पहचान देने, विवाहिता और अविवाहित स्त्री में भेद करने आदि के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के गोदने का इस्तेमाल कर उन्हें चिन्हित किया जाता था। इहलौकिक महत्व के साथ-साथ गोदने का पारलौकिक महत्व भी था। स्त्री और पुरुष दोनों का यह कर्तव्य था कि वे गोदने की प्रक्रिया से गुजरें। गोदना परलोक में सुरक्षित प्रवेश सुनिश्चित करने के लिये अनिवार्य था। इस वजह से कोन्याक समाज के प्रायः प्रत्येक सदस्य की त्वचा गोदनांकित थी।

स्त्रियों में जीवन चक्र के विभिन्न चरणों को गोदने के माध्यम से रेखांकित करने की परम्परा थी। बच्ची, किशोरी, वयस्क, विवाहिता, नवजात-शिशु की माँ, मंगेतर, अविवाहिता प्रत्येक की पहचान के लिये भिन्न-भिन्न गोदना चित्रांकन निर्धारित थे। गोदने के माध्यम से स्त्रियाँ अपने जीवन के विभिन्न चरणों की इन्डेक्सिंग (Indexing) तो अपनी त्वचा पर करवाती ही थी साथ ही उनके शरीर पर कुछ विशिष्ट चित्रांकन किये जाते थे जो उनके पिता, भाई अथवा परिवार के अन्य पुरुषों की उपलब्धि का उद्घोष करते थे। परम्परा से स्त्रियाँ पितृसत्ता की वाहक रही है। कोन्याक जनजाति में गोदने का यह संदर्भ जनजातियों में स्त्रियों के द्वारा पितृसत्ता के वहन की कड़ी प्रस्तुत करता है।

पुरुषों के लिये गोदना हेडहंटिंग के दौरान प्रदर्शित पराक्रम और रण कौशल को प्रतिबिम्बित करने का माध्यम था। प्रदर्शित पराक्रम और कौशल की डिग्री के अनुरुप ही उन्हें चित्रांकित किया जाता था। कह सकते हैं कि गोदना चिन्ह प्रदर्शित पराक्रम का पैमाना थे। हेडहंटिंग के अलावा पान में प्रवेश से सम्बन्धित दीक्षा संस्कार के अवसर पर भी पुरुषों में गोदना बनवाने की परम्परा थी। पान (PAAN) को आम बोलचाल में मोरुंग (Morung) भी कहा जाता है। यह कोन्याक पुरुषों का कम्यूनिटी क्लब (Club) था जो सामाजिकता में प्रशिक्षित करने वाले संस्थान की भूमिका में था। पान की सदस्यता और उसके द्वारा दिये गये उत्तरदायित्वों का निर्वहन जनजातीय निष्ठा और प्रतिबद्धता का प्रमाण माना जाता था। कोन्याक नागाओं में गोदना स्त्रियों के द्वारा करने की परम्परा थी। ये स्त्रियाँ अभिजात्य वर्ग की होती थी। इनका सम्बोधन अंघ्या (Anghya) मिलता है।

कुलीन परिवार की ये स्त्रियाँ जनजाति प्रमुख (मुखिया) की पत्नी की भूमिका में होती थी। साहित्य में कुछ स्थानों पर इन्हें 'रानी' कह कर उद्धृत किया गया है। गोदना करने का हुनर और तकनीक पीढ़ी दर पीढ़ी माँ से बेटी में हस्तान्तरित होती थी। कुछ पुरुष भी इस कला में दक्षता रखते थे। उनकी दक्षता एक खास प्रकार के गोदने को लेकर थी। इसे शहन्यु कहा गया है। 'SHAHNYU-TIGER FAMILIER SPIRIT' शक्तिशाली अंघ्य/मुखिया (Anghy/Tribal Chief) की पीठ पर बनाया जाता था। शहन्यु को लेकर प्रचलित लोक विश्वास में कहा गया है कि किसी समय जंगल में एक कोन्याक स्त्री और बाघ के बीच प्रेम हो गया। उनकी संतानों में मानव और बाघ दोनों के गुण आये। दिखते में तो वह मानव प्रजाति से मिलते-जुलते थे लेकिन उनकी आत्मा बाघ की थी। जब ये बच्चे वयस्क हुए तो उन्हें अपने बल साहस शौर्य और पराक्रम से शक्तिशाली अंघ्य का दर्जा हासिल हुआ। ऐसा माना जाने लगा कि कोन्याक जनजाति में जब एक अंघ्य का जन्म होता है तो ठीक उसी समय जंगल में एक बाघ भी जन्म लेता है। ऐसे अंघ्य/मुखिया जिनके बारे में कोन्याक समाज यह धारणा रखता कि उनकी आत्मा बाघ की है, उनकी पीठ पर एक विशेष प्रकार का गोदना अंकित किया जाने लगा। इसे 'शहन्यु' कहा गया। जनजाति का कोई आम सदस्य भी यदि बाघ का शिकार करने में सफल हो जाता था तो उसे भी सम्मानित ओहदा देने की परम्परा थी। कोन्याक उसके प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन करते और मानते कि उसमें भीतर बाघ की आत्मा का प्रवास है। सम्मान और श्रद्धा अंघ्य के समकक्ष होती थी।

पुरुषों में गोदना प्रत्यक्षतः हेड हंटिंग के अभियान से जुड़ा हुआ था। हेड हंटिंग के प्रतिबंध ने पुरूषों में गोदना की प्रथा को भी प्रभावित किया। बहरहाल एक समय जनजातीय दम्भ का प्रतीक रहे हेड हंटिंग और गोदने की प्रथा कोन्याक जनजाति में क्षीण हो चली है। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में वे क्रमशः मुख्य धारा समाज से जुड़े और जीवन यापन के अन्य सुरक्षित तरीकों से परिचित हुए। धीरे-धीरे उनके समाज में औपचारिक रूप से शिक्षित सदस्यों की आवृत्ति बढ़ी। इन परिवर्तनों ने उनके जनजातीय समाज पर प्रभाव डाला। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा धर्मान्तरण कर ईसाई हो गया। बड़ी संख्या में उन्होंने जीविकोपार्जन के लिये कृषि पर निर्भरता बढ़ाई, यद्यपि मांसाहार उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा बना रहा। हेड हंटिंग जैसे अभियान सरकारी प्रयास और कानून के दबाव में प्रतिबन्धित हो

क्रमशः समाप्त हो गये। नागालैण्ड के कोन्याक समाज से सन् 1960 के बाद हेड हंटिंग की सूचना नहीं मिलती है। मिशनरी प्रभाव, कानून और शिक्षा के साथ युवाओं ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1966 में छात्र संघ ने एक रिजोल्यूशन पास कर गोदना की प्रथा को 'शारीरिक प्रताड़ना' बताते हुए उसे प्रतिबंधित करवाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया।

नागालैण्ड के अलावा अरूणाचल प्रदेश में भी नागा जनजाति ठीक-ठाक संख्या में निवास करती है। वान्चू और ओल्लो नागा जनजाति का उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है। यद्यपि ये दोनों जनजातियाँ कोन्याक नागाओं की तरह चर्चित नहीं रहीं इनकी परम्परा और लोक विश्वास (folklore) कोन्याक नागाओं से काफी मिलते जुलते हैं। इन दोनों जनजातियों में भी हेड हंटिंग और चेहरे पर गोदने का प्रचलन रहा।

म्यामांर की नागा जनजातियों में मकुरी (Makuri), गुगा (Guga) ओल्लो (Ollo) और खियामुइन्गन (Khirmniungan) का उल्लेख किया जा सकता है। ये सभी म्यांमार के सगैंग डिवीजन में निवास करने वाली जनजातियाँ हैं। यह भारत-म्यामांर का सीमावर्ती क्षेत्र है।

अन्य नागाओं की भांति मकुरी नागा जनजाति में भी हेड हंटिंग और टैटू की परम्परा रही है। गोदने के संदर्भ में मकुरी इस मायने में विशिष्ट है कि उनमें पुरुषों के चेहरे को गोदने से चित्रांकित करने की परम्परा कभी नहीं रही। उनकी स्त्रियों के चेहरे पर गोदना मिलता है। पुरुष सदस्य भी शरीर के अन्य अंगों पर गोदना करवाते रहे हैं। गोदना मृत्योपरान्त जीवन में पूर्वजों के विश्वास, स्नेह और आशीर्वाद पाने का माध्यम था। शरीर के गोदना चिन्हांकित न होने पर इस बात का भय था कि पूर्वज उन्हें पहचानेंगे भी या नहीं। इस वजह से गोदना मकुरी जनजाति में मृत्योपरान्त जीवन में जनजातीय पहचान पत्र के रूप में अनिवार्य था। मर्त्यलोक में वह शत्रु मित्र में भेद करने की भूमिका निभाता था। मकुरियों ने अन्य नागा समूहों की तुलना में तीव्रता से धर्मान्तरण कर ईसाइयत को अपना लिया था। मुख्यधारा के आधुनिक तौर तरीकों को अंगीकार कर उन्होंने परम्परागत जीवन शैली से दूरी बना ली। 2018 में किये गये शोधपरक सर्वेक्षण के दौरान पाया गया कि वर्तमान में एक भी ऐसा पुरूष सदस्य जीवित नहीं है जिसकी स्मृतियों में हेड हंटिंग और उससे जुड़े नास्टॉलजिया (Nostolgia) का स्थान हो। मकुरी स्त्रियों में अन्य नागा प्रजातियों की ही भांति गोदना पारिवारिक सामाजिक भूमिका में आने वाले परिवर्तन का संकेतक था। स्त्रियों में जीवन के एक चरण से दूसरे में प्रवेश के समय उत्सवपूर्वक शरीर को गोदना चित्रांकित करवाने की परम्परा थी।

गुगा म्यामांर का काफी कम जनसंख्या वाला नागा समुह है। मकुरी जनजाति की ही भाँति गुगा नागा जनजाति थी, ये ले शी टाउनशिप में निवास करते हैं। प्रायः नागा समूहों में हेड हंटिंग और गोदना अभिन्न दिखते हैं। किन्तु गुगा नागा गोदने को एनीमिस्टिक बिलीफ्स से जोड़कर देखते हें। उनका मानना था कि खास किस्म के चित्रांकन भाग्योदय एवं प्रीतिकर भविष्य की रचना करने में सक्षम होते हैं। इसके अलावा अच्छे स्वास्थ्य, भरपूर पैदावार को गोदना से अभिन्न मानने की परम्परा थी। कुल मिलाकर गुगा जनजाति में गोदना धन-धान्य और स्वास्थ्य को हासिल करने का लकी चार्म था। उन्हें हासिल का ऐसा टोटका था जो सफलता सुनिश्चित करता है। गुगाओं की वर्तमान

जनसंख्या गोदना चिन्हों और प्रतीकों की व्याख्या करने अथवा उनके संदर्भ बताने में असमर्थ है। लेकिन एक बात पर सभी सहमत मिलते हैं कि गोदना पृथ्वी लोक में गुड लक चार्म है और स्वर्ग लोक में जनजातीय पहचान पत्र। गुगा जनजाति की बुजुर्ग स्त्रियों की याद में ढेर सारे गोदना चिन्ह, उनके नाम, संदर्भ की मिटती हुई याद है। वे हुलस कर अपने समय में पूरे शरीर को गोदना से आच्छादित किया जाना बताती हैं।

नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश और म्यामार के सगैंग डिवीजन में बसी नागा जनजातियों में गोदने की परम्परा और उससे जुड़े लोक विश्वास में पर्याप्त समानता है। प्रायः सभी जनजातियाँ गोदना चित्रांकन को अपनी जनजातीय अस्मिता से जोड़ कर देखती है। चिन्हांकित होना अपनी जनजाति से अभिन्न होने का उद्घोष था। गोदने के माध्यम से इहलोक और परलोक में जनजातीय पहचान पुख्ता की जाती थी। अस्मिता से जुड़ा गोदना जीवन के प्रत्येक हर्षोल्लास उत्सव उपलब्धि के अवसर पर प्राथमिक था।

संदर्भ:

1. कोन्याक, फेजिन. द कोन्याक्स, लास्ट ऑफ द टैटूड हेड हंटर्स. नई दिल्ली: रोली बुक्स, 2017. प्रिंट।
2. किसलय, के. "यंग ट्राइबल्स वांट टैटू इरेज्ड" टाइम्स ऑफ इण्डिया (15 जनवरी) <https://times0/-india.indiatimes.com> (रिट्राइव्ड आन 29-08-2018)।
3. क्रूतक, एल. द कलचरल हेरीटेज ऑफ टैटूइंग: अ ब्रीफ हिस्ट्री"टैटूज स्किन एण्ड हेल्थ. सम्पादित जे. सेरप, एन. क्लूगर, डब्ल्यू. बामलर एट अल. बेसेल: कारेगर पबलिशर्स, 1-5. प्रिन्ट।
4. जेना, एम.के., एट ऑल. फारेस्ट ट्राइब्स ऑफ ओडीशा, लाइफ स्टाइल एण्ड सोशल कंडीशन्स ऑफ सेलेक्टेड ओरीसन ट्राइब्स. वाल्यूम 1, मैन एण्ड फारेस्ट सिरीज 2. नई दिल्ली: 2002. 13-18. प्रिन्ट।
5. बर्गर, पीटर, फ्रैंक हाइडयन. सम्पादित. द मार्डन एन्थ्रोपोलाजी ऑफ इंडिया: ऐथनोग्राफी, थीम्स एण्ड थयोरी. लंदन: रटलेज. प्रिन्ट।
6. रवीन्ड्रन, ए. "क्रानिकिलिंग द कोन्याक्स" द हिन्दू (04 नवम्बर) https://www.thehindu.com> (रिट्राइव्ड आन 18-07-2018)।
7. राइट, के. "रिकार्डिंग अ वेरी पर्टिकुलर कस्टम: टैटूज एण्ड द आर्काइव" आर्काइवल साइन्स, 9 (1-2)ः 99।
8. रसेल, राबर्ट वेन, डिसक्रिप्टिव आर्टीकल्स ऑन प्रिन्सिपल कास्ट एण्ड ट्राइब्स ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविन्सेज. लंदन: मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1916. प्रिंट।
9. स्टिर्न, अगलाजा, पीटर वान हेम, सम्पादित. द हिडेन वर्ल्ड ऑफ नागा, लिविंग ट्रडीशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया एण्ड बर्मा. लंदन: प्रिस्टेल, 2003. प्रिन्ट।
10. हार्डेनबर्ग, रोलैण्ड. चिल्ड्रेन ऑफ द अर्थ गाडेस, सोसाइटी सेक्रीफाइस एण्ड मैरिज इन द हाईलैण्ड्स ऑफ ओडीशा इन ट्रांसफारमेशन्स इन सैक्रीफाइसियल प्रैक्टिसेज, फ्राम एण्टीक्वीटी टू मार्डन टाइम्स, बर्लिन: वाल्टर डी ग्रेट्र गम्बथ् एण्ड को. के.जी., 2017. प्रिन्ट।

बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवान्तर वाद्य

पुनीत पटेल

बस्तर में निवास करने वाली मूल आदिवासी जनजातियाँ कौन हैं ? इस संदर्भ में भी विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किन्तु अधिकतर विद्वानों का यह मानना है कि बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियाँ मुख्यतः द्रविड़ जातियाँ हैं। इन जनजातियों को द्रविड़ जातियों के रूप में स्वीकार किए जाने का मूल कारण इस क्षेत्र की जनजातियों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा (क्षेत्रिय बोलियाँ) हैं। इन जनजातियों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा मूल रूप से दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में निवास करने वाली द्रविड़ जातियों की भाषाओं यथा - तेलुगू, तमिल इत्यादि से निकटता रखती हैं। (शिव कुमार तिवारी) बस्तर में निवास करने वाली इन द्रविड़ जनजातियों को गोंड़ जनजाति नाम से संबोधित किया जाता है।

बस्तर की जनजातियाँ

डॉ. हीरालाल शुक्ल रचित आदिवासी अस्मिता और विकास नामक पुस्तक में अविभाजित मध्यप्रदेश के दक्षिण क्षेत्र में निवास करने वाली आदिवासी जनजातियों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जिसके अंतर्गत वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य के दक्षिण स्थित बस्तर क्षेत्र को ही मध्यप्रदेश का दक्षिणी आदिवासी क्षेत्र कहा गया है। इस वर्णन के अनुसार हलबा, भतरा, धुरवा, दोरला, दंडामी माड़िया, अबुझमाड़िया, मुरिया, गोंड, नाहर, मुंडा, कोया, कमार, भुँजिया, कवर तथा बिंझवार आदि जनजातियों को मध्यप्रदेश के दक्षिणी क्षेत्र अर्थात बस्तर में निवास करने वाली जनजाति कहा है। (शुक्ल 18) जगदलपुर स्थित मानव विज्ञान सर्वेक्षण संग्रहालय के मानचित्र में प्रमुख जनजातियाँ सात दर्शायी गई हैं - अबुझमाड़िया, भतरा, दण्डामी माड़िया, धुरूवा, दोरला, हल्बा, मुरिया। इनमें अबुझमाड़िया को ही अंग्रेजी भाषा में हिलमाड़िया तथा दण्डामी माड़िया को बायसन हॉर्न माड़िया नाम से संबोधित किया गया है। (तोड़े)

उपर्युक्त विश्लेषणानुसार बस्तर संभाग की लगभग सभी आदि निवासी जनजातियाँ गोंड़ जनजाति की ही मुख्य शाखाएँ मानी गयी हैं तथा अन्य जिन जनजातियों की जानकारी प्राप्त होती है वे या तो यहाँ की मूल जनजातीय शाखा की उपशाखा अथवा मुख्य शाखा की ही मिश्रित उपशाखा है। बस्तर की इन मुख्य जनजातियों में माड़िया, मुरिया, हल्बा, भतरा, परजा, दोरला, गदबा इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है।

दोरला जनजाति

बस्तर संभाग की मुख्या आदिवासी जनजातियों में से एक इस जनजाति की संस्कृति एवं रहन सहन के संबंध में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। दोरला, गोंड जनजाति की एक उपशाखा है। इस जनजाति का निवास स्थान सुकमा जिले के कोंटा तथा बीजापुर जिले के भोपालपटनम् एवं कोंटा क्षेत्र को माना जाता है। इस जनजाति के विवरण में दोरला शब्द के संबंध में लाला जगदलपुरी लिखते हैं – "दोरली में 'दोरा' शब्द का अर्थ होता है - जाति का मुखिया अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति। आगे चलकर 'दोरा' शब्द ही 'दोरला' के रूप में प्रचलित हो गया।" (99 जगदलपुरी)

इस जनजाति की बोली दोरली है जो कि द्रविड़ परिवार की भाषा है यह बोली तेलगु की ही उपभाषा मानी जा सकती है। दोरली बोली का प्रयोग अधिकतर उन्हीं क्षेत्रों में है, जो आंध्र प्रदेश के तेलगु भाषी क्षेत्र से लगे हुए हैं। तेलगु में 'दोरा' का अर्थ होता है मालिक अथवा स्वामी। W.V. Grigson ने भी इसी मत की विस्तृत व्याख्या की है। किन्तु उन्होंने दोरला जनजाति को दण्डामी माड़िया (बाईसन हॉर्न माड़िया) जनजाति की ही शाखा के रूप में वर्णित

किया है। (Grigson 53) यह जनजाति स्वयं को वारंगल से आयी हुई कहती है। इनके एक मृत्यु गीत में कलेगी राजू अर्थात् कलिंग राजा का उल्लेख मिलता है इससे भी इनके मूल स्थान पर प्रकाश पड़ता है। पहले वारंगल भी कलिंग राजा के अधीन था। कलिंग राजा का उल्लेख यह भी स्पष्ट करता है कि दोरला जाति अशोक के काल में भी विद्यमान थी। इस प्रकार भारत के प्राचीन आदिवासियों में इनकी गणना की जा सकती है। वारंगल से यह जनजाति बस्तर कब आयी इसके बारे में सही जानकारी नहीं मिल पायी है। (67 श्रीवास्तव)

लाला जगदलपुरी जी ने इस जनजाति की एक कथा का वर्णन किया जो दोरला जनजाति के गोत्र कथा के रूप में जानी जाती है –"'कोयकाप' उनका आदिपुरुष था, जिसकी भार्या का नाम - मुरिमंगम्मा था। दोरली में प्रचलित एक गोत्र-गीत के अनुसार उनके छः पुत्रों और पाँच पुत्रियों का होना प्रमाणित होता है। गोत्रकथा में वर्णन मिलता है कि दोरला जाति के आदिपुरुष के साथ एक गाय भी उत्पन्न हुई थी। आदि पुरुष जब बीमार पड़कर मरनासन हो गया, तब उसने गाय को यह बता दिया कि उसका अंतिम समय निकट आ गया है। यह सुनकर गाय बहुत दुखी हुई और बोली - मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती इसलिए तुम्हारे साथ मैं भी मरना चाहती हूँ। इसी कारण आदि पुरुष की मृत्यु के साथ-साथ गाय को भी मार डाला गया ताकि गाय के साथ उसका संबंध बना रहे। गाय की पूंछ काट कर मृतक के हाथ में पकड़ा दी गयी। तदुपरान्त दाह संस्कार कर दिया गया। घर जाकर मांस को पकाकर खा गये। दोरला कुटुम्ब में यही प्रथा प्रचलित है।"(99 जगदलपुरी)

W.V. Grigson के अनुसार गोंड़ जनजाति स्वयं को कोया या कोइतोर शब्द से संबोधित करते हैं तथा पहाड़ों में रहने वाले गोंड़ जनजाति के लोग, अपने आप को 'मेटा-कोईतोर' कहते हैं। इसी प्रकार मैदानी क्षेत्रों में रहने वाले गोंड़ अपने को 'दोरभूम' का निवासी कहकर स्वयं को 'दोर-कोइतोर' कहते हैं। 'दोरला' इन्हीं मैदानी क्षेत्रों में निवास करने वाले दोर कोईतोर का ही अपभ्रंशित नाम है। ग्रिग्सन का मानना है कि तेलुगु प्रभाव वाले कोइतोरों के प्रति पहाड़ी क्षेत्रों कोइतोर लोग तिरस्कृत दृष्टि रखते थे, अतः दोर कोइतोर स्वयं को कोइतोर कहलाना पसंद नहीं करते थे। इसी कारण इस जनजाति के लोग स्वयं को 'दोर कोइ' के स्थान पर 'दोरा', 'दोरलु' अथवा 'दोरला' संबोधित करने लगे। कोंटा क्षेत्र के दोरला अपने समीपवर्ती माड़िया निवासियों की चर्चा करते हुए गोट्टे कोइतोर कहकर संबोधित करते हैं। तेलगु में गोट्टे या गुट्टा का अर्थ पहाड़ों से लिया जाता है। गोंड़ी बोली में भी 'मेटा' शब्द का अर्थ पहाड़ ही लिया जाता है। (Grigson 53-57) अर्थात् दोरला जनजाति एक प्रकार से दण्डामी माड़िया जनजाति की ही एक शाखा है जिन्हें दोरला नाम से जाना जाता है।

दोरला संस्कृति

बस्तर क्षेत्र की शोध यात्रा के दौरान शोधार्थी द्वारा देखा गया की दोरला जनजाति की विभिन्न शाखाएँ बस्तर के भोपालपट्टनम् से बीजापुर तथा बीजापुर से सुकमा तथा कोंटा क्षेत्र तक निवासरत हैं। क्षेत्र का सूक्ष्म अवलोकन करने पर दोरला जनजाति की ही विभिन्न शाखाओं की संस्कृति में भिन्नता स्पष्ट रूप दिखाई पड़ती है। अर्थात बस्तर के दक्षिणी क्षेत्र के भोपालपट्टनम् से बीजापुर तक के दोरला लगभग एक सामान संस्कृति का अनुसरण करते हैं किन्तु बीजापुर से आगे बढ़ते हुए सुकमा से कोंटा की ओर जाने पर वहाँ निवास करने वाली दोरला आदिवासियों की संस्कृति में भिन्नता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कोंटा क्षेत्र के दोरला आदिवासियों की संस्कृति बस्तर के अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली माड़िया जनजाति की संस्कृति से पूर्ण समन्ता रखती है। इनके नृत्यों में गौर सींग माड़िया नृत्य (जिसमें बैल के सींग से बने मुकुट को धारण कर नृत्य किया जाता है) एवं वाद्य के रूप में माड़िया जनजाति के

समान ही ढोल का वादन करते हुए नृत्य किया जाता है। इनके नृत्य की शैली भी माड़िया जनजाति के नृत्य से पूर्ण समानता रखती है।

इन क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियों की संस्कृति, बस्तर की संस्कृति से पूर्ण रूप से समान है। बस्तर के मूल निवासी होने के कारण इनके त्यौहारों एवं उत्सवों का स्वरूप तो लगभग एक ही है किन्तु भाषा अंतर से नामों में भिन्नता आ जाती है। बस्तर के दक्षिणी क्षेत्र में दक्षिणी प्रदेश की संस्कृति का प्रभाव अधिक देखा जा सकता है। दक्षिणी बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियों में दक्षिणात्य प्रदेश (तेलंगाना) की भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। दोरला जनजाति की भाषा दोरली, गोंडी भाषा में तेलुगु के मिश्रण का ही परिणाम है। कहीं-कहीं इन जनजातियों द्वारा तेलगु भाषा का भी प्रयोग किया जाता है।(Grigson 53)

दोरला जनजाति के अवनद्ध वाद्य

विवाह इत्यादि सामाजिक कार्यक्रमों में दोरला जनजाति द्वारा शहनाई के साथ **मद्देड़ बाजा** का वादन नृत्य करते एवं गीत गाते हुए किया जाता है।दोरला जनजाति के लोगों में भी मृत्यु संस्कार के नियमों के अनुसरण के समय भी विशेष तरीके से दोरला ढोल का वादन किया जाता है। शोध यात्रा के दौरान प्राप्त मृत्यु संस्कार गीत के विडियो के अनुसार "दोरला जनजाति समाज के आदिवासियों में रिवाजानुसार मरणोपरांत मृत आत्मा की शांति के लिए विभिन्न क्रियाएं कर दोरली बोली (भाषा) में गीत गाया जाता है जिसे दोरली में (आनापाटा) कहा जाता है।" (मृत्यु संस्कार गीत)

बस्तर क्षेत्र की शोध यात्रा में दोरला जनजाति की संस्कृति का विस्तृत अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि दोरला संस्कृति में अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग विभिन्न सस्कृतिक अवसरों पर किया जाता है जिनमें 'मद्देड़ बाजा, दोरला बाजा, बडे दोरला ढोल' इत्यादि मुख्य हैं। भोपालपट्टनम क्षेत्र की दोरला जनजाति के नृत्यों में मुख्य वाद्यों के अंतर्गत मद्देड़ बाजा तथा दोरला बाजा का प्रयोग देखा जाता है, जिनमें दोरला लोगों द्वारा दोरला बाजा को केवल दैवीय कार्यों हेतु प्रयोग किया जाना बताया गया। (कड़के) बीजापुर क्षेत्र में निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा मद्देड़ बाजा तथा दोरला बाजा का प्रयोग तो किया जाता है, किन्तु साथ ही बीजापुर के आवापल्ली क्षेत्र में दोरला जनजाति के बड़े ढोल , जिस दो व्यक्तियों द्वारा डण्डेपर रस्सी की सहायता से लटकाकर बजाते हुए देखा जा सकता है। (Shrivastav) उपर्युक्तानुसार सुकमा से कोंटा क्षेत्र के दोरला आदिवासी एक प्रकार से माड़िया जनजाति से समानता रखती हैं तथा इनके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले ढोल वाद्य की बनावट एवं वादन विधि पूर्ण रूप से माड़िया ढोल के समान है अतः **माड़िया ढोल** को भी दोरला जनजाति के वाद्य की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है। कोंटा की दोरला) (जनजाति इसके अतिरिक्त संपूर्ण बस्तर प्रदेश की लगभग सभी जनजातियों में सामान्य रूप से प्रयोग किये जाने वाले वाद्य **निसान** एवं **तुड़बुड़ी** जैसे वाद्यों का भी प्रयोग दोरला आदिवासियों द्वारा किया जाता है।दोरला संस्कृति के सभी सांस्कृतिक आयोजनों यथा विवाह, जन्म तथा मृत्यु इत्यादि संस्कारों के अतिरिक्त विभिन्न पारंपरिक पर्व उत्सव इत्यादि में इन्हीं वाद्यों का मुख्यता से प्रयोग किया जाता है। दोरला आदिवासियों से चर्चा करने एवं उनके वाद्यों के अवलोकन के पश्चात् इन वाद्यों की बनावट निर्माण विधि, वादन विधि तथा प्रयोग अवसर के संबंध में विवरण निम्नानुसार है।

- **मद्देड बाजा (छोटा ढोल)**

दक्षिणी बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियों में दोरला आदिवासियों के बीच इस वाद्य का प्रयोग देखा जाता है। शोधार्थी की दृष्टि में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस वाद्य को दोरला जनजाति से संबद्ध माना जाना ही

उचित प्रतीत होता है। दोरला जनजाति इस वाद्य को छोटा ढोल के नाम से संबोधित करती है। जिसे सार्वजनिक सभी कार्यक्रमों में प्रयोग कर लिया जाता है। बस्तर के बीजापुर क्षेत्र की महाराष्ट्र एवं तेलंगाना राज्य की से निकटता के कारण बस्तर क्षेत्र के बीजापूर में निवास करने वाले दोरला जनजाति में महाराष्ट्र तथा तेलंगाना क्षेत्र की भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

यूट्यूब पर उपलब्ध सी.सीआरटी के चैनल पर दोरला नृत्य पर उपलब्ध विडियो "CCRT - CCRT produced Documentary Film "Dance of Dorla Tribes" from the archives of CCRT in 1995." में इस वाद्य का प्रयोग किया जाता देखा जा सकता है। (CCRT OFFICIAL CHANNEL)

शोधार्थी को शोध यात्रा के दौरान बीजापुर तथा भोपालपट्नम क्षेत्र के निकट दोरला जनजाति के आदिवासियों के पास इस वाद्य को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। शोधार्थी का मानना है कि भोपालपट्नम क्षेत्र के पास मद्देड़ नामक स्थान पर इस वाद्य को ही स्थान के नाम पर मद्देड बाजा के नाम से प्रचारित किया गया जिसके कारण यह वाद्य मद्देड़ बाजा के नाम से प्रचलित हो गया। शोधार्थी द्वारा बस्तर के बीजापुर के पास गांवों में निवास करने वाली दोरला जनजाति के पास भी इस वाद्य को देखा गया जो इसका नाम केवल ढोल ही बताते हैं। (बड़दी)

बनावट

इस वाद्य की बनावट दक्षिण भारतीय वाद्य 'ताविल' से लगभग मिलती-जुलती है। दोरला जनजाति द्वारा प्रयोग किये जाने वाले वाद्य का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस वाद्य का खोल पूर्ण रूप से ताविल वाद्य के लकड़ी के खोल के समान ही निर्मित किया जाता है। इस वाद्य एक मुख में चमड़ा मढ़ने के लिए ताविल में प्रयुक्त किये जाने वाले मोटे चक्र के स्थान पर थोड़े पतले और मुख के आकार से दोगुना बड़े चक्र का प्रयोग दिखाई देता है तथा दूसरे मुख पर ताविल वाद्य के समान ही लोहे के गोल चक्र के माध्यम से चमड़ा मढ़ा जाता है।

यह वाद्य लंबाई में लगभग 1.5 से 1.75 फीट के आस-पास का निर्मित किया जाता है। इसके दो मुखों में एक मुख के बड़े आकार वाले चक्र का व्यास 14 से 15 इंच के आसपास होता है किन्तु इस मुख पर लकड़ी के खोल के

मद्देड़ बाजा, बीजापुर क्षेत्र में प्रचलित दोरला जनजाति (छायांकित)

मुख का व्यास 6 से 7 इंच का ही होता है। दूसरी ओर तावित वाद्य के मुखों पर लगे लोहे के चक्र के समान ही चक्र लगा होता है जिसकी मोटाई लगभग 1.5 इंच तथा चक्र का व्यास 10 से 11 इंच का होता है। इस चक्र के आंतरिक गोलाई का व्यास 8 से 9 इंच का होता है जो खोल के मुख की बाहरी सतह के व्यास के लगभग बराबर होता है। (बड़दी)

निर्माण विधि

इस वाद्य का निर्माण जनजाति के लोग स्वयं ही कर लेते हैं। इस वाद्य के खोल के लिए बीजा एवं शीशम की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी को बेलनाकार काट लिया जाता है तथा वाद्य के खोल को तैयार करने के लिए लोहे के औजारों की सहायता से इसकी बाहरी सतह को गोलाई में अर्थात मुखों पर व्यास कम रखते हुए, खोल के मध्य भाग की ओर जाते हुए व्यास गोलाई में अधिक होता जाता है। इस तैयार लकड़ी के अंदर की ओर के ठोस हिस्स को भी औजारों की सहायता से खोदकर निकाल दिया जाता है। इसके दोनों मुखों में एक मुख का व्यास अधिक तथा दूसरे का व्यास कम रखा जाता है।

इस वाद्य के दोनों मुखों पर बकरे के चमड़े को लोहे से निर्मित चक्रों के सहायता से मढ़ा जाता है। बड़े मुख की ओर जो चमड़ा मढ़ा जाता है वह छोटे मुख के चमड़े से अधिक मोटाई का होता है। बड़े मुख पर लगे मोटी गोलाई के चक्र पर चमड़े को अच्छी तरह चिपका का सुखा लिया जाता है। इसी प्रकार छोटे मुख पर लोहे के बड़े आकार वाले चक्र पर बकरे के चमड़े को विशेष रूप से तैयार करके मढ़ा जाता है। इसके लिए चमड़े को चूने के पानी में रात भर भिगो कर रखा जाता है। जिससे इस पर उपस्थित बाल हट जाते हैं तथा चमड़े का रंग सफेद हो जाता है। इस सफेद चमड़े को चक्र पर बद्धी के लिए स्थान छोड़ते हुए लकड़ी के छोटे-छोटे गुटकों को चमड़े के अंदर डालते हुए चिपका लिया जाता है। इस प्रकार तैयार चमड़े युक्त दोनों चक्रों को रस्सी की सहायता से खोल पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन दोनों ओर से लकड़ी से किया जाता है। इसके बड़े मुख पर अर्थात मोटे चक्र वाले मुख पर तेंदु वृक्ष के निर्मित 10 इंच लंबे तथा आधे इंच मोटे घुण्डी युक्त डण्डी से वादन किया जाता है। इस मुख नीचे के स्वर वाली ध्वनि प्राप्त होती है। इस मुख पर डण्डी से आघात करते हुए कभी-कभी ध्वनि में विविधता प्राप्त करने के लिए आघात के तुरंत पश्चात् हाथ की ऊंगलियों के स्पर्श कर दिया जाता है। दूसरे मुख पर बांस की लकड़ी से निर्मित पतली डण्डी से आघात कर वादन किया जाता है। इस मुख की ध्वनि ऊंचे स्वर वाली होती है। (Korram)

प्रयोग अवसर

पंडुम अर्थात विभिन्न त्यौहारों, शादी, नामकरण संस्कार इत्यादि के अवसर इस वाद्य का वादन किया जाता है। दोरला नृत्य के साथ भी इस वाद्य का वादन किया जाता है। इस वाद्य के साथ अन्य वाद्य के रूप में दक्षिण भारतीय सुषिर वाद्य नादस्वरम् को ही शहनाई कहकर दोरला जनजाति प्रयोग करती है।

- **दोरला बाजा**

शोधार्थी द्वारा शोध यात्रा के दौरान दोरला जनजाति के आदिवासियों के पास देखा गया द्वितीय वाद्य है जिसे दोरला लोगों द्वारा बड़े ढोल नाम से संबोधित किया जाता है। (कड़के)

बनावट

इस वाद्य की बनावट साधारण ढोल के समान ही होती है। इस वाद्य की लंबाई 1.5 से 2 फीट के मध्य होती है। इस वाद्य के खोल के मुखों का व्यास एक ओर लगभग 12 इंच तथा दूसरी ओर 14 इंच के लगभग होता है। वाद्य का निर्माण आदिवासियों द्वारा स्वयं ही किया जाता है अतः वाद्य के आकार का निश्चित माप होना आवश्यक नहीं होता।

निर्माण विधि

इस वाद्य का निर्माण बीजा एवं शीशम की लकड़ी से किया जाता है। लकड़ी के मोटे तथा वाद्य की लंबाई की आवश्यकता अनुसार काट कर इसके उपरी भाग को औजारों के माध्यम से अथवा मशीन के माध्यम से छीलकर ऊपरी सतह बना ली जाती है। जिसमें दो मुखों में एक का बड़ा तथा दूसरे को छोटा रखा जाता है। बड़े मुख से छोटे मुख की ओर बढ़ने पर क्रमशः व्यास कम होता जाता है। इसके पश्चात् लकड़ी के अंदर के ठोस हिस्से को औजारों की सहायता से खोद कर निकाल लिया जाता है। इस वाद्य के दोनों मुखों पर मढ़ने के लिए बकरे चमड़े का प्रयोग किया जाता है। इस दोनों ही मुखों पर मुख के बाहरी सतह के आकार से थोड़े बड़े आकार के धातु के चक्रों की सहायता से चमड़ों को मढ़ा जाता है। धातु चक्रों पर चमड़े को चिपका दिया जाता है। दोनों मुखों पर इन चक्रों को रखते हुए धातु पर चिपके चमड़े के भीतरी हिस्सों पर छेद कर दिया जाता है। इन छिद्रों में से रस्सी को गुजारते हुए इसे खोल पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन भी मद्देड़ बाजा के समान ही एक ओर तेंदु से निर्मित घुण्डी युक्त डण्डी से तथा दूसरी ओर बांस की निर्मित पतली डण्डी से किया जाता है। नादस्वरम (जिसे दोरला लोग शहनाई कहते हैं) पर बजाये जाने वाले स्वरों के आधार पर इस वाद्य का वादन किया जाता है। (कड़के)

प्रयोग अवसर

दोरला आदिवासियों के अनुसार इस वाद्य का प्रयोग अधिकतर सार्वजनिक अवसरों पर न किया जाकर केवल दैवीय कार्य अथवा देवी देवताओं की आराधना तथा निजि पारंपरिक अवसरों पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त पारंपरिक नृत्य एवं गीत के साथ वादन के लिए इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है।

- **माड़िया ढोल**

प्राचीन ढोल वाद्यों से समानता रखता यह वाद्य साधारण रूप से सरई वृक्ष के तने से निर्मित एक ढोल वाद्य है। यह माड़िया जनजाति का मुख्य नृत्य वाद्य होने के कारण इस वाद्य को माड़िया ढोल कहा जाता है। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने इस वाद्य को बिरिया ढोल कहा है। बस्तर की दोरला जनजाति के नृत्यों में भी यह वाद्य माड़िया नृत्य के एक

स्वरूप में देखने को मिलता है। दोरला अपने सभी वाद्यों को अपनी जनजाति से संबोधित करते हैं अतः वे इस वाद्य को दोरला बाजा भी कह देते हैं।

बनावट

चित्रानुसार इस द्विमुखी ढोल अवनद्ध वाद्य की बनावट एक समानांतर बेलन के आकार वाले लकड़ी के खोल की दिखाई देती है। इस वाद्य का खोल सरई वृक्ष के एक तने को काटकर बीच से खोखला करके बनाया जाता है। इसके दोनों मुखों का व्यास लगभग एक फीट से डेढ़ फीट का होता है। इसकी लंबाई लगभग 1.5 मीटर की होती है। (तरमा)

निर्माण विधि

इस वाद्य के निर्माण के लिए सरई, सेमर इत्यादि की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। गोलाई में मोटी व लम्बी लकड़ी को लोहे औजारों के माध्यम से चारों ओर छीलकर समानांतर बेलन का आकार दे दिया जाता है। इस प्रकार बराबर किये गये लकड़ी को भीतर से लोहे की छड़ से बने धारदार औजार सब्बल की सहायता से खोद कर हटा दिया जाता है। यह खोल एक मुख से दूसरे मुख तक पूरी तरह खोखला होता है। (secret_bastar) इसके मुखों पर मढ़ने के लिए एक तरफ गाय अथवा बैल का तथा एक तरफ बकरे के चमड़े का प्रयोग किया जाता है। दोनों मुखों पर अलग-अलग पशु के चमड़ों का प्रयोग का कारण केवल दोनों मुखों की ध्वनि में अंतर प्राप्त करना होता है। बकरे के चमड़े वाले मुख से पतली ध्वनि तथा गाय-बैल के चमड़े वाले मुख पर मोटी ध्वनि उत्पन्न होती है। चमड़े को मुखों पर मढ़ने के लिए इसे बांस के चक्र में चिपका लिया जाता है। इस चक्र को बनाने के लिए बांस के पतली व लंबी डण्डी को खोल के मुख के बाहरी हिस्से के व्यास मे गोलाकार चक्र के समान मोड़ लिया जाता है। मुख के आकार से थोड़े बडे आकार में काटे गये चमड़े को इस चक्र पर गोंद की सहायता से चिपका लिया जाता है। इस प्रकार तैयार चमड़े युक्त चक्र को दोनों मुखों पर रख कर बांसचक्र के अंदर के भाग के चमड़े पर छेदकर बैल के चमड़े से निर्मित बद्धी को इनमें से गुजारते हुए अंग पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन, इसके दोनों मुखों के किनारों पर बंधी रस्सी कि सहायता से (चित्र में दिखाये अनुसार) कंधे पर थोड़ा तिरछा लटकाकर किया जाता है। जिस ओर गाय अथवा बैल के चमड़े का प्रयोग किया जाता है, उस ओर लकड़ी के निर्मित डण्डे से आघात करते हुए वादन किया जाता है तथा जिस ओर बकरे का चमड़ा मढ़ा होता है उस मुख का वादन हाथ कि ऊंगलियों से मुख के चमड़े के किनारों पर प्रहार करते हुए किया जाता है। अधिकतर इस वाद्य के दाहिने भाग पर बकरे के चमड़े वाला मुख तथा बांयी ओर गाय अथवा बैल के चमड़े वाला मुख होता है तथा वादन के समय डंडे से वादन किए जाने वाले भाग क नीचे की ओर झुका कर रखा जाता है।

प्रयोग के अवसर

यह वाद्य दण्डामी माड़िया, गौर सिंह माड़िया तथा बस्तर के दक्षिणी छोर पर निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा माड़िया नृत्य के साथ प्रयोग मे देखा जा सकता है। इस नृत्य के साथ इन जंजातियों द्वारा रेला गीत का गायन किया जाता है। यह वाद्य माड़िया जनजाति विशेष का वाद्य है अतएव इस जनजाति द्वारा प्रत्येक सांस्कृतिक अवसर यथा दशहरा, मेला जात्रा, दियारी, आमुस, नयाखानी, शादी, मरनी इत्यादि मे मुख्यता से प्रयोग किया जाता है।

- **दोरला ढोल**

पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है कि बीजापुर के पास के क्षेत्र में आवापल्ली में निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा आकार में बहुत बड़े ढोल का प्रयोग किया जाता है। जिसका वादन दो व्यक्तियों द्वारा इसे डण्डे की सहायता से कंधे पर लटकाकर किया जाता है। शोधार्थी द्वारा जानकारी के आभाव में पूर्व में इस वाद्य का वर्णन दोरला बाजा के नाम से किया गया था। किन्तु शोधार्थी शोध यात्रा के दौरान इस वाद्य के अतिरिक्त भी दोरला जनजाति के अन्य वाद्यों के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई, जिसके अंतर्गत ज्ञात हुआ के दोरला जनजाति के मध्य छोटे आकार में प्रयुक्त ढोल को दोरला बाजा कहा जाता है। आकार में ढोल के समान बेलनाकार होने के कारण इसे दोरला जनजाति का ढोल कहा जा सकता है। अतः इस ढोल को शोधार्थी द्वारा दोरला ढोल कहकर वर्णन किया जा रहा है।

इस वाद्य के संबंध में शोधार्थी को यूट्यूब पर उपलब्ध एक विडियो के माध्यम से जानकारी प्राप्त हुई थी। उक्त विडियो में इस बड़े ढोल के साथ अन्य कई छोटे ढोल का प्रयोग भी विडियो में देखा जा सकता है। (Shrivastav) इस वाद्य के संबंध में जानकारी प्राप्त करने हेतु शोधार्थी द्वारा प्रयास किया गया, जिसके अंतर्गत दोरला जनजाति के संबंध में यू-ट्यूब पर उपलब्ध विडियो को अपलोड करने वाले शिवशंकर श्रीवास्तव जी से संपर्क किया गया। शिवशंकर जी के अनुसार इस वाद्य का स्थान बीजापुर जिले के आंवापल्ली क्षेत्र का बताया गया तथा यह उस क्षेत्र में निवास करने वाली दोरला जनजाति के आदिवासियों का ही बताया गया। शोधार्थी द्वारा शिवशंकर जी के साथ उस क्षेत्र तक पहुंचने का प्रयास किया गया किन्तु क्षेत्र में निवास करने वाले संपर्क सूत्रों के अनुसार नक्सली गतिविधियों के कारण उस क्षेत्र में सेना द्वारा स्थानीय नागरिकों के अतिरिक्त किसी अन्य का आवागमन प्रतिबंधित कर दिया गया था। अतः शोधार्थी इस क्षेत्र तक पहुंच पाने में असमर्थ रहा। इस वाद्य के संबंध में शिवशंकर जी से प्राप्त विडियो के अवलोकन से प्राप्त जानकारी के अतिरिक्त अन्य कोई जानकारी प्रस्तुत कर पाने में शोधर्थी असमर्थ है।

वादन शैली

दोरला बाजा, दोरला ढोल, मद्देड़ बाजा का वादन दोनों मुखों पर डण्डे से किया जाता है। से आघात करते हुए भी वादन किया जाता है। माड़िया ढोल का वादन एक मुख पर डण्डे के प्रहार से तथा दूसरे मुख पर हाथ की अंगुलियों से मुख के किनारों पर प्रहार करते हुए किया जाता है।इन वाद्यों पर वादन सामग्री के रूप में स्वर वाद्य पर बज रहे स्वरों का अनुसरण किया जाता है। स्वर वाद्य पर बजाये जाने वाले इन स्वरों को पाड़ नाम से संबोधित किया जाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के समान इन वाद्यों की वादन सामाग्री में ताल जैसे निश्चित मात्रा वाले बोलों का प्रयोग नहीं

किया जाता है। नृत्य के साथ वादन के समय भी किसी विशेष निश्चित ताल का वादन नहीं किया जाता अपितु इन पर बजने वाले पाड़ प्रत्येक आवर्तन (चक्र) के साथ परिवर्तित होते चलते हैं। दोरला जनजाति के वाद्य **दोरला बाजा** तथा **मद्देड बाजा** (छोटा ढोल) पर भी पाड़ का वादन किया जाता है जो नृत्य के साथ बजाये जाने के कारण तीन अथवा चार की संख्या में निश्चित होते हैं। वाद्य की संरचना के कारण इस वाद्य पर वादन में विविधता की अधिक संभावना होती है अतः वर्तमान में हिन्दी भाषा के संगीत प्रचलित विभिन्न आरती गीतों एवं अन्य फिल्मी गीतों के साथ इसका वादन करते हुए देखा गया है। इस पर फिल्म संगीत में प्रचलित तालों का भी वादन किया जाता है। **दोरला ढोल** की वादन शैली तथा इस पर बजने वाले पाड़ की जानकारी अप्राप्त है।

दोरला जनजाति की संस्कृति में दक्षिण भारतीय संस्कृति के प्रभाव केवल उनकी संस्कृति में न होकर उनके वाद्यों में भी देखे जा सकते हैं। शहनाई के रूप में दोरला जनजाति के द्वारा प्रयोग किया जाने वाला स्वर वाद्य वास्तव में दक्षिण भारतीय वाद्यों में प्रयुक्त नादस्वरम ही है। इसी प्रकार यदि बनावट के आधार पर देखा जाए तो ज्ञात होता है कि मद्देड़ बाजा जिसे दोरला छोटा ढोल कहते हैं, का लकड़ी का खोल दक्षिण भारतीय वाद्य तविल के खोल से पूर्ण समानता रखता है अंतर केवल वाद्य के मुखों पर मढे गये चमड़े का होता है। यह भी संभव हो सकता है कि ताविल वाद्य इस वाद्य का ही विकसित स्वरूप हो। बस्तर की दोरला जनजाति में वाद्यों की संख्या तो बहुत अधिक नहीं है किन्तु फिर भी इस जनजाति की संस्कृति में वाद्यों के प्रयोग को विशेष महत्व दिया जाता है। इनके किसी भी दैवीय कार्य में इन्हीं वाद्यों के वादन को महत्व दिया जाता है। जहाँ इनके दैवीय कार्यों में दोरला बाजा का प्रयोग निश्चित है वहीं इनके सामाजिक कार्यक्रमों में मनोरंजन के वाद्य के रूप में मद्देड़बाजा का वादन निश्चित होता हैं। इनके वाद्यों के वादन की कोई विशेष शास्त्रीय वादन शैली नहीं है किन्तु फिर भी इनके वाद्यों का वादन सुनने में मन को मोह लेने वाला होता है। वर्तमान आधुनिकता के दौर में जहाँ शहरी क्षेत्रों में पारंपरिक अवसरों पर पारंपरिक वाद्यों के वादन का महत्व लगभग समाप्त हो चुका है वहीं दोरला जनजाति आज भी अपने वाद्यों की पारंपरिकता को संजाये हुए हैं।

दोरला जनजाति की संस्कृति के संबंध में आज भी बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती इनकी संस्कृति में शोधार्थी द्वारा केवल वाद्यों का ही अध्ययन किया गया है जिनमें पूर्ण प्रयासों के पश्चात् भी सभी वाद्यों के संदर्भ में जानकारी अप्राप्त रही। पूर्ण संभावना है कि उपर्युक्त वर्णित इन वाद्यों के अतिरिक्त भी कई अन्य वाद्य इस क्षेत्र में प्राप्त हों।

दोरला जनजाति की संस्कृति पर भी पूर्ण स्वतंत्र शोध कार्य की संभावना बनती है इनकी संस्कृति में दोरली बोली के गीत, नृत्य एवं इनकी जीवन शैली के संबंध में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती अतः शोधार्थी की दृष्टि में इन विषयों पर भी दोरला जनजाति को केन्द्र में रखकर शोधकार्य किये जाने चाहिए।

सन्दर्भ सूची ;-

CCRT OFFICIAL CHANNEL. *CCRT - CCRT produced Documentary Film "Dance of Dorla Tribes" from the archives of CCRT in 1995.* 02 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=kd09L9K0H50&t=616s>.

Nagraj Koram.*gudipadwa village arjunalli Bhopal patnam* .8 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=_vTV-qy43H0>.

Nagraj Korram.*gudipadwa village arjunalli Bhopal patnam* .08 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=_vTV-qy43H0>.

secret_bastar.*https://www.instagram.com* .5 July 2021. <https://www.instagram.com/tv/CQ7S7KJpe0i/?utm_medium=share_sheet>.

Shivshankar Shrivastav.*Dorla dance of Bastar, Chhattisgarh* .23 May 2018. <https://www.youtube.com/watch?v=4l1dAi1GkOU>.

W.V. Grigson.*The Maria Gonds of Bastar* .London: Oxford University press, 1938.

.कोंटा की दोरला जनजाति"" *कोंटा के दोरला जनजाति द्वारा किया जाने वाला नृत्य*कोंटा सुकमा: शोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 21.

नत्थू लाल तोड़े .*बस्तर की लोक कथाओं का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन*खैरागढ़: इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय ., 2010.

नर्मदा प्रसाद श्रीवास्तव .*आदिवासी बस्तर (इतिहास एवं परम्पराएं).* जगदलपुर: शैलजा श्रीवास्तव, 1992.

.मृत्यु संस्कार गीत"" *मृत्यु संस्कार गीत दोरला जनजाति बीजापुर*बोर्जे ., बीजापुरतुलसी राम यारलम जी से प्राप्त :, अक्टूबर 2021 23.

लाला जगदलपुरी .*बस्तर इतिहास एवं संस्कृति* :भोपाल .मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2000.

शंकर कड़के .*साक्षात्कार शंकर कड़के दोरला बाजा वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 18.

शिरीन लाखे .*बस्तर के आदिवासियों के नामो का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन*रायपुर: रविशंकर विष्वविद्यालय ., 1988.

श्रीकमल शर्मा शिव कुमार तिवारी .*मध्य प्रदेश की जनजातियाँ समाज एवं व्यवस्था*भोपाल: मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी ., 1999.

सत्यम बड़दी .*साक्षात्कार सत्यम बड़दी - मद्देड बाजा वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 19.

सुखराम तरमा .*साक्षात्कार सुखराम तरमा माडिया ढोल वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., जून 2021 29.

हीरालाल शुक्ल .*आदिवासी अस्मिता और विकास*भोपाल: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी ., 1997.

कमलनारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य–विषय

प्रो. डॉ. राजन यादव

किसी भी प्रदेश के पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता के अन्वेषण-अध्ययन में तत्कालीन विनिर्मित ग्रंथ अमूल्य सहायता प्रदान करते है। लोग जीवन में प्रचलित रीति –रिवाज, राजनैतिक स्थिति उस समय के मानवों के चिंतन आदि प्रधान विषयों पर परिज्ञान साहित्य के तलस्पर्शी मन पर ही अवलंबित है। साहित्य की विविध विधाओं में गीति एक सशक्त विधा है, जिसका जन्म राममय भावनाओं से होता है। नागवंश के 22वें पीढ़ी के राजा कमल नारायण कृत कमलनारायण, कमलनारायण प्रहर्ष कमलप्रकाश रागमाला एवं शीतल यश का उल्लेख मिलता है। वह संगीत प्रेमी ही नहीं अपितु संगीत के जानकार थे रागमाला इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। राजा कमलनारायण सिंह जी का जन्म 11 अगस्त 1871 ईस्वी को नागपुर में हुआ था। आप सन 1890 ईस्वी में गद्दीनशीन हुए थे

जस-पचरा में आदिशक्ति जगदंबा का विविध विध गान किया जाता है। नवदुर्गा से लेकर अनेक देवी शक्तियां उनकी महिमा, यशोगान इत्यादि जस-पचरा के वर्ण्य विषय होते हैं। इसमें स्थानीय या क्षेत्रीय देव-देवियों की महिमागान किया जाता है। चूँकि देवी उपासकों के लिए परमशक्ति महामाया, महागौरी, जगदंबा ही हैं। इसलिए समस्त अन्य देव-देवियाँ आदिशक्ति की कृपा के अभिलाषी रूप में चित्रित होते हैं। छत्तीसगढ़ शक्तों का गढ़ रहा है। यहाँ के ग्राम-ग्राम में ठाकुरदेव, कंकालिन, सतबहनियाँ, भईंसासूर, लंगुरा बीर इत्यादि शाक्त परम्परा के देव-देवियाँ प्रतिस्थापित हैं। घाट-घाट में महादेव घाटी-घाटी में बंजारी विराजमान हैं। वैष्णधारा के देव-देवियाँ ब्रह्म, विष्णु , महेश सरस्वती, गणेश , सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि देव-देवियों का भी गान जसगीतों में होता है। राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा में लोक देव-देवियों की अपेक्षा वैष्णव धारा के देवी-देवताओं का अधिक वर्णन हुआ है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित जसगीतों के आधार पर राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा के वर्ण्य –विषय का विश्लेषण भी आवश्यक जान पड़ता है। छत्तीसगढ़ में गाये जाने वाले देवीगीतों (माता सेवा, जँवारा, जसगीत) का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

1. वंदनापरक - देवी की स्तुति, वंदना, यशगान, पूजा, आरती, महिमा।
2. श्रृंगारपरक - देवी के अलंकारश्रृंगार , पुष्प श्रृंगार , भुवन श्रृंगार , नखशिख श्रृंगार , बारहमासी श्रृंगार।
3. बधाईपरक - बधाई, पालना, हिंडोला, मालिन, लंगुरवा-बरुवा।
4. वाद्ययंत्रपरक - वाद्यों के प्रकार, नृत्य इत्यादि।
5. युद्धपरक - दैत्य-संहार, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि।
6. पौराणिक आख्यानपरक - भागवत पुराण, शिवपुराण, नरसिंह पुराण इत्यादि।
7. महाभारत कथापरक - कौरव-पाण्डव युद्ध के पहले देवी आराधन इत्यादि।
8. श्रीरामकथापरक - श्रीरामकथा के विविध पात्रों सम्बन्धी।
9. श्रीकृष्णकथापरक - श्री राधा की महिमा व अन्य कथानक।
10. प्रकृति चित्रणपरक - पशु, पक्षी, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, वनस्पति जगत इत्यादि।
11. लोकजीवनपरक - लोक जीवन के दैनिक कार्यों, अभिलाषाओं इत्यादि का चित्रण।
12. पकवानपरक - देवी के भोग हेतु विविध पकवानों का वर्णन इत्यादि।

13. बरुवा कष्टनिवारणपरक - सेवक, भक्त व देव चढने वाले बरुवों की मंगल कामना इत्यादि।

देवीगीतों के गायन-वादन की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया जा सकता है। राजा कमलनारायण कृत जस-पचरा के वर्ण्य–विषय को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है- 1. वंदनापरक, 2. श्रृंगारपरक, 3. भागवत पुराणपरक, 4. श्रीरामकथापरक, 5. श्रीकृष्णकथापरक, 6. महाभारत कथापरक, 7. युद्धपरक, 8. प्रकृति चित्रणपरक, 9. लोक कल्याणकारीपरक, 10. पकवानपरक, 11. बरुवा कष्ट निवारणपरक। यथा-

1. वंदनापरक - भक्त अनिष्ट निवारण के लिए अपने इष्ट से प्रार्थना करता है। संसार की दैहिक दैविक और भौतिक तापों से वह अपने इष्ट के चरणों में जाकर ही त्राण पाता है। देवी-भक्त आदिशक्ति की वंदना करता है कि वेद और अठारह पुराण आपके गुणों का बखान नहीं कर सकता। मैं अज्ञानी हूँ, मैं तो आपका आह्वान, पूजा, ध्यान जानता ही नहीं हूँ, मेरा मन तो सांसारिक विषय वासनाओं में डूबा रहता है। इसलिए हे मातेश्वरी , आपकी शरण में आया हूँ। मेरा मान और मुक्ति आपके हाथों में है-

माई देवी नमस्ते नमो तू ही सुखदायिनी माय ।।
नमो नमो जगदंबा भवानी नमो शीतला माई
नमो नमो ते क्षमा मंगला नमो नमो बमलाई
नमो नमो गौरी पद्या तू नमो शची मेघाई
नमो नमो दुर्गा बगला ते नमो नमो सुखदाई
नमो जया विजिया ते देवी शिवा सुभद्रा माई
नमो नमो हेडंबा अंब ते नमो जयंती गाई
सावित्री ते नमो शारदा कमला शची सुहाई
कंकाली ते नमो कालिका कमल सिंह यश गाई ।।

बधाईपरक जसगीतों में विवाह, उत्सव इत्यादि का प्रसंग आता है। हिम कन्या भवानी भूत भावन भगवान शंकर की प्राण प्यारी हैं। जब वे सती के रूप में थीं तब अपने पिता दक्ष यहाँ यज्ञ में अपने पति का भाग नहीं देखीं तो योगग्नि से शरीर त्याग देती हैं। क्रोधित होकर शंकर महाकाल, नंदी और भृंगी को भेजकर यज्ञ विध्वंश करा देते हैं। फिर सती का जन्म हिमवान के यहाँ पार्वती के रूप में हुआ और शंकर के साथ विवाह हुआ-

नगजाते कुमारी, शंकर प्राण पियारी हो माय ।।
सती हत्ती तू आदि भवानी, पिता यज्ञ तन वारी।
मखशाला नहिं देखिं भाग हर, क्रोधानल तन जारी ।।
दक्ष प्रजापति यज्ञ नष्ट कर, कष्ट दिन अधिकारी।

2. श्रृंगारपरक - प्राचीन काल से मानव के जीवन में श्रृंगार का विशेष स्थान रहा है। मनुष्य विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषणों को धारण कर अलंकृत होता है। भक्त अपने परिवेश और सामर्थ्य के अनुसार देवी को वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कर अर्चन-वंदन करता है। आभूषण श्रृंगार , फूल श्रृंगार बारमासी, नख-शिख श्रृंगार , भुवन श्रृंगार इत्यादि का राजा कमल नारायण रचित जस गीतों में वर्णन हुआ है। यथा-

षटदस सजि के सिंगार, कनक राजे वेदिका ।।

नाना रतनों सो जटि, रुचि भर लसी
माया मोरे लखि मोहित संसार। कनक राजे.....

आदिशक्ति की महिमा का बखान करते हुए उनके पुष्प श्रृंगार का वर्णन किया गया है। विविध फूलों के मुकुट, कंगन, कुण्डल, वस्त्र इत्यादि का वर्णन करके भक्त याचना करता है कि हे सुषमा की खान गणेश-माता, बरुवा आपके शरणागत है। आपकी विमल छवि यह भक्त अपने हृदय में बसाया हुआ है।

बारहमासा वर्णन साहित्य की प्राचीनतम परम्परा रही है। लौकिक प्रेम की दृष्टि से वियोग और उसी के साथ बारहों मास का वर्णन किया जाता है। महीनों की विशेषता के साथ-साथ विरहजन्य गत भावों का सुन्दर चित्रण बारहमासा के अन्तर्गत किया जाता है। भक्तिपरक बारहमासा में महीना के अनुरूप उनके साज श्रृंगार का गान किया जाता है। जैसे-

जन मन रंजन जग सुख करनी बरनत परम उमाह हो माय ।।
कातिक मास प्रकास प्रकासित, मनि मय दीप धराये हो माय।
हिम रितु अगहन मास सुहाये, हेम अधिक सरसाये हो माय ।।
पूस तुसार वास दिन रतिया, वसन सुतूल भराये हो माय।
माघ वसंत वसंती सारी, केसर रंग सुहाये हो माय ।।
फागुन फाग सेज सब जित जित, कुसमित रंग सिंचाये हो माय।
चैत बाग बिच आमन मौरे, चंचरीक ध्वनि छाये हो माय ।।
माघव मास धरम के महिना, सुंदर कलस पुजाये हो माय।
ग्रीसम जेठ चहूँ दिसि दाहत, मलअज अंग लगाये हो माय ।।
मास असाढ़ मेह घहराने, बरखा अति नियराये हो माय।
सावण बुंद झुमुक झर लाये, हरित भूमि तृन छाये हो माय ।।
घुमड़ि घटा नभ छाये, चपला छवि दरसाये हो माय।
सरद मास अस्विन तव अरचत, कमल सिंह जस गाये हो माय ।।

अत्यन्त प्राचीन काल से अंग-सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए 'नख-शिख ' की परम्परा मिलती है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश सभी भाषाओं में यह वर्णन मिलता है। कमलनारायण ने भी उसी परम्परा का वर्णन करते हुए अंग-सौंदर्य के चित्रण के लिए 'नख-शिख' का वर्णन किया है। 'नख-शिख' के अन्तर्गत प्रायः पैर के नाखून से लेकर चोटी तक अंग के प्रत्येक भाग का प्रभावोत्पादक वर्णन किया जाता है। इसके लिए यह कवि-परम्परा प्रचलित है कि देवियों अथवा दिव्य नारियों के अंग-सौंदर्य का चित्रण पैर के नख से आरम्भ करके क्रमशः सिर के वर्णन तक किया जाता है और साधारण स्त्रियों का अंग सौन्दर्य प्रस्तुत करने के लिए सिर से आरम्भ करके पैर के नाखून तक का वर्णन किया जाता है। इसलिए प्रथम वर्णन को 'नख-शिख' तथा दूसरे वर्णन को 'शिख-नख' कहना चाहिए, परन्तु दोनों प्रकार वर्णनों के लिए साहित्य में 'नख-शिख' नाम ही प्रसिद्ध है।

कमल नारायण ने देवी के मनोहारी रूप को अंकित करने के लिए, उनके चरणों से लेकर सिर तक के सौन्दर्य का चित्रण केवल उपमानों के सहारे बड़ी ही सजीवता एवं मार्मिकता के साथ किया है।

अमर गुण गाये तव गुण अगम अपार हो माय

शरद शशिवदनी हरहु सकल दुख दारिद मात ।।
निशदिन सब सुर करत वंदना, विधि हरिहर पद पुजे।
पद तल अरुण नखन शोभित, ऊपर नूपुर कूजे ।।

3. भागवत पुराणपरक - इस पुराण में बारह स्कन्ध हैं। सप्तम स्कन्ध में जय-विजय कथा, हिरण्यकशिपु के द्वारा प्रहलाद के वध का प्रयत्न करने पर नृसिंह भगवान का प्रादुर्भाव, प्रहलाद-चरित्र तथा मानव धर्म, यतिधर्म और गृहस्थधर्मादि का निरूपण है। हिरण्यकशिपु ने क्रोध करके प्रहलाद से पूछा कि बता तेरा वह जगदीश्वर कहाँ है? जब वह सर्वत्र है तो इस खंभे में क्यों नहीं दिखता? उसी समय उस खंभे में एक बड़ा भयंकर शब्द हुआ। भक्त की रक्षा के लिए भगवान ने नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपु के सामने खड़े हो गये। सिंहनाद करता हुआ हिरण्यशिपु हाथ में गदा लेकर नृसिंह भगवान पर टूट पड़ा परन्तु जैसे पतिंगा आग में गिरकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही वह दैत्य भगवान के तेज के भीतर जाकर लापता हो गया। प्रहलाद की रक्षा हुई। देवतागण बार-बार भगवान पर पुष्पों की वर्षा करने लगे, दुंदभी बजाने लगे।

कवि की अभिलाषा है कि जिस प्रकार अपने भक्त की रक्षा नृसिंह ने की थी उसी प्रकार हे शिवरानी, उमा, भवानी मुझ बालक बरुवा पर कृपा कीजिए। कमलनारायण बारम्बार आपके यशोगान करते हुए यही जयघोष कर रहा है, हे माँ उमा भवानी आपकी जय हो-

मैय्या अरर अरर अर्राय, फटे जब खंभ हो माय ।।
चरचराय नरसिंघ रूप धर, जब प्रगटेव भगवान।
हरिणाकुश के रूप देखिकर, गर्जेव प्रलय समान ।।(1)
तीन लोक चैदहों भुवन में, शब्द भये अति भारी।
ब्रह्मा शक्र देव सब काँपैं, काँप उठे त्रिपुरारी ।।(2)

4. श्रीरामकथापरक - रामकथा ने भारतीय वांग्मय को ही नहीं अपितु विश्व साहित्य को प्रभावित किया है। वह भारतीय जन-जीवन की आचार संहिता है। आदिकाव्य रामायण से इसकी जो परम्परा प्रारंभ हुई, भारत की विभिन्न भाषाओ में वह अद्यावधि प्रवहमान है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत चेतना रामकथा के पात्रों और उनके आचरण के विविध आयामों में अभिव्यक्त हुई है। श्रीराम प्रेम के प्रतीक है तो सीता करुणा की मूर्ति है। सीता, श्रीराम की लीला सहचरी हैं। उनका चरित्र प्रभु की नरलीला का आधार है। वे जनकजी की पुत्री, जगत की माता और करुणा निधान श्रीराम की प्रियतमा हैं।

कमलनारायण जी का यह पद वाल्मीकि रामायण की कथा अनुसार है। पूर्वजन्म में जानकी ऋषि कुशध्वज की पुत्री वेदवती थीं। युवावस्था में ही वे हिमालय में कठोर तप कर रही थीं। रावण ने उनका अपमान किया तब वेदबती उन्हें श्राप दिया कि तेरी तप शक्ति नष्ट हो जाए। वेदबती ने कहा- अपने को भस्म करके मृत्यु को वरण करूँगी। लेकिन अगले जन्म में मैं तुम्हारी मृत्यु का कारण बनूँगी। योग अग्नि में भस्म होने के बाद वेदवती कन्या के रूप में अलौकिक ढंग से एक कमल के फूल में पैदा हुई। रावण उसे अपने घर उठा लाया। यहाँ जन्म प्रसंग की दूसरी कथा का उल्लेख है। इसमें रावण ऋषियों से कर माँगता है। ऋषिगण उन्हें रक्त भरा घट देते हैं। आगे की कथा वाल्मीकि रामायण की तरह है। धरती के जरिये यह कन्या महाराजा जनक के राज्य में चली गई। जब राजा जनक हल से धरती को जोत रहे थे तो हल से बनने वाली लकीर के बीच से वह कन्या निकली। इसका नाम हल जोतने से पड़ी रेखा के नाम पर सीता रखा गया-

मैया जनक दुलारी, जानकी नाम कहाय हो माय ।।
जानकी नाम कहाय जाय के, कर निमिवंश उजियारी।
पालन किये षंभुवर मन्दे, लीन्ह मनुज अवतारी ।।
एक समय असुराधिप रावण, कर माँगे मुनि झारी ।
रुधिर भरे घट दिये कहत यों, एही ते काल तुम्हारी ।।
खोलत ख्वार हो यह सुनते ही, दुतिन्ह कहत पुकारी ।
काल बटोर लाय मम सन्मुख, तुरत ही ताहि निकारी ।।
चर ले जाय रात धर आये, जनकपति के बारी ।
कमलनारायण तहाँ प्रकट भये, सीता भूमि सुतारी ।।

5. श्रीकृष्णकथापरक - भारतीय जन मानस को दो अवतारों ने अधिक प्रभावित किया है । राम और श्रीकृष्ण। इन्हीं दो आलोक-पुंजों की आभा से प्रतिभाषित कालजयी कृतियाँ हैं- रामायण और महाभारत। ''रामायण ज्ञान-पीठ है तो महाभारत कर्म-भूमि। रामायण से ज्ञान का आलोक और महाभारत से कर्म का आलोक लेकर ही श्रीमद्भागवत ने इच्छा-जगत की स्वच्छ स्वच्छंद रसवाहिनी से युक्त भक्तिमंदाकिनी को प्रवाहित किया है । रामायण का ज्ञान, महाभारत का कर्म और श्रीमद्भागवत की इच्छा-इन्हीं तीन सूत्रों से आबद्ध होकर आर्शवाणी भारतभारती को भारतीय बनाती है ।''(रामकथा नवनीत; पांडुरंग राव,भूमिका)

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में लीला-बिहारी कृष्ण के लीला-विहार वर्णन है । संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, जनपदीय तथा लोक साहित्य में नानाविध- राधा-कृष्ण, गोप-गोपियाँ, रास-लीला इत्यादि का वर्णन है । इस यश गीत में कवि ने राधा की महिमा का गान किया है । श्रीकृष्ण अपनी प्राण प्यारी राधा का स्मरण करते रहते हैं । रासेश्वरी की महिमा गान वेद, पुराण, नारद, शारद भी पूर्णरूपेण नहीं कर पाते हैं । दिव्य आभूषणों से शोभित श्रीराधा के लिए मोहन मुरारी वन-वन फिरते हैं-

मैया कीर्तिकुमारी कीरति जग त्रय छाये हो माय ।।
राधा नाम धाम सुख पाये, श्रीवृषभान दुलारी।
रशेश्वरी रटत निशि वासर, सो प्रिय रास बिहारी ।।
सोडस सहस साथ नित तोरे, श्री हरि प्राण पियारी।
कुंज भवन सुख सदन सुहावत, नीलांबर तन धारी ।।
नारद-शारद-सुर-मुनि सारे, रति सती मदनारी।
वेद पुराण अष्ट दस वरणे, तदपि न पावत पारी ।।
अंग विभूषण अमित विराजे, अकथ भये कवि चारी।
कमलसिंह तेरे हित प्यारी, वन वन फिरत मुरारी ।।

6. महाभारत कथापरक - आदिशक्ति की महिमागान वेद-पुराण में ही नहीं महाभारत में मिलता है । उनकी कृपा के बिना कृष्णसखा अर्जुन महाभारत का समर नहीं जीत पाते। इसीलिए कुरुक्षेत्र में युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण ने अर्जुन के हित के लिए कहा था कि शत्रुओं को पराजित करने के लिए पवित्र होकर वे दुर्गादेवी की स्तुति करें भगवान वासुदेव के द्वारा ऐसी आज्ञा देने पर अर्जुन रथ से नीचे उतर पड़े और हाथ जोड़कर दुर्गा का स्तवन करने लगे - मन्दरचल पर निवास करनेवाली सिद्धों की सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है । तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला,

कृष्णपिंगला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामों से प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है। दुष्टों पर प्रचण्ड कोप करने के कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तों को संकट से तारने के कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीर का दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ-

जय कहि के पारथ करत पुकार हो माय ।।
दुर्योधन दल प्रबल सुहाये, द्रोन द्रोन सुत भारे।
भीषम कृपाचार दुसासन, कुरुक्षेत्र पग धारे ।।
कौंरो प्रबल मेघ से धाये, धर्मराज मन मारे।
कहें कृष्ण सों हार मानि के, अब के कौन उबारे ।।
इतना सुनि के वासुदेव तब, दीरघ बचन उचारे।
दुर्गा जी की करहु अस्तुति, दुर्ग कस्ट ते तारे।
यह उपदेश लहत ही पारथ, भारत के हितकारे।
कमल नरायेन सिंह दास तब अस्तुत परम उचारे ।।

महाभारत में दुर्गादेवी को परम पूज्या माना गया है। शक्ति यानी दुर्गा की भक्ति महाभारत काल में खूब की जाती थी। महाभारत युद्ध के पूर्व दुर्गा का स्मरण करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसके स्तोत्र-पाठ करने की आज्ञा दी है।

7. युद्धपरक (भक्त रक्षण) - महाशक्ति ही परब्रह्म परमात्मा हैं, जो विविभन्न रूपों में विविध लीलाएँ करती हैं। इन्हीं की शक्ति से ब्रह्मा विश्व की उत्पत्ति करते हैं, इन्हीं की शक्ति से विष्णु विश्व का पालन करते हैं और शिव जगत का संहार करते हैं, अर्थात् ये ही सृजन-पालन-संहार करने वाली आद्या नारायणी शक्ति हैं सतयुग, त्रेता , द्वापर और कलियुग में शक्ति की बड़ी महिमा गई है। इन्हीं शक्ति के बल पर रावण अत्याचार कर रहा था किन्तु श्रीरामचन्द्र ने उनका संहार करके सज्जनों की रक्षा की। जब असुरों ने छल-बल किया तो देवगण व्याकुल हो उठे। वानर-भालु जब विकल हो गये, प्रभु भी जब मूर्छित होने लगे तब अद्भुत रूप धारण करने इन्हीं महाशक्ति ने दानव दलन किया-

मैया कंपत सह सुर राय, विकल भई मेदनी ।।
रावण दुस्ट मरो इक अबही, बन्दि छुटे अमराय।
रामचन्द्र के चरित मनोहर, रहे त्रिभुवन में छाय ।।(1)
दूसर प्रगट भये महिरावण, किन्हों सुरन विहाल।
तासे बन्दु छुड़ाय कृपानिधि, कीजे सकल निहाल ।।(2)
आरत सुन प्रभु लियो सरासन, लखन दियो हुंकार।
महावीर सब बीर सजग भये, षैल लिये कर धार ।।(3)
चढ़ि विमान पुष्प पर बैठे, आदि शक्ति संग लाग।
सप्त दीप कोलाहल मच गये, सोवत सिंघ सो जाग ।।(4)

कमलनारायण रचित जस गीतों में देवी के रौद्र रूप का अधिक वर्णन हुआ है। विविध आयुध धारण करके प्रबल दैत्य दल का दलन करने वाली आदिशक्ति, कराल काली जिह्वा लपलपाती हैं, अट्टहास करती हैं और दुष्टों का नाश करती हैं।

8. प्रकृति चित्रणपरक- कविन्द्र रविन्द्र ने लिखा है- हमारे देश की कविता में प्रकृति-प्रेम का जो परिचय मिलता है, वह उसे अन्य देशों की कविता से अलग करता हैं उसे विशिष्टता प्रदान करता है। यह प्रकृति पर प्रभुत्व नहीं, प्रकृति का

उपयोग नहीं; प्रकृति के साथ मिलन है। सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य एवं प्रकृति का प्रगढ़ सम्बन्ध रहा है। सभ्यता एवं संस्कृति की बीजांकुरण की प्रथम सिहरन की अनुभूति के साथ ही कदाचित मनुष्य प्रकृति के साथ तादात्म्य की मधुर अनुभूति से अभिभूत हो उठाऔर इसकी अनुभूति अभिव्यक्ति बन शब्द रूप ले साकार हो उठी। काव्य में प्रकृति चित्रण भारत की प्राचीनतम परम्परा है।

प्रकृति ने इस देश की विभिन्न ऋतुओं के माध्यम से विविध भाँति अलंकृत किया है। सहृदया प्रकृति ने इस देश की धरा को अपने अनुपम अनुग्रह से अधिक ही उपकृत किया है और यह उपकृति छह ऋतुओं के अद्वितीय सौन्दर्य के रूप में शस्य-श्यामला भारत माता के प्रांगण में थिरक उठती है। कभी वह धानी आंचल बन लहरा उठती है, कभी स्वच्छ उज्ज्वल धौत शारदीय बन खिलखिला पड़ती है। यही कारण है कि कवियों ने अपनी अशेष काव्य प्रतिभा ऋतु चित्रण में न्यौछावर कर दी है-

देवन आय भुवन पर गढ़े रितु रितु करत सिंगार हो माय।
सरद आभूसन लाल रंग के लाल कमल उर धार हो माय ।। (1)
हिम रितु नीलांवर तन सारी मृग मद छिरकत सार हो माय ।। (2)
सिसिर वसंत वसंती पहिरे कर वीना रंग दार हो माय ।। (3)
हरित दुकूल हरित रंग चोली हरित बसंत सिंगार हो माय ।। (4)
ग्रीसम स्वेत झीन तन सारी मलअज फूल वयार हो माया ।। (5)
पावस लहंगा पीत रंग अँगिया गज मुक्ति उर हार हो माय ।। (6)
ओढ़नी पीत पीत तन सोहे सकुचत बुद्धि अगार हो माय ।। (7)
कलम नरायन सिंह भूप कहि बरूवा कष्ट निवार हो माय ।। (8)

9. लोक कल्याणकारी - कृपा से आर्द्र चित्त, दीर्घ आयु-बलवान शरीर, उच्च कुल, अधिक धन, अधिक बल, उच्च स्वामित्व, विपरीत अवस्था से रहित आरोग्य, और तीनों लोकों में अत्यधिक यश प्रदान करता है। कृपा प्राप्त कर संसार-सागर से पार उतरना सहज हो जाता है। भगवती शक्ति ही जगत का पालन कर रही है। वह धर्मात्माओं के घर में साक्षात लक्ष्मी है। जगत् की सम्पूर्ण विद्या भगवती शक्ति के ही भेद हैं और सम्पूर्ण स्त्रियाँ भी उसी का अंग हैं। इसीलिए कमलनारायण विनय करते हैं कि - हे जग जननी! तुम्हीं सनातन शक्ति हो, तुम्हीं विश्व के अनन्त मूल स्रोत हो। व्यक्त अनेक नाम-रूपों में तुम्हारी ही शक्ति अभिव्यक्त हो रही है। हे जगदंम्बा ! व्यास आदि कवि श्रेष्ठ आपके गुणों का गान करते हैं। मद-मोह से मोहित होकर हम तुम्हें भूल जाते हैं परन्तु जब हम तुम्हारी पूजा करते हैं और तुम्हारी शरण आते हैं तब तुम अज्ञान से एवं संसार की आसक्ति से मुक्त कर देती हो और अपने बच्चों को शाश्वत सुख प्रदान करती हो-

जगत हित कारनि शशि वदनी शुभ नैनी हो माय ।।
जयति शीतला शीत दायनि शीतल शील तुम्हार।
सकल सृष्टी रक्षक वर जननी, को कहि पावत पार ।।

10. पकवानपरक - जसगायक व रचनाकार राजा कमलनारायण ने अपने परिवेश के अनुरूप पकवानपरक जसगीतों में अपने समय के पकवानों का वर्णन किया है, जो राजपरिवार या सम्पन्न घरों में परोसे जाते थे। कुछ लोक व्यंजन का भी उल्लेख है भक्त याचना करता है कि- हे माता! आप बैठक में विराजित हैं और हम सोने की थाली में पकवान लिये

खड़े हैं। स्वर्ण-थाल में विविध व्यंजन रखे हुए हैं जिनमें- खाजा, पपची, पीड़िया, कुसली, हथवा, फेनी अरसा इत्यादि अमृत के समान है। इसके अलावा हलुवा, मोतीचुर और दूध में डूबी जलेबी भी है। साथ ही भक्त कमल सिंह आपकी इच्छा के अनुरूप हाथों में बरफी और पान लेकर खड़ा है-

कनक थार पकवान, धरे है मैया पावरी हो, माय ।।
खाजा पपची पीड़िया, माया मोरे कुशली कुशल निधान।
हथवा फेनी है धरी, मैया मोरे अरसा अमिय समान।
हलुवा मोतीचूर है मैया मोरे दूध जलेबी छान।
कमल नरायण बरफी चहे मैया मोरे ठाढ़े कर धर पान ।।

11. बरुवा कष्ट निवारणपरक - देवी भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कालिका पुराण इत्यादि देवी विषयक ग्रंथों में दुर्गा, काली, जगदम्बा आदि अनेक रूपों का वर्णन मिलता जो दैत्यों से घनघोर युद्ध करते हैं दानवों का दलन और भक्तों का उद्धार करती है आदिशक्ति-

आनंदी मैया-बरूवा कष्ट निवारो हो माय ।।
दुर्गा दुर्गती नाश करन को, निरजन नाम पुकारे।
अंबा अखिल लोक अवलंबा, मदन को तव तारे ।।1 ।।

राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा हिन्दी, जनपदीय भाषा छत्तीसगढ़ी तथा लोकधारा की रचना है। लोकधारा इसलिए कि लोक ने गायन की सुविधा की दृष्टि से कुछ शब्दों को आगे-पीछे, या हो, या अहो जोड़कर लोकगीतों में गाया है। जनपदीय इसलिए कि कुछ पद छत्तीसगढ़ी में व कई पदों में छत्तीसगढ़ी मिश्रित हिन्दी संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

वस्तुतः राजा कमलनारायण कृत जस-पचरा बहुवर्णी है। पुराण, महाभारत, रामायण इत्यादि की बहुप्रचलित कथानकों को उन्होंने प्रभावी ढंग से लिखा है। वे स्वयं जस गाते थे इसलिए गायन पक्ष की दृष्टि से उनके गीत जस मंडलियों के लिए भी गेय हैं।

संदर्भ सूची –

1. **श्री भूखेन्द्र सारथी, दाऊचैरा से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसपचरा की पाण्-डुलिपि।**
2. **श्री झुमुक लाल सिमकर, ग्राम धौराभाठा की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
3. **श्री जीवन रजक, बरेठपारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त कमलनारायण रचित जसगीत।**
4. **श्री कन्हैया लाल यादव नया टिकरापारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
5. **श्री किशन रजक, बरेठपारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
6. **डॉभरत पटेल पूर्व अधिष्ठाता लोक कला एवं संगीत संकाय., इकी डायरी से प्राप्त जसगीत। .वि.सं.क.**
7. **श्रीमती प्रमिला यादव, दाऊचैरा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण रचित जसगीत।**

छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना

रंजीत कुमार मोहने

जब किसी वस्तु, पदार्थ आदि की बहुतायत हो जाती है तब उसका व्यवस्थित वर्गीकरण कर दिया जाता है | जिससे उसका स्पष्ट आकलन हो सके, पहचान हो सके | वर्गीकरण का यही आधार स्तम्भ हमें भारत की कला, संस्कृति आदि में दृष्टिगोचर होता है | जब भारत के बाहर अर्थात् अन्य देशों में भारत की कला, संस्कृति आदि की बात होती है तो उसे भारतीय कला, संस्कृति कहकर ही संबोधित किया जाता है | किन्तु जब भारतीय कला, संस्कृति की बात भारत में कहीं भी हो तो विशेषज्ञों द्वारा उसे संबंधित क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचलसंबोधन का प्रयोग करते हुए व्यक्त करते हैं | जब किसी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचलकी कला, संस्कृति की बात उसी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचल में होती है तबउसे जनपद और ग्राम्य में विभक्त कर अपने मनोभावों को व्यक्त किया जाता है | कहीं-कहीं तो शिष्ट और अशिष्ट जैसे संबोधन भी पढ़े और सुने जाते हैं | विशेषकर जब भारत में ही राष्ट्रीय स्तर पर बात होती है | वर्गीकरण का यह आधार सही है या गलत इसपर चिंतन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है | अपितु "अनेकता में एकता का जीवित रूप है भारत |" भारत विभिन्न कलाओं का उत्पत्ति स्थल है, भंडार है | जिसमें शिक्षादायक एक विशेष कला है नाट्यकला | इस विशेष कला को भी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचल से संबंधित बताकर संबोधित किया जाता है | अवगत है कि भारत विभिन्न राज्यों में विभक्त है | इन्हीं में से एक जनजातीय बहुल क्षेत्र है छत्तीसगढ़ | जिसे १ नवंबर वर्ष २००० से संवैधानिक रूप से राज्य का दर्जा प्राप्त है | छत्तीसगढ़ खनिज संपदा के साथ ही संस्कृति और विभिन्न कलाओं से समृद्ध है | कलाओं के इस विपुल भंडार में मनोरंजनात्मक एवं शिक्षादायक एक कला है नाटक| जो मौखिक और लिखित दोनों परम्पराओं में निरंतर सुर-सरिता की तरह गतिशील है | छत्तीसगढ़ की इस नाट्यकला को भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मौखिक नाटक, लिखित नाटक, लोकनाट्य, जनपदी नाट्य, ग्राम्य नाट्य आदि कहकर संबोधित किया जाता है किन्तु शोधार्थी इस राज्य की नाट्यकला को विशेषकर छत्तीसगढ़ी बोली में मौखिक और लिखित परंपरा के नाटकों को 'छत्तीसगढ़ी नाटक' संबोधन से व्यक्त करते हुए **छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना** विषय पर लेख प्रस्तुत करता है | छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना पर चर्चा करने से पूर्व संवेदना पर संक्षिप्त में विचार करना अनुचित न होगा |

संवेदना के अर्थ व परिभाषा के रूप में निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं | यथा-

मन में होने वाला अनुभव या बोध, अनुभूति, किसी के शोक, दुःख, कष्ट, या हानि को देखकर मन में उत्पन्न वेदना, दुःख या सहानुभूति प्रकट करने की क्रिया, दूसरों की वेदना से उत्पन्न वेदना |"[१] तीव्र अनुभूति, चेतना, भावना, वेदना, ज्ञान, बोध, सहानुभूति, दूसरों का दुःख देखकर मन में होने वाली अनुभूति के रूप में प्राप्त होते हैं | [२]

संवेदना के लिए अंग्रेजी में "सिम्पैथी,सेंसेशन, सेंसिटिविटी, इमोटिविटी, फीलिंग आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है | मूलतः संवेदना का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव या ज्ञान, किन्तु आजकल सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में अधिक होने लगा है |[३] संवेदना शब्द साहित्य और मनोविज्ञान दोनों विषयों से ग्रहण किया गया है |[४] आचार्य रामचंद्र शुक्ल जीने संवेदना को सुख दुखात्मक अनुभूति बताकर उसमें भी दुखानुभूति से गहरा संबंध बताया है |[५] मुक्तिबोध जी ने संवेदना को मानसिक प्रतिक्रिया में अन्तर्भूत माना है | जिसमें दृष्टि या दृष्टिकोण भी अन्तर्भूत है |[६] डॉ. शलभ जी साधारण संवेदना को सृष्टि रचना में असमर्थ मानकर उसे मात्र संवेग कहते हैं | सच्ची संवेदना उसे कहा है जो कलानुभूति बन जाये | ऐसी संवेदना वस्तु के वास्तविक कर्म को उद्घाटित करती है | जिससे उसका प्रभाव भी पुरजोर होता है |[७] हंसराज भाटिया जी संवेदना को सरलतम मानसिक प्रक्रिया मानते हैं, जो विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से अभिभूत होती है | ये संवेदनाएँ शारीरिक और मानसिक दोनों हैं | संवेदना ज्ञानात्मक संबंध का सर्वप्रथम और सरलतम रूप है |[८]

संवेदना की उपरोक्त संक्षिप्त चर्चा से यह कहा जा सकता है कि मानव हृदय पर किसी वस्तु, भाव या स्थिति से जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो सहज प्रतिक्रिया होती है वही संवेदना है | इसे कुछ इस तरह भी जाना जा सकता है कि हमारे आसपास भरा-पूरा वातावरण है | नाना प्रकार के रंग हैं, पदार्थ हैं, वस्तुएँ हैं, लोग हैं | ये किसी न किसी तरह से मन को प्रभावित करते हैं | जिस तरह स्थिर पानी मेंकंकड़ फेकने से तरंगें उठती हैं, उसी तरह जब हम कुछ देखतेहैं, सुनते हैं याहमें कुछ हो जाये तो हृदय में भाव उत्पन्न होता है | परिणामतः हम प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं | उत्पन्न प्रतिक्रिया दोनों परिस्थितियों में हो सकती हैं | अर्थात् दूसरों को दुखी देखकर भी और सुखी देखकर भी| किन्तु आजकल शब्द प्रयोग के विचार से संवेदना का अर्थ कुछसंकुचित होकर केवल कष्ट, शोक,विपत्ति आदि प्रसंगों में ही देखा जाता है | उदाहरणार्थ जब किसी के साथ कुछ अनहोनी हो जाये तो उसके जान-पहचान वाले यह कह देते हैं कि हमारी संवेदनाएँ उसके और उसके परिवार के साथ हैं | उपरोल्लेखित संवेदना के अर्थ और परिभाषा के आधार पर एक वाक्य में कहा जाये तो हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव और उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया ही संवेदना कहलाती है |

संक्षेप में चर्चा करने पर संवेदना का जो स्वरूप सामने आया है उसका स्पष्ट संकेत छत्तीसगढ़ी नाटकों में दिखाई देता है | क्योंकि छत्तीसगढ़ी नाटकों का सृजन और प्रदर्शन मात्र ताली बटोरने, वहवाही लूटने या प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं होता है | अपितु मनोरंजनात्मक रूप से पाठकों व दर्शकों की संवेदनाओं को जीवित रखकर, उन्हें सही-गलत की शिक्षा देते हुए, जागरूक करने के उद्देश्य से छत्तीसगढ़ी नाटकों को छत्तीसगढ़ी नाटककारों द्वारा रचा जाता है | इस पवित्र उद्देश्य के परिणाम स्वरूप ही छत्तीसगढ़ी नाटककारों की कृतियों में संवेदना के प्रभावशाली प्रसंग व दृश्यों से पाठक व दर्शक संवेदनात्मक रूप से पूरी तरह जुड़कर भावविभोर हो जाते हैं अर्थात् भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में दृश्यकाव्य और दर्शक के बीच जो"तादात्म्य"[९] संबंध की प्रधानता की ओर संकेत किया है | उसकी पूर्ति करने में छत्तीसगढ़ी नाटक सफल होते हैं | क्योंकि किसी भी स्थिति में तादात्म्य संबंध 'परस्पर दो या दो से अधिक

व्यक्तियों के मध्य तभी स्थापित होगा जब संवेदना रूपी सेतुहोगा | ' साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि तादात्म्य संबंध की स्थापना में संवेदना एक सेतु है जिसका आधार भाव है |

भाव प्रधान छत्तीसगढ़ी नाटकों का गहराई से अध्ययन और अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककार समाज और व्यक्ति के जीवन की आंतरिकता के गहरे और जटिल यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटककारों के नाटकों में संवेदना का रूप मनोवैज्ञानिक गहराईयों के साथ जीवन के यथार्थ को रेखांकित करते हुए दिखाई देता है | नाटकों के माध्यम से नाटककरों ने अपनी संवेदनाओं को शोषितों की दयनीय स्थिति, क्षेत्र की दुर्दशा, समाज पर होने वाले अत्याचारों इत्यादि प्रसंगों को रेखांकित करते हुए व्यक्त की है | जागरूकता के साथ सामाजिक मूल्य की चेतना के दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए नाटककारों ने अपने नाटकों को रचा है | संस्कृति, शिक्षा, सामाजिक विसंगति, ऐतिहासिक महत्त्व आदि के प्रति अपनी संवेदनाओं को छत्तीसगढ़ी नाटककारों ने अपनी कृतियों में स्थान दिया है | "पंडवानी एकल थियेटर से लेकर रहस लोक नाट्य तक फैला हुआ छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य का संसार छत्तीसगढ़ी मनुष्य के हास-विलास, दुःख-दारिद्रय के साथ झूमता इठलाता और दुःख के क्षणों में दो-चार बूंद आंसू भी बहाता है | यही छत्तीसगढ़ी लोक नाटकों और मनुष्य के बीच का रिश्ता है |"[१०] इसी रिश्ते को छत्तीसगढ़ी नाटकों में देखा जा सकता है | समाज में व्याप्त किसी प्रसंग से उत्पन्न संवेदना को अपनी मनोरंजनात्मक नाट्य कृति के रूप में समाज के सामने रखकर समाज को जागरूक करता है | जिसके प्रमाण पंडित शुकलाल प्रसाद के नाटक "केकरा-धरैया"[११] और "खीरा-चोट्टा"[१२]हैं |

अधिकारी, राजा-महाराजा और बलिपूजा के बहाने भोली-भाली जनता के क्रूर शोषण की परंपरा से उपजी संवेदना के परिणाम स्वरूप "पंडित मुरलीधर पांडे ने छत्तीसगढ़ी खेतिहर संस्कृति का पर्व हरेली के बहाने बलिपूजा का निषेध क्रान्तिकारी विचार युक्त विस्वास नाटक"[१३] के माध्यम से किया | पेट भर खाना न मिलने का दुःख और पेट भर खाना मिलने पर प्राप्त अनुभूति का बोध विस्वास नाटक के इस संवाद से होता है | जब नाटक का पात्र गोविन्द कहता है कि "का कबे संगी अतेक दिन म में हर आजेच पेट भरहा खाये हँव... हरेली तिहार में दुगुरिहा मिले रहिस, ओइच म मन भरहा खाये हँव | "[१४] इस संवाद में मात्र मन भर खाने से मिली संतुष्टि रूपी संवेदना ही नहीं है, अपितु पात्र गोविन्द के रूप में मेहनत कश आम जनता के भूखे पेट रहने की त्रासदी और व्यवस्था से उपजी भुखमरी की ओर नाटककार ने संकेत करते हुए अपनी संवेदना प्रकट की है | इस तरह की संवेदना के कई स्तर विस्वास नाटक में मिलते हैं | संवेदना का एक स्तर बलिपूजा और उसके बहाने डर का माहौल बनाकर लूटपाट करने का धंधा, भगवान की आराधना करने के तरीके में परिवर्तन करने के संकेत के रूप में भी नाटककार ने दिखाया है | जब नाटक का पात्र खखंदू सतनामी कहता है "हमरो सतनामी मन तो जीवन जीव मारन ल बिलकुल बंद कर देइन हवैं.... ये बइगा गुनियाँ मन सेंदुर-सेंदुरा चुपर के डौकी-डौका मनला नी डेरूआँही नहीं तो उंकर बात ल कोन मानही, कोन डेराँही ?"[१५]

नारी की सामाजिक स्थिति के प्रति संवेदना भी छत्तीसगढ़ी नाटकों में है | नारी को सम्मान और उनके अधिकारों को न्याय दिलाने की भावनाएँ छत्तीसगढ़ी नाटकों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होतीहैं | नारी के प्रति संवेदना का ज्वार-भाटा ही था कि नाटककार ने छत्तीसगढ़ी लोककथा को "बहादुर कलारिन"[१६] नामक नाटक में रूपांतरित कर दिया | बहादुर कलारिन नाटक में संवेदना युक्त अनेक प्रसंग हैं | जिनमें नारी सम्मान के लिए झटपटाती वेदना है | मातृत्त्व से ओत- प्रोत संवेदना भी है | पतिवृत्ता नारी, १२५ सौतनों का दर्द, नारी की विवशता, समाज में उनकी स्थिति, पिता के रहते हुए नाजायज औलाद का लांछन औरअपमान सहन करते हुए जीवन जीने का दर्द आदि संवेदनात्मक प्रसंगोंका सशक्त प्रमाणबहादुर कलारिन नाटक है |धर्म-अधर्म के चक्कर में न पड़कर व्यक्ति को कर्मशील बनने की प्रेरणादायक संवेदना "पोंगा पंडित"[१७]नाटक में स्पष्ट दिखाई देती है |जीवन यापन हेतु छत्तीसगढ़ के लोगों की पलायन करने की समस्या और राज्य का दायित्व क्या होना चाहिए| इसकी ओर संकेत करने वाला नाटक है, रंग सब एक|[१८]इस नाटकमें राज्य का दायित्व और पलायनवादी प्रवृति के प्रति विरोध रूपी संवेदना है |समय के अनुकूल वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव से विकसित हुई विसंगतियों, जटिलताओं से त्रस्त मानव के प्रति संवेदनाएँ "ऊँच-नीच"[१९] नाटक में प्रकट की गयीहैं | नाटककार ने व्यक्तियों के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए उन्हें शांति, करुणा व विश्वमैत्री का संदेश दिया है |प्रेम का उच्च स्तर पर संघर्ष, दौलत की लालच में अधिक उम्र के व्यक्ति से विवाह, जीवन में प्रेम का महत्त्व और अंचल का पारंपरिक त्यौहर के प्रति संवेदना "गाँव के नाँव ससुरार मोर नाँव दमाद"[२०]नाटक में नाटककार ने अपने पात्रों के माध्यम से दर्शायाहै |

ऋण के बोझ तले दबे किसानों की मनःस्थिति की अवस्था और उसके दुष्परिणाम से उपजी वेदना का बोधक है "साहूकार से छुटकारा"[२१] नाटक | जिसमें छत्तीसगढ़ के किसानों की स्थिति, समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कर्मकांडों का परम्परागत चलन आदि से होने वाले नुकशान को देखकर नाटककार ने ग्रसित लोगों की वेदना का संवेदनशील चित्रण किया है | सुखी बने रहने के लिए गलत रास्ता अपनाने और गलत संगति से मनुष्य को होने वाले कष्ट के अहसास का चित्रण "सर्वनाश"[२२] नाटक के रूप में नाटककार ने प्रस्तुत किया है | बाँझ होने की पीड़ा और सौत के पुत्र के प्रति ममता रूपी संवेदना "दू-सौत"[२३] नाटक में स्पष्ट लक्षित होती है | निष्कर्ष रूप में कहा जाये तो छत्तीसगढ़ी नाटकों के रचयिताओं में आदर्श की प्रधानता देखी जा सकती है | जिन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों की समस्याओं के प्रस्तुतिकरण में नाटक की प्रभावपूर्ण सार्थकता को समझा है | जिससे वे समाज के प्रति अपनी संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों ने अपने अंचल की परम्पराओं, रीति-रिवाज आदि को अपनी रचना में शिल्प के रूप प्रयुक्त किया है | कथानक की प्रधानता तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृत्तियों के कारण छत्तीसगढ़ी नाटककार मानव-मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सफल होते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटकों में सामाजिक समस्याओं ववसंगतियों को जन-मानस के परिचित प्रसंगों में पिरोकर संवेदनाएं प्रस्तुत की जातीहैं | परम्पराओं के प्रति नकारात्मक रुख, आधुनिक जीवन की विसंगतियों के कारण उत्पन्न अनास्था की भावना पर व्यंगात्मकप्रसंग व संवाद छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककार रखते हैं | जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण छत्तीसगढ़ी नाटकों एवं

लोकनाट्य नाचा में दिखाये जाने वाले प्रसंगों में दिखाई देते हैं | मानसिक जटिलताओं के प्रति वेदना, विघटित होते जीवन के समन्वय, संबंधों के अलगाव आदि को दूर करने के लिये उपजी संवेदना ही है, जिसके परिणाम स्वरूप छत्तीसगढ़ी नाटककार ऐतिहासिक तथा पौराणिक विषयों को प्रधानता देते हुए, इनके प्रति आकर्षित हुए साथ ही इन विषयों को अपने नाटकों में स्थान देकरप्रेरणादायक छत्तीसगढ़ी नाटकों की रचना की |

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

१. वर्म्मा, रामचन्द्र. मानक हिंदी कोश, मोहनलाल भट्ट सचिव प्रथम शासन निकाय हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६.
२. चातक, डॉ.गोविन्द-संपा. आधुनिक हिंदी शब्द-कोश, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८६.
३. https://www.scotbuzz.org/2020/11/sanvedana-ka-arth.html
४. वही
५. वही
६. वही
७. वही
८. वही
९. मुनि, भरत. नाट्यशास्त्र, संपा-श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८३.
१०. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
११. पाण्डेय, पं. शुकलाल प्रसाद. केकरा-धरैया, लोकनाट्य प्रदर्शन.
१२. पाण्डेय, पं. शुकलाल प्रसाद. खीरा-चोट्टा, लोकनाट्य प्रदर्शन.
१३. तिवारी, नन्दकिशोर. संपादक-छत्तीसगढ़ी लोकाक्षर, वैभव प्रकाशन, रायपुर, जून-१९९८.
१४. वही
१५. वही
१६. तनवीर, हबीब. बहादुर कलारिन-नाटक, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, २००४.
१७. तनवीर, हबीब. निर्देशित-पोंगा पंडित, नाट्य प्रदर्शन, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, २००२.
१८. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
१९. डॉ. खूबचंद बघेल व्यक्ति एवं विचार, डॉ. परदेशीराम वर्मा, छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर, २००७.
२०. तनवीर, हबीब. गाँव के नाँव ससुरार मोर नाँव दामाद-नाटक, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, २००४.
२१. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
२२. वही
२३. वही

लोककला को समर्पित कलाकार 'श्री ज्योति भट्ट'

डॉ0 श्रुति अम्बेशचन्द्र

सम्पूर्ण पृथ्वी पर सभ्यता के चरम पर पहुँची मानव सभ्यता को उसके पूर्वगामियों का स्मरण कराते कुछ मानव समूह आज भी वनों, कंदराओं, उपत्यकाओं में विकास से अनभिज्ञ, अपने अदम्य साहस के बल पर, जीवन की जटिलताओं और संघर्षों के बीच साँस ले रहे हैं। जिनके समक्ष प्रतिदिन का सूर्योदय जीवन के विकट प्रश्नों को लेकर आ खड़ा होता है। वे ना केवल दिन का अवसान वरन् दो वक्त की क्षुधापूर्ति के जुगाड़ में होने की प्रतीक्षा ही करते रहते हैं। संघर्ष और अभाव की पीड़ा के बीच नृत्य, संगीत एवं चित्रांकन द्वारा अवकाश के हर पल को जीवन्त बनाकर मंगलकारी बना देते हैं।

मानव मन है ही ऐसा, वह अपनी पीड़ा, व्यथा, विजय, उत्साह, प्रसन्नता जब तक अपने कुटुम्बियों के साथ बाँट नहीं लेता, तब तक न तो उसकी व्यथा की मुक्ति हो पाती है, न ही उसका विजयोत्सव सम्पन्न हो पाता है। यही वजह है कि सभ्यता के उदय से ही, मानव ने अपनी इन भावनाओं को गुफाओं की भित्तियों (दीवार) पर अंकित कर अपने अस्तित्व की मोहर लगा दी। विकास के पथ पर बढ़ते हुए कुछ मानव समुदायों में से, कुछ ने सभ्यता कीदौड़ से स्वयं को अलग रखा और वहीं ठहर गये। उन्होंने अपनी परम्पराओं एवं अपने रिति–रिवाज़ों का एक अलग ही संसार रच डाला। समय के साथ–साथ समग्र विश्व की लोक कलाएँ समृद्ध व परिष्कृत होकर, आज पूर्णतया परिपक्व अवस्था में है और सभ्य समाज को उनका कला संसार बरबस ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। सहज प्रवृत्ति पर आधारित,इनके स्वतः स्फूर्त आकार, आदिवासियों की उमंग, उत्साह और उत्सव के प्रतीक हैं, जिन पर किसी भी प्रकार के बाह्य आचार–व्यवहार का दिखावटी आरोपण नहीं, न ही कोई आडम्बर तथा नही कोई बाध्यता, विशुद्ध रूप से आत्मिक अभिव्यक्ति है। अपनी परम्पराओं की अक्षुण्ता को युग–युगान्तर से संजोये, ये आदिवासी किसी शालेय शिक्षा के मोहताज नहीं वरन्कला उनके जीवन से साँसों की भाँति बसी है, सम्बद्ध है। ये अवकाश के क्षणों में भी स्वतः ही आकार लेने लगती है।

लेकिन शहरीकरण व व्यावसायिकता की चोट से, यह कलात्मक अभिव्यक्ति भी सुरक्षित नहीं रही। क्षुधापूर्तिहेतु आजीविका कमाने, जो एक बार यह समुदाय शहरों की ओर उन्मुख क्या हुआ? तथाकथित सभ्य समाज ने तो उन्हें भी सभ्य बनाने का मानों बीड़ा उठा लिया। शहरीकरण एवं व्यावसायिकता की हवा ने शिक्षित होते युवाओं को, उनकी परम्परा से विलग करने में भी कोई कसर नहीं रखी और फिर ये यह कला

आकार धीरे–धीरे समेटने लगे। यद्यपि आज भी कुछ स्वयं सेवी संस्थाएँ (NGO'S) इन्हें, इनके यथास्वरूप में रखने के लिए प्रयत्नरत हैं, परन्तु वे भी मात्र मुट्ठी भर लोग ही हैं।इनके विरोध में खड़े हैं,आज शहरीकरण, औद्योगिकरण, वैश्वीकरण तथा कम्प्यूटर क्रान्ति।[1]

सदैव से ही कलाकार मन उन्मुक्त रहा है। सहज प्रवृत्ति से प्रेरित होकर की गई स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की सच्चाई ने, न केवल यूरोप के दिग्गज आधुनिक कलाकारों के अन्वेषण का मार्ग भी प्रशस्त किया, अपितु हमारे देश में भी कई कलाकारों को लोककला और लोक जीवन की सुगन्ध ने आकर्षित किया। उन्होंने समय रहते कला से अनुप्राणित, इस मानव समुदाय और उसकी कला को बचाने की मुहिम छेड़ दी। ऐसे ही संवेदनशील कलाकारों में श्री ज्योतिभट्ट का नाम भी शीर्ष पर आता है। स्वयं उनके शब्दों में –"कि मेरा ध्यान पूर्णतया गाँवों की जीवंत कला पर है, जो आज आधुनिक उपभोक्ता के जीवन शैली से प्रभावित होकर नष्ट हो रही। मैं इसके प्रति चिन्तित भी हूँ केवल फोटोग्राफी के लिए नहीं वरन् ये जीवन शैली कहीं हमेशा के लिए नष्ट न हो जाये। इसी कारण फोटोग्राफी के माध्यम से प्रलेखन भी करता हूँ।"[2]

कलाकार सदैव परिवेश से जुड़ा रहता है। जन्मजात प्रवृत्तियों को जब आसपास के कलात्मक वातावरण का सानिध्य मिलता है, तो उसकी कला को भी एक नया आयाम मिलता है। गुजरात के भावनगर में जन्मे, श्री ज्योति भट्ट (ज्योतिन्द्र मनशंकर भट्ट) की कला को भी लोक एवं आदिवासी कला परम्परा की बयार ने छुआ और उनका युवा कलाकार मन अपने कैमरे में लोक कला के रंग–बिरंगे संसार को कैद करने के लिए आतुर हो उठा। एम. एस. यूनिवर्सिटी में अध्यापन के बाद मिले अवकाश का सदुपयोग वे अपने नवपरिचित मित्र कैमरे के साथ गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा, बिहार आदि के ग्रामीण एवं आदिवासी अंचल के कला रूपों को छायांकित करने में बिताते। इसी समय उन्हें यह अनुभव हुआ कि इससे पहले कि यह कला रूप नष्ट होने की कगार पर आये, उससे पूर्व इनके दृश्यप्रतिलेखन (Visual documentation) रूपों को संरक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं उनके शब्दों में कि –"बहुत सारी लोक कलाएँ एवं शिल्प आज खत्म होते जा रहे हैं या अदृश्य हो रहे हैं। विशेष रूप से सामान्यजन के कपड़े, घर वेश एवं कारोबार का भी धीरे–धीरे कायापलट हो रहा है। इनके साथ ही सहवर्ती घटना एवं सहायक मूल्य तथा मानदण्ड भी।[3]

वर्ष 1967 में भारतीय विद्या भवन मुम्बई द्वारा दिये गये, गुजरात के लोक कला के छायांकन के कार्य ने उनकी अंगुली पकड़ श्री ज्योति भट्ट को, उनके जीवन के लक्ष्य की राह पर ला खड़ा किया।साथ ही इस युवा कलाकार को जीवन का एक ध्येय भी मिल गया और देश के कोने–कोने की यात्रा कर पारम्परिक कला रूपों का फोटोग्राफी द्वारा

संकलन कर, उन्हें चिरस्थायी रूप प्रदान करने में उनके कलाकार मन को सन्तुष्टि भी प्राप्त होने लगी।

अपनी बाल्यावस्था में ही भाव नगर में रहते हुए, उनको सौराष्ट्र की अद्भुत् कशीदाकारी और मोलियों से निर्मित कलाकृतियाँ देखने का अवसर प्राप्त हुआ। आगे चलकर जब ये बड़ौदा में कला अध्ययन कर रहे थे, तब उनका साक्षात्कार गुजरात के विभिन्न मंदिरों एवं ग्रामीण अंचल के घरों की भीत (दीवारों) पर बने चित्र, रेखांकन एवं मिट्टी से उभार कर बनाई कलाकृतियों से हुआ। व्यक्ति के आने वाले कल अर्थात् भविष्य को दिशा देने में बहुत से कारक प्रभावी होते हैं, जिनमें माता पिता, समुदाय, समाज, परिवेश और परिस्थितियाँ, उसकी स्वयं की रूचि, अभिरूचि तथा योग्यता का जितना हाथ होता है, उतनी ही महती भूमिका गुरू की भी होती है और इस दृष्टि से श्री ज्योति भट्ट एक सौभाग्यशाली शिक्षार्थी साबित हुए।इन्हें मूर्धन्य कलाकार एन. एस. बेन्द्रे, के. जी. सुब्रमण्यन एवं शंखु चौधरी जैसे महान कला गुरूओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिन्होंने लोक कलाकारों की सशक्त द्विआयामी चारित्रिक विशेषता की ओर इन्हें उन्मुख किया। इसी विशेषता के कारण इन्हें अपने सृजन में त्रिआयामी संयोजन कभी रूचिकर नहीं लगा। "लोक कला के द्विआयामी रेखात्मक संयोजन अब ज्योतिभट्ट की कला में अद्भुत रूप से अपना अस्तित्व तलाशने लगे और सृजन में सहज एवं सरल रूप में समाहित होते चले गये।"[4]

छायांकन द्वारा लोक कला एवं आदिवासी कला रूपों को संयोजित, सुरक्षित रखने के लिए कृतसंकल्प ज्योतिभट्ट की कला ने लोक कला को अपने कलेवर में समाना शुरू कर दिया। ये लोकाकृतियाँ ही उनकी कला का अभिन्न अंग बन गई। इसे हम उनके अनेक चित्रों और ग्राफिक प्रिंट में देख सकते हैं। श्री राघव कनेरिया के साथ लोक कला को छायांकित करते हुए, श्री भट्ट ने सदैव यह महसूस किया है कि उनके छायांकन में सृजनात्मकता की कमी है,जो उनकी सहज स्वीकारात्मक एवं सकारात्मक विनम्रता है। उनके छायाचित्रों में सृजनात्मकता एवं वास्तविकता का अद्भुत समन्वय है। मैं हमेशा यह विश्वास करता हूँ कि विषय वस्तु आधारों से ऊपर है।

श्री ज्योति भट्टके छायाचित्रों में ग्रामीण, उनके द्वारा बनाई गई विभिन्न कलाकृतियाँ और उनके आस–पास का वातावरण, एक अविभाज्य अंग समग्रता के रूप में उभर कर सामने आता है।"इनके द्वारा किये गये छायाचित्रों में जटिल एवं विस्तारपूर्वक उत्कीर्ण दरवाजे, पात्र (बर्तन), पैन, दीवारें, घर आदि हैं जो ग्रामीण भारत की लोक कला के अंग हैं।"[5]

इनकी पैनी दृष्टि से कुछ भी नहीं छुप सकता। लोक से प्राप्त ये रूपाकार उन पर इतने हावी हुए कि कभी–कभी उनकी धर्मपत्नी ज्योत्सना भट्ट, (सुप्रसिद्ध सिरेमिक

कलाकार) द्वारा निर्मित चीनी मिट्टी की आकृतियों को अलंकृत करते हुए, जो अलंकरणात्मक रूप उन्होंने प्रयुक्त किये, वे भी आदिवासी कला एवं लोक कला से अधिक प्रभावित थे। इन आकारों की समानता, उनके एचिंग के संयोजनों में भी उपलब्ध होती है।[6]

राजस्थान में लिए गये छायाचित्र में लोक जीवन के दैनिक विषय में एक ग्रामीण स्त्री को गाय के ऊपर गोल बिन्दुओं को अंकित करते हुए छायांकित किया गया है उसकी साड़ी में भी वृत्त हैं तथा पृष्ठभूमि की भित्ति पर भी अंकित मोर की आकृति में भी वही गोलाकार प्रतिबिम्बित हैं।

बिहार के मिथिला क्षेत्र से लिये गये एक चित्र में एक वृद्धा को हाथ ऊपर उठाकर भित्ति पर देवी का चित्रण करते हुए दर्शाया गया है उसका उठा हुआ हाथ भित्ति पर अंकित देवी के हाथ से एकाकार हो गया है। वृद्धा कलाकार का दुबला पतला ढाँचा रेखांकन द्वारा अंकित, देवी के कोणात्मक आकार में प्रतिबिम्बित होता दिखाई देता है। इस प्रकार श्री भट्ट ने मानवाकृतियों का स्थिर पृष्ठभूमि के साथ भी छायाचित्रों का सुन्दर समन्वय किया है। इस दृष्टि से न केवल कलाकृतियों को बल्कि कलाकारों को भी अमर कर दिया है।

इनके एक अत्यन्त नयनाभिराम छायाचित्र में सौराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्र में एक घर का बाहरी हिस्सा दिखाया गया है, जिसकी सम्पूर्ण भित्ति ही नहीं, छत को सहारा देती लकड़ी की बल्ली भी सुन्दर अलंकरण ढंग से सुसज्जित है। दीवार के मध्य में दो अलग–अलग विभाजनों में मोर के चित्र अंकित हैं। अग्रभूमि में अर्द्ध विवस्त्र आदिवासी बालक–बालिकाएँ इस कलावीथिका को स्वयं से सम्बद्ध दिखाते हुए एवं गौरान्वित होते हुए प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दे रहे हैं।

किसी भी संस्कृति की समग्रता को नया आयाम, कलाकार की समसामयिक सोच देती है, वहीं उसके संरचना सक्रियता के आधार में रची–बसी लोक कला भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जो अविभाज्य अंग है। उनका मानना था कि "कुछ कलाकारों के जब नवीन पंख लग जाते हैं तो वे अपनी जड़े छोड़ देते हैं। लेकिन मेरे लिए यह बात विरोधात्मक है। मैं हमेशा ही अपनी जड़ों की ओर खिंचा हूँ जैसे कोई गुरूत्त्वाकर्षण शक्ति के समान। अनुकूलता एवं परिपक्व होने का कोई मतलब नहीं, जब तक उसका कोई आधार न हो। मैंने हमेशा अपने हृदय की बात सुनी।

उम्र अधिक होने के कारण व नेत्रज्योति की समस्या के चलते बाहर यात्राएँ करना एवं छायांकन करना भी अब दुष्कर सा होता जा रहा है। वे अपने स्टूडियो में ही बैठकर अधूरे छूटे कार्यों को पूर्ण करने में तथा चित्रांकन में भी अधिक समय व्यतीत करते हैं।

अभी वे अपने उद्देश्य से भटके नहीं हैं। लोक कला के अलंकरण, जो पहले हूबहू छायाचित्रों द्वारा संरक्षित हो रहे थे, वे अब अधिक सृजनात्मक रूप में दिख रहे हैं। उनके चित्रों में सौराष्ट्र की शैली अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उन्होंने बड़ी चतुराई से अपनी समसामयिक सोच एवं लोक कला को अपनी कला में समावेशित किया है चाहे वह चित्रकला हो या छापाकला। लोककला रूपों के विभिन्न अलंकरणों व प्रतिरूपों के साथ–साथ उन्होंने केलीग्राफी (Calligraphy) को भी अपनी कला में सम्मिलित किया है, जो इनकी कला का एक और सृजनात्मक पहलू है। ट्रक व रिक्शे के पीछे लिखे स्लोगन, गलत तरीके से उच्चारित व अंकित शब्दावलियाँ, मांडणा, गोदना (टेटू) सभी उनके संयोजन में उचित स्थान पा जाते हैं। यद्यपि शहरीकरण एवं औद्योगिकरण से यह कला रूप अब अछूते नहीं रहे हैं किन्तु ज्योति भट्ट का लक्ष्य, इन प्रभावों से मुक्त अपने स्वभाविक रूप में स्थित सदैव लोक कला को संरक्षित करना ही रहा है।

इनके चित्रों में जहाँ सावधानी पूर्वक अन्तराल में लगे छोटे–छोटे बिन्दु,जो राजस्थान की मीणा जनजाति एवं सौराष्ट्र की महिलाओं द्वारा अंकित भित्ति चित्रो में रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए लगाये जाते हैं। यत्र–तत्र बिखरे हुए बिन्दुओं की याद दिलाती हैं, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी के ठ की पुनरावृत्ति भील जनजाति की ''खजूरी'' की याद दिलाती है।

इसी प्रकार सीधी रेखाओं की अनेक बार की गई पुनरावृत्ति मीणा जनजाति के चित्रों की ''मोरड़ी'' के पखों का स्मरण कराती हैं। ज्योति भट्ट के चित्रों में यह अलंकरण सहज एवं स्वतः ही चले आते हैं। साथ ही गुजरात के आदिवासी अंचल के मोलियों के काम कशीदाकारी व वेशभूषा के इन्द्रधनुषी रंग, उनकी कला के अविभाज्य अंग हैं। इसके अतिरिक्त स्वास्तिक, सर्प, सूर्य, चन्द्रमा सभी उनके संयोजन को पुष्ट बनाते हैं। जिसका प्रभाव इनके धार्मिक विषय से सम्बन्धित चित्रों में मिलता है।

श्री ज्योति भट्ट ने स्वयं की कला विद्याओं को समृद्ध करने के स्थान पर अपरिचित अनजान कलाकारों की कला को संरक्षित करना अधिक उचित समझा। आज के भौतिकवादी युग में नयी पीढ़ी जहाँ यश, मान, सम्मान की दौड़ में लगी है, वहीं श्री ज्योति भट्ट जैसे कलाकार भी हैं, जो समाज के प्रति, सामाजिक सरोकारों के प्रति आज भी कृतसंकल्प हैं। गुजरात की सीमाओं को लांघकर राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा सुदूर क्षेत्रों तक कहीं भी उनके कदम रूके नहीं। निस्वार्थ भाव से बिना किसी आडम्बर के, शहरी भागदौड़ से दूर इन अपरिचित कलाकारों की क्षयोन्मुख कला को बड़े यत्न से संभालने का, यह महत्ती योगदान, उन्हें अन्य कलाकारों की पंक्ति में सर्वोच्च एवं शीर्ष पर ला खड़ा करता है। स्वयं उनके शब्दों में यह खुद के देश को

नजदीक से देखने का ज़रिया है –"The opportunity of knowing my country from a close distance."[7]

वास्तव में आज की युवा पीढ़ी के लिए अति आवश्यक है कि वे श्री ज्योति भट्ट से प्रेरणा लेकर न केवल स्वयं की अभिव्यक्ति की दौड़ में ही रहें, वरन् अपने देश की धरोहर को संरक्षित रखने का संकल्प भी लें।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. Madhur Tankha - A retrospective of painter Jyoti Bhatt - The Hindu, Sep. 12-2007 on line edition of India's national newspaper
2. Yatra My Journey - Jyoti Bhatt - Portrait of an artist catalogue
3. A modest proposal - Karin Mmiller Lewis - Art India volume 5 issue 3 Page- 68
4. A modest proposal - Karin Miller lewis - Art India Magazine volume 5 issue 3 page 69
5. Sanjukta Sharma - D. A. G. Sept. 15 to Oct. 27 Parallels that meet - Catalogue
6. Matters of Art. Net, India's first ezine on art news Sept. 2007
7. Sandhya bordeweekar, "Negotiation the traditional and the modern "Art India Magazine, Vol. Issue-ii-, (Mumbai, 2004), P. 66

छत्तीसगढ़ी लोक गीतों में "राम"

डॉ. विधा सिंह राठौर

लोक संस्कृतियाँ चाहे किसी भी प्रादेशिक पृष्ठभूमि से सम्बधित हो, अध्यात्म से अधिक ओत–प्रोत होती है। आध्यात्मिक आदर्शें का चरित्र चिंतन व उनका अनुकरण परम्परागत रूप से चली आ रही लोक–सांस्कृतिक धारा की विषयवस्तु रहा है। प्रभु श्रीराम व श्रीकृष्ण के आदर्श जीवन चरित्र से लोक–सांस्कृतिक कोष भरा पड़ा है। शनैः–शनैः मानव सभ्यता की विकास यात्रा ने लोक–संस्कृति के स्वरूप में वैसे तो बहुत से बदलाव किये किन्तु अध्यात्म का प्रभाव आज भी विभिन्न लोक–संस्कृतियों में स्पष्ट प्रकाशित होता है।

अब यदि हम छत्तीसगढ़ी लोक–संस्कृति की बात करें तो रघुकुल नंदन मर्यादा पुरूषोत्तम प्रभु श्री रामचंद्र जी के आदर्श चरित्र से छत्तीसगढ़ी लोक–सांस्कृतिक परम्पराओं को आपूरित पाते हैं। इसका हेतु स्पष्ट करने के लिए कई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध है जो कि स्पष्ट करते हैं कि, छत्तीसगढ़ अंचल से प्रभु श्रीराम का सीधा संबंध रहा है। राम चरित मानस में उल्लेखित दक्षिण कोसल व दण्डकारण्य क्षेत्र इस व्यकतव्य को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है। ''छत्तीसगढ़ श्रीराम की माता कौशल्या की जन्म भूमि है। श्रीराम के वनवास काल का अधिकांश समय यही व्यतीत हुआ, लव–कुश की जन्म भूमि श्रृंगी, अंगिरा, अगस्त, गौतम, शरभंग, लोमश, वाल्मीकि आदि की तपोभूमि रहा। ''[1]

''प्राचीन ग्रंथ वाल्मिकी रामायण में दो कोसलों का उल्लेख है 1. उत्तर कोसल, 2. दक्षिण कोसल । उत्तर कोसल महाजनपद सरयूतर पर विस्तृत रूप से फैला हुआ था जबकि दक्षिण कोसल विध्यांचल पर्वतमाला के दक्षिण मे विस्तृत था। इसी कोसल की राजकुमारी कौशल्या उत्तर कोसल के राजा दशरथ अयोध्यापति को व्याही गई थी। बिलासपुर में कोसल नामक एक गाँव है जनश्रुति के अनुसार कोसला किसी समय सुमन्नत अवस्था में था। कौशल्या यहीं के राजा की पुत्री थी जो सुन्दरी होने के साथ–साथ राजनीति में पट्ट थी।[2] छत्तीसगढ़ी लोक–संस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार ऐसा माना गया है कि प्रभु श्रीराम का ननिहाल यहीं छत्तीसगढ़ में है और यही कारण है कि छत्तीसगढ़ी अंचल मे भांजों को श्रीराम

का प्रतिबिम्ब मानकर विशिष्ट रूप से सम्मानित किया जाता है, फिर चाहे वो लड़का हो या लड़की उनके चरण छू कर उनसे आशीर्वाद लेने की परम्परा प्रचलित है। क्षेत्रीय परिवेश में आज भी यदि हम ग्रामीण अंचलों में जायें तो वहाँ लोगो को ''पॉव परथव भाचा'' या ''पाँव परथव भांची'' कहते हुये सुन सकते हैं, यहाँ आध्यात्मिक वैशिष्टय तो स्पष्ट ही है साथ ही लड़का व लड़की की समकक्षता इस लोक–संस्कृति की वैचारिक विशिष्टता को मुखरित करती हैं। इन जैसे अनेकों उदाहरण हैं जो श्रीराम से छत्तीसगढ़ी लोकसंस्कृति को जोड़ते हुए दिखाई देते हैं। छत्तीसगढ़ी लोकसांस्कृतिक परिवेश में आदिकाल से एक परम्परा अति प्रचलित है कि जब कभी दो परिचित आपस में भेट होने पर अभिवादन स्वरूप ''राम–राम'' कहते हुए नजर आते हैं। इस परम्परा के पीछे आध्यात्मिक दृष्टिकोण तो स्पष्ट ही है साथ ही मनोवैज्ञानिक गूढ़ता भी अत्यंत विचारणीय हैं। दो बार राम–राम कहने के पीछे का गूढ़ मनोवैज्ञानिक तथ्य ये है कि हिन्दी वर्णावली में ''र'' सत्ताईसवाँ (27) शब्द है ''आ'' दूसरा (2) और ''म'' पच्चीसवाँ (25)। इन तीनों अंको का योग चौवन (54) होगा अर्थात् एक राम का योग होगा चौवन (54) और दो राम का योग होगा– एक सौ आठ (108)। अब ये तो सर्वविदित हैं कि जब कभी भी हम किसी मंत्र का जाप करते हैं तो ''एक सौ आठ'' मनकों की माला लेकर करते हैं अर्थात् केवल ''राम–राम'' मात्र कह देने से एक सौ आठ राम नाम का जाप पूर्ण हो जाता हैं। इस तथ्य को समझने के बाद लोक संस्कृति में नीहित गूढ़ मनोवैज्ञानिक वैचारिक विशिष्टता भी स्पष्ट होती है।

केवल इतना ही नहीं यदि हम विभिन्न सामाजिक संस्कारों का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक संस्कारों में ''राम'' का नाम सर्वाधिक रूप से उपयोग में लाया जाता है अर्थात् प्रत्येक संस्कार में संस्कार गीत गाने की जो परम्परा आदिकाल से चली आ रही है उन गीतों में राम नाम का अधिकाधिक उपयोग दिखाई पड़ता है। जन्म संस्कार में गाये जाने वाले सोहर गीत हो, विवाह संस्कार में गाये जाने वाले ''बिहाव गीत'' हो या फिर छत्तीसगढ़ के अन्य लोकगीत जैसे– सुआ, करमा, ददरिया, लोक भजन, जस–पचरा, फाग आदि सभी गीतों में राम का वर्णन अवश्य ही मिलता है जैसे सर्वप्रथम छत्तीसगढ़ के सोहर गीत और बधाई गीत :–

सोहर :– ''राम धरिन अवतारे धरिन अवतारे हो ललना
अजोध्या में होवे जयकार सोहर मंगल गावथे हो ललना।''[3]

बधाई :– ''जनम धरिन' रघुरइय्या अवधपुर बाजे बधइय्या
बाजे बधइय्या जी बाजे बधइय्या
कऊने गावे कऊने बजावे
नाचत हे ताता थइय्या
फूफू गावे फूफा बजावे
नाचत हे ताता थइय्या''[4]

प्रायः प्रसव कक्ष में महिलाएँ लोक में प्रचलित देवी–देवता, आदर्श चरित्र, अपने इष्ट देव, महापुरूषों आदि के गुणों का गीतों के माध्यम से बखान करती हैं। मर्यादा पुरूषेत्तम श्रीराम जी के जैसे आदर्श चरित्रवान ही हमारा होने वाला पुत्र हो, ऐसी लोक की धारणा होती है जो लोक गीतों में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती हैं। संस्कार गीतों में राम की उपमा श्रीराम के आदर्श जीवन चरित्र से प्रेरित होकर उनका अनुशरण करने की प्रेरणा से दी जाती हैं। यदि पुत्र हो तो वह माता कौशल्या व दशरथ नंदन राम की तरह हो जिसने मातृ–पितृ भक्ति में जीवन का सर्वस्व सुख जो कि एक आदर्श पुत्र के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्राकर विवाह संस्कार में एक वधु अपने आपेक्षित वर में श्रीराम का स्वरूप पाना चाहती है और केवल इतना ही नहीं ससुर में राजा दशरथ, सास में माँ कौशिल्या एवं देवर में लक्ष्मण जी के स्वरूप की कामना से आपूरित इन संस्कार गीतों की रचनाएँ हुआ करतीं है। लोक में विवाह संस्कार के गीतों में दुल्हा–दुल्हन को राम और सीता के स्वरूप में मानते हुए गीत गाया जाता है :–

तेलचघ्घी :– ''रामे ओ लखन के दाई तेल वो चढ़त हे
काखर अंगना दाई होवत हे बिहाव,
रामे ओ लखन के दाई तेल वो चढ़त हे
दसरथ अंगना दाई होवत हे बिहाव,
काखर बिटिया दाई सीता वो जनुकिया

काखर अंगना दाई होवत हे बिहाव,
जनक बिटिया दाई सीता वो जनुकिया
दसरथ अंगना दाई होवत हे बिहाव''[5]

नहडोरी :– ''काखर अंगना दाई कुँआ खनाये वो
कौने वो दाई मोर करेव असनान,
रामे के अंगना दाई कुँआ खनाये हो
सीता वो दाई मोर करेव असनान''[6]

सुआ छत्तीसगढ़ के परम्परिक लोकनृत्य गीत में महिलाओं का सर्वाधिक लोक प्रिय माना जाता है। सुआ नृत्य गीत में ''सुआ'' से तात्पर्य मनुष्य की तरह बोलने वाले एक प्रचलित पालतु पक्षी ''तोता'' से है। यहाँ अपने मन को सुआ अर्थात् तोते की संज्ञा दी जाती हैं तथा मन की भावनाओं को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता हैः–

''तरी हरी नाना मोर नाना री नाना वो
ए पिंजरा ले मैना बोले,
हाँ जी मोर सोन के चिरइय्या
ए पिंजरा ले मैना बोले,
राजा जनक के मोर बाढ़े हे बेटी वो
ए पिंजरा ले मैना बोले,
राजा दसरथ घर के आये बाराती वो
ए पिंजरा ले मैना बोले''[7]

उक्त सुआ गीत में एक विवाह योग्य हो चुकी कन्या अपने माता–पिता के मन में उठ रही भावनाओं की अभिव्यक्ति उपमालंकार का उपयोग करते हुए बड़े ही सुंदर शब्दों में करती है, जहाँ उसके माता–पिता ये परिकल्पना करते हैं कि उनकी कन्या अब विवाह योग्य हो चुकी है तो वे उसके लिए मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम जी जैसे चरित्रवान वर की तलाश कर रहे हैं। यहाँ वह स्वयं को सीता व अपने माता–पिता को राजा जनक व महारानी सुनयना के रूप में आलेखित कर बड़ा ही मार्मिक समीकरण प्रस्तुत कर रही है। छत्तीसगढ़ का आंचलिक परिवेश

आदिकाल से श्रमसाध्य रहा है। कठोर परिश्रम ही छत्तीसगढ़ी लोक जन के जीवनयापन का मुख्य आधार रहा हैं। श्रम का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक है क्योंकि ''ददरिया'' का श्रम से सीधा संबंध हैं। खेत खलिहानों में जब सारा दिन कठोर परिश्रम करते हैं तो उससे वे थक के चूर हो जाते हैं तब तन व मन की विश्रांति के लिए वे ददरिया गीत व नृत्य कर के श्रम जनित उक्ताहट व थकान को दूर करते हैं, केवल इतना ही नही ददरिया से उन में नई ऊर्जा व उमंग का भी संचार होता हैं। ददरिया का मुल स्वभाव श्रृँगारिक है किन्तु बदलते समय की आवश्यकतानुसार उसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया उसकी विषयवस्तु धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आदि होती गयी।

उक्त ददरिया गीत में श्रीराम जी के जीवन चरित के उस अवसर को प्रमुख रूप से उद्‌भेदित किया गया है जिसमें उनके जीवन के कठोर परिश्रम अवसर चित्रित हैं। जब चौदह वर्षों के वनवास के दौरान लंकाधिपति रावण द्वारा माता सीता का हरण कर लिया जाता है व श्रीराम लखन व हुनमान द्वारा उनकी खोज में कठिन परिश्रम किया जा रहा है। वैसे तो ददरिया गीतों में शब्दों की तारतम्यता का कोई विशेष महत्व नहीं होता किन्तु विषयान्तर्गत श्रम की पराकाष्ठा को श्रीराम के जीवन चरित से जोड़कर गाया जाने वाला यह लोकगीत छत्तीसगढ़ लोक जनजीवन में प्रभु श्रीराम के महान चरित्र चिन्तन की उपलब्धता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है।

''राम धरे धनुस लखन धरे बान
सीता माई के खोजन बर निकलगे हुनामान''[8]
''पागा तो बांधे पुरूत करिके,
राम झिरिया म रोये सुरूत करिके''[9]

जस गीत में जस का सीधा–सीधा अर्थ यश अथवा महिमा मंडन से होता हैं। इस गीत के माध्यम से लोक जन अपने अधिष्ठाता, आराध्य देवी–देवताओं के यश तथा महिमा का, गीत के माध्यम से बखान करते हुये दिखाई देते हैं। अध्यात्म चिन्तन आदिकाल से लोक की प्रमुख विषय वस्तु रहा है, छत्तीसगढ़ लोक जनजीवन में दैवीय आस्थाओं की प्रमाणिकता जस गीतों द्वारा ही प्रकाशित होती है। वैसे तो छत्तीसगढ़ी जसगीतों में देवी माँ की महिमा का,

यशगान का मुख्य रूप से दृष्टि गोचर होता है किन्तु उपरोक्त जसगीत में प्रभु राम, माता सीता व उनके अनुज भ्रातागणों का यशगान परिलक्षित हो रहा है। प्रभु श्रीराम जी के चौदह वर्ष वनवास के पश्चात् लंका पर विजय एवं माता सीता के अयोध्या नगरी आगमन पर उन्हें राजा–रानी के रूप में अधिग्रहित कर के उनके राजदरबार सहित उनकी पूजा–आरती की जा रही हैं।

''सिरी राम सिया के आरती उतारंव हो
आरती उतारंव हो,
राम सिया के आरती उतांरव, रहिंहव मोर सहाई
संझा बिहनिया तोला मनावंव, तोर चरण सुखदाई
हाथ जोड़के विनती करत हो, रघुकुल हे रघुराई
अहो दसों अंगुरिया के बिनती करत हंव
आरती उतारव हो.....
राम लछिमन भरत सत्रुहन, दसरथ राज दुलारे
सुमिरत हंव मय चारो भाई, अयोध्या के राजकुमारे
सिया राम भकतन हितकारी, सब ला पार उतारे
अहो सुमर–सुमर तोर अरजि करत हंव।''[10]

सम्पूर्ण राम दरबार का चित्रण उक्त जसगीत में बड़े ही सार्थक रूप में उत्कीर्ण किया गया अर्थात् केवल सीयाराम ही नहीं वरन् राजा दशरथ के चारों पुत्रों सहित चारों अयोघ्या के राजकुमारों का महिमा मंडन करते हुए उनसे सदा सहायक रहने की विनती की जा रही हैं। प्रजा–जन द्वारा अपने आदर्श राजा के रूप में प्रभु श्रीराम की आराधना की जा रही है।

इन सभी लोकगीतों की विषय वस्तु स्पष्ट करती है कि छत्तीसगढ़ की लोक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में मर्यादा पुरूषोत्तम रघुकुल नंदन प्रभु श्रीराम की महिमा सर्वव्याप्त है। विभिन्न लोकसंस्कृतियों में आध्यात्म का प्रभाव दिखाई देता हैं किन्तु छत्तीसगढ़ी लोकसांस्कृतिक पृष्ठभूमि अपने आराध्य से प्रत्यक्ष साक्षातकार कर के अभिभूत है।

संदर्भ ग्रंथ सूंची :–

(1) डॉ राजन यादव– ''छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति में धार्मिक आस्था'' (आलेख)

(2) डॉ निरूपमा शर्मा– इन्द्रधनुषी छत्तीसगढ'' पुस्तक पृ.क्रं. 27

(3) कुमारी विश्वकर्मा, ग्राम दिलीपपुर, खैरागढ़ से प्राप्त गीत

(4) ''वही''

(5) डॉ.पी.सी लाल यादव– संस्कार गीत, पुस्तक।

(6) श्रीमती राधा बाई यादव, टिकरी पारा, गंडई से प्राप्त गीत।

(7) डॉ परमानंद पाण्डेय– छत्तीसगढ़ के पर्व परक लोकगीत– एक अध्ययन (शोध प्रबन्ध), पृ.क्रं. 192।

(8) लोकसंगीत विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ से प्राप्त गीत।

(9) श्री सुमिरन धुर्वे, सेवा निवृत्त संगतकार, लोकसंगीत एवं कला संकाय इं.क.सं.वि.वि खैरागढ़ से प्राप्त गीत।

(10) निजी संग्रह से लिया गया गीत।

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार

अंबुज तिवारी

नासिरा शर्मा ने प्रगतिशील मानव धर्मी लेखिका के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। स्त्री सरोकार इनकी लेखनी का प्रमुख बिन्दु है। मुक्ति के लिए छटपटाती नारी का जैसा चित्रण इनकी कहानियों में मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कहानियों में पुरुष वर्चस्व को झेलते हुए स्त्री पात्रों का चित्रण है। इनकी दृष्टि व्यापक है। स्त्री पुरुष के संबंधों के संदर्भ में पारंपरिक नैतिक मूल्यों का विघटन , रिश्तों के खोखलेपन और स्त्री होने पर होने वाली मानसिक शोषण की समस्या दिखाई देती है। रूढ़िवादिता किस तरह हमारे समाज में व्याप्त है इसकी अद्भुत झलक इनकी कहानी 'बावली' में दिखाई देती है। इस कहानी में नायिका सलमा शादी के सात साल बाद भी माँ नहीं बन पाती है तो उसके पति को दूसरी शादी करवाने के लिए उसे राजी किया जाता है और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। सहमत न होने के बावजूद उसे हाँ बोलना पड़ता है, तब सलमा के मन में प्रश्न उठता है – 'दुनिया के सारे रिश्ते क्या झूठे होते हैं? हर रिश्ता कुछ मांगता है, जब न दो तो टूट जाता है। फिर सोचती है, मैं पानी से भरी बावली रिश्तों के नाम पर बांटती आई। हमेशा कुछ दिया , कुछ लिया नहीं। आज जब अपनी कोख से एक बच्चा नहीं दे सकी तो, तो मैं एक बेकार शै मान ली गयी। मेरा और खालिद का रिश्ता इस औलाद को लेकर टूट गया। आगर खालिद मेरी गोद न भर पाते तो क्या मैं दूसरी शादी करती ? उस समय गोद लेने की बात उठती। सब्र और कुर्बानी की बात उठती। तो औरत के नाम के साथ क्या मर्द कुर्बानी नहीं कर सकता?'[1]

लेखिका ने अपने जीवन के अनुभवों तथा आस –पास के परिवेश के कथानक गढ़े हैं जिसका प्रतिबिंब आज भी हमारे समाज में दिखाई देता है इनकी कहानियों में स्त्री पात्र शोषित हैं लेकिन उनमें विद्रोह का स्वर है और अपने जीवन मूल्यों के प्रति जागरूक भी हैं। शामी कागज कहानी विधवा स्त्री के आत्मनिर्भर होने की दास्तान है। इसमें पाशा के पति की असमय मृत्यु हो जाने पर वह व्याकुल हो जाती है, किन्तु ऐसी विषम परिस्थितियों में होने के बावजूद भी वह डटकर उनका सामना करती है और अपने मित्रा महमूद द्वारा दी जाने वाली सहायता को इंकार कर देती है, कहती है महमूद आज के बाद कभी भी मेरा गम बांटने की कोशिश मत करना। महमूद द्वारा पुनर्विवाह का प्रस्ताव रखे जाने पर वह कहती है- 'कोई जरूरी है की एकबार जी हुई ज़िंदगी को दुबारा दोहराया जाये ?..... नौकरी कर रही हूँ, खाने भर का कमा लेती हूँ मैं भी कोई शामी कागज थोड़ी हूँ कि जब जरूरत पड़ी उसे धोकर दूसरा फरमान लिख दिया, मैं इंसान हूँ और इंसान के दिल पर लिखे हर्फ बार बार धोये नहीं जा सकते हैं।'[2]

इस प्रकार पाशा अध्यापिका बनकर जीवनयापन करने लगती है एवं स्वाभिमानी और सशक्त महिला के रूप में हमारे सामने आती है। लेखिका स्त्री सरोकार के बहाने हमारे समाज में दबे हुए मानवीय मूल्यों से रूबरू कराती हैं। नासिरा शर्मा सचेत भाव से स्त्रीवादी हैं जिसके कारण इनके स्त्री पात्र विद्रोह करते हैं। स्त्री पात्र पति को भाग्य-विधाता

न मानकर उनके द्वारा शोषण किए जाने पर पति का परित्याग करने में भी जरा सा संकोच नहीं करती। ड्योढ़ी में रहने वाली स्त्री भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। गूंगा आसमान कहानी की नायिका मेहरअंगीज अपने धूर्त सत्ताधारी पति के चंगुल से तीन स्त्रियों को छुटकारा दिलाती है। इसमें पुरुष वर्चस्व को सभी वर्गों में झेलते हुए दिखाते हैं। क्रान्ति के दौरान नायक फरशीद अपनी पुलिसिया ताकत का फायदा उठाकर अपने घर में कैद कर लेता है। पहले मेहरअंगीज फरशीद को मानवीयता के प्रति सचेत करते हुए कहती है – 'खुदा ने बहुत दिया है। इन मासूम परिंदों को उड़ा दो, यह गुनाह है, दीन- धर्म भी इसकी इजाजत नहीं है...मुझे ही कुछ करना होगा, पिंजरे का दरवाजा खोलना होगा।'[3]

इस तरह वह शहर से बाहर जाकर लड़कियों को बाहर निकालने की योजना अपने मायके वालों के साथ बनाती है और उनको फरशीद के पिंजरे से आजाद भी करवा देती है। लेकिन फरशीद जालसाजी करके मेहरअंगीज को ही गुनहगार साबित कर देता है और अब वह उसी घर की कैदी बन जाती है। इस समय प्रतिद्वंदी को पछाड़ कर उसके सीने पर विजेता की तरह पैर रखकर खड़े होने का सुख फरशीद की आखों में नफरत का सैलाब बन कर साफ झलक रहा था। इस तरह समाज में अधिकांश स्त्रियाँ इन अत्याचारों को चुपचाप सहन करती रहती हैं किन्तु उनमें से कुछ ऐसी भी निकलती हैं जो इन अत्याचारों का पुरजोर विरोध करती हैं और इन अत्याचारियों से जूझती भी हैं। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में अपनी अशिक्षा, नारी आचरण के परंपरागत मूल्यों, आर्थिक पराधीनता अज्ञान के कारण स्त्री को तरह-तरह की यातनाएं झेलनी पड़ती हैं। सरहद के इस पार कहानी में नायक रेहान मानसिक दिवालियापन का शिकार होने के कारण हिंदुओं के विरोध में कुछ न कुछ बोलता रहता है लेकिन इस कहानी में जब हिन्दू लड़की को कुछ मुसलमान लड़के परेशान कर रहे होते हैं तब रेहान द्वारा हिन्दू लड़की की रक्षा की जाती है इसी में वह अपनी जान भी गँवा देता है। इस कहानी में हिन्दू मुस्लिम दोनों की एक दूसरे के प्रति संकीर्ण मानसिकता को दिखाया गया है लेकिन लेखिका द्वारा इंसानियत को जीवित रखने का प्रयास किया गया है। धर्म और जाति के नाम पर शोषण करने वालों पर सवाल उठाया गया है। रेहान धर्म और जाति के नाम पर स्त्रियों का शोषण करने वाले के खिलाफ सख्त आवाज उठाने हुए कहता है- 'मेरे जीते जी इस मोहल्ले में किरपी , जालिम औरंगजेब की पैदाइश नहीं हो सकती। तारीख दोबारा मेरे सामने नहीं दोहराई जाएगी वरना....।'[4]

मानसिक दिवालियापन की स्थिति में भी हिन्दू लड़की में अपनी बहन नरगिस की छवि दिखाई देती है। लेखिका ने मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दशा का यथार्थ चित्रण किया है। मुस्लिम समाज की महिलाओं की तमाम जटिलताओं को बारीकी से उकेरा है।

खुदा की वापसी कहानी में दो पक्षों को दिखाया गया है,एक तो यह कि पति एक दुनियावी खुदा है जिसकी हर इच्छा को मानना ही स्त्री कि नियति है। दूसरा यह है कि खुदा कि वापसी जिसने एक ही साँचे से स्त्री पुरुष दोनों को ही बनाया है , इसलिए दोनों के समान अधिकार हैं। इस कहानी में फरजाना को शरीयत के नाम पर उसकी इच्छा के विरुद्ध विभिन्न बंधनों में जकड़ दिया जाता है। यहाँ लेखिका हमारे समाज के एक बड़े वर्ग के तबके को कटघरे में

खड़ा करती है जो स्त्रियों कि यही नियति वाली सोच रखते हैं। लेखिका ने अपनी कहानियों में उन नारियों की पीड़ा को केंद्र बनाया है पराधीनता ही जिनकी नियति है। क्रांति के दौरान महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली औरतें आज़ादी के बाद पर्दे में आ गयी। ज़िंदगी को देखने का आपका दृष्टिकोण बेहद सकारात्मक है। क्रूरता , शोषण , अन्याय , छद्म और अमानवीयता का प्रत्येक स्थिति में विरोध किया। निश्चय ही पुरुष वर्चस्व के प्रति, प्रतिकार का भाव है और पीड़ित नारी में भी परिवर्तन होता है, जो सशक्त नारी बनकर हमारे सामने आती है। पत्थर गली कहानी संग्रह में संकलित ताबूत कहानी में निम्नवर्गीय मुस्लिम परिवार का वर्णन है तीन लड़कियों का पिता कासिम अली बेटा ना होने के कारण दुखी रहने लगा है साबुन फैक्टरी में काम करके जैसे-तैसे परिवार का भरण पोषण करता है मगर दिल के रोग ने उसे ऐसे जकड़ा कि काम-धाम ही छूट गया- "सारे दिन दर्द से तड़पते हुए लड़कियों को कोसते रहते हैं। हाय -हाय के बीच में हमेशा लड़के की कमी उन्हें खलती रहती थी और खुदा से कहते थे कि तेरी नगरी में यह कैसा अंधेर है ? एक बाप की गोंद लड़के से खाली रखी। उनके घर कोई नया जब पूछता तो कहते मेरी कोई औलाद नहीं है पूछने वाला हैरत से पूछता फिर यह तीन लड़कियां ? जब कह देते यह बीबी की औलादें हैं। लड़का होता हो मेरी औलाद होता। कासिम अली की हाय-हाय सुनकर लड़कियां कमाऊ पूत बनने की कोशिश करने लगी तो उनका सामना रूढ़िगतबंधनों से होता है। एक ही काम था जो खामोशी से इज्ज़त बचा कर किया जा सकता था , वह था बीड़ी बनाना।'[5]

बाप की बात सुन-सुनकर माँ के दिल पर भी यह लड़कियां तीन भारी पत्थर बन गयी थी। रात-दिन मेहनत , मुरादों के बावजूद वे तकदीर का लिखा न मिटा सकीं। फिर बेबसी में प्रश्न उठता है – यह दुनिया सिर्फ मर्दों की है केवल मर्दों की। औरत का अपना कुछ भी नहीं है। वह तो उसके हाथों की खेती है। जब फसल पकी देखी कटकर खलिहान भर लिया। इतना अथक परिश्रम करके भी फहमीदा अपने पिता की संकीर्ण मानसिकता को नहीं बदल पाती और सोचती है-

"ज़िंदगी क्या सचमुच बदलाव चाहती है ? बदलाव ही ज़िंदगी है , वरना ठहरा पानी तो सड़ जाता है। क्या हमारी ज़िंदगी सड़ा पानी है ?[6]

पत्थरगली कहानी में संकलित बंद दरवाजा कहानी में शबाना और काजीम के दाम्पत्य जीवन की बरबादी का कारण उन दोनों के अभिभावकों का वैमनस्य होता है। शबाना के पिता उसे ससुराल नहीं भेजते और उसकी इच्छा पूछना जरूरी नहीं समझते – "गुजरे कल की औरतें क्या थी ? बलिदान की मूर्तियाँ या बलि की वेदी पर चढ़ाई गयी बकरियाँ?....." ऐसे हालत में उसे जलते -जलते पिघलना है। मर्यादा की लौ को सिर उठाए दम तोड़ना है। घूंट- घूंट इस समंदर के दर्द को पीना है। बड़े घरों की कहानियाँ उनके आँगनों में दम तोड़ती हैं। ऊंचा खान- पान मान- मर्यादा का कब्रिस्तान होता है , जहां रोज रोज बुजुर्गों की ख़्वाहिशों की कफन में लिपटी लाश दफन कर दी जाती है। मेरी कब्र

भी मेरा इंतजार कर रही है।"[7] शबाना सोच की गहराइयों में उतरने लगती है। इस तरह झूठे मान मर्यादा के रूढ़िगत बंधनों में जकड़े हुए शबाना और काशिम की मृत्यु हो जाती है।

नासिरा शर्मा अपनी कहानियों में स्त्री विषयक समस्याओं को स्पर्श करती हुई मार्मिक चित्रण करती है। इनकी कहानियों कि नारी पात्र टूटने- बिखरने और हताश होने के बजाय पुरुष वर्चस्व वाले क्रूर समाज से जूझने कि क्षमता रखती हैं। इसके लिए वह स्त्रियों की शिक्षा और आत्मनिर्भर होने पर ज़ोर देती हैं जिससे वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहें। समय से साथ हमारा समाज भी बदल रहा है और शिक्षा का प्रभाव अब स्पष्ट दिखाई देने लगा है। स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1.शर्मा नासिरा, पत्थर गली ,पृष्ठ 21 , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली ,प्रथम पुस्तकालय संस्करण 1986

2.शर्मा नासिरा , शामी कागज , पृष्ठ 97, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्कारण 2009

3.शर्मा नासिरा , संगसार , पृष्ठ 14,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली ,संस्कारण 2009

4. शर्मा नासिरा , पत्थर गली , पृष्ठ 34 , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली , प्रथम पुस्तकालय संस्कारण 1986, 5.वही , पृष्ठ 95 , 6. वही , पृष्ठ 95 , 7. वही ,पृष्ठ 48

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता और डॉ. धर्मवीर भारती

देवराज वर्मा

डॉ. देवमाईत मिंज

हिंदी पत्रकारिता का संक्षिप्त इतिहास – मनुष्य का स्वभाव प्रारंभ से ही चिंतनशील प्रवृत्ति का रहा है। अपने विचारों को प्रभावी तरीके से दूसरों तक पहुंचाना, उसे प्रिय रहा है, जिससेउसके विचारों का प्रसार हो सके। इसके प्रभावी माध्यम के रूप में पत्रिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में पत्र-पत्रिकाओंके उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया अधिक प्राचीन नहीं है। अंग्रेजों के आगमन के बाद पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में वृद्धि हुई। बंगाल की भूमि प्रारंभ से ही विद्वानों के जन्मस्थल के रूप में प्रसिद्ध रही है ज्ञान का प्रसार यहाँ से भारत के अन्य क्षेत्रों में हुआ। बंगभूमि से सर्वप्रथम 'उदंतमार्तंड' का प्रकाशन सन् 1826 में पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने किया किंतु 4 सितंबर सन् 1827 को आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्र बंद कर दिया गया। 1850 में 'साम्यदंत मार्तंड'निकला इसके बाद कलकत्ता से ही बंगदूत, प्रजामित्र और हिंदी का प्रथम दैनिक पत्र 'सुधा वर्षण' का प्रकाशन हुआ इसके बाद कलकत्ता से ही भारतमित्र,सर सुधानिधि और 'उचित वक्ता' पत्र निकले। यह याद रखने वाली बात है कि कलकत्ता जैसे बंगभाषी क्षेत्र हिंदी पत्रकारिताकी जन्म स्थली बना। उस समय के प्रमुख पत्रकारों में पंडित जुगल किशोर शुक्ल ,पंडितछोटूलाल मिश्र, पंडित हर मुकुंद शास्त्री, पंडित रूद्रदत्त शर्मा, अमृतलाल चतुर्वेदी, बाबूलाल मुकुंद गुप्त, बाबू राम विष्णु पराड़कर, पंडित अम्बिका दत्त वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण, गोविन्द नारायण मिश्र, शंभू नाथ मिश्र, डॉ.पट्टाभि सीतारमैया आदि प्रमुख थे।

हिंदी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं संपादक एवं प्रकाशन स्थान–पंडित जुगलकिशोर शुक्ल द्वारासम्पादित'उदन्त मार्तण्ड' यह कलकत्तासे प्रकाशित होता था। राजाराम मोहन राय ने 'बंगदूत'(1829) कलकत्ता से प्रकाशित किया। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार' काशी से प्रकाशित हुआ। तारा मोहन मिश्र का 'सुधाकर' काशीसे, राजा लक्ष्मण सिंह का 'प्रजाहितैषी' आगरा से, बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप' (1877) इलाहाबाद से, नवीन चंद्र राय का 'ज्ञान प्रदायिनी' लाहौरसे प्रकाशित हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'कविवचन सुधा'(1868) बद्री नारायण चौधरी प्रेमधनका 'आनंदकादंबिनी' भारतेन्दु हरिश्चंद्रका 'हरिशचन्द्र मैग्जीन'(1873) काशी से तथा पंडित प्रताप नारायण मिश्र का'ब्राह्मण' (1883) कानपुर से प्रकाशित होता था। द्विवेदी युगीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में 'सरस्वती' जिसका संपादन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया सरस्वती का प्रकाशन सन् (1900) से प्रारंभ हुआ था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1903) इसके सम्पादक बने। यह काशी एवं इलाहाबाद से प्रकाशित होता था। 'सुदर्शन'(1900) देवकीनंदन खत्रीका 'समालोचक'(1902) चंद्रधर शर्मा गुलेरी जयपुर, से 'अभ्युदय'(1907) मदनमोहन मालवीय प्रयाग, अन्य प्रमुख पत्रिकाओं में रुद्रदत्त शर्मा का 'हित वाणी'(1904),'कर्मयोगी'(1909) सुन्दरलाल प्रयाग,'पर्याप्त'(1909) कृष्णकांत मालवीय प्रयाग,'इंदु'(1909) अम्बिका प्रसाद गुप्त काशी 'प्रताप'

(1913) गणेश शंकर विद्यार्थी कानपुर, 'प्रभा'(1913) कालूराम खंडवा, 'पाटलिपुत्र' (1914) काशी प्रसाद जायसवाल पटना द्विवेदी युग में इन पत्र-पत्रिकाओं की हिंदी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

छायावादी पत्र पत्रिकाओं मेंकृष्णकांत मालवीयका 'मर्यादा' (1909) महात्मागांधी का 'हिंदी नवजीवन' (1920) दुलारी लाल भार्गव का 'माधुरी' (1922),रामरस सहगल का'चाँद'(1923) बाबू गुलाबराय का 'साहित्य संदेश'(1927)बनारसीदास चतुर्वेदी का'विशाल भारत'(1928) प्रेमचन्दका'हंस'(1930)डॉ धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' डॉक्टर हरिकृष्ण देवसरे'पराग'मृणाल पांडेय 'कादम्बिनी'जगदीश चंद्रगुप्त 'नई कविता'नामवर सिंह'आलोचना'राजेन्द्र यादव 'हंस'पंकज बीस्ट 'समयांतर'रविन्द्र कालिया कावागर्थ ,नया ज्ञानोदयप्रमुख रहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता का इतिहास समृद्ध रहा है,उसने उच्च कोटि के साहित्यकारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओं ने जनमानस के मनोभाव पर स्पष्ट प्रभाव छोड़ा है। स्वतंत्रता से पूर्व पत्रकारिता में जाने का अर्थ अंग्रेजी सत्ता के मजबूत पंजों से मुकाबला करना था आर्थिक कठिनाइयों में फंसना और निरंतर पथरीले मार्ग का पथिक बनना था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संचार क्रांति की निरंतर उपलब्धियों के कारण पाठकों की भीड़ उमड़ रही है, भावुकता के स्थान पर चतुर योग्य विशेषज्ञ होना जरूरी है स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता ने हिंदी की विविध विधाओं को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है स्वतंत्रता के पश्चात प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में मुख्यत: सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों को उभारने वाली पत्रिकाओं का प्रकाशन होता था। मनोरंजक एवंज्ञानवर्धक रचनाओं को भी इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता था। प्रमुख पत्रिकाओं में 'नए पत्ते' संपादक लक्ष्मीकांत वर्मा (1953) इलाहाबाद, कन्हैयालाल मिश्र 'ज्ञानोदय'(1955) डॉ धर्मवीर भारती 'निकष' (1956) ज्ञान रंजन 'पहल' (1960) जयपुर, रघुवीर सहाय 'दिनमान' साप्ताहिक (1965) दिल्ली, रघुवंश 'का खा गा' (1963) इलाहाबाद विभूति नारायण राय 'वर्तमान साहित्य'(1984) इलाहाबाद, हरि नारायण 'कथादेश' (1997) दिल्ली, मुक्तिबोध 'नया खून' मध्यप्रदेश उल्लेखनीय रहा है। डॉ धर्मवीर भारती के पत्रकारिता जीवन की शुरुआत 'अभ्युदय' नामक पत्रिका में सह-संपादक से हुई। इलाहाबाद से निकलने वाली इस पत्रिका के संपादक पद्मकांत मालवीय जी थे। भारतीजी का कार्य सभी दैनिक समाचार-पत्रों को पढ़कर उनको अपने शब्दों में लिखना होता था, उनके कार्य के लिए 100 रू. महीना दिया जाता था। पत्रकारिता की प्रथम शिक्षा उन्हें मालवीय जी से प्राप्त हुई। पत्रकारिता में भाषा का उपयोग कैसे करते है,इसके संबंध में मालवीयजी से ही उन्होंने सीखा। जैसे मालवीय जी का यह कथन उद्धृत है, "बोलचाल की भाषा में यदि तुम वह संवेदना उत्पन्न कर सको जो साहित्यिक लोग अपनी भाषा में करते हैं तो यह पत्रकार के रूप में तुम्हारी सफलता होगी"। अभ्युदय में काम करते हुए भारती द्वारा लिखी गई दो टिप्पणियों पर अधिक चर्चा हुई जिनके विषय थे लॉर्ड लिनलिथगो के बारे में और गाँधीजी जी की घड़ी के संबंध में। भारती अभ्युदय पत्रिका में दो वर्ष 1946 से 1948 तक तक काम करने के बाद संगम पत्रिका के उप संपादक बन

गए। इस प्रकार कहा जा सकता है , कि भारती की पत्रकारिता जीवन का प्रारंभिक बिंदु अभ्युदय पत्रिका सेमानना उचित होगा।

'संगम' पत्रिका के संपादक पंडित इलाचंद्र जोशी थे साथ ही गंगा प्रसाद पांडे, ओमकार शरद और रामनाथ अवस्थी जैसे उच्च कोटि के साहित्यकार भी सम्मिलित थे।'संगम' पत्रिका ने भारती के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारती के कार्य से जोशी जी इतने प्रभावित हुए और संगम पत्रिका के आयोजन-संपादन की जिम्मेदारी उन्हें स्वतंत्र रूप से सौंप दी। भारती को इस कार्य से पत्रकारिता के क्षेत्र में अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ। कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं –"संपादन संबंधी इस स्वतंत्रता द्वारा संगम में ही भारती ने अभ्यास किया कि लोक रुचि को प्रशिक्षित, उन्नत और संस्कारित किया जा सकता है"[1]। इस तरह 'अभ्युदय' और 'संगम' पत्रिकाओं में काम करने के अनुभव ने उनमें पत्रकारी दृष्टिकोण विकसित किया तथा उनकी वैचारिक विविधता की पृष्ठभूमि तैयार करने के साथ ही आत्मविश्वास में वृद्धि करने में भी योगदान दिया। भारती इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं – "अभ्युदय में मैंने श्री पद्मकांत मालवीय से यह सीखा कि पत्रकारिता की भाषा शोधछात्र, अध्यापक, साहित्य समीक्षक की भाषा से अलग भाषा होती है। उसे सीधे सामान्य पाठक तक पहुंचना चाहिए"[2]। उन्हें संगम में काम करते हुए जो अनुभवप्राप्त हुए, उन पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं-संगम में काम करते हुए यह महसूस किया कि सामान्य पाठक में भी सूझ-बूझ वाली पत्रकारिता के द्वारा साहित्यिक सूझ-बूझ जगाई जा सकती है। 'संगम' पत्रिका के मुख्य पृष्ठ पर संपादक का ही नाम छपा होता था, सह-संपादकों के नामों को नहीं छापा जाता था नामो के प्रकाशन में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती थी, इस परिपाटी को तोड़कर भारती ने धर्मयुग में सह-संपादकों के नाम भी प्रकाशित करवाना आरंभ किया।

धर्मवीर भारती ने 'आलोचना'पत्रिका के संपादनदायित्व का निर्वहन भी किया। साहित्य और पत्रकारिता का मुख्य दायित्व सामाजिक सांस्कृतिक नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूक करना होता है। 'आलोचना' का संपादन कार्य भारती एवं उनके साथियों डॉक्टर रघुवंश,बृजेश्वर वर्मा और विजय देव नारायण साही के हाथों में आने पर भारती ने व्यक्ति स्वतंत्रता पर दृढ़ता से बल दिया। सम्पादकीय लेखों में व्यक्ति स्वतंत्रता के विचारों को प्रमुखता से प्रस्तुत किया इससे पूर्व शिवदान सिंह चौहान के संपादन के दौरान आलोचना, प्रगतिशील आंदोलन का केंद्र बनी हुई थी भारती और उनके मित्रों ने इस विचारधारा को प्रत्यक्ष स्वीकार न कर उसे दूसरे तरीके से स्वीकार किया। 'निकष' - भारती ने आलोचना में कार्य करने के बाद सन 1955 में लक्ष्मीकांत वर्मा के साथ 'निकष' पत्रिका का संपादन किया। 'निकष' एक अर्धवार्षिक साहित्यिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित होती थी, जिसमे विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों की कृतियों का संकलन होता था।

'निकष' के संपादकीय वक्तव्य में भारती जी ने लिखा था कि - यथार्थ के नए स्तर, नैतिकता की नई चेतना, उदार मानवीय प्रतिमान से पृथक नहीं हो सकते। नया मानवीय यथार्थ टुकड़ों में नहीं समग्रता में ही उभारा जाना

चाहिए, यह नई साहित्यिक मर्यादा की एक महत्वपूर्ण मान्यता है। नए लेखन कार्य करने वालों के लिए भारतीय ने एक मंच प्रदान किया जिससे वे अपने साहित्यिक विचारों की अभिव्यक्ति सरलता से कर सके। निकष'में नया एवं विविध क्षेत्रों के रचनाकारों की उच्चकोटि की रचनाएं प्रकाशित की जाती थी। डॉक्टर विद्यानिवास मिश्र, फणीश्वर नाथ रेणु और केशवप्रसाद मिस्र की रचनाओं को जो उस समय चर्चित थी लोगों द्वारा पसंद किया जाता था। इनको 'निकष'में स्थान दिया गया। इन विशिष्टताओं के बाद भी 'निकष' अधिक समय तक नहीं चल पाया। साधनों के सीमित होने के कारण तीन चार संकलनों के बाद इसका प्रकाशन न हो सका।

'निकष' की सफलता के बारे में मोहन राकेश की टिप्पणी से यह पता चलता है–"साहित्य के स्तर पर इतना सुथरा प्रकाशन प्रतीक के बाद पहली बार हुआ है"[3]। भारती इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करते थे। इसी माध्यम से उन्होंने 'आलोचना' और 'निकष' में संपादन कार्य भी किया 'निकष' का प्रकाशन बंद हो जाने के बाद भारती सन् (1960) में धर्मयुग पत्रिका का संपादन कार्य सम्हालने के लिए बम्बई आ गए। 'धर्मयुग' पत्रिका टाइम्स ऑफ इंडिया की पत्रिका थी। धर्मयुग का प्रकाशन सन (1950) में मुंबई से प्रारंभ हुआ था। यह पत्रिका टाइम्स समूह के मालिक साहू शांति प्रसाद जैन की पत्नी रमारानी जैन की कल्पना थी इस समय देश में आजादी का शुरुआती दौर चल रहा था, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक,सांस्कृतिकस्थिति को समाज के सामने लाने में इस पत्रिका की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। 'धर्मयुग' और धर्मवीर भारती एक दूसरे के अभाव में अधूरे प्रतीत होते हैं। आज पत्रिकाओं में बिना किसी विचार के कुछ भी छापा जा रहा है, जो भावी पीढ़ी के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। धर्मयुग में सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक जीवन के सकारात्मक पहलुओं को इसमें स्थान दिया जाता था। "डॉ. भारती ने 'धर्मयुग' का संपादन कार्य स्वीकार किया। इस दायित्व का उनके ललित साहित्य सृजन पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा। हिंदी साहित्य के वर्तमान स्वरूप को अखिल भारतीय पाठकों के सामने प्रस्तुत करना, भाषाओं को परस्पर समीप लाना, सामाजिक संस्कृति को प्रोत्साहित करना यदि रचनाधर्मिता का अंग है तो 1960 से 1987 तक के कालखंड को भारती जी की महत्वपूर्ण साहित्य सेवा का पर्व माना जाना चाहिए"[4]।

अंत में यह मानना ही होगा कि हिंदी पत्रकारिता की विकास यात्रा में, विशेषत:स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता को मूल्यपरक स्वरूप देने में तथा प्रत्यक्षघटना क्षेत्रों में उपस्थित होकर निर्भीकता से सच्चाई को जानकर प्रस्तुत करने की विशेषता के लिए भारती सदा स्मरणीय रहेंगे। उनकी पत्रकारिता के वैशिष्टयको खोलने इन कुछ पंक्तियों से ही यह स्पष्ट हो जाता है-"भारती जी निर्भिक पत्रकार के रूप में भी हमारे सामने उपस्थित होते हैं भारती विजय वाहिनी और बांग्लादेश की मुक्ति वाहिनी के सम्मिलित अभियान में डॉ. भारती भी अपने संपादकीय और लेखकीय कार्य के लिए सम्मिलित हुए। है कि खूनी मुठभेड़ों, बम और गोलियों की वर्षा घायलों और मुर्दो के बीच से युद्ध यात्रा करते हुए भारतीय जी के असैनिक और अनभ्यस्त कदम रंचमात्र भी नहीं डगमगाए उन्होंने अपनी आँखों से बांग्लादेश की जनता का राष्ट्रीय उत्साह और समर्पण भाव देखा"[5]।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान की हिंदी पत्रकारिता किसी न किसी रूप में अपने प्रारंभिक दौर में धर्मयुग और भारती से जुड़े हैं। भारती समय और पाठकों की रुचि को भली भांति पहचानते थे इसलिए साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों को अपनी पत्रकारिता के माध्यम से लोगों तक पहुंचाने में सफल रहे है।

संदर्भ सूची –

01- कृष्ण बिहारी मिश्र 121) हिंदी पत्रकारिता का इतिहासपृष्ठ नंबर -) भारतीय ज्ञानपीठप्रकाशन,अलीपुर पार्क प्लेसकलकत्ता 27, प्रथम संस्करण -1968

02- भारती पुष्पा धर्मवीर भारती से साक्षात्कार -, पृष्ठ नंबर114)) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,प्रकाशन वर्ष-2004द्वितीय संस्करण, वही पृष्ठ 115

03- धर्मवीर भारती ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, 21 ए दरियागंज नई दिल्ली-110002द्वितीय संस्करण (7) पृष्ठ नंबर 2009 संपादक चंद्रकांत बांदिवडेकर।, वही पृष्ठ नम्बर 08))

प्रेमचन्द कृत 'मंत्र': आंतरिक विकास की कहानी

डॉ. जयति बिस्वास

हिन्दी साहित्य जगत में प्रेमचन्द की कृतियाँ विश्व साहित्य की अनमोल धरोहर हैं। इनका साहित्य उच्च चिंतन, समभाव और जीवन की वास्तविकता का दर्पण है। इनकी कहानियाँ मानव हृदय के कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हैं। ये कहानियाँ मानव जीवन में व्याप्त स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ करने की प्रेरणा देती हैं। प्रेमचन्द की कालजयी कहानियों में बड़े घर की बेटी, पंच परमेश्वर, सुभागी, बूढ़ी काकी, ईदगाह, नमक का दरोगा आदि प्रमुख हैं। जिसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मानवीय मूल्यों को प्रस्तुत किया गया हैं। इसी भाव बोध से प्रेरित कहानी 'मंत्र' है।

वर्तमान भारतीय समाज के लिए प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रेरणा स्त्रोत तथा पथ प्रदर्शक की भूमिका निभाने में सक्षम है। आज का मानव भौतिकता की चकाचैंध में स्वयं को सर्वशक्तिमान व निर्बल असहायों को अनदेखी कर जीता चला जा रहा है। परंतु ईश्वरीय शक्ति के आगे मनुष्य की शक्ति क्षीण प्रतीत होती है। प्रेमचन्द कृत कहानी मंत्र इसी तरह की कहानी है, जहाँ स्वार्थ पराजित होकर मानवता जीत प्राप्त करती है।

यह कहानी एक चिकित्सक की है, जिसे लेखक ने डॉ. चड्ढा नाम प्रदान किया है। डॉ. चड्ढाका जीवन अत्यंत संयमित और अनुशासित है। वे अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए रोगियों की देखभाल चुस्ती-फूर्ती से करते हैं। आस-पास के क्षेत्र में वे ख्याति प्राप्त हैं। उनके पास से मरीज अवश्य ही स्वस्थ होकर लौटता है। किन्तु वे अपनी दिनचर्या से बाहर मरीज का इलाज नहीं करते। उनके खाने-पीने-सोने, मनोरंजन व मित्रों से मिलने का समय निश्चित है। उन्हें गोल्फ खेलने का शौक है। एक दिन उनके गोल्फ खेलने के समय में गाँव का एक देहाती बूढ़ा अपने सात वर्षीय बेटे के इलाज के लिए उनके पास आकर निवेदन करता हैं। डॉ. चड्ढा उस देहाती बूढ़े को इन शब्दों में मना करते हैं- ''कल सबेरे आओ, कल सवेरे, हम इस वक्त मरीजो को नहीं देखते।.....डॉ. चड्ढाने कलाई पर नजर डाली। केवल 10 मिनट और बाकी था। गोल्फ स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले - कल सबेरे आओ कल सबेरे। यह हमारे खेलने का समय है।''[1] देहाती बूढ़ा डॉ. चड्ढा से यह कहते हुए उनके गाड़ी की ओर दौड़ता है- ''सरकार बड़ा धरम होगा। हुजूर दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार में कोई और नहीं है बाबू जी।''[2] इस तरह बेबस गिडगिड़ाहट का भी डॉ. चड्ढाके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। डॉ. चड्ढाके लिए अपना शौक सात वर्षीय बालक के इलाज से ज्यादा महत्वपूर्ण जान पड़ता है। बिना समय गँवाए वे अपने गाड़ी में बैठकर गोल्फ खेलने चले जाते हैं। देहाती उन्हें गाड़ी में बैठकर जाते हुए देखकर निश्चल खड़ा रह जाता है। सब ओर से निराश होकर ही वह बहुत उम्मीद के साथ बेटे के इलाज के लिए यहाँ आया था। बड़ी मुश्किल से वह डॉ. चड्ढा के घर तक पहुँच पाया था, उसका यह प्रयास भी निष्फल हो गया। सात वर्षीय बेटे की इस तरह माता-पिता के सामने अचानक जीवन लीला समाप्त हो गई। उनका हृदय टूट गया उन्हें सहारा देने वाला इस समय कोई नहीं था।

इस घटना को कई वर्ष व्यतीत हो गए। देहाती पति-पत्नी अपनी गरीबी के साथ झोपड़े में जीवन यापन करते रहे। डॉ. चड्ढा का भी धन-यश लगातार बढ़ता रहा। उनकी दो संताने हुई एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र कैलाश के स्वभाव और चरित्र को प्रेमचन्द इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं - ''थोड़े दिन हुए उसने विद्यालय में सांपो पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचाकर भी दिखाया था। प्राणिशास्त्र के बड़े-बड़े पंडित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गए थे। यह विद्या उसने एक बड़े सँपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज था। इतना पता भर मिल जाए कि किसी व्यक्ति के पास कोई अच्छी जड़ी है फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हजारों रूपये फूँक चुका था।''[3] कैलाश को साँप पालने के साथ-साथ प्रहसन आदि से भी विशेष लगाव था। वह स्वयं प्रहसन लिखता व उसके मंचन में मुख्य भूमिका निभाता था।

कैलाश के बीस वर्ष की उम्र पूरी होने पर पिता डॉ. चड्ढा अपने घर में जन्मोत्सव का भव्य आयोजन करते है। कैलाश अपनी सहपाठी मृणालिनी से प्रेम करता है। मृणालिनी इस चहल-पहल, भीड़-भाड़, शोर-गुल के वातावरण में कैलाश से साँप देखने का आग्रह करती है। कैलाश पहले तो मृणालिनी के आग्रह को टालता है किन्तु मृणालिनी की जिद के आगे वह साँपों को दिखाने के लिए तैयार हो जाता है। प्रीति भोज की समाप्ति और संगीत प्रारंभ होते ही कैलाश ने ''मृणालिनी व अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के पास ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था। ऐसा जान पड़ता था कि ये कीड़े उसकी एक-एक बात उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसी को उठा लिया किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गरदन में न डालो, दूर ही से दिखा दो, बस जरा नचा दो। कैलाश की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने कहा। मगर कैलाश एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपनी सर्प-कला प्रदर्शन का ऐसा अवसर वह कब चूकता।''[4]

कैलाश इस तरह अपने जन्मदिन के अवसर पर साँपों को लेकर अचंभित करने वाले करतब दिखाने लगा, लोगों को कैलाश की हिम्मत पर शक होने लगा उन्हें महसूस होने लगा कि शायद साँपों के जहरीले दाँत निकाले जा चुके है। इस बात का उत्तर कैलाश इन शब्दों में देता है- ''दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गए। कहिए तो दिखा दूँ, कहकर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया और बोला- मेरे पास इससे बड़ा और जहरीला साँप दूसरा नहीं हैं। अगर किसी को काट ले तो आदमी आनन-फानन में मर जाए। लहर भी न आए। इसके काटे पर मंत्र नहीं। कहिए तो दिखा दूँ, ऐसा कहकर वह साँप के दाँत दिखाने का प्रयास करने लगा। उसने साँप की गर्दन पकड़कर जोर से दबायी, इतनी जोर से दबायी कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गयीं। साँप ने

अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं, उसे शायद भ्रम हुआ कि मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया। कैलाश ने उसकी गर्दन खूब दबाकर मुँह खोल दिया और उसके जहरीले दाँत उसने लोगों को दिखाने लगा।''[5] मित्रों का शंका-समाधान करने के लिए कैलाश ने अपनी जान जोखिम में डाल दिया। ''कैलाश ने दाँत दिखाकर साँप की गर्दन ढीली कर दी और उसे जमीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुँवन क्रोध से पागला हो रहा था। गर्दन नरम पड़ते ही उसने सिर उठाकर कैलाश की उँगली में जोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलाश की उँगली से टप-टप खून टपकने लगा।''[6] इस घटना से जन्मदिन का उत्सव मातम में बदल गया। चारों ओर कैलाश को साँप के काटने की सूचना फैल गयी। माता-पिता तथा अन्य स्नेही जन कैलाश को बचाने का हर-संभव प्रयास करने लगे। कैलाश के द्वारा एकत्रित की गई जड़ी-बूटी का भी कोई असर नहीं हुआ। धीरे-धीरे कैलाश की आँखे बंद हो गयी। डॉक्टर चड्ढा अपने पुत्र की यह हालात देखकर बेचैन हो गए, उनके हृदय की अनुभूति को प्रेमचन्द इन शब्दों में व्यक्त करते हैं - ''.....बुलाइए। किसी झाड़-फूँक करने वाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले-ले मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर घर से निकल जाऊँगा; मगर मेरा कैलाश; मेरा प्यारा कैलाश उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलाइए।''[7] डॉ. चड्ढा की यह हालत देखकर कुछ लोगों के प्रयास से विष झाड़ने वाले आए, किन्तु कैलाश की तबियत देखकर उनकी भी हिम्मत ने जवाब दे दिया। शहर से कई मिल दूर एक बूढ़ा-बुढ़िया अपनी झोपड़ी में मेहनत-मजदूरी करके जीवन निर्वाह कर रहे थे, उनकी संपत्ति के नाम पर वह एक झोपड़ी थी, जहाँ एक चूल्हा था, और तेल की एक कुप्पी रात में रोशनी के लिए। ''बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी और बूढ़ा रस्सी बटकर बाजार में बेच आता था। यही उनकी जीविका था। उन्हें न किसी ने रोते देखा न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फुरसत।''[8] यहाँ यह बात स्पष्ट है कि बूढ़े दंपत्ति का जीवन अत्यंत कठिन था फिर भी वे पुरुषार्थ करके अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। ठंड की अँधेरी रात में एक आदमी उनके द्वार पर आकर यह सूचित करता है कि डॉ. चड्ढा के बेटे को साँप ने काट लिया है, यदि उसका इलाज करते हो तो आदमी बन जाओगे। बूढ़ा भगत इस समाचार से चौंक जाता है। परंतु उसके अंदर का पिता उसे वहाँ जाने से रोकता है। वह खबर देने वाले आदमी से कहता है - ''मैं नहीं जाता। मेरी बला जाए। वही चड्ढा है, खूब जानता हूँ। भैया को लेकर मैं उन्हीं के पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरो पर गिर पड़ा कि एक नजर देख लीजिए; मगर सीधे मुँह से बात तक न की। भगवान

बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का गम कैसा होता है। कई लड़के हैं ? .... भगवान बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े थे। पर उन्हें तनिक भी दया न आयी थी। मै तो उनके द्वार पर होता तो भी न पूछता।''[9] बूढ़े भगत की यह अनुभूति एक सामान्य इंसान की अनुभूति है, जहाँ समय निकल जाने पर भी हृदय के दर्द में कमी नहीं आती, बूढ़ा भगत अपने इकलौते पुत्र को मौत से वापस लाने के लिए डॉ. चड्ढा से मिन्नते करता रहा किन्तु उनके हृदय का इंसान उस समय जागृत नहीं हुआ। आज वे अपने बेटे को मृत्यु शय्या में देखकर परेशान हैं। बूढ़ा भगत भी इस घटना को ईश्वर प्रदत्त मानकर संतुष्ट हो रहा है कि कल इसने जो मेरे साथ किया, वही आज डॉ. चड्ढा के साथ हो रहा है। प्रेमचन्द ने बूढे भगत के अंदर पिता से ऊपर एक सच्चे मनुष्य का सृजन किया है, उसका एक मन पिता के रूप में कैलाश के इलाज से रोकता है वहीं दूसरा मन डॉ. चड्ढा के बेटे के जहर को उतारने में छटपटा रहा है। बूढ़े भगत के मन में शांति की जगह व्याकुलता है; अंततः परमार्थ ने स्वार्थ को पछाड़ दिया, बूढ़ा भगत ठंड की अंधेरी रात में डॉ. चड्ढा के घर जाने का निर्णय लेकर निकल पड़ता है- ''भगत ने आगे और पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह काबू में नहीं रहती पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, जुबान से निकलता कुछ है वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतिकार था, पर कर्म मन के अधीन न था।''[10] जिस समय बूढ़ा भगत डॉ. चड्ढा के घर पहुँचा उस समय रात के दो बज रहे थे। वहाँ उपस्थित लोग सुबह होने का इंतजार कर रहे थे, ताकि कैलाश की लाश को गंगा की गोद में दिया जा सके। डॉ. चड्ढा बूढे भगत को कैलाश के पास ले जाते हैं, कैलाश की स्थिति देखकर भगत डॉ. चड्ढा को सांत्वना देता है और अपना झाड़-फूँक आरंभ करता है भगत की आज्ञानुसार कैलाश को कई घड़े पानी से नहलाया जाता है, इस बीच मंत्रोच्चार तथा जड़ी सुँघाने का कार्य भी भगत के द्वारा किया जाता है। प्रातः होते-होते सुबह की तालिमा के साथ कैलाश भी लाल-लाल आँखें खोल देता है। इस प्रकार बूढ़ा भगत कैलाश को पुनर्जीवन प्रदान कर परिवार को खुशहाली से भर देता है। इस पुण्य कार्य के पश्चात् भगत किसी से बिना मिले वहाँ से निकलकर पत्नी के उठने से पहले घर पहुँच जाना चाहता है। डॉ. चड्ढा भी बूढ़े भगत को सुबह की रोशनी में पहचान लेते हैं, किन्तु उससे मुलाकात नहीं हो पाती। भगत के चले जाने पर वे पत्नी नारायणी से कहते है - ''आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे खोज निकालूँगा और उसके पैरों में गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ, उसका जन्म

यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है जो अब से जीवन-पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।''[11]

डॉ. चड्ढा पुत्र को मौत के दरवाजे से वापस पाकर अत्यंत प्रसन्न है, इस घटना ने उन्हें चिकित्सकीय व्यवसाय के प्रति ईमानदार बना दिया। उनका हृदय परिवर्तन हो गया है, वे यथार्थ और आदर्श के बीच संतुलन स्थापित कर सार्थक, जीवन की ओर उन्मुख होते है। बूढ़े भगत का कर्म प्रधान जीवन डॉ. चड्ढा के लिए प्रेरणा स्त्रोत है। उन्हें अपनी पिछली गल्तियों का एहसास है अब वे अपने शेष जीवन को जन-सामान्य के लिए समर्पित करने का दृढ़ संकल्प ले चुके है। उन्हें यह ज्ञात हो गया है।

संदर्भ: -

1. पृ. 68 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।, 2. पृ. 68 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
3. पृ. 69,70 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
4. पृ. 70 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।, 5. पृ. 71 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
6. पृ. 71 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
7. पृ. 72 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
8. पृ. 73 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
9. पृ. 73 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
10. पृ. 75 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
11. पृ. 77 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।

मिथिलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण : लोकवृत्त एवं लोककलागत

जीतलाल

पूरे भारतवर्ष में लोकवृत्त एवं लोककलाओं का भंडारण है। प्रत्येक प्रदेश में इनका कोई न कोई विशिष्ट रूप विद्यमान है, जहाँ अनेक जातियों एवं जनजातियों के लोग निवास करते हैं। लोकवृत्त एवं लोककला विशेष रूप से पिछड़े अँचलों में निवासकरने वाले जनसमूहों द्वारा ही रचित एवं संरक्षित किए जाते हैं। इन्हीं लोगों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही लोकगीत, लोकनाट्य, लोक कथाएँ, लोक गाथाओं एवं लोक-सुभाषित आदि को लोकवृत्त तथा चित्रांकन, अल्पना, महावर, गोदना एवं शिल्पकला आदि को लोककला के अंतर्गत रखते हैं। लोकवृत्त एवं लोककला शास्त्रीयता से भिन्न जमीन पर खड़े दिखाई देते हैं। ग्रामीण परिवेश में रहने वाले जो लोग पढ़ाई-लिखाई में दिलचस्पी नहीं लेते, वे भी इनमें पारंगत होते हैं। इनमें उनके लोकव्यवहारों, धार्मिक भावनाओं, रीति-रिवाजों एवं परंपराओं की झलकियाँ दृष्टव्य है। रेखा श्रीवास्तव लोककला के संबंध में कहती हैं "पुस्तकीय ज्ञान से भिन्न व्यवहारिक ज्ञान पर आधारित जनसमुदाय की अनुभूति की अभिव्यक्ति ही लोककला है, जिसकी उत्पत्ति धार्मिक भावनाओं, अंधविश्वासों, भय निवारण, अलंकरण प्रवृत्ति एवं जातिगत भावनाओं की रक्षा के विचार से हुई है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया लोक कलाएँ भी विकसित होती गई।"[1] लोकवृत्त एवं लोक कलाओं से लोक संस्कृति पुष्ट एवं परिवर्द्धित होती है, ये धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज एवं परंपराओं की परिचायक भी बनती है। वर्तमान में लोकविदों ने लोक रूपों को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया है लोकवृत्त एवं लोककला। इनके भी अनेक रूप विकसित हुए हैं, जिन्हें विद्वज्जनों ने मान्य किया है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकवृत्त एवं लोक कलाओं के जिन रूपों का चित्रण हुआ है, उनका विवेचन इस प्रकार है

लोकवृत लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। इसे लोक-भाषण की सहज, स्वाभाविक एवं अकृत्रिम अभिव्यक्ति कहा जा सकता है तथा इसके ज्ञान का संबंध व्यवहारिक जीवन से होता है। लोकवृत्त लोकचित्त को आकृष्ट करने वाला तथा एक कंठ से दूसरे कंठ तक पहुँचने वाला, सभी जनसाधारण को आंदोलित करने वाला, सामान्य जन की बोली के नैसर्गिक रूप को संजोकर रखने वाला भी कहा गया है। अतः जो लोक की परिधि में आते हैं, वे ही लोकवृत्त है | इसमें प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है तथा उसमें निहित सौंदर्यभाव सर्वथा साधारण जन की अनुभूतिजन्य हैं। लोकसाहित्य के विद्वानों ने इन्हें मुख्य रूप से पाँच भागों में बाँटा है1.लोककथा 2.लोकगाथा 3.लोकगीत 4.लोकनाट्य 5.लोक सुभाषित। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य एवं लोक सुभाषित आदि के जो महत्वपूर्ण चित्रण मिलते हैं, उनका विवेचन इस प्रकार हैं

लोकगीत का संबंध लोकजीवन के सुख-दुख से हैं, इनमें जनजीवन के भाव अभिव्यक्त होते हैं। किसान-मजदूर, चरवाहा या स्त्री अपने मन की बात को गाकर सहज ढंग से अभिव्यक्त कर सकती है, अतः लोकगीत मनुष्य के हृदय का स्पंदन है। ग्रामीण लोगों की भावनाओं, अनुभूतियों एवं सौंदर्य भावनाओं आदि का प्रतिनिधित्व लोकगीत करते हैं तथा लोकगीतों में संबंधित अँचल बोल उठती हैं। लोकगीत जीवन के सुख-दुख, हास-परिहास, पतझड़ और

मधुमास का उद्गार है। वह किसी जाति, समूह और देश की लोक संस्कृतियों के परिचायक होते हैं, उनमें जीवन की प्रत्येक धड़कनों का एहसास देखा जा सकता है। लोकगीतों के उद्गम के संबंध में देवेंद्र सत्यार्थी लिखते हैं "कहाँ से आते हैं इतने गीत? स्मरण-विस्मरण की आँखमिचौली से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदात्त हृदय से। कहाँ से आते हैं इतने गीत? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत।... जीवन के सुख, जीवन के दु:ख, ये है लोकगीत के बीज।"[2] लोकगीत को परिभाषित करते हुए डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव लिखते हैं "लोकगीत श्रम परिहार से लेकर लोक की व्यथा को व्यक्त करते हुए विरेचन का कार्य भी करते हैं। अधिकतर ये गीत आँसू और सपनों के ताने-बाने से बुनी चादर होते हैं, जिन्हें बड़ा संभालकर, संजोकर रखता है ये लोक।"[3] अतः लोकगीतों के माध्यम से हम अपनी प्राचीन लोक संस्कृति एवं परंपराओं को जान सकते हैं। लोकगीतों को अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जिनमें संस्कारगीत, ऋतुसंबंधी गीत, व्रतसंबंधी गीत, श्रमसंबंधी गीत एवं जातिसंबंधी गीत प्रमुख है। मिथिलेश्वर की कहानियों में ऋतुसंबंधी तथा जीवन की व्यथा संबंधी लोकगीतों का चित्रण हुआ हैं। 'तिरिया जनम' कहानी में सुनयना की व्यथा को व्यक्त किया है। सुनयना जब किसी बच्चे को जन्म नहीं दे पाती हैं, तो उसके पति दूसरी पत्नी लाते हैं तथा सुनयना को पहले वाले कमरे से निकालकर उपेक्षित कमरे में ला देते हैं, जहाँ घर की बेकार एवं फालतू चीजें रखी जाती हैं। जिससे सुनयना का जीवन यातनापूर्ण हो जाता है और उसे गाँव में महिलाओं द्वारा गायी जाने वाली लोकगीत याद आती है

"जाहू हम जनिती धियवा कोंखी रे जनमिहे।
पिहितों में मरिच झराई रे।
मरिच के झाके-झुके धियवा मरि जाइति,
छुटि जाइते गरुवा सन्ताप रे।"[4]

अर्थात विवाहित स्त्री को यदि यह पता चल जाता कि उसके गर्भ में धियवा (पुत्री) है, तो वह मिर्च पी लेती, जिससे उसकी धियवा (पुत्री) गर्भ में ही मर जाती तो उसके सारे संताप, दुख-पीड़ा दूर हो जाती। जब कोई विवाहित स्त्री पुत्री को जन्म देती थी, तो उन्हें अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता था, जिसके कारण वह अपनी पुत्री को गर्भ में ही मार देना चाहती थी। लोककथा लोकवृत्त का एक अभिन्न अंग है। लोककथाएँ वे कथाएँ हैं, जो किसी समाज से संबंधित होती है तथा व्यक्तियों के अनुभवों एवं घटनाओं के आधार पर निर्मित होती हैं। यह मौखिक तौर पर उस समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कहने की प्रक्रिया द्वारा पहुँचाई जाती हैं। ये कथाएँ किसी समाज, जाति, संप्रदाय के प्रसिद्ध व्यक्ति की या किसी सामान्य व्यक्ति की भी हो सकती हैं, इसमें तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को बताते हैं। इन कथाओं का प्रमुख उद्देश्य समाज के ज्ञान, समझ और नैतिक मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे पहुँचाना होता है। प्रत्येक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरह की लोककथाएँ मौजूद हैं, जैसे पहाड़ी, समुद्र तटीय तथा मैदानी क्षेत्रों की कथाओं में वहाँ की रीति-रिवाज, खान-पान, पर्व-त्यौहार, वेशभूषा आदि का चित्रण परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं। लोककथाओं पर विचार व्यक्त करते हुए वसंत निरगुणे लिखते हैं

"लोक कथाएँ हमारी वाचिक परंपरा की अमूल्य धरोहर है। नानी-दादी की वाणी में सुनी कथाओं का आस्वाद ही भिन्न होता है। लिखित शब्दों में वह वाक् सौंदर्य और प्रभाव कहाँ जो प्रसंगानुकूल उतार-चढ़ाव के अनुरूप बोले गये शब्दों में मिलता है, लिखे गये शब्दों में ध्वनि तत्व गायब हो जाता है और ध्वनि व्यंजना की सबसे सशक्त संवाहक होती है।"[5] लोक विद्वानों ने लोककथाओं को मुख्यत: छ: भागों में विभाजित किया गया है पौराणिक कथा, मनोरंजन कथा, उपदेश कथा, प्रेम कथा, व्रत कथा और सामाजिक कथा आदि प्रमुख है। मिथिलेश्वर की कहानियों में आदिवासी एवं प्रेत से संबंधित सामाजिक लोककथाओं का चित्रण हुआ है

'प्रेत की जट' कहानी में बिरदा सिंह और जटहवा प्रेत के बीच होने वाले लड़ाई का बड़ा ही रोचक ढंग से चित्रण हुआ है। उसी लोककथा को नैरेटर के बाबा सुनाते हैं "ओह बखत गाँव में बिरदा सिंह की जोड़ का दूसरा मरद नहीं। देह भाँजते हुए बिरदा सिंह चलते और अपने से वजनी पहलवानों को भी उठा कर पटक देते। रात-बिरात कहीं आने-जाने में उनको इचको (तनिक-सा भी) भय नहीं। ऊ सोचते कि कौन माई का लाल है जो उन्हें पछाड़ सके। बस, एक रात ऊ पड़ गये जटहवा प्रेत (जटा वाले प्रेत) के चक्कर में। बाघी बगीचे में जो बुढ़वा बरगद का पेड़ है, उसी पर रहता है जटहवा प्रेत...।"[6] इस प्रकार मिथिलेश्वर की कहानियों में लोककथाओं का चित्रण हुआ है|

लोकवृत्त का एक महत्वपूर्ण अंग लोकनाट्य भी होता है। लोकनाट्य में लोकजीवन के हर्ष और विषाद भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारतीय गाँवों में लोकनाट्य जनधर्मी हैं, लोकनाट्य का मूल उद्देश्य लोकानुरंजन हो सकता है, परंतु साथ-ही-साथ वह समाज की अच्छाई एवं बुराई की नब्ज को भी पकड़ते हैं। इनके माध्यम से जनजीवन में व्याप्त हर्ष, उल्लास एवं कलात्मक अभिव्यक्ति को भी चित्रित करते हैं। लोकनाट्य पर विचार करते हुए वसंत निरगुणे जी कहते हैं "लोकनाट्य अपने पारंपरिक विद्रूप, अभिनय से गुदगुदाने का कार्य करते हैं, वहीं समसामयिक चुटीले संवादों से तीखी मार भी करते हैं। यह सब हँसी-हँसी में होता है और इसकी चपेट में राजा रंक सभी आ जाते हैं।"[7] लोकनाट्य के विविध रूपों में नाचा, शेखावटी, तमाशा, मार्च, स्वांग, विदेशिया, नौटंकी, जात्रा, गम्मत, यक्षगान, रामलीला और रासलीला आदि आते हैं। इन लोकनाट्यों का आयोजन विभिन्न पर्वोत्सवों में किया जाता है। जन-जीवन में लोकनाट्य आज भी जीवित है। मिथिलेश्वर की कहानियों में नौटंकी का वर्णन हुआ है

'बाबूजी' कहानी में भोजपुर के प्रसिद्ध लोकनाट्य नौटंकी का चित्रण हुआ है। बाबू ललनसिंह(बाबूजी) की नौटंकी की चर्चा पूरे भोजपुर जिले में है। जिनका चित्रण मिथिलेश्वर ने इस प्रकार किया है "शामियाना एकदम खचाखच भरा था। शामियाने से बाहर भी काफी लोग बैठे थे। नगाड़े की आवाज पूरे परिवेश में गूँज रही थी। बाबूजी का रोबीला चेहरा अलग से ही चमक रहा था। उनकी अँगुलियाँ तबले पर एकदम बिजली की तरह नाच रही थी। तबले की थाप पर नर्तकियों के जिस्म का हर हिस्सा थिरक रहा था। अजीब आनंद आ रहा था और फिर मंच की सजावट और प्रस्तुतीकरण का ढंग भी निराला था। सचमुच बाबूजी की नौटंकी पूरे जिले में एक नंबर की थी।"[8] इस प्रकार मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकनाट्यों के परिदृश्यों का चित्रण हुआ है | सर्वसाधारण जन द्वारा सुंदर ढंग से कही गई बातें लोक-सुभाषित कहलाती है। लोक-सुभाषित लोकवृत्त का ही एक अंग है तथा इनका निर्माण लोक के

द्वारा हुआ है। लोक-सुभाषित जन-जन का तपा हुआ ज्ञानानुभव है, इसमें रंजकता तो होती है, साथ-ही-साथ सत्य-असत्य के खंडन-मंडन की पुरजोर शक्ति भी समाहित होती हैं। लोक-सुभाषित लोक की ऐसी अनुभवपरक अभिव्यक्ति है, जिसमें जीवन के हर्ष-विषाद एवं रंग-व्यंग्य समाहित है। इनके प्रमुख अंग है लोकोक्तियाँ, मुहावरे, ढकोसले, पहेलियाँ एवं सूक्तियाँ। मिथिलेश्वर की कहानियों में अनेक लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे देखने को मिलते हैं।

लोकोक्तियाँ लोक सुभाषित का महत्वपूर्ण घटक है। लोकोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है, लोक+उक्ति अर्थात सर्वसाधारण जन द्वारा प्रयुक्त होने वाले कथन। इनके द्वारा ही किसी कथन को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। लोकोक्तियाँ या कहावते जनसमुदाय के व्यवहारिक ज्ञान एवं उनके प्रकृति निरीक्षण को प्रकट करता है। इनके माध्यम से हम किसी देश की संस्कृति, ज्ञान और विचारधारा को सुगमता से समझ सकते हैं। लोकोक्तियों या कहावतों की यह परंपरा हमारे प्राचीन साहित्य में भी दिखाई देती हैं। वेद एवं उपनिषदों में अनेक लोकोक्तियाँ देखने को मिलती हैं, जिनसे हमें प्राचीन समाज का ज्ञान प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य में कालिदास, श्रीहर्ष, माघ और भारवि आदि कवियों ने लोकोक्तियों(कहावतों) का प्रयोग कर अपनी भाषा को प्रभावोत्पादक एवं समृद्ध किया है। लोकोक्तियों या कहावतों में किसी समाज के लोकाचारों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक भावनाओं तथा नैतिक मूल्यों से संबंधित विवरण मिलता है। लोकोक्ति को परिभाषित करते हुए डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जी लिखते हैं "लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनंत काल तक धातुओं को तपाकर सूर्यराशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार मानवीय ज्ञान के घनीभूत रत्न है, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।"[9] अतः लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाली प्रभावी अभिव्यक्ति है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकोक्तियों या कहावतों का प्रयोग प्रमुखता से हुआ है

'नपुंसक समझौते' अन्य पुरुष में लिखी गई कहानी हैं, 'वह' इस कहानी का नायक है, जो बेरोजगार है और घर-गृहस्थी की पूरी जिम्मेदारी भी उन्हीं के ऊपर है। वह आषाढ़ के महीने में बादलों के एक भी टुकड़े न देखकर हैरान और परेशान है। उनके गाँव के अधिकांश लोग बीज डाल दिए हैं, परंतु उसके जैसे ही कुछ लोग नहरों के पानी का इंतजार कर रहे हैं। उसे चौधरी बाबा की कहावत याद आती है "आगे खेती आगे-आगे पीछे खेती जोगे-भोगे।' लेकिन चौधरी बाबा की यह कहावत सिर्फ वे लोग ही सार्थक करते हैं, जिनके पास धन दौलत है।"[10] अत: जिसके पास पानी की सुविधा है, वही समय पर बीज डालकर अच्छा उत्पादन ले सकते हैं। 'बाबूजी' कहानी में बाबूजी की बातों से बौखलाकर बड़े भैया कहते हैं "शराबियों से बात नहीं की जाती। 'वह बात के नहीं, लात की जात होते हैं।"[11] अत: यहाँ पर भी लोकोक्तियों का सुंदर चित्रण हुआ है। मुहावरे भी लोक-सुभाषित का महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में जिन वस्तुओं का सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण कर है, उन्हें शब्दों में प्रकट करता है, वही मुहावरे हैं। 'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। ये किसी भी भाषा की संजीवनी शक्ति एवं प्राण है, जिससे वाक्य की रोचकता बढ़ जाती है तथा ये अनावश्यक शब्दों के विस्तार से दूर रहता है। मुहावरा एक वाक्य खंड है। इनका अर्थ लक्षणा एवं

व्यंजना से युक्त होती है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने मुहावरे को इस प्रकार से परिभाषित किया है "मुहावरा किसी बोली या भाषा में प्रयुक्त होने वाला वह अपूर्ण वाक्य खंड अथवा वाक्यांश है जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सबल, सतेज, रोचक तथा चुस्त बना देता है।"[12] मुहावरों में लोक जीवन एवं लोक संस्कृति की झाँकी दिखाई देती है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकोक्तियों की तरह मुहावरों का प्रयोग भी बड़ी तल्लीनता से हुई है

'तिरिया जनम' कहानी में सुनयना बड़ी हुई, तब उसे लड़के और लड़कियों के बीच का भेदभाव समझ आने लगा, "बचपन में वह भाइयों की बराबरी के लिए लड़ने-झगड़ने लगती। लेकिन बड़ी होने के बाद समझ गयी कि लड़के 'आकाश कुसुम' होते हैं और लड़कियाँ 'पांव की धूल'।"[13] आलोच्य कहानी में ही जब सुनयना के दस साल बाद भी कोई बच्चा नहीं हुआ, तो डॉक्टर के पास इलाज कराने के लिए पति-पत्नी दोनों जाते हैं तथा डॉक्टर सुनयना को ठीक बताकर सुनयना के पति में ही दोष बतलाते हैं "एकाएक सुनयना के पति को तो जैसे 'काठ मार गया' डॉक्टर के सामने उसकी बोलती बंद हो गयी।"[14] इस प्रकार मिथिलेश्वर ने सुंदर एवं सटीक मुहावरे का प्रयोग किया है। भारतवासियों का जीवन सदैव कलात्मक रहा है। उसके गृह-निर्माण से लेकर घरौंदा बनाने तक में एक विशेष प्रकार की कला दिखलाई पड़ती है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से लोककला को अनेक भागों में विभाजित किया है, जिनमें मुख्यतः 1. चित्रकला 2. मूर्तिकला 3. वास्तु कला 4. अल्पना 5. गोदना 6. मेहंदी 7. महावर 8. विविध कला। मिथिलेश्वर की कहानियों में चित्रकला, अल्पना एवं गोदना जैसे लोककलाओं का चित्रण हुआ है, जिनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है भारतीय चित्रकला के नमूने यत्र-तत्र प्रदर्शनीय एवं सार्वजनिक स्थानों में दृष्टव्य है, परंतु उन चित्रों की तरफ ध्यान नहीं देता, जो हमारे घरों, चौराहों एवं गाँवों में विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। मनुष्य आनंद एवं उल्लास के अवसरों पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं तथा हल्के-गहरे रंगों से उस संसार को चित्रित करता है, जो उसका अपना है। जिसमें बनावटी एवं दिखावें की कोई छाप नहीं होती, इन चित्रों में उसका सच्चा हृदय अंकित होता है। इन आडंबरहीन और मौलिक चित्रों से मनुष्य के सच्चे स्वभाव का पता लगता है। इन्हीं लोक कलाओं में मनुष्य की सुंदर भावनाओं का संसार छिपा रहता है, यदि इन्हें उनके जीवन से हटा दें, तो जीवन जीने योग्य ही नहीं रह पायेगा। विवाह के अवसरों पर घर की लिपाई -पुताई कर दीवारों पर देशी रंगों में अनेक चित्र बनाए जाते हैं, वे बड़े अद्भुत होते हैं। इस तरह चित्रकला के माध्यम से अपने परिवेश की लोक संस्कृति को उद्घाटित करते हैं। चित्रकला के दो रूप होते हैं भित्ति चित्र तथा पट चित्र। मिथिलेश्वर की कहानियों में चित्रकला का चित्रण निम्न रूपों में दिखाई पड़ता है 'जहाज का पंछी' कहानी में पंछी का चित्र बनाने का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी के नायक केदार के बारे में मिथिलेश्वर लिखते हैं "क ख ग घ लिखते हुए ही वह कभी किसी पंछी का चित्र बनाने लगता तो कभी किसी आदमी का।"[15] कहानीकार ने यहाँ चित्रकला को उद्घाटित किया है।

विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर अल्पना बनाने की प्रथा प्रचलित है। विवाह के अवसर पर लड़की वाले 'द्वारपूजा' के लिए अल्पना बनाते हैं। पहले द्वार के सामने की जमीन को गोबर से लीप देते हैं, फिर गेहूँ के आटे को चुटकी से लेकर जमीन पर गिराते हुए वर्गाकार, गोलाकार एवं अन्य आकृति बनाती है। यहीं पर कलश की

स्थापना की जाती है। विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर अल्पना की विभिन्न 'डिजाइन' बनायी जाती हैं, जिन्हें 'चौक पूरना' भी कहा जाता है। मिथिलेश्वर की कहानी 'जहाज का पंछी' में अल्पना का चित्रण हुआ है। विवाह के अवसर पर नाई और उसकी पत्नी अनेक कार्य करते हैं, जैसे "कभी उससे आम के 'पल्लव' लाने की फरमाइश की जाती है, तो कभी मूँज की रस्सी लाने की। उसकी पत्नी चौका पूरती हैं। मालिक के घर की औरतों के पाँव रंगती है।"[16] 'वैतरणी भौजी' कहानी में गोदना गोदने का चित्रण मिलता है। विवेच्य कहानी में नेटुओं की टोली के संबंध में मिथिलेश्वर लिखते हैं "उनकी महिलाएँ घघरा पहनतीं। उनमें से कुछ गाँव में जाकर गोदना गोदने का काम करती।"[17] इस प्रकार से मिथिलेश्वर ने अल्पना एवं गोदना के माध्यम से लोकजीवन एवं लोक संस्कृति को उजागर किया है।

निष्कर्षतः लोकवृत्त एवं लोककला लोक संस्कृति का अहम हिस्सा है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकवृत्त के अंतर्गत लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य और लोक सुभाषितों के दर्शन होते हैं तथा लोककलाओं के अंतर्गत चित्रकला, अल्पना एवं गोदना के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। हमें इन लोकवृत्त एवं लोककलाओं की सुरक्षा एवं संरक्षण के प्रति सजग रहना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीवास्तव रेखा आलेख लोककला, पृष्ठ संख्या 02
2. सत्यार्थी देवेंद्र धरती गाती है, पृष्ठ संख्या 178
3. तिवारी डॉ.कपिल (संपादक) चौमासा पत्रिका, वर्ष23, अंक72, नवंबर 2006 ई. फरवरी 2007 ई., पृष्ठ संख्या 63
4. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग2, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 18
5. निरगुणे वसंत लोक संस्कृति, प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमीभोपाल, संस्करण : पंचम (आवृत्ति) 2012 ई., पृष्ठ संख्या 111
6. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग3, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 254
7. निरगुणे वसंत लोक संस्कृति, पृष्ठ संख्या 104
8. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग1, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 102
9. परमार डॉ. श्याम भारतीय लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या 184
10. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 1, पृष्ठ संख्या 27
11. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 1, पृष्ठ संख्या 97
12. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशनइलाहाबाद, संस्करण : 1988 ई., पृष्ठ संख्या 303
13. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 19
14. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2,पृष्ठ संख्या 27
15. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 124
16. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 127
17. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 3,पृष्ठ संख्या 68

मोहब्बत के बाज़ार में ऐ 'नज़ीर' अब

कुमुद रंजन मिश्र

नज़ीर हिन्दुस्तानी के उन कुछ अवामी शायरों में से एक हैं, जिनकी रचनाओं में सामान्य जन जीवन अपनी सादगी, सहजता, स्वाभाविकता और सम्पूर्णता के साथ स्वर पाता है। नज़ीर अकबराबादी का रचनाकाल वही समय है जिसे हम हिंदी साहित्य में रीतिकाल के नाम से जानते हैं। इनका वास्तविक नाम वली मुहम्मद है। अन्य मध्यकालीन कवियों की तरह 'नज़ीर' ने भी अपने जीवन की कोई सूचनात्मक जानकारी नहीं दी है। सन् 1900 के आस–पास प्रो. अब्दुल गफूर शहबाज़ ने नज़ीर की नातिन की मदद से नज़ीर के जीवन संबंधी जो जानकारियाँ एकत्र की, वे ही आज नज़ीर के संबंध में प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। कहा जाता है कि भाषाएँ तमाम सत्ताओं को नज़रंदाज़ करती हुई अपनी रौ में अपने नए रूपाकार ग्रहण करती चली जाती हैं। पर भाषाओं के नए रूपाकार के बनने में उसे बरतने वाले समाज, समाज में रहने वाले व्यक्ति और व्यक्तियों में भी साहित्यकारों की बड़ी भूमिका होती है। आज की हिंदी जिस रूप और संरचना को प्राप्त कर सकी है उसे गढ़ने में कुछ उन रचनाकारों–कवियों का भी अविस्मरणीय योगदान रहा है जिन्हें सांप्रदायिक नकारात्मक शक्तियों ने परिदृश्य से बाहर रखने की साजिश की। नज़ीर इस साजिश के सबसे बड़े शिकार हैं।

नज़ीर अकबराबादी हिंदी साहित्य के 18वीं शताब्दी के प्रमुख कवि हैं। जिन्होंने अपने समय से आगे के युग को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। हिंदी में लम्बे समय तक नज़ीर की रचनाओं को खासा महत्व नहीं दिया गया। इधर पिछले कुछ वर्षों में नज़ीर पर कुछ एक–दो लेख जरूर प्रकाशित हुए हैं जिनमें नज़ीर की कविता के महत्व पर चर्चा की गई है। किन्तु अब भी हिंदी आलोचना में नज़ीर पर बहुत व्यवस्थित ढंग से विचार नहीं किया गया है। नज़ीर की कविता के एक दो संग्रह आये हैं जिनमें भूमिका के रूप में नज़ीर के काव्य वैविध्य पर चर्चा हुई है। इनमें से एक 'नज़ीर की बानी' नाम से फ़िराक गोरखपुरी द्वारा संपादित किताब है जिसमें उन्होंने नज़ीर की 51 रचनाओं को संग्रहीत किया है। इसकी भूमिका लिखते हुए फ़िराक़ ने बताया है कि नज़ीर सांसारिकता से अलग एकांत में रहकर कविता करने वाला कवि नहीं है जैसी आमतौर पर कवियों को लेकर धारणा प्रचलित है। नज़ीर 'दुनिया के रंग में रँगे हुए एक महाकवि थे' उनकी कविताओं की विशेषता बताते हुए फ़िराक ने लिखा है – ''नज़ीर की कविताओं में उनके समय का जीवन, हर स्तर, हर वर्ग, हर तरह, हर रंग, हर ढंग, हर अवस्था, हर स्थिति का जीवन इतने भरपूर ढंग से अपनी पूरी गतिशीलता के साथ और इतने स्वाभाविक और सजीव रूप में चित्रित हुआ है कि भाषा, संस्कृति, संप्रदाय, जाति–धर्म–सब भेद मिट गए हैं''

नज़ीर की भाषा के सम्बन्ध में भी फ़िराक का विचार महत्वपूर्ण है। फ़िराक, नज़ीर की भाषा 'बचपन' या 'लड़कपन' की उर्दू बताई है अर्थात उर्दू का आरंभिक रूप नज़ीर की कविताओं में नज़र आता है। नज़ीर की कविताओं में ठेठपन का जादू है। वास्तव में फ़िराक ने नज़ीर की भाषा की तुलना अनीस, चकबस्त, और इकबाल से करना अन्यायपूर्ण माना है। फ़िराक की दृष्टि में विषय–प्राचुर्यता की दृष्टि से नज़ीर सबसे महत्वपूर्ण

कवि हैं। इधर कुछ वर्ष पूर्व बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो. आशीष त्रिपाठी ने नज़ीर की रचनाओं के सन्दर्भ में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'महिमा भी रहे जिसका नाम नज़ीर' इस लेख में प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की कविताओं पर गंभीरता से विचार किया है। उन्होंने नज़ीर को प्रत्यक्ष के कवि के रूप में नागार्जुन का पूर्वज बताया है। नज़ीर की कविताओं पर बात करते हुए उन्होंने नज़ीर को इहलोक का कवि बताया है जिसके लिए परलोक से ज्यादा महत्वपूर्ण इहलोक है। वह इहलोक जिसे हम प्रायः 'माया' मानते आये हैं नज़ीर ने उस पर कविता की। नज़ीर की भारतीय समाज की समझ पर विचार करते हुए उन्होंने बताया कि नज़ीर भारतीय समाज की समझ रखने वाले कवियों में सबसे बेहतर है। उन्होंने नज़ीर को आधुनिक कवि माना है। वे लिखते हैं – ''हिन्दुस्तान में उभरती हुई लौकिक चेतना के पहले बड़े कवि नज़ीर अकबराबादी हैं। नज़ीर भारतेंदु, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के पूर्वज हैं।''

कविता की दुनिया को अस्पृश्यता से मुक्त कराने वाले कवि के रूप में प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की कविता का उल्लेख किया है। नज़ीर अपने आस–पास के तमाम चीजों को, घटनाओं को, व्यक्ति को कविता का विषय बनाते हैं। उनके यहाँ कविता के विषय को लेकर कोई छुआछूत की भावना नहीं है। प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की काव्य–चेतना की तुलना कबीर से करते हैं । वे बताते हैं नज़ीर की काव्य–चेतना कामगर वर्ग की काव्य चेतना है ठीक उसी तरह जैसे कबीर की काव्य चेतना शिल्पी वर्ग की है। प्रो. त्रिपाठी नज़ीर को काव्य–शास्त्र के तमाम नियम तोड़ने वाले कवि के रूप में देखा है। वास्तव में नज़ीर की कविता छंद अलंकार के नियमों से इतर है। नज़ीर संबंधी एक और लेख सत्यकेतु सांकृत ने लिखा है। इसका शीर्षक है 'साझी विरासत का प्रथम आधुनिक हिंदी कवि नज़ीर' इस लेख में जैसा की शीर्षक से स्पष्ट है प्रथम आधुनिक हिंदी कवि के रूप में नज़ीर पर विचार किया है। इसके साथ ही सांकृत जी ने फ़िराक़ के हवाले से नज़ीर के सांस्कृतिक पक्ष पर भी विचार किया है। उन्होंने नज़ीर की काव्य–चेतना पर विचार करते हुए, रीतिकालीन सामंती काव्य–चेतना से अलग बताया है। वास्तव में नज़ीर के यहाँ जन–साधारण की चेतना ठीक कबीर की ही भाँति है। नज़ीर जहाँ 'मुफलिसी' की बात करते हैं जहाँ 'आटे–दाल का भाव' करते हैं 'बरसात की बहारें' लिखते हुए भी उनके यहाँ साधारण जनता का पक्ष आता है। सांकृत जी उर्दू और हिंदी में नज़ीर पर विचार करते हुए दोनों साहित्य में नज़ीर की उपेक्षा का कारण तत्कालीन आलोचना का अविकसित अवस्था में होना बताते हैं। इन्होंने नज़ीर के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण बात कही वह ये कि शुक्ल जी ने प्रतापनारायण मिश्र के सम्बन्ध में जिस 'पद्यात्मक निबंध' की बात कही दरअसल वह फ़ारसी की नज़्म है जो सबसे अधिक नज़ीर के यहाँ निखर के आती है – ''शुक्ल जी ने 'मुक्तक' और 'प्रबंध काव्य' के अतिरिक्त नए प्रकार की काव्यविधा 'पद्यात्मक निबंध' का उल्लेख किया है। 'पद्यात्मक निबंध' वस्तुतः फारसी की 'नज्म' है, जिसे 'हिंदी/हिंदवी' कवियों ने अपनाया था, पर गजल के सामने वह दबी रह गई थी। उसे पहली बार नज़ीर अकबराबादी ने महत्व दिया था। वस्तुतः नज़ीर अकबराबादी इस काव्यविधा के सबसे बड़े हिंदी कवि हैं, पर शुक्ल जी ने यह श्रेय उन्हें नहीं दिया है। शुक्ल जी के अनुसार प्रतापनारायण मिश्र ने अपने लिए इस विधा का चयन किया।''

सांकृत जी नज़ीर को जनकवि बताते हुए उनकी तुलना कबीर से करते हैं। वे आचार्य शुक्ल द्वारा की गयी नज़ीर की उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'बहुत दिनों तक आचार्य शुक्ल की यह धारणा बनी रही कि खड़ी–बोली कविता का माध्यम नहीं बन सकती' शुक्ल जी द्वारा कबीर की उपेक्षा का कारण भी उन्होंने कुछ हद तक यही माना है और नज़ीर की उपेक्षा को भी वे शुक्ल जी की 'शिष्ट साहित्य' की अवधारणा से जोड़ते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है की सत्यकेतु सांकृत ने भी नज़ीर पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने का प्रयास किया है। स्पष्ट है कि हिंदी आलोचना और इतिहास में नज़ीर पर बहुत कम चर्चा हुई है। गार्सा–द–तासी से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक हिंदी साहित्य के इतिहास में नज़ीर की उपस्थिति तो मिलती है किन्तु यह उपस्थिति उनके आंशिक साहित्य अर्थात उनकी कुछ–एक रचना के आधार पर ही। उपर्युक्त इतिहासकारों के समक्ष संभवतः नज़ीर के सम्पूर्ण साहित्य का अभाव रहा होगा। यही कारण है कि इन इतिहास ग्रंथों में नज़ीर से सम्बन्धित सूचनाएं भ्रामक हैं। प्रायः इतिहास ग्रंथों में तो उनकी रचनाओं के नाम भी नहीं मिलते। नज़ीर से संबंधित प्रामाणिक सूचनाएं केवल बच्चन सिंह के यहाँ मिलती हैं, चाहे वह रचनाकाल से संबंधित सूचना हो या उनकी रचनाओं से संबंधित हो। 'मिश्रबंधु–विनोद' में तो नज़ीर का समय और रचना दोनों ही भ्रामक है।

हिंदी के आरंभिक इतिहास में नज़ीर की उपस्थिति प्रायः दर्ज है, इसका एक–मात्र अपवाद 'शिवसिंह–सरोज' है। शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास में नज़ीर का उल्लेख नहीं किया है। आचार्य शुक्ल के बाद के इतिहासकारों में बच्चन सिंह के अतिरिक्त अन्य किसी इतिहास में नज़ीर का उल्लेख नहीं मिलता। न डॉ. नगेंद्र के यहाँ और न ही रामस्वरूप चतुर्वेदी के यहाँ। हिंदी के लोकवादी इतिहासकार माने जाने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि भी नज़ीर पर नहीं जाती। नवीन इतिहासकारों में नज़ीर की उपेक्षा एक गंभीर दोष है। क्योंकि यह केवल नज़ीर की उपेक्षा नहीं है अपितु यह मेल–जोल की उस पूरी संस्कृति की उपेक्षा है, जिसे हम सामासिक अथवा साझी संस्कृति कहते हैं तथा इसके सबसे बड़े नायक नज़ीर हैं। उस काल विशेष में उस प्रगतिशीलता की उपेक्षा की गयी जो आज कविताओं में खोजी जाती है और सबसे महत्वपूर्ण उस साधारण जन–जीवन की उपेक्षा की गयी, जिसकी अभिव्यक्ति नज़ीर की कविताओं में मिलती है।

वस्तुतः यह प्रश्न उपस्थिति–अनुपस्थिति का नहीं है यह प्रश्न इतिहास बोध का है। प्रश्न साहित्य–विवेक का है। इतिहास में नज़ीर की उपेक्षा कोई साधारण बात नहीं है ठीक उसी तरह जैसे कबीर और मीरा की उपेक्षा साधारण बात नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद पर व्यवस्थित रूप में बात नहीं होती है मीर पर बात नहीं होती है वली दक्कनी पर बात नहीं होती। यह कोई साधारण बात नहीं है। ये महज एक इत्तेफाक नहीं है कि आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे ही मुसलमान कवि मौजूद हैं जिनका झुकाव हिन्दू संस्कृति की ओर है। चाहे हम रहीम और रसखान की बात करें या जायसी की। नज़ीर की उपस्थिति भी आचार्य शुक्ल के इतिहास में इसी वजह से है। क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल ने नज़ीर की चर्चा करते हुए वे ही पद प्रस्तुत किए जिनका संबंध कृष्ण से है। नज़ीर ने 'रोटीनामा' लिखा 'आदमीनामा' लिखा 'आटे दाल का भाव' लिखा 'रूपये की फिलासफी' लिखी 'पेट की फिलासफी' लिखी किन्तु इन सब पर

बात नहीं होती है। समस्या यहाँ है। आचार्य शुक्ल स्वयं कहते हैं "सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूंढा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल व मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुंह में चारा डालते हुए परिवारों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में भी कभी–कभी सौन्दर्य के दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।" नज़ीर की कविताओं में 'कौए और हिरण की दोस्ती' है, 'रीछ का बच्चा' है 'गिलहरी का बच्चा', 'बुलबुलों की लड़ाई', 'आगरे की तैराकी', 'आगरे की ककड़ी' आदि ऐसी कविताएँ है जो महलों और दरबारों के चमत्कारिक और सौंदर्यपूर्ण काव्य–विधाओं से कोसों दूर है। ऐसे में क्या कारण हो सकते हैं कि नज़ीर को हिंदी आलोचना और इतिहास में इस तरह भुला दिया गया? क्या आलोचकों की दृष्टि के आगे रीतिकाल की प्रवृत्ति हावी हो गई? क्या रीतिकाल का युगबोध आलोचकों को नज़ीर के साहित्य की ओर जाने से रोकता है? या रामचंद्र शुक्ल का अनुकरण करते हुए आलोचकों की दृष्टि, धारा–विशेष से अलग हटकर रचने वाले साहित्यकारों की ओर नहीं गयी। या उर्दू साहित्य में भी होने के कारण हिंदी आलोचना नज़ीर की ओर से विमुख हो गयी? संभवतः शुक्ल जी के यहाँ मज़हब का भी कुछ महत्व था अन्यथा जायसी के सन्दर्भ में वे यह नहीं कहते – ''इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ, हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता के साथ कहकर...''।

यदि रीतिकालीन प्रवृत्ति के हावी होने की बात है तो रीतिमुक्त कविता का विधान किस लिये था? वास्तव में बात यह है कि हिंदी के इतिहासकार, वैसी रचनाशीलता जो दोनों तहजीबों के बीच कोई सेतु बनाती है, को समझने के लिए तैयार नहीं थे और यह बात केवल हिंदी में नहीं है अपितु उर्दू साहित्य का भी यही हाल है। स्वाधीनता आंदोलन की इसी पृष्ठभूमि में ही हमारा इतिहास बोध विकसित हुआ, नवजागरण की पृष्ठभूमि भी यही थी। सन् 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने हिन्दू–मुसलमानों में फूट डालना आरंभ किया। इसका प्रभाव हमारे इतिहास बोध पर भी पड़ा। हिंदी–उर्दू के साहित्य में भेद की नींव ग्रियर्सन ने रखी–

बाद के इतिहासकार भी उनका अनुकरण करते चलते हैं। शुक्ल जी भी अपने इतिहास ग्रंथ में हिंदी–उर्दू पर टिप्पणी करने से बच नहीं पाते। उनका मानना है कि ''यदि शब्दावली की भिन्नता नहीं होती तो हिंदी उर्दू का साहित्य एक होता'' वास्तव में शुक्ल जी को यहाँ यह समझना चाहिए कि शब्दावली की भिन्नता तो मैथिली और अवधी के साथ भी है क्या इन दोनों का साहित्य एक नहीं है? हिंदी–उर्दू पर शुक्ल जी का यह कथन भी देखिये ''हम भोली–भाली जनता को इस हिन्दुस्तानी से सावधान करना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है।'' वास्तव में ये विचार इतिहास लेखन के क्रम में भी हावी थे। यह समस्या हिंदी–उर्दू के लगभग इतिहासकारों के साथ रही है।

संक्षेप में हम कहेंगे कि हमारा जो इतिहास–बोध विकसित हुआ उसकी ज़मीन नफरत की ज़मीन थी जो ब्रिटिश–कालीन भारत में तैयार हुई है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यह एक गहरा घाव था जिसने हमारे समाज में, हमारी संस्कृति में, हमारी भाषा में भेद पैदा कर दिया। इसी अलगाववाद का शिकार हमारी आलोचना दृष्टि हुई और इसने हमारे इतिहास–बोध को भी प्रभावित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो

लोग दोनों संस्कृतियों को जोड़ कर देखते थे अथवा इन दोनों संस्कृतियों में फर्क नहीं समझते थे उन्हें नजरंदाज किया गया। नज़ीर भी इसका शिकार हुए हैं। नज़ीर हिंदी के कवि हैं इसमें कोई दो राय नहीं है ठीक उसी तरह जैसे जायसी, तुलसी और भारतेंदु हिंदी के कवि हैं। नज़ीर, भारतेंदु के अग्रज हैं अतः हिंदी कविता में आधुनिकता का प्रस्थान नज़ीर से माना जाना चाहिए। उनके यहाँ मार्क्स से भी पहले प्रगतिशील स्वर की झलक मिलती है। हिंदी साहित्य के इतिहास में यदि नज़ीर को नहीं समझा गया तो वास्तव में उस सांस्कृतिक संगम को, उस लगाव को नहीं समझा गया। वास्तव में यह नज़ीर की या उनके साहित्य की कमजोरी नहीं है। ये कमजोरी हमारे इतिहास लेखन की है, हमारी आलोचना दृष्टि की है। अतः यदि हिंदी साहित्य का एक मुकम्मल इतिहास लिखना है तो हमें हिंदी–उर्दू दोनों को साथ लेकर चलना होगा।

संदर्भ :

- गोरखपुरी, फ़िराक़, नज़ीर की बानी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृष्ठ संख्या संख्या– 8–9
- सिंह, डॉ. प्रभाकर, रीतिकाव्य मूल्यांकन के नए आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृष्ठ संख्या – 284
- http://www-hindisamay.com/content/7309/1/रचनाकार–सत्यकेतु–सांकृत–की–आलोचना–साझी–विरासत–का–प्रथम–आधुनिक–हिंदी–कवि–नज़ीर.cspx
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; चिंतामणि; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 2015; पृष्ठ संख्या – 108
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 2014, पृष्ठ संख्या – 89
- Grierson, George A., The Modern Vernacular Literature of Hindustan, Asiatic Society Calcutta, 1889, Preface (vii-viii)
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 2014, पृष्ठ संख्या – 58
- सिंह, ओमप्रकाश; आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2007; पृष्ठ संख्या – 72

छत्तीसगढ़ के मौखिक स्रोतों में गांधी दर्शन

डॉ. सरिता साहू

सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी के छत्तीसगढ़ में साक्षरता का प्रतिशत नाम मात्र था । तत्कालीन छत्तीसगढ़ की जनसंख्या का एक बड़ा भाग ग्रामों में निवास करता था । किन्तु समृद्ध परंपराओं के कारण यहाँ के निवासी व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण एवं आर्थिक रूपसे संपन्न थे । छत्तीसगढ़ में घटित अंग्रेजी विरोधी घटनाओं पर गौर करें तो राष्ट्रीय चेतना जागृत होने व इसके व्यापक प्रचार प्रसार का प्रमुख साधन यहाँ की परंपराएं रही हैं । यहाँ की जनता को जागृत करने में लोकगीतों, लोकनाट्यों व परंपराओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । संचार के साधनों के कमी के कारण कांग्रेस की शुरुआती गतिविधियाँ मात्र जिला मुख्यालयों तक सीमित थी किन्तु कालान्तर में पारंपरिक ददरिया, छेरछेरा, करमा गीत, सुआ गीत, नाचा आदि के माध्यम से गांधीजी के सत्याग्रही विचार एवं अंग्रेज विरोधी भावनाओं का प्रचार प्रसार सरगुजा से लेकर सुदूर बस्तर तक हुआ । इस माध्यम ने ग्रामीण जनता की भावनाओं को झकझोर कर उनके राष्ट्रीय आंदोलनों में भागीदारी को सुनिश्चित किया। समय के प्रवाह में कुछ वाचिक परंपरा से प्राप्त स्रोत प्रासंगिक नहीं रहने के कारण विस्मृत हो गए हैं । किन्तु कुछ स्रोतों के संग्रहण व संरक्षण का कार्य हमारे वरिष्ठजनों ने बखूबी किया । इन स्रोतों के अध्ययन से स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में यहां की परंपराओं का महत्वपूर्ण स्थान था । इस शोध पत्र मं उन्हीं समकालीन स्रोतों की महत्ता एवं उपादेयता के आकलन का प्रयास किया गया है।

छत्तीसगढ़ में अंग्रेजों का प्रत्यक्ष प्रभाव सन 1818 के तृतीय आंग्ल मराठा युद्ध के पश्चात पड़ना शुरू हुआ । इसके साथ ही मराठों का प्रभाव व दिल्ली फतह की उनकी महत्वाकांक्षा लगभग समाप्त हो गई । तदन्तर नागपुर के तत्कालीन नरेश अप्पाजी द्वारा अंग्रेजों के साथ की गई अपमानजनक संधि के अनुसार छत्तीसगढ़ का एक बड़ा भूभाग सरगुजा सीधे-सीधे अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया ।[1] अंग्रेजों ने परसों जी के अल्प वयस्क पुत्र रघु जी तृतीय को राजा बना कर संपूर्ण नागपुर राज्य का शासन अपने हाथों में ले लिया । इस प्रकार तत्कालीन छत्तीसगढ़ जो नागपुर मराठा राज्य का ही एक भाग था अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया अंग्रेजों ने अपने अधिकृत क्षेत्रों का भरपूर शोषण किया और यहां की संपन्नता को लूटने में कोई कसर नहीं छोड़ी । रघु जी के वयस्क होने के पश्चात अंग्रेजों ने संधि के अनुसार उन्हें मराठा राज्य सन् 1830 में विभिन्न चरणों में सौंपा ।[2] डलहौजी की विलय नीति का प्रभाव नागपुर राज्य में भी

पड़ा इस राज्य के अंतिम मराठा शासक रघु जी तृतीय की 11 दिसंबर 1853 में मृत्यु हो गई ।[3] निःसंतान होने के कारण, उनके मौत के पश्चात संपूर्ण नागपुर राज्य अंग्रेजों द्वारा हड़प ली गई। वस्तुतः भारत में अंग्रेज व्यापारी बनकर आए थे । व्यापार की आड़ में धीरे-धीरे उन्होंने पूरे भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था। स्थानीय राजाओं को हटाकर वे भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना करने में कामयाब हुए । इस असंतोष की भावना का चित्रण अधोलिखित ददरिया की पंक्तियों में मिलता है :-

आइस विलायत ले, करीन रोजगार। झट राजा बन बैठिन, कहां के हकदार।। [4]

अंग्रेजों ने यहाँ की धन संपदा को मनमाने तरीके से लूटा । लोगों पर तरह-तरह से अत्याचार किये । भारतीयों के मान-सम्मान को उन्होंने अपने पैरों तले कुचल दिया । अहीर जाति द्वारा गाए जाने वाले बाँसगीत में भी इन आहत भावनाओं के दर्शन होते हैं :-

गै राजा रजवाड़े भाई हो, अउ गए परजा के फेर मान हो।

आ गए राज फिरंगी के भाई, फेर धरसा में बोजागे धान हो। [5]

बांस गीत के इस दोहे में कहा गया है कि राजा और उनके राज समाप्त हो गए हैं। प्रजा का मान भी नष्ट हो गया है, अब हमारा धान फिर गढ्ढे में चला जाएगा अर्थात् अंग्रेज हमारा सब अन्न लूट लेंगे और अपमान भी करेंगे। दो पंक्तियों का यह बांसगीत, छत्तीसगढ़ की जनता की गुलामी का दर्द बयान करने में सक्षम है । अंग्रेजी शासनकाल में मंहगाई के कारण आम जनता त्रस्त थी इसका प्रभाव सुदुर वनवासी अंचलों में भी पड़ा । हल्बी बोली के गीतों में इसका चित्रण कुछ इस प्रकार मिलता है -

अंगरेज राज कंगाल होली, गोटक रुपिया चाउर सोली। [6]

(अंग्रेजो के राज्य में हम कंगाल हो गये। एक रुपये में हम सोली चाँवल कैसे खरीदें।)

मराठों के पतन के साथ ही सन् 1853 से छत्तीसगढ़ भी अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया । यहाँ के भोले-भाले नागरिकों पर कर का बोझ लादने एवं स्थानीय देवी देवताओं, स्थापित परंपराओं व सम्माननीय व्यक्तियों की अवहेलना के कारण छत्तीसगढ़ की जनता भी अंग्रेजी राज्य से असंतुष्ट थी । उन्हें ऐसा लगने लगा कि अंग्रेज हैजे की बीमारी की तरह द्रुत गति से फैलकर सोनचिरैया कहलाने वाली हमारी मातृभूमि को मिट्टी का बना दिए हैं । अंग्रेजों के इस प्रकार के शोषण का उल्लेख छत्तीसगढ़ी ददरिया में मिलता है-

धुंकी साही अंग्रेज, भुइयाँ म छाइगे। सोना के चिरईया माटी के होइगे।। [7]

(इस धरती पर अंग्रेज हैजे की बीमारी की तरह फैल गये हैं हमारी मातृभूमि जो सोने की चिड़िया कहलाती थी आज मिट्टी की हो गई है।)

उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध, भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शाखाएं अब पूरे भारत में फैल गई थी । 13 अप्रेल सन् 1919 को हुई जालियांवाला बाग नरसंहार की घटना ने पूरे भारत को झकझोर दिया था । इसी समय गांधीजी कांग्रेस के महानायक के रूप में उभरे । गांधीजी के विचारों को भारत की जनता ने बहुत ही ध्यान से सुना और उसका अनुकरण भी किया । छत्तीसगढ़ की जनता भी गांधीजी के विचारों से ओतप्रोत हुई, जो यहाँ के लोकगीत ददरिया में भी दिखाई दिया।

लाए ला माटी बनाए ला मटका। गांधी बबा के कहे ठौका-ठौका ।। [8]

(जिस प्रकार मिट्टी लाकर कुम्हार मटका बनाता है । उसी तरह हमने अपना बल, बुद्धि, विवेक गांधी के चरणों में समर्पित कर दिया है। गांधीजी सत्य के पुजारी हैं वे सहीं सहीं कहते हैं।)

गांधीजी मात्र स्वतंत्रता संग्राम सेनानी नहीं थे । सहीं मायनों में वे उच्चकोटि के राजनैतिक, संत, महान समाज सुधारक, अर्थशास्त्री, पंचायती राज के हिमायती, पथ प्रदर्शक, साहित्यकार के साथ ही महान विचारक एवं युगदृष्टा थे । गांधीजी के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय भावना के साथ साथ एक जनचेतना का उदय हुआ । इसलिए सन् 1920 के पश्चात उनकी मृत्यु तक का काल गांधी युग के नाम से जाना जाता है । गांधीजी ने भारत की पराधीनता के साथ- साथ यहाँ फैली विभिन्न प्रकार की कुरीतियों पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया । गांधी जी की ये विशेषता खेतों और खलिहानों में भी गूंजने लगी।

आमा रे आमा, आमा के चानी। बाबा गॉधी, भारत माता के दरद जानी।। [9]

राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में गांधीजी के तीन महत्वपूर्ण आंदोलनों ने जनव्यापी आंदोलन बनकर ब्रिटिश सत्ता की नींव हिला दी । सन् 1920 का असहयोग आंदोलन, 5 अप्रेल सन् 1930 का सविनय अवज्ञा आंदोलन, 8 अगस्त सन् 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन प्रमुख हैं। सन् 1920 का असहयोग आंदोलन की उद्घोषणा से ठीक एक सप्ताह पूर्व कंडेल सत्याग्रह में भाग लेने गांधीजी 20 दिसंबर सन् 1920 को पहली बार छत्तीसगढ़ आए। [10]

गाँधीजी के छत्तीसगढ़ आगमन से ही यहाँ की राजनीति व लोकसंस्कृति गांधीमय हो गई। यहाँ की जनता ने उनके चमत्कारिक व्यक्तित्व व सादगीपूर्ण जीवन को बहुत ध्यान से देखा।

उन्होंने महसूस किया कि गांधीजी के रायपुर में चरण पड़ते ही गोरी हुकुमत ने किसानों की कुर्क की गई संपदा एवं पशुधन निःशर्त वापस की । ब्रिटिश सरकार ने किसानों के ऊपर आरोपित सभी प्रकरणों को एक तरफा समाप्त करने का निर्णय लिया।

सत्य की सदैव जीत होती है तथा अहिंसा के द्वारा कठिन से कठिन लड़ाई भी जीती जा सकती है । छत्तीसगढ़ की जनता ने गांधीजी के इन संदेशों का प्रभाव भंली भांति देखा । गांधीजी छत्तीसगढ़ से सीधे कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने नागपुर पहुंचे । उनके विचारों से ओतप्रोत यहाँ के अनेंक नेतागण भी उनके साथ नागपुर अधिवेशन में भाग लेने पहुंचे। नागपुर के 35 वें अधिवेशन में असहयोग आंदोलन की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गई |[11]इस अधिवेशन से गांधीजी ने असहयोग आंदोलन की शुरुआत की और सरकारी लगान नहीं पटाने तथा सरकारी उपाधियों के त्याग करने की अपील की । उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का बहिष्कार करने और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया। सत्याग्रह से प्रभावित होकर ठाकुर प्यारेलाल सिंह, पंडित राम नारायण तिवारी ने वकालत एवं पंडित यादव राव देशमुख ने सरकारी नौकरी छोड़ी। वामन राव लाखे, कल्याणजी मोरारजी, सेठ गोपी किशन, काजी शमशेर खान ने अपनी उपाधि त्याग दी।[12] विधानसभा का बहिष्कार भी तीन बार यहाँ के लोगों के द्वारा की गई जो सत्याग्रह की सफलता का पर्याय है । असहयोग आंदोलन में बस्तर के लोगों की सहभगिता रही जो निम्न हल्बी गीत से स्पष्ट है।

असहयोग करुंदे, सत्याग्रह करुंदे,

बिगर हथयार, धरम लड़ई आमी लड़ुंदे, दखेदे संवसार ।

(हम असहयोग करेंगे। सत्याग्रह करेंगे। बिना अस्त्र-शस्त्र के लड़ेंगे। यह हमारा धर्मयुद्ध होगा। सारा संसार इसे देखेगा।)

इस आंदोलन मेंगॉधीजी ने राष्ट्रीय पंचायतों की स्थापना पर जोर दिया ।[13] धमतरी क्षेत्र में इस प्रयास को बहुत अच्छा प्रतिसाद मिला । रायपुर शहर में राष्ट्रीय पंचायत का संगठन 4 मार्च सन् 1921 को किया गया ।[14] कांग्रेस के आव्हान के अनुसार शासकीय कोर्ट का बहिष्कार कर राष्ट्रीय पंचायतों में प्रकरण निपटाने का प्रयास किया गया । इस भावना से ओतप्रोत हल्बी भाषा के गीत मिलते हैं-

इरखा कुचुर बाहिर डाला, सबके मिलावा,

गांव चो झगड़ा गांव टूटो, पंच वसावा । हो पंच वसावा। छेर छेर।[15]

(ईर्ष्या-द्वेष की भावना को समाप्त करने के लिए, व झगड़ा-फसाद के निपटारे के लिए पंचायत की स्थापना हो। छेर छेर।)

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार भी असहयोग आंदोलन की एक प्रमुख कड़ी थी । ब्रिटिश कपड़ा मिलों में तैयार होने वाले आकर्षक वस्त्र भारतीय जनता के मध्य प्रचलित था । ये कपड़े दिखने में आकर्षक होने के साथ-साथ सस्ते भी थे । अंग्रेजों के लिए यह राजस्व प्राप्ति का बड़ा साधन था । गांधीजी के अनुरोध से यहाँ विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने, विदेशी कपड़ों की होली जलाने एवं खादी अपनाने के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

खेलत है लछिमन जती हो, राम जी धनुषधारी।

सब कपड़ा ले कते कपड़ा भारी हो,राम जी .....

सब कपड़ा ले खादी कपड़ा भारी हो, राम जी। [16]

छत्तीसगढ़ की महिलाओं में डॉ राधा बाई, मनटोरा बाई, अंजनी बाई, केतकी बाई, फूलकुंवर, रुक्मणी बाई आदि ने विदेशी सामानों के बहिष्कार हेतु अनेक आम सभाएं एवं आंदोलन की । जगह-जगह सूत कातने का प्रशिक्षण दिया जाने लगा। लोग विदेशी कपड़ों की वस्तुओं को त्यागने लगे । महिलायें मंदिर में एकत्रित होती तथा वहाँ वे धर्म-कर्म की चर्चा के साथ सत्याग्रह और देश-विदेश में होने वाले इस तरह के आंदोलन की चर्चा भी करती थी । वे सलाह मशवरा करती थी कि विदेशी वस्त्रों की होली कहां पर जलाए जहां विदेशी वस्त्र बिकते थे वहां सभी महिलाएं दुकान के सामने जाकर लेट जाती थी और कहती थी कि यदि विदेशी वस्त्र आपको खरीदना है तो हमारे ऊपर से चलकर आप विदेशी वस्त्र खरीदें । हमारी भारतीय संस्कृति में महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यहां पर उनकी जीत हुई । वे विदेशी वस्त्र बेचने वाले दुकानदारों से भी निवेदन करती थीं कि वह विदेशी वस्त्रों को ना बेचें। कई जगह दुकानदारों ने उनकी बात मानकर विदेशी वस्त्रों की बिक्री बंद कर दी । इसके साथ ही यहां स्वयं सेवकों द्वारा जगह-जगह चरखों से सूत कातने का प्रशिक्षण भी दिया गया । इन प्रयासों से यहां के लोग विदेशी कपड़े की जगह खादी अपनाने लगे।17 लोकगीत ददरिया में भी खादी अपनाने एवं इसके प्रचार की बात निम्नानुसार दिखाई देती है-

नानकुन छोकरा पहिरे ला पागी, गांधी बबा के कहे पहिरबो खादी।[18]

(छोटा बालक पगड़ी पहनकर कहता है। गाँधी बाबा के कहने से मैं खादी पहन रहा हूँ।)

मद्य निषेध भी इस आंदोलन का एक महत्वपूर्ण भाग था । मद्य निषेध छत्तीसगढ़ में अत्यंत प्रभावी रहा । सन 1921 में स्थिति देखने में आई कि रायपुर में शराब, गांजा, अफीम जैसे नशीले पदार्थों की बिक्री हेतु नीलामी बोलने के लिए कोई भी आगे नहीं आया। मद्य निषेध के प्रभाव का इससे भी आकलन किया जा सकता है कि यहां बसने वाले कलार, जिनका पारंपरिक व्यवसाय शराब उत्पादन व विपणन है । इन्होंने भी अपना परंपरागत व्यवसाय छोड़कर गांधी जी के आंदोलन को पूरा सहयोग दिया । बस्तर के लोक जीवन में शराब अनेक धार्मिक व दैनिक क्रियाकलापों के लिए आवश्यक पदार्थ है । किंतु वनवासी भाइयों ने भी असहयोग आंदोलन को सफल बनाने मद्य निषेध को स्वीकार किया था।

मतवार भाई मंद चो भाटी, देहे चो भाटी काजे।

घुरुन पड़ले घसरी जीविस, जीव माया चो राजे, भगति भाव ने जा

ए हिड़तो बीता, झपके झपके पॉव बढ़ाठन जा।।[19]

(शराबी भाई, शराब की भट्टी से मोह छोड़, राष्ट्रप्रेम कर।)

चौरी चौरा कांड के पश्चात असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया, जिसका पालन छत्तीसगढ़ में भी हुआ । इसके पश्चात् झंडा सत्याग्रह के तहत् सन् 1923 में चरखे युक्त तिरंगे झंडे को कांग्रेस ने अपने प्रतीक के रूप में चिन्हित किया । तदन्तर प्रत्येक कांग्रेसी सभा व जुलुस में झण्डा लेकर कार्य करने की परंपरा शुरू हुई। छत्तीसगढ में झंडा सत्याग्रह का पालन कर अनेक सत्याग्रहियों ने हाथों में झंडा लेकर जुलुस निकाला । झंडा सत्याग्रह का भाव यहाँ की प्रतिनिधि लोकगीत ददरिया में निम्नानुसार प्रकट हुआ -

गोरी के अचरा भुइयाँ म झूले, गाँधी जी के झंडा दुनिया म फिरे। [20]

सन 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन नें भी छत्तीसगढ़ में गहरी छाप छोड़ी । सरकारी कानूनों की अवहेलना कर यहां की जनता नें गिरफ्तारी दी । गटासिल्ली, महासमुन्द, दुर्ग, बिलासपुर व रायपुर में भी सरकारी कानून तोड़ने के आरोप में बहुत से राष्ट्रप्रेमी गिरफ्तार हुए।

दिया मांगे बाती, बाती मांगे तेल। सुराज लेबो अंग्रेज, कतेक देबे जेल।।

(दीप को जलाने के लिए दीपक और तेल की आवश्यकता होती है । अग्रेजों हम स्वराज लेकर रहेंगे, चाहे जितना जेल में डाल दे।)

छत्तीसगढ़ में कुछ सत्याग्रही पुलिस की बर्बरता के भी शिकार हुए । कुछ लाठियों व पुलिस गोली से शहीद भी हुए किन्तु इनका हौसला कम नही हुआ । इसी दौरान यहां सत्याग्रही

आश्रम की भी शुरूआत हुई । इस आश्रम के माध्यम से 1 सप्ताह के प्रशिक्षण के पश्चात सत्याग्रही गांधी टोपी पहनकर व तिरंगा झंडा लेकर राष्ट्रीयता का प्रचार करते थे । इस क्षेत्र में गांधी टोपी पहनने का पर्याय सत्याग्रह से होता था।

बागे बगीचा दिखे ल हरियर। टोपी वाला नइ दिखे बदे हौं नरियर।।

(बगीचा हरियाली से भरा हुआ है । नारियल की मनौती मानकर टोपी वाले (सत्याग्रही) की राह देख रही हूँ ।)

द्वितीय गोलमेज परिषद की असफलता के पश्चात मैकडोनाल्ड ने सन 1932 में कम्युनल अवार्ड की घोषणा की।21 इस घोषणा के विरोध स्वरूप गांधी जी ने सन् 1932 में अछूत उद्धार कार्यक्रम की शुरूआत की । इस सिलसिले में गांधीजी 22.11.1933 से 28.11.1933 तक छत्तीसगढ़ में रहे । अपने द्वितीय प्रवास में गांधी जी ने अस्पृश्य बंधुओं को हरिजन कहकर जातीय भेदभाव समाप्त करने की अपील की । हालांकि यह पता चलने पर की पं सुंदरलाल शर्मा छत्तीसगढ़ में अछूतोद्धार का कार्य कर रहे हैं, गांधी जी ने बड़ी ही बेबाकी से कहा कि इस दिशा में मैं शर्मा जी को अपना गुरु मानता हूं ।22 तत्कालीन परिदृश्य में लोकनाट्य ने भी इस भावना के संप्रेषण में अहम भूमिका निभाई । गम्मत (नाचा का एक नाटकीय भाग) की प्रस्तुति के माध्यम से छुआछूत मिटाने की अपील भी की जाती थी । सन् चालीस के दशक में जब पूरा देश द्वितीय विश्वयुद्ध की आग में जल रहा था । तब दाऊ मंदराजी ने अपनी रवेली नाचा पार्टी में राष्ट्रवादी गीतों तथा ब्रिटिश सत्ता की क्रूरता को नाचा के कथानक का विषय बनाया । उनका यह प्रयास भी जनमानस को आंदोलित कर राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में सफल रहा । इन कारणों से एक बार ग्राम-आमदी, जिला-दुर्ग में रवेली नाचा पार्टी के कार्यक्रम को अंग्रेजी पुलिस बंद करवाने भी आई थी।

जात खातिर कतेक तोर गुमान रे ओ बइहा,
कुकुर बिलई घर में पोसे, नइ गइस तोर जात,भाई-भाई के मार-पीट में, लगथे तोला भात।।
पनही पहिरे, चाहा पीथैं, अउ रोटी-भात खाथैं,कइसन बाम्हन होटल में हे, पूछे कउन जाथैं।।
मुर्रा भजिया रोटी चना, हाट-बाट में खाथै,बेचइया मन कउन जात हे, पूछे कउन जाथैं।।
महापरसाद ल जम्मों मन, जगन्नाथ में खाथैं, मानुस चोला एकेच हावै, गॉधीजी बताथै।। [23]

गांधीजी ने रायपुर में रहकर मंदिरों के दरवाजे अछूतों के लिए खोलने का आग्रह किया । उनके इस प्रयास को यहाँ की जनता ने गंभीरता से लिया और अनेक मंदिर हरिजनों के लिए

खोले गए । यहाँ गांधी जी ने हरिजनों से भी जीवन स्तर ऊंचा उठाने का आग्रह किया । गांधी जी के इन प्रयासों से अब छत्तीसगढ़ का कोई भी मंदिर या देवालय ऐसा नहीं है जहां हरिजनों का प्रवेश नहीं हो सकता है।

सन 1942 में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' की शुरूआतकी और द्वितीय विश्व युद्ध में भारतीयों को भेजे जाने का भी विरोध किया । गांधीजी ने इस अवसर पर देश को नया नारा दिया-

ब्रिटिश युद्ध प्रयत्न में, जन धन देना भूल है।

सकल युद्ध अवरोध में, सत्य अहिंसा मूल है।।

भारत छोड़ो आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में यहाँ के सैकड़ों नेताओं ने गिरफ्तारियाँ दी । हालांकि इस दरमियान यहाँ कुछ अविस्मरणीय क्रांतिकारी घटनाएं भी घटीं । छत्तीसगढ़ के लोगों का भी मानना था कि अंग्रेजी हुकूमत ने निर्दोष भारतीयों की हत्या करने उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध में धकेला है। रवेली नाचा पार्टी ने भी इस भावना को गीत के माध्यम से जनजन तक पहुंचाया।

लकड़ी अउ लोहा के गाड़ी बना के, दुनिया ला भरमाई।

अहो अंगरेज के, अहो जरमन के, मातगे हावे लड़ाई।।[24]

(लकड़ी और लोहे की रेलगाड़ी बनाकर तुमने दुनिया को भ्रम में डाल दिया है । जर्मन और अंग्रेज के बीच में घमासान लड़ाई मची है।)

एक अन्य लोक गीत में भी जर्मन के युद्ध में मृत्यु की आशंका बताई गई है।

अरे पानी रे आवै भराई भरना। जरमन के लड़ाई में सबो ल मरना।।[25]

गांधी जी के विचारों से प्रेरित होकर छत्तीसगढ़ की जनता ने उनके सभी आंदोलनों में बढ़-चढ़कर भाग लिया । गांधीजी के आह्वान पर यहाँ के व्यक्तियों ने गिरफ्तारियां दी एवं अपनी उपाधियों का त्याग भी किया । आंदोलन के दौरान कुछ छत्तीसगढ़िया पुलिस की बर्बरता का भी शिकार हुए। उन सभी शहीदों व क्रांतिकारियों पर छत्तीसगढ़ गौरवान्वित है । इन्हीं प्रयासों के कारण भारत भूमि सन 1947 को आजाद हुई । किंतु इस दरम्यान हमें विभाजन का भी दर्द झेलना पड़ा। इस दर्द की प्रतिक्रिया हमारे लोकगीतों में इस प्रकार दिखता हैं:-

गेंयेंव बाजार, बिसायेव गोभी पान।

मै तो गावथौं ददरिया, झन जाबे पाकिस्तान।।

उपरोक्त तथ्यपरक विवेचना से मैंने इस शोधपत्र के माध्यम से ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है कि राष्ट्रीय आंदोलनों में छत्तीसगढ़ के लोगों की भी सक्रिय भागीदारी रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए गाँधी जी के नेतृत्व में किए गए सत्याग्रह एवं अन्य आंदोलनों में इस अंचल के नगरीय, ग्रामीण एवं दूरस्थ वनांचलों में निवास करने वाले जन समुदाय का भी सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था। जन समर्थन के कारण देशभक्ति एवं अंग्रेजी राज्य के विरूद्ध विद्रोह के स्वर लोकनाट्य नाचा व लोकगीतों यथा ददरिया, बांसगीत, छेरछेरा गीत, करमा गीत के माध्यम से छत्तीसगढ़ी व हल्बी-भतरी बोलियों में भी गुंजायमान होकर लोकाचार का अंग बनी। इस तरह राष्ट्रीय चेतना के स्वर यहां की लोक संस्कृति में प्रतिबिंबित हुई है।

संदर्भ

1. वर्मा, भगवान सिंह, छत्तीसगढ़ का इतिहास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1995, पृ. 37
2. जिला गजेटियर बिलासपुर, पृ. 76
3. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, नागपुर, 1955, पृ. 129
4. साहू, सरिता, गांधीयुगीन आंदोलन और छत्तीसगढ़, भिलाई, 2020, पृ. 9
5. तिवारी, रूद्रदत्त, बांसगीतों का लोकतात्विक अध्ययन, बिलासा कला मंच, बिलासपुर, पृ. 119.
6. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, महानदी प्रका., सत्ती बाजार, रायपुर(म. प्र.),पृ. 68,
7. नायक, ठा.भा., छत्तीसगढ़ में गांधी,गांधी शताब्दी समारोह समिति, रविशंकर वि.वि.,रायपुर,1970,पृ. 57.
8. उपरोक्त पृ. 58
9. साहू, सरिता, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक इतिहास, हिन्दी साहित्य सदन, दिल्ली, 2021,पृ.
10. कर, चित्तरंजन,छत्तीसगढ़ के गॉधी प. सुदंरलाल शर्मा,रायपुर,2004, पृ.17
11. पी.सी.बम्फोर्ड, हिस्ट्रीज ऑफ द नॉन कोआपरेशन एण्ड खिलाफत मूवमेंट्स, पृ. 17
12. साहू, सरिता, वही, पृ. 238
13. नायक, ठा. भा., वही, पृ.घ
14. शर्मा, अरविन्द, वही, पृ. 122-23
15. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, वही, पृ. 75
16. परमार, नारायणलाल, छत्तीसगढ़ी लोकगीतो की भूमिका, पहचान प्रकाशन, रायपुर, 2000, पृ. 31
17. साहू, सरिता, गांधीयुगीन आंदोलन और छत्तीसगढ़, भिलाई, 2020, पृ. 40
18. नायक, ठा. भा., वही, पृ. 58
19. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, वही, पृ. 53
20. नायक, ठा. भा., वही, पृ. 58
21. अग्रवाल,किशोर कुमार, बीसवीं शताब्दी का छत्तीसगढ़, वैभव प्रका.,रायपुर, 2006,पृ. 167
22. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, जीवनी खंड, पृ. 28
23. साव, खुमान (लोक संगीतकार), ग्राम-ठेकवा, राजनांदगांव, साक्षात्कार, दिनांक 23.02.2012 का अंश।
24. साहू, सरिता, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक इतिहास, वही, पृ. 249
25. साव, खुमान (लोक संगीतकार), ग्राम-ठेकवा, राजनांदगांव, साक्षात्कार, दिनांक 23.02.2012 का अंश।

"संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार"

डॉ.उमेंद कुमार चंदेल

संभाषण-कुशलता अथवा बातचीत करने की शैली के कारण मनुष्य जीवन में सफलता के कई द्वार स्वतः खुल जाते हैं। पंडित माधव राव सप्रे जी को सामान्य पाठक जन एक कहानीकार एवं विख्यात पत्रकार के रूप में जानते हैं लेकिन 'सप्रे' जी एक कुशल निबंधकार भी हैं। इनके निबंधों में व्यावहारिक ज्ञान एवं नैतिकता का समर्थन दिखाई पड़ता है। बिना व्यावहारिकता एवं नैतिकताके बिना मनुष्य अपने जीवन रूपी सागर में सफल हो जाए यह दुष्कर है। निबंधों की इसी क्रम में इनका संभाषण-कुशलता नामक निबंध को इस लेख के केन्द्र में रखकर चिंतन-मनन किया जाएगा बातचीत या एक-दूसरे से सम्पर्क करने के लिए हम किस प्रकार की बातों का प्रयोग करे इस पर सप्रे जी के विचार दृष्टव्य है- "संभाषण अथवा परस्पर बातचीत वह कुँजी है जो हृदय के खजाने को खोलकर समाज के सामने परीक्षण के लिए रख देती है।"[1]

इस कथन के माध्यम से पता चलता है कि मनुष्य की बोलचाल, हावभाव यह सब बताने के लिए पर्याप्त है कि वह व्यक्ति कितना प्रभावशाली है। अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न अवसरों पर अपने आप को प्रस्तुत करने के लिए बातचीत का ही सहारा लेते हैं और उस व्यक्ति की पहचान उसकी शैली के चलते हो जाती है। "हम किसी लेखक की इस या उस रचना से प्रभावित होकर उसे ऊँचा स्थान नहीं देते, रचनाओं के साथ उस रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व जुड़ा होता है, उसी व्यक्तित्व में से ये रचनाएँ जन्म लेती है।"[2]

भीष्म साहनी जी ने भले ही यह बात प्रेमचंद जी के लिए कहा हो लेकिन यह बात प्रत्येक रचनाकारों की रचनाओं में देखने को मिलता है। ठीक सप्रे जी भी इन्हीं लोगों में से एक है। "साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है" यह एक कोरी कल्पना या निरर्थक बातें नहीं है। आज के परिवेश में देखे तो साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं पथ प्रदर्शक का कार्य भी बखूबी निभा रहा है। सप्रे जी छोटी-छोटी मगर गंभीर बातों के माध्यम से प्रत्येक क्षण एक नई जानकारी देते हैं और लोगों को समाज में प्रिय या प्रसिद्धि प्राप्त करने के आसान उपायों से अवगत कराते हैं- "जिस मनुष्य को यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि किस मौके पर किस मनुष्य के साथ कैसी बातचीत करनी चाहिए उसके पास एक बड़ा भारी अस्त्र है। यह उस अस्त्र की सहायता से स्वार्थ और परार्थ साधन करके थोड़े ही परिश्रम से समाजप्रिय हो सकता है।"[3] संभाषण-कुशल व्यक्ति अपने लिए सभी जगह एक निश्चित स्थान बनाने में कामयाब रहते हैं। साहित्य मानव जीवन को एक नई दिशा प्रदान करता है और जिस साहित्य में मानव कल्याण की बात नहीं होती उसे हजारी प्रसाद द्विवेदी जी साहित्य मानने में ही संशय करते हैं।-

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजीदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[4] द्विवेदी जी के इस कथन और साहित्य का

मानव जीवन पर प्रभाव हम "संभाषण-कुशलता" में स्पष्ट रूप से महसूस कर सकते हैं। सप्रे जी मानव मात्र के कल्याण की बात अपनी प्रत्येक रचनाओं में करते भी हैं। बातचीत करते समय हमें कुछ चीजों से बचने की सलाह इस निबंध के निबंधकार देते हैं। बातचीत करने के दौरान हमें इन दुर्गुणों से बचना चाहिए। किसी व्यक्ति की बातों में हाँ में हाँ हमेशा नहीं मिलाना चाहिए, जहाँ हाँ बोलने की आवश्यकता हो वहाँ, अवश्य बोले लेकिन जहाँ आवश्यक नहीं है गलत शैली का समर्थन नहीं करना चाहिए - "पहला दुर्गुण जो बातचीत करते समय बहुत से मनुष्यों मे देखा जाता है, "जी हाँ का है।"[5]

सप्रे जी इस प्रकार के दोष से बचने के लिए कहते हैं। इसी दुर्गुण को समझाने के लिए कपास रूपी खेत और फसल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लोग किसी व्यक्ति पर इतना विश्वास करते हैं कि उनकी प्रत्येक बातों पर भले ही वह सही-गलत का निर्णय लेने में असमर्थ होते हैं तब भी उनकी बातों पर भरोसा कर लेते हैं, क्योंकि अपने आदर्श के आगे उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता है। पहले दुर्गुण के समान ही दूसरा दुर्गुण भी समाज हित में किसी विस्फोटक से कम नहीं है। कई लोग किसी भी बातों का उत्तर या प्रतिउत्तर कहें, हमेशा नहीं में देते हैं। सप्रे जी इन दुर्गुणों से बचने का आग्रह करते हैं। और हमेशा नकारात्मक बातों या विरोधी प्रवृत्ति को त्याग देने की बात करते हैं- "''किसी-किसी मनुष्य का हर एक बात को "नहीं'' कहने और उसका प्रतिरोध करने का स्वभाव सा हो जाता है।"[6] हमेशा दूसरों की गलती पर ध्यान देने के बजाय उसे सुधारने का अवसर प्रदान करना चाहिए। हमारे समाज में कई लोग ऐसे होते है जो किसी को मौका ही नहीं देते। भले ही उस विषय के प्रति जानकारी या ज्ञान न हो तब भी अपनी राय देने से बाज नहीं आते हैं। ऐसे लोग "अंधों में काना राजा'' वाली कहावत को सत्य सिद्ध करने में लगे रहते हैं, क्योंकि इन लोगों को कम व्यक्तियों के बीच अपनी धाक जमाने में आनंद आता है और सप्रे जी इसे न्यूनांश में रहना पसंद करने वाले लोग बताते हैं- "किसी विषय में अधिकांश विचारशील मनुष्यों की चाहे कुछ भी राय हो परंतु इनकी खिचड़ी अलग ही पका करती है। ये अधिकांश में नहीं बल्कि न्यूनांश में रहना पसंद करते हैं।"[7]

संभाषण के दौरान सप्रे जी इन दुर्गुणों से बचने की सलाह के साथ ही परनिंदा को भी इन दुर्गुणों में शामिल करते हैं और निंदा करने की प्रवृत्ति को त्याग देने के लिए आग्रह करते हुए दिखाई देते हैं। निंदा करने वाले लोगों की वास्तविक स्थिति को बताने के लिए फुटबाल का उदाहरण दिया गया है कि कैसे वह एक-दूसरे से मार खाता है। सप्रे जी बोलते समय नपा-तुला शब्दों का प्रयोग करने के लिए कहते हैं, जहाँ कम बोलने से काम चल सकता है वहाँ अपनी विद्वता व्यर्थ में प्रकट नहीं करना चाहिए। इस बात का प्रमाण शुक्ल जी के इस कथन से मिल जाता है -

"वैर, क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"[8]

इतनी बड़ी और गंभीर बात को रामचंद्र शुक्ल जी ने कितने सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। ठीक इसी प्रकार का उदाहरण साकेत के रचनाकार मैथलीशरण गुप्त जी के इन पंक्तियों में देख सकते हैं -

"अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखो में पानी।"[9]

स्त्री जीवन की पीड़ा एवं व्यथा-कथा का पूर्ण चित्रण उपर्युक्त कथन के माध्यम से हो जाता है। सप्रे जी इन्हीं बातों एवं कथनों पर जोर भी देते हैं कि जब सहज रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है तो व्यर्थ में अपनी बुद्धिमता प्रकट करना मूर्खता है। संभाषण के दौरान सप्रे जी प्रमुख रूप से इन चार बातों पर विशेष ध्यान देने के लिए कहते हैं। बोलते समय लोगों का कर्त्तव्य है कि वह किसी भी बातों के लिए झूठ का सहारा न ले अगर आपकी बातों में सच्चाई है तो लोग आकर्षित हुए बिना रह ही नहीं सकते लेकिन बातचीत करने के दौरान झूठ का सहारा ले रहे हैं तो तात्कालिक लाभ भले ही हो जाए परंतु बाद में लोग आपसे घृणा करने लगेंगे। समय और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बोलना चाहिए - "समय और समाज की आवश्यकताओं के प्रतिकूल कभी कुछ नहीं बोलना चाहिए। प्रचलित विषय पर कुछ बोलना या उसको मनोयोग-पूर्वक सुनना श्रेयस्कर है।"[10]

संभाषण करते समय सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ चीजों को आराम से और आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है वहाँ व्यर्थ में टेढ़ा कथन या चमत्कारिक वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए ऊपर हम कह आए हैं कि शुक्ल जी गंभीर बातों को भी कैसे सरल रूप में प्रस्तुत करते थे। शिष्ट एवं आनंद-वर्धक भाषण-शैली का प्रयोग करने पर सप्रे जी जोर देते हैं। हमेशा नकारात्मक बातें नहीं करना चाहिए इससे आपके आस-पास एक नकारात्मकता का महौल तैयार हो जाता है और लोग इस नकारात्मकता भरी बातों के लिए आपसे दूरी बनाने लगते है - "प्रायः देखा जाता है कि कोई मनुष्य सदा रोगों दुःख और संसार असारता की ही बातें किया करता है अथवा अपने वृथा आडम्बर के नशे में दूसरों की निंदा कर बैठता है।"[11] सप्रे जी के विचार हमारे व्यावहारिक जीवन से सरोकार रखने के साथ ही स्थायी सीख भी देते हैं। परनिंदा पर हम ऊपर विचार कर आए हैं इसलिए अभी इस पर प्रकाश डालना उचित नहीं है। वाक्चातुर्य या संभाषण-कुशलता का लाभ हम इसी से महसूस कर सकते है कि किसी की बातों को हम घंटों सुनते हैं और किसी की बातों से तुरंत उब जाते हैं। सप्रे जी, जीवन में अच्छे मित्रों के चुनाव पर भी जोर देते हुए कहते हैं कि हम जिस प्रकार अच्छी पुस्तकों का चुनाव करते हैं ठीक उसी प्रकार हमें अच्छे मित्रों की संगति करनी चाहिए क्योकिं संगति का असर पड़ता ही है। सप्रे जी जीवन में सफलता प्राप्त करने के अनेक उपाय एक साथ प्रस्तुत करते हैं और गंभीर से गंभीर बातों को सहज रूप में आसानी से समझ आने वाली भाषा का प्रयोग करते हैं।

"बातचीत करने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण नियम यह है कि सदैव सच बोलने का प्रयत्न करो और जो कुछ बोलो उसे शान्ति और विनम्रता के साथ। मृदुभाषण में जादू की शक्ति होती है।"[12]

इस प्रकार हम देखते है कि सप्रे जी संभाषण-कुशलता के माध्यम से प्रत्येक पाठकजन का हर तरह से कल्याण के रास्ते खोलने की बात करते हैं। जो व्यक्ति सत्य के पथ पर अग्रसर है उन्हें किसी भी बातों को चिखकर एवं चिल्लाकर बताने की आवश्यकता नहीं पड़ती वह अपनी बातों को सरल एवं सहज रूप से शांति पूर्वक प्रकट करता है जो बहुत प्रभावी रहता है और लोगों पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। संभाषण-कुशलता के माध्यम से बड़े-बड़े कार्यों को करने में आसानी होती है। संभाषण-कुशल व्यक्ति अपनी कुशलता से शब्दों का प्रयोग और भाषाका प्रयोग कर सकता है। चाहे तो उन्हीं वाक्यों से किसी को बचा सकता है या उन्हीं वाक्यों से पीटवा सकता है।

"नहीं मारो, मत जाने दो''

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. सप्रे माधवराव-संभाषण कुशलता रामजी लाल शर्मा, हिंदी प्रेस-प्रयाग, संवत् 1984 वि. जीवन-संग्राम में विजय - प्राप्ति के कुछ उपाय, पृष्ठ संख्या –96
2. साहनी भीष्म- प्रतिनिधि कहानियाँ- प्रेमचंद राजकमल प्रकाशन- दिल्ली, सोलहवां संस्करण - 2018 भूमिका से ।, 3. सप्रे माधवराव- संभाषण - कुशलता, पृष्ठ संख्या –97
4. द्विवेदी डॉ.मुकुंद - हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-10, राजकमल प्रकाशन - दिल्ली, संस्करण- 2013, पृष्ठसंख्या –2,
5. सप्रे माधवराव- संभाषण-कुशलता, पृष्ठ संख्या - 97,
6. वही पृष्ठ संख्या –98, 7. वही पृष्ठ संख्या –98
8. शुक्ल आचार्य रामचंद्र - चिंतामणि भाग-1 'क्रोध' पंचशील प्रकाशन - जयपुर, संस्करण - 2016 पृष्ठ संख्या –86
9. सिंह बच्चन- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास में उल्लेखित साकेत-मैथलीशरण गुप्त, राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली, बारहवां संस्करण - 2021, पृष्ठ संख्या –315, 10. वही पृष्ठ संख्या –100, 11. वही पृष्ठ संख्या –101, 12. वही पृष्ठ संख्या - 105

संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना

डॉ. दिवाकर कश्यप

भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'मार्ग' और 'देशी', ये दो शब्द विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं। संगीत की तीनों ही धाराओं में मार्ग और देशी संबंध उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'मार्ग' और 'देशी' संगीत के विषय में प्रायः विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत रहे हैं। साहित्येतिहासकारों ने वेदों के आधार पर 'वैदिक' और 'लौकिक' की चर्चा की है। प्रतीत होता है, कि संगीत में प्रयुक्त 'मार्ग' और 'देशी' संज्ञायें क्रमशः वैदिक और लौकिक की संकल्पना से अनुप्राणित है। इसके समानान्तर लोक में प्रचलित संगीत को लोक-संगीत अथवा 'देशी' संगीत कहते हुए शास्त्रीय संगीत को 'मार्ग' संगीत के रूप में भी स्वीकार किया गया। कुछ विद्वानों के यह भी मत है कि 'मार्ग' संगीत तो अब समाप्त हो गया, जो बचा है और आज व्यवहार में है वही 'देशी' संगीत है। इसी 'देशी' संगीत का जो कुछ भाग शास्त्रबद्ध कर दिया गया, वह 'शास्त्रीय संगीत' के रूप में स्थापित हो गया तथा उसमें से भी जो बच गया, उसे संगीत का 'लौकिक' स्वरूप या 'देशी' कहा गया। वहीं दूसरी ओर, नृत्य से सरोकार रखने वाले कुछ विद्वानों ने शास्त्रीय नृत्य को 'मार्ग' और लोकनृत्य को 'देशी' नृत्य कहते हुए दोनों का सीधा-साधा विभाजन कर संतुष्ट हो गए।

इस प्रकार संगीत के संदर्भ में 'मार्ग' और 'देशी' इन दो भेदों के समानान्तर 'वैदिक' और 'लौकिक' तथा 'शास्त्रीय' और 'लोक' ऐसा विभाजन भी प्राप्त होता है। सर्वप्रथम 'वैदिक' और 'लौकिक' के आधार पर बात करें, तो सीधे और सरल शब्दों में वेदों से प्रभावित या वेदों में संगीत का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उसे 'वैदिक' संगीत कहा जा सकता है। भरत ने नाट्य की उत्पत्ति-कथा में सामवेद से संगीत ग्रहण करने की बात कहते हुए वैदिक संगीत को स्वीकार किया। इस फल यह हुआ कि परवर्ती काल में हुए अनेक आचार्यों ने भी संगीत के मूल स्रोत के रूप में वेदों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया है। इसका कारण यह है, कि वेदों में संगीत शास्त्र से संबंधित अनेक प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोगसहित उल्लेख प्राप्त होता है। 'वेद और वैदिक साहित्य में स्वर-विधान संबंधी पुष्कल सामग्री सुरक्षित है। पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, ग्रामगेयगान, आरण्यगेयगान, स्तोव, स्तोभ आदि पारिभाषिक शब्दावली से तत्कालीन संगीत की समृद्धि का पता चलता है।' सामवेद के मंत्रों को सस्वर व सछन्द गाने की परम्परा थी तथा वेद से संबंधित ग्रंथों में तीन स्वर स्थानों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिन्हें सात स्वरों के उद्गम का स्रोत माना गया है। वेदों में संगीत के लौकिक पक्ष का भी विवरण प्राप्त होता है। पूर्वोल्लेखित 'ग्रामगेय' और 'अरण्यगेय' का सीधा संबंध लोक से था। ग्रामगेय, ग्रामीण अंचलों में निवास करने वाले ग्रामीण द्वारा व्यहृत था जबकि अरण्यगेय वनों या वन प्रदेश में लोगों के लिए निश्चित किया गया था। इस आधार यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि वेदों में निहित संगीत वैदिक रूप में जितना प्रसिद्ध और व्यवहारिक था, उतना इसका लौकिक स्वरूप प्रचलन में रहा।

संगीत के मार्ग और देशी परम्परा से तारतम्य स्थापित करते हुए देखा जाए, तो संगीत वैदिक पक्ष मार्ग संगीत का द्योतक प्रतीत होता है जबकि लौकिक पक्ष को देशी संगीत की दृष्टि से देखने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। अर्थात् संगीत-शास्त्र में जिस मार्ग और देशी की कल्पना संगीत के आधार पर की गई थी, उसकी आधारभूमि वेदावलंबित वैदिक व लौकिक पक्ष अनुमानतः हो सकते हैं। वैदिक संगीत विशेष रूप से देवताओं, गन्धर्वों व अप्सराओं आदि के लिए रूढ़ हो गया तथा लोक के लिए संगीत का लौकिक स्वरूप शेष रह गया। कालान्तर में, भरत ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से संगीत के मार्गी स्वरूप की संकल्पना प्रस्तुत की है, जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया गया है। अर्थात् जिस संगीत की स्थापना ब्रह्मा द्वारा की गई, वह मार्ग संगीत कहलाया तथा और जिस संगीत की खोज ब्रह्मा द्वारा नहीं की गई और उसे मार्ग नहीं माना जा सकता है, तो क्या उसे देशी मान लेना चाहिए। संगीतदर्पण में मार्ग संगीत के संबंध में कहा गया है, कि-

"द्रुहिगेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्।।"

यहाँ भी ग्रंथकार ने भरतमत के समर्थन करते हुए ब्रह्माजी द्वारा अविष्कृत संगीत, जिसका प्रदर्शन भरत भगवान शिव के समक्ष किया गया तथा जो मुक्तिदायक है, वह मार्ग संगीत है। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्गी संगीत का अर्थ सीधे-सीधे देवताओं से हैं, जो संभवतः वेदों में वर्णित 'वैदिक' संगीत हो सकता है। वह संगीत जो कठोर नियमों का पालन करता है तथा जिसमें किसी भी दृष्टि से परिवर्तित नहीं किया जा सकता और मार्ग संगीत पूर्णतः देवताओं व गन्धर्वों के द्वारा व्यवहृत था। इस बात की पुष्टि करते हुए वाचस्पति गैरोला ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उल्लेख किया है, कि- 'जो अनादी सम्प्रदाय है, गंधर्वों द्वारा ही जिसका प्रयोग होता है, जो नियत श्रेयस् का हेतु है, उसे ही गांधर्व गान अथवा मार्गी संगीत कहा गया।' इस आधार पर सामान्य मनुष्यों में जो संगीत व्यवहार में था वहीं देशी संगीत है। दर्पणकार के मतानुसार, जो संगीत देश के भिन्न-भिन्न भागों में गाया-बजाया जाता है अथवा उसका व्यवहार किया जाता है तथा जिससे लौकिकों का मनोरंजन होता हो, वह देशी संगीत है-

"तत्तदेशस्थया रीत्या यत्स्यात् लोकानुरंजनम्।

देशेदेशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते।।"

दर्पणकार द्वारा की गई देशी संगीत की इस व्याख्या से तो यही प्रतीत होता है, कि आज जो संगीत व्यवहार में है, वह देशी संगीत है। टीकाकार व अनुवादक विश्वम्भरनाथ भट्ट ने संगीतदर्पण (पृ.6-7) में इस बात की संभावना व्यक्त की है कि आचार्य शारंगदेव के समय में भी यद्यपि मार्ग संगीत प्रचलन में नहीं था तथापि तत्कालीन संगीत में मार्ग संगीत का किंचित उल्लेख शास्त्रों में किया गया। समय व काल के अनुसार संगीत में रहे परिवर्तन के कारण मार्ग संगीत शनैःशनैः शास्त्रों से पृथक् हो, विलुप्त हो गया। परवर्ती संगीतशास्त्रज्ञों ने मार्ग संगीत पूर्ण रूप से त्याग दिया। इस

प्रकार व्यवहार व शास्त्रों में जो शेष रह गया वह देशी संगीत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस संबंध में डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार ने मार्ग और देशी संगीत विषय पर आधारित एक संगोष्ठी में चर्चा की है, जिसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं- 'आज हम गा-बजा रहे हैं, उसमें से कुछ भी ऐसा नहीं जो कि ब्रह्मा ने खोजा हो और जिसके बारे में कहा गया कि ये ब्रह्मा ने खोजा। उसके बारे में भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं, कि यह ब्रह्मा ने ही खोजा है। तो ऐसी स्थिति में उसका लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ लेना चाहिए। जो पुरानी परम्परा से चला आया है, जिसको स्थापित करने में हमारे पूर्वजों का योगदान रहा है और जिसको हमने एक तरह से श्रेयस्कर के रूप में स्वीकार कर लिया है, उसे मार्ग कहते हैं।' सुभद्रा चौधरी के अभिमत से- 'संगीत में मार्ग और देशी शब्दों का ग्रहण लोक से किया गया है, इसलिए उनकी प्रवृत्ति लोक-परम्परा से भी जुड़ी हुई है। 'मार्ग' में खोजना और 'देशी' में देना अर्थ अन्वित है।' डॉ. ब्यौहार के कथनानुसार- 'ब्रह्मा द्वारा खोजे जाने का चूँकि कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तो ऐसी स्थिति में यह कहना पड़ता है, कि मार्ग तो पूरा का पूरा समाप्त हो चुका है। आज जो कुछ भी है वो पूरा का पूरा देशी है और ऐसी स्थिति में जो आज का शास्त्रीय संगीत है, इसको भी देशी कहें तो कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि वास्तव में जो हमारा आज का शास्त्रीय संगीत है, उसका विकास ही हुआ है, 13वीं शताब्दी के देशी संगीत से। इस तरह से उसी देशी संगीत की परम्परा से आज का हमारा शास्त्रीय संगीत विकसित हुआ। तो पुराने देशी संगीत से ही हमारे आज के शास्त्रीय संगीत की परम्परा जुड़ी हुई है।'

उक्त विवेचन एवं विद्वानों के द्वारा दिए गए मतों से स्पष्ट हो जाता है, कि वर्तमान भारतीय संगीत, जो व्यवहार में है, वह पूर्णतः 'देशी' है और मार्ग संगीत का पूर्णतः लोप हो चुका है। फिर भी, संगीत के मार्ग व देशी पक्ष पर विद्वानों में तर्क होता रहा है। भले ही मार्ग संगीत को विलुप्त मान लिया गया हो, परन्तु प्रबुद्ध विद्वान वर्ग आध्यात्मिक सद्भावनावश मार्ग संगीत को स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि वर्तमान संगीत में शास्त्रीय के साथ-साथ लोक-संगीत भी व्यवहार में है। जिस प्रकार दर्पणकार ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, उस आधार पर यही प्रतीत होता है कि देश के विभिन्न अंचलों में गाया-बजाया जा रहा है, वही देशी संगीत है। लोक साहित्य से सम्बद्ध विद्वानों ने सामान्य जनमानस द्वारा व्यवहृत संगीत को लोक-संगीत माना है। ऐसी स्थिति में एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या देशी और लोक संगीत एक ही है ? मतंग, शारंगदेव आदि आचार्यों ने अपने संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों में जिस प्रकार राग-पद्धति व राग विभाजन संबंधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उसके माध्यम से संभव है कि उक्त प्रश्न का समाधान किया जा सकता है। भारतीय शास्त्रज्ञों ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि मार्ग संगीत में स्मृतियों का पूर्वाग्रह है, इसलिए इसे अपौरुषेय भी कहा गया। साथ ही मार्ग संगीत जड़ रूप में एक ही स्थान पर स्थिर रह गया। वहीं दूसरी ओर देशी संगीत में निरन्तर विकास होता रहा और समयानुरूप संगीत-शास्त्र के माध्यम से इसके सैद्धान्तिक पक्ष का परिष्कार होता रहा है। इसके अतिरिक्त देशी संगीत के परिप्रेक्ष्य में 'राग' की परिकल्पना की गई। आचार्य शारंगदेव ने सर्वप्रथम मार्ग और देशी के मध्य सामंजस्य की स्थिति निर्मित की, तदनन्तर प्रचलित रागों को दस भागों, यथा- ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा, अन्तर्भाषा, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग में विभाजित कर नए

सिद्धान्तों की स्थापना देशी संगीत के परिप्रेक्ष्य में की। इसका परिणाम यह हुआ कि, जैसे-जैसे देशी संगीत सम्पन्न होता गया वैसे-वैसे रागों की संख्या भी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे यह अनगिनत हो गई। इस दृष्टि से देशी संगीत का विकास वैज्ञानिक रीति से हुआ, परिणाम स्वरूप देशी संगीत शास्त्रीय मापदण्डों के आधार पर स्थापित होने के साथ प्रचलित भी हुआ। अतः संगीत की शास्त्रीय परम्परा में देशी का जो स्वरूप शास्त्रबद्ध हुआ, वही संगीतज्ञों के बीच प्रयोग के माध्यम से प्रसिद्धि प्राप्त सका। साथ ही, इसकी प्रसिद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण विभिन्न शास्त्रों द्वारा लिखे गये संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथ थे, जिन्होंने इसे शास्त्रीय आधार पर प्रदान किया। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत में विविध गायन शैलियों का विकास हुआ।

गायन शैलियों को भी आधुनिक कालीन विद्वानों ने प्रमुखतः तीन भागों में विभाजित कर दिया। ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि शास्त्रीय गायन विधाओं को पूर्णतः शास्त्रीय, ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी, चैती जैसी लोकाधारित शैलियों को उप-शास्त्रीय और ग़ज़ल, खमसा आदि को सुगम-संगीत कहा गया है। इस रीति से संगीत का जो स्वरूप निर्मित हुआ, उसे 'शास्त्रीय संगीत' कहा गया। वस्तुतः आधुनिक काल में संगीत में निहित मार्गी और देशी संबंधी विरोधाभास कम होता गया। युग परिवर्तन के साथ-साथ शास्त्रकारों ने इस स्थापित देशी संगीत में अनेक सैद्धान्तिक प्रयोग किये। पंडित लोचन ने 'रागतरंगिणी' में मूर्च्छनाओं के स्थान पर मेल या थाट के आधार पर राग-वर्गीकरण की संकल्पना प्रस्तुत की। अहोबल ने 'संगीतपारिजात' में श्रुतियों के आधार पर सात शुद्ध और पांच विकृत स्वरों की स्थापना की। यद्यपि उन्होंने उन्नीस स्वरों की कल्पना की थी, किन्तु प्रयोग में बारह स्वर ही प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त इन्होंने उत्तर और दक्षिण की स्वर-विधियों में सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयास किया। पुण्डरिक विठ्ठल में लोक प्रसिद्ध और परम्परागत रागों का वैज्ञानिक पद्धति से राग-रागिनी और पुत्र रागों के रूप में वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इन सभी ग्रंथों पर संगीतरत्नाकार की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। आचार्य शारंगदेव ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्रीय परम्परा के समानान्तर 'संगीत' की परम्परा स्थापित करने का जो यत्न किया, उससे परवर्ती काल में संगीत के विकास का मार्ग प्रशस्त होने लगा। दूसरा प्रमुख कार्य आचार्य द्वारा यह किया कि उन्होंने मार्गी की अपेक्षा देशी संगीत को लक्ष्य करते हुए शास्त्रीय प्रतिमानों की स्थापना की। परवर्ती आचार्यों ने संगीतरत्नाकर की इन दो महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं का न केवल सम्मान किया अपितु उन्होंने इसी आधार पर देशी संगीत का परिमार्जन कर उसके विकास में सहयोग दिया।

तथ्यतः उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है, कि वर्तमान में शास्त्रीय संगीत का जो स्वरूप प्रचलित है, वह पूर्णतः देशी है तथा पूर्ण रूप से लोक संगीत से पृथक् भी है। मार्ग और देशी के विषय में संगीत से सम्बद्ध जिज्ञासु वर्ग के बीच अब भी इन स्वरूपों की चर्चा वर्तमान है। इसका कारण यह है कि संगीत के शास्त्र या प्रयोग पक्ष की जब भी बात होती है, तो उस स्थिति संगीत-शास्त्र से संबंधित उक्त ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। परिणाम स्वरूप विचारकों और जिज्ञासुओं के मध्य मार्ग और देशी विषय चर्चा का विषय बना ही रहता है। विशेष रूप से विद्यार्थी वर्ग कहीं-न-कहीं अब भी इस संशय में कि वे जो संगीत सीख रहे हैं वह मार्गी है या फिर देशी। क्योंकि वर्तमान में शास्त्रीय संगीत

के समानान्तर लोक-संगीत भी प्रचलित है और अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार में है। इस समस्या का समाधान करते हुए संगीतशास्त्री डॉ. ब्यौहार का मत सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है। इस संबंध में वे कहते हैं, कि- 'आज के संदर्भ में यदि हम मार्ग और देशी की बात करें, तो गुरु के द्वारा सिखाए गए संगीत को आप 'मार्ग' मान लीजिए और जब आप उसकी साधना कर उसमें परिवक्व हो जाते हैं तथा उस पर प्रयोग करने लगते हैं, तो उसे आप देशी संगीत मान सकते हैं।' गुरुमुख से सीखा गया संगीत शिष्य के लिए मार्गी है, क्योंकि शिष्य उसकी साधना ठीक उसी रीति से करता है, जिस पद्धति से गुरु ने उसे सिखाया है, वह उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। संगीत शिक्षा के उपरान्त जब शिष्य एक परिपक्व कलाकार या संगीतज्ञ बन जाता है और अपनी गायकी, शैली तथा रचनात्मकता के आधार पर उसमें प्रयोग करने लगता है, यह महत्त्वपूर्ण भी है और शास्त्रीय संगीत के विकास का परिचायक भी।

संदर्भ सूची-

1. संगीत के क्षेत्र में यह प्रसिद्ध है कि आचार्य शारंगदेव के मत से गायन, वादन और नृत्य के समुच्चय को 'संगीत' कहा गया है।
2. गैरोला, वाचस्पति, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण संवत् 2017, पृ.754
3. भट्ट, विश्वम्भरनाथ, 'दामोदर पंडित और उनका संगीत दर्पण', संगीत निकेतन, आगरा, 1950, स्वराध्याय, श्लो.4, पृ.6
   "अनादिः सम्प्रदायो यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते।
   नियतश्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्व जगुबुर्धाः॥"
4. गैरोला, वाचस्पति, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण संवत् 2017, पृ.765
5. भट्ट, विश्वम्भरनाथ, 'दामोदर पंडित और उनका संगीत दर्पण', संगीत निकेतन, आगरा, 1950, स्वराध्याय, श्लो.5, पृ.6
6. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.
7. चौधरी, डॉ. सुभद्रा, लेख - 'मार्ग और देशी का विवेचन', 'संगीत', अगस्त 2013, अंक 8, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ.19
8. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.
9. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.

Samyak Gitam

Prof. Dr. Indrani Chakravarti

The basic concept of the Universe is Vibration. Vibration gives birth to beats; beats maintain speed of the heart and from there on music starts. The beats and the rhythm are mutually reliant or inter-dependant. Vibration causes the movement of self experiences, thereafter the voice starts speaking.

From the very beginning of creation, vibration and movements were inherent in nature. But before becoming aware of such phenomenon and understanding them properly, man started feeling uniformity and oneness with nature. His soul commenced humming, his feet started tapping on the floor and his fingers began playing with some imaginative (but unseen) strings. Thus, music was born.

“Why?" "How?" and "Where”? These questions had always been disturbing man’s mind right from the inception of human civilization. Man made a move to find out the answer; but barely could he succeed. However, that did not deter him. He continued his quest of journey. His *intelligence* and *consciousness* slowly bloomed then on. Accomplished himself with self-experiences, he began music as medium of expression to get the answer for his quest. It was music henceforth, that had been a prime expression in man’s life.

A Look Back:

Since prehistoric age, medium of expression of man was either hand/body gestures or uttering vibrating sounds as a medium of expression to exchange the feelings with each another. Thereafter, in grief or in joy, in happiness or in pain, in bravery or in poverty, in love or in devotion; the way of his expression had primarily only been music. It might be several intonations of sound, a song or a musical instrument or the body gestures, which later on established as various forms of dance and drama.

In socio-cultural civilization, music played an unparallel role in evolving many aspects of human life. When man was happy, he sang and danced; when restless, he found music to ease him; when angry, even then he sang to calm himself down and when he was in unbearable sufferings and pain, his musical tones vibrated the Universe.

As time passed, the human intellect discovered that music had enormous power to

correlate with his feelings and emotions through songs, instruments, and also through

many dance forms. Both solo and group performances were accepted as excellent

mediums of expressions. The solo and individual music was related to each and every discipline known as Vocal, Instrumental and Dance. Group music too, followed the above disciplines.

Samyak Gitam:

In ancient Sanskrit texts, the etymology of *Sangita* (music) was elaborated as '*Samyak Gitam'*---*'Samyak rupena gitena iti sangitam'* (to sing in proper manner with accompaniment). Here, the word *gitam* also comprises of musical instruments as well as the dance forms. In Indian tradition, we find a few theoretical concepts on the origin sources of music:

(a)- ***Divine Forces*:**

Music is originated from Divine Forces (like Gods and Goddesses). Nataraja Shiva (The Compassionate One), Brahma (The Originator), Vishnu (The Sustainer), Parvati and Saraswati (Goddesses of Power and Learning, respectively) are still considered the originators of different disciplines of music and many other fine art forms. Later on, Ganesha (the elephant-headed God) and some other super human sects like Gandharvas and Kinnaras, Rishis and Munis were also named as masters of different disciplines like *Svaras* (Dhaivata svara was considered as the innovation of Tumburu Rishi who was also referred to as the originator of Tambura or Tanpura), *Raga-Raginis,* musical instruments, many dance forms.

Bharata (dramaturgist and musicologist, who presented us with a beautiful bouquet known as Natya Shastra) narrated that- 'Lord Brahma was the creator of the Natya Veda (the art of drama, considered as fifth or Panchama Veda). Dattila followed him in his work titled 'Dattilam'. Nataraja Shiva is still believed to be the Originator of dance forms called Tandava (frantic) and Mother Parvati as Possessor of Lasya (amorous postures). A few musical texts referred that Shiva innovated Veena after observing the beautiful sleeping posture of Goddess Parvati.

(b)-- ***Other Forces*:**

Another tradition like Naradiya Shiksha (with a few more) said that music originated with the sound of birds and animals. As explained by Narada-the sound of various svaras or tones originated with:

Svara or Tone	**Source of Sound**
Shadja (Sa)	Mayur (Peacock)

Rishabha (Re)	Chatak (swallow)
Gandhara (Ga)	Aja (Goat)
Madhyama (Ma)	Krauncha (curlew/stork)
Panchama (Pa)	Koel (cuckoo)
Dhaivata (Dha)	Medhra (Frog)
Nishada (Ni)	Hasti (Elephant)

Latter scholars often quoted Naradiya Shiksha to justify their views on the origin of seven tones which came out from different sounds of birds and animals. It proves that the musician-scholars widely accepted the above theory of musical tones originated from the nature.

Hence, the creation of the seven tones from the natural sound of birds and animals roughly seems logical. If we see the pictures of dance postures and the body movements of pre-historic tribes and their attire, we realize that those are perfect proof of their power of adaptability from the nature and other living beings (like birds and animals). To be more precise, I would like to give a few instances as under:

i- The concept of flute originated from the bamboo sticks with a few holes to produce sounds when blown air into it.

ii- It is pretty well accepted fact that the sound of shooting with an arrow during warfare, evolved a beautiful idea of the innovation of stringed instruments (chordophones). We find wide references of bow-shaped *Vina* right from the Vedas, Ramayana, Mahabharata and other literary works and inscriptions. The word *Jya* is synonymous to 'bow string'. In ancient Tamil literature, the similar word was known as '*Yazh'.* Such instrument is still found in Tamil Nadu.

iii- According to Bharata; Sage Swati invented Tri-pushkara after watching the sound of rainwater-drops falling on lotus leaves in a lake. He named the instruments Urdhwaka (Panava, Pataha-today's Dholak), Ankika (Mridanga, Mardala→modern Pakhawaj) and Aalingya (Dardara→today's Hudukka). (Natya Shastra,32).

iv- Most of the ancient and modern instruments are primarily made of wood, bamboo, cane, skins of some animals and birds. In some instruments, strings are still made of the intestinal chords of some particular animals. Plectrums of a few instruments are made of coconut shells, wooden or bamboo sticks etc.

Since the dawn of civilization, man was inspired with the immaculate sources of the nature. For production of sounds through his voice, or the instruments and dance forms, he modified the onomatopoeic materials from the nature. Man, by nature, is worthy of 'art of copying'. So, he copied various sounds that emerged from nature and the animals; which, through constant rigorous experiments, he refined and reshaped the sound of the instruments accordingly. Thus, he proved himself to be the 'Master of Sound Production'. And the process is still continuing.

From time immemorial, man has acknowledged God as the originator of music but it is also true that man himself has opened new vistas of music to arrive at the level of an art form with his incredible intellect, imaginations and experiments. The master-musician's unmatched emotion and passion have been the mother of invention for these celestial art forms. As the man's knowledge grows, the art of music has also improved and there came a time when music has been considered as an indispensable part of men's life.

Whether it is Indian or Western, music had been an integral part of society since the dawn of cultural evolution. In India, right from pre-historic age, the adoration of music took place in day-to-day life of man. The ancient sculpture and frescoes were the true proof found in many places in our country. With his complicated nature, man personified whatever thought arose in his mind, and therefore, paintings, frescoes (wall paintings) or sculptures emerged as medium of his expression. Thus, music and other fine art forms blossomed in his daily routine as a part of his life. These art forms also played an incessant role in making new ideas and experiments.

Man is a social creature. He is bound to observe rules and regulations to balance his life. Hence, he prepares rules/regulations for different disciplines of music, to enable him and others to be governed by the tradition.

Towards the History:

The history of music is as old as the creation of human life. According to the western scholar Harmis, 'Music is the reflection of evolution of the nature.' Pythagoras opines that 'Every atom of this world is pervaded with music'. According to Bloomfield, 'Samagana dwells with the sounds of folk music' (!)

Sama mentioned popular songs sung in battle fields. Therefore, a few modern western scholars considered Sama music as folk-type; followed by some Indian scholars too! Apart from musical sound, the words like 'Hau, Hau' (the *stovas*) were used in excess in Sama music; and that might be the root cause of such explanation. But we should be aware of the word 'folk'. Today, what is understood and imposed by these scholars, invariably differs from the concept of *Vaidika* and *Laukika* disciplines, explained by *Shikshas* (texts on chanting/singing codes) to explore the Vedic

tradition. (The word folk (*Loka*) has been discussed by me in another of my research papers named, 'Origin of folk music').

Man has investigated and found some solutions on the applications and influences on various disciplines of music. It was accepted that during the *Yajna* (fire sacrifice), if a hymn was chanted in perfect intonation with the required oscillations, accompanied by instruments; the desired result could invariably be attained by the *Yajamana* (the one, on whose behalf a priest performed the rituals).

Every *Yajna* had its specific *mantra*s (hymns), and those were sung or recited with proper tones and tunes. These Sama *mantras* (hymn) were perfectly notated by the sages (Samaveda). To train the disciples, a few texts were written, known as *Shiksha Granthas*. Why the Vedic *Yajnas* are not so successful today; it is mainly because of non-compliance of singing the traditional *mantras* (with the proper accent, tones and accompaniments). The cause might be due to constant turmoil in the country, ignorance in following musical intonations as written and directed in the texts; or tradition itself broke in due course of time.

Sangita* and *Nada (Music and Sound):

The absolute vital force of music is sound (*nada*). The whole universe has been considered as Nadatmaka (replete with sound). "*Tasmat Nadatmakam Jagat*". The word *nada* derives from the root called 'n*ad'*. Hence, source meaning of *nada* is 'absolute word or sound'. There are three forms of sound, viz: *Vyakta* (manifested), *Avyakta* (absolute or un-manifested) and *Vyaktavyakta* (blended with both). The *vyakta* sound comes from the vocal cords, *avyakta* from instrumental strings and the third sound *vyaktavyakta* is produced by blending the above two types of sounds (dance forms?).

***Nada* in Jain Literature:**

Like the Vedic scriptures, Jain literature has also elaborated *Nada* aspects. *Nadavindu* or *Nadakala* (art of sound) is portrayed as half- moon, where the color of sound is white and the dot (*bindu*) is black.

Omkara has been established as *Naadabrahma* which is synonymous to the Supreme Lord Himself- *Tasya Vachakah Pranavah*, *Om ityekaksharam Brahmah*. Therefore, *Om* is God Omnipresent who protects and saves us.

Nada has come out of *Sphota* (the sound bursting and splitting asunder) with the help of *agni* (fire) and *vayu* (air). Hence *sphota* is the origin of each sound. The whole world is pervaded with sound- '*Vyapta yena characharam'*. *Sadhaka* elevates himself from individual to the collective

sound; only then he is able to hear the celestial sound from his own cosmic body. To be more precise, an example has been given- A *Shraman* (the Jain muni) is completely unaware of the jewels worn by his protector. Similarly, when the mind is immersed into the sound of pure music, the *sadhaka* is least concerned of the worldly objects or the body senses.

Kabir too, has beautifully compared the *Nada* or *Bindu* with a boat in the ocean of world. The chanting of *Rama*'s name works like a boatman. 'By singing the glory of Rama (the God) and following the path shown by *Guru* (the master), one can easily cross the ocean of worldly desires.

Nada and Svara:

The *nada* (musical sound), has potency to please others by itself. *Nada* is also known as *svara*. *Pada* (the word) is the proximity of *svara* and meaning of *pada* substantiates the *svara*. *Parshvadeva*, the Jain scholar-musicologist rightly says:

Svayam yo rajate nadah svarah sa parikirtitah.

Padam svaradikaranam arthasya pratipadakam..

(Sangita Samaya Sara, 5/16-17)

Parshvadeva continues further; "*Nada* leads to the most blessed state what the human being aspires. *Paramadeva Jineshwara* (the Jaina Thirthankara) is worshipped with *nada*. Only a pure hearted soul can produce purest *nada* through his sacred body." Thus, it is proved that Parshvadeva had complete knowledge of science of *nada* as well as its practical applications

The other Jain Munis (the sages) too, had thorough knowledge of various disciplines of arts. Indian knowledge had never been centered to a single direction. Hence, these sages made deep cogitation, contemplation and radical analysis in their texts. Among other texts, Rayapaseniya Sutta, Thananga Sutta, Anuyogadwara Sutta, are the most important works which give unparallel information on contemporary music.

Modern Concepts:

Nobody could repudiate the effect of sound in life. In early 20th Century, the scientists have acknowledged the enormous effective power of sound. Some of the unwise readers though, have tried to discard the ancient and old scriptures due to their ignorance and inability to understand and follow the wisdom recorded in these texts. But a few scientists of the East and West have already experimented and proved such theory with the help of modern scientific equipments. It can be clarified with a few examples given as under:

a- In Indian concept, *shabda* (the tone or ethereal sound) got an important place. The sages called it *Shabda Brahmah* or 'the Word Absolute'. Our scriptures say, 'The Absolute Wisdom is one'. This can be understood in this way:--'the identity of the whole universe with the Eternal Spirit (the *Brahman*) is expressed through *shabda*. The *Akasha* (ether or space) is one of the five elements. *Shabda* exists in *akasha*. Hence *shabda* or the tone always remains in the space. Today many scientists have proved that the matter and energy are same and matter can be converted to energy. After revelation of this truth, scientists now claim that, with the help of some advanced technology, they will successfully be able to re-search and re-construct the ancient voice and sound of music from the ether which still exist but have faded in course of time.

b- Acharya Jagdish Chandra Bose, who, apart from being one of the greatest scientists of his age, was an excellent violin player. He postulated that plants have feelings like other living beings. Plants blossom in happiness and wither when sad. Successfully he proved his theory with the help of Pandit Omkarnath Thakur (the maestro of Gwalior Gharana/tradition). Panditji sang Raga Bhairavi to see its effects on the plants. After a few moments, the plants showed an un-expected brightness in their color. And with his pleasing sound, the Coro-plat in protoplasm of the plants swerved and became active.

c- The army band is not allowed to march across the over-bridge, as their rhythmic footsteps together with the musical band can damage or break the bridge. Hence, such activity is strictly restricted to the army soldiers or other marching bands.

d- Not only animals or birds, but even human beings are cured of certain diseases by music. In his book, Dr. J. Paul has emphasized on music therapy. In ancient Egypt, the music was used to cure the psychic patients. Pandit Omkarnath Thakur had cured acute insomnia of Mussolini- the Italian Head of State during II World War. He made him sleep when Mussolini failed to sleep for more than three/four days due to war tension.

e- In Indian musical scriptures, there are specific mentions of different colors of the *svaras*. Modern scientists have discovered with their experiments that each *svara* has one or more colours.

f- Similarly, each *svara* has its own embodied deity that manifests when perfect *svara* -phrases are used with devotion. The *Raga-Ragini* system has been narrated with a firm belief that each *Raga* has specific characteristics and feelings. If it is sung according to its nature and characteristics, the *raga* transforms itself alive.

Scientists have successfully demonstrated the perfect structural forms of the tones after their experiments with an apparatus called 'Idophone'. Today, we need scientists like Acharya

Jagdish Chandra Bose, Prof. C. V. Raman, Dr. S.N.Bose and others who will honor our rich cultural heritage and refrain to ridicule the claim of ancient sages and saints, and start new research projects to re-explore and re-establish our unparallel knowledge with the help of modern scientific gadgets.

Music is such a spontaneous art that can express its forms through the tones. The yogis narrated that the entire universe remained under the *Absolute Nada* (musical sound). '*Tasmaat Nadadheenam Jagat.*' Through music, one can attain the main objective of life i.e. *Dharma, Artha, Kama* and *Moksha* (righteous acts, wealth, desire and salvation). On the other hand, the entire day's work has been tied with music by the people who want to live in the society in unison. From dawn to dusk man has explored musical nuances and invoke more energy for him and others. In worship, in sowing the field, in the workshops, in washing clothes and loading vessels from the river; in marriage ceremonies and parting farewell to the bride; in welcoming a new guest in the family or mourning the death of a dearest one; we find not a single moment has been left, where music has not shown its influence. After the daylong physical or intellectual work, when a person returns home; be he a farmer or an educated one or a tribal, he likes to get rid of the whole day's exhaustion by listening to or by participating in music and/or group dances.

Music has left its footprints and has influenced every part of man’s life. The nature of musical connotation may differ from one another; but its quality and effect have always attracted the people of the world; though, they may or may not understand its nuances. The language of music is one; even though its uneven fundamental structure, creative principles and the essence of beauty, differ from each other. The core soul of music always remains the same.

The Indian sages, scholars and musicians realized the value cognizance of music. Some of them left home and/or social contacts for their spiritual union with God. They made music as the medium of unison with their Beloved One. Sri Chaitanya, Meerabai, Tulsidas, Surdas, Purandaradasa, Tyagaraja, Sakkubai, Andal are the best examples to be remembered.

Music has always been accepted as the most important instrument for self realization. Nanak, Kabir, Sri Chaitanya Mahaprabhu, Namdev, Swami Haridas, Ramakrishna Paramahansadeva, Swami Vivekananda and in modern times Sri Sathya Sai Baba are the best examples to follow. They have slowly and successfully entered the heart of people with inimitable power of music making music as strong medium to transform the society. Some have lovingly narrated the meaning of Bharata as: 'Bha' stands for Bhava (feeling/emotion), 'Ra' for Raga (melody) and 'Ta' stands for Tala. These three terms are root cause of music.

Rightly said by Vedic rishi: "One who is ignorant of the knowledge of music, can be termed as an animal without having horn and tail'.

Sahitya Sangeeta Kala Vihinah

Sakshat Pashuh Puccha Vishanahinah

Lord Vishnu announced:

Naham Vasaami Baikunthe Yogina Hridye Cha Na Ravau

Mad Bhaktah Yatra Gaayanti Tatra Tisthami Naradah.

"I do not dwell in Vaikuntha nor in the hearts of the Yogis, I dwell only where my devotees sing my glory, O Narada"

****

Reference:

1. Naradiya Shiksha, Narada

2. Yagyavalkya Shiksha, Yagyavalkya

3. Natya Shastra, Bharata, 32/

4. Brhaddeshi, Matanga

5. Sangita Ratnakatra, Sharngadeva

6. Sangita Samaya Sara, Parsvadeva, 5/16-17

7. Svar aur Ragon ke Vikas me Vadyon ka Yogdan, Pof. Indrani Chakravarti

8. Sangit Manjusha, Ibid

"ख्याल की बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण।"

जगदेव नेताम

बंदिश का अर्थ-

'बंदिश' का अर्थ बांधने की क्रिया से लिया जाता है और इसका सम्बन्ध 'भाव' से होता है। संगीत का मूलभूत उद्देश्य आनंदानुभूति हैऔर यह चित्त को एकाग्र करते हुए जन रंजन से भव भंजन तक की यात्रा करने जैसा है। शास्त्रीय संगीत में गायन शैली व निबद्धित रचना का सर्वाधिक महत्व है। स्वर व ताल इसके अभिन्न अंग या आधार माने जाते हैं। गान पद्धति में स्वर, ताल व पद तीनों का संयोजित रूप जब हमारे सामने आता है तो वह श्रोता के मानस पटल पर एक अमिट छाप छोड़ देता है। अतः स्वर, ताल और पद में सुबद्ध और सुनियोजित रचना को **'बंदिश'** कहते हैं। बंदिश वह दर्पण है, जिसमें राग के स्वरूप और चलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

भारतीय संगीत के इतिहास में 'बंदिश' के विभिन्न पर्यायवाची रूप- गीत, रचना, निबद्ध, प्रबन्ध्, वस्तु, रूपक, चीज़, गत इत्यादि प्राप्त होते हैं। प्राचीन व मध्यकालीन संगीत ग्रन्थों में गेय रचना (जो गाया जा सके) को सामान्य रूप से 'गीत' कहा गया है। जिसकी व्याख्या सर्वप्रथम पं. शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकार' में इस प्रकार की है :-

'रंजक: स्वरसन्दर्भो गीतभित्यभिधीयते।
गान्धर्वगान मित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्।।

भावार्थ-मन को रंजन करने वाले स्वर-समुदाय को गीत कहते हैं, जिसके 'गान्धर्व' एवं'गान' दो नामिक भेद हैं। जिसमें गान के बारे कहा गया है:-

'गान-यक्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद् गानम् जनरंजनम्।।

अर्थात् वाग्गेयकार के द्वारा रचित ऐसी रचना जो देशी रागों व देशी तालों में रचित है तथा जो मनोरंजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो उसे 'गान' कहा गया है।गान को भी दो भागों में विभक्त किया गया है –**'निबद्ध व अनिबद्ध'**।

'निबद्धमनिबद्ध तद् द्वेधा निगदितं बुधैः।।

निबद्ध गान का अर्थ होता है बंधा हुआ और अनिबद्ध का अर्थ उपज से है।अर्थात् जब कोई गीत रचना जो किसी भी राग के स्वरों और ताल के विशिष्ट सामंजस्य से पूर्व रचित हो, वह **'निबद्ध गान'** कहलाता है और जब प्रस्तुतिकरण में कलाकार के द्वारा जब उस गीत रचना में निहित किसी राग के स्वरों का विस्तार – आलाप-तान या लयकारीके माध्यम से करता है तो उसे 'अनिबद्ध गान' कहा जाता है। किन्तु हम यहाँ सिर्फ निबद्ध गान की चर्चा करेंगे-

'बद्धं धातुभिरअङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते।'

अर्थात् वह पूर्वरचित रचना धातु और अंगों से बंधा हुआ हो या दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसी गेय जो अर्थयुक्त, ताल युक्त, छन्द के नियमों में बंधा तथा ब्रम्हा द्वारा गाये गये नियत संख्या के अक्षरों से युक्त हो उसे '**निबद्ध गान**' कहा गया है। '**प्रबंध, वस्तु** और **रूपक** ये निबद्ध की ही तीन संज्ञाएँ बताई गई हैं':-

1) संगीत में प्रयुक्त होने वाले प्रबन्ध शब्द में यह अर्थ अन्वित है क्योंकि यहाँ भी धातु और अंगों की सीमा में बाँधकर जो रूप बनता है, वह 'प्रबन्ध' कहलाता है। ''प्रबन्ध (प्र+बंध्) का शाब्दिक अर्थ है – **प्रकृष्ट रूपेण बन्ध:** अर्थात् वह गेय तत्वजिसमें चार धतुओं (उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग) और छः अंगों (तेनक, विरुदम्, पद, पाट, स्वर, ताल) को भली भाँति और सुन्दर रूप में बाँधा गया हो। प्रबन्ध के लिए आज जो 'बंदिश' शब्द प्रचलित है, उसमें भी बन्ध् धातु का समावेश है। किसी भी बंधी हुए रचना में **स्वर** और **शब्द** ये दो पक्ष होते हैं। जिसमें स्वर पक्ष को **'धातु'** और शब्द पक्ष को **'मातु'** कहा गया है। इस प्रकार प्रबन्ध व बंदिश का शब्दार्थ विभिन्न स्थानों में प्राय: एक सा मिलता है। अतः प्रबंध का अपभ्रंश रूप 'बंदिश है।

2) वस्तु का भाषान्तर चीज़ है।पं. भातखण्डे जी ने 'क्रमिक पुस्तक मालिका' में रागों की बंदिशों के लिए **'चीज़'**शब्द का प्रयोग किया है।

3) **'रूपक'** जो संगीत से हटकर नाट्य का विषय हो गया है। इसके अतिरिक्त गायन, वादन एवं नृत्य की बंदिशों अथवा उनके निबद्ध रूप को 'रचना' भी कहा जाता है।

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक भारतीय लोक एवं शास्त्रीय संगीत में ही नहीं वरन् संसार के प्रत्येक देश के संगीत में रचनाओं का किसी न किसी रूप में प्रयोग हुआ है। भारतीय संगीत का इतिहास विभिन्न रूप की रचनाओं से भरपूर है। जिसमें वैदिक काल में **सामगान-स्तुतिगान-गान्धर्वगान**, प्राचीन काल में **ध्रुवगान-जातिगान-गीतिगान**, मध्य काल में **प्रबन्ध, ध्रुपद-धमार,कीर्तन, क़व्वाली** तथा आधुनिक काल में **ख़्याल, ठुमरी, टप्पा, तराना** आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल के शास्त्रों में रचना को **गीत**, मध्य काल में **प्रबन्ध** एवं आधुनिक काल में **बंदिश** अथवा **गत** के नाम से संबोधित किया है। अतः आदि काल से ही भारतीय संगीत में बंदिश का अत्यन्त महत्व रहा है।

बंदिश में निहित सौन्दर्य तत्त्व :-किसी भी गीत रचना (बंदिश) के दो भेद माने गये हैं –'नाद सौन्दर्य' और 'लय सौन्दर्य'।

नाद सौन्दर्य :-हम जानते हैं कि, संगीत के मूल आधार तत्व **स्वर** (संगीतोपयोगी नाद) और **लय** हैं और इन्हीं तत्त्व के सामंजस्य से संगीत का निर्माण होता है।जिसके माध्यम से कलाकार अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को श्रोताओं के समक्ष अभिव्यक्त करता है। अतः संगीत का मुख्य उद्देश्य भावाभिव्यक्ति है। कोई भी सौन्दर्य विधान किसी भी रूप या आकर के बिना परिलक्षित नहीं हो सकता। सम्भवत: इसी कारण परम्परागत बंदिशों को भारतीय संगीत का आधार स्तम्भ कहा जाता है। संगीत में नादके सौन्दर्य की बात करते हैं तो इसके तीन आधारभूत तत्त्व हैं -

1. वैज्ञानिक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध सत्य या यथार्थ से है।
2. मनोवैज्ञानिक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध मानव प्रक्रिया से है (कलाकार + श्रोता)।

3. सौन्दर्य मूलक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध आनन्द से है।

नाद की इन्हीं तत्वों तथा उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर जब एक कलाकार या संगीतकार इनमें तारतम्य तथा समन्वय स्थापित करते हुए एक रचना करता है तो उसे हम **'राग'** कहते हैं। राग मेंरंजकत्व का गुण निहित है। राग के गुणों की व्याख्या मतंग मुनि ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में इस प्रकार दी है -

योऽयंध्वनिविशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।

रञ्जको जन चित्तानाम् स रागः कथितो बुधैः॥

अर्थात् संगीतोपयोगी ध्वनियों की वह विशिष्ट रचना, जो स्वर और वर्ण से विभूषित है और लोगों के मन का रंजन करती हो, बुद्धिमान जन इसे **'राग'** कहते हैं। इसके अतिरिक्त राग को रंजक बनाने में राग के तत्त्व – मींड, सूत,कण, खटका, मुर्की, गमक इत्यादि भी सहायक हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर जब गायक या वादक कलाकार अपनी पस्तुति देता है और इस प्रस्तुतीकरण को श्रोता जब सुनता है तो उसके मन में आनंद का आविर्भाव होता है और इस आनंद की अनुभूति का कोई अंत नहीं होता। अतः नाद सौंदर्य जनित आनंद अनन्त है।

लय सौन्दर्य - मनुष्य जब अपने भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से करता है तो काव्य की रचना होती है। संगीत में लय काल तत्व का रूप निर्धारण करती है और काल या समय के मान को ही **'ताल'** कहते हैं। संगीत रत्नाकरग्रंथ में पं. शार्ङ्गदेव ने लय को परिभाषित करते हुए कहा है कि-

'क्रियान्तरविश्रान्तिर्लयः।

अर्थात क्रियाओं के मध्य समान विश्रांति को वे लय कहते हैं। संगीत में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य विश्रांतिओं कीक्षमता लय का आधार है और समता सौंदर्य का। यह एक सामान्य सा सिद्धांत है अतः लय की विभिन्न लयकारियों और उनकी विविधता से संगीत में सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है।

संगीत के सहज आनन्द की सृष्टि मूल रूप से किसी गीत रचना पर ही निर्भर करती है और यह भी एक कारण हो सकता है कि पाँच ललित कलाओं में संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। हमारी कला में भावनात्मकता विद्यमान है और जहां भाव है वहाँ रस है और जहां रस है वहाँ सौंदर्य की अनुभूति निश्चित है। रसानुभूति एवं सौंदर्य बोधदोनों पर्यायवाची हैं। मनुष्य के हृदय में स्थाई भाव सदैव विद्यमान रहते हैं उन भावों के उद्दीपन से रस उत्पन्न होता है और इससे कला जन्य सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है।

सन्दर्भ :-

1. पं. शार्ङ्गदेव,संगीत रत्नाकर- 2, प्रबंधाध्याय, (व्याख्याकार-डॉ.सुभद्रा चौधरी-2008), पृ.- 201.
2. वही, पृ.- 203.
3. वही, पृ.- 204.
4. वही, पृ.- 205.
5. पं वही, पृ.- 205.
6. बृहद्देशी, मतंग मुनि, श्लोक – 280-281, पृ.- 81
7. पं. शार्ङ्गदेव, संगीत रत्नाकर- 3, तालाध्याय, (व्याख्याकार-डॉ. सुभद्रा चौधरी-2008), पृ.- 34.

ठेका : एक संक्षिप्त अध्ययन

जगजीत शाह

प्राचीन काल से ही भारत में गायन वादन नृत्य तथा नाट्य की परम्परा रही है। पांचवां वेद कहे जाने वाले ग्रंथ ''भरतमुनि कृतः नाट्यशास्त्र'' में नाट्य तथा संगीत को समान रखा है। नाट्य के साथ संगीत को भी उन्होंने उच्च स्थान दिलवाया है ? 'नाट्यशास्त्र' के बाद ही संगीत सम्बन्धी अन्य ग्रंथ उपलब्ध होते है। संगीत सम्बन्धी सभी ग्रंथों में स्वर, ताल, लय मूर्च्छना, राग, ग्राम आदि समान रूप से महत्त्व रखते हैं। संगीत में स्वर के साथ लय का महत्व भी समान रूप से ही देखा जाता है।

हम अपने जीवन अथवा दिनचर्या में कोई भी कार्य करें उसकी कोई निश्चित गति होती है, उसे ही सांगीतिक भाषा में लय कहा जाता है। संगीत में जब कोई गायन-वादन होता है, तो उसकी चाल या गति को हम लय कहते है तथा जब उस लय को हम किसी निश्चित समय चक्र में बांध देते हैं, तो वह ताल बन जाता है तथा ताल को जिन बराबर समय खण्डों में बांटा जाता है, उन्हें मात्रा कहते हैं तथा जब उन मात्रा खण्डों को निश्चित नाम अथवा बोल दे देते हैं तो उन्हें 'ठेका' कहा जाता है। 'ठेके' का संगीत क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, 'ठेका' ताल वाद्यों का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है तथा इसे कभी कभी 'ताल' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग गायन-वादन एवं नृत्य की संगत में किया जाता है। ठेका कुछ निश्चित पाट-अक्षरों की बन्दिश है, जिनकी विशिष्ट संख्या तथा विभाग निश्चित है।

'ठेका' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1857 ई. में लिखे गये उर्दू ग्रंथसन्दर्भ देना चाहिये'सरमाए इश्रात' में हु आ। ऐसा हो सकता है कि ठेके का प्रयोग गायन-वादन में 18 वीं शताब्दी के आस-पास ही प्रारम्भ हो गया हो। प्राचीन ग्रंथों में तालों के नाम तो अवश्य मिलते है परन्तु किसी बोलों का उनमें प्रयोग नहीं मिलता है। ध्रुपद गायन शैली से पूर्व उत्तर भारत में कहीं भी ठेके का प्रयोग नहीं मिलता है, क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में ठेका अथवा बोल प्राप्त नहीं होते है, आज भी कर्नाटक संगीत में कहीं भी ठेके के बोल निश्चित नहीं है, केवल ताल व उनकी जातियां ही प्राप्त होती है, किसी ताल के लिए कोई ठेका निश्चित नहीं किया गया है। प्राचीन मृदंग वादक, मृदंग का प्रयोग गायन की ताल, लय अथवा छंद के लिए किया करते थे। उस समय गायक स्वयं हाथ से लय अथवा छंद देकर गायन करता था। वीणा वादक स्वरों की संगत तथा मृदंग वादक छंदों की संगत करते थे। कभी कभी हाथ से ताल देने वाले कुशल व्यक्ति को साथ में बैठाया जाता था जिसे 'पाणिध' अथवा 'ताड़घ' कहा जाता था, जो भी छंद गायन वादन में प्रयुक्त होते थे वह पहले से निश्चित रहते थे। इसलिए उस समय 'ठेके' की आवश्यकता महसूस नहीं हुई होगी। ताल के ठेका का जन्म मध्य युग में ध्रुपद-गायन के साथ हुआ। वैसे तो अधिकांश गायक मृदंग के ठेके पर भरोसा न करके स्वयं हाथ से ठेका देते थे। ठेके के आने से संगीत में एक क्रांति उत्पन्न हुई तथा साथ ही अति विलम्बित लय में ध्रुपद गाने का चलन संभव हो पाया। ख्याल गायन के आने से 'ठेके' का महत्व और भी बढ़ गया 'ख्याल' में कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करते हैं। जिसके लिए उन्हें ठेके की आवयकता पड़ती है। वह अपनी कल्पना की उड़ान भरकर पुनः आकर ताल में मिल जाता है तथा बंदिश के मुखड़े को उठाता है। इसलिए मध्य तथा द्रुत लय में ताल वादक कुछ बदलाव या भराव कर सकता है। परन्तु विलम्बित लय में ताल वादक को ठेका ही बजाना पड़ता है। इसलिए ठेके के बोल निश्चित किये गये। जिन्हें बार-बार दोहराया जाता है तथा गायक-वादक ठेके के वज़न के अनुसार अपने गायन का रखरखाव

करता है। इसी बार-बार दोहराई जाने वाली तालों से वे सभी और भी प्रस्तारित हो गये व परम्पराओं व पीढ़ीयों तक याद रखे जाने लगे।

जब से ठेका वादन का प्रचार बढ़ा तभी से ठेके के अतिरिक्त तबले के अन्य बोलों का गठन भिन्न-भिन्न नामों से होने लगा। इस प्रकार कायदा, रेला, पेशकार, टुकड़ा, गत, परन, आदि प्रकारों का प्रचलन बैठा, जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे अवनद्ध वाद्यों का प्रचार प्रसार तथा ताल साहित्य में वृद्धि होने लगी तथा अवनद्ध वाद्यों का स्वतंत्र वादन भी होने लगा। स्वतंत्र वादन के साथ-साथ संगीत जगत में ठेके के आ जाने से अनेक प्रकार के परिवर्तन आए। सबसे पहले गायन वादन के सौंदर्य में वृद्धि हुई। 'ठेका' संगत के दौरान गायक एक निश्चित नियम तथा समय बन्धन में बंध जाता है तथा उसका गायन वादन अनुशासित हो जाता है। जिससे गायन-वादन सुगठित, स्थायी, व चमत्कारिता से भर जाता है। ठेके के निश्चित स्वरूप से गायक वादक अथवा नर्तक सचेत रहता है तथा बेताला होने से बचता है। ख्याल गायकों के निबद्ध गान में कल्पना का भरपूर प्रयोग होता है। ऐसे में गायक की दृष्टि एवं एकाग्रता स्वरों के सौंदर्य पर रहती है। अतः ताल वादक विलम्बित या द्रुत लय में आवश्यकतानुसार ठेका प्रदान कर कलाकार को मज़बूत अवलम्ब प्रदान करता है। इसी प्रकार ध्रुपद व ख़्याल के बाद अन्य शैलियों में ठेके निर्मित हुए। ध्रुपद धमार के लिए खुले बोल का पखावजी ठेका तथा ख्याल, टप्पा, ठुमरी के लिए बंद बोल के द्रुतगति में बजने वाले तथा ग़ज़ल भजन दादरा आदि के लिए छोटी मात्राओं के सुन्दर व कोमल ठेकों का निर्माण हुआ जो गायन के अनुकूल रस उत्पत्ति उत्पन्न करने में सक्षम हुए।

आगे चलकर ठेकों के बोलों को उल्ट पलट कर उनके वज़न तथा चलन में कुछ परिवर्तन करके ठेकों के विविध स्वरूप बनाए जाने लगे। जिन्हें ठेके के प्रकार कहा जाने लगा। ठेका जितना खूबसूरत बनाया जाए गायन वादन में उतना ही आनन्द आता है। गायन शैलियों की विविधता तथा प्रस्तुतिकरण के ढंग के आधार पर ठेके में दायां व बायां अर्थात् भारी व तीव्र बोलों का प्रयोग किया जाता है तथा छोटे-छोटे बोल समूहों द्वारा जिन्हें आज मोहरा, मुखडा, तिहाई, आदि कहा जाता है, का प्रयोग कर ठेके व गायन को और भी सुन्दर बनाया जाता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि संगीत में 'ठेके' का अत्यधिक महत्व आवश्यकता एवं उपयोगिता है। गीत, वाद्य और नृत्य को आधार प्रदान कर संगीत में नियमबद्धता, सौन्दर्य एवं आनन्द का समावेश करने के कारण संगीत में 'ठेके' का विशेष स्थान है।

संदर्भः

1. चौधरी सुभद्रा – संगीत संचयन, कृष्णाब्रदर्स, अचमेर, प्रथम संस्करण 1989, 07-04-2022
2. पाठक, डॉ. सुनन्दा – हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, प्रथम संस्करण 1989, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 7-4-2022
3. भातखण्डे पं. विष्णु नारायण – क्रमिक पुस्तक मालिका भाग-2, जून 1989, संगीत कार्यालय हाथरस (उत्तर प्रदेश)
4. पूछ वाले राजा भैया – ध्रुपद धमार गायक प्रथम भाग संवत् 2011 प्रकाशक शंकर रामचन्द्र गोलवलकर, रामचन्द्र संगीत पुस्तक भंडार, ग्वालियर

'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप

डॉ. लिकेश्वर वर्मा

'रागदारी' भारतीय संगीत की विलक्षणता है जो विश्व के अन्य प्रकार के संगीत से भारतीय संगीत को अलग करता है। राग परम्परा का मूल हमें नारदीयशिक्षा से प्राप्त होता है परन्तु स्पष्ट रूप से राग की परिभाषा मतंग मुनि प्रणीत 'बृहद्देशी' ग्रन्थ में मिलता है। निबद्ध एवं अनिबद्ध 'राग' को व्यक्त करने के दो माध्यम हैं। निबद्ध एवं अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग भरत, मतंग, शारंगदेव आदि सभी मनीषियों ने किया है। भरत ने अत्यंत व्यापक अर्थ में नियत अक्षर वाले, छंदोबद्ध, तालबद्ध और सार्थक प्रयोग को 'निबद्ध' कहा है और अनियत स्वरुप वाले, छंदरहित, ताल रहित और निरर्थक प्रयोगों को 'अनिबद्ध' संज्ञा दी है । भारतीय संगीत में निबद्ध की अपेक्षा मुक्त विस्तार की हमेशा प्रधानता रही, फिर भी गीत का विशेष स्थान व प्रयोजन रहा है ।

राग को अभिव्यक्त करने के लिए 'निबद्ध' सांगीतिक रचनाएँ या गीत, विभिन्न कालों में अनेक रूप में प्रचलित रहे हैं जिनमें से उत्तर भारतीय संगीत में ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, ठुमरी इत्यादि प्रमुख हैं। इन सभी गीत प्रकारों में से 'तराना' एक महत्त्वपूर्ण गायकी है जिसकी उत्पत्ति, स्वरूप व प्रस्तुतीकरण के विषय में अलग-अलग तरह के विचार प्रचलित हैं । 'तराने' को सामान्यतः निरर्थक बोलों से निर्मित व द्रुत लय में गाये जाने वाला एक गीत प्रकार कहा जाता है साथ में यह भी जोड़ दिया जाता है कि इसका आविष्कार अमीर खुसरो ने किया। संगीत के पुस्तकों में भी प्रायः तराने की यही परिभाषा मिलती है तथा संगीत के सामान्य विद्यार्थियों का सरोकार भी तराने के इसी स्वरूप से होता है क्योंकि उन्हें पाठ्यक्रम में सिखाये जाने वाले तराने भी उक्त परिभाषा को पुष्ट करते हैं। 'तराना' के सन्दर्भ में कुछ बिंदु विचारणीय हैं जैसे –1. तराना क्या केवल निरर्थक शब्दों से निर्मित रचना है ? 2. क्या तराना में प्रयुक्त शब्द सार्थक हैं? 3. क्या तराने में सार्थक शब्दों का प्रयोग भी होता था ? 4. क्या इसका आविष्कार अमीर खुसरो ने किया ? 5. क्या तराने को केवल मध्यलय अथवा द्रुत लय में गाया जाता है? अथवा 6. तराना एवं तिल्लाना में क्या समानता एवं विभिन्नता है ? उक्त सभी बिनदुओ पर पूर्व में अनेक विद्वानों के द्वारा गहन विचार किया गया है जिनको देखकर लगभग सभी प्रश्नों को उत्तर हमें मिल सकते हैं, तथापि इस विषय पर पुनर्विचार करना भी उचित है ताकि कुछ नवीन तथ्यों को उसके साथ जोड़ा जा सके जिससे वर्तमान में शोधपरक दृष्टि रखने वाले तथा जिज्ञासु विद्यार्थियों का कुछ लाभ हो सके।

''तराना एक फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- गीत। संभवतः तराना की उत्पत्ति 'तरन्नुम' शब्द से हुई। जब कोई शायर अपनी ग़ज़ल को गाकर अर्थात् विशेष धुन के आधार पर प्रस्तुत करता है तो उसे 'तरन्नुम' कहते हैं। तराना के बोल- तदारे, दानि, दीम, तदानि, ओदानी, तनूम इत्यादि होते हैं। तराना के बोलों के संबंध में मतान्तर देखने को मिलते हैं । प्रथम मत के अनुसार तराना के प्रचलित बोल हमारी पुरातन संस्कृति के 'ओम अनंत

हरिनारायण' इत्यादि शब्दों के विकृत हुए बोल हैं। द्वितीय मत के अनुसार यह अरबी भाषा से लिये गये शब्द हैं जिनका प्रयोग नबी, अल्लाह की उपासना में किया जाता है। तृतीय मत के अनुसार इसके बोल निरर्थक हैं, जो लय-ताल में गाये जाते हैं। राजा नवाब अली ने अपने ग्रन्थ मारिफ़ुन्नग़मात में कहा है कि तराने का आविष्कार दिल्ली वाले अमीर खुसरो ने किया है। भारतीय संगीत में ख़याल विधा के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद अमीर खान साहब ने 'तराना' पर बहुत गहन विचार कर कहा था कि तराने में आने वाले शब्द तदीम, तन न न , तान, तानी, तदानी,दानी, ओदानी, तोम, तनोम, दारी, दिर-दिर, देरेना,यला, अलालुम इत्यादि सार्थक शब्द हैं जैसे 'ओदानी' का अर्थ है – 'वह जानता है' और 'तुदानी' का अर्थ है – 'तुम जानते हो' इसके साथ ही अलहिला, लिल्ला, अली,अललूम – ये सभी ईश्वर के पर्यायवाची हैं, इत्यादि। उन्होंने अनेक रागों में फ़ारसी शेर युक्त तरानों की रचना की जिसमें से राग दरबारी एक बंदिश **'या रे मन बया बया'** दृष्टव्य है, जो संगीत जगत् में अत्यंत प्रसिद्ध है। उस्ताद अमीर खां ने इसके अलावा अन्य कई रागों में तराने की रचना की, जिनमें राग- भाव के अनुकूल फ़ारसी शेरों का उचित समावेश किया। उनकी मान्यता है की अमीर खुसरो ने संभवतः तराने की बहुत सी रचनाएं की होंगी।

तराने के सन्दर्भ में ज़्यादातर लोगों का मत है कि इसका अविष्कार अमीर खुसरो ने किया परन्तु आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ 'संगीत चिंतामणि' में इसका खण्डन करते हुए कहा है कि ''खुसरो तराने के आविष्कारक नहीं थे। जब सूफ़ी भारत में आये तब अपनी रुचि का तराना भी साथ लाये। तराना हज़रत अमीर खुसरो से पहले की चीज़ है।'' यह बात वास्तव में विचारणीय है कि तराने को यदि निरर्थक बोलों से निर्मित रचना कहा जाये तो भारतीय संगीत में इसका इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 'निर्गीत' अथवा 'बहिर्गीत' का उल्लेख पांचवे अध्याय में किया है जिसे निरर्थक गीत भी कहा गया है और इसके आविष्कर्ता नारद माने गए हैं ;-

चित्रदक्षिणवृत्ते तु सप्तरूपे प्रकीर्तिता।
सोपोहने सनिर्गीते देवास्तुत्यभिनन्दिते॥
नारद्दैस्तु गंधर्वैंसभायाम देवदानवाः ।
निर्गीतं श्रावितः सम्यग्लयतालसमन्वितम्॥

अर्थात् जब नारद मुनि आदि वाद्यविशारदों और गन्धर्वों के द्वारा चित्र और दक्षिणमार्ग से युक्त, सप्तरूप समन्वित उपोहन किया और 'निर्गीत' के साथ देवताओं की स्तुतिओं से प्रशस्त स्वरूप वाले तथा लय और ताल के उचित मेल से युक्त उस निर्गीत को देवता और दानवों की सभा में सुनाया गया। आचार्य भरत ने 'निर्गीत' का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि –

निर्गीतं गीयते यस्माद्पदं वर्ण योजनात्।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम्॥

अर्थात् यह शब्द या पद रहित केवल निरर्थक वर्णों की योजना से गाए जाने के कारण 'निर्गीत' कहलाता है और यही देवगणों की असंतुष्टि के कारण 'बहिर्गीत' भी कहलाता है।

इस निर्गीत में स्तोभाक्षरों या शुष्काक्षरों का प्रयोग होता था। ओंकार और स्वर-व्यंजन-युक्त हकार की गणना भी स्तोभाक्षरों में है। इनका प्रयोग वैदिककाल से भारतीय संगीत में प्रचलित है। शुष्काक्षरों से युक्त छंद का रूप भी नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है जैसे – **दिग्ले दिग्ले झण्टू झण्टू। जम्बुकपलितक ते ते चाम॥**

इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि निरर्थक शब्दयुक्त गीतों का गान भारतीय संगीत में प्राचीनकाल से प्रचलित है। इन प्रमाणों के अनुसार तराना जिसका प्राचीन नाम निर्गीत या बहिर्गीत था अमीर खुसरो की रचना नहीं है, उसके कर्त्ता नारद हैं। उसके रूप में युगानुकूल परिवर्तन होता रहा। प्रबंध काल में एक प्रबंध के समान, ध्रुपद काल में ध्रुपद के साथ और अब ख्याल के काल में ख्याल के समान त्रिवट व तरानों को गाने की परिपाटी चली। इतिहास में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अमीर खुसरो फ़ारसी ,अरबी और तुर्की के विद्वान थे व ईरानी संगीत के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप से परिचित थे, परन्तु उन्हें 'तराना' का आविष्कारक कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। संभवतः निर्गीत से मिलते-जुलते किसी गीत का गान ईरानी या फ़ारसी संगीत में होता रहा हो इसलिए खुसरो के साथ भारतीय निर्गीतों को भी फ़ारसी भाषा के तराना शब्द से संबोधित किया जाने लगा।

पं. भातखण्डे जी के क्रमिक पुस्तक मालिका के अतिरिक्त अन्य कई किताबों में उपलब्ध तरानों में कभी-कभी मृदंग के बोल अथवा फ़ारसी भाषा के एक-दो शेरों का संयोग दिखाई देता है। फ़क़ीरुल्लाह ने अपने ग्रन्थ तर्जुम-ए-मानकुतूहल व रिसाल-ए-रागदर्पण में तराने के विषय में कहा है कि 'तराना' में 'ता ना तिली' आदि शब्दों के अतिरिक्त उर्दू व फ़ारसी भाषा के सार्थक शब्द भी होते हैं तथा 'तिल्लाना' में केवल निरर्थक बोलों का समावेश होता है। इसके संबंध में प्रो. शहाब सरमादी ने कहा है कि **"It is to be borne in mind that Ta-na-tilli happened to be Tala-style, instead of solfa syllables, and never a jingle of meaningless or extemporized words."** फ़क़ीरुल्ला ने जिस प्रकार के तराने का वर्णन किया है उसके प्रमाण क्रमिक पुस्तक मालिका तथा 'नादविनोद' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है जिसका उद्धरण तराने के प्रकार के अंतर्गत किया जायेगा। इन उदाहरणों तथा फ़क़ीरुल्लाह के विचार से प्रमाणित होता है कि तराने के वास्तविक स्वरूप में निरर्थक शब्दों के अतिरिक्त सार्थक शब्द भी होते थे जो आजकल कम प्रचार में है। तराने के उद्भव के विषय में भले ही मतभेद हो मगर इसकी लोकप्रियता के सन्दर्भ में सभी विद्वान एक मत हैं। जब गायक ख्याल गायन प्रस्तुत करके अंत में तराना प्रस्तुत करता है तो श्रोताओं में एक नई चेतना का संचार होता है। वर्तमान में सामान्यतः 'ख्याल' गाने के बाद 'तराना' को मध्यलय/द्रुत लय में प्रस्तुत करते हुए उसके बोलों व ताल के सामंजस्य से एक विचित्रता उत्पन्न की जाती है। 'तराना' अधिकतर मध्य तथा द्रुत लय में ही गाया जाता है परन्तु संगीत के अनेक पुस्तकों में विलंबित तराने भी देखने को मिलते हैं, जिसे कुछ विद्वान 'ख्यालनुमा' तराना कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'तराने' को बनावट के आधार पर निम्नानुसार समझा जा सकता है :-

1. **तराने का एक प्रकार जिसमें स्थायी व अंतरा दोनों में केवल तराने के बोल होते हैं, आजकल अधिकांशतः तराने का यही स्वरुप प्रचार में है।**

राग – भूपाली

स्थायी – तोम तना देरेना तनोम तदियाना रे ,

तारे दानि तदारे दानि नाद्रे तुंद्रे दीम तारे दानि तदानि तदारे दानि ।।

अन्तरा- तनन तनन तोम तदारे तन देरे,

तानोम तनोम ओदतन दीम तदीम दीम दीम

तोम तोम तदियान रे तारे दानि तदानी तदारे दानि ।।

2. **तराने का दूसरा प्रकार जिसमें मृदंग आदि के बोल भी होते हैं :-**

राग –देस

स्थायी - तदारे दानि दीम तन देरेना ,

तन देरेना तन देरेना ।।

अन्तरा – ना दिर दिर दानि तुम दिर दिर दानि तदारे दानि,

दियानारे तोम तन तक्घड़ान तिरकिट तक्घड़ान धा ।।

3. **तराने का तीसरा प्रकार जिसके स्थायी में तराने के बोल तथा अंतरे में फारसी भाषा के अर्थपूर्ण पंक्तियों का समावेश होता है :-**

राग- बिलासखानी तोड़ी

स्थायी- अते तदेदानि दीम तननन दीम् तननन

दारा दारा तारे दान्नी तर दे तर दे तरे उदानि तदानि दारा दारा।

अन्तरा- बर मजारे मा ग़रीबां इं चराबां चूं गुले।

ने सरे परवाना दारद ने फोआ ने बुलबुले।।

4. **पं. पन्नालाल गोस्वामी के ग्रन्थ 'नादविनोद' में तराने का एक प्रकार उद्धृत है जिसमें फ़ारसी भाषा की पंक्ति के स्थान पर हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषा की कविता का समावेश है :-**

राग- तोड़ी

स्थायी- अरे मन दर तुम दर तदानी दरनिले तू नदानि न दानी तरसे।

अन्तरा- तरनरे तारनरे दरतुं दरदे तुंदर तुमरे तुम तनम दरसे।

आभोग-कैसी ये भांत चपला सुघर ना बोले, ऐसी सुन्दर सूसरसे तर दरादर तरदरादर दरबार मन, आ मेरे सुन्दर-सुन्दर तरीर तरीर राखूं सुघरसे। (नाद-विनोद)।

इसी तरह वर्तमान में 'तिल्लाना' कर्नाटक संगीत में प्रयुक्त एक महत्त्वपूर्ण गीत-प्रकार है जिसे उत्तर भारतीय तराने का पर्याय माना जाता है। फकीरुल्लाह के अनुसार तराने में कविता अर्थात् सार्थक पद के साथ 'ता ना तिली' आदि निरर्थक शब्दों का समावेश तथा दूसरी ओर 'तिल्लाना' में केवल निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता था। तिल्लाना के विषय में डॉ. सुभद्रा चौधरी का विचार है कि ''यह नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत है जिसमें प्रमुख रूप से तों, तनन, न, दे, धिम् जैसे निरर्थक अक्षर, सोलकट्टु अर्थात् पाटाक्षर और स्वर तथा चरणम् में पद रहता है। इसकी रचना 18वीं सदी के वाग्गेयकारों के द्वारा हुई।'' आचार्य तुलसीराम देवांगन के अनुसार 'तिल्लाना' नृत्य के साथ प्रयुक्त ताल, पद, स्वर एवं तेनादि स्तोभाक्षरों से युक्त रचना है। उत्तर भारतीय 'तराना' के समान इसकी रचना होती है। पद के रूप में संस्कृत या तेलगू भाषा या अन्य दाक्षिणात्य भाषा के शब्द रहते हैं। 'ति' 'ल' 'ला' 'ना' आदि अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। इसी से इसका नाम 'तिल्लाना' है। इसमें 'चोलुकेट्टुओं' (विभिन्न प्रकार के बोलों) की प्रधानता होती है। तराना एवं तिल्लाना का वर्तमान स्वरूप फ़कीरुल्लाह के मत के ठीक विपरीत हैं क्योकि तराने में शब्द या कविता का अभाव है तथा तिल्लाना में निरर्थक शब्दों के अलावा दाक्षिणात्य भाषा के शब्द पाये जाते हैं। तराना एवं तिल्लाना में समानता एवं असमानता दोनों है अस्तु तिल्लाना को तराने का पर्याय कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध विद्वान गायक पं. विद्याधर व्यास जी का आगमन इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,खैरागढ़ में सन् 2000 में हुआ था। 'मल्हार के प्रकार' विषय पर अपने प्रदर्शनात्मक व्याख्यान के दौरान उन्होंने राग गौड़ मल्हार में एक तराना **'तन ना दिर दिर दानि'** प्रस्तुत की जिसमें छोटी-छोटी तानों का प्रयोग करते हुए कहा था कि यह **'तनायती तराना'** है। अर्थात् ऐसा तराना जो गायक को तान करने के लिए प्रेरित करे **(दृष्टव्य : मल्हार के प्रकार - पं. विद्याधर व्यास, सन् 2000- वि.वि. ऑडियो-विजुअल विभाग)।** इसी तरह के तराने को कुछ संगीतविद् 'तान बंधान' तराना भी कहते हैं जिसमें गायक तराने को अपने-अपने ढंग से विभिन्न प्रकार के तानों से सजाते हैं। उल्लेखनीय है कि छत्तीसगढ़ के लोकगीतों में भी तराने के जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता है। छत्तीसगढ़ का लोकसंगीत अत्यंत समृद्ध है। यहाँ लोकगीतों का प्रयोग विभिन्न अवसरों में होता है, जिसमें से छेरछेरा पूर्णिमा के अवसर पर गाये जाने वाले 'डंडा गीत' तथा सावन मास व दीपावली के अवसर में प्रयुक्त 'सुआ गीत ' में निरर्थक बोलों का प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे डंडा गीत के साथ – **'ये हरि ना ना मोर नाना रे भैया'** तथा सुआ गीत के साथ **'तरी ओ हरी नहा नरी नहा नरी ना ना ना रे सुआ हो तरी ओ हरी नहा नरी नहा नरी ना'** आदि तराने के सदृश शब्दों का प्रयोग होता है।

कला की परिवर्तनशीलता उसकी जीवन्तता का प्रमाण है। संगीत एक अमूर्त कला है, इसलिए परिवर्तन इसके बाह्यस्वरूप में ही देखा व महसूस किया जा सकता है इसीलिए उसकी आत्मा उसी रूप में सदियों से विद्यमान है। कोई भी परिवर्तन या सृजन अनायास नहीं होता। संगीत की मुख्य धारा के साथ अनेक सहायक धाराएं समानांतर प्रवाहित होती रही हैं और समय के साथ वही सहायक धाराएं कालांतर में मुख्य धारा में जुड़कर उसे मज़बूत और प्रवाहमान बनाती रही हैं। संगीत में प्रचलित गीत-प्रकार एकाएक अस्तित्त्व में नहीं आये बल्कि समानांतर चलने वाली

चीज़ों को समय-समय पर विद्वानों ने परिमार्जित और परिष्कृत कर अपनाया है। इसी तारतम्य में प्राचीन काल से 'तराना' गायकी का अस्तित्त्व भी रूपभेद से भारतीय सगीत में रहा है। वर्तमान में केवल द्रुत लय के संक्षिप्त तराने अधिकतर प्रस्तुत किये जाते हैं जो तराने का एक प्रकार मात्र है। अतः इसे अमीर खुसरो का आविष्कार, केवल निरर्थक बोलों का समूह तथा द्रुत लय में गाये जाने वाला गीत प्रकार कहना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

संदर्भ :-

- नारदीय शिक्षानारद :, शिवराज आचार्य कौण्डियायन, श्लोक-07 पृष्ठ क्र .24,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-2002 संस्करण।
- मतंग मुनि : बृहद्देशी खण्ड)02)-, केसाम्बशिव शास्त्री ., श्लोक 264-265, पृष्ठ क्र .76 त्रावणकोर संस्कृत सीरीज़ -1928।
- बावरा डॉ. जोगिन्दर सिंह: भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, पृ0 क्र0 97-98, ए. बी. एस. प्रकाशन, जालन्धर, 1994।
- रसूल ग़ुलाम : तराना अंक, सगीत पत्रिका , जनवरी 1968, , पृष्ठ क्र. 16 सगीत कार्यालय हाथरस।
- Ustad Amir Khan : Interview in London, https://youtu.be/HatNtgCuA-0
- आचार्य भरत : नाट्यशास्त्र पंचम अध्याय श्लोक संख्या 31-32, पृष्ठ क्रमांक-162 ,संपादक एवं व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संसथान, वाराणसी।, वही श्लोक संख्या-43 , पृष्ठ क्रमांक 165
- वही श्लोक संख्या-113 , पृष्ठ क्रमांक 182
- Sarmadi Shahab: Tarjuma-i-Manakutuhal & Risala-i-Ragadarpan (English Translation), published by Indira Gandhi National Centre for the Arts,1996,page no 284 .
- भातखंडे पंडित विष्णुनारायण : क्रमिक पुस्तक मलिका भाग -03, पृष्ठ क्रमांक 36, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
- वही पृष्ठ क्रमांक 278-79
- रसूल ग़ुलाम : तराना अंक, सगीत पत्रिका , जनवरी 1968, , पृष्ठ क्र. 17 सगीत कार्यालय हाथरस।, वही पृष्ठ क्रमांक-18
- चौधरी सुभद्रा: भारतीय संगीत मे निबद्ध, पृष्ठ क्रमांक 330, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली।
- देवांगन आचार्य तुलसीराम: भारतीय संगीत शास्त्र, पृ0 क्र0 367, म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

वर्तमान शिक्षा में 'संगीत शास्त्र' की सहभागिता एक चर्चा

डॉ. श्रुति कश्यप

भारतीय संस्कृति में 'शिक्षा' को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्राचीन काल से ही गुरुओं द्वारा अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा दिए जाने संबंधी अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस बात में कोई संशय नहीं है कि संगीत के विकास में शिक्षा का योगदान सर्वप्रथम है। प्राचीन भारत में संगीत को धर्म के साथ जोड़कर देखने की परम्परा थी। अर्थात् धर्म के लिए संगीत का व्यवहार समाज में होता था। सामाजिक पर्व-उत्सवों के माध्यम से संगीत संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन होता था। रामायण, महाभारत आदि धर्म-ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह बात पुष्ट हो जाती है। 'संगीत को संरक्षण प्रदान करने तथा अग्रिम पीढ़ी तक पहुँचाने के उद्देश्य से शिक्षण की आवश्यकता होना स्वाभाविक था, इसलिए ऋत्विजों को सामगान का विशेष प्रशिक्षण मूल सामग ऋषियों द्वारा दिया जाना अनिवार्य था। संभवतः यही से संगीत शिक्षा का प्रारंभ हुआ।'

उल्लेखनीय है, कि भारत में प्राचीनकाल से अब तक संगीत शिक्षा की प्रमुखतः तीन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। पहली पद्धति प्राचीन ऋषि-मुनियों के आश्रमों में पल्लवित हुई, जिसके कारण इसे 'आश्रम' या 'गुरुकुल पद्धति' कहा गया। 'भारतीय संगीत-शिक्षा-प्रणाली मूलतः गुरुकुल-पद्धति पर ही आधारित रही है। गुरुकुल का अर्थ है- गुरु के गृह या आश्रम में रहकर विद्योपार्जन करना। जिन विद्यार्थियों को संगीत शिक्षा ग्रहण करने की प्रबल इच्छा होती थी, वे गुरु के आश्रम या घर में उनके साथ रहकर कई वर्षों तक लगातार संगीत की शिक्षा लेते थे।

दूसरी पद्धति 'गुरु-शिष्य परम्परा' के रूप में घरानों के माध्यम से प्रसिद्ध हुई। यह पद्धति आश्रम या गुरुकुल पद्धति से अनुप्राणित थी, जहाँ विद्यार्थियों को गुरु के सम्मुख संगीत की शिक्षा प्राप्त होती थी। 'संगीत शिक्षा के सिद्धान्तों का ज्ञान गुरुमुख के द्वारा प्रत्यक्षिक के साथ दिया जाता था। विद्वज्जन तथा रसिकों के समक्ष जब संगीत का प्रदर्शन अभीष्ट था तो यह आवश्यक था कि छात्र अपनी गुरु परम्परा का वहन अखण्डित रूप से करे।' तीसरी पद्धति को 'संस्थागत संगीत शिक्षण' या 'आधुनिक शिक्षा पद्धति' के नाम से जाना गया। वर्तमान में आश्रम पद्धति पूर्ण समाप्त हो चुकी है, किन्तु संगीत शिक्षा के क्षेत्र में शेष दो पद्धतियाँ अभी भी व्यवहार में हैं। इन दो पद्धतियों में से आधुनिक शिक्षा पद्धति का क्षेत्र वर्तमान में अत्यधित विस्तृत हो चुका है।

उक्त वर्णित तीनों पद्धतियों में संगीत के प्रायोगिक और सैद्धान्तिक इन दोनों पक्षों की शिक्षा समान रूप से दिए जाने का विधान रहा है। विशेष रूप से गुरु-शिष्य परम्परा और संस्थागत शिक्षा पद्धति में विद्यार्थियों को संगीत के ये दोनों ही पक्ष समान रूप से सिखाये जाते हैं। संगीत का सैद्धान्तिक पक्ष मुख्य रूप से 'संगीत-शास्त्र'

पर आधारित होता है। प्राचीन समय से ही आचार्यों ने संगीत को शास्त्रबद्ध कर 'संगीत-शास्त्र' की रचना की। यद्यपि इस विषय का सूत्रपात भरत द्वारा नाट्यशास्त्र में किया गया तथापि मतंग, शारंगदेव आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों की रचना कर संगीत-शास्त्र के अंतर्गत गायन और वादन कला के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का विवेचन कर भारतीय संगीत को सुगठित स्वरूप प्रदान किया। उक्त आचार्यों के अतिरिक्त आधुनिक कालीन अनेक विद्वानों ने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखे गये संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों की समीक्षा, व्याख्या और अनुवाद कर प्राचीन परम्परा को गति देने में महति भूमिका निभाई।

भारत में संगीत शास्त्र के क्षेत्र में विदुषी डॉ. प्रेमलता शर्मा, डॉ. सुभद्रा चौधरी, डॉ. हरिहरनिवास द्विवेदी, डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, डॉ. राधेश्याम जायसवाल, डॉ. तेजसिंह टाक आदि अनेकानेक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय रहे हैं। इसके अतिरिक्त संगीत-शास्त्र के साथ-साथ प्राचीन ग्रंथों के आधार पर अनेक विद्वानों ने संगीत का व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया, जिनमें राजा सौरेन्द्रमोहन, ठाकुर जयदेव सिंह, डॉ. शरच्चन्द्रश्रीधर पराँजपे, के. वासुदेव शास्त्री आदि के नाम विशिष्ट रहे हैं। इन विद्वानों ने संगीत के शास्त्र और इतिहास पक्ष को परम्परा के साथ-साथ सिद्धान्तों के आधार पर विश्लेषित किया।

आधुनिक काल में संगीत की शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से प्रदान की जाने लगी, जो इससे पूर्व घरानों में गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में दी जा रही थी। यद्यपि गुरु-शिष्य परम्परा और घरानों का अस्तित्व अब भी है तथापि शिक्षा प्रणाली की दृष्टि से संस्थागत प्रणाली आधुनिक काल में संगीत-शिक्षा की प्रमुख पद्धति के रूप में स्थापित हो चुकी है। इसके कारण कुछ घराने विलुप्त हो गए। "जिन परम्पराओं में योग्य शिष्यों का निष्पादन होता रहा, वे बनी रहीं तथा जिनमें अच्छे शिष्य उत्पन्न नहीं हुए वे परम्परायें क्षीण होती चली गई या फिर विलुप्त हो गयीं।" अतः विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में संगीत की शिक्षा पाठ्यक्रम के अनुरूप प्रदान करने की व्यवस्था की गई। स्नातक और स्नातकोत्तर की कक्षाओं के रूप में संगीत-शिक्षा को नियमित समयावधि में बांध दिया गया। इसके अतिरिक्त संगीत के प्रयोग पक्ष के साथ-साथ सैद्धान्तिक पक्ष की शिक्षा विद्यार्थियों को दिए जाने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम निर्मित गये। उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय स्तर पर संगीत की शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ पहली संस्था रही है, इसके पश्चात् देश में अनेकानेक विश्वविद्यालयों में संगीत को विषय के रूप में सम्मिलित किया गया तथा सुचारू पाठ्यक्रम के माध्यम विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था हुई। विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली गायन, वादन की शिक्षा हेतु निर्धारित पाठ्यक्रम में 'संगीत-शास्त्र' को भी स्थान दिया गया। परन्तु स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों में संगीत शास्त्र को सीमित कर दिया गया। इसका एक कारण यह है कि विद्यार्थियों को प्रयोग और सिद्धान्त के साथ संगीत-शास्त्र के अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन सीमित अवधि में पूर्ण करना असंभव है। अतः प्रारंभिक समय में तत्कालीन विद्वानों ने विश्वविद्यालयों में संगीत का विषय

विभाजन कर दिया। जो विद्यार्थी संगीत के प्रायोगिक पक्ष का अध्ययन करना चाहते थे, उनके लिए अलग पाठ्यक्रम बनाया गया और जो विद्यार्थी विशिष्ट रूप से 'संगीत-शास्त्र' संबंधी अध्ययन करने में रुचि रखते थे, उनके लिए 'संगीत-शास्त्र' को विषय के रूप में पृथक् पाठ्यक्रम के साथ स्थापित कर दिया गया।

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, संगीत के शास्त्र पक्ष की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से प्रमुख केन्द्र रहे हैं। परन्तु धीरे-धीरे संगीत-शास्त्र विषय इन विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से बाहर हो गया अथवा शिक्षकों के सेवानिवृत्त हो जाने और उनके स्थान पर अन्य संगीत-शास्त्र से संबंधित शिक्षकों के न आने से यह पाठ्यक्रम प्रायः वर्तमान संगीत शिक्षा से दूर हो चुका है। परिणाम स्वरूप में संगीत-शिक्षा में 'शास्त्र' पक्ष अतिसीमित हो गया और वर्तमान यानी 21वीं सदी के तीसरे दशक के आते-आते लगभग संगीत-शास्त्र विषय का लोप ही हो चुका है।

संगीत-शास्त्र, जो मूलतः भारतीय शास्त्रीय संगीत का कभी आधार हुआ करता था, आज वही आधारहीन हो चुका है। इसके कारणों पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि संगीत-शास्त्र विषय गायन और वादन की शिक्षा की अपेक्षा अधिक कठिन और श्रमसाध्य है। इसका दूसरा और गंभीर कारण यह है कि प्राचीन संगीत-शास्त्र से संबंधित ग्रंथ संस्कृत भाषा में ही प्राप्त होते हैं, हालांकि अनेक प्राचीन ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद और व्याख्या की गई है तथापि अब भी ऐसे अनेक ग्रंथ है, जिनका अनुवाद नहीं हो सका है।

तीसरा कारण यह है, कि भारत में शालेय शिक्षा और उच्चशिक्षा में संस्कृत और हिन्दी माध्यम का स्थान अंग्रेजी भाषा ने ले लिया है। चूँकि सम्पूर्ण उत्तर और मध्य भारत में हिन्दी बोलचाल की भाषा भी है, अतः हिन्दी भाषा में अध्ययन की दृष्टि से उतनी समस्या नहीं आई, किन्तु संस्कृत भाषा का प्रचार अतिसीमित हो गया। अंग्रेजी माध्यम में संस्कृत भाषा की शिक्षा नहीं दी जाती तथा हिन्दी माध्यम की शालाओं में कक्षा दसवीं तक संस्कृत वैकल्पिक भाषा के रूप में पढ़ाई तो जाती है, किन्तु आज हिन्दी माध्यमों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में अपेक्षा से अधिक गिरावट आयी है। परिणाम स्वरूप संगीत-शास्त्र संबंधी प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने, समझने और उस आधार पर अध्ययन करने में विद्यार्थियों को होने वाली कठिनाई के कारण धीरे-धीरे संगीत-शास्त्र विषय के विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी।

संगीत-शास्त्र विषय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार ने एक साक्षात्कार में, वर्तमान संगीत शिक्षा में शास्त्र के स्वरूप और विद्यार्थियों के रुझान में परिवर्तन के संबंध में पूछे गये प्रश्न के प्रतिउत्तर में कहते हैं, कि- "शास्त्र के प्रति संगीत के विद्यार्थियों का रुझान प्रायः कम ही देखा जाता है। आज भी कम है और पहले भी कम ही था, बहुत ज्यादा नहीं था। तो बहुत अन्तर तो नहीं आया है। यह अवश्य है कि जैसे पहले क्रियात्मक क्षेत्र में भी काम करने वाले वाले विद्यार्थियों में ज्यादा सिंसियारिटी पाई जाती थी वैसी ही सिंसियारिटी शास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थियों में भी होती थी। अब उस सिंसियारिटी का अभाव आज प्रयोग में भी

मिल रहा है। जो समर्पित विद्यार्थी संगीत के प्रयोग को सीखने को तत्पर नहीं होते हैं, बस किसी प्रकार से डिग्री प्राप्त कर लें और नौकरी मिल जाए, सीखना उनको बहुत ज्यादा न पड़े। तो वो स्थिति, जैसी आज प्रयोग में है, लगभग वैसी ही उपेक्षा शास्त्र पक्ष में भी है बस अन्तर खाली क्या आ गया है, कि शास्त्र में पहले नियमित पाठ्यक्रम चल रहा था, बनारस विश्वविद्यालय या खैरागढ़ विश्वविद्यालय में, तो वहीं पर अध्ययन अध्यापन होता था। आज की स्थिति में लगभग यह पाठ्यक्रम न के बराबर चल रहा है, तो ऐसी स्थिति में जो विद्यार्थी थोड़ा-बहुत उत्सुक रहे भी हैं इस विषय में, तो उनको बहुत मौका नहीं मिला शास्त्र पढ़ने का अब केवल जो प्रयोग के विद्यार्थी हैं यदि वे जानना चाहते हैं तो उनको अवश्य हम जानकारी उपलब्ध कराते हैं। औपचारिक तौर पर अब यह पाठ्यक्रम न के बराबर है। अभी फिलहाल इस वर्ष औरंगाबाद विश्वविद्यालय में ये पाठ्यक्रम शुरु किया गया है।

प्रो. ब्यौहार की बातों से स्पष्ट है, कि संगीत शास्त्र का पाठ्यक्रम अब लगभग समाप्त हो चुका है। विद्यार्थियों में भी इस विषय को लेकर कोई उत्सुक्ता विशेष रूप से दिखाई नहीं देती। इतना अवश्य है, कि विश्वविद्यालयों में संगीत पर शोध कर रहे शोधार्थियों का एक वर्ग ऐसा दिखाई देता है, जिन्होंने प्राचीन संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों पर अपना शोध-कार्य पूर्ण किया है अथवा कर रहे हैं। यहाँ भी समस्या यह है, कि शोधार्थियों को शास्त्र-पक्ष के विषय में मार्गदर्शन का प्रायः अभाव ही रहता है और संस्कृत भाषा से संबंधित समस्या अपने स्थान पर यथावत है। ऐसे शोधार्थी जैसे-तैसे अपना शोध-कार्य तो कर लेते हैं, किन्तु भविष्य में उस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य अथवा संगीत-शास्त्र से संबंधित कोई विशेष कार्य करने के प्रति उनका रुझान कम ही होता है। ऐसी परिस्थितियों में जो शोध-कार्य हुए भी हैं, तो वे विश्वविद्यालयों के ग्रंथालयों में अज्ञातवास भोग रहे हैं।

विश्वविद्यालयों तथा अन्य संगीत शिक्षा से जुड़ी संस्थाओं द्वारा समय-समय पर आयोजित होने वाली राष्ट्रीय व अंतराष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियों में कभी-कभी संगीत-शास्त्र से संबंधित विषय दिखाई दे जाता है। वर्तमान में इस तरह के अधिकांश आयोजन प्रायः समकलीन विषयों और परिस्थितियों पर केन्द्रित होने लगे हैं।

आधुनिकता के इस दौर में भारतीय शास्त्रीय संगीत अत्याधिक प्रभावित हुआ। जैसा कि डॉ. ब्यौहार ने बताया कि विद्यार्थियों का मूल उद्देश्य डिग्री लेकर रोजगार प्राप्त करना है। इन परिस्थितियों के कारण संगीत के शास्त्र पक्ष के साथ-साथ क्रियात्मक पक्ष भी कुछ सीमा तक कमजोर होता दिखाई देता है। इस आधुनिक युग में विद्यार्थियों की मानसिकता पर अति-आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इंटरनेट, यूट्यूब और सोशल मीडिया जैसे अनेक ऐसे माध्यम आज सहज उपलब्ध हैं, जहाँ प्रारंभिक स्तर के विद्यार्थी भी संगीत का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करके प्रस्तुतियाँ देने लगे हैं। संगीत के वरिष्ठ गुरुओं और विद्वानों का मानना है, कि संगीत साधना से प्राप्त हो सकती है और इसके लिए धैर्य, परिश्रम, ईमानदारी के साथ-साथ समर्पण का भाव नितान्त अनिवार्य है। गुरु-शिष्य परम्परा में आज भी गुरु की आज्ञा के बिना शिष्य अपनी कला की प्रस्तुति मंच पर या

सोशन मीडिया पर नहीं दे सकता। घरानों में बरसों से चली आ रही यह परम्परा आज भी वैसी ही बनी हुई है। संस्थाओं में इस भावना का प्रायः अभाव ही दिखाई देता है। समस्या यह भी है, कि आज संगीत सीखने वाला प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम समय में 'कलाकार' बनना चाहता है और कलाकार बनने का एकमात्र उद्देश्य धनार्जन है, न कि संगीत-साधना। यद्यपि आज भी ऐसे अनेक विद्यार्थी हैं, जो संगीत के प्रति समर्पित भाव से साधना कर रहे हैं, किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत सीमित ही दिखाई देती है।

वस्तुतः उक्त वर्णित संगीत-शिक्षा संबंधी बातें, वास्तव में वे कारण हैं, जिसके कारण संगीत में शास्त्र की सहभागिता प्रायः लुप्त होने की प्रतीक्षा कर रही है। संगीत शास्त्र पर हो रहे शोध के माध्यम से 'डूबते को तिनके का सहारा' जैसी स्थिति अवश्य बनी हुई है, परन्तु उसका भविष्य भी अंधकार में ही दिखाई देता है। साहित्य जगत में भी संगीत संबंधी प्राचीन संस्कृत भाषी ग्रंथों का अनुवाद अब प्रायः समाप्त हो चला है, आज जो अनुवादित व व्याख्या सहित ग्रंथ प्राप्त होते हैं, वे सभी पूर्वाल्लेखित विद्वानों द्वारा किए गए हैं, जिसके कारण संगीत-शास्त्र के क्षेत्र में प्राणवायु के समान अपनी भूमिका निभा रहे हैं।

संगीत-शास्त्र रूपी ग्रंथ वास्तव में भारतीय शास्त्रीय संगीत प्राचीन धरोहर होने के साथ-साथ आदि-अनादि काल से चली आ रही भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला के प्रतिनिधि हैं। इन ग्रंथों और इनमें निहित संगीत शास्त्र को सहेजना भी संगीत-शिक्षा से जुड़े प्रत्येक वर्ग का दायित्व है। परन्तु समस्या यह है कि विद्यार्थियों में शीघ्रातिशीघ्र कलाकार बनने की होड़, रोजगार और आराम पसंद जीवन, अति-आधुनिकता का प्रभाव पड़ चुका है। संस्थाओं में संगीत-शास्त्र से संबधित पाठ्यक्रम भी समाप्त कर दिए गए, यदि कोई विद्यार्थी अध्ययन करना भी चाहे तो उसके समक्ष संस्थाओं का अभाव है। इस तथ्य को भी समझना अनिवार्य है, कि संगीत के क्षेत्र में जितनी आवश्यकता कलाकारों की है, उतनी ही आवश्यकता 'संगीत-शिक्षक', 'कला-समीक्षक', 'अनुवादक', 'व्याख्याकार', 'कला इतिहासकारों' की भी है, इसी से संगीत का भविष्य सुरक्षित भी रह पायेगा। अतएव वर्तमान संगीत की शिक्षा व्यवस्था में 'संगीत-शास्त्र' की सहभागिता आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत होती है।

संदर्भ सूची-

- शर्मा, डॉ.राधिका, "भारतीय संगीत को संस्थानों और मीडिया का योगदान", संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 03
- शर्मा, डॉ.राधिका, "भारतीय संगीत को संस्थानों और मीडिया का योगदान", संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 11
- परांजपे, डॉ.शरच्चंद्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1994, पृ. 146
- चौबे, अमरेश चन्द्र, "संगीत की संस्थागत शिक्षण-प्रणाली", कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, प्रथम संस्करण, 1988 पृ. 9
- संगीत गैलेक्सी, यूट्यूब चैनल पर प्रसारित प्रो. अनिल बिहारी ब्यौहार से 9 दिसम्बर, 2021 को हुई बातचीत के अंश, विडियो टाईम 9.30 मिनट से 11.35 मिनट, लिंक-https://youtu.be/-EKh-SistGQ (assess on 12-04-2022)

HUMANISING ANIMALS IN ADVERTISING

Dr. Debasish Chakraborty

Anthropomorphism is the process of assigning real or imagined human characteristics, motivations, or emotions to non-human objects. People have imbued creatures from natural world with human traits and motivations.The concept of portrayal of anthropomorphic animal is well evident in different occasions in Indian mythology, where non anthropomorphic forms were fused with anthropomorphic forms to present a divine image with a human experience. For example the depiction of *Lord Ganesha* in Indian mythology is a fused imagery with the head of an elephant and the body of human being. Many other animals such as elephant, tortoise, bull, fish etc. also played different interesting role in Indian mythology. This response toward portrayal of such anthropomorphic animals along with human characteristics also plays an important role in advertising, because people tend to draw toward things and objects that are similar to themselves. The physical similarities of the animals with that of humans associate the product, service or idea to create and enhance positive image about the product. Advertisers have capitalised on this tendency by creating a variety of anthropomorphic animal mascot for various brands, services, ideas and packaging materials. Animal mascots as trade symbol have been an important element used in Indian advertising along with other pictorial representations such as logo, symbols, and trademark etc. Every civilisation looks at animals, birds and other creatures in its special way. The Romans saw animals as fierce which has to be tamed and controlled for human survival. The Greek saw them as symbol of power and affluent. Though the animal kingdom have not undergone major changes in terms of their shape or appearances, their presence and perception in human life have undergone changes from age to age. They have been presented in beautiful forms in paintings, sculptures, pottery, architectural designs and every other human activities that finds expression of human imagination are often use as symbols of power, identity, beauty, elegance, dignity and wisdom and affluence. The symbolic and dominant presence of animals in Indian culture, portrays animals to be inspiring growth, promoting unity and prosperity which gives us the glimpses of the incomparable diversity of Indian forest landscapes, animals and birds shown as exotic symbols of Indian religious culture especially.

The most popular amongst them is the Lord *Ganesha*, with the head of an elephant and Lord *Hanuman* with the body of the monkey, symbolises auspiciousness, strength, devotion and power. The fascinated world of animals and birds were well depicted with their powerful presence in Indian art also where the creatures were depicted as companions of deities, mythical beasts, hybrid animals, anthropomorphic forms, religious symbols, presented in different poses, aspects and forms. The diversity of the animals depicted on cave or rock paintings of

Bhimbetka, Seals of HarappanCivilisation, with frequent occurrence of bulls, hybrid animals, multi hooded cosmic serpent, cosmic boar, elephant represents the stature of being divine.

Various other animals like tiger, lions, deer, elephant, monkeys, birds, one horned rhinoceros, crocodiles, antelopes, and squirrel were also depicted in their natural surroundings, hunting scenes, on seals, stone reliefs, rock cut halls, sculptures, and paintings features to be hallmarks of Indian Art. The finest amongst them is the lion capital at Sarnath erected by Asoka provide us with the best remaining example of Mauryan Art that projects the mood of grandeur is also adopted as the emblem for the modern republic of India.

The fascinating world of animals were also depicted in the rock-cut monasteries with images of elephant, horse, monkey etc, participating in cosmic events. The association of animals in Indian art also features the anthropomorphic animal characters, where mythological stories such as incarnation of Vishnu as the cosmic boar, *Varaha* which is his third descent-*avatara* depicts the churning of the milk sea ocean, *Makara*-the mythical beast, that is a part of crocodile and part elephant, multi hooded serpent *Ananta*, slaying of buffalo demon – *Mahisasura*were remarkable in their depictions(Craven,1997). The Gupta period provides us with some of the earliest surviving examples of Indian painting in continuous visual narration along the wall and the best preserved are located in the twenty nine caves at Ajanta, one such example depicts image of an elephant in lotus pond, one of many small panels decorating the ceiling, representing the huge mammal scattering lotus. The image was later incorporated in the logo of Ministry of Tourism, Government of India. The elephant is but one of the hundreds of animals-horses, bulls, birds, monkeys and others which were brightly woven through the pictorial fabric at Ajanta .Moghul school of painting also depicts the subtle native Indian elements with images of animals, birds, flowers, vegetation and landscapes. Also to mention *Pahari,Jain* and *Rajasthani* paintings depicts animals in various occasions.

Indian advertising scene also spearheaded a notable contribution in depicting animal imagery in various forms like- fictitious characters, mascots, anthropomorphic forms of the diverse sets of the animal resources of India that reflects the uniqueness of the animals apart from birds and vegetation, representing the wisdom, power, beauty, opulence and grandeur that uphold and dignify the indigenous fauna and also restore the conservation issues through powerful visualisation and gratification. Animals were used as visual metaphors, symbolic of the role played in a society in advertisements to draw the attention of the potential consumers to deliver a specific message without too many words.

The association of animal imagery in Indian advertising represents an integral aspect of consumer behaviour with various images taken from Indian mythology, legends, and epics, which also directly associate them with religious embodiment and national symbols. For example the caricature of *Shera,* the mascot of the XIX Commonwealth Games 2010, is taken from the *Hindi* word '*Sher'* (means 'Tiger' in English), embody the power and courage associated with Goddess *Durga,* who acts as a powerful vehicle, that the goddess rode in her epic and victorious battle against '*Mahisasura'*, a dreaded demon with the body of a buffalo in

Indian mythology. His athletic proficiency, courage and speed in well evident with the human like portrayal with jersey, boot and most interestingly the folded hand, commemorating Indian hospitability. Majestic animal, elephant is also associated with Indian mythology that had accredited the anthropomorphic representation of animals in Indian advertising.The mascot of Indian Railways -*Bholu the Guard Elephant*, represents the embodiment of the caricature of an elephant in the attire of a railway guard holding a signal lamp with green light in one hand symbolising safety of a running train and the well-being of the passengers. Such physical similarity to humans is indeed an important determinant of how people react to such visual representation appeared in the various print advertisements, logos and symbols, posters packaging design etc.

Caricatures also had a decisive role to carry out with the association of personification of animals and other living creatures in advertising. They are often used in advertising, especially in print and television commercials, giving a human characteristic which makes humourous appeal with their special physical appearances. These animals are neither real animals nor real humans but are hybrids or fake animals. Advertisements that feature anthropomorphic representation of the image of animals are often very successful due to the hilarious approach of the presentation which associates the creature with human activity.

Such physical similarity to humans is indeed an important determinant of how people react to such visual representation with caricatures to stimulate positive humourous appeal. Several other animal mascots for companies like *ShareKhan Ltd, BritanniaTiger Biscuits,*appeared in the various print advertisements, packaging design etc. to cater the taste and need of Indian consumers with witty anthropomorphic image that resembles human characteristics. The concept of brand mascots which was discussed earlier, finds an important place to justify the use of cartoons and caricature in advertising for children. It catches the attention of the children and creates an emotional connection with kids and engages them in the brand that results in acceptance of these fictitious characters to become child's best friend.Modern advertising that flourishes with development of technology and research had led to increased sophistication in advertising in recent time.

Digital enhancements of visual images were now possible with the help of various tools. From the hand painted hoardings to digital advertising, creativity in Indian advertising made a spectacular transition from its early stage to recent time. With innovative and creative execution of the advertising message, irrespective of theme, advertising appeal, visual elements, and execution style, a complete makeover is evident with widespread usage of various technique and rendition in recent time. The unlimited scope of accommodating creative talent and the capability for experimentation in the advertising world has created a niche space for animation.

The concept of animation in brand endorsements gives room to creative experimentation and the flexibility to make the character in both 2D and 3D formats to do things that are beyond the reach of humans. The impact and success, however, depends on how effectively it conveys the brand values and the ideals that consumers would associate with. Animation provides an

important identity to the brand and helps fixing it firmly in the imagination of the targeted consumers. The developments and application of animation had challenged the monotony of the static characteristic of the presentation in recent time and have provided a new domain for creative advertising in India. For example,*Fevicol* has re-invented the humour appeal of the brand image from the static 2D logo in its recent animated TVC with the playful gesture of the 3D images of the two elephants, celebrating the power of bond, ushered a new trend of humour Indian advertising. The changing trend of concept and technology had instigated few such occasions where 2D and 3D characters of animals were used in advertising to create positive brand identity in real life situation. Advertisements for brands like *Mortein*, *Harpic, Allout,* and many other brands*,* featured animated images of tiger, frog, cockroaches, mosquito, spiders etc. to create new dimensions for depicting the humourous image of an animal within a new set of effective forms which shows a fresh approach for visual embodiment of anthropomorphic representations.Children often react with fondness to various cartoon characters that display positive characteristics. They educate the children about the image of an animal and at the same time create a positive brand image which promotes the concept of environmental awareness and conservation of certain species of animals among the children. For example, global animal mascots such as*Tony -the Tiger*, *Kellogg's Rooster,Kellogg'sChocosBear,Kellogg's Honey Pops* are some of the variety of anthropomorphic animal mascots used on the packaging designs of the breakfast brand to attract the children that had associated a long enhanced bonding between animals and human being with a noble reason forenvironmental conservation and animal protection.

References :-

Bhojanna,U and Murthy, S.N. *Advertising, An IMC Perspective,* Excel Books,2007.

Choudhuri, Arun. *Indian Advertising: 1780-1950 A.D,*Tata McGraw Hill Education,2007.

Choudhuri, Arun. *Indian Advertising Laughter & Tears 1950-2003*Niyogi Books, 2014.

Craven, Roy. C. *Indian Art, A Concise History,* Thames and Hudson,1997.

D'Souza, A. *Advertising and Promotions: An IMC Perspective*, Tata McGraw-Hill Education, 2009.

Desai, S. *Amul's India: Based on 50 years of Amul Advertising*, Harper Collins,2012.

Gupta, Om.*Advertising in India Trends and Impact*, New Delhi, Kalpaz Publication, 2005.

Gupta,Ruchi.*Advertising Principles and Practices: With 17 Recent Indian Cases*, New Delhi, S.Chand Publishers,2012.

Kazmi, S.H.H and Batra, S. *Advertising and Sales Promotion,* Excel Books,2008.

Rege, G.M.*Advertising Art and Ideas,*Himalayan Art Book Centre,1990.

Singh,Raghuvir.*Advertising Planning and Implementation,* PHI,2009.

Sharma,Sangeeta.*Advertising Planning and Implementation,*PHI,2009.

Shah,Kruti. *Advertising and Promotions: An IMC Perspective*, Tata McGraw-Hill,2009.

Sahay, Kesari. N. *An Anthropological Study of Cartoons in India*, Commonwealth Publishers,1998.

Influence of Archetype Patterns in Indian Paintings

Mrs. Juhi Latwal Mehra

We are surrounded by types of forms and patterns that are geometric, numeric, planetary, etc. These forms are widely recognized as Archetype forms. Pythagoras founded a school of philosophy and mysticism on the premise that "all is number"**.**Plato was another philosopher who share a deeper knowledge about forms and types but failed to describe their influences and evolution in World. There are different views on Archaic forms, according to John Sanford, something is an archetype meansit is an essential building block of the personality**.**The Archaic forms or types differ according to the field of study but in the end, they are interconnected and inseparable. They sometimes are categorized into different categories one of which is Universal Archetype. Universal archetypes are those symbols, signs that have a similar meaning and impact for example- hero, mother goddess, etc. Nature rest on the internal foundation of archetypal principle symbolized by numbers, shapes, and their arithmetic and geometric relationship.

In Jung's opinion,an archetype is an inherent idea or mode of thought derived from the experience of the species /race and present in the individual and collective unconscious. Jung is credited for identifying Archetype form as a source of the collective unconscious. Similarly, Frye was first in literature, and Frazer has brought out the importance of Archetype in Mythology. This proves that these symbols which are most of the time ignored hold an important position in understanding not only their philosophical and psychological hidden meaning but also that they are inbuilt in us and work like DNA. Archetypes are the forms, patterns,patternsof behavior,and symbols that can neither be created nor be destroyed. Most of these archetypes are collective and share the same meaning and message in all cultures. The experiments which were conducted by Jung provedthe same, as each and every patient of his when asked to draw were drawing similar patterns(geometrically) which were spontaneous. These patterns are often used as religious symbols across the World. Hindu Yantra or Buddhist Mandala, Western Christian Mandala, ancient architecture, and cosmos are all part of these Archaic symbols. Our civilization, social structure, art especially folk arts are constructed and inspired by these forms. Even if try to avoid these patterns and create something it is almost impossible cause they play base for everything.

These symbols can be unearthed precisely in cave paintings across the World. The symbols used in paintings are geometric forms such as triangles, squares, circles, lines, etc. that are identified as archaic symbols along with animalsthat symbolize the deity. Shelter 3 from Bhimbetka cave F-19 also known as Bull rock depicts a red colour bull whose horn and hair are black. This unnatural animal seems to be attacking a small fleeing human figure in front of which is shown a large crab, this scene is believed to be mythological.The bull is an archaic symbol used to

exemplify Lord Shiva and is used in different styles of painting. In phase vi paintings of Bhimbetka portrays wavy lines, zigzags, lattices as well as spiral lines for embellishing animals' body. The impact of the geometric motifs of Chalcolithic pottery design is seen in the animal bodies**.** Thereare also depictions of Hindu religious motifs and geometric patterns that can be traced in the Bhimbetka cave painting. We even came across a wall which is known as cluster iii A that is fullof hand imprints, similar handprints are tracked in other caves such as Altamira, Cueva de las Manos, Argentina, Maros- Pangkep Karst, Indonesia, etc. These handprints are archaic patterns used for religious purposes, they are even divided into two categories that are negative and positive handprints. Marking something or anything with hands is a behavior pattern that is developed from the collective archetype.

Indus's valley civilization is one of the well-known civilizations in India that carry these archaic patterns forwards from the pre-historic period in the form of seals, and town planning. The mother goddess status of terracotta is a female archetype that is adopted Worldwide and was even found in the great ancient civilizations one of which is Indus. The symbolic expression of the human psychic phenomenon is to be found in the figures of the Great Goddess represented in the myths and artistic creation of mankind**.** The term Great Mother is a partial secretaspect of Archetypal feminineis a late abstraction, presupposing a highly developed speculative consciousness. Other archaic patterns like trees, bulls, unicorns, shiva, hero, etc. can be traced down in the seals and wall paintings of Indus. The hero archetype that is sometimes represented as a warrior is depicted in many prehistoric paintings and mythology. Frye has identified the hero as an archetype as every time and culture believes in its existence.

Hindu yantra is an integration of geometric forms -circle, square, rectangle, etc. which has a deep philosophical and psychological meaning. According to Hindu beliefs, there are Universal patterns used to denote a Universal map in the physical world. Each archaic symbol has a hidden meaning for example- a triangle represents both Shiva(upward) and Shakti (downward), whereas a point that is also known as Bindu denotes the center of the earth and sometimes consciousness. The miniature paintings are based on mythology that depicts a great number of symbolic archetypes which has similarities with otherancient culture in the world. Sun is thearchaic symbol of a deity who has gained an important place in every religion and painting. Similarly, other archaic symbols like-the snake symbolizes time,the lotus for peace and purity, and so on.

Result

Archetypes are present everywhere the geometric patterns and forms values, angles, etc. are known to all but no one knows the evolution of the same, even if they are archaic patterns. What we know is that they exist but how we have no answer. Carl Jung, Frazer, and Frye have tried to answer this question in their respective work. Paintings are time mirrorswhere we can see the collective archaic form and how they became an inseparable part of our behavior and culture. Most ancient and classic paintings in India are based on mythology which is full of archaic

forms. The archaic pattern is not a new approach in art but can be a new discovery in the art that has to invoke the innovative power of an artist. Even contemporary art is full of these patterns, form but unfortunately, none knows the origin.

Conclusion

Embedded in the very structure of ordinary numbers is another level, which may be called symbolic**.**Thesesymbols are rhythmic and harmoniously connected and form a pattern. Scientists and mathematicians are on a quest to understand and decode these symbols. The belief is that these patterns are a kind of secret language which might help us in understanding the Universe. These patterns are set in a way that every time they replicate themselves and are believed to be part of a bigger pattern. If we see Indian prehistoric paintings from different areas, places, and caves they all almost represent the same emotion and expression in the same way. Even the subjects are the same based on warriors, wizards, sacrifice, group dance, hands print, etc.

Reference -

- Robertson Robin, Jungian Archetypes Jung, Gödel and Histry of Archetypes, publisher open road distribution, ISBN 13- 9781504033770, 2016, p-11.
- Greene Mark, Adventure in Archetype: Depth psychology and the Humanities, volume -1, Mercury Pier, Hong Kong, ISBN 978- 988-15672-1-5, 2011,page no.- 9
- Schneider S. Michael, A Beginner Guide to Constructing the Universe, Harper Collins, ISBN-ISBN-978-0060926717,2014.
- Jones. D Marie, The power of Archetype, The Career Press, Inc., 2017.
- Mishra. N.V, The Prehistoric Art of Bhimbetka, Central India, Contributor: National Centre for the Performing Arts, Mumbai, 2018.
- Ibid-3.
- Ibid-3.
- Rock Shelter of Bhimbetka, A proposal for nomination for inclusion in the World Heritage list, Archaeological Survey of India, 2003.
- Neumann Erich, The Great Mother, Princeton University Press, first edition, 1995, ISBN-0-691-01780-8, page no. – xi.
- Ibid-7, page no. -11.
- Ibid-3,page no.- 14.

भारतीय चित्रकला में अमूर्त : सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त

डॉ. (श्रीमती) के. राजलक्ष्मी

मनुष्य प्रकृति का अविभाज्य अंग है तथा पूर्णतः इससे प्रभावित रहता है। मनुष्य में परिवर्तन व कुछ नया करने की जिज्ञासा ने कलाओं को जन्म दिया होगा, जो परम्परा, परिवर्तन और सम्भावनाओं के निश्चित क्रम में गतिमान है। भारतीय चित्रकला भी समान रूप से परम्परा, परिवर्तन तथा सम्भावनाओं की इस प्रवृत्ति का मूल कारण सुख या आनंद की अनुभूति है। कलाओं का मुख्य ध्येय भी परमानंद की प्राप्ति ही रहा है। इस संबंध में विभिन्न कलामर्मज्ञों की धारणा एक ही है कि आनंदानुभूति या परमानन्द की प्राप्ति का सहज माध्यम कलायें ही रही हैं। मनुष्य कला की जिस विधा से प्रभावित होता है, उसमें आमूलचूल परिवर्तन और प्रयोग कर कुछ नया करने का प्रयास करता रहता है। विशेष बात यह है कि किसी कार्य को पहली बार करने से परम आनन्द की प्राप्ति या सुख की अनुभूति अथवा सौन्दर्यबोध होता है, किन्तु ठीक वही कार्य दूसरी बार करने पर भी तुलनात्मक रूप से उतना ही आनंद प्राप्त होगा, यह आवश्यक नहीं। संभवतः यही कारण है कि मनुष्य परम्परा, परिवर्तन और सम्भावनाओं की तलाश करता हुआ नये-नये प्रयोग करता रहता है।

सीधे शब्दों में मनुष्य की रचना जो उसके जीवन में आनंद प्रदान करती है, 'कला' कहलाती है। भारत के अध्यात्मवादी चिन्तकों ने कलाओं का विभाजन स्वतंत्र तथा आश्रित अथवा उपयोगिनी कलाओं के रूप में किया है। इस विभाजन के अनुसार स्वतंत्र कलाओं की संख्या तीन है- 'काव्य, संगीत और वास्तु (जिसके अंतर्गत वास्तु, मूर्ति व चित्र तीनों हैं।) इन्हीं तीन कलाओं से परतत्व के इन्द्रिय ग्राह्य रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप अभिव्यक्ति संभव हो सकती है।' इस प्रकार आधुनिक काल में भी कला के दो स्वरूप- 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' स्वीकार किए गये हैं। 'उपयोगी कला को मानव समाज के लिए उपयोगी माना गया है तथा ललित कला को सौन्दर्यप्रधान गुण होने के कारण विशेष स्थान और विभिन्न प्रकारों में विभक्त कर स्वीकार किया गया है, जिनमें स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य कला हैं।'

कला का मूल उद्देश्य सौन्दर्य की अनुभूति कराना है, इसका मूल कारण वस्तु या व्यक्ति अथवा किसी भी परिस्थिति से उत्पन्न आकर्षण है, जो भावात्मक रूप से सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकता है। यदि आकर्षण नकारात्मक है, तो निश्चित रूप से इसी आधार पर मनोभाव उत्पन्न होंगे तथा इन्हीं मनोभावों के आधार पर रस का सृजन होगा। मानव-हृदय में वस्तुगत आकर्षण एवं आध्यात्मिक अभिचेतना के सुख में जो तल्लीनता पाई जाती है, वह अनेक मनोविकारों के जन्म का आयाम बनती है और ये मनोविकार ही विभिन्न भावों की उद्दीप्ति के कारक बनकर उस भाव-व्यंजना की अभिव्यक्ति की सारणी रस की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ सामाजिक मनुष्य स्वयं को विस्मृत करके उसमें एकीकरण को प्राप्त हो जाता है- यही रस की अवस्थिति मानी गयी है। वस्तुतः आकर्षण ही सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य विवेच्य विषय रहा है।

वस्तु और व्यक्ति (मानव या देखने वाला) के बीच के अन्तर्सम्बंध को सौन्दर्यबोध का आधार स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्ति साधारण अनुभव से परे वस्तु के दिव्य रूप की झाँकी पाना चाहते हैं। इसमें वस्तु के 'पर' और 'अपर' दो रूप हो जाते हैं। इसलिए व्यक्ति के सौन्दर्य के अनुभव में 'अपर' से 'पर' रूप को देखने की चेष्टा रहती है। कला में इस चेष्टा के कारण कलाकार (या चित्रकार) मूर्ति, रेखा, रंगों और स्वरों द्वारा अमूर्त को मूर्त, निराकार को साकार, आमेय को मेय बनाते हैं। प्रत्येक अनुभव में उसी अरूप, अनंत विराट का दर्शन करते हैं, समष्टि ही सत्य है;

सूर्य आदि का प्राकृतिक रूप नगण्य है, इसका दिव्य, आध्यात्मिक रूप ही परम सत्य है। रूप के द्वारा अरूप की खोज, मेय के द्वारा अमेय की झाँकी, शान्त और सादी के द्वारा अनंत और अनादि का दर्शन ये भारतीय कला-जीवन और सौन्दर्य अनुभूति के अविकल अंग बन गये हैं। चूँकि सौन्दर्य-बोध मनुष्य की चित्त-वृत्ति से उत्पन्न एवं प्रभावित होता है। अतः मनुष्य की मनःस्थिति अथवा मानसिक प्रवृत्ति ही सौन्दर्य का बोध करने में सक्षम है। दूसरी ओर भारतीय कलाओं में सौन्दर्य-बोध शास्त्र के अंतर्गत इसके व्यक्तिक, धार्मिक और सामाजिक पक्ष भी उतने ही प्रभावशील एवं उत्तरदायी हैं। संभवतः इसीलिए भारतीय मनीषियों ने प्रारंभ से भारतीय कलाओं को धर्म एवं समाज से जोड़कर प्रस्तुत किया है और शास्त्रों के माध्यम से सौन्दर्य, रस, भाव आदि लक्षणों का प्रतिपादन किया।

भारतीय परम्परगत् चित्रकला में रूप, आकार, रेखा, रंग आदि तत्वों से परिपूर्ण चित्रकला तो थी, साथ ही इस कला का धर्म के साथ सम्बद्धता एवं इसी आधार पर समानान्तर रूप से प्रतीकात्मक चित्रण शैली भी व्याप्त थी, जिसके प्रमाण धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होते है। वहीं दूसरी ओर, प्रागैतिहासिक कालीन गुफाओं से प्राप्त चित्र भी प्रतीकात्मक शैली में ही प्राप्त होते हैं। अतः एक ओर शब्दों के आधार पर मूर्त रूप में चित्रकला सप्रमाण प्राप्त होती है, वहीं अमूर्त व प्रतीक रूप में चित्रांकन पद्धति के प्रमाण भी समान रूप से प्राप्त होते हैं।

आधुनिक समय अर्थात् लगभग 19वीं शताब्दी का अन्त और 20वीं शताब्दी का प्रारंभिक समय, जिसे मुगल और आधुनिक के बीच संक्रान्ति काल भी माना जाता है, में भारतीय कला एवं साहित्य का एक नया युग प्रारंभ हुआ। इसके साथ ही प्रारंभ हुआ भारतीय चित्रकला का एक नया अध्याय। इस समय में चित्रकला के साथ 'अमूर्त' शब्द जुड़ने लगा। यह शब्द भारतीय परम्परागत चित्रकला का नवीन पक्ष था।

जब भी चित्रकला की बात होती है, तो इसके साथ-साथ इसकी विविध तकनीकों एवं शैलियों पर भी चर्चा की जाती है। कलाकार अपने आन्तरिक गुणों का सृजनात्मक अन्वेषण करता है, इससे उसमें चेतना का संचार होता है, जिसके फलस्वरूप मूर्त-अमूर्त रूपाकारों की सृष्टि होती है। जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ, उसकी कला भी विकसित और परिपक्व होने लगी। भारतीय चित्रकला में बिम्ब, प्रतीक और कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है तथा चित्रकार अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए सदैव स्वतंत्र रहा है। माध्यम व तकनीक कभी-भी उसके लिए बंधन नहीं बन सकी क्योंकि कला केवल तकनीक और रूपाकारों तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह कलाकार के चिन्तन में भी होती है। वह चिन्तन जो उसकी कलाकृति में सहज ही घुल जाता है और दर्शक की अनुभूतियों में विलीन हो जाता है।

भारतीय चित्रकला (प्राचीन, शास्त्रीय और लोक) प्रवृति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) प्रतीक, (2) यथार्थ और (3) अमूर्त चित्रकला। 'प्रतीकात्मक' प्रवृति यथार्थ का बोध कराने में सक्षम है। चित्रकला में अमूर्त की प्रवृत्ति से मूर्त अर्थात् यथार्थ को पृथक् स्थान प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व चित्रकला केवल 'चित्रकला' थी और इसके इतिहास में कहीं भी अमूर्त या अमूर्तन जैसे 'शब्द' चित्रकला के लिए प्रयोग भले ही न किये गये हों, किन्तु प्राचीन चित्रकला में प्रतीकात्मक प्रवृत्ति के प्रमाण प्राप्त होते हैं। संभवतः वर्तमान चित्रकला में जिसे 'अमूर्त' या 'अमूर्तन' कहा जा रहा है, उसका प्रारंभ भारतीय चित्रकला में प्रतीक, कल्पना, बिम्ब आदि तत्वों से हुआ है।

'प्रतीक' की भारतीय अवधारणा सर्वप्रथम धर्म में प्राप्त होती है। प्रतीक (प्रति$इक्) अर्थात् यहाँ 'प्रति' से तात्पर्य 'अपनी ओर' तथा 'इक्' से आशय 'झुका हुआ' है। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो, फिर उसका ज्ञान हो, तो उसे 'प्रतीक' कहते हैं। अतः सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंश रूपी विभूति या भाग प्रतीक हो सकता है। 'ओम' शब्द से निराकार परब्रह्म का आभास होता है। इसी

प्रकार भारतीय देवी-देवताओं के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से देखा जा सकता है। इसे ही आज 'प्रतीकात्मक चित्रकला' के नाम से जाना जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रतीक वस्तु और रूप के समीप होती गई और इसे 'यथार्थवादी चित्रकला' कहा गया। परन्तु 'आधुनिक युग में अनेक विधाओं और आविष्कारों के बाद भी मनुष्य ने देखा कि किसी वस्तु का पूर्ण यथार्थ रूप चित्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए चित्रकला प्रतीकात्मक ही कही जा सकती है, चाहे वह यथार्थ के कितने ही समीप क्यों न हो।' 'कल्पना', कलाकार की मानसिक सृजन शक्ति है तथा कला की दृष्टि से कल्पना का स्थान सर्वोपरि है। कल्पना के माध्यम से ही कलाकार के भीतर रचनात्मकता और अभिनव रूप-व्यापार विधान की शक्ति प्राप्त होती है। अतः विद्वानों के विचार से कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है। कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न भले ही हो, किन्तु इतना अवश्य है कि कला का मूर्त आधार जितना वास्तविकता के निकट होगा, उसमें कल्पना का समावेश अपेक्षाकृत कम होगा। वास्तव में कल्पना में अमूर्त से मूर्त का सृजन होता है न कि मूर्त से मूर्त का।

कल्पना से ही 'बिम्ब' का जन्म स्वीकार किया गया है। विकास की दृष्टि से विद्वानों बिम्ब के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत बिम्ब वस्तु-विशेष की छाया या स्पष्ट सम्मूर्त्तन करते हैं और दूसरे प्रकार में छाया की छाया का। तीसरे प्रकार में बिम्ब वस्तु-बोध से इतने पृथक् हो जाते हैं कि वे प्रतीक के समीप एवं समकक्ष बन जाते हैं। 'इसके लक्षित बिम्ब-विधान में विवक्षित वस्तु की बाह्य रूपरेखा का स्पर्श या संकेत अवस्थित होता है। अतः इस कोटि के बिम्ब विधान में वर्णबोध एवं चाक्षुष तत्वों की प्रधानता रहती है। फलस्वरूप ऐसे बिम्ब प्रायः क्रियाप्रधान एवं चित्रात्मक होते हैं।' वस्तुतः कलाकार की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्तता मिल पाती है तथा निश्चित अर्थ वाले बिम्ब प्रतीकों का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रतीकवादी कलाकार प्रतीकों, रंगों और रूपों की चित्र-फलकों पर प्रयोग प्रतीकात्मक आधार पर करते हैं न कि प्राकृतिक आधार पर। विद्वानों के अनुसार- प्रतीक और प्रतिबिम्ब में वही अन्तर होता है, जो शार्ट हैण्ड और लाँग हैण्ड में। अमूर्तन की ओर कला में यह मध्यवर्ती स्थिति है। 'एक ओर कुछ चित्रों का वास्तविकता घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जो हू-ब-हू किसी फोटो की भाँति प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर अमूर्त चित्रण हैं, जिन्हें प्रायः लोग समझ नहीं पाते। इन दोनों चरम सीमाओं के मध्य 'प्रतीक' है, जो कहीं-न-कहीं गहन दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से प्रभावित होते हैं।' मानव सभ्यता के विकास के साथ प्रतीकों की भी रचना होती आयी है, जो आधुनिक कला में चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। प्राचीन भारतीय चित्रकला में प्रथमतः लोक-चित्रकला, समाज के उस वर्ग को भारतीय चित्रकला के इतिहास में विशेष स्थान बनाने में मददगार सिद्ध हुई, जो न तो शिक्षित था और न ही समाज में उसे कोई उच्चस्थ स्थान प्राप्त था। लोक-चित्रकार केवल अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज और सामाजिक जीवन तक सीमित था, जिसे उद्घाटित करने का माध्यम उसने अपनी कला को बनाया। साथ ही, भारतीय शास्त्रीय चित्रकला-यात्रा को गतिमान बनाये रखने में भी सहयोग प्रदान किया। अर्थात् इतिहास में मध्यकाल का वह समय जब शास्त्रीय चित्रकला राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होने लगी और इस पर बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव बढ़ने लगा, तब भी भारतीय लोक-चित्रकला परम्परा अपनी नियत गति से अग्रसर थी। वर्तमान में भी भारत की लोक-कलाओं का विशेष महत्त्व हैक्योंकि इन पर आधुनिकता का प्रभाव अपेक्षाकृत कम हुआ और ये अपने मूल भावना से सराबोर, किसी 'वाद' से ग्रसित हुए बिना सामान्य व्यक्ति के साथ सांस्कृतिक सीमा में रहते हुए निरन्तर गतिमान हैं।

दूसरा स्थान 'भारतीय शास्त्रीय चित्रकला' का है, जो पूर्णतः शास्त्रों में वर्णित नियमों में बंधी अपने गौरवमयी इतिहास की साक्षी है।19वीं शताब्दी के मध्य एवं उत्तरार्ध की समयावधि में भारतीय कला का परिचय 'आधुनिक' से

हुआ, जिसने भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में जहाँ एक ओर विभिन्न 'वाद' को जन्म दिया, वहीं चित्रकला 'मूर्त' और 'अमूर्त' शैलियों में विभाजित होने लगी। 'मूर्त' अर्थात् स्पष्ट चित्रण और 'अमूर्त' अर्थात् चित्रण में चित्रित विषय, जिनमें मनोभावों को विशेष रूप से प्राथमिकता और स्वतंत्रता दी गई हो तथा 'रूप' और 'आकार' गौण होते चले गये। 'अमूर्त' भी चित्रकला की एक 'शैली' है, जो 'आधुनिक कला' में न केवल 'चर्चा' अपितु 'विवाद' का भी विषय भी रही है। ऐसा कदापि नहीं है, कि 'अमूर्तन' केवल चित्रकला के क्षेत्र में है, अन्य कलाओं में यह समान रूप से विद्यमान है, किन्तु चित्रकला में यह सदा ही विवेच्य विषय रहा है।

चित्रकला की दृष्टि से 'अमूर्त' से आशय साहित्य के ही समानान्तर प्रतीत होता है। किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थादि, जिन्हें चित्रकार अपने विषय के रूप में ग्रहण करता है, उसकी एक छवि अपने मानस पटल पर निर्मित करता है, उस छवि के प्रति अपनी संवेदना, भावाभिव्यक्ति और विचारों को ध्यान में रखते हुए उसका सारांश या सारगर्भित स्वरूप चित्रित करता है। यहाँ अर्थ की दृष्टि से तो 'मूर्त' के विपरीत 'अमूर्त' स्पष्ट होता है, किन्तु चित्रकार वास्तव में 'मूर्त' का सारांश या सारगर्भित स्वरूप अपनी कृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। अतः अमूर्त शैली को सीधे-सीधे मूर्त का विरुद्धार्थी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि मूर्त से तात्पर्य किसी भी निश्चित आकार, विधान, दृश्य रूप में उपस्थित वस्तु से है, जबकि 'अमूर्त' से आशय 'निराकार', 'भाववाचक' और 'अव्यवहारिक' से है। वह जो वास्तविकता से दूर होते हुए भी अपने चरित्र को अभिव्यक्त कर सके। एक सुन्दर-सा फूल, जो स्वयं 'मूर्त' है, किन्तु उसकी सुन्दरता और उसमें निहित खुशबू 'अमूर्त' है। प्रकृति की दृष्टि से देखें, तो 'मूर्त' और 'अमूर्त', सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं, जहाँ एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। क्षितिज में भूमि और आकाश का मिलन होता है, वहाँ 'रूपाकार' समाप्त हो जाते हैं और बचता है 'निराकार'। 'मूर्त' और 'अमूर्त' का संबंध ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे रात्रि के अंधकार को चन्द्रमा अपनी शीतल अनुभूति और अत्यल्प प्रकाश से स्पष्ट करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर प्रातःकाल सूर्य की किरणें धीरे-धीरे अपने तेज से प्रकृति को रूपाकृति प्रदान करती हैं। एक छोटे से बीज से वृशाल वृक्ष की रचना हो जाती है। कहीं-न-कहीं 'अमूर्त' किसी 'मूर्त' का बोध कराने में सहायक सिद्ध होता है, तो कहीं 'मूर्त' अपने भीतर भाव और रस से परिपूर्ण परम आनन्द का अमूर्त आभास करा देता है। इस प्रकार सृष्टि में 'मूर्त' और 'अमूर्त' का क्रम सदा से चलता आ रहा है।

कला-समीक्षक मनमोहन सरल द्वारा प्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रज़ा से उनके अमूर्त चित्रों और उनकी व्यापक के सम्बन्ध में पूछे गये एक प्रश्न का उत्तर देते हुए रज़ा कहते हैं- 'मानवीय अनुभव सिर्फ़ आँखों से प्रकृति को देखना ही नहीं है, बल्कि वह महसूस करना भी है, जो आँख की पुतली की परिधि से परे भी दिखाई देता है। क्रम उष्णता महसूस करते हैं, आँधी को झोंका झेल सकते हैं, ताजी हवा की गंध, जंगल का संगीत या चिड़ियों की चहचहाहट सुन सकते हैं, नंगी आँख से देखने की क्षमता से आगे बढ़कर क्रम इन तमाम अनुभवों को मन के भीतर महसूस कर सकते हैं। यही सम्पूर्ण अनुभूति है- समग्र अनुभव किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिए और चित्रकार-कवि-कलाकार की क्षमता सामान्य से थोड़ी ज्यादा ही होती है। वह कल्पना का सहारा भी ले सकने में सक्षम होता है, इसलिए उसकी प्रकृति को 'देखने' की दृष्टि और व्यापक हो जाती है। चित्रकार के लिए सिर्फ़ देखना ही काफी नहीं है, बल्कि उसके लिए आन्तरिक रूप से अनुभव करना भी ज़रूरी है। अब कुछ चित्रकार हैं, जो जैसा देखते हैं, वैसा बना देते हैं। कुछ जो 'अनुभव' करते हैं उसे उतारने की कोशिश करते हैं। एक है ऑप्टिकल रियलिटी और दूसरी इनर लाइफ की तलाश।

कला समीक्षक मनमोहन सरल से एस. एच. रज़ा ने अपने चित्रों और उन चित्रों की आधारभूत संकल्पना पर चर्चा करते हुए बताया है कि- 'मेरा आज का काम प्राकृतिक सौन्दर्य के आस्वाद को आकार की समझ के साथ, अनुभव के समानान्तर प्रस्तुत करना है। इसलिए मेरा नया काम प्रकृति के अनुभवों की आंतरिक तलाश के साथ-साथ शुद्ध 'फार्मल ऑर्डर' की तलाश को समर्पित है। चित्रकार को रंगों, आकारों, स्पेस, अनुपात, संयोजन के तत्त्वों को भी समझना है और मेरा काम इससे भी आगे शक्ति के केन्द्र-न्यूक्लियर-एक अकेले बिन्दु की दिशा में है। यहाँ भी मुझे ककैया के बचपन के हेडमास्टर नंदलाल जी ध्यान आते हैं, जिन्होंने सफेद दीवार पर एक बिन्दु बनाकर आदिशक्ति के स्रोत का मुझसे साक्षात्कार करवाया था। बिन्दु को एकाग्र होकर देखने से जैसे मुझे नई ऊर्जा मिली हो। शायद, इसी बिन्दु को आज मैं व्याख्या देने की कोशिश कर रहा हूँ, जो अमूर्त वहीं, परन् साक्षात् आकार है।' रज़ा साहब के उक्त कथन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमूर्त से आशय चित्रकार द्वारा चित्रित किये गये विषय का सारांश है या मूल है, जहाँ से उस विषय का जन्म या प्रारंभ हुआ हो।

यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि कला-साधकों ने धीरे-धीरे चित्रांकित विषयों के माध्यम से अपनी कला में 'स्व' का समावेश प्रारंभ कर दिया अर्थात् विचारों और दृष्टिकोण में स्वतंत्रता का पक्ष महत्त्वपूर्ण होता गया तथा रूप और आकार में स्वतंत्रता, रंग और रेखा में स्वतंत्रता, तकनीक को अपनाने की स्वतंत्रता के साथ कला 'मूर्त' से धीरे-धीरे 'अमूर्त' होती गई। 'अमूर्त शैली' को आधुनिक (स्वतंत्रता के बाद की समयावधि) कलाकारों का पूर्ण समर्थन भी प्राप्त हुआ। ऐसा नहीं है कि समकालीन (वर्तमान संदर्भ में) कला में सभी चित्रकार 'अमूर्त शैली' ही करते हों, कलाकारों का एक ऐसा भी वर्ग है, जो 'मूर्त' और 'रूपाकार' प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है। किन्तु आधुनिकता (स्वतंत्रता से पूर्व की कला-प्रवृत्ति) के आधुनिकीकरण (वर्तमान स्थित में), वैज्ञानिक तकनीकों की सुव्यवस्था और वैश्वीकरण से कला का प्रभावित होना स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, जो प्राचीन काल से चली आ रही परिवर्तन की क्रिया का अगला कदम है। साथ ही इस आशंका से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि जिस प्रकार प्राचीन भारतीय कला का स्थान आधुनिक कला और अमूर्त कला ने ग्रहण किया है, इसका स्थान भविष्य की किसी कला द्वारा नहीं किया जाएगा। अध्ययन के आधार पर यह तो पूर्णतः स्पष्ट है कि कला परिवर्तनशील है। भविष्य में संभव है कि अमूर्त कला का स्थान कोई अन्य कला ग्रहण कर ले। वर्तमान में अमूर्त कला के साथ-साथ कला जगत में 'संस्थापन कला' भी अपना स्थान लेती प्रतीत हो रही है, जो निश्चित कला में नवाचार है।

संदर्भ सूची-

- जौहरी, डॉ. ऋतु, भारतीय कला समीक्षा (विचार व रूप), राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर, प्र.सं. 2013, पृ. 25-26
- प्रताप, डॉ. रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर,17वाँ सं.2014, पृ. 7
- सक्सेना, डॉ. सरन बिहारी लाल एवं डॉ. (श्रीमती) सुधा सरन, कला सिद्धान्त और परम्परा, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, प्र.सं. 1986, पृ. 77
- शर्मा, डॉ. हरद्वारी लाल, सौन्दर्य शास्त्र (कला और संगीत के संदर्भ में), मानसी प्रकाशन, मेरठ, 1999, पृ. 15
- तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, श्रीमद्भागवतगीता-रहस्य, अनुवादक - माधव राव सप्रे, तिलक मंदिर, गायकवाड़ बाड़ा, पुणे, सं. 1955, पृ. 425
- शुक्ल, रामचन्द्र, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, लखनऊ, तृ.सं. 1974, पृ. 114
- विमल, डॉ. कुमार, सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 228
- बाजपेयी, डॉ. राजेन्द्र, सौन्दर्य, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2012, पृ. 201
- सरल, मनमोहन, कला-क्षेत्रे, महाराष्ट्र साहित्य अकादमी के सहयोग से प्रकाशित, प्र.सं. 2004, पृ. 33-34

Advent of Modern Art in India

Keshawram

The culture and civilization of any country is assessed through art. The form of art in India has been changing and growing on the basis of religious, social, and political beliefs. To understand the evolution of Indian art, it is very important to understand the changes taking place in the social and economic life in the middle of the 19th century and the beginning of the 20th century.

In modern art, experimentation is necessary but not only to generate attraction but also to express the feeling and meaning of life. The experiments should not seem to be imposed but should arise from the conscience. The modern artists strives to substitute new innovative create values. Today art has reached the limit of achievement by going a wide way through the process of experiments but no definite concept of form determination has been determined. Art has been revolutionized by new techniques and approaches and now the artist's experience cannot be confined within limits. Modern art has its own distinct identity and due to external influences the artist's vision become sharp and analytical. As a result, each of their works appears to be a synthesis in an elemental form. Art is changeable and relative, that is why the invention and establishment of new elements is inevitable. In fact, the art of the present time is progressing towards full development by continuously connecting the new subsections.

The use of the term 'Modern' in Indian art history dates back to the 1880s and painting created by Raja Ravi Varma. It is considered to be the art style prevalent in India between 1895 and 1920.[1] The major art institutions of the country also have an important contribution in development of the Indian Modern Art. Thus the beginning of the Modern art cannot be pinpointed to a certain date. Abandoning the subject primacy of ancient art 'expression' is prominent in art today and various styles are used with experiments. The principle tradition of ancient art has been replaced by experimental methods.

In the late 18th century when the British ruler was took the control of India and ran the country in his own way.[2] Its impacts were seen in the social, culture, and political condition of the country. The demand of art created in European style was increased when the British East India Company was established in Calcutta. It was popular across the British India at that time, various Indian Kings who were patrons for the art they also demand for arts in European style. In this way, there was large market for art when the British East India Company was operating. At that time artists began to depict their surrounding environments, everyday life, portraits of Maharaja, landscape, historical monuments, festivals, and other social events etc.[3]

The Indian artists also influenced by the British art mediums and techniques then speedly amalgamation of new ideology was seen in Indian traditional art such as Mughal, Rajasthan, and Bengali and new art style was established as Modern Art. If we see the traditional art of Indian religion, culture, and mythology. That was not created for the commercial purpose but for devotion of Indian god-goddesses. The traditional art was purely rooted on the Indian aspects.[4] But when we see the art form of Mughal style to British style there is huge change can seen which were influenced by the foreign countries.

When the Mughal and Rajput rulers were started getting indifference towards art. Then the Indian artists were searching for the patrons and they started work for the British rulers. At that time many European traveller artists such as Thomas Daniell, J. Zoffany, Tilly Kettle and others were came to British India whose work styles, subjects, techniques, and mediums influenced the local artists of the India.[5] These artists started to adopt the principle of perspective, light-shade, and academic realism in their paintings. Specially it reached to across the India and followed by the various artists. Even the British officers and artists could not keep themselves away from Indian civilization and culture. Influenced by Indian civilization and culture they started sending paintings to Europe which were related to Indian animal-birds, occasions, and social life. In this way, Indian art was developed on the basis of European art elements and Indian themes.

The pioneer of the Indian Modern Art Raja Ravi Varma was also influenced by the British Art style and he started learnt art from the European artists. He was the first Indian painter to work on Indian subjects in the European style. The Maharaja of Travancore also appreciated his art. He learnt oil painting techniques and created transcendent paintings which are very famous in present time. He mainly painted the paintings related to Hindu epics and mythology. In his work women figures are prominent which he created beautiful and graceful manners (Image 1). Raja Ravi Varma was born in 1848s in Kilimanoor at the Travancore, Kerala. He learnt his primary art education from his uncle Raj Varma.[6] He used to paint in Tanjore style and was a fan of European style. He learnt oil technique from Theodore Jensen. He introduced the possibility of a new art form by combining Indian ideology and European style. On the special recommendation of the Raja of Trancore, he was awarded by 'Honour of the Bengal' in 1866. In 1904, the British Government honoured him with the 'Kesar-e-Hind'.

Raja Ravi Verma's art style was in line with the public interest, which had the ability to attract the imagination of the viewer. He also tried to depict the national spirit through mythological and religious aspects. Raja Ravi Varma achieved unprecedented fame, popularity and success as an artist. In the context of Ideal beauty, keeping in mind his original concept, he painted the image imprinted in the mind on the basis of literary sources. In addition to scenes from mythological and historical tales quoted from the epics, he painted the portraits of eminent personalities, social events carrying moral messages.

Bengal was a major commercial and political centre during the European rule due to geographical reason. Along with this, Calcutta had also become a major centre of cultural activities due to its development as a metropolis. The society and culture were influenced by the European culture. Tagore family did remarkable work of public awareness of art in the emerging background of patriotism. There was also important cooperation of great scholars like E.B. Havell and Ananda Coomaraswamy.[7] The Bengal School came into existence with the significant contribution of Abanindranath Tagore and soon spread across the India through the art students of Santiniktan and Government College of Art and Crafts, Kolkata.

Abanindranath Tagore was a pioneer of the Bengal school of art. He emphasized the indigenous values through his artworks. His artworks are amalgamation of Rajput and Pahari painting styles. He expressed the feelings through his paintings in transcendent manners. In his painting titled 'Bharat Mata' he depicted women who is holding rudraksha, white cloths, books, and sheaves of paddy through his four hands (Image 2). This women figure is looking as 'sadhvi'. This painting was created by Abanindranath

tagore in 1905 during Independence Movement against British. His landmark painting 'Last day of Shahjahan' was a novel experiment in the beginning of Indian Modern Art. In this painting the emotional expression is very significant and centre of attraction for the viewers. If we see the beginning of the Bengal school of art, we can find the artworks were different from the academic British style and the artists prominently emphasized to depict their works rooted on Indian themes and techniques. Some artists from this school also participated in Indian nationalist movements through his artworks.

The art schools brought together the artists and the enlightened class on one ground and place in major cities of the country. These art schools were started by private businesses for the same purpose and were later subsumed by the provincial European Government. Some of the upper class students took admission in these schools and tried to learn the new academic techniques with full curiosity and dedication, because they were not familiar with both Indian and European art. In art schools, students have access to libraries, art galleries and museums. These schools were followed the art teaching method of 'British Royal Academy of London', where more emphasis was given on the study of perspective, light-shade, and human-body structure. This education was attracted towards the European style and method, in which artists and students studied the best ideals and pictorial language.

Government College of Art and Crafts, Madras was established in 1850s by surgeon Dr. Alexander Hunter from the Madras Regiment as the name of 'Madras School of Art'. In 1884, E.B. Havell profoundly influenced the Indian art scene by taking the position of principal. Havell made a significant contribution to the progressive development of art education by staying here till 1892. Then in 1929, sculptor Devi Prasad Roy Chowdhury was appointed the first Indian principal who actively used self-energy in the art scene here.[8] Modern art was also included in the curriculum along with Eastern art styles. He gave a definite shape to the new cultural ideology in Chennai as well as encouraged the Bengal style and also spread the ideas of European Impressionist artists. In 1854, when the K.C. S. Paniker was the principal a style of abstraction assimilated in the field of sculpture with full enthusiasm.

In 1864, Government College of art and crafts, Kolkata was founded by the joint efforts of Indian and European members before it known as the 'School of Industrial Art'. In 1896, E.B. Havell moved from Chennai to Kolkata and appointed as principal of Government College of art and crafts, Kolkata. Simultaneously, this art college became an important part of Modern Indian Art history. Abanindranath Tagore was invited to the post of Vice-principal who contributed to the aesthetics importance of art and return to the Indian art tradition. Through this art college, many of his disciples came out who also achieved fame in the art world such as- Surendranath, Asit Kumar Haldar, Kshitindranath Majumdar, Samrendranath gupta, Nandlal Bose, and Sudhir Khastgir.

Sir J.J. School of Art, Mumbai was first started by William Jerry in the name of 'Elephistone Institute of Art and Industry'. Initially, art teachers and principals were appointed here from London. At that time, here the teaching style was based on the education system of Royal Academy of London. In this way, several art colleges were established which played an important role in development of Indian Modern Art such as – Rajasthan School of Art, Jaipur, Mayo College of Art and Crafts, Lahore, Kala Bhawan, Santiniketan, College of Fine Arts, Lucknow etc.

Undoubtedly, Indian artists like Rabindranath Tagore, Amrita Shergil and Jamini Roy contributed significantly to the early development of Indian Modern Art through their efforts. After that some art

group emerged which played an important role in promoting Indian Modern Art such as – Young Turks, Calcutta Group-43, Progressive Artists Group, Mumbai, Progressive Artists Association, Srinagar, Shilpi Chakra, New Delhi, Bombay Group, Group 1890, Cholamandal Artists Group, Madras etc. The artists from all these groups did many innovative experiments and showed their excellent creativity and imaginations and played important role in evolution of Indian Modern Art.

(1) "Hamsa Damayanti" by Raja Ravi Verma

(2) "Bharat Mata" by Abanindranath Tagore

List of Images

1. Image:"Hamsa Damayanti", by Raja Ravi Verma, Oil Painting, 1899. http://www.rrvhfoundation.com/
2. Image:"Bharat Mata" by Abanindranath Tagore, Watercolour, 1905. https://www.thehindu.com/news/cities/kolkata/abanindranaths-bharat-mata-on

References

1. Chaturvedi, Dr. Mamta. Samkalin Bhartiy Kala. Jaipur: Rajasthan Hindi Granth Akademy, 2014. Print. Page no. 1.
2. Sardar, Marika. "Company Painting in Nineteenth Century India" In Heilbrunn Timeline of Art History, New York: The Metropolitan Museum of Art, 2000. http://www.metmuseum.org/toah/hd/cpin/hd (October 2004)
3. Maurya, Shakuntala. "Company Chitrakala", Swati Publication, 1 Jan, 2003. Page no. 42.
4. Sivaramamurti, C. "INDIAN PAINTING", National Book Trust, New Delhi. Page no. 45.
5. "European Traveller Artists." ngmaindia, National Gallery of Modern Art, New Delhi. www.ngmaindia.gov.in/showcase.asp. Accessed 19 Dec 2021.
6. Varma, Rukmini. "RAJA RAVI VARMA", Raja Ravi Varma Heritage Foundation. Rrvhfoundation.com
7. Venkatachalam, G. "Some Reminiscences about the Bengal School", Lalit Kala Contemporary, Lalit Kala Academy, New Delhi, 1962. Page no. 22.
8. Mago, Pran Nath. "Contemporary Art in India: A perspective", NATIONAL BOOK TRUST, INDIA, New Delhi, 2000. Page no. 23

कला एवं धर्म में अन्तर्सम्बन्ध

कनक शर्मा

आदिम कालीन समाज और आज के समाज के स्वरूप में एक अन्तर दिखाई देता है। यह अन्तर क्यों हुआ ? इस समस्या का समाधान धर्म और कला के सम्बन्धों को सुलझाने में स्पष्ट हो जाता है। समाज धर्म के आध्यात्मिक और भावनात्मक जीवन पर आधारित है जबकि कला में उपयोगी पक्ष की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति भी निहित है। किन्तु कला की अपेक्षा धर्म का स्वरूप व्यापक है। इसके अतिरिक्त समस्त सौन्दर्य शक्ति का स्त्रोत धर्म में निहित है तथा समाज के अनेक पक्षों में से धर्म एक मुख्य पक्ष भी है। कला, धर्म और समाज को साथ लेकर चलती है।

यद्यपि कला और धर्म के अंतःसम्बन्ध को स्पष्ट करने से पूर्व धर्म के स्वरूप को जानना अतिआवश्यक है। यह धर्म कहाँ से और कैसे आया। आज के समाज के धर्म और प्राचीन समाज के धर्म के स्वरूप में क्या अंतर है ? इन प्रश्नों का हल हम धर्म के स्वरूप और उसके कार्यों के सम्बन्धों के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य के मन में अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ जैसे चन्द्रमा, सूर्य, ज्वालामुखी, भूकम्प ने भय उत्पन्न किया और आदिमानव ने इन्हें शक्ति मानना आरम्भ कर दिया। आदिमानव के हृदय में किसी भी वस्तु का रूप वही रहा जो उसने देखा। उसके मस्तिष्क में प्रत्येक वस्तु को लेकर रहस्य की भावना अवश्य रही। इस प्रकार उसने सभी प्राकृतिक शक्तियों को रहस्यपूर्ण समझ कर उन्हें धर्म के अधीन अलौकिक माना। इन्हीं रहस्यमयी शक्तियों के प्रति मनुष्य ने तर्क की अपेक्षा भावनाओं को अधिक महत्व दिया और जहाँ तर्क व विचार न हो वहीं भावना एवं विश्वास के आधार पर धर्म का उदय होता है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास हुआ वैसे-वैसे मानव चेतना के आधार पर सभी समस्याओं को सुलझाने एवं समझने का स्थायी प्रयास किया गया। किन्तु जिन तत्वों का समाधान नहीं हुआ, उन्हें विश्वास के आधार पर स्वीकृत किया। विश्वास की आधारशिला पर जिन मान्यताओं का विकास हुआ और असीम शक्ति का आभास हुआ उसे ही धर्म माना गया। जहाँ मनुष्य ने स्वयं को रहस्यमयी प्रकृति के समक्ष दुर्बल और तर्करहित पाया वहाँ उसने धर्म को अपनाया तथा धर्म ने इन समस्याओं को सुलझा दिया। ''समाज में व्यक्तिगत शुभ या कल्याण की भावना को धर्म ने ही, कला के माध्यम से सामूहिक कल्याणकारी बताया।''[1]

कला के प्रसार एवं विकास में धर्म अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इतिहासकारों ने भी प्राचीन रेखाचित्रों, भित्तिचित्रों, मूर्तिकला व वास्तुकला के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत तथा अन्य देशों में कला का उद्भव धर्म के साथ हुआ अर्थात् कला का मुख्य प्रेरणा स्त्रोत धर्म को माना गया। आदिमानव ने पर्वत की शिलाओं पर अनेक कलाकृतियों का अंकन किया तथा उसके द्वारा अंकित जंगली जानवरों के चित्र उतने ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं जितने कि स्वयं वन्य जीव। समाज के साथ-साथ कलात्मक सृजन का विकास हुआ और कला ने प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक जगत के मध्य कड़ी का कार्य करना आरम्भ कर दिया। जब पवित्र धार्मिक ग्रन्थों में लिखित उपदेशों, कहानियों एवं संदेशों को चित्रों व मूर्तियों के रूप में मूर्त रूप प्राप्त हुआ तो उनके द्वारा जन समान्य तक धर्म का

प्रचार हुआ । कहा जा सकता है कि मनुष्य ने उस अदृश्य असीमित शक्ति यानि ''ईश्वर या ''परमात्मा '' का दृश्यीकरण करने के लिए कला को माध्यम चुना । कला ने प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को संचालित एवं प्रसारित किया, जिस वजह से कला में अनेक नवीन शैलियों का विकास हुआ । अंततः कला के द्वारा धर्म को लोकप्रियता मिली और दोनों में अंतःसम्बन्ध स्थापित हुआ ।

कला और धर्म में कुछ साम्यता भी देखने को मिलती है । जब व्यक्ति उपासना करता है तो वह अपने अहंकार, मोह, लोभ, भय इत्यादि दैनिक आवश्यकताओं को भूलकर आत्मचेतना रहित स्थिति में पहुँच जाता है । इसी प्रकार कलाकार भी सृजन के समय अपनी कला में ही ब्रह्मलीन हो जाता है । डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है कि ''धर्म में जब उपासना तत्व की अनिवार्यता होती है, तब प्रेम का उदय होता है । प्रेममय ईश्वर की उपासना हेतु प्रतिमा का सृजन किया जाता है ।''[2] इस प्रकार हम कला के माध्यम से ईश्वर के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं । पाश्चात्य समाज में ईसाई धर्म को प्रचारित करने के लिए कला को ही माध्यम चुना गया जिसका सबसे विख्यात उदाहरण सिस्टाइन चैपल के भित्ति-चित्र है । इसी प्रकार भारतीय समाज में भी प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक धर्म कलाओं का प्रेरणा स्त्रोत रहा । प्रागैतिहासिक कालीन मनुष्य ने अमूर्त शक्तियों को प्रसन्न करने हेतु शिलाओं पर अनेक प्रतीक चिन्हों को अंकित किया । हड़प्पा व मोहनजोदड़ों से प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमा, मौर्यकाल में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सम्राट अशोक ने स्तम्भ, विहार, शिलालेख बनाए । मौर्यकालीन समय से लेकर शुंगकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल तथा आधुनिक कला आन्दोलन तक बौद्ध, हिन्दु व जैन धर्म ही कला के मूल स्त्रोत रहे। धर्म ने सभी कलाओं के लिए लौकिक अनुभव के द्वार खोल दिए । अतः भारतीय कला में धार्मिकता पूर्ण रूप से सम्मिलित हो गई और चित्रकला को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया। यथा -

''कलानां प्रवंर चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।''

चित्रसूत्र''[3]

भारत में कला को परम ब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना जाता है । कला के द्वारा ही इस अलौकिक सत्ता की प्राप्ति होती है । कला उस परमानंद के काल्पनिक स्वरूप को तथा उसकी दंत कथाओं को मूर्त रूप प्रदान करती है । इस प्रकार कलाएँ धर्म साधना की विभिन्न अनुभूतियाँ जैसे उदात्ता, अलौकिकता, वैश्विक - कल्याण, करूणा, चमत्कार इत्यादि के प्रभाव को उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है । वस्तुतः कला और धर्म क निकट सम्बन्ध स्थापित होने की कई वजह है - जैसे कला संप्रेषण का सबसे मुख्य साधन है, जिसके द्वारा सम्बन्धित जाति समुदाय के बिंबों, प्रतीकों एवं मान्यताओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है । इसीलिए विभिन्न युगों से सम्राटों व धार्मिक समुदाय ने अपने सिद्धांतों, विचारों, देवताओं का प्रजा में प्रचार करने के लिए काव्य, संगीत, मूर्ति, वास्तु तथा चित्रकला को माध्यम बनाया, जिसके कारण बिना पढ़े-लिखे लोग भी धर्म को जान सके । दूसरा यह कि भारत जैसे देश में सभी मानवीय गतिविधियाँ परम्परा व धर्म से प्रेरित होती थी । इसी उद्देश्य के लिए कला द्वारा प्रेरित हुई । तीसरा, प्राचीन भारत में संग्रहालय या कला दीर्घाएं नहीं थी और कला को सामाजिक महत्व भी प्राप्त नहीं था ।

भारत तथा अधिकांश पूर्वी देशों में भगवान बुद्ध की जीवन की घटनाएँ कला की लोकप्रिय विषय रही है। भारत में बौद्ध कला के द्वारा शान्ति, अनासक्ति का सन्देश प्राप्त हुआ। इसका उदाहरण अजन्ता की पहली नम्बर गुफा में ''बौद्धिसत्व अवलोकितेश्वर'' का भित्ति चित्र है, जिसमें विनम्र व शान्तभाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। बौद्ध मत के अतिरिक्त वैष्णव, शैव मत ने भी कलाओं को बढ़ावा दिया। गुप्तकाल की शिव-पार्वती एवं विष्णु इत्यादि हिन्दू देवी-देवताओं की अद्भूत प्रतिमा, भव्य मन्दिर निर्माण योजना जो कि उनका कला में अतुलनीय योगदान है, भी गुप्तकाल की देन है। वैसे भी गुप्तकाल को भारतीय मूर्तिकला का स्वर्णयुग कहा जाता है। भारतीय लघु-चित्रकला में हिन्दु धार्मिक ग्रन्थ जैसे रामायण, महाभारत व कृष्ण-लीलाओं को ही अंकन मिलता है। इस प्रकार कला के माध्यम से ही हिन्दु धर्म से सम्बन्धित विभिन्न समुदाय धार्मिक ग्रन्थों की गाथाओं, मान्यताओं और शैव, वैष्णव, शाक्त मत को जान पाए। इसी तरह जैन पाण्डुलिपियों में ऐसे अनेक चित्रों का अंकन हुआ, जिससे जैन धर्म का प्रचार हआ। निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि विश्व में ऐसा कोई धर्म या मत होगा जो कला द्वारा प्रचारित नहीं हुआ हो। अतः धर्म को प्रचारित करने के लिए कला को ही एक सफल माध्यम चुना गया और कला व धर्म एक-दूसरे पर आश्रित होने लगे। कला व धर्म न केवल एक-दूसरे के सहयोगी हैं बल्कि पूरक भी है। दोनों ही व्यक्ति को उपयोगिता के बन्धन से मुक्त करके परम मूल्यों के उच्चतम संसार की ओर तक ले जाते हैं। ''जैसाकि क्लाइव बैल का विश्वास है, इन दोनों में ही मनुष्य को ''मानवोत्तर आनन्दातिरेक'' तक पहुँचाने की शक्ति है और दोनों ही परमार्थिक मनःस्थिति तक पहुँचने के साधन हैं। इसीलिए कला और धर्म को ही मनुष्य की आत्मा की मूल अभिव्यक्ति माना गया है।''[4]

संक्षेप

कला और धर्म दोनों ही प्राचीनकाल से अस्तित्व में है व इन दोनों का एक साथ ही विकास हुआ। दोनों ही इन्द्रियानुभवी सुख से कुछ गहनतर संतुष्टि प्रदान करते रहे हैं, जो कि मानव की नैतिक उत्पत्ति में भी सहायक रही है। धर्म के प्रचार के लिए मंदिर, गिरिजाघर आदि भवनों का निर्माण हुआ तथा उसमें देव-महिमा का वर्णन करने के लिए चित्र लगाए गये, प्रतिमा स्थापित की और भक्ति-आलाप बजाए गये। इस प्रकार धर्म ने वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत व काव्य सभी कलाओं को एक सूत्र में पिरोया है।

संदर्भ

1. सक्सेना, श्याम बिहारी व सरन, सुधा, कला सिद्धान्त और परम्परा, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, तृतीय संस्करण, 1993, पृ.सं. 34
2. वही, पृ.सं. 36
3. वर्मा, अविनाश, भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, ग्याहरवां संस्करण, 2006, पृ.सं. 2
4. सक्सेना, मन्जुला, ऐस्थैटिक्स, डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड प्रा.लि., नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 87

भारतीय संस्कृति में अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ

डॉ. पवन कुमार जांगिड.

चित्रकला के प्रति अकबर की रुचि आरम्भ से ही रही थी । अबुलफज्ल की आईने अकबरी के अनुसार अकबर के दरबार में सौ से अधिक ऐसे चित्रकार थे जो विश्वभर के श्रेष्ठ चित्रकारों से टक्कर ले सकते थे । साधारण चित्रकारों की तो कुछ गिनती ही न थी । अकबर ने जिस प्रकार सभी धर्मों का समन्वय करके दीन-इलाही' का आरम्भ किया उसी प्रकार उसके समाश्रित चित्रकारों ने कई शैलियों के समन्वय से एक नई शैली चलाई । अगर हम मुगल काल और ग्रन्थ-चित्रकला के बारे में अध्ययन करें तो तैमूरलंग के अभियानों के फलस्वरूप ईरान और चीन के मध्य सांस्कृतिक विनिमय की पुनरावृत्ति हुई । उसने राज्य विस्तार ही नहीं किया बल्कि ललित कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया । उसके और उसके वंशजों के संरक्षण में समरकन्द और हिरात में ग्रन्थ-चित्रकला का विकास हुआ । [1]भारत के संदर्भ में देखे तो मुगल शासक बाबर यद्यपि स्वयं चित्रकार नहीं था तथापि चित्रकला से उसे बड़ा प्रेम था। उसने अपनी आत्मकथा में ईरान के विख्यात कलाविद् बिहज़ाद के चित्रों की अत्यन्त मार्मिक समीक्षा की है । उसके पुत्र हुमायू का जीवन भी उसी की तरह ही संघर्षों में बीता । इस कार्य का श्रेय उसके पुत्र अकबर को मिला । 1556ई. में अकबर का गद्दी पर बैठना सर्वथा नवीन युग के समारम्भ का सूचक है । अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला-प्रेमी था। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त था । देश की संस्कृति और कलाओं से अब तक अधिकांश सुल्तान विमुख रहते थे, अकबर ने इन कलाओं को अपनाकर एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उसकी इस उदार नीति ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग उन्मुक्त कर दिया ।

अकबर की चित्रकला, स्थापत्य और संगीत में भी बहुत रुचि थी। उनकी छत्रछाया में चित्रकला ने बड़ी प्रगति की है । अकबर महाकाव्यों, कथाओं में रूचि रखता था इसलिए उसके काल के चित्र रामायण, महाभारत और फारसी महाकाव्य पर आधारित है । अकबर द्वारा शुरू की गई सबसे प्रारम्भिक पेंटिंग परियोजनाओं में से तूतीनामा महत्वपूर्ण थी, जो कि 52भागों में विभाजित फारसी के गद्य और पद्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों को चित्रित किया गया और इस प्रकार बहुत से चित्र बने । अकबर कालीन चित्रकला को चार भागों में बाँटा जा सकता है - (1) चित्रपट (Rolls) (2) ग्रन्थचित्र (Miniatures) (3) व्यक्तिचित्र (Portraits) (4) भित्तिचित्र (Frescoes)

इस शोध पत्र में हम केवल अकबर कालीन ग्रन्थ (Miniatures)चित्रों के बारे बात करेगें । ग्रन्थ चित्रों की श्रेणी में भारतीय कथाएं और ऐतिहासिक ग्रन्थ दोनों ही आते हैं । अनेक भारतीय तथा इस्लामी पुस्तकों को अकबर ने उस समय चित्रित करवाया था । इनमें अनेक चित्र कपड़े पर बने हैं और आकार में काफी बड़े हैं । अन्य पुस्तकों में कागज पर बने चित्र लगाये गये हैं । अकबर-कालीन चित्रों के विषय अभारतीय कथाओं (हम्जानामा, खमसा निजामी आदि), भारतीय कथाओं (रामायण, रज्मनामा, नलदमन, अनवार-ए-सुहैली आदि), ऐतिहासिक घटनाओं तथा दरबारी

जीवन, राज-परिवारों की जीवनी (शाहनामा, अकबरनामा, तैमूरनामा, बाबरनामा, जामीउत-तवारीख, तारीखे-अल्फी आदि) सामाजिक तथा व्यक्ति-चित्रों (शबीहों) पर आधारित रहे हैं। [2]अकबर कालीन मुगल चित्रकला अधिकतर चित्रित ग्रन्थों के रूप में हमारे सामने आती है। जैसे कि :-

(1) वाकायत-ए-बाबरी (अकबर की आत्मकथा) :- इसका फारसी अनुवाद तुर्की में खानखाना ने किया, जिसकी एक प्रति सन् 1598ई. में अकबर को भेंट में मिली। मध्य एशिया से कूच कर हिन्दुस्तान में मुग़ल वंश की स्थापना तक की उथल-पुथल को लघुचित्रों के रूप में संजोए 'वाक़यात-ए-बाबरी' को लंदन, दिल्ली व अलवर ने भी सहेज रखा है। 16वीं सदी की इस ऐतिहासिक पुस्तक में युद्धों का विवरण दिया गया है। अकबर के शासनकालीन प्रति में उन्नीस उच्च कोटि के हिंदू और तीन उच्च कोटि के मुसलमान चित्रकारों का वर्णन है।[3]

(2) तारीख-ए-खानदान-ए-तैमूरिया (तिमुरनामा) :- तैमूरियों के इतिहास अथार्त ईरान और भारत में तैमूर के उत्तराधिकारियों का इतिहास है। इस समृद्ध रूप से चित्रित पांडुलिपि को महान मुगल सम्राट और तैमूर के वंशज जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर के शासनकाल के बाईस साल बीत जाने के बाद सन 1577-78में लिखा और रचा गया था। इस ग्रन्थ में तैमुर वंश के आरम्भ से अकबर के 1577ई. वर्ष तक का चित्रण है। (चित्र सं. 2) इसका रचना काल 1584-86ई. तक का है। इसमें 132चित्र है। इसके चित्र उस ऊँचाई के अनूठे उदाहरण हैं जिन्हें कला के इतिहास में मुगलों द्वारा प्राप्त किया गया था। इसका मुख्य चित्रकार दसवन्त था। इसकी सचित्र प्रति खुदाबक्स ओरिएण्टल पब्लिक लाइब्रेरी पटना में है।[4]

(3) हम्जानामा (किस्सा अमीर हम्जा-1558-1573ई.) :- अकबरकालीन समस्त ग्रन्थों में 'हम्जानामा चित्रावली बहुल महत्त्वपूर्ण है। अकबर की सरपरस्ती में जो बहुत बड़ा काम हुआ वह हम्जानामा की कथा को 14जिल्दों में चित्रित किया गया और कुशल कलाकारों ने इस कहानी के 1400 सुन्दर चित्र बनाए। यह हज़रत मुहम्मद के चाचा अमीरहम्ज़ा के जंगी कारनामों की दास्तान है। यह सूती कपड़े के टुकड़ों पर चित्रित की गई थी। हम्जानामा के चित्र चित्रपट की श्रेणी में आते हैं। ये सवा दो फुट लम्बे और लगभग 2फुट चौड़े हैं और सूती कपड़े पर भारतीय चित्रपटों की परंपरा में ही बनाए गए हैं। हम्ज़ानामा अकबर के युग की सबसे पहली कृति है। इसके चित्रों में ईरान की हिरात-शैली का प्रभाव मिलता है फिर भी इनमें अपना एक निजत्व है जो निश्चय ही भारतीय कलाकारों के हाथों पाया है। वेषभूषा और पहनावा भारतीय है। आकृतियां गतिमान् और भावपूर्ण हैं। प्रकृति चित्रण में भारतीय फलफूल जैसे-केले, वट, पीपल, आम, और पशु-पक्षी जैसे हाथी, मोर आदि का चित्रण किया गया है। इसमें भारतीय देवी-देवताओं की छवियां भी मिलती है। 'श्री रायकृष्ण दास जी' का मानना है कि इसे पूर्णतया अकबर ने ही चित्रित कराया था। इसमें बनाये कुछ चित्र भारतीय शैली के हैं। इस दास्तान की आश्चर्यजनक घटनाओं को आरम्भ से अन्त तक चित्रित कराया गया। प्रत्येक चित्र में सम्मुख-भाग पर 'काजबीन (मुंशी)' या 'ख्वाजा अताउल्लाह लिपिक' ने चित्रों पर विवरण लिखे हैं।[5]बिहजात के समान तूलिका वाले चित्रकार इस पुस्तक को तैयार करने के लिये नियुक्त किये गये और

बाद में ख्वाजा अब्दुलस्समद 'शीराजी' की देखरेख में यह कार्य चलता रहा। अमीरहम्जा के चित्रों में फारसी प्रभाव अधिक है। आज इसके 150चित्र उपलब्ध हैं, जिसे 'गुलूक' ने संगृहीत कर सन् 1925ई. में वियना से छपवाया था। आज 61 चित्र 'वियना में 25 साउथ केन्सिंगटन संग्रहालय, लंदन तथा 15 अमेरिका के विभिन्न संग्रहालयों में हैं। [6]भारत में 6चित्र हैं जिनमें 2चित्र भारत कला भवन, वाराणसी, 2मुम्बई, 1 हैदराबाद व 1बड़ौदा संग्रहालय में हैं। इस चित्रावली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :-

(1) कवचधारी व्यक्तियों को छोड़कर शेष पुरुषों का पहनावा भारतीय है। स्त्रियों का परिधान त्रिकोण दामन वाली लम्बी कुरती, ओढ़नी तथा पाजामा है। यह पहनावा कश्मीरी है जो काश्मीर शैली के प्रभाव से मुगल शैली में आया।
(2) ये चित्र आलंकारिक न होकर घटना चित्र हैं जो हिरात शैली से भिन्न हैं। इनमें भीड़-भाड़ है तथा नाजुकपन भी नहीं है।
(3) इन चित्रों की रेखाओं में भारतीय ढंग की गोलाई देखी जा सकती है। स्त्रियों की आकृतियाँ पूर्ण भारतीय हैं। एक-चश्म चेहरों की अधिकता है, बड़ी-बड़ी मछली जैसी आंखें हैं।
(4) प्रकृति का अंकन भारतीय तथा फारसी मिश्रित ढंग का है तथा उसमें मोर, पीपल, आम, केला, वट-वृक्ष, आदि का भी अंकन हुआ है।
(5) आकृतियों को भाव-भंगिमाओं तथा वस्त्रों की फहरान आदि पर भारतीय गतिपूर्ण मुद्राओं का प्रभाव है। भारतीय ढंग के हाथियों का चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं भारतीय वास्तु का भी दिग्दर्शन हुआ।
(6) कुछ देवताओं की छवियाँ भी अंकित की गई हैं जिन पर पाल शैली की परम्परा वाली काश्मीर शैली का प्रभाव है।
(7) इस चित्रावली में प्रधान अंश काश्मीर शैली का है, शेष अंश राजस्थानी तथा ईरानी शैली के हैं।[7]

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन चित्रों में ईरानी विषयवस्तु होते हुये भी अकबर की अन्तरात्मा 'सुलहकुल' व 'भारतीयनुगत विचारधारा से प्रभावित चित्रकारों ने भारतीय व ईरानी शैली को सम्मिश्रण के रूप में प्रस्तुत किया है।

हम्जानामा चित्रावली के चित्रकारों में तब्रेज निवासी मीर सैयद अली सफवी शैली का फारसी चित्रकार था। काबुल में मीर सैयद् अली तथा अब्दुस्समद शीराजी के निर्देशन में अनेक हिन्दू-मुसलमान चित्रकारों ने 'दास्तान-ए-अमीर हम्जा' के चित्रों का निर्माण प्रारम्भ किया। इस पुस्तक के दृष्टान्त चित्रों की रचना कर (मीर सैयद् अली और अब्दुस्समद) अपने अथाह ज्ञान और अपरिमित साधना का परिचय दिया। किन्तु इसके कोई प्रमाण नहीं हैं कि इन दोनों ने भी इसके कुछ चित्र बनाये थे। ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी भारत में मुगल शैली के जन्मदाताओं में से एक था। वह फारसी सुलिपिकार एवं चित्रकार था। तैमूरनामा के एक उल्लेख के अनुसार हुमायू तथा अकबर ने उससे कला की शिक्षा ली। 'मआतिर-उल-उमरा' के लेखक 'शाह नवाजखान' ने लिखा है कि हम्जा चित्रावली के निर्माण में अकबर ने 50से ज्यादा चित्रकार नियुक्त किये थे। पूर्व में मीर सैयद अली ने इसका निर्देशन किया, किन्तु बाद में ख्वाजा

अब्दुस्समद के निर्देशन में यह कार्य पूर्ण हुआ। हम्जानामा के अधिकांश चित्र इसी के निर्देशन में बने थे। इसका एक प्रमुख शिष्य दसवन्त था।[8]अबुलफज्ल के विवरणानुसार दसवन्त कहार का लड़का था। सम्भवतः दसवन्त ने अमीर हम्जा के भी कुछ चित्र बनाये थे किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। जो चित्र उपलब्ध हैं उनमें से कुछ चित्रों को दसवन्त के बनाये हुए सिद्ध करना बड़ा दुष्कर है।[9]

(4) रज्मनामा (महाभारत का अनुवाद) :- 1574ई. में अकबर ने फतेहपुर सीकरी में मकतबखाना (अनुवादघर) शुरू किया। अकबर ने महाभारत का फ़ारसी में अनुवाद कराया। 'अब्दुल कादिर बदायूँनी' अकबर दरबार का संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान था। महाभारत का फारसी अनुवाद रज्मनामा के नाम से इसी के द्वारा हुआ था, जिसको पूरा करने में एक वर्ष लगा और यह सन् 1582ई. में पूरा हुआ। रज्मनामा की तीन प्रतियां है। प्रथम जयपुर अजायबघर में, दुसरी 1599 में तैयार जो वर्तमान में विविध संग्रहालय में रखी गई है और अंतिम रज्मनामा रहीम का है जो 1616 में पुरा हुआ था। रज्मनामा अपने चित्रों के कारण महत्वपूर्ण है। पहले अनुवाद (1584-1586) के दौरान मुश़फिक ने तस्वीरें बनाने का कार्य किया जिसके साथ महाभारत की कथा को समझने में सुविधा होती है। इस समय इस अनुवाद की एक नकल जयपुर शहर के महल अजायबघर में मौजूद है। इस किताब का दूसरा अनुवाद 1598 से 1599के दौरान किया गया। इसमें 161चित्र शामिल है। इस अनुवाद की कई नकल शाही खानदान के सदस्यों को तोहफे के तौर पर दी गई।[10]

इसकी एक प्रति को 1588 में तीन जिल्दों में चित्रित किया गया अकबर का भारतीय आत्मा से लगाव का यह प्रबल उदाहरण है। लगभग 169 चित्र इसमें बनाये गये। इसके लिये करीब पचास चित्रकारों ने दिन-रात परिश्रम किया। चित्रों में भारतीय प्रभाव जम चुका था और ईरानी प्रभाव का लगाव छूटता जा रहा था। कर्नल हैन्डले ने अपनी एक पुस्तक में इसके 148 चित्र छापे थे इस ग्रन्थ के चित्रण कार्य के बीच में ही दसवन्त चितेरा पागल हो गया था और 1584 में उसने आत्महत्या कर ली थी। बसावन, लाल, तुलसी व मिस्कीन आदि चितेरों ने इस ग्रन्थ को चित्रित किया। मुहम्मदशाह ने इसे जयपुर के सवाई जयसिंह को भेंट कर दी थी। अब यह जयपुर के सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय के संग्रह में हैं।[11]अकबरकालीन रज्मनामा के अनुकरण पर कुछ अन्य शासकों ने भी रज्मनामा की सचित्र प्रतियाँ तैयार करायीं। इसके चित्रों में से 24चित्रों में 'दसवन्त' चित्रकार ने कार्य किया। उसका नाम तैमूरनामा के एक चित्र की अनुकृति पर तथा रज्मनामा के अनेक चित्रों पर है। दसवन्त द्वारा बनाया हुआ एक चित्र 'राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में भी सुरक्षित है। जयपुर रज्मनामा वाली प्रति के 21 चित्रों पर दसवन्त का नाम अंकित है, इन्हीं चित्रों से उसकी श्रेष्ठ कला शैली का अनुमान लगाया जा सकता है। दसवन्त ने भारतीय देवी-देवताओं तथा पूर्वजों का अंकन बहुत उच्च कोटि का किया है। बसावन यह सोलहवीं शती के भारतीय चित्रकारों में पर्याप्त प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण कलाकार था। इसने भारतीय जीवन की बड़ी विविध झाँकी प्रस्तुत की है। तैमूरनामा तथा रज्मनामा में बसाबन और दसवन्त दोनों ही कलाकारों के बनाये चित्र हैं। बहारिस्ताने जामी के अतिरिक्त दाराबनामा' को भी बसावन ने चित्रित किया था। बसावन ने लगभग चालीस वर्ष तक कार्य किया अतः अनुमान है कि उसने लगभग दो सौ चित्र बनाये होंगे। अकबर-नामा में भी उसके चित्र हैं। सम्भवतः हम्जानामा में भी उसके चित्र रहे होंगे किन्तु किसी

भी चित्र पर उसका नाम अंकित नहीं मिलता। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अयार दानिस, अनवार ए सुहैली (पंचतंत्र का अनुवाद,), रामायण, तारीखे खानदाने तैमूरिया, वाकआत बाबरी, अजायब-उल- मखलूकात, जफरनामा, नफहत-उल-उन्स, बहर-उल-हयात, तारीख-ए-अलफी, अकबरनामा, शाहनामा, नल-दमन (नल-दमयन्ती चरित्र), तारीख-ए-रशीदी, दाराबनामा, खम्सा निजामी तथा बहारिस्ताने जामी आदि की चित्रित प्रतियाँ भी विभिन्न संग्रहालयों में हैं। [12]रामायण के अनुवाद को भी चित्रित किया गया। पंचतंत्र के अनुवाद अनवार ए सुहैली की एक प्रति को भी 1604 में चित्रित करना प्रारम्भ किया गया। ऐतिहासिक ग्रन्थों में तारीखे खानदाने तैमूरिया की प्रति को सबसे पहले चित्रित किया गया।[13]

अकबरनामा के चित्रों में अकबर, उनकी सेनाओं तथा मुगल दरबार की विविध झांकी मिलती है। शान-शोकत तथा वैभव के मध्य कहीं-कहीं प्राचीन विशाल भारत की भी झाँकी मिल जाती है। अकबरनामा में 100से अधिक चित्र हैं और यह 1602में पूर्ण हुई।[14] (चित्र सं.8) 'तारीख-ए-खानदान-तैमूरिया', 'जफरनामा', 'अकबरनामा' (चित्र सं.9), 'बाकयात बाबरी' आदि ग्रन्थों में व्यक्ति चित्रों की भरमार है। व्यक्ति चित्रण में अधिक मनोयोग से कार्य किया किया गया। अकबर के काल में बने चित्रों में अनेक ऐसे चित्र भी हैं जो उस समय के सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, प्याऊ, पनघट, ऋषि-मुनियों का जीवन, किसान, गरीबों की झोंपड़ी, उत्सव आदि चित्रों में मुखरित हुये हैं जिसमें उस समय के खान-पान, सिंचाई व्यवस्था, कृषि कार्यों, जल-व्यवस्था तथा रहन-सहन के ढंग का पता चलता है। पंचतंत्र के जो अनुवाद हुए उनके कारण मुगल चित्रकारों में प्राकृतिक जगत के प्रति कुछ संवेदनशीलता जागृत हुई है। अनेक संतों, साधुओं तथा आखेट के दृश्य भी बने है। यदपि कृषकों, चरवाहों एवं लोक जीवन के अनेक दृश्यों का अंकन हुआ है तथापि प्रधान रूप से मुगल दरबारी जीवन की झाँकी उन चित्रों में प्रस्तुत की गई है। कहीं-कहीं तम्बुओं एवं रनिवास के भी चित्र प्रस्तुत किये गये है।[15]राय कृष्णदास जी के मतानुसार अकबर काल में लगभग बीस हजार चित्र बने। छिन्न चित्रों में राजा पृथु वाला चित्र जो भारत कला भवन बनारस संग्रहालय में है, बड़ा महत्त्वपूर्ण चित्र है। यह सभी ग्रन्थ दिल्ली-आगरा (फतहपुर सीकरी) और लाहौर में अकबरी पोथीखाने की शोभा थे लेकिन विदेशी आक्रमणों तथा मुगल शहंशाहों की लापरवाही से अधिकांश ग्रन्थ काल कवलित हो गये।

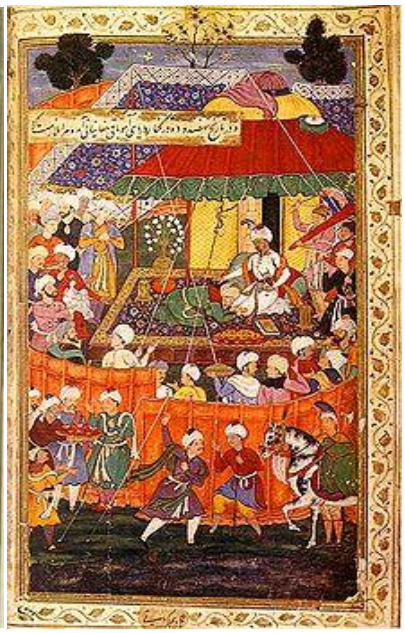

अनवार ए सुहैली बाबरनामा अकबरनामा

अकबर के पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें थीं जिनमें सैकड़ों ग्रन्थ चित्रित थे। इससे उस महान् सम्राट ने चित्रकला को कितना प्रोत्साहन दिया इसका अनुमान लगाया जा सकता है। अकबर ने सन् 1558 से 1572ई. तक आगरा में, सन् 1572 से 85ई. तक फतेहपुर सीकरी में, सन् 1585 से 1601ई. तक लाहौर में और सन् 1603 से 1605ई. तक पुनः आगरा में चित्रशालाएँ स्थापित की। अकबर का शाही पुस्तकालय भी तीन विभिन्न बड़े नगरों में स्थापित रहा-आगरा, दिल्ली और लाहौर।

अकबर ने अलग से एक 'कला-निकेतन' की भी स्थापना कर रखी थी, जिसका अध्यक्ष अब्दुस्समद' था। यहाँ वह प्रति सप्ताह चित्रों की प्रदर्शनी संग्रह को दिखाता था। पोथी चित्रण पूर्ण करने के लिये तीन व्यक्तियों की जरूरत होती थी। उसमें पहला कलाकार शेर लिखता था, दूसरा चित्रकारी करता तथा तीसरा उसमें रंग भरता था। ऐसे कलाकारों में कातिब मीर अली, मुलतान अली, मुहम्मद हुसैन, उस्ताद गफ्फारी, अब्दुलरहीम आदि के नाम प्रमुख हैं। संस्कृत और फारसी हस्तलिखित पोथियों के दृष्टांत चित्रों को अकबर ने बड़ी रुचि से तैयार करवाया। यह ग्रन्थ धार्मिक, शास्त्रीय, काव्य, काव्यनीति, इतिहास, नाटक, जीवनी आदि सभी विषयों के थे। अकबरकालीन चित्रशैली की अपनी कुछ विशेषताए हैं जो इसे अन्य चित्र शैलियों से पृथक् करती हैं। इन चित्रों की मूल प्रेरणा ईरानी होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय है। हम्जानामा के पश्चात् यह कला ईरानी और भारतीय विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट होती है। इसके आलेखन में गति और अभिव्यंजना है। आकृतियां भावपूर्ण हैं। चित्रों में केवल रेखाओं की ही कला नहीं है अपितु उनमें सजीवता और उन्मुक्तता है। ईरानी आलंकारिकता को भारतीय विषयों, वेषभूषा, पशु-पक्षी, प्रकृति और वातावरण के चित्रण के साथ-साथ घोल मेल लिया गया है।

अकबर के चित्रकार अधिकांशतः विशुद्ध भारतीय रंगों का प्रयोग करते हैं, जैसे सिन्दूर, पेवड़ी, लाजवर्दी, हिंगुल, जंगाल, गेरू, हिरोंजी, रामरज, हरा भाटा एवं नील आदि। इन रंगों के मिश्रण से बड़े सुन्दर चमकदार और मीने की तरह दमदमाते चित्र बनाए जाते थे। उनके ऊपर प्रभा के लिए स्वर्णकारी की जाती थी। अबुल फज़ल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि अकबर के राज्यकाल में रंगों के मिश्रण में विशेष प्रगति हुई है। अकबर चित्रकला को आमोद और अध्ययन के ध्येय से प्रोत्साहन देता था। राष्ट्रीय सम्राट की अपनी कल्पना के अनुरूप भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को संरक्षण देना वह अपना कर्तव्य भी समझता था। अकबर के शासन काल में शिक्षा, संस्कृति व कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। अकबर के शासन काल तक उत्तरी भारत में एक विस्तृत एवं समृद्ध साम्राज्य स्थापित हो चुका था और साथ-साथ इसी सुखद एवं शान्त वातावरण में ललित कलाओं का भी दिनों-दिन विकास हुआ। अनेक कलाकारों साहित्यकारों संगीतकारों का यहाँ जमावड़ा था।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. डॉ. रामनाथ - मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ.सं. 11
2. आर. ए. अग्रवाल - कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1995, पृ.सं. 134
3. https://m.bharatdiscovery.org/india /वाकयात-ए-बाबरी
4. डॉ.ममता सिंह - भारतीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2017, पृ.सं. 561
5. वही, पृ.सं. 555
6. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
7. डॉ.ममता सिंह - भारतीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2017, पृ.सं. 556
8. शर्मा लोकेश चन्द, भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, गोयल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1999, पृ.सं. 94-95
9. Hi.m.wikipedia.org
10. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
11. आर. ए. अग्रवाल - कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1995, पृ.सं. 138
12. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
13. डॉ. रामनाथ - मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ.सं. 14
14. शर्मा लोकेश चन्द, भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, गोयल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1999, पृ.सं. 96
15. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 182

छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक

डॉ.राखी कुमारी

छापाकला छपाई की प्रक्रिया को कहते है। इसमें दो सतह से काम होता है। एक सतह जिसमें चित्रण किया जाता है तथा दूसरी सतह में इसकी छपाई की जाती है जो चित्रण करने वाला तल होता है। वह कई वस्तुओं का हो सकता है जैसे पत्थर, धातु, लकड़ी, कपड़ा, आदि। रंग द्वारा किसी रूप में सृजन करने में छापा लगाना सरलतम क्रिया है, वह क्रिया जिस सरल रूप में आज छापा लगाने में दिखाई देती है उसका प्रारंभिक रूप आदि मानव द्वारा लगाये हुये छापों में देखा जा सकता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में कोयले तथा राख से सने हुये हाथ से अनायास कही पर छाप लग जाने से रूप बना होगा। जो छापे-चित्रण के पहले अभिव्य रूप रहे होंगे। उस समय के मानव अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित होकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पत्थरों एवं तूलिका द्वारा रेखाओं एवं आकृतियों को गुफाओं की मित्तियों और चट्टानों पर अंकित करना प्रारम्भ किया। जो कला का प्रारम्भिक रूप था। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया कला भी नये स्वरूपों में सामने आने लगीं।

पूर्व में आदिमानव अपने ऐतिहासिक और धार्मिक अनुभव एक वंश से दूसरे वंश तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक केवल मौखिक रूप से ही बताकर परंपरा के रूप में जीवित रखते थे और वह भी केवल उन व्यक्तियों के द्वारा जिनकी स्मरण शक्ति कुछ अधिक होती थी। फिर भी आदिमानव केवल व्यक्ति की स्मृति क्षमता पर ही निर्भर नहीं रहना चाहता था। शीध्र उसे ज्ञात हो गया कि मानव को भूलने की भी आदत होती है। इसके अतिरिक्त अनुभव जितने व्यक्तियों द्वारा आगे व्यक्त किए जाते थे वह अपने मूल रूप से भिन्न होते चले जाते थे और सही बात लुप्त हो जाती थी। जबकि धार्मिक गीत ओर चिकित्सीय रागों के शब्दों में तोड़-मरोड़ होने से उनका महत्व ही समाप्त हो जाता है। परन्तु छापाकला के विकास से ज्ञान को जन-जन तक सही शब्दों के पहुंचाना आसान हो गया।

कोहबर (मिर्जापुर) की गुफा छत में तथा कंडाकोट पहाड़ के समीपवर्ती मार्ग में स्थित अनेक शिलाश्रयों पर क्षेपांकन विधि से अंकित गेरूएँ रंग के ऐसे अनेक हस्तचिन्ह प्राप्त हुए है। जिन्हें हम भारतीय छापाकला के प्रारंभिक चिन्ह मान सकते है। कहीं अकेले एक हाथ की छाप मिलती है तो कहीं दोनों की। वाकणकर को भोपाल क्षेत्र की कुछ गुफाओं में ऐसे चिन्ह मिले हैं। यूरोप की कास्तिलों (castillo) आदि अनेक गुफाओं में ऐसे चिन्हों का अंकन इनकी एक विश्वव्यापी परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है। चित्रित चिन्हों में कहीं-कहीं हथेली के नीचे भी रंग लगा है। रंग जानवरों के रक्त अथवा स्थानीय उपलब्ध खनिज रंग होते थे।

ऐसी सम्भावनाएँ आज भी लोकचित्रों में भित्ति पर हाथ से बने हुए छापे तथा अंगुलियों के पोरूओं से बने छापों का दृश्य देखा जा सकता है।

कृषि युग तक आते-आते मानव में कला चेतना का और विकास हुआ। मानव समाज कबीलों और वृहत परिवारों में पनपने लगा। जन्म और मृत्यु उसके लिए दैवी कारण थे। मृत्यु को वह दैवी प्रकोप मानता था। परिवार में मृत्यु के समय वह अपने दिवंगत परिजनों की भी याद करता था। वृद्धों की याद को स्थाई बनाने के लिए मानव ने

परिवार के वृद्ध-सदस्य के हाथ के पंजों को निश्चित प्राचीन पहाड़ की चट्टानों पर छापना प्रारंभ कर दिया। इस पंजों को छापने की क्रिया का उसने एक उत्सव का रूप दिया। परिवार के वृद्ध सदस्य की मृत्यु से पूर्व कबीले के सरदार और अन्य परिवार जनों के साथ निश्चित पहाड़ की चट्टान के समीप ले जाया जाता था परिवार के लोग कन्द को मुँह से चबाकर सफेद रस मुँह में बना लेते थे और वृद्ध के पंजों को चट्टान पर रखकर मुँह के रस को हाथों के ऊपर फूंक देते थे। इस प्रकार हाथों की आकृतियाँ चट्टान पर छप जाती थी। इनका मानना था कि मृत्यु के बाद इस सदस्य की आत्मा यहाँ निवास करेगी। पूर्वजों के छपे पंजों की पूजा तथा बलि देने से उनकी आत्मा प्रसन्न होगी और महामारी, प्राकृतिक प्रकोप, दैवी संकटों का निवारण होगा। मानव की इस प्रथा ने छापाकला का प्रारंभ अनजाने में ही कर दिया।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने चित्रों को अपने विचारों की सरल अभिव्यक्ति एवं उन्हें सुरक्षित रखने के लिए सरलीकरण किया। पूर्व के गुहाचित्रों को ही 3500 ई.पू. में चित्रात्मक लिपि और लगभग 3000 ई.पू. से 2500 ई. पूर्व तक ध्वनि के आधार पर कीलाक्षर लिपि का रूप दिया। शुरुआती दौर में बौद्ध तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा ही छापा कला का प्रारंभिक प्रयास देखने को मिलता है। चीन, जापान और कोरिया में हुए ये प्रयास बौद्धों द्वारा सार्वजनिक संवाद को बढ़ावा देने के उद्देश्य से किये गये थे। सर्वप्रथम चीन में लकड़ी के ब्लाँक बनाकर छपाई कला का प्रारंभ किया गया। इसमें छपाई के लिये लकड़ी के समतल धरातल पर आकृति बनाकर उसके आस-पास के स्थान को खोदकर हटा देने के पश्चात् उभरे हुए भाग से मुद्रण किया जाता था। चीन में ही 105 ई. के प्रारंभ में पत्थरों को खोदकर चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशस के उच्च कोटि के साहित्य (Confucian Classic) की पत्थर की पुस्तक के पृष्ठ तैयार किए गए। पत्थर को रखने में बहुत कठिनाई होती थी क्योंकि पत्थर भारी होता था और रखने के लिए ज्यादा स्थान की भी आवश्यकता होती थी। इसलिए पत्थरों के ऊपर स्याही लगाकर मुद्रण किया जाने लगा।

594 ईसा पूर्व चीन में काष्ठ ठप्पों से किताबों की छपाई की जाती थी। काष्ठ ठप्पों से छपी संसार की पहली किताब हीरक सूत्र लगभग अच्छी अवस्था में यह ग्रंथ दक्षिणी चीन के तुन हआंग स्थान पर सहस्त्र बुद्ध गुफाओं से खोज निकाला गया है। हीरक सूत्र भारत के (संस्कृत ग्रंथ वज्रछेदित प्रज्ञापारमिता) का चीनी भाषा में अनुवाद है। जिसका मुद्रण 868 ई. में किया गया था। इसे अर्द्ध भारतीय और अर्द्ध तुर्की बोध कुमार जीव ने 402 ई. में लिखा था। उस समय पेपर काफी पतला होता था। अतः छपाई एक तरफ ही की जाती थी। उस समय अकारडियन बुक यानी तहो वाली लहरदार किताबों की छपाई होती थी। पेपर को फोल्ड करके साइड से स्ट्रेच किया जाता था।

चीन से बौद्ध मिशनरीज ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए काष्ठ छापा को जापान में फैलाया। 770 ईसा पूर्व ठप्पों द्वारा छपाई के प्रमाण हमें मिलते हैं। जापानी सामग्री शो तोकू ने बौद्ध मंत्रों की छपाई के द्वारा वह पृथ्वी पर अपने लम्बे जीवन को निश्चित करना चाहते थे। यह मंत्र लकड़ी के ठप्पों द्वारा बांस के कागज पर छापे गए थे। इस प्रकार छपाई की कला को संसार के समक्ष रखा गया। प्राचीन काल में व्यापार सिल्क रूट से एक देश से दूसरे देश में किया जाता था। अतः पेपर भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगा। सिल्क रूट से यूरोप में भी पेपर प्रयोग होने लगा। इन पेपरों पर हस्तलिपि (मेनस्क्रीप्ट) यानी हाथ से लिखी जाने लगी जिसे लोगों ने काफी पसन्द किया। 13वीं सदी के

प्रारंभ में यूरोप में लकड़ी के ब्लाक बनाकर छपाई की गई। शुरुआत में ताश के पत्ते और धार्मिक छवियों का छपाई की जाती है। यह जानकारी हमें 1423 ई. में छपी धार्मिक पुस्तक के पृष्ठों से मिलती है। सन् 1467 ई. में रोम शहर में और सन् 1469 में बेनिस तथा 1480 में लंदन और सन् 1438 में स्टाकहोम में छापेखाने की स्थापना हुई। 15वीं शताब्दी छपाई कला का प्रारंभिक काल था। धीरे-धीरे किताबों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा।

मार्क पोलो ;डंतबवच्वसवद्ध जो कि इटली के एक महान खोजकर्ता थे। जो चीन में काफी साल तक खोज करने के बाद इटली वापस लौटा। वो अपने खोजों में चीन काष्ठ छपाई विधि भी अपने साथ लेकर आए। इस तरह काश्ठ छापा पूरे यूरोप में फैल गई। धीरे-धीरे किताबों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा। किताबों की मांग बढ़ने के साथ-साथ यूरोप भर के पुस्तक विक्रेता विभिन्न देशों में निर्यात करने लगे। भिन्न-भिन्न स्थानों पर पुस्तक मेले लगने लगे। बढ़ती मांग की आपूर्ति के लिए हस्तलिखित पांडुलिपियों के उत्पादन के भी नए तरीके सोचे गए। किताबों की बढ़ती मांग को हस्तलिखित पांडुलिपियां पूरी नहीं कर पा रही थीं नकल उतारना खर्चीला, समय साध्य और श्रम साध्य काम था। पांडुलिपियां अक्सर नाजुक होती थी, उनको लाने ले जाने, रख-रखाव में तमाम मुश्किलें थीं। ऐसे में एक सस्ती मुद्रण तकनीक की जरूरत थी।

15वीं ईसा शताब्दी के उत्तर्ार्द्ध में यूरोप में छपाई कला प्रारंभ हुआ। जर्मनी के गुटेनबर्ग ने मुद्रण कला का आविष्कार किया। सन् 1452 ई. में जर्मनी के स्ट्रासबुर्ग शहर में स्थापित छापेखाने से बाइबिल का प्रथम संस्करण छापा गया। छपी हुई बाइबिल के प्रत्येक पृष्ठ पर 42 पंक्तियां छपी थी, बाद में मुद्रित बाइबिल को पुस्तकों में धीरे-धीरे कास्ट छापों का प्रयोग होने से अब किताबों के कारण लोगों को नई-नई विषयों की जानकारी होने लगी। ज्यादा मात्रा में किताबों की छपाई होने से इसकी कीमत भी कम हो गई। कीमत कम होने से गरीब भी किताब पढ़ने लगे और अपने विचारों को एक-दूसरें के समक्ष रखने लगे। इस तरह 17वीं से 18वीं शताब्दी तक यूरोप में साक्षरता 60 से 80 प्रतिशत हो गयी।

भारत में हस्तलिपि का चालन प्राचीन काल से प्रचलन रहा है। इसको पाम लीफ या हैन्डमेड पेपर पर लिखा जाता था, जिसमें काफी मेहनत होती थी। इनको प्रतिदिन की दिनचर्या में प्रयोग भी नहीं किया जा सकता था। काफी सावधानी से प्रयोग किया जाता था। 1550 ई. में भारत में पहली छपाई की मशीन गोवा में स्थापित की गई थी। पुर्तगाली ईसाई धर्म के प्रचार के लिए लिस्बन से छापा मशीन और चल टाईप का आयात किया था। भारत छपाई इतिहास में वर्ष 1579 अत्यन्त स्मरणीय है। यह वह वर्ष था जब सर्वप्रथम भारतीय भाषा में एक पुस्तक छपी थी। फादर हेनरीक्स द्वारा अनुवाद की हुई 'दोत्रीना क्रिस्तियाना' शीर्षक की यह पुस्तक चल धातु टाइप छापी गई थी। इस किताब में एक काष्ठ रेखा चित्र भी है।

1650 ई. ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अंग्रेजी छपाई की मशीन का आविष्कार किया, जिसका प्रयोग वे लोग ही करते थे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी कार्यों के लिए न्यूज पेपर का प्रकाशन करने लगे परन्तु इसमें ब्रिटिश सरकार के खिलाफ कुछ नहीं लिखा जा सकता था। 18वीं शताब्दी में बहुत सारे भारतीय भी अपना प्रेस खोल लिये- जैसे बाल गंगाधर भट्टाचार्य ने बंगाल गजट नाम से न्यूज पेपर पब्लिश किये। बाल गंगाधर, राजाराम मोहन राय के बहुत करीबी

थे। इस तरह छपाई कला ने लोगों को अपने-अपने विचार व्यक्त करने का मौका दिया। इंग्लैण्ड के महान चिन्तक, कला-समीक्षक पी0 एच0 मूर के अनुसार 'छापाकला और छपाई कला' का मानव संस्कृति और समाज पर अदभुत प्रभाव पड़ा। मानव के दैनिक जीवन की समस्याओं से लेकर विज्ञान की बड़ी-बड़ी खोजों को छपाई कला ने विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया। छपाई कला ने ही चाक्षुष कला को जन-जन तक प्रकाशित किया। समाज में कला चेतना का विस्तार किया। मानव संस्कृति और सभ्यता को आगे बढ़ाने में छापाकला ने हमेशा ही संवाहक की भूमिका का निर्वाह किया है। इस प्रकार छापाकला आधुनिक समाज का एक नया रूप दिया।

छापाकला का सामान्य अर्थ किसी वस्तु में स्याही लगाकर उसका छापा अन्य पर लिया जाता है। छापने की क्रिया की चार विधियाँ प्रचलित है:-

(अ) उभार सतह उत्कीर्णन प्रणाली (Relief Printing)

उभार सतह द्वारा छापा-चित्र हड़प्पा, मोहन जोदड़ो, मेमोपोटामियाँ आदि क्षेत्रों में प्राप्त शिल्प अवशेशों के द्वारा हम यह जानकारी प्राप्त कर सकते हे कि इसका जन्म इन्हीं सभ्याताओं से हुआ होगा। इस पद्धति में सपाट सतह से जिस भाग को छापना नहीं होता उसे काटकर निकाल दिया जाता है जो शेष भाग उभरा हुआ रह जाता है उस पर स्याही लगाकर दबाव के साथ उसका छापा कागज पर ले लिया जाता है।

(ब) अन्तः सतह उत्कीर्णन प्रणाली (Intoglio Printing)

इन्टेग्लियाँ ऐसी प्रक्रिया है जिसमें धातु की प्लेट या अन्य प्लेट में वह भाग गहरे खोदे जाते है जिसमें स्याही भरकर छपना होता है खुदाई द्वारा वह प्रक्रिया तेजाब द्वारा ऐचिंग से की जाती है। खुदी हुई प्लेट पर स्याही लगाकर इस प्रकार पोछ दी जाती है कि गहराई में बनी हुई इंक बनी रहे। (यह गहराई हम भिन्न-माध्यमों में बिना एसीड के भी कर सकते हैं) जब इस पर दबाव के साथ कागज लगाया जाता है तब कागज गहराई में जाकर स्याही को सोख लेता है। परम्परागत रूप से ताबें की प्लेट प्रयोग की जाती है। किन्तु जस्ता, स्टील, ऐल्युमिनियम की प्लेट भी प्रयुक्त की जाती है।

(स) समतल सहत प्रणाली (Plenography Printing Lithrography)

इस विधि में प्लेट की किसी भी प्रकार की काट-छांट या फिर इंचिग सम्मिलित नहीं होती है, बल्कि आकृति सीधे छपाई वाले ब्लाक पर बनाई जाती है। कभी-कभी लिथो प्रिन्ट देखने पर पेन्सिल का धोखा होने लगता है। लिथोग्राफी की विधि इस मूल्य पर आधारित है कि तेल और पानी एक दूसरे के विपरीत है, यानि क्रेयान या इंक का इस्तेमाल किया जाता है उसके बाद पत्थर पर पानी फैला कर रोलर से इंक लगाया जाता है। जिस स्थान पर इंक से ड्राइंग किया जाता है उस पर इंक पकड़ लेता है और छपाई करते है। जब-जब छापा लेना होता है स्टोन को पानी से भिंगाकर रोलर से इंक लगाकर छापा निकालते है।

सैरीग्राफी माध्यम(Silk Screen printintg)

सैरीग्राफी छापा निकालने का एक सीघा माध्यम है इसमें सिल्क के ऊपरगोंद से वह जगह बंद कर दी जाती है जिसकों कलाकार को छापा नहीं निकालना होता है। फिर इसके उपर गाढ़ा रंग डालकर स्कूर्जा से दूसरी ओर रंग खींचा जाता है। जिस स्थान पर गोंद नहीं होता, वहाँ से रंग निकल कर कागज पर आ जाता है। सिल्क स्क्रीन छापाकला के क्षेत्र में एक नया माध्यम है वह वास्तव में एक स्टेंसिल विधि है, जो प्राचीन काल से ही प्रचलित है।

छापाकला के कुछ तकनीकी शब्द

छापाकला का आनन्द लेने के लिए कुछ तकनीकी शब्दों के बारे में जानना आवश्यक है, ये शब्द छापा निर्माण या छापा पूर्ण होने के बाद प्रयेाग में आते है। इन शब्दों का प्रयोग प्रायः छापाकार कला समीक्षक कला प्रशंसक तथा छापा संग्रहकत्र्ता करते हैं। छापाकार एक छापे के अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद उस छापे के दाहिनी ओर नीचे लिखनी होती है। जैसे एक छापाकार ने एक प्लेट या ठप्पे से 20 अनुकृतियाँ बनाई जो क्रम संख्या के अनुसार वह पहले छापे पर दाहिनी ओर 1/20 लिखेगा। अर्थात यह बीस प्रतियाँ में से पहली प्रति है। प्रारंभ की पांच छापा प्रतियाँ अति महत्वपूर्ण होती है जैसे-जैसे छापों की संख्या बढ़ती जाती है उनका महत्व कम होता जाता है। छापाकार छापे के बाई ओर नीचे अपने हस्ताक्षर और निर्माण वर्ष लिखता है। यह लेखन कार्य 6 बी पेन्सिल से होता है। इस लेखन के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि यह छापा मेरे द्वारा या मेरे निर्देशन में छपा है। मैं इस छापे से संतुष्ट हूँ। यह छापा प्रमाणित छापा है।

अन्तराष्ट्रीय छापाकला नियमों के अनुसार छापाकार या कलाकार के हस्ताक्षर के बिना छापा पूर्ण नहीं माना जाता है। इसे 'आर्टिस्ट डिकलेरेशन' कहते है। इस नियम को हर देश के छापाकार मानते है।

कलाकार या छापाकार छापे को अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के क्रम में जो छापे बनते है उन्हें आर्टिस्ट प्रूफ A/P कहते है और छापाकार छापे की निश्चित संख्या छापने के बाद ठप्पे या प्लेट को क्रास X उत्कीर्ण कर अंतिम छापा निकालते है ताकि यह छापा प्रमाणित कर सके कि इस प्लेट या ठप्पे से अब छापे नहीं निकाले जा सकते है।

इस अंतिम छापे को कैंसलेशन छाप (CP) कहते है।

संदर्भ

1. भारतीय छापाचित्र कला आदि से आधुनिक काल तक "डाॅसुनील कुमार 0" पृकला प्रकाशन भारतीय 2,3,4,5-सं0 0
2. प्राचीनतम काष्ठ छापाकला "श्याम शर्मा" बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ5,6,7,8-सं0 0
3. विज्ञापन तकनीक एवं सिद्धांत "नरेन्द्र सिंह यादव" मानव संसाधन विकास मंत्रालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ10,11-सं0 0
4. ग्राफिक डिजाइन "नरेन्द्र सिंह यादव" मानव संसाधन विकास मंत्रालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृ6,5-सं0 0
5. द न्यु उड कट " एमसलमान सी0 0" "सीजीयोफरी होलम 0" लन्दन, द स्टुडियों लिमिटेड लीयेसेस्टट स्क्वायर 44, डब्लु सी2 0
6. मीलर्स फलेक्टीग प्रीन्टस एन्ड पेास्टर्स "जेनेट गलेसने"
7. Miss Gupta Rashi Print Culture & Modern World,
8. www.youtube.com Accessed 05.03.2020 Published on 17 Nov 2019
9. Gupta Divyam History, Print Culture and the Modern world.
10. www.youtube. com Accessed- 05.03.2020 Published on 17 Nov-2016.
11. India Social Science and the contemporary world-II Texbook in History Class X NCERT.
12. Printing Tool fo Free dom by ELIZABETH DEAM- Page No.-57

Emergence of Evolutionary Art Systems: is it Really Being A Help to The Art or are There More Negatives Than Positives?

Dr. Rabi Narayan Gupta

Evolutionary art is a branch of generative art where artists have the luxury to create something by assigning the task to a system rather than constructing the art work themselves. Evolutionary art system has influenced the art industry in a pervasive way by influencing the way we create and appreciate art. Its drastic impact can be seen in the transformed methodology to accomplish any art work. Today, artists have better access to information, resources and tools to engage in their artistic process conduct. New art systems provide a powerful lens for engaging with traditional art because of its high degree of freedom in making large conceptual leaps across domains, delivering surprising outcomes.

The combination of advanced art systems and artists give rise to new methods, algorithms and prototypes, opening new horizons. The same connection endows a breeding ground for unique projects which eventually caters the need to survive in the digital era. The exterior walls of these art systems have established a professional network and an effective way of communication that helps artists to improve the quality of work and spread their artistic message into the world. It lessens the production time and offers a paradigm to explore art beyond the traditional canvas.

Artists can choose whether they want to resist technological advances in pursuit of true connection to nature or embrace new innovations to explore something unique. Nowadays, most of the artists have switched their mode of working from traditional to digital and are embracing modern art techniques because it has a lot to offer. Therefore, it has become an unbreakable chain that artists cannot resist. However, in a nutshell it has shortened their average effort reward timespans.

The focus here is to study what happens when the user himself has no idea and command a system to use a process that they do not fully understand? Will the outcome from this computer generated system be worthy? In this paper, light is thrown on different aspects of evolutionary art systems be it disadvantage, advantage, degree of technical expertise in order to create something and its role in art industries.

Advantages and Disadvantages of Evolutionary Art System

*Advantage and power of evolutionary tools

i) Desirable device

Needless to say that the evolutionary art system offers things that today's artists desired the most- to explore something new, to be given a platform where they discover their own server ties with whatever is considered to be traditional.

ii) Sound Manipulation

Sound art or sound creativity is another gift we have got from technological advancement. This encompasses different software's, musical and digital instruments, performers, computers in order to produce music. In today's era sound editing has become the most important essence for the music and film industry. A lot of sound artists are dependent on this for their work. Sound manipulation can be done by using audio signal processing.

iii) Photography

Photography art breaks away the traditional forms of optical and chemical reactions. Based on advanced techniques, photography art has now a better way of expression and it can transform the photography art into an existing physical camera. News industry has seen a huge difference due to the development of photography technology. It has also influenced and improved the standard of living of people.

iv) Cinematography

Earlier the motion pictures were recorded as if they were stage plays which would have been a messy work that required a lot of effort and time. Major impact of technology is perhaps felt in cinema. Today editors don't have to go through the painstaking process of video editing where the effect had to blend seamlessly with what was being shot. Instead, digital effects are easily added or created to the same program. Software's allows editors to work on the entire project of a film such as audio, doing editing etc. The final outcome looks clear with added digital effects that blend with the movie and provide the audience a wonderful view. Without technology it would be nearly impossible to watch this type of art without disturbance.

v) Introducing more audiences through social media

Social media has proven itself as a boon for artists. They can upload their art creations or even make their own page dedicated to their arts and gain followers or audiences. Social media offers them a platform to connect with people on a wider level. Various social media platforms allow you to monetize your work with a systematic way of marketing.

vi) Efficiency

Electronic devices and software helps artists to ensure efficiency in their artworks. Electronic media and gadgets create better design.

Vii) Accuracy

One of the best features of advanced tools is it provides accuracy, neatness and a better finishing while creating any art work. You can also undo the mistake here unlike the traditional method and hence, gives a flawless and beautiful look.

Disadvantages and challenges evolutionary art system presents

i) A lot of people do not consider an art created by a computer-generated system to be genuine and authentic as it can show up anywhere in exactly the same way. This technologically created art is deprived of real physical touch and won't look the same as a painting done by hand even when it is printed. This downside makes it possible to steal artwork.

ii) Tools used in the evolutionary art system are way faster than traditional media. This is an advantage but at the same time it takes away the magical feeling of creating something done by hands. Working traditionally allows you to produce something tangible and authentic on the contrary use of new art systems takes away this feeling for the most part.

iii) The music industry has always been at the front line to receive technological advances however, this advances also makes way for several downfalls resulting in the music industry. With the ease of file-sharing feature problem of music piracy can be seen. Music production process encounters laziness because of new programs and hence losing the freshness and authenticity in music. Its adverse effects can also be seen in the skills of musicians, as they have gotten less talented with the arrival of new software's and music systems. Creativity in producing music is also losing its grip as some songs sound more like a cacophony of digitally operated audio effects which is a clear disappointment for music lovers.

iv) Film industry also faces some shortcomings of evolutionary tools. Film industry mainly suffers from the huge costs involved with digitization of cinemas along with the cost of purchasing digital equipment for projects. To handle the digital equipment safely training is needed. Without the use of digital equipment success is not guaranteed as employing technology provides a lot of opportunities therefore, one cannot choose to go without embracing evolutionary tools despite knowing it as a costly affair.

v) Art of Photography experienced a major transformation with the adoption of digital technology. However, it also comes with some negatives such as it requires good computer and editing skills, cost of digital camera is higher as compared to film camera, difficult to focus, images are less subtle than film images, consumes batteries etc.

Working process and outcome of computer-generated system

It's difficult to judge a computer generated system as an artist based on the quality of the work it produces. The computer has an algorithm that provides stimulating, beautiful and skillful output independent of the properties of the computer itself. The better the computer generated art becomes the more we will hear the uproar that if computers can replace artists. Skill is not necessary to be an artist. Anyone can make art, including children as beauty lies in the eyes of the beholder, it depends on us how we perceive art. On the contrary, a computer is a manmade machine that is programmed to create boundless series of realistic or abstract imagery, demonstrating technical competency way beyond human capacity. (Undiana, https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology)

Every technology that we employ such as photography, film, software algorithms, they are actually basic tools just like brushes and paint. The same thing is with new artificial intelligence based algorithms. They are not always predictable, outcomes can be sometimes surprising. There is no possible sense where a true artificial intelligence or computer generated system reflects as there is always a human behind the creation of every artwork.

You cannot create a worthy artwork if you don't command the computer to perform functions. The selection process of tools, inputs, adjustment of setting, modification until a desired result is produced. It takes time, effort, conception of the idea, implementation and execution of the idea of a human artist to create a computer-generated artwork too. In a few cases the AI algorithms have been indicated as potential artists. However, in our present understanding, all art algorithms including methods based on machines are tools for artists and hence they are not themselves artists. No matter how dexterous and intelligent a computer is it will never replace the artists.

Digital art is widely embraced by artists nowadays however some argue and claim that digital art should not be considered as art. They call digitally prepared art as a manipulative form of art. We should not forget that it also requires ample skill to create an artwork from a digital process just like the skill needed to produce a traditional art. The only difference between two is the choice of method of creation. Even if you have got all the digital or electronic devices but have no skills, no idea, no imagination there will be no art.

No matter how much the technology becomes advanced in the upcoming years, it won't be able to take away the importance of human artists. It's the artist who can express his emotions, ideas and feelings through his art, a machine can never make you feel touched as its only work is to ease the work.

Necessity of technical skill to create art

Artists often become discouraged when they notice works of other artists who have mastered the technical skill and make art out of it. It can become a little uneasy when you are

surrounded by peers who value technical skill over other aspects. Thus, it is important for artists to evaluate their own work beyond the limitations of technical skill.

It would be controversial to suggest that technical skill in painting is limiting. In some situations based on the individual it can do well. At the same time, an artist who has mastered technical skill may create something that doesn't really convey anything besides the fact it was produced by a skilled artist while on the other side, an artist who has yet to reach the level of technical skill may create something that actually conveys the message to its audience. Mastering technical skill is important but it's not always everything. Often for viewers, viewing an artwork is more important than to evaluate how technically sound the artwork is overall. (Codreanu)

It would not be wrong if we say, what makes the artwork unique and great is the spark that rests within the artist's mind while creating it, the same spark and passion the artist portrays on his canvas create a powerful impact on viewer's mind. Therefore, in order to create something powerful you need to dig within yourself. In this sense, mastery of technical skill in art is not everything. The most important part for an artist is his art heard by viewers, connecting with viewers and communicating with them irrespective of the technical skill the artist has used.

There are many works titled as technically sound but fail to make a lasting impression at the same time. Some of the said works were created by artists who have dedicated years to learn technical skills but haven't paid attention to self-discovery as individuals. From a marketing point of view, it is observed that art with high technical skill doesn't always sell. Then there comes the case of artists who are masters from an academic point of view but still couldn't attract the attention of viewers. On the other hand, there are artists who are relatively new but in terms of selling their art they are far more advanced than the experienced ones. (Galanter)

At last, we can say that learning to be skillful in every aspect is important. There is nothing like learning technical skill is a waste of time, technical skill plays a crucial role in putting an extra essence to your canvas and working style which only helps you to produce something beautiful. However, technical skill is not a parameter to judge the artwork. It's always the viewer's mind that perceives an art as good or bad. Flexibility is a key to balance both sides. Ability to work beyond the lens of technical skill and present something wonderful or ability to work with the assistance of technical skill and give out something astonishing, it's all about the outcome at the end. Doesn't matter how you present it's just that the art must be powerful enough to express itself in the audience's mind, that's what matters.

FINDINGS OF THE STUDY

1. From the above discussion, it can be said that the evolutionary art system has redefined art in a surprising way. As in the case of art industries, different mediums and genres of art impact the evolutionary art system is more positive than negative. Whenever this topic arises a lot of people show displeasure to such an approach by claiming technology breaks the authentic connection between the author and the piece by making the process trivial. Of course, this is entirely false. Arrival of the evolutionary art system is like a fresh breeze of air for different art sectors be it cinema, photography, music and many more. It has become a powerful weapon for artists to produce artworks flawlessly. Therefore, the discussion reveals that besides having some downsides the evolutionary art system proves to be a powerful tool that gives art organizations and artists new ways to promote artworks, engagement with audiences, provide opportunities and extend the life and scope of their work.

2. Evolutionary art system provides artists with new, attractive materials that allow them to expand horizons of creativity and to develop groundbreaking ideas. It also allows artists to focus more on contemplation by reducing the time spent in the actual execution of artwork. (Galanter)

3. Another finding we got from discussion is that a computer-generated system can never replace an artist, as art requires inspiration, passion, a strong desire to express something. Therefore, it would be entirely wrong to give credit to a machine rather than to its author for a wonderful creation. A computer is a man-made machine which runs on command. Outcome from this system depends on the skill of the artist itself. If an artist has a clear idea about his creation the result would come out as expected.

4. Lastly, it can be said that technical skill is not compulsory to create artwork. A good artwork is an outcome of a great and unique idea paired with a highly skilled artist. Use of technology is only a matter of choice; it has nothing to do with the parameter of judging art. technical skill and technology is just a medium or method to ease the process of making.

CONCLUSION

Evolutionary art system has endless possibilities to offer, but creativity and skill is also needed to do something with those possibilities. Artistic intelligence is a precious asset that makes an artist gain popularity in the crowd of millions. Evolutionary art system is no less than a revolution to art industries in the digital era. It has a lot to offer. With the broad array of options it offers, some negative effects can also be seen like it can create confusion sometimes which can reflect in their work. Artwork can become devoid of imagination and spirit. With the rapid growth of advanced technology artists find it more difficult to present innovative ideas and to stretch their imagination in order to bring out something worthy. Connection of technology with

art defines and continues to reshape the world we live in. With the advanced technology the world seems to be making room for a different sphere.

.

References

Berman, David. "https://davidberman.com/wp-content/uploads/CHINDigitalArtAudiencesLiteratureReviewandMethodologyBerman20050418.pdf." 18 Apr 2005. *https://davidberman.com/.* Laptop. 06 Apr 2022.

Boucher, Philip. "https://www.europarl.europa.eu/RegData/etudes/BRIE/2019/634441/EPRS_BRI(2019)634441_EN.pdf." may 2019. *https://www.europarl.europa.eu/.* 07 Apr 2022.

Codreanu, Florina. *https://www.researchgate.net/publication/277309359_Art_and_Technology_-_The_Role_of_Technological_Advance_in_Art_History*. may 2015. Desktop. 05 Apr 2022.

Galanter, Philip. *https://www.researchgate.net/publication/220867411_The_Problem_with_Evolutionary_Art_Is*. Apr 2010. Laptop. 06 Apr 2022.

Gamboa, Sarah. "https://www.usf.edu/business/documents/undergraduate/honors/thesis-gamboa-sarah.pdf." 15 Jul 2015. *https://www.usf.edu/.* Desktop. 05 Apr 2022.

McWilliams, Andrew. *https://www.thoughtworks.com/insights/blog/how-artists-are-reshaping-emerging-technology-research*. 27 Jun 2018. Laptop. 06 Apr 2022.

Samdanis, Marios. *https://www.researchgate.net/profile/Marios-Samdanis*. Sep 2016. Desktop. 03 Apr 2022.

Undiana, Nala Nandana. *https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology*. Jan 2020. Desktop. 03 Apr 2022.

—. *https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology*. Jan 2020. Desktop. 03 Apr 2022.

V., Silka P and Andrey. *https://www.widewalls.ch/magazine/the-serious-relationship-of-art-and-technology*. 05 Jul 2017. Laptop. 06 Apr 2022.

नान्यदेव भूपाल कृत भरत भाष्यम एक अध्ययन।

डॉ. प्रभाकर कश्यप

भूमिका :- संगीत सदा से संस्कृति का दर्पण रहा है, संस्कृति के उद्गम एवं विकास के साथ ही संगीत का उद्गम एवं विकास देखा जा सकता है। संगीत को उतना ही प्राचीन माना गया है जितनी हमारी संस्कृति व मानव जाति है। भारतीय संस्कृति में संगीत का प्रमाणिक इतिहास वैदिक काल से प्राप्त होता है तथा इसके क्रमिक विकास को स्पष्टतः देखा जा सकता है। संगीत के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु वैदिक काल से वर्तमान तक ग्रंथों एवं ग्रंथकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग वैदिक काल है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्व वेद के अतिरिक्त उनकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मण आरण्यक नामक ग्रंथ मिलते हैं यद्यपि वैदिक युग में संगीत का विवेचन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं प्राप्त होता, परंतु संगीत संबंधी इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि तत्कालीन संगीत का इतिहास साकार हो सके। वैदिक युग के पश्चात संगीत पर वृहद् विश्लेषण प्रदान करने वाले बहुत से ग्रन्थ प्राप्त होते है जैसे– नारदीय शिक्षा, नाट्य शास्त्र, बृहद्देशी, संगीत मकरंद, संगीत रत्नाकर इत्यादि। संगीत के विभिन्न ग्रंथों में से 11 वीं शताब्दी के मिथिला नरेश नन्यादेव भूपाल का भरत भाष्यम ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमें संगीत के विभिन्न पक्षों पर विस्तार पूर्वक चर्चा प्राप्त होती है जिसका इस शोध पत्र के माध्यम से संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

नान्यदेव एवं उनका काल :- बिहार का मिथिला प्रान्त अपनी संस्कृति के लिए सदा से ही जाना जाता रहा है, नान्यदेव मिथिला प्रान्त के राजा थे यह ग्रन्थ में उपलब्ध उल्लेखों से स्पष्ट है। नान्यदेव का समय 11 वीं शताब्दी माना जाता है।

भरत भाष्यम ग्रन्थ का सामान्य परिचय :- इस ग्रन्थ के रचयिता नान्यदेव है। इसका काल 11 वीं शताब्दी माना जाता है। यह काल संगीत का वह स्वर्णिम युग था जिस समय भोज, सोमेश्वर, शारंगदेव आदि संगीत के महान शास्त्रकार हुए। प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग 7००० श्लोक है। ग्रन्थ की सूची में कुल 17 अध्याय है, किन्तु ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में 16 वाँ – 17 वाँ अध्याय तथा उसके पूर्व के कुछ प्रष्ठ प्राप्त नहीं होते। इस ग्रन्थ का नाम सरस्वती हृदयालंकार था जो कालांतर में भरत भाष्यम के नाम से प्रचलित हुआ।

भरत भाष्यम का दूसरा भाग भी उपलब्ध होता है जिसमें संभवतः 251 श्लोक है। इस भाग में जाति प्रशंसा, जाति लक्षण, गृह अंश आदि लक्षण षाडव-औडव भेद, शुद्ध व् विकृत जातियों का वर्णन कपालं, पनिका कम्बलम एवं राग भाषा भेद के अंतर्गत षड्ज ग्राम के रागों में 52 रागों का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अलापक और भैरव रूपकम की व्याख्या स्वरों के आधार पर की गयी है।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट में अतियंत जीर्ण अवस्था में प्राप्त होती है।

उक्त ग्रन्थ में राजा के लिए महासम्त्थाधितिः धर्मवालोक क्षमापाल नारायणः मिथिलाधिपतिः राजनारायण इत्यादि उपाधियों का प्रयोग किया गया है। भरत भाष्यम ग्रन्थ के लिए सरस्वती हृदयालंकार, सुराग चंद्रोदय एवं भरत वृत्तिका जैसे उपनाम भी है। तथापि इस ग्रन्थ का प्रसिद्ध नाम भरत भाष्यम है। इस ग्रन्थ में मुख्यतः आचार्य भरत का अनुसरण किया गया है। संगीत रत्नाकर के पूर्ववर्ती ग्रंथों में यह अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भरत भाष्यम की अध्यायानुसार विषय वस्तु :- उक्त ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अंतर्गत वेणु, वीणा, घन, अवनद्ध वाद्यों का निरूपण किया गया है। वीणा को दार्वी एवं गात्रवीणा के अंतर्गत रखा गया है। सुषिर वाद्यों को गीत अर्थात स्वर संदर्भित और वाद्य अर्थात विविध प्रकार के तार्तानुरूप वंशियों के अंतर्गत रखा गया है। घन वाद्यों का सशब्द एवं निःशब्द क्रियायों के प्रतीकात्मक प्रयोग के आधार पर विभाजन किया है। ताल वाद्य के अंतर्गत कांस्य और विभिन्न प्रकार के ताल प्रयोगों की चर्चा प्राप्त होती है। द्वितीय अध्याय के अंतर्गत नारदीय शिक्षा एवं पाणिनि शिक्षा के विशेष सांगीतिक विषयों का वर्णन किया गया है। मुख्यतः स्वर के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन है। अध्याय के अंत में व्याकरण के स्फोट सिद्धांत का दार्शिनिक निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय स्वर पर आधारित है। स्वर के वर्ण. जाति, छंद, ऋषि, देवताओं का वर्णन मिलता है। विभिन्न पशु-पक्षियों के साथ स्वरों का सम्बन्ध, स्वर स्थान, नाद, तीन ग्राम, श्रुतिओं का मृदुमध्य, आयत, करुण एवं दीप्त स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में मूर्छना पर विशेष चर्चा प्राप्त होती है। इस अध्याय के अंतर्गत स्वरों की लोपविधि का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। 84 मूर्छना तानों का उल्लेख है कूट तानों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय अलंकार संदर्भित है। इस अध्याय के अंतर्गत काकूभेद पर विशेष चर्चा प्राप्त होती है। षष्टम अध्याय जाति विधान पर आधारित है। सप्तम अध्याय में मुख्यतः रागों का वर्णन प्राप्त होता है। ग्रंथकार ने कश्यप और मतंग ऋषि का विशेष सन्दर्भ लिया है। ग्राम एवं देशी रागों का भी वर्णन प्राप्त होता है। शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा तथा साधारिणी पाँचों गीतियों का विवरण मिलता है। अष्टम अध्याय में गीतक का विशद विवेचन है। नौवा एवं दसवां अध्याय मुख्यतः ध्रुवा सम्बंधित है। अपने पूर्वर्ती आचार्यों में ग्रंथकार ने आचार्य भरत के अनुसार पांच प्रकार के ध्रुवाओं का वर्णन दिया है।दसवें अध्याय के अंतर्गत मार्ग तालों का विवरण भी प्राप्त होता है। ग्यारहवें अध्याय में देशी का अर्थात देशी प्रबंधों पर वृहद् वर्णन प्राप्त होता है। बारहवें अध्याय में तत वाद्यों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है। वीणा के विभिन्न अंगों की चर्चा के साथ विभिन्न प्रकार के वादन भेद पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथकार ने इस अध्याय के अंतर्गत निर्गित एवं बहिर्गित को भी स्पष्ट किया है। तेरहवां अध्याय सुषिर वाद्य संदर्भित है। चौदहवां एवं पन्द्रहवां अध्याय अवनद्ध वाद्यों पर आधारित है। 16 वाँ अध्याय छन्दाध्याय एवं 17 वाँ अध्याय भाषाध्याय जो कि ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में प्राप्त नहीं होते।

भरत भाष्यम में नान्यदेव ने अपनी पूर्वर्ती आचार्यों में आचार्य भरत एवं मतंग मुनि के मतों का विशेषतः अनुसरण किया है। ग्रन्थ में वर्णित सांगीतिक विषयों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है की नान्यदेव आचार्य भरत के अधिक अनुरागी रहे, क्यूंकि इन्होने छंद और भाषा पर पृथक अध्याय लिखा, साथ ही श्रुति को स्पष्ट करते हुए भी नाद पर विशेष प्रकश नहीं डाला। नान्यदेव के ग्रन्थ में सर्वप्रथम श्रुतियों के 22 नामों का वर्णन प्राप्त होता है।

श्रुतियों के सन्दर्भ में नान्यदेव का मत :- उक्त ग्रन्थ में ग्रंथकार ने शिक्षाकारों द्वारा बताई गईं 5 श्रुतियों का वर्णन किया है। नान्यदेव ने सप्त स्वरों में विभक्त 22 श्रुतियों को दीप्ता आदि 5 श्रुति जातियों के अंतर्गत रखा है। नान्यदेव के अनुसार काल, कला एवं प्रमाण भेद के आधार पर शिक्षाकरोक्त 5 श्रुतियां ही विकसित होकर 22 श्रुतियों के रूप में आयीं। इन्होंने स्वरों की व्युत्पत्ति, रंग आदि का वर्णन नारदीय शिक्षा के अनुरूप दिया है, परन्तु स्वरों की जातियों के विषय में इन्होने मतंग मुनि के मत का अनुसरण किया है। ग्राम एवं मूर्छना की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में ग्रंथकार ने आचार्य भरत के मत का अनुसरण किया है। इस ग्रन्थ में गांधार ग्राम के विषय में इसकी सप्त स्वर मूर्छानाओं का स्वर क्रम क्रमशः ग, म, प, ध, नि, सा, रे के रूप में बताया है। ध्रुवाओं के विषय में ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ध्रुवाओं के ताल, भंग, उपभंग, विभंग आदि ताल के उपभागों का वर्णन प्राप्त होता है। भरत के सम्प्रदाय से होते हुए भी ग्रंथकार ने राग

तथा प्रबंध की चर्चा अत्यंत विस्तार पूर्वक विभिन्न अध्यायों के अंतर्गत की है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि देशी संप्रदाय का प्रभाव भी नान्यदेव के सिद्धांतों और विचारधाराओं में रहा है।

वाद्यों के विषय में भी ग्रन्थ में अत्यंत विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अंततः यह कहा जा सकता है, कि ग्रन्थ का नाम भरत भाष्यम होते हुए भी भरत के अतिरिक्त ग्रंथकार ने मतंग मुनि की सांगीतिक अवधाराणाओं का अनुसरण किया है। साथ ही याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदीय शिक्षा, पाणिनी शिक्षा इत्यादि ग्रंथों का भी अनुसरण ग्रंथकार ने किया है। हमारी संस्कृति एवं भारतीय कला और साहित्य ने शास्त्रागत एवं प्रायोगिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महत्ता कायम कर रखी है, चाहे वह संगीत हो, नाट्य हो या साहित्य । हमारे प्राचीन विद्वानों द्वारा संगीत के क्षेत्र में किये गए अतुलनीय कार्यों जैसे नाट्यशास्त्र, ब्रहद्दशी, एवं भरत भाष्यम जैसे महान ग्रंथों से यह स्पष्ट होता है, कि भारतीय शास्त्रीय संगीत सदा से ही अपनी मधुरता एवं वैज्ञानिकता के लिए प्रचलित रहा है। भरत भाष्यम जैसे ग्रंथों से यह सिद्ध होता है, जिनमें संगीत की प्रायोगिक ही नहीं वरण सैद्धांतिक एवं वैज्ञानिक पक्षों के सन्दर्भ में भी वृहद वर्णन प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि:-

1. गुप्ता, लिपिका दास, भारतीय संगीतशास्त्र ग्रन्थ परंपरा: एक अध्ययन, बी.एच.यू., 2009.
2. टाक, तेज सिंह, नेट संगीत, लुमिनस बुक्स, वाराणसी,2010.
3. सिंह, ठाकुर जयदेव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2016.

संस्कृते स्तोत्र परम्परा

डॉ0 पूर्णिमा केलकर

सुमहत् खलु संस्कृतस्य स्तोत्रसाहित्यम्। वस्तुतः भारतीयमानसं न क्षणमपि भगवदालम्बनमन्तरेण स्थातुं प्रभवति।भक्तानां हृदयं भूयः भूयः भगवदनुग्रहं कामयते। भगवद्भक्तो हि भक्त्यावेषितेन मनसा स्वकीयमाराध्यं स्मारं स्मारं तदीयगुणवैभवमैश्वर्यं च प्रकटीकरोति। कदाचिदीशस्य विभूतिं विलोक्य चकितान्तर्मनो भूत्वा अपारं च प्रेमाणं स्मृत्वा सहजमेव जगदीशं स्तौति।कस्यचिद् भक्तस्य पष्चात्तापः पराकाष्ठां गतः भगवत्–स्तवस्यापूर्वं खलु महिमानं व्यनक्ति, चमत्करोति च सुधियो चेतांसि।तदवलोक्यताम्–

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि।

(1 मम्मट कृत काव्यप्रकाशः दशमोल्लासः काव्यलिंगालंकारः)

कश्चिद् भक्तः शिवं प्रत्याह– हे भगवन् पुरा जन्मन्यहं त्वां न प्रणतवान् अत एव इदं मया शरीरं प्राप्तम् त्वत्प्रणामे सति मुक्तिलाभेन शरीरोत्पत्तिर्नाभविष्यत्। उत्तरकालेऽपि प्रणामो न भविष्यति यतो हि इदानीमहं नमस्करोमि। नमनं कृत्वा मुक्तो भविष्यामि अतः पुनः मुक्तत्वात् देहप्राप्त्यभावात् नमनं न सम्भविष्यति। तदिदं मे अपराधद्वयं क्षम्यताम्।

स्तुतिप्रियाः वै देवाः। विश्ववाङ्मयस्य प्रथमा कृतिः ऋग्वेदः आद्यन्तं देवतानां स्तुतिवचनैः सम्पृक्तम्।दशसु मण्डलेषु ऋग्वेदे देवताविषयकाणि सूक्तानि ऋषिभिः प्रोक्तानि।आदावेव अग्नेः स्तुतिं कुर्वाणो यजमानः – अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (2 ऋग्वेदः अग्निसूक्तम् 1.1) इति मन्त्रेण अग्निदेवतां स्तौति।भक्तानां पारमार्थिक–दृष्ट्या देवतानां स्तवनमिदं श्रेयस्करमस्ति । मन्त्रैः स्तूयमानाः देवा आनुकूल्यं भजन्ते प्रसीदन्ति च।अग्निस्तवनेनाग्नेः प्रसादमवाप्य यजमानः स्वकीयमभीष्टमवाप्नोति। प्रकृतौ प्रतिकणं चिच्छक्तिरूपेण देवत्वमभिव्याप्तमिति मत्वा , भक्तः चराचरां प्रकृतिमेव स्वकीयामाराध्यं मनुते। अखिलमपि वस्तुजातं परब्रह्मणोंऽशभूतमिति भावनया सर्वत्रानुस्यूतं चैतन्यं साक्षात्कृत्य आत्मकल्याणमभिकांक्षति।

रुद्राष्टाध्यायां परिणतप्रज्ञः आर्षः कविः विविधैः मन्त्रैः विराट् पुरुषं स्तौति।नमकाध्याये प्रतिरूपं शिवस्य स्मृत्वा 'नमस्ते रुद्रमन्यव इत्यारभ्य आसमाप्तिं रुद्रं प्रणमति।शतरुद्रियं नमनं कृत्वा चमकाध्याये 'वाजश्च मे, प्रसवश्च मे.....अश्मा मे , मृत्तिकाच मे..... अग्निश्च मे, घर्मश्च मे.....गर्भाश्च मे वत्साश्च मे.....एकाच मे तिस्रश्चमे (3 यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी चमकाध्यायः) इत्यन्तं सर्वमपि लोकेऽभीष्टं भक्ताय कल्पतां देव इति प्रार्थ्यते।अनेन शतरुद्रिययज्ञेन ब्रह्मलोके महीयते। भगवत्परायणो भक्तो यदातितीव्रेण श्रद्धायुक्तेन मनसा भगवन्तं स्मरति , तदा भगवानपि व्यग्रचित्तः सन् स्वकीयं भक्तं द्रष्टुकामः तस्मै स्पृहयति।भगवता स्वयमेवोक्तं श्रीमद् भागवते– अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः।साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।(4 श्रीमदभागवतपुराणम् 9.4.63) श्रीमद् भगवद्गीतायामप्युक्तम्–ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।(5 श्रीमद्भगवद्गीता 4.11)

आचार्य–पुष्पदन्तप्रणीतं शिवमहिम्नस्तोत्रम् स्तोत्रसाहित्ये सुपरिचितं सुप्रथितं च वर्तते। वस्तुतः महेश्वरस्य शिवस्य स्तवनं नाल्पप्रयाससाध्यं वर्तते। आशुतोषोऽपि भगवान् नित्यं समाधिमास्थाय प्रसंख्यानपरो भवति।

महादेवं प्रसादयितुं न कश्चिदकृतपुण्यो जनः प्रभवति। अपारं हि शिवस्य महिमानं जानन्नपि शिवभक्तः स्वात्मसंतुष्टये तं स्तौतुं प्रवर्तते। तदुच्यते कविना–

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति। (6 शिवमहिम्नि 32)

महाकवेः कालिदासस्य प्रबन्धानां व्याख्याता मल्लिनाथोऽपि नोत्सहते महाकवेः गिरां सारं शब्दैरभिव्यक्तुम। अस्य लेखनी कालिदासमवगन्तुमादौ सरस्वतीं ब्रह्माणं च प्रार्थयते।आत्मनः असामर्थ्यं स्वीकृत्य भगवदाश्रयमन्तरेण न किमपि साध्यं भवतीति मत्वा मल्लिनाथो वदति–

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृषाः। (7 कालिदासीय ग्रन्थेषु मंगलारणे मल्लिनाथः)

ईशस्तवनेन न केवलं पारमार्थिकोऽभ्युदयो भवति, अपितु ऐहिको, दैहिको वा व्याधिरपि निरस्यते। मयूरभट्टस्य शारीरको व्याधिः सूर्यशतकेन स्तोत्रेण सर्वतोपगतः। स हि शतश्लोकैः भगवन्तं सूर्यनारायणमभिष्टूय कुष्ठरोगान्मुक्तो जातः।गद्यकर्तृणां निकषायमाणः सर्वेषां कवीनां ललामभूतो बाणभट्टः चण्डीशतके भगवत्याः दुर्गायाः प्रशस्तिं गीयमानः , अक्षय्यं काव्यनैपुण्यं समासादयति। अविकलेन मनसा स्तुता भगवती भवानी महाकवेरखिलमपि दुरितमपनीय तस्य प्रातिभं चक्षुरुन्मीलयति।

जगत्यस्मिन् अद्वैतवेदान्तस्य प्रतिष्ठापकआदिशंकराचार्यः परमार्थतः अद्वैतस्योपासकोऽपि लोके नानाविधदेवतानां स्तोत्राणि प्रणीय प्रसिद्धिमलभत। वस्तुतः सगुणोपासनामन्तरेण न निर्गुणस्य परब्रह्मणः प्राप्तिः संभवति। अतः आचार्येण श्रीविष्णोः, श्रीरामस्य, शिवस्य, गणपतेः, देव्याः, हनूमतः सूर्यादीनां च अतिरमणीयानि स्तोत्राणि विरचितानि।प्रातरुत्थाय सर्वप्रथमं हृदि स्फुरन्तमात्मतत्वं स्मृत्वा प्रणम्य च आह्निकं प्रारम्भणीयम्। तदनन्तरं विष्णु–शिव–रामादीनां स्मरणं वन्दनं च विधाय नित्यकर्मणि प्रवृत्तो भवेदिति ऋषीणामादेशः। शंकराचार्यस्याखिलमपि स्तोत्रसाहित्यं दैदीप्यमानं रत्नमिव सहृदयानां मनसि चकास्ते।तत्र सांगीतिकं माधुर्यमपि सर्वेषां चेतांसि आवर्जयति। मनोहरं तालल्यसमन्वितं संगीतं कस्य मनो न हरति।भगवतः शंकराचार्यस्य चर्पटपञ्जरी नामकं स्तोत्रं विश्वस्मिन् नितरां लोकप्रियं वर्तते। विपत्तिबहुलेऽस्मिन् जगति आचार्यस्य स्तोत्राणि निशम्य प्रगीय च अशान्तमपि चित्तं शमं लभते, मनसि अलौकिकमानन्दं च लभ्यते।

सौन्दर्यलहर्यां भगवत्याः अलौकिकमनिर्वचनीयं च सौन्दर्यं वीक्ष्य कस्य चेतो न द्रवति? देव्याः विगलितवेद्यान्तरं लावण्यं रामणीयकं चित्तस्यान्तःस्तलं स्पृशति। काव्यलालित्येन सह तन्त्रशास्त्रीयमपि गूढतमं रहस्यमत्रोद्घाटितमस्ति। अशरणशरण्यां देवीं प्रपद्य तच्चरणारविन्दं प्राप्य न किमपि वक्तुं पारयति जनः। शब्दातीतः खलु देव्याः कृपाप्रसादः।स्वकीयं दौर्बल्यं कार्पण्यं च उरीकृत्य भक्तेन स्वात्मा देव्याः पुरतः समर्पितः। तदुच्यते–

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः
प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि।
न षड्भिः सेनानी दशशतमुखैरप्यहिपति
स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः।(8 आनन्दलहर्याम् 1)

अनिर्वचनीयं खलु देव्याः सौन्दर्यम्। तस्याः रूपमाधुर्यं चित्रयितुमशक्तापि कवेर्लेखनी नात्मानं निवारयितुं शक्नोति।प्रतीयमानं सौन्दर्यं हि केवलमनुभूतिविषयमेव न तद् शब्दवाच्यम्। देव्याः रामणीयकं लावण्यं वा चेतसि

दिव्यं किमप्यनुभावयति येन स्वात्मा विगलितवेद्यान्तर इव परब्रह्मणि लीयमान इव तिष्ठति। देव्याः ललितायाः शृङ्गारं वीक्ष्य कस्य चेतो न द्रवति? पश्यतां पद्यस्यास्य शब्दसम्भारः–

मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला
ललाटे कश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता।
स्फुरत् काञ्ची शाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्।(9 आनन्दलहर्याम् 3)

भारतीयवाङ्मयेषु स्तोत्राणां नाल्पीयसी संख्या। कुलशेखरस्य मुकुन्दमालास्तोत्रम् यमुनाचार्यस्य स्तोत्ररत्नम्, कृष्णकर्णामृतं च, लीलांशुकस्य लक्ष्मीसाहस्री (अत्र सहस्रपद्यैः भगवत्याः लक्ष्मीदेव्याः स्तवनं कृतम्)सर्वाण्येतानि स्तोत्राणि संस्कृतस्य विलक्षणोऽक्षययश्च निधिः। विष्णुभक्तानां हि स्वकीयमाराध्यं स्तौतुमस्खलितो वाक्प्रसरो दृश्यते। पण्डितराजो जगन्नाथः शास्त्रपण्डितोऽपि लहरीपञ्चकमाध्यमेनात्मनः इष्टदेवतां समाराधयति । 1–गङ्गालहरी2–अमृतलहरी 3–यमुनालहरी 4–लक्ष्मीलहरी 5–करुणालहरी इति पञ्चधा लहरीभिः स्तवनसागरे तरंगितः पण्डितराजस्यात्मा । कालिन्द्यास्तटे विहरन्तं श्रीकृष्णं गोपिकामुखेन स्तूयमानः कविराह–

स्मृतापि करुणातपं करुणया हरन्ती नृणाम्
अभंगुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि मन्दाकिनी। (10 यमुनालहरी 1)

शैवस्तोत्रेषु उत्पलदेवस्य शिवस्तोत्रावलिः, जगद्धरभट्टस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलिश्च स्तोत्रसाहित्ये प्रथिततरौ ग्रन्थौ स्तः।भगवतः शिवस्य कण्ठे स्थितं महाकालकूटमपि विषं भक्ताय रोचते। भगवत्प्रसादरहितममृतमपि तस्मै अग्राह्यं भवति।काश्मीरक श्रीउत्पलदत्तेन स्पष्टमुक्तम्–

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवदवपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।(11परमेश्वरस्तोत्रावल्याम् 13स्तोत्रम्)

भारतीय–दर्शनेषु तादत्म्यमापन्नाः जैनाः बौद्धाश्च स्वस्वोपास्यानां गुणानुवदमाध्यमेन भारतीयं स्तोत्रवाङ्मयं पुपुषुः।मानतुङ्गाचार्यस्य भक्तामरस्तोत्रम्, सिद्धसेनदिवाकरस्य कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, श्रीवादिराजस्य एकीभावस्तोत्रम्, सोमप्रभाचार्यस्य सूक्तिमुक्तावलिः, जम्बूगुरोः जिनक्षतकादयष्च सुतरां प्रसिद्धि मापन्नाःशून्यवादस्य प्रतिष्ठापकः नागार्जुनः चतुःस्तवम् नामकं स्तोत्रं विलिख्य देशान्तरेष्वपि ख्याति मापन्नः। वेदान्तदेशिकेन पञ्चविंशतिसंख्यातोऽप्यधिकानिस्तोत्राणि विरचितानि। कविः सोमेश्वरः स्वकीये काव्यत्रये (कीर्तिकौमुदी, उल्लासराघवम्, शमशतकम्) स्वाश्रयदातुः भगवतः परमेश्वरस्य च स्तवमतिमनोहारिभिः पद्यैः करोति। नीलकण्ठदीक्षितस्य योग्यतमः विषयो रामभद्रो दीक्षितः शार्दूलविक्रीडितमाश्रित्य रामचापस्तवम् विलिख्य परां प्रसिद्धिमुपगतः।पं.शूरनारायणेन विरचितम् सुदर्शनशतकमपि विदुषां हृदयावर्जकम्। श्रीनिवासाचार्येण विरचितः जानकीचरणचामरः सर्वेशामनुभूतिप्रवणानां चित्तमाकर्षयति। मधुसुसूदनसरस्वती–कृता आनन्दमन्दाकिनी भगवतो विष्णोः सुतरां मनोहरं वर्णनं पुरस्कृत्य भक्तानां चेतांस्यावर्जयति।

श्रीकृष्णगोपिकानां परस्परं प्रेमाणं रासक्रीडां चाभिलक्ष्य माधवभट्टेनातिरमणीयः प्रसङ्गः चित्रितः। नारायणभट्टस्य नारायणीयम्, अप्पयदीक्षितस्य वरदराजस्तवः, उभावपि स्तोत्रग्रन्थौ स्तोत्रसाहित्ये अनितरसाधारणं महत्वं दधाते। अत्र काञ्ची पुरस्य भगवतो वरदराजस्य स्तुतिः गीयते कविना। शक्तितत्वस्य परमोपासकः ऋषिः दुर्वासा नाम आसीत्।तेन भूयांसि शक्तिस्तोत्राणि प्रणीय त्रिपुरा सम्प्रदायस्य क्रोधभट्टारक इत्युपाधिर्लब्धः इति साहित्यिकेषु प्रसिद्धः। अस्यैव पर–शम्भु–महिम्नः स्तवः शिवभक्तेषु प्रसिद्धः।अनेन रचितं

ललितास्तवरत्नम् ललितादेव्याः स्तुतिपरं ग्रन्थरत्नम् ।कश्मीरदेशस्य शिरोभूषणायमानो महाकविः कल्हणः राजतरंगिणीकारः अर्धनारीश्वरस्य स्तोत्रं प्रणिनाय ।अत्र पार्वतीपरमेश्वरौ अतिप्रासादिकतया प्रस्तुतौ ।

पञ्चस्तवी नामकं स्तोत्रपञ्चकं केनचित् कलिदास इति नामधारिणा कविना विरचितम् । अस्मिन् ग्रन्थे 1–लघुस्तुतिः 2–घटस्तवः 3–चर्चास्तुतिः 4–अम्बास्तुतिः 5–जननीस्तवः इति पञ्चविधं स्तोत्रं समुपलभ्यते । गुरुगौडपादाचार्यः सुभगोदयस्तुतिं लिलेख । वस्तुतः स्तुतिगन्थानां विवरणं संकलनं वा नात्राभीष्टम् । यतो हि अनन्ताः खलु स्तुतयः ।स्तुतिग्रन्थानां परिगणनं कर्तुमल्पीयसा कालेन अस्मिन् निबन्धे तेषां नामनिर्देशोऽपि कर्तुं न शक्यते । पुरातनम् ऋग्वेदकालीनं साहित्यमारभ्य ऐदंयुगीनं वाङ्मयमव्याहतरूपेण भगवद्विषयकैः स्तुतिवचनैः आप्यायितम् ।

इदमत्रावधेयं यत् स्तुतिकाव्यानि न केवलं देवताविषयकं स्तवनमेवानुबध्नाति, अपितु महतां विभूतीनां ऋषिकल्पानां सत्पुरुषाणामुदात्तचरितमाश्रित्य बहूनि स्तोत्राणि विरचितानि । कवीन्द्रचन्द्रोदये, कवीन्द्राचार्यमनुलक्ष्यानेकैः कविभिः स्तुतिमयानि पद्यान्युपहारीकृतानि ।महाकविं कालिदासं विषयीकृत्य अष्टाविंशतिकाः कवयः ''कालिदास प्रतिभायाम्' (ग्रन्थोऽयं श्रीधर भास्कर वर्णेकर महोदयेन सम्पादितः ।) कविवर्याणां काव्यनैपुण्यमभिव्यक्तम् । ब्रह्मलीनैः श्रीमद्भिः श्रीधर भास्कर वर्णेकर–महोदयैः 'कालिदास–रहस्यम्' इति ग्रन्थे कालिदासस्य प्रातिभं चक्षुः साक्षात्कृत्य अतिमधुराभिर्वचोभिः महाकवेरात्माप्रकटीकृतः ।

अन्ते ' जयतु जयतु गीता वाङ्मयी कृष्णमूर्तिः ' इति पादान्तं स्तोत्रं प्रगीय प्रज्ञाभारती इत्यभिधानेन भूषितः वर्णेकरमहोदयः स्तोत्रवाङ्मये विशिष्टं महत्वं धत्ते ।

–:सन्दर्भः–

1 मम्मट कृत काव्यप्रकाशः दशमोल्लासः काव्यलिंगालंकारः
2 ऋग्वेदः अग्निसूक्तम् 1.1
3 यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी चमकाध्यायः
4 श्रीमदभागवतपुराणम् 9.4.63)
5 श्रीमद् भगवद्गीता 4.11
6 शिवमहिम्नि 32
7 कालिदासीय ग्रन्थेषु मंगलारचरणे मल्लिनाथः)
8 आनन्दलहर्याम् 1
9 आनन्दलहर्याम् 3)
10 यमुनालहरी 1
11परमेश्वरस्तोत्रावल्याम् 13स्तोत्रम्

भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण

पूजा चौधरी

यह संसार प्रकृति से ही उद्भुत होता है | समस्त जीवों का आश्रय स्थान एकमात्र यही है, अत: प्रकृति के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती | प्रकृति वह जीवनदायिनी शक्ति है जो जीवों में प्राण का संचार करती है | संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा प्राकृतिक उपादानों से परिपूर्ण दिखाई देती है क्योंकि प्रकृति तो साहित्य का मूल होती है | एक साहित्यकार, जो कि इस धरा से जुडा होता है, अपने भावों की अभिव्यक्ति में प्रकृति का विवेचन निश्चित रूप से करता है | प्रकृति, कवि के सर्जनात्मक साहित्य में प्रेरणा का वह स्रोत होती है, जो उसे नवीन आयामों से अभिमुख कराती है | भर्तृहरि भी प्रकृति के सुकुमार कवि है, इनके काव्यों में प्रकृति की सहजता व सरलता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है | इनके तीनो शतक (नीतिशतकम् , श्रृंगारशतकम् तथा वैराग्यशतकम्) प्रकृति के सुन्दर व सुकोमल रूप के कोष ग्रन्थ है, जिनमें जीवन की वास्तविकता के साथ-साथ प्रकृति के रमणीय चित्रों को भी उकेरा गया है | इसीलिए शोधार्थी द्वारा " भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण " विषय पर यह शोध आलेख प्रस्तुत किया गया है |

प्रकृति के प्रति भर्तृहरि की सूक्ष्म दृष्टि शतकत्रय के साहित्यिक सौन्दर्य को चरमोत्कर्ष पर ले जाती है | इसमें वर्णित प्राकृतिक-छटा सहृदयों के हृदय को आह्लादित करती है | बाह्य प्रकृति के अन्तर्गत कवि, हंस के जल-विहार का एक सुन्दर चित्र अंकित करते है-

अम्भोजिनीवन विहार विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता |
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्धकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थ: ||[1]

ऋतु परिवर्तन प्रकृति के विभिन्न रूपों का दर्शन कराता है | श्रृंगारशतकम् में षड्ऋतुओं का ऐसा समायोजन किया गया है, जिसके श्रवण मात्र से ही इन ऋतुओं की अनुभूति हो जाती है | ऋतुवर्णन प्रसंग में भर्तृहरि सर्वप्रथम ऋतुराज वसंत का वर्णन करते है-

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला कलरवैर्मलयस्य च वायुभि: |
विरहिण: प्रहिणस्ति शरीरिणो विपदि हन्त सुधापि विषायते ||[2]

यह तो सत्य ही है की वसंत ऋतु में पृथ्वी पल्लवित व फलित होती है | प्रकृति का पूर्ण सौंदर्य वसंत में ही विस्तृत होता है | पवन, मलयचन्दनयुक्त तथा पुष्प सुगंधयुक्त होते है | कोमल-कोमल आम्रमंजरियाँ नव-जीवन की ओर संकेत करती है | ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी चित्रकार ने समस्त रंगों का प्रयोग कर एक सुन्दर चित्र का निर्माण किया है |

ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में, सूर्य की तप्त किरणें शरीर को सन्तप्त करती है, किन्तु संध्या के समय चन्द्रमा की धवल चांदनी मन को संतोष प्रदान करती है | मनोहर गंधवाली मालाएं, कमलों के पराग-कण , चन्दन का चूर्ण, ताल के पंखे की हवा आदि पदार्थ इस ऋतु में सुख देने वाले होते है |[3]

वर्षा ऋतु में प्राय: नित्य ही आकाश में बादलों का संग्रहण प्रकृति को एक भिन्न रूप प्रदान करता है | नव अंकुरित भूमि, नवीन कुटज, कदम्ब पुष्पों से सुगन्धित उपवन सभी प्राणियों को उत्कंठित करते है | इस ऋतु में मेघ के गर्जन व बिजली की चमक से उल्लसित मयूरों जा वर्णन द्रष्टव्य है –

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूरा: |
क्षितिरपि कंदलधवला दृष्टि पथिक: क्व पातयति ||[4]

पेड़-पौधे, वायु, जल, पर्वत, नदी आदि ये सभी प्रकृति के घटक हैं, जिनमें गंगा को सिर्फ एक नदी न मानकर उसे भर्तृहरि ने ऐसा स्थान माना है, जहाँ व्यक्ति ईश्वरोपासना से अपने परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति सहजता से कर सकते है-

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलितले क्वापि पुलिने
सुखासीना: शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरित:
भवाभोगोद्विग्ना: शिव शिव शिवेत्युच्चवचस: ||[5]

कवि के द्वारा वाराणसी अर्थात् काशी में सुरनदी गंगाजी के तट पर निवास कर, कौपीन वस्त्र धारण कर, भगवान् शिव की आराधना का भी संकेत किया गया है |[6] गंगाजल सर्वाधिक पवित्र एवं शुद्ध होता है, जिसको भर्तृहरि जी ने प्रमाणित किया है |

मानव तथा प्रकृति का अविभाज्य समबन्ध होता है | मानव की भांति पेड़-पौधों में भी सजीवता व भावनाएं होती है तथा ये निरंतर वृद्धि को प्राप्त करते है | इस सन्दर्भ में मनु का कथन है कि –

"अन्त: संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता:" |[7]

इसी प्रकार भर्तृहरि भी ऋतु परिवर्तन के कारण विकसित होने वाले नवपल्लवों का वर्णन करते हैं –

परिमलभृतो वाता: शाखा नवाङ्कुरकोटयो
मधुरविधुरोत्कण्ठाभाज: प्रिया: पिकपक्षिणाम् ||[8]

प्राकृतिक घटक के रूप में ये वृक्षादि, चेतना युक्त होते है तथा समयानुसार इनमें वृद्धि होती जाती है |

प्रकृति सिर्फ जीवन ही नहीं देती अपितु जीवन-निर्वाह के साधन भी उपलब्ध कराती है | इसकी नैसर्गिकता में आनन्द की जो अनुभूति है, वह कृत्रिम वस्तुओं में कहा होती है? कवि के अनुसार जीवनयापन के लिए सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती है, यह प्रकृति ही पर्याप्त है | भुजाएँ तकिये का कार्य करती है, आकाश छत्र का प्रतिरूप होता है, मंद-मंद पवन पंखे की तरह है तथा शरदकालीन चन्द्र प्रकाशमान दीपक के समान है |[9]

वैराग्यशतकम् में मानव तथा पशु-पक्षी के मध्य सामंजस्य का चित्रण भर्तृहरि का प्रकृति के प्रति अटूट प्रेम को प्रमाणित करता है –

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योति: परं ध्यायता-

मानन्दाश्रु जलं पिबन्ति शकुना निश्शङ्कमङ्केशया: |

अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-

क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायु: परं क्षीयते ||[10]

प्रस्तुत पद्य में मनुष्य तथा पक्षियों के मध्य साहचर्य का भाव दृष्टिगत होता है | जहाँ पक्षिगण नि:संकोच होकर स्वच्छंद भाव से तपस्या में लीन मुनियों की गोद में क्रीडा का आनन्द ले रहे है | अत: यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति सहयोग तथा विश्वबंधुत्व की प्रेरणा देती है | पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रथम स्रोत सूर्य है इसके उदित होने पर जीवों में चेतना का संचार होता है | नीतिशतकम् में वर्णित है कि सूर्योदय तथा चन्द्रोदय से क्रमानुसार कमलिनी तथा कुमुदनी का विकास संसार की निरन्तरता को दर्शाता है –

"पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ||[11]

निष्कर्षत: हम यह कह सकते है की भर्तृहरि की वाणी चैतन्या प्रकृति को अभिव्यक्त करती है | इनके काव्य में कहीं प्रकृति का सौम्य रूप दिखाई देता है तो कही कारुणिक रूप | कवि का षड्ऋतुओं के प्रति जो अलौकिक चिंतन है, वह तो सम्पूर्ण धरा को सौंदर्य प्रदान करता है | शतकत्रय में अंकित प्रकृति वर्णन, पर्यावरण चेतना को उद्बोधित करता है | आधुनिक विकासात्मक युग में ये काव्य ही प्रकृति के प्रति सजगता के माध्यम स्वरूप हैं, जो हृदयाह्लाद के साथ-साथ सामाजिक शिक्षा भी प्रदान करते है | अत: भर्तृहरि का शतकत्रय प्रकृति चित्रण की श्रेष्ठता का प्रमाण है |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1) भर्तृहरि, नीतिशतकम्, श्लो. सं- 18, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, १९७०, संस्कृत
2) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 82, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
3) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 88, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
4) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 92, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
5) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 85, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
6) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 87, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
7) शास्त्री, पं श्री हरगोविंद, श्लो. सं- 1/49, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस , संस्कृत
8) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 81, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
9) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 94, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
10) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 14, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
11) भर्तृहरि, नीतिशतकम्, श्लो. सं- 74, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, १९७०, संस्कृत

पुस्तक समीक्षा।

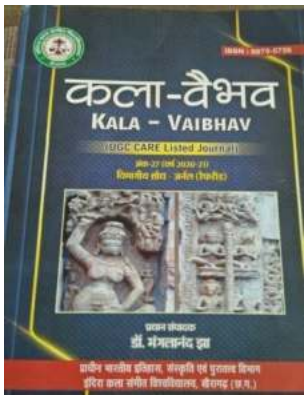

जर्नल का शीर्षक	:	कला–वैभव, अंक 27, वर्ष 2020–21
प्रधान–संपादक	:	डॉ. मंगलानन्द झा, व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
प्रकाशक	:	इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) पिन– 491881
जर्नल का आकार– पृष्ठ संख्या	:	ए/4 साईज़, कुल पृष्ठ संख्या 427, रंगीन आकर्षक कव्हर–पृष्ठ तथा शुभकामना–संदेशः मल्टीकलर्स, फाईन ग्लेज्ड आर्ट पेपर, पृष्ठ संख्या 1–4
मूल्य	:	मुद्रित नहीं है।
विशेष	:	यू.जी.सी. केयर्ड जर्नल, ई.मेल– kalavaibhav@iksv.ac.in

डॉ. मंगलानंद झा (सहायक प्राध्यापक तथा प्रधान–संपादक) के निर्देशन में कला–वैभव वार्षिक, शोध–जर्नल, अंक–27, वर्ष 2020–21, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) पिन कोड 491881, के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित कराये जाना वाला वार्षिक शोध–जर्नल है। यह यू.जी.सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित स्तरीय शोध–परक जर्नल है। इसका ISSN: 0975-5756 है।

'कला–वैभव' का प्रस्तुत अंक–27 अनेक विविधताओं एवं विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। शोध–जर्नल के प्रारंभ में संरक्षक के रूप में पद्मश्री से सम्मानित आदरणीया कुलपति, श्रीमती (डॉ.) मोक्षदा (ममता) चंद्राकर के साथ–संपादक मण्डल के सदस्यों– प्रोफेसर (डॉ.) मृदुला शुक्ल, अधिष्ठाता, कला–संकाय, प्रोफेसर (डॉ.) इंद्रदेव तिवारी, कुलसचिव तथा विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग; पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा, सेवानिवृत्त अधीक्षण पुरातत्त्वविद् एवं पूर्व पुरातात्विक सलाहकार, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, आचार्य (डॉ.) रमेन्द्र नाथ मिश्र, रायपुर, डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, प्रोफेसर (डॉ.) शिवाकांत द्विवेदी, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म.प्र. तथा जर्नल के प्रधान–संपादक डॉ. मंगलानंद झा, खैरागढ़ के नाम संपादक– मण्डल में समाविष्ट हैं। परामर्श–मण्डल के अंतर्गत प्रोफेसर (डॉ.) काशीनाथ तिवारी, अधिष्ठाता, लोक–संगीत एवं कला–संकाय, प्रोफेसर एस.पी. चौधरी, अधिष्ठाता, दृश्य

कला–संकाय तथा प्रोफेसर (डॉ.) हिमांशु विश्वरूप, अधिष्ठाता, संगीत–संकाय, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के नाम सम्मिलित हैं।

विवेच्य जर्नल के प्रारंभ में सम्माननीया कुलपति महोदया जी; कुलसचिव जी तथा अधिष्ठाता, कला–संकाय (प्रोफेसर मृदुला शुक्ल) के आशीर्वचन स्वरूप शुभ–कामना संदेश समाहित हैं, साथ ही शोध–पत्रों की विशद् व्याख्या सहित प्रधान–संपादक का प्रभावशाली संपादकीय अभिव्यक्ति सविस्तार प्रकाशित की गई है।

अनुक्रमणिका के अंतर्गत लेखों के शीर्षकों तथा लेखकों की सूची दी गयी है, जिसमें 85 (पचासी) चयनित शोध–पत्रों को उप–शीर्षकों में विभाजन के साथ प्रकाशित किया गया है। शोध–लेखों की भाषा हिन्दी, संस्कृत तथा आंग्ल भाषा है।

प्रथम उप–शीर्षक के अंतर्गत प्राचीन भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विषयक् शोध–पत्र संख्या 1 से 36 (पृ. संख्या 1–191 तक) दिये गये हैं, जिनमें 31 शोध–पत्रों की भाषा हिन्दी तथा पाँच शोध–पत्र अंग्रेजी में हैं।

द्वितीय अनुभाग चित्रकला के शोध–पत्रों से परिपूर्ण है। विवेच्य उप–शीर्षक के अंतर्गत क्रम संख्या 37 से 46 तक, पृष्ठ संख्या 192–244 तक दस शोध–पत्र चित्रकला विषयक् हैं, जिनमें पाँच हिन्दी तथा पाँच अंग्रेजी भाषा के शोध–पत्र हैं। तृतीय खण्ड में संस्कृत के दो शोध–पत्र क्र.सं. 47 तथा 48, पृष्ठ संख्या 245 से 251 में दिये गये हैं।

चतुर्थ अनुभाग हिन्दी–विषय से संबंधित है, जो क्र.सं. 49 से 56 तक तथा पृष्ठ संख्या 252 से 286 तक हैं। इस उप–खण्ड में दस शोध–पत्रों को प्रकाशित किया गया है।

पंचम अंग्रेजी अनुभाग के अंतर्गत सात शोधपत्रों (क्र.सं. 57–63 तक तथा पृष्ठ संख्या 287 से 311 में समाहित किया गया है।

अगला अनुक्रम षष्ठ–अनुभाग 'संगीत' विषयक् है। इसमें आठ शोध पत्र क्र. संख्या 64 से 71, पृष्ठ संख्या 312 से 348 में समाविष्ट हैं।

सप्तम 'नृत्य' अनुभाग के अंतर्गत पाँच शोध–पत्रों को सम्मिलित किया गया है, जो क्र. सं. 72 से 76, पृष्ठ संख्या 349 से 374 में प्रकाशित हैं।

अष्टम अनुभाग 'लोककला' से संबंधित है। इसमें 77 से 83 तक सात शोध–पत्र हैं– चार हिन्दी तथा तीन अंग्रेजी भाषा से संबंधित हैं, पृ.सं. 375 से 417 तक।

अंतिम नवम उप–खण्ड में 'थियेटर' विषय से संबंधित दो लेख हिन्दी भाषा में हैं, जो क्र.सं. 84–85, पृष्ठ संख्या 418 से 427 तक हैं।

इस प्रकार कला–वैभव के प्रस्तुत अंक में नौ उप–शीर्षकों–प्राचीन भारतीय इतिहास, कला–संस्कृति एवं पुरातत्त्व, चित्रकला, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, संगीत, नृत्य, लोक–कला तथा थियेटर आदि विषयों से संबंधित कुल 85 शोधपरक अनुसंधान पत्रकों को सम्मिलित कर प्रकाशित करना, प्रधान–संपादक, डॉ. मंगलानंद झा का अथक श्रम–साध्य प्रयास है, जो अत्यंत ही सराहनीय है। इसमें प्रधान–संपादक की अकादमिक दक्षता तथा शोध–परक दूर–दृष्टि का समन्वय सन्निहित है। ए–4 आकार में 1–427 पृष्ठों को सुव्यवस्थित रूप से विभिन्न उप–विषयों में वर्गीकरण करना भी अत्यन्त परिश्रम का कार्य है।

प्रस्तुत 'कला–वैभव', अंक 27 (वर्ष 2020–21) का आवरण रंगीन मुख–पृष्ठ बहुत ही आकर्षक एवं मनोहारी है। आवरण के चित्र रतनपुर के कण्ठीदेवल परवर्ती कलचुरि कालीन मंदिर की कला–स्थापत्य से संबंधित हैं। प्रथम आवरण चित्र के पश्चात् द्वितीय आंतरिक आवरण–पृष्ठ में 'छत्तीसगढ़– राज्य–गीत' अत्यंत ही मधुरता से परिपूर्ण है। कव्हर के तृतीय आंतरिक पृष्ठ में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय का सुमधुर भाव–पूर्ण 'कुलगीत' के अतिरिक्त चतुर्थ आवरण के पृष्ठ पर पूर्व में प्रकाशित विभागीय शोध–जर्नल 'कला–वैभव' (संयुक्तांक 24–25 तथा 25–26) के विमोचन से संबंधित चित्ताकर्षक फोटो तथा नीचे 'छत्तीसगढ़ का पुरातत्त्व एवं भावी–संभावनायें विषयक् ऑन–लाईन व्याख्यान' का चित्र दिया गया है, जो विभाग के अकादमिक एवं रचनात्मक क्रिया–कलापों के परिदृश्य की ओर इंगित करता है। जर्नल के आंतरिक पृष्ठों में शोध–पत्रों से संबंधित छायाचित्र (श्याम–श्वेत) दिये गये हैं।

'कला–वैभव' का प्रस्तुत अंक 27 (वर्ष 2020–21) बहु–आयामी स्तरीय शोध–पत्रों तथा अनेक विधाओं से परिपूर्ण वृहदाकार कलेवर में है, जो संबंधित कई विषयों के शोधार्थियों, उच्च–शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों, इतिहासकारों तथा प्रबुद्ध–जनों के लिये अत्यंत ही उपयोगी है।

अनेकशः स्तरीय शोध–पत्रों को आहूत कर उनका संपादन करना; प्रवाहमयी भाषा–शैली, विषय–वस्तु की शोध–परक उपादेयता; स्वच्छ, स्पष्ट एवं शुद्ध परिमार्जित भाषाओं में प्रकाशन इत्यादि प्रस्तुत जर्नल को उच्च–स्तरीय मानकों में प्रतिष्ठित करता है। एतदर्थ, प्रधान–संपादक की कार्य–दक्षता, बौद्धिक–क्षमता तथा अथक श्रम को भी प्रदर्शित करता है। मेरी ओर से प्रधान–संपादक, डॉ. मंगलानंद झा को हार्दिक बधाई एवं शुभ–कामनायें। उन्होंने विभाग के अकादमिक तथा स्तरीय शोध–कार्यों को परंपरागत उच्च–स्तरीय मानकों के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

!! शुभमस्तु !!

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

जे–3 पद्माकर नगर, सागर (म.प्र.)

कला–वैभव

KALA-VAIBHAVA

(UGC CARE Listed Journal)

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

शोध–लेख प्रस्तोता

क्र.	लेखक का नाम एवं पता
1.	Abdul adil paray, Dr. Manoj Kumar, AIHC & Archaeoloty IGNTU Amarkantak (M.P.)
2.	Dr. Anand Kumar Bhoyar Dept. of History Bhagvantrao Arts College Sironcha, Dist. Gadchiroli (M.H.)
3.	Anita Pandey, Prof. (Dr.) I.D. Tiwari I.K.S.V.V., Khairagarh (C.G.)
4.	डॉ. अंजना चौरसिया, सहायक प्राध्यापक नृत्य, शा. महारानी लक्ष्मीबाई कन्या स्थल, महाविद्यालय., इन्दौर
5.	डॉ. अनूप परसाई, डॉ. प्रताप पारख, जे. योगानंदम छत्तीसगढ़ कॉलेज, रायपुर
6.	आराधना चतुर्वेदी, डॉ. मंगलानंद झा, प्रा.भा.इ.सं एवं पु., इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
7.	अरूण मिश्रा (शोधार्थी), संगीत संकाय, अवनद्ध वाद्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
8.	अम्बुज तिवारी (शोधार्थी हिन्दी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
9.	डॉ. अमित कुमार, इतिहास विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय वि.वि., अमरकंटक (म.प्र.)
10.	डॉ. आशुतोष चौरे, संग्रहालयध्यक्ष, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
11.	Dr. C.P. Pramod, Dept. of English, I.K.S.V.V., Khairagarh
12.	डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम', प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि.,खैरागढ़(छ.ग.)
13.	Dr. Debasish chakraborty, Asst. Prof. Dept. of Visual Arts, Assm University, Silchar

14.	देवराज वर्मा (शोधार्थी हिन्दी), कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
15.	Prof. Dinesh Nandini parihar, Bhenu, AIHC & Archreology, Pt. R.S.V.V. Raipur
16.	डॉ. दिवाकर कश्यप, सहा.प्राध्यापक गायन, संगीत संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़(छ.ग.)
17.	प्रोफेसर डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती (पूर्व कुलपति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़) गोकुलम रोड पुट्टापरथी (आ. प्र.) 515134
18.	Jabbar Ahmad, Research Scholar, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
19.	जगदेव नेताम, सहा.प्राध्यापक गायन, संगीत संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
20.	जीतलाल (शोधार्थी हिन्दी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
21.	जितेन्द्र कुमार साखरे, डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय, रानी रश्मिदेवी शास. महाविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)
22.	डॉ. जयति बिश्वास, सहायक प्राध्यापक हिन्दी, वीरांगना अवन्तीबाई शास. महा. छुईखदान (छ.ग.)
23.	Mrs. Juhi Latwal Mehra, Research Scholar, Painting Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
24.	डॉ. के. राजलक्ष्मी, विशाखापट्टनम, आन्ध्रप्रदेश
25.	डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.), जे–3 पदमाकर नगर, सागर (म.प्र.)
26.	Kajal Rahul Bais, Kanchan Thakur, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
27.	कनक शर्मा (शोधार्थी), चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
28.	Dr. Kaushtubh Ranjan, Mrs. Sindhu Nair, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
29.	कविता गंगबोईर (शोधार्थी), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
30.	Keshawram (R.Scholar) I.K.S.V.V., Khairagarh
31.	किशनदास महंत (शोधार्थी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
32.	कुमुद रंजन मिश्र (शोधार्थी हिन्दी), काशी हिन्दु वि.वि., वाराणसी (उ.प्र.)

33.	डॉ. लिकेश्वर वर्मा, सहायक प्राध्यापक गायन, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
34.	Prof. Loveneesh Sharma, Mrs. Srishti Banerjee, School of Fine Arts, Kolkata
35.	मानक चंद टंडन, ग्राम– भरतपुर, पो. निपनिया, जिला–बलौदाबाजार (छ.ग.)
36.	डॉ. मंगलानंद झा, सहायक प्राध्यापक प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
37.	Maninder Singh Dhunna, Research Scholar, Graphics Department, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh, Chhattishgarh
38.	डॉ.मीनू अग्रवाल, एसो.प्रोफे. प्राचीन इतिहास विभाग, एस.एस. खन्ना महिला म.वि., प्रयागराज, (उत्तरप्रदेश)
39.	मोहन कुमार साहू, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
40.	मोहन लाल चढार, सहायक प्राध्यापक, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय वि.वि., अमरकंटक (म.प्र.)
41.	मोनिका साहू (शोधार्थी), लोकसंगीत एवं कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
42.	प्रो. नागेश दुबे, विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, डॉ. हरि सिंह गौर वि.वि., सागर
43.	डॉ. नीलिमा पाण्डेय, एसो. प्रोफे., जे.एन.एम.पी.जी. कॉलेज, लखनऊ वि.वि., लखनऊ (उत्तरप्रदेश)
44.	Niresh Kumar Kurre, Pro. I.D. Tiwari, English Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
45.	Nishant Sunil Zodape, Ph.D. Scholar, Department Of Ancient Indian History, Culture And Archaeology, Visva Bharati, Santiniketan, West Bengal
46.	डॉ. नितेश कुमार मिश्र, सहायक प्राध्यापक, ढाल सिंह देवांगन, भाग्यश्री दीवान (शोधार्थी) प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, अध्ययन शाला पं.र.शं.वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
47.	डॉ.पवन कुमार जांगिड, सहायक आचार्य, चित्रकला, श्री रतनलाल कंवरलाल पाटनी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, किशनगढ़ (राजस्थान)
48.	पूजा चौधरी (शोधार्थी संस्कृत), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)

49.	डॉ. प्रभाकर कश्यप, सहायक प्राध्यापक–अतिथि, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
50.	डॉ. प्रसन्न सहारे, दाऊचौरा, खैरागढ़ (छ.ग.)
51.	प्रशांत चौरे (शोधार्थी इतिहास), प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
52.	प्रियंका ठाकुर, एम.फिल.छात्रा, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहील, शिमला (हिमाचल प्रदेश)
53.	पुनीत पटेल, अति.व्याख्याता, अवनद्ध वाद्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
54.	डॉ.पूर्णिमा केलकर, सहायक प्राध्यापक संस्कृत, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
55.	Dr. Rabi narayan Gupta (Ass. Prof. Graphics) I.K.S.V.V., Khairagarh
56.	प्रो. राजन यादव, अधिष्ठाता–दृश्यकला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
57.	डॉ. राखी कुमारी, सहायक प्राध्यापक छापाकला, कला एवं शिल्प महाविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)
58.	रंजीत कुमार मोहने, कला संकाय, नाट्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
59.	Rashid manzoor Bhat (R.Scholar) Dept. of History, Anna malai University , Annamalai nagar Tamilnadu
60.	Ratna Successena Japan Pulla , Dr.E.V. Padmaja, Acharya Nagarjuna University, Dept of History & Archaeology
61.	Rudra Prasad Behera Assistant Curator, Panchanan Mishra,Chemical Assistant ,Odisha State Archaeology, Bhubaneswar, Shankar Jai Kishan,Curatorial Associate, Bihar Museum, Patna, Bihar
62.	शबीना बेगम (शोधार्थी), प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरा. , पं.र.शं. वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
63.	Dr. Sandeep Kumar Chaudhary, Deptt. of AIH and Archaeology,University of Lucknow, Lucknow **(**U.P.)
64.	एस. कुमार, डॉ. सपना शर्मा सारस्वत समाज शास्त्र विभाग, शा. वि. या. ताम. स्व. स्नात. महावि., दुर्ग (छ.ग.)

65.	डॉ. सरिता साहू, शास.पु.मा. शा. धौराभाठा, दुर्ग (छ.ग.)
66.	Dr. Satya Prakash Prasad (Corresponding Author),Assistant Professor, Department of Applied Sciences, Faculty of Engineering and Sciences, Jamia Millia Islamia, New Delhi. Dr. Shiv Kumar, Assistant Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi, UP
67.	Dr Satya Prakash Prasad Assistant Professor,Anisha Kaul and Abhishek Jha, Research Scholars, Applied Sciences and Humanities (English),F/o Engineering and Technology Jamia Millia Islamia , New Delhi
68.	शीतल कुमार उरांव (शोधार्थी कथक नृत्य), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
69.	डॉ. शिल्पी, संगीत शिक्षिका, दाऊदपुर
70.	Shipra Singh Chauhan, Research Scholar, School of Studies in Travel & Tourism Management, Jiwaji University, Gwalior, Madhya Pradesh
71.	डॉ. श्रुति अम्बेश चन्द्र, शिक्षक कॉलोनी, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
72.	डॉ. शुभ्रा रजक, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरा. , पं.र.शं. मुठ वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
73.	Shweta Mour, Ashok Singh Rao, Department of Arts, Mody University, Laxmangarh, Sikar, Rajasthan (332311)
74.	डॉ. सुधीर कुमार उपाध्याय, वरष्ठि पत्रकार, दैनिक भास्कर, रायपुर (छ.ग.)
75.	सुमन साहू, शोध छात्रा, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
76.	सुनील कुमार, सहायक प्राध्यापक, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज (उत्तरप्रदेश)
77.	रूकैया खानम (शोधार्थी), तनुजा सिंह, आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
78.	Dr. Tirthraj Bhoi, Sr. Assistant Professor, Department of History School of Social Sciences University of Jammu Jammu-180006, JKUT
79.	डॉ. उमेंद कुमार चन्देल, रानी रश्मिदेवी शास. महाविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

80.	डॉ. विधा सिंह राठौर, अतिथि व्याख्याता, लोकसंगीत एवं कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
81.	विनय कुमार, काशी हिन्दु वि.वि., वाराणसी (उत्तरप्रदेश)
82.	Mr. Varij Khanna, Prof Loveneesh Sharma, Student, School of Fine Arts, Amity University, Kolkata (West Bengal)
83.	विशाल कुमार (शोधार्थी कथक नृत्य), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)

ISSN: 09755756

कला–वैभव

KALA-VAIBHAVA

(UGC CARE Listed Journal)

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

संरक्षक

डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर,
(पद्मश्री एवं संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित),
कुलपति,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

सम्पादक मण्डल

प्रोफेसर (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी,
कुलसचिव एवं अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) के. एन. तिवारी
अधिष्ठाता, कला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

पद्मश्री अरुण कुमार शर्मा,
सेवानिवृत्त, अधीक्षण पुरातत्त्वविद् एवं
पूर्व पुरातात्त्विक सलाहकार, छ.ग. शासन, रायपुर।

आचार्य (डॉ.) रमेन्द्रनाथ मिश्र,
इतिहासकार, रायपुर।

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी,
पूर्व विभागाध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रोफेसर (डॉ.) शिवाकान्त द्विवेदी,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)।

प्रधान सम्पादक

डॉ. मंगलानंद झा,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

परामर्श मंडल

प्रो.(डॉ.) मृदुला शुक्ल
पूर्व अधिष्ठाता, कला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) नीता गहरवार
अधिष्ठाता, नृत्य संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) नमन दत्त
अधिष्ठाता, संगीत संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

प्रो.(डॉ.) राजन यादव
अधिष्ठाता, दृश्यकला संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

डॉ. योगेन्द्र चौबे
अधिष्ठाता, लोक संगीत संकाय
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

कला–वैभव

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

भारतीय कला, इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य का वार्षिक शोध जर्नल (रेफरीड)

(Included in UGC CARE List)

© प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)।

प्रकाशक : इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)–491881।

ISSN: 09755756

मुद्रक : छत्तीसगढ़ पाठ्य पुस्तक निगम, रायपुर।

प्रधान संपादक : डॉ. मगलानंद झा,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।

कला–वैभव (संयुक्तांक 28–29) में प्रकाशित लेखों/रचनाओं में वर्णित विषय–वस्तु/तथ्यों तथा निष्कर्षों इत्यादि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सम्बन्धित लेखकों/रचनाकारों का है। संपादकगण अथवा प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।

संपर्क : कुलसचिव – 07820–234232
डॉ. एम.एन. झा – 94241–11394
ई–मेल – kalavaibhav@ iksv.ac.in

आवरण चित्र : उमा–महेश्वर की अद्‌भुत प्रतिमा सिरपुर। इस प्रतिमा के पादपीठ पर श्री गणेश को माता पार्वती का चरण स्पर्श करते हुए एवं माता द्वारा श्री गणेश जी के शीश पर आशीर्वाद के रूप में हाथ रखे हुए प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार का दृश्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है।

– प्रधान सम्पादक

ISSN : 09755756

कला - वैभव

KALA - VAIBHAW

UGC CARE LISTED JOURNAL

संयुक्तांक 28 – 29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)
विभागीय शोध – जर्नल (रेफरीड)

प्रधान संपादक
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

कला–वैभव

संयुक्तांक 28–29

अनुक्रमणिका

❖ **शुभकामना संदेश**

- **डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर,** (पद्मश्री से सम्मानित),
  कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।
- **प्रो. (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी,**
  कुलसचिव, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।
- **प्रो.(डॉ.) के. एन तिवारी,**
  अधिष्ठाता, कला संकाय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़।

❖ **सम्पादकीय**

- डॉ. मंगलानंद झा,
  प्रधान संपादक।

❖ **व्यक्तित्त्व – चर्चा**

क्र.	विषय	लेखक	पेज क्र0
1.	देदीव्यमान लोक–कलाकार डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर	मंगलानंद झा	1-6

शोध–लेख

ANCIENT INDIAN HISTORY, CULTURE AND ARCHAEOLOGY

2.	देवगढ़ का दशावतार मंदिर –	अमित कुमार	7-11
3.	1857's Freedom fighter Late. Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.	Anand K. Bhoyar	12-15
4.	आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला	अनुप परसाई प्रताप पारख	16-19
5.	बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमा	आराधनाचतुर्वेदी मंगलानंद झा	20-22
6.	छत्तीसगढ का भूमिज मंदिर भोरमदेव (परमार युगीन स्थापत्य कला का प्रभाव)	आशुतोष चौरे	23-27
7.	The Landscape and Settlement Pattern of Megalithic Sites of District Pulwama, Kashmir	Abdul Adil Paray Manoj Kumar	28-32

8.	स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य	चैन सिंह नागवंशी 'श्याम'	33-38
9.	Archaeological investigation of Bewarti, Kanker	Dinesh Nandini Parihar Bhenu	39-43
10.	प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	कृष्णकुमार त्रिपाठी	44-53
11.	Resonance Of Lust In Women Imagery With Special References To Ancient Till Medieval Indian Art	Loveneesh Sharma Ms. Srishti Banerjee	54-60
12.	अनन्तशायी विष्णु	मंगलानन्द झा	61-63
13.	Everything is Art: A Reality Check	Maninder Singh Dhunna	64-72
14.	पभोसा से प्राप्त अभिलेख	मीनू अग्रवाल	73-79
15.	छत्तीसगढ़ के नव–उत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृणकला	मोहन कुमार साहू	80-85
16.	एरण से प्राप्त नवीन सती अभिलेखों का पाठ वाचन एक अनुशीलन	मोहन लाल चढार	86-93
17.	एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष	नागेश दुबे	94-99
18.	Epigraphical evidences in Vidarbha region (Maharashtra) related to Buddhism	Nishant Sunil Zodape	100-107
19.	खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थलः सती स्तम्भ एवं योद्धा प्रतिमाओं के विशेष संदर्भ में	नितेश कुमार मिश्र ढालसिंह देवांगन भाग्यश्री दीवान	108-112
20.	विभिन्न स्वरूप की अद्भुत प्राचीन हनुमान प्रतिमायें	प्रसन्न सहारे	113-115
21.	पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ	प्रशांत चौरे मंगलानन्द झा	116-119
22.	The Historical Context of Nimlatapurana: Tracing its Evolution and Influence	Rashid Manzoor Bhat	120-126
23.	Exploring the Bene Ephraim: Uncovering the Jewish Identity and Culture in Andhra Pradesh	Ratna Successena Dr.E.V. Padmaja	127-135
24.	Newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga Image from Lupursingha, Subarnapur, Odisha: An Appraisal	Rudra Prasad Behera Panchanan Mishra Shankar Jai Kishan	136-140
25.	सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण	शबीना बेगम	141-145
26.	Chalcolithic Culture In Saryupar Region Of Uttar Pradesh	Sandeep Kumar Chaudhary	146-155

27.	ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन (छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगॉव जिले के संदर्भ में)	एस. कुमार सपना शर्मा सारस्वत	156-160
28.	Varanasi – An Iconic Cultural Heritage city of India: Exploring its cultural Heritage tourism products and the status of tourism post covid Pandemic.	Shipra Singh Chauhan	161-168
29.	दीदारगंज चामर धारिणी यक्षी	शुचि	169-172
30.	छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना	शुभ्रा रजक	173-174
31.	नव उत्खनित स्थल जमराव–एक अध्ययन	सुधीर कुमार उपाध्याय	175-178
32.	प्राचीन भारतीय लोकजीवन में अग्नि एक अध्ययन	सुनील कुमार,	179-182
33.	जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तनशील स्वरूप	तनूजा सिंह	183-186
34.	माटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्ण–लीला स्तम्भः एक अध्ययन	विनय कुमार	187-192
35.	An Overview Of Suggestive Resonance As Dhvani In Indian Arts Till The Mughals	Varij Khanna, Loveneesh Sharma,	193-202

DANCE

36.	''नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण'' (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में)	अंजना चौरसिया	203-211
37.	कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदन	कविता गंगबोईर	212-213
38.	पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान	शीतल कुमार उरांव	214-219
39.	कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली अंग भंगिमाएं	विशाल कुमार	220-225

ENGLISH

40.	Physical benefits and Indian Dance Forms: A scientific Approach	Anita Pandey Professor I. D. Tiwari	226-229
41.	The candour behindIbis	C.P. Pramod	230-233
42.	Hinua Achebe'sThings Fall Apart:A Colonial Analysis	Jabbar Ahmed	234-243
43.	Climate Fiction in 21st Century: (Re) awakening Eco-consciousness in Humans	Kaustubh Ranjan Ms. Sindhu Nair	244-247

44.	Digital Storytelling Of Indian Folklore And Mythology Through Social Media: An Empirical Study	kajal rahul bais kanchan thakur	248-254
45.	Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar	Niresh Kumar Kurre I. D. Tiwari	255-257
46.	Volue-Based Education	Prafulla Kumar	258-264
47.	Going Beyond The Language Dilemma: A Study of Poile Sengupta's Keats Was A Tuber	Satya Prakash Prasad Shiv Kumar	265-271
48.	Negotiating Marginalities: Gender, Sexuality and Disability inMargarita with a Strawand Barfi!	Satya Prakash Prasad Anisha Kaul Abhishek Jha	272-277
49.	The Oppression Faced By Female Characters In Ann Petry's Novel "The Street"	Shweta Mour, Ashok Singh Rao	278-280
50.	Environment in India: A Study of Continuity and Changes of Forest in Dandakaranya	Tirtharaj Bhoi	281-286

FOLK MUSIC

51.	उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप	अरूण मिश्रा	287-290
52.	बस्तर दशहरा (छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में)	अनिल कुमार पाण्डेय जितेन्द्र कुमार साखरे	291-297
53.	छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य–व्यंग्य	मानक चंद टंडन	298-304
54.	कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवन–शैली और संस्कृति	मोनिका साहू	305-308
55.	शरीर कला एवं दृश्य भाषा पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना	नीलिमा पाण्डेय	309-318
56.	बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवनद्ध वाद्य	पुनीत पटेल	319-328
57.	कमलनारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य विषय	राजन यादव	329-336
58.	छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना	रंजीत कुमार मोहने	337-341
59.	लोक कला को समर्पित कलाकार 'श्री ज्योति भट्ट'	श्रुति अम्बेश चन्द्र	342-347
60.	छत्तीसगढ़ी लोक–गीतों में ''राम''	विधा सिंह राठौर	348-354

HINDI

61.	नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार	अंबुज तिवारी	355-358
62.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता और डॉक्टर धर्मवीर भारती	देवराज वर्मा देवमाईत मिंज	359-363
63.	प्रेमचन्द कृत 'मंत्र' आंतरिक विकास की कहानी	जयति बिस्वास	364-368

64.	मिथिलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण – लोकवृत्त एवं लोककलागत	जीतलाल	369-374
65.	मोहब्बत के बाज़ार में ऐ 'नज़ीर' अब	कुमुद रंजन मिश्र	375-379
66.	छत्तीसगढ़ के मौखिक स्रोतों में गांधी दर्शन	सरिता साहू	380-388
67.	संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार	उमेंद कुमार चंदेल	389-392

MUSIC

68.	संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना	दिवाकर कश्यप	393-397
69.	Samyak Geetam	Indirani Chakravarti	398-406
70.	ख्याल के बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण	जगदेव नेताम	407-409
71.	ठेका एक संक्षिप्त अध्ययन	जगजीत शाह	410-411
72.	'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप	लिकेश्वर वर्मा	412-417
73.	वर्तमान शिक्षा में संगीत शास्त्र की सहभागिता	श्रुति कश्यप	418-422

PAINTING

74.	Humanising Animals In Advertising	Debasish Chakraborty	423-426
75.	Influence of Archetype Patterns in Indian Paintings	Juhi Latwal Mehra	427-429
76.	भारतीय चित्रकला में अमूर्तन – सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त	के. राजलक्ष्मी	430-434
77.	Advent of Modern Art in India	keshawram	435-438
78.	कला एवं धर्म में अन्तर्सम्बन्ध	कनक शर्मा	439-441
79.	भारतीय संस्कृति में अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ	पवन कुमार जांगिड़	442-448
80.	छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक	राखी कुमारी	449-453
81.	Emergence Of Evolutionary Art Systems: Is It Really Being A Help To The Art Or Are There More Negatives Than Positives?	Rabi Narayan Gupta	454-460

SANSKRIT

82.	नान्यदेव भूपाल कृत भरत–भाष्यम एक अध्ययन	प्रभाकर कश्यप	461-463
83.	संस्कृते स्तोत्र–परम्परा	पूर्णिमा केलकर	464-467
84.	भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण	पूजा चौधरी	468-470
85.	पुस्तक समीक्षा	कृष्ण कुमार त्रिपाठी	471-474

सेवारत या सेवानिवृत्त विद्वानों एवं महानुभावों से शोध लेख प्राप्त हुए थे। इनमें से 84 शोध लेखों को दो विषय विशेषज्ञों के परीक्षणोंपरांत उपयुक्त एवं स्तरीय पाये जाने पर उनका प्रकाशन किया जा रहा है। इस अंक में शोध लेखों को अल्फा बेटिकल वर्णक्रम के अनुसार सज्जित किया गया है। उनका विभाजन प्रतिवर्षानुसार वर्ग क्रम में नियोजित है।

प्रस्तुत कला–वैभव (संयुक्तांक 28–29) के सफलता पूर्वक प्रकाशन में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति सम्माननीय पद्मश्री मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित) जी का योगदान अविस्मरणीय है। माननीया विदुषी कुलपति जी का निर्देशन, प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आर्शीवाद से कला–वैभव कृतकृत्य हुआ है। हमारा मार्ग सहज एवं निष्कंटक बनाकर माननीया ने कला–वैभव की यात्रा को निरंतरता प्रदान की है। अतएव उन्हें शत् शत् नमन एवं हार्दिक आभार....। कला संकाय के अधिष्ठाता प्रो.(डॉ.) के.एन.तिवारी जी ने कला–वैभव के प्रकाशन हेतु हमारा सदैव ही उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन किया है। मैं उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के कुलसचिव एवं विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी प्रो. (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी जी हमारे सदैव मार्गदर्शक रहे हैं। उनकी प्रेरणा तथा स्नेह हमें सदैव प्राप्त होता रहा है। जिनके सहृदयता से कला–वैभव का यह अंक अपने साकार रूप में प्रस्तुत है। अतएव मैं उनके प्रति तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ।

प्रथम आलेख व्यक्तित्व चर्चा के अन्तर्गत डॉ. मंगलानंद झा का है जिन्होंने छत्तीसगढ़ की सुप्रसिद्ध लोक गायिका डॉ.मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी के कृतित्व एवं जीवन दर्शन पर प्रकाश डाला है। Abdul Adil ने अपने लेख – The Landscape and Seltlement of Megalithic Site of District Pulwama, Kashmir के अन्तर्गत दृष्टिगोचर पुरावैभव का सफल प्रसारण किया है एवं उनकी पुरातात्त्विक जगत में महत्व को भी रूपाकार किया है। 'नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार' के अन्तर्गत अम्बुज तिवारी ने नारी समाज का सार्थक आकलन प्रस्तुत किया है। अमित कुमार ने ''देवगढ़ दशावतार मंदिर; लेख में उत्तर प्रदेश के पुरातत्व स्थल देवगढ़ में स्थित गुप्तकालीन मंदिर एवं मूर्तिकला का विवेचन प्रस्तुत किया है।

Andnd K. Vyavhar ने अपने लेख ''1875'S Freedom Fighter late veer Baburao Pullisurbapu Rajgond'' के अन्तर्गत भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शहीद आदिवासी वीर की वीरता का वैभव प्रकाशित किया है। ''Physical benfits and Indian Dance forms : A Scientific Approach'' नामक लेख में अनीता पाण्डे और प्रो.आई.डी. तिवारी जी ने भारतीय नृत्य मुद्राओं के परिप्रेक्ष्य में मानव जनित परिष्कार को भलीभाँति प्रतिबिम्बित किया है। अंजना चौरसिया ने अपने लेख –नाट्यशास्त्र एवं अभिनव दर्पण की हस्त मुद्राओं का तुलनात्मक विवरण (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में) के अन्तर्गत दोनों ग्रंथों में वर्णित हस्तमुद्राओं के माध्यम से कथक नृत्य के विकासात्मक स्वरूप को उकेरा है। ''आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला'' नामक लेख में डॉ. अनूप परसाई एवं डॉ. प्रताप पारख ने उक्त प्राचीन मंदिर वास्तु

वैभव को भली प्रकार व सारगर्वित रूप से प्रकाशित किया है। आराधना चतुर्वेदी ने अपने ''बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमा'' लेख में तत्सम्बन्धी विवरणों को प्रस्तुत किया है। ''उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप'' नामक लेख में अरूण मिश्रा ने प्रादेशिक लोक में व्याप्त सांगीतिक चेतना को दिखाया है। डॉ. आशुतोष चौरे ने भोरमदेव मंदिर स्थापत्य एवं उदयादित्य मंदिर स्थापत्य का तुलनात्मक विवरण देते हुए स्पष्ट किया है कि भूमिज मंदिर शैली का आगाज छत्तीसगढ़ की धरा पर भी हुआ। उनके लेख ''छत्तीसगढ़ का भूमिज मंदिर'' में उक्त तथ्य दर्शित है। ऐश्वर्या भट्ट ने ''वाद्य और संवाद'' के परिप्रेक्ष्य में दोनों के परस्पर समन्वय का प्रकाशन किया है। '' The Candour behindlbls'' के अन्तर्गत C.P. Pramod ने तत्सम्बन्धी विवरणों का अच्छा समावेशन किया है। डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम' ने अपने लेख ''स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य'' के तारतम्य में यह तथ्य प्रकाशित किया है कि दैवीय प्रतिमाओं के स्वरूप विधान में तंत्रयानी प्रभाव का महत्वपूर्ण योगदान है। Devasis Chakravarti ने '' Humauising Animals on Advrtising'' के अन्तर्गत अपने मंतब्यों को विषयानुरूप साकार करने का प्रयास किया है। ''स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता और डॉ. धर्मवीर भारती'' नामक अपने लेख में देवराज वर्मा ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में डॉ. धर्मवीर भारती के योगदान का विवरण प्रस्तुत किया है। ''Archaeological Investigation of Bewarti, Kanker'' के अन्तर्गत प्रो. दिनेश नंदिनी परिहार ने कांकेर क्षेत्र में पुरातात्विक अन्वेषण से सम्बन्धित विवरण साझा की है। दिवाकर कश्यप ने अपने लेख ''संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना'' के तहत विषयानुकूल तथ्यों को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया है। ''Chinna Achebe's Things fall aprat a Colonial Analvsis'' के परिप्रेक्ष्य में Jabbar Ahmad ने तत्संबंधी शोधात्मक विवरण प्रस्तुत किये हैं। "Samyak Gitam" में प्रो.(डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती जी ने अपने उच्च मनोभावनाओं का अभिव्यक्तिकरण किया है, जो अत्यंत ही उत्कृष्ट और ज्ञानात्मक है।

''ख्याल की बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण'' नामक अपने लेख में जगदेव नेताम ने विषय पर केन्द्रित सभी तथ्यों को केन्द्रित करने में सफलता अर्जित की है। जगजीत शाह ने ''ठेका : एक संक्षिप्त अध्ययन'' के तहत विषयवस्तु को सटीक रूप देने का सफल प्रयास किया है। डॉ. जयति बिस्वास ने प्रेमचन्द्र कृत 'मंत्र' आंतरिक विकास की कहानी नामक अपने लेख के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं को प्रतिबिम्बित करने में निश्चित ही सफल रही है। ''मिथलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण : लोकवृत एवं लोक कलागत'' के अन्तर्गत जीतलाल ने संबंधित विषय पर अपने सापेक्ष दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है। जितेन्द्र साखरे ने ''बस्तर दशहरा के माध्यम से छत्तीसगढ़ में प्रचलित लोक संस्कृति एवं कला का अच्छा निरूपण किया है। ''In Flnence of Archetype patterns in Indian Painting '' के तहत Mrs. Juhi latwal Mehra ने चित्रकला की विधा से सन्दर्भित अपने मन्तव्यों का बेहतरीन प्रस्तुतिकरण किया है। K. Rajlakshmi ने ''भारतीय चित्रकला में अमूर्तन : सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त'' को केन्द्रित कर चित्रकला में निर्विकारिता के साथ सौन्दर्य का अच्छा निरूपण किया है। Kajal Rahul Bais ने अपने लेख "Digital storytelling of indian folklore and mythology through social media: an empirical study" के अन्तर्गत दण्डकारण्य के वनों में Wify के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय दृष्टिकोण को समक्ष रखा है। कनक शर्मा ने ''कला और धर्म में अन्तर्सम्बन्ध'' के

तहत् दोनों पक्षों को समन्वित रूप से एकाकार कर सफल चित्रण किया है। "Climate Fiction in 21' Century (Re) Awakening Eco-Consciousness in Humans" को केन्द्रित करते हुए Dr. Kaustubh Ranjan ने विषयानुकूल तथ्यों को सार्थक रूप से प्रतिबिम्बित किया है। कविता गंगबोईर ने ''कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदान'' के अन्तर्गत कथक और महिला को गुणानुरूप सिद्धांतों में नियोजित करने में पूर्ण सफल हुए है। "Advent of Modern Art in India" के अधीन केशव राम ने आधुनिक कला को भारतवर्ष के सन्दर्भ में समीकृत करके अनोखी पहल की है। कुमुदरंजन मिश्रा ने ''मोहब्बत के बाजार में ऐ नजीर ''अब'' के अन्तर्गत अपने दृष्टिकोण को सरल एवं सुवाच्य शब्दों में पिरोया है। डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी ने ''प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि'' के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ प्रदेश का आदि से वर्तमान तक का सम्पूर्ण विवरण तथ्यात्मक रूप से प्रकाशित किया है। आप निश्चय ही साधुवाद के पात्र है। लिकेश्वर वर्मा ने अपने लेख 'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप में गायकी की विशिष्ट विधा तराना को केन्द्र बिन्दु में रखकर अपने विचार को तथ्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। "Resonance of Lust Women Imagevy with Special References to ancient till medieval Indian Art" के अन्तर्गत Loveneesh Sharma ने प्राचीन काल से लेकर मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में महिला पात्रों की उपस्थिति की विशिष्टता पर रूचिकर मंतव्य प्रकट किये हैं। मानक चंद टंडन ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य व्यंग्य'' के तारतम्य में उन प्रचलित लोकगीतों के सन्दर्भ पेश किये है जिन्हें पढ़कर या सुनकर दर्शक प्रसन्न हो उठते हैं। डॉ. मंगलानन्द झा ने ''विष्णु की विशिष्ट शयनासीन (शेषशायी) प्रतिमा'' के अन्तर्गत सृष्टि की उन दृश्यों को प्रत्यक्ष किया है, जब महा जल प्रलय के दौरान समस्त विश्व जल समाधिस्थ हो गये थे। उक्त प्रतिमा में तत्संबंधी दृश्य उत्कीर्णित प्राप्त होते है, जो अनोखी और अलभ्य है।

Maninder Singh dhunna के लेख "Everything's is Art a Reality Check" में विषयानुरूप की सूक्ष्मता पूर्वक विवेचना निश्चित ही सफलता की श्रेणी में है। डॉ. मीनू अग्रवाल ने अपने लेख ''पभोसा से प्राप्त अभिलेख'' को केन्द्रित करते हुए उसका भलीभाँति सराहनीय प्रकाशन किया है। मोहन कुमार साहू ने ''छत्तीसगढ़ के नवउत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृणकला'' के अन्तर्गत तत्संबंधी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है। ''एरण से प्राप्त नवीन सती अभिलेखों का पाठवाचन : एक अनुशीलन'' नामक लेख में डॉ. मोहन लाल चढार ने प्राचीन स्थल एरण एवं वहां से प्राप्त महत्वपूर्ण पुरावशेषों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यह एक सफल प्रयास है। मोनिका साहू ने अपने लेख 'कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवनशैली एवं संस्कृति'' के अन्तर्गत तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किये हैं।

डॉ. नागेश दुबे ने अपने लेख ''बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम स्थल एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष'' के अन्तर्गत विषयानुरूप सार्थक निरूपण प्रस्तुत किया है। जो उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण हैं। नीलिमा पाण्डेय ने ''शरीर कला एवं दृश्य भाषा : पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना'' नामक अपने लेख में गोदना से

संदर्भित रहस्यों और तथ्यात्मक सौन्दर्य का भलीप्रकार विवेचन किया है जो निश्चय ही अध्ययन के योग्य है। "Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar" में Niresh Kumar Kurre ने बौद्ध धर्म के उत्थान में डॉ.बी.आर. आम्बेडकर के प्रयासों की चर्चा की है तथा विषयानुकूल मंतव्य प्रकट किये हैं। Nishant Sunil ने अपने लेख "Epigraphical evidence in Nidarbha Region (Maharashtra) related to Buddhism" में चयनित विषय को भलीभाँति सन्दर्भित किया है और अपनी विचारधारा को प्रकट किया है। डॉ. नितेश कुमार मिश्र ने अपने लेख ''खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थल : सतीस्तम्भ एवं योद्ध प्रतिमाओं के विशेष सन्दर्भ में'' के अन्तर्गत चयनित विषय को सारगर्वित रूप से प्रस्तुत किया है जो उपयुक्त है। पवन कुमार जांगिड़ के लेख ''भारतीय संस्कृति में अकबर कालीन चित्रित ग्रंथ'' विषय की सार्थकता को प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सफल प्रयास का उदाहरण है। ''भर्तृहरि कृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण'' नामक अपने लेख में पूजा चौधरी ने पूर्वकालीन पर्यावरणीय सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है। प्रभाकर कश्यप ने अपने ''नान्यदेव भूपाल कृत भरत भाष्यम् : एक अध्ययन'' नामक लेख में तत्सम्बन्धी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है। जो पठन, पाठन और ह्रदयंगम के योग्य है। ''विभिन्न स्वरूप की अद्भुत हनुमान प्रतिमाएँ'' के अन्तर्गत प्रसन्न सहारे ने अपने लेख में हनुमान प्रतिमाओं के संदर्भ में विवरण प्रस्तुत किये हैं। Prafulla Kumar Mehar ने अपने लेख "Volue-Based Education में तत्संबंधी उम्दा विचार व्यक्त किये हैं। ''पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ'' के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ स्थित पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाओं पर प्रशांत चौरे एवं डॉ. मंगलानंद झा ने अच्छा प्रकाश डाला है। ''संस्कृते स्त्रोत परम्परा'' विषय पर डॉ. पूर्णिमा केलकर ने संस्कृति विधा पर अपनी असीमित ज्ञान का प्रकाशन किया है।

बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवनद्ध वाद्य के तहत पुनीत पटेल ने विषयानुरूप अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। "Emergence of evolntionary art Systems : Isit really being a help to the art or are there more nagatives than positives" नामक अपने लेख में Dr. Ravi Narayan Gupta ने तत्संबंधी मन्तव्यों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये है। जो उल्लेखनीय व पठनीय है। प्रो.राजन यादव ने अपने लेख ''कमल नारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य विषय'' को दृष्टिगत रखते हुए खैरागढ़ रियासत के पूर्व शासक की कला प्रियता के साथ रचना प्रियता का भी बखूबी प्रतिपादन किया है, जो अवलोकनीय है। डॉ.राखी कुमारी ने अपने लेख ''छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक'' के सन्दर्भ में विषयानुकूल अपनी लेखनी चलायी है, जो काबिले गौर है। ''छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना'' के तहत् रंजीत कुमार मोहने ने छत्तीसगढ़ प्रदेश के नाट्य विधा के माध्यम से नाट्य लेखकों की मनोभावनाओं का अच्छा चित्रण किया है। Rashid Manzoor Bhat ने अपने लेख "The Historical Context of Nimalatapurana : Tracinh its evolution and intlnence" के माध्यम अपने मन के उद्गारों को विषय के तारतम्य में सुरूचिपूर्ण ढंग से

सज्जित किया है। जो सराहनीय और उत्प्रेरक है। Ratna Successena ने "Exploring the bone ephrain : Vncovering the jiwish Identity and Culture in Andhra Pradesh" के तहत अपने मन्तव्यों को विषयानुकूल रख पाने में पूर्ण सफलता हासिल की है। अतएव वे साधुवाद के पात्र है। Rudra Prasad Behara ने अपने लेख "Newly decovered Sadabhinja Mahis Mardini Durga Image form lupursingh subhrnapur, oddisa An a appraisal" के परिप्रेक्ष्य में तत्संबंधी सभी विषयों का प्रकाशन किया है जो उनके मनोभाव में अविरल रूप से प्रवाहित हो रहा था। शबीना बेगम ने ''सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण'' नामक अपने लेख में उत्खनन से प्राप्त कलचुरि शासकों के मुद्राओं का भली प्रकार विवरण प्रस्तुत किया है, जो महत्वपूर्ण है। Dr. Sandeep Chaudhary ने "Chalcolithic culture in Sarynpur region of Uttar Pradesh" में वह समस्त तथ्यों की जानकारी साझा की है, जो उत्तरप्रदेश के क्षेत्र विशेष को प्रकाशित करते हुए सम्पूर्ण प्रदेश की संस्कृति को सुवासित कर पाने में पूर्ण सक्षम है। एस. कुमार और डॉ. सपना शर्मा सारस्वत के लेख ''ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन'' में वर्तमान को दृष्टिगत रखकर अच्छा व संतुलित रूप से समसामयिक विचारों का प्रतिपादन है। निश्चय ही आपके लेख आज के कृषि तकनीक को श्रेयस्कर बनाने में सर्वथा योग्य है। डॉ. सरिता साहू ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ के मौखिक स्त्रोतों में गांधी दर्शन'' के माध्यम से अपने विचारों को विषयानुकूल बनाया है। आपके लेख निश्चय ही बेहतरीन है। "Going Beyond the langnge Dilemma a study of poile Sengypta's Keats was a tuber" नामक लेख के लेखक Satya prakash prasad & Dr. shiv kumar ने तत्संबंधी विचारधारा को बखूबी अपनी लेखनी से मूर्त्त रूप प्रदान करने में सफलता अर्जित की है। यह निश्चय ही प्रशंसनीय है। "Negotiating marginalities heder Sexmality and Disability in marginalita with a Strawand Barfi" नामक अपने लेख में Dr. Satya prakash prasad, Anisha kaul & Abhishek Jha ने संयुक्त रूप से अपने विषय के अनुरूप विचारधारा को सापेक्ष एवं उत्तरोन्मुखी बनाया हैं। विषय की सार्थकता एवं लेखनी की विशिष्टता आलेख में झलकती है। Shital Kumar ने अपने लेख – ''पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान'' के सन्दर्भ में अपने विचारों को विषयानुकूल सुव्यवस्थित किया है। जिससे आपकी लेखनशैली की विशिष्टता सामने आ गई है।

"Varanasi- An Iconic Culture Heritage City of India : Exploring its Cultural Heritage Tomism post covid pandemic" नामक लेख में लेखिका Shipra Singh Chauhan ने अपनी बेहतरनी साभ्यता व सुन्दर शब्दों के संयोजन के लक्ष्य को पूर्ण किया है। डॉ. श्रुति अम्बेश चन्द्र ने अपने लेख ''लोककला को समर्पित कलाकार'' श्री ज्योति भट्ट'' में उक्ताशय के विचार रखते हुए ज्योति भट्ट के योगदान को अविष्मरणीय बताया है। जो उचित एवं समसामयिक भी है। डॉ. श्रुति कश्यप ने अपने लेख ''वर्तमान शिक्षा में संगीत शास्त्र की

सहभागिता के अन्तर्गत अपने विचारों का प्रस्तुतिकरण किया है। शुचि ने ''दीदारगंज चामरधारिणी यक्षी नामक अपने लेख में अत्युत्तम लेखनी चलायी है। जो ज्ञानवर्द्धक और मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले है। ''छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना'' के माध्यम से डॉ. शुभ्रा रजक ने त्रिदेवों में स्थान प्राप्त ब्रह्मा जी की प्रतिमाओं का अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। "The oppression Faced by Female characters in annpetry's Novel "The Street" नामक अपने लेख में Shweta Mour & Ashok Singh Rao ने The Street उपन्यास के नारी पात्रों के गुण धर्म का सटीक एवं प्रभावपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। डॉ0 सुधीर उपाध्याय ने अपने ''नव उत्खनित स्थल जमराव : एक अध्ययन'' के माध्यम से जमराव की पुरातात्विक सम्पदा एवं उनके महत्व पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है, जो महत्वपूर्ण है।

सुमन साहू ने अपने लेख ''मंगरोहण : आदिवासियों का विवाह मण्डप'' की अच्छी एवं मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। यह परम्परा छत्तीसगढ़ के ग्रामीण समाज में सर्वत्र ही प्रचलित है और सिर्फ आदिवासियों तक ही सीमित नहीं है। ''प्राचीन भारतीय लोक जीवन में अग्नि : एक अध्ययन'' के तहत् डॉ. सुनील कुमार ने प्राचीन काल से लेकर आज तक के मानवीय जीवन में अग्नि के महत्व को प्रतिपादित किया है, जो उल्लेखनीय है। डॉ. तनुजा सिंह एवं रूकैया खानम ने ''जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तन शील स्वरूप'' के सन्दर्भ में राजस्थान के जयपुर क्षेत्र में प्रचलित पॉटरी अलंकरणों पर व्यापक प्रकाश डाला है जो प्रशंसनीय एवं अवलोकनीय है। Dr. TirthRaj Bhoi ने अपने लेख "Environment in India : A Study of Continuity and Change of forst in Dandakaranya के परिप्रेक्ष्य में दण्डकारण्य क्षेत्र में परिवर्तनशील पर्यावरणीय स्वरूपों पर विस्तार पूर्वक विचार किया है जो सराहनीय है। इससे बस्तर के इस क्षेत्र में स्थित पर्यावरण की हर पहलू की जानकारी प्राप्त हो जाती है। डॉ. उमेंद कुमार चन्देल ने अपने लेख ''संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार'' में अच्छा मार्ग दर्शन प्रस्तुत किया है कि आज प्रतियोगीशील युग में हम किस प्रकार स्वयं को योग्य बनाकर सफलता का अनावरण कर सकते हैं। ''मॉटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्णलीला स्तम्भ : एक अध्ययन'' के माध्यम से विनय कुमार ने उत्तर प्रदेश स्थित उक्त क्षेत्र से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्णलीला स्तम्भ के अंकित प्रत्येक दृश्यों का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है जो अवलोकनीय है। "An overview of Suggestive Resonance As Dhvani in India Arts Till the Mughals" में वरिज खन्ना एवं प्रो. लवनीश शर्मा ने तत्संबंधी अध्ययनों को मूर्त्त रूप प्रदान किया है जो अध्ययन की दृष्टि से अति उपर्युक्त एवं ज्ञानवर्द्धक है। विधा सिंह ने अपने लेख ''छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में राम'' के माध्यम से छत्तीसगढ़ प्रदेश में प्रचलित श्रीराम के जीवन दर्शन को बहुरंगी रूपों में चित्रित किया है जो बहुत मनोरम एवं पठनीय है। विशाल कुमार ने अपने लेख ''कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली अंग भंगिमा'' के तहत् तत्सम्बन्धी विवरणों को क्रमबद्ध रूप से सुसज्जित किया है जो उपयोगी है।

कला–वैभव के प्रकाशन में प्रारंभ से लेकर पूर्णता प्राप्त होने तक सहयोगी डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी ने पूर्ण समर्पण एवं जिम्मेदारी के साथ सहयोग प्रदान किया है। इनके सहयोग को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। अस्तु डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी को कोटिशः धन्यवाद देते हुए आभार व्यक्त करता हूँ। संस्कृत की प्रतिष्ठित विदुषी डॉ. पूर्णिमा केलकर बहन ने भाषागत त्रुटियों को दूर करने में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में महती सहयोग दिया हैं, अतएव इन्हें भी कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। अल्प समय में स्वच्छ मुद्रण हेतु छत्तीसगढ़ पाठ्य पुस्तक निगम, रायपुर को धन्यवाद प्रेषित करता हूँ। अंत में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में जिनका भी तृण मात्र सहयोग परोक्ष और अपरोक्ष रूप से प्राप्त हुआ है और मानवीय भूल वश उल्लेखित नहीं हो पाया हो उन्हें भी मैं साधुवाद देता हूँ।

शुभमस्तु

श्री शुभ संवत् 2080 (पिंगल नामाब्दे)
आषाढ़ शुक्ल पक्ष द्वितीया (श्री रथयात्रा 20.06.2023)

(डॉ. मंगलानंद झा)
प्रधान सम्पादक

त्रिपुरान्तक, घटियारी
(जिला–खैरागढ़–छुईखदान–गंडई)

देदीप्यमान लोक कलाकार डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर

डॉ0 मंगलानन्द झा

सत्यं शिवम् सुन्दर की अनुभूति ही कला है। इस कला की अभिव्यक्ति का प्रमुख आधार कलाकार होता है, जो साक्षात् ईश्वर का स्वरूप है। रसिकों एवं साहित्यकारों ने जिस ब्रह्मानंद अनुभव की चर्चा की है, वह कलाकार की कला से साक्षात् अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः कलाकार की कला तो स्वयं ही बोलती है, वह किसी के द्वारा परिचय की अपेक्षा नहीं रखती। यदि कला लोक में रची–बसी है तो मिट्टी की सौंधी सौंधी सुगन्ध को लेकर कला की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती की कृपा से वह कलाकार उस कला का रस सर्वत्र प्रसारित करता है। कलाकार में ही कला बसती है, जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री का लावण्य उससे पृथक नहीं हो सकता उसी प्रकार कलाकार की कला उससे अलग नहीं हो सकती। अपनी मधुर आवाज का रंग भरते हुए शब्दों के उस केनवास पर सुर और ताल का सुन्दर चित्र अंकित करने वाला कलाकार धन्य है जिसके रोम रोम में सुर लहरियाँ जल प्रवाह की भांति अनुश्रुत है। वस्तुतः कलाकार का शरीर तो एक गात्र वीणा है जिसके रोम उस वीणा के तार हैं जिससे अत्यन्त स्वभाविक स्वर लहरियाँ अनुगुंजित होती हैं, जो सहज भाव से लोककला को व्यक्त करती है। इसी तारतम्य में छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला से नवाजे गए लोक–गायिका डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (सम्प्रति कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़) की तपस्यारूपी साधना ने छत्तीसगढ़ को एक लोक तीर्थ के रूप में पहचान दिलायी है।

कलाकार अनगिनत जानकारियों का एक जीता जागता खजाना होते हैं । यदि उनके अनुभवों का विस्तार निजी जीवन तक ही सीमित न हो, तो उनके संस्मरण एवं उनकी जीवन दर्शन, समाज की ऐतिहासिक घटनाओं के महागाथा की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं। यह वह अनुभव होते हैं जिन्होंने दुनियाँ, समाज में नया अध्याय रचा हो, जीवन के नये प्रतिमान गढ़े हों और संस्कृति को नया विस्तार देती रही हों । ऐसे ही संस्मरणों की समृद्ध दुनियां रची–बसी है, डॉ0 मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर की स्मृतियों में जिसे वे खुले हृदय से अपने इष्ट मित्रों और शोधार्थियों के बीच बांटते हैं।

डॉ. मोक्षदा चन्द्राकर छत्तीसगढ़ी लोकगीतों के गायन के क्षेत्र में एक हस्ताक्षर हैं जो किसी परिचय के मोहताज नहीं है। आपका जन्म दुर्ग में 3 दिसंबर 1958 को श्रीमान दाऊ महासिंह एवं श्रीमती दयाबाई चन्द्राकर के यहॉ हुआ था। आपके पिता जी भी स्वयं एक कलाकार होने के साथ–साथ कलाकारों के संपोषक थे। राज्य ही नहीं अपितु देश के अन्य क्षेत्रों के विविध कलाकार आपके यहॉ पहुंचते थे और उस समय के दिग्गज कलाकारों और साहित्यकारों की महफिल जमा करती थीं। तत्कालीन समय में ऐसा कोई कलाकार नहीं था जो छत्तीसगढ़ आये और दाऊ जी से न मिले। हर दिन कलाकारों का मजमा लगा रहता था। चर्चा के दौरान आपने बताया कि आपके घर का चूल्हा कभी नहीं बूझता था, पता नहीं किस वक्त कौन से कलाकार का आगमन हो जाय इसलिए पूरे समय जलते रहता था। उन दिनों की याद करते हुए डॉ0 मोक्षदा जी कहती है कि कलाकारों का सानिध्य मिलना सौभाग्य की बात है लेकिन कभी–कभी बड़े कलाकारों के समक्ष अपने कला को प्रदर्शित करना कठिन हो जाता है। आप बताती है कि 1975 में मशहूर तबला वादक निजामुद्दीन खॉ साहब का एक कार्यक्रम में दुर्ग आगमन हुआ था। कार्यक्रम समाप्ति के बाद रात्रि 1 बजे खॉ साहब दाऊ जी के घर पहुॅचे। स्वागत सत्कार के बाद दाऊ जी ने ममता जी को नींद से जगाकर निजामुद्दीन खॉ साहब को गाना सुनाने के लिए कहा। आधी रात को नींद से जागकर आपने कुछ पुराने फिल्मी गीत सुनाये जो निजामुद्दीन खॉ साहब को बेहद पसंद आया और दाऊ जी से कहा कि यह आगे चलकर अच्छी गायिका बनेगी, जो आज सच साबित हुआ है, जबकि बचपन में ममता जी की रुचि नृत्य में थी।

माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति सुश्री अनसुईया उइके जी से सौजन्य भेंट

डॉ0 मोक्षदा व श्रोताओं के बीच प्रसिद्ध नाम ममता चन्द्राकर जी 9 वर्ष की आयु से ही बड़े बड़े मंच पर कार्यक्रम की प्रस्तुति प्रारंभ कर चुकी थी। आपके पिता श्रीमान दाऊ महासिंह जी आपको एक श्रेष्ठ

लोक–गायिका के रुप में प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। समय के साथ चलते हुए ममता जी ने अथक परिश्रम से पिता जी के स्वप्न को पूरा किया और आज आपके गाये हुए गीत जनता के बीच काफी लोकप्रिय है। श्रीमान दाऊ महासिंह जी ने 1974 में छत्तीसगढ़ की लोककला और संस्कृति को समर्पित मंच ''सोनहा बिहान'' का गठन किया। यह नाम डॉ0 नरेन्द्रदेव वर्मा की पुस्तक ''सुबह की तलाश'' का छत्तीसगढ़ी अनुवाद था। छत्तीसगढ़ का राज्यगीत – ''अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार, इन्दरावती हा पखारय तोर पंइयां'' इस गीत को सर्वप्रथम ममता जी ने अपनी मधुर स्वर में लोगों के बीच प्रस्तुत किया। सोनहा बिहान कार्यक्रम का शुभारंभ अरपा पैरी के धार वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्यगीत से होता था। डॉ0 ममता जी बताती हैं कि पहली बार स्टेज पर इस गीत को प्रस्तुत करने के लिए आपने दिन–रात मेहनत की थी। अत्यधिक रियाज के कारण आपका गला बैठ गया था फिर भी हिम्मत के साथ गीत प्रस्तुत किया। प्रस्तुति के बाद आप दुखी मन से रोने लगती है यह सोचकर कि शायद गीत की प्रस्तुति ठीक नहीं थी। लेकिन शायद ममता जी को उस समय अंदाजा नहीं था कि इस गीत ने उन्हें रातों रात स्टार बना दिया। श्रोताओं और जनता ने आपके मधुर स्वर को चाहते हुए छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला की उपाधि से विभूषित किया जो एक कलाकार के लिए उनके प्रशंसकों के द्वारा दिया गया एक अनमोल तोहफा होता है। इसके बाद आपने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा और उतरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती गईं।

वर्तमान छत्तीसगढ़ का राज्यगीत अरपा पैरी के धार 15 वर्ष की आयु में आकाशवाणी रायपुर से पहली बार आपके स्वर में प्रसारित हुआ था। ''सोनहा बिहान'' मंच से आपको काफी प्रसिद्धि मिली और छत्तीसगढ़ के साथ–साथ अन्य राज्य के लोग आपको लोक गायन के लिए जानने लगे। आपके स्वर में 'अरपा पैरी के धार..' काफी मशहूर हुआ। लोकगीतों को सहज रूप से मधुर स्वर में प्रस्तुति करने के कारण श्रोताओं से छत्तीसगढ़ की स्वर कोकिला की उपाधि से बहुत पहले ही विभूषित हो चुकी थी।

1983 में आकाशवाणी रायपुर में कार्यक्रम अधिकारी के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। आकाशवाणी में जिम्मेदारी से भरे महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन की वजह से आपके पास समय की कमी होने के बावजूद छत्तीसगढ़ की संस्कृति को प्रचारित–प्रसारित करने में अपना महत्वपूर्ण व बहुमूल्य योगदान देती रही।

आपका पहला एलबम ममता के मया, दूसरा चिन्हा और तीसरा सुरता इससे आपकी ख्याति में चार–चाँद लग गया। इसी बीच दूरदर्शन पर ममता का नया एलबम लोकरंजनी आया जिसमें आपके गाये गीत

''तोर मन कइसे लागे राजा'' काफी लोकप्रिय हुए। आपकी 100 से अधिक एलबम है। आप बड़े ही सहजभाव से कहती हैं कि – मैं आज तक गिनती नहीं की है। केवल लोकगीतों को प्रस्तुत करने का काम किया है। आपका पहला छत्तीसगढ़ी फिल्म ''श्री प्रेम चन्द्राकर द्वारा निर्देशित – ''मया दे दे मया ले ले'' में पार्श्व गायिका के रूप में प्रस्तुति दी। इस फिल्म को जनता ने भरपूर आर्शीवाद दिया।

''तोर मन कइसे लागे राजा महल भीतरी म'' इस गीत ने मोक्षदा जी को स्टार गायिका के रूप में पुनः स्थापित कर दिया। आप 8–9 फिल्मों में प्रमुख पार्श्व गायिका रही है। लोक गायिका होने के साथ–साथ आप एक अच्छी अभिनयकर्ता भी है। क्षितिजरंग शिविर मंच के तले ''अंधेरे के उस पार'' नाटक में अभिनय किया। जिसे काफी सराहना मिली। आपने छत्तीसगढ़ के विभिन्न पर्व जैसे– गौरा–गौरी, बिहाव गीत, जस–पचरा, देवी गीत इत्यादि विधाओं से संबंधित लोकगीतों को अपने स्वर में प्रस्तुत करने मे कामयाब रही है।

''अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार'' एवं ''काबर समाये मोर बैरी नैना म'' आपके सर्वाधिक प्रिय गीत है। ''चंदैनीगोंदा'' मंच भी आपको काफी आकर्षित किया। फिल्म ''मया दे दे मया ले ले'' आपको अत्यधिक प्रिय है। ''सोनहा बिहान'' के बाद 2009 में अस्तित्व में आये ''चिन्हारी'' लोकप्रिय है। श्रीमती ममता चन्द्राकर एवं दाऊ श्रीमान प्रेम चन्द्राकर जी द्वारा इस मंच के माध्यम से छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोकगीतों को संरक्षित एवं संवर्धित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।

चर्चा के दौरान आपने बताया कि श्री केदार यादव जी छत्तीसगढ़ी गीतों की ओर आकर्षण दिलाया और पिता श्री दाऊ महासिंह, केदार कश्यप आपके प्रेरणा स्रोत है तथा छत्तीसगढ़ी लोकगीतों एवं फिल्मांकन में श्रीमान दाऊ प्रेम चन्द्राकर जी का भरपूर सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। सच पूछा जाय तो मेरी कामयाबी में श्री प्रेम चन्द्राकर जी का बहुत बड़ा योगदान है।

छत्तीसगढ़ी गीतों में अश्लीलता के सवाल पर आपने कहा कि यह स्थायित्व नहीं है। फिल्म बनाना विशुद्ध व्यवसाय है। निर्माता जब पैसा लगाता है तो उन्हें कमाई की भी अपेक्षा होती है। इसलिए उन्हीं गीतों को रखा जाता है जो हाथों–हाथ बिक सके। किन्तु इसमें स्थायित्व नहीं है। आनंद और गौरव तो पारम्परिक लोकगीतों में है।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों एवं संस्कृति के क्षेत्र में आपके महत्वपूर्ण योगदान को देखते हुए 2012 में लोककला सम्मान – ''दाऊ मंदराजी सम्मान'' छत्तीसगढ़ राज्योत्सव में महामहिम राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी द्वारा प्रदान किया गया। 2013 में ऑल इंडिया रेडियो से टॉपग्रेड प्राप्त हुआ। 2014 में लोक कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ द्वारा मानद डी.लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। 2016 में पद्मश्री सम्मान से नवाजा गया। हाल ही में 2019 में नामित संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार 2023 में माननीय राष्ट्रपति द्वौपदी मुर्मू द्वारा प्रदान किया गया।

छत्तीसगढ़ के विभिन्न पर्व संस्कार, देवी–देवता एवं अलग–अलग प्रकार के 100 से अधिक एलबम हैं, जिसमें गीतों को आपने स्वर दिया हैं। जो यू–ट्यूब पर काफी पसंद किया जा रहा है। अंत में छत्तीसगढ की स्वर कोकिला मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित) इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) की कुलपति ने कहा कि लोकगीतों का मूलरूप से संरक्षण हो तथा आगत पीढ़ी को यहां की मिट्टी संस्कार से जुड़े गीतों के लिए प्रेरित करने का प्रयास हो। कोशिश है कि लोग अपने जड़ों से जुड़े। विद्यार्थियों को संदेश देते हुए आपने कहा कि कलाकार बनने के लिए कड़ी मेहनत, धैर्य, लगन और उचित मार्गदर्शन आवश्यक है। इसके बिना आप किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते।

(साक्षात्कार पर आधारित)

श्री मंदरा जी सम्मान, (06 नवम्बर, 2012) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

मानद डी.लिट् (2014) की उपाधि प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

महामहिम राष्ट्रपति श्रीमान प्रणव मुखर्जी जी से पद्मश्री सम्मान, (12 अप्रैल, 2016) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

महामहिम राष्ट्रपति सुश्री द्रौपदी मुर्मु जी से संगीत नाटक अकादमी सम्मान, (23 फरवरी, 2023) प्राप्त करते हुए मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर जी

देवगढ़ का दशावतार मंदिर

डा. अमित कुमार

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही धार्मिक दृष्टि से सदैव सम्पन्न देश रहा है जिसकी पुष्टि समय-समय पर लिखे जाने वाले अनेक महान धार्मिक ग्रंथों से होती है। सर्वप्रथम आदिम मानव ने ही प्राकृतिक शक्तियों को दैवीय नाम दिया तथा दैवीय शक्ति के रूप में स्वीकार करना प्रारंभ किया। तब उसने इन रहस्यात्मक गतिविधियों को नियंत्रित करने वाली सर्वोच्च सत्ता की कल्पना की। तत्पश्चात धीरे-धीरे इन्ही पारलौकिक शक्तियों के प्रति मानव ने स्वयं के प्रति भी कोई उत्तरदायित्व महसूस किया यथा इन्हीं शक्तियों की पूजा-अर्चना तथा उपासना इत्यादि। कालांतर में मानव ने इन्हीं शक्तियों की उपासना करने के लिए ध्यान, पूजा, यज्ञ तथा सामूहिक साधना का उपयोग करना प्रारंभ किया। इन्ही साधनों में सामूहिक साधना के लिए प्राचीन काल में लोग किसी विशेष स्थल में एकत्रित होकर अपने इष्ट की उपासना करते थे।

प्राचीन काल में मंदिर के उदभव से पूर्व लोग अपनी धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए किसी एक निश्चित स्थान पर इकठ्ठा होकर एक ही वेदी पर खड़े होकर ईश्वर अथवा अपने आराध्य देव के प्रति अपना समर्पण भाव व्यक्त करते थे। इसके अतिरिक्त लोग यज्ञ के द्वारा भी ईश्वर और प्रकृतितत्त्वों का आह्वान और प्रार्थना करते थे। वैदिक काल में वैदिक ऋषि जंगल के अपने आश्रमों में ध्यान, प्रार्थना और यज्ञ करते थे। लोक जीवन में मंदिरों का महत्व उतना नहीं था जितना आत्मचिंतन, मनन और शास्त्रार्थ का था। किंतु कालांतर में धीरे-धीरे यही विशेष स्थल मंदिर का आकार लेने लगे यद्यपि प्राचीन मंदिर वर्तमान मंदिरों की अपेक्षा भव्य, विशाल तथा अलंकृत नही होते थे।

इसमें कोई संदेह नही कि प्रारंभिक मंदिरों का उदभव बौद्ध विहारों से प्रभावित था। प्राचीन काल में बौद्ध मठों को बौद्ध अनुयायियों द्वारा साधना के लिए एक परंपरागत आदर्श स्थान माना जाता था जिनकी छत चपटी तथा इनमें गर्भगृह होता था। आगे चलकर यही तत्व प्राचीन भारतीय मंदिरों के निर्माण के आधार रूप बने। कालांतर में प्राचीन मंदिरों में रूप विधान की कल्पना की गई और तात्कालिक कलाकारों ने मंदिरों को साकार रूप प्रदान करने के साथ ही मंदिरों को एक देहरूप में स्थापित किया। इस प्रकार स्तूपों की प्रेरणा से स्तूपों की ही भांति खुले गर्भगृह वाले मंदिरों की स्थापना की गयी। इस शैली में निर्मित मंदिरों को 'एडूक मंदिर' कहा गया जिसकी संरचना मूलतः सीढ़ीनुमा होती थी जिसके शीर्ष पर मूर्ति की स्थापना की जाती थी। चौथी शताब्दी में भागवत धर्म के अभ्युदय के पश्चात (इष्टदेव) भगवान की प्रतिमा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत की जाने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि सर्वप्रथम वैष्णव मतानुयायियों ने मंदिर निर्माण की योजना पर कार्य करना प्रारंभ किया। सांची का दो स्तंभयुक्त कमरे वाला मंदिर गुप्तकाल में बने हुए मंदिरों के प्रथम चरण का माना जाता है। परवर्ती कालों में गुप्तकाल में वृहद्स्तर पर मंदिरों का निर्माण किया गया जिनमें वैष्णव तथा शैव दोनों धर्मों के मंदिर सम्मिलित हैं।

साहित्यिक दृष्टि से भारतीय साहित्यिक कृतियों में मंदिरों के लिए देवालय, देवतुल्य, देवकुल इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन साहित्यिक स्त्रोतों में मंदिर का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इसके अतिरिक्त शांखायन स्त्रोत सूत्र में प्रासाद को दीवारों, छत तथा खिड़कियों से युक्त कहा गया है।

देवगढ़ का परिचय

देवगढ़ वर्तमान में उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में बेतवा नदी के दाहिने तट पर ललितपुर जिला मुख्यालय से 33 किलोमीटर दूरी पर तथा 24°32‘ उत्तरी अक्षांश तथा 78°15‘ पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। गुप्तकाल में देवगढ़ नामक शहर का बसाव ऐसे महत्वपूर्ण स्थान पर किया गया था जहां से अधिकांश राजमार्ग गुजरते थे तथा ये राजमार्ग सांची, उज्जैन, झांसी, इलाहाबाद, पटना तथा बनारस इत्यादि स्थानों को जोड़ते थे। देवगढ़ क्षेत्र में प्रचलित स्थानीय मान्यता के अनुसार देवपति और खेव (क्षेव) पति नामक दो जैन धर्मावलंबी भाइयों ने देवगढ़ का किला बनवाया तथा देवगढ़ शहर बसाया[1]।

दशावतार मंदिर

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का मंदिर है जो कि गुप्त युग के मंदिरों में यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊंचे चबूतरे पर बीच में बने हुए इस मंदिर के गर्भगृह में चार द्वार है, जिनके प्रस्तर स्तंभों पर बहुत ही सुन्दर मूर्तियां बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से अंकित की गयी हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मंदिर के ऊपर शिखर भी व्याप्त है। भारत के आधुनिक मंदिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है किंतु गुप्तकाल के प्रारंभ में जो मंदिर निर्मित किये गये थे, उनकी छत चपटी होती थी और मंदिर के ऊपर शिखर नही रहता था। गुप्तकाल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण शुरू हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर संभवतः भारत में सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्व है[2] । सत्यनारायण दूबे के अनुसार देवगढ़ तथा भीतरगांव के मंदिर एक अन्य वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इनमें चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है। उपर्युक्त दोनों मंदिरों का रचनाकाल छठवीं शती ईस्वीं का है। देवगढ़ में दशावतार का पाषाण मंदिर एक चौड़ी आधार पीठिका पर बना है जिस पर पहुंचने के लिए चारों ओर सीढ़ियां बनी हैं। इस कुर्सी की दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट लगे हैं जिनमें से कुछ रामायण संबंधी तथा कृष्ण लीला संबंधी भी हैं। गर्भगृह की तीनों सादी दीवारों पर अत्यन्त कलापूर्ण शिलापट्ट जड़े हैं। इनमें नरनारायण तथा गजउद्धार के दृश्य विशेष प्रभावोत्पादक हैं[3] ।

मंदिर-विन्यास

इस मंदिर का निर्माण 4वीं से 6वीं शताब्दी के मध्य में किया गया है जिसका उल्लेख देवगढ़ में पाए गए शिलालेखों में किया गया है जोकि गुप्त लिपि में अंकित है। दशावतार मंदिर का निर्माण लगभग 9 फीट ऊंचे चबूतरे पर किया गया है जिसे कुछ विद्वानों ने मंदिर की नींव माना है। मंदिर में प्रवेश करने के लिए चार सीढ़ियों का निर्माण किया गया है। ऊंचे शिखर वाले उत्तर भारत के संभवतः प्रथम मंदिर की ऊंचाई लगभग 45 फीट अनुमानित की गयी है। मंदिर के गर्भगृह

के प्रवेश द्वार पर गंगा तथा यमुना की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। मंदिर के गर्भगृह में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित है तथा मंदिर के गर्भगृह के सामने ही एक मंडप के अवशेष विद्यमान है। मंदिर के गर्भगृह की दीवारों तथा उसके पीछे वाली दीवारों पर भगवान विष्णु के जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित दृश्य भी अंकित किये गये हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की पंचायतन शैली में निर्मित दशावतार मंदिर की कला के संदर्भ में पुरातत्विद स्मिथ ने अपना मत यह कहते हुए प्रकट किया है कि देवगढ़ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है। मंदिर की दीवारों पर लगे हुए तीन प्रस्तर फलकों में एक फलक पर गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है। दक्षिण दिशा की ओर के फलक पर शेषशायी विष्णु की प्रतिमा का अंकन किया गया है जिसमें चतुर्भुजी भगवान विष्णु शेषनाग के फनों की छाया में लेटे हुए हैं, लक्ष्मी जी उनका चरण दबा रही हैं। आकाश से इन्द्र, शिव इत्यादि देव बड़े ही श्रद्धापूर्ण भाव से इस लीला को देख रहे हैं। इस प्रतिमा के नीचे ही पांचों पाण्डवों तथा द्रौपदी का सुंदर अंकन किया गया है। इसी प्रकार तीसरे प्रस्तर फलक पर बद्रिकाश्रम का दृश्य अंकित है जिसमें शेर व हिरण को साथ-साथ तपोभूमि में विचरण करते दिखाया गया है।

गर्भगृह

देवगढ़ मंदिर के गर्भगृह का प्रवेश द्वार अत्यन्त कलापूर्ण है। उसे द्वार-रक्षकों, नदी-देवताओं आदि की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। द्वार-स्तंभों पर लता-अलंकरण आदि का आलेखन है। सिरदल की विभिन्न शाखाओं को मनोरम अलंकरणों से मण्डित किया गया। उष्णीय के मध्यभाग में चतुर्भुजी विष्णु भगवान को आसीन दिखाया गया है। मंदिर का बहिर्भाग भी पत्रावली, कीर्तिमुख आदि अभिप्रायों से सुसज्जित है। दीवारों पर शेषशायी विष्णु, नर-नारायण, गजेन्द्रमोक्ष आदि दृश्यों को अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढ़ंग से उत्कीर्ण किया गया। रामायण तथा कृष्ण-लीला के अनेक रोचक दृश्य भी प्रदर्शित है। परवर्ती देवमंदिरों में देवगढ़ के अनेक तत्त्व परिलक्षित हैं। दशावतार मंदिर गुप्तकाल का प्रारंभिक शिखर-मंदिर है[4] ।

शिखर

मंदिर का शिखर अधिक ऊंचा नही है किंतु इसमें कलात्मक क्रमिक घुमाव के कारण मोहक प्रतीत होता है। दुर्भाग्य से शिखर के निचले भाग के अवशेष ही प्राप्त हुए हैं जिससे ही मंदिर के पूर्ण शिखर का अनुमान लगाया गया है। शिखर के चारों ओर मंदिर के गर्भगृह से जुड़े हुए प्रदक्षिणा पथ की छत सपाट थी जिसके किनारों पर अनेक बड़ी तथा छोटी चैत्य खिड़कियों के भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

द्वारमंडप

मंदिर का द्वारमंडप दो विशाल स्तंभों पर आधारित था जिसके प्रवेश द्वार पर प्रस्तर की चौखट है जिस पर गंगा यमुना के साथ-साथ अनेक देवताओं की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। इस मंदिर की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इस मंदिर की आंतरिक तथा बाह्य भित्तियों पर अनेक कालों से संबंधित प्रकरणों अथवा घटनाओं का कलात्मक चित्रण किया गया है जिसमें से कुछ तो समय की धारा में नष्ट अथवा क्षतिग्रस्त हो गये किंतु कुछ दृश्य फलक आज भी लगभग अपनी

मूल अवस्था में ही प्रतिलक्षित हैं जिनसे सजीवता का दुर्लभ संयोग भी देखने को मिलता है। मंदिर की बाहरी भित्तियों पर बनी हुई अनेक विशाल पट्टिकाओं में गजेन्द्रमोक्ष, शेषशायी भगवान विष्णु इत्यादि की कलात्मक प्रतिमाओं का अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण और भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबंधित दृश्यों का चित्रण मंदिर की भित्तियों पर बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से किया गया है।

गजेन्द्र मोक्ष

मंदिर की उत्तरी दिशा वाले परकोटे में गजेन्द्र मोक्ष से संबंधित दृश्य-चित्रण है। इस दृश्य में एक कमल के सरोवर में असहाय रूप से खड़े हुए एक हाथी को एक नाग तथा नाग की कुंडलित पूंछ से मजबूती से बंधे हुए दिखाया गया है[5] जोकि अपनी कष्टप्रद स्थिति में नारायण को रक्षा के लिए पुकारते हुए प्रतीत हो रहा है। इस दृश्य में चतुर्भुजी भगवान विष्णु को गरूड़ पर विराजमान दिखाया गया है जो अपने दाहिने हाथ में गदा धारण किये हुए हैं। एक अन्य दृश्य में नाग युग्म भगवान विष्णु से हाथ जोड़कर क्षमा याचना करता हुआ प्रतीत हो रहा है जबकि संकट में पड़ा हुआ हाथी भगवान विष्णु के प्रति आभार प्रकट करते हुए अपनी ऊपर उठी हुई सूड़ से कमल के फूल चढ़ा रहा है।

नर-नारायण

पूर्व दिशा की ओर बने हुए आले में एक आश्रम में चट्टानों पर पेड़ों के नीचे बैठे नर और नारायण को तपस्यारत दिखाया गया है[6] जिनके समीप ही हिरण और शेर दिखाए गए हैं। दायीं ओर ललितासन में बैठे हुए नारायण चतुर्भुजी मुद्रा में हैं, जिनके दाहिने ऊपरी हाथ में एक माला अथवा अक्षमाला है, लेकिन निचले वाले हाथ को उनकी छाती के सामने तर्क-वितर्क मुद्रा में विद्यमान हैं। निचले बायें हाथ में एक लंबी गर्दन वाली कुप्पी धारित की गई है तथा ऊपरी हाथ में एक लंबे डंठल वाला फूल है। उनके बायीं ओर नर बैठे हुए हैं, उनके दाहिने हाथ की उंगलियों के चारों ओर एक माला के साथ अंगूठे तथा तर्जनी को स्पर्श कर रही है[7]। नर और नारायण दोनों ने अपने सिर पर अलग-अलग मुद्राओं में बालों को बांधा हुआ है, लेकिन कुछ लटें उनके कंधों पर भी गिरते हुए दिखाए गए हैं।

अनंतशायी विष्णु

दक्षिण दिशा के दीवार में बने दृश्य-पटल में अनंतशायी विष्णु या नारायण को सात फण वाले शेषनाग को सोते हुए दर्शाया गया है, जो अपने फण से विष्णु के ऊपर एक छत्र बनाते हैं। विष्णु के चरणों में बैठी हुई लक्ष्मी उनके दाहिने पैर को स्पर्श कर रही हैं। उसके पीछे भूदेवी एक चामर अथवा पंखा पकड़े हुए खड़ी है तथा उनके आगे गरूड़ श्रद्धापूर्ण मुद्रा में खड़े हुए दिख रहे हैं। चतुर्भुजी विष्णु किरीटमुकुट धारण किये हुए हैं, तथा कानों में तीन मोतियों वाले कुण्डल, एकावली, चंद्रहार तथा केयूर धारण किये हुए हैं।

रामायण से संबंधित दृश्य

इन दृश्यों में भगवान श्रीराम द्वारा लक्ष्मण तथा अपने गुरू विश्वामित्र के साथ गौतम ऋषि के आश्रम में अहिल्या का उद्धार[8], श्रीराम द्वारा अपनी पत्नी सीता तथा भ्राता लक्ष्मण के साथ वनगमन, श्रीराम द्वारा लक्ष्मण तथा सीता के साथ ऋषि अत्रि के आश्रम की यात्रा, लक्ष्मण द्वारा पंचवटी आश्रम में शूर्पणखा का अंग-विच्छेदन, दण्डक वन में अशोक

वृक्ष के पीछे से श्रीराम द्वारा राक्षसों का वध[9], रावण द्वारा पंचवटी आश्रम से सीता का अपहरण[10], राम द्वारा सुग्रीव को सुग्रीव-बालि युद्ध में माला पहनाने का दृश्य[11], लक्ष्मण द्वारा सुग्रीव को अपना वचन याद दिलाने का दृश्य[12], अशोक वाटिका में रावण द्वारा सीता को धमकाया जाना[13] तथा राम-रावण युद्ध में हनुमान द्वारा घायल लक्ष्मण के लिए मृत-संजीवनी बूटी लाने का दृश्य है[14] ।

कृष्ण से संबंधित दृश्य

कृष्ण की जन्म कहानी से संबंधित दृश्य, नंद और यशोदा द्वारा कृष्ण और बलराम के प्रति प्रेम प्रदर्शन, नंद की मूर्ति पर कृष्ण द्वारा प्रेम प्रदर्शन, कृष्ण द्वारा मथुरा के शासक कंस का वध[15], कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ किया जाने वाले रास का दृश्य तथा कृष्ण द्वारा अपने मित्र सुदामा का स्वागत जिसमें कृष्ण की पत्नी रूक्मणी द्वारा बड़े ही उत्सुकतापूर्ण ढंग से देखे जाने का दृश्य प्राप्त हुआ है।

विष्णु और उनके दसों अवतारों से संबंधित दृश्य

इस दृश्य पटल में भगवान नारायण अथवा विष्णु के दसों अवतारों को तथा उनके प्रत्येक अवतार से संबंधित घटनाओं का बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से अंकन किया गया है, यथा, वामन, नृसिंह, बुद्ध, राम इत्यादि। इसके अतिरिक्त अन्य कई पौराणिक प्रकरणों से संबंधित दृश्यफलक भी मंदिर की बाह्य तथा आंतरिक भित्तियों में उत्कीर्ण किये गये है जोकि गुप्तकालीन स्थापत्य कला के अनुपम उदाहरणों में से एक हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. द्विवेदी, महावीर प्रसाद, प्राचीन चिन्ह, प्रयाग, पृ. 72, 1929
2. विद्यालंकारसत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, पृ. 373, 1968
3.दुबे, सत्यनारायण, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, आगरा, पृ. 49, 1968
4. वाजपेयी, के. डी. , भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, पृ. 107, 1972
5.भागवत पुराण, स्कंध 8, अध्याय 2, श्लोक 25-27
6.भागवत पुराण, स्कंध 11, अध्याय 4, श्लोक 6
7.बनर्जी,जे. एन.,दि डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आईकोनोग्राफी,कलकत्ता,पृ. 278, 1956
8.ग्रिफिथ, एच., वाल्मीकि रामायण, वाल्यूम 1, पृ. 211-14
9.वत्स,पंडित माधोस्वरूप,दि गुप्त टेम्पल एट देवगढ़, दिल्ली, पृ. 17, 1952
10.ग्रिफिथ, एच., वाल्मीकि रामायण, वाल्यूम 1, पृ. 345-46
11.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 12, पृ. 39-40
12.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 31,
13.वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 12, पृ. 489
14.वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग 74
15.विष्णु पुराण, अध्याय 5, सर्ग 3

1857's Freedom fighter Late. Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.

Dr. Anand K. Bhoyar

The Sub zamindar of main zamindari of Aheri is Molampalli aka Kishnapur. It is Situated on the banks of river Vena and is sourrounded by mountains and dense forests. Maharaj Pullisurbapu Rajgond of this sub-zamindari. They had a total of four children. Among them are Baburao, the eldest son and Laxmanrao, Govindra and Venkatrao. Baburao mother's Name was Jurjakuvar. Such a Baburao was born in the village of Poti Molampalli in Jurjakuvar on 12.03.1833 from an early age, Baburao was known for his Sportmanship, Shrewdness and agility. He was playing Gilli danda, Vortex, Lapachapi with his friends. Along with shooting arrows, going to the forest and hunting deer Rajeshwarrao , in sports like wrestling, musti, dandpatta etc.

Pullisurbapu entrusted the responsibility of Baburao's education to his faithful brother Pratap Singh. He taught all kinds of things. After that Baburao grew up watching. according to the Gandi tradition he got married on March 9 , 1851 to Rajkumar , the daughter of a cousin of the Madavi family of Zamindar in Chenoor Zamindari in Adilabad district of Andhra Pradesh. After the Marriage he explained to his wife how important the country work was and he had taken it upon himself. His wife Rajkuvar also expressed her full support for that work. Around this time the flame of the war of independence of 1857 which broke out in the country, was not late , but it ignited in Baburao's heart, burdend and finally extinguished.[1]

Ready for War :-

Baburao decided to regain his freedom definitely a stumbling block like pole. But there are many obstacles along the way and a network of dangerous people around. In a very short period of time, this brave and ingenious Baburao gathered 500 armies of God and Rohile and took controll of the entire Rajgad Pargana. When the news reached Chandrapur the captain sent troops to resist. Baburao with the british army at Nandgoan – Ghosari on. On March 13-1858 there was a good fight. The English army was defeated. Around this time Venkatrao pite Rajeshwarrao Rajgod, a 45 year old deputy land lord from Ajpatti- Ghot. come to Baburao's and found him. So the number grew well. The combined force of two marched North to by ruling the people sympathetic to the British. They too refuge on the hill. The defeated English army regrouped and laid siege to the hills. The British army was then pelted with stones. In the Gadhisurla area, it is said that Baburao collected thousands of rebels wheels from the surrounding hill and village and left them on the slope of the hills to the British troops. As soon as the news of the defeat reached Chandrapur, District Collector capt. Crichton dispatched a

new army. Fighting took place at Saganapur on April 19 1858 and at Bamnapeth on April 27 1858, in both the battels Baburao And Venkatrao Won.

Salvary and the attack on Chunchgundi :-

Lord Dalhousie had made significant strides in initiating the transmission of wires in the country. But since he swallowed up many Kingdoms. People begun to think that this useful. Thing was also harmful. At that time the work of laying wires was going on in Molampalli Sub Zamindari. The wire network that was being spread in the forest area is a network of slavery. That's how the simple people there felt. Therefore a joint force of Baburao and Venkatrao attacked Chunchgundi on April 29, 1858. Telegraph operators Gartland and Hall were kill in the attack. One of his Companions, Peter Escaped. He came to Chandrapur and captain Crichton Summoned captain Shakspeare the commander of new dynasty from Nagpur with an army and gave peter a secret khalita. 1851 sent to 1866. It suggested that both Baburao and Venkatrao be arrested and that if they did not do so they would be arrested on charges of Noting the rebles and the land confiscated. The shock had the desired effect and she began casting a spell.

Caption Shakespear's detachement called from Nagpur arrived. She was immediately dispatched by the collector. A great battle took place on 10.05.1858. The English were disbanded The British got angry and confiscated the sub lands of 37 villages of Venkatrao and also capture one of his relatives Barikarao Narsimirao Rajgoud aged 65 years, Diwan Gangadhar, Trimbak Kawadkar aged 60 years and servent Wazir Ali and confiscated their estates. Traps and spread around you. Baburaos has no idea. Laxmibai's men raided Bhopalpattanam and captured Baburao in July 1858. The above incident bears a striking reseblance to the capture of Umaji Naika by his sister and the capture of General Tatya Tope by his close friend Raja Mansingh of Narwar. While taking to Aheri with handcoffs on his hands, be escaped with the help of Rohilya on Maharaja and two months went by without a hitch finally in sep 1858, Laxmibai's men recaptured it. [2]

Baburao's hanging :-

He Caputred Baburao and brought him to Chandrapur. He was prosecuted. He was charged and sentenced to death on 21.10.1858.

1. From the evidence produced, the prisoner (Baburao) is found guilty of the rebellion against the British Govt. of Having collected armed men and apposed the toops of Govt. At the villages of Ghot on the 10th May 1858 and at Bamanpeth on the 27th April 1858 of having caused his armed followers to make prisoners of two propers in the service of the British Government and

of after they were brought before him , robbing and keeping them as prisoners for about 12 days, of habing caused his armed followers to attack the camp of Mr. Gartland and Hall at chunchgundi on the 29th of April 1858, when they were both murdered and all their property taken away and in having on the 29th of April, 1858 received over from him the stolen property of the above Gartland and Hall, well knowing that it had been acquired by the murders at both Gartland and Hall.

2. The court, having found the prisoner guilty as above and taking into consideration he was the leader of the distruvanees in the district and that no cause for acting as he did, proceeds to trap in him the following sentence.

3. That you Baboorao son of poolaist Bapu be hanged by the rich until you are dead and the execution there of is ordered to take place this afternoon at 4'Oclock in the galloqs in front of the Jail at Chandha.

4. The whole of his estates of property of whatever description is hereby ordered to be condiscated.

Chandah
Dt/ 21.10.1858

W.H. Chrichton
of Dy Commissioner
and Comissioner of District
Chandah under act XIV of 18957. [3]

He was hanged in Chandrapur jail of 4.30 P.M. on the same day. Baburao's accompliees were also charged and the some were sentenced to death , some to life imprisonment and some to long term, Gangadhara Kawadkar, the Diwan of Venkatrao and Buddhir Ali a servent were sentenced to 14 years hard labour. Barikraso Narshingrao sentenced him to any two yours of hard labour . All three estates were confiscated. After the execution of veer Baburao Venkatrao Rajeshwarrao set out to keep his great deeds alive as the British army was persuing them Venkatrao left his two as Bhagwantrao and Govindrao with his daughters Sajjan Koli and took refuge in the Kamlagatta are of Aheri Zamindari After this Venkatrao want to Jaravandi range he called his children and took them to the king of Bastar. The British got the news while watching he increase the pressure on the king of Bastar to hand over Venkatrao to us He did the trick at first but in the end under pressure the Bastar king along with the Motisingh Jamadar and some troops reached Venkatrao Chandagud. He was tried and sentenced to death but Venkatrao's Mother Nagabai mediated and was sentenced to black water on May 30,1860.[4]

After the exaction of Veer Baburao 24 Villages of his sub Zamindari and 67 Villages of his sub Zamindari were confiscated and the freedom movement was irrashed of the verdict on the execution of Veer Baburao was sent to the British Government. Out of that came the award of honor to captain crichtan the collector of Chanda and I Queen Victoria also thanked peter for helping him capture Veer Baburao. But like Veer Baburao million of young enthusiastic energetic young people came forward. He tied the knot to make mother India independent his true inspiration is Veer Baburao. [5]

Reference :-

1. Major C.B. Lucie Smith M.S.C. Report on the Land Revenue settlement of the Chanda District Central Provinces. 1869.
2. Rajurkar , A. J. Chandrapur History , Second Addition.
3. Sadmek , Purushottam, 1858 K Swadinta Shahid Veer Baburao Pullisurbapu Rajgond.
4. Chandrapur Nagarpalika Shatabdhi grant, Sa. Bhu. Tu. Na. Katkar 1967.
5. Gajhetiyar of India, Maharashtra State Chandrapur , First Addition 1909.

आरंग के बाघेश्वर मंदिर की स्थापत्य कला

डॉ. अनुप परसाई,
डॉ. प्रताप पारख

आरंग छत्तीसगढ़ क्षेत्र के रायपुर जिला मुख्यालय से 34 किलोमीटर दूर स्थित है। यह नगर महानदी के तट पर स्थित है तथा प्राचीन काल से ही यह ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस नगर में अनेक मंदिर है जिनमें बाघेश्वर मंदिर का स्थान महत्वपूर्ण है।

स्थापत्य कला तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आरंग के प्राचीन मन्दिरों में भाण्ड–देउल के पश्चात् बाघेश्वर मन्दिर के उल्लेखनीय महत्व को स्वीकार किया जाता है। बाघेश्वर नामकरण का भौतिक आधार यहां संरक्षित व्याघ्र की एक प्राचीन मूर्ति जान पड़ती है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय परम्परा व्याघ्र को ही आद्य महाशक्ति (दुर्गा) का वाहन स्वीकार करती है। द्वितीय अधिकरण में बाघेश्वर नाम के प्रचलन में आने संबंधी अन्य संभावित आधार–भूत कारणों की ओर संकेत किया गया है। इस प्रसंग में यहां इतना उल्लेख कर देना यथेष्ट होगा कि व्याघ्र आदि वन्य पशुओं द्वारा पूजित शिव–पार्वती की युगल सत्ता की यहां उपस्थिति ही बाघेश्वर नामाभिधान का पौराणिक आधार माना जा सकता है।

आरंग बस्ती से पूर्वोत्तर दिशा में ढीमर पारा के पूर्वी छोर पर यह मन्दिर स्थित है। पूर्वोक्त समिया माता मन्दिर से सीधे आने पर यह उत्तर दिशा की ओर मात्र 200 मीटर की दूरी पर स्थित है। मूलतः यह मन्दिर किस धर्म सम्प्रदाय विशेष से संबंधित रहा है? इस प्रश्न को लेकर लम्बे समय तक मतभेद की स्थिति व्याप्त रही है। कुछ विद्वानों ने इसके मूलतः जैन स्थानक अथवा बौद्ध बिहार होने का अनुमान किया है। जहां तक बौद्ध धर्म से इसकी सम्बद्धता का सवाल है। ऐलेकजेन्डर कनिंघम ने इसे पूर्णतः अमान्य धारणा मानते हुए स्वीकार किया है। कनिंघम के सहयोगी बैगलर ने इसे पूर्व मध्य काल में निर्मित चौसठ योगिनी मंदिर बताया है। श्री पण्डित लोचन प्रसाद पाण्डेय ने भी वर्तमान बाघेश्वर मंदिर को चौसठ योगिनी मन्दिर स्वीकार किया है, और वे इसका सम्बन्ध पशुपति सम्प्रदाय के अन्तर्गत मत्तमयूर उपशाखा से स्थापित करते है। इसमें संशय नहीं कि यह मंदिर मकरध्वज जोगी एक शिक्षा पट पर मानोल्लेख होना भी इसकी शैव–शाक्त परम्परा से सम्बद्धता को प्रकट करता है। मुख्य मंदिर के गर्भगृह के मध्य में स्थापित मूर्ति की प्राचीनता भी इस धारणा को सम्बल प्रदान करती है।

प्रांगण के चारों और स्तम्भ धारित छत युक्त बरान्डे में आज भी संरक्षित अवस्था में पृष्ठ भित्ति से संलग्न पांच सिंहासनों की उपस्थिति है। इसको चौसठ–योगिनी मन्दिर मानना तर्क संगत जान पडता है। चौसठ योगिनी मंदिरों के प्राचीन उदाहरण खजुराहो, भेंड़ाघाट और

रानीपुर भुराल में विद्यमान है। यहां के वास्तु रुपों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनकी वास्तु योजना वृत्ताकार क्षेत्र पर की गयी है। सर्वप्रथम वृत्त के चारों और प्रवेश द्वार को छोड़कर एक ऊंची भित्ति निर्मित कर ली जाती थी, पश्चात् इस भित्ति से संलग्न लगभग डेढ़ (1.50 मीटर) चौड़ा तथा .50 मीटर से .8. मीटर की उंचाई वाला चतुर्दिक प्रवह मान चबूतरा का निर्माण कर लिया जाता है। पश्चात् इस चबूतरे के सामने की ओर स्तम्भों की रचना की जाती है। पृष्ठ भित्ति और स्तम्भ पर धारण रख दिये जाते थे। इसी तरह सभी स्तम्भ एक दूसरे से धरणबन्धों द्वारा जोड़ दिये जाते थे। इस धारणों पर आधारित छत्र का निर्माण किया जाता था। दो स्तम्भों द्वारा विभक्त क्षेत्र को एक योगिनी मूर्ति के लिए सुरक्षित स्थान माना जाता था। इस सैद्वान्तिक आधार पर निर्मित चौसठ योगिनी के सामने चारों ओर एक प्रागंण होता था। प्रागंण के मध्य में परम् उपसाय अथवा परम् गुरुतत्व के रुप में स्वीकृत शिव के लिए स्वतंत्र मंदिर की रचना की जाती थी। ये सामान्य वास्तु–लक्षण उक्त तीनों चौसठ योगिनी मन्दिरों में विद्यमान है। आरंग के विवेच्य मंदिर की वास्तु योजना परम्परागत वृत्ताकार न होकर आयताकार है, परन्तु शेष अंगों के निर्माण में वास्तु संबंधी सैद्धान्तिक एवं मान्यताओं का पूर्णतः पालन यहां किया गया है। अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर खजुराहों, भेड़ाघाट तथा रानीपुर झुराल के चौसठ योगिनी मन्दिरों का प्रत्यक्ष संबंध पशुपति सम्प्रदाय से होना सिद्ध है। यह सम्प्रदाय दक्षिण कोसल में भी लोकप्रिय रहा है और इस मत के मानने वाले साधक शिव की पूजा हट्टकेश्वर रुप में करते थे । अतः आरंग के इस मंदिर के मध्य भाग में निर्मित मुख्य मंदिर के गर्भ गृह में स्थापित शिव लिंग को हट्टकेश्वर शिव का अर्चाविग्रह माना जा सकता है। वास्तुकर्म की दृष्टि से बाघेश्वर मंदिर में निम्न वास्तु अंगों की पृथक–पृथक सत्ता स्पष्ट है –

1. पूर्वाभिमुख मण्डप युक्त प्रवेश द्वार या मुखमण्डप,
2. प्रवेशद्वार से आरंभ कर एक के बादएक चारों दिशाओं को आवृत करने वाली आयताकार भित्ति है।
3. मुख मंडप से संलग्न मुख्य प्रवेश द्वार से अंदर ही पृष्ठ भित्ति से संलग्न दो मीटर चौड़े और प्रागंण से 55 सेन्टी मीटर ऊंचे बरान्डे का निर्माण किया गया है। इस बरान्डे का विस्तार चारों दिशाओं की ओर है, इस बरान्डे तथा पृष्ठभित्ति का विस्तार पूर्व से पश्चिम की दिशा लम्बी भुजा और उत्तर से दक्षिण की दिशा चौड़ी भुजा को प्रकट करते है। बरान्डे के सामने वाले छोर पर आधार स्तम्भों की स्थापना की गयी है। हर एक स्तम्भ के ठीक सामने पृष्ठभित्ति से संलग्न स्तंभ बनाये गये है। इन समानान्तर स्तम्भों एवं कुड्य स्तम्भों के ऊपर धरणबन्ध है। इसी तरह सभी स्तम्भ चारों ओर से धरण बन्ध द्वारा परस्पर सम्बद्ध किये गये हैं।इस तरह पृष्ठाकृत छत का निर्माण किया गया है। हर दो स्तम्भों एवं उनके सम्मुखवर्ती कुड्य स्तम्भों को एक–एक योगिनी पीठ के रुप में प्रकट किया गया

है। इस तरह इस प्रकोष्ठ में पूर्व दिशा की ओर 8, पश्चित दिशा की ओर 9, उत्तर दिशा की ओर 13 और दक्षिण दिशा की ओर 13 कुल 43 देवी कक्षों का अस्तित्व प्रकट किया गया है। यह स्थिति दीर्धकाल से चले आ रहे शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों द्वारा रख–रखाव के लिए किये गये परिणामों की देन है। बहुत संभव है कि इन कक्षों में से कुछ में एक से अधिक देवी मूर्तियां रहीं हो। चौसठ योगिनी के अतिरिक्त दस महाविद्याओं के लिए भी अलग–अलग स्थान की रचना किया जाना इस विधान का अनिवार्य अंग होता है। स्तभ्भों की निर्माण शैली दसवीं शताब्दी की है। बरान्डे के छत्र के सम्मुख भाग पर हर एक कक्ष के मध्य में शैव शाक्त परम्परा से सम्बद्ध अलग–अलग प्रकार के तांत्रिक मंत्र उभार के बताये गये हैं।

योगिनी मडम्प के सामने चारों ओर सुविस्तृत खुला प्रागंण है। इस प्रागंण के मध्य में केन्द्रीय मंदिर का निर्माण किया गया है। आयताकार प्रांगण के मध्य भाग पर महामण्डप एवं विमान से युक्त विशाल मंदिर है। स्थानीय जनों के मध्य प्रचलित पारम्परिक विश्वास के अनुसार एक हजार एक सौ आठ विशाल शिला खण्ड़ों द्वारा अपुरित गर्भन्यास पर इस मंदिर का वास्तुविधान अवलम्बित है। वर्तमान में सम्मुख वर्तीय स्तभ्भाधारित मुख–मण्डप या नन्दी मण्डप से आरंभ कर गर्भगृह के विस्तार पर्यन्त एक आयताकार ऊंची जगती पर मंदिर का निर्माण किया गया है। यह जगती वास्तु कर्म द्वारा पूर्णतः ढक लिया गया है। परिणामस्वरुप जगती का अस्तित्व सचक लक्षण सामान्य दृष्टि से देखने पर कहीं भी गोचर नहीं हो पाता। मंदिर का वास्तुविधान भी मुखमण्डप से आरंभ कर गर्भगृह पर्यन्त एक आयताकार गर्भन्यास कर आश्रित रहा है। इस मंदिर के सामान्य निरीक्षक मात्र से इस धारणा को बल प्राप्त होता है कि अपनी पूर्णावस्था में इसका वास्तुस्वरुप अत्यन्त चिताकर्षक और भव्य रहा होगा परन्तु बाद में समय समय पर किये गए जीर्णेद्वार संबंधी कार्यो तथा इसके बाह्य आवरण को नख–शिख ढके हुए चूना सीमेन्ट के वर्तमान प्लास्टर की मोटी परत ने वास्तु योजना के मूल स्वरुप, विभिन्न अंगों तथा उपांगों की जटिल संरचना से युक्त अलौकिकता की अभियंजना तथा विभिन्न अंगों पर संस्थापित उत्खचित अथवा खुन्दबन्धीय प्रविधि द्वारा रुपांकित, विविध विषयों से सम्बन्धित मूर्तियों ज्यामितिक अलंकरणों, अल्पलता अभिप्रायों, मणिमुक्ता की लणियों, तोरणों, धरों आदि के माध्यम से प्रकट किये जाने वाली भव्यता एवं अभिरामता के भाव आदि पूर्णतः ओझल हो चुके हैं। परिणाम स्वरुप इनके सम्बन्ध में प्रमाणिकता के साथ कोई निष्कर्ष निकाल पाना संभव नहीं है। दीर्धकालीन परिवर्तनों के बाद भी यहां मंदिर स्थापत्य का जो स्वरुप शेष रह गया है, उसके आधार पर इसके मूल वास्तु स्वरुप के संबंध में समकक्षीय उदाहरणों तथा समकालीन मान्यताओं के आधार पर काल्पनिक अनुमान अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

महामण्डप के अति आरंभिक स्थल से प्रारंभ कर विमान तक की वास्तु रचना पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट भासित होने लगता है कि इस मंदिर का निर्माण आदि से अन्त तक

समान ऊंचाई वाले अधिष्ठान पर किया गया है। अधिष्ठान प्रागंण के धरातल से लगभग 1.75 मीटर की ऊंचाई वाला है। इसका वर्तमान प्रकट रुप चतुर्दिक प्रवहमान तथा निश्चित ऊंचाई वाले 5 सीढ़ीनुमा उत्तरोत्तर संकुचित होते गए उपांगों द्वारा किया गया है। निसंदेह इसका यह वर्तमान रुप चूना सीमेन्ट के प्लास्टर का परिणाम है। इस अधिष्ठान के ऊपरी भाग पर कहीं–कहीं विद्यमान परस्पर भिन्न प्रकार के उभारों को देखने से स्पष्टमान होने लगता है कि अधिष्ठान के बाह्य रुप गढ़न हेतु परस्पर उन्नत–अवनत क्रम में भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार तथा नाना प्रकार के प्रचलित अभिप्रायों के अनुरुप काटे तराशे गए गोल गतकों, थरों आदि के एक पर एक संस्थापन प्रक्रिया द्वारा इस अंग का निर्माण किया गया रहा होगा।

अधिष्ठान के गोला गलों के बाह्य प्रक्षेपण अथवा अन्तः संस्तरण संबंधी निर्धारित अनुक्रम के अनुरुप ही जंघे का स्वरुप निश्चित किया गया रहा होगा। महामण्डप के कक्षासनपर्यन्त अन्तः भित्ति उर्ध्व गतिमान समतल विन्यास वाली रही होगी और अन्तः भाग की संरचना के विपरीत इसका बाह्य प्रदेश का रुप गढ़न विभान के अनुरुप ही रहा होगा साथ ही इस पर सघन शिल्पांकन रहा होगा। विमान एवं अन्तराल के जंघे को दो समानातर अंगों में विभक्त किया गया रहा होगा। इन पर विभिन्न देवी देवताओं दिक्पालों, सुर–सुन्दरियों, नायक–नायिकाओं तथा अन्य विषयों से संबंधित मूर्तियां उपयुक्त स्थानों पर जड़ी रही होगी। इनके अतिरिक्त अन्य अंगों पर भी अलंकरणात्मक अभिप्रायों का खुन्दबन्धयुक्त रेखीय संरचना की गयी रही होगी। जंघे के इन मध्यवर्ती अंगों के ऊपर शुक्र नासिकाओं के निम्नोच्च क्रम में उभरे अंग रहे होंगे, पश्चात् जंघा और शिखर को परस्पर सम्बद्ध करने हेतु मणिबंधों की रचना की गयी रही होगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. व्ही. एन. स्मिथ : इण्डियन आर्ट
2. डेबेल : आर्चीटेक्चर ऑफ इंडिया
3. फर्ग्युसन : आर्चीटेक्चर ऑफ एन्शेन्ट इंडिया
4. पर्सी ब्राउन : इन्डियन आर्चीटेक्चर
5. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला
6. डॉ. राधाकमल मुखर्जी : भारतीय कला एवं संस्कृति
7. डॉ. बुद्धप्रकाश : धर्म एवं कला
8. स्टेला क्रेमरीज : आर्ट ऑफ इंडिया
9. दि जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
10. जरनल ऑफ बिहार ओरिसा रिसर्च सोसायटी
11. दि जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी

बीजापुर से प्राप्त विशिष्ट देवी प्रतिमाए

आराधना चतुर्वेदी
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन काल से ही शक्ति की उपासना पूरे विश्व में विद्यमान है। जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा की जाती थी, ठीक उसी प्रकार शक्ति के विभिन्न रूपों की भी पूजा प्रचलन में थी। हड़प्पा से प्राप्त मृण्मयी देवी प्रतिमायें, शुंगकाल, मौर्यकाल, सातवाहन, कुषाण तथा गुप्त राजवंशों के सिक्कें मुद्राओं आदि में शक्ति के कई रूपों का अंकन इस सन्दर्भ में स्वयं सिद्ध है। वैदिक काल में उषा को देवी कहा गया है। वैदिक काल में मातृ शक्ति की उपासना की भी शुरूआत हुई। शाक्त सम्प्रदाय की कुछ प्रमुख देवियों जैसे- 'अम्बा', 'उमा' आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य में नही मिलता, लेकिन उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में 'अम्बिका', 'उमा', 'दुर्गा', 'काली' आदि की जानकारी मिलती है, जो शक्ति से सम्बंधित है। शाक्त सम्प्रदाय का विस्तृत चित्रण महाभारत के दुर्गा स्रोत एवं हरिवंश पुराण के आर्यास्तवन में किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में महिषमर्दिनी के उदय में शैव, विष्णु और ब्रह्मा के उग्र तेज का वर्णन मिलता है। शुम्भ-निशुम्भ असुरों से पीड़ित देवताओं ने देवी की स्तुति की तो पार्वती से अम्बिका उत्पन्न हुई। अम्बिका काली थी, इसलिए उन्हें कालान्तर में काली कहा गया। चण्ड-मुण्ड का नाश करने के लिए चामुण्डा आई और इस प्रकार सप्तमातृकाओं की प्रतिमायें बनने लगीं। जिनमें ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा आदि प्रमुख देवियाँ परिगणित है।

बस्तर क्षेत्र में भी विभिन्न धर्मों का प्रचार-प्रसार लगभग 5वी.शती से 13वी.-14वी. शती तक देखने को मिलता है। यद्यपि कहा जा सकता है कि उस काल में भी बस्तर में शिल्प कलाकार विभिन्न देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण करने लगे थे। बस्तर में देवी उपासना यद्यपि प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित रही है तथापि इसके ठोस प्रमाण शिल्प और अभिलेखों के रूप में 8वीं शताब्दी ईसवीं से उपलब्ध है। बस्तर में अलग अलग हिस्सों में विभिन्न रूपों में शाक्त प्रतिमायें प्राप्त हुई है। छिन्दक नागवंशी शासक सोमेश्वरदेव के कुरूसपाल अभिलेख में विन्ध्यवासिनी देवी का उल्लेख मिलता है। उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ''मणिकेश्वरी देवी'' उनकी कुल देवी थी। जो दन्तेश्वरी देवी के नाम से आज भी दन्तेवाड़ा में विद्यमान हैं, जो उनके शक्ति आस्था के प्रतीक है। कांकेर के सोमवंशी शासक पम्पराजदेव के बारहवीं शती. ई. के कांकेर ताम्रपत्र में कात्यायिनी की स्तुति की गई है। भद्रकाली ग्राम में काली का मंदिर है, जहां प्रतिवर्ष ककसाड़ समारोह उनके द्वारा देवी के सम्मान में मनाया जाता है। इसके अलावा बस्तर के छोटे डोंगर, बारसूर, दंतेवाड़ा में महिषमर्दिनी, बड़े डोंगर, दंतेश्वरी मंदिर बारसूर, मातागुड़ी भैरमगढ़ में चतुर्भुजी पार्वती, समलूर में गौरी, देवरली मंदिर की अष्टभुजी दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, भैरवी, वाराही, शिवमंदिर की चामुण्डा, समलूर में शिवा, ओड़ागांव में महिषमर्दिनी, मंडपाल जगदलपुर में पार्वती, कात्यनी, अम्बिका, इंद्राणी आदि की विभिन्न प्रतिमायें प्राप्त हुई है, जो सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

माहेश्वरी (शिवानी) :- बीजापुर के चिन्गेर नामक गाँव के जंगल से एक अद्भुत देवी प्रतिमा प्राप्त हुई है जो लम्बे समय से धरती के अन्दर दबी हुई थी | इस प्रतिमा का केवल उपरी हिस्सा दिखाई पड़ता था जिसे स्थानीय लोग शिव समझकर पूजा करते थे | शोधकर्ता द्वारा ग्रामीणों से संपर्क करके इस प्रतिमा को बाहर निकलवाया गया, जिससे पता चला कि यह प्रतिमा देवी की है | प्रतिमा विज्ञान के अनुसार पता चलता है कि यह प्रतिमा शिवानी (माहेश्वरी) की है |

सौम्य शांत मुख वाली यह प्रतिमा अर्ध बैठी हुई मुद्रा में है | मुंडो का बाजूबंद दोनों भुजाओं में प्रदर्शित है | चतुर्भुजी प्रतिमा ऊपरी हाथो में त्रिशूल तथा डमरू पकडे हुए है वहीँ निचले हाथो में खप्पर तथा कटार का अंकन किया गया है | प्रतिमा सर्पधारी जटामुकुट, कर्ण कुंडल, हारावली, पायल, कटिमेखला, कंकण आदि से सुशोभित है | नीचे उनका वाहनअंकित है | प्रतिमा के दायें तथा बाएं ओर एक-एक सर्प का अंकन किया गया है | प्रतिमा का काल लगभग 13-14 वीं शती ई. निर्धारित किया जा सकती है | यह प्रतिमा रूप मंडन शिल्प-ग्रन्थ के अनुसार निर्मित है |

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के पुरातत्त्व संग्रहालय में माहेश्वरी (शिवानी) की एक प्रतिमा स्थापित है, जो लाल बलुवा पत्थर से निर्मित है | प्रतिमा चतुर्भुजी है | इनके आयुधों में दाहिने नीचे से क्रमशः खड़ग, डमरू, त्रिशूल तथा पात्र (संभवतः मधु पात्र) प्रदर्शित है | अर्ध-निमीलित नेत्र, अंडाकार मुखमंडल, कंठहार, स्तनहार, कर्ण-कुंडल, कंगन तथा नुपूर आदि आभूषणों से सुशोभित है | देवी की यह प्रतिमा, प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है |

प्राचीनता :- शिव के द्वारा उद्भूत शक्ति का नाम माहेश्वरी है | विष्णु धर्मोत्तर पुराण में बतलाया गया है कि श्वेतवर्णी, जटाजूटधारी माहेश्वरी के पाँच मुख और तीन नेत्र होने चाहिए, वह वृषभ पर आसीन होती है | उनकी 6 भुजाएं होती है तथा दाहिनी ओर तीन भुजाओं में क्रमशः सूत्र और डमरू रहता है और एक हाथ वरद मुद्रा में होता है | बांये हाथों में शूल, घंटा और एक हाथ अभय मुद्रा में होता है | "रुपमंडन" के अनुसार माहेश्वरी को वृषभ पर आरूढ़ होना चाहिए | उसकी चार भुजाएं होनी चाहिए, जिसमे से तीन हाथों में कपाल, शूल और खट्वांग होना चाहिए तथा एक हाथ वरद मुद्रा में होना चाहिए |"**अंशुमदभेदागम**" शिव को ही माहेश्वरी रूप प्रदान करता है | "**पूर्वकारणागम**" माहेश्वरी को शिव के समान आभूषण धारण करने वाली बतलाता है |

श्लोक:- माहेश्वरी प्रकर्त्तव्यावृषभासन संस्थिता |
कपालशूलखट्वांग वरद्हस्ता चतुर्भुजा || (रूपमंडन, 55, 24)

महिषमर्दिनी:-महिषमर्दिनी की उपासना प्राचीन बस्तर में कात्यायनी, माणिक्यदेवी, विन्ध्यवासिनी, दंतेश्वरी और मावलीदेवी आदि विभिन्न नामों से की जाती थी | बीजापुर के डूड़ेपल्ली गाँव से एक महिषमर्दिनी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो त्रिमुखी है, जिसमे दाहिना मुख क्षरित अवस्था में है | प्रतिमा में दाहिनी ओर 6 भुजायें है जिसमे ऊपरी हाथ में शंख तथा सबसे निचले में त्रिशूल प्रदर्शित है बाकी भुजाओं के आयुध खंडित है | बायीं भुजाओं में उपर से नीचे की ओर क्रमशः सनाल, पद्म पाश धारण किये है | तीसरे हाथ का आयुध अस्पष्ट है तथा चतुर्थ हाथ में महिष का पूँछ पकड़े हुए प्रदर्शित है| विचारणीय है कि इस प्रतिमा में दायीं ओर 6 भुजाएं तथा बायीं ओर केवल 4 भुजाएं दिखलाई पड़ रही है, संभवतः शिल्पकार इसे 12 भुजाओं वाली बनाना चाहता था जो कि नहीं बना पाया | इनका मुख मुद्रा रौद्र है तथा आंखे अर्ध निमीलित है | देवी कर्ण-कुंडल, गले में हारावली, कटिमेखला से सुशोभित है | दायाँ पैर भूमि पर तथा बायाँ पैर महिष के ऊपर अवस्थित प्रदर्शित है | दायीं ओर उनका वाहन सिंह अंकित है |

प्राचीनता :- "अग्निपुराण" में विविध आयुधों के साथ दसभुजी सिंहवाहिनी चण्डिका द्वारा शूल से महिषासुर के वध करने का उल्लेख मिलता है | "मत्स्यपुराण" में जटाजूट और अर्धचन्द्र से युक्त दसभुजी, त्रिनेत्र धारी कात्यायनी को सभी आभूषणों से सुशोभित त्रिभंग मुद्रा में सिंह पर आरूढ़ बताया गया है | उसके दाहिने हाथ में त्रिशूल, खड़ग, चक्र, बाण शक्ति और बाएं हाथों में धनुष, खेटक, पाश, अंकुश, घंटा या परशु होता है | उसके नीचे, हाथ में तलवार और

ढाल लिए महिषासुर को दिखाया जाता है जिसके वक्ष स्थल पर देवी का त्रिशूल धंसा रहता है | उसकी ऑखें, बाल और भौंहे लाल होती है और मुख से रक्त का फव्वारा निकलता हुआ दिखलाई देता है |"रूपमंडन" में मत्स्य पुराण के विवरण को ही स्वीकार किया गया है |

सन्दर्भ सूची :-

1. मिश्र, इंदुमती, प्रतिमा विज्ञान पृष्ठ ,181-182.
2. रूपमंडन - 24 55 ,
3. श्रीवास्तव, व्रजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, 111-112.
4. संग्रहालय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय से प्रकाशित ब्रोशर
5. बिजेंद्र नाथ, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 112.
6. देवीमहात्म्य31-6-2 ,
7. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 117,20-18

1. **माहेश्वरी (शिवानी)**

.2महिषमर्दिनी देवी

छत्तीसगढ़ का भूमिज मंदिर:भोरमदेव

(परमार युगीन स्थापत्य कला का प्रभाव)

डॉ. आशुतोष चौरे

भोरमदेव अद्वितीय प्राकृतिक सौन्दर्य एवं स्थापत्य कला के लालित्य से परिपूर्ण पुरातत्वीय स्मारक स्थल है। सतपुडा पर्वत माला के साल्हेटेकरी पहाडी से निर्मित वृताकार घाटी के मध्य विस्तृत सुरम्य वनांचल में पौराणिक नामों के अधिवास की आस्था और मान्यताओं से जुडे एक प्राचीन सरोवर के समीप भोरमदेव के नाम से प्रख्यात ऐतिहासिक महत्व का भव्य मंदिर विद्यमान है । यह देवालय कवर्धा जिला मुख्यालय से 18 किलोमीटर दक्षिण – पश्चिम दिशा में स्थित है।

फणिनागवंशी शासकों के कलात्मक अभिरूचि और धार्मिक आस्था का प्रतिरूप भोरमदेव मंदिर दक्षिण कोसल के स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है। ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई. में दक्षिण कोसल के अन्तर्गत रतनपुर के कलचुरि, बस्तर के छिंदक नागवंशी और कवर्धा के फणिनागवंशी समकालीन शक्ति सम्पन्न शासक थे। मडवा महल के समीप से विक्रम संवत के जय संवत्सर 1406 (ईस्वी सन 1349) में उत्कीर्ण प्रस्तर अभिलेख प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख से फणिनागवंशी राजाओं की वंशावली तथा इतिहास पर प्रकाश पडता है। इस अभिलेख में अनन्त शेष और मिथिला से उत्पन्न अहिराज से लेकर रामचन्द्र तक कुल 24 पीढी तक के राजाओं की जानकारी मिलती है। यह अभिलेख रायपुर से संग्रहालय में सुरक्षित एवं प्रदर्शित है। जनश्रुतियों के आधार पर भोरमदेव का मंदिर छत्तीसगढ में गौडों के शासन का एक महत्वपूर्ण स्मारक माना जाता है परन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों में यह बात युक्ति संगत नहीं है। 1 इस मंदिर के ललाट बिम्ब पर विष्णु का अंकन होने के कारण कनिंघम [2] इसे विष्णु का मंदिर स्वीकार करते है । उनके अनुसार गौडो के समय में इस मंदिर में प्रतिष्ठित लक्ष्मी नारायण की प्रतिमा के स्थान पर शिवलिंग प्रतिष्ठित कर दिया गया था। लक्ष्मी - नारायण की प्रतिमा मण्डप में स्थापित है ।

दक्षिण कोसल के कलचुरिकालीन मंदिर में यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ एवं सुरक्षित है। निर्माण योजना में इसमें अर्ध्दमण्डप, सभामण्डप, अन्तराल एवं गर्भगृह आदि निर्मित है । यह मंदिर सप्तरथ योजना पर आश्रित है जिसका भू-विन्यास (ग्राउंडप्लान) ताराकृत है । निरान्धार योजना पर आधारित इस मंदिर के उत्सेध विन्यास में अधिष्ठान,जंघा, कटि, शिखर एवं आमलक दृष्टिगोचर होता है । देवालय एक सादे प्रस्तर की आधार पीठ पर निर्मित है जिसमें खुर, कर्णिका, अन्तर्पट्ट, कुम्भ आदि निर्मित है । इस मंदिर का तल विन्यास मालवा की भूमिज शैली के समान है। यह मंदिर एक समानान्तर जगती पर निर्मित है इसका पूर्वाभिमुख मण्डप से गर्भगृह तक लेटिन क्रास रेखाकृति व्दारा किया गया है । जंघा भाग तीन अलंकृत पट्टिकाओं में विभाजित है जिनमें देवकुलिकाए निर्मित है। इन देवकुलिकाओं एवं बाह्य स्तम्भों में विष्णु , शिव , चामुण्डा, गणेश , लक्ष्मीनारायण, वामन, सरस्वती, नृत्यरत गणेश, हरिहर, अर्धनारीश्वर आदि देव प्रतिमाओं के साथ नायक नायिकाएँ, नृत्यांगनांएँ व्याल मूर्तियॉ, अप्सराओं आदि का अंकन किया गया है । यह उल्लेखनीय है कि खजुराहो की भॉति यहॉ मिथुन दृश्यों की बाहुल्यता है ।

इस मंदिर का शिखर अलंकरण, शिखर आकृति के प्रतिमा रूप तथा अवयवों की अनुपातिकता के लिए विख्यात है। इस शिखर का निर्माण कैलाश पर्वत की कल्पना के आधार पर हुआ है। इस मंदिर का शिखर नीलकण्ठेश्वर मंदिर के सदृश्य यहॉ भी मुख्य शिखर के चारों ओर उरूश्रृंग निर्मित है जो शिखर भाग को अत्यन्त

कलात्मक बनाता है । इस प्रकार भोरमदेव का शिखर उसके अंगशिखरों को सन्तुलित कर निर्मित किया गया है । अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज भुवनपाल (मण्डवा महल में वर्णित आठवॉ नागवंशी राजा गोपाल देव का पौत्र था) के शिवालय के कलश को माडव के पति ने तोडा और रतनपुर का महाराज बहुराय वह संगमेश्वर का स्तम्भ ले गया ।[3]

पूर्वाभिमुख मण्डप में तीन और मुखमण्डप निर्मित है परन्तु मुख्य प्रवेश पूर्व दिशा की ओर से है। दक्षिण दिशा के अर्ध्दमण्डप में 18 पंक्तियों के लेख में इस मंदिर के कलश को तोडने का उल्लेख है साथ ही मगरध्वज जोगी 007 का लेख उत्कीर्ण है । द्वार के सिरदल पर हंस, गज एवं शार्दूल आदि का अंकन है । मण्डप वर्गाकार है। तीनों दिशाओं के द्वारों के दोनों और एक - एक स्तम्भ है जिनकी लाट अष्टकोणीय है। स्तम्भ ऊपर की ओर षोडश कोणीय है। इनके भाग में कीचक निर्मित है जो मण्डप के वितान का भार सम्भाले हुए है । इस स्तम्भों की सीध में दो विशाल स्तम्भ है। इस प्रकार मण्डप में चार स्तम्भ तथा मण्डप के चार कोनों पर चार भित्ति स्तम्भ है। इस प्रकार कुल 16 स्तम्भों पर यह मण्डप आधारित है । मण्डप का वितान शतदल कमल अभिकल्प से अलंकृत है। अन्तराल आयताकार है तथा यह अंलकरण विहीन है । गर्भगृह का प्रवेश द्वार पंचशाख युक्त है । नीचे द्वार स्तम्भ शाखा में त्रिभंग मुद्रा में शिव का अंकन है। गर्भगृह वर्गकार है जो मण्डप से नीचे की ओर है जहाँ कुछ सोपानों से उतरकर पंहुचा जाता है। सम्प्रति - गर्भगृह के मध्य में विशाल जलहरी काले पत्थर से निर्मित है जिस पर शिव लिंग प्रतिष्ठित है। यह देवालय निरान्धार प्रसाद है परन्तु डॉ. सीताराम शर्मा ने इसे सान्धार प्रासाद बनाया है । गर्भगृह का वितान शतदल कमल अभिकल्प से युक्त है। भीतरी भित्तियॉ सादा एवं अलंकरण विहीन है। यहॉ पर शिवलिंग के अतिरिक्त पंचफणयुक्त नाग, नृत्य गणपति, ध्यानमग्न योगी, उपासकदम्पति आदि प्रतिमाएं भी रखी है। इस देवालय का निर्माण 11 वीं शती ई. में कलचुरि राजा पृथ्वीदेव प्रथम के समकालीन चवरापुर के फणिनांगवंशीय छठे- षासक गोपालदेव के राजत्वकाल में हुआ था।[4]

गुप्तोतरकाल में मालवा में सीमित संख्या में ही मंदिरों का निर्माण किया गया । राजनैतिक अस्थिरता एवं सांस्कृतिक संक्रमण के कारण सम्भवतः यह स्थिति रही। परमार काल में यह स्थिति परिवर्तित हो गयी। दसवीं सदी में राजनैतिक स्थिरता आने लगी। ऐसे वातावरण का प्रभाव कला जगत पर भी पडा। मालवा का परमारकालीन मंदिर वास्तु पूर्व परमारकालीन परम्परा को ही आगे बढाता है। परमार की वास्तु दृष्टि बडी लचीली और प्रयोगशील थी। इस कारण उन्होंने जहॉ पूर्व प्रचलित शैलियों को अत्मसात किया, वहीं उन्होंने प्रचलित विधाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी किये थे। आंचलिक शैलियों को भी मान्यता प्रदान की गयी । इस बात का प्रयास किया गया कि सारे व्यवधानों के विरुद्ध परमार मंदिर वास्तु को एक स्पष्ट वैशिष्ट्य प्राप्त हो सके। इस वैशिष्ट्य की स्थापना के लिये परमारकालीन वास्तुकारों ने कुछ वास्तु मूल्यों को विकसित किया और यह अपेक्षा की कि इस दृष्टि से वास्तुकार आधारभूत मूल्यों के विषय में अनुशासन बनाये रखें।

परमारकालीन मंदिर वास्तुकला पर अत्यधिक युक्तियुक्त समीक्षा महान कला समीक्षक एवम पुराविद कृष्णदेव द्वारा की गयी है। उनके अनुसार मध्यकालीन भारतीय मंदिरों को अपराजित पृच्छा ने एक स्थान पर14 और अन्य स्थान पर 8 विभागो में वर्गीकृत किया है। समरांगण सूत्रधार 16 प्रकार के भूमिज मदिरों की चर्चा करता है जबकि अपराजित पृच्छा भूमिज मंदिरों के 25 प्रभेद बताता है। दोनों ही ग्रंथों में भूमिज मंदिर त्रिअंग, पंचाग, सप्तांग और नवांग प्रकार के बताये गये है। दोनों में वृत जाति नामक गोलाकार मंदिरों की चर्चा भी आयी है। दोनों मंदिर शिखरों

की विभिन्न भूमियों की चर्चा भी करते है। समरांगणसूत्रधार में किसी एक ही नगर में एक देवता के एकाधिक मंदिरो का प्रायः इसलिए निषेध किया गया है कि इससे अनर्थ एवम् पीडा की संभावना है।

कृष्णदेव ने समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छा आदि साहित्यिक ग्रन्थों में उल्लिखित भूमिज मंदिरों की संगति उपलब्ध परमार कालीन अवशेषों से बिठाने का प्रयास किया है । उनका मानना है कि भूमिजशैली का सबसे स्वीकरण स्टेला क्रेमरिश ने किया और उपलब्ध मंदिर अवशेषों से उसकी पहचान करने का प्रयास किया। स्टेला क्रेमरिश ने भूमिज मंदिरों केा भूमि अथवा स्थान से जन्मा बताया।[7]कृष्णदेव का कहना है कि भूमिज मंदिरों का अर्थ पूर्व प्रचलित दैविक मंदिरों से न होकर लौकिक मंदिर (किसी देवी शक्ति से न होकर स्थानीय रूप से उद्भूत) से भी हो सकता है। उन्होने एक ओर अर्थ की भी चर्चा की है। इसके अनुसार मंदिर की भूमि (अवयव विशेष) पर स्थित मंदिर को भूमिज मंदिर माने जाने का आग्रह है।[8]

मंदिर मूलतः प्रतिहार तथा परमारकाल के संधिकाल का है। इसी प्रकार उदयपुर का सन् 1080 का नीलकंठेश्वर मंदिर,महाराष्ट्र के अंबरनाथ में 1060 का अंबरनाथ मंदिर, ओंकार-मान्धाता का अमरेश्वर, राजस्थान का महावीर मंदिर आदि भूमिज शैली के प्रारंम्भिक मंदिर माने जा सकते है। भूमिज शैली प्रथम पुरातत्वीय संदर्भ कर्नाटक के कुप्पतूर स्थित कटभेश्वर मंदिर से प्रारम्भ होता है । यह अभिलेख सन् 1231 का है । एम ए ढाकी का माना है कि कर्नाटक में भूमिज शैली के मंदिर लक्कुंडी का काशी विश्वेश्वर मंदिर (1008 से 1010 ई. तक) हवेरी का सिध्देश्वर मंदिर (1068 ई.) तथा अमृतपुर का अमृतेश्वर मंदिर (1196 ई.) के रूप में देखे जा सकते है। इसी प्रकार महाराष्ट्र अंबरनाथ का अंबरनाथ मंदिर, बलसाने का त्रिदेव , षिन्नार का गोंडेश्वर मंदिर तथा नासिक जिले में झोड्गा का मंकेश्वर मंदिर भूमिज शैली का प्रभाव क्षेत्र अंकित करते है।[9] राजस्थान में कोटा जिले का रामगढ का देवी का मंदिर झालरापाटन का सूर्य मंदिर तथा चितौड जिले में स्थित मैनल का महाबलेश्वर मंदिर भी भूमिज मंदिरों की परिसीमा में आते हैं।[10] इस प्रकार हम देखते हे कि भूमिज मंदिर केवल परमार कालीन मालवा तक ही सीमित नही रहे अपितु उनका फैलाव मालवा के निकट राजस्थान, महाराष्ट्र , आंध्रप्रदेश और कर्नाटक पर भी था।

भूमिज मंदिरों की विशेषताएँ :-

साधारणतः भूमिज मंदिरों की योजना स्वस्तिकाकार तारकाकृत होती थी। भूमिज मंदिरों की योजना पंचरथ अथवा सप्तरथ होती थी। शिखर तीन, पॉच, सात, नौ, ग्यारह भूमियों के होते थे । ग्यारह शिखरों वाले मंदिर का कोई पुरातत्वीय प्रमाण नहीं मिल पाया है। इस प्रकार परमार मंदिरों की मुख्य विशेषता उन मंदिरों के शिखर है जो भूमिज शैली में निर्मित हुए । चार शंकुआकार (नुकीले) सज्जित कोण मध्य में 5 से 7 प्रतिमाएं व सन्तुलित उॅचाई उनकी प्रथम विशेषता है। परमार मंदिरों की दूसरी विशेषता है स्थायी शुकनासा, मंदिरों की वेदिकाएं चैत्य की वेदिका के समान नहीं है ।

मण्डप की छत प्रायः घंटाकृति में होती है। स्तम्भ चौकोर है। अधिक से अधिक भाग को कलात्मक उच्चादर्श द्वारा उत्कीर्ण किया गया है, और किचित गोल आकार भी बनाया गया है। मंदिर बनाने में नियमों का पालन अत्यावश्यक था। समरांगण सूत्रधार में भूमिज मंदिरों के प्रकार भी दिये गये है। (1) निषध (वर्गकार योजना पर) मलयासद्रि माल्पवाम एवम् नवमालिका (2) वृक्ष जाती कुमुद, कमल कमलोद्भव, किरण, शतश्रृंग, निग्रध एवं सर्वांगसुन्दर (3) अष्टषाल श्रवस्तिक वज्रस्वस्तिक, उदयाचल एवम् गंधमादन।

मालवा के परमारकालीन वास्तुशिल्प का संमोजन सन्तुलित शास्त्रीय मापदण्डों को लेकर विकसित होता है। मंदिरों की रूपरेखा एक प्रामाणिक वास्तु शैली के अन्तर्गत प्रादेशिक व स्थानीय भेद प्रभेदों पर आधारित थी । विग्रह विम्ब को पवित्र स्थल पर प्रतिष्ठित कर उन्मुक्त्त वातायन में खुले चत्वर, वेदिका उन्नत अधिष्ठानों स्तम्भों सोपान श्रृंखलाओं तथा कोठिक शिखरों सहित मंदिरों की रचना हुई । उन्नत दीर्घांगश्रृगों से अमृत शिखरों का विभिन्न प्रकार से अंलकृत मण्डपों में संयोजन किया गया। मंदिर के चतुर्दिक, विकासक्रम में आन्तरिक मण्डपों की विस्तार परिधि अलंकृत स्तम्भ, अन्तराल विधि तथा रशिकाएं क्रमश प्रमुख अंग बनी । वास्तु रचना के साथ-साथ शिल्प संयोजन अलंकृत अभिप्रायों व आकृति परक चित्रण में प्रस्तुत होने लगा। पूर्णीत्कीर्ण मण्डप व व्दार चौखट आंगिक दृष्टि से मौलिक पृष्ठ लक्षण है। इन मंदिरों में कोणिक शिखर के अन्तरिम पृष्ठभाग पर अलंकृत शिल्पोंत्कीर्ण चन्द्राचल महत्वपूर्ण है। इसका शुकनासाम्र भाग अपने शिल्प में अभूतपूर्ण है।

तत्कालीन देवमृहों के निर्माण के सम्मुख सभा भवन की रचना की गयी। शिल्प के लाक्षणिक प्रयोगों का स्तंभों रथिकाओं, भित्तिओं तथा व्दार पल्लवों की वास्तु विलक्षणता से संकेत प्राप्त होता है । पौराणिक कथाओं को प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण कर वास्तु वैभव को समृध्द करने की परम्परा सर्वथा मौलिक रूप में प्रस्तुत की गयी है ।[12]

परमारकालीन मंदिरों और विशेषतःभूमिज मंदिरों का सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण प्रमाण उदयेश्वर का मंदिर है। उदयपुर में उदयादित्य व्दारा नीलकण्ठेश्वर नामक महादेव मंदिर का निर्माण कार्य 1056 ई0 में प्रारम्भ किया गया । ईस्वी सन् 1080 में मंदिर पूर्णरूपेण निर्मित हुआ। उदयादित्य के ही नाम पर इस मंदिर का नाम उदयेश्वर भी मिलता है । उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार वास्तुकला का एक भव्यतम उदाहरण है। इस मंदिर मं वास्तुकला एवम् मूर्तिकला का सुन्दर समन्वय हुआ है।

इस मंदिर की योजना ताराकार है। इसका गर्भगृह सप्तरथ प्रकार का है। इस मंदिर में अन्तराल, मण्डप तथा तीन द्वार मण्डपों का समावेश है। इस मंदिर के प्रांगण में प्रारम्भ से सात लघु मंदिर थे, जिनमें से दो पूर्णरूपेण नष्ट हो गये है शेष अभी - विद्यमान है। इनमें दर्शनीय केवल स्तम्भ ही है। मंदिर एक सुविस्तृत जगती पर निर्मित है जिस पर सोपान क्रम के व्दारा पंहुचने की व्यवस्था है। इसके पार्श्व में उच्चाकार की शैव व्दारपालों की मूर्तियॉ हैं । गर्भगृह के शिखर की आकृति के विन्यास में उच्चकोटि की निपुणता को समावेश किया गया है। इसके लघुशिखरों की सात उर्ध्वाकार तथा पॉच संतिजाकार पंक्तियों में प्रत्येक वृत्तपाद केा अलंकृत किया गया है। इसके साथ छाया एवं प्रकाश की बडी सुरम्य व्यवस्था भी है। शिखर मूर्तिकला से सुसज्जित है और कुछ दूर तक विभिन्न देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियॉ है। मध्यभाग में ताण्डवस्थ शिव तथा अनेक देवी-देवताओ की मूर्तियॉ है जो उत्कृष्ट सौन्दर्य तथा सजीवता को प्रतिध्वनित करती है। मंदिर का प्रमुख द्वार पूर्व की ओर है । इसके साथ ही साथ तीन द्वारों के मण्डपों के बडेरियो पर उत्कीर्णकों की मूर्तियॉ है जो अपने सौन्दर्य एवं भावभिव्यक्ति के लिए प्रख्यायत है। उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर अपने समृध्द अलंकरण शिखर - आकृति के अन्तिम रूप तथा उसकी अवयवों की अनुपातिकता के लिये प्रख्यात है। वह मंदिर परमार शैली के अन्तर्गत निर्मित मंदिरों मे विभिन्न दृष्टियों से विशिष्ट महत्वपूर्ण है तथा परमार शैली के विकास का सर्वोकृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। यह कथन उचित ही है कि नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार शैली के मंदिरों के मध्य रत्न के सदृश्य है। [13]

प्रमुख मंदिर के पूर्वी प्रवेश द्वार की दाहिनी ओर पाये गये शिलालेख से सूचना मिलती है कि परमार नरेश उदयादित्य ने उदयपुर नगर बसाया, शिव का एक मंदिर अर्थात उदयेश्वर का मंदिर निर्मिण करवाया तथा उदय - समुद्र नाम से एक सरोवर बनवाया। इस प्रकार उदयपुर, उदयेश्वर मंदिर तथा उदेय समुद्र परमार शासक उदयादित्य की देन है

। सम्प्रति उदयपुर एवम् उदय समुद्र दोनो ही क्षीणना को प्राप्त हो चुके है परन्तु यह मंदिर आज नौ सौ वर्षो के पश्चात् भी मस्तक ऊँचा किए खडा है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि परमारों की भूमिज शैली को छत्तीसगढ के कलचुरियों द्वारा पसंद किया गया और मालवा के शिल्प गुरू एवं शिल्पों ने यहा के भोरमदेव मंदिर को भूमिज शैली में निर्मित किया होगा ।

.....

संदर्भ -

1. एलेवजेण्डेर कनिघम, आर्कियोजाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया)1981-82(जिल्द 17,पृष्ठ 75।
2. उपरिवत जिल्द 13,पृष्ठ 36।
3. भोरमदेव मंदिर के दक्षिणी द्वार में जडे संवत । 608 (विक्रम संवत के (19 वे पंक्ति के प्रस्तर अभिलेख से उक्त जानकारी प्राप्त होती है । जी,चन्द्रौल भोरमदेव मदिर प्रदर्शिका .के . भोपाल -1984,पृष्ठ 14।
4. धरोहर, राज्य के संरक्षित स्मारक, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग छ,षासन रायपुर .ग. लेखक जीचन्द्रौ .के .ल, पृष्ठ 08।
5. अपराजितपृच्छा अ .171, स .अ.सू.65।
6. समरांगण सूत्रधार 40/13,10/46-50।
7. दा हिन्दू टेम्पल पृ .218-19,389।
8. आ .मा.प.
9. आ .मा.प.
10. आ .मा.प.
11. मालवा की परमारकालीन कला पृष्ठ 109-10 ,मालवा थ्रू दी एजेस, पृष्ठ 435,कृष्ण देव टेम्पल आफ नार्थ इण्डिया पृष्ठ 66-67, समरांगण सूत्रधार अध्याय -65।
12. मालवा की परमारकालीन कला, पृष्ठ 110।
13. मालवा की परमाकालीन कला, पृष्ठ 109- 10 (डॉ सुल्लेरे का लेख (।

भोरमदेव मंदिर उर्ध्व-विन्यास

उदयेश्वर मंदिर उर्ध्व-विन्यास

The Landscape and Settlement Pattern of Megalithic Sites of District Pulwama, Kashmir

Abdul Adil Paray
Dr Manoj Kumar

The present study is the first of its kind in the Kashmir valley that explores and documents the unexcavated Megalithic sites of district Pulwama of the south Kashmir region accompanied by the surface collections. Most of the megalithic sites in the Kashmir valley are unexcavated except Burzahom and Gufkral. This study attempts to decipher the cultural significance of standing stones left by the past civilization in the late Stone Ages in south Kashmir in general and district Pulwama in particular. This paper studies the megalithic practices in the Kashmir region to find out their distribution, nature, context, purpose, and relationship. The study aims to identify, document, collect surface finds and analyze megalithic sites. During the field survey of the study area, the landscape and settlement pattern of the megaliths is the central theme.After going through the available sources and field surveythrough walking and preliminary analysis of the surface collections, the general features of the Megalithic culture of district Pulwama that came forward are summarized. Moreover, this study is more to investigate and raise the research questions associated with the Megalithic culture of Kashmir.

Geographical Area under Study

The geographical area in the present study is district Pulwama in South Kashmir. Prior to that, evidence of occupation by early men through the middle Stone Age, late Stone Age and Neolithic times are visible in this region.The choice of the field area as Southern Kashmir is guided by two primary factors: (1) The region is geographically significant because of its hilly tract areas and Karewas, providing scope for investigating the relationship between past humans and their ways of life. (2) Archaeologically, this region has a high potential that helps us to explore and reconstruct the ancient past keeping in view the reported and excavated archaeological sites.

Statement of the Problem

The Kashmir megaliths are commemorative, and one cannot locate the burials associated with them in District Pulwama. The sites indicate the Neolithic-megalithic continuation, and the monuments were erected towards the end of the Neolithic period. Moreover, the study aims to trace any direct affinities or indirect connections or relations with that of Megaliths in other parts of India or North-Western regions and Central Asia. Moreover, what are the similarities and differences, and if they do or do not follow the uniform sequence of culture?

Aims and Objectives The rationale of the study is:

1. The documentation, interpretation and reconstruction of the history of the megaliths and megalithic sites to find out their purpose and significance.
2. To explore new megalithic sites, collect surface material culture, analyze landscape and settlement patterns through transect survey and obtain sections through trial excavations.

Methodology

In the present work, the researcher followed the method of exploration using various techniques. Therefore, standard archaeological tools and techniques have been applied for the collection of empirical data and identification and interpretation of archaeological sites, which include, Field Walking, Photography, Documentation and surface collections.

Megalithic Sites in District Pulwama

The distribution of Neolithic-Megalithic sites and material culture in district Pulwama encourages speculation about the broader nature of Neolithic-Megalithic culture in Kashmir. Inferences about the past behaviour depend on accurate descriptions of the materials on which they are based, and additional attempts to enlarge our knowledge of the database are essential. However, these sites are still waiting for the archaeologist's dig and investigation so that many issues can be resolved. Many empirical and theoretical problems are yet unresolved about the Megalithic culture of Kashmir in general. There are much more exciting avenues of research well worth pursuing regarding the Megalithic culture of Kashmir in general and in district Pulwama in particular.

In the study area, the identified Megalithic sites are situated on the Karewas accompanied by the Neolithic material culture. All the sites in Pulwama are along the right and left bank of river Jhelum. The megaliths are concentrated on high platform areas noticed near the water sources and where nearby the bounties of stones were available. There are more than a dozen Megalithic sites identified in district Pulwama Kashmir. Only five sites are represented by the presence of megaliths in the form of Menhirs, which include Gufkral, the only excavated site, Begund, Haripariqom, Dadsar, and Sombur all these are unexcavated sites.

Landscape and Settlement Pattern of Neolithic-Megalithic Sites of District Pulwama

Geologically, it is attested that the rise of the Pir Panjals around 4 MY to 85,000 years ago elevated and folded the lake sediments and shifted the primaeval lake to the Himalayan edge and drained out (Agarwal et al., 1988, 55-56). It resulted in the formation of upper and lower Karewas, where the prehistoric material culture was retrieved. The most primitivestone tools in India associated with the Paleolithic period, according to Prof. Sankalia, were recovered in the Lidder Valley and Sombur (Pampore) of the South Kashmir region.This is the region where most Neolithic-Megalithic sites have been reported, whereas, Neolithic sites in Northern Kashmir are void of Megalithic culture (Sankalia, 1971, 538-47).

These prehistoric sites are primarily located on these Karewa bedsat an elevation between 1550 to 1650 meters above sea level.It indicates that the water was not completely drained out of the valley, and the land could have been boggy, hence incompetent for the farming, and the Neolithic-Megalithic people might have practised agriculture on the Karewa beds or terrace cultivation. It is substantiated by the distribution of these Neolithic-Megalithic sites on the Karewa beds and present settlements and the terrace farming practised on the Karewas. Another significant feature of the Neolithic-Megalithic sites is positioned near the water sources, which helped them procure drinking water andcarry out farming, fishing, and conveyance. Therefore, all the prehistoric sites are located along the river Jhelum and its tributaries. Moreover, all the Neolithic-Megalithic sites are near the hills with rocks as raw material for tool making and forests for foraging, cattle rearing, and later procuring big stones to erect them near their settlements Megaliths.

Another aspect is if megalithic people had migrated to Kashmir during that time,and erected these structures. It needs a comparative analysis of the genetic and skeletal remains of the megalithic people from the neighbouring megalithic regions. However, the material culture, i.e., typical megalithic burials, iron and pottery, which are the hallmark of the Megalithic period, are not that encouraging in Kashmir valley. The presence of iron from excavated megalithic sites in Kashmir is scanty, which is found in abundance in the Indian context, and the burial system is also different from that of megalithic burials in the rest of India. Also, there are various types of

Megalithic structures in the Indian mainland, including Cist, Urn, Sarcophagus, Pit, Cairn burials, etc. In Kashmir valley, there are only Menhirs found.

Since prehistoric times we have evidence of boundary markers in the shape of stones or erecting stone walls for protection from beasts. That might have the purpose and belief of Megalithic people to erect stones and later bury them dead for their protection. Moreover, these structures in Kashmir might have a religious purpose or were associated with the belief systems. These structures might have also acted as commemorative to commemorate the birth, death, any particular heavenly or meteorological event. It is substantiated with the presence of cupule marks on the menhirs in Kashmir, and cup marks have been associated with the position of various groups of stars in the south Indian context.

Unlike in the rest of the Indian sub-continent, Kashmir megaliths seems non-sepulchral, i.e. not associated with the burials of the dead. However, at Burzahom Neolithic-Megalithic site, burials are associated with the Megaliths (Sharma, 1998, 30-31).So the difference between Gufkral and Burzahom Megalithic sites might be because of the time of settlement pattern and partial excavation at Gufkral.

In the rest of India, the Megaliths belong to the Iron age culture and are related mainly to the burials The myths about the presence of gods (probably aided by appropriate illusions, predictions and soothsaying) the burial place was treated as sacred. Efforts to stay in touch with the dead gave rise to the first sepulchral megalithic stone monuments. The mythology and folk tales associated with these stones also point towards the relation between the dead. It is believed that these stones were the humans who were punished by God for their evil deeds and turned into stones, a phenomenon called *Watiess* in the Kashmiri dialect.

It is a fact that Menhirs in Kashmir contain cupule marks. These cup marks need to be comparatively studied and correlated in context and orientation to those found in India and Eurasian context Megaliths in the light of archaeoastronomy. The evidence of Megalithic and material cultures associated with it was found at Gufkral, the only excavated site in the district Pulwama. It suggests there existed Megalithic culture in Pulwama succeeding Neolithic culture. The results may be the same at other sites in the vicinity of Gufkral with and without menhirs there. However, no menhirs or Megalithic culture are reported in Northern Kashmir, which requires future research and intensive archaeological studies.

There is a set of various questions related to the purpose of the erection of menhirs, their social, geographic and cultural affiliation, the system of management of the various social and economic activities and the ritual beliefs. These reflect the cognitive approach built up upon the earlier social approach. It is so that Kashmir megaliths are not associated with the burials as no burial has been reported at Gufkral near the habitation. However, at the same time at Burzahom(Sharma, 1991, 30-31), Neolithic people at Burzahom had a separate burial ground a little away from the living habitation. Because the result was seen when a new settlement of the megalithic period was found at Mahurjhari, and peripheral burials were found at Dhamna-Linga (IAR, 2000-01, 97-107). The burials were found away from the stone circles, thus reflecting the typical burial, a variation of Megalithic Culture found at sites mentioned above in India. So same may be the case in Kashmir Megalithic, where Megaliths were not erected on the burials as is common in South Indian Megalithic culture.

Summary

Pulwama has already revealed its archaeological potential extending from the Paleolithic to the historic sites. The region is rich with prospective archaeological sites. The

remotetopographies and socio-political conditions bar detailed archaeological survey and exploration, and though the region is rich with archaeological sites, not much work has been carried out to study the Megalithic confirmation from this region. The intermittent studies carried out earlier and the passing references in the IARs and this new survey indicate that the region has Megalithic monuments, mostly Menhirs. All of these Neolithic-Megalithic sites under study are unexcavated except Gufkral.

Moreover, no comprehensive study of these archaeological sites has been carried out so far. The paper proposes to study the Megalithic monuments keeping in view the historical, cultural and archaeological significance associated with them. Due to the lack of large-scale explorations and excavation of the Megalithic culture in the region, their antiquity is not analyzed and appropriately understood. The present work attempts to put forth the responsibility to find out more information through future archaeological fieldwork. The scope of the research and investigations into identifying and understanding megaliths and megalithic sites, their origin, purpose, and various dimensions for critical analysis of the Megalithic problem in the South Kashmir region is wide and open.

However, the evidence from two excavated Neolithic-Megalithic sites of Burzahom (Terra 1942) and Gufkral (Sharma 2000) provide the insights but not conclude that the Kashmir megalithic monuments are commemorative, and one cannot locate the primary burials associated with them as found in Indian Megalithic culture. The monuments are found in groups and single on the sites and show no association with skeletal remains as in south India. The people had the idea of the use of iron during the period; however, it can be ascertained once the above sites are excavated.

The following observations are made concerning iron artefacts associated with South Indian Megalithic Culture vis-a-vis their cultural relation to the South Kashmir Megalithic sites. From south Kashmir's excavated sites, iron artefacts have been reported from the Gufkral Neolithic-Megalithic site (1550–1300 uncal. BCE), in Megalithic phase and at Semthan (c. 700–500 BCE) with no archaeo-metallurgical or other Iron Age material evidence. The multi-cultural site of Semthan has yielded iron artefacts with a fewshreds of NBPW are dated c. 700–500 BCE. At Burzahom, iron objects retrieved during its excavation dated between c. 1st century – 5th century CE with no archaeometallurgical proof or other diagnostic Iron Age material evidence, e.g. settlement pattern, pottery types, etc.

However, the occurrence of tuyeres at four slag sites supports the smelting of iron in the past as tuyeres are directly associated with smelting, but again, there is no dating available. It is important to remember that the surface material from the new sites in Baramulla District that are analyzed means that these suggestions remain conjectural until clear dating evidence associated with this slag and tuyeres can tuyeres remains clear obtained after excavation for scientific dating samples.

The presences of cupules on most of the menhirs require expert analysis concerning their association with astronomical processes. Because most of the Neolithic-megalithic sites in south Kashmir belong to the era of agricultural activities or are preceded by the Neolithic period where agricultural activities demanded astronomical knowledge, it is logical to see traces of astronomy dating back to that stage as substantiated by both cupules and conjectured alignment of these megaliths.

Forces of the environment and humans' rising intellect and technical skills endorsedthem to craft megaliths that are remarkable for their architectural delicacies and technological talents.

The menhirs of diverseprofiles and sizes point to their craving to keeptrack of the necessities and resources around them. The knowledge of the use of architecture for habitation, their principalendeavour was to control their immediate milieu for confidentiality and better living. Nevertheless, something continued to give a sense of time and its constraint to them, and soon, the megalithic monuments appeared to result in anenthrallingdiversity of structures that seem to remain with the arrival of either devotion, astronomical or belief of anything. All these questions can be answered, and the answer is the detailed survey and excavation of megalithic sites in Kashmir in General and in Pulwama in particular.

Acknowlwdgement

I would like to express my gratitude and appreciation to ICHR for funding this work and thanks to my supervisor for his humble guidance.

References

Agarwal, et. al., (1988). Palaeoclimatic Data from Kashmir: A Synthesis and Corelation, *Palaeoclimatic and Palaeoenvironmental Changes in Asia, the last 4 MY,* New Delhi,pp. 55-56.

Binford, Lewis R., (2017). *Archaeology as Anthropology,* American Antiquity, Vol. 28 No. 2, Cambridge University Press, pp. 217-225. , De Terra, H. and Paterson, T.T. (1939). *Studies on Ice Age in India and Associated Human Cultures,*Carnegie Institution of Washington, pp. 233-34.

Khazanchi, T.N., *Indian Archaeology-A Review,*1960-61, 1961-62, 1962-63, 1964-65, 1965-66, 1966-67, 1968-69, 1971-72, and 1973-74., IAR, (2000-01).*ASI*, New Delhi, pp. 97-107

Sankalia, H.D. (1990). *Prehistory of India and Pakistan,* Bombay University Press,pp. 538-47.

Sharma, A.K. (1982-83). Gufkral 1981: An Aceramic Neolithic Site in the Kashmir Valley, Asian Perspectives XXV(2) pp. 23-25.

Sharma, A.K. (1998). *Prehistoric, Burials of Kashmir*, Agam Kala Prakashan, Delhi, pp. 30-31.

स्वरूप की संरचना में तंत्रयान का आधिपत्य

डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम'

भारतवर्ष में मानवीयता को अमानवीयता स्वरूप में परिभाषित करने का प्रारंभ अति प्राचीन कालीन है। सिंधु सभ्यता से पूर्व इसका अस्तित्व यहां की भूधरा पर स्थित हो चुका था। सिन्धु सभ्यता एवं उसके समकालीन अन्य स्थलों की पुरातात्त्विक बहुरूप सम्पदा उत्खनन फलस्वरूप उपलब्ध हुई। अनियमित आकार–प्रकार वाले मिट्टी के पात्र, छिद्र युक्त पात्र, पशु पक्षियों के आकार प्रकार वाले पात्र, कच्ची बिना पकी हुई छोटे आकार के पात्र, ताबीज, शिश्न, अर्धनग्न मानव आदि के स्वरूप से इसी तथ्य को बल मिलता है।

अथर्ववेद में प्रयुक्त मारण, मोहन, उच्चाटन, उद्वेषण, स्तम्भन आदि से सम्बन्धित मंत्र एवं प्रयोग अतिमानवीयता को ही सम्बल प्रदान करते हैं। कालान्तर में इसी के अनुरूप अनेकानेक धर्म ग्रंथों में तंत्र, मंत्र एवं यंत्र के प्रयोग एवं उनसे सिद्धि प्राप्त करने की विधि नियमों का भली–भांति निर्देशन किया गया। रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति ग्रंथ, अर्थशास्त्र आदि के साथ–साथ कई ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक ग्रंथों में तंत्रयान के महिमामंडन दर्शित होते हैं।

वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल से पूर्व तक तंत्रयान की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी और उनके प्रयोग बुद्ध के महानिर्वाण के बाद निर्बाध रूप से प्रदर्शित होना आरम्भ हुआ। जिनका प्रभाव मानव के दैनिक जीवन के विविध क्रियाकलापों में परिलक्षित हुए। तंत्रशास्त्रीय व्यवस्था में पुरुष और प्रकृति अर्थात शिव और शक्ति दो ही तत्वों की अहम भूमिका होती है। धर्मग्रंथों के अनुसार सृष्टि का आरम्भ ही एक नर एवं एक नारी की संयुक्तता के फलस्वरुप हुई, जो सतत क्रियाशील होकर आज पर्यन्त तक गतिशील है। अतएव आरम्भ से लेकर वर्तमान तक तंत्रयान का प्रभाव निरन्तर प्रवाहमान है।

धर्म ग्रंथ एवं तंत्रशास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार पुरुष और प्रकृति अर्थात नर एवं नारी से ही तंत्रयान के मूल तत्व आर्विभूत होते हैं। अतएव नर एवं नारी आकृतियों से युक्त प्रतिमाएँ इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप निर्मित करने की गतिविधियाँ आरम्भ हुई। सभी प्रमुख धर्मो ने भी इस प्रतिक्रिया को अंगीकार किया। पद्मपाणि या वज्रपाणि और अवलोकितेश्वर के साथ तारादेवी की मूर्तियाँ निर्मित करने की प्रक्रिया खासी लोकप्रिय हुई। ऐसी मूर्तियाँ भारतवर्ष के अनेकानेक कलाकेंद्रों में बनने लगी। मंजूश्री या पंचध्यानी बुद्धों के साथ भी तारादेवी या दूसरी बौद्ध देवियों की प्रतिमाएँ निर्मित हुई। मूर्ति शिल्प की पद्धति में विकासवाद या प्रगतिवाद की नींव तब पड़ी जब दो पुरुष मूर्तियों के साथ एकल नारी की मूर्ति निर्मित करना भारतीय समाज ने अंगीकार किया। फलस्वरुप आमजन की इच्छा और शिल्पकारों की अगाध रुचि के तहत ऐसी प्रतिमाएँ भारतवर्ष के सभी प्रमुख कला केंद्रों में सृजित हुई। इससे त्रिरत्न के सिद्धांत का साकार स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ। बुद्ध, धर्म और संघ के मानवीकरण की परिकल्पना धरातल पर उसी प्रकार परिलक्षित हुई, जिस तरह दक्षिण भारत के चोलकालीन मंदिरों में विष्णु जी एवं शिवजी के आयुधों का मानवीकरण स्वरूप प्रकाशित हुआ।

तंत्रशास्त्रीय परम्परा में सृजित साधनमाला नामक ग्रंथ बौद्ध तंत्र विज्ञान को नयी दिशा प्रदान करने वाली सिद्ध हुई। इससे मूर्ति विधान भी प्रभावित हुई। प्रकृति और पुरुष मूर्ति शिल्प रचना के प्रमुख विषय के रूप में भारतीय समाज के समक्ष उपस्थित हुए, जिनका सर्वत्र तहेदिल से स्वागत किया गया। इस निर्माण विधान में त्रिरत्न परम्परा के प्रकाशन को अपना मूल लक्ष्य के रूप में केन्द्रित किया गया। इससे समाज, धर्म, संस्कृति एवं कला को नई दिशा में गति प्राप्त हुई।

अगर अन्य धर्मों की कलाओं का रुख न करें तब भी तंत्रयानी सिद्धान्त पर मूलभूत प्रतिमाएँ निर्विवाद रूप से कल्पित और सृजित हुई। इनमें त्रिरत्न शैली या सिद्धान्त पर निर्मित प्रतिमाएँ अत्यन्त ही अह्म है। साधन माला (बौद्ध प्रतिमा विज्ञान) के अनुसार शिल्पकारों ने पुरुष और प्रकृति के सुंदर व कलात्मक कृतियाँ प्रस्तुत किये। इस चित्रण की विविधता के प्रयोग भी हुए और उनमें मूर्तिकारों को विशेष प्रगति भी हासिल हुई। उन्होंने धर्मशास्त्रीय, शिल्पशास्त्रीय एवं अपनी कल्पना को अमलीजामा पहनाकर लक्ष्य तक पहुंचने में कामयाब रहे। पुरुष और प्रकृति के अंकन में एक नारी और एक पुरुष के संयुक्तांक को महत्त्व दिया गया। इसमें उन्हें आशातीत सफलता हासिल हुई क्योंकि दूसरे धर्मों के शिल्पकार भी ऐसे कथानक अंकन को लगातार अंकित करते जा रहे थे तथा इन अंकनों से सामाजिक परिदृश्य भी प्रकाशित हो रहा था। आमजन इन मूर्ति शिल्पों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे और उनकी आकांक्षा की प्रतिपूर्ति भी इन शिल्पांकनों से हो जाती थी। उमा महेश्वर, राधा कृष्ण आदि युगल मूर्तियाँ प्रत्येक मानव मन को आनन्द से आत्मविभोर कर देती थी। इसी दौरान शिल्पकारों का एक नया प्रयोग भी मूर्तिमान हुआ। समय की मांग एवं नारी के वैदिक कालीन सम्मान एवं अधिकारों को पुनः वापस लाने का एक अनुपम प्रयास लोगों के मन को आह्लादित करने लगा। वैदिक कालीन सशक्त एवं साम्राज्ञी रूपिणी नारी के चित्रण की अविश्वसनीय कोशिशें रंग लाई और आमजन उनके साकार प्रयास को देखकर अतुलनीय रूप से हतप्रभ भी हुए और प्रसन्न भी। शिल्पियों ने नारी जगत को प्रकृति के मूलाधार के रूप में मूर्तिमान करना आरम्भ कर दिया। परिणामतया विश्व में प्रकृति या शक्ति के प्रति अपार श्रद्धा व सम्मान का वातावरण व्याप्तमान हुआ।

पूर्वकालीन शिल्पकारों की शिल्प चातुर्य इसी तथ्य में परिलक्षित होती है कि उन्होंने मनोविज्ञान की परिधि में गहरी पैठ बनाकर शिल्प सिद्धि करना चाहते थे। जिससे सम्पूर्ण मानव समाज के अंतःकरण में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम संदेश प्रवेशित कराया जा सके। ईश्वरीय सृष्टि का मनोवैज्ञानिक तथ्य यही है कि वनराज सिंह सदैव अकेले ही भ्रमण करता है। उसे अपनी सहायता या शिकार के मदद के लिए किसी अन्य सिंह की आवश्यकता नहीं होती। समूह में तो सिर्फ कमजोर प्राणी ही चला करते हैं। एक सत्य यह भी है कि एक राज्य में एक ही समय में दो शासक नहीं हो सकते। ठीक इसी सन्दर्भ को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी शिल्पकारों ने दो या अधिक पुरूषों के साथ एकल प्रकृति या शक्ति की नियोजना अंकित करनी प्रारम्भ कर दी। ऐसे मूर्ति शिल्पों में प्रकृति स्वरूपा नारी को बहुधा पुरूषों के मध्य में चित्रित करने की एक प्रथा विकसित हुई। जो कालान्तर में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। वज्रपाणि और मंजूश्री के मध्य में तारादेवी, पद्मपाणि और वज्रपाणि के मध्य तारादेवी, मंजूश्री और पद्मपाणि के मध्य तारादेवी, बुद्ध और पद्मपाणि के मध्य में तारादेवी, वज्रपाणि और बुद्ध

के मध्य तारादेवी आदि की संयुक्त प्रतिमाएँ एक ही प्रस्तर खण्ड या धातु पर निर्मित की जाने लगी। स्पष्टतया इन प्रतिमाओं के केन्द्र बिन्दु के रूप में शक्ति स्वरूपा नारी जगत का ही प्रभुत्व दर्शित होने लगा। शक्ति के मूल प्रतिबिम्ब नारी सर्वार्थ सिद्धि के रूप को उजागर करती हुई प्रकाशमान हुई। ऐसे प्रदर्शनों से निश्चय ही इस भूधरा पर त्रिरत्न परम्परा को स्थायित्व की प्राप्ति हुई और सिन्धु सभ्यता कालीन नारी का एकल अस्तित्व अपनी विकास यात्रा में इस प्रकार समर्थशीला होकर प्रकट हुई।

त्रिरत्न प्रतिमाओं के स्वरूप में परिवर्तन भी अवश्यसंभावी था। मध्य में स्थित होने से नारी शक्ति की प्रमुखता तो सिद्ध होती थी, लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह भी था कि जो सर्व समर्थशीला होती है, उसके लिए मध्य स्थल की अनिवार्यता क्यों? वह तो सर्वत्र विराजित हो सकती है। अतएव शिल्पकारों ने नये अनुसंधान की ओर अग्रसर हुए। तदन्तर उन्होंने अपने नवीन शोध में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि नारी शक्ति तो चतुर्दिक स्वामिनी होती है, अतएव उनका चित्रण पुरूष प्रतिमाओं के अगल–बगल और आगे–पीछे सर्वत्र की जा सकती है। वैसे भी प्रकृति स्वरूपिणी नारी शक्ति अग्नि परिक्रमा के वक्त पुरूष के आगे भी चलती है और पीछे भी। उसके दांये भी आसनस्थ होती है और बांये भी। अतएव इसी प्रक्रिया को आधार मानकर शिल्पकारों की शोध संरचना क्रियान्वित हुई। वज्रपाणि और पद्मपाणि के पार्श्व में तारादेवी, बुद्ध और पद्मपाणि के पार्श्व में तारादेवी, वज्रपाणि और बुद्ध के पार्श्व में तारादेवी, मंजूश्री और बुद्ध के पार्श्व में तारादेवी, पद्मपाणि और मंजूश्री के पार्श्व में तारादेवी, वज्रपाणि और मंजूश्री के पार्श्व में तारादेवी आदि के अंकन इसी परिप्रेक्ष्य के तहत परिपूर्ण हुए।

नेपाल जैसे सीमा पार देशों में तंत्रयान के विकृत स्वरूप भी मूर्तिमान हुए, लेकिन भारतवर्ष में तंत्रयानी प्रभाव मर्यादित ही दिखलाई पड़ता है। यहाँ उत्कीर्णित मूर्तियाँ मानव के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रदर्शित है। तंत्रशास्त्र तो अमर्यादित भी हुई, लेकिन मूर्तिशिल्प सदैव भारतीय परम्परा के ही अनुरूप ढलती रही है। ''मुण्डमाला तंत्र'' नामक ग्रंथ में दश महाविद्याओं और दशावतार का एकीकरण करने का अद्भुत प्रयास किया। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि जो पुरूष है, वही प्रकृति है और जो पुरूष है, असल में वही प्रकृति के अनन्य रूप है। संभवतया इसी प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप पूर्ण शिव अर्धनारीश्वर में परिवर्तित हो गये। इससे नारीत्व की सदैव उपस्थिति की भावना और बलवती हुई।

ऐसे ही वैज्ञानिक व मनोवादी भावनाओं को उजागर करती हुई बौद्ध देवी श्यामतारा की एक अनोखी प्रतिमा पटना संग्रहालय में संग्रहीत है। देवी की प्रसन्न मुखमुद्रा अति मनोहारी है। उनके दाहिने कर्ण में पुरूष का और बांये कर्ण में स्त्री का कुण्डल है, जो सृष्टि जगत में अर्धनारीत्व व अर्ध पुरूषत्व को प्रदर्शित कर रहे हैं।

नारीत्व और पुरूषत्व सदैव ही एक दूसरे की अनुगामी होते हैं, लेकिन यह पूर्ण सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि धर्मग्रंथों में सदैव ही नारी शक्ति की प्रतिष्ठा उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। देवी भागवत में स्पष्टतया नारी पूजन को सफलता की सीढ़ी के रूप में निरूपित किया गया है।

प्राचीन गुहा गृहों, बौद्ध स्थानत्य एवं मंदिरों में अपने पुरूष सहयोगियों के साथ नारी के अंकन प्रभावपूर्ण तो हैं, लेकिन नारी शक्ति की तेजस्विता भी काबिलेतारीफ है। त्रिरत्न का बाह्य प्रदर्शन तो मात्र दो पुरूषों के साथ एक नारी की उपस्थिति ही है, लेकिन अंतःचक्षु से देखने पर स्पष्ट होता है कि नारीत्व की छाया तले ही पुरूषत्व पालित पोषित होता है। अतएव हर स्थिति में नारीत्व सर्वश्रेष्ठा ही ठहरती है। कन्हेरी गुहा स्थापत्य संख्या 25 की भित्ति पर ऐसे ही एक अंकन से नारीत्व की पूर्ण आभा प्रकाशित हो रही है। इस अंकन के अनुसार बुद्ध धम्म यात्रा पर थे। मार्ग में कीचड़ मिलता है, तब उनके पवित्र चरणों को गंदगी से बचाने के लिए मेघ ने मार्ग पर उनके पैरों के सम्मुख अपने बाल कीचड़ के उपर बिछा देते हैं और बुद्ध के पैरों को कीचड़ युक्त होने से बचा लेते हैं। मूर्तिशिल्प में बुद्ध स्थानक द्विभंग मुद्रा में गतिमान है। उनके ऊभय पार्श्वो में एक–एक बौद्ध देव व बौद्ध देवी का अंकन है। यहां देव धर्म के प्रतिरूप हैं और देवी संघ के प्रतिमान के रूप में अवस्थित है। बुद्ध के शिरोभाग के ऊपर भी दोनों दिशाओं में एक–एक गान्धर्व पुरूष और गान्धर्व नारी आकाश मार्ग में उड्डीयमान है, जो क्रमशः धर्म व संघ के प्रतिरूप है।

तंत्रशास्त्रीय पद्धति में एक नारी, बहुत सारे पुरूषों की एक साथ साम्राज्ञी हो सकती है और उन पर हुकूमत भी चला सकती है। यह मानव प्रजाति के आम जीवन में भी सम्भव है। महाभारत में तो इसके स्पष्टतया साक्षात्कार होते हैं। शिल्पकारों ने यह प्राचीन परम्परा अपने मूर्ति शिल्पों में बरकरार रखी है। श्री लक्ष्मी जी की एक ऐसी ही प्रतिमा राजस्थान के राजकीय संग्रहालय में विद्यमान है। इस शिल्प स्वरूप में सत्तासीन नारी शक्ति कमलाकृति सिंहासन पर विराजमान है। शीर्ष के सर्वोच्च भाग में राजछत्र दमक रहा है। उसके ठीक नीचे ऊभय पार्श्वों में दो गजराज स्थित हैं, जो श्रीदेवी के ऊपर अपने सूड़ों से जलधारा की वर्षा कर रहे हैं। देवी प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में दो देव प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है। उक्त प्रतिमा में देवी की आभा और प्रज्वलन तीव्रता नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाली है।

प्राचीन भारतवर्ष में तंत्रयान का मूल उद्देश्य पुरूष और प्रकृति के परस्पर प्राकृतिक सम्बन्धों को रूपायित करना है। लेकिन साथ ही पुरूष के उत्तरदायित्त्व और प्रकृति के सर्वार्थ सिद्धि व सर्वशासिका स्वरूपा नारी को पुरूष की रक्षिका करार देते हुए स्पष्ट किया है कि वह चतुर्दिक हर व्याधियों एवं शत्रुओं से उनकी रक्षा करती है। धर्मग्रंथों ने खुद यह स्वीकार किया कि नारी अपने पति की प्राण रक्षिका होती है। (जातक सं. 239, 267 एवं वृहतकल्प भाष्य व्यालग्राही यथा व्याल बलदुद्धरते बिलात। एवं मुत्क्रम्य दूतेभ्यः पति सवर्ग वज्रेत्सती। यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम्।। स्कन्दपुराण, 7154–55)

शिल्प शास्त्रीय व्यवस्था में धर्मशास्त्र का दखल कहीं भी दिखलाई नहीं देता क्योंकि शिल्प विधान उन्मुक्त व बन्धन रहित होकर ही चतुर्दिक प्रकाशित होता है। लेकिन मानव समाज में व्याप्त परम्परा का पालन शिल्पी निश्चित ही करता दिखाई देता है। शिल्प शास्त्रियों ने उक्त तथ्य को अपने शिल्पाकृतियों में बखूबी स्थान दिया। नारी आकृति के साथ चाहे एक ही पुरूष हो या एक से अधिक पुरूष.... लेकिन एक अकेली नारी का उनके साथ अंकन सर्वथा सार्वभौमिक प्रदर्शित होता है। उनके प्रदर्शन में सृष्टि पर आधिपत्य एवं प्रभुत्व के साक्षात्कार होते हैं।

प्राचीन मूर्ति निर्माण प्रक्रिया के निष्कर्ष पर जायें तो एहसास होता है कि प्रकृति स्वरूपा नारी मूर्तियों के अंकन में सौन्दर्य शीला, कौमार्य, वैभवशीलता, सृष्टि विनायिका, सर्वशासिका, विश्व पालिका जननी, ममता रूपिणी और करूणामयी आदि के स्वरूप प्रकाशित होती है। उसके साथ ही पुरूषत्व पर नियंत्रक के रूप में भी उसकी छवि मुखरित होती है। सृष्टि के बाद से ही प्रकृति सदैव ही पुरूष जाति पर अपना प्रभुत्व कायम रखती आई है। पुरूषों के साथ अंकित नारी अपने नारीत्व की अभूतपूर्व अन्तःशक्ति से पुरूषत्व को निर्बल सिद्ध कर देती है। अब तक दृष्टिगत विधानों और जीवन दर्शन से यह तथ्य प्रदर्शित हुई कि एक अकेली प्रकृति इतनी समर्थशीला होती है कि वह एक ही साथ दो या दो से अधिक पुरूष जाति पर अपना सार्वभौमिक नियंत्रण स्थापित कर उन पर शासन कर सकती है। इसीलिए ही मूर्ति शिल्पकारों ने इस मानवीय भावना से रूबरू होकर उनका यथोचित अंकन किया। जो आज हमें विभिन्न प्राचीन स्थलों से मूर्तिमान प्राप्त है और देश–विदेश के संग्रहालयों में भी उनके साक्षात्कार सुलभ हैं।

सहायक ग्रंथ–

1. Debala mitra- Buddhist monuments, sahitya samsad, Calcutta- 9.
2. डॉ. रामनाथ मिश्र– भारतीय मूर्तिकला, दि मैकेमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।
3. Benoytosh Bhattacharyaa- The Indian Buddhist Iconography, Firma K.L. mukhopadhyay culcutta
4. डॉ. मारूतिनंदन तिवारी, मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. R.N. Mishra- Sculpture of Dahal and Dakshina kosal and their Background, Agam kala prakashan, Delhi.
6. डॉ. पृथ्वी कुमार अग्रवाल– प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
7. डॉ. जगन्नाथ मिश्र– प्राचीन भारतीय प्रतीक विद्या।

मातृका नांदचांद, जिला–पटना

दंपत्ति, कन्हेरी गुहा

लोकेश्वर, पटना संग्रहालय

बुद्ध, पटना संग्रहालय

बुद्ध, नागपट्टनम

बुद्ध, कुर्किहार

बुद्ध, अहिच्छत्रा

बुद्ध, पटना संग्रहालय

श्यामा, कुर्किहार (पटना)

बुद्ध की यात्रा, कन्हेरी गुहा

श्री देवी, राजस्थान

Archaeological Investigation of Bewarti, Kanker

Prof. Dinesh Nandini Parihar
Bhenu

The Archaeological investigation took place on the Village – Bewarti, Kanker. From the previous work, some archaeological remains already have been noticed in Kanker district by the researchers. Through the further investigation a Megalithic remains and Pictograph were noticed within the village. This research paper will mainly consist of the unreported pictograph and megalithic site of Bewarti. There will be the detailed information about the findings. The detailed study will be done of the figures of the painting in "Layamatta hill" and the megalithic remains within the village. The research paper also consists of the developing phase of the rock art which can be seen in the tribal communities. The research will content about the importance of the rock art and megalithic culture in the tribal society. Various rituals are performed on the both sites by the tribal people till today. This research paper will describe the new investigation site and related rituals which are performed by the tribal people. The paper will consists of the study of correlation between the rock art and the various arts forms and cultures present in the tribal community.

Bastar is known for rich tribal communities with that this area is very potential of archaeological remains. Till today the King policy still living with own places and they are attached with the tribal's. Going back to the primitive age, prehistoric evidences were notified by scholars from many places. After that prehistoric, early historic, historic, medieval and British remains are present. Some culture sequences are not in vague these days that is why Archaeological investigation is necessary to know about the facts related to these cultures. Kanker is an upper part of Bastar division and located southern part of Chhattisgarh state. In 1819 to 1904 Kanker comes under the Nagpur division and after that in 1905 it merge to central province in British Government. Kanker occupied 20'6' to 20'24' latitude and 80'48' to 81'48' east longitude of Uttar Bastar. At present 7 Block comes under the Kanker district – Kanker, Charama, Narharpur, Bhanupratappur, Durgukondal, Koyalibeda, and Antagarh.

When we look on to the historical and cultural aspects of kanker district we see to through different angle of history. From the prehistoric to the historical evidence scattered within the city and connected area. Bewarti village one of the important archaeological area were Pictograph and megalithic remains noticed by the exploration. Regarding to the megalithic culture is still in a practice. Ancient megalithic reported from the Dhamtari and Balod district which are very close to the District. Some site like Karhibhadar, Karkabhat, Mujgahan, Dhanora etc. Rock art investigation was started, when the site of Singhanpur, Raigarh district was highlighted in 1910, which was discovered by C.W. Anderson. Kanker was explored by many scholars and they discovered the culture continuity in the pictograph. In the field of pictograph

kanker consists of abundant rock arts. This area was noticed as a high concentration of artistic behavior of early man. Some important rock art sites are Gotitola, Guraoudi, Khairkheda, Kanhagaon, Udkuda, Kulgaon, Sita ramguda and Alor,Chandeli , were reported earlier.

The tribal people are still surviving in these regions; the Gond tribe is one of the tribal groups which consist of the highest population. The people of tribal community believe that, those paintings were made by their ancestors.

Research Methodology

The present research involves an investigation study of the Pictograph and Megalithic of Bewarti, district – Kanker. Field survey is the primary source of data collection. Village to village survey is very intensive method to understand the variations of the Pictograph. Through the survey, I tried to do the systematic and deliberate study. For the Primary data collection interview may be regarded as a systematic method, and along this documentation is also very important part of the study. Ethnic investigation is also very essential, without understanding the tribal lifestyle we unable to understand the correlation between the art form of recent tribal communities and prehistoric rock art.

Analysis

Bewarti village located north- east direction almost 11 km away from the historical city of Kanker. As per 2009 report it is a gram panchayat. Geographically it's same like a whole district of Kanker. It is situated on the right side of the Dodh River and at distance of about 2.5 km from the river. According to the survey two archaeological remains were found around the village. First remain known as a Megalithic tradition and second is pictograph.

Megalithic Site (20˚ 16' 21" N – 81˚ 22' 34") - The first remains related to the Megalithic culture have been noticed in middle of the village. Context of megalithic remains, it's not unusual because previous archaeological data shows a brief megalithic history of Chhattisgarh region and especially in Bastar division. The term 'Megalithic' is derived from two Greek words 'Mega' means 'Huge' and 'Lithos' means 'stone' and its used for a grave or memorial stone. Varity of mega stone structure noticed from the almost each part of India except for the plains of Punjab, Indo – Ganga divide, Ganga basin, the deserts of Rajasthan and part of north Gujarat. Especially in the South Indian context megalithic culture is very rich. This culture directly indicates to the mortuary practices in the ancient time. Various types of stone structures made for the dead one for example, Menhir, Dolmenoid cist or dolmen, slabbed cist, chambered tomb, pit circle, topical, crain circle, crain with urn burial etc. Menhir is a commonly noticed from the south and north – east India and it's in living tradition by the tribal communities. Tribe of Bastar has a living tradition of megalith for dead people. The important places where still this practice is prevalent are Raikot, Dillimilli, Bastanaar, Kilepaal, Kodenar, Dantewada, Tirtum, , Kapanaar, Durli, Dugeli, Dugalvengal, Godma, Mothe, Parond, Gammewada, Timmelwada, Handaguda,

Sankanpalli, Nelakanker and many more. Menhir or alignment of menhirs is a dominating feature of this area. Accept that stone, wooden carving, stone stab with wooden carving are in a living tradition. Muria and Maria gonds called that memorial pillars as a *"Gata pathra"* and *"Urshkal".*

The megalithic remains of Bewarti are quite similar as an ancient megalithic site(Fig.1). At present day no living tradition were noticed from here as a tangible form. All the memorial pillars are made from stone and belong to different size or shape. Some portion of the site was disturbed by the local construction. About 15 menhir's were noticed. Most of the used stones are intact and few are broken. Heights of mehir's are approximate 10 ft., 8ft, 5ft,3ft and ½ft etc. alignment is missing here. Two menhir (Fig.2) was erected closely, seems like they connected with each other. Rough stone or undressed stone are used for menhir (Fig.3). From the exploration no other artifact was noticed.

Pictograph (21˚ 15' 51'' N – 81˚ 33' 27'' E) - Small hill located between Pattoud and Bewarti villages, district – Kanker. This hill called as a layamatta. Layamatta is a Gondi name, used by the Gonds of Bastar, laya means 'girl' and matta means 'hill', so this is the hill of girls. The hill top is known for its ritualistic importance for the local villagers. Occasionally they go for worship on the hill. Pictograph site is on the corner of the mountain, where there is a large naturally formed open rock shelter which is laden with huge honeycombs. Near it there is a natural cave at the bottom where there is enough space sit or lie down. With the help of the tree we can reach the site, which is 7 to 8 feet in depth. Inside the shelter boulder consists of pictograph (Fig.4). Right side of the boulder ascent monkeys are depicted (Fig.5). Accept this no other depiction were noticed. The rock art depiction of animals is very common but the monkey is one of the rarest depictions. It's a very small thematic painting which is showing group of monkey. Almost 7 monkeys were identified clearly. 5 monkeys ascent on the tree root and one of them is a baby monkey. Dark ocher color used by artist and whole body fills with color. Other 2 figure of monkey is quite different from the 5 monkeys. This two monkeys are running on the ground below the tree root. View of making technique is a rough compare to the other 5 figures. Colour is also not dark as above; light yellow colour was used.

Conclusion

In the above paragraphs, I just tried to give information about explored village of Bewarti. Megalithic site seems ancient but at present scenario no one take care of that. Megalithic practices started from the Iron Age. With the help of big stones people started erecting memorial for burials and also buried iron implements in this burial. This type of practice is still in continuation. Since they represents the dead individual and ancestors or in other words the spirit world marks a lot of importance in the tribal kingdom, hence they regularly offers something which include rice, pulse, chicken etc. even ox and cow if the occasion can afford it. They are treated as an individual as they are fresh in the memory.The Memorials and Megalith's

are connected with Muria and Maria gonds of Bastar. Still through to the "Kunda Milan" Muria gonds worshipping and they believe that person become a part of their god family after the several years. Nowadays, little change can observe in the district. Context of Bewarti, in the present villagers using different ground for burial but still they are following all intangible rituals for the ancestors and dead one.

At the archaeological view monkey is generally found in this hill. Artist/maker seem them to claim a tree/root and then it's came as a painting. The meaning behind these paintings also tried to tell about intangible heritage of pictograph associated with ethnic groups. I know as many scholars believed whatever prehistoric people have seen, they draw those things on the stone walls, but again one question arise that, why they made these paintings? For these questions, we still don't have any answer. That's why I try to correlate those rock paintings to the common living tribal traditions. The villagers are coming eventually to worship this place. They believe this place of laya (girl) and they make all this things. Through this, we can understand the meaning of the various rock paintings made by our ancestors. Rock art has deep meaning inside it, which is the subject of curiosity for everyone. There are many aspects of rock art which are mysterious for the scholar, which has to be deciphered. Apart from this both site is very interesting and beautiful. By the Ethno- archaeological point of view, we can try to understand the facts and figures of different era. This paper generally tried to give detail based on Exploration.

Reference

1. Badam, G.L. and Shroti B.*,(2014)"A Multidisciplinary Approach to the Study of Rock Art: A Case Study of Chhattisgarh, India"* in B.L. Malla (ed.) *Rock Art Studies, VoIl. (Interpretation through Multidisciplinary Approaches),* IGNCA,New Delhi and Aryan Books International, New Delhi 2014
2. Badam G.L. and Shroti B.,*"A multidisciplinary approach to the study of rock arts, a case study of Chhattisgarh, India"* in B.L. Malla (ed.) *Rock Art Studies, VoIl. (Interpretation through Multidisciplinary Approaches),* IGNCA,New Delhi and Aryan Books International, New Delhi
3. Basa, K.K., Mohanty R.B., Ota S.B., 2015(ed.by*) "Megalithic Traditions in India. Archaeology and Ethnography*" Vol. I &II , Aryan book International, New Delhi
4. Bhagat,JR,Pradhan,A.K, Yadav,SN. and Goswami,D. *New Rock Art Sites From Bastar Division,C.G*
5. Elwin,V. 1945, "*Funerary customs in Bastar state*", Man in India, vol.25
6. Elwin,V. 1947,"*The Muria and their Ghotul"*. London : Oxford University Press
7. Ghosh, A., "*An Encyclopedia of Indian Archaeology"*, vol.-1, Munshiram Manoharlal publishers, page no-110
8. Jagdalpuri L., (2016) "*Bastar, itihas evam Sanskrit*" , Madhya Pradesh hindi granth akadmi(Hindi), chaturth sanskara
9. Kumar, Vinay, 2018, *"Rituals and practices associated with the megaliths of Bastar*",(research article), heritage journal of multidisciplinary studies in archaeology
10. Mahawar N.,(2011) "*Bastar Bronzes: Tribal religion and Art*"
11. Malla B.L. and Sonawane V.H,(2013) *"Global rock art"* IGNCA, Aryan book international, new delhi

12. Malla B.L., *(2014)"Rock art studies vol.1: Concept, Methodology, Context, Documentation and concervation"* & *"Rock art studies vol.2 :Interpretation through multidisciplinary approaches"* IGNCA, Aryan book international, new delhi
13. Parihar, D.N.,(1998)*"Dakshin Kosal Ka Itihas", New Delhi*
14. Postel, M., and Cooper, Z.,(1999) *"Bastar folk art , shrines, figurines and memorials"*
15. Sharma, A.K., 2000, "*Archaeo-anthropology of Chhattisgarh*", Sandeep Prakash an, New Delhi, page-31-33
16. Sharma, R., (1974), *"Madhya Pradesh Avam Chhattisgarh Ka Puratattvav Ka Sandarbh granth*", Chhattisgarh granth acadmy
17. Sharma, R.K. and Tiwari S.K., (2002)*"Tribal history of central India*"
18. Shotri, B., (2009) "*Sarangarh Tahsil Ke Chitrit Shailashraya"*, "Madhya Bharat ke Shail Chitra"

Fig. 1 – One of the highest Menhir, Bewarti

Fig. 2 – Two Mehnir erected together

Fig. 3 – Undressed Menhir

Fig. 4 - Pictograph

प्राचीन छत्तीसगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

डॉ. कृष्णकुमार त्रिपाठी

भौगोलिक परिवेश

छत्तीसगढ़ को प्राचीनकाल में 'दक्षिण–कोसल'' कहा जाता था। दक्षिण–कोसल के अंतर्गत छत्तीसगढ़ के सरगुजा, रायगढ़ बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव तथा बस्तर आदि जिलों के साथ उड़ीसा राज्य के सम्बलपुर, बोलांगिर तथा कालाहांडी जिलों का भी समावेश था। यह प्रदेश मेकल, रामगढ़, और सिहावा की ऊँची पहाड़ियों से आवृत्त तथा महानदी (प्राचीन चित्रोत्पला) और उसकी सहायक शिवनाथ, मांढ, रवारून, जोंक और हसदो आदि नदियों के जल से अभिसिंचित है। इन नदी–घटियों के तटों पर विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का उदय और विकास हुआ, जिसके पुरावशेष यत्र–तत्र बिखरे होने पर भी दक्षिणकोसल के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की ओर पुरातत्व–वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समय तक इतिहास और संस्कृति का स्वरूप परिलक्षित होता है।

प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक काल

प्रागैतिहासिक काल में यह भू–भाग आदिम मानवों द्वारा आवासित रहा है। प्रागैतिहासिक काल के पाषाण–उपकरण निर्माण में बलुये तथा क्वार्टज़ाईट, ट्रेप जैसे कठोर पत्थरों का उपयोग किया जाता था। महानदी, शिवनाथ नदियों के अतिरिक्त रायगढ़ ज़िले के सिंहनपुर, रायगढ़, टेरम तथा बस्तर क्षेत्र के खरगाघाट, घाट लोहांगा, मातेवारा, कालीपुर, देउरगाँव, गढ़बोधरा, पुजारीपाली, कांकेर, पोलमपल्ली, संकनपल्ली तथा कतिपय अन्य स्थलों से मिले हैं। इस काल के उपकरणों में हस्तकुठार, विदारिणी, बेधनी आदि उल्लेखनीय हैं। उत्तर पुरापाषाण (मेसोलिथिक) काल में पाषाण उपकरणों में ब्लेड, ब्यूरिन, नुकीले फलक सम्मिलित हैं। महानदी घाटी से प्राप्त सूक्ष्म पाषाण उपकरण अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं, जो फलक तथा अज्यामितिय आकार–प्रकार के हैं।

शैलचित्र

दक्षिण–कोसल (आधुनिक छत्तीसगढ़) के क्षेत्र के रायगढ़ तथा बस्तर से चित्रित शैलाश्रयों की उपलब्धि विशेष महत्त्वपूर्ण है। रायगढ़ में सिंघनपुर, बसनाझर, बोतलदा (खरसिया), कबरा पहाड़, नवागढ़ ओंगना, टीपाखोल,, करमागढ़, धरमजयगढ़, बेनीपाट, बस्तर जिले में मतनारा, नढ़पल्ली, नाम्बी, आलोर एड़का, कोरबा तथा बिलासपुर जिले के लोरमी आदि स्थलों से शैलचित्रों की उपलब्धि से आदिम मानवों की कलाप्रियता जीवन–पद्धति,

शिकार, आमोद–प्रमोद, धार्मिकवृत्ति आदि पर रोचक प्रकाश पड़ा है। कोरबा, राजनांदगाँव तथा कतिपय अन्य स्थलों से प्राप्त शैलचित्र उल्लेखनीय हैं।

नवपाषाण काल– दक्षिण–कोसल में नवपाषाण कालीन सभ्यता के उपकरण दुर्ग तथा बस्तर ज़िलों के अर्जुनी, नांदगाँव, बस्तर के अतिरिक्त रायगढ़ जिले के टेरम (घरघोड़ा, तहसील), कबरा पहाड़ (नवाश्म हस्तकुठार) उल्लेखनीय है। संभावना है कि महानदी तथा शिवनाथ नदी–घाटी के व्यापक सर्वेक्षण से इस संस्कृति पर और अधिक प्रकाश पड़ा है।

आद्यैतिहासिक काल– (ताम्राश्मकाल) महानदी घाटी के सर्वेक्षण से ज्यामितीय पद्धति से निर्मित विविध आकार–प्रकार के सूक्ष्म पाषाण उपकरण तथा मृद्भांडों के ठीकरे मिले हैं। इस सभ्यता का संबंध वैदिक आर्यों से जोड़ा जा सकता है। बिलासपुर के समीप खरोद से काले तथा लाल रंग के एक ठीकरे के अंदर की ओर काली सतह पर सफेद रंग से चित्रित रेखांकन मिला है, जो ताम्राश्मकालीन सभ्यता के चित्रित मृद्भांडों की निर्माणकला से साम्य रखता है। राजिम से भी ताम्रपाषाणकाल के मृद्भाण्ड उपलब्ध हुए हैं। दक्षिण–कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र बालाघाट जिले के गुंगेरिया नामक स्थान से 424 ताम्र–उपकरणों का अद्भुत भण्डार सन् 1870 में मिला था। यदि इस सभ्यता के प्रसार को विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाये, तो यह मानना युक्ति संगत होगा कि इन ताम्र–उपकरणों का सांस्कृतिक प्रभाव दक्षिण–कोसल क्षेत्र पर अवश्य रहा होगा। उत्तर भारत, बिहार, बंगाल, मध्य भारत, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत की सभ्यताओं ने समय–समय पर दक्षिण–कोसल के भू–भाग में सांस्कृतिक तत्त्वों की उद्भावना में विशेष योगदान दिया।

महाश्म शवागार संस्कृति (मेगालिथिक कल्चर) –

ईस्वी पूर्व एक हज़ार वर्ष के लगभग विवेच्य क्षेत्र में इस सभ्यता का उदय हुआ, जिसे महाश्म–शवागार (मेगालिथिक) सभ्यता के नाम से जाना जाता है। दक्षिण–भारत, बिहार, मध्यभारत तथा उत्तर भारत से लेकर काश्मीर तक के विस्तृत क्षेत्र में महाश्मशवागार स्मारक सभ्यता का प्रसार देखने को मिलता है। दुर्ग, रायपुर तथा बस्तर जिलों के भू–भाग से छतरी के आकार वाले (छत्रनुमा) तथा गोलाकार गर्त वाले शवागार प्रकाश में आए हैं। दुर्ग, धनोरा तथा रायपुर जिलों के कतिपय महाश्मशवागारों में डॉ. एम.जी. दीक्षित तथा डॉ. संतलाल कटारे (प्राचार्य) द्वारा क्रमशः उत्खनन–सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न कराया गया था। बस्तर क्षेत्र में महाश्म–शवागारों की खोज/सर्वेक्षण श्री व्ही.डी. कृष्णास्वामी तथा डॉ. विवेकदत्त झा द्वारा की गयी है, जिसके परिणामस्वरूप इस सभ्यता के संबंध में प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। दुर्ग, धमतरी–भुजगहन से ज्ञात अनेकशः महापाषाणीय शवागार स्मारक उल्लेखनीय हैं।

मल्हार (जिला बिलासपुर) के उत्खनन (वर्ष 1975–78) से दक्षिण–भारतीय महाश्म शवागार–सभ्यता से मिलते–जुलते पकी मिट्टी के बर्तनों के ठीकरे मिले हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ताम्रपाषाण काल तथा महाश्म–शवागार– सभ्यता के काल में मानव के भौतिक जीवन में उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ। प्रथम काल में केवल तांबे का प्रयोग होता था, बाद के युग में लोहा प्रयोग में आने लगा।

महाजनपद काल– उत्तर भारत के प्राचीन जनपदों में कोसल का नाम प्रसिद्ध था। वर्तमान छत्तीसगढ़ क्षेत्र का नाम भी कालांतर में कोसल रखा गया उत्तर वाले जनपद से (जिसकी राजधानी अयोध्या थी और बाद में श्रावस्ती हुई) भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दक्षिण वाले जनपद का नाम ''दक्षिण–कोसल'' प्रसिद्ध हुआ।

अनुश्रुतियों तथा वाल्मीकि रामायण से आभासित होता है कि अयोध्या के राजा दशरथ की बड़ी रानी, राम की माता कौशल्या कोसल देश की थीं। यह कोसल राजा दशरथ द्वारा शासित कोसल से भिन्न रहा होगा और संभावना व्यक्त की गई है कि वही दक्षिण कोसल रहा होगा। रामायण काल में यहां की राजकन्या अयोध्या में राजा दशरथ को ब्याही गयी। कोसल देश की होने के कारण उसे 'कौशल्या' कहा गया। कालांतर में कोसल का विस्तार हुआ, इसमें अयोध्या राज्य भी समाविष्ट हो गया। संभवतः राजा दशरथ को दहेज़ के रूप में अथवा उत्तराधिकारी की आवश्यकता के कारण कोसल राज्य प्राप्त हुआ था। दशरथ के पश्चात् राम ने राज्य किया और अपने उत्तराधिकारियों में राज्य का बँटवारा कर दिया।

अयोध्या (अर्थात् कोसल राज्य का उत्तरी भाग) बड़े लड़के, ''लव'' को दिया गया तथा दक्षिणी भाग छोटे लड़के 'कुश' के हिस्से में आया। कुश की राजधानी ''कुशावती'' कही गयी है, जो विन्ध्य एवं वेण्वा नदी के समीप स्थित थी। पुराणों में ''कोसला'' नामक ग्राम का उल्लेख मिलता है, जो अभिलेखों से ज्ञात ''कोसला'' से अभिन्न प्रतीत होता है। भरतबल के बम्हनी ताम्रपत्र, शूरबल के मल्हार ताम्रपत्र तथा वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण के बालाघाट, माहुरझरी एवं भाण्ढल ताम्रपत्रों में कोसला का उल्लेख मिलता है, जिसका अभिज्ञान ''दक्षिण कोसल'' से किया जाता है। मल्हार (ज़िला बिलासपुर) से सोमवंशी (पाण्डुवंशी) नरेश महाशिवगुप्त का एक और ताम्रपत्र प्राप्त हुआ, जिसमे कोसल नगर उल्लिखित है, मल्हार–उत्खनन से, ''गामस कोसलीया'' लेख सहित मृण्मुद्रा मिली है। यह दोनों कोसल एक ही स्थान के लिए अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति में कोसल का नामोल्लेख है। रामायण काल में इस भूभाग का विशेष महत्व था। मल्हार के देउर मंदिर परिसर में संरक्षित 'बालिवध' कथानक स्तंभ, श्रीराम की प्रतिमा तथा जांजगीर के विष्णु–मंदिर में प्रदर्शित सीता–हरण, मारीचि वध, पंचवटी में राम–लक्ष्मण तथा सीता, शिवलिंग पूजा के राम–कथानक प्रसंग रोचक हैं। रामायण तथा महाभारत के कथानकों का मूर्तिशिल्प विधान

तथा सामाजिक जन–जीवन में व्यापक प्रभाव पड़ा। छत्तीसगढ़ में चंदखुरी का श्रीराम से गहरा सम्बन्ध रहा है।

दक्षिण–कोसल के सुविस्तृत भू–भाग में नंद–मौर्य, सातवाहन, कुषाण, मघ, वाकाटक, गुप्त, राजर्षितुल्य कुल, नलवंश, शरभपुरीय वंश, दक्षिण–कोसल का पाण्डु (सोम) वंश, त्रिकलिंगाधिपतिसोमवंशी (श्रीपुर–सिरपुर), चक्रकोट के छिंदकनाग, त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि (11वीं शती), कांकेर का सोमवंश (ई. 1320) कवर्धा का नागवंश आदि प्रमुख राजवंशों के शासन की हमें जानकारी मिलती हैं। इन राजवंशों के समय में दक्षिण–कोसल का भू–भाग राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का उल्लेखनीय केन्द्र रहा है। प्राचीन छत्तीसगढ़ में शैव, वैष्णव शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध तथा जैन–मतों का साथ–साथ विकास हुआ, जिससे ''सर्वधर्म समभाव'' का स्वरूप यहाँ के जन–जीवन में आज भी देखने को मिलता है।

प्राचीन इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास, साहित्य एवं संस्कृति की उदभावना में छत्तीसगढ़ अंचल का विशिष्ट योगदान रहा है। साहित्यिक तथा पुरातत्त्वीय स्रोतों से ज्ञात होता है कि लगभग ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से इस क्षेत्र के सुविस्तृत भू–भाग में धर्म, साहित्य तथा ललित कलाओं का निरंतर विकास होता रहा है। दक्षिण–कोसल (वर्तमान छत्तीसगढ़) क्षेत्र प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण है। यहाँ मेकल पर्वत–श्रृंखला पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है। महानदी इस क्षेत्र की सबसे बड़ी नदी है। सोन तथा नर्मदा नदियां इस क्षेत्र से उत्तर–पूर्व तथा उत्तर पश्चिम भागों में प्रवाहित होती हैं। शिवनाथ, मनियारी, अरपा, लीलागर, हसदो, सोन, मांद, खारून, जोंक आदि अन्य उल्लेखनीय नदियां हैं।

उत्तर भारत के प्राचीन जनपदों में ''कोसल जनपद'' का नाम प्रसिद्ध था। छत्तीसगढ़ क्षेत्र का नाम भी कालांतर में कोसल रखा गया। उत्तर वाले कोसल जनपद से जिसकी राजधानी ''अयोध्या'' थी और बाद में श्रावस्ती हुई, भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दक्षिण वाले जनपद का नाम ''दक्षिण–कोसल'' प्रसिद्ध हुआ।

वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि अयोध्या नरेश दशरथ की बड़ी रानी तथा श्रीराम की माता कौशल्या 'कोसल' देश की थीं। यह कोसल राजा दशरथ द्वारा शासित कोसल से भिन्न रहा होगा। रामायण तथा परवर्ती साहित्य से ज्ञात होता है कि श्रीराम ने अपने प्रवास में दण्डकारण्य जाने के लिए चित्रकूट से आगे जिस मार्ग का अवलम्बन किया था, वह शहडोल, बिलासपुर तथा रायपुर जिलों से होकर जाता था। दण्डकारण्य का यह मार्ग ईस्वी चौथी शती तक पर्याप्त प्रचलित हो चुका था। गुप्त सम्राट् ''समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति'' में कोसल का नामोल्लेख मिलता है। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि इस

भू–भाग को कोसल की संज्ञा गुप्तकाल के पूर्व प्राप्त हो चुकी थी। पुराणों तथा महाकाव्यों में भी कोसल की चर्चा है।

मेकल के दक्षिण का क्षेत्र कोसल कहलाता था। कालांतर में मेकल क्षेत्र कोसल में समाहित हो गया और इस प्रकार ''महाकोसल'' का निर्माण हुआ। विगत वर्षों में छ.ग. क्षेत्र में किये गये पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों से मिट्टी के परकोटों से घिरे हुये अनेक गढ़ों की खोज पुराविदों द्वारा की गयी है। ये प्राचीन काल में ''आटविक दुर्ग'' कहलाते थे। उत्तर मध्यकाल (लगभग 14 वीं शताब्दी) में दक्षिण कोसल के स्थान पर ''छत्तीसगढ़'' नाम इन्हीं दुर्गों के समवाय का द्योतन करता है।

प्राचीन काल में उत्तर भारत को दक्षिणी पूर्वी समुद्र तट से जोड़ने वाला स्थल–मार्ग कौशाम्बी, (प्रयागराज), सतना, भरहुत, शहडोल, बिलासपुर तथा रायपुर से आगे बढ़ता था। इस मार्ग पर स्थित महत्त्वपूर्ण नगरों में बांधवगढ़, खरोद, शिवरीनारायण, मल्हार, सिरपुर आदि उल्लेखनीय हैं। इस मार्ग के माध्यम से कलिंग (उड़ीसा) के साथ दक्षिण कोसल के संबंध दृढ़ हुए। ईस्वी पांचवी शती के पश्चात् सोमवंशी शासकों का राज्य विस्तार कलिंग के समुद्रतट तक हो गया। इससे दोनों क्षेत्रों के बीच व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रगाढ़ हो गये।

''छत्तीसगढ़'' के सुविस्तृत भू भाग से पाषाणकालीन सभ्यता पर प्रकाश डालने वाले विभिन्न आकार–प्रकार के प्रस्तर–उपकरण नदी–घाटियों के पुरातत्वीय सर्वेक्षणों से मिले हैं। रायगढ़ जिले के शैलचित्र सुविख्यात् हैं। इसी अनुक्रम में बस्तर क्षेत्र के आलोर तथा राजंनादगांव के चितवा डोंगरी के शैलचित्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मृत्तिकागढ़ों की संख्या सर्वाधिक है, जो ताम्राश्मकाल (आद्यैतिहासिक काल) से लेकर लगभग 15वीं शताब्दी तक गढ़–निर्माण की परम्परा एवं सुरक्षा–व्यवस्था पर सर्वांगीण प्रकाश डालते हैं। छत्तीसगढ़ अंचल में वैदिक, पौराणिक, बौद्व, जैन तथा अन्य मतों का सांस्कृतिक समन्वय उल्लेखनीय है।

रामायण तथा महाभारत काल के अनेक रोचक प्रसंग मल्हार, खरौद, शिवरीनारायण, जांजगीर, रतनपुर, राजिम, देव बालोद, चंदरवुरी, तुरतुरिया, घटियारी तथा कतिपय अन्य प्राचीन कला–केन्द्रों के शिल्पांकन में देखने को मिलते हैं। छत्तीसगढ़ के सिरपुर (महासमुन्द जिला रायपुर) तथा मल्हार (बिलासपुर) के प्राचीन स्थलों के उत्खननों से पुरातात्त्विक महत्त्व के प्राचीन सिक्के, ताम्रपत्र, अभिलेख, मृण्मूर्तियाँ तथा पाषाण–कलाकृतियां आदि प्राप्त हुई हैं। ताला, खरौद, मल्हार, रतनपुर, शिवरीनारायण, अड़भार, जांजगीर, आरंग, राजिम, सिरपुर, तुरतुरिया, देव–बालोद, भोरमदेव, सिलीपचराही, कवर्धा, घटियारी, डोंगरगढ़, गंडई, अमलीडीह कला तथा छत्तीसगढ़ के सुविस्तृत भू–भाग में स्थित अनेक कलाकेन्द्रों से

वास्तुकला, मूर्तिकला, आंचलिक लोककला एवं साहित्य से संबंधित बहुसंख्यक प्रमाण निरंतर उपलब्ध हो रहे हैं। रामायण तथा महाभारत कालीन जन–जीवन से दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) का प्रगाढ़ संबंध रहा है।

इस क्षेत्र में मौर्य–सातवाहन, कुषाण तथा वाकाटक–गुप्त कालीन इतिहास के संबंध में प्रकाश पड़ा है। छत्तीसगढ़ के सुविस्तृत भू–भाग में राजर्षितुल्य कुल, नल वंश, शरभपुरीय वंश, पाण्डुवंश, मेकल के पाण्डव, त्रिकलिंगाधिपति, सोमवंशी नरेश, तुम्माण, रतनपुर–रायपुर के कलचुरि, चक्रकोट के छिंदकनाग, कवर्धा का नागवंश, कांकेर के सोमवंशी तथा परवर्ती राजवंशों की जानकारी हमें मिलती हैं। इस क्षेत्र पर गढ़ा–मण्डला के गौड़ राजाओं तथा नागपुर के भोसला शासकों का आधिपत्य भी रहा है। लगभग ईस्वी 1854 के आसपास छत्तीसगढ़ ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बन गया। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत क्षेत्रीय रियासतों तथा जमींदारों के शासन की जानकारी मिलती है, जिनमें राजनांदगाँव, कवर्धा, खैरागढ़, छुईखदान रियासतों सहित अम्बागढ़ चौकी मानपुर–मोहला आदि जमींदारियां सम्मिलित थीं।

छ.ग. के सुविस्तृत भू–भाग में साहित्य, कला एवं संस्कृति की त्रिवेणी सतत् प्रवाहमान दिखायी देती हैं। अनेक पूर्ववर्ती अध्येताओं, पुराविदों एवं साहित्य साधकों द्वारा छ.ग. के सांस्कृतिक स्वरूप को काल–क्रमानुसार स्पष्ट करने का यथेष्ट प्रयास किया है। छ.ग. के सुविख्यात् महान चिंतक एवं यशस्वी विभूतियों में राजा महंत घासीदास जी, पंडित रविशंकर शुक्ल, आचार्य बल्देव प्रसाद मिश्र, साहित्य सेवी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी, पंडित लोचन प्रसाद पाण्डेय, शहीद वीरनारायण सिंह, श्री खूबचन्द बघेल, ठा. प्यारेलाल सिंह, बैरिस्टर छेदीलाल जी, गजानन माधव मुक्तिबोध, पंडित मुकुटधर पाण्डेय, प्रभृति अन्यान्य सुधी–साधकों के अवदान तथा अनेक शीर्षस्थ साहित्यकारों, स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों, राजनीतिक विचारकों, इतिहासकारों ने छ.ग. के सांस्कृतिक वैभव को रेखांकित किया है। इस आदिवासी बहुल छ.ग. अंचल की जन–जातियों की लोक–भाषा, लोक–साहित्य, लोक कला, लोक–नृत्य, उत्सव, पर्व, रीति–रिवाज़ों, नृत्य–संगीत आदि से संबंधित सभी सांस्कृतिक तत्त्वों का तथ्यपरक विश्लेषण नितांत आवश्यक है। इस दृष्टि से आदिम लोक–संस्कृति के संरक्षण के लिये स्थल–स्थल पर परिभ्रमण करके पाण्डुलिपियों तथा कलाओं से संबंधित जानकारी एकत्रित कर उनका अनुशीलन तथा प्रकाशन एवं संग्रहालय को विकसित कर आदिवासी लोक–कला संग्रहालय की स्थापना किया जाना उपयुक्त है।

छ.ग. की सांस्कृतिक विरासत, उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति, उनके सौन्दर्य बोध और जीवन–पद्धति में मौजूद है। किसानों के घरों की दीवार–सज्ज़ा से लेकर श्रमजीवियों के नृत्य–संगीत तक उसकी उपस्थिति आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध है। सुआगीत, करमा, ददरिया, संस्कार–गीत, राउत नाचा, पंथी नृत्य की कलात्मकता आज राष्ट्रीय सीमा को पार कर चुकी

है। पंडवानी, राजा भर्तृहरि, चंदेनी जैसे कथा–गीत और लोक–नाट्य नाचा, आज रंगकर्मियों और कला प्रेमियों की अभिव्यक्ति को नया आयाम दे रहे हैं। ''नाचा'' का फार्म अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त रंगकर्मी स्व. हबीब तनवीर की रचनात्मकता का आधार बना, जिसके कारण भारत के रंगकर्म की एक नई पद्धति ने जन्म लिया। छ.ग के कलाकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगकर्म को अपनी कला से आश्चर्य चकित किया है। लोक–पर्वों से जुड़े चित्रांकन की कलात्मकता छ.ग. के ग्रामीण जन–जीवन का अनिवार्य हिस्सा है।

छ.ग. की जन–जातियों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अपनी–अपनी शैलियां विकसित हुई हैं। इसी तरह आदिवासियों की एक निजी सांस्कृतिक पहचान है, जो आज भी उनके प्रति जिज्ञासा और सम्मान का भाव पैदा करती है।

छत्तीसगढ़ी बोली में साहित्यिक कृतियों का सृजन मध्ययुग से प्रारंभ हुआ, जो आज भी जारी है। उसी के समानान्तर लोक–काव्य, लोक–कथाओं के विपुल भण्डार में लोक की आत्मा विद्यमान है। बच्चों के पारंपरिक खेलों तक में लोक–काव्य की छटा देखी जा सकती है। छत्तीसगढ़ी बोली भी आधुनिक कविता, आंचलिक अस्मिता और युगीन परिवर्तनों को अपने में समाहित करते हुए विकास की सीढ़ियां तेजी से बढ़ रही है।

छत्तीसगढ़ की यह सांस्कृतिक संपदा अपने पारंपरिक रूप में नई पीढ़ी तक पहुंची है। त्वरित गति से बदलते–सामाजिक परिवेश और जीवन–पद्धति में छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक उपकरणों और कलारूपों के डाक्यूमेंटेशन की आवश्यकता है। वेशभूषा–आभूषण से लेकर लोक–धुनें तक बाजारवाद का शिकार बन रही हैं। उपभोक्ता–संस्कृति के इस दौर में सांस्कृतिक तत्त्वों के वर्तमान रूप के संरक्षण के उत्तरदायित्व का निर्वाह कोई ऐसी संस्था ही कर सकती है, जो उसकी सूक्ष्मता को समझने में सक्षम हो तथा जिसके दैनन्दिन कार्य का ही यह हिस्सा है। छत्तीसगढ़ के भू–भाग में फिल्म–उद्योग की स्थापना होने से यहाँ की आंचलिक लोककथाओं एवं संस्कृति का त्वरितगति से विस्तार होना सुनिश्चित है।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय (खैरागढ़) प्रातः स्मरणीय महाराजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं महारानी पद्मावती देवी की परिकल्पना का शाश्वत स्वरूप है। सन् 1956 में स्थापित यह विश्वविद्यालय एशिया का सर्वाधिक प्राचीन प्रतिष्ठित साहित्य, कला–संगीत एवं संस्कृति का विशिष्ट एवं प्रमुख साधना–केन्द्र हैं। छत्तीसगढ़ की कला–संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये और पूरे देश के मानचित्र पर विशिष्ट पहचान स्थापित करने की दृष्टि से दक्षिण–भारत के एक प्रतिष्ठित शैक्षणिक संस्थान के साथ पुडुचेरी के मुख्यमंत्री जी की उपस्थिति में एक अच्छी रचनात्मक पहल हुई है।

''छत्तीसगढ़'' अंचल में बहुमूल्य सांस्कृतिक संपदा यत्र–तत्र फैली हुई हैं। कतिपय दुर्लभ सांस्कृतिक तत्त्व आज विलुप्त होते दिखाई देते हैं। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि छत्तीसगढ़ के प्राचीन साहित्य, पुरातत्त्व, आंचलिक लोक–कला, लोक–भाषा, लोक–संगीत,

वाद्य, नृत्य, उपलब्ध सांस्कृतिक तत्त्वों का संकलन एवं गवेषणात्मक शोध–परक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए।

1. दक्षिण–कोसल के भू–भाग से अब तक जो पुरावशेष प्रकाश में आये हैं, अभी तक उनकी समग्र रूप से विवेचना एवं प्रस्तुतीकरण का कार्य विधिवत् नहीं हो पाया है। सिली–पचराही, डमरूगढ़, सिरपुर, मल्हार, भरतपुर, मदकूद्वीप, रीवा (रायपुर) आदि के उत्खननों से ज्ञात पुरातात्त्विक अवशेष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।
2. दक्षिण–कोसल के बिलासपुर जिले के मल्हार में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग द्वारा कराये गए उत्खनन के परिणाम स्वरूप कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। मल्हार से विगत् वर्षों में शरभपुरीय तथा सोमवंशी शासकों से संबंधित अनेक ताम्रपत्र तथा कतिपय अभिलेख मिले हैं।
3. मल्हार के स्थानीय संग्रहकर्ताओं को सातवाहन, मघ, मित्र, नामांत शासकों, श्री शरभयुक्त लेख सहित दुर्लभ सिक्कों की उपलब्धि से इन राजवंशों से संबंधित राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ा है।
4. विगत वर्षों में दक्षिण–कोसल क्षेत्र के विविध स्थलों से रोचक पुरातत्त्वीय सामग्री निरंतर प्राप्त हो रही है। इस संदर्भ में कतिपय नवोपलब्ध सिक्के, शिलालेख, ताम्रपत्र, पकी मिट्टी की अभिलिखित मुहरें आदि उल्लेखनीय हैं।
5. दक्षिण–कोसल के भू–भाग से उपलब्ध विपुल पुरातत्त्वीय संपदा, अभिलेख, सिक्के, मृण्मुद्राएं अभिलिखित स्मृतिस्तंभ तथा अन्य पुरावशेषों का प्राचीन मूल साहित्यिक स्रोतों के आधार पर अध्ययन कर उसकी विस्तृत व्याख्या किया जाना सम–सामयिक होगा।
6. शरभपुरीय तथा सोमवंशी शासकों के शासनकाल में निर्मित कराये गए, संप्रति ध्वस्त मंदिरों के मलबे की सफाई एवं संरक्षण का कार्य केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासन के पुरातत्त्व विभागों द्वारा विगत वर्षों में सम्पन्न कराया गया है। फलतः अनेक दुर्लभ पाषाण कलाकृतियों तथा मंदिर–निर्माण–शैली की नवीन विधायें सामने आई हैं। ताला (बिलासपुर) का जेठानी–देवरानी मंदिर, मल्हार का देउर मंदिर, डीपाडीह के मंदिर समूह तथा दुर्लभ कलाकृतियों की उपलब्धि, गढ़–धनौरा, बारसूर तथा भोंगापाल की मूर्तियों तथा मंदिरों की वास्तु–संरचना एवं मूर्तिकला से विविध राजवंशों के सांस्कृतिक इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ा है।
7. दक्षिण–कोसल क्षेत्र का श्रृंखलाबद्ध प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के लेखन का कार्य अभी तक संभव नहीं हो पाया। यद्यपि प्राचीन इतिहास के अध्येताओं विद्वानों ने समय–समय पर विवेच्य क्षेत्र से उपलब्ध पुरा–सामग्री का अध्ययन किया है। परंतु दक्षिण कोसल से ज्ञात अद्यतन पुरावशेषों, अभिलेखीय विवरणों का अभिज्ञान एवं उसका समग्र रूप से उपयोग सांस्कृतिक इतिहास–लेखन में नहीं हो पाया है।

8. सिरपुर, मल्हार, ताला, रतनपुर, शिवरी नारायण, खरौद, राजिम, जांजगीर, अड़भार सहित अन्यान्य कलाकेन्द्रों, पुरा–स्थलों का विधिवत् सर्वेक्षण तथा कतिपय स्थलों में उत्खनन–कार्य से इस दिशा में नवीन प्रकाश पड़ेगा। पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा के निर्देशन में, सिरपुर–उत्खनन से बौद्धमत तथा अन्य प्रचुर मात्रा में पुरावशेष मिले हैं।
9. पुराविदों– पं. लोचनप्रसाद पाण्डेय जी, महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी, डॉ. एम, जी दीक्षित, पं. सुंदरलाल त्रिपाठी, डॉ. प्यारेलाल गुप्त, श्री रेवाराम जी, श्री हरि ठाकुर, श्री बालचन्द्र जैन, प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी, श्री कृष्ण देवजी, प्रोफेसर अजय मित्र शास्त्री, प्रोफेसर सुधाकर पाण्डेय, प्रोफेसर रमानाथ मिश्र, डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय, प्रोफेसर (डॉ.) विवेकदत्त झा, डॉ. हीरालाल शुक्ल, डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, केदारनाथ ठाकुर, प्रोफेसर (डॉ) एल.एस.निगम, डॉ. प्रोफेसर राकेश पाण्डेय प्रभृति अन्यान्य विद्वानों ने दक्षिण कोसल के प्राचीन इतिहास एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को समुचित रूप से प्रकाश में लाने का श्रेय अर्जित किया है। डॉ. एम.एन.झा (खैरागढ़), डॉ. गोपालशेष (बिलासपुर), डॉ. के.के. चक्रवर्ती, सेवा–निवृत्त (तत्कालीन प्रमुख सचिव, छ.ग. शासन), प्रोफेसर डॉ. रमेन्द्र नाथ मिश्र (रायपुर), प्रोफेसर (डॉ.) चन्द्रशेखर गुप्त (नागपुर), प्रोफेसर (डॉ.) ए.एल. श्रीवास्तव (भिलाई), प्रोफेसर (डॉ.) जी.एल बादाम (पुणे), प्रोफेसर (डॉ.) आर.एन. विश्वकर्मा (राजनांदगाँव), प्रोफ़ेसर निदेश नन्दिनी परिहार, श्री जी.एल. रायकवार, (सेवा–निवृत्त) उप–संचालक डॉ. जी.के चंद्रौल उप–संचालक, डॉ. के.के. झा (जगदलपुर), डॉ. राहुल सिंह, श्री एस.एस. यादव, डॉ. जे.एल. भगत (रायपुर) के प्रयास सराहनीय हैं। डॉ. के.पी. वर्मा तथा डॉ. प्रभात सिंह सहित अन्य अनेक पुराविदों ने अपने प्रकाशित ग्रथों के माध्यम से छतीसगढ़ के पुरातत्त्व, वास्तु–कला–संस्कृति को परिभाषित किया है। छत्तीसगढ़ के प्राचीन स्थलों का सर्वेक्षण पुरातात्त्विक उत्खनन, संगोष्ठियों के आयोजन तथा प्रकाशन–कार्य निरंतर हो रहे हैं।

बस्तर–अंचल सहित छत्तीसगढ़ के इतिहास, पुरातत्त्व, कला एवं संस्कृति इत्यादि पर अनेकशः भारतीय प्रबुद्ध इतिहासकारों, कला–मर्मज्ञों, पुराविदों, साहित्य– साधकों, नृतत्त्व एवं समाजशास्त्रियों, अन्य विधाओं से सम्बन्धित विचारकों सहित पाश्चात्य विद्वानों ने छत्तीसगढ़ की जनजातीय संस्कृति, लोक–कलाओं, लोकोत्सवों, प्रचलित आस्थापूर्ण परम्पराओं तथा जनजातीय परिवेश का गहन अध्ययन एवं शोध–कार्यों का बहु–विध प्रकाशन किया है। छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक विरासत एवं इतिहास की संरचना में जनजातीय विशिष्टताओं एवं उनकी कलात्मकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन जन–जातियों की छत्तीसगढ़ अंचल की अस्मिता एवं सांस्कृतिक समन्वय में परस्पर सहभागिता है।

संदर्भ सूची –

1. गुप्त, प्यारेलाल : प्राचीन छत्तीसगढ़, पं. रविशंकर वि.वि. रायपुर, 1973।

2. जैन, बालचंद्र : उत्कीर्ण–लेख (सूचीपत्र), रायपुर
3. वर्मा, के.पी : छत्तीसगढ़ की स्थापत्य–कला, भाग 1 तथा 2, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, वर्ष– 2014; बस्तर की स्थापत्य कला, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, वर्ष–2008
4. त्रिपाठी, के.के. तथा अन्य (संपादक) : कला–वैभव, अंक 8–9 से 17; इंदिरा कला संगीत विवि. खैरागढ़; तथा आगामी अंक 27 तक; वर्ष 2020–21 (प्रधान संपादक : डॉ. एम. एन. झा)
5. मिश्र, रमानाथ : भारतीय मूर्तिकला, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1978, : 'स्कल्पचर्स ऑफ डाहल एण्ड दक्षिण कोसल', आगमकला प्रकाशन, दिल्ली।
6. वाजपेयी, के.डी. तथा पाण्डेय, श्यामकुमार : मल्हार, प्रा.भा.इति. सागर वि.वि 1978
7. त्रिपाठी, के.के तथा पाण्डेय, रघुनंदन प्रसाद : मल्हार दर्शन, भेल, भोपाल
8. पाण्डेय, श्यामकुमार : छत्तीसगढ़ का इतिहास तथा वास्तु–शिल्प, म.प्र. हिं.ग्रं.अकादमी भोपाल, 2002
9. पुरातन, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, शैव–विशेषांक, अंक 6 तथा 7, 1989, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, दुर्ग, रायपुर, बिलासपुर।
10. प्राच्य–प्रतिभा, प्राच्य–निकेतन, भोपाल, दक्षिण–कोसल विशेषांक, आर्ट ऑफ़ छत्तीसगढ़ अंक 9, 1994
11. कोसल, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर छ.ग. (अंक 1–12 तक)
12. कला–सौरभ; कला–वैभव, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) (सभी अंक; 1–27 तक)।
13. विश्वकर्मा, आर.एन. (सम्पादक) : छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, वर्ष–2012.
14. सिंह, राहुल कुमार : सुनहला छत्तीसगढ़ (सिंहावलोकन) पृष्ठ 112–115, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2019.
15. सिंह, प्रभात कुमार : मदकूद्वीप उत्खनन (2010–11), रायपुर, वर्ष 2013.
16. रायकवार, जी.एल. : सिसदेवरी उत्खनन, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्व, रायपुर, 2013
17. चन्द्रौल, जी.के. : पुरा–स्थल गढ़–धनोरा, रायपुर, 2015.
18. सिंह, आदित्य प्रताप : ऐतिहासिक एवं पौराणिक संदर्भ में नगरी–सिहावा, कोसल अंक 12 (वर्ष 2021); पृष्ठ 146–159; संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, छत्तीसगढ़।

RESONANCE OF LUST IN WOMEN IMAGERY WITH SPECIAL REFERENCES TO ANCIENT TILL MEDIEVAL INDIAN ART

Prof. Loveneesh Sharma,

Ms. Srishti Banerjee

Lust have been used as anintangible jewel to embellish and have direct inclination towards Sringara(material embellish) in Indian aesthetical contexts. Images of Women in different poses and gestures in Indian art cannot be separated from this asset of lust been infused in them through use of different attributes (either physical or symbolic) belong to them.This paper aims to provide an elaborate discourse about the sentiment of lust in the depiction of women from Ancient till Medieval Indian Art periods. Present study gives that how the understanding of representing Indian women in art imbibed with elements of Sringara resonate the aesthetical notions inspiring and compelling spectators to response to the idea of enjoyment and pleasure.

Lust has been used as an essential intangible element for embellishingwomen. To define Lust in Indian philosophical mindset and on to the grounds of aesthetical understanding Women in Indian art has been represented infused with notions of Lust as a source life in them. The graceful poses and gestures are suggestion of lust in them. Thereby making them figures, owing the romance and confidence to enchant spectator's mind and let them to enjoy the infused. Moreover, these kinds of imagery satisfy the erotic urgesof both men and women.Indian images of women are filled with such elements of Lust play. Become classics of the time they have been done. Artists while infusing elements of lust in any work consider the play of balance and rhythm although at times exaggerated but did not distort the aesthetical notions of lust. Artist uses material attributes of decoration tangible in representations,the expressions on their faces such as compelling eyes (brought about by the emotions that the artists wanted to portray)and sensual poses to make spectator to experience the delightand their graceful poses (*bhangimas)* that they carry. Such representation of this kind suggests two outcomes of intangible experiences such as temporal pleasure experiences and which is been classified in two main projections of lustwhich are the material aspect and the spiritual aspect.

In English, the word "Lust" has various meanings other than sexual appetite. It simply indicates strong passion for anything. For example, the famous, positive phrase, "lust for life" (indicating enthusiasm to live). In Sanskrit, the word *Kāma* has various meanings besides simple sexual lust. Most of them have sexual connotations, some of which are gross and some of them are subtle. Women in our ancient culture were associated with not just temptations, but with fertility, abundance and prosperity. And at times sensuality was openly embraced as the route to divinity. It is this integral relationship between the sensual and the spiritual in Indian art that has always challenged western ideals and baffled artists and viewers alike.

Representations of Lust in Women imagery in Indian Art

It is observed that the role of woman in not much contributed in the narratives of rock paintings of Bhimbetka from the prehistoric times. Their reproductive power is celebrated more than their actual identity as human beings. In this concern, fertility has remained a parexcellence and an exclusive merit of womanhood, so, the society and surroundings of each antiquity sanctioned its uppermost place than any other quality of woman.

Since time immemorial Indian sculptor took great interest and delight in depicting several attitudes, postures, and moods of depicting women in sensuous representations (Figure 1). One of the most remarkable and early pieces of sculpture of Dancing Girl in bronze comes from Mohen-jo-daro, datable to c.2500-1500B.C. We find her standing audaciously, nude with her hand on that waist, thin limbs, bangles arranged geometrically, pendulous lips, hair tied in a bun and with three pendants on her neck and slightly upward chin is a suggestion of attitude. She is clearly an object of lust. Benjamin Rowland describes her as no less surprising in her sophistication and prophetic of metal- work of Chola period. Interestingly this image does not have any association with divine. So, the way she appeared is more contemporary to the civilization. Dancing girl is the perfect example of the culture prevailed in Indus civilization and affirms that people of the civilization were worth to understand material beauty and representations alike. Moreover, it gives a break to perception of a motherly image of women as have been perceived in general about women in representations before Indus civilization.

In the words of Mortimer Wheeler in 1973, "There is her little Baluchi-style face with pouting lips and insolent look in the eye. She's about fifteen years old I should think, not more, but she stands there with bangles all the way up her arm and nothing else on. A girl perfectly, for the moment, perfectly confident of herself and the world. There's nothing like her, I think, in the world."

Theon-material grounds or to justify female representations in lust, they have been depicted in full breasts with exaggerated hips and with movements and actions proportionate to making them to appear youthful and curvaceous (almost an hourglass figure). In most of them are loaded with jewellery and wear elaborate head dresses that fan out around their heads adding attributes to their decoration and beauty.

Another example of the concern is from the Mauryan period and is of Yakshi, which appeared to be a semi-divine have been represented time and again quite extensively. They are sculpted with a thin waist, deep set navel and round breasts. Yakshisin Indian tradition are considered as nature spirits, mischievous and benevolent, of mythical origins known as the protectors of forests and villages. One of the popular sculptures found is called 'DidarganjYakshi' (Figure 2) in Bihar. It is a free standing, highly polished sculpture. She has a voluptuous body and each fold in her dress is finely sculpted making her look delicate and formidable at the same time.The Yakshi from Didarganj is a perfect union of spiritual and

sensual metaphor that runs like a thread through all religious art in ancient India. There is an all-pervading serenity or cheerfulness, and this lady displays her charm with frank innocence, a suggestion on to her face. Voluptuousness and passion are as important as grace and spiritual charm. The colossal size, massively built body with emphasis on muscular strength, free-standing, carved in rounds, the drapery consisting of a heavy drape hanging below up to the antes fastened with a heavy girdle, and the ornaments consisting of heavy ear-rings, long necklaces, a flat necklace, armlets etc. as regards its position in the evolution of Indian art the most natural suffusion of representing lust as life. Although the figure of Yakshi considered divine due to mythological concern by she appeared more natural and of this world enchanting spectator's mind towards the rotundity and masculinity of the body. She is a bejewelled figure and her pose contributes to more material appearance of infused lust rather than a divine appearance. We must not forget here the expertise of artist that he could render such schematic folds of drape and sensuous contours and a welcoming gesture infused in it. In "Kumar Sambhava" Kalidasa has beautifully described the full breasts, which adds to be beauty of a woman. With its fully rounded form and fluid lines, in the lively and sensitive modelling of the limbs and the almost sensuous touch of the soft, warm flesh, the Yakshi from Didarganj makes us lust for it. Women and tree came closer in a number of interesting rituals and socio-religious customs, and this is reflected into their depiction together into extremely alluring forms, and motifs. One of the nature related ancient fertility rituals was visiting the forest groves or pleasure gardens on the outskirts of the city and sporting with trees and flowers, particularly those of Shala. Women would gleefully bend the branches of the Shala trees, pluck the flowers and sportively throw them at each other with great pleasure. Naturally the sport which came to be known as Shalabhanjika, became speciality of eastern region.

One of the young sensuouscreations (Figure 3) is shown standing in a graceful posture holding a wine glass in her right hand and drinking from it with full concentration by raising her face slightly upwards. She seems to have been emptying the last few drops of the precious drink by tilting the glass bottoms-up. Eyes half-closed her face is flushed with the effect of wine consumed tastily. On her supple body she is wearing nothing except a number of bangles on both the hands, lovely necklace, girdle around hips and anklets on her feet. This is a unique piece of sculpture showing a nude young woman drinking wine without slightest inhibition.

The beautiful Apsara from cave XVII at Ajanta (Figure 4) is a splendid illustration of wealth of jewellery worn by the princesses of the Gupta period. Her throat is circled by a necklace of large pearls separated by square-cut sapphires. Below this she wears a strand of sapphires, perhaps set in diamonds. Suspended from this chain are looped pendants of seed pearls. These jewels swing with apsara's flying movement, and so do the pearl bangles of her toque, which appears to be richly embroidered with foliage motifs. This one picture evokes this delight of Indian women in jewels and the pleasure and power these gems bestow on the wearers.

Women painted in Ajanta caves are the art connoisseur's delight. The Ajanta artist has painted the whole range of women characters: ladies of court and their maids, dancers, common women in their house-hold chores. The woman was the theme that gave full scope for expression

of creative genius for the Ajanta artist. The artist had succeeded in reproducing dynamic forms, different curves of hips, the turn of heads, head gears, lavish jewellery, the gestures of her hands and the slanting glance of her eyes (in Figure 4). It is intriguing that most of Ajanta heroines are depicted naked, or in near nudity, while all the others in the same scene are fully clothed. The women in this painting are naked above waist. These women are wearing simple ornaments and have veils over their heads. Hairstyles vary among women from elaborate to simple. Usually the feminine attire consists of three pieces, a light bodice, over which is worn a tunic of pleasing design, slit for almost the entire length at the sides to give freedom of movement and incidentally exposing the waist and a skirt or sari clinging close to the body and revealing the figure. Royal ladies are often painted wearing transparent clothes. Wherever they painted woman, ansuggestion of beauty is infused through attributes of embellishments. Women are not painted as a centre of attraction or physical charm but as an embodiment of divinity, affection, compassion, inspiration and power.

Here the paintings of women haven't got voice, their gestures, postures and actions clearly manifest the whole story. In the paintings of women in Ajanta, the artists have given more importance to spirituality than sensuality imbibed in narratives related to the life of Buddha. But images of women in Ajanta whatever they relate to either secular or divinestand out and also the conducts been follow by artists to make them classics which again in its definition the extremes of the beauty been felt embedded in spiritual notions are represented.Some scholars believe that it's only the beauty of graceful lines that hides the obscenity in the portrayal of woman in the paintings of Ajanta. In the figures Divine in Indian Shakti tradition, Great Goddess Uma (Parvati) (Figure 5) from Chola Bronzes, the gracious wife and mother, is also manifested as Durga (Impassable One), the powerful warrior goddess and slayer of monsters. Durga is referred as guardian, and depictions of her are often placed at the entrance to forts, palaces, and temples.This exquisite early image of Umarepresents a lithe, youthful goddess, whose bodily form is almost adolescent, particularly in rear view. One front hand is raised in the Abhaya (gesture of protection) while the other rests gracefully against her thigh in Katyavalambita (a gesture of ease). Her short, patterned lower garment is knotted with bow-like ties on both sides and held in place with a jewelled girdle, while a band of the garment forms a loop below the girdle clasp. Her breasts are softly modelled and naturalistic in profile, with a sacred thread that snakes between them; rich necklaces, armlets, bangles, and anklets complete her adornment. Beneath a tall conical crown, her face is gentle and introspective. She stands on a lotus base placed on a rectangular pedestal with vertical tangs to support a prabha (aureole). Now what represents in the notions of lust interpreted in terms of spiritual in the figure of Uma from chola is the delicacy of contours, position and face expression which become ecstatic experience to perceive her alike there by justifying the need of grace in her pose. Moreover, her pose is not that exaggerated although full breasts, cattle drum waist with slight bulge to the lower abdomen become under-shadowed with hand gestures and half-closed eyesand also the Ayudhas she is carrying transform the whole idea of sensuousness to divine concern.

From the temples in Central India built from c. 950 A.D. to 1050 A.D. especially from Khajuraho Women reliefs and sculptures are world known. Female representations as Devanganas adorn temple creating amazing world of beauty and charm. R. Nath in his book

"The Art of Khajuraho", observes the beauty of female figures in numerous Intimate postures, games, holding mirrors, musical instruments, nudes, and bejewelled. The beauty of those images is remarkable, placid, eloquent, dignified and splendid. Though material but truly define beauty of being a Devangana (godly) is an image of is the image of otherworldly femininity retaining perpetual beauty. They wearlushalluring ornaments, appealingly arranging enormous variety of hairdosoverhead and dressed (or undraped) in sophisticated costumes the females in Indian sculpture flout their gorgeous forms and ever young to dominate the world by their womanlycharm and unmatched beauty. Artist of Khajuraho have simply illustrated the Kamasutra in vivid details by showing woman in every conceivable act of love through their sculptures.Indian sculptor has created numerous love-images to glorify Prakriti, the feminine creative principle. They stand as a testimony to his artistic skill.

Further, tradition of sensuousrepresentation female Images can be seen in Medieval period in the temples. Indian temples started assuming more and more imposing form and to embellish their massive surfaces various motifs were evolved. The most popular among them all showed young beautiful girls in various alluring attitudes and postures. These girls were generally known as Surasundaris (Figure 6) meaning heavenly damsels or Apsaras, demi-godess meaning idle-girls. They are found everywhere but most profuse and concentrated sculptural depiction of female beauty is found on temples Central India. Imbued with grace and elegance these women of rounded breasts, narrow waists, lovely limbs can be described as sheer poetry in stone. Each and every posture, attitude devised for them is intended to bring out distinctly the feminine charm of their supple and ever youthful bodies into visual focus. Though carved out in a static medium like stone they exude tremendous energy and life-force, so much so that you see them move, show gestures, express various tender emotions and virtually participate in life outside with gusto.

Shilpa Prakash of 9th c talks that an architectural monument is incomplete and inferior without a Surasundari. Particular feature in the images of Surasundaries is the *Adho-dristi*(not looking at someone or looking down) suggesting the grace of modesty and shame. There are many images carved of figures of women, playing on drum, cymbals and other musical instruments adorn the temples suggesting lust and enjoyment of life for those who perceived them for perceiving material beauty and ecstasy of those who perceived them figures in services or in companionship of major deities.

Reflections of such images are the portrayal of psychological perception of life of a women in Indian culture thereby suggest that Indian women apart from being a motherly figure or a figure divine as perceive in ancient civilization has transformed to a socially active image where she has an ability to entertain masses satisfying their instinctual urges to view them as sensual and divine both. It also suggests that how status of women over period of time been reflected, understood and projected by the artists of India.

Conclusion:

Tradition of representing women in lust from ancient till Medieval Indian art is a way long discourse to discuss. The only thing that has come across from the time mentioned is female

in Indian art has been represented in lust either a social figure or a divine. In both the categories she played and important role to entice the masses as they feel for the female representations in art. There are many references can be traced in miniaturepainting traditions in Indian where she appeared as different kinds of Nayikas. Lavish, bejeweled, images of tender, love, affection, and laugh. All of these representations are mentioned in the ancient texts and manuscripts available of the time mentioned been visualized by philosophers and created by artists portraying different emotional intensities of lust, glamour and grace. On the other hand if we consider female as divine figure we see not as much exaggeration has been done in the icons. they are the way carry their graceful poses and serene gazes which comes up as a basic difference in understanding the images infused with the notions of lust and divine. The endeavor of the artist is to infuse both glamour and spiritual ecstasy for a spectator to make him capable of entering into the *Para-jagat*which connects to his subconscious instincts and a curiosity of unconscious experience filled with wonder.

LIST OF FIGURES:

Figure 1: Dancing Girl, Bronze, Mohen-jo-daro, National Museum, New Delhi, accessed from, Google Public Domain, (15-3-2022)

Figure 2: Yakshifrom Didarganjstatue in the Bihar Museum.jpg accessed from, Google Public Domain, (15-3-2022)

Figure 3: YakshiDrinking Wine, Sanghol, Punjab, Kushana Period, National Museum, New Delhi(15-3-2022)

Figure 4:A Nymph from Ajanta Paintings,retrieved from India Narratives , " Captures Lustre of Ajanta cave paintings in cyberspace", accessed from https://www.indianarrative .com/culture-news/ai-captures-luster-of-ajanta-cave-paintings-in-cyberspace-81844.html, (26thJanuary, 2020)

Figure 5: Durga, Chola period, ca. 970, Bronze ,The Brooklyn Museum of Art; Anonymous gift in honour of William H. Wolff (1992.142)

Figure 6: Surasundari, X-XI Century AD, from Khajuraho, Public Domain, (15-3-2022)

Figure 1: Dancing Girl

Figure 2 Yakshi fromDidarganj

Figure 3: Yakshi drinking Wine

Figure 4: A nymph from Ajanta

Figure 5: Uma (Parvati) from Cholas Figure

6: Surasundari from Khajuraho

REFERENCES:

1. Dasa, Satyanarayan, "Women and Lust" accessed from https://www.vina.cc/2019/03/08/women-and-lust/ on 16thJuly, 2020
2. Menon, Smitha Sringara: Sensual, aesthetic or spiritual? Love, beauty and grace in Natya
3. Shastra- Part I, retrieved from https://narthaki.com/info/articles/art246.html, accessed on 29/03/2022
4. Jyoti, "Sensual to Spirirual" *Guided Walks: India Curated*, accessed from https://insider.in/sensual-to-spiritual-women-in-indian-art-aug4-2019/event, on 20th September, 2020
5. Sharma, Mandakini, Gupta, Ila & Jha Pashupati, From Caves to Miniatures: Portrayal of Woman in Early Indian Paintings, *Chitrolekha International Magazine on Art and Design,* Volume 6, No. 1, 2016 retrieved from www.chitrolekha.com/v6n1, accessed on 29-03-2019
6. Varadpande, M.L. *Woman in Indian Sculpture*, Abhinav Publictions ,2006
7. Rowland, Benjamin *The Art and Architecture of Indian, Buddhist, Hindu and Jain*, Penguin
8. Books, 1984, p25-35
9. Roy, Suman "Dancing Girl, Mohanjodaro" accessed from,http://poetry.sangamhouse org/2014/01/dancing-girl-mohenjodaro-by-sumana-roy/ 23rdDecember, 2020
10. *"Yakshi from Didarganj": A Symbol of Beauty and Perfection in Ancient Indian Sculpture,* International Journal of Applied Home Science, Volume 5, April (2018s) by Aditi Jain.
11. Sabnis, Atul "Shalabhanjika : The Tree Deity", retrieved from https://thecustodiansin.wordpress.com/2017/10/13/shalabhanjika-the-tree-deity/, accessed on 5thDecember, 2021
12. Varadpande, M.L. (2006) Woman in Indian Sculpture, Abhinav Publictions
13. Rowland, Benjamin *The Art and Architecture of India: Buddhist, Hindu, Jain*, Puffin, 1971, p.253
14. Swaminathan, Subramanian "Ajanta Cave Paintings: the many-splendoured delights of Ajanta", accessed from http://www.indian-heritage.org/painting/ajanta/ajanta12.html, 20th January, 2020
15. Tripatin, Subha & Jain, Beena "Portrayal of Woman in the Cave Painting of Ajanta", accessed from http://granthaalayah.com/Articles/Vol7Iss11SE/25_IJRG19_ARTS11 _25.pdf, on 29thApril, 2020
16. Tripathi Shubha & Jain, Dr. Beena "Portrayal of Women in the Cave paintings of Ajanta," *International Journal of Research Granthaalayah: A Knowledge Repository*, Volume 7, 2010
17. https://www.rarebooksocietyofindia.org/book_archive/196174216674_1015043429680 6675.pdf, accessed on 5thJanuary, 2020
18. Nath,R *The Art of Khajuraho*, Abhinav Publication, 1980.
19. Ibid.
20. Gautam, Shreya, "The Lady with the Mirror, A Study of the Wrong Provenance and Significance of the Darpana Dharini in Indian Art", *Heritage: Journal of Multidisciplinary studies in Archaeology,* Vol. 7 2019
21. Dehejia, Harsha, "Beautiful Women", *Times of India,* 9th January, 2012
22. Dehejia Harsha & Paranjape M R, "Saundarya, the Perception and Practice of Beauty in India", *Samvad India Foundation*, 2003.

शेषशायी विष्णु की अलौकिक प्रतिमा

डॉ. मंगलानंद झा

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर स्थित महन्त घासीदास स्मारक संग्रहालय में संगृहीत विष्णु की यह प्रतिमा अपने निर्माण वैशिष्ट्य के कारण उल्लेखनीय है। प्रतिमा शेषशायी है, जो पौराणिक आख्यान को सन्दर्भित करते हुए निर्मित है। विवेचित प्रतिमा रूद्री, जिला धमतरी से प्राप्त हुआ है जिसका माप लगभग 32×20 फीट है। शैली के आधार पर इसका समय 12 वी. श. ई. निर्धारित किया जा सकता है।

नारायण की नाडायन शब्द से व्यंजना की गई है। उसका अर्थ नर या नरों के समूह के रुप में गृहित किया गया है। नर शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है। इसलिए नारायण शब्द देवों का आश्रय का अर्थ व्यक्त करता है। मनु के अनुसार नर का अर्थ जल भी होता है, जो नर परमात्मा की संतान है, वह नारा (जल) परमात्मा का प्रथम आश्रय है। इसलिए परमात्मा नारायण कहे जाते हैं। सातवें कल्प के आरंभ में 7वीं बार ब्रह्मा जी के जन्म ग्रहण का अवसर आया तब शुभ और अशुभ से अमित तेजस्वी भगवान नारायण ने सबसे पहले अपने नाभि कमल से ब्रह्म को उत्पन्न किया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक ऋषि का नाम नारायण वर्णित किया गया है जो संभवतः परवर्ती काल में आकर विष्णु से संबंधित किया गया। तैत्तरीय आरण्यक के विवरण में नारायण को उन समस्त विशेषणों से युक्त किया गया है जो उपनिषदों में वर्णित है। पौराणिक कथाओं में नारायण को क्षीरसागर में शेषनाग की शैय्या पर लेटे हुए प्रदर्शित किया गया है। अतः नारायण का जल से संबंध का आख्यान प्राचीनतम् है। परम पुरूष परमात्मा की प्रतिष्ठा वासुदेव के पहले ऋग्वेद काल में हो चुकी थी। नारायण का सुन्दर और सरल वर्णन महाभारत के वनपर्व (अध्याय–188–89) में हुआ है। सृष्टि के प्रलयकाल में सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था। उस समय उपस्थित शिशु के समक्ष मारकण्डेय मुनि आ गये। जब शिशु ने अपना मुंह खोला तब मारकण्डेय उसके मुख में चले गए। जहॉ उन्होंने अत्यंत आश्चर्य के साथ संपूर्ण सृष्टि को देखा। इसके बाद उस शिशु ने मारकण्डेय ऋषि को उगल दिया और वे फिर जल में आ गये। इस पर मारकण्डेय ने उस शिशु से पूछा कि आप कौन हैं? तब उसने उत्तर दिया मैने जल को नारा की संज्ञा दी है जो मेरा अयन है इसलिए मै नारायण हूँ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शेषशायी विष्णु पद्मनाभ नाम से वर्णित है। इस वर्णन के अनुसार पदम्नाभ जल के बीच शेषनाग पर शयन करते है। उनका एक चरण लक्ष्मी की गोद में और दूसरा शेषनाग की गोद में रख हुआ है। उनकी नाभी से उत्पन्न कमल पर ब्रह्मा प्रदर्शित हैं और कमलनाल से संलग्न मधु और कैटभ नामक दैत्य है। अपराजित पृच्छा और रुपमण्डन में भी विष्णु के इस रूप का वर्णन मिलता है। अपराजितपृच्छा के अनुसार किरीट मुकुट, माला, हार, कुण्डलों और केयूरों से अलंकृत विष्णु शेष पर्यंक पर शयन करते है। चतुर्भुजी विष्णु का हाथ एक सिर पर और दूसरा कमल पर स्थित हो। बांया ऊपरी एवं निचला हाथ क्रमशः चक्र और गदा से युक्त होते है। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर और पूर्वी भारत में विष्णु की शयन प्रतिमाओं की संख्या न्यून है।

विष्णु जी क्षीरसागर में शेषनाग की कुण्डलियों पर शयनसीन मुद्रा में है। शिल्पकार ने भारतीय धर्मग्रंथों द्वारा उल्लिखित महाजल प्रलय के दौरान क्षीर सागर में शयनासीन विष्णु जी के मनोभावों को सूक्ष्मता से प्रतिबिम्बित कर पाने में पूर्ण सफलता अर्जित की है। शेषनाग के कोमल अंगों का बिछावन और उसके

विशाल एवं दिव्य पंचफणों का छत्र विष्णु जी के वैभव, सामर्थ्य, शील, पराक्रम, प्रभाव आदि को स्वतः ही प्रदर्शित कर रहे हैं। विष्णुजी का सम्पूर्ण शरीर नागराज की कुण्डलियों पर विराजमान है।

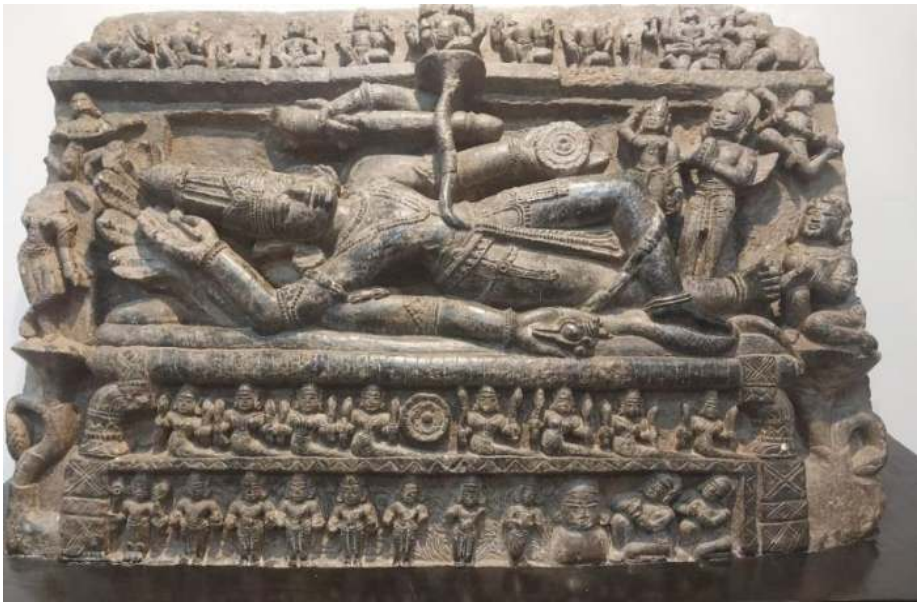

चतुर्भुजी प्रतिमा के पैरों के पास श्री लक्ष्मी जी चरण चाप करती हुई प्रदर्शित है। विष्णुजी के सिर पर किरीट मुकुट की आभा प्रज्वलित है और कौस्तुभ से सुशोभित हैं। मुखमुद्रा सौम्य और शांत, आंखें संसार को दृष्टिगत करती हुई अंकित है। उनके बांहों में अंगद, कड़े और पांवों में कड़ें का अंकन है। प्रतिमा के अघोभाग में परिधान धारित है, जिस पर यज्ञोपवीत, मेखला आदि के रेखांकन है। गहरी नाभि से कमलनाल ऊपर की ओर निकलकर नील गगन में प्रफुल्लित है, जिस पर ब्रम्हाजी ध्यान मुद्रा में आसनस्थ हैं। चतुर्भुजी विष्णु के हाथों में बांयें नीचे से क्रमशः शंख, पद्म, गदा और चक्र प्रदर्शित है।

संपूर्ण प्रतिमा खंड को चार भागों में विभाजित किया गया है। सबसे ऊपर के भाग में विष्णुजी के दशावतार के प्रमुख रूप अंकित हैं, जिनमें नृसिंह, परशुराम, बुद्ध और कल्कि मुख्य हैं। द्वितीय प्रमुख भाग में शेषशायी विष्णु का प्रदर्शन है। प्रतिमा के पैरों के पास श्री लक्ष्मी जी चरण चाप करती हुई प्रदर्शित है। लक्ष्मी जी के पार्श्व में अंजलीबद्ध मुद्रा में अर्ध मानवीयकृत गरूड अंकित है। गरूड के पार्श्व में द्विभुजी चामर धारिणी प्रदर्शित है। तृतीय भाग में अर्धमानवीयकृत अष्ट नागिन का अंकन है, जो प्रफुल्लित पद्म के दोनों पार्श्व में चार–चार की संख्या में द्रष्टव्य हैं। धार्मिक ग्रन्थों में अष्ट नागिन के नाम – अनन्तमुखी नागिन, कर्कोटमुखी, पद्मनी, तक्षकमुखी, महापद्म, वासुकि, कुलीर और शंखिनी प्राप्त होतें हैं। प्रतिमा में नागों के अंकन से एक तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि इस प्रतिमा में नाग समुदाय का अकंन सम्मानजनक मुद्रा में दर्शित है, जिनकें दोनों हाथ में पद्मकलिका सुशोभित है, जो उनके सम्मान, वैभव और शक्ति को दर्शाता है। सम्भवतः यह प्रतिमा कलचुरियों से पूर्व की है जब रतनपुर में नागवंशों का शासन था। उल्लेखनीय है कि रतनपुर में छिंदक नाग शासकों का कुछ समय के लिए वर्चस्व रहा है। कालांतर में जब रतनपुर में कलचुरियों का अधिपत्य स्थापित हो गया तब नागवंश के शासक अधीनस्थ हो गये और उनकी पराधीनता सूचक उनका अंकन होने लगा जिसमें उन्हें दोनों हाथ जोड़े हुए, सिर झुकाए हुए अंजलिमुद्रा में प्रदर्शित किये जाने लगे जो उनकी आधीनता को दर्शाता है।

शेषशायी विष्णु प्रतिमा में अप्रत्यक्ष रूप से धर्मशास्त्रों द्वारा वर्णित महाजल प्रलय का प्रभाव अंकित हो गया। विष्णुजी द्वारा संसार को निर्विकार भाव से देखते हुए शांत रहना यह सब आरेखन सांसारिक उथल–पुथल के मध्य सृष्टि के आरंभिक दृश्य को प्रदर्शित करता है। ब्रम्हाजी द्वारा ध्यानस्थ मुद्रा का प्रदर्शन भी महाजल प्रलय के तत्काल बाद सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होने का पूर्वाभास प्रस्तुत करता है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि धर्मग्रंथों में विवरण मिलता है कि महाजल प्रलय के दौरान समस्त विश्व जलमग्न हो गया था। उस दौरान क्षीर सागर में विष्णु जी शांत भाव से शयन कर रहे थे। उनके नाभि से कमलनाल निकलकर आकाश में आच्छादित हो गया था, जिसमें ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी। वह भी सृष्टि प्रक्रिया के निर्देश मिलने के बाद कुछ काल तक शक्ति हासिल करने हेतु ध्यान मुद्रा में आसनस्थ रहे। उन्हीं धर्मशास्त्रों के कथन का साक्षात स्वरूप इस प्रतिमा में शिल्पकार ने रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है जो अवलोकनीय है।

संदर्भ–सूची :–

1. जैन बालचन्द्र, उत्कीर्ण लेख, 1961 महंत घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर।
2. मिश्र, इन्दुमती, भारतीय प्रतिमा विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
3. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।
4. श्रीवास्तव, बृजभूषण प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. झा, मंगलानंद, दक्षिण कोसल के कलचुरि कालीन मंदिर, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर।

Everything is Art: A Reality Check

Maninder Singh Dhunna

Today, we all are experiencing aesthetics in our daily lives like a sip of perfectly brewed coffee which is refreshing yet soothing to eyes.It's just a matter of time that modern art has swaddled the whole world in its canopy and continues its glorious journey to create more wonders. Art is a perfect blend of tale, fantasy, idea and purpose. Art blesses people who have a desire to express themselves through it. Works of art may evoke a sense of wonder or skepticism, desire or despair, adoration or malice; a work of art can be direct or complex, subtle or clear, perceptible or ambiguous; and the themes and attitudes of the creation of art are bound only by the imagination of the artist. Different people hold different definitions of art; hence it varies from person to person. For some people things which are pleasing to their eyes come in the category of art, be it the blue sky, an egg's yolk, a colorful platter of salad, etc. It's quite intriguing how art as a notion can evade definition. Therefore, it has become essential to put a border around it with a view to prevent it from the tincture of ambiguous perception, opinion or belief. Without knowing the proper definition and comprehension of word art, it would be something like betraying or ignoring the very nature of art. To distinguish art among many things requires a proper understanding of it. A lack of adequate information regarding art can lead an individual to label and believe any beautiful object around them as an art. By saying everything is art, we are romanticizing the idea that art is a mere thing that can be found anywhere. Art is neither a mere thing, nor even futile. It surely has a value. Therefore, this paper discussed the existence of art while distinguishing and comprehending it with distinctive projections shared by some prominent artists. Another focus of this paper is to discuss controversial aspects of various art pieces made by legends to study and understand their idea of creating artworks that were disturbing enough to call them an art.

1.1 Emphasis on the Philosophy of Art

In layman's language, art is a form of creation that demands a certain amount of imagination and conception. Art is always beautiful; it depends on the effect it has on the audience. Needless to say, every person has their own perception while judging art, it varies from person to person. An artwork cherished by one person may be disliked by another. But diving into the depths of art, it can be defined as something created by an artist in order to quench the desire to create something that would later give him satisfaction.

To be specific, a real or true art must be powerful enough to grease the wheels of its spectator's subconscious mind. It must be able to cause a stir in the mind of spectators resulting in their evoked thoughts and emotions. When they discover the details of an art, they may likely identify the hidden concept or idea of creation, which means that the art has actually surpassed the assessment of relation between human and art. But again, not everyone has an eye for beauty or art, the beauty of art is for those who actually covet it. The main idea of any art is how excellently it blends with the viewer's mind or how positively it communicates with them. Many times, art works like painting, sculpture etc. might not be aesthetically pleasing to the eyes however, a true art must be able to instill mentation to the person who tries to study it. Paintings, music, performing arts or whatever form of art it may be, the only thing that

matters is that the admirer should go back with a light heart and sabbath. Admirers must feel a certain amount of satisfaction that the encounter with the art was worth their time while going back. (box)

In addition to it, every art has a message needless to say, for those who can listen to it. An artist puts a lot of effort, vigor of imagination, radiance of thoughts and hours of hard work to create an art. Therefore, art also has a story, an expression and a purpose behind its creation. So, basically it takes umpteen pieces of identification to decide whether or not something falls under the category of art.

Another matter people proudly possess is that everything that requires detailed work should be considered as an art. Art is not only limited to music, painting, sculpture, designing or acting, there are several things that can also be seen as art. Things that are around us can also be termed as art only if we observe how they are made. For instance, a perfectly aligned and decorated platter of food can be reckoned as art. Science itself is an art and how in chemistry a chemical reaction makes something alluring like crystals. Diving into the details of how a mobile phone came into existence is also an act that came out of art. The beautiful idols in temples in which believers or devotees see their Gods and worship is also a piece of art. This era of the Internet gives rise to digital art which has lately become popular. The animation, cartoon, E-cards, editing apps, etc. are the products of digital art only. However, there is a fine line between a true art and the belief system of an individual to call something as art. For example, if the same beautifully decorated plate of food is for a cooking contest, then it is treated as an art solely by the account of the audience or the judges. From the point of view of chemical reaction, if a person tries to make something beautiful from it, then it can be called art, but when the same person does a chemical reaction for his research or study, then there is nothing like art in it. A carved and painted stone that we often see at religious places holds a distinct place in the hearts of its worshipers, they look upon it with faith, immense respect and love. However, there is no art, no faith and nothing in the same stone located outside. Hence, it is clear that it also depends on the presenter what he/she is trying to show. Intention of the demonstrator plays a crucial role in all aspects. Art could be anything but not everything is art. There is a difference in both the lines.

Art is subjective hence, anything people find enjoyable and cherishable automatically becomes their definition of art. Some find solace in scribbling a wise thought or even an interesting novel and the other one feels amazed to read that novel. Indeed, writing is an art. Similarly, dance is also an art. Art is a medium to convey a message, emotion, or opinion to build a distinctive world, whether it be induced by the work of other people or something discovered that is completely new. Beauty is an aspect of anything that gives joy to people and makes them feel positive. Beauty solely is not art, but art can be made of, about or for beautiful things. The major difference between art and beauty is that art is about who has created it. On the contrary beauty depends on who is looking.

Another facet of art is it is a commodity. The recipe to make a creation is creative thinking, powerful imagination and a great concept of an artist but the most quintessential material which actually makes the recipe of art tasty is the monetary value of it. Monetary gains acts as a motivational force for artists. The commodification of art creates a wall between whom to be considered qualified for creating art and whom to be not.

1.2 Criticized art pieces

Art demands the intention of an artist. Many people blabber around recklessly labeling things as art, whereas all they are actually doing is designating things as artistic and not as art. Saying anything artistic conveys that the particular object possesses attributes that are aesthetically appealing. And people perceive it as art because it reminds them of art. In fact, it does not meet the requirements to call it art.

If we talk about the makers of controversial art, their intention was to provoke their audiences. Irrespective of the period or era, there are always some bold artists who go against the rule of artistic traditions. Some of them simply wanted to break the stereotype or presented something that was considered taboo. As a result, they had to bear the rage of folks in the form of their artworks being banned, vandalized or publicly scorned. At the same time, they also left a mark in the history of art while inspiring people throughout the centuries to follow the path of creative freedom. To understand such artworks, a case study has been conducted. (D'Orsay) (Editors)

I. Case Study: Marcel Duchamp, Fountain, 1917

Duchamp's Fountain has secured its place in the list of most controversial artwork of the 20th century. The artwork was none other than a urinal, a quintessential object in everyday life. Duchamp took the plunge and presented it as an artwork at the Society of Independent Artists. However, it was refused by the Society declaring Fountain not an artwork. Many questions were raised such as "what makes something an artwork?", and "what is the role of art institutions in evaluating and qualifying art?", after Duchamp unveiled his artwork. As a result, he also had to suffer the consequences as his porcelain urinal was thrown out of the exhibition, but its recreations now find pride of place in leading museums.

Duchamp's idea behind the 'Fountain'

Fountain was a litmus test for the role of taste in the world of art. Duchamp said he chose a urinal in part because he thought it had the least chance of being liked. He said: "I was drawing people's attention to the fact that art is a mirage. A mirage, exactly like an oasis appears in the desert. It is very beautiful until, of course, you are dying of thirst. But you don't die in the field of art. The mirage is solid." (Otto Hahn, 'Entretien Marcel Duchamp', Paris-

Express, 23 July 1964, p.22.) In a 1964 interview with Otto Hahn, Duchamp suggested he purposefully selected a urinal because it was disagreeable. The choice of a urinal, according to Duchamp, "sprang from the idea of making an experiment concerned with taste: choose the object which has the least chance of being liked. A urinal—very few people think there is anything wonderful about a urinal." (Wikipedia)(Martin) Duchamp moved on and became a member of the Dada movement, however not a full-time member. All his life he was dubious about the world of art like its deception, artificiality and its aesthetical disparity, which he presumed self-willed and pointless. Due to this belief and with his satirical sense of humor, he signed a urinal with the name 'R. Mutt' and sent it to a major art show in New York as a work of sculpture. Undoubtedly, it created a massive uproar but at the same time it also changed the world of art.

Why was it criticized? Duchamp's Fountain was criticized on many grounds by many renowned groups and people.

- The society's board of directors released a statement to the press: "The Fountain may be a very useful object in its place, but its place is not an art exhibition and it is, by no definition, a work of art." (Dunning)
- In December 2004, Duchamp's *Fountain* was voted the most influential artwork of the 20th century by 500 selected British art world professionals. Second place was afforded to Picasso's *Les Demoiselles d'Avignon* (1907) and third to Andy Warhol's *Marilyn Diptych* (1962). (Wikipedia) *The Independent* noted in a February 2008 article that with this single work, Duchamp invented conceptual art and "severed forever the traditional link between the artist's labour and the merit of the work". (Wikipedia)
- Jerry Saltz wrote in *The Village Voice* in 2006: Duchamp adamantly asserted that he wanted to "de-deify" the artist. The ready-mades provide a way around inflexible either-or aesthetic proposition. They represent a Copernican shift in art. Fountain is what's called an "acheropoietoi," [*sic*] an image not shaped by the hands of an artist. Fountain brings us into contact with an original that is still an original but that also exists in an altered philosophical and metaphysical state. It is a manifestation of the Kantian sublime: A work of art that transcends a form but that is also intelligible, an object that strikes down an idea while allowing it to spring up stronger. (Wikipedia)
- Grayson Perry stated in *Playing to The Gallery* in 2014: "When he decided that anything could be art he got a urinal and brought it into an art gallery. I find it quite arrogant, that idea of just pointing at something and saying 'That's art.'" (Wikipedia)
- Beatrice Wood, a friend of Duchamp, wrote that the maker of *Fountain* was irrelevant: "[Duchamp] CHOSE it. He took an ordinary article of life, placed it so that its useful significance disappeared under the new title and point of view – created a thought for that object."

What became of the Fountain later on?

Despite the controversies, rejections and mockery Duchamp's Fountain made its way to the list of influential artworks. Many artists and Intellectuals raise their voice to look at the brighter side of the porcelain urinal. A clear explanation of Fountain's could be seen when it was editorialized by Beatrice Wood about the importance of the artist.

It read: "Whether Mr. Mutt with his own hands made the fountain or not has no importance. He CHOSE it. He took an ordinary article of life, placed it so that its useful significance disappeared under the new title and point of view—created a new thought for that object." (Mann) He paid close attention to Duchamp's work and tried to understand his thinking and will power behind it. So that he can understand the point of view of the artist. There is also a theory that Duchamp attributed his work to a female friend of his. That female friend had presented her a male urinal, on which Duchamp gave the form of an art by signing her. Beatrice Wood built a bridge for Duchamp's work which showcased his vision of the world of art.

Monsieur Duchamp's work gave emphasis to the questions of what is the basic form of a work. And what should be its criteria? Who can call an art as art? Is an artist's ideological approach the father of art, or is it a condition of delusion, which is passed down from generation to generation? Is thought helpful for the development of art and what are its possibilities? (Mann) Emily Morgan, an assistant professor of art and visual culture, agrees. She says "Fountain" is easy for some to dismiss, because it is a urinal. However, Duchamp argued that art does not have to be beautiful; that an object can be ugly and still be an influential work of art. It's a significant piece because it makes a visual argument that the concept behind a work of art is as important, if not more important, than the object," Morgan said. "By deliberately choosing such a dumb, mundane object, Duchamp made that point very clearly." To sum up all the points, Fountain was indeed a readymade piece of junk. However, it's worth lies in its influence and in that way, it allowed the artists to challenge those who believed that the true art is something which must be approved by the council. It also showed that a mere urinal can mean something distinctive to different people and it dared a lot of people to change their understanding of art. However, the understanding and the meaning that we derive from things are actually based on the context in which we experience through seeing or hearing. Just like someone acts weird in a street full of crowds and we call him a nut but, on a stage, we'll call them brilliant. We don't cherish the cheap food at home, whereas we like it in restaurants because the same food is expensive there. Similarly, Fountain also is about context. It was a matter of fun at that time. Emphasis must be given on the meaning because the meaning of art is subjective.

It was not titled as art. It was given the title of anti-art. For Duchamp art had failed hence, he became the part of Dada movement which had sworn to put art into its coffin. Duchamp was hated for the mess he created but he maintained his sense of humor and ultimately prevailed.

The thing he taught us through his whimsical sense of humor was that art means different things to different people. In 1917, Fountain was criticized and destroyed arguing it was not art but the same Fountain has now changed the art world, perspective and meaning of art.

II. Case Study: Banana Duct Tape (Art or Insanity?)

A conceptual artist, Mauritzio Catellen shocked the whole world by presenting Banana duct tape as an art. The piece is titled as Comedian, where a banana is simply stuck to the wall using duct tape. According to Catallen, the reason behind that banana duct tape is showing

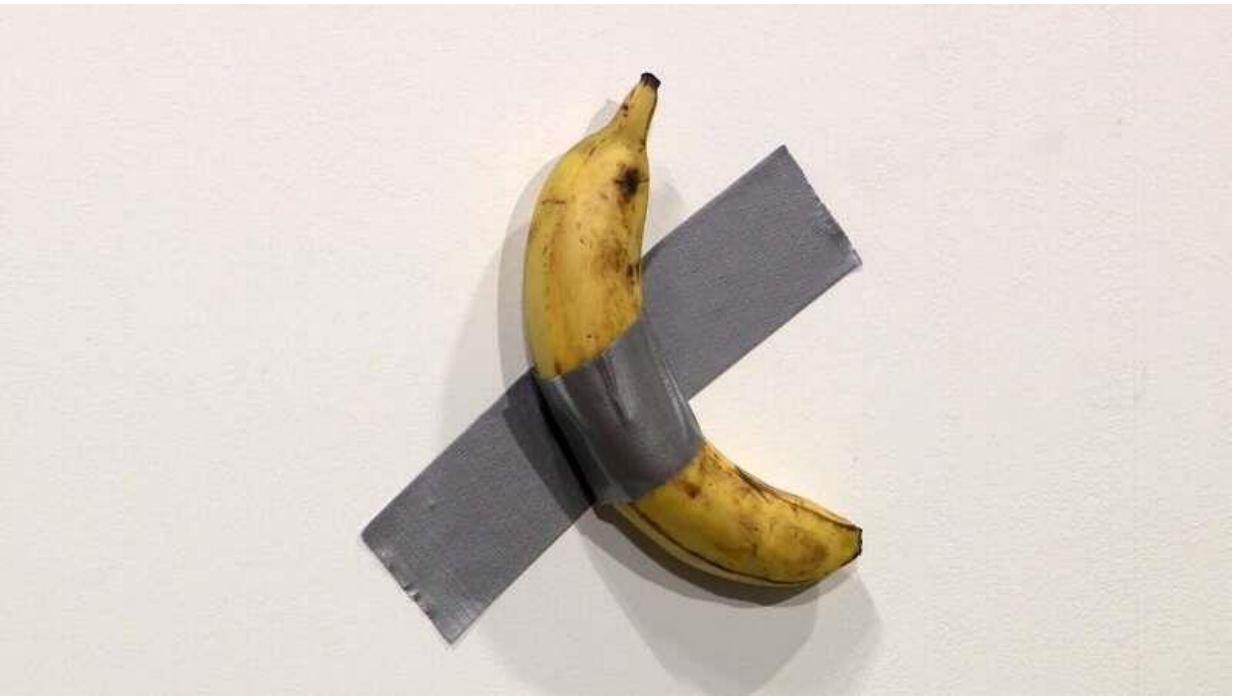

humor. It's also to learn the reaction of people and how they would react. Comedian bagged a huge amount of $120,000 which is quite unbelievable. For a lot of people, it was funny even for the artist himself. Reason behind the selling of Comedian is that many collectors were happily willing to buy it because of the well-known artist and they took it as an investment.

Criticism

According to an article published in Toronto Star by an entertainment columnist, the poor fruit vendors spent decades selling bananas that too in dozens for a couple of bucks. Then arrives this Italian artist Maurizio Cattelan, who bagged $120,000 just by tapping a banana with a silver duct tape to a gallery wall. He mocked the people who bought this expensive piece only to replace their beloved banana whenever it gets ripe. He also added that The Comedian is not art; it's a potassium-rich diet. (Menon) Cattelan's Comedian was not for many people, instead it was a mockery of artists who spend hours creating artworks. According to an article, the art world can be hysterical sometimes by showing an object usually associated with making a clown slip and fall. Cattelan distinctly nudges fun at how random art can be sometimes. Also,

the visual of duct-taped banana to a wall is something hilarious. In the same article, it was written that some joker spent $120,000 on a banana that will rot in a few days. (GREBEY)

The Miami heraldreports that Cattelan told the buyers of his masterpiece that they may replace the banana if they choose. This is ridiculous. Anybody who gives out $120,000—a life-changing amount of money for most American families—on rotten fruit is a rich villain who deserves to be scammed.

People who liked Comedian

When many people criticized Cattelan installing a banana to a wall there were many other people who appreciated his idea by calling that a conceptual art. “Maurizio’s work is not just about objects, but about how objects move through the world,” Emmanuel Perrotin added. “Whether affixed to the wall of an art fair booth or displayed on the cover of the New York

Post, Maurizio forces us to question how value is placed on material goods. The spectacle, which has been orchestrated so beautifully, is as much a part of the work as the banana.” Any person with similar skill can stick a banana on the wall, but it is not necessary that he should think of sticking the banana with the idea of art. The Catalans came up with an idea for their sculpture and the banana became their source of inspiration. He saw bananas around him, whether on a trip or on the dining table in a restaurant. Banana became the reason for his source and he tried to make bananas in many mediums of sculpture, but the real thing was not

coming in it, so he thought of using the real one and proceeded with this idea. Duchamp's work may sound ridiculous, but it encourages an idea. As vaudeville has pointed out in his reference to slipping on a peel, the banana peel proves its worth even when it is not in use. "Catalan banana artwork is a sarcasm for contemporary art that has mainstreamed itself into making itself appear classier, as if it were just the home of the rich?" said Half Gallery owner and art dealer Bill Powers. Bill power said that Andy Warhol made a comment 'Can you take the art away from you'? (TAYLOR)

Conclusion

If we return to the question of what can still be considered art, it is worth saying that Marcel Duchamp was looking for and finding the answers to this question throughout his mature career, in each of his ready-made works. In his opinion, absolutely any object could be considered a work of art, if the artist declared it as such, and if it was presented at the exhibition. The “fountain” met both of these criteria, but was also a conscious provocation. Just five years earlier, Duchamp's painting “Nude, descending the stairs” was also not accepted to the exhibition due to its inconsistency with the canons of the nude image. What to say about such a "shameful" subject, as a urinal. However, Duchamp tried to demonstrate to the public and critics that the perception of the subject literally depends on the point of view on it. Turning the urinal 90 degrees, the artist deprived him of the possibility of being used for its intended purpose. And having given it the name "Fountain", he, one might say, changed the function of this object to the opposite, turning something low into sublime. (debate.org) (PERSPECTIVES) (Cutler)In such a situation, the reason for the art critic is to determine what should be called art or not. Some efforts in art are not good, but it is on their own point of view whether you consider it art or not. The generalization that everything can be art is an exaggeration.

By the way, the extent of art is limitless, it will remain as long as there is a man on this earth. There are 7 billion people in the world. So, I would conclude that "art can be anything," and this is different from saying "art is everything." I can imagine at least one instance where all 7 billion people conclude that one thing is definitely not art. If anything, and everything is art, then what isn't? You wouldn't be able to define that. It can be said that everything is not art, because for art to be called art, it is necessary to have its thinking and vision behind it. Many things are also made for their utility in society. Maybe its form is related to art, but the purpose of its creation is different from art.

Bibliography

box, Smart art. *https://smartartbox.com/blogs/smart-art-blog/what-is-true-art*. 16 0ct 2016. laptop. 2022 march 5.

Cutler, Ellen B. *https://www.quora.com/profile/Ellen-B-Cutler*. 2020. laptop. 06 april 2022.

debate.org. *https://www.debate.org/opinions/is-art-everything*. 02 dec 2013. laptop. 05 april 2022.

D'Orsay, Joy. *https://joydorsay.com/too-pretty-the-trap-of-beauty/*. 18 nov 2015. laptop. 1 april 2022.

Dunning, Kelly. *https://medium.com/@GlobalGoose/did-marcel-duchamps-fountain-really-come-completely-out-of-left-field-96c33bf67903*. 25 MAR 2017. LAPTOP. 29 MARCH 2022.

Editors, Artland. *https://magazine.artland.com/10-controversial-artworks-changed-art-history/*. 21 november 2019-11-21. laptop. 29 march 2022.

GREBEY, JAMES. *https://www.gq.com/story/suddenly-the-koons-is-this-100k-banana*. 07 dec 2019. laptop. 03 april 2022.

Mann, Jon. *https://www.artsy.net/article/artsy-editorial-duchamps-urinal-changed-art-forever*. 09 may 2017. Laptop. 02 april 2022.

Martin, Tim. *Surrealists (Essential Art)*. Milton Keynes,UK: Parragon Plus, 2000. hardcover.

Menon, Vinay. *https://www.thestar.com/entertainment/opinion/2019/12/10/a-120k-banana-duct-taped-to-a-gallery-wall-is-not-art-its-a-scam.html*. 20 dec 2019. laptop. 2 april 2022.

PERSPECTIVES, RTF FRESH. *https://www.re-thinkingthefuture.com/article/is-everything-art-a-perspective/*. 29 june 2016-06-29. laptop. 5 april 2022.

Sharkey, Lauren. *https://www.highsnobiety.com/p/richard-prince-artist/*. 26 sep 2015. Laptop. 5 april 2022.

TAYLOR, ELISE. *https://www.vogue.com/article/the-120000-art-basel-banana-explained-maurizio-cattelan*. 10 dec 2019. laptop. 03 april 2022.

Wikipedia, the free encyclopedia. *https://en.wikipedia.org/wiki/Fountain_(Duchamp)#cite_note-Adcock,_1987-20*. 23 june 2005-06-23. Laptop. 28 march 2022.

पभोसा से प्राप्त अभिलेख

डॉ. मीनू अग्रवाल

उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद, जो अब प्रयागराज के नाम से जाना जाता है, में मंझनपुर तहसील में यमुना के उत्तरी तट पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कौशाम्बी, जो अब अलग जिला बन गया है, से लगभग 4 या 5 किमी पश्चिम में पभोसा की दो छोटी पहाडियॉ विद्यमान है,'इनपर कई अकृत्रिम शैल –गुफाऍ हैं, इन पर उत्कीर्ण लेख महत्वपूर्ण है, इनमें कुछ लेखों का सम्बन्ध जैन धर्म से है। प्रयाग से प्राप्त जैन लेखों की संख्या अत्यल्प ही कही जाएगी।

वर्तमान में इस क्षेत्र को प्रभाषगिरि के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ के रूप में स्थापित है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में प्रचलित नाम 'पभोसा' शब्द 'प्रभास' का विकृत रूप है, आधुनिक धर्मशाला में अंकित संवत 1881 के लेख में इसे 'प्रभासपर्वतोपरि' अर्थात प्रभास पर्वत कहा गया है। शब्द निष्पत्ति की दृष्टि से (प्र + भास् + घञ्) से निष्पन्न 'प्रभास' शब्द का अर्थ है– दीप्ति, सौन्दर्य, कान्ति। छठें तीर्थंकर पद्मप्रभ की साधना स्थली होने से यह क्षेत्र दीप्त, कान्तिवान हो गया था।

पभोसा कौशाम्बी के बाह्य क्षेत्र में :

पभोसा कौशाम्बी का ही एक भाग था, यहॉ उस समय वन था। संवत 1881 के लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि पभोसा कौशाम्बी नगर के बाहरी हिस्से में था। पभोसा की पहाडी को लेख में प्रभासपर्वत कहा गया है।(" कौशाम्बीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि")

जैन कल्याणक क्षेत्र –

जैन दिगम्बर समाज में तीन प्रकार के तीर्थक्षेत्रों की मान्यता है–

- निर्वाण क्षेत्र
- कल्याणक क्षेत्र
- अतिशय क्षेत्र

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के छठे तीर्थंकर पदमप्रभु का जन्म कौशाम्बी में हुआ था, पभोसा अर्थात प्रभासगिरि में उन्होने साधना की थी । जैन परम्परा के अनुसार पदमप्रभु का जन्म कौशाम्बी में कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को हुआ था – " *कौशाम्ब्यां धर–सुसीमा सुनुः पद्मप्रभोऽरूणः* " उन्होने कौशाम्बी के मनोहर उद्यान पभोसा में जाकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन दीक्षा ली थी और इसी दिन भगवान का दीक्षाकल्याण महोत्सव मनाया गया। पदमप्रभु

के दीक्षा और ज्ञान कल्याण के कारण यह क्षेत्र कल्याणक तीर्थ माना गया। जैन अनुश्रुति में जिस स्थान पर भगवान पदमप्रभु के दीक्षा और ज्ञान कल्याणक मनाए गए वह स्थान श्री प्रभाषगिरि अर्थात पभोसा है। यह जैनमतावलम्बियों का कल्याणक तीर्थ माना जाता हैं। पभोसा में पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी इसे पद्प्रभ का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र माना जाता है। (संवत 1881 का लेख जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है ''....प्रभासपर्वतोपरि श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाकल्याणकक्षेत्रे श्री.....''अर्थात सन 1824–25 ई में यह क्षेत्र पदमप्रभजिनकल्याणक क्षेत्र के रूप में जैन धर्म का प्रसिद्ध तीर्थ था।)

पभोसा में श्रीकृष्ण के अन्तिम काल

कृष्ण बलराम जैन धर्म में 22वेंतीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई भी है। पभोसा में 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ के काल में एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख जैन परम्परा में मिलता है जिसके अनुसार नेमिनाथ ने बलराम के पूछने पर भविष्य बताते हुए कहा कि आज से 12 वर्ष बाद मद्यपी यादवों द्वारा उत्तेजित किए गए द्वैपायन मुनि के शाप से द्वारका भस्म होगी अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन में शयन करेंगें और जरतकुमार उनकी मृत्यु का कारण बनेंगें। उनकी भविष्यवाणी सुनकर बलराम के मामा द्वैपायन विरक्त होकर मुनि बन गए और वन में जाकर तप करने लगें। श्रीकृष्ण के बडे भ्राता जरत्कारू भी वन में रहने लगे। बलराम और श्रीकृष्ण कौशाम्बी के इस वन मे पहुॅचे तो कृष्ण प्यास से व्याकुल हो गए। वे एक पेड़ की छॉव में लेट गए। बलराम जल लाने गए। जरत्कारू उसी वन में घूम रहा था। उसने दूर से कृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण समझा और बाण चला दिया। बाण जाकर श्रीकृष्ण के पैर में लगा और उन्होंने प्राण त्याग दिया। बलराम जब लौट कर आए तो मृत भाई को देखकर छः मास तक मृत देह को लिए फिरते रहे। अन्त में एक देव द्वारा समझाने पर तुंगीगिरि पर जाकर दाह संस्कार किया ।(उद्धृत, बलभद्र जैन, पृष्ठ 38)

पभोसा की भट्टारक परम्परा

लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयाग नगर के वणिजवृत्ति के पोषक अग्रोतक वंशी अग्रवाल जैनियों ने, जो जैन भटटारक परम्परा के अनुयायी थे, संवत 1881 में पभोसा में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाऍ स्थापित कराई थी।(''श्रीजिनबिंबप्रतिष्ठा कारिता अंगरेजबहादुरराज्ये शुभम्'' – एपिग्राफिआ इंडिका, खण्ड 2,) इनका सम्बन्ध काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण से था। उस समय अंग्रेज बहादुर का राज्य था। कदाचित पभोसा में काष्ठासंघ के भट्टारकों की गद्दी स्थापित थी (दृष्टव्य, इलाहाबाद की जैन कला एवं पुरातत्व विषयक संगोष्ठी प्रोसीडिंग्स एवं भारतवर्षीय दिगम्बरतीर्थ जीर्णोद्धार जर्नल में प्रकाशित डॉ मीनू अग्रवाल का आलेख, इलाहाबाद परिक्षेत्र में अग्रोतकान्वयी जैनियों की परम्परा)

पभोसा से प्राप्त अभिलेख –

पभोसा की पहाड़ियों पर अनेक शैल गुफाएँ हैं, उन गुफा की दीवार पर लगभग 10 छोटे छोटे यात्रियों के लेख हैं। जिनमें दो का पाठ स्पष्ट न होने और पढे न जा सकने के कारण बूलर महोदय ने नहीं दिया है।इनमें से 5 लेख 5वी–छठी शताब्दी ई के तथा एक लेख 8वी शताब्दी के आस पास का है । गुफा की पश्चिमी दीवार के 3 लेखों में से एक प्रथम शताब्दी ई पू का तथा दो लेख प्रारम्भिक गुप्त काल के है।

चित्र साभार : एपिग्राफिआ इंडिका,

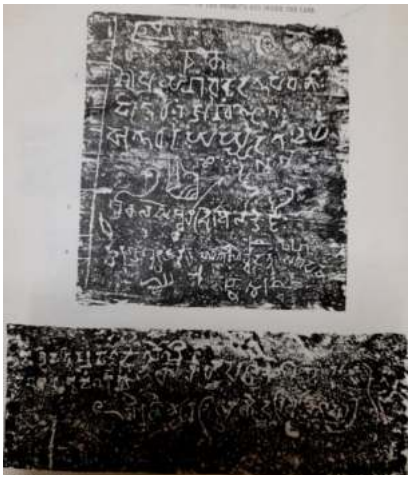

(Buhler, G., (1894) Further Pabhosa Inscriptions, *Epigraphia Indica*, vol.II, page 480,)

- श्रीप्रयागं वरोत्तं पोढकी सूत्तधार अखंडतः सूत्तधार ययौ उभ दय.....
- श्री कलशेश्वरदिशिल कुटटीर
- नन्ददत्तप्रसादो
- केरणेश्वरितिला केदलीव...
- किरणेश्वरीकर्ता
- श्रीकृष्णगोपीरूपकर्ता
- विजयसेनस्या । किरणभोजक

पभोसा पहाडी पर जो छोटे छोटे लेख मिले है उनमें एक लघु लेख में प्रयाग को उत्तम प्रयाग कहा गया है, तथा दो सूत्रधारों का उल्लेख है (''श्री प्रयागे वरे उत्तम पोढकी सूत्रधार अखंडतः सूत्रधरा ययो उभा दया––––––––'') लेख की लिपि 7वी 8वी शताब्दी की है तथा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है। लेख के मध्य में शंख की स्पष्ट आकृति वैष्णवीय निदर्शना की द्योतक मानी जा सकती है। ब्हूलर के अनुसार इस लेख से पोढकी तथा यया नामक दो सूत्रधारों औरा गुफा के जीर्णोद्धार का उल्लेख हो सकता है।

चित्र साभार : एपिग्राफिआ इंडिका,

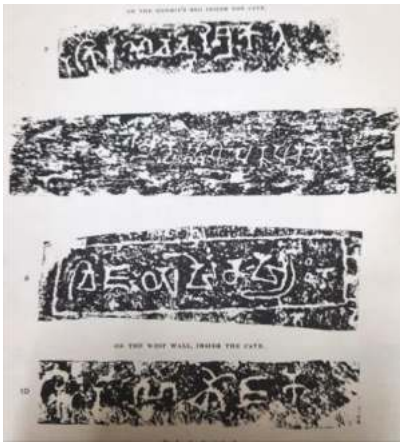

एक दूसरे लेख में पवित्र कलशेश्वर का मंदिर होने का अनुमान लगाया जा सकता है। लेख की पंक्ति इस प्रकार है – ''श्रीकलसे'श्वरदि ि ल कुटटीर

'' अर्थात पवित्र कलशेश्वर का मंदिर । कलशेश्वर शिव का भी नाम है कूर्म पुराण में तीर्थो की सूची में कलशेश्वर तीर्थ का नाम भी आया है। नारदीय पुराण के अनुसार 'कलत्रा उस तीर्थ का नाम हे जहॉ घट से अगस्त्य का जन्म हुआ, वहॉ उन्होंनेइन्द्र की उपासना से मुनिवरत्व को प्राप्त किया था। इस आधार पर इसे शैव प्रभावित लेख माना जा सकता है। लेकिन बूहलर के अनुसार कलसेश्वर उस नाग का नाम था जो उसगुफा मे रहता था जिसे बुद्ध ने पराजित कर उसमें अपनी प्रतिच्छाया स्थापित कर दी थी। इस प्रकार इस लघु लेख से जनसामान्य मे प्रचलित पिलक्ख गुहा में नाग के वास की परम्परा की पुष्टि होती है कुटी शब्द के आधार पर नाग देव के मंदिर और नागपूजा–परम्परा का भी बोध होता है। प्रयाग में बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा से भी पहले नाग–पूजा की परम्परा विद्यमान थी। पभोसा के अन्य लघु लेखों में किरणेश्वरी नामक देव, ''किरणेश्वरी श्री कर्ता'', ''श्री कष्णगोपीरूपकर्ता ', ''विजयसेनस्य किरणभोजक'' का उल्लेख आया है और समवेत रूप में निष्कर्शतः यह कहा जा सकता है कि पभोसा गुफा में सातवीं आठवीं शताब्दी के आस पास प्रयाग में दो सूत्रधारों द्वारा गुफा मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया, विजयसेन जो किरणश्वरी ,कलश नाग तथा कृष्ण के गोपी रूप का कर्ता था, ने इन देवों के प्रति भक्ति और आस्था से अपनी सेवाएॅ, अर्पित की।

ईसापूर्व द्वितीय शती में ही पभोसा में पहाडी पर कश्यपीय अर्हतों के लिए गुफा–निर्माण के अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध है इस गुफा का निर्माण आषाढसेन ने करवाया था ।

1 राज्ञो गोपालीपुत्रस
2 बहसतिमित्रस
3 मातुलेन गोपालीया
4 वैहिदरीपुत्रेन
5 आसाढसेनेन लेनं
6 कारितं उदाकस दस
7 में सवछरे काशपीयानं अरहं तानं————————————————————————''
1 अहिछत्राया राज्ञो शोनकायनपुत्रस्य वंगपालस्य
2 पुत्रस्य राज्ञो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण
3 वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं '' – ए,–इ– वॉ 2, 1894, पृ 242से 243

उक्त लेख के आधार पर पभोसा जैन गुफा के निर्माता आषाढसेन की वंशावली इस प्रकार ज्ञात होती है –

अहिच्छत्रा के शासक
शौनकायन
बंगपाल – विवाह – तेवणी
भागवत–विवाह–वैहिदरी

गोपाली आषाढसेन

ब्हसतिमित

इस प्रकार उक्त जैन गुफा का निर्माता आषाढसेन अहिच्छत्र का शासक था। वह कौशाम्बी के शासक वहसतिमित्र का रिश्ते में मामा था।

पभोसा की पहाडी पर आज भी गुफा विद्यमान है,एक प्राचीन जैन मंदिर भी है। वहसतिमित्र के सिक्के कौशाम्बी और अहिच्छत्र से मिले है, इसकी पुत्री यशोमती का विवाह मथुरा के किसी राजा से हुआ था,, इस प्रकार कौशाम्बी के वहसतिमित्र का सम्बन्ध अहिछत्रा और मथुरा दोनो से था। इस लेख से प्रमाणित होता है कि **ईसा पूर्व की प्रथम – द्वितीय शताब्दियों में पभोसा जैन धर्म का सुप्रतिष्ठित केन्द्र था।** आषाढसेन द्वारा पदमप्रभु की साधनास्थली पर जैन भिक्षुओं के लिए गुफा का निर्माण उसके जैन धर्म के प्रति अनुराग का परिचायक हो सकता है।

धर्मशाला लेख

धर्मशाला लेख
साभार, एपिग्राफिआ इंडिका

अधोलिखित लेख पभोसा ,में धर्मशाला लेख के नाम से प्रसिद्ध है। ए. फुहरर ने इसे एपिग्राफिआ इंडिका खण्ड 2 में पभोसा इंसकृप्शन्स के अन्तर्गत प्रकाशित किया है।

''संवत 1881 मिते मार्गशीर्षशुक्लषष्टयां शुक्रवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करणे लोहाचार्यान्वाये भटटारकश्रीजगत्कीर्तिस्तत्पटटे भटटारकश्रीललितकीर्तिजितदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोयलगोत्रे प्रयागनगरवासतव्यसाधु श्री रायजीमल्लस्तदनुजफेरू मल्लस्तत्पुत्र साधुश्रीमेहरचन्दस्तत् भ्राता सुमिरू चन्दस्तदनुजसाधु श्रीमाणिक्यचन्दस्तत्पुत्र साधुश्रीहीरालालेन कौशांबीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाज्ञानकल्याणक्षेत्रे श्रीजिनबिंबप्रतिष्ठा कारिता अंगरेजबहादुरराज्ये शुभम्''

इस लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि–

1 प्रभास पर्वत कौशाम्बी नगर के बाह्य सीमा पर स्थित था– कौशांबीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि'' आज भी कौशाम्बी में यमुना के किनारे मात्र यही पहाडियॉ है तथा जैन तीर्थस्थली के रूप में ख्यात है।

2 पभोसा श्रीपद्मप्रभ जिन का दीक्षा कल्याणक्षेत्र के रूप में विख्यात था– श्रीपदमप्रभजिनदीक्षाज्ञानकल्याणक्षेत्रे

3 पभोसा में पहाडी पर पदमप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा संवत 1881 में स्थापित करवाई गई थी, उस समय अंग्रेज बहादुर का राज्य था– अंगरेजबहादुरराज्ये

4 प्रयाग में पभोसा में काष्ठासंष्ठा माथुरगच्छ पुष्करगण के लोहाचार्य के वंश परम्परा में भट्टारक श्री जगतकीर्ति और भट्टारक श्री ललित कीर्ति की कदाचित गद्दी स्थापित थी, ये दोनो भट्टारक उक्त प्रतिमा के प्रति'ठापक रहे होंगे।

5 पभोसा में प्रयाग नगर के रहने वाले अग्रोतक वंशी गोयलगोत्री साधु हीरालाल ने यह प्रतिमा स्थापित करवायी थी

साधु हीरालाल के पूर्वजों के नाम भी इस अभिलेख से ज्ञात होते है 'यथा साधु श्री मेहरचन्द्र सुमिःचन्द्र साधु श्री माणिवयचनद्र आदि। इन्हे अग्रोतकवंशी कहा गया है– अग्रोतकान्वये , इनका गोत्र गोयल था ।

6 लेख में तीन भौगोलिक नाम – कौशाम्बीनगर, प्रभासपर्वतोपरि, प्रयाग नगर आए है। जाति सूचक नामों में ''अग्रोतकान्वये', गोयलगोत्र, प्रमुख है। जैन काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण की भटटारक परम्परा में दो भट्टारकों के नाम – ललितकीर्ति और जगत्कीर्ति दिए गए है।

बेरूई नामक स्थान पर रखी पभोसा की जैन मूर्तियॉ

बेरूई नामक स्थान से लाकर बेनीगंज के नवनिर्मित मंदिर में रखी गई तीन जैन मूर्तियों पर भी लेख की ये पंक्तियॉ उत्कीर्ण है। इन मूर्तियों का अभिज्ञान तीर्थंकर लांछन – मृग, शंख और कमल–के आधार पर कृमशः आदिनाथ, नेमनाथ और पदमप्रभ के रूप में किया जाता है। इन मूर्तियों पर अंकित लेख की प्रथम तीन लाइनों तक का विवरण एकदम सुस्पष्ट रूप से पाठय है लेकिन मूर्तियों का निचला हिस्सा आसनवेदी पर जड दिए जाने से आगे की पंक्तियॉ सम्प्रति नहीं पढ़ी जा सकती। स्थानीय जैनियों के अनुसार पभोसा में पहाड़ी के टूटने पर कुछ मूर्तियॉ सराय आकिल में बेरूई के मंदिर में सुरक्षित रखी गई थीं।

ये लेख जैन धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण तो हैं ही, लेकिन प्रयाग परिक्षेत्र में जैन धर्मावलम्बी अग्रोतक वंशी अग्रवालों, जैन भटटारकों की परम्परा, और उनकी शाखा आदि के सन्दर्भ में विशिष्ट रूप से भी महत्त्वपूर्ण है। अग्रोत वंश का सम्बन्ध अग्रोतकवश अर्थात अग्रवालों से लिया जाता है। हरियाणा में अग्रोहा नामक स्थान प्राचीन काल में अग्रोतक नगरी के नाम से विख्यात था । अग्रोहा हिसार से फतेहाबाद जाने वाली सडक पर 14 मील की दूरी पर है। यहॉ पर 1938–39 में भारत सरकार के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा उत्खनन का कार्य कराया गया। कहा जाता है कि अग्रोतकवंशियों की शाखॉ, यही से देश के विभिन्न भागों में फैली। ध्यातव्य है कि काष्ठासघ माथुरगच्छ पुष्कारगण शाखा के गुरूओं को ही महाकवि रइधू ने अपना गुरू माना है। महाकवि रइधू ने अपने साहित्य में काष्ठासंघ माथुर गच्छ की पुष्कर गण शाखा के मध्यकालीन लगभग 17 भटटारको ने नाम दिए है। कवि के आश्रयदाताओ में प्रायः अग्रवाल ही रहे है, स्वयं महाकवि रइधू के आश्रयदाता मतलसिंह संघवी ग्वालियर के नगरश्रे"ठ तथा अग्रवाल जाति के शिरोमणि थे।, इस प्रकार कहा जा सकता है

कि प्रयाग नगर के रहने वाले अग्रवाल जैनियों ने पभोसा में जैन धर्म के प्रसार में प्रभूत योगदान दिया था। पभोसा में उस समय काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्करगण शाखा के अग्रोतक वंशी भटटारकों का प्रमुख केन्द्र स्थापित था।

बेरूई नामक स्थान से लाई गई आसीन मुद्रा में जैन मूर्तियॉ जिनकी पीठिका पर संवत 1881 का लेख अंकित है, पीछे प्रभामंडल जो बाद में जोडा गया है।

पभोसा की मर्तियों पर अंकित लेख

सन्दर्भ ग्रन्थ–

- जैन, बलभद्र : *भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ,* भाग 1, बम्बई, 1974
- तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद : *जैन प्रतिमा विज्ञान,* पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी,1982
- शाह, यू.पी. : *स्टडीज इन जैन आर्ट,* वाराणसी, 1955
- प्रमोदचन्द्र : *स्टोन स्कल्पचर्स इन दि इलाहाबाद म्यूजियम,* पूना 1970,
- फयूहरर, ए.ए.: 'पभोसा इंसकृप्शन्स' *एपिग्राफिआ इंडिका,* खण्ड 2,
- रावत, बृजेशः *जैन प्रतिमा कला,* अगम कला प्रकाशन
- भटटाचार्या, बी.सी. : *दि जैन आइकोनोग्राफी,* दिल्ली, 1974
- राव, टी. एन. गोपीनाथ : *एलीमेंटस ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी,* खण्ड 1, भाग 2,
- अग्रवाल, मीनू : *प्राचीन भारत की सांस्कृतिक विरासत,* पाल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2012, ISSN, 978-93-81663-03-5
- अग्रवाल, मीनू : 'इलाहाबाद परिक्षेत्र मे अग्रोतकान्वय जैनियों की परम्परा', *प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार,* मई 2017, ISSN, 0972-4737
- श्रीवास्तव, एच.एल. मेमायर्स ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, न. 61,'
- कनिंघम, ए., आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया रिपोर्टस फॉर दि इयर 1871–72, वॉ. III, पृ. 66

छत्तीसगढ़ के नव उत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त मृण्मयी मूर्तिकला

मोहन कुमार साहू

भारतीय जीवन के अनन्त स्रोतों का मूल उद्गम लोक संस्कृति है । भारतीय संस्कृति का संस्कार लोक संस्कृति द्वारा ही हुआ है । लोक संस्कृति अपने प्राकृत रूप में आज भी गांवों, जंगलों और पर्वतों में प्रकृति की छाया में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखेहुए हैं । लोक संस्कृति की आत्मा गांवों और जंगलों में रहने वालों के रीति- रिवाजों, लोक गीतों और आचार -विचारों की परंपराओं में निहित है । संस्कृति कभी मरती नहीं, वरन समयानुसार उसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहता है ।

आदिवासी बहुल छत्तीसगढ़ क्षेत्र का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इस क्षेत्र में राजिम, सिरपुर, तरीघाट, पचराही, मदकूद्वीप, करकाभाट, मल्हार, देवरी आदि स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक संपदा से यहां की मृण्मूर्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मृदभांड एवम् मृण्मूर्तियों की एक अत्यंत प्राचीन परंपरा इस अंचल में पल्लवित होती रही है । मृण्मयी कला मानव की सहज प्रारंभिक कला मानी जाती है । इस अंचल की मृण्मूर्ति यहां की संस्कृति का एक अभिन्न अंग है । ये मृण्मूर्तियां एवं मृद्भांड अत्यंत प्राचीन काल से लेकर अद्यतन लगभग एक ही शैली में बनती रही है ।विशिष्ट पर्वों पर या विशिष्ट उद्देश्य एवं अनुष्ठान हेतु इन कला कृतियों का निर्माण किया जाता रहा है । इन मृण्मूर्तियों के निर्माण की न केवल एक सुनिश्चित शैली है वरन् एक सुदीर्घ परंपरा भी प्राप्त होती है।

छत्तीसगढ़ की मृण्मयीकला के अंतर्गत जीवन के विविध पक्षों यथा- धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक के साथ ही साथ फसल चक्र, ऋतु चक्र,कृषि संस्कृति के अनेक प्रतीक चिन्हों एवं देवी - देवताओं तथा लोक - विश्वासो का उद्घाटन होता है । मृण्मयी कला के माध्यम से इस क्षेत्र की लोकमूर्ति कला जीवंत हो उठी है । मृण्मूर्तियों में देवी-देवताओं,नर- नारी, पशु- पक्षियों एवं घरेलू जीवन में उपयोगी मृद्भाण्डो का निर्माण

किया जाता है। छत्तीसगढ़ की आदिवासी एवं जनजातियों में देवताओं को प्रायः अश्वरोही योद्धा के रूप में निर्मित किया जाता है। लोग प्रायः योद्धाओं के मरणोपरांत स्मृति स्वरुप स्तंभों एवं प्रस्तर फलकों पर अश्वारोही आकृतियां बनाते हैं । कालांतर में ऐसे व्यक्ति भी देवताओं के समान पूजनीय हो जाते हैं । इन्हें योद्धाओं (देवताओं) की आत्मा को प्रसन्न करने से हेतु मिट्टी की अश्वारोही मूर्तियां या मात्र अश्व ही भेंट स्वरुप प्रदान किए जाते हैं। उदाहरण स्वरुप बस्तर के राव भंगाराम, खंडा कंकालिन, घोड़ादेव, तथा भैरव देव आदि अनेक देवी- देवताओं को खुश करने के लिये अश्वरूढ़ प्रस्तुत किया जाता है।

उत्खनन से प्राप्त मृणकला : प्रारंभ में पुरातत्व से तात्पर्य मात्र उत्खनित स्थलों, पुरावशेषों व कलात्मक वस्तुओं से ही था। पुरातत्ववेत्ता का उद्देश्य प्राचीन महत्त्वपूर्ण व मूल्यवान वस्तुओं को प्रकाश में लाना था। मृद्भाण्ड, जो बहुत कम ही पूर्ण अवस्था में प्राप्त होते हैं, का महत्त्व तब तक नगण्य था। सर्वप्रथम फ्लिण्डर्स पेत्री, आरेल स्टीन एवं मजूमदार ने क्रमशः मिस्र, बलूचिस्तान और सिंध के उत्खनन में मृद्भाण्डों के महत्व को स्थापित किया। भारत में तक्षशिला के उत्खनन से उनका पुरातात्विक महत्व ज्ञात हुआ। हड़प्पा के उत्खनन द्वारा उनकी महत्ता और अधिक सुदृढ़ हो गई। उत्तरी कृष्ण मार्जित, लाल -काले एवं लाल मृद्भाण्डों की प्राप्ति के पश्चात् पुरातत्व के क्षेत्र में मृद्भाण्ड और भी उपयोगी दिखाई देने लगे। इसी तरह से मृद्भाण्ड छत्तीसगढ़ के नव उत्खनित पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त किये गये हैं।

छत्तीसगढ़ राज्य निर्माण के पश्चात् **मल्हार** : यह पुरास्थल बिलासपुर जिला मुख्यालय से लगभग 35 किलोमीटर दूर मस्तूरी तहसील के अंतर्गत स्थित है।

लीलर : यह पुरास्थल धमतरी जिला मुख्यालय से लगभग 20 किलोमीटर दूर महानदी के किनारे पर स्थित है।

तरीघाट : यह पुरास्थल दुर्ग जिला में पाटन तहसील के अंतर्गत खारून नदी के बाएं किनारे पर स्थित ह।

डमरू : यह पुरास्थल बलौदा बाजार जिला मुख्यालय से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर शिवनाथ नदी के दाहिने तरफ नदी से थोड़ी दूर पर स्थित है।

पचराही : यह पुरास्थल कबीरधाम जिला में बोड़ला तहसील के अंतर्गत स्थित है ।सिरपुर यह पुरास्थल महासमुंद जिला में महानदी के तट पर स्थित है।
राजिम : यह पुरास्थल गरियाबंद जिला में महानदी के तट पर स्थित है । इन पुरास्थलों से प्राप्त मिट्टी के बने हुए मृत्पात्र, खिलौने, पशु-पक्षी की आकृतियां, मिट्टी के बने हुए सिक्के, मिट्टी के अलंकृत मटके, दिये, नांद, मुहरें व अन्य मूल्यवान कलात्मक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जिससे यह स्पष्ट होता है प्राचीन समय में मिट्टी के बनें हुये बर्तनों की उपयोगिता अधिक मात्रा में होता रहा होगा ।

आज के वर्तमान युग में इनकी उपयोगिता भले ही कम हो गई है परंतु मानव जीवन का प्रारंभ ही मिट्टी के बर्तन के साथ हुआ है। जैसे-जैसे मानव विकास करता गया वैसे-वैसे उनके जीवन-शैली में परिवर्तन होता गया। प्राचीन समय में उपयोग किए जाने वाल्ले पात्र-परम्पराआज हमें उत्खनन से पुरावशेषों के रुप में प्राप्त होतेहैं और अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति का ज्ञान करातेहैं ।

छत्तीसगढ़ की मृत्तिका कला उसकी सांस्कृतिक चेतना की एक प्रमुख देन है। यहां की प्रस्तर की मूर्तियों में प्रधानतः धार्मिक विषयों का अंकन हुआ है किंतु मिट्टी की कला में लोक जीवन का प्रतिबिंब उतरा है , विषयवस्तु की दृष्टि से इसकी कोई सीमा नहीं है। मृत्तिका कला लोक जीवन से ओत- प्रोत थी। इसको तत्कालीन समाज का प्रलेख कहा जा सकता है। इसकी लोक व्यापिनी शक्ति का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि छत्तीसगढ़ में यह अनेक शताब्दियों तक एक लोकप्रिय माध्यम बनी रही।

छत्तीसगढ़ अंचल की मृण्मयमूर्तियों में विविध प्रकार की पशु- पक्षियों यथा- हाथी, घोड़े, सिंह, नन्दी,बंदर आदि की मूर्तियों को बनाए जाने की विशिष्ट परम्परा है। हाथी वैभव एवं शालीनता का द्योतक है। अतः उसे धन - धान्य की देवी श्रीदेवी के वाहन के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति के प्रतीक सिंह या बाघ को शक्ति की देवी (दुर्गा -शीतला- दंतेश्वरी देवी आदि) के वाहन के रूप में पूजा जाता है। गति और शौर्य के प्रतीक अवयव को योद्धाओं के वाहन के रूप में मान्य किया गया है। इस क्षेत्र के ग्रामीण अंचलों के पूजा स्थलों पर (जिसे मैदानी भाग में

माता देवालय और अरण्य क्षेत्र (बस्तर) में मातागुड़ी कहते हैं) मृण्यमूर्तियों को अर्पित करते हैं। जब उनकी कोई मन्नत (इच्छा)पूरी हो जाती है , तो वे अपने इष्ट देवता के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से कुम्हारों से मिट्टी की मूर्तियां बनवाकर भेंट स्वरुप अर्पित करते हैं। इस प्रकार की मृण्मयमूर्तियों को अर्पित करने का उद्देश्य ग्रामीणों का ऐसे पशुओं की पराशक्तियों में आस्था होना माना जाता है।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में पशु आकृतियों में सर्वाधिक मृण्मयीमूर्तियां नंदी अथवा नांदियां बैल की बनाई जाती है। नंदी कृषि (संस्कृति) का प्रतीक है तथा सभी भारतीयों के लिए पूजनीय है। कृषि कार्य में उनकी महत्ता को समझकर उसकी पूजा की जाने लगी । प्रजनन शक्ति के प्रतीक शिव-लिंग के साथ उसकी स्थापना की गई। प्रजनन की भावना की दृष्टि से यदि शिवलिंग की आराधना आवश्यक मानी जाती थी, तो भरण -पोषण के लिए नंदी का उतना ही महत्व स्वीकार किया गया।

छत्तीसगढ़ में भाद्र मास में पोला त्यौहार मनाया जाता है। इस अवसर पर कुम्हारों द्वारा बनाई जाने वाली मृण्मूर्तियों में नंदी की मूर्तियां प्रमुख होती है, जिनकी पूजा की जाती है । संपूर्ण अंचल में इस त्यौहार में सभी घरों में खुर्मी-ठेठरी नामक विशिष्ट पकवान बनाया जाता है। इसी पकवान से नंदी की पूजा का विधान है। उल्लेखनीय है कि खुर्मी- ठेठरी जो क्रमशः शिवलिंग और योनि (जलहरी) का प्रतीक होती है। इस प्रकार प्रजनन शक्ति के देवता शिव -पार्वती को प्रतीक रूप (खुर्मी-ठेठरी) को मिट्टी से बने नंदी पर आरूढ़ कर पूजा जाता है। पूजा के पश्चात् नंदी के पैरों में पहिया लगाकर बैलगाड़ी बनाकर बच्चों को खेलने को दिया जाता है ।

दीपावली के अवसर पर विविध प्रकार के कलात्मक दीपों को बनाने की परंपरा मिलती है । इन दीपों में लक्ष्मी दीपक, गज लक्ष्मी दीपक, ग्वालिन दीपक, स्तंभ दीपक आदि प्रमुख होते हैं। इन दीपकों में निर्मित सभी अभिप्राय शुभ एवं मांगलिक होते हैं। समृद्धि की प्रतीक गजलक्ष्मी एवं लक्ष्मी दीपक का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज को पशुपालन अवस्था के महत्व को

प्रतिपादित करती ग्वालिन दीपक में ग्वालिन कोसिर पर पात्र लिए बनाया जाता है। उसके हाथों एवं प्रभामंडल में दीप सजाए जाते हैं। आभामंडल से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्वालिन 'श्रीदेवी लक्ष्मी' का ही कोई लोक स्वरुप है। इसमें दीपों की संख्या पांच,सात,नौ या ग्यारह की विषम संख्या में होती है। इसी अवसर पर लक्ष्मी के साथ ही गणेश की मूर्तियां भी बनाई जाती हैं । इसके अतिरिक्त विविध अभिप्रायों यथा- हाथी, उल्लू , चूहा आदि से युक्त गुल्लकें भी बनाने की परंपरा है । प्रेत एवं दुष्टात्माओं से रक्षा हेतु रायगढ़ और सरगुजा आदि क्षेत्रों में ग्रामीणों के घरों की छप्पर (कवेलू) के शीर्ष पर पशु -पक्षियों के आकृतियों को बनाकर लगाने की परंपरा का प्रचलन है।

पक्षियों से संबंधित दीपों में सुआ अभिप्राय दीप विशेष प्रचलित है । सुआ छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रिय विषय है । संदेश वाहक सुआ अभिप्राय वाले दीपक को प्रायः वे स्त्रियां जलाती हैं, जिनके पिया परदेश गये हुए होते हैं। इस क्षेत्र में देव -उठनी के अवसर पर मिट्टी के मिट्टी के खिलौने बनाने की समृद्ध परंपरा है। बच्चों को खेलने हेतु मिट्टी की गाड़ी , चक्की -चूल्हा , रसोई की भोजन पकाने के विविध पात्र आदि प्रदान किए जाते हैं ,जिन्हें यहां के कुम्हार लोग बनाते हैं ।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मृण्मूर्तियों को बनाने का कार्य कुम्हार जाति के लोग परंपरा से करते हैं। इन कलाकारों द्वारा निर्मित मूर्तियां संपूर्ण भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । विशेष रूप से हाथी एवं घोड़ों की छोटी एवं आदमकद तक बनने वाली मूर्तियां अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है । इस प्रकार की मूर्तियों को लोग अपने कलाकक्ष में प्रदर्शित साज-सज्जा कर गौरवान्वित होते हैं। प्राचीन काल से बनने वाली ये मूर्तियां आज भी अपने प्राचीन रूप को अपने में समेटे हुए हैं । इस प्रकार एक सुदीर्घ कला एवं सांस्कृतिक परंपरा को धरोहर के रूप में बचाए हुए छत्तीसगढ़ की मृण्कला आज भी एक जीवंत धारा के रूप में विद्यमान है ।

संदर्भ -ग्रंथ

1. कला वैभव
2. निहारिका, प्राचीन भारतीय पुरातत्व अभिलेख एवं मुद्राएँ, पृ.46

3. पाण्डेय, जयनारायण, भारतीय कला, पृ. 201
4. तरीघाट, एक्सकेवेशन रिपोर्ट, पृ. 103-05
5. पचराही, एक्सकेवेशन रिपोर्ट, पृ. 56-57
6. कोसल अंक 10, वर्ष, 2017, पृ. 46-51
7. प्रधान, अतुल, वाजपेयी, शिवाकांत, एक्सकेवेशन इन छत्तीसगढ़, पृ. 23-41

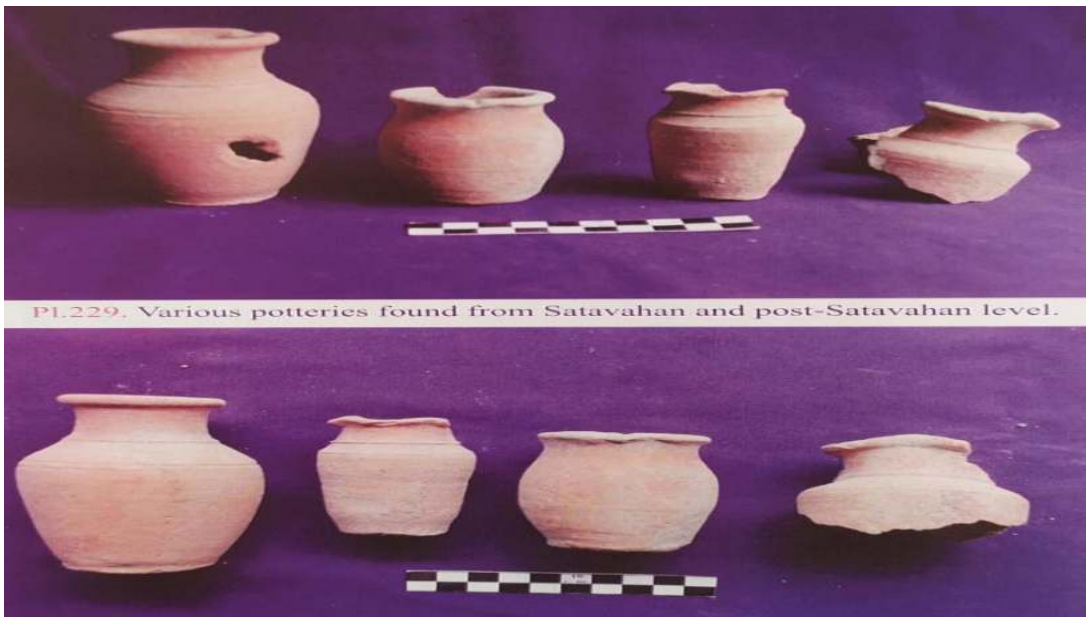

Pl.229. Various potteries found from Satavahan and post-Satavahan level.

एरण से प्राप्त बीना सती अभिलेखों का उद्वाचन एवं अनुशीलन

डॉ. मोहन लाल चढ़ार

एरण ग्राम सागर नगर से उत्तर-पश्चिम दिशा में 75 किमी की दूरी पर स्थित है। यह पुरास्थल मध्यप्रदेश के सागर जिले की बीना तहसील में अवस्थित है।[1]यह स्थल बेतवा नदी की सहायक बीना नदी के किनारे बसा है। वर्तमान एरण ग्राम को प्राचीन काल में मध्यभारत के प्रमुख नगर के रूप में ख्याति प्राप्त थी। इसकी जानकारी हमें एरण से प्राप्त विभिन्न अभिलेखों और सिक्कों से मिलती है। ब्रिट्रिश सरकार के इन्जीनियर टी. एस. बर्ट ने 1838 ईस्वी में इस पुरास्थल की खोज की थी। जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम को एरण ग्राम से अनेक अभिलेख,सिक्के और मंदिरों के पुरावशेष प्राप्त हुए थे। इस पुरास्थल पर किये गये उत्खननों से प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक की विभिन्न संस्कृतियों का क्रमिक विकास देखने को मिला है। इस पुरास्थल से पाषाणकालीन संस्कृति, ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति के साथ-साथ मौर्य, शुंग, सातवाहन, शक-क्षत्रप, नाग, गुप्त, हूण, कलचुरि, चंदेल, परमार एवं स्थानीय विभिन्न राजवंशों के प्रमाण मिले है। एरण पुरास्थल गुप्त काल में मध्यभारत के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रुप में स्थापित हुआ था।

इस पुरास्थल के सर्वेक्षण में गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक के अनेक सती स्तम्भ लेख प्राप्त हुए है। एरण से प्राप्त तीन सती स्तम्भ लेखों के पाठ का वाचन इस शोध पत्र में किया गया है। इन सती स्तम्भ लेखों से मध्यकालीन भारत की विभिन्न सामाजिक परम्पराओं की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। एरण पुरास्थल से प्राप्त इन सती स्तम्भ लेखों से बुन्देलखण्ड की राजनीतिक,सामाजिक,आर्थिक,धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है।[2]एरण ग्राम से अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[3] इन अभिलेखों में तीसरी शती ईस्वी का शक शासक श्रीधर वर्मा का स्तम्भलेख[4],गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का एरण अभिलेख[5], महाराजाधिराज बुधगुप्त का अभिलेख[6],हूण शासक तोरमाण का वराह मूर्तिलेख[7]एवं भानुगुप्त के सेनापति गोपराज का सती स्तम्भलेख[8] उल्लेखनीय है। भारतीय दृष्टिकोण से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज का सती स्तम्भलेख काफी महत्वपूर्ण है। सेनापति गोपराज का यह सती स्तम्भलेख भारत का प्रथम तिथियुक्त सती प्रथा का प्राचीनतम प्रमाण माना जाता है। इस सती स्तंभ लेख में गुप्त सम्वत् की तिथि 191 का अकंन किया गया है।[9]इस लेख के अनुसार गुप्तवंशी महाराज भानुगुप्त के प्रिय मित्र और सेनापित गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी पतिव्रता सुन्दर पत्नी अपने पति की चिता के साथ अग्नि में विलीन हो गई थी।[10]इस महत्वपूर्ण अभिलेख की खोज जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम ने 1875 ईस्वी में की थी।[11] इस सती स्तंभलेख के अलावा एरण ग्राम से मध्यकालीन एवं आधुनिक काल के लगभग 20 सती स्तंभ लेख प्राप्त हुए हैं। जिसमें से लगभग सात सती स्तंभों के लेख नष्ट हो चुके हैं,लेकिन 13 सती स्तंभों के लेख अभी भी पूर्ण रुप से सुरक्षित हैं।[12]जिनसे एरण पुरास्थल की तत्कालीन कला एवं संस्कृति की भी जानकारी मिलती हैं। एरण पुरास्थल से प्राप्त सती स्तम्भ लेखों में स्वर्गवासी व्यक्ति का नाम,तिथि,माह,स्थान का नाम उसके कुल का नाम,पिता का नाम,सती होने की घटना के बारे में जानकारी दी गई है।[13]इन सती स्तंभों में सूर्य,चंद्रमा,तारे,शिव का डमरु एवं आशीर्वाद देते हुए सती का हाथ उत्कीर्ण किया गया हैं। इन सती स्तम्भों पर किये गये उक्त अंकनों से यह सिद्ध होता है कि जब तक सृष्टि में सूर्य,चंद्रमा,तारे अथवा शिव का अस्तित्व विद्यमान रहेगा,तब तक सती होने वाली नारी की प्रसिद्धी रहेगी। उल्लेखनीय है कि भगवान शिव की

पत्नी सती ने अपने पिता दक्ष के यहां होने वाले यज्ञ में शिव के घोर अपमान के कारण अपने प्राण यज्ञ कुण्ड में कूदकर दे दिये थे।[14]माना जाता है कि इसी घटना से सती प्रथा का प्रारम्भ हुआ था।

एरण से प्राप्त लगभग सभी सती स्तम्भ लेख देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण किये गये है। लेखों में प्रयुक्त भाषा अशुद्ध संस्कृत एवं आंचलिक बुन्देलखण्डी है। इस क्षेत्र के जनमानस और सती होने वाली महिला के वंशज इन सती स्तंभों की पूजा आज भी करते हैं। इस क्षेत्र के लोगों में यह दृढ़ विश्वास है कि सती माता की पूजा करने से उनके परिवार को सुख समृद्धि मिलेगी।एरण से प्राप्त सती स्तंभों पर पति और पत्नी कीप्रतिमाएं बनी है। कुछ सती स्तम्भों में युद्ध के दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। इन सती स्तम्भों में सती होने वाली पतिव्रता नारी की भक्ति का भावपूर्ण उल्लेख किया गया है। एरण से प्राप्त इन सती स्तंभ लेखों से तत्कालीन समय की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती हैं। एरण ग्राम में अधिकतर सती स्तम्भ लेख ग्राम के बाहरी क्षेत्रों में बिखरे पड़े हुए है। एरण से प्राप्त सती स्तंभों पर कलात्मक रुप में पति-पत्नी को एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए,शिवलिंग की पूजा करते हुए एवं चिता पर सोते हुए अंकित किया गया है। एरण से प्राप्त तीन सती स्तम्भ लेखों का पाठ वाचन व उनका विस्तृत विश्लेषण अग्र प्रकार है।

प्रथम सती स्तम्भ:

1- खोज: यह सती स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र 2004 में बरेली उत्तरप्रदेश में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय इसका पाठ नही पढ़ा जा सका था।
2- खोज स्थल: ग्राम एरण में प्राथमिक विद्यालय भवन के पास में नीचे जमीन में गिरा पडा है।
3- पत्थर: कठोर लाल रंग का पत्थर
4- तिथि: शक संवत 788
5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।
6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री व उसके परिवार की जानकारी दी गई है।
7- स्तम्भ की माप: लंबाई- 1.67 मीटर,चौड़ाई 40 सेमी और मोटाई 10 सेमी है।
8- लेख की लिपि: देवनागरी (शिलालेख चार लाइनों में लिखा गया है) वर्ण आकार 3 सेटींमीटर (चित्र क्रमांक 01)
9- लेख की भाषा: अशुद्ध संस्कृत

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- संवतु 788 दामहा पुत्रसय (न)
2- मुसतीरफर चैत्र मासे पंचमी तिथि (पया)
3- ऐरनी मुकामसय सरहद युद्धे मरे
4- मां सतेर रामो रामस्यो

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- शक सम्वत् 788 में दमहा का पुत्र
2- मुसतीरफर चैत्र मास की पंचमी तिथि में
3- ऐरनी ग्राम की सीमा में युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

4- मां सती राम राम

इस शिलालेख की भाषा अशुद्ध संस्कृत है,शिलालेख में कुछ स्थानीय शब्द डाले गए हैं। ये शिलालेख सती स्तम्भ के मध्य भाग पर उत्कीर्ण हैं। इस शिलालेख में कुल 4 लाइनें हैं। इस शिलालेख की ऊपरी दो लाइने पूर्ण रुप से सुरक्षित है और अंतिम दो लाइनों के कुछ अक्षर नष्ट हो गये हैं। शक संवत 788 की तिथि एवं युद्ध में शहीद वीर योद्धा के पिता के नाम का अंकन प्रथम पंक्ति में किया गया है। इस स्तंभ में सती होने वाली स्त्री का नाम का उल्लेख नही है। इस शिलालेख में दूसरी पंक्ति युद्ध में मारे गये योद्धा का नाम मुसतीरफर लिखा है। तृतीय लाइन में एरन ग्राम का नाम ऐरनी तथा एक युद्ध का उल्लेख किया गया है। लेख की अंतिम पंक्ति में मांसती एवं राम राम नाम को उत्कीर्ण किया गया है। इस स्तम्भ पर एक योद्धा को घोड़े पर सवार दिखाया गया है। योद्धा की कमर में तलवार दिखाई गई है। इस स्तंभ पर सूर्य,चंद्रमा,पांच तारे और भगवान शिव का डमरू उत्कीर्ण हैं। सती स्तंभ पर पति और पत्नी को एक दूसरे का हाथ पकड़े दिखाया गया है। (चित्र क्रमांक 02) सूर्य और चंद्रमा और तारे का चित्रण प्रकृति की पूजा आराधना एवं सती की महिमा के प्रतीक है। यह सती शिलालेख एरण में हुए एक युद्ध में शहीद सैनिक की पत्नी का है। इस स्तंभ के शीर्ष भाग पर आशीर्वाद देते हुए सती का हाथ बनाया गया है। जो यह सिद्ध करता है कि जब तक सूर्य,चन्द्रमा,और तारे तथा शिव की शक्ति रहेगी तब तक सती का आर्शीवाद सम्पूर्ण पृथ्वी वासियों पर बना रहेगा।

प्रथम सती स्तम्भ

द्वितीय सती स्तम्भ

तृतीय सती स्तम्भ

द्वितीय सती स्तम्भ: (चित्र क्रमांक : 03)

1- खोज: यह स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय लेख पढ़ा नहीं जा सका था।
2- खोज स्थल: ग्राम एरण में रामू भागीरथ केवट कृषि फार्म माता की मड़िया के पास स्थित है।
3- पत्थर: लाल बलुआ पत्थर
4- तिथि: शक संवत 1832
5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।
6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री की जानकारी दी गई है।

7- स्तम्भ की माप: लंबाई 1.32 मीटर,चौड़ाई 43 सेंटीमीटर,और मोटाई 10 से.मी.

8- लेख की लिपि: देवनागरी (शिलालेख में नौ लाइन है) वर्ण आकार 3 सेटींमीटर (चित्र क्रमांक 05)

9- लेख की भाषा: यह लेख स्थानीय भाषा बुन्देलखण्डी में लिखा गया है।

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- श्री पंचसेनु कौ कुरनवे एरन से
2- सवतु 1831 की सती की
3- सलग्न पूस सुद सुमवार कौ स
4- ती नन्दी ने वीर के सहत कीरत पाइ
5- श्री पंचसेनु कौ कुरन के वीर एरन से
6- खणज लगत अग्रैजो राज्य फौज
7- कौ द (...) मरन लरयौ पर सुरगवस
8- ने सेया के चेता (.....) वर संवा
9- तु 1832 मुकम ऐरन सती सही।

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- एरण निवासी श्री पंचसेन के कुल में
2- शक सम्वत् 1831 में यह सती हुई।
3- हिन्दी माह पूस लग्न सुदी सोमवार के दिन
4- सती नन्दी (सती होने वाली स्त्री का नाम) वीर योद्धा के साथ कीर्ति प्राप्त की अर्थात सती हो गई।
5- एरन के श्री पंचसेन के कुल के वीर
6- अंग्रेजों के राज्य की फौज की तलवार लगने से
7- युद्ध में लडते हुए मृत्यु होकर स्वर्गवासी हो गये।
8- पति की चिता पर सती हुई।
9- शक सम्वत् 1832 में मुकाम ऐरन में लिखा गया यह लेख सत्य है।

यह सती स्तंभ रामू भागीरथ केवट कृषि फार्म में माता की मड़िया के पास में स्थित है। शिलालेख देवनागरी लिपि और बुन्देलखण्डी भाषा में लिखा गया है। इस शिलालेख की 9 पंक्तियां पद्य में लिखी गई हैं। शिलालेख में कुछ बुन्देलखण्डी के स्थानीय शब्द भी लिखे गये हैं। स्तम्भ पर अश्व को उल्टा उत्कीर्ण किया गया है। यह सती स्तम्भ लेख सती पत्थर के निचले हिस्से पर नीचे से ऊपर की ओर उल्टा उत्कीर्ण गया है। यह लेख सम्भवतः लेख उत्कीर्ण करने वाले की गलती से उल्टा लिखा गया है। लेख की पहली पंक्ति में श्री पंचसेन के कुल का उल्लेख है। दूसरी पंक्ति में शक सम्वत 1831 का अंकन है। तीसरी पंक्ति में हिंदी के महीने पौष एवं दिन सोमवार लिखा गया है। लेख की चतुर्थ पंक्ति में सती होने वाली पतिव्रता नारी का नाम नन्दी मिलता है। पांचवी पंक्ति में गाँव का नाम एरन उत्कीर्ण है। छठवी पंक्ति में अंग्रेजों की फौज का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि यह योद्धा अग्रेजों की सेना से लडते हुए मारा गया था। सातवी पंक्ति में युद्ध में सती होने वाली पत्नीके स्वर्गवासी पति का उल्लेख किया गया है। आठवी पंक्ति में पति की चिता में सती होने का उल्लेख किया है। अंतिम पंक्ति में लेख लिखे जाने का सम्वत् एवं ग्राम एरन का अंकन है। इसमें दो तिथियों का उल्लेख है पहली तिथि शक सम्वत 1831 की दी गई है

जो सती होने की वास्तविक तिथि है एवं दूसरी तिथि शक सम्वत 1832 सती शिलालेख लिखे जाने की है। इस स्तम्भ में पति-पत्नी को एक-दूसरे का हाथ पकड़े दिखाया गया है। सती स्तंभ के शीर्ष भाग पर आशीर्वाद देते हुए दो हाथ,सूर्य,चंद्रमा,पांच तारे,शिव के डमरू का कलात्मक अंकन किया गया है। सूर्य और चंद्रमा, तारे एवं शिव का डमरु सती होने वाली नारी की महिमा के प्रतीक माने जाते थे।

तृतीय सती स्तम्भ: (चित्र क्रमांक 04)

1- खोज: यह स्तम्भ लेखक द्वारा 2004 ईस्वी में खोजा गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस के 65 वें सत्र में एरण के सती स्तंभ शीर्षक से शोध पत्र का वाचन किया गया था। इस समय लेख का पाठ वाचन नही हो सका था।

2- खोज स्थल: ग्राम एरण में दोनावीर के टीले पर स्थित है।

3- पत्थर: लाल बलुआ पत्थर

4- तिथि: शक संवत 1628

5- अभिलेख की छाप: लेखक द्वारा ली गई थी।

6- शिलालेख का उद्देश्य: सती होने वाली स्त्री की जानकारी दी गई है।

7- स्तम्भ की माप: स्तम्भ की लंबाई 1.80 मी.चौड़ाई 48 से.मी. और मोटाई 10 से.मी. है।

8- लेख की लिपि: देवनागरी (छः लाइनों में शिलालेख) वर्ण आकार 3 सेटीमीटर (चित्र क्रमांक 06)

9- लेख की भाषा: स्थानीय भाषा बुन्देलखण्डी में लिखा गया है।

मूल स्तम्भ लेख का पाठ:

1- संवतु 1628 में पुस सुदी द

2- सी दिन बुधबार कर धंहेरी मा स

3- ती भयै रजनीस एरनु गांव के वासि

4- है सती साहरगवासी पतै कुल

5- कौसीलवटह के सती है

6- सु मगलं

सती स्तम्भ लेख का अनुवाद:

1- शक सम्वत् 1628 में पूस माह शुक्ल पक्ष की दसवी तिथि

2- दिन बुधवार को धहेरी (सती का नाम) मां सती

3- हुई। रजनीस (सती होने वाली स्त्री के पति का नाम) एरन ग्राम के निवासी है।

4- सती स्वार्गवासी पति के कुल

5- कौसीलबट की सती है

6- सभी का मंगल हो।

यह सती स्तम्भ एरण ग्राम से आधा किलोमीटर की दूरी पर दोनावीर टीले पर स्थित है। इसके समीप एक गुप्तकालीन शिवलिंग भी स्थापित है। लेख की भाषा बुन्देलखण्डी एवं लिपि देवनागरी है। लेख में कुल छः पंक्तियां है। प्रथम पंक्ति में लेख की तिथि 1628 के साथ हिन्दी माह पौष शुक्ल पक्ष की दसवी तिथि का उल्लेख किया गया है। यह तिथि अंग्रेजी सम्वत 1706 एवं माह दिसम्बर जनवरी की है। द्वितीय पंक्ति में सती होने वाली पतिव्रता नारी के साथ साथ दिन बुधवार का उल्लेख किया गया है। स्तम्भ के शीर्ष भाग पर आर्शीवाद देते हुए हाथ का अंकन है। हाथ के आस-पास सूर्य,चन्द्रमा,पांच तारे व भगवान शिव के डमरु का कलात्मक उत्कीर्णन किया गया है। पति-पत्नी को हाथ पकड़े स्थानक मुद्रा में दिखाया गया है।

निष्कर्ष:

इस प्रकार कहा जा सकता है,कि एरण पुरास्थल से लेखक को अनेक सती स्तम्भ प्राप्त हुए है। उनमें से उपर्युक्त तीन सती स्तम्भ लेखों को अभी तक सफलता पूर्वक पढ़ा जा सका है। अन्य सती स्तम्भ लेखों के पाठ वाचन का प्रयास किया जा रहा है। अनेक सती स्तम्भों को ग्रामवासियों ने अपने मकानों व चबूतरों में लगा लिया हैं। जिसके कारण इनके लेख नष्ट हो गये है। एरण से प्राप्त उक्त सती स्तम्भ लेखों से मध्यकालीन संस्कृति के विषय में काफी महत्वपूर्ण तथ्यपरक जानकारी प्राप्त होती है। हालांकि समाज में सती प्रथा एक कुरीति के रुप में प्रचलित रही है। आज यह पूर्ण रुप से बन्द हो चुकी है,किन्तु सती स्तम्भों पर की गई कलाकारी से तत्कालीन समय की विविध कलाओं की कलात्मक जानकारी देखने को मिलती है। उपर्युक्त लेखों के पाठ अनुवाद से स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन भारत में एरण ग्राम के आसपास एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र के लोग भगवान राम एवं भगवान शिव की पूजा आराधना करते थे। प्रथम सती स्तम्भ लेख में राम रामस्य लिखा गया है। आज भी बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अधिकतर लोग आपस में मेल मिलाप करते समय राम-राम शब्द से एक दूसरे का अभिवादन करते है। सती लेखों से ज्ञात होता है कि एरण में सती होने वाली अधिकतर स्त्रियां क्षत्रिय वर्ण से सम्बधित थी। उक्त लेखों के अनुसार अधिकांश स्त्रियों के पति शत्रु सेना से युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये थे। एरण से पूर्व में लेखक को एक सती स्तम्भलेख मिला था। इस लेख में महाराजाधिराज सुजीतानमह की मृत्यु के बाद राजा की पत्नी के सती होने की जानकरी मिली है। इससे ज्ञात होता है कि एरण क्षेत्र में योद्धाओं के साथ साथ राजपरिवारों में भी सती जैसी कुप्रथाओं का प्रचलन था। एरण से प्राप्त अधिकतर सती स्तंभों पर शिव के डमरु का अंकन किया गया है जो शिव के साथ सती के कथानक की पुष्टि करता है। प्रत्येक सती स्तम्भ पर सूर्य, चंद्रमा और तारों का चित्रण प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-उपासना का सूचक माना जाता है। लगभग सभी सती स्तम्भ पर आर्शीवाद देते हुए हाथ को कलात्मक ढ़ग से बनाया गया है, जो सम्पूर्ण सृष्टि के जनमानस के कल्याण का सूचक माना जाता है। सूर्य,चंद्रमा,तारे एवं शिव के डमरु के चित्रण से यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि जब तक ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्रमा, तारों व शिव का अस्तित्व है तब तक सती का आर्शीवाद व उसकी महिमा संसार में बनी रहेगी।

प्रथम सती स्तम्भ में राम राम का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भगवान राम की पूजा उपासना एरण ग्राम के आसपास एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र में व्यापक रुप में की जाती थी। इस लेख में एरण का नाम ऐरनी लिखा गया है। उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल में एरण का प्राचीन नाम ऐरिकिन मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में एरण का नाम ऐरनी हो गया होगा। सल्तनत काल में इस ग्राम का नाम ऐरनी से एरन पड़ गया था। उल्लेखनीय है कि मुगल काल में यहां से बत्तीस गांवों का प्रशासन चलाया जाता था। इस काल में एरन को आसपास के बत्तीस ग्रामों का मुख्यालय बनाया गया था। इसी कारण मुगल काल से आज तक इस ग्राम को एरन बत्तीसी भी

कहा जाता है। बुन्देलखण्ड के अधिकतर लोग इस ग्राम को एरन बत्तीसी के नाम से ही जानते है। प्रथम सती लेख में सती होने वाली नारी को मां लिखकर आत्मिक सम्मान दिया गया है। इस लेख में एरन ग्राम की सीमा के अन्दर एक युद्ध का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि एरण ग्राम में किसी शत्रु राजा ने आक्रमण किया होगा। इस आक्रमण में वीरगति को प्राप्त करने वाले योद्धा की पत्नी के सती होने की जानकारी लेख में दी गई है। इस सती लेख में तिथि शक संवत में अंकित है। इस लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि एरण क्षेत्र में वैष्णव संप्रदाय,का समाज में काफी वर्चस्व रहा होगा। इस क्षेत्र के लोग रामायण में वर्णित राम कथा के कथानकों को याद करने के साथ साथ आने वाली पीडियों को कहानियों के रुप में राम की महत्वपूर्ण घटनाओं को सुनाते होगे। आज भी एरण ग्राम में रामायण की विविध कहानियां प्रचलित है। इस लेख से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारत में भी एरण राजसत्ता का महत्वपूर्ण केन्द्र था, इसलिए इस नगर पर आक्रमण होते रहते थे। लेख में उल्लेख मिलता है कि युद्ध में शहीद होने वाले सैनिक की पत्नी सती हो गई थी। लेख में सती को मां कहा गया है। अतः कहा जा सकता है कि सती होने वाली नारी को माता के रुप में समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। समाज में सती को भगवान शिव और सती के कथानक से जोड़ कर सम्मान के साथ देखा जाता था किन्तु यह सती जैसी कुप्रथा मध्यकाल में अधिक बढ़ गई थी जबकि भारत के प्राचीनतम् ग्रन्थ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन भारत में सती प्रथा सांकेतिक रुप में प्रचलन में थी। इसमें पति की चिता पर सांकेतिक रुप में स्त्री लेटती थी और बाद में उसके परिवार के वृद्धजन विधवा नारी को पुनः नया जीवन जीने का विशेष आग्रह करके घर वापिस ले आते थे और सामान्यतः देवर य अन्य कोई परिवार के विवाह योग्य अविवाहित सदस्य से पुनः विवाह कर देते थे। रामायण व महाभारत महाकाव्यों में सती प्रथा पत्नी की स्वेच्छा पर आधारित थी। महाराज दशरथ के स्वर्गवासी हो जाने के बाद उनकी तीनों पत्नियां सती नही हुई थी। रावण के मरने के बाद उसकी पत्नी मंदोदरी सती नही हुई थी जबकि मेघनाद की पत्नी सुलोचना सती हुई थी। महाभारत में उल्लेख है कि पाण्डु की मृत्यु के पश्चात उनकी छोटी पत्नी माद्री सती हो गई थी और बड़ी पत्नी कुन्ती सती नहीं हुई थी।

इस शोध पत्र में वर्णित द्वितीय सती अभिलेख में दो तिथियों का उल्लेख किया गया है। पहली शक संवत 1831 की तिथि सती होने की वास्तविक तिथि है। दूसरी तिथि शक सम्वत् 1832 की सती लेख लिखे जाने की तिथि का उल्लेख करती है। सती होने वाली स्त्री का नाम नन्दी लिखा गया है। इस सती लेख में अग्रेजों से युद्ध में एक वीर योद्धा के वीरगति को प्राप्त हो जाने की घटना का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 1909 ईस्वी में एरण क्षेत्र पर अंग्रेजों की फौजों ने आक्रमण किया था। जिसमें अनेक भारतीय वीर सैनिक वीरगति को प्राप्त हो गये थे। लेख में एरन ग्राम को मुकाम ऐरन लिखा गया है। तृतीय सती लेख में भी सती को मां के रुप में उल्लेख किया गया है। इस लेख में सुमंगल शब्द का उल्लेख किया गया है इससे स्पष्ट होता है कि सती का आर्शीवाद लोक कल्याण के लिए मंगलकारी माना जाता था। इस लेख में शुद्ध बुन्देलखण्डी भाषा का प्रयोग किया गया है। एरण पुरास्थल में गुप्तकाल से सती प्रथा के प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते है। भारत का प्रथम सती स्तम्भ लेख एरण से ही प्राप्त हुआ है। गुप्तकालीन शासक भानुगुप्त के एरण सती लेख से पता चलता है कि गुप्त सेना को हूण शासक मिहिरकुल ने एरण में पराजित किया था। लेख के अनुसार भानुगुप्त के मित्र व सेनापति गोपराज की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी गोपाबाई अपने मृत पति के शरीर के साथ इस पुरास्थल पर सती हो गई थी। उक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक एरण सेना तथा राजसत्ता का महत्वपूर्ण केंद्र रहा था। गुप्तकाल में मथुरा से उज्जैन जाने वाले प्रमुख व्यापारिक राजमार्ग पर यह नगर स्थापित था। यह व्यापारिक मार्ग यमुना नदी के किनारे बेतवा नदी और नर्मदा नदी के समीप से होते हुए भृगुकच्छ वर्तमान भड़ौच तक जाता था। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग भारत के प्रमुख नगरों को

समुद्री मार्ग से जोड़ता था। उल्लेखनीय है कि यमुना और नर्मदा नदियों का वर्णन बुद्धगुप्त के एरण शिलालेख में किया गया है। एरण पुरास्थल पर किये गये उत्खननों से ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक यह स्थल भारतीय संस्कृति की निरन्तरता एवं विकास के अनुक्रम का साक्षी रहा है। युगों युगों से इस पुरास्थल के विकास में अहम योगदान देने वाली प्राचीन बेण्वा वर्तमान बीना नदी आज भी एरण ग्राम के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। एरण पुरास्थल से प्राप्त सतीस्तंभ लेखों से हमें एरण क्षेत्र एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र की पूर्वमध्यकालीन एवं उत्तरमध्यकालीन कला,संस्कृति,धर्म,समाज एवं राजनीतिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है।

सन्दर्भ:

1- वाजपेयी,कृष्णदत्त : सागर थ्रू दि एजेज,सागर, 1954,पृ .35

2- दुबे,नागेश : एरण की कला,सागर, 1997,पृ. 11

3- द्विवेदी,चन्द्रलेखा : एरण का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास,दिल्ली, 1985,पृ. 99

4- चढ़ार,मोहन लाल : एरण एक सांस्कृतिक धरोहर,नई दिल्ली, 2016,पृ. 124

5- दुबे,नागेश : पूर्वोक्त,पृ. 58

6- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख,जयपुर,राजस्थान, 1992,पृ. 185

7- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 126

8- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : पूर्वोक्त,पृ. 187

9- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 130

10- वाजपेयी,कृष्णदत्त : सागर थ्रू दि एजेज,पूर्वोक्त,पृ. 27

11- वाजपेयी,कृष्णदत्त एवं अग्रवाल,कन्हैयालाल : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख,जयपुर,राजस्थान, 1992,पृ. 199

12- चढ़ार,मोहन लाल : पूर्वोक्त,पृ. 36

13- शर्मा राजकुमार: मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ,भोपाल, 1974,पृ. 311

14- शिव पुराण 19/30

एरण के मूर्तिशिल्प एवं मंदिर स्थापत्य से ज्ञात प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष

प्रो. नागेश दुबे

बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम स्थल एरण राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। एरण, लोक कला के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। एरण की कला एवं स्थापत्य में लोक–संस्कृति अनेक रूपों में दर्णित हुई है। लोक संस्कृति में जनसामान्य के आदर्श, विश्वास एवं रीति–रिवाज आदि विविध पक्ष व्यक्त होते हैं। लोक संस्कृति, लोक क्रियाकलापों, लोक–काव्यों, लोक सम्बद्ध कथाओं एवं लोककलाओं में प्रतिबिम्बित होती है। एरण की लोक–संस्कृति अत्यंत प्राचीन है।

एरण, मध्यप्रदेश के सागर जिले की बीना तहसील में स्थित है। एरण, सागर नगर से लगभग 75 किलोमीटर उत्तर पश्चिम दिशा में स्थित है। विदिशा से इसकी दूरी 72 कि.मी. उत्तर पूर्व में स्थित है।[1] एरण, बीना नदी के तट पर बसा हुआ है। बीना नदी उत्तर–पश्चिम एवं पूर्व दिशा से एरण को अपने घेरे में लेकर अर्द्धचन्द्राकार रूप में प्रवाहित होती हुई इसकी स्वाभाविक सुरक्षा करती है। चौथी ओर ताम्रपाषाण युग में निर्मित सुरक्षा दीवार है।

प्राचीनकाल से एरण प्रमुख राजमार्ग पर स्थित था। यह राजमार्ग उज्जयिनी, विदिशा होता हुआ एरण आता था, यहाँ से भरहुत होता हुआ कौशाम्बी जाता था। जनरल कनिंघंम[2] तथा जॉन एलन[3] ने एरण की यही स्थिति दी है। भौगोलिक दृष्टि से एरण का महत्व अधिक रहा है। इसके एक ओर बुन्देलखण्ड तथा दूसरी ओर मालवा का भू–भाग है। अतः यह बुन्देलखण्ड तथा मालवा के मध्य एक प्रवेशद्वार के समतुल्य था।[4] पूर्वी मालवा की सीमा रेखा पर स्थित होने के कारण यह दशार्ण जनपद को चेदि जनपद से जोड़ता था।[5] प्राचीन राजमार्ग पर स्थित होने के कारण एरण का महत्व अधिक था।[6]

जर्नल अलेक्जेण्डर कनिंघम ने सन् 1874–75 में इस क्षेत्र का दौरा किया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम प्राचीन 'एरिकिण' नगर की पहचान एरण से की। एरण की प्राचीन संज्ञा 'ऐरिकिण' या 'एरकण्य' अनेक अभिलिखित मुद्राओं एवं अभिलेखों में मिलती है।

एरण की जनपदीय मुद्राओं में एरकण्य[7] गुप्तकालीन अभिलेखों में 'ऐरिकिण' साँची अभिलेख में 'एरकिन' के रूप में एरण का उल्लेख हुआ है।[8] इस स्थान में जो महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें समुद्रगुप्त का अभिलेख[9] (यह अभिलेख वर्तमान में कलकत्ता संग्रहालय में संग्रहीत है)। शक शासक श्रीधरवर्मा का अभिलेख[10], बुधगुप्त का अभिलेख[11] प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साँची के मुख्य स्तूप के निर्माणार्थ एरण के निवासियों के द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख करने वाला अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें 'एरकिन' का नाम उल्लेखित हुआ है।[12]

लोककला मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है। कलाकार अपने अव्यक्त भावों को कतिपय माध्यमों के द्वारा व्यक्त करता है। एरण की कला एवं स्थापत्य पर अंकित मूर्ति शिल्प के द्वारा प्राचीन लोक संस्कृति के विविध पक्ष उजागर हुए हैं।

भारतीय मृण्मूर्ति–कला जो कि नवपाषाणकाल से अस्तित्व में आई, इसके द्वारा मानव के सामाजिक एवं घरेलू जीवन का आकलन संभव हो सका है। पृथ्वी (भूमि) से जुड़ी यह कला जनसाधारण के सुख का साधन थी। मृण्मूर्तियों का निर्माण काफी सरल सुलभ व सस्ता था। इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित भी सरलतापूर्वक किया जा सकता था। यह कला मुख्यतः निर्धनों की कला के रूप में भी जानी जाती है। मृण्मूर्तियों को आग में पका देने से उनमें दृढ़ता लाई जाती थी। मृण्मूर्ति कला साधारण कलाकारों के माध्यम से जनसाधारण में पहुँची थी। इस कला के द्वारा निर्मित मानव, पशु–पक्षी, खिलौने तथा बौनों की मृण्मूर्तियों के द्वारा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थिति का आकलन करने में पर्याप्त मार्गदर्शन मिलता है।

सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में एरण में सर्वप्रथम सन् 1960 से 1965 के मध्य प्रो. के.डी. बाजपेयी तथा डॉ. उदयवीर सिंह के निर्देशन में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ। उक्त उत्खननों के द्वारा ताम्रपाषाणकाल से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक के अवशेष एरण से उजागर हुए। सन् 1984 से 1987–88 तथा 1998 में प्रोफे. सुधाकर पाण्डेय तथा डॉ. विवेकदत्त झा के निर्देशन में सम्पन्न उत्खननों में उपरिवर्णित अवशेषों के अतिरिक्त नवपाषाण तथा कायथा संस्कृति के मृद्भाण्ड एवं अन्य अवशेष भी प्रकाश में लाये गये। एरण में किये गये उत्खननों के फलस्वरूप आद्यऐतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[13]

छायाचित्र 1 : मानव मृण्मूर्तियाँ

छायाचित्र 2 : पशु मृण्मूर्तियाँ

एरण उत्खनन में मानवीय एवं पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनकी संख्या मानव मृण्मूर्तियों की तुलना में कहीं अधिक है। प्रारंभिक मृण्मूर्तियों की बनावट बेडौल

है। परवर्ती काल की प्रतिमाएँ सुडौल और सजीव हैं। इन आकृतियों के द्वारा सिद्ध होता है कि कलाकार को पशु–पक्षियों के शारीरिक अवयवों का पूर्ण ज्ञान था। तत्कालीन पशु–पक्षियों के अस्तित्व की जानकारी के अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि वृषभ लोकप्रिय पशु था। कृषि में योगदान के फलस्वरूप सम्भवतः वृषभ का महत्व था। ककुदमान वृषभ की एरण में प्राप्ति द्वारा हड़प्पा संस्कृति से एरण का संपर्क होना प्रमाणित होता है। एरण में हरिण की आकृतियों की प्राप्ति द्वारा प्रमाणित होता है कि हरिण एरण के आद्यैतिहासिक मानव का प्रिय पशु था।[14]

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि एरण निवासियों ने मिट्‌टी की मानव, पशु व पक्षियों की मृण्मूर्तियों का निर्माण किया। इससे उनकी कलाप्रियता दर्शित हुई है। इन मृण्मूर्तियों द्वारा एरण के कायथा संस्कृति तथा मालवा की ताम्रपाषाण संस्कृति के निवासियों के जीवन के विविध पक्ष उजागर हुए हैं।

एरण में लगभग 600 ईसा पूर्व से 200 ईसा पूर्व तक विद्यमान संस्कृतियों में मृण्मूर्ति कला की परम्परा विद्यमान रही है। उत्खनन में बहुत सी मानवीय व पाश्विक मृण्मूर्तियाँ व खिलौने मिले हैं, जो तत्कालीन मृण्मूर्ति कला प्रियता का प्रशंसनीय परिचय देते हैं। लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर पहली शताब्दी ईस्वी तक की समयावधि में निर्मित शुंग कला का प्रभाव यहाँ की मृण्मूर्तिकला पर सर्वाधिक परिलक्षित होता है। परन्तु सीमित उत्खनन होने से इनकी संख्या अधिक नहीं है। इस कालावधि की पुरूष मृण्मूर्तियाँ ही मुख्य रूप से प्राप्त हुई हैं। पाश्विक मृण्मूर्तियों में अश्व, एक श्रृंगी पशु, श्वान व वृषभ की आकृतियाँ तथा कुछ अस्पष्ट आकृतियाँ भी हैं। लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी से छठी शताब्दी ई. तक की समयावधि में भी एरण में मृण्मूर्ति कला की परम्परा विद्यमान रही है। इस काल में साँचे में ढली मृण्मूर्तियाँ निर्मित की गई। गुप्तोत्तर काल में उत्तरी भारत में राजनीतिक अस्थिरता का युग बना रहा। मध्यभारत में चन्देलों के पूर्व तक यह स्थिति बनी रही। राजनीतिक अस्थिरता ने कला को भी प्रभावित किया। गुप्तोत्तर काल में मृण्मूर्ति परम्परा के अन्तर्गत मानवीय व पाश्विक मृण्मूर्तियाँ निर्मित कीं गयीं।

एरण की प्रस्तर मूर्तिकला में हिन्दू देव प्रतिमाओं के अतिरिक्त प्राप्त मानव मूर्तियों में लोक संस्कृति व लोक जीवन के विभिन्न पक्ष उजागर हुए हैं। पूजा उपासना के दृश्य, यौद्धा, प्रणय प्रसंग, स्त्री व पुरूष इत्यादि की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुईं हैं।

लगभग पाँचवी शताब्दी ईस्वी के अभिलिखित सती स्तंभ में स्त्री–पुरूष की आकृति उकेरी गयी है। यह स्तंभ एरण व निकटवर्ती ग्राम पहलेजपुर के मध्य एरण से लगभग आधा कि.मी. दूर पर स्थित है। इसमें अंकित स्त्री–पुरूष की आकृति को भानुगुप्त के सेनापति गोपराज व उसकी पतिव्रता स्त्री की आकृति माना गया है।[15] चोली, साड़ी, हार से सुसज्जित नारी का केशविन्यास मनमोहक है। पुष्पित वृक्ष के नीचे आसन पर गोपराज व उसकी पत्नी को बैठा दिखलाया गया है।

भग्न स्तंभों व शिलापट्‌टों को एकत्रित कर निर्मित किये गये चबूतरे के स्तंभों पर मिथुन युगल प्रदर्शित हैं। एक अन्य गुप्तकालीन स्तंभ पर सुन्दर केश सज्जा वाले नारीमुख दिखलाए गये हैं। कृष्णलीला से संबंधित दृश्य के नीचे की पंक्ति में मानव युगल को झरोखे से झाँकता दिखाया गया है। युगल मूर्तियों को भी मंदिरों के प्रवेश द्वार, स्तंभों के आधारों आदि पर

स्थापित करने का विधान था। ये युगल मूर्तियाँ यथार्थ में सृष्टि के विकासक्रम का प्रतीक हैं, ये अनुराग तथा समर्पण के भावों को व्यक्त करतीं हैं।[16]

महाविष्णु मंदिर के समीप एक द्वारपक्ष की चार द्वार शाखाएँ हैं। तीसरी द्वारा शाखा में मिथुन युगलों का उत्कीर्ण किया गया है। बाजू में नीचे की ओर एक पुरूष आकृति त्रिभंगमुद्रा में उकेरी गयी है। ध्वस्त मंदिर के द्वार के ललाट बिंब पर मिथुन युग्म हैं। ऊपर की शाखा में 27 नारी मस्तक और सबसे ऊपर दम्पत्ति की आबद्ध आकृति सिंह मुखों के मध्य है। दोनों पाश्वों में दो–दो गवाक्षों के अंदर नारी आकृतियों के अर्ध्व भाग दर्शाये गये हैं। भग्न स्तंभों पर अनेक सुन्दर अभिकल्पों के दर्शन होते हैं। एक स्तंभ की पहली पंक्ति में स्त्रीमुख, दूसरी में कीर्तिमुख तथा तीसरी में वीणावादक, मजीरावादक तथा हाथों में मदिरा का चषक लिए मद्यपों का भी दृश्य हैं। इन दृश्यों से तत्कालीन कलायें, नृत्य तथा संगीत की स्थिति का ज्ञान होता है। वाद्यों का सामान्य परिचय तो मिलता ही है, तत्कालीन निवासियों के आनंद तथा समृद्ध जीवन की झलक मिलती है। नृत्य एवं संगीत इत्यादि मनोरंजन का साधन था।[22]

एरण क्षेत्र के लोक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाले कलावशेष प्राचीन भारत की वैभवशाली कला परम्परा को उजागर करने में सक्षम है। एरण के गुप्तकालीन मंदिरों के भग्नावशेष एवं उत्खनन में प्राप्त मृण्मूर्तियाँ से ताम्रपाषाण काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक की लोक संस्कृति परिलक्षित हुई है। मानव तथा पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियों, आकृतियों द्वारा आद्यैतिहासिक युग से लेकर मध्यकालीन कला के विविध पक्ष प्रकाश में लाये गये हैं। एरण–क्षेत्र से प्राप्त कलावशेषों के माध्यम से तत्कालीन शिल्पियों, कलाकारों एवं कलामर्मज्ञों की निपुणता, कला–दक्षता, मौलिक सूझबूझ व शास्त्र–मर्मज्ञता का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही उस काल की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक, सांस्कृतिक व अवस्था की जानकारी भी मिलती है।

सामाजिक स्थिति

एरण के लोक जीवन व लोक संस्कृति से सम्बन्धित कलावशेषों द्वारा सामाजिक स्थिति के अनेक पक्ष उजागर हुए हैं।

आद्यैतिहासिक काल की स्त्री–पुरूष की मृण्मूर्तियों के द्वारा उस समय के वस्त्राभूषण की जानकारी मिलती है। कुछ मानवीय, आकृतियाँ अधोवस्त्र धारण किए हुए हैं। स्त्री आकृतियों के गले में एकलड़ी हार, सादा हार या पट्टीदार हार (जिसमें मनके भी अंकित हैं), चक्राकार कर्णाभूषण, भुजबंध, कटिमेखला, पैरों में सादे कड़े अथवा पायल का अंकन है। एक मृण्मूर्तियाँ नग्न हैं। ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियाँ हस्तनिर्मित हैं, कुछ साँचे में ढालकर बनायीं गयीं हैं। ये आकृतियाँ सुडौल हैं। ऐतिहासिक काल में मंदिर की भित्तियों पर उत्कीर्ण आकृतियों से भी तत्कालींन समाज में प्रचलित वस्त्राभूषणों का परिचय मिलता है। गुप्तकालीन मंदिरों के वास्तु खण्डों पर उकेरी गयीं आकृतियों पर भी वस्त्र परिधान व आभूषणों का अंकन हुआ है।

आद्यैतिहासिक काल की तथा ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियों एवं मंदिर के वास्तु खण्डों पर प्रदर्शित आकृतियों द्वारा संकेत मिलता है कि स्त्रियाँ साड़ी, चोली उत्तरीय व पुरूष धोती तथा उत्तरीय धारण करते थे। स्त्रियाँ कटिमेखला व पुरूष आभूषण रूपी कटिमेखला के अतिरिक्त कमरपट्ट भी धारण करते थे। स्त्री व पुरुष दोनों कर्णाभूषण, हार, ग्रैवेयक, कण्ठहार,

कड़ा, कंगन, भुजबंध आदि धारण करते थे। अंगुलियों में मुद्रिका, पैरों में पायल या पादवलय धारण करते थे। परवर्ती गुप्तकाल में आभूषण की अधिकता दृष्टव्य है।

स्त्रियाँ सुन्दर केशसज्जा करतीं थीं। स्त्री व मातृदेवी की आकृतियों में सुन्दर केशविन्यास दृष्टव्य है। कुछ आकृतियों में दोहरे–तिहरे गुच्छक शैली के सामान्य उभारों के माध्यम से सुन्दर केशविन्यास हुआ है। नारी की अन्य मृण्मूर्तियों के केशविन्यास भी कलापूर्ण हैं।

एरण के निवासी अपने मनोरंजन के लिए अनेक साधनों का प्रयोग करते थे। बालकों के क्रीड़ार्थ अनेक मृण्मूर्तियाँ निर्मित की गयीं थीं। कुछ पशु आकृतियाँ ऐसी मिली हैं, जिनमें डोरी पिरोकर बालकगण खींचते होंगे। मिट्टी की छोटी–छोटी गाड़ियाँ इनके क्रीड़ार्थ निर्मित कीं गयीं थी। प्राप्त मृण्मूर्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन शिशुओं तथा वयस्कों के आमोद–प्रमोद के पर्याप्त साधन उपलब्ध थे। नृत्य और संगीत के प्रचलन को प्रमाणित करने वाली आकृतियाँ एरण की कला में दृष्टव्य हैं। यहाँ के निवासी नृत्य संगीत, शतरंज, आखेट और खिलौने के द्वारा अपना मनोरंजन किया करते थे। नृसिंह मंदिर के सामने निर्मित चबूतरे के कलात्मक स्तंभों पर वीणावादक, मंजरीवादक तथा हाथ में चषक लिए मद्यपों के दृश्य से तत्कालीन जीवन में नृत्य तथा संगीत की लोकप्रियता का ज्ञान होता है। उनके तत्कालीन आनंद तथा समृद्धिपूर्ण जीवन की झलक मिलती है। उनके जीवन में मनोरंजन के लिए पर्याप्त स्थान था, वे उत्सवों तथा नृत्य–संगीत के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे।

एरण के निवासी वृषभ, हिरण, सिंह, हाथी, गाय, श्वान, मकर, कच्छप, चिड़ियाँ, हंस, आदि पशु–पक्षियों व जन्तुओं से परिचित थे। एरण से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ तथा मंदिर की भित्तियों पर उकेरीं गई आकृतियों द्वारा यह प्रमाणित है। वृषभ की बहुसंख्यक मृण्मूर्तियों से उसकी उपयोगिता प्रमाणित हुई हैं। हरिण भी आद्यैतिहासिक काल का लोकप्रिय पशु था।

धार्मिक–स्थिति

एरण उत्खनन में प्राप्त मातृदेवी एवं वृषभ की मृण्मूर्तियाँ आद्यैतिहासिक कालीन एरण की धार्मिक दशा का परिचय देतीं हैं। मातृदेवी की उपासना प्रारंभिक काल में की जाती थी। वृषभ की उपासना भी प्रचलित थी। वृषभ की कलात्मक मृण्मूर्तियाँ एरण उत्खनन में प्राप्त हुई हैं। अधिकांश मृण्मूर्तियों के निर्माण का प्रयोजन धार्मिक है। मातृदेवी की मृण्मूर्तियों एवं वृषभ की मृण्मूर्तियों से लोक जीवन में उनकी धार्मिक रूप से लोक जीवन में उनकी महत्ता सिद्ध होती है। इसी तरह एरण की पाषाण मूर्तिकला में नागों, वृक्षों, ऋषिमुनियों, शिव लिंग, कृष्ण लीला दृश्य, सूर्य, अप्सराओं, मिथुन दृश्यों, कल्पवृक्ष, घटपल्लव आदि के अंकन से लोक संस्कृति के विविध पक्षों प्रकाश पड़ता है।

कला–पक्ष

कला के स्वरूप और उसके क्रमिक विकास के अध्ययन हेतु दीर्घ समयावधि एरण ने प्रदान की है। आद्यैतिहासिक युग के लगभग प्रारंभिक चरण से लेकर लगभग 12वीं शताब्दी ईस्वी तक के कलावशेष एरण में उपलब्ध हुए हैं। कला का प्रारंभिक स्वरूप उत्खनन में प्राप्त मृण्मूर्तियों द्वारा परिलक्षित हुआ है। प्रारंभिक मृण्मूर्तियां हस्तनिर्मित तथा बेडौल हैं। विशेषतः मानवीय आकृतियाँ बड़ी भौडीं हैं। मातृदेवी प्रतिमाओं में सिर, नाक और वक्ष के प्रदर्शन हेतु गीली मिट्टी को अंगुलियों से दबाकर रूपांकित किया गया हैं। हाथ, पैर और धड़ भी बेडौल

हैं। इसके विपरीत वृषभ आकृतियों के निर्माण में आश्चर्यजनक दक्षता प्रदर्शित हैं। सुडौल शरीर और शरीर के अनुपात में निर्मित पशुओं के अंग–प्रत्यंग कला के विकसित स्वरूप के परिचायक हैं। ताम्रपाषाणयुगीन वृषभ आकृतियों में प्रदर्शित श्रृंग और ककुद हड़प्पा संस्कृति के वृषभ का स्मरण कराते हैं।

एरण–पुरास्थल पर स्थित पाषाण मूर्तियों का मूर्तिशिल्प तत्कालीन लोक संस्कृति में प्रचलित प्रतिमानों को प्रदर्शित करता है। एरण की पाषाण प्रतिमाओं की कलात्मकता तत्कालीन कलाशैली से समृद्ध है। पाषाण–प्रतिमाओं एवं स्थापत्य खण्डों में अंकित मिथुन दृश्य, युगल दम्पति, अप्सराएँ, नृत्य एवं कृष्ण लीला दृश्य, वानस्पतिक अलंकरण, मांगलिक प्रतीक पशु–पक्षी तत्कालीन लोक, संस्कृति एवं लोक जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थल एरण की मृण्मूर्तियों, मंदिर स्थापत्य एवं स्थापत्य खण्डों पर अंकित मूर्तिशिल्प के माध्यम से तत्कालीन लोक जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं कला पक्ष से सम्बन्धित विविध पक्ष ज्ञात हुए है। जिनसे तत्कालीन लोक संस्कृति पर व्यापक प्रकाश पड़ा है। एरण की लोक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती मृण्मूर्तियाँ एवं वास्तु शिल्प पर अंकित दृश्य भारतीय कला का वैभवशाली पक्ष उजागर करती हैं।

संदर्भ –

1. दुबे नागेश एवं मोहन लाल चढ़ार :– एरण : एक परिचय, अमरकण्टक, 2016, पृष्ठ 4
2. कनिघंम – ए क्वायंस आफ द एन्शियेन्ट इण्डिया, लंदन, 1891, पृष्ठ 99
3. एलन, जे – केटलाग आफ द क्वायंस ऑफ द एन्शियेन्ट इण्डिया, लंदन, 1936, पृष्ठ 96
4. सागर जिला गजेटियर, 1970, पृष्ठ 511
5. चढ़ार, मोहन लाल, एरण एक सांस्कृतिक धरोहर, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 13
6. वाजपेयी, के.डी. एवं पाण्डेय एस.के. – भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योगदान 1967, इलाहाबाद, पृष्ठ 114
7. दुबे, शैली – एरण के कलावशेष, (अप्रकाशित शोध प्रबंध), डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1983, पृष्ठ 1
8. वाजपेयी, कृष्णदत्त – सागर थ्रू द एजेज, पृष्ठ 24
9. एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड–2, पृष्ठ 87, 116
10. बाजपेयी, कृष्णदत्त – पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ 36
11. वही, पृष्ठ 30
12. एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड–2, पृष्ठ 375
13. दुबे, नागेश – एरण की कला, सुप्रिया प्रकाशन, सागर 1997, पृष्ठ 35–36
14. वही, पृष्ठ 36
15. द्विवेदी, चन्द्रलेखा – एरण का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 159
16. वही, पृष्ठ 178
17. दुबे, नागेश – एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ 142

Epigraphical evidences in Vidarbha region (Maharashtra) related to Buddhism.

Nishant Sunil Zodape

Abstract

Inscriptions are one of the most reliable tools of ancient history. Inscriptions are often found on rock or copper plates. The oldest inscription in Vidarbha is inscribe by Ashoka's Mahamatras. It is found in Deotek village in Chandrapur. district. It is containing Ashoka's teachings. Excavations at Pauni and Adam yielded many inscriptions from the Shunga, Satavahana period. A column inscription of Mahakshatrap Rupiamma has been found at Pauni. Ancient inscriptions have been found in the caves of Chandala, Patur Kunghada, Bhuyari etc. The inscriptions in the Nashik caves light on Buddhism in Vidarbha. Which has helped a lot in the study of history, religion and culture of Vidarbha. In this paper details discussion about related to Buddhism of Vidarbha region.

***Keywords:* -**

Archaeology of Buddhism, Vidarbha, Chandala, Cave, Okiyasa, Putasa, Buddhist Inscriptions, Deotek, Bhuyari.

Introduction

Vidarbha is in Central part of India. It is historically important from past to present time. In this region archaeological remains related to Buddhism found in large scale. All type of evidences has been unearthed. Excavated sites, stupa sites, coin, epigraphical evidences, sculpture etc. is related to Buddhism. Pauni, Adam, Bhon and Mansar are stupa sites. These are the excavated sites. Deotek, Chandala, Pauni etc. having epigraphical evidences. Mahurzari mudra may be Buddhist evidence. Vihara sites are Bhadravati, Patur, Chandala, etc., Bhadravati rock-cut only having direct evidence of Buddhism other cave are not direct evidence Buddhism.
Inscription have a unique general significance in the field of archeology. While studying Buddhism in Vidarbha, excavation evidence, ancient coins, inscriptions, copper plates etc. have to be used. Engraving is very important in all these tools. The script, language, personal names, village names, geographical structure, contemporary social, political and cultural conditions are reflected in the ancient Buddhist writings of Vidarbha. Moreover, the information obtained from inscriptions and copper-plates is considered to be the most reliable historical evidence. Evidence before Ashoka's account is not yet available in Vidarbha. The following records give information about Buddhism in Vidarbha.

Environment of Vidarbha

Geographically, Vidarbha lies on the northern part of the Deccan Plateau Unlike the Western Ghats, there are no major hilly areas. The Satpura range lies to the North of Vidarbha

region in Madhya Pradesh. Wainganga is the largest river in Vidarbha with Kanhan and Wardha being the two other big rivers which drain the region.[1](Joglekar, 2017)

Nagpur and Wardha districts are under the Deccan traps and other districts formation is Archean and Gondwana. The Archaean, Dharwars the Cuddappahs and the Vindhyan all are exposed in Chandrapur, Nagpur and Bhandara districts[2] (Dikshit: 1986).

Eastern Maharashtra is therefore virtually a museum of a whole sequence of rocks from the Archean to Cambrian(Dikshit, 1986)

Previous work and review

The excavated sites from Vidarbha for which published data is available are Kaundinyapur, Pavnar, Takalaghat-Khapa, Khairwada, Pauni, Naikund, Mahurjhari, Bhagimahari, Mandhal, Tharsa, Nagara, Arni, Arambha, Adam, Shrikhanda, Pachkheri, Bhawar, Hamlapuri, Mansar, Bramhapuri (district Chandrapur), Bhon (District Buldhana), Kholapur (District Amaravati) and others. As far as presence of Buddhism in Vidarbha is concerned, which is the main focus. Excavations at Pauni (Bhandara district), Adam (Nagpur district), Mansar (Nagpur district) and recently at the site of Bhon (Buldana district) have unearthed the evidence of stupa structures. New discoveries in the form of Buddhist sculptures or rock-cut caves had been reported. These studies notwithstanding, Buddhism in early historic Vidarbha has never been a main object of any detailed study. But few researches are worth mentioning, such as an article S.B. Deo focusing on Hinayana Buddhism in Vidarbha. Dr. Pradeep Meshram also looked into various aspects such as the architecture of Buddhist cave, sculpture, and reading of inscriptions.[3](Sawant, Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric, 2010, p. 57)

Dr. Pradeep Meshram wrote one book in Marathi entitled, "Vidarbha Cha Buddha Dhammacha Itihas". V.V. Mirashi has done some work on the history of Vidarbha region but in his work Similarly, Dr. Chandrashekhar Gupta wrote thesis on "Vidarbha Ka Saskrutik Itihas" and after he published books on some title. Dr. V.N. Meshram book name is "Eye Pavchiye Nagari" and Chandrabhan Narnavare book name is "RamtekParichay" both books written about Pauni and Ramtek. H.L. Kosare written some article and he published research thesis as a book "Prachin Bhartatil Nag". B.J. Gokhale book "Buddhism in Maharashtra" and M.S. More book "Maharshtratil Buddha Dhammacha Itihas" both books written about Maharashtra Buddhism but they ignored Buddhism of Vidarbha region.[4](Meshram, 2007, pp. 3-4)Dr. Reshma Sawant book

[1]Joglekar, J. (2017). A note on Archelian Findings near Nagardhan, Nagpur District, Maharashtra. *Man and Environment XLII*, 114-117.

[2]Dikshit, K. (1986). *Maharshtra in Maps.* Mumbai: Maharshtra State Board for Litetature and Culture.

[3]Sawant, R. (2010). Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric. *Man and Environment XXXV(2)*, 45-65

[4]Meshram, P. (2007). *Vidarbhatil Buddha Dharmacha Itihaas.* Nagpur.: Shri Mangesh Prakashan.

"Historical Archaeology of Vidarbha" wrote about Vidarbha. These books are very useful to understand the history of this region but these narratives in this book is centered mainly on historical archaeology but in her article written about Buddhism of Vidarbha. On basis of these sources Vidarbha region neglected separate study on archaeology and inscription of Buddhism in Vidarbha region.[5](Sawant, Historical Archaeology of Vidarbha, 2012)

1. **Deotek Inscription**

The oldest inscription in Vidarbha is at Deotek near Nagbhid in Chandrapur district. It's inscribed by Ashoka's Dharma Mahamatra and dates back to the 3rd century BC. it contains an old temple in a dilapidated and a large stone slab bearing two epigraphs. Out of two inscriptions, one dates back to the time of Asoka(Mirashi, New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I , 1986, pp. 125-134) and the other to the Vakatakas.

Deotek inscription slab Nagpur Museum (Mirashi, Siddham, 2017)

The inscription dated to Mauryan period is four-line inscription with characters of the early Brahmi alphabet resembling in many cases those of Girnar edicts of Ashoka. The language is early Prakrit, similar to the used in the Girnar edits. The object of the inscription was to record the command of some lord (Sami) prohibiting the capture and slaughter (evidently of some animals in certain seasons as in Asoka 5th pillar edict, or maybe throughout the year) and declaring some punishment for those who dared to disobey it. The third line mentions executive officers (amacha= amatyah) whose duty may have been to enforce these orders. The last line contains the date 14, denoting probably the regnal year in which the record was incised.

In some of his inscriptions (e.g., Rupnath Rock inscription). Asoka orders his officers to get his edicts engraved on stone pillars, rocks and stone slabs throughout the districts in their charge. The Deotek inscription probably is the only instance of its kind. According to V.V. Mirashi (Mirashi, New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I , 1986)

Text - ***1. Sami Antrepayati Chikan (Ba) Ris - Sa (Pa)***

2. Hananto bandhato va tas daso - nidha

3. Amcha

4. Rano Lesho x x x x 10 (+)4 Badhe

Chandala Cave inscription

2. Chandala forest cave Inscriptions

Chandala forest is 55 kms. to the South-West of Nagpur. It is approachable from Pullar. The caves under the present study arc situated in the deep forest at present and are on the hillocks, facing east. The cave bearing the inscriptions is in the most dilapidated condition. Its stone walls

[5]Sawant, R. (2012). *Historical Archaeology of Vidarbha.* Bhopal, New Delhi: Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, Aryan Books International

are lying helter-skelter, braving the vagaries of the nature. Quite a few stones having inscriptions of this cave attract the attention.6(Kale, 1994)

The type of stones is typical basalt of the Deccan trap. After polishing the stone, the matter was inscribed. Seventeen alphabets and two anuswaras are adjusted in the space of eleven inches by twenty-eight inches (27 cm x 70 cm) Each alphabet is the size of cm 7. All these alphabets are meticulously inscribed and very clear. The script is Brahmi without any ornamentation. It is very simple and attractive. There is even space provided between two alphabets. The paleographical features indicate, according to Dr. S.B. Deo, former director of Deccan College Research Institute, that the inscription belongs to third century B.C.

The alphabets measure 5cm in height and are adjusted in the space of 10" (25 cm). The word okiyasa might be the name of a person. It may be of a later period could be stated from the paleographical features as suggested by okiyasa. These alphabets are also in the Brahmi script without ornamentation. Though they are carved on the similar type of polished stone, they are not artistically inscribed, nor are they in one line. Space between two alphabets is also uneven.7(Kale, 1994) *Language of Both Inscriptions is Prakrit*

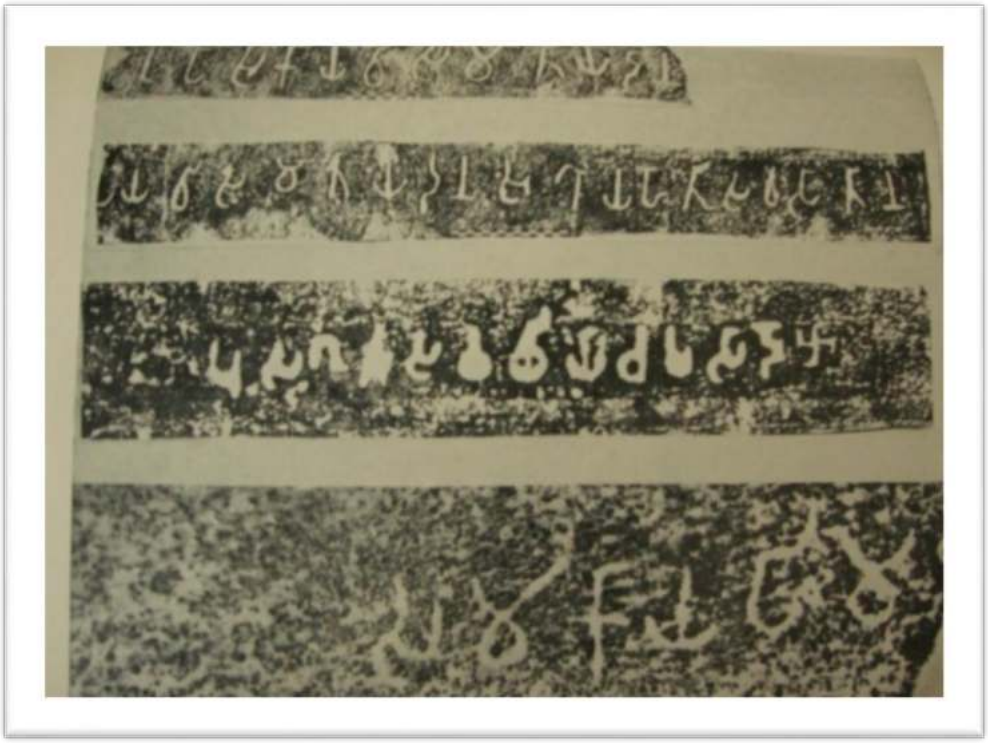

Pauni Inscriptions

[6]Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77

[7]Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77

3. Pauni

Excavation of Jagannath mount Stupa period is 2 century B.C.E to 2 century C.E. A Large number of inscriptions are engraved on stupa railing and other part of stupa. The stone carvings of the stupa and their lists often had to be repaired during this period, as can be seen from the inscriptions and the study of the alphabet. Stupa famous during the Satvahana period before Ashoka

All the inscriptions found in the excavations are related to donations for the stupa. Like Sanchi and Bharhut, these inscriptions are short and concise. Some of these are donated by two or more individuals, while in one Inscription, the donations made by a devotee named 'Vismita' are given for the welfare of all creatures.

all the Inscriptions found in Pauni excavations are donations. Some put up sculptural columns, some put back broken *suchi*, some repaired entrances, or donated top stones. No king's name is mentioned in any of the inscriptions. All the common man's names are mentioned. There are monks, there are nuns, there are worshipers, there are Nagas, there are hiranyakars and grihapatis, some have given alms for their own good, while others have given alms with the generous intention that 'these alms should be useful for the welfare of all souls'.(Meshram, 2007)

4. Pauni Inscription of Bhar King *Bhagadatta*

Bhararayas Bhagadatas Pajugapati

A king named Bhagadatta of Bharashiva dynasty laid a stone inscribed with the footprints of Lord Buddha. The date of this inscription is 1st century CE.(Meshram, 2007)

5. Pauni Chhayastambh inscriptions

At Pauni half feet high piece of the column, an inscription of three-line Mahakshatrap Rupiyamma Chhaya Stambha

in Brahmi script and Prakrit language has been found. From the alphabet formation it must have been in the second century CE.

Text: - 1 ***Sidhan (I) Mah (I) Khattavakumaras***

2. Rupeeammas Chhaya

3. Khambo.

6. Mohadi Mokasa (Kunghada) cave Inscription

cave no. second on the west wall in the first room (north to south). An inscription is carved in a wide space. The inscription consists of two lines, of which only one line can be read. The letters in the second line are obscure. The first line has 13 letters and the second line has three letters. The script of the inscription is Brahmi and must be from the second century. Although the language of the inscription is Sanskrit, the influence of Prakrit prose is felt with intensity.

Text: - ***Shivaswamis Putras Grame Pramai***

Pramai village son of Shivaswami. From this inscription you know the name of Shivaswami. But the name of their son is not known. Also, the name of Pramai village has come to light.(Meshram, 2007)

7. Bhadravati (Bhandak) Inscription

There is no consensus as to the origin of the Bhadravati (Bhandak) inscription of the Bhavadeva Ranakesari. But according to Mahamahopadhyaya V V Mirashi, this inscription is from Bhandak. The language of this inscription is Sanskrit and the script is a kutila Nagari. At the beginning of the inscription, in the *Mangala Charana*, the names 'Jin', 'Tai' and 'Sugat' are used to praise Buddha and also wish to protect all. According to the inscription, King Suryaghosh's beloved son fell down from the roof of the palace and died. Bhavadeva surrendered to Buddha and he renovated the old temples and built Vihar, Vapi, Koop, Udyan, Sabha Bhavan, Chaitya etc. and his fame increased. Etc. information is in this article(Meshram, 2007)

8. Bhuyari Inscription

The script of the inscription is Brahmi of the later southern turn.

Period - After Satavahana and before Vakataka. The end of the second century and the beginning of the third century (approximately 225-250 CE). The inscription is one line and consists of seven letters.

Text - Samay Riddhi Dano.

Meaning - Donation for the development of the place (meeting)

9. Buddha image inscription: Hamalpuri

Inscriptions presented by Hamlapuri Bronze icon carved on all four sides of the pedestal. The pedestal has lion legs.

Language: - The language of the present article is Sanskrit

Script and Time - The script is a slang title and resembles the inscriptions in Aksharvatika Prabhavati Gupta's Pune, Riddhapur copperplate and Ramtek's only Narasimha temple. Considering the other evidence, the date of this article is There is no problem in deciding the 5th century.

Text - ***1) (Siddham) (I) Dey Dharmiyam Shakyami***
2) Ksho Bhadatr (Bhadant) Sanghasenasya (II)
3) Yadatra Punya (Ta) Da (Bha) Vatu
4) Ma (Tapitro) (:) (III)

Translation - This is a wonderful gift given by Bhadant Sanghsen in honor of his parents. (Meshram, 2007)

10. 'Pullar' Inscription

Pullar is a small village on the Bhivapur-Mandhal road in Nagpur district. On the right side of the lake, on the ridge of Shri Ganveer's rice form, on a red sandy rock about 6 feet high and about 1.5 feet wide, 27 cm. Four letters are engraved in the space. Their average height is 8 to 10 cm. **Script** – Brahmi, **Language**– Prakrit, **Period** - 2nd Century BCE

Text - 'Vandalas'

Meaning - Donations made by Vandala.(Kambale, 2013)

Conclusion

Chandala cave inscriptions is very important for reconstruction of past history of Vidarbha. It is the one of the earliest inscriptions of Nagpur district that inscriptions words like *Vandalaka, Putasa, Apala, Okiyasa*. Different scholars given different opinion about the meaning of inscriptions that's I explain above.

One word coming is *Putasa*. Kunghada inscription having *Putasa* word. That means there was a tradition given father name, now also in Vidarbha region same tradition going on after the name of person given father name, so from second century BCE this tradition continuous now also in Vidarbha region. Scholars given date of this inscriptions from third century BCE to first century BCE, but my opinion is period of this inscriptions are second to third century BCE.

Vidarbha is a very important area about study of Buddhism in this area related Buddhism every type of evidence found in this area for example stupa, Vihara, sculpture, archaeological sites, coins, antiquities etc. *Chandada* inscriptions are rock-cut cave inscriptions. 2nd century BCE in that's period Buddhism in his peak all over India having evidence of related to Buddhism. In this period most of caves are Buddhist cave. Maybe Chandala was *Hinyana* cave. S.B. Deo also writes about *Hinyana t*radition in this region because Adam stupa, *Pauni* stupa, Deotek inscriptions, *Kunghada* rock-cut cave inscription, *Pullar* inscription and Bhadravati Buddhist rock-cut cave are near from Chandala. and Puani inscription having same name *Vadalaka.* For the meaning and explanation of Inscriptions, I agree with Dr. S.B and Dr. Pradeep Meshram. One more thing is we can say it is Buddhist cave and inscription because Dr. Chandrashekar Gupta write in article Chandala was in trade route. So, most of the Buddhist cave and stupa was in ancient trade route. It is possible to it was a Buddhist cave made for the monk.

Swami's (Ashoka's) command that no one should violence animals. It was inscribed in the 14th year of his coronation. Chikamburi is mentioned in the present inscriptions. This place is Chikmara near present day Deotek.

May be Buddhism inter in Vidarbha region in time of Buddha because Pauni Stupa having the evidence of pre-Mauryan period evidences and very developed from of stupa and Vihara. In this region Buddhism survive more than 1000 year. Hinyana and Mahayana Buddhism was survived here. Buddhism popular in Mahurzari, Mandhal, Ramtek, Bhadrvati, Bhon, Pauni, Patur and Salburdi area.

Buddhism was speared in large scale in Satvahana period. Vidarbha was development social, economically, and educationally. Trade also increases. Adam having evidence of Indo-Roman trade. Educational institute developed in Vakataka period

References

Chaudhary, P. M. (2010). Deotek Inscription: A Re-examination, studies in Indian Epigraphy vol-XXXV. *Purva Prakashan*.

D., D. C. (1971). *Geography of Maharashtra.* New Delhi: Natinal Book Trust, India.

Deo, S. (1972). Mandhaljavadil Lekhyukta Prachin Lene. *Vidarbha Sanshodhan Mandal Varshika 1971*, 108-111.

Deo, S. (1972-73, 6). New Evidence of Hinayana Buddhism in Vidarbha. *Puratattva*, 84.
Deo, S. (1973). New Evidence of Hinayana Buddhism in Vidarbha. *Puratattva 1972-73*, 84-86.
Deotare, B. (2005). Discovery of structural Stupa at Bhon District Buldhana, Maharashtra. *Puratattva (Pravarpur Special), 3*, 1-16.
Dikshit, K. (1986). *Maharshtra in Maps.* Mumbai: Maharshtra State Board for Litetature and Culture.
Gupta, C. (1971). Chandala Guhakkha. *Dhammadipa, Nagpur Vol.-7*, 49-55.
Gupta, C. (1976). Chandala Rock Inscriptions. *Journal Of Epigraphical Society of India vol.- 2 Studies in Indian Epigraphy*, 116.
Joglekar, J. (2017). A note on Archelian Findings near Nagardhan, Nagpur District, Maharashtra. *Man and Environment XLII*, 114-117.
Joshi, D. S. (1972). *Pauni Excavation (1969-70).* Nagpur: Nagpur University Vidyapeeth Mudranalay.
Kale, B. (1994). Inscriptions in Chandala Forest. *Journal of Epigraphical Society of India Vol- 20*, 77.
Kambale, V. (2013). *Vidarbhatil Boudh Abhilekh.* Nagpur: BSPK Publication.
Kane, P. (1965). Ancient Geography and Civilization of Maharashtra . *Journal of Bombay of Royal Asiatic Society Vol. XXIV (1914-17)*, 621.
Meshram, P. (2007). *Vidarbhatil Buddha Dharmacha Itihaas.* Nagpur.: Shri Mangesh Prakashan.
Mirashi, V. (1986). *New Light on Deotek Inscriptions, in studies in indology I .* Nagpur: Vidarbha Sandhodhan Mandal.
Mirashi, V. (2017, November 6). *Siddham*. Retrieved from siddham the asia inscriptions database: https://siddham.network/palce/deotek/
Nath, A. (1989). Archaeology of the Wardha Wainganga Divide. *Puratattava 20*, 97.
Sawant, R. (2010). Review of Archaeological Investigations in the Protohistoric. *Man and Environment XXXV(2)*, 45-65.
Sawant, R. (2011). Buddhism in Regional Perspective. *Monasteries Shrines & Society, Manak Publication, New Delhi*, 84-111.
Sawant, R. (2012). *Historical Archaeology of Vidarbha.* Bhopal, New Delhi: Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, Aryan Books International.
Sharma, J. J. (2005). Mansar Excavation 1998-2004: Discovery of Pravarapur. *Puramanthan (Pravarapur Special) 3*, 1-16.
Vaidya, M. S. (2016 Issn No : 0474-7269 Volume Lv No). Newly Discovered Terracotta Figurines from Recent Exploration in Nagpur District, Vidarbha. *The Odisha Historical Research Journal Odisha State Museum, Bhubaneswar* , 47.

खारून नदी घाटी के नवअन्वेषित पुरास्थल सती स्तम्भ एवं योद्धा प्रतिमाओं के विशेष संदर्भ में

डॉ. नितेश कुमार मिश्र

श्री ढालसिंह देवांगन

भाग्यश्री दीवान

सती प्रथा का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से ही देखा गया है। सती प्रथा कुछ पुरातन समुदाय विशेष में प्रचलित एक ऐसी धार्मिक प्रथा थी, जिसमें किसी पुरुष के मृत्यु उपरान्त उनकी पत्नी अपने पति के अंतिम संस्कार के दौरान उनकी चिता में प्रविष्ट होकर आत्मदाह कर लेती थी जो सम्भवतः स्वेक्छापूर्ण होता था। साहित्यिक एवम् पुरातात्विक स्त्रोतों के माध्यम से इस बात की पुष्टि होती है।

सती प्रथा का प्रारंभ माँ सती जो कि राजा दक्ष् की पुत्री थी, के समय से माना जाता है। मान्यताओं के अनुसार जब सती अपने पिता द्वारा अपने पति शिव के अपमान करने पर नाराज होकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है एवम् आत्मदाह कर लेती है।सम्भवतः इस घटना ने इस प्रथा को जन्म दिया होगा किन्तु निश्चित तौर पर यह कहना उचित नहीं होगा क्योकि इसमें शिव जीवित रहते हैं और सती होने के लिये पति की मृत्यु आवश्यक मानी गई है। रामायण एवम् महाभारत में भी इस प्रकार की घटना का उल्लेख मिलता है। रामायण काल में रावण के पुत्र मेघनाथ की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी सुलोचना के सती होने के प्रमाण मिलते हैं एवं महाभारत कालीन कुरु वंशी पांडु के मृत्यु के उपरांत उनकी छोटी रानी माद्री ने अपने पति के साथ अग्नि में समाहित हो गयी थी।

अभिलेखों में सती होने की सर्वप्रथम सूचना गुप्त कालीन अभिलेख भानुगुप्त के "एरण अभिलेख" से मिलता है।[1] इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि युद्ध में गोपराज की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी सती हुई थी। छत्तीसगढ़ अंचल में मल्हार, सेमरसल (बिलासपुर) एवं आतुरगाँव (कांकेर) से अभिलिखित स्मृति-प्रस्तर के प्रमाण मिलते है[2] किन्तु इनमें दुर्ग जिले के छातागढ़ (मोहलई) से प्राप्त प्रस्तर लेख महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। इस लेख में प्रथम एवम् द्वितीय सदी ई की ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है।[3] इस अभिलेख में निशा एवम् समिनिका नामक गृहणी के पंचत्त्व में विलीन होने की सूचना मिलती है।

मध्यकाल एवम् उत्तर मध्यकाल में बाह्य आक्रमणों की सर्वाधिक सूचना मिलती है इस दौरान पुरुषों की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी अपनी अस्मिता व आत्मसम्मान को महत्त्वपूर्ण समझते हुए भी अपने पति की चिता में खुद को झोंक देती थी अथवा विवशतावश आत्मदाह को उचित समझती थी। किन्तु कालांतर में इस प्रथा में कई कुरीतियों का समावेश हुआ एवं इसने एक कुप्रथा का रूप धारण कर लिया। सती स्तम्भ, सती चौरा एवम् योद्धाओ की प्रतिमा यें छत्तीसगढ़ राज्य के अनेक पुरास्थलों से प्राप्त हुए है, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रथा का चलन या प्रभाव इस अंचल में भी रहा होगा। इन सही स्तंभों को मुख्य रुप से गाँव के मुख्य चौराहे, तालाब के किनारे एवं नदी के तटवर्ती भू-भागों में गडाया जाता था। छत्तीसगढ़ राज्य के प्रमुख पुरास्थल जैसे राजिम[4], भोरमदेव[5], तरपोंगा[6],देवबलोदाआदि से सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। बस्तर क्षेत्र के विभिन्न स्थलों जैसे बड़ेडोंगर, छोटेडोंगर, बांगोली, तीर्थगढ, चपका, टेमरा से भी सती स्तंभों की प्राप्ति हुई है।[7]

छत्तीसगढ़ में प्रवाहित होने वाली नदियों में खारून नदी का विशेष स्थान है। इस नदी के नवीन अन्वेषण के फलस्वरुप इनके तटवर्ती भू-भागों से शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, बौद्ध एवम् सौर संप्रदाय की प्रतिमाओं के साथ ही अत्यधिक मात्रा में सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य खारून नदी घाटी के नव अन्वेषित पुरास्थलों से प्रकाश में आये सती स्तंभ एवम् योद्धा की प्रतिमाओं की जानकारी देना है।

कलात्मक दृष्टि से सती स्तंभ एवम् योद्धाओं की प्रतिमाओं का निर्माण

सती स्तंभ

सती स्तंभ का निर्माण चार-पाँच फुट ऊँचे एकाश्म एवम् चौकोर प्रस्तर पर किया जाता था।[8] यह समान्यतः तीन सूचियों में विभाजित होती थी शीर्ष, मध्य एवम् मूल तथा कहीं-कहीं चार या पाँच सूचियों में मिलते हैं। इस स्तंभ के शीर्ष भाग पर शिवलिंग, स्त्री का उठा हुआ हाथ, हाथ की कलाई में सौभाग्य चिन्ह चूड़ी एवम् कंगन तथा हाथ के पंजे खुले हुए होते हैं। चाँद एवम् सूरज प्रत्येक स्तंभ में बने हुए होते हैं। चाँद एवम् सूरज एक निश्चित तिथि एवम् काल को दर्शाते होंगे जिस समय यह घटना घटी हो। जिन व्यक्तियों की स्मृति में यह स्तंभ बनाया जाता था उनकी आकृति मध्य में बनाई जाती थी। इस कारण इसे मृतक स्मृति स्तंभ या छाया स्तंभभी कहा जाता है। मध्य भाग में पुरुष के साथ उसकी पत्नी को उनके समीप पालकी, राजसिंहासन, सीड़ी एवम् झूले में बैठे तथा शिवलिंग की पूजा करते दिखाये जाते हैं। मूलतः स्तंभ का निचला भाग सादा होता है किन्तु कई स्तंभ में घोड़े, हाथी, कुत्ते जैसे पशुओं का चित्रण मिलता है।

योद्धा की प्रतिमा

योद्धाओ की प्रतिमाओं के निर्माण का प्रयोजन भी लगभग एक ही था। इन प्रतिमाओ में योद्धा को घोड़े पर बैठे या स्वतंत्र रूप में अपनी पत्नी के समीप दिखाया जाता है। इन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये युद्ध के लिये तत्पर हैं, इनके हाथों में तलवार एवम् ढाल इस बात की पुष्टि करते हैं। इन वीर योद्धाओं की बनी प्रतिमओं को HERO STONE भी कहते है।[9]

खारून नदी घाटी के प्रमुख पुरास्थल -

निमोरा (21ñ20′52″N 81ñ38′19″ E)

ग्राम निमोरा खारून नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के रायपुर तहसील के अंतर्गत आता है। यह रायपुर से 14 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इस गांव के पटेल पारा के चन्डी देवी मन्दिर में एक सती स्तंभ पूजित अवस्था में रखा हुआ है। यह स्तंभ पूर्णतः सुरक्षित है। इस स्तंभ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। ऊपरी भाग में तीन हाथ के पंजो को देखा जा सकता है। मध्य भाग में एक स्त्री एवं पुरुष को पद्मासन मुद्रा में हाथ जोड़े शिवलिंग की पूजा करते दिखाया गया है। तीन हाथ के पंजों एवं तीन स्त्री के होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस पुरुष की तीन पत्नी रही होगीं। मूर्ति में चंदन का लेप लगा दिया गया है, इस कारण इसके कलात्मक पक्ष को नहीं देखा जा सकता है।

मुर्रा (21ñ27′10″N81ñ37′49″ E)

मुर्रा खारून नदी के तटवर्ती ग्राम में से है। यह नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के रायपुर तहसील के अंतर्गत आता है। यह रायपुर से 26 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। इस गांव के मंडल पारा एवम्

गौटियापारा चौक में एक-एक चबुतरा बना हुआ है जिसमें अन्य मूर्तियों के साथ एक-एक सती-स्तंभ रखाहुआ है। यहां से प्राप्त दोनों स्तंभ टूटे हुए हैं तथा इनमें एक स्त्री एवम् पुरुष को अंजलिबद्ध मुद्रा में पद्मासन पर बैठे देखा जा सकता है । एक स्तंभ में स्त्री का उठा हुआ हाथ तथा खुले हुए पंजे स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं । (58से.मी.X40से.मी.X24से.मी.)।

जुलुम(21ñ07′23″N 81ñ36′59″ E)

जुलुम खारुन नदी के दाहिने तट पर स्थित है। यह रायपुर जिले के अभनपुर तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 20 कि.मी. तथा अभनपुर तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के शीतला मंदिर के पास एक चौरे में एक सती-स्तम्भ के टूटे हुये भाग को पूजा हेतु रखा गया है। इसमें एक स्त्री एवं पुरुष को अंजलि बद्ध मुद्रा में देखा जा सकता है।

ढ़ाबा (21ñ26′43″N 81ñ37′51″ E)

ढ़ाबा बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत एक गाँव है। यह खारुन नदी का तट्वर्ती ग्राम एवं नदी के बायें तट पर स्थित है। यह रायपुर से 27 कि.मी.की दूरी पर स्थित है। गाँव के बीच में एक चौरे पर दो योद्धा प्रतिमायें एवं एक सती स्तंभ रखा हुआ है। प्रथम योद्धा प्रतिमा एक घोड़े पर बैठी हुई है इनके साथ एक शिशु को भी घोड़े के ऊपर बैठा देखा जा सकता है एवं दूसरी प्रतिमा में योद्धा को ढाल एवं तलवार लिए देखा जा सकता है। सती स्तंभ तीन सूचियों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में एक हाथ के पंजे के साथ सूर्य एवं चन्द्रमा प्रदर्शित हैं। द्वितीय खण्ड में एक स्त्री एवं पुरुष को हाथ जोड़े दर्शाया गया है। तीसरे खण्ड में एक पुरुष को शिवलिंग की पूजा करतें देखा जा सकता है।

खुड़मुड़ी (21ñ23′38″N 81ñ37′22″ E)

खुड़मुड़ी बेमेतरा जिले के बेरला तहसील का एक गाँव है। यह खारुन नदी का तट्वर्ती ग्राम है एवं नदी के बायें तट पर स्थित है। रायपुर से इसकी दूरी लगभग 25 कि.मी. है। इस गाँव के बस्ती पारा शक्ति चौक में शक्ति मंदिर के अंदर तीन प्राचीन मूर्तियाँ रखी हुई है। सभी मूर्ति भग्न अवस्था में है। इनमें से दो योद्धा प्रतिमा है। पहली प्रतिमा में एक योद्धा एवं उसके दोनों पाश्र्व में एक-एक स्त्री खड़ी है। सम्भवतः ये दोनों उनकी पत्नी है। दूसरी प्रतिमा में केवल योद्धा को ही अकेले दर्शाया गया है। सभी प्रतिमाओं में लेप लगा दिया गया है।

अछोली (21ñ34′11″N 81ñ37′49″ E)

अछोली खारुन नदी के बायें तट से लगा हुआ ग्राम है। यह शिवनाथ एवं खारुन नदी के दोआब में स्थित है । यह बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 35 कि.मी. तथा बेरला तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के राधाकृष्ण मंदिर के पास एक चौरे पर चार छोटी-छोटी प्रतिमाएँ रखी हुई है इनमें से तीन योद्धा-प्रतिमायें है। ग्रामीणों द्वारा इन सभी प्रतिमाओं में बन्दन का लेप लगा दिया गया है जिसके कारण ये स्पष्ट नहीं दिख रहे हैं।

जमघट(डीह) (21ñ32′53″N 81ñ39′33″ E)

जमघट (डीह) खारुन नदी के बायें तट से लगा हुआ ग्राम है। यह शिवनाथ एवं खारुन नदी के दोआब में स्थित है। यह बेमेतरा जिले के बेरला तहसील के अंर्तगत आता है। राजधानी रायपुर से इसकी दूरी 37 कि.मी. तथा बेरला तहसील से 16 कि.मी. की दूरी पर है। इस गांव के हनुमान मंदिर में एक स्थापत्य खण्ड के साथ एक योद्धा की मूर्ति रखी हुई है।

खुड़मुड़ी(21ñ06′41″N 81ñ33′53″ E)

खुड़मुड़ी गाँव खारुन नदी के बायी तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत आता है। यह दुर्ग से पूर्व दिशा की ओर 36 कि.मी.की दूरी पर, पाटन तहसील से 11 कि.मी. की दूरी पर एवं राजधानी रायपुर से लगभग 20 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इस गाँव के सर्वेक्षण के दौरान पाँच योद्धा प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इसमें से चार प्रतिमायें गाँव के मुख्य तालाब के तट पर खुले में रखी गई है जिनमें से तीन प्रतिमायें को एक चौरे पर एवं चौथी मूर्ति इनके सामने कुछ ही दूरी पर रखी गई है। पाँचवी एवं सबसे छोटी प्रतिमा तालाब के किनारे निर्मित एक शिव मंदिर में रखी गई है। इन सभी मूर्तियों में अत्यधिक रंग-रोगन, बंदन का लेप किया गया है साथ ही इनका क्षरण हो गया है। गाँव वाले इन मूर्तियों को अखरा देवता अर्थात युद्ध में जाते हुए योद्धा कहते हैं। (चित्र फलक क्र.8,9)

चौरे में रखी प्रथम प्रतिमा युद्ध के लिए तत्पर दिखाई दे रही है। इनके दाहिने हाथ में एक तलवार एवं बाये हाथ में ढ़ाल स्पष्ट दिखाई देते हैं। (34से.मी.X27से.मी.X25से.मी.) चौरे में रखी द्वितीय प्रतिमा को घोड़े की पीठ पर बैठा देखा जा सकता है। इस प्रतिमा के साथ एक स्त्री को दर्शाया गया है सम्भवतः ये इनकी पत्नी रही होगी। (55से.मी.X36से.मी.X20से.मी.) चौरे में रखी तृतीय प्रतिमा प्रथम प्रतिमा की भाँति युद्ध के लिए तत्पर एवं इससे अधिक चलायमान दिखाई दे रही है। इनके दाहिने हाथ में एक तलवार एवं बाये हाथ में ढ़ाल स्पष्ट दिखाई देते हैं। (36से.मी.X28से.मी.X18से.मी.) चतुर्थ प्रतिमा को भी घोड़े की पीठ पर बैठा देखा जा सकता है। इस प्रतिमा के साथ एक स्त्री को दर्शाया गया है जो सम्भवतः इनकी पत्नी रही होगी। (39से.मी.X46से.मी.X18से.मी.) पाँचवी मूर्ति बहुत छोटी एवं खड़ी हुई है।

केसरा (20ñ59′05″N 81ñ36′42″ E)

केसरा गाँव खारुन नदी तटवर्ती ग्राम है ये खारुन नदी के बाऐं तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत एक ग्राम पंचायत है। यह रायपुर जिला मुख्यालय से 32 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के कुटीपारा शिव चौक के पास एक प्राचीन शिव मंदिर है इस मंदिर के परिसर में एक योद्धा प्रतिमा रखी हुई है।

बोरेन्डा (20ñ57′22″N 81ñ35′58″ E)

बोरेन्डा खारुन नदी से लगा हुआ गाँव है। ये खारुन नदी के बाऐं तट पर स्थित है। यह दुर्ग जिले के पाटन तहसील के अंतर्गत एक ग्राम पंचायत है। इस गाँव के अलग-अलग हिस्सेमें तीन योद्धा प्रतिमा रखी हुई है। ग्रामीण इसे ठाकुर देव व हनुमान मानते है। सभी प्रतिमा भग्न अवस्था में है।

कचना (20ñ59′42″N 81ñ38′10″ E)

कचना खारुन नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह धमतरी जिले के कुरुद तहसील के अंर्तगत आता है। जिला मुख्यालय धमतरी से इसकी दूरी 41 कि.मी. तथा कुरुद तहसील से 15 कि.मी. की दूरी पर है। इस गाँव के ठाकुर देव चौक में एक योद्धा की टूटी हुई प्रतिमा रखी हुई है। यह लगभग एक फिट की होगी। इनके आयुध ढाल एवं तलवार स्पष्ट दिखाई दे रहे है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गुप्त,परमेश्वरी लाल,"प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख"विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,2013, पृ.क्र. 204
2. जैन बालचन्द्र,"उत्कीर्ण लेख" संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व रायपुर,छत्तीसगढ, पृ.क्र. 182, 2005.
3. उपर्युक्त पृ.क्र. 182

4. ठाकुर,विष्णु सिंह, ″राजिम″ मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ,1972 भोपाल, पृ50 .क्र.
5. शर्मा, सीताराम, ″भोरमदेव″ मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी,1989 , भोपाल,
6. पृ.क्र. 44- 45
7. Bajpai,S.K. And Verma,K.P.,″State Protected Monuments of Chhattisgarh at a Glance″ Directorateof Culture And Archaeology Government Of Chhattisgarh, Raipur, 2015, P. 15
8. झा, विवेक दत्त, ″बस्तर का मूर्तिशिल्प″, अभ्युदय प्रकाशन, भोपाल, 1989 , पृ.क्र. 114
9. Ghosh, A., “An Encyclopaedia of Indian Archaeology Volume two” Munshiram Manoharlal Publisher Pvt Ltd, 1889,pp.269-270
10. Ibid pp. 269

विभिन्न स्वरूप की अद्भुत प्राचीन हनुमान प्रतिमायें

डॉ. प्रसन्न सहारे

छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोसल) प्रारंभिक काल से आदिमानव की शरणस्थली रहा है। छत्तीसगढ़ भारत के हृदय स्थल में स्थित है। छत्तीसगढ़ का प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। छत्तीसगढ़ में लगभग 7वीं शताब्दी ई. से लेकर अद्यतन निर्मित होने वाले मंदिरों में हनुमान की प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं जो विभिन्न कालों की है। छत्तीसगढ़ में अभी तक जहाँ से स्थापत्य में हनुमान की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं उसकी जानकारी निम्नानुसार है :- मल्हार, राजिम, बारसूर, महेशपुर, डीपाडीह, पचराही, घटियारी, खरोद, फिंगेश्वर, भोरमदेव, रमईपाट, दूधाधारी मंदिर, नागरीदास मंदिर रायपुर आदि। उक्त प्राचीन स्थल विभिन्न राजाओं के काल में निर्मित किये गये हैं तथा हनुमान की प्रतिमाएं मंदिरों के जंघा, द्वार शाखाएं तथा मण्डप के स्तंभों में उत्कीर्ण प्राप्त हुई हैं जो 6वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक की है। वर्तमान में ज्ञात लक्ष्मणेश्वर मंदिर खरोद के मण्डप के स्तंभ में प्राप्त हनुमान की प्रतिमा प्राचीनतम है जो सोमवंशी काल की लगभग 6-7वीं शताब्दी ईकी है। .तत्पश्चात् कल्चुरी, फणिनागवंशी, सोमवंशी, त्रिपुरी कल्चुरी, मराठाकाल तथा आधुनिक काल में निर्मित प्रतिमायें भी निरंतर मिलती हैं। प्राप्त आधुनिक प्रतिमाएं पूर्णरूपेण पूजित होने के कारण सिंदूर तथा वंदन से ढंकी होने के कारण उनके वास्तविक काल की पहचान नहीं हो पाती है।[1]

भोरमदेव क्षेत्र तथा उसके आसपास का भू-भाग प्राचीन काल से कला के विकास में इन क्षेत्रों की महती भूमिका रही है। यही कारण है कि छत्तीसगढ़ के इस क्षेत्र प्राचीन कालीन कला के अनेक स्थलों, यथा- भोरमदेव, मड़वा महल, छेरकी महल, कामठी, सहसपुर, पचराही, बकेला, बोरिया, पण्डरिया, पाण्डातराई, डोंगरिया, कवर्धा, नवागाँव, दशरंगपुर आदि में अद्यपर्यन्त पर्याप्त मात्रा में कलाराशि के दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र में रतनपुर के कलचुरियों के पश्चात् फणीनागवंश के शासकों ने सम्भवतः स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इनके राजनैतिक सुस्थिरता तथा सम्पन्नता के कारण ही भोरमदेव, मड़वा महल, छेरकी महल, पचराही जैसे कलात्मक मंदिरों का निर्माण सम्भव हो सका। उपरोक्त कला केन्द्रों में से भोरमदेव, पचराही, बिरोडा, कामठी तथा दशरंगपुर से विभिन्न स्वरूप के प्राचीन हनुमान प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। ये प्रतिमाएँ भारतीय संस्कृति एवं कला की उत्कृष्टता की परिचायक हैं। इन प्रतिमाओं के मिलने से हनुमान के विभिन्न प्राचीन स्वरूप पर नवीन प्रकाश पड़ने की सम्भावना के साथ-साथ हनुमान के विभिन्न गुणों यथा –साहस वीरता, बल-बुद्धि, भक्ति, संगीत विशारद आदि भी प्रदर्शित हैं। उपरोक्त प्रतिमाओं का प्रतिमा शास्त्रीय विवेचन ही इस शोध-आलेख का प्रतिपाद्य विषय है

1. पचराही से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - उत्तर कलचुरि काल में भूरे प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा की परिमाप 13X5 इंच (लग गभग) है। प्रत्यालीढ़ मुद्रा में द्विभुजी हनुमान के दायें हाथ में गदा तथा बायां हाथ पूर्णतः खंडित (जिस पर संभवतः संजीवनी पर्वत रहा होगा) है। वे किरीट किये मुकुट, कुंडल , द्विलड़ी मेखला, कौपीन, कड़ा आदि धारण किये हुए है। मेखला से लटकती हुई सामने की ओर घंटीकएँ हैं। उनकी पूँछ पीछे लटकती हुई प्रदर्शित है।

2. बिरोडा से प्राप्त हनुमान प्रतिमा- कलचुरि काल में काले प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा की परिमाप 40x24x10इंच (लगभग) है। द्विभुजी हनुमान अपने दोनों हाथ से सीना चीरते हुए प्रदर्शित हैं। वे मुकुट,कड़ा आदि से विभूषित हैं। हनुमान का मुख कपिमुख तथा विशाल देह वाले है। उनकी बड़ी पूँछ दायें परिकर में ऊपर की ओर सिर तक उठी हुई प्रदर्शित है सम्प्रति यह प्रतिमा गाँव में पीपल पेड़ के नीचे एक छोटे मंदिर के गर्भगृह में अधिष्ठित है।

3. भोरमदेव शिव मंदिर से प्राप्त हनुमान प्रतिमा -कलचुरि काल में काले प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा फलक की परिमाप 24x18 इंच है। द्विभुजी स्थानक हनुमान नृत्यरत है जो मंदिर के दक्षिण दिशा की बाह्य भित्ति के बीच के आले में अधिष्ठित है।[2]हनुमान का दाहिना हाथ सिर के समीप ऊपर की ओर उठा हुआ है तथा बायां हाथ नृत्य मुद्रा (सिंहकर्ण मुद्रा) में प्रदर्शित । बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति की पीठ पर अवस्थित है। पूँछ सिर के पृष्ठभाग से होती हुई बायीं ओर लटकी है।गले में भारी माला घुटनों तक विस्तारित है कमर पर कटार बंधी हुई है। सिर पर मुकुट, ताँटंक,त्रिलड़ीय स्तनहार, उरूजाल, कौपीन, कटिबंध तथा पैरों में कड़े दृष्टव्य है। भंगिमा युक्त इनका वीरभाव दर्शनीय है हनुमान कटिभंग की स्थिति में है। नृत्य की मुद्रा "आमद-मुद्रा" कही जा सकती है। [3]तदनुसार बायां आमद की स्थिति में तथा दाहिना हाथ किरीट मुकुट शीर्षभाग को स्पर्श करता हुआ दिखाया गया है। यह प्रतिमा हनुमान की दुर्लभ प्रतिमा है, क्योंकि हनुमान को नृत्य करते हुए बहुत कम प्रदर्शित किया जाता है।

4. कामठी से प्राप्त हनुमान प्रतिमा- उत्तर कलचुरि काल में भूरे प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा फलक की परिमाप 52x22x12 इंच है। स्थानक द्विभुजी हनुमान कटिभंग स्थिति में प्रदर्शित हैं। उनका बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति की पीठ पर अवस्थित है। पूँछ सिर के पृष्ठ भाग से होता हुई बायीं ओर लटका हुई है हनुमान के दायें हाँथ में गदा तथा बाएं हाथ वक्षःस्थल अवस्थित है।

5. पचराही (कंकाली टीला) से प्राप्त हनुमान प्रतिमा -12वीं शती ईसामें काले रंग के चिकने ओपदार पत्थर से निर्मित इस प्रतिमा की माप 36x21 इंच है। स्थानक हनुमान कटिभंग मुद्रा में स्थित हैं, जो सम्प्रति उत्खनित स्थल पचराही नवनिर्मित एक छोटे से मंदिर में अधिष्ठित है। हनुमान का बांया हाथ आमद मुद्रा में तथा दाहिना हाथ शीर्ष भाग को स्पर्श कर करता हुआ दिखाया गया है। प्रतिमा करण्ड मुकुट, कर्णकुण्डल, एकावली हार, अंगद, कड़ा, कटिमेखला की लटकती हुई घंटीकायें दृष्टव्य हैं) से विभूषित हैं। उनका दाहिना पैर पादपीठ पर अवस्थित है तथा बायां पैर ऊपर उठा हुआ राक्षस के ढाल पर टिका हुआ है। यहाँ प्रहाररत दृश्य प्रदर्शित किया गया है। यह हनुमान की दुर्लभ प्रतिमा है, क्योंकि हनुमान को नृत्य करते हुए बहुत कम प्रदर्शित किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे हनुमान वीरता के ही प्रतीक नहीं बल्कि नृत्य और संगीत के भी विशारद हैं। प्रतिमा की भाव प्रवणता अतुलनीय है वर्तमान में प्रतिमा को बंदन रंग से रंग दिया गया है

6. भोरमदेव मंदिर प्रांगण से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - भोरमदेव शिव मंदिरप्रांगणके दक्षिणदिशा में नीम वृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर द्विभुजी हनुमान की स्थानक प्रतिम अधिष्ठित है। प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा का माप 42 x 18 इंच है। प्रतिमा का दाहिना हाथ सिर के पीछे की ओर ऊपर उठा हुआ है और बायां हाथ कमर से बंधी हुई कटार पर अवस्थित

है। प्रतिमा मुकुट, एकावली कण्ठहार, कटिमेखला आदि से विभूषित है। उनका बायां पैर अपस्मार स्त्री आकृति के ऊपर अवस्थित है। इनका भंगिमा युक्त वीर भाव दर्शनीय है।

7. पुत की मंदिर, दशरंगपुर से प्राप्त हनुमान प्रतिमा - उत्तर कलचुरि काल में निर्मित इस प्रतिमा की माप 45x23 इंच है द्विभुजी हनुमान न स्थानक मुद्रा में स्थित हैं। हनुमान के बायें हाथ में गदा तथा दायां हाथ अभयमुद्रा में है। वे मुकुट, कंकण तथा कड़ा धारण किये हुए हैं। हनुमान का बायां पैर ऊपर उठा हुआ है, जो राक्षस के ढाल पर अवस्थित है। उनकी लम्बी पूँछ ऊपर की ओर उठी हुई सिर के बायीं ओर प्रदर्शित है। सम्प्रति यह प्रतिमा मराठा कालीन शिवमंदिर (पुतकी मंदिर) के मण्डप में अधिष्ठित है।

सन्दर्भ सूची -1.डॉकामता प्रसाद वर्मा. का लेख, दक्षिण कोशल टुडे – छत्तीसगढ़ के स्थापत्य में हनुमान

2. शर्मा, सीताराम, भोरमदेव क्षेत्र - पश्चिम-दक्षिण कोसल की कला, पृ.41

3. रागिनी देवी, डाँस डायलेक्ट्स ऑफ़ इण्डिया, पृ.168

4. जी.एल. रायकवार, छत्तीसगढ़ की मूर्तिकला में हनुमान, बिहनिया, अंक -17, पृष्ठ 27-31; संस्कृति विभाग, छत्तीसगढ़ शासन,रायपुर

पचराही से प्राप्त

बिरोडा से प्राप्त

भोरमदेव शिव मंदिर से प्राप्त

कामठी से प्राप्त

पांडादाह क्षेत्र की स्मारक प्रतिमाएँ

प्रशांत कुमार चौरे

डा. मंगलानंद झा

प्राकृतिक संपदा की दृष्टि से छत्तीसगढ़ जितना ऊर्जावान और समृद्धशाली है, उतना ही भू-तात्विक दृष्टिकोण से अत्यन्त प्राच्य भी है। प्राचीन काल में कोसल, दक्षिण कोसल, विंध्य पाद, महाकोसल, महाकांतर, दंडकारण्य इत्यादि नामों से अभिज्ञात यह प्रदेश अपने प्रारंभिक अवस्था से ही समसामयिक, सामाजिक, कलात्मक तथा तत्जनित ऐतिहासिक परिपेक्ष्य का सृजनात्मक साक्षी रहा है। आर्य तथा अनार्य दो भिन्न संस्कृतियों को समन्वित रूप से पोषित करने वाली यह भूमि अन्यान्य कलाओं के अंगो-उपांगोंको संरक्षण भी प्रदान करती रही है। फलतः छत्तीसगढ़ में कला के विभिन्न स्वरूपों का पल्लवन एवं विकास होता रहा। भारतीय कला का विशुद्ध धरोहर हमें इस क्षेत्र की कला अवशेषों में दृश्यमान होती है, यहाँ का कला वैभव विश्व परिदृश्य में ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अतुलनीय है। प्रारंभ से ही **कला** प्रयोजनमूलक रहा है, मानव ने अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उसे आधिभौतिक रूप प्रदान किया जिसके मुख्य दो उद्देश्य रहे हैं -एक अतीत को संरक्षित करना एवं दो अव्यक्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना। अस्तु मूर्तिकला का उद्भव इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित माना जा सकता है। भारतीय मूर्तिकला में कला परंपरा का निर्वाह करते हुए ऐतिहासिक, धार्मिक तथा अलंकरण परक प्रतिमाओं का प्रभूत मात्रा में निर्माण किया गया जिसका अवलंबन अपरिमित रूप से छत्तीसगढ़ के शिल्पकारों ने भी किया।

छत्तीसगढ़ में प्रतिमा निर्माण की परंपरा अत्यंत प्राचीन हैं। बूढ़ीखार (मल्हार) से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। यहाँ कला के आदर्श रूप में धार्मिक प्रतिमाएं बाहुल्य रूप से निर्मित की गई, वही धर्मेत्तर (स्मारकीय) प्रतिमाएं बहुतायात तथा प्रचुर मात्रा में उकेरी गई। भारतीय इतिहास का मध्यकालीन परिपेक्ष्य राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा, आत्मगौरव, आक्रमण-प्रत्याक्रमण, विद्रोह अशांति और अनिश्चितता के दृश्यों का आगार माना जा सकता है। इस काल में पुरुषोचित शौर्य तथा पराक्रम सिद्ध करने हेतु दस्यु, हिंसक पशुओं, आतताइयों इत्यादि अराजक तत्वों से राज्य, ग्राम्य या जनमानस की सुरक्षा निमित संघर्ष करते हुए अपने प्राणों को आहूत करने वाले उन वीरों को सम्मान या श्रद्धांजलि प्रदान करने स्मारकीय संरचना (प्रतिमा या स्तंभ) निर्माण परंपरा का उद्भव हुआ। यद्यपि यह परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। पूर्वकाल में स्मारक के लिए विशाल शिलाखंड उपयोग में लाई जाती रही है जो बाद के काल में काष्ठ स्तंभ मे रूपांतरित हुआ। वैदिक साहित्य भी किसी विशिष्ट या संभ्रांत वर्ग के दिवंगत व्यक्ति के प्रतीक स्वरूप थूप या स्मारक निर्माण कराने का निर्देश देता है। शतपथ ब्राह्मण में शास्त्र सम्मत विधि एवं नियमावली अनुसार स्मारक निर्मित करने का निर्दिष्ट प्राप्त होता है । स्मारक निर्माण कराने की परंपरा का साक्ष्य प्रागैतिहासिक काल से लेकर उप निवेश काल तक एवं विभिन्न भौगोलिक परिक्षेत्रों में प्राप्त होता है। कालांतर में इसी परिपाटी पर चल कर मानुषी चैतन्य तथा आंदोलित भावों की अभिव्यक्ति के संमिश्रण से यह अनगढ़ तथा

विशाल शिला खंड मूर्तिशिल्प का प्रारंभिक आधार बना। भारतीय इतिहास के मूलाधार सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त ध्यानस्थ योगी की प्रतिमा संभवतः योग साधना के प्रेरक एवं प्रासंगिक स्मरणीय संरचना रहा हो ।
"नाटककार भाष अपने प्रतिमा नाटक में लिखते हैं कि-मृतक राजपुरूषों का स्मारक प्रतिमाएँ निर्मित करने पश्चात उन्हें देवल में स्थापित कर दिया जाता था"[1] ,तदनंतर वे पूजे जाते थे ।

उत्तर मध्यकालीन यह परंपरा छत्तीसगढ़ की ह्रासमान कला का उदाहरण है ।यह प्रतिमाएं एकाक्ष शैली में अर्ध- चित्रण कला के रूप में यत्र-तत्र बिखरी मिलती है । अधिकांश प्रतिमाएं कलचुरि कालीन तथा गोंड शासकों के समकालीन प्रतीत होते हैं । यह कला कृति छत्तीसगढ़ में कलचुरि काल से लेकर 17वीं शताब्दी ई तक प्राप्त होती है । ये प्रतिमाएं ग्रामीण लोक जीवन में इतनी रची-बसी हैं कि कुछ ग्रामीण क्षेत्र विशेष में इसे देव की संज्ञा दी जाती है यथा--घोड़ादेव,अखरा देव, सहारादेव, ठाकुरदेव इत्यादि । कहीं कहीं पर इन्हें ग्राम रखवार या ग्राम संतरी भी कहा जाता है । इन स्मारक प्रतिमाओं में प्रहाररत तथा विभिन्न आयुधों के साथ योद्धा प्रतिमा, राजा –रानी, अमात्य, मांडलिक, उपासक-उपासिकाएं व युद्ध में दिवंगत योद्धाओं की वियोगिनी नारी स्तंभ प्रमुख हैं। योद्धा प्रतिमाओं में सूर्य तथा चंद्र का अंकन मिलता है, जो इन के अमरत्व का प्रतीक है। वहीं पति वियोगनी नारी स्तंभ में वरद मुद्रा में हथेली, सिंदूर दानी कंगन इत्यादि सौभाग्य सूचक मांगलिक चिन्हांकन प्राप्त होते हैं। जिन का अभिप्राय लोकहित और जनमानस की मंगल कामना है। कुछ के प्रतिमाओं के पादपृष्ठ पर अभिलेख प्राप्त होते हैं

छत्तीसगढ़ में भी इस कला धारा की विशेष शाखा का दिग्दर्शन ग्रामीण क्षेत्रों या वनांचल में किसी विशेष वृक्षों यथा-पीपल, नीम, बरगद आदि के नीचे प्राप्त होते हैं। इसी तारतम्य में लॉजी-खैरागढ़ सड़क मार्ग पर आमनेरनदी के तट पर बसा पांडादाह नामक गांव हैं। यहाँ की जनसंख्या लगभग 1940 है। जो कि जिला मुख्यालय राजनांदगांव से 48 किलोमीटर दूर तथा तहसील मुख्यालय खैरागढ़ से आठ किलोमीटर पश्चिम में अवस्थित है। यह गांव वर्तमान में ग्राम पंचायत के रूप में विकसित है। "इस ग्राम को राजनांदगांव रियासत की राजधानी के रूप में अभिषिक्त होने का गौरव प्राप्त है। 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में महंत पंडा राम दास जी को इस क्षेत्र की जमींदारी प्राप्त हुई थी। पूर्वकाल में इस क्षेत्र को किस नाम से जाना जाता था, इस विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है"[2], किंतु ग्रामीणों के अनुसार-यहाँ के जमींदार पंडा थे, जिस कारण इस गांव को पंडादाह कहा जाने लगा।

पांडादाह ग्राम को मुख्य केंद्र बिंदु के रूप में मानकर इस क्षेत्र का ऐतिहासिक अथवा पुरातत्विक विश्लेषण करते हैं तो वस्तुतः हमें यहाँ ऐतिहासिक महत्व के अनेक स्थल प्राप्त होंगे जिनमें मूर्तिशिल्प का अंकन प्रायः स्मारक प्रतिमाओं के रूप में हुआ है। पांडादाह परिक्षेत्र अंतर्गत मुख्य रूप से लछना, गाड़ाघाट, सिवनी, गातापार, महुआढार, मुढ़ीपार, धौराभाठा, कुर्रूभाठ, लिमऊ टोला, मंडला टोला, सांकरी, देवरी इत्यादि वनांचल ग्रामों में पुरातत्विक अवशेष दृष्टव्य है

इन कलाकृतियों में देव प्रतिमाओं के अतिरिक्त मूर्तिशिल्प की विविध कला धारा का दर्शन स्वाभाविक है। कुछ ज्ञात एवं आलोकित स्मारिकाओं का विश्लेषण इस प्रकार है-

1:-**प्रहाररत योद्धा ग्राम मंडलाटोला -** भूरे धूसर रंग की प्रस्तर फलक पर इस योद्धा को प्रत्यालीढ़ मुद्रा में उकेरा गया है । यह प्रतिमा एकाक्ष शैली में निर्मित है । कालक्रम संभवतः 14वी शताब्दी ई पूर्व ज्ञात होता है तथा परिमाप 92×34×9 हैं। आयुध के रूप में मुख्य रूप से बल्लम या भाले का अंकन किया गया है जिसका नुकीला भाग भूमिस्पर्श कर रहा है। वाम हस्त में ढाल प्रदर्शित है जो वक्ष स्थल को ढका हुआ है। योद्धा को अलंकरणों एवं आभूषणों से अलंकृत किया गया है हाथों में कड़े, भुजाओं में भुजबंध, कानों में कुंडल तथा केशों को संवारकर सिर के पीछे चुटिया बंद शैली में बनाया गया है कटिवस्त्र अलंकृत है, जिसपर कटार खोसा गया है। कटि वस्त्र दोनों पैरों के मध्य में लटक रहा है । योद्धा रौद्र रस से ओतप्रोत है। प्रतिमा में सूर्य तथा चंद्र का अंकन मिलता है।

2 :- **अश्वारोही योद्धा ग्राम देवरी-** बलुआ प्रस्तर पर निर्मित है। योद्धा प्रतिमा की परिमाप लगभग 112×59×22 सेंटीमीटर है, जिसका आकार लंबवत है, यह प्रतिमा लगभग 17 वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य का है। गतिमान अश्व में विराजमान योद्धा अश्व का संचालन चाबुक से कर रहा है , जो अश्व के पृष्ठ भाग पर अंकित है। मस्तक पर अलंकृत पट्टिका तथा कान में कुंडल प्रदर्शित है। कटिप्रदेश पर वस्त्र का अंकन मिलता है जो घुटने को ढके हुए हैं जबकि उर्ध्व भाग में वस्त्र का अंकन नहीं किया गया है। कटि प्रदेश में कटार धारण किया गया है तथा अश्व के पृष्ठ भाग पर ढाल और तलवार प्रदर्शित किया गया है।अश्व को भी सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत एवं सु-सज्जित किया गया है। अश्वारोही योद्धा के पीछे छत्रधारी अनुचर का अंकन है जिस के दाहिने हाँथ में जल पात्र रखा हुआ है। प्रस्तर खंड के शिरोभाग में अमरत्व का प्रतीक सूर्य तथा चंद्र का अंकन प्रदर्शित है।

3 :-**उपासक पुरूष प्रतिमा ग्राम धौरांभाँठा**- पांडादाह से 2 किमी दूर धौरांभाँठा नामक एक छोटा सा गांव है, जहाँ उपासना में रत प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह कला कृति नीम वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, ग्राम-जन इसे ठाकुरदेव के रूप मे पूजते है। लम्बवत आकार की यह प्रतिमा आधे भूमि में धंसी हुई है । गले में कंठी जो संभवतःमूंगे की माला का प्रतीक है। कानों में कर्ण-फूल, हांथों में कड़े तथा भुजाओं में भुजबंध स्पष्ट दृश्यमान है। मूंछ का आकार प्रकार उपासक की मुखाकृति को तेजोमय स्वरूप प्रदान करता है, प्रतिमा किसी राजपुरूष या अभिजात वर्ग से संबंधित जान पड़ता है । कटिप्रदेश में दाहिने पार्श्व में तलवार का मूंठ द्रष्टव्य है तथा फलक का मध्य भाग से पाद सिराभूमि में समाहित है। प्रस्तर फलक के ऊपर सूर्य तथा चंद्र का अंकन प्रदर्शित है । यह प्रतिमा संभवतः14वी शताब्दी के समकक्ष निर्मित किया किया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

4:-**स्मारक योद्धा ग्राम लछना –** वनांचल ग्राम लछना में स्मारक प्रतिमाओं का लगभग संग्रह प्राप्त होता है। गाँव के शीतला मंदिर प्रांगण में उपासक तथा योद्धा स्मारक प्रतिमाएँ नीमवृक्ष के नीचे अव्यवस्थित रखी गई है । अधिकांश जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है,तथापि वे ग्रामीणों के द्वारा ग्राम देवता के समतुल्य पूजे जाते हैं। काले प्रस्तर फलक पर निर्मित युद्ध के लिए तत्पर एक प्रतिमा कला सौष्ठव में अप्रतिम है। जिसका निर्माण लगभग16वीं शताब्दी ई ज्ञात है। दाहिने हाथ में अलंकृत तलवार तथा बांये में सुरक्षा निमित्त वक्षस्थल से सटा हुआ ढाल का अंकन प्रदर्शित है। कानों में बाली, हाँथ में कड़े तथा गले में कण्ठाभूषण शोभायमान है । कमर में पटुका बंधा है जो दोनों जंघाओं के मध्य

झूलता उत्खचित है । केशों को संवार कर वेणी का रूप दिया गया है ,जो भाल पट्टिका से सिर के पृष्ठ भाग पर आबद्ध है । प्रस्तर खंड का परिमाप 92×48×37 सेंमी है । सिरो भाग पर सूर्य और चन्द्रमा का अंकन प्रदर्शित है ।

5:- **महुवाढार** -15वीं शताब्दी में निर्मित योद्धा स्मारक प्रतिमा की परिमाप 71×43×15 सेंमी के लगभग है । इसे चिकने बलुवा प्रस्तर पर उत्खचित किया गया है । योद्धा युद्ध के लिए तत्पर एवं प्रहार रत प्रदर्शित है, मुद्रा प्रत्यालीढ है । मुख्यतया आयुध के रूप में भाले का अंकन है । ढाल से वक्षस्थल ढँका हुआ है, जिसके पृष्ठ भाग पर में कटार या गुप्ति अंकित है । योद्धा का पद संचालन यौद्धिक क्रियाओं पर आधारित हैं। हाथों में कड़ा, भुजाओं में बाजूबंध, कानों में कर्ण-कुण्डल तथा कटि प्रदेश में कटार कमर पर पट्टा धारित है। उक्त फलक पर वाम पार्श्व में एक अन्य सैनिक का दृश्यांकन किया गया है, जो ढाल और तलवार लेकर युद्ध के लिए उद्यत है।

यह स्मारिकाएँ हमारे आत्म चैतन्य तथा गौरवशाली इतिहास व अतीत की सांस्कृतिक विरासत ही नहीं अपितु लोक जीवन एवं परंपराओ से आबद्ध भी हैं। ये धर्मेत्तर प्रतिमाएँ देव पूजा के बाद वीरों की पूजा से साम्य व संबंध रखता है। कला सौष्ठव में अत्यल्प तथा भौंडापन मुखरित होने वाले इन प्रतिकृतियों में इतिहास के तथ्यों का रहस्योद्घाटन स्वाभाविक तथा समीचीन जान पड़ता है । यह देशज अथवा क्षेत्रीय कला के परिचायक है, जिनकी गवेषणा पश्चात क्षेत्रीय सामाजिक ताने-बाने की परतें स्वतः ही खुलेंगी। अस्तु हमें इन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहिए। जन सामान्य में इन धरोहरों के परिरक्षण एवं सांस्कृतिक संपदा के प्रति सम्मान व प्रेम जागृत करना परम् आवश्यक है ऐसा करने मात्र से हम आगत एवं भावी पीढ़ी को हमारा गौरवशाली कला और संस्कृति का इतिहास प्रदान कर सकेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दास कृष्णभारतीय मूर्ति कला ,, प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी तृतीय संस्करण 2009-पृष्ठ संख्या 27-।
2. गुप्त प्यारेलाल , प्राचीन छत्तीसगढ़ प्रकाशन रविशंकर विश्वविद्यालय रायपुर 1973 प्रथम संस्करण ,, पृष्ठ संख्या। 238
3. डा. मंगलानंद दक्षिण कोसल की कलचुरि कालीन मंदिर, दंतेश्वरी मंदिर प्रथम संस्करण 2008, प्रकाशक श्रीमती रेखा झा।
4. डा. उपाध्याय वासुदेव प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मंदिर बिहार प्रकाशन हिंदी ग्रंथ अकादमी ,,प्रथम संस्करण । 1972
5. डा. शर्मा सीता राम भोरमदेव क्षेत्रराज) प्रकाशक कृष्णा ब्रदर्स अजमेर ,.) प्रथम संस्करण । 1990

The Historical Context of Nimlatapurana: Tracing its Evolution and Influence

Rashid Manzoor Bhat

The Nilmata Purana is a significant text of ancient Indian literature that provides insight into the religious, cultural, and historical background of India. The text is considered a Purana, a genre of Hindu scripture that typically contains myths, legends, and histories related to the gods, goddesses, and heroes of Hinduism. The Nilmata Purana is unique in that it focuses primarily on the history and geography of the Kashmir region, located in the northern part of India. The exact date of the Nilmata Purana's composition is unknown, although it is believed to have been written during the medieval period, between the 6th and 8th centuries CE. The text is written in Sanskrit and is comprised of twelve chapters, each detailing different aspects of the Kashmir region's history, culture, and religion. It is believed that the Nilmata Purana was originally composed as an oral tradition and was later transcribed onto palm leaves.

The Nilmata Purana is an essential text for scholars of Indian history, religion, and culture, as it provides valuable insights into the political, social, and religious landscape of the Kashmir region during the medieval period. The text covers a wide range of topics, including the region's geography, climate, flora and fauna, the history of the region's rulers, and the religious and cultural practices of the region's inhabitants. One of the most significant aspects of the Nilmata Purana is its documentation of the early history of the Kashmir region, including the arrival of the Aryans and the establishment of the Kuru and Pandava dynasties. The text also provides detailed accounts of the region's Buddhist and Hindu rulers, including King Lalitaditya, who is credited with expanding the kingdom's borders and building numerous temples and other structures.

In addition to its historical and cultural significance, the Nilmata Purana is also valued for its insights into the religious practices of the Kashmir region. The text provides detailed descriptions of the region's temples, shrines, and sacred sites, as well as the rituals and festivals associated with them. The Nilmata Purana is a rich and multifaceted text that offers valuable insights into the history, culture, and religion of the Kashmir region. Its detailed accounts of the region's rulers, religious practices, and sacred sites make it an essential text for anyone interested in the history and culture of ancient India.

1.1. Objectives

The objective of this study are:

- Examine the historical context and the socio-cultural background in which the Nilmata Purana was written.
- Analyze the literary style and structure of the Nilmata Purana and its place in the larger corpus of Puranic literature.

- Explore the theological and philosophical themes and ideas presented in the Nilmata Purana, and how they relate to other Puranas and Hindu religious thought.
- Investigate the influence and impact of the Nilmata Purana on Hindu society and culture, both in the past and in the present.
- Provide a comprehensive and scholarly analysis of the Nilmata Purana for scholars, researchers, and enthusiasts of Hindu religion and culture.

1.2. Research Methodology:

To achieve the objectives outlined above, the research methodology for this historical study of Nilmata Purana will include the following:

1.2.1. Review of relevant literature: The study will begin with an extensive review of relevant literature on the Nilmata Purana, including existing scholarship, translations, and commentaries.

1.2.2. Historical research: The study will involve a thorough investigation of the historical context and socio-cultural background of the Nilmata Purana, including the political, social, and religious factors that influenced its creation.

1.2.3. Textual analysis: The study will involve a close reading and analysis of the Nilmata Purana, paying attention to its literary style, structure, and themes.

1.2.4. Comparative analysis: The study will involve a comparative analysis of the Nilmata Purana with other Puranas and Hindu religious texts, to contextualize its place within Hindu religious thought and tradition.

1.2.5. Fieldwork: The study will involve fieldwork, including interviews with experts and practitioners of Hindu religion and culture to gain insights into the influence and impact of the Nilmata Purana on contemporary Hindu society.

1.2.6. Data analysis: The study will involve qualitative data analysis of the findings from the literature review, textual analysis, comparative analysis, and fieldwork.

The historical study of Nilmata Purana will employ a multi-disciplinary approach, drawing on historical, textual, and anthropological research methods to provide a comprehensive analysis of this important Purana.

2. FINDINGS & DISCUSSION

The Nilmata Purana is an important text in the Hindu Puranic literature, believed to have originated in the Kashmir region of India. Like other Puranas, it contains a mix of mythology, history, and religious teachings. In terms of theological and philosophical themes, the Nilmata Purana presents several ideas that are central to Hindu religious thought. One of the key themes in the Nilmata Purana is the concept of dharma, or righteous living. The text emphasizes the importance of following one's duties and responsibilities as a means

of achieving a happy and fulfilling life, both in this world and in the afterlife. It also stresses the need to live in harmony with others and to avoid actions that cause harm or suffering.

Another important theme in the Nilmata Purana is the nature of the divine. The text presents a variety of gods and goddesses, including Shiva, Vishnu, and Devi, each of whom is worshipped by devotees in different parts of India. The Purana also explores the relationship between humans and the divine, suggesting that devotion and prayer are key components of a spiritual life. The Nilmata Purana also presents ideas related to the nature of the universe and the cycle of creation and destruction. Like other Puranas, it describes the various yugas, or ages, of the world, and the different manifestations of the divine that emerge during each epoch. It also explores the concept of karma, or the idea that one's actions in this life determine one's fate in the next. In terms of how these themes and ideas relate to other Puranas and Hindu religious thought, it is important to note that the Nilmata Purana is one of many texts that make up the Puranic canon. While each Purana has its own unique content, they all share certain commonalities in terms of the themes and ideas they present. Many of the ideas presented in the Nilmata Purana, such as the importance of dharma and the relationship between humans and the divine, can also be found in other Hindu texts, including the Bhagavad Gita and the Upanishads.

The Nilmata Purana presents a rich tapestry of theological and philosophical themes that are central to Hindu religious thought. By exploring these themes and how they relate to other Puranas and Hindu texts, we can gain a deeper understanding of the complex and diverse nature of Hinduism. The Nilmata Purana is a fascinating text with a unique literary style and structure that sets it apart from other Puranic literature. While it shares some commonalities with other Puranas in terms of content, it is distinct in terms of its approach to storytelling, organization, and language. In terms of storytelling, the Nilmata Purana employs a variety of literary devices, including allegory, metaphor, and symbolism, to convey its messages. The text also includes a range of narratives, from creation myths to stories of the exploits of various deities, which are woven together to create a complex tapestry of religious and cultural traditions. In terms of organization, the Nilmata Purana is divided into seven khandas, or sections, each of which deals with a different aspect of Hindu religious life. These include topics such as cosmology, ritual practices, and social customs, among others. Within each section, the text is further organized into chapters, which are often arranged thematically or chronologically. The language used in the Nilmata Purana is also noteworthy. Unlike other Puranas, which are written in Sanskrit, the Nilmata Purana is written in a mix of Sanskrit and Prakrit, a common language of ancient India. This choice of language reflects the text's origins in the Kashmir region, which was known for its rich linguistic and cultural traditions. In terms of its place in the larger corpus of Puranic literature, the Nilmata Purana is often regarded as a "lesser Purana," or one that is less widely known or studied than other texts in the Puranic canon. This may be due in part to its unique style and structure, which may make it more difficult for scholars to analyze and interpret.

Despite its relative obscurity, the Nilmata Purana is an important text that provides valuable insights into Hindu religious and cultural traditions. By analyzing its literary style

and structure, as well as its place in the larger corpus of Puranic literature, we can gain a deeper understanding of the complex and diverse nature of Hinduism and its rich textual traditions

2.1. History of Nilmata Purana

The origin of the Nilamata Purana is shrouded in mystery, and the exact date of its composition is not known. However, scholars believe that the text was written in the 6th or 8th century CE, based on the references to historical events and rulers mentioned in the text. It is also believed that the Purana was originally written in Sanskrit, which was the language of the educated elite in ancient India. The Nilamata Purana was discovered in Kashmir in the 19th century by the British archaeologist, Aurel Stein. The text was found in the temple of Vishnu in the village of Ishamati, which is located near the town of Bijbehara in the Anantnag district of Kashmir. The manuscript was written on palm leaves and was in a state of decay. However, Stein managed to preserve the manuscript and took it to London, where it was translated into English by Dr. F. E. Pargiter. The text was later edited and translated into Hindi by Pandit Mukund Ram Shastri, who published it in 1918. Since then, the Nilamata Purana has been translated into several other languages, including Bengali, Marathi, and Telugu.

The Nilamata Purana is divided into seven sections, each of which focuses on a particular aspect of the region's history and culture.

2.1.1. Kedara Khanda: The first section of the Nilamata Purana is the Kedara Khanda, which is dedicated to the Kedar Nath temple in the Himalayas. This section provides a detailed account of the temple's history and significance in the Hindu religion. It also describes the rituals and practices that are associated with the temple. (Buhler, 1891)

2.1.2. Nagara Khanda: The Nagara Khanda is the second section of the Nilamata Purana. This section provides a detailed account of the ancient city of Nagara, which was the capital of the Kashmir region during the reign of the Karkota dynasty. It describes the city's architecture, religious sites, and social structure. (Buhler, 1891)

2.1.3. Brahma Khanda: The Brahma Khanda is the third section of the Nilamata Purana. This section focuses on the religious and cultural practices of the Kashmir region. It provides a detailed account of the various Hindu deities and their significance in the region's religious traditions. (Buhler, 1891)

2.1.4. Shiva Khanda: The Shiva Khanda is the fourth section of the Nilamata Purana. This section is dedicated to Lord Shiva, one of the most important deities in the Hindu religion. It provides a detailed account of the various forms of Shiva worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.1.5. Vishnu Khanda: The fifth section of the Nilamata Purana is the Vishnu Khanda. This section focuses on Lord Vishnu, another important deity in the Hindu religion. It provides a

detailed account of the various forms of Vishnu worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.1.6. Saura Khanda: The Saura Khanda is the sixth section of the Nilamata Purana. This section focuses on the worship of the Sun God, which was an important aspect of the ancient Kashmiri culture. It provides a detailed account of the various Sun temples that were built in the region and the rituals that were associated with them. (Buhler, 1891)

2.1.7. Ganapati Khanda: The final section of the Nilamata Purana is the Ganapati Khanda. This section focuses on the worship of Lord Ganesha, the elephant-headed deity who is considered the remover of obstacles. It provides a detailed account of the various forms of Ganesha worship that are practiced in the Kashmir region. (Buhler, 1891)

2.2. Significance of Nilamata Purana

The Nilamata Purana is considered to be one of the most important sources of information on the history and culture of Kashmir. The text provides valuable insights into the religious beliefs, social customs, and political institutions of ancient Kashmir. One of the most significant aspects of the Nilamata Purana is its detailed descriptions of the religious practices and rituals of the people of Kashmir. The text describes the various gods and goddesses worshipped in Kashmir, their attributes and qualities, and the rituals and ceremonies associated with their worship. It also describes the importance of pilgrimage sites in Kashmir and the various festivals and celebrations that were held in the region.

The Nilamata Purana also contains detailed accounts of the political history of Kashmir. It describes the various dynasties that ruled over Kashmir, their achievements, and their contributions to the region. The text also provides valuable information on the social and economic conditions of ancient Kashmir, including the caste system, the role of women in society, and the state of agriculture and trade. The Nilamata Purana has also been the subject of much scholarly debate, particularly with regard to its authenticity and historical accuracy. Some scholars believe that the text may have been written in several different stages, with different authors contributing to different parts of the text. Others have argued that the text may have been modified or redacted over time, and that some of its contents may not be entirely accurate.

Despite these debates, the Nilamata Purana remains an important source of knowledge about the history and culture of Kashmir. It provides a unique window into the religious beliefs, social customs, and political institutions of ancient Kashmir, and is an important testament to the rich and diverse cultural heritage of the region. The Nilmata Purana is a text that is of great significance to scholars, researchers, and enthusiasts of Hindu religion and culture. This text provides valuable insights into the religious and cultural traditions of India, and a comprehensive and scholarly analysis of the Nilmata Purana can help to deepen our understanding of this text and its place within the wider context of Hinduism.

2.3. Historical and Cultural Context

To understand the Nilmata Purana in its historical and cultural context, scholars may examine the origins of the text, its authorship, and the socio-political factors that shaped its content and themes. According to scholars such as M.L. Varadpande, the Nilmata Purana was likely composed in the Kashmir region of India, between the 8th and 10th centuries CE (Varadpande 137). The text is believed to have been written in a mix of Sanskrit and Prakrit, a common language of ancient India, which reflects the linguistic and cultural traditions of the Kashmir region (Varadpande 137). The Nilmata Purana also contains references to historical events and figures, such as the reign of the Mauryan emperor Ashoka, which provide insights into the historical context in which the text was composed (Varadpande 139).

2.4. Themes and Ideas

The Nilmata Purana contains a wealth of theological and philosophical concepts that are of great interest to scholars and enthusiasts of Hindu religion and culture. One important theme in the text is the concept of dharma, or the moral and ethical duties that individuals are expected to fulfill in their lives. According to the Nilmata Purana, dharma is central to the maintenance of order and harmony in the universe, and individuals must strive to fulfill their dharma in order to achieve spiritual growth and enlightenment (Goudriaan and Gupta 79).

Another important theme in the Nilmata Purana is the concept of karma, or the idea that one's actions have consequences that shape their future experiences. The text emphasizes the importance of performing good deeds and avoiding negative actions in order to accumulate positive karma and ultimately achieve liberation from the cycle of rebirth (Goudriaan and Gupta 80).

The Nilmata Purana also provides insights into Hindu cosmology and the nature of the divine. The text presents a complex system of deities and divine beings, and emphasizes the importance of ritual practices and offerings in maintaining the balance of the universe (Goudriaan and Gupta 82).

2.5. Literary Style and Structure

The Nilmata Purana is distinct from other Puranic literature in terms of its literary style and structure. The text employs a variety of literary devices, including allegory, metaphor, and symbolism, to convey its messages. The text also includes a range of narratives, from creation myths to stories of the exploits of various deities, which are woven together to create a complex tapestry of religious and cultural traditions.

3. CONCLUSION

In conclusion, the Nilmata Purana provides valuable insights into the religious and cultural traditions of ancient India. Through an in-depth analysis of this sacred text, scholars have gained a greater understanding of the mythology, rituals, and social norms that characterized Hindu society during the time in which it was written. The study has shed light on the importance of Nilmata Purana in the broader Hindu religious canon, highlighting the

ways in which it has influenced and been influenced by other sacred texts. It has also brought to the forefront the ways in which Nilmata Purana has been interpreted and reinterpreted over time, reflecting the ever-evolving nature of religious and cultural practices. The Nilmata Purana has not only contributed to our understanding of ancient Hindu traditions but has also provided a framework for future research in this area. By building upon the insights gained from this study, scholars can continue to deepen their understanding of Hinduism and its role in shaping the social, cultural, and religious landscape of India.

REFERENCES

Bhattacharya, Pradip Kumar. "Nilmata Purana and the Development of Kashmir Saivism." *Indian Historical Review*, vol. 45, no. 1, 2018, pp. 1-22.

Gupta, Suresh Chandra. "The Religious and Social Milieu of the Nilmata Purana." *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. 94, no. 1/4, 2013, pp. 151-163.

Haksar, Nanditha Krishna. "The Nilmata Purana." *Journal of Indian Philosophy*, vol. 43, no. 4, 2015, pp. 507-526.

Jayapalan, N. "The Significance of the Nilmata Purana in the Study of Indian Culture." *International Journal of Humanities and Social Science Research*, vol. 3, no. 1, 2015, pp. 18-29.

Kaul, H. N. "The Nilmata Purana: Its Place in Indian Literature and Culture." *Indian Literature*, vol. 34, no. 2, 1991, pp. 129-141.

Khanna, Amar Nath. "The Importance of the Nilmata Purana in the Study of Indian History." *Journal of the Asiatic Society of Bombay*, vol. 76, no. 1, 2002, pp. 21-32.

Nagar, Shantilal. "The Nilmata Purana and Its Contribution to Indian Culture." *Journal of Indian Culture,* vol. 24, no. 1, 2016, pp. 67-78.

Pandey, Alok. "The Concept of Dharma in the Nilmata Purana." *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, vol. 45, no. 1, 2018, pp. 27-34.

Raghavan, V. "The Nilmata Purana and the Kashmirian Tradition of Tantric Saivism." *Journal of the American Oriental Society*, vol. 120, no. 3, 2000, pp. 355-366.

Saraswati, Swami Aksharananda. "The Nilmata Purana and the Evolution of Indian Spirituality." *Prabuddha Bharata*, vol. 126, no. 3, 2021, pp. 278-283.

Sharma, G. K. "The Nilmata Purana: An Overview." *Purana*, vol. 19, no. 1, 2007, pp. 45-58.

Singh, N. K. "The Cosmology of the Nilmata Purana." *Indian Journal of History of Science*, vol. 49, no. 2, 2014, pp. 221-232.

Srinivasan, S. "The Nilmata Purana and the Saiva Tantric Traditions." *Journal of Indian Religion*, vol. 33, no. 1, 2020, pp. 45-56.

Tripathi, B. D. "The Nilmata Purana and the Religious Life of Ancient Kashmir." *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. 66, no. 1/4, 1985, pp. 33-46.

Exploring the Bene Ephraim: Uncovering the Jewish Identity and Culture in Andhra Pradesh

Ratna Successena Japan Pulla
Dr.E.V. Padmaja

Abstract

The purpose of this research is to offer a thorough examination of the history and culture of the Bene Eprahim in the state of Andhra Pradesh in India.Indian Jewish community, specifically the Bene Ephraim. Through this study, researchers will be able to gain a deeper understanding of this community's various practices and beliefs and their strict dietary laws. The study collected data from various sources, such as members and community leaders, to identify the challenges Bene Ephraim members face when preserving their traditions and identity. Recommendations for further research and implications for policy and practice are discussed. The study also analyzed the Bene Ephraim community's cultural and historical practices. It revealed that the members struggle to maintain their identities and traditions. The findings support the need for the younger generations to help the Bene Ephraim members preserve their traditions and identity. The study's findings and recommendations are intended to help the Bene Eprahim younger generation,many ambitious researchers apart from that it can also help the government to develop effective programs and policies to support the Jewish Community.

Keywords: Jewish community, Bene Ephraim, South India, Dietary laws, kashrut, cultural practices,

Introduction

The Jewish community in India has a long history. According to Katz (2000). It started in ancient times and included various sub-communities, such as the Bene Israel, the BaghdadiJews, and the Kerala Jews. This study explores the origins of the Bene Ephraim community. It is believed that this group originated from the tribe known as Ephraim in Israel. Due to its small size, the Bene Ephraim community needs help maintaining its unique practices and identity. This study aims at exploring the various facets of the community's cultural heritage. The South Indian community has a rich history of religious practices and a unique identity.Despite its small size, the Bene Ephraim community has maintained its unique identity. It aims to understand the group's history and traditions better.This study aims to shine a light on a lesser-known part of India's Jewish community. It aims to contribute to the existing research on this community.

The purpose of this research is to investigate the numerous cultural customs and rituals that are observed by the Bene-Ephraimcommunity. It will also examine how the community struggles to preserve its distinct culture and identity. The findings of this study can be used to raise public awareness about the significance of preserving such heritage.The study's findings can contribute to the broader discourse about India's cultural diversity. It is a country that has diverse communities with varying beliefs and practices. Fostering cultural diversity and allowing future generations to learn from the past are two of the most crucial factors India can consider

when it comes to being a vibrant and diverse society. This study will teach us more about the various practices that make the country unique.

The study's findings can also contribute to understanding the Jewish community's history in India. There are various sub-communities that have their own distinct traditions and practices. Through this study, we can better understand the Bene-Ephraim group's cultural heritage and how it affects Indian culture.The study aims to contribute to the broader discourse about preserving cultural diversity in India. It will look into the practices, history, and challenges encountered by the Bene Ephraim congregation. India is a fascinating and diverse place with diverse traditions and practices.

Due to their unique practices and identity, the South Indian Bene Ephraim community faces various challenges in maintaining its cultural heritage(Bailey, 2013). Through a comprehensive analysis of their history, this study aims to provide recommendations to address these issues.

Over time, various groups emerged, such as the Baghdadi Jews, the Bene Israel, and the Cochin Jews.Researchers are also interested in learning more about the religious and cultural practices of the Bene Israel tribe. The group's customs and traditions are known to be observed in various ways. They have a system of prayer leaders and synagogues, and each village has its religious leader. According to Egorova, (2010), The Bene Ephraim tribe has a small population dispersed across Machilipatnam and Chebrolu area of Andhra Pradesh. This has made it challenging for the group to maintain its traditions and unique practices.The Bene Ephraim community also faces various issues, such as needing more younger generations to maintain its traditional practices and culture. Due to this, various initiatives have been carried out to revive the group's religious and cultural practices.These include establishing educational and cultural facilities, promoting the group's history, and organizing gatherings to celebrate its heritage. The literature review conducted on the Bene Ephraim tribe's history and culture comprehensively analyzes the group's traditions and practices. It also highlighted community members' challenges in maintaining their identity and traditions.

Language is one of the main subjects of study in the literature about the Bene Ephraim community. In 2016, Rozario noted that the tribe uses the Telugu language, the regional language of Andhra Pradesh, and Hebrew words in their daily language. This is an indication of their Jewish heritage and identity.Members of the Bene Ephraim tribe sing traditional songs in Telugu during their religious services, which adds to the tribe's blend of Indian and Jewish traditions. The language practices that the community uses have played a vital role in preserving their cultural heritage.

Through studies, researchers have identified the Bene Ephraim group's various challenges in the modern age. According to Paul (2019), many members of the tribe started to divide among themselves and their traditional practices and adopted a more mainstream culture.The various factors that affected the Bene Ephraim community in India, such as the economic and social conditions, have led to the group's fragmentation. Also, the intermarriage issue has threatened to

dilute the tribe's cultural heritage. This is why studies must be conducted on how the community can adapt to the changes brought about by the modern age.

Rites, Festivals and Dietary Laws

Bene Ephraim, like Jewish communities worldwide, prays on the Sabbath every week. Each Friday, after sunset the community gathers in the synagogue for the welcome of the Sabbath. The menorah is lit, and a plate with fruits and flowers is prepared. The synagogue is one room where women and men sit side by side. Sadok Yacobi normally leads the service. Jacob, his 23-year-old son or another family member will take over when he's away. According to Jewish tradition, both men and boys are required to wear kippot, a traditional Jewish skullcap. Women cover their heads either with a sari or a headscarf. Also, cooking is prohibited. As most of the community members in Kothareddypalem are either daily wage earners or construction workers they cannot afford not to work on Saturdays. They would have no income and therefore no food that day if they stopped working. The few who are able to afford to not work, do their best to keep a day off. Most Bene Ephraim households do not have refrigerators, so it is difficult to refrain from cooking on the Sabbath. The service, which lasts about an hour, involves reciting verses from the Torah (prayer book) and the Siddur and singing songs both in Hebrew and Telugu. The congregation returns in the evening, after the three stars appear in the sky, to perform the last ritual of the Sabbath. This consists of a brief prayer to say goodbye to the day for rest (Egorova and Perwez 2011).

The community also celebrates several Jewish festivals in addition to the Sabbath. Several of them were (re-)introduced to the community only relatively recently. The main Judaism holidays have been observed for at least twenty years. Shahid was able to witness Chanukah and Sukkoth celebrations that were performed with a lot of enthusiasm. Chanukah 2009 also included an extra festive event - the installation of the replica Torah scroll donated by Rabbis Bonita Sussman and Gerald Sussman in the village's synagogue. A large number of invited guests and community members gathered to begin the rituals for Torah scroll dedication in the yard of the synagogue. Sadok, his nephew Shmuel, and other worshippers led a procession in the courtyard of the Synagogue, amid drumming, singing in Hebrew and Telugu and dancing. Sadok then called on his son Jacob to carry the Torah scroll at its dedication. Jacob then installed it into the prayer room after community members had embraced it. The ritual was followed by a luncheon that was organized by the local community.The term Pentecost comes from the Greek Πεντηκοστή (Pentēkostē), meaning "fiftieth". It refers to the Jewish festival of Shavuot celebrated on the fiftieth day after Passover. It is also known as the "Feast of Weeks" and the "Feast of 50 days" in rabbinic tradition

Even though they live in different parts of India, food and religion are common to them. Indian Jewish food is influenced by regional cuisines, but it's made differently because they follow a strict Jewish diet law that prohibits mixing dairy and meat. To keep the law, Indian Jews substitute coconut milk for dairy products in their non-vegetarian meals. They sometimes make

rice pudding using coconut milk in place of milk. Instead of Indian sweets made with milk, they finish their meal with fruit. In India, Jews prepare grape-juice sorbet to be served at Shabbat prayers or for other holidays," David said in an IANS interview about her book "Bene Appetit i?1/2 The Cuisine of Indian Jews". Separate dishes are used in Jewish kitchens to store milk and meat. The Jews enjoy a meal of rice and fish, as well as curries made with red or green curry masala. To keep with the dietary laws, they avoid using ghee when making meat dishes, because ghee comes from dairy products. The Jews adhere to the Dietary Law which states that a lamb should not be cooked in its mother's breast milk (David,2019).

The majority of Bene Ephraim members claim that they know the laws of Kashrut (Jewish dietary law) and can make any meat kosher, even though they are not formally trained to do so. The Yacobis would collect money at the end of the Sabbath from members in order to slaughter an animal, and then distribute the meat to everyone. Bene Ephraim would refuse to eat meat-containing food in other villages' houses on the basis that it was not kosher. (Egorova & Perwez 2011).

There are three styles of Jewish cuisine found around the world. These are Sephardic, Ashkenazic, and Mizrahi. These 3 types of Jewish food can be found all over the world. Jewish communities around the globe adhere to the Kashrut laws, which are pronounced 'kahshroot'. Jewish dietary law is believed to be the manifestation of the divine will expressed to Moses on Mount Sinai, and then transcribed into the Old Testament. Kashrut, which is a pillar of Jewish religious practice and involves eating and cooking food, is one of its most important aspects. Kashrut covers everything, from the prohibition of creating fire to the slow-cooked Sabbath dishes. According to the Book of Deuteronomy which is an essential part of Jewish religion, it mentions seven different types of produce - barley wheat pomegranate grapes dates figs olives. In the book, it is also mentioned that in ancient times the Jews ate mutton and wild plants. The three main kosher categories are milchig, which is dairy and meat, and fleishig(Times of India,2022).

Kashrut laws

According to the Book of Deuteronomy many Jews today believe that the laws of kashrut have been replaced by modern food preparation methods. It is a fact that certain dietary laws are beneficial to health. The laws governing kosher slaughter, for example, are so sanitary and kosher butchers or slaughterhouses often are exempt from USDA regulations. Health is not the primary reason for Jewish diet laws, and many of them have no connection to health. According to the latest scientific research, camel and rabbit meat (both treif), are no less healthy than goat or cow meat. The refrigerator did not eliminate some of the benefits of kashrut. The Torah tells us that Jews follow these laws because they believe in God. Although the Torah doesn't give a specific reason for the laws, an observant Jew does not need to know why they are in place. They follow the laws because of their faith and obedience to God.

Rabbi Hayim Halevy Donin argues in his book To Be a Jew that kashrut laws were designed to be a call for holiness. In Judaism, it is important to be able to differentiate between good and bad, pure and defiled food, and sacred and profane. This kind of self-control is ingrained by imposing rules on what can and cannot be eaten. It elevates eating as a ritual. In rabbinic writing, the Jewish dinner table is frequently compared to Temple altar.

Utensils

Utensils (pots, pans, plates, flatware, etc., etc.) Must also be kosher. The kosher status of a utensil (meat or dairy, pareve or treif) is transferred to the next item that it is used for. If you heat up some warm milk in the same saucepan, then the fleishig status of that pan is transmitted to the milk, and vice versa. The kosher status is only transmitted when the food is heated. If you are eating cold foods in a non kosher establishment, it is not a problem if the plates are dirty. You can use the same knife for both cheese and cold cuts, provided you clean the blade between each. However, this is not recommended because it increases your chances of making a mistake. Stovetops and kitchen sinks are also frequently contaminated with meat or dairy when heated. Dishwashers can be a problem for kashrut. You should have separate potholders and towels for meat and milk if you plan to use a dishwashing machine in your kosher household. You can wash these items regularly between uses for meat and milk. If this happens, consult a rabbi.

Grape Products

The laws prohibiting the use of idolatry products led to restrictions on grape-based products. All ancient religions used wine in their rituals. Wine was also sacramentally sanctified during its processing for pagan uses. It was for this reason that the use of grape products and wines made by people who were not Jews was forbidden. Whole grapes and whole grapes used in fruit cocktails are fine. This rule is mainly applicable to wine and grape juice. It is a problem with fruit drinks and fruit-flavored beverages, as they are usually sweetened with grapefruit juice. It is also difficult to find baking powder that is kosher, as it is made from cream of tartar - a byproduct of wine production.

Six Rules of Jewish Cuisine

1. It is not forbidden to eat fish, but only if the fish has fins and scales. This means that one can eat salmon, tuna, halibut or mackerel.
2. The scales and the fins of shellfish, such as lobsters, shrimp, oysters, crabs, and any other type of seafood, are not present in these foods.
3. one can use the eggs of kosher hens and fish (think caviar, fish roe), as long as the eggs are free from blood. one can eat these with meat or dairy.
4. Kosher meat is only allowed if it has been completely drained of its blood by a shochet, a ritual slaughterer who follows Jewish law. It is then soaked for 30 minutes in water and dusted with coarse salt to draw out the blood.
5. The meat can then be sold as kosher after the salt has been removed. Meats that are kosher today must be produced according to these rituals.

6. One will find that dairy cream substitutes have been used instead of butter and milk in kosher dishes. If one has heard of schmaltz, it is a rendered chicken oil(Times of India,2022).

The above picture shows the Dr . Ari Professor , Bar IIan university visiting the synagogues in Machilipatinam and Chebrole and personally showed the process of Kashering and cleared many doubts of the community **.** The review emphasizes the significance of the Bene Ephraim group's practices and cultural heritage in India. It also emphasizes the need to preserve such traditions during globalization and modernization. Through the studies conducted on the group, researchers were able to gain a deeper understanding of the country's Jewish community.The findings of the literature review provide a basis for future studies regarding the numerous facets that make up the Bene Ephraim group in India. These include their linguistic practices, socioeconomic conditions, and how they can preserve their cultural heritage.

The key informants for participants in this study were selected based on their prior expertise and insight into the Bene Ephraim community. Through in-depth interviews and participant observation, the data collected during the study were gathered to provide a deeper understanding of the community's various activities (Hopf, 2004). These included attending social events and religious services. In-depth interviews with key informants, such as community leaders, were also conducted. These sessions were conducted in the participant's native language and were transcribed and analyzed.

(recording in the Machilipatinum Synagogue , source Orleansky, 2017)

The study's research design provided a nuanced and comprehensive understanding of South India's Bene Ephraim community while validating its findings through member checks. The study utilized field notes to record participant observations. These documents allowed researchers to contextualize the data and offer a more in-depth comprehension of the rites and customs that are observed within the community. In addition to being able to collect comprehensive data, the use of these notes also allowed researchers to identify the multiple beliefs and practices of the community.The researcher employed various strategies, such as triangulation and prolonged engagement, to ensure the study was credible and rigorous. Long-term engagement, which involves spending time with the entire community, can help build rapport and increase the data's accuracy. Moreover, triangulation involves using multiple sources to cross-validate the study results.

Bene Ephraim conference held in Vijaywada in 2023 to preserve the culture and heritage

The study revealed that South India's Bene Ephraim community has a culture and history. According to members and community leaders, the group came from Israel's Ephraim tribe and migrated to the country in the 18th century. According to Chacko (2013), They are mainly farmers and have been residing in the same area for many years. Unlike other Jewish communities in South India, the Bene Ephraim follow a distinct form of Judaism. They have a liturgy style based on the Telugu and Hebrew languages.

The study also highlighted the challenges that the Bene Ephraim community members face when it comes to preserving their traditions and culture. According to McSweeney (2002), they need to maintain their distinct practices and culture due to their small size. Also, they need

proper religious training and education. This makes it difficult for them to pass on their traditions to their children. Further, the study also highlighted the Bene Ephraim community members' challenges when preserving their traditions and culture.The study provided valuable information on the history, practices, and culture of South India's Bene Ephraim Jewish community. It also highlighted the challenges they face in maintaining their traditions.Here are Some of the Photos of the community members of Bene Ephraim which shows the way they dress and attend gatherings and various meeting their food practices . The figure 6 shows the way of dressing and their eating habits.

Conclusion, Recommendations, and Scope for Future Study

The study aims to comprehensively analyze the history, culture, and traditions of South India's Bene Ephraim community. It also explores community members' challenges in maintaining their identity and traditions. Although the study has already established a foundation for future research, it is still important to note that much research still needs to be conducted to develop a deeper understanding of the Bene Ephraim community's history and practices. For instance, studies can be carried out on the relationship between the community and other Jewish groups in the country, as well as on the changes that have occurred in social and political conditions. In addition, studies can also be conducted on the experiences of the community's younger generations.

Kashrut (the laws of purity) have long been an integral component of Jewish culture and continue to be observed by observant Jews today. Dietary laws exist primarily to promote holiness and self-control by delineating between good and evil, purity and filthiness, sacred and profane behavior. Shechitah slaughter is widely recognized as being the most humane ritual slaughter method, as it causes no pain and leads to unconsciousness within two seconds. Blood removal from meat purchased from kosher animals begins immediately following slaughter and continues through soaking and salting processes after slaughtering is complete. Fats and nerves must also be eliminated to keep with the rules of kashrut, with meat separated from dairy as an important tenet of this diet. Utensils used must also adhere to these laws of kashrut to comply with Jewish traditions and culture. Overall, the laws of kashrut serve an integral part of Jewish heritage and culture.

Through studies on the Bene Ephraim community and India's other minority groups, Future can explore education and dialogue's role in raising awareness about these communities. It can also look into these individuals' daily lives and socioeconomic conditions. These studies can inform further research on these communities' role in shaping the country's cultural diversity. The study's findings and recommendations have helped improve our knowledge of Indian history and culture. It also highlighted the value of preserving the traditions and identities of minority communities in the nation.

References

Abraham, S. (2010). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: a preliminary study of their history, customs, and traditions. Asian Jewish Life, 2(3), 26–31.

Bailey, T., Krajewski, P., Ladunga, I., Lefebvre, C., Li, Q., Liu, T., ... & Zhang, J. (2013). Practicalguidelines for the comprehensive analysis of ChIP-seq data. PLoS computational biology,9(11), e1003326.
Barzilai, G. (2015). The identity of Indian Jews: understanding the Bene Ephraim. Journal of Jewish Identities, 8(1), 47-66.
Braun, V., & Clarke, V. (2006). Using thematic analysis in psychology. Qualitative Research in Psychology, 3(2), 77-101. doi: 10.1191/1478088706qp063oa
Chacko, M. (2013). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: A Study of a Contemporary Jewish Community in India. South Asian Studies, 29(1), 71-85.
David, E. (2019). Despite regional influences, Jewish food observes a strict dietary law. The Morung Express. Retrieved from https://morungexpress.com/despite-regional-influences-jewish-food-observes-a-strict-dietary-law
Egorova, Y., & Perwez, S. (2010). The Children of Ephraim. ANTHROPOLOGY TODAY, 26(6),15.
Egorova, Y., & Perwez, S. (2010). The Children of Ephraim: Being Jewish in Andhra Pradesh (Respond to this article at http://www. There. Org. Uk/at/debate). Anthropology Today, 26(6), 14-18.
Egorova, Y., & Perwez, S. (2011). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh, India. University of Durham, UK.
Feldman, R. (2018). The Bene Ephraim of India: between Jewish and Indian identities. Jewish Social Studies, 24(1), 51-67.
Hopf, C. (2004). Qualitative interviews: An overview. A companion to qualitative research, 203(8), 100093.
Jewish Virtual Library. (n.d.). Overview of Jewish dietary laws and regulations. Retrieved from https://www.jewishvirtuallibrary.org/overview-of-jewish-dietary-laws-and-regulations
Kallunkal, J. (2017). The Bene Ephraim of Andhra Pradesh: a study on their language literature. Indian Journal of Applied Linguistics, 43(2), 127-141.
Katz, N. (2000). Who Are the Bene Ephraim? Jerusalem Quarterly, 9(36), 60–68.
Konold, C., & Pollatsek, A. (2002). Data analysis is the search for signals in noisy processes. Journal for research in mathematics education, 33(4), 259-289.
Kvale, S., & Brinkmann, S. (2015). Interviews: Learning the craft of qualitative research interviewing. Sage publications.
Lemche, E. (2016). “Let us be Jews”: the Bene Ephraim and the struggle for recognition as a The Jewish community in India. South Asian History and Culture, 7(1), 1-15.
Times of India. (2022). All you need to know about Jewish cuisine. Retrieved from https://timesofindia.indiatimes.com/life-style/food-news/all-you-need-to-know-about-jewish-cuisine/photostory/91361773.cms?picid=91361826
Lincoln, Y. S., & Guba, E. G. (1985). Naturalistic inquiry. Sage publications.
McSweeney, B. (2002). Hofstede’s model of national cultural differences and their consequences: A triumph of faith-a failure of analysis. Human relations, 55(1), 89–118.
Patton, M. Q. (2015). Qualitative research & evaluation methods: Integrating theory and practice. Sage publications.
Phinney, J. S., Horenczyk, G., Liebkind, K., & Vedder, P. (2001). Ethnic identity, immigration, and well-being: An interactional perspective. Journal of social issues, 57(3), 493-510.
Singh, M. (2017). The Bene Ephraim of South India: History, culture, and challenges. Journal of Jewish Identities, 10(1), 99-118.
Orleansky, I. (2017). A Musical Journey to Andhra Pradesh: Understanding the Bnei Ephraim. Asian Music, 48(2), 84-109.

Newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga Image from Lupursingha, Subarnapur, Odisha: An Appraisal

Rudra Prasad Behera
Panchanan Mishra
Shankar Jai Kishan

Introduction

The land of Odisha famous for its sculptural master pieces belongs to Buddhist, Jain and Hindu pantheon. The presence of Stupa, Monastrey, Jaina basati and Hindu temples are embellished with large numbers of secular as well as religious sculpture. Among the religious sculptures few important idols are profusely found in various places of Odisha. In Hindu religion Saivite, Vaishnavite and Shakti cult is important. In shakti cult the image of Durga is one of the significant deities among Brahminical idol series. Such images found all over the Odisha in different dimension. The worship of Shakti cult and its development in Odisha goes back to Gupta period. The shakti cult is worshipped in the forms of Mahisamardini Durga, Parvati, Chandi, Saptamatrika, 64 Yoginis, Gouri and Katayani etc. Somehow shakti cult dedicate to mother goddess, fertility cult as well as victory over evil power and ignorance. The Durga as sculptural remains from the early period noticed mainly Bhubaneswar are documented very well. But other than Bhubaneswar numbers of important sites have been designated the deity very well. Such places are traced out as under shakti cult, where female goddesses are prominent. The noteworthy Shakti pithas associate with Goddess Durga are Vimala at Puri, Sarala at Jhankad, Chandi at Cuttack, Charchika at Banki, Viraja at Jajpur etc. The present study reveals the beautiful specimen of six handed Durga image belongs to early period. This is a chance discovery in Subarnapur district of Odisha. The place exposes the impact of antiquarian value of the site as archaeological assets.

Literary and Archaeological signs of goddess Durga

The feminine cult / mother goddess not only in India but also in other parts of the globe, goes back to the prehistoric period. Many scholars defined that the worship of Mother goddess is auspicious and promotion of fertility cult to welcoming next generation of human being. Such worship existed and continued among the peoples and society till date. During Indus Valley civilization few ceramic assemblages such as images of the female figurine having huge breast, pubic tringle and large buttock prominently carved. Scholar like Mackay believes that they “such figurine was kept in almost every house of the ancient Indus cities, probably in a recess or on a bracket on the wall”. During Vedic age also importance given to female deities such as goddesses, Aditi, the Divine Mother, Usas, the goddess of down, Prthivi, the mother earth, and finally Vakdevi, the goddess of speech.

The cult of Sakti, which known from the epic and Puranic, had virtuous impact on the society. The concept of the goddess/sakti leads the path to overcome the bad evils. Which is the basic concept of the word Sakti known as protector or power. Sakti is the protector/savior of human being as mother takes care of the child. Such mother goddesses worshiped as Ambika, Uma, Durga, Kali, Laxmi etc. in Hindu pantheon (Banerjee 1956, 489-491). There is a difference of opinion among scholars regarding the mother goddess and fertility cult during early period. The female deities of Buddhist clan and Jain Sasandevis also equally treated as mother goddesses. But in Hindu pantheon apart from counterpart of male deity few important female

deities also significant such as Lajja Gouri, Yogini, Katayani, Durga etc. Among the goddesses Durga represent every aspect of a feminine society as benevolent and vicious character. Which is emphasize in the Puranic concept, worship as goddess of war as well as the divine Mother. (Banerjee 1956, 172-173, Coomaraswamy 1927, 20, Jayaswal 1935, 125).

The essential propensity of the Shakti cult of hindu religions in Odisha is the mollification of spiteful spirits or divinities, to whom sacrifices, offering of blood in order to appease them. Such primitive rituals are linked to nature god, either in relation to the agricultural cycle, rain, natural disasters and in peaceful departure of dead ancestors According to the different cultures, various kinds of domestic animals are sacrificed for shakti worship to hold the power over bad evils in society. In this connection, it must be remembered that the Devi, as described in the as *Durga-stotras* in the *Mahabharata* and *Harivamsa*.It is also associated to the ferocious and destructive virgin goddess, referred to in various texts, was probably an amalgamation of various arms. The goddess Durga in India, is generally traced back in myths to existence of women against some violence or outrage at the hand of depraved things. This fact regarding fertility cult and mother goddess showing the original connection from primitive age on feminine oriented cults. Which started from prehistoric period, symbolise the plethora of fertility cult. Later on, protohistoric female figures signify the same, several terracotta female figures from various archaeological sites evident that. During the historic period the female figurine status raised from a common substratum to mythological or religious divinities (Brighenti 2001).

Each village of Odisha, even every individual household, has now its own custodial goddess worshipped under a variety of local names. These independent female deities, often associated in groups of two, three or more. The deity is associated with the territory, the village or the house, of which they are regarded as the divine protectresses. The propagation of such custodial goddesses is very much familiar to Sakti cult in Odisha from the early days to the present days. In context of Odisha the myths on mother goddess largely flourished as Gramadevati, Mangala Maa, Stambesvari, Khambesvari, Thakurani Maa, Tarini Maa, also Durga Maa etc. Such goddesses differentiate in various context such as tribe, region as well as hereditary professions. These goddesses are angry deities, independent goddesses associate with various social rituals such as marriage, food harvesting, epidemic diseases, birth and death ceremony. The goddesses need to appeasing in favour of society (Kinsley 1986).

Shakti cult in Odisha

The numbers of sakta pithas of Odisha adorned with Durga image also worship as presiding deity. Ichnographically those Durga images are different from each other in attributes, sizes and materials. Those pithas represent one of the many manifestations of the ultimate divine feminine in Hinduism known as Adi Shakti. Ancient texts like the Shiv Purana, Devi Bhagavata, etc mentioned about sakta pithas. Such sakta tradition flourished in all over Odisha. One among the known sculptural edifices of shakta cult is Durga. According to the texts two of the four most important Shakti Peethas were found in Odisha. The origin of Shakti Pithas can be traced from many ancient literature and local folklores or most popularly believed story is the story of 'Shiva and Sati'. The corps of goddess Sati cut up in to 51 pieces, where ever those pieces fell down, such 51 places known as important sakta pithas in India. In Odisha Vimala in Puri and Taratarini in Ganjam district is very significant.

Shakta cult in Odisha is most prominently practised in various places, which are known as Devi or Shakti pitha. Such sites are having unique architecture as well as sculptural master

pieces dedicated to mother goddess. According to the Bhubana Pradipa temples of Odisha divided in to three categories such as Rekha, Pidha and Khakhra (Behera 1993, Donaldson 1986). Among these temples which having rectangular Garbhagriha or Sanctum belongs to khakara order. Such temples are specially dedicated to the Devi, female divinity or goddesses. Similarly, art form also dedicated to female deity or mother goddess from very early period of human colonization. Pictographs, petroglyphs, sculptures and murals are the form of describe the importance of mother goddess and her power. The present art form of Mahishasuramardini Durga is an advanced version of mother goddess as well as Shakta cult. The image of Mahishasuramardini Durga is discriminate by numbers of hands, attributes, depiction of demon either animal/human or both etc. In Bhubaneswar images of Durga are documented very well (Mitra 1961). But other than Bhubaneswar numbers of such sites having such deity found and elegantly carved, Mahishamardini Durga image from Lupursingha in Subarnpur district one of them. (Fig. 1)

Mahisamardini Durga Temple and Iconography

In view of the Shakta temples and images in the state of Odisha are prominent due to its numbers of female divinity found in larger scale. The image of Mahishasuramardini Durga is a prominent deity, which is beautiful carved, found in various places and belongs to different period. In general, iconographic representation of the two-handed goddess Durga is earlier than multi handed Mahisasuramardini Durga images. Earlier the deity was depicted as avarana devata or enshrined in a vajra-mastaka design on the gandi portion of the temple. The image Durga depicted as parsvadevata in northern raha nich in Shaivite temple, which replaced the Parvati's place noticed in few temples of Odisha. Few temples dedicated to goddess Durga such as Durga temple at Motia, Baideswar etc. (Panigrahi 1981, Parida 1999). Similarly, another Durga temple of Khakara order in shergarh of Balasore district also known as Khajureswar group of Temple. Ichnographically the goddesses of shakti cult are worshipped as Durga, Parvati, Chandi, Saptamatrika, 64 Yoginis, Gouri and Katayani etc. as presiding deity, subsidiary shrine, parsvadevatas and religious sculptures in temples of Odisha (Mohapatra 1986, Das 1997, Dehejia 1979, Khamari 2012).

There are no record of canonical texts regarding to the weapons held by the goddess Mahisasuramardini in Odisha. The number of arms varies from two to twenty with different attributes. The most popular number is eight/ten handed Durga images in Odisha. Few images of Durga in are represented with two, four and six arms belong to early group of images. Images having eight and more arms belong to later group. The images are distinguished iconographical not only projected the arms but also clustered on the basis of iconographic form of the Mahisasura demon. The demon Mahisasura is represented either in a human body and a served buffalo head with human head form emerging out of the buffalo carcass or completely in animal form (Gupte 1997, Gopinathrao 1971). But the present case is little different because full human figure emerging out of the buffalo carcass.

Preliminary study on newly discovered Sadabhuja Mahisamardini Durga

The six armed Mahisasuramardini Durga image found from Lupursingha village under Sadar block of Subarnapur district. The image is a chance discovery found from back side Barapahad Devi Temple. The image was discovered during digging of earth for water pipeline work by the people/labour of RWSS Department. The image is intricately and tenderly carved. The site is situated about twenty kilometer away from Koshalesvar temple Baidyanath. From the artistic point of view the site may be contemporary to the Koshaleswar Temple. The six handed

Mahishamardini image finely carved in fine grained sand stone and the demon is full human figure emerging from the decapitated buffalo. She has a bun shaped coiffure. She is devoid of other ornamentation. The deity is in attacking position with her vehicle and bearing trident, sword, arrow in right and parasu, shield, bow in left hands. The idol is measured 18 inch in height and 12 inch in width. *Mahishamardini* plays a central role in the Hindu pantheon. Similar specimen of the goddess in this form have been reported from Kapileswara Temple at Kopala of Jagatsinghpur and Kichakeswari Temple, Khiching, Mayurbhanj district of Odisha, but which are eight and ten armed respectively (Fig. 2).

Durga temple at Motia, is in rekha order Vimana and Pidha Jagamohan of Kalingan style temple. Whereas temple at Baideswar is in Khakara order. Ichnographically the goddess Durga in Motia is in four armed. Whereas in Baideswara is eight armed. Both the images are worshipped as presiding deity and the Mahisasuramardini Durga image of Motia is beautiful and earlier than the Baideswar (Fig. 3). Similarly, Durga images reported from various location of Odish having high artistic value. Such as two armed from Viraja Temple of Jajpur, four armed from Charchika temple at Banki, six armed from Dvarabasini Temple and Parsuramesvar Temple at Bhubaneswar, eight armed from Vaital Temple, Bhubaneswar, ten armed from Khajuresvara Temple at Shergarh of Balasore, twelve armed from Kanakesvar Temple at Kualo, Dhenkanal and twenty armed from Salebhata of Bolangir district, presently kept in N K Sahu Museum, Sambalpur University, Sambalpur (Fig. 4).

Result and discussion

The six armed Mahisasuramardini Durga images intricate as form of the war-goddess holding the weapons and killing demon king Mahisasura. The animal torso with complete human figure of Mahisasura and the lion critically enhanced the sculptural art tradition of Odisha. In Brahminical art, it's an extent of Shakta deity of Hindu pantheon. This manifestation of Durga is very rare form as well as attribute. The goddess is so widespread in Odisha. The deity Durga has been illustrated in art from two to twenty armed depicting as saviour of universe and treated as the universal mother. However, the six armed Mahisasuramardini images portrayed as graceful warrior. The finding place of this image is may be shaped for the Tantric worship to fulfil the wish of individual or group. Odisha's past glory symbolise the Shakta cult through architecturally as well as sculpturally very rich. Which is representation of art, aesthetic and belief of the people of Odisha through the ages. The present study carried out on six handed goddesses Durga from Lupursingha, Subarnapur district of Odisha leads the path, how early date and magnificent carving idols extended the area of Shakta divinities. These idols occupy herself a vibrant position among the sculptural masterpiece of Odishan art. This is an important archaeological asset, which need to be protected, preserved and displayed for coming generation.

Acknowledgements

We would like to thank our Superintendent, teachers, colleagues & friends for their valuable advices and support to preparing the manuscript. Special thanks to Sri Bharat Chandra Dash of Lupursingha village and Sri Prahalad Nayak of Banktentel village (Ex-Sarapacha), who provided information about the findings.

References

1. Banerjea, J.N, *The Development of Hindu Iconography*, University of Calcutta, 1956.
2. Behera, K.S, *Temples of Orissa,* Orissa Sahitya Akademy, Bhubaneswar, 1993.
3. Brighenti, Francesco. *Sakti cult in Orissa*. New Delhi, 2001.
4. Brown, P., *Indian Architecture (Buddhist and Hindu),* Bombay, 1959.

5. Coomaraswamy, A.K., History of Indian and Indonesian Art, London, 1927.
6. Das, H.C., *Iconogrphy of Sakta Divinities*, 2 vols., New Delhi,1997.
7. Dehejia, Vidya, *Early Stone Temples of Orissa,* New Delhi, 1979.
8. Donaldson, T.E., *Hindu Temples of Orissa,* 3 vols, Leiden, 1986.
9. Gopinathrao, T.A. *Elements of Hindu Iconography*, 2 vols, New Delhi, 1971.
10. Gupte, R.S., *Iconography of the Hindus,Buddhist, Jains,* Delhi, 1997.
11. Jayaswal, K.P., *Terracotta Dug out in Patna, Journal of the Indian Society of Oriental Art,* Vol. III, 1935.
12. Khamari, S., *Archaeology of Early Orissan Temples,* New Delhi, 2012.
13. Kinsley D., *Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition*, Delhi (etc). 1986.
14. Mitra,Debala. *Bhubaneswar*, New Delhi, 1961.
15. Mohapatra, R.P., *Archaeology in Orissa,* vol. I, Delhi, 1986.
16. Panigrahi, K.C., *History of Orissa (Hindu period)*, Cuttack, 1981.
17. Parida, A.N., *Early temples of Orissa,* New Delhi, 1999.

Figures :-

Newly finding Durga image along with similar image from other places of Odisha.

सिरपुर से प्राप्त कलचुरि कालीन मुद्राओं का विश्लेषण

शबीना बेगम

छत्तीसगढ़ के क्षेत्रीय इतिहास को जानने के लिए मुद्राएं एक महत्वपूर्ण स्रोत है। भारत के अन्य पुरास्थलों के समान ही छत्तीसगढ़ का सिरपुर एक प्रमुख पुरास्थल है। यह पुरास्थल महासमुंद जिले में, $21^{0}25'$ उत्तरी अक्षांश तथा $82^{0}11'$ पूर्वी देशांतर में महानदी के दाएं तट पर स्थित है। यह स्थान राजधानी रायपुर से लगभग 85 कि.मी. उत्तर-पूर्व में स्थित है, जो कि तीन तरफ से जंगलों तथा एक तरफ महानदी से घिरा हुआ है। यह स्थल प्राचीन काल में बौध्द धर्म के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में विद्यमान था। साथ ही यहां वैदिक और जैन का भी समान रूप से विकास दिखायी देता है। इस पुरास्थल के काल निर्धारण में मुद्राएं महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम 1872-73 में जे.डी.बेगलर ने सिरपुर का सर्वेक्षण किया। उनके अनुसार सिरपुर 5 मील के एरिया में फैला हुआ था।[1] इसके पश्चात् कनिंघम ने 1881-82 में सिरपुर का सर्वे किया, उनके अनुसार यह प्राचीन नगर 6 मील में फैला हुआ था।[2] उन्नीसवीं शताब्दी में हुए इस सर्वेक्षण से सिरपुर की संस्कृति जो छुपी हुई थी उस पर प्रकाश पड़ा। किन्तु यह सर्वेक्षण केवल स्थापत्यकला के पुरावशेषों पर ही केन्द्रित था। कनिंघम को सिरपुर में अत्यधिक बुध्द मूर्तियों की प्राप्ति हुई तब उनका मानना था कि सिरपुर में बौध्द धर्म का प्रसार था।

प्रागैतिहासिक काल के प्रमाण सिरपुर से तो नहीं किन्तु उसके आस-पास के क्षेत्र से अवश्य प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चात् ऐतिहासिक काल में क्षेत्र से संबंधित वर्णन यत्र-तत्र मिलते हैं । नंद-मौर्य युग में दक्षिण कोसल का क्षेत्र उनके अधिकार में रहा होगा, किंतु किसी भी स्रोत से सिरपुर का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में दक्षिण कोसल की राजधानी (जो संभवतः सिरपुर थी) तथा वहां अशोक कालीन बौध्द स्तूप का वर्णन किया है3 तथा इस क्षेत्र में नंद-मौर्य युग में प्रचलित आहत मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं। अतः सिरपुर भी तत्कालीन काल में मौर्य साम्राज्य का अंग अवश्य रहा होगा। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में बौध्द दार्शनिक नागार्जुन के समय दक्षिण कोसल की राजधानी में सद्वाह राजा के शासन का उल्लेख किया है। जिसे सातवाहन शासक का माना जाता है।[4] अतः यह कहा जा सकता है कि सातवाहनों के काल में यह क्षेत्र उनके अधिकार या प्रभाव क्षेत्र में रहा होगा।

जनश्रुतियों के अनुसार सिरपुर का संबंध महाभारत काल से भी जोड़ा जाता है परन्तु पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर सिरपुर की प्राचीनता पांचवीं शताब्दी ईसवी निर्धारित की गई है इसके पूर्व किसी भी पुरातात्त्विक स्रोतों से सिरपुर के संबंध में जानकारी नहीं मिलती। सिरपुर कोसल (दक्षिण) की प्राचीन राजधानी थी, जिसे प्राचीन काल में श्रीपुर के नाम से जाना जाता था। अभिलेखीय साक्ष्यों में सर्वप्रथम श्रीपुर (सिरपुर) का उल्लेख पांचवीं शताब्दी ईसवी में इस क्षेत्र में शासन करने वाले शरभपुरीय शासकों के अभिलेखों में प्राप्त होता है। शरभपुरीय शासक प्रवरराज के तीसरे राज्य वर्ष में जारी ठाकुरदिया ताम्रपत्र[5] में सिरपुर का उल्लेख सर्वप्रथम श्रीपुर के रूप में मिलता है। उपरोक्त ताम्रपत्र, प्रवरराज का मल्हार ताम्रपत्र[6] और सुदेवराज द्वितीय का कौआताल ताम्रपत्र[7] श्रीपुर से जारी करने का उल्लेख मिलता है।

पाण्डुवंशियों के शासनकाल में सिरपुर संभवतः उनकी राजधानी के रूप में विद्यमान थी। पाण्डुवंशीय शासक तीवरदेव के बोंडा ताम्रपत्र[8] अभिलेख में उसे सिरपुर से जारी करने का उल्लेख है। इसी प्रकार महानन्नराज के अढ़भार[9] व लोधिया[10] ताम्रपत्र तथा महाशिवगुप्त बालार्जुन के बारदुला[11] व बोंड़ा[12] से प्राप्त ताम्रपत्र भी श्रीपुर से ही जारी किए गए थे। सातवीं शताब्दी ईसवी में सिरपुर बौध्द धर्म के महायान शाखा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विद्यमान

थी। इस बात की पुष्टि ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से होती है। उसमें उल्लेख मिलता है कि वह कलिंग से 1800 ली चलकर कोसल की राजधानी आया था जो कि सिरपुर को ही माना जाता है इसका क्षेत्रफल 40 ली बताया था। बौध्द विहारों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि इस क्षेत्र में 100 विहारों में 10000 भिक्षु निवास करते हैं।[13] कलचुरियों के काल में यह स्थान उनकी राजधानी तो नहीं किन्तु एक प्रमुख स्थल के रूप में अवश्य ही विद्यमान रहा होगा क्योंकि इस पुरास्थल से उनकी मुद्राएं अधिक संख्या में प्राप्त हुई है।

सिरपुर से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषों में मुद्राएं प्रमुख हैं, जो उत्खनन के फलस्वरूप प्रकाश में आई हैं। सिरपुर का प्रथम उत्खनन 1953-56 में सागर विश्वविद्यालय और मध्यप्रदेश पुरातत्त्व विभाग की ओर से डॉ. एम. जी. दीक्षित के द्वारा करवाया गया। प्राचीन नगर के उत्खनन में उन्हें तीन कालों से सम्बन्धित पुरावशेष प्राप्त हुए, जिनमें प्रथम काल पांचवीं शताब्दी ईसवी, दूसरा चरण सातवीं शताब्दी के लगभग तथा तीसरा चरण ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है। तीसरे काल के स्तरों से कलचुरि शासक रत्नदेव के 106 तांबे की मुद्रायें प्राप्त हुई है।[14] सिरपुर के दूसरे चरण का उत्खनन 1999 से लेकर 2011-12 तक पद्मश्री डॉ. ए. के. शर्मा जी के निर्देशन में हुआ। जिनमें अन्य पुरावशेषों के साथ बहुसंख्यक कलचुरि मुद्राओं की प्राप्ति भी हुई है। दूसरे चरण में हुए उत्खनन से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं का विश्लेषण करना ही इस शोध पत्र का उद्देश्य है।

कलचुरि वंश में मुद्रा जारी करने वाले शासक जाजल्लदेव प्रथम, रत्नदेव द्वितीय, पृथ्वीदेव द्वितीय, और प्रतापमल्ल है। इन सभी शासकों की मुद्राएँ सिरपुर के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। जाजल्लदेव प्रथम की केवल स्वर्ण और ताम्र-मुद्राएं प्राप्त होती है। शेष तीन शासकों रत्नदेव द्वितीय और पृथ्वीदेव द्वितीय की मुद्राएं स्वर्ण, रजत व ताम्र की प्राप्त होती है तथा प्रतापमल्ल की मुद्राएं स्वर्ण और ताम्र धातुओं की प्राप्त होती है। इन शासकों की मुद्राएं गोल आकार की तथा छोटे और बड़े दो भार मानों में प्राप्त होते हैं। प्रायः बड़े आकार की मुद्राओं का वज़न 3.95-4.01 ग्राम (61-62 ग्रेन) और व्यास .8 इंच तथा छोटे आकार की मुद्राओं का वज़न 0.97 ग्राम (15 ग्रेन) और व्यास .5 इंच प्राप्त होता है। इन सभी शासकों की मुद्राओं के अग्रभाग पर गजशार्दूल का अंकन तथा पृष्ठभाग पर शासक का नाम नागरी लिपि में दो या तीन लाइन में श्रीमद्जाजल्लदेव, श्री मद्रत्नदेव, श्रीमद्पृथ्वीदेव और श्रीमद्प्रतापमल्लदेव प्राप्त होता है।[17]

सिरपुर नगर स्थल के प्रथम चरण के उत्खनन में रतनपुर के कलचुरि शासक रत्नदेव की 106 ताम्र मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। इन मुद्राओं की स्थिति अत्यंत खराब है। प्रायः इन मुद्राओं के अग्रभाग पर राजा का नाम ‘‘श्री मद्रत्न (भद्-रत्न) देव‘‘ तथा पृष्ठभाग पर कुछ अस्पष्ट आकृति होती है जिसे विद्वानों ने घोड़ा, हाथी या हनुमान माना है।[18]

द्वितीय चरण में हुए उत्खनन से भी कलचुरि शासकों की 230 से अधिक मुद्राएं प्राप्त हुई है। इनमें उपरोक्त वर्णित चारों शासकों की मुद्राएं है। अधिकांश मुद्राएं खराब स्थिति में होने के कारण सभी का अध्ययन संभव नहीं है। अधिकांश कलचुरि मुद्राओं पर गजशार्दूल का अंकन ही प्राप्त होता है किन्तु कुछ मुद्राओं पर हनुमान, सिंह के साथ कटार आदि भी प्राप्त होते है। सिरपुर से प्राप्त कुछ मुद्राएं जिन पर स्पष्ट अंकन व मुद्रालेख प्राप्त होते हैं। उनका विवरण निम्नलिखित है-

1. शासक - जाजल्लदेव
   धातु - ताम्र
   वज़न - 2.203 ग्राम (34 ग्रेन)
   व्यास - 1.3×2 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग पर शासक का नाम नागरी लिपि में श्रीम जाजल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग पर चतुर्भुजी देवी की आकृति का अंकन है। मुद्रा में वर्तुलाकार बिंदुओं का घेरा है। देवी का बांया पैर स्थानक तथा दांया पैर उठा हुआ। देवी का मुख दांयी ओर है और वह जूड़ा धारण किए हुए हैं। जूड़े पर किसी आभूषण की आकृति भी अंकित है। देवी के शरीर में वक्ष और नाभि की आकृति स्पष्ट दिखाई दे रही है। देवी के दांयी तरफ दो हाथों का अंकन है। दांयी तरफ ऊपर के हाथ में एक गोल आकृति का अंकन है तथा नीचे का हाथ ऊपर की ओर मुड़ा हुआ है। संभवतः इसमें भी कोई वस्तु का अंकन था जो अब अस्पष्ट है। बांयी तरफ केवल एक हाथ का स्पष्ट अंकन प्राप्त होता है। दूसरा हाथ अस्पष्ट है। देवी बांये हाथ में सनाल कमल कली पकड़े हुए अंकित है। कमल के ऊपर एक सीधी रेखा का अस्पष्ट अंकन प्राप्त होता है संभवतः यह देवी द्वारा अपने चतुर्थ अस्पष्ट हाथों से पकड़ी हुई कोई वस्तु हो।

2. शासक - जाजल्लदेव
धातु - ताम्र
वज़न - 2.33 ग्राम (36 ग्रेन)
व्यास - 1.7 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग पर नागरी लिपि में शासक का नाम श्रीम जाजल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग के चिन्ह बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। अस्पष्ट अंकनों से ज्ञात होता है कि यह उड़ते हुए हनुमान की आकृति है। हनुमान को द्विभुजी दिखलाया गया है जिसका बांया हाथ ऊपर की ओर मुड़ा हुआ है। संभवतः इसमें पर्वत का अंकन रहा होगा जो अब अस्पष्ट है।

3. शासक - जाजल्लदेव
धातु - मिश्रित धातु
वज़न - 3.75 ग्राम (58 ग्रेन)
व्यास - 1.8 × .2 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर चारों ओर बिन्दुओं का घेरा, बीच में गजशार्दूल का अंकन तथा इसके दायीं ओर ब्राह्मी ''मा'' की आकृति का अंकन है। पृष्ठभाग पर नागरी लिपि में मुद्रालेख श्रीमतजाजल्लदेव अंकित है।

प्रतापमल्लदेव की इसी प्रकार की एक और मुद्रा की प्राप्ति हुई है। यह मुद्रा भी ताम्र धातु की है किन्तु इसका वज़न ऊपर अंकित मुद्रा से आधा अर्थात 1.29 ग्राम (20 ग्रेन) है।

4. शासक - पृथ्वीदेव
धातु - ताम्र
वज़न - 3.37 ग्राम (52 ग्रेन)
व्यास - 2×2 से.मी.

मुद्रांकन - इस मुद्रा के अग्रभाग में दो रेखाओं में मुद्रालेख श्रीमत पृथ्वीदेव नागरी लिपि में अंकित है। पृष्ठभाग पर बिंदुओं से सजे हुए किनारों पर द्विभुजी देवी की आकृति का अंकन है जो मुकुट धारण किए हुए है। जिसका दांया पैर थोड़ा उठा हुआ और बांया पैर स्थानक मुद्रा में है। देवी के बांयी ओर त्रिशूल और पाश का अंकन है। दांया हाथ ऊपर की ओर तथा बांया हाथ भी मुड़ा हुआ है। नीचे किसी पशु का अंकन है जिसकी केवल पूंछ देवी के दांयी, नीचे की ओर दिखाई दे रही है। शेष आकृति फ्लैन (Flan) के बाहर चली गई है। संभवतः यह पशु आकृति सिंह की है। देवी के बांयी तरफ नीचे की ओर एक अस्पष्ट अंकन भी दिखाई देता है।

5. शासक - प्रतापमल्लदेव

धातु - ताम्र

वज़न - 2.59 ग्राम (40 ग्रेन)

व्यास - 2.1 × .1 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर चारों ओर बिन्दुओं का घेरा दांयी ओर मुख किये सिंह की आकृति, सिंह के सामने गोल आकृति जिसके चारों ओर अर्धचंद्र और ऊपर की ओर कटार का अंकन प्राप्त होता है। पृष्ठभाग पर नागरी लिपि में तीन रेखाओं में मुद्रालेख श्रीम(त)प्रतापमल्लदेव अंकित है।

6. शासक - प्रतापमल्लदेव

धातु - ताम्र

वज़न - 1.45 ग्राम (22 ग्रेन)

व्यास - 1.4 से.मी.

मुद्रांकन - मुद्रा के पुरोभाग पर तीन रेखाओं में मुद्रालेख श्रीम(त)प्रतापमल्लदेव अंकित है। पृष्ठभाग पर चारों ओर बिन्दुओं के घेरे के अंदर दांयी ओर मुख किये सिंह की आकृति का अंकन है। सिंह के सामने एक अस्पष्ट गोल आकृति का अंकन है ।

इसके अतिरिक्त और भी कई मुद्राएं प्राप्त हुई है, जिन पर क्षरण के कारण अंकन बहुत ही अस्पष्ट हैं, जिनका वर्णन करना मुश्किल है। कई मुद्राओं के पुरोभाग के मुद्रालेख अस्पष्ट है फिर भी उन्हें पढ़ा जा सकता है। ऐसी मुद्राओं पर मुद्रालेख जाजल्लदेव, रत्नदेव और पृथ्वीदेव पढ़ा गया है। किन्तु इन मुद्राओं के पृष्ठभाग पर अंकन पूर्णतः अस्पष्ट है। अधिकांश मुद्राओं में गजशार्दूल की आकृति प्रतीत हो रही है, कुछ मुद्राओं पर कटार या तलवार की आकृति भी प्रदर्शित है।

इस प्रकार सिरपुर से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि ये मुद्राएं इस क्षेत्र के साँस्कृतिक अनुक्रम के निर्धारण में तो सहायक है ही, साथ ही यहां से प्राप्त कलचुरि मुद्राओं के कुछ नवीन प्रकारों पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसका उल्लेख शायद ही पहले कहीं हुआ है। अतः इन मुद्राओं से कलचुरि राजवंश के इतिहास और तत्कालीन समाज में उसके प्रभाव से व्यापक प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अधिक संख्या में कलचुरि मुद्राओं का मिलना यह प्रमाणित करता है कि कलचुरि काल में सिरपुर एक प्रमुख ऐतिहासिक स्थान रहा होगा। सिरपुर से प्राप्त मुद्राओं की खराब स्थिति के कारण अधिक मुद्राओं का अध्ययन नहीं हो पाया है, अतः इनके रासायनिक संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, 7, पृ. 186-93
2. उपरोक्त, 17, पृ.- 26, पुरामंथन, क्रमांक-05, नई दिल्ली, 2009, पृ. 01
3. ट्रवेल्स ऑफ़ ह्वेनसांग पृ. 415
4. दि एन्शियंट जियोग्राफी ऑफ़ इण्डिया, पृ. 439
5. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-09, पृ. 281,
6. उपरोक्त, भाग-34, पृ. 52,
7. उपरोक्त, भाग-31, पृ. 314,

8. उपरोक्त, भाग-34, पृ. 111
9. उपरोक्त, भाग-31, पृ. 219
10. उपरोक्त, भाग-27, पृ. 319,
11. उपरोक्त, भाग-27, पृ. 287
12. उपरोक्त, भाग-35, पृ. 60
13. टी. वाल्टर, ऑन वुआन च्वांग ट्रवेल्स इन इण्डिया, भाग-02, नई दिल्ली, 1973, पृ. 200-201
14. श्रीवास्तव, एम. सी. सिरपुर, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1984, पृ. 11, 56
15. उपरोक्त, पृ. 56
16. इंडियन आर्कियोलाजी, 1955-56, पृ. 27
17. निगम, एल. एस., क्वायनेज ऑफ़ छत्तीसगढ़, पृ.13
18. इंडियन आर्कियोलाजी, 1955-56, पृ. 27

CHALCOLITHIC CULTURE
IN
SARYUPAR REGION OF UTTAR PRADESH

Dr. Sandeep Kumar Chaudhary

The Saryupar region, lying between geodetic co-ordinates $26^0$05' to $28^0$30'N and $80^0$57' to $84^0$09' E, is basically located in the foothills of the Shivalik range of Himalayan in Middle Gangetic Plain of eastern Uttar Pradesh. It touches the International boundary of Nepal in the north; its western and southern sword shape boundary is delimited from river Ghaghra (Saryu) and the eastern boundary is demarcated by river Gandak. It has a maximum length of 260 km from east to west and a width of 160 km from north to south, covering an area of 33000 km.[1] The Saryupar plain encompasses eleven districts of Uttar Pradesh i.e. Bahraich, Gonda, Sravasti, Balrampur, Basti, Siddarthnagar, Sant Kabir Nagar, Maharajganj, Gorakhpur, Deoria and Kushinagar.

The Saryupar region was a part of Kosal *Mahajanpada*[2] during buddhsit period, which is mentioned as one of the sixteen countries (*Mahajanpadas*) in Panini's *Astadhyayi* (4.1.171). According to *Satapatha Brahmana* (I,4,11) it is located to the east of Kurus and Panchalas and to the west of Videhas and the river Sadanira (Gandak) as forming a border between Kosala and Videha Janpadas during later Vedic age.

The Chalcolithic culture is the following culture of Neolithic in India. The remains of Chalcolithic period have been investigated before few decades in Saryupar region by DDU Gorakhpur University, Gorakhpur, Banaras Hindu University, Varanasi and Directorate of UP State Archaeology, Lucknow. The Chalcolithic culture was identified first at Chirand (Bihar) during 1968-69 in middle Ganga plain and Sohgaura during 1974-75 in Saryupar region. Thereafter several sites related to Chalcolithic period have been discovered in Saryupar region of middle Ganga plain. Some of these explored sites have been excavated by different archaeological agencies. There is no cultural hiatus between Neolithic and Chalcolithic cultures in this region and progressive evolution from the earlier to the later has been showed at several sites in middle Ganga plain as well as in Saryupar region.

During 6400-4050 years BP, member of Fabaceae coupled with the advent of *Madhuca Indica* (Mahua) indicates the establishment groves of tropical deciduous forests interspersed with stretches of open grassland vegetation as a consequence of intensification of monsoon rainfall with the onset of this phase.[3] In the presence of Cerealia with other cultural pollen *taxa*, the agricultural prosperity might have occurred with the influence of a dispensation of favorable climatic conditions in this region.[4] During 4050 to 1300 years BP, the enhancement in the vegetation mosaic and arboreals indicates average monsoon rainfall in this region and induced land, suitable for growth of tree.[5] The favorable ecological condition such as alluvial land, climate and natural resources were generally for the beginning, development and dispersal of the Chalcolithic culture in Saryupar plain.

Archaeological explorations in this region have brought into light numerous Chalcolithic sites Gularihwa Ghat[6], Susipar[7], Badagaon[8], and Gerar[9], Deoraon[10] (districts Basti); Lahuradewa[11], Chhitahi[12], Deokali Kalan[13], Ghorhat[14], Haisar Bazar[15], Jamuhat[16], Jhanki Chak Beldua[17], Maghar[18], Mahakharpur[19], Natwa[20], Nathnagar[21], Parbatva[22], Pachara[23], Pipari[24], Unsara[25], (Sant Kabir Nagar district); and Sohgaura[26], Narhan[27], Imlidih-Khurd[28], Dhuriapar[29] (Gorakhpur district). Among them, Deoraon, Kodra, Gerar and Kope (district Basti); Tithali, Ghorhat, Jamuhat, Muriapar and Nathnagar (district Sant Kabir Nagar); and Daniapar and Baundihar (district Siddharthnagar), are also explored/re-explored by me.

Although, the Chalcolithic culture in the Saryupar region was identified first from Sohgaura. But the Chalcolithic culture of Saryupar region assigned as Narhan culture by the excavator of Narhan, which has remarkable settlement of Chalcolithic period in the region. Some Chalcolithic settlements of Saryupar region have been excavated by different archaeological agencies. These are as under—

Sohgaura

The site Sohgaura[30] (26º31′30″ N; 83º25′25″ E) is located about 32 km southeast of district headquarters of Gorakhpur, near the confluence of Rapti and Ami rivers. It is excavated by G C Pande in 1961-62 and 1974-75 by S N Chaturvedi of University of Gorakhpur, Gorakhpur. The excavations revealed six cultural periods— Neolithic to Medieval at the site.

The period II and III of Sohgaura belongs to Chalcolithic period and the cultural deposit of period II was 55 cm. It represented by black-and-red ware, black slipped ware, burnished grey ware and red ware. But the earlier cord-impressed and rusticated wares also continued in the period II. The black slipped ware represented by painting in white with vertical lines including the shapes of bowls and jars. The black-and-red ware potsherds were represented by slipped and plain varieties and sometimes burnished surface. The main shapes of this variety were bowls, vases and jars. Red ware represented by slipped and plain both variety with the shapes of bowls, basins, jars and perforated pots with legs.

Period III[31] represented by black-and-red ware having burnished reddish-chocolate slip of the exterior, painted with rows of dots and dashes patterns in ochre colour or short stroke in dirty white colour. These painting motif patterns were enclosed to incised cavities. In the upper level of the deposit of this period have fine variety of black-and-red ware painted with linear patterns including the shapes of bowls and lipped bowls and the other shapes were vases in coarse variety. The black slipped ware and red ware potsherds same as period II. Some of grey ware sherds were painted in black colour with vertical lines. Working floor and oven were found during the excavation. A polished bone arrowhead was also found.

Narhan

Narhan[32] (26º23′48″ N; 83º23′16″ E) is situated on the left bank of the river Ghaghra and 63 km to the south of the district headquarters of Gorakhpur. The site had been excavated by P Singh, Banaras Hindu University, Varanasi, during field seasons 1984-85 to 1988-89.

The excavations revealed five cultural periods, of which period I belongs to Chalcolithic period (Narhan Culture) and the thickness of its cultural deposit was approximate 01 m. The Chalcolithic culture of Narhan was represented by black-and-red ware and black slipped ware, sometime painted in white colour including the shapes of bowls, basins and vases in fine to medium fabric.

The remains of post-holes and wattle-and-daubs, pottery hopscotches used as toy-cart wheel, bone points, terracotta beads, balls, dabbers, and stone ball were other findings of this period.[33]

Dhuriapar

The archaeological site Dhuriapar[34] (26º25′25″ N; 83º14′30″ E) is situated on the left bank of river Kuwana and 50 km to the south of the district headquarters of Gorakhpur. The site was excavated in 1990-91, by P Singh, of Banaras Hindu University, Varanasi. The excavation revealed four cultures— Narhan culture (Chalcolithic) to Medieval period, at the site.

Perid I of Dhuriapar belongs to Chalcolithic period, which is represented by black-and-red ware including the shapes of bowls-on-stand, basins and vases in fine to medium fabric, occasionally painted in white with linear pattern; black slipped ware in fine fabric including the shapes of bowls and dishes; and bowls and vases of red ware. Few sherds of cord-impressed red ware and a handmade bowl of grey ware were also reported.

Terracotta beads, balls; hopscotches and bone points and comb were the other finds of period I of the site.

Imlidih-Khurd

The site Imlidih-Khurd[35] (26º30′30″ N; 83º12′05″ E) lies on the left bank of the river Kuwana (Kuano) in district Gorakhpur, on the boundary of districts Gorakhpur and Sant Kabir Nagar. The site has been excavated by P Singh of Banaras Hindu University, Varanasi during field seasons 1991-92, 1992-93 and 1995-96. The excavations revealed three cultural periods— Pre-Narhan (Neolithic) to Northern Black Polished Ware periods.

Period II of the site belongs to Narhan culture (Chalcolithic period), which is represented by black-and-red ware including the shapes of bowls, dishes-on-stand and lipped basins painted in white and vase in fine fabric. Some of the potsherds of such ware have been burnished. Black slipped ware represented by miniature vases (*lota*), some of these painted with vertical line on the neck and red ware in fine to coarse fabric.

Bone points, pottery hopscotches, terracotta beads, copper beads and arrowhead, steatite beads were the other important findings of this period.[36]

Lahuradewa

Lahuradewa[37] (26º46′00″ N; 82º57′00″ E) is located 16 km to the west of the district headquarters of Sant Kabir Nagar. The site has been excavated in 2001-02 to 2003-04 and 2005-06 by Rakesh Tewari *et al* of the Directorate of UP State Archaeology, Lucknow. Remains of five cultural periods— Early Farming (Neolithic) to Early Historic period, has been obtained from the excavations.

Period IB and period II of Lahuradewa assigned as Early Farming and Developed Farming phases by the excavator. On the basis of cultural remains reported by the excavator, it must have been associated with Chalcolithic period.

Period IB evinces continuity from the Period IA along with some decorative features. The qualitative advancement is seen in the varieties of coarse red ware, black-and-red ware and few potsherds of grey ware and black ware almost in the same forms and quantity. Except fabric of the wares, which is medium, according to technique of making them there is no change from the preceding phase, Period IA. There is variety in the shape of bowls as perforated legged bowls, channeled bowls, knobbed bowls; bowls/dishes-on-stand and spouted vases.

The Chalcolithic people of sub-period IB also lived in wattle-and-daub houses/huts as indicated by burnt nodules bearing reed and straw marks, mud floors and post-holes. The other important finding of sub-period IB comprises copper sheet arrowhead and a fishhook from the lower level. These copper objects are similar to those in Early and Mature Harappan context and the excavator suggests that there were some cultural contacts in this period between middle Ganga plain and Harappan region.[38] and another fragmented copper object like clamp; terracotta bead and sling ball; fragment of bone/antler bangle; a bone awl; a small stone scraper; beads of steatite, carnelian and semi-precious stones. Carbonized archaeobotanical remains of wheat, barley, lentil and field pea, including wild and domesticated rice were found. Charred and uncharred faunal remains, some of them having cut-marks, were recovered.[39]

Period II of Lahuradewa assigned as Developed Farming Phase with the cultural deposit of 1.50 m by the excavator, but the archaeological remains of this strata would have been seems of Chalcolithic period. It is represented by plain and painted black-and-red ware, black slipped ware and red ware with the presence of earlier wares. Some of the principal ceramic types were burnished. The main ceramic types dishes-on-stand, bowls-on-stand, pedestal bowls, perforated legged vessels etc. The painting motifs executed in white/creamy white pigment on black slipped ware, while decorative motifs occurred in ochre and black pigments on black-and-red ware potsherds. The geometric and linear patterns were main decorative pattern.

Copper fishing-hook and arrowhead, bone arrowheads, steatite disc shaped beads; stone pestle, sharpeners, balls and pounders; and terracotta objects were the other remains recovered from the excavations.

Deoraon (26º45'34'' N; 82º45'17'' E)

The site Deoraon is located 02 km northwest of Siswania in district Basti. A trial excavation was conducted at this site by B R Mani of Archaeological Survey of India (during the excavations at Siswania).[40] According to excavator, the chronology of this site is same as Siswania. The period I of Deoraon belongs to Pre-Northern Black Polished Ware period.

But during my visit at the site, I have found corded ware, black-and-red ware, black slipped ware, grey ware (occasionally burnished), slipped and plain red ware as ceramic assemblage; and some lithic assemblage in the form of raw materials, flakes, chips etc from the surface of the site.[41] On the basis of my analysis the period I of Deoraon seems to be of

Chalcolithic period in the absence of painted sherds of black-and-red ware. Incidentally, the painted black-and-red ware have been neither reported by the trail digging nor found during the surface exploration.

Kodra (27º00'05" N; 82º44'33" E)

The site Kodra[42] is situated in the vicinity of horse-shoe lake, locally known as Puraina *tal*, to the north of the district headquarters of Basti at a distance of 28 km. The site is scattered over an area of 25 hectares with the approximate elevation of 2.5 m. from the surrounding ground surface. The site comprises potsherds of cord-impressed red ware, black-and-red ware in fine fabric, black slipped ware in fine to medium fabric, grey ware in fine fabric, and red ware in medium to coarse fabric. Some potsherds bear design of rope pattern and nail headed in appliqué.

The site also revealed lithic assemblage, such as raw material, flakes and chips. The burnt wattle-and–daub has been also found from the surface of the site. According to these remains, the earliest habitation of the site belongs to Chalcolithic period. Unfortunately, the painted black-and-red ware, the prime ceramic tradition of Chalcolithic culture, have been not found during the exploration, but other remains of the site belongs to this period.

Ceramic Tradition

The ceramic assemblage of Chalcolithic period of Saryupar region consists of black-and-red ware, black slipped ware, red ware and grey ware. These ceramic types have been reported from the excavated sites associated to the Chalcolithc culture. The potsherds are generally wheel turned though handmade sherds also reported from the excavated sites of the region. In the manufacturing of pots, the Chalcolithic people of this region did not use well levigated clay. Whereas the clay contains small grits; rice-husk, sand and mica dust have sometime been used as degraissant.

The principal ceramic assemblage of Chalcolithic culture of the region is black-and-red ware (plain and painted both varieties). The painting was executed in white, cream, brownish and occasionally in reddish colour. The painting motifs were executed over the blackish surface on the interior or exterior and sometimes on both the surfaces. This process constitutes a salient feature of the Chalcolithic culture of Saryupar region. The types of painting motifs are generally in linear patterns— straight lines, oblique stokes and wavy lines; dots, dashes, semi-circle etc. The black-and-red ware have been reported from Sohgaura period II and III, Narhan period I, Imlidih-Khurd period II, Dhuriapar period I and Lahuradewa period IB and II. The potsherds in this variety have been found in fine to medium fabric. Occasionally, it was burnished also. The main shapes of this variety were bowls, pedestalled bowls, lipped/channeled bowls, bowls-on-stand, dishes-on-stand, basins, vases and jars.

The black slipped ware, another important ceramic assemblage represented from the excavated sites has also been found in plain and painted at Sohgaura, Narhan, Imlidih-Khurd and Lahuradewa. The painting is executed in white or creamy white or black pigments on the outer or inner surface. The painting motifs executed in the form of vertical and horizontal lines,

straight or oblique strokes, dots, wavy lines, lattice, oblique or slanting lines, and concentric arcs. The main shapes are bowls, globular vases, *lota* etc in fine to medium fabric.

In the association of these two ware, grey ware and red ware (slipped and plain both) in fine to coarse fabric have been reported from the excavated sites of the region. Of which, the red ware is in majority from all the excavated sites with slipped and unslipped surfaces. The red ware may be divided into sub-categories of the basis of fabric, shades, surface treatment and also in the manner of decorations. Generally painting motifs were executed over the reddish surface in black colour. The painting motifs are represented by vertical bands, oblique bands, single or group of horizontal bands. A few sherds of red ware bear painting in ochre colour, reported from Narhan.

Except painting, the red ware is decorated with incised, appliqué, knobbed and corded patterns. The incised pattern executed on the exterior surface of the pots contains linear patterns, series of dots and strokes, chevron, *zig-zag*, wavy lines, *criss-cross* etc. In-applique, thumbnail impression forming rope pattern on the potsherds have been reported from excavated sites of the region. The main shapes of this ware were perforated legged bowls, basins, vases, jars, *handis*, etc.

Subsistence Pattern

The survival of Chalcolithic culture was principally based on the agriculture. The archaeobotanical remains obtained from the excavated sites of the Saryupar region provide a rough idea for survival of the Chalcolithic people. A good number of archaeobotanical remains have been reported from Narhan[43], Imlidih-Khurd[44] and Lahuradewa.[45]

The cultivated rice (*Oryza sativa*), Barley (*Hordeum vulgare*), club wheat (*Triticum compactum*), bread wheat (*Triticum aestivum*), dwarf wheat (*Triticum sphaerococcum*), *bajra* or pearl-millet (*Pennisetum galaucum*), kodon-millet (*Paspalum scrobiculatum*) have been identified as cereal grains. The field pea (*pisum sativum*), *mung* or green gram (*Vigna radiata*), chickpea/gram (*Cicer arietinum*), horse-gram (*Dolichos biflorus*), khesari/ grass-pea (*Lathyrus sativus*), and *Masoor* or lentil (*Lens culinaris*) have been identified as pulses. Pluses have a group of legume family, which fix the atmospheric nitrogen and improve soil fertility with the help of bacteria in their root nodules.

The remains of mustard (*Brassica campastris*), field-Brassica (*Brassica juncea*), *til* or Sesame (*Sesamum indicum*) and *alsi* or flax/linseed (*Linum usitatissimum*) have been oilseeds reported from the excavated site of the region. Fruits like wild jujube (*Ziziphus nummularia*) and anwala (*Emblica officianalis*), jack fruit or Katahal (*Artocarpus heterophyllus*), grape possibly raisin or currants (*Vitis vinifera*), date (*Phoenix dactylifera*) have been obtained from Chalcolithic culture of excavated sites of the region. The common weeds *Bathua* / Goosefoot (Chenopodium album) and foxtail-millet (Setaria glauca); seeds and leaves of *Chaulai*/ amranthus are also reported from Chalcolithic culture of the region.

Albeit the Chalcolithic people of Saryupar region chiefly based on agriculture but the faunal remains shows the meat was included in their diet. A large number of charred and uncharred animal bones and antlers have been recovered from the excavated sites of the region. Some of the specimens were chopped off (cut-mark) also. The animal bones including humped Indian cattle (*Bos indicus*), sheep, goat (*Ovis/Capra*), and remains of wild animals like deer/antelope (*Axis sp*) and horse (*Equus sp*) have been identified from Narhan.[45] Faunal remains of Domesticated cattle, sheep/goat, horse and dog; and bears, hog-deer, spotted-deer, and *Barasingha*/swamp deer of wild animals have been reported from period II of Imlidih-Khurd.[47] Except cattle (*Bos indicus*) and buffalo (Bubalus bubalis), the presence of charred bones of large cat have been especially reported from the sub period IB of Lahuradewa.[48] Charred and uncharred bone remains along with antlers were also reported from period II of Lahuradewa.

The presence of botanical remains, charred and chopped off faunal remains from Chalcolithic period of excavated sites in the area represents that they were user of both type of foods - vegetarian and non-vegetarian.

Structural Remains

he remains of post-holes, wattle-and-daub (burnt clay lumps/nodules bearing reed marks), successive floors made of rammed earth, oven and hearths have been reported from period I of Narhan.[49] The post-holes, rammed mud floor, a mud wall, wattle-and-daub, hearth and earthen storage bin were reported from period IB and II of Lahuradewa.[50] Post-holes appear in a circular alignment. On the basis of wattle-and-daub it shows that, they were made screens of huts reeds and similar material supported by mud plaster. Two types of hearths have been reported from Lahuradeva period II— pit hearths which were dug below the floor and hearths made of clay placed on the floor. The rammed earth floors, generally 05-07 cm thick, were reported from Lahuradewa.[51] Some circular structures of grain silos/storage bins were exposed either below the surface or in natural soil from period II of Lahuradewa, whose internal surface have been coated sometime with clay plaster.[52] Among them one storage bin/silo was of 85 cm in diameter with internal depth of 70 cm. The internal surface of it was plastered with varied thickness of 2.5 to 08 cm. The measurements and shape of the storage bin, reported from the same period of Imlidih-Khurd, having internal diameter 85 m and the thickness of its wall is approximate 07 cm.[53] The other structural activities reported from period II of Imlidih-Khurd are— two successive mud-floors, post-holes, silos (storage bins) and ovens.[54]

On the basis of these structural activities, it is clear that the Chalcolithic people lived in huts made of wood/bamboo, reeds and similar materials. They were made their hut screen windproof with clay plaster.

Settlement Pattern

These settlements are principally located either on the bank of the tributaries of Ghaghra, Rapti and Gandak river, rivulet (*nullah*) or on the lake side. They provided fresh water; and foods through the fishing of the aquatic animals and agriculture also. The availability of fertile land for agriculture was the main reason of selection of this plain land (middle Gangetic plain)

for settlements in ancient time. The thickness of occupational deposit of Chalcolithic period in this area is 01 m from Narahan, 55 cm from Sohgaura period II, and 50 cm from period IB of Lahuradewa.

Chronology

The chronology of Chalcolithic culture of the Saryupar region has been given on the basis of material culture and thickness of habitational deposit. It suggests that these sites were occupied for a long time. Some sites have an overlapping phase i.e. late phase of Neolithic culture overlapped with early phase of Chalcolithic and late phase of Chalcolithic culture with the Iron age/pre NBPW culture.

C^{14} dates obtained from some of the excavated sites i.e. Sohgaura, Narhan and Lahuradewa etc.

Comparative assessment of C^{14} dates from different sites of middle Ganga plain

SN	Sites	Stratigraphic Context	C^{14} Dates	Calibrated dates (BCE)
1.	Sohgaura[55]	Period II	3280 ± 130 BP 1330 ± 110 BCE	1230 1490
2.	Imlidih-Khurd	Period II	--	--
3.	Narhan[56]	Period I	1123 ± 110 BCE 930 ± 100 BCE	
4.	Lahuradewa[57]	Period I B	3750 ± 90 BP 4170 ± 180 BP	2135, 2079, 2056 2919, 2570 2345 (2273) 2200 (AMS)
		Period II		1519, 1319, 2012, 1750
5.	Khairadih[58]	Period I	3070± 90 BP 1030± 160 BCE 940± 150 BCE	
4.	Jhusi[59]	Period III	1340±90 BCE 950±90 BCE 830±90 BCE	1597 (1490, 1480, 1450) 1400 1107 (973, 956, 941) 844 966 (830), 799
5.	Chirand	Neolithic	1655±100 BCE 1585±100 BCE 1540±90 BCE 1050±85 BCE 720±105 BCE	
6.	Senuwar[60]	Transitional Phase between Neolithic and Chalcolithic	1770 ± 120 BCE 1660 ± 135 BCE 1500 ± 110 BCE 1400 ± 110 BCE	

According to these C^{14} dates, the antiquity of Chalcolithic settlements in Saryupar region goes back to 2nd millennium BCE (about 1800 BCE). The late phase of Chalcolithic period with iron may be placed between 1100 BCE to 700 BCE.

References:

1. Singh, R L, *India-A Regional Geography, National Geographical Society of India*, Varanasi, 1971, p. 129.
2. *Anguttar Nikaya*, part I, 1885, p 213.
3. Chauhan, M S et.al, Pollen records of Holocene vegetation, Climate Change and Human Habitation from Lahuradewa Lake, Sant Kabir Nagar District, Uttar Pradesh India, *Man and Environment*, XXXIV (I), 2009, pp 88-100.
4. Chauhan, *op.cit*.
5. Chauhan, *op.cit*.
6. *Indian Archaeology: A review*,2009-10, pp 119-120.
7. *Indian Archaeology: A review*, 1983-84, p 87.
8. *Indian Archaeology: A review*, 1983-84, p 87.
9. *Indian Archaeology: A review*,1990-91, pp 69-70.
10. *Ibid.*
11. Tewari, R and B R Mani, Further Archaeological Investigations in Saryupar Area, *Pragdhara*, no. 06, p 159; Tripathi, Krishnanand, A note on the Archaeological remains collected from the Lahuradewa mound, *Pragdhara*, no 13, pp 69-72.
12. *Indian Archaeology: A Review*, 1996-97, pp 126-135; 2009-10, p 152.
13. *Indian Archaeology: A Review*, 2009-10, p 152.
14. *Ibid*.
15. *Ibid*.
16. *Ibid*.
17. *Ibid*.
18. *Indian Archaeology: A Review*, 1963-64, p 45.
19. *Indian Archaeology: A Review*, 2009-10, p 152.
20. *Op.cit,* 2009-10, p 153.
21. *Ibid*.
22. *Op.cit,* 2009-10, p 154.
23. *Ibid*.
24. *Indian Archaeology: A Review*, 1996-97, p 135.
25. *Indian Archaeology: A Review*, 1963-64, p 45.
26. *Indian Archaeology: A Review*, 1962-63, p 56; 1974-75, pp 46-47.
27. *Indian Archaeology, A Review*, 1963-64, p 45; 1984-85, pp 89-91; 1985-86, pp 81-82; 1986-87, p 79.
28. *Indian Archaeology A Review*, 1991-92, pp 107-109; 1992-93, pp 92-93.
29. *Indian Archaeology, A Review*, 1990-91, pp 71-72.
30. *Indian Archaeology, A review*, 1974-75, pp 46-47. Chaturvedi, S N, Advance of Vindhyan Neolithic and Chalcolithic Cultures to the Himalayan Tarai: Excavations and Explorations in the Saryupara Region of Uttar Pradesh, *Man and Environment*, XI, 1985, pp 102-108.
31. Chaturvedi, *op.cit*.
32. Singh P et.al, Excavations at Narhan 1983-85, *Puratattva*, no 15, pp 117-120.
33. Singh P et.al, 1984-85, *op.cit*.
34. *Indian Archaeology A review*, 1990-91, pp 71-72.
35. *Indian Archaeology A review*, 1991-92, pp 107-109; Singh, P, 1992-93, Archaeological Excavations at Imlidih Khurd- 1992, *Pragdhara*, no 03, pp 21-35.
36. *Indian Archaeology A review*, 1991-92, pp 107-109; Singh, P, 1992-93, *op.cit*.

37. Tewari R, *et al*, 2001-02, 'Excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar (UP)', *Puratattva* No. 32, pp 54-56; Tewari, R, *et al*, 2002-03, 'Preliminary Report of the Excavation at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar, UP 2001-2002 wider archaeological implications', *Pragdhara*, No, 13, pp 37-68; Tripathi, Krishnanand, 2002-03, 'A note on the Archaeological remains Collected from the Lahuradewa mound', *Pragdhara*, No. 13, pp 69-72; Tewari, *et al*, 2005-06, 'Second Preliminary Report of the excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar, U P: 2002-2003-2004 & 2005-06', *Pragdhara*, No 16, pp 35-68; Tewari, et al, 2005-06, Further Excavations at Lahuradewa, District Sant Kabir Nagar (U.P.) 2005-06: Preliminary Observations, *Puratattva*, no 36, pp 68-75.
38. Tewari, *et al*, 2005-06, *op.cit*.
39. Tewari, R, *et al*, 2001-02, *Pragdhara, op.cit*.
40. *India Archaeology, A review*, 1995-96, p 86.
41. Chaudhary, Sandeep Kumar, *Palaeoenvironment and Ancient Settlement Pattern along river Kuwana (Kuano)*, Lucknow, 2016, pp 45-48.
42. Chaudhary, *op.cit*, pp 58-61; Srivastava, D K and S K Chaudhary, Kodra: An ancient Settlement near Ox-bow Lake in Saryupar Plain, *Kosala*, no X, 2017, pp 119-124.
43. *Indian Archaeology, A Review*, 1985-86, p 123; 1987-88, p 151, Saraswat, KS et al, Plant economy at ancient Narhan, In Singh, P. (Ed.), *Excavations at Narhan* (1984-89), 1994, Delhi, pp. 255-346.
44. *Indian Archaeology, A review*, 1992-93, p 93; Saraswat, KS, 1992-93, Seed and Fruit remains at Ancient Imlidih-Khurd, Gorakhpur: A preliminary Report, *Pragdhara*, no 03, pp 37-41.
45. Tewari, R, *et al*, *op.cit*.
46. *Indian Archaeology, A review*, 1984-85, p 90.
47. *Indian Archaeology, A review*, 1992-93, p 93.
48. Tewari, R, *et al*, 2001-02, *Pragdhara*, *op.cit*.
49. *Indian Archaeology, A review*, 1984-85, p 90; 1985-86, p 81.
50. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
51. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
52. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*.
53. Singh, P, 1992-93, *op.cit*.
54. Indian Arcaeology, A review, 1992-93, p 93.
55. *Indian Archaeology, A review*, 1974-75, p 76.
56. *Indian Archaeology, A review*, 1988-89 p 110.
57. Tewari Rakesh *et al*, 2002-2003, *op.cit*; 2005-06, *op.cit*.
58. Singh, BP, Khairadih- A Chalcolithic Settlement, *Puratattva*, no 18, 1989, pp 28-34.
59. Mishra, VD, JN Pal and MC Gupta, Further Excavations at Jhusi (1998-99), *Pragdhara*, no 10, 1999-2000, p 28.
60. Singh, BP, Early Farming Communities of Kaimur Foot-Hills, *Puratattva* no 19, 1988-89, p 18.

ग्रामीण समाज में पारम्परिक कृषि पद्धति के महत्व का अध्ययन (छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगाँव जिले के संदर्भ में)

एस. कुमार
डॉ. सपना शर्मा सारस्वत

मुख्य शब्द- पारंपरिक, कृषि, पशुपालन, गोबर खाद।

प्रस्तावना - भारत गाँवों का देश है क्योंकि आज भी हमारे देश की कुल जनसंख्या का लगभग 68.84 प्रतिशत, 83.3 करोड़ (2011 के जनगणना के अनुसार) से अधिक भाग ग्रामीण समाज में ही निवास करता है भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि 54.6 प्रतिशत आबादी कृषि और उससे संबंधित कार्यों में लगी हुई है अतः भारत में ग्रामीण जीवन का अत्यधिक महत्व है। ग्राम या गाँव कोई नवीन शब्द नहीं है क्योंकि आदिकाल से ही इसका प्रयोग सामाजिक संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने वाले संगठन के रूप में किया जाता रहा है। गाँव के लिए पहले 'ग्रिह' अर्थात 'गिरोह' अथवा झुण्ड तथा 'याली' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता था यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि आखिर गाँव किसे कहते हैं तथा इसकी प्रकृति कैसी है? प्रमुख विद्वान गाँवों में समान्यतः मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य निकट प्रत्यक्ष व घनिष्ठ संबंधो का पाया जाना अनिवार्य मानते हैं। सिम्स के अनुसार गाँव वह नाम है'' जो साधारणतया प्राचीन कृषकों की बस्ती को दर्शाता है।'' ग्रामों या गाँवों का धीरे-धीरे विकास हुआ और वहाँ के निवासी ग्रामीण तथा कृषक कहलाये। इसी आधार पर गाँवों में निवास करने वाला निवासी ग्रामीण तथा कृषक कहलाएँगे। इसी आधार पर गाँवों में निवास करने वाला समाज ग्रामीण अथवा कृषक समाज कहलाता है।[1]

ग्रामों में ही कृषि कार्य की उत्पत्ति तथा प्रारंभ हुआ, गाँव में कृषक अपने पूर्वजों के द्वारा सिखाए गये विधियों और तरीकों को अपना कर कृषि कार्य करते थे परन्तु आधुनिक समाज के संपर्क के आने से गाँवों में कृषि कार्य अब आधुनिक तरीकों से किया जाने लगा है। रासायनिक खाद व उर्वरकों, रासायनिक कीटनाशकों तथा आधुनिकतम संकर बीजों का प्रयोग कृषि कार्यों में होने लगा है। पहले कृषि कार्य कृषक अपने उपलब्ध संसाधनों के माध्यम से करता था, कृषि कार्यों हेतु बैल, हल, कुदाल, आदि का प्रयोग करता था साथ ही खाद का निर्माण भी खुद ही करता था जो कि बहुत ही गुणवत्तापूर्ण तथा मृदा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभकारी होता था, खाद निर्माण हेतु गोबर का प्रयोग तथा चारे के अपशिष्ट व कृषि अपशिष्टों का प्रयोग कर घुरूवा (खाद निर्माण करने का गड्ढा) में एकत्रित करता था तथा प्रतिदिन निकलने वाले घर तथा पशुओं के अपशिष्ट गोबर, गोमूत्र आदि को उस गड्ढे में एकत्रित किया जाता था। इससे जैविक खाद निर्मित कर खेतों में उसका प्रयोग करता है, परन्तु कृषकों का आधुनिक खेती के प्रति आकर्षण ने परम्परागत कृषि तकनीकों तथा विधियों को विलुप्ति के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। पर्यावरण तथा समाज पर कृषि के आधुनिक तरीकों के नकारात्मक प्रभाव को देखते हुए, बहुत से वैज्ञानिक तथा कृषक आन्दोलन अब कृषि के पारम्परिक तरीकों तथा अधिक सावयवी बीजों के प्रयोग की ओर लौटने की सलाह दे रहे हैं। बहुत से ग्रामीण लोग स्वयं विश्वास करते हैं कि संकर किस्म, पारम्परिक किस्मों से कम स्वस्थ होती है।[2]

कृषि की ऐसी प्राचीन शैली जिसमें स्वदेशी ज्ञान, पारंपरिक उपकरण, प्राकृतिक संसाधनों, जैविक उर्वरक और किसानों की सांस्कृतिक मान्यताओं का गहन उपयोग हो उसे पारंपरिक कृषि कहते हैं। संयुकत राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार, विश्व में 250 मिलियन से अधिक आबादी अपनी जीवन निर्वाह के लिए इसी प्रकार की कृषि पर निर्भर है।[3]

भारत में अभी भी विभिन्न कृषि पारिस्थितिक दशाओं में प्राचीन परम्परागत कृषि पद्धति के कुछ अवशेष विद्यमान हैं, जिन्हें पुनर्जीवित, संशोधित व सम्वर्धित करके पोषणीय कृषि के आधार को सशक्त किया जा सकता है। परम्परागत कृषि पद्धति में स्थायी कृषि/टिकाउ खेती की संभावनाएँ छिपी हुई है।[4]

भारत में जैविक खेती की परंपरा और महत्व आरम्भ से ही रही है। पूर्ण रूप से जैविक खादों पर आधारित फसल पैदा करना जैविक कृषि कहलाता है। दुनिया के लिए भले ही यह नई तकनीक हो, लेकिन देश में परंपरागत रूप से जैविक खाद पर आधारित खेती होती आई है। जैविक खाद का इस्तेमाल करना देश में परंपरागत रूप से होता रहा है।[5] परम्परागत कृषि तकनीकें अनुभव आधारित, पारिस्थितिकी की मांग के अनुरूप, स्थानीय सभ्यता से जुड़ी, कृषक समाज में स्वीकार्य एवं सस्ती होती हैं। अतः ये कृषि के लिए लाभकारी होती हैं।[6]

शोध अध्ययन का उद्देश्य:-

1. परम्परागत कृषि तकनीकों एवं विधियों के प्रति ग्रामीणों के ज्ञान, दृष्टिकोण तथा व्यवहार का विश्लेषण करना है ।
2. ग्रामीण समाज में विद्यमान पारंपरिक कृषि पद्धतियों का विश्लेषण करना।

शोध क्षेत्र एवं प्रविधि-प्रस्तुत अध्ययन में छत्तीसगढ़ राज्य के राजनांदगॉव जिले के विकासखण्ड क्रमशः छुईखदान, खैरागढ़ एवं राजनांदगॉव के10 - 10 ऐसे ग्राम पंचायतों का चयन किया गया है जहॉ सुराजीगॉव योजना का क्रियान्वयन किया जा रहा है, सुराजीगॉव योजना के माध्यम से कृषि के पारंपरिक एवं प्राकृतिक संसाधन नरवा, गरूवा, घुरूवा और बाड़ी को संरक्षण एवं संवर्धन का कार्य किया जा रहा है। आदर्श संख्या प्रति ग्राम पंचायत 15 मानते हुए कुल 450 सूचनादाताओं का चयन सुविधामूलक उद्देश्यपूर्ण निदर्शन प्रक्रिया द्वारा संपादित किया गया है। प्रत्येक ग्राम से ग्राम गौठान समिति एवं महिला स्वयं सहायता समूह के सदस्य जो ग्राम गौठान में कार्यरत हैं को सूचनादाता के रूप में चयन किया गया है।

प्राथमिक समंको को एकत्र शोधकर्ता द्वारा साक्षात्कार अनुसूची तैयार करके साक्षात्कार विधि द्वारा किया गया है। द्वितीयक समंको का संकलन प्रकाशित अप्रकाशित अभिलेखों के माध्यम से किया गया है। एकत्रित आंकड़ों का वर्गीकरण, सारणीयन, प्रतिशत आदि सांख्यिकी विधियों का प्रयोग करके निर्वचन किया गया है।

शोध परिणाम एवं व्याख्या -चयनित उत्तरदाताओं में से प्राप्त जानकारी को आधार बनाकर प्रस्तुत अध्ययन में परम्परागत कृषि तकनीकों एवं विधियों के प्रति ग्रामीणों के ज्ञान, दृष्टिकोण तथा व्यवहार का विश्लेषण निम्नवर्णित तालिका में स्पष्ट किया गया है।

तालिका क्रमांक 1.1

उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ

क्रमांक	गोवंशीय पशुएँ	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	369	82
2	नहीं	81	18
योग		450	100

यदि हाँ तो गोवंशीय पशुओं का नश्ल			
क्रमांक	गोवंशीय पशुओं का नस्ल	आवृत्ति	प्रतिशत
1	देशी	358	97.01
2	अन्य	8	2.16
3	दोनों	3	0.82
योग		369	100
1			
2	नहीं	81	18
योग	450	100	
यदि हाँ तो गोवंशीय पशुओं का नश्ल			
क्रमांक		गोवंशीय पशुओं का नस्ल	आवृत्ति

इस प्रकार अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वाधिक 82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ है तथा 18 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोवंशीय पशुएँ नहीं है। उसमें से सर्वाधिक 97.01 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर देशी नस्ल के गोवंशीय पशुएँ है तथ 2.16 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर अन्य नस्ल के हैं तथा 0.82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर देशी एवं अन्य दोनों नस्ल के गोवंशीय पशु हैं। सर्वाधिक 78.04 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर दूध की प्राप्ति होती है तथा 21.95 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर दूध की प्राप्ति नहीं होती है।

ग्रामीण समाज में कृषि के साथ गो-पालन प्रमुखता से पाया जाता है। पशुपालन से परिवार के आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में देशी नस्ल के गोवंशीय पशुओं की अधिकता है जिनसे दूध भी कम प्राप्त होता है तथा आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक लाभ दायक नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में नस्ल सुधार कर गो-पालन को अधिकाधिक लाभदायक बनाया जा सकता है।

आरेख क्रमांक 4.1 पशुपालन की उपयोगिता

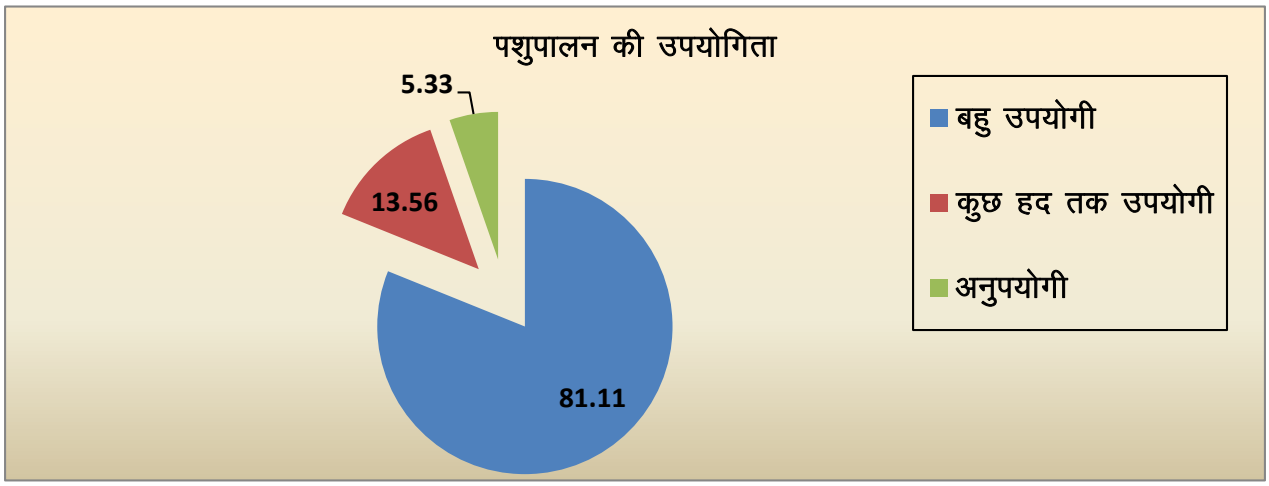

आरेख क्रमांक 4.1 से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 81.11 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने ग्रामीण समाज के लिए पशुपालन को बहुउपयोगी माना है, 13.56 प्रतिशत ने कुछ हद तक उपयोगी तथा 5.33 प्रतिशत ने अनुपयोगी माना है।

सर्वेक्षण में यह पाया गया कि पशुपालन आज भी ग्रामीण समाज का अभिन्न अंग है तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्थान रखता है। पशुपालन से कृषि पर आश्रित परिवारों को अनुपूरक आय प्राप्त होता है साथ ही पशु उत्पाद ग्रामीणों के लिए पोषणीयता का प्रमुख साधन भी है।

तालिका क्रमांक 4.2

उत्तरदाताओं के घर गोबर से खाद निर्माण किया जाना

क्रमांक	गोबर से खाद निर्माण किया जाना	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	369	82
2	नहीं	81	18
योग		450	100

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 82 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार उनके घर गोबर से खाद निर्माण किया जाता है तथा 18 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर गोबर से खाद निर्माण नहीं किया जाता है।

अतः निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण समाज में लोगों के द्वारा प्रमुखता से गोबर से खाद निर्माण किया जाता है। ग्रामीण कृषकों के लिए खाद आपूर्ति का यह अच्छा माध्यम है। ग्रामीण कृषक बहुत ही सरलता एवं सुगमता से गोबर से खाद निर्माण कर खेती-बाड़ी में उपयोग करते हैं, इससे रासायनिक खाद की निर्भरता में कमी के साथ कृषि लागत में भी कमी आती है।

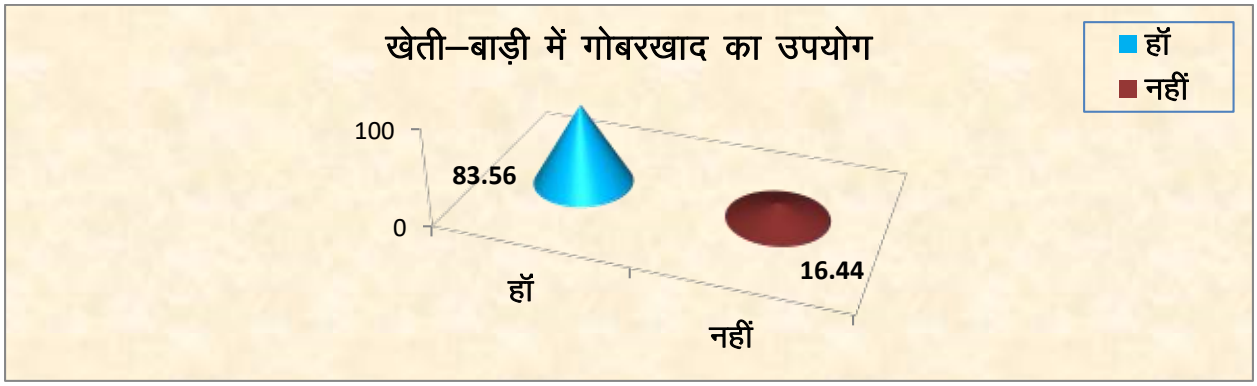

आरेख क्रमांक 4.2 खेती-बाड़ी में गोबर खाद का उपयोग

आरेख से स्पष्ट है कि 83.56 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर खेती-बाड़ी में गोबर खाद का उपयोग किया जाता है तथा 16.44 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर नहीं किया जाता है। स्पष्ट है कि ग्रामीण कृषकों द्वारा गोबर खाद का उपयोग आज भी प्रमुखता से किया जाता है। इसके बहुत से लाभ है एवं ग्रामीण कृषक उन लाभो से भली-भांति परिचित भी हैं। गोबर खाद के उपयोग को अधिकाधिक बढ़ावा देकर रासायनिक खाद के दुष्परिणामों को कम किया जा सकता है।

तालिका क्रमांक 4.3

घुरूवा खाद का उपयोग

क्रमांक	घुरूवा का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	प्रतिवर्ष	365	81.11
2	2 वर्ष के अंतराल में	19	4.22
3	कभी नहीं	66	14.67
योग		450	100

घुरूवा खाद का उपयोग संबंधी उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 81.11 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर घुरूवा खाद का प्रयोग प्रतिवर्ष किया जाता है, 4.22 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर 2 वर्ष के अंतराल में तथा 14.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं के घर घुरूवा खाद का उपयोग कभी नहीं करते है। अतः निष्कर्ष कहा जा सकता है कि ग्रामीण कृषकों द्वारा घुरूवा खाद का उपयोग प्रति वर्ष किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्र में घुरूवा खाद निर्माण तथा उपयोग प्रमुखता से किया जाता है।

निष्कर्ष:-कृषि के क्षेत्र में परंपरागत व्यावहारिक तकनीक को आधुनिक विकास के अनुरूप ढाल कर प्रयोग में लाया जाए तो कृषि लागत को कम कर कृषि को लाभकारी बनाए जाने की संभावनाएँ हैं। असिंचित क्षेत्रों में अधिकांशतः वर्तमान में पारंपरिक खेती ही की जाती है। पारंपरिक कृषि में कृषक अपने पारिवारिक साधन, श्रम और ज्ञान का प्रयोग करता है। प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में पशुपालन प्रमुखता से किया जाता है। जिससे कृषि पर आश्रित परिवारों को अतिरिक्त आय प्राप्त तो होती ही है, साथ ही पशु पोषणीयता का प्रमुख स्त्रोत भी है। ग्रामीणों द्वारा प्रमुखता से गोबर खाद बनाया जाता है, गोबर की खाद के उपयोग से मृदा की उर्वरा शक्ति बनी रहती है। मृदा कणों को आपस में जोड़कर मृदा कटाव को रोकती है। गोबर खाद के उपयोग से भूमियों की जल धारण क्षमता व पोषक तत्व धारण क्षमता उच्चकोटि की होती है। परम्परागत कृषि पद्धति को पुनर्जीवित, सवंर्धित व संशोधित करके स्थायी व टिकाउ कृषि को सशक्त किया जा सकता है। ग्रामीणों को परम्परागत कृषि पद्धतियों का ज्ञान हजारों वर्षो से करते आ रहे कृषि कार्यो से प्राप्त हुआ है। उसके लिए आवश्यक अथाह ज्ञान किसानों को एका-एक नहीं मिला, न ही किसी वैज्ञानिक द्वारा उन्हें सुझाया गया है। यह ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कारों और अनुभवों से अर्जित किए है। इस पारंपरिक ज्ञान का हस्तांतरण शीघ्र होना चाहिए नहीं तो यह व्यवहारिक ज्ञान की संपदा सदा के लिए समाप्त हो जाएगी।

संदर्भ सूची-

1. अग्रवाल अमित(2013)''भारत में ग्रामीण समाज'' विवेक प्रकाशन जवाहर नगर दिल्ली पृ.क्र.91 - 92
2. एन.सी.ई.आर.टी. (2015-16) ग्रामीण समाज में विकास एवं परिवर्तन पृ.क्र 65
3. https://www.jagranjosh.com/general-knowledge/traditional-agriculture-and-its-impact-on-the environment-in-hindi-1522411444-2
4. https://www.agriculturestudyy.com/2021/05/traditional-farming-in-hindi.html
5. **https://hi.vikaspedia.in/agriculture/policies-and-schemes**
6. बी.डी. सिंह (2019) परम्परागत कृषि तकनीकों का महत्व खेती जनवरी पृ.क्र.14

Varanasi – An Iconic Cultural Heritage city of India: Exploring its cultural Heritage tourism products and the status of tourism post covid Pandemic.

Shipra Singh Chauhan
Srishti Banerjee

Abstract

A positive effect of the Covid pandemic found on the Indian tourism industry is that our domestic tourist has now generated interest and are now more inclined to the domestic destinations rather than preferring foreign destinations. We have seen good growth in domestic tourism in recent times since the tourism industry is resumed. Though some destinations have always been on the top list of tourists before and after the pandemic, some downfall has been observed in the post-pandemic phase, in such a category falls a beautiful city of rich heritage and culture that is Varanasi which is also known for various names. In this paper, we will explore and discuss the cultural heritage tourism products of Varanasi consisting of tangible and intangible heritage products and how the scenario of tourism has changed in the post-pandemic phase. We will applyan S (Strength) W (Weakness) O(Opportunities) T(Threats) analysis to get a check on the tourism status of Varanasi. Varanasi has always been popular as a spiritual and religious tourism destination but what else one can find here willbe discussed in this paper.We will discuss our findings to promote and develop tourism in Varanasi in the post-pandemic phase.

Keywords: Heritage, cultural tourism, tangible heritage, intangible heritage, tourism product.

1. Introduction

As per the report of UNWTO, the major proportion accounted for international tourism arrival is in the form of cultural tourism. Culture has always been an integral part of tourism**.**Cultural sights, attractions, and events provide an important motivation for travel, and travel in itself generates culture. But it is only in recent decades that the link between culture and tourism has been more explicitly identified as a specific form of consumption: cultural tourism. Cultural tourism is one type of tourism for which we have recently received an operational definition in the 22nd session the of General Assembly held by UNWTO in China (2018).As per this new operational definition, cultural tourism is a type of tourism activity in which the visitors' main motivation is to learn, discover, experience, and consume tangible and intangible cultural attractions/ products in a tourist destination.

Culture is a combination of many aspects of our society such as religion, dresses, style of dressing, food, language, dance, music, and so on. Culture is different all over the world and in India itself, one can experience diversity in culture in every corner it is rightly said in the context of India that "Do kos pe pani badle char kos pe boli" which means at every 2 miles there is a change in taste of water and every 4-mile change in language. This diversity of culture works as a catalyst to boost tourism in India. But to retain the progressive growth and maintain the graph

of visitors and visitor satisfaction in the upward direction we need to explore our tourism assets and should initiate grouping them as per tourist interest and serve some new packages which fulfill the desire of tourists. In India, Uttar Pradesh is one of the states which has a rich treasure of cultural and heritage-based tourism products but among all the cities of Uttar Pradesh, Varanasi is one place that has always been in the bundle of options for all kinds of tourists whether spiritual, religious, historian, archaeologists, educationist, leisuretravelers and so on. In short, we can say that Uttar Pradesh is not all about the Taj Mahal. We have places like Varanasi where one can experience several kinds of feelings at one destination. Here, one can talk about cuisine, art, handicraft, temples, history of the city, Buddhist places of value, etc. In this paper, we will explore the culture and heritage-based tourism products of Varanasi and will discuss the actions required to be taken for the publicity of it, as this is the biggest irony with India most of our assets have been overlooked and are not brought on the menu of attractions. There are so many places, so many cultural aspects which even we Indians are not aware of, then how come we can expect foreign visitors to know about such things. If such products are given proper consideration and tourists are made aware of them before visiting this place can change the face of tourism in Varanasi. Else tourists will visit only a few places and move on to some other destination and gradually, by the passing time will lose their interest in this destination.

2. Objectives of the study

- Exploring the key aspects of cultural heritage tourism products of Varanasi.
- Evaluating the tourism growth or decline in the last 4-5 years.
- Bringing out what else can be offered to tourists in Varanasi to retain the interest of the tourist.
- Evaluating the potential of Varanasi as a cultural tourist destination.
- Evaluating the challenges for tourism in Varanasi.

3. Methodology

In this study, we have used descriptive and explorative methods. The secondary source of data has been used to achieve defined objectives, for this, we have used published research articles, research papers, conference proceedings, magazine articles, books, newspapers, and data from the Uttar Pradesh tourism official website.

4. Study Area Background

Varanasi is one of the oldest surviving cities in the world, records say human settlement in this city dates back to 1000 BC, and as per ancient scriptures it is 2500 BC. Varanasi is one of the most popular spiritual and pilgrim destinationsin India. It has over 3000 Hindu shrines, about 1400 Muslim shrines 12 churches, 3 Jain temples, 9 Buddhist temples, and 3 Sikh temples.India's most sacred river Ganga is the USP of Varanasi. Many travelers visit Varanasi especially to attend Ganga Arti and to take a dip in its holy water. Thiscity lies between the Varana River in the north and the Asi stream in the southwhich is why it is called VARANA+ASI = Varanasi. It is also famousfor several names such as Banaras (The Buddhist literature like the *Jatakas* frequently referred to Varanasi as Banarasi or Banaras. Britishers

misperceived the name and spell it as Benares), Benaras, Kashi ('concentration of cosmic light), Avimukta ('never forsaken'). Varanasi is also popular as the cultural capital of India.

Since the river Ganga holds high religious value for Indians, So the culture one experience inVaranasi findsclosely associated and linked with it. It has become a cultural and religious hotspot in the Northern part of India for years. It has the origination of Indian classical music and the most famous Indian philosophers, writers, poets as well as musicians. Banaras is the most religious city in the world as Gautama Buddha has given his first sermon at Sarnath, the famous tourist place located in Kashi.

The three main religions of India were born in Varanasi; Hinduism, Jainism, and Buddhism. These spiritual beliefs and rituals revolve around the holy river Ganga.It is known for narrow lanes, chanting monks on every corner of ghats, illuminated ghats (river banks), and aimless crowds searching for their meaning in life, Varanasi is completely a different experience to be enthralled with.This city is the epicenter for studying Yoga, medicine, holistic healing science, natural science, and others, which enhances its potential for spiritual tourism.

5. A trail to Cultural Heritage Tourism Products of Varanasi

Tourist attractions of Varanasi are, in fact, a combination of religion, culture, heritage, and ecology. Although the Buddhist Stupa of Sarnath was included in the tentative list of UNESCO World Heritage sites in 2015 finally was not included in the final one.

5.1. Art & Literature

Varanasi has a unique art culture. In the past, it was the center of traditions and culture. The topartworks that flourished on this land were metal works (Ivory work, Brassware, copperware), Banaras silk weaving, Bhadohi carpet, clay toys, etc. Among this list,the Banarasi silk saree is something which is a must in all Hindu marriages, the wardrobe of the bride is incomplete without a Banarasi saree, and ladies used to wear these hand-woven sarees on special occasions. Varanasi has an old culture of fine art and literature. Great Indian writers such as Kabir Das, Ravidas, Tulsidas, Bharatendu Harishchandra, Jaishankar Prasad, Hazari Prasad Dwivedi, Tegh Ali, Acharya Shukla, Munshi Premchand, Sudama Pandey, Devaki Nandan Khatri, and Vidya Niwas Mishra and many more have lived in this city.

5.2. Music

Varanasi is an epitome of music, since ancient times. Vocal and instrumental music thrived in Benaras. Notable music personalities of Varanasi are Samta Prasad, Kishan Maharaj, Ravi Shankar, Bismillah Khan, Samar Saha, and others.

5.3. Dance forms

Popular classical dance forms of Varanasi are Kathak, Raslila, and Ramlila.

5.4. Medical significance

Sushruta was a great surgeon and author of the book Sushruta Samhita has also lived in Varanasi. This city has hospitals for Ayurveda and Panchkarma treatment. Hence this city has got good scope for Ayurveda and wellness tourism too.

5.5. Food Culture in Varanasi

One can easily find the cultural and traditional food on the streets. For example,fora break,fast one can have Jalebi and Dahi, Samosa and dahi with green chatani, Kachaudi, and a variety of delicious sweets. Here, People love to eat tasty chaat, which is easily available at every corner and Uttar Pradesh itself is famous for the variety of tasty chaat. In the summer season, one can cherish Lassi with Malai and ice pieces. On the occasion of any fairs or festivals, locals prepare a variety of food including Papad, Dahi bade, Desserts, Gujhiya, Chips, Pani puri, and other dishes. Litti Chokha and sattu ka paratha are also very popular in Varanasi and one can easily find these things in restaurants and at roadside vendors too.The most famous among all is the Banarasi Pan, even we have songs in Bollywood mentioning banarasi pan. Which itself is the proof of Banarasi food items.

6. Built Architecture and tourist sites

Tourism is flourishing in terms of pilgrims and sightseeing lovers. Varanasi is a beautiful destination filled with numerous tourist destinations like

6.1. Ghats

Life on the ghats of the Ganga and the evening Ganga Arti change the way you see the holy river. Some important ghats of Varanasi are riverfront ghats, Assi ghat, Manikarnika ghat, and many more ghats to see at Varanasi.

6.2. Temples

Varanasi is most popular for its temples and is also called the holy city of temples. Among all the temples few of the most famous temples are:

6.2.1. Kashi Vishwanath temple

The Kashi Vishwanath temple is dedicated to Lord Shiva and is the 12 Jyotirlingas. The current temple was built in 1776 by Ahilya Bai Holkar of Indore with about 800 kg of gold plating on the towers.

6.2.2. Bharat Mata Temple

This temple is located in the Kashi Vidyapeeth Campus and is unique in itself. This temple is themanifestation of Bharat in human figure popularly known as Mother India or Bharat Mata and the sanctum of the temple does not have any statueof Bharat Mata; instead, it

manifests a very big relief map of India sculpted out of marble. The temple was inaugurated by Mahatma Gandhi.

6.2.3 Ratneshwar Mahadev Temple

This temple is also famous as the leaning temple of Varanasi, it is among the two leaning buildings in the world and is unique of its kind. This is one of the most clicked temples and even sites of Varanasi, located on a popular known as Manikarnika Ghat. There is no physical or written evidence of who built this built however, there are many fictitious stories about this temple which one can enjoy from the locals here. It is tilted at an angle of 9 degrees which is almost 5 degrees greater than the world's famous leaning tower of Pisa

6.3.Ramgarh Fort

The fort is built in red sandstone and has a temple and a museum on the grounds the temple is dedicated to Ved Vyasa, who wrote Mahabharata, the great Indian epic. It is located around 14 Km from Varanasi.

6.4.Jantar Mantar

Maharaj Jai Singh was a great admirer of science and technology and he was particularly passionate about astronomy. It was used to measure the local time, the sun's declination, altitude, the declination of stars, planets and to determine eclipses. Several masonry instruments can be found at the Jantar Mantar in Varanasi which were usedto record the motion, speed, and properties of stars and planets and study astronomy that are accurate and can still be used efficiently today. It was built in 1737.

6.5.Dhamek Stupa- Sarnath

This amazing stupa is built with a balanced mixture of stone and brick.The stone fixed in the lower part is adorned with delicate floral carvings of Gupta origin. It has a great religious value inthe Buddhist sect.

6.6.Some lesser popular sites of Banaras

Apart from this Varanasi has a lot more to offer the visitors which can potentially be used to motivate tourists such as: -

Ghats: Dashashwamedha ghat, Man Mandir ghat, Harishchandra ghat, Scindia ghat, Kedar ghat, Chausathi ghat, Panchganga/Adikeshav ghat

Temples: Vishwanath Khanda, Durga temple, Kedareshwar temple, Sankat Mochan temple, Shitla temple, Chausath Yogini temple, Tulsi Manas temple.

Sarnath: Light and sound program, Mulagandha Kuti Vihar, The garden of spiritual wisdom, Sarnath museum, Chaukhandi stupa.

This is just an overview of a few tourism resources or products that Varanasi offers to its tourist instead there are many such things to see and experience in Varanasi which work as a pull factor for tourists and creates great scope for Varanasi as a potential tourist place. The effect can be seen in the database of tourist arrival at Varanasi from the year 2016-to 2019 before covid pandemic

S.No	Year	Indian	Foreign	Total
1	2016	5300146	312519	5912665
2	2017	5947355 (+)	334708 (+)	6282063
3	2018	6095890 (+)	348970 (+)	6444860
4	2019	6447775 (+)	350000 (+)	6797775
5	2020	876303 (-)	106189 (-)	982492

Annual Tourist Visit Statistics of Varanasi, year:2016-2020

Source: Uttar Pradesh Tourism Board website

DISTRICTWISE / DESTINATIONS DOMESTIC AND FOREIGN TOURIST VISITS AND RANKING IN UTTAR PRADESH IN YEAR-2020

The decline in the percentage of tourist arrival (Domestic) = 86.409%
The decline in the percentage of tourist arrival (Foreign) = 69.66%
From the above stats, we can see the continuous growth in tourist influx (Both domestic and international) at Varanasi pre covid pandemic and a steep decline in 2020 when Covid pandemic hit the world and impacted specially the tourism industry.

2019		**Rank**	
Domestic tourist visits (DTV)	Foreign Tourist Visit (FTV)	Domestic tourist visits (DTV)	Foreign Tourist visit (FTV)
6447775	350000	6(⇧	3 (⇩)

2018		**Rank**	
Domestic Tourist visit (DTV)	Foreign tourist Visit (FTV)	Domestic Tourist Visit (DTV)	Foreign Tourist visit (FTV)
6095890	348970	7	2

Previous ranking of Varanasi in terms of Tourist arrival, A comparison in incline and decline from 2018 to 2019.

From the above table, it is clear that domestic tourist arrival is increasing annually however foreign tourist arrival is decreasing which is an indicator of some lacking in terms of services or might be some other reasons. At the same time, there have been many challenges in post covid phase to attract tourists to this destination.

7. Challenges for tourism in Varanasi Post Covid pandemic

After analyzingthe given database one can find out how Covid has changed the picture of tourism in Varanasi. The crowded lanes and markets were all empty, only priestsused to be present at the time of Ganga art and so on.So here the question rises are that will the city be able to resume tourism like before or does the tourism approach need to be upgraded?

My finding through the literature review is that tourists are looking for less populated and cleaner places post covid pandemic. This could be a big challenge for Varanasi as the city is densely populated with narrow lanes and crowded market places, old-built houses, open eating joints, etc.This could impact the tourist influx of the city, even domestic tourists nowadaysare also looking for remote and exotic places preferably eco-resorts or rural places and similar greener places.

8. Suggestions

- Authorities should look into the sanitation status,especially at the tourist sites.
- Hygiene should reach the international standard to convince tourists regarding their health safety.
- Authorities should keep a check on guidelines,especially for the crowded places at ensuring social distancing.
- Shift of tourists' interest through some innovative new tourism products or packages to ensure the lesser gathering of tourists at one place at a particular point of time.
- Time scheduling or time management should be closely watched in collaboration with various stakeholders working in the Varanasi tourism industry.
- Check on the number of tourists to participate in Ganga arti or any other such event at one point in time by either start keeping tickets for entrance or some other scheme.
- Special awareness campaigns and promotion of less popular tourist attraction is highly required.
- Orientation program should be conducted for host and guest to ensure health safety of both.

Recently, adventure tourism has started gathering the attention of tourists but just a few in numbers, in this case,stakeholders can shift the focus of tourists towards adventure-based activities, heritage walks, etc by repetitive promotion of these activities. Varanasi is blessed with the biggest resource that is the river Ganga which is the mother of water-based adventure sports and activities in India, places such as Rishikesh and many more are getting benefitted from this

single resource in the name of adventure space then why not is Varanasi can avail the benefits from this holy river.

References

1. Richard, G. (2018). Cultural Tourism: A Review of recent research and trends. Journal of Hospitality and Tourism Management, Volume 36, Pg 12-21
2. What are Cultural Tourism and its importance - Iberdrola
3. Tourism and heritage of Varanasi. (2022). NNVNS.org
4. Culture of Varanasi, TravelogyIndia.com
5. Shyju, P. J. (2008). Key Issues in Visitor Experience and Tourism Development- A study of Varanasi. *IIM Kozhikode Society & Management Review*, Part XI- Health, Spiritual and Heritage Tourism.
6. Culture and heritage. department of culture, Varanasi. Culture & Heritage | District Varanasi, Government of Uttar Pradesh | India.
7. Rastogi, S. (2021). Ratneshwar Mahadev-The leaning temple of Varanasi. Varanasi Guru.
8. Rana, P. (2011). Sacrdscapes and Pilgrimage Landscapes. Planet Earth & Cultural Understanding Series, Pub. 7. New Delhi.
9. Rana P. (2017). Banaras, the cultural capital of India: Visioning Cultural heritage planning.
10. Rana, P. (1993). Varanasi: A world heritage city: The frame, historical accounts; in Rana, P., Banaras(Varanasi). Cosmic order, the sacred city, Hindu traditions. Tantra book agency. Pg297-316.
11. Rana, P. (2017). Scaredscapes of Banaras (Kashi/Varanasi): Cultural landscapes and cosmic geometry. Special Issue on Cultural Landscapes, Vol XIII.

दीदारगंज चामरधारिणी यक्षी

डॉ. शुचि

वर्ष 1917 में पटना के दीदारगंज से प्राप्त मौर्यकालीन प्रस्तर प्रतिमा "दीदारगंज चामर - धारिणी यक्षिणी " ,जिसे भारत की प्रथम त्रिविमीय नारी मूर्ति होने का गौरव प्राप्त है। एकाश्म बादामी चुनार प्रस्तर से निर्मित, इस प्रतिमा का काल लगभग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य माना जाता है। दीदारगंज की यक्षिणी मूर्ति में अनाम मूर्तिकार ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं को अपनी छेनी - हथौड़ी के माध्यम से निर्मित कर प्रस्तर कला को नई ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया है। वजन और घनत्व के संतुलन का यह अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

यक्षिणी के द्वारा धारण किए गए नख से शिख तक आभूषणों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन करना ही मेरे इस शोध पत्र का विषय है। चामर धारिणी यक्षिणी की प्रस्तर कला में निहित सौंदर्य का तथ्यात्मक अध्ययन करने के साथ ,आभूषण विन्यास की गहन व्याख्या द्वारा इस प्रस्तर कला का कालात्मक मूल्यांकन करना शोधार्थी का द्वितीयक उद्देश्य है।

चामर धारिणी यक्षिणी के आभूषणों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

- शिखाभूषण , चूड़ा रत्न
- कर्णाभूषण
- ग्रीवा आभूषण (कंठिका) संख्या एक ,ग्रीवा आभूषण (चंद्रहार, पत्रलता) संख्या दो
- दाहिने हाथ में धारण की हुई चूड़ियों की बड़ी श्रृंखला
- कटि आभूषण(करधनी, मेखला), जो 5 बड़ी चेन के माध्यम से जुड़ा हुआ है , ऊपर की चार चेन एक जैसी है किंतु नीचे की चेन अलग प्रकार की है , मेखला के पृष्ठ भाग के ऊपर वस्त्र विन्यास प्रदर्शित किया गया है।
- नख में नुपूर , जो कि बिना पॉलिश किया हुआ है।

बीज शब्द: चुनार पत्थर, एकाश्म, चूड़ा रत्न, चंद्रहार, पत्र लता, कंठिका

विश्लेषणात्मक प्रमुख बिन्दु

- यक्षी का इतिहास
- शिखाभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या
- कर्ण आभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या
- ग्रीवाआभूषणों का विश्लेषण
- हस्त आभूषणों का वैज्ञानिक विश्लेषण

- कटि आभूषणों का विस्तृत विश्लेषण
- नासिका के आभूषणों का विस्तृत विश्लेषण
- शोधपत्र के अंतिम परिणाम

दीदारगंज यक्षी, की खोज, वर्ष1917 में दीदारगंज (पटना, बिहार) में हुए आकस्मिक उत्खनन से हुई थी। भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र 25°34'18"उत्तर से 85°15'45"पूर्व में स्थित है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पहली शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य, चुनार के बलुआ पत्थर से निर्मित हुई यह एकाश्म शालभंजिका मौर्य मूर्तिकला और पॉलिश का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। वर्तमान में यक्षिणी पटना के बिहार संग्रहालय की ऐतिहासिक कला दीर्घा की दूसरे तल पर रखी सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा है। 5 फीट 2 इंच "ऊंची चामर धारिणी 1 फीट 7 इंच की चौकी पर खड़ी हुई है। इतनी शताब्दी बीतने के पश्चात भी यह यक्षिणी अपने स्वरूप में अनेकों रहस्य समेटे हुए हैं। इतिहासकार इस यक्षिणी को भारत की मोनालिसा मानते हैं, (मैं इस मत को दृढ़ता के साथ रखना चाहती हूं की यक्षिणी मोनालिसा से कई शताब्दियों पूर्व निर्मित हुई थी, पूर्व में निर्मित रचना की तुलना आधुनिक काल की रचना से किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती है।) देश ,काल और तकनीक में यक्षिणी, मोनालिसा से कहीं ज्यादा आगे और अप्रतिम है। यक्षी, प्राचीन भारत के स्त्री सौंदर्य के सभी प्रतिमानों को पूर्ण करती है। यक्षिणी सीधे खड़े होने की अपेक्षा आगे की ओर थोड़ा झुकी हुई है, उसकी मुस्कान एक अजीब से रहस्य को स्वयं में समेटे हुए हैं। त्रिवितीय आधार होने के कारण इसका परीक्षण किसी भी कोण से किया जा सकता है। हजारों वर्षों तक धरती के गर्भ में दबे रहने के कारण यक्षिणी की बाई भुजा वर्तमान तक भी प्राप्त नहीं हो पाई है ,साथ ही यक्षिणी की नाक पर भी थोड़ी टूट-फूट हो गई है। (जयप्रकाश नारायण सिंह एवं अरविंद महाजन, पटना संग्रहालय प्रकाशन, 2012)*

हिंदू धर्म व बौद्ध धर्म के अंतर्गत यक्ष-यक्षिणी की रचना, स्थानीय भावना में , जल, वृक्ष के देवताओं के संदर्भ में की जाती है। इसके पीछे मुख्य आधार संभवतः पर्यावरण संरक्षण रहा होगा। यह प्रस्तर शालभंजिका, विस्तृत व्याख्या किये जा सकने वाले आभूषणों द्वारा अद्भुत सौंदर्य का प्रदर्शन करती है। इस शोध पत्र में शोधार्थी पहली बार आभूषणों के आधार पर दीदारगंज यक्षिणी के त्रिवितीय स्वरूप की व्याख्या करने का लघु प्रयास कर रही है। शोध को अधिकतम वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए शोधार्थी ने आभूषण बनाने वाले कारीगरों के साथ बहुत लंबे समय तक विचा-विमर्श किया उसके पश्चात ही इस शोधपत्र का लेखन आरंभ किया।

यक्षिणी द्वारा धारण किए हुए आभूषण इस तथ्य को नहीं उद्घाटित कर पाते हैं कि यह आभूषण मोती स्वर्ण या चांदी किस धातु से बने हुए थे, लेकिन एक तथ्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आभूषणों की इतनी अधिक मात्रा तत्कालीन समय की अति सुदृढ अर्थव्यवस्था को इंगित करती है। (श्रीमती सरोज , विशिष्ट आभूषण निर्माता, नई दिल्ली) अगर यह आभूषण मोती के बने हुए थे तो निसंदेह यह अनुसंधान का विषय है कि दीदारगंज और दक्षिण भारत, जो कि सच्चे मोती का सबसे बड़ा क्षेत्र माना जाता था, इस प्रकार व्यापारिक मार्ग द्वारा जल या थल द्वारा आपस में जुड़े हुए थे। एक अन्य प्रश्न यहां यह भी उठता है कि अगर यह आभूषण बहुमूल्य धातुओं से बने हुए थे तो वह बहुमूल्य धातु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर किस प्रकार इस क्षेत्र में पहुंचती थी? साथ ही विनिमय का माध्यम क्या रहा होगा ?

आभूषणों के विश्लेषण के लिए सर्वप्रथम शिख-आभूषण की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर रही हूं, यक्षिणी ने अपने सिर पर संभवतः मोतियों या स्वर्ण या चांदी के दानों से निर्मित आभूषण को धारण किया हुआ है। दाहिने हाथ के नाखून की तरफ से देखने पर 3 दानों की संख्या के पश्चात एक खंडित दाना स्थित है, जो कान के पीछे तक छह

अन्य दानों के साथ लगातार जुड़ा हुआ है। कुल दानों की संख्या 20 है, वर्तमान के आभूषणों से तुलना करने पर यह मांग टीका कहा जा सकता है। मध्य की दानों की संख्या 10 है जो दाहिने और बाएं दानों की अपेक्षा अधिक बड़े हैं। इन दोनों को आपस में पिरो कर बनाया गया है या धातु के माध्यम से इन्हें आपस में जोड़ा गया है इसका प्रमाण हमें मूर्तिकार नहीं देता है। (श्री टिल्लू कारीगर, स्वर्ण आभूषण निर्माता, नील गली , मेरठ, उत्तर प्रदेश) * इस शिखा भूषण का अंतिम छोर पीछे की तरफ यक्षिणी के केश में जाकर छिप गया है। यक्षी के पृष्ठ भाग को देखने पर केश के नीचे बड़ी मात्रा में धागों की गुच्छी दिखाई देती है जो संभवत है ग्रीवा आभूषणों का अंतिम छोर रहा होगा, लेकिन इन धागों की गुच्छी की मोटाई देखकर यह अनुमान लगाना अत्यंत कठिन है कि क्या शिख आभूषण और ग्रीवा आभूषण आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए थे? या अलग-अलग थे? मूर्तिकार अंकन के साथ क्या सूचना प्रेषित करना चाहता है यह स्पष्ट नहीं है । संभवतः मूर्ति को अधिकतम वास्तविकता प्रदान करने के लिए इतनी मोटी धागों की गुच्छी का अंकन किया गया है।

कर्ण आभूषणों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यक्षिणी ने अपने कानों में भारी आभूषणों को धारण किया हुआ है जिनका आकार लगभग डमरू के समान है। कान के छिद्र , आभूषण के भार के कारण अधिक बड़े हो गए हैं , जब इन आभूषणों का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया तो स्पष्ट हुआ कि ऐसे आभूषण आज भी अफ्रीका में कई जनजातियां धारण करती हैं, साथ ही भारत में पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली अनेक महिलाएं कानों में आज भी इतनी भारी आभूषण धारण करती है यह अंकन, उस समय के सौंदर्य के प्रतिमानो को स्पष्ट करते हैं। अगर इसका दूसरा परिप्रेक्ष देखा जाए तो कान में इतने, भारी आभूषणों को धारण करना किसी भी स्त्री के लिए काफी देय हो सकता है, लेकिन एक दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि जब यह आभूषण कान की त्वचा को भेद देते होंगे तो स्त्रियां किस प्रकार की शल्य चिकित्सा का प्रयोग करती थी। (श्रीमती सरोज, स्वप्न साकारम, विशिष्ट आभूषण निर्माता)

यक्षिणी ने अपनी ग्रीवा में एक छोटी कंठमाला, और एक -दो लड़ी वाली माला धारण की हुई है, नीचे की तरफ एक बड़ा लॉकेट जैसा दिखाई दे रहा है, किंतु वह खंडित है अतः उस पर अंकित चित्रण को अब नहीं देखा जा सकता। यहां एक तथ्य स्पष्ट करना चाहूंगी कि मूर्तिकार ने इस माला को तराशने का कार्य बाई ओर खड़े रहकर किया होगा, अगर ध्यान से देखा जाए तो बायीं ओर के मोतियों का अंकन में अस्पष्टता है जबकि दाहिनी और के मोती के अंकन स्पष्टता के साथ दिखाई दे रहा है। अतः मूर्तिकार ने अपने छेनी - हथौड़ी का प्रयोग सामने की ओर से ना कर खंडित हाथ की ओर से किया है। (श्री अनूप कुमार, मोती पराई वाले, नील गली सर्राफा बाजार)

हाथों में बहुत बड़ी संख्या में आभूषण धारण किए हुए हैं, वर्तमान आभूषणों से अगर तुलना की जाए तो यह राजस्थानी महिलाओं द्वारा धारण किए हुए आभूषणों से साम्यता रखते हैं। पंजाबी समुदाय द्वारा धारण किए गए चूड़े के समान भी यह दिखाई देते हैं। हाथ के आभूषण का अंकन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति में विदेशी आक्रमणों के पश्चात भी अपनी परंपराओं को आभूषणों के माध्यम से महिलाओं ने जीवित रखा है।

यक्षी ने कटि भाग पर कटिबंध पहना हुआ है, सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर स्पष्ट तरह दृष्टिगोचर होता है कि ऊपर की चारों श्रृंखलाएं बेहद स्पष्टता के साथ अंकित की गई है, जबकि सबसे नीचे की श्रृंखला मैं स्पष्टता नहीं दिखाई देती, जो इस तथ्य को इंगित करती है कि सबसे नीचे की श्रृंखला को मुख्य मूर्तिकार ने नहीं बनाया था, यह भी कहा जा सकता है कि इस मूर्ति का निर्माण किसी एक मूर्तिकार ने नहीं किया, क्योंकि कटि की सबसे नीचे की श्रृंखला तथा नख में धारण किए गए आभूषणों की अस्पष्टता इस ओर ध्यान आकर्षित करती है कि यह किसी एक शिल्पी की ना होकर ,एक मुख्य शिल्पी और शेष उसके सहायक शिल्पियों द्वारा तराशी गई है।

यक्षिणी ने पैरों में बहुत मोटी झांझर पहनी हुई है, जिस पर चिताई की कारीगरी की गई है जो प्राचीन भारत की अद्भुत आभूषण निर्माण कला को प्रदर्शित करती है। यद्यपि अंकन में स्पष्टता नहीं है और पैरों की पॉलिश की ओर भी मूर्तिकार ने बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया है। वास्तविक स्वरूप में यह आभूषण चांदी का बना हुआ रहा होगा। (श्री नसीरुद्दीन चिताईवाले, नील की गली, मेरठ)

शोधार्थी ने एक लंबे समय तक शोध करने के पश्चात इस शोध पत्र का लेखन पूर्णता मौलिक रूप से किया है और पहली बार यह प्रयास किया है दीदारगंज यक्षिणी की कलात्मक व्याख्या वैज्ञानिक और अनुसंधान पद्धति द्वारा प्राचीन भारत की आभूषण कला को ध्यान में रखकर की जाए। शोधार्थी का अंतिम उद्देश्य यही है कि आभूषण कला द्वारा किसी भी समाज की सामाजिक, आर्थिक स्थिति की सुस्पष्ट व्याख्या की जा सकती है। आभूषणों की रचना और बनावट के द्वारा हजारों वर्षों के पश्चात भी प्राचीन संस्कृति और आधुनिक संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन अनुसंधान के नए आयामों को खोलता है, जो भविष्य में होने वाले शोध को और भी अधिक प्रामाणिक बनाने में सहायक सिद्ध होंगे।

*दीदारगंज यक्षी की खोज गंगा नदी के किनारे दीदारगंज गांव में कदम रसूल, जोकि कदम ए रसूल मस्जिद के पास ही है ,ग्रामीणों ने की थी। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस मूर्ति का उत्खनन किसी भी इतिहासकार के द्वारा नहीं किया गया है। प्रसिद्ध उत्खननकर्ता और इतिहासकार प्रोफ़ेसर जे.एन सामदार ने सी.एच.सी वेल्स और डॉक्टर डी. भी. स्पूनर की सहायता से यक्षिणी को संरक्षित किया।

*1 मेरठ एशिया की सबसे बड़ी स्वर्ण मंडी है, फिल्म जोधा अकबर के सभी स्वर्ण गहने मेरठ की कार्यशाला में , मेरठ के कारीगरों द्वारा तैयार किए गए थे।

संदर्भ ग्रंथ-सूची:

- *हर्ले , जे. सी. : द आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडियन सबकॉन्टिनेंट, 1994 येल यूनिवर्सिटी प्रेस ISBN : 0300062176*
- *सिंह, उपेंद्र: द हिस्ट्री ऑफ* ऐश्येंट *एंड अर्ली* मैडिवल इंडिया, 2008 पीयरसन एजुकेशन, इंडिया
- मंडल ,धनेश्वर : अयोध्या आर्कियोलॉजी आफ्टर डिमोलिशन; क्रिटिक ऑफ न्यू एंड फ्रेश डिस्कवरी, 2003 ओरियंट ब्लैकस्वान
- *Roland Benjamin: The art and architecture* of India,1967 Pelican history of art Penguin
- कुमार ,अरविंद: यक्षिणी, 2017 सुनीता पब्लिशिंग हाउस, पटना
- Chaudhari , Pranav : A fortress chockfull of chinks, Indiatimes, Retrieved 17thFeb2011
- "Didarganj Yakshi", Bengal archaeological website
- Chinki Sinha, news/lifestyle/culture/this museum in Bihar houses a 2300 year old sculpture carved out of single stone, October 13, 2017
- Bihar museum booklet: " I am the Bihar museum"
- भारती ,सुनीता : दीदारगंज यक्षिणी; संपूर्ण नारीत्व का प्रतीक, प्रज्ञा भारती जनरल ऑफ केपी जयसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट डिपार्टमेंटर् ऑफ एजुकेशन बिहार सरकार, 2018
- Didar Ganj image, Dr D.B. spooner JBORS, 1919 , Vol 5th,part 1

छत्तीसगढ़ में ब्रह्मा उपासना

डॉ. शुभ्रा रजक

भारतीय धार्मिक पृष्ठभूमि में त्रिदेवों का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें ब्रह्मा को सृष्टी का सृजनकर्ता माना गया है। त्रिदेवों में सम्मिलित होने के बाद भी ब्रह्मा को वह लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई जो विष्णु एवं महेश की है। इसलिए ऐसी संभावनाएं व्यक्त की गई है की ब्रह्मा का अपना कोई स्वतंत्र समुदाय नहीं हुआ। हिन्दू त्रिमूर्ति में ब्रह्मा का प्रथम स्थान माना गया है।[1]पुराणों में उल्लेखित है कि ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण करते वक्त पहले प्रजापति का सर्जन किया फिर बाद में अपने मानस पुत्रों को प्रजा के निर्माण करने के लिए आदेशित किया। इसलिए उन्हें प्रजापति भी कहा गया है।[2] सृष्टिकर्ता होने के कारण ब्रह्मा को पितामह भी कहा जाता है। ब्रह्मा ने सतरूपा, सावित्री, सरस्वती और ब्रह्माणी के रूप-दर्शन हेतु चारों ओर मुख और पांचवां मुख ऊपर धारण किया। प्राचीन काल में भारत में ब्रह्मा की पूजा होने के अनेक प्रमाण प्राप्त होते है। ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाओं, मंदिरों एवं अभिलेखों में वर्णन प्राप्त होता है।

इसी तरह हमें छत्तीसगढ़ में भी ब्रह्मा की अनेक स्वतंत्र और मंदिरों में उत्कीर्ण प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं। ब्रह्मा की प्रतिमाएं प्रायः द्विभुजी, चतुर्भुजी एवं चार मुखों वाली होती है। ब्रह्मा की प्रतिमा शिव-पार्वती के विवाह में पुरोहित के रूप में, विष्णु की शेषशायी प्रतिमा में उनके नाभि से निकले कमल पर आसनस्थ एवं त्रिदेवों के रूप में प्राप्त होती है। पद्मपुराण तथा भागवत् पुराण में भृगु द्वारा ब्रह्मा को सम्पूर्ण संसार में अपूज्य होने के लिए शाप दिया गया है।[3]ब्रह्मा का एक मात्र मंदिर राजस्थान के पुष्कर में स्थित है। ब्रह्मा को सदैव ऋषि के रूप में जटायुक्त चतुर्भुजी, चतुर्मुखी बनाया जाता है। उनका चौथा मुख पीछे की ओर अदृश्य होता है। इनका एक हाथ अभय मुद्रा में तथा शेष अन्य हाथों में रूद्राक्ष की माला, पुस्तक एवं कमण्डलु स्थित होता है। छत्तीसगढ़ में शिल्प के साथ-साथ ब्रह्मा का वर्णन यहां से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में भी हुआ है।

भवदत्त वर्मा के ऋद्धिपुर ताम्रपत्र[4] में प्रजापति का उल्लेख हुआ है। जिसका अर्थ ब्रह्मदेव से लिया गया है। स्कन्द वर्मा के पोरागढ़ अभिलेख[5] में ब्रह्मा का उल्लेख ''पुरूष'' रूप में किया गया है। इसी तरह कलचुरि कालीन बहुत से अभिलेखों में ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है। पृथ्वीदेव प्रथम के आमोदा ताम्रपत्र[6] लेख (कलचुरि संवत् 831), पृथ्वीदेव द्वितीय के घोटिया ताम्रपत्र लेख[7] एवं पृथ्वीदेव द्वितीय के बिलाईगढ़ ताम्रपत्र लेख[8] (कलचुरि संवत 890) में अभिलेखों का प्रारंभ ब्रह्मा की उपासना से किया गया है। जाजल्लदेव द्वितीय के अमोदा ताम्रपत्र लेख[9] तथा प्रतापमल्ल के बिलईगढ़ ताम्रपत्र लेख[10] में ब्रह्मा के निर्गुण, व्यापक, शिव, नित्य, संसार के परम-ज्योति, परम कारण तथा भाव ग्राह्य आदि रूपों की चर्चा की गई है। गोपालदेव के पुजारीपाली अभिलेख[11] का आरम्भ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की वंदना द्वारा, त्रिदेवों के रूप में एक साथ की गई है।

ब्रह्मा की प्रतिमाएं छत्तीसगढ़ के अनेक स्थानों से प्राप्त हुई है, जैसे - मल्हार के केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के स्थल संग्रहालय में ब्रह्मा की प्रतिमा स्थापित है जिसका निर्माण काल सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी है। खरौद के इन्दलदेव मंदिर में द्वार शाखा के सिरदल के दाएं तरफ त्रिमुखी ब्रह्मा का अंकन हुआ है, जो हंसारूढ़ है। इसका निर्माण काल सातवी शताब्दी ईसवी माना गया है।[12] सिरपुर से भी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। त्रिमुखी ब्रह्मा की एक प्रतिमा राजिम स्थित मंदिर पर भी उत्कीर्ण है। रायपुर स्थित मठपुरैना में तालाब किनारे स्थित शिव मंदिर के अंदर भी ब्रह्मा की पद्मासन मुद्रा में एक आकर्षक स्वतंत्र प्रतिमा स्थित है, जिसका निर्माण काल सातवी - आठवीं शताब्दी ईसवी माना गया है। इसी तरह सिद्धेश्वर मंदिर पलारी की द्वार शाखा में द्विभुजी ब्रह्मा, तीन हंसों पर आरूढ़ हुए अंकित है। अडभार के शिव मंदिर की द्वार शाखा के ऊपर त्रिदेव रूप में ब्रह्मा अंकित है। महादेव मंदिर पाली के द्वार शाखा के सिरदल में दाएं ओर ब्रह्मा की प्रतिमा अंकित है।[13] केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय तुम्माण में ब्रह्मा की प्रस्तर निर्मित दसवी शताब्दी ईसवी की प्रतिमा स्थित है। इसी तरह शास्त्र-सम्मत निर्मित ब्रह्मा की प्रतिमाएं डीपाडीह और बेलसर से भी प्राप्त हुई है। बंकेश्वर मंदिर तुम्माण के प्रवेश द्वार में चतुर्भुजी ब्रह्मा की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस मंदिर परिसर के संग्रहालय में भी ब्रह्मा की प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा का काल दसवीं - ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी माना गया है।

सिलीपचराही उत्खनन में परिक्षेत्र क्रमांक-3 से ब्रह्मा की प्रतिमा प्राप्त हुई है। शिव मंदिर घटियारी में द्वार- शाखा के सिरदल पर चतुर्भुजी ब्रह्मा का अंकन हुआ है। इसका निर्माण काल आठवी-नवमी शताब्दी ईसवी है।[14] शिवरीनारायण में अवस्थित केशव नारायण मंदिर की द्वार शाखा के मध्य में चतुर्भुजी ब्रह्मा की प्रतिमा अंकित है। इसका निर्माण काल दसवी शताब्दी ईसवी माना गया

है। धमतरी जिले में शिव मंदिर देवखूट के परिसर में ब्रह्मा की प्रतिमा स्थित है जिसका निर्माण काल ग्यारहवी शताब्दी ईसवी है। इसी तरह ब्रह्मा का अंकन जांजगीर के विष्णु मंदिर की द्वार शाखा के सिरदल में हुआ है।[15]

बिलासपुर जिले में सरगांव स्थित धूमनाथ मंदिर में निचले पंक्ति मे त्रिसिर युक्त चतुर्भुजी ब्रह्मा का अंकन हुआ है। इस मंदिर का निर्माण तेरहवी शताब्दी ईसवी के पूर्वार्ध में माना गया है। शिव मंदिर नगपुरा के दक्षिणी जंघा भाग के भित्ति में ब्रह्मा की चतुर्भुजी प्रतिमा स्थित है। यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में स्थित है। जिसके चारों हाथों में त्रिशूल, अक्षमाला वेद तथा एक हाथ में कमण्डलु धारण किए प्रदर्शित है। इस मंदिर के द्वार शाखा के ऊपरी सिरदल में दाएं तरफ चतुर्भुजी ब्रह्मा की एक अन्य प्रतिमा अंकित है। यह प्रतिमा भी जांजगीर मंदिर के समकालीन है।

छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला में ब्रह्माअधिकांश जगह त्रिदेवों के रूप में प्राप्त हुए हैं परन्तु ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाओं का अंकन इस अंचल में बहुत कम हुआ है। अभिलेखों एवं प्रतिमाओं में दृष्टव्य होने वाले विकासक्रम से ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में अन्य देवताओं की तरह ही ब्रह्मा की लोकप्रियता भी छत्तीसगढ़ अंचल में समान रूप से रही है।

संदर्भ ग्रंथ -

1. बनर्जी, जे. एन., द डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, तृतीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल प्रकाशन, नई दिल्ली,1974, पृ. 122-510.
2. ऋग्वेद, 10, 121, शतपथ ब्राह्मण, 6,5,9.
3. पद्मपुराण, उत्तर खण्ड, अध्याय - 282.
4. एपिग्राफिआ इंडिका, भाग-19, पृ. 102.
5. वही, भाग-21, पृ. 153.
6. जैन, बालचन्द्र, उत्कीर्ण लेख, संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्व, छत्तीसगढ़, रायपुर, 2005, लेख क्र.26.
7. वही.
8. वही, लेख क्र.-27.
9. वही, क्र. 26.
10. वही, क्र. 27.
11. वही, क्र. 20.
12. वर्मा, कामता प्रसाद, छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला (मध्य छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में), संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्व, छत्तीसगढ़, रायपुर, 2014, पृ. 35.
13. बेगलर, जे. डी., 1878, कनिंघम ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, वॉल्यूम - 7, रिपोर्ट ऑफ अ टूर ऑफ बुन्देलखण्ड एण्ड मालवा, 1871-72, एण्ड इन द सेन्ट्रल प्रोविंसेज 1873 - 74, कलकत्ता. पृ. 219.
14. वर्मा, कामता प्रसाद, छत्तीसगढ़ की स्थापत्य कला (मध्य छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में), पृ. 132.
15. वही, पृ. 167

ब्रह्मा की प्रतिमाएं

(1) ब्रह्मा की प्रतिमा, राजिम

(2) ब्रह्मा की प्रतिमा. बेलसर

(3) ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिमाएं, बेलसर

(4) ब्रह्मा विष्णु, महेश की प्रतिमाएं, सिरपुर

नव उत्खनित स्थल जमराव एक अध्ययन।

डॉ. सुधीर कुमार उपाध्याय

छत्तीसगढ़ में पुरातात्विक महत्व के अनेक स्थल हैं जिनसे यहां के समृद्ध इतिहास का पता चलता है। इनमें सिरपुर, ताला, पचराही, राजिम जैसे अनेक स्थल शामिल हैं। यहां हजारों साल पुरानी सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इनसे पता चलता है कि सदियों पहले यहां किस तरह के लोग रहते थे। उनकी धार्मिक आस्थाएं कैसी थीं, उनका सामाजिक जीवन कैसा था। पहनावा ओढ़ावा कैसा था, खानपान कैसा था। उनकी आजीविका क्या थी आदि। ऐसा ही एक स्थल जमराव है जो हाल ही में सामने आया है।

यह खारुन नदी से लगा हुआ इलाका है जो दुर्ग जिले की पाटन तहसील और पाटन विधानसभा क्षेत्र में आता है। यहां स्थित टीले की खुदाई में कुषाणकाल के सिक्के मिले हैं। कुछ मूर्तियां मौर्यकाल की हैं। मिट्टी की भट्ठी, मिट्टी के बर्तन, मिट्टी के मनके आदि मिले हैं। जो वस्तुएं यहां से मिली हैं उनसे संकेत मिलते हैं कि किसी समय यह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र था। यहां से शिवलिंग, पार्वती व कुबेर की प्रतिमायें भी मिली है। इससे पता चलता है कि यहा रहने वाले हिंदू धर्मावलंबी थे। ये सारी वस्तुएं ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर 13वीं–14वीं ईस्वी सन के बीच की हैं। यानी करीब 1500 साल का इतिहास इनमें छिपा हुआ है। विशेषज्ञों का कहना है कि यहां का इतिहास और भी पुराना हो सकता है। जमराव में जो टीला मिला है वह 7–8 एकड़ का है। अभी सिर्फ आधा एकड़ में 12–14 फीट की उत्खनन हुआ है। आगे पुरातात्त्विक के लिए एएसआई को प्रस्ताव भेजा जा रहा है। यहां से 5–7 किलोमीटर दूर तरीघाट है जहां हजारों साल पहले की सभ्यता के अवशेष मिल चुके हैं। माना जा रहा है कि खारुन तट पर बनने वाले उत्पाद शिवनाथ होते हुए महानदी के किनारे बसी बस्तियों तक जाते होंगे। उदाहरण के लिए धमतरी में बंदरगाह के अवशेष मिले हैं। यह भी माना जा रहा है कि नदी तट की आबादियों के बीच जलमार्ग से व्यापारिक लेनदेन होता रहा होगा।

जमराव के संबंध में यह बातें भी सामने आती है कि यहां लज्जा गौरी की लगभग 2 हजार साल पुरानी मूर्ति मिली है। पुरातत्वविदों के अनुसार ये खुदाई में मिली देश की पहली ऐसी मूर्ति है जिसमें माता गौरी के साथ दो शिवलिंग और एक नंदी भी हैं। इसमें माता गौरी भी एक विशिष्ट मुद्रा में हैं। यहां भगवान कृष्ण और बलराम की मूर्तियां भी मिली हैं। संस्कृति विभाग के एक कार्यक्रम में हिस्सा लेने आईं कोलकाता की पुरातत्वविद् डॉ. सुस्मिता बोस मजुमदार, दिल्ली के डॉ.के.के चक्रवर्ती और औरंगाबाद से आए शिवाकांत वाजपेयी ने जमराव उत्खनन क्षेत्र में मिले पुरावशेषों का अध्ययन किया है। विशेषज्ञों ने दावा किया कि अवशेषों के अनुशीलन से जमराव लगभग 2 हजार साल प्राचीन स्थल है। तब यहां पर बस्ती नहीं थी, लेकिन लोग आते–जाते और ठहरते थे। (भास्कर डाट काम)

पुरातात्विक दृष्टि से खारुन नदी के किनारे बसे गांव काफी महत्वपूर्ण हैं। इनमें जमराव के अलावा कौही, तरीघाट, केसरा, उफरा, पहंदा, बठेना, असोगा, आगेसरा, गुढियारी, झीट शामिल हैं। 2017 में अमलेश्वर के करीब ठाकुर देव मंदिर के पास एक बटलोही में 200 पुराने सिक्के मिले हैं। इसके अलावा कौही, अमलेश्वर, तरीघाट, केसरा, रानीतराई, मोतीपुर के करीब टीलेनुमा स्थान पर प्राचीन सिक्के व चमकीले पत्थर मिलने की खबरें आती रही हैं। उत्खननकर्ता से प्राप्त जानकारी के अनुसार जमराव टीले के चारों तरफ़ पत्थर के परकोटे बने हुए हैं। खुदाई के दौरान हमें सिंह प्रतिमा व पासे मिले। कुषाण काल में लोग सिंह की पूजा करते थे,

इसलिए इसकी प्रतिमा हमेशा साथ में लेकर चलते थे। वहीं मनोरंजन के लिए चौसर का खेल खेलते थे। (दैनिक छत्तीसगढ वाच डॉट कॉम)

खारून नदी धनुषाकार रूप में मुड़ती है। इसके चारों ओर ट्रेंच बने हुए हैं। इसे देखकर अनुमान है कि मूल नदी के इस पार इन ट्रेंच के माध्यम से नावों को प्रवेश कराने में सुविधा मिलती होगी। प्राचीन काल में राजधानियां मुख्य नदियों के किनारे बनती थीं और सहायक नदियों के किनारे व्यापारिक केंद्रों का विकास होता था। जमराव की स्थिति भी ऐसी हो सकती है। सिरपुर में भी महानदी मोड़ लेती है। बसाहटों को कटाव से रोकने के लिए ऐसी भौगोलिक स्थिति महत्वपूर्ण होती थी। (नई दुनिया डॉट कॉम)

जमरांव पुरातात्विक खुदाई के डायरेक्टर बताते हैं कि – बात पुरानी है। संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग से संबद्ध अतुल प्रधान पचराही, तरीघाट की खुदाई में शामिल थे। उन्होंने मुझसे कहा कि खारून नदी में एक सर्वे करते हैं। फिर हम खुडमुंडा गए जो जमराव से लगा गांव हैं। वहां कुछ अवशेष मिले जिन्हें इकट्ठा कर जमराव गए। जमराव में भी पहले ही दिन मिट्टी के बर्तन और कुषाणकाल का एक सिक्का टीले की सतह पर ही मिल गया। फिर यहां आगे काम करने का फैसला लिया और उसकी रिपोर्ट बनाकर आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (एएसआई) को दी गई। वहां से खुदाई की अनुमति मिली। तब यह मालूम नहीं था कि यह जगह निजी संपत्ति है। फिर संबंधित लोगों से अनुमति ली गई। यहां दो टीले हैं। एक टीले में 12 फीट की खुदाई की गई । वहां दो सिक्के और पत्थर का स्ट्रक्चर मिला। 7–8 एकड़ का टीला है। नदी से लगा है। अभी सिर्फ आधा एकड़ में ही 12 से 14 फीट की खुदाई हुई है। (जैसा जमरांव की पुरातात्विक खुदाई के डायरेक्टर श्री प्रताप चंद्र पारख ने बताया)

जमराव खुदाई के संबंध में पुरातत्ववेता ने बताया कि हैं कि जमराव में कुछ साल पहले खुदाई हुई। यहां मिले मिट्टी के बर्तन समेत अन्य को देखकर इस बात के संकेत मिले की यहां करीब 2200 साल पहले मृद्भाण्ड का उपयोग करने वाली संस्कृति जमराव में निवास करती थी। यहां दो प्रकार के सिक्के मिले हैं। दोनों ही तांबे के थे। यह सिक्के पहली शताब्दी ईसा पूर्व से पहली–दूसरी शताब्दी ईसवीं तक चलन में थे। एक तरह का जो सिक्का मिला वह वर्गाकार है, उसमें हाथी अंकन है। अनुमान है कि यह सिक्का वहां के स्थानीय राजा चलाते थे। इसी तरह दूसरे प्रकार का सिक्का कुषाण काल का है। यह गोलाकार, मोटा व वजनी है। कुषाण कालीन सिक्कों पर प्राप्त आकृति व अभिलेख के आधार पर माना जा रहा है यह कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्क के शासन काल का है। इन सिक्कों से यह अनुमान लगाया जा रहा है कि प्रारंभिक इतिहासकाल में जमराव एक व्यापारिक बस्ती के रूप में था और खारून नदी के माध्यम से यह छत्तीसगढ़ के बड़े प्राचीन व्यापारिक केंद्र तरीघाट से जुड़ा हुआ था। इस तरह जमराव में धार्मिक प्रकृति को उजागर करने वाले कुछ पुरातात्त्विक प्रमाण भी मिले। पकी हुई मिट्टी की मूर्तियां और पत्थर निर्मित मूर्तियाँ मिली हैं। इसमें यक्ष–यक्षी, एक मुख लिंग, लज्जा गौरी, कृष्ण–बलराम, सिंह आदि की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। यह मूर्तियां आकार में छोटी हैं। उत्खनन में जो संरचनात्मक अवशेष प्राप्त हुए हैं, वह आवासीय प्रकृति के हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जमराव के लोग अपने पूजा–गृह में इनकी पूजा करते थे। मिट्टी व कांच के बने आभूषण मिले, उनमें चूड़ियां, कान के आभूषण शामिल हैं। इससे उस समय के लोगों की आभूषण प्रियता का पता चलता है। इसी तरह आर्थिक गतिविधियां से संबंधित कुछ प्रमाण मिले हैं, जैसे नाप–तौल के लिए बटखरे इत्यादि। यह भी पकी हुई मिट्टी से बने हैं। छह पहलुओं वाला पासा भी मिला है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोग मनोरंजन के लिए इनका उपयोग करते थे। मिट्टी के बर्तन में प्रमुख रूप से घड़े, सुराही, कटोरे

व थाली हैं। इससे यह पता चलता है कि उस समय वहां माटी कला मृद्भाण्ड कला काफी उन्नत अवस्था में थी। छत्तीसगढ़ में पूर्व मध्यकाल से लेकर ब्रिटिशकाल तक के अवशेष काफी संख्या में मिले हैं, लेकिन प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के क्रम को ज्ञात करने में जमराव का नाम महत्वपूर्ण है। (जमराव की खुदाई में शामिल पुरातत्वक्ता डॉ.प्रभात सिंह ने जैसा बताया)

जमराव के संबंध में कहा जा सकता है कि यह अपने आप में इतिहास समेटे हुए हैं। खुदाई के बाद अब तक जो जानकारियां सामने आई है उससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि यहां का इतिहास दो हजार साल से ज्यादा पुराना है। जो मिट्टी के बर्तन मिले वह सामान्य नहीं है, उसमें उनकी मृद्भाण्ड कलाप्रियता झलकती है एवं लोगों में आभूषण प्रियता थी। आर्थिक गतिविधियों के साथ ही मनोरंजन के प्रमाण भी मिले। जमराव के कुछ हिस्से में अभी खुदाई हुई है। माना जा रहा है कि बाकी जगह खुदाई होने पर और भी नई ऐतिहासिक जानकारियां सामने आ सकती है।

संदर्भ :

– वार्षिक प्रतिवेदन, संस्कृति विभाग छग शासन, 2021–22, छग संवाद।

– कोसल, जर्नल ऑफ द डायरेक्टोरेट ऑफ कल्चर एंड आर्किलॉजी, 2015, छग संवाद।

– दैनिक भास्कर (2019), Retrieved मई 20, 2022, भास्कर डाट काम
https://www.bhaskar.com/chhatisgarh/raipur/news/chhattisgarh-news-two-thousand-years-old-krishna-balram-and-lajja-gary-statue-found-in-excavation-075005-5076384.html

– नई दुनिया रायपुर (30 मई 2019), Retrieved मई 20, 2022, नई दुनिया डॉट कॉम
https://www.naidunia.com/chhattisgarh/raipur-secret-of-2000-years-old-civilization-will-open-in-chhattisgarh-as-excavation-at-jamrao-starts-2975017

– पत्रिका (21 फरवरी 2020), Retrieved मई 18, 2022, पत्रिका डॉट काम
https://www.patrika.com/raipur-news/ancient-civilization-buried-in-tarighat-rewa-and-jamrao-will-come-out-5807722/

– दैनिक छत्तीसगढ वाच डॉट कॉम (30 सितंबर 2021), Retrieved मई 20, 2022,
https://dainikchhattisgarhwatch.com/2021/09/30/2000-year-old-kushan-era-coins-and-dice-found-in-chhattisgarh/

प्राचीन भारतीय लोकजीवन में अग्नि : एक अध्ययन

डॉ. सुनील कुमार

लोकजीवन का तात्पर्य सामान्य लोगों की जीवन पद्वति तथा आचार-विचार से है। लोक शब्द का सन्दर्भ किसी समाज का वह वर्ग है जो प्रतिस्थापित मूल्यों एवं आचार-संहिता से सम्बद्व होते हुए अपना स्वाभाविक चरित्र रखता है। इसका प्रयोग उस समाज के लिए किया जाता है जो अपने परम्परागत आदर्शो, विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा कला की अभिव्यक्ति के स्वरूपों के प्रति आस्थावान तथा आग्रही होता है। प्रो.वी.एस.अग्रवाल के अनुसार लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है जिसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान निहित रहता है। इसके माध्यम से ही सामाजिक जीवन को गति तथा प्रवाह मिलता है। भारतीय चिन्तन परम्परा लोक निरन्तरता, अखण्डता, नूतनता, विविधता तथा समावेशिकता का समन्वय है जिसे समग्रता तथा सम्पूर्णता का प्रवाह माना जाता है। भारतीय चिन्तन परम्परा लोक को संग्रह तथा संयोजन करके चलता रहता है। भारतीय जीवन में लोक की विशालता असीम है। लोकजीवन में देवी-देवता की आराधना तथा महिमा का वर्णन अथर्ववेद के प्रसिद्व सूक्त-माता भूमिः पुत्रोः अहं पृथिव्या की वैश्विक अभिव्यक्ति से होती है।

यज्ञ शब्द यज धातु से निकला है जिसके विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में वर्णन करते है-यज्ञ देवपूजा संगतिकरण दानेषु अर्थात यज्ञ धातु देव पूजा, संगतिकरण तथा दान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यज्ञ शब्द का तात्पर्य उस समय उस क्रिया कलाप को लिया जाता था जिसमें लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक विषयक गूढ़तत्वों का अनुसंधान किया जाता था। वैदिक काल के लोकजीवन का एक लक्ष्य यज्ञ ही होता था। उस समय मन्दिर अथवा शिवालय जैसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। वेद में अग्नि शब्द सर्वत्र भौतिक अग्नि का ही बोधक नही बल्कि जहां उपास्य देव के अभिप्राय से अग्नि शब्द आया है।

स्वास्तिनो दिवो अग्न पृथिव्या विश्वायुधेहि यज्ञथाय देव[1]

अर्थात हे अग्नि देव आप उपासक के लिए सम्पूर्ण आयु दे तथा द्युलोक तथा पृथ्वी लोक के मध्य में उसको स्वास्ति तथा ऐश्वर्य प्रदान करें।

वैदिक कालीन लोकजीवन में यज्ञ एवं बलि की परम्परा का प्रचलन अत्यधिक था। यज्ञ के सम्पादन में अग्नि की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। इसके अभाव में यज्ञ को सम्पन्न कराना सम्भव नही था। यज्ञीय कर्मकाण्डों के दौरान अग्नि में हवि अथवा आहुतियाँ दी जाती थी। साथ ही बलि देने की परम्परा का भी निर्वाह्व किया जाता था। यह परम्परा एक प्रकार से तत्कालीन लोकजीवन का अभिन्न अंग थी। वैदिक जन यज्ञ एवं बलि के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न करते थे जिससे उनके जीवन में कठिनाईयाँ न आये। साथ ही अपने पशुओं एवं कृषि की सुरक्षा के लिए भी यज्ञ-परम्परा का सम्पादन करते थे।

यज्ञ प्राचीन सभ्य मनुष्य के सम्पूर्ण विचार जगत का एक मुख्य केन्द्र है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि ई०पू० 4500 से लेकर ई०पू० 300 तक के प्राचीन काल में यज्ञ परम्परा पौराणिक, दार्शनिक एवं सामाजिक विचारों के तक सीमित थी। उदाहरण के लिए ताम्र पाषाण युग के प्राचीन मिस्रियों से लेकर प्रसिद्व चिन्तक अरस्तू के परिपक्व विचारों तक देखने को मिलता है। लेकिन पूर्वी सभ्यता में जैसा भी हो यज्ञ एकमात्र आधार एवं विचारों की गतिशील शक्ति रह गई है।[2] यज्ञ वेद की आत्मा है। यह मंत्रों से पुराना है जो इसको सम्पादित करने के लिए बनाये गये थे। जब आदि मानव ने देखा कि पका हुआ भोजन बिना पके हुए भोजन की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट एवं खाने योग्य था तब

उसने विचार किया कि दैवीय अतिथि अर्थात् प्राचीन मानव ने देवताओं को अग्नि से तैयार किये हुए भोजन खिलाकर स्वागत किया। बलिदान दो प्रकार के हैं, इनमें से प्रथम अग्नि सहित बलिदान एवं द्वितीय अग्नि रहित बलिदान। अग्नि सहित बलिदान उसको कहा गया है जिसमें दी जाने वाली बलि का उपभोग हो जाता है जो लौह एवं धुएँ के रूप में ऊपर देवताओं के भोग के लिए बाहर रख दी जाती है। सर्वविदित है कि वैदिक बलिदान जैसे कर्मकाण्डों में अग्नि केन्द्रीय देवता एवं केन्द्रीय विचार है। वैदिक काल अपने आध्यात्म ज्ञान, मुख्य उत्पाद के रूप में अग्नि अपने आप में ऊष्मा, प्रकाश एवं जीवन है।[3] वैदिक कर्मकाण्ड मुख्य रूप से अग्नि एवं सोम को दिये जाते थे। अग्नि स्वयं में एक देवता ही नही अपितु दैवीय संदेशवाहक एवं मध्यस्थ है। विष्णु एवं इन्द्र ने बलिदान के लिए विशाल संसार का निर्माण किया था।[3] बलिदान विश्व के चक्र की धुरी है एवं समस्त वस्तुओं की उपजाऊ शक्ति है।[4] यह स्थायी एवं सार्वभौमिक है जो देवताओं एवं मनुष्यों के द्वारा किया जाता है।[5] यह दृष्टिगत होता हैं कि प्रारम्भिक वैदिक संस्कारों में बलिदान कालान्तर के संस्कारों की अपेक्षा बहुत ही साधारण थे। पौरोहित्य के उत्थान एवं विकास के साथ बलिदान इतनी सीमा तक बढ़ गया कि देवताओं, मनुष्यों एवं ब्रह्माण्ड का भी स्रोत माना जाने लगा[6] बलिदान के द्वारा देवता समस्त चीजो की रचना करते थे। बलिदान के द्वारा वे अमर बन गये।[7]

अग्नि आर्यों की बलिदानी अग्नि है एवं बलिदान के समस्त कर्मकाण्ड पवित्र अग्नि के आस-पास केन्द्रित थी। ऊष्मा एवं गर्मी का लाभ अग्नि प्रदान करती है एवं इसकी सेवा भोजन पकाने के लिए ली जाती थी जो पुरस्कार के तौर पर देवताओं द्वारा दिया जाने वाला प्रत्यक्ष उपहार है। अग्नि अमर है जो मानव के मध्य सम्मानजनक स्थान बनाता है। वह त्याग करने वालों में सबसे सम्माननीय ऋषियों में सर्वाधिक दैवीय समस्त बलिदानों का निर्देशक एवं पूर्णकर्ता है। वह 'बलिदानों का पिता' है जो स्वर्ग एवं पृथ्वी के मध्य एक गतिशील संदेशवाहक है जो साधकों एवं उपहारों एवं मंत्रों को ले जाता है एवं बलिदानों के लिए देवताओं का आवाह्न करता है। कभी-कभी वह मुख के रूप में वर्णित है जिसके द्वारा देवता व मनुष्य बलिदान में भाग लेते हैं।

वैदिक लोकजीवन में शुद्धता एवं कर्मकाण्डों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। किसी संस्कार को प्रारम्भ करने से पूर्व उसे अग्नि द्वारा शुद्धिकरण किये जाने की प्रथा का प्रचलन था। शुद्धिकरण के संदर्भ में 'पोत्र' शब्द मिलता है जिसका मूल 'पु' है तथा इसका अर्थ शुद्धिकरण है। अग्नि की शुद्धि करने वाली योग्यता प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात है। अग्नि का कार्य 'पोत्र' पुरोहित का कर्तव्य होना कहा जाता है। ऋग्वेद में 'पोत्र' बलिदान वाले कर्मकाण्डों के एक पुरोहित का नाम है।[8] पोत्र, शुद्धिकारक अथवा सफाई कर्मी अथवा प्रार्थना करने वाले पुरोहित का सहायक है जो कर्मकाण्डों में किसी भी त्रुटि का निवारण करता है।[9]कर्मकाण्डों के रूप में पशुओं के बलिदानों की चर्चा मिलती है। समय-समय पर पशुओं के बलिदानों को उक्सन्ना, बसन्ता जैसे विशेषणों से संकेत किया गया है।[10] यह विशेषण प्रदर्शित करते है कि घृत को अक्सर बड़ी मात्रा में बलिदान में दिया जाता था। अग्नि कर्मकाण्ड में यह घी के महत्व की ओर भी संकेत करता था। वास्तव में घी अग्नि के समस्त अस्तित्व में समाया हुआ माना जाता है जैसे कि घृत योनि, घृत-प्रस्तर,[11] घृत प्रतीक,[12] घृतनिर्णीक[13] इत्यादि विशेषणों द्वारा संकेत किया गया है। देवताओं की शान्ति एवं बलिदान करने वालो की प्रसन्नता सभी बलिदानों का उद्देश्य है। "ईश्वर करें यह बलवर्धक बलिदान उसे संतुष्ट करे।[14] ईश्वर करें हमारे बलिदानों द्वारा तुम्हें संतुष्टि मिले।[15] ईश्वर करें कि ऋग्वेद बलिदान के द्वारा अनश्वर देव प्रसन्न हों।"[16] इन मंत्रों के द्वारा अग्नि संतुष्ट हो जाओ।[17] ऋग्वेद के अन्य श्लोकों में 'ईश्वर करें कि उदार व्यक्ति सदैव प्रसन्न रहें जो तुमको निरन्तर भेटों एवं प्रशंसाओं से शान्त करते हैं। ईश्वर करें कि परिश्रमपूर्ण उसके जीवन में सभी दिवस प्रसन्नतापूर्ण हो तथा ईश्वर करें कि उसका यह बलिदान पारितोषिक देने वाला हो।[18] ऋग्वेद के समय में सभ्यता विकसित हो रही थी

जैसा कि उसके श्लोकों में देखा जा सकता है। बलिदान को भी उसी प्रकार विकसित होते हुए देखा जाना चाहिए। इसे पृथक घटना के रूप में व्यवहार में नही लाया जा सकता, जिसकी प्रकृति किसी भी गूढ़ एवं अनुमान से निर्धारित की जा सकती है जो सभ्यता के अन्य पहलुओं से अलग है।[19] वास्तव में वैदिक कालीन बलिदान न केवल शताब्दियों तक अनुकरण में लाये गये अपितु वैदिक काल के बाद वर्तमान काल तक प्रचलन में हैं। पूर्वजों की पूजा करने की परम्परा आदि काल से चली आ रही है। अर्थात् मृत पूर्वज पितृ के रूप में जाने जाते है। ऐसा माना जाता है कि पितृ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित परिवार से जुड़े होते हैं। वे भी आशा रखते हैं कि हमारे परिवार के लोग हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति करेंगे। ऐसी भावना लोक में सदैव से विद्यमान रही है। लोगो का यह मानना है कि यदि हमारे पितरगण यदि अप्रसन्न हैं तो घर में सुख-शान्ति का अभाव हो जाता है। वे तरह-तरह से लोगों को बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में लोक में पितर पूजा की परम्परा का सूत्रपात हुआ। पितरों को विभिन्न प्रकार के भेंट, बलिदान एवं हवि के समर्पण द्वारा प्रसन्न किया जाता है। वैदिक कालीन लोकजीवन में भी पितर संस्कार का सम्पादन किया जाता था जिसका उल्लेख तत्कालीन ग्रंथों में प्राप्त होता है।

पितृयज्ञ अथवा पूर्वज पूजा अग्नि-पूजा का दूसरा सामाजिक पक्ष है। व्यक्ति के मृत्योपरान्त उसको स्वर्ग में स्थान दिलाना आवश्यक माना जाता था। यह कार्य केवल शव को अग्नि को सौपने के बाद ही किया जा सकता था। अग्नि द्वारा जब मृत शरीर का उपभोग किया जाता था। तब इसके राख में बदलने के उपरान्त यह मृतक यम के संसार में नया शरीर प्राप्त कर सकता था एवं पितरों एवं अपने पूर्वजों से मिल सकता था।[20] प्रारम्भिक आर्यों के मस्तिष्क में दिवंगत हुए पूर्वजों की आत्मा के लिए अन्य सामाजिक कर्तव्य सदैव वर्तमान रहने वाला उनका सम्मान था। आधुनिक श्राद्ध संस्कार धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग हो गया है। इसलिए किसी मनुष्य के मरने के उपरान्त उसको उपहार स्वरूप भेंटे प्रदान की जाती थी। अतः भेंटों को प्रस्तुत करना एक मात्र कर्तव्यपूर्ण सेवा नही रह गई एवं धार्मिक पूजा बन गई। इस प्रकार पूर्वजों की आत्मा उनकी पीढ़ियों के परिवारो में देवता बन गई।[21] प्रतिदिन पितृयज्ञ अथवा पूर्वज पूजा अग्नि का बलिदान बन गई जो प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के द्वारा पूरी की जानी चाहिए। वेदों में पितर प्रायः अग्नि के साथ बुलाये जाते हैं। अग्नि को मृतक आत्मा को उनके निवास स्थल तक ले जाने वाला माना जाता है। पितरों को मूलतः तीन वर्गों अर्थात् उच्च, मध्यम एवं निम्न रूपों में वर्गीकृत किया गया है, जैसा कि प्रारम्भिक एवं अंतिम जो सदैव अपने पीढ़ियों द्वारा अज्ञात रहते हैं, उनको अग्नि ही बतलाती है।[22] अतः लोग अपने पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए अग्नि की पूजा करते हैं। केवल इतना ही नही, ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पाँच मंत्र चिता के संस्कारों एवं भविष्य के जीवन के विचारों पर प्रकाश डालते हैं। दाह संस्कार मृतक शरीर समाप्त करने का सामान्य तरीका था। भविष्य के जीवन का विचार इससे विशेष रूप से सम्बन्धित है।

वैदिक लोग अग्नि को संस्कारों का निर्देशक संचालक एवं नैतिकता का संरक्षक मानते थे।[23] प्रत्येक संस्कार उसकी उपस्थिति एवं अनुबंध में पूरा किया जाता था। अग्नि की उपस्थिति में उसको साक्षी मान कर संविदा एवं बंधन को पूरा किया जाता था। इस बंधन[24] एवं संविदा को अग्नि के द्वारा प्रयोग में लाया जाता था। यह एक आंतरिक प्रमाण था जो विवाह एवं उपनयन के अवसरो पर उसके चारो तरफ विद्यमान रहता था एवं विद्यार्थियों, पति-पत्नी को उस परिवेश के अनुकूल बनाता था, इसलिए उनके ये बंधन वैध एवं स्थायी हो सकते थे।

भारत में विवाह परम्परा से सम्बन्धित प्रारम्भिक संदर्भ ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। तत्कालीन समाज में विवाह को एक सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्य तथा आवश्यकता माना जाता था। विवाह संस्कार में पवित्र अग्नि की उपस्थिति को प्रमाणित करता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि 'हे अग्नि हमे बच्चों के साथ पतियो एवं पत्नियो को पुनः

वापस दे दो ।[25] पुनः ऋग्वेद के दसवें मंडल में उल्लेख मिलता है कि अग्नि से नव वधु को गौरव एवं बड़े जीवन का साथ दिया जाता था । वह दीर्घजीवी हो एवं उसका जो स्वामी है, वह सैकड़ों पतझड़ की ऋतुओं तक जीवित रहे ।[26]वैवाहिक अवसरों पर अग्नि महान देवता होता था जो उनका प्रमुख साक्षी होता था । पत्नी को अपने कर्तव्यों को पूरा करने पड़ते थे जिसमें दिव्य के साथ-साथ लौकिक प्रकृति दोनों शामिल थे । उसके धार्मिक कर्तव्य निरपेक्ष कर्तव्यों की तुलना में सबसे महत्वपूर्ण थे । उसका प्रमुख कार्य आर्यों के घरों में सम्पूर्ण घरेलू अग्नि को जलाये रखना था । आर्यों की पूजा के प्रमुख दृष्टिगत रूप अनेक प्रकार के बलिदान थे एवं वे समाज के धार्मिक मान्यताओं पर प्रभाव रखते थे । बलिदानों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अग्नि का होना आवश्यक था । अग्नि उस समय के देवताओं का पुरोहित था । आर्य जन द्वारा उसी अग्नि को निरंतर प्रज्जवलित रखा जाता था । पारिवारिक चूल्हे में अग्नि को निरंतर जलाये रखना पत्नी का कर्तव्य बना दिया गया । यह उसी प्रकार का विवाह था जो एक नवीन आत्मा के साथ उसके संगठन को प्रमाणित करती थी ।[27] देवता अधिकाशतः अग्नि के धार्मिक संस्कार से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे । वैवाहिक जीवन में अग्नि का पति के साथ पत्नी उसके साथ तीन फेरे लेकर नवीन घरेलू अग्नि को प्रज्जवलित करके जोड़े के रूप में जीवन भर उसके साथ रहती थी । पत्नी अनेको देवताओं की उपासना अपने पति के साथ मिलकर करती थी । यह संयुक्त जोड़ा उपासना करके एवं न्याय संगत रूप से अग्नि के साथ निष्ठा व्यक्त करते हुए बुढ़ापे की तरफ बढ़ता है ।[28]

समाहार

प्राचीन भारतीय लोकजीवन में धार्मिक अनुष्ठानों तथा यज्ञीय कर्मकाण्डों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है । वेद भारतीय संस्कृति की अनुपम राशि है जो अपने दर्शन एवं मूल्य के कारण अद्वितीय है । अग्नि तथा यज्ञ के सम्बन्ध अटूट है। अग्नि बिना यज्ञ का कोई अस्तित्व नहीं है । कहा जाता है कि मानव सभ्यता का आरम्भ अग्नि से हुआ है । सभ्यताओं के विकास में इसका योगदान सार्थक तथा स्पष्ट है । इसकी खोज ने अनेक नई आदिम खोजो को जन्म दिया। अग्नि का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्व सर्वजनीन तथा सर्वविदित है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद, 10-7-1
2. बेडकर, डी.के., 1950, प्रीमीटिव सोसाइटी एण्ड यज्ञ, जर्नल आफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वालूम 31, पृ॰ 70.
3. स्टाल, फ्राइट्स, 1983, अग्नि, द वेदिक रिचुअल आफ द फायर आलटर, वालूम पु, एशियन ह्यूमनिटीज प्रेस, बर्कले, पृ॰ 73.
4. ऋग्वेद, 7.99.4, 5. ऋग्वेद, 1.164.34, 35, 6. ऋग्वेद, 10.96, 7. शतपथ, ब्राह्मण, 10. 43.1,8
8. ऋग्वेद, 1.94.6, 9. ग्रीफिथ, राल्फ टी.एच., 1889, पूर्वोद्धत, पृ॰ 130., 10. ऋग्वेद, 8.43.11, 11. ऋग्वेद, 5.15. 1, 12. ऋग्वेद, 1.143.7, 13. ऋग्वेद, 10.122. 2, 14. ऋग्वेद, 1.17, 15. ऋग्वेद, 8.19.20, 16. ऋग्वेद, 7.17.4, 17. ऋग्वेद, 4.3.15, 18. ऋग्वेद, 4.4.7
19. पोतदार, के. आर., 1953, सेक्रीफाइस इन द ऋग्वेद, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, पृ॰ 14.
20. ऋग्वेद, 10.14. 8
21. क्लेटोन, ए.सी., 1913, द ऋग्वेदा एण्ड वैदिक रिलिजन, क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसाइटी फार इण्डिया, लंदन एण्ड मद्रास, पृ॰ 98-101
22. मैक्डानेल, ए.ए., 1933, पूर्वोद्धत, पृ॰ 164.
23. ऋग्वेद, 7. 43. 24
24. पाण्डेय, राजबली, 1949, हिन्दू संस्काराज, विक्रम पब्लिकेशन, बनारस, पृ॰ 62., 25. ऋग्वेद, 10.85.38, 26. ऋग्वेद, 10. 85. 39
27. उपाध्याय, बी. एस., 1933, वूमेन इन ऋग्वेद, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, पृ॰ 134., 28. ऋग्वेद, 5.43. 15

जयपुर ब्लू पॉटरी अलंकरण का परिवर्तनशील स्वरूप

रुकैया खानम

डॉ. तनूजा सिंह

राजस्थान की राजधानी व बहुमूल्य विशेषताओं की धनी जयपुर जिसे उसकी धरोहरों की विशेषताओं के कारण 2019 में यूनेस्को ने विश्व विरासतीय स्थलों की सूचीं में शामिल कर वैश्विक रूप से इसकी विशेषता को प्रमाणित किया । जयपुर की बहुत सी विशेषताओं में से एक विशेषता यहॉ की ब्लू पॉटरी है, जो अपनी कोबाल्ट नीली डाई से अलंकृत नीले व सफेद पात्रों के कारण प्रसिद्ध है। ब्लू पॉटरी की सौन्दर्यात्मक विशेषता के कारण भारत सरकार ने इसे 2019 में जीआई टैग (भौगोलिक संकेत) का सम्मान दिया । वैसे तो यह कला फारस से भारत में आकर दिल्ली से होती हुई जयपुर पहुंची। फारस के पात्रों का वर्णन हमें ह्यूस्टन के ललित कला संग्रहालय में हुसैन अफसर संग्रह के फारसी पात्रों के आधार पर कर सकते हैं। इस संग्रह के पात्रों में देखने को मिलता है कि आरम्भिक फारस के पात्रों को कम व सादा अलंकरणों से सजाया गया है। परंतु जयपुर आकर उसने अपना रूप उसी तरह परिवर्तन कर लिया जैसे समस्त क्षेत्रीय कलाएं प्रचारित होकर अपना रूप परिवर्तित कर उसी क्षेत्र की विशेषताएं लिए पहचान बनाती रही है।

चित्र संख्या - 1 ह्यूस्टन संग्रहालय के पात्र

चित्र संख्या - 2 ह्यूस्टन संग्रहालय के पात्र

जयपुर ब्लू पॉटरी के विवरण से पूर्व ये समझना आवश्यक होगा कि पात्रों का निर्माण किस प्रकार आरम्भ हुआ। पात्र शिल्प सम्भवतः मनुष्य की सबसे प्रारंभिक कृतियों में से एक है। इस विनम्र वस्तु के साथ धर्म का जुड़ाव ही इसे एक गहरा महत्व और व्यापक आयाम देता है। यह समझने के लिए एक रोचक किंवदंती है कि मिट्टी के बर्तन कैसे बने? तो कहते हैं कि जब समुद्र का मंथन हुआ और देवताओं ने अमृत निकाला तो उन्हें इसे रखने के लिए एक बर्तन ढाला(चटोपाध्याय 3) । मानव ने पात्रों को पहले उपयोगी कला के रूप में प्रयोग किया उसके पश्चात इस कला में सौंदर्य तत्त्वो का समावेश होता गया।

पात्रों के निर्माण के पश्चात मनुष्य ने इसे चमकदार बनाने का प्रयास किया जिसे ओपदार पात्र (ग्लेज्ड पॉटरी) कहा गया। ओपदार पात्रों का सबसे पुराना उदाहरण हमें मोहनजोदड़ो से मिलता है इसके बाद ये कई वर्षों तक लुप्त हो गई तथा पुनः इस का आरम्भ कुषाण युग में दिखाई देता है। इसके बाद से ओपदार पात्रों की परम्परा अब तक बनी हुई है (Blue Pottery)।

ओपदार पात्रों में ब्लू पॉटरी का विशेष स्थान है, जो मूल रुप से तुर्की फारसी कला है परन्तु चीनी पात्रों से भी इसका संबम्ध है। इन सभ्यताओं का जुड़ाव तब हुआ जब मंगोलों ने चीन पर कब्जा कर लिया। फारसी कुम्हारों ने पहले तो चीनी सामानों की नकल की लेकिन फिर अपनी स्वयं की कला के अनुसार विकास किया व इस्लामी सौन्दर्य तत्वों के अनुरूप चित्रित किया(बोर्डिया 7)। अलंकरणों में धीरे-धीरे बदलाव आए व ब्लू पॉटरी का प्रयोग महलों में धार्मिक इमारतों में हुआ। चित्र संख्या-3 में प्रदर्शित टाइल महल की टाइल है जो चीनी पुष्प व वनस्पति के साथ शक्ति के शाही प्रतीकों, ड्रैगन और फिनिक्स को भी दर्शाया गया है, जो चीनी प्रभाव को दर्शाता है (artsofasia)।

चित्रसंख्या-3ह्यूस्टनसंग्रहालयकेपात्र

यह कला लोदी वंश के पश्तून शासकों (1451-1526) द्वारा उत्तर भारत में लाई गई(बोर्डिया 13), उदाहरण स्वरुप दिल्ली के महरौली में जमाली-कमाली के मकबरों और मस्जिद पर मिले हैं, जहां नीले के साथ लाल व भूरे रंग से ज्यामितीय एवं पुष्पाकृतियों का प्रयोग इस्लामिक कला तत्वों के रूप में हुआ है। इसी तरह के अलंकरण 1583 में

मुगल कला में निर्मित लाहौर किले (पाकिस्तान) में देखने को मिलता है, परन्तु ये अधिक विकसित व रंगीय विविधता लिए हुए हैं तथा इसमें पशु व मानवाकृतियों का प्रयोग देखने को मिलता है(बोर्डिया 17)। एक अन्य उदाहरण बीदर (दक्कन) का किला है जहां विविध रंगों की टाइलों का प्रयोग हुआ है तथा कुरान की आयतों को भी अलंकरण में प्रयोग किया है। यहां पर कुछ टाईलें केवल नीले व सफेद रंग की बनी हुई है जो पुष्पाकृतियों व ज्यामितीय अलंकरणों से सजी हुई हैं(बोर्डिया 21)।

पद्मश्री कृपाल सिंह शेखावत ने ब्लू पॉटरी के इतिहास के विषय में स्थानीय कलाकारों ने बताया कि जयपुर में महाराजा सवाई रामसिंह कला प्रेमी थे, वे अनेक प्रतियोगिताएं आयोजित करते थे। पतंगबाजी की एक प्रतियोगिता में भरतपुर के कालूराम व चूड़ामणि नाम के दो कुम्हारों ने इनाम जीता। रामसिंह के पूछने पर पता चला कि यह भरतपुर राजा के महल में बेल-बूटे भी बनाते हैं तथा रामसिंह ने इन दोनों को दिल्ली ब्लू पॉटरी कला सीखने भेजा। 1868 ईस्वी में जयपुर वापस लौटे तो जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट में ब्लू पॉटरी सिखाने के लिए नौकरी पर रखा गया। अध्यापन का यह सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा(कासलीवाल 33)।

जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट के छात्रों द्वारा निर्मित पात्रों का अध्ययन हम जयपुर अल्बर्ट हॉल म्यूजियम के संग्रहण से कर सकते हैं। यहां के छात्रों पर प्रारम्भ में मुगलकालीन पात्रों का प्रभाव दिखता है जो संभवतः दिल्ली से प्रशिक्षित अध्यापकों के कारण हुआ होगा। ये पात्र सफेद व नीले रंग के हैं। आगे चलकर इन कलाकारों ने इसी वर्णीय विशेषता का प्रयोग करते हुए मानवाकृतियां व प्राकृतिक अलंकरणों से पात्रों को सजाया-जैसे-जल महल के सामने नाव सवार, मछलियां व किले पर पंखयुक्त मानवाकृतियां आदि। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यार्थियों द्वारा पात्रों में देवी-देवताओं की आकृतियों को उनकी विशेषताओं के साथ चित्रित किया जो विशुद्ध भारतीयता को दर्शाता है।

कलाकारों के रूढ़िवादी विचारों ने इस कला को अपने परिवारों तक सीमित कर दिया व इसका ज्ञान सामान्य जनता की पहुंच से दूर हो गया। लुप्त सी होती इस कला को पुनर्जीवित करने का श्रेय जयपुर की महारानी गायत्री देवी, ऑल इंडिया हैंडीक्राफ्ट बोर्ड, नई दिल्ली की प्रथम चेयरपर्सन श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने यह निर्णय लिया कि जयपुर में कृपाल सिंह शेखावत के निर्देशन में विद्यार्थियों को ब्लू पॉटरी का प्रशिक्षण दिया जाए। इस कार्य को आगे बढ़ाते हुए 1963 में कृपाल सिंह शेखावत ने इस कार्य का आरम्भ कर विद्यार्थियों को ब्लू पॉटरी का प्रशिक्षण देना शुरू किया व अत्याधिक महंगी दर पर बिक रहे सामान को जगह-जगह जाकर सस्ती दर पर खोजा तथा इसका ज्ञान आम जनता तक पहुंचाया।

कृपाल सिंह शेखावत राजस्थान के प्रमुख कलाकारों में रहे हैं और यही प्रमुखता उनके पात्रों में दर्शनीय हैं। अभी तक जयपुर के पात्रों में पारम्परिक रंगो का प्रयोग हो रहा था, परन्तु कृपाल सिंह ने इनमें राजस्थानी विशेषताओं के रंगों का प्रयोग प्रारम्भ किया। उनके लघु चित्रों के प्रमुख विषय मुख्यतः राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंग, महाकवि जयदेव कृत गीत गोविंद व राजस्थान के लोक नायकों की जीवन घटनाओं पर आधारित होते हैं। उन्होंने इसी लघु चित्र शैली का प्रयोग ब्लू पॉटरी के पात्रों पर किया (कासलीवाल 31-32)।

शेखावत जी के शिष्य श्री गोपाल सैनी ने इस कला को नए आयाम देते हुए आगे बढ़ाया व 1993 में अपनी कार्यशाला की जयपुर में स्थापना की। उन्होंने लघुचित्रों की सूक्ष्म विशेषताओं का समावेश कर पॉटरी में शैडिंग व बारीकियों का कार्य शुरू किया तथा लय व गति को अपने चित्रण की विशेषता बनाई तथा अपनी असाधारण प्रतिभा से ब्लू पॉटरी में जाली काटने जैसा असंभव कार्य किया व जयपुर स्थापत्य की प्रतीक 51'' ऊँची ईश्वर लाट को ब्लू पॉटरी में बनाकर कीर्तिमान स्थापित किया तथा मुगल शैली के लघु चित्रों से सुसज्जित 25'' ऊंची जालीदार लैम्प

बनाया। भारत सरकार द्वारा सम्मानित श्री गोपाल सैनी ने सरकार की ओर से कई बार विदेश भेजा गया जहॉ उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन कर भारत का प्रतिनिधित्व किया। अभी भी यह देशी व विदेशी कलाकारों को प्रशिक्षित कर इस कला को आगे बढ़ा रहे हैं।

जैसे हर कला में सामाजिक परिवर्तन के साथ बदलाव आता है उसी तरह ब्लू पॉटरी का स्वरूप भी बदल रहा है। ब्लू पॉटरी अब केवल पात्रों तक ही सीमित नहीं रही, कुछ कलाकारों व संगठनों ने इसे विविध रूप में निर्मित किया। इनमें से एक संगठन नीरजा इंटरनेशनल फाउंडेशन मुख्य रूप से कार्यरत है जिसकी संस्थापक श्रीमती लीला बोर्डिया ने अपने प्रयासों से ब्लू पॉटरी के द्वारा ज्वैलरी, खेल की वस्तुओं, कुर्सी, टेबल, चम्मच, चाकू व घर की सजावट की वस्तुओं आदि का निर्माण करवाया व वैश्विक रूप से अपनी पहचान बनाई।

ब्लू पॉटरी आज भी वैश्विक रूप से अलग-अलग रूपों में अपनी पहचान बनाए हुए हैं तथा कलाकार संगठन व व्यापारी इस कला को विशेष स्थान दिला रहे हैं।

संदर्भ:-

1. चटोपाध्याय‘‘.कमलादेव,हैंडीक्राफ्ट आफ इंडिया.‘‘न्यू दिल्ली:एशिया बुक क्रोप3.सं.पृ,1975,
2. Blue Pottery, https://industries.rajasthan.gov.in/content/industries/handmadeinrajasthandepartment/artandcraft/bluepottery/bluepottery.html.
3. बोर्डियालीला,."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजा इंटरनेशनल7 .सं.पृ,2014,
4. Doe, John. “Between Sea and Sky: Blue and White Ceramics from Persia and Beyond at the Museum of Fine Arts, Houston.” Arts of Asia, 10 Feb. 2022, artsofasia.com/2020/09/20/between-sea-and-sky-blue-and-white-ceramics-from-persia-and-beyond-at-the-museum-of-fine-arts-houston-2.
5. बोर्डियाजयपुर ब्लू पॉ".लीला,टरी .सं.पृ,2014,नीरजा इंटरनेशनल:जयपुर."13
6. बोर्डियालीला,. ."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजाइंटरनेशनल,2014,पृ.सं. 17
7. बोर्डियालीला, ."जयपुर ब्लू पॉटरी".जयपुर:नीरजाइंटरनेशनल,2014,पृ.सं. 21
8. कासली वाल मीनाक्षी "कृपाल सिंह शेखावत."समकालीन कला,ललित कला जुलाई,-अक्टूबर.,2006पृ.सं33 .
9. कासली वाल मीनाक्षी "कृपाल सिंह शेखावत."समकालीन कला,ललित कला जुलाई,-अक्टूबर.,2006पृ.सं3 .1-32

माटीगांव (फरसण्ड मोहनपुर) जिला चन्दौली के सर्वेक्षण से प्राप्त सर्वतोभद्र कृष्ण लीला स्तम्भः एक अध्ययन।

डॉ. विनय कुमार

माटीगांव (25°18′23″ उत्तरी अक्षांश व 83°14′7″ पूर्वी देशांतर) का पुरास्थल एक बृहत टीले के रूप में है जो कि उत्तर–प्रदेश के चंदौली जिले में चंदौली शहर से आठ कि०मी० उत्तर–पश्चिम में तथा निकटतम रेलवे–स्टेशन कुचमन से दो कि०मी० दक्षिण–पूर्व में स्थित है। चंदौली जिले में मानव के प्राचीनतम बसावट का अध्ययन विन्ध्य पठार क्षेत्र के नौगढ़ तहसील में उत्तर–प्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग द्वारा किया गया जहाँ से पुरापाषाणकालीन उपकरण प्रतिवेदित हुए हैं। अभिलेखों के अनुसार माटीगांव का मूल नाम फरसण्डमोहनपुर है।

क्षेत्र की पुरातात्विक पृष्ठभूमि व पूर्ववर्ती कार्य

चंदौली जिले का पुरातात्विक अन्वेषण सर्वप्रथम 1875–76 ई० में सरअलेक्जेंडर कनिंघम ने की (कनिंघम 1880) व पुरातात्विक महत्व के कुछ पुरास्थलों को प्रतिवेदित किया। 1999–2000 ई० में उत्तरप्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग और काशी हिंदू विश्वविद्यालय की टीम ने माटी गांव के प्राचीन पुरास्थल की सूचना दी।

माटीगांव स्थित भांडेश्वर प्रांगण वाले टीले पर हमें भिन्न–भिन्न देव समूहों की मूर्तियाँ यत्र–तत्र देखने को मिल जाती है। इन्हीं मूर्ति खंडों में एक रोचक सुन्दर प्रस्तर स्तंभ भी प्राप्त हुआ है जो कि ऊर्ध्वाधर दो भागों में विभाजित है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

यह प्रस्तर स्तंभ किसी देवालय का अंग न होकर एक स्वतंत्र स्तुतिपरक एकाश्मक स्तंभ रहा होगा। आकार प्रकार में यह प्रस्तर स्तम्भ–फलक आयताकार एवं वर्गाकार है। इस स्तम्भ के चारों भद्रों में सोपानवत छोटे–छोटे सुंदर रथिकाएँ निर्मित है। रथिकाओं को दर्शाने के निमित्त पार्श्व में दो छोटे अलंकृत स्तम्भनुमा रचनाओं को उकेरा गया है। आयताकार छाद्यकी ज्यामितीय अलंकरणों से अलंकृत हैं। रथिका के बीच में कृष्ण–लीला संबंधित दृश्य को अत्यंत ही सजीवता से तराशा गया है। स्तम्भ के अधोभाग में पादकी स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है परन्तु शीर्ष भाग खंडित है। संभवतः शीर्ष भाग घंटाकृति अथवा आमलख जैसी संरचना से अलंकृत रहा होगा। स्तम्भ के चतुर्दिक रथिकाओं में अधिकांशतः वासुदेव और देवकी पुत्र कृष्ण की बाल–लीला से संबंधित दृश्यों का सुंदर रूपांकन किया गया है। इस स्तम्भ के प्रत्येक भद्रों में निर्मित रथिकाओं में निरूपित कृष्ण–लीलाओं का वर्णन क्रमशः नीचे से शीर्ष की ओर (भद्रपीठ) जाने वाली दिशा में किया गया है–

प्रथम भद्र–

1. एक वृक्ष और उसके नीचे वामाभिमुख आसनस्थ गौ।
2. दधि मंथन दृश्य।
3. गोवर्धनपर्वतधारी श्रीकृष्ण।
4. भद्रपीठ पर आसीन बालकृष्ण के सम्मुख माता यशोदा।
5. खंडित।
6. ललितासन मुद्रा में हलधर बलराम।
7. स्थानक चतुर्भुज कृष्ण।

द्वितीय भद्र–

1. एक वृक्ष के नीचे आसनस्थ वामाभिमुख गौ।
2. केशी वध।
3. दधि मंथन दृश्य।
4. धेनुकासुर वध।
5. शिशु कृष्ण को लिए हुए वासुदेव का यमुना पार करना।
6. हलधर बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण का वध।
7. मरणासन्न शकटासुर (शकट भंग)।

तृतीय भद्र–

1. एक वृक्ष के नीचे वामाभिमुख स्थानक गौ।
2. अरिष्ठासुर वध।
3. यमलार्जुन उद्धार।
4. मथनी युक्त दधि–पात्र के सम्मुख बालक।
5. दधि पात्र लिए हुए स्त्री आकृति।
6. प्रवेशद्वार के मध्य शिशु कृष्ण को गोद में लिए हुए वासुदेव।
7. पर्यंक पर अर्ध शयन मुद्रा में बाल–कृष्ण को दूध पिलाती माता यशोदा।

चतुर्थ भद्र–

1. वृक्ष के नीचे आसीन वामाभिमुख गौ।
2. वरद मुद्रा में आसनस्थ पुरुषाकृति संभवतः कृष्ण।
3. कुवलयापीड़ वध।
4. योग माया को शिलापट पर पटकता कंस।
5. अन्य नवजात शिशु को शिलापट पर पटकता कंस।
6. मल्ल युद्धरत कृष्ण।
7. खंडित व अस्पष्ट।

माटीगांव से प्राप्त कृष्ण लीला स्तंभ में शिल्पकारों ने जिस प्रकार से वर्णन करते हुए सजीवता से उकेरा है उन दृश्यों का वर्णन निम्नवत प्रस्तुत है–

शकट भंजन– इस दृश्य का रूपांकन लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की सप्तम् रथिका में हुआ है। इस रूपांकन में शकटासुर के मानवीय स्वरूप को दिखाया गया है और अभिव्यंजना के तौर पर शकट के गोलाकार पहिए को दिखाया गया है। शकटासुर वामाभिमुख मरणासन्न मुद्रा में अपने एक हाथ को ऊपर मुख के पास किए हुए हैं तथा उसका दूसरा हाथ नीचे पहिये की तरफ है। शकटासुर के बड़े बाल व दाढ़ी सुस्पष्ट देखे जा सकते हैं। उसकी आँखें खुली हुई प्रतीत होती है। यहाँ पर ध्यान देने वाली बात यह है कि बालक कृष्ण का अंकन यहाँ नहीं मिलता है या नहीं किया गया है।

यमलार्जुन उद्धार– इस दृश्य का रूपांकन कृष्ण लीला स्तंभ के तृतीय भद्र की तृतीय रथिका में हुआ है। इसमें श्री कृष्ण यमलार्जुन के दो वृक्षों को उखाड़ते हुए दर्शाए गए हैं। वह अपने बाएँ पैर से बाएँ ओर के वृक्ष के तने को लपेटे हुए हैं और बाएँ हाथ की भुजा से उसे मजबूती से पकड़े हुए हैं। उनका दायाँ पैर भूमि पर है तथा दाएँ ही हाथ से दाईं ओर के वृक्ष को

मजबूती से लपेटे हुए हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार धनपति कुबेर के दो लड़के जिनका नाम नलकुबेर और मणिग्रीव था नारदमुनि के शाप से ये दोनों पुत्र अर्जुन वृक्ष होकर यमलार्जुन के नाम से प्रसिद्ध हुए जिनका उद्धार कृष्ण ने किया।

गोवर्धन धारण– इस दृश्य का अंकन लीला स्तम्भ के प्रथम भद्र की तृतीय रथिका में देखने को मिलता है, इसमें कृष्ण को त्रिभंगी मुद्रा में बाएँ हाथ से गोवर्धन पर्वत को धारण किए हुए दिखाया गया है तथा दाएँ हाथ को कटि पर रखे हुए दर्शाया गया है। इसमें श्रीकृष्ण को अंग वस्त्र धारण किए हुए भी दिखाया गया है। इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत धारण किए हुए लीला दृश्यों का अंकन कुषाण काल से ही दिखाई देने लगता है।

अरिष्ठासुर वध– इस दृष्टांत का अंकन लीला स्तंभ में तृतीय भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथों से वृषभ रूप धारण किए हुए अरिष्टासुर को पकड़े हुए हैं। उनका एक पैर अस्पष्ट रूप से अरिष्टासुर के ऊपर है। अरिष्ठासुर को पैरों से कुचलकर वध करने का वर्णन *भागवत महापुराण* में मिलता है।

केशी वध– इस लीला दृश्य का सुंदर व जीवंत अंकन लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इसमें कृष्ण स्थानक मुद्रा में वामाभिमुख केशी के सम्मुख उसके दोनों अग्रपादों को पकड़े हुए तथा अपने दाहिने पैर से केशी के पैर को दबाकर उसे पटकने की चेष्टा करते हुए दर्शाये गए हैं, जिसमें उनका बायां पैर पीछे की ओर है।

धेनुकासुर वध–कृष्ण लीला स्तम्भ में इस दृश्य का अंकन केशी वध के ही समान है, जिसमें गधे के रूप में आए असुर धेनुकासुर के दोनों पैरों को स्थानक मुद्रा में वामाभिमुख बलराम दोनों हाथों से पकड़े हुए हैं तथा अपने बाएं पैर से धेनुकासुर के पैर को दबाएँ हुए हैं। इस दृश्य में बलराम दाएं पैर को थोड़ा पीछे कर पूरे जोर के साथ उसे भूमि पर पटकने की चेष्टा करते हुए प्रतीत होते हैं। पुराणों में वर्णित है कि जब कृष्ण और बलराम ताड़ के वन में अपने मित्रों के साथ फल खाने गए तभी धेनुकासुर ने गधे के रूप में उन पर हमला किया तब बलराम ने उसका वध किया था।

कृष्णा–चाणूर मल्लयुद्ध– इस दृश्य का अंकनकृष्ण–लीला स्तम्भ के चतुर्थ भद्र की सप्तम रथिका में हुआ है। चाणुर, कंस का एक प्रमुख एवं कुशल मल्ल था। इस दृश्य में वामाभिमुख कृष्ण अपनी बाएं हाथ से चाणुर के बाएं पैर को उठाए हुए हैं। चाणुर अपने दाहिने हाथ से कृष्ण का बायां हाथ पकड़ कर छुड़ाने की चेष्टा करता प्रतीत होता है। कृष्ण का दायां हाथ चाणुर के बाएं हाथ को पकड़े हुए ऊपर मुखमंडल के ऊँचाई पर दिखाई दे रहा है।

बाल कृष्ण को लिए हुए वासुदेव का यमुना पार करना– लीला स्तंभ के द्वितीय भद्र की पंचम रथिका में इस मनोरम दृश्य का अंकन किया गया है। इसमें वासुदेव मथुरा से नवजात शिशु कृष्ण को गोद में लेकर गोकुल जाने हेतु यमुना नदी पार करते हुए दर्शाए गए हैं। स्थानक मुद्रा में वासुदेव दक्षिणाभिमुख हैं। गोद में शिशु कृष्ण को लिए हुए वासुदेव के सम्मुख थोड़ी वक्रता लिए हुए यमुना नदी उनके घुटने के ऊपर तथा कटि भाग के नीचे यानी जाँघ तक प्रवाहमान हैं।

नवजात शिशु को लिए हुए प्रवेश द्वार पर खड़े वासुदेव– लीला स्तम्भ के तृतीय भद्र की षष्ट रथिका में उक्त दृश्य का रूपांकन किया गया है। इसमें वामाभिमुख वासुदेव अपनी गोद में

नवजात शिशु कृष्ण को लेकर स्थानक मुद्रा में कारागार के प्रवेश द्वार पर खड़े हुए दर्शाए गए हैं। उनके दोनों पार्श्व के प्रवेश द्वार के दोनों कपाट अधखुले प्रदर्शित है।

कुवलयापीड वध– कुवलयापीड एक हस्ति था जिसका वध बालकृष्ण के द्वारा हुआ था। इस हस्ति को कंस ने विशेष प्रशिक्षण दिया था ताकि कृष्ण और बलराम को मारा जा सके। इस घटना का दृश्यांकन लीला स्तम्भ के चतुर्थ भद्र की तृतीय रथिका में हुआ है। इस लीला दृश्य को शिल्पी ने बहुत ही बारीकी से यहाँ निरूपित किया है। इसमें वामाभिमुख कृष्ण कुवलयापीड को नीचे पटकर, उसके सूंड़ पर अपना बायां पैर रखे तथा अपने दोनों हाथों से उसके दोनों पैरों को पकड़े हुए दर्शाए गए हैं।

कंस का योगमाया को शिलापट्ट पर पटकना–कृष्ण लीला स्तंभ के चतुर्थ भद्र की चतुर्थ एवं पंचम रथिका में इसका दृश्यांकन हुआ है। *पुराण* कथा के अनुरूप कंस को अपने दाहिने हाथ से योगमाया (यशोदा के नवजात शिशु कन्या) के दोनों पैरों को पकड़कर शिलापट पर पटकते हुए दर्शाया गया है। स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित कंस का बायां हाथ निकट के शिलापट पर स्थित है। इसमें कंस के बाएं पैर को शिलापट्ट की तरफ आगे किये हुए तथा दाहिने पैर को पीछे रखे हुए दर्शाया गया है। कंस के दाहिने हाथ को शीर्ष के ऊपर उठाएं हुए दर्शाया गया है जिसमें वह योगमाया के दोनों पैरों को पकड़कर उछालते हुए प्रतीत होता है। ऐसा ही दृश्य इसी भद्र के पंचम रथिका में भी दर्शाया गया है। संभवतः यह वासुदेव–देवकी के अन्य किसी नवजात शिशु को शिलापट्ट पर पटकने का दृश्य हो ।

दधि मंथन– कृष्ण लीला स्तंभ में इस मनोरम दृश्य का अंकन चतुर्थ भद्र की द्वितीय रथिका में हुआ है। इस दृश्यांकन में स्थानक मुद्रा में माता यशोदा दक्षिणाभिमुख होकर दधि मंथन कर रही है और वामाभिमुख बालकृष्ण अपने दोनों हाथों से मथनी पकड़े हुए दर्शाए गए हैं।

माखन चोरी का दृश्य– इसी लीला स्तम्भ मेंएक अन्य कलाकृति तृतीय भद्र के चतुर्थ रथिका में भी दर्शाया गया है, जिसमें कोई पुरुषाकृति दक्षिणाभिमुख स्थानक मुद्रा में मथनी युक्त दधि पात्र के पास दुबके हुए अवस्था में है। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कि यह दृश्य माखन चोरी से संबंधित है जिसमें बालकृष्ण माखन चोरी करते हुए दर्शाए गए हैं।

चतुर्भुज कृष्ण– लीला स्तम्भ में चतुर्भुज कृष्ण का रूपांकन प्रथम भद्र के सप्तम रथिका में दर्शनीय है। इसमें स्थानक मुद्रा में श्रीकृष्ण को दर्शाया गया है जिसमें उनका बायां हाथ नीचे की ओर गदा पकड़े हुए हैं। दायां भाग खंडित है जिससे दायें हाथ की स्थिति अस्पष्ट है। संभव है कि दायाँ हाथ नीचे की ओर अथवा कटि भाग पर रहा होगा (?)। इस रथिका के दृ श्य में बायें तरफ ऊपर उठा हुआ एक अन्य हाथ जिसमें शंख सी आकृति है थोड़ी अस्पष्ट है। संभव है कि यह चतुर्भुज कृष्ण का दृश्य रहा हो जिसमें कृष्ण बायें ऊपर उठे हाथ में शंख और बायें नीचे की तरफ वाले हाथ में गदा धारण किये हुए हैं। इसके विपरीत दायें दोनों हाथों में चक्र और पद्म रहा होगा जो कि खण्डित होने की वजह से स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा है।

हलधर बलराम– लीला स्तंभ में इस दृश्य का अंकन बहुत ही सुंदरता से किया गया है। लीला स्तंभ के प्रथम भद्र की प्रथम रथिका में इस दृश्य को शिल्पकार ने दक्षता से निरूपित किया है इसमें हलधर बलराम भद्र पीठ पर ललितासन मुद्रा में बैठे हुए दर्शाए गए हैं। इनके बायें हाथ

में हल है जो कि बाएं कंधे से टिका हुआ प्रतीत होता है, जबकि दाहिना हाथ दाहिने पैर के जांघ पर रखे हुए दर्शाए गए हैं।

ललितासन मुद्रा में श्री कृष्ण– लीला स्तंभ के चतुर्थ भद्र की द्वितीय रथिका में ललितासन मुद्रा में बैठे कृष्ण को दर्शाया गया है। कृष्ण के दाहिने हाथ को वरदमुद्रा में दर्शाया गया है जबकि बाएँ हाथ वाला भाग खंडित व अस्पष्ट है। संभवतः बायां हाथ बाएं पैर के जंघा पर रहा होगा। इस दृश्य में कृष्ण आँखें बन्द किये हुए ध्यान लगाए हुए प्रतीत होते हैं।

गौ और वृक्ष का अंकन– लीला स्तंभ के सभी चारों भद्रों के प्रथम रथिकाओं में गौ को स्थानक या आसनस्थ मुद्रा में कदम्ब वृक्ष के नीचे दर्शाया गया है। प्रथम भद्र के प्रथम रथिका में वामाभिमुख आसनस्थ गौ को चार पत्रकों से युक्त वृक्ष के नीचे मुख को ऊपर उठाए दर्शाया गया है। ऐसे ही द्वितीय भद्र के प्रथम रथिका में भी वामाभिमुख गौ को वृक्ष के नीचे आसनस्थ मुद्रा में दर्शाया गया है। इसमें भी गौ अपने मुख को ऊपर उठाए हुए प्रतीत हो रहा है। इसके अलावा तृतीय भद्र की प्रथम रथिका में भी वामाभिमुख स्थानक मुद्रा में गौ को वृक्ष के नीचे दर्शाया गया है।

बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण का वध–लीला स्तम्भ के द्वितीय भद्र के तृतीय रथिका में बलराम द्वारा सूत रोमहर्षण वध के कथानक को दर्शाया गया है, जिसमें मुनि रोमहर्षण दक्षिणाभिमुख आंखें बंद किए हुए दिख रहे हैं जबकि उनके सम्मुख बलराम हल की नोक से उनके शीर्ष पर प्रहार करते हुए दर्शाए गए हैं।

बालकृष्ण और माता यशोदा–लीला स्तंभ के प्रथम भद्र की चतुर्थ रथिका में इस सुंदर दृश्य को दर्शाया गया है। इसमें ऊंचे भद्रपीठ पर आसीन वामाभिमुख कृष्ण नीचे की ओर पैर लटकाए हुए दर्शाए गए हैं। दक्षिणाभिमुख स्थानक मुद्रा में माता यशोदा बालकृष्ण के सम्मुख खड़ी हैं तथा कृष्ण माता यशोदा के हाथ को पकड़े हुए प्रतीत होते हैं। संभवतः शिल्पकार द्वारा इस दृश्य में माता यशोदा और बालकृष्ण के वार्तालाप को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

पर्यंक पर आसीन माता यशोदा–इस लीला स्तंभ के तृतीय भद्र की सप्तम रथिका में इस दृश्य को दर्शाया गया है। यह रथिका अल्प रूप से खंडित है जिसकी वजह से दृश्य थोड़ा अस्पष्ट है परन्तु पर्यंक के दो पाद और पर्यंक स्पष्टतः दिख रहे हैं। जिसपर माता यशोदा अर्धशयन मुद्रा में बालकृष्ण को दुग्ध पान करा रही हैं। पर्यंक के ऊपर की छाद्यकी स्पष्ट रूप से दिख रहा है।

संदर्भ

1. अग्रवाल, आर०सी०, 1979 ' कृष्णा लीला सीन इन अर्ली राजस्थानी स्कल्पचर्स 'बुलेटिन ऑफ म्यूजियम एंड आर्कियोलॉजी इन यू०पी०', नं. 21–24 जून 78– दिसंबर 79।
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, 1963. पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा–परिषद।
3. अवस्थी, रामाश्रय, 1967, खजुराहो की देव प्रतिमाएं, आगरा, ओरिएंटल पब्लिशिंग हाउस।
4. कनिंघम, ए० 1880. अ रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन गंगेटिक प्रोविंसेस फ्रॉम बादौन टू बिहार इन 1875–76 एंड 1877–78, वॉल्यूम ग्, कलकत्ता।
5. कार्लाइल, ए०सी०एल० 1885. रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन गोरखपुर, सारण एंड गाजीपुर इन 1877–80, कलकत्ता।
6. जाश, पी० 1997, ग्लिम्प्सेस ऑफ हिन्दू कल्ट्स एंड कल्चर, डेल्ही, संदीप प्रकाशन।

7. जोशी, एन०पी०, 1979, 'कृष्णा इन आर्ट ह्वेदर टू आर्म्ड एंड मल्टी आर्म्ड', बुलेटिन ऑफ म्यूजियम एंड आर्कियोलॉजी इन यू०पी०', नं. 21–24 जून 78– दिसंबर 79।
8. तिवारी, राकेश एवं सिंह, गिरिश चंद्र, 1992–93, कैमूर उपत्यका में रामकृष्ण कथांकन, प्राग्धारा, अंक–3।
9. देव, कृष्ण, 1960, 'लक्ष्मण टेम्पल ऐट सिरपुर', जर्नल ऑफ मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, नं– 2।
10. देव, कृष्ण एंड एस०डी० त्रिवेदी, 1996, स्टोन स्कल्पचर इन द अलाहाबाद म्यूजियम, न्यू डेल्ही, मनोहर पब्लिकेशन, अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज, वॉल्यूम–2।
11. बनर्जी, आर०डी०, 1928, 'बास रिलिफ्स ऑफ बादामी', आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, मेमोरीज, कलकत्ता, नं–25।
12. सिंह, आर०एल० 1971. इंडिया–अ रिजिनल जियोग्राफी, वाराणसी,नेशनल ज्योग्राफिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया ।
13. सिंह, अमर, 1979, ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मंदिर में कृष्ण लीला दृश्य, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, उ०प्र०, अंक 21–24।
14. सिंह, गिरीश चंद्र, 1999–2000. सर्वतोभद्र कृष्ण–लीला स्तम्भः मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, प्राग्धारा, अंक–10, उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन।
15. सिंह पुरुषोत्तम, राकेश तिवारी एंड रविन्द्र एन० सिंह, एक्सप्लोरेशन्स इन चंदौली डिस्ट्रिक्ट (यू०पी०) 1999–2000ः अ प्रीलिमिनरी रिपोर्ट, प्राग्धारा खंड–10।

भाण्डेश्वर महादेव शिवमंदिर

AN OVERVIEW OF SUGGESTIVE RESONANCE AS DHVANI IN INDIAN ARTS TILL THE MUGHALS

Mr. Varij Khanna,
Prof. Loveneesh Sharma,

Dhvani, which has been aptly called the suggested sense in a work of art, can be identified as a major preoccupation of Indian artistic expression. In Music, Dance, Theatre, the art of Painting and Sculpture, and most of all Poetry(Kavya)- considered superior among all the arts in our Indian art traditions (Bhatt & Shastri 106) - it has been recognized as an independent measure for spiritual and aesthetic relish. But before we seek to identify Dhvani in Visual Arts, it is important to understand Dhvani in terms of poetics, since it is in this context that it has been discussed by earlier thinkers. The term Dhvani traces itself back to the Rigveda, where it simply implies sound, echo, or noise in general (Bhartruhari 25). The early grammarian, Bhartrhari (Stephanie,) was among the first to discuss the concept of Dhvani as resonance in his discussions on Sphota.Bhartrhari spoke of Dhvani as a natural consequence of Sphota which enlivens Sabda (the spoken word), allowing Artha (meaning) to manifest, in the Bramhakandam of his Vakyapadiyam, he says -

"स्फोटस्यग्रहणेहेतुःप्राकृतोध्वनिरिष्यते" (Bhatt & Shastri 106)

Bharata spoke of Dhvani in context to Rasa in the Natyashastra, but it was Anandavardhana who dealt with it in great depth in his Dhvanyaloka, where he dealt with Dhvani purely in poetic respects, identifying it as an independent aspect, that is necessary to recognize when appreciating poetry. In the Dhvanyaloka, he says –

"अन्येब्रूयुः - नास्त्येवध्वनिः ।

प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्यकाव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेवकाव्यलक्षणम्।

न चोकप्रस्थानातिरेकिणोमार्गस्यतत्सम्भवति ।

न च तत्समतान्तः पातिनः सहृदयान्कांश्चित्परिकल्प्यतत्प्रसिद्धयाध्वनौकाव्यव्यपदेशः

प्रवर्तितोऽ पिसकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।" (Anandvardhanacharya15)

Often learned men say that Dhvani is not true (नास्त्येव), their argument is, that to identify Dhvani as an independent measure for appreciation, outside of the known / crystallised measures- alankar, riti, vritti etc. - will only bring harm to Kavyatattva (the essence / essential element/s in poetry).

Anandavardhana goes on to say that Dhvani is perceptible to those blessed with Pratibha (innate poetic understanding) and Sa-hridyata (a tender and sensitive heart) (Anandvardhanacharya15).

Abhinavgupta (950-1016 AD) (Dhar), too discusses the concept of Dhvani and Sphotavada, according to him Dhvani is the suggestive power in awork ofart, significantly inpoetry. Essentially, Dhvani signifies the resounding sense of a feeling that cannot be described but is subtly suggested in a work of art. Dhvani manifests in works of art, often making it seemingly strange and somewhat ambiguous at first glance, but with time, and keen observation, itopensanentireworldof layered meaning, wherealmostnothingissaid, and whatisfelt, cannotbedescribed. Thus, our use of the term Suggestive Resonance in context of Dhvani seems to be most appropriate. There are numerous examples of Dhvani in Indian Literature, which also includes the great wealth of Stotras and Mantras from our ancient religious scriptures, for instance the Shiva Tandavstotra–

"जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले
गलेऽवलम्ब्यलम्बितांभुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं
चकारचण्डताण्डवंतनोतुनःशिवःशिवम् ॥१॥
जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी_
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि।
धगद्धगद्धगज्जलल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरेरतिःप्रतिक्षणंमम ॥२॥" (Chakrabarti 91)

The sounds- **"डमड्डमड्डमड्ड", "धगद्धगद्धग",** indicative of the Shiva's Pellet drum (Damroo) and the celestial fire on Shiva's head, send lasting reverberations on the mind of the speaker and listener, and reader giving a complete, immersive experience of the iconography of the Shiva, i.e., Dhvani.

This fascination for Dhvani as suggestive resonance was perfected in the classical Sanskrit poetry of India, examples of which are as follows:

"अनवरतरसेनरागभाजाकरजपरिक्षतिलब्धसंस्तवेन ।
सपदितरुणपल्लवेनवध्वाविगतदयंखलुखण्डितेनमम्ले॥"(Magh 220)

'A fresh young shoot, bright red and full of sap, was severed by a girl's nails and mercilessly plucked, immediately dried up.'

In the explanation of the above, when Krishna enters the forest of Mount Raivataka, the local women are overcome by ecstasy and resort to all sort of passionate expressions in their interactions with nature. Here the enchanting sight of Krishna and its effect on their mind resonates as Dhvani in the mind of the reader.

In another example, again from the ShishupalVadham by Magh-

"रेजुर्भेष्टावक्षसःकुङ्कुमाङ्कामुक्ताहाराःपार्थिवानांव्यसूनाम् ।

सैन्यान्सास्थीन्स्वादतोरक्तरक्तानष्टानूनेप्रेतराजस्यदन्ताः॥"६९(Magh 624)

'Pearl necklaces smeared with saffron gleamed as they fell from the breasts of slaughtered kings; most likely Yama's bloodstained fangs had been dislodged while he gorged on soldiers and their bones'.

In these beautiful verses, Magh brings to the fore, the delicacy of Vibhatsa in his explication of the fight between Shishupal and Krishna. In a manner very much like our Stotras, Magh (7-8th century) (Britannica) champions the use of repetitive sound to emulate the wight of an elephant wearing all kettle drums and mimicking dark clouds-

"भूरिभिर्भारिभिर्भीराभूभारैरभिरेभिरे ।

भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥ "६६(Magh 25)

It seems that Magha is meditating more on the nature of Vibhatsa Rasa within the linear structure of the narrative, bringing forth such sensitive insights charged with Dhvani.

In the Riti Kaal of the Indian Poetics too, we see such a zest for Dhvani in the works of poets like Biharilal (1595–1663) who, in his "Satsai", presents us with several exquisite examples-

"चमकतमकहाँसीसिसकमसकझपटलपटानि।

ए जिहिंरतिसोरतिमुकतिऔरमुकतिअतिहानि॥"५४५(Snell 63-79)

'Glitter, titter, passion, sobbing, hugging, pinching, squeezing; Salvation lies in such a love no other kind's so pleasing'.

The feverish temperament and pace of Rati (Romance), which the poet Biharilal conveyed through the above-mentioned verse, is unparalleled.

Again, we see sound taking predominance in the manifestation of Dhvani-

"रससिंगार-मंजनुकिए, कंजनुभंजनुदैन।

अंजनुरंजनुहूँबिना, खंजनु, गंजनुनैन ॥"५०(Snell 63-79)

Employing UpamaAlamkara, the poet compares the eyes of the nayika (heroine) with the beauty of the eyes of the Khanjana (Wagtail) bird.

Though, a concious concern in art creation for the most part, very few Poets, Artists, have been able **t**odojusticeto Dhvani. The interpretations by ancient Indian aestheticians, philosophers, and the grammarians till Anandavardhana and their assertions affirm that Suggestiveness isn't a specific meaning, rather it is an object of investigation carried out at different levels of perceptibility. Anandvardhana passionately states that to understand Dhvani in any art the reader/ viewer should have the innate capability to match the wavelength of the poet's insight (Pratibha). He also famously states that when a poet writes, he creates a resonant

field of emotions, which implies that Dhvani can be variable, holding meaning across different fields of resonance, it is not constant or stagnated in a specific meaning only, rather it is becomes an object of investigation, carried out by the reader/viewer according to his or her wavelength. It is thus more appropriate to use the term Suggestive Resonance since the poet/artist according to Anandavardhana creates a "resonant field" of "meaning" and this finds implication not only in poetry, but in all arts and their creation and representation. In visual arts too, several works of art seem to possess this quality.

Even in the Visual Art tradition of the Pre-Vedic times, one sees a great sensitivity towards Dhvani, The Dancing girl a bronze sculpture made between 2300–1750 BCE from the Indus Valley Civilization , too possesses a deep Dhvanic quality, with her one hand on her hip, and the other on her thigh, she seems to exude a graceful, resting quality.

The Hariti Shrine, cave 1, Hariti and Panchika at Ajanta, a fine example of the classical art of ancient India, depicts Goddess Hariti with her consort, at the very base of the sculpture, the creator/s chose, of all things, to depict students attending a class, the students sitting in front row seem to be listening intently, while students at the back are busy dancing, frolicking, fighting rams. Such a lifelike depiction creates a resounding field of emotions, urging the viewer to appreciate the circumstances of everyday life in light of the eternal glory of the divine.

In Khajuraho, the artist infuses sensuality to accentuate the divine. Adding multiple layers of imbibed sensitivity. These sensibilities were further seen in miniature painting traditions of India. In the Mughalschool too, we see a great fascination and zeal for Dhvanic expression.

The Mughal Painterwasapeculiarcharacter, esteemedforhistalent, yet observed as a servant of nobility, open to life, yet expected to captureonly that which isopulentandmagnificenttocourtlyeyes. Unlike the painters of other schools, who, in comparison enjoyedmuchgreaterfreedom with respectto their work, the Mughal painter was expected to work underseveral conforming conditions. The appropriacy of subject, for one, was a major concern, the proofof knowledge from earlier Persian masters, as well as the learnings from the West were a major pre-occupation as well. Above all else, learnings from the then immediate masters, of the Karkhana (workshop), were proof of the irdeservingstatusaspractitionersin the Mughalatelier. Insuchconditions, finding the Mughal painter will ingtodisplay varietyandversatility, bothinsubjectandrendering, isa rarity. So, the discourse here is to aim at their capacity to move beyond the often-limiting conventions ofMughal painting, creating a unique space with Dhvani (Suggestive Resonance) at its center, while maintaining the opulenceandformalreserve that Mughal painting issocharacteristic of.

Mir Sayyid Ali and Abd'al Samad, were the first to establish a school of painting under the Mughals, yet they were always considered painters continuing the Iranian practices here in

India. The first generation of painters considered distinctly Mughal, were in fact the Hindu recruits, were Daswanth, Basawan, Tara, Shravan among others.

The first among the early Mughal's -who seemed to have made Sanskrit Poetics a distinct characteristic of his work- was Daswanth (d. 1584).

In Umar Kills a Dragon, 1577, from the Hamzanama Manuscript, we see a panorama of emotions seldom seen in Mughal painting. The onlookers of this glorious scene seem to be looking on with faces of doubt, reassurance, wonder and amusement. This great variety and emotional intensity only add to the suggested resonance of the scene.

Basawan, the father of Manohardas, (Britannica) was Daswanth's famous contemporary in the Mughal atelier. The early works of Basawan, too, shows a conscious attempt to imitate much of Daswanth's splendour, until of course he created his own independent identity, much in line with the same conventions.

However, it was only in the very next generation, that of Manohar (Britannica) and Govardhan, that these two painters seem to have synthesized a method for Dhvani, having gone about it in a systematic, almost scientific manner, which we often see in the ancient classical art of India.

In all honesty, not all works of Manohar and Govardhan possess thesubtleties of suggestive resonance, this may be due to several reasons, for one, the collaborative practice may have restrained their freedom, another possiblereasoncouldbethatthestrictconventions of the time may dictated only a certain conception. However, one finds, occasionally, that one drawing or painting, thatbrimswithvitality.

Manohar's earliest work can be traced back to the year 1597, from the beginning, the then nineteen-year-old Manohar displayed sparksofinherent greatness.

A painting titled Hamid Bhakari Punished by Akbar, a miniature from Akbarnama manuscript, depicts the humiliation ofHamid Bhakari. The setting being a royal hunting expedition, thedisgraced Bhakari is shown sitting stripped of his dignity, backwardson a donkey (figure 5a). A fitting punishment for conspiring against the emperor. Right above him, one sees Akbar slaying a fox in motion, the simplecontrast, appropriately conveys the intention behind the creation ofsuch an image, the supreme status of theemperor being expressedwith clinicalclarity.

In another painting by Manohar titled The Elderly Akbar receives Murtaza Khan, (figure 6), painted in 1610, depicts Murtaza Khan, Akbar'spaymasterbowingbeforehim, to the rightof Akbar stands his grandson Parviz Mirza, below, the two be Emperor ShahJahan, gestures toaseatedpoet. Akbar, (figure: 6b), has been portrayed very humbly, without any intricatepatterns on his Jama, and without any unnecessaryornamentations. The plain purple tunic only accentuates his royalty and subdued affluence. Another area of interest is the character ofthe poet seated below, the poet's plump figure, rendered without any effort to

hide the anomalies of nature, add a profound resonance to thepainting. It is very rare to see the somewhat disagreeable nature of the poet'scharacter, on thesameplainbearingtheemperor.

In painting Black Buck from the Shah Jahan's Album isanother one of Manohar's acclaimed renditions of the animal, this work isstarkly different to Mansurand Abu'lHassan'swork, starkin the delineation of form, against a pale brown, this work possesses astated charm (figure 7a). Theanimal possessesanalmosthumanlikecharm, smirkingflirtatiouslyat the viewer, almost seeming to whisper the poetry calligraphed alongwith the work, taken from a religious Mathnavi (Rumi 19) or Masnavi (in Persian) in the Mutaqarib (Elwell-Sutton 172) (Persian meter of approximate 10 verses or more), perhaps Sa'di's Bustan (Bosworth207), which reads:

"To the wise man who solves difficulties [it is evident]: Youareaguest, theworldisaguesthouse...

andends:

Even though a person is famous by a hundred names, The"seekerofgood" isbetterthanallofthem." (Welch 182)

Another important work and a perfect example of Manohar's proficiency is, Emperor Jahangir weighing his son Khurramin Gold isthe last of Manohar's masterpieces, rendered in exquisite detail, this politically charged image is true testament to Manohar's technical proficiency, what is mostinteresting about the work is the masterfuluseofdevicessuchaspatterns and artifactstoaddtothenarrative.

Rightbelow to thefigureofPrinceKhurram, arethreefiguresofdancers, though part of the carpet, they seem to come to life and arebrimming with energy, only adding more to what is already a gloriousscene. In figure 8b, one sees a discreet conversation taking place betweentwo porcelainfigures, inthedistance.

Another marvel of the Mughal atelier was Govardhan (Beach), who joined the imperial service during the reign of Akbar, andcontinued to work until the reign of Shah Jahan, he was the son ofBhavani Das, who, though a minor painter in the Mughal court, wasesteemed as one with versatile capabilities.

The other major influence in Govardhan's life was probablyManohar, as teacher. Manohar worked in several Karkhanas, training entire teams of painters. Govardhan, as a keen student, picked upseveral of Manohar'ssensi bilities, which arevery evidentin his work.

The early drawing attributed to Govardhan is of greatsignificance, master fully rendere dinlight ink washes which is a keenly observed portrait of Akbar. Taken from the artist's sketchbook, it was probably drawn in court, mid-session, with the artist standing in a suitable spot, with the emperor within sight, and unaware.

It is probably in the immediacy of the moment that the drawingcaptures the very essence of the emperor, seen here, quiet, meditative and in amoment of silence and

contemplation, without anyobservablesignsofgrandeurorroyalty. Lookingatthisdrawing, nothing of his political significance, wealth, and conquests come tomind, however, a sense of his comfortable, leisurely life and hisintelligence, does come across. This portrait cannot be dismissed as a statement portrait, intent on cementing people's perception of the strength andaffluence of the Mughal Empire, rather, it is a portrait that lets us inon his being, we catch him unaware, and we see him for what he is, aman, andnot theshadow ofGod.

Another painting by Govardhan entitled Shaikh Hussein Jami and Attendant, which presents two personalities, on the left Shaikh Jami, observably a man ofdistinction and learning-book in hand- is seen staring into space with eyes which seem to be clouding his aged vision, his face tells us all weneed to know about him, he is a man who is pious, cultivated and hasprofound things to say. With age wisdom has come, and that he hastranscended to a greater plane of existence, one free of attachments, spendinghisremainingdayscontentandpeaceful. On the right we see a very different personality, that of the attendant, engaged inpreparingassortments for his disinte rested master, hereis aman living in the phenomenalrealm, eager to please his master. Both personalities are rendered with utmost sensitivity, incomparison to coldandreservedportraitureprevalentatthetime, this work stands out.

The painting Hindu Holy Men, painted by Govardhan between 1625-1630, from the St Petersburg Album is conceived andcomposed dramatically in which one can see a gathering of five sages resting andcontemplating, withatempleon theupperrightanddistant cityscape on the left. Again, Govardhan uses each portrait to signifythe various stages in a life devoted to spiritual pursuits. In theforeground, (figure: 11b) the resting youth, newly initiated, is seen with his backfacing us, his young curly hair has a stark contrast with the matted,ash grey locks of the others, his body and mind still seems to beunaccustomed to yogic life. Welch, points out that this figurewas probably inspired by an engraving ofSaint Chrysotom, (figure: 11a),byGerman engraver BartholdBeham, he says "Govardhan not only changed her sex but trimmed several years from her age. So convincing is the young sadhu that Govardhan's adjustments to the western prototype must have been studied from life." To his leftsits a middle-aged yogi, who looks out beyond the frame rosary in hand, though stillyoung he seems to have savored some of the fruits of ascetic live. Thecentral figure, who many speculate to be a depiction ofShankaracharya, is a man who seems most content, with ease he looksoutintoinfinity, withhismind fixedon theabsolute.

To his leftrestsadrowsyfigure (figure: 11c),deluded,andconfused,disturbedand possibly doubtful, as one often is, when one tries to understand God. Finally, before him rests an aged figure, with a grave silence,arisingout ofwisdomandawareness.

The painting Sa'di's in a Rose Garden, is Govardhan's most celebrated work, and probably his best. Painted in the last phaseofhisillustriouscareer, this painting epitomizesallgreatqualitieshegarnered through the ages. At first glance the composition is simple and sophisticated, itis only upon further inspection that the subtle, profound, symbolismoftheworkgets noticed.The painting depicts the great poet Sa'di of Shiraz(right), and a youngman sharing a tender moment in a rose garden, the figure on the left isdispersingflowers carefullycollectedinhistunic,atthepoets'feet (figure 12b).When we look closely, we realize that the young man is butaloverofthegreatpoet, as hisotherhandplayfully tuggingonthepoet's robe.

Immediately the appeal of the image changes, there is still, howeversome room for doubt, until one notices Sa'dis hand on his heart (figure 12a),settling the plates of his tunic with the other. So subtle yet so profound is the suggestiveness nature of this image. This work is from theGulistan album,which depicts scenes from Sa'di's Gulistan,which has beenwidelydiscussed forthehomoeroticnatureofits poetry.

Thepresent study laidemphasis on the work of Manohar and Govardhan, within the larger context of Dhvani as a major preoccupation of Indian Art. It also gives us insight into the impact their works have on the way we look atMughal paintings.HowSanskrit poetics, by virtue of either oral transmission, or organic observation, made its way into the Mughal world view. This research also gives us an insight into the freedom and constraints that painters at the time may have experienced.

The works left by Manohar and Govardhan served as a constantreference for their immediate students and painters of latergenerations. Even as painters of the MughalKarkhanas dispersed toseveral kinships throughout the subcontinent, they took theirlearnings from these masters with them. Painters such as Bichitr andRamdas made a conscious attempt to create the subtlysuggestiveportraits of Manohar and compose dramatic compositions likeGovardhan. The practice of drawing scenes of daily life which wasformalized by Manohar after his close observations of Basawan'sdrawing, was continuedbyInayatamongothers.

As painters like the later Bhavani Das moved to Kishangarh school,he incorporated several Mughal tendencies in his work, he alsoensured this great quality of suggestiveness in his work, producingsome of the greatmasterpieces of the Kishangarh school. ThePahari Masters, who are most famous for the suggestive quality of the irwork, wereinclosecontactwiththestudentsofthesepainters, onlywithin twogenerationsoftheirpassing, Pandit Seu and his sons took Dhvanitoitszenith.

In modern, contemporary times, Dhvani could not secure its place. Inspite of several attempts to be suggestive in itsexpressions, modern, contemporary Indian art never seemed to reach the suggestive resonance that it had achieved in times past.

REFERENCES:

- [1] Bhatt, Nagesh & Shastri Kapildev, *Vyakarn Siddhant Parm Laghu Manjusha*, Krukshetra Vishvavidyalaya Prakashan, 1975, p. 106, also in https://jainqq.org/explore/020919/167, accessed on 12th November 2021
- [1] Bhartruhari,*The Vakyapadiyam of Bhartrhari Brahmakanda,*Translated by K Subrahmanyam,Sri Satguru Publications, Delhi, 1992, p. 25
- [1] Bharthrihari or Bhartrhari (c. 450-510 C.E) was a scholar who considered as writer and philosopher, wrote on language and grammar, Vakyapadam is an important inscribed text by him, retrieved from, TheodorouStephanie, "Bhartrihari", *Internet Encyclopedia of Philosophy*, IEP, https://iep.utm.edu/bhartrihari/, accessed on 17th November 2021
- [1] Bhatt Nagesh & Shastri, Kapildev, *Vyakran Siddhanta Param Laghu Manjusha*, Kurukshtra Vishwavidyalaya Prakashan, 1975 p.106, reterived from https://jainqq.org/explore/020919/167, accessed on 2nd November 2021 & http://conor-quinlan.com.au/0kykog/792582-Dhvani-meaning-in-sanskrit, accessed on 8th November 2021
- [1] Anandvardhanacharya, Abhinavaguptacharya, Prasad, Durga, Pt., Shastri, Wasudev Laxman *Kavyamala*, published in Sanskrit and Hindi, Pandurang Jawaji, 1928, p 6, retrieved from https://jainqq.org/explore/023466/15, p. 15, accessed on 2nd November 2021
- [1] Ibid.
- [1] Dhar, K N *Abhinavagupta-The Philosopher*, Shri Parmanand Research Institute, Srinagar, Kashmir, retrieved from https://ikashmir.net/glimpses/abhinavagupta.html, accessed on 12thNovember, 2021
- [1] Chakrabarti, Bishnupada, *The Penguin Companion to the Ramayana*, Penguin, 2008, p. 91
- [1] Magh, *The Killing of Sisupala*, Verse 21, (ed.) by Paul Dundas, Murty Classical Library of India. Harvard University, Press, 2017, Magh, Sisupalvadham, Verse 31, p. 220
- [1]Ibid, p.624
- [1]Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Magha". *Encyclopedia Britannica*, 14 May. 2012, https://www.britannica.com/biography/Magha-Indian-Sanskrit-poetaccessed on 2nd November 2021
- [1]Mahakavi Magh, Sisupal Vadham, Verse 66, in Rampratap Tripathi, Shastri (ed.) Shishupal Vadham, Hindi Sahitya Sammelan, Prayag, p. 25
- [1] The famous poet and author of The Satsai, https://en.wikisource.org/wiki/1911
- _Encyclop%C3%A6dia_Britannica/Bih%C4%81r%C4%AB-L%C4%81l, accessed on
- 5th November 2021
- [1] Snell, Rupert, 'Humour in the Satsai of Biharilal' Of Clowns and Gods Brahmans and Babus: Humor' in *South Asian Literatures*, Verse 545, Manohar Publications, Delhi, pp. 63-79 retrieved from https://eprints.soas.ac.uk/1867/, accessed on 2nd November 2021
- [1] Ibid, Verse 50.

- [1]Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Basavan". *Encyclopedia Britannica*, 3 Oct. 2011, https://www.britannica.com/biography/Basavan, accessed on 16th December 2021
- [1] He was a miniaturist during Mughal time period worked between 1580 and 1620, retrieved from Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Manohar". *Encyclopedia Britannica*, 27 Aug. 2010, https://www.britannica.com/biography/Manohar, accessed on 16th December 2021
- [1] A Hindu painter in Mughal atelier and worked under the patronage of Akbar, Jahangir, Shahjahan, retrieved from Britannica, The Editors of Encyclopaedia. "Govardhan". *Encyclopedia Britannica*, 6 Feb. 2009, https://www.britannica.com/biography/Govardhan, accessed on 16thDecember, 2021
- [1] Mathnawi is a specific poetry written in rhyming couplets or some more individualistic rhyming lines, assessed from Mojaddedi Jawid, *Introduction*, Rumi, Jalal ad-Din. The Masnavi Book one. Oxford University, 2004, p.19
- [1] Mutaqarib is length of poetry. It is also called persian meter which suggests length of poem, accessed fromElwell-Sutton, L. P. "The Foundations of Persian Prosody and Metrics." *Iran*, vol. 13, British Institute of Persian Studies, 1975, pp. 75–97, https://doi.org/10.2307/4300527. accessed on 28thMarch, 2022
- [1] Bustan is a poetry book written by Saadi written around 1257, narrates his experiences about life and a vast collection of anecdotes, retrieved from Bosworth, Clifford Edmund*The New Islamic Dynasties,* Columbia University press, 1997, p. 207.
- [1] Welch, Stuart Cary *The Emperor's Album: Images of Mughal India*, Metropolitan Museum of
- Art, 1987, p.182
- [1]Beach, Milo C., "Govardhan", in: Encyclopaedia of Islam, THREE, Edited by: Kate Fleet, Gudrun Krämer, Denis Matringe, John Nawas, Everett Rowson. accessed on 16th December 2021
- [1] Welch, Stuart Carry "Indian Paintings in the St. Petersburg Muraqqa'', ARCH Foundation, Lugano, Switzerland, 1996, p.125

"नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण" (कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. अंजना चौरसिया

नृत्य में हथेलियों एवं उंगलियों को मिलाकर बनाई गई भिन्न-भिन्न कलात्मक आकृतियों को 'मुद्रा' कहा जाता है। ये मुद्रायें किसी विशेष अर्थ, संकेत व प्रतीक की द्योतक होती हैं। इन मुद्राओं का प्रयोग नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति एवं खूबसूरती पैदा करने के लिये होता है। प्रत्येक कला से एक संदेश या उपदेश भी समाज के लिये होता है। नृत्य में इस अभिव्यक्ति के लिये मुद्राओं का विशेष स्थान है। हस्तमुद्राओं की उत्पत्ति मानव की उत्पत्ति के साथ ही मानी जा सकती है। जब मनुष्य का जन्म हुआ और प्रारंभिक काल में भाषा का विकास नहीं हुआ था ना ही उसे बोलने का ज्ञान था। तब वे एक दूसरे से सांकेतिक भाषा के माध्यम से ही अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त करते थे। अर्थात् प्रारंभिक समय में मानव के पास विचार तो थे, किन्तु विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम नहीं था। प्रकृति से अनुकरण लेकर अंतस्चेतना द्वारा भावों को व्यक्त करने के लिये अंगों का सहारा लिया। चूँकि आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है इस प्रकार जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे आदिम युग के मानव मस्तिष्क का भी विकास हुआ और उसके अनायास ही प्रयुक्त किये जाने वाले सहज संकेतों का स्थान मुद्रा ने लिया। इन सांकेतिक भाषाओं का हस्तमुद्राओं से सीधा संबंध है। परन्तु निश्चित ही उसे मुद्रा या हस्तमुद्रा यह नाम उस काल में नहीं दिया गया किन्तु मानव सभ्यता के प्रगति पथ पर पहुँचते-पहुँचते उसने विभिन्न दिशाओं में अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया। और कुछ ऋषि मुनियों तथा विद्वान लोगों की सहायता से उनकी कला के प्रति अभिरूचि ने मानव के दैनिक जीवन की हलन-चलन रूपी क्रियाओं ने सांकेतिक भाषा को 'हस्तमुद्रा' यह नाम निश्चित कर दिया।

यदि हम कथक की बात करें तो कथक नृत्य का संबंध कथाओं से जुड़ता है क्योंकि प्राचीन काल में मानव के मनोरंजन के लिये कोई खास माध्यम नहीं हुआ करता था तब तक किसी व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग विशेष के द्वारा कथाओं का वाचन किया जाता था जो जनसामान्य के ज्ञानवर्धन में सहायक होने के साथ-साथ जीवन को आसान बनाने के लिये संदेश होतीं थीं और इन कथावाचकों ने कथा को रोचक ढंग से सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये उसमें अंग भंगिमाओं का खूबसूरती से प्रयोग करना शुरू कर दिया, जो कि नृत्य के रूप में था कहा जाता है यही शैली आगे चलकर कथक नृत्य के रूप में पहचानी जाने लगी। वैसे तो भारत में प्रादेशिकता के आधार पर नृत्य की आठ नृत्य शैलियों का निर्माण हुआ जैसे - भरतनाट्यम, कथकली, मणिपुरी, कथक, कुचिपुड़ी, ओडिसी, मोहिनीट्टम तथा सत्रिया। इस प्रकार प्रत्येक शास्त्रीय नृत्य में शुद्ध नृत्य एवं अभिनय दोनों पक्ष होते हैं। इन दोनों पक्षों में मुद्राओं की अहम् भूमिका होती है। जिससे मुद्राओं के द्वारा नृत्य में शास्त्रानुगत अवयवों के प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। ये सभी नृत्य शैलियाँ भारत के नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों पर आधारित हैं। यहाँ पर कथक नृत्य के संदर्भ में नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं की तुलना नाम, लक्षण तथा विनियोग के आधार पर की गई है नाट्यशास्त्र के अनुसार 24 असंयुत हस्त हैं, इनके नाम हैं- "(1) पताक, (2) त्रिपताक, (3) कर्तरीमुख, (4) अर्धचन्द्र, (5) अराल, (6) शुकतुण्ड, (7) मुष्टि, (8) शिखर, (9) कपित्थ, (10) कटकामुख, (11) सूचीमुख, (12) पद्मकोश, (13) सर्पशीर्ष, (14) मृगशीर्ष, (15) कांगुल, (16) अलपद्म, (17) चतुर, (18) भ्रमर, (19) हंसास्य, (20) हंसपक्ष, (21) सन्दंश, (22) मुकुल, (23) ऊर्णनाभ तथा (24) ताम्रचूड।"[1]

जबकि अभिनयदर्पण के अनुसार 28 असंयुत हस्त है तथा चार अतिरिक्त मुद्राओं के साथ इनकी संख्या 32 हो जाती है- "1. पताक, 2. त्रिपताक, 3. अर्द्धपताक, 4.कर्तरीमुख, 5. मयूर, 6. अर्द्धचंद्र, 7. अराल, 8. शुकतुण्ड, 9. मुष्टि, 10. शिखर, 11. कपित्थ, 12. कटकामुख, 13. सूची, 14. चन्द्रकला, 15, पद्मकोश, 16. सर्पशीर्ष, 17. मृगशीर्ष, 18. सिंहमुख, 19. कांगूल, 20. अलपद्म, 21. चतुर, 22. भ्रमर, 23. हंसास्य, 24. हंसपक्ष, 25. संदंश, 26. मुकुल, 27. ताम्रचूड और 28, त्रिशूल।"[2]

चार अतिरिक्त हस्त मुद्रायें - (1) व्याघ्र, (2) अर्धसूची, (3) कटक तथा (4) पल्ली ।

अभिनयदर्पण की ये चारों हस्तमुद्रायें कथक नृत्य में किसी भी भाव के अर्थ को प्रदर्शित करने में प्रयुक्त नहीं होती है। नाट्यशास्त्र में अभिनयदर्पण की जो हस्तमुद्रायें वर्णित है वे इस प्रकार हैं - अर्धपताक, मयूर, चन्द्रकला, सिंहमुख, त्रिशूल, व्याघ्र, अर्धसूची, कटक तथा पल्ली।

अभिनयदर्पण में ऊर्णनाभ को छोड़कर शेष सभी हस्तमुद्राओं के नाम नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में सूचीमुख हस्त व अभिनयदर्पण में सूची हस्त नाम वर्णित किये गये हैं। कथक नृत्य में ऊर्णनाभ हस्त का प्रयोग दशावतार के प्रदर्शन के समय नरसिंह अवतार के भाव में हिरण्यकशिपु के वध के समय इस मुद्रा का प्रयोग कलाकार करते हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र व अभिनयदर्पण दोनों में वर्णित हस्तमुद्राओं में नाम के आधार पर तुलना दृष्टिगोचर होती है।

हस्तमुद्रायें अर्थाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है सामान्यतः हाथों के द्वारा विभिन्न क्रियाओं का क्रियान्वयन हमारे द्वारा किया जाता है। यदि समस्त क्रियाओं को नृत्यात्मक दृष्टि से नहीं बल्कि सामान्य दृष्टि से रेखांकित करें, तो हाथों की क्रिया किसी न किसी मुद्रा को जरूर अभिव्यक्त करती है। भले ही वह सहज ही दृष्टिगत क्यों न हो। पानी भरकर मटकी उठाकर सिर पर रखने वाली नायिका मटकी को दोनों हाथों से संभालते हुये दिखलाई पड़ती है तो हस्तमुद्रा "सर्पशीर्ष" जैसी प्रतीत होती है। क्रोध आने की स्थिति में सहसा ही सारी अँगुलियाँ आपस में दृढ़ता से एक हो जाती है; निश्चित ही वह "मुष्टि" मुद्रा की ओर इंगित करती है। ऐसे असंख्य उदाहरण जो यत्र-तत्र हमें दिखलाई पड़ते हैं, जो निश्चित जनसामान्य हैं; किन्तु नृत्यगत एवं प्रदर्शनात्मक दृष्टि से देखें तो शास्त्रगत यह मुद्रा संबंध के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही उच्च है। जिसमें "नाट्यशास्त्र" एवं "अभिनयदर्पण" ग्रंथ इस विषय में बहुत ही प्रासंगिक एवं समृद्ध है। दोनों ग्रंथों में हस्तमुद्राओं के नाम, लक्षण के साथ विनियोग भी वर्णित किये गये हैं जिनका प्रयोग कथक में आवश्यकतानुसार किया जाता है। इन ग्रंथों में वर्णित हस्तमुद्राओं के विनियोगों के अतिरिक्त रूप में भी कथक में प्रयोग किये जाते हैं।

पुराने कलाकार उपमा देते समय संचारी भावों का प्रयोग करते हैं। जो कि शास्त्रों में वर्णित नहीं है पर कलाकार उसे बड़ी खूबसूरती से बनाते हैं। जैसे- दोनों पताक हस्तों को सिर के बराबर में हल्का कम्पन करते हुये बालों को दर्शाते हुये नीचे की ओर लाने पर काले बादल का भाव प्रदर्शित किया जाता है। हथेली के पृष्ठ भाग से नायक का भाव तथा हथेली को सामने की ओर दर्शाने पर नायिका का भाव प्रदर्शित किया जाता है। चूँकि पृष्ठ भाग का रंग साँवला होता है और हथेली का रंग साफ होता है। पताक हस्त द्वारा एक हाथ की रेखाओं को दूसरे हाथ से दिखाने पर रास्ता या मार्ग आदि की उपमा दी जाती है परन्तु आजकल इनका प्रयोग बहुत कम देखने को मिलता है।

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं में स्वरूप अथवा लक्षणों के आधार पर जिन हस्तमुद्राओं में तुलना दृष्टिगत होती है। वे इस प्रकार हैं:- अर्धचन्द्र, कटकामुख, सूचीमुख, हंसास्य, संदंश तथा ताम्रचूड। इनके अतिरिक्त अभिनयदर्पण में वर्णित हस्तमुद्राओं के लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त:-

"यदि अँगुलियों को अंगूठे सहित धनुष जैसी झुकाकर फैला दी जाए तो 'अर्धचन्द्र' मुद्रा कहलाती है।"[3]

अभिनयदर्पण के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त:-

"यदि पताक हस्तमुद्रा में अंगूठे को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाये, तो उसे 'अर्धचन्द्र' हस्त कहा जाता है।"[4]

नाट्यशास्त्रानुसार अर्धचन्द्र हस्त

अभिनयदर्पण के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त

नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षण एवं विनियोग के अनुसार अर्धचन्द्र हस्त का कथक में प्रयोग नहीं होता बल्कि इस मुद्रा का अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार इसमें वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में प्रयोग मुख को प्रदर्शित करने में किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार कटकामुख हस्त:-

"यदि कपित्थ हस्तमुद्रा में अनामिका तथा कनिष्ठा अँगुलियों को (ऊपर) उठाकर मोड़ा जाये तो कटकामुख मुद्रा कहलाती है।"[5]

अभिनयदर्पण के अनुसार कटकामुख हस्त:-

"यदि कपित्थ हस्त में तर्जनी और मध्यमा उठी हुई हों और अँगूठे के अग्रभाग का स्पर्श करती हों, तो उसे कटकामुख हस्त कहा जाता है।"[6]

नाट्यशास्त्रानुसार कटकामुख हस्त

अभिनयदर्पणानुसार कटकामुख हस्त

कथक नृत्य के अभिनय प्रदर्शन में यह मुद्रा सर्वाधिक प्रयुक्त होती है। इस मुद्रा का प्रयोग परम्परावादी कलाकार भी बड़ी कुशलता से करते आ रहे हैं। जबकि आधुनिक युग के कलाकार इसके अतिरिक्त भी अनेकानेक

हस्तमुद्राओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक कर रहे हैं। परम्परावादी कलाकार कटकामुख मुद्रा का प्रयोग तो करते थे, परन्तु इसके नाम से अंजान थे। ये कलाकार इसी मुद्रा से परिचित थे तथा अधिक से अधिक भावों के अर्थप्रदर्शन जैसे - मुरली पकड़ने, घूँघट लेने एवं राधा-कृष्ण की छेड़छाड़ से संबंधित भावों में इसी मुद्रा का प्रयोग करते थे।

नाट्यशास्त्र के अनुसार सूचीमुख हस्त:- "यदि कटकामुख मुद्रा वाले हाथ की तर्जनी अँगुली फैला दी जाये तो 'सूचीमुख मुद्रा' कहलाती है।"[7]

अभिनयदर्पण के अनुसार सूची हस्त:- "यदि कटकामुख हस्त मुद्रा में तर्जनी को सीधे फैला दिया जाये तो उसे सूची हस्त कहा जाता है।"[8]

अभिनयदर्पणानुसार सूची हस्त

नाट्यशास्त्रानुसार सूचीमुख

दोनों ग्रंथों में वर्णित लक्षण के अनुसार यह मुद्रा कथक नृत्य में प्रयोग की जाती है। इन ग्रंथों में दिये गये विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में कथक नृत्य में प्रयोग चुप रहने के लिये, घुँघराले बाल के भाव को दिखाने के लिये, आदेश से जाने के लिये कहने, इंगित करने, सूचित करने आदि के भाव में यह मुद्रा प्रयुक्त होती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार हंसास्य हस्त:- "यदि तर्जनी तथा मध्यमा ऊँगली अँगूठे के अग्रभाग पर हो तथा अन्य (दो) ऊँगलियाँ फैली हुई रहें तो 'हंसास्य हस्त' होता है।"[9]

अभिनयदर्पण के अनुसार हंसास्य हस्त:- "यदि अंगुष्ठ और तर्जनी दोनों परस्पर मिले हों और मध्यमा आदि तीनों ऊँगलियाँ अलग-अलग हथेली की ओर ईषत् मुड़ी होकर फैली हों तो उस मुद्रा को 'हंसास्य हस्त' कहा जाता है।"[10]

नाट्यशास्त्रानुसार हंसास्य हस्त

अभिनयदर्पणानुसार हंसास्य हस्त

नाट्यशास्त्र के लक्षणानुसार कथक नृत्य में इस हस्त का प्रयोग काजल की डिब्बी खोलने के लिये किया जाता है। जबकि अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार इस हस्तमुद्रा का कथक में प्रयोग सींक से काजल लगाने, दीपक की लौ जलाने, फूल तोड़ने, वर्षा की हल्की बूँदों को दिखाने के लिये, कान में कुण्डल पहनने, गले में हार धारण करने, किसी नजाकत वाली वस्तु को पकड़ने जैसे मोती फूल आदि के भावों के प्रदर्शन में हंसास्य मुद्रा प्रयोग की जाती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार संदंश हस्त:- "यदि अराल हस्त में तर्जनी तथा अँगूठे का अग्रभाग मिल कर हथेली को थोड़ी नमा दी जाये तो 'संदंश हस्त' हो जाता है।"[11]

अभिनयदर्पण के अनुसार संदंश हस्त:- "यदि पद्मकोश मुद्रा में उँगलियाँ बार-बार सटाई तथा हटाई जाय, तो नृत्यकोविदों के अनुसार उसे संदंश हस्त (संडासी) कहा जाता है।"[12]

नाट्यशास्त्रानुसार संदंश हस्त

अभिनयदर्पणानुसार संदंश हस्त

अभिनयदर्पण के लक्षणानुसार कथक नृत्य में यह मुद्रा प्रयुक्त होती है। अभिनयदर्पण में वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में कथक में मणि या चमक के लिये, नृत्य करते समय किसी तोड़े में थुनथुन आदि को प्रदर्शित करने में यह हस्त प्रयोग किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार ताम्रचूड हस्त:- "यदि मध्यमा उँगली तथा अँगूठा मिला हुआ हो, उंगली सिकुड़ी हुई तथा शेष (दो) उंगलियाँ हथेली पर हो तो 'ताम्रचूड' हस्त हो जाता है।"[13]

अथवा

"यदि हाथ की अँगुलियाँ एक दूसरे से मिली हुई हों तथा टेढ़ी रहें, ये ऊपर अंगूठे से दबाई जायें तथा कनिष्ठिका उँगली फैली हों तो भी 'ताम्रचूड' हस्त कहलाता है।"[14]

अभिनयदर्पण के अनुसार ताम्रचूड हस्त:- "यदि मुकुल हस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाय (किन्तु वह हथेली को स्पर्श न करती हो) तो उसे ताम्रचूड हस्त कहा जाता है।"[15]

अभिनयदर्पणानुसार ताम्रचूड हस्त

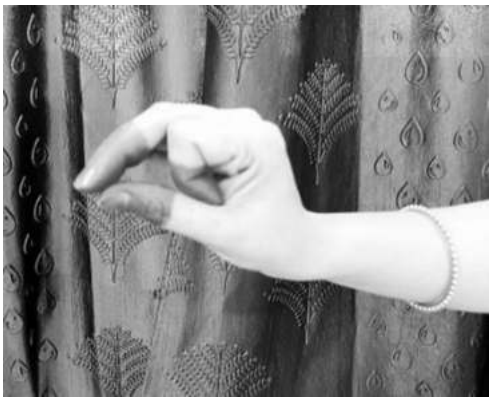

नाट्यशास्त्रानुसार ताम्रचूड हस्त

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की उपर्युक्त हस्तमुद्राओं के लक्षणों में भिन्नता स्पष्ट होती है। तत्पश्चात् दोनों ग्रन्थों के असंयुत हस्तमुद्रा के विनियोग के आधार पर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र व अभिनयदर्पण में वर्णित असंयुत हस्तमुद्राओं के विनियोगों में काफी अन्तर है। यहाँ पर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना अतिआवश्यक है कि नाट्यशास्त्र की हस्तमुद्राओं के विनियोग नाट्य प्रयोग को ध्यान में रखकर वर्णित किये गये हैं जबकि अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं के विनियोग नृत्य की क्रियाओं के आधार पर वर्णित किये गये हैं। लेकिन फिर भी अभिनयदर्पण की हस्तमुद्राओं के विनियोगों का प्रयोग कथक नृत्य में एक-एक विनियोग के आधार पर तद्नुसार नहीं पाया जाता है । नाट्यशास्त्र की हस्तमुद्राओं के भी कुछ विनियोग ही कथक नृत्य में प्रयोग के लिये उपयोगी है।

दोनों ग्रंथों में वर्णित विनियोगों में से अतिरिक्त रूप में भी कथक में इन हस्तमुद्राओं का प्रयोग होता है। नर्तक भावाभिव्यक्ति के समय शब्द के अनुसार उपयोगी हस्त मुद्रा का प्रयोग करते हैं, जो किसी न किसी भाव के अर्थ को प्रदर्शित करने में सहायक होती है। इस उद्देश्य हेतु हस्तमुद्राओं के संबंध में नाट्यशास्त्र में एक स्पष्ट निर्देश है कि "इसके अतिरिक्त जो अन्य अर्थों से सम्बद्ध लोक सामान्य हस्त हों उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहिये।"[16] अर्थात् आचार्य भरत की उपर्युक्त बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने लोक सामान्य हस्तों को आधार मान कर ही उन्हें शास्त्र सम्मत बनाया होगा और आगे भी स्वतंत्र रूप से लोक सामान्य हस्तों का प्रयोग करने के संकेत दिये हैं। अतः निश्चित ही ऐसे हस्त या हस्तमुद्रायें नृत्य के लिये उपयोगी हैं जो रस तथा भावों की सूचक हो तथा खूबसूरती पैदा करें। ऐसे हस्तों का नृत्य में प्रयोग करना चाहिये।

नाट्यशास्त्र के अनुसार संयुत हस्त 13 है, इनके नाम इस प्रकार हैं:- "(1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) कटकावर्धमानक, (6) उत्संग, (7) निषध, (8) दोला, (9) पुष्पपुट, (10) मकर, (11) गजदन्त, (12) अवहित्थ तथा (13) वर्धमान।"[17] जबकि अभिनयदर्पण के अनुसार संयुत हस्त 23 हैं, इनके नाम निम्नानुसार है:- "(1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) डोला, (6) पुष्पपुट, (7) उत्संग, (8) शिवलिंग, (9) कटकावर्धन, (10) कर्तरी स्वस्तिक, (11) शकट, (12) शंख, (13) चक्र, (14) सम्पुट, (15) पाश, (16) कीलक, (17) मत्स्य, (18) कूर्म, (19) वराह, (20) गरुड़, (21) नागबंध, (22) खट्वा, (23) भेरुण्ड।"[18]

दोनों ग्रन्थों में जो संयुत हस्तमुद्रायें वर्णित हैं वे हैं:- (1) अंजलि, (2) कपोत, (3) कर्कट, (4) स्वस्तिक, (5) डोला नाट्यशास्त्र के अनुसार दोला , (6) पुष्पपुट, (7) उत्संग, (8) कटकावर्धन नाट्यशास्त्र के अनुसार कटकावर्धमानक, (9) "नाट्यशास्त्र का मकर हस्त अभिनय दर्पण में मत्स्य है।"[19] अभिनयदर्पण में वर्णित संयुत

हस्तमुद्राओं के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में वर्णित संयुत हस्तमुद्रायें हैं - (1) निषध, (2) गजदन्त, (3) अवहित्थ तथा (4) वर्धमान।

नाट्यशास्त्र में वर्णित निषध, दोला, गजदन्त, अवहित्थ तथा वर्धमान हस्तमुद्राओं के लक्षण एवं विनियोग के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये हस्त नाट्य प्रयोग हेतु उपयोगी है लेकिन कथक नृत्य में प्रयोग के लिये इनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है । नाट्यशास्त्र में वर्णित संयुत हस्तमुद्राओं के अतिरिक्त अभिनय दर्पण में वर्णित हस्तमुद्रायें हैं:- (1) शिवलिंग, (2) कर्तरी स्वस्तिक, (3) शकट, (4) शंख, (5) चक्र, (6) सम्पुट, (7) पाश, (8) कीलक, (9) कूर्म, (10) वराह, (11) गरुड़, (12) नागबन्ध, (13) खट्वा, (14) भेरुण्ड। नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण में वर्णित जिन संयुत हस्तमुद्राओं के लक्षणों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है वे इस प्रकार हैं:- (1) स्वस्तिक, (2) उत्संग ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वस्तिक हस्त:- "दो अराल हस्तों को कलाई पर सामने की ओर से ऊपर मुँह रखते हुए बाँयी बाजू की ओर रख देने पर 'स्वस्तिक' मुद्रा जानो।"[20]

अभिनयदर्पण के अनुसार स्वस्तिक हस्त:- "जब पताक हस्त की मुद्रा में दोनों हाथों की कलाई बाँधकर उत्तान करके रखा जाये, तो उसे स्वस्तिक हस्त कहा जाता है।"[21]

नाट्यशास्त्रानुसार स्वस्तिक हस्त

अभिनयदर्पणानुसार स्वस्तिक हस्त

अभिनयदर्पण के अनुसार इसमें वर्णित विनियोग में से अतिरिक्त रूप में स्वस्तिक मुद्रा को वक्षस्थल के समीप रखने से कथक में शीतलता, लज्जा व आलिंगन आदि के भाव को व्यक्त किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार उत्संग हस्त:- "यदि दो अराल हस्त ऊपर की ओर मुँह वाले एवं स्वस्तिक दशा में दोनों कंधों पर रखे जायें तो 'उत्संग' मुद्रा हो जाती है।"[22]

अभिनयदर्पण के अनुसार उत्संग हस्त:-"यदि मृगशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनों हाथों को एक-दूसरे की बाजुओं के ऊपर रख दिया जाये तो उसे उत्संग हस्त कहा जाता है।"[23] कथक नृत्य में उत्संग हस्त मुद्रा द्वारा भी आलिंगन का भाव प्रदर्शित किया जाता है।

नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण की संयुत हस्तमुद्राओं के विनियोगों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अंजलि, कपोत, कर्कट, पुष्पपुट हस्तमुद्राओं के विनियोगों में समानता है । किन्तु कटकावर्धन, डोला, मकर, स्वस्तिक तथा उत्संग हस्तमुद्राओं के विनियोगों में पूर्ण रूप से तुलना पाई जाती है । दोनों ग्रंथो में संयुत हस्तमुद्राओं के लिये जो विनियोग वर्णित किये गये हैं, उनसे अतिरिक्त रूप में कथक में प्रयोग इस प्रकार हैं जैसे - "अंजलि हस्त" द्वारा निवेदन

का भाव, "कपोत" हस्त का किसी वस्तु को छुपाने, चौसर खेलने, "पुष्पपुट" हस्त द्वारा किसी वस्तु को माँगने, मुँह धोने, "चक्रहस्त" द्वारा विरह का भाव प्रदर्शित करने के लिये वक्षस्थल के समीप हल्का घुमाते हुये रखने पर विरह के भाव को व्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार सम्पुट हस्त का प्रयोग कथक नृत्य में शोक या दुख को प्रकट करने के लिये इस हस्त को मस्तक के समीप रखने पर यह भाव प्रदर्शित किया जाता है। राज या गुप्त बात तथा ततकार के अभ्यास के समय यह उदर के समीप अवस्थित की जाती है।

नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण में वर्णित नृत्त हस्तों में से "नाट्यशास्त्र में 30 नृत्त हस्त दिये गये हैं:- (1) चतुरस्र, (2) उद्वृत्त या तालवृत्त, (3) तलमुख, (4) स्वस्तिक, (5) विप्रकीर्ण, (6) अरालकटकामुख, (7) आविद्धवक्त्र, (8) सूचीमुख, (9) रेचित, (10) अर्धरेचित, (11) उत्तान्वंचित, (12) पल्लव, (13) नितम्ब, (14) केशबन्ध, (15) लता, (16) करिहस्त, (17) पक्षवंचित, (18) पक्षप्रद्योतक, (19) गरुडपक्ष, (20) हंसपक्ष, (21) ऊर्ध्वमण्डल, (22) पार्श्वमण्डल, (23) उरोमंडल, (24) पार्श्यावर्त या पार्श्वार्धमण्डल, (25) मुष्टिक स्वस्तिक, (26) बलिनी पद्मकोष, (27) अलपल्लव, (28) उल्वण, (29) ललित तथा (30) वलित।"24 जबकि "अभिनयदर्पण में नृत्त हस्तों की संख्या 13 दी गई है। इनके नाम भी इस प्रकार हैं:- (1) पताक, (2) स्वस्तिक, (3) डोला, (4) अंजलि, (5) कटकावर्धन, (6) शकट, (7) पाश, (8) कीलक, (9) कपित्थ, (10) शिखर, (11) कूर्म, (12) हंसास्य और (13) अलपद्मक।"25

अभिनयदर्पण में इन नृत्त हस्तों के लक्षण अंकित नहीं किये गये, केवल नाम दिये गये हैं । इस प्रकार असंयुत एवं संयुत हस्तों से इनकी कोई भिन्नता सिद्ध नहीं होती ना ही सार्थकता।

नाट्यशास्त्र में असंयुत एवं संयुत हस्तमुद्राओं के लक्षण एवं विनियोगों का विधिवत वर्णन किया गया है। किन्तु नृत्त हस्त में विनियोग नहीं दिया गया, केवल लक्षण बताया गया है जो किसी अर्थ के प्रतिपादन के लिये प्रतीत नहीं होते, केवल शुद्ध नृत्य में आवश्यकतानुसार नर्तक इनका प्रयोग करता है। इस आधार पर नाट्यशास्त्र तथा अभिनयदर्पण में वर्णित नृत्त हस्तों में पूर्णरूप से भिन्नता पाई जाती है।

अभिनयदर्पण में असंयुत, संयुत एवं नृत्त हस्तों के अतिरिक्त देवताओं के लिये हस्तमुद्रायें दशावतार हस्त, विभिन्न जातियों एवं वर्णों की हस्तमुद्राएँ भी दी गई है। जो कि संयुत एवं असंयुत हस्त मुद्राओं के योग से ही भाव के अनुसार प्रयोग होते हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र में इनकी चर्चा नहीं की गई है। समाज में प्राचीन काल में शैव धर्म के बाद वैष्णव धर्म आया और विष्णु के अनेक रूप आये जैसे-लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, गणेश आदि । हो सकता है कि तब नन्दिकेश्वर को इन देवी-देवताओं की मूर्ति के भाव के प्रदर्शन की आवश्यकता महसूस हुई हो और उन्होंने देवता हस्तों, दशावतार हस्तों आदि को वर्णित किया हो । तत्पश्चात् विभिन्न जातियाँ एवं वर्ण बने जिसके आधार पर नन्दिकेश्वर ने इनसे संबंधित हस्तमुद्राओं का वर्णन किया होगा। इसी प्रकार नवग्रहों एवं सम्बन्धीजनों से संबंधित हस्तमुद्राओं का निर्माण भी किया होगा किन्तु इसे केवल एक अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है।

अंत में हम कह सकते हैं कि आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण तथा आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र दोनों में मुद्राओं को प्रमुखता दी गई है।

संदर्भ सूची:-

1. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 39-40।
2. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 212।
3. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 46।

4. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 216।
5. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 51।
6. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 218।
7. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 51।
8. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 219।
9. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 60।
10. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 224।
11. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 61।
12. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 225।
13. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 63।
14. ----------वही---------- पृष्ठ 64।
15. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 08।
16. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 72।
17. ----------वही---------- पृष्ठ 40।
18. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 228।
19. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 08।
20. ----------वही---------- पृष्ठ 66।
21. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 229।
22. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 67।
23. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 230।
24. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', नाट्यशास्त्र भाग-2, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणासी (उ.प्र.) 1972 ई. प्रथम सं., पृष्ठ 40-41।
25. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, चौखम्बा संस्थान, 38, यू.ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-110007, वर्ष 1989, आई.एस.बी.एन. 81.7084.047.3पृ. 247।

कथक नृत्य के उत्थान में महिला कलाकारों का योगदान

कविता गंगबोईर

सृष्टि की संरचना के साथ ही कलाओं की उत्पत्ति कही गई है | जीव-जंतुओं और मानव का अस्तित्व जब से इस पृथ्वी पर है, तब से ही प्राणी ने अपनी भावनाओं को संप्रेषित करने के लिए जिन माध्यमों का प्रयोग किया वहीं कालान्तर में कला के रूप में सामने आए है। भावनाओं का संप्रेषण ही कला नहीं है, अपितु भावनाओं को सुंदरता के साथ सुसज्जित रूप से व्यक्त करना कला है। वात्स्यायन ने 64 कलाएं मानी है, जिसमें ललित कलाओं को विशिष्ट स्थान है यह ललित कलाएं पांच मानी गई हैं- स्थापत्य कला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत कला और काव्य कला। जिनमें से नृत्य को संगीत के अंतर्गत रखा गया है। भारतीय परंपरा अनुसार शिव को नृत्य का आदि प्रवर्तक माना गया है, शिव द्वारा किए गए नृत्य को तांडव कहा गया। शिव को नृत्य करते देख पार्वती ने सुकोमल अंगहारों से युक्त जो नृत्य किया वह लास्य कहलाया। जिस प्रकार संपूर्ण सृष्टि का संतुलन पुरुष और प्रकृति के संयोग से माना जाता है, उसी प्रकार तांडव और लास्य के संतुलन से नृत्य की रचना हुई। भारत के विभिन्न शास्त्रीय नृत्यों में यह दो तत्व (ताण्डव व लास्य) मुख्य रूप से पाए जाते हैं। कत्थक में भी तांडव और लास्य दोनों का उत्तम समागम देखने को मिलता है। यद्यपि शिव नृत्य के आदि पुरुष माने जाते हैं परंतु आज भी समाज में नृत्य को स्त्रीसाध्य कला के रूप में ही देखा जाता है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को बहुत से क्षेत्र में मान प्रतिष्ठा तो प्राप्त थी, किन्तु नृत्य के क्षेत्र में उनका प्रवेश तक वर्जित था। समाज नृत्य और नर्तकी को पसंद तो करता था, परंतु उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। स्त्रियों को नृत्य करना तो दूर उन्हें नृत्य देखने की भी अनुमति नहीं होती थी। समाज का जो तबका नर्तकियों को थोड़े सम्मान से देखता था, वह भी अपने घर की स्त्रियों को नृत्य सीखने की अनुमति नहीं देता था। यदि नृत्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो प्रत्येक काल में नृत्य के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति का अवलोकन किया जा सकता है:-

पूर्व मध्यकाल - भारतीय इतिहास में पहली शताब्दी से 10 वीं शताब्दी तक का काल पूर्व मध्यकाल माना जाता है। हजार वर्षों की लंबी अवधि में बहुत से राजवंश जैसे- शुंग, कनिष्क, नाग, गुप्त व राजपूत आदि का उत्थान व पतन हुआ। इनमें से कई राजवंशों के शासक स्वयं भी अच्छे संगीतज्ञ थे। इस काल में वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार अत्यधिक हो रहा था, जिससे संगीत, नृत्य, नाट्य आदि कलाओं को बहुत आश्रय मिला और ईश्वर आराधना का श्रेष्ठतम मार्ग इन्हीं कलाओं को कहा गया। वैष्णव शासकों के काल में कला और कलाकार दोनों फलीभूत होते रहे। इस समय में ही देवदासियों की परंपरा प्रचलित थी। इन देवदासियों का कार्य सुबह-शाम भगवान की पूजा के समय एक विशाल प्रांगण में नृत्य करना होता था, जो उनके आराधना का माध्यम था। 'मालविकाग्निमित्रम्'' नाटक की नायिका मालविका, 'विक्रमोर्वशियम्' की नायिका उर्वशी, 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की अप्सरा सानुमति इत्यादि का उल्लेख हमें इस काल में मिलता है, जो इस काल की उत्कृष्ट नृत्यांगनाओं का एक उदाहरण है। स्त्रियां सामाजिक कार्यक्रमों में भी सक्रिय रूप से भाग लिया करती थी।

उत्तर मध्यकाल - 11 वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के समय को उत्तर मध्यकाल कहा गया है। यह काल इस्लामी सत्ता का था जिसमे क्रमशः खिलजी, तुगलक, लोदी और मुगलों ने भारत पर आक्रमण कर अपनी सत्ता जमा ली थी। भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला पर उनके आगमन का अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। इतिहास के

पन्नों को पलटने से यह ज्ञात होता है ग' कि कुछ शासकों को छोड़कर सभी इस्लाम शासक संगीत प्रेमी थे, परंतु यह जानना आवश्यक है कि इन शासकों के लिए नृत्य और संगीत केवल मनोरंजन का साधन मात्र था। सभी भारतीय शास्त्रीय नृत्य में इनके आगमन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, परंतु कथक नृत्य इनके आगमन से अत्यधिक प्रभावित हुआ। कथक नृत्य की वेशभूषा से लेकर उसके प्रत्येक तत्वों में परिवर्तन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन शासकों ने नर्तकियों को राजाश्रय तो दिया, परंतु वे उनके दरबार की प्रतिष्ठा नहीं बन पायी। देवदासियों को भी बंदी बनाकर आध्यात्मिकता से परे विलासिता से पूर्ण नृत्य करने को मजबूर किया गया। कथक नृत्याचार्यों को वैश्याओं के कोठे पर नियुक्त किया गया ताकि वैश्याओं को भी कत्थक सिखाया जा सके। सामान्य तौर पर देखा जाए तो मुगलों के आक्रमण के पश्चात कथक नृत्य का प्राचीन स्वरूप विकृत होकर रह गया और नर्तकियाँ राज दरबारों की भोग-विलास का साधन बनकर रह गईं एवं समाज में नर्तकियों को अत्यधिक हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

आधुनिक काल- 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से वर्तमान तक का काल आधुनिक काल कहा जाता है। अंग्रेज भारतीय नृत्य का आनंद लेते थे। हालांकि उनकी दृष्टि नर्तकियों के प्रति कोई विशेष सम्मान जनक नहीं थी। ये वो समय था जब भारतीय कलाकारों में उत्थान की एक लहर दौड़ रही थी कला के प्रत्येक क्षेत्र में नए आयाम बनाए जा रहे थे। इसी कड़ी में नृत्य के क्षेत्र में भी खूब कार्य हुए जिसमें प्रत्येक नृत्य के क्षेत्र में पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी बढ़चढ़ कर भाग लिया। जैसे- भरतनाट्यम के क्षेत्र में श्रीमती रुकमणी देवी अरुंडेल, श्रीमती बाल सरस्वती इत्यादि | इसी प्रकार कथक नृत्य के क्षेत्र में भी मैडम मेनका, माया राव, कुमुदिनी लाखिया, दमयंती जोशी, सितारा देवी इत्यादि नाम उल्लेखनीय है।

वर्तमान समय में कथक नृत्य और नृत्यांगनाओं को जो सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त है वह इन महान विभूतियों के कड़े परिश्रम का फल है। ऐसा कहना अनुचित होगा कि पुरुषों ने नृत्य के उत्थान के लिए कुछ भी नहीं किया पुरुष कलाकार और स्त्री कलाकार दोनों का नृत्य के प्रति निश्छल प्रेम और उनकी नृत्य के प्रति अपार श्रद्धा ने ही कथक नृत्य को एक सम्मानजनक स्थिति प्रदान की है। परंतु जहां तक बात स्त्रियों के कथक नृत्य के प्रति स्वतंत्रता, नृत्यांगनाओं के सम्मान तथा एक मध्यम वर्ग की स्त्री तक कथक नृत्य को पहुंचाने की है तो मैडम मेनका, माया राव, दमयंती जोशी, कुमुदिनी लाखिया, सितारा देवी इत्यादि नाम अग्रगण्य रहेंगे |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

- कथक नृत्य शिक्षा, द्वितीय भाग - डॉ. पुरु दाधीच
- कत्थक और आध्यात्म - भारती गुप्ता
- कथक अक्षरों के आरसी - ज्योति बख्शी

पार्वती सृजित लास्य का कथक नृत्य में स्थान

शीतल कुमार उरांव

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में नृत्य जीवन के उच्चत्तर सत्य की अभिव्यक्ति के प्रबलतम माध्यमों में से रहा है। इसे ईश्वरोपासना एवं मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन माना जाता है। हिन्दू मस्तिष्क की प्रकृति सदैव से ही ज्ञान तथा कलाओं के अनेक शाखाओं की उदगम को किसी न किसी दैवी स्त्रोत से संबन्धित करने की रही है। नृत्य के विषय में भी यही बात है। नृत्यकला यदि ईश्वर साक्षात्कार के लिए साधन का विषय है तो, साध्य को भी यहां नर्तक या संगीतज्ञ के रूप में देखने की परंपरा रही है। भगवान शिव नृत्य, संगीत एवं नाट्य के आदिगुरु माने गए है। वो नटराज रूप में आदिनर्तक है, एवं तांडव नृत्य उन्ही से आविष्कृत है। शिव अर्धांगिनी 'पार्वती' इस कला के प्रति विशेष स्नेह रखती है एवं वो लास्य नृत्य की सृजिका है। इसी प्रकार भगवान विष्णु भी इस कला में निपुण है एवं मोहिनी वा कृष्ण रूप में वो भी नृत्य करते है।

नृत्य एवं नृत्त की शास्त्रीय परंपरा में शिव एवं पार्वती द्वारा आविष्कृत 'तांडव' एवं 'लास्य' का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में ये दो नृत्य ही प्रचलन में थे। जिनका प्रभाव वर्तमान नृत्य शैलीयों में भी देखा जा सकता है। तांडव एवं लास्य नृत्य की उत्पत्ति के संबंध में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में बताया गया है की "दक्ष प्रजापति के यज्ञ के विध्वंश करने के उपरांत उसी संध्यावेला में नटराज शंकर ने विविध रेचकों,अंगहारों, तथा पिंडिबंधों सहित तांडव नृत्त किया और भगवती पार्वती ने सुकुमार नृत्त (परवर्ती काल में लास्य नृत्य) की योजना कर उसमें भगवान शंकर का साथ दिया"[1] यहां ध्यान देने योग्य बात है कि भरत ने पार्वती के नृत्य को लास्य नृत्य ना कहते हुए सुकुमार नृत्त कहा है। तांडव का वर्णन भी उन्होंने नृत्त रूप में ही किया है यह भ्रामक स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई है क्योंकि भरत काल में लय ताल आश्रित भावहीन नृत्त ही प्रचलन में था, भावाभिव्यंजना की विशेषता रखने वाला नृत्य भरतोत्तर काल में विकसित माना जाता है। "भरत ने नाट्यशास्त्र में नृत्य शब्द का उपयोग भी नहीं किया है, एक दो स्थानों में अगर किया भी है तो उसे नृत्त के अर्थ में ही किया है"[2] विद्वानों के मत से "आचार्य कोहल ने नृत्य का निर्माण कर उसे रूपकों के माध्यम से प्रचलित किया ये मत अभिनव गुप्त ने भी अपने अभिनव भारती में दिया है"[3] कुछ विद्वान मानते है कि पांचवीं शताब्दी ई. तक नृत्य स्वतंत्र कला के रूप में स्थापित हो चुका था तथा "छठवीं शताब्दी में मतंग ने नृत्य को मार्गी व देशी में विभक्त किया जिसे साधारणतःशास्त्रीय व लोक नृत्य कहा गया है"[4] इसके पश्चात 10वीं से 15वीं शताब्दी के ग्रंथों यथा अभिनयदर्पण, भावप्रकाशनम, संगीतरत्नाकर, नृत्तरत्नावली, नृत्यरत्नकोश आदि में नृत्य स्वतंत्र कला के रूप में उल्लेखित है। इन ग्रंथों में तांडव तथा लास्य (पार्वती के सुकुमार नृत्त) को नृत्य संज्ञा से ही कहा गया है। अस्तु!इसे हम नृत्त एवं नाट्य के मेल से एक नई कला 'नृत्य' के निर्माण तथा तांडव एवं सुकुमार नृत्त का तांडव एवं लास्य नृत्य में विकास के दृष्टिकोण से देख सकते है।

पार्वती सृजित लास्य को यदि परिभाषित करने की कोशिश की जाए तो कहा जा सकता है कि- लास्य वह नृत्य है जिसमें कोमल अंग – भंगिमाओं के द्वारा मधुर भावों का प्रदर्शन होता है और जो श्रृंगार, करुणा, भक्ति आदि कोमल रसों को उद्दीप्त करने वाला है। यह ऐसा लालित्यपूर्ण नृत्य होता है जो स्त्रियों के किए जाने योग्य होता है। इसमें ग्रीवा, भ्रू , नेत्र, कलाई आदि बड़ी चातुर्यपूर्ण तरीके से चलाई जाती है ,चाल मादकता लिए होता है और इसका संगीत कैशिकी वृत्ति से पूर्ण तथा सुमधुर होता है। इस लास्य के मुख्यतः तीन प्रकार विषम, विकट, एवं लघु विद्वानों ने कहे हैं । इसके प्रचार-प्रसार के विषय में ग्रथों में वर्णन है कि पार्वती ने स्वयंसृजित लास्य को बाणासुर की पुत्री को सिखाया। कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से उषा का विवाह हुआ तब उषा ने इसे द्वारका के ललनाओं में प्रसारित किया, द्वारका से यह नृत्य सौराष्ट्र पहुंचा फिर अन्य जगहों पर भी इस नृत्य का प्रसार हुआ। लास्य की तुलना में तांडव की बात की जाए तो "आरभट्टी वृत्ति तथा उद्धत करण- अंगहारों से युक्त वीर, अद्भुत, रौद्र और वीभत्स आदि रसों से युक्त नृत्य 'तांडव' कहा जा सकता है। इसमें अंगों का संचालन आवेशपूर्ण होता है एवं यह पुरुषोचित नृत्य है। इस तांडव के मुख्यतः सात प्रकार- संध्या, आनंद, गौरी, उमा, संहार, कलिका एवं त्रिपुर तांडव माने गए है। ज्ञातव्य हो कि पुराणों, शैव ग्रंथों एवं नाट्य-नृत्य संबंधी ग्रंथों में तांडव एवं लास्य का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। यह आदि पुरुष शिव एवं शक्ति (पार्वती) का एक्य एवं अद्वैतता को दर्शाता है। फिर भी यदि मात्र शिव की इस शक्ति की बात की जाए तो यह शिव की इच्छा या लीला करने की शक्ति है। "शिव चिद्रूप है, परंतु अचेतन है, बिना शक्ति के शिव अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं कर पाते (शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है) शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है" ।[5] इसी शक्ति को माया एवं प्रकृति भी कहा जा सकता है। "प्रलयकाल में जीव जिसमें लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा है 'माया' ।[6] इसी तरह सृष्टि के प्रकृति शब्द में 'प्र' प्रथम अर्थ में तथा 'कृति' सृष्टि के अर्थ में है। अतः सृष्टि के आदि में जो देवी विराजमान रहती है उसे प्रकृति कहते है" ।[7] इस चराचर जगत में जो भी क्रिया- प्रक्रिया हो रही है वह इसी शक्ति के कारण से है, बिना ऊर्जा बिना शक्ति कुछ भी संभव नहीं।

उपरोक्त वर्णित परब्रह्म स्वरूपा, मूलप्रकृति, निराकार, ईश्वरी, नित्या, सर्वस्थानावासनी शक्ति का ही साकार या सगुण स्वरूप है 'पार्वती' । देवी पार्वती निराकार परब्रह्म, सदाशिव के साकार रूप कैलाशवासी रुद्र की सहधर्मिणी है। शक्तिस्वरूपा होने के बावजूद पार्वती देवी का जीवन एक सामान्य स्त्री सा है। सर्वशक्तिशाली होने के नाते सहज ही वह शिव को पा सकती थी किंतु उन्होंने एक साधारण मानव कन्या के रूप में पर्वतराज हिमालय के यहां जन्म लिया। पर्वत सा अटल उनका आत्मविश्वास एवं श्रद्धा था कि तीन सहस्त्र वर्ष तपस्या कर उन्होंने शिव को पति के रूप में प्राप्त किया था। यही पार्वती पूर्व जन्म में सती थी। सती चंचल मन-बुद्धि एवं चंचल इंद्रियों वाली देवी थी। जो ईश्वर से विमुख हुई और जिसके कारण दक्ष यज्ञ का प्रसंग घटित हुआ। परिमाण स्वरूप पार्वती के रूप में उनका जन्म हुआ। और उसने समस्त इंद्रियों, मन एवं देह को संयमित कर ईश्वर शिव को पति के रूप में फिर से पाया। शिव उन्हें तब तक नहीं मिले जब तक उनका रोम-रोम शिवमय नहीं हो गया। अतः पार्वती अध्यात्म की आदर्श है। उनका पूर्व जन्म सती, चंचल मन एवं इंद्रियों के समान है जो ईश्वर को नहीं पा सकता। परमात्मा का साक्षात्कार तो तभी संभव है जब

संपूर्ण इंद्रियां, मन और देह संयमित हो। इसी प्रकार वह एक आदर्श पत्नी, आदर्श माता एवं गृहिणी भी है, जिसके गृह में ऋषभ, सर्प, मयूर, भूतप्रेत सभी एक साथ रहते है। यदा-कदा देवगण भी उस अन्नपूर्णा के यहां सत्कार पाते है। वैसे तो पार्वती देवी करुणामयी, वरदायिनी एवं सौम्य स्वभाव वाली है किंतु महाकाली, दुर्गा (महिषासुर के वध निमित्त देवताओं द्वारा व्युत्प देवी) दस महाविद्या, नवदुर्गा जैसे प्रचंड शक्तियां उन्हीं में अंतर्निहित रहती है एवं आवश्यकता पड़ने पर प्रकट भी होती है। दुर्गा सप्तशती के पंचमोध्याय एवं श्रीमद्देवीभागवतम के प्रथम स्कंध में वर्णन है की शुंभ - निशुंभ के वध हेतु देवों के द्वारा स्तुति करने पर पार्वती के देह से ही अंबिका एवं काली देवी का प्राकट्य हुआ था। शिव महापुराण के उमा संहिता में वर्णन है कि दुगर्मासुर के अनाचार से पृथ्वी असंतुलित हो गई थी। देवों के यज्ञ हविस मिलना बंद हो गया था। संपूर्ण पृथ्वी पर अकाल पड़ गया था तब दयापूर्ण पार्वती देवी नौ रात नौ दिन तक हजारों अश्रुधारा बहा कर रोई थी जिससे समस्त भूमंडल पर हरियाली हो गई थी। अनेकों शाक - औषधि आदि उग आए थे। अतः वो शताक्षी और शाकंभरी कहलाई। पार्वती के देह से ही दुर्गा प्रगट हुई थी एवं उसने दुगर्मासुर का नाश किया था। महाकाली पार्वती की ही एक उग्र, क्रोधी एवं शक्तिशाली रूप मानी गई है। वह संहार की देवी है। पापी, अधर्मी, दुराचारी, कामी एवं अहंकारी दुरात्माओं का संहार एवं भक्षण करने में वह तनिक भी देर नहीं लगाती। पर जगतमाता का ये संहार भी प्रपंच एवं लीला मात्र है। संहार होता है, ताकि पुर्न आगमन - पुनर्जन्म हो सके और दुरात्मा अपना कर्म सुधार सके तथा अध्यात्म का मार्ग अपना कर ईश्वर को पा सके। संहार करते वक्त काली की अवस्था एक मूर्तिकार की भांति होती है जो विकृत रचित मूर्तियों को पुनः पुनः गीली मिट्टी में मिला कर नयी मूर्ति की संरचना करता है। लास्य नृत्य इसी सौम्य स्वरूप वाली एवं कभी रौद्र रूप वाली पार्वती का सृष्टि नृत्य है। "लास्य शब्द 'लस'धातु जिसका अर्थ होता है 'संश्लेषण' एवं 'ण्यत' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। अर्थात लास्य वह है जहां अंगो से अंगहारों का संश्लेषण हो"[8] इस संश्लेषण शब्द का शाब्दिक अर्थ जोड़ना या पृथक - पृथक को एक्य करना भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यदि लास्य नृत्य को देखा जाए तो उसकी प्रकृति भी ऐसी है जो आनंद, प्रेम, करुणा, आकर्षण और सम्मोहन आदि के माध्यम से संपूर्ण सृष्टि में संतुलन, शांति तथा सौहार्द आदि की स्थापना कर सबको एक करने का सामर्थ्य रखता है। अतःसमष्टि को व्यष्टि बनाने वाला नृत्य है।

कथक नृत्य संपूर्ण उत्तर भारत का शास्त्रीय माना जाता है। इस नृत्य शैली की प्रतिनिधि अक्षर ता, थेई ,तत है। त्रयी शक्ति के रूप में इन अक्षरों को कथक नृत्यचार्यो ने अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। नृत्यकला के विद्वानों ने 'ता' को तांडव और 'थेई' को लास्य की संज्ञा देकर उन्हें शिव – पार्वती स्वरूप स्वीकार किया है। जयचंद्र शर्मा जी के अनुसार "जिन रचनाओं के आदि मध्य और अंत में 'थेई' का विशेष प्रयोग किया जाता है तो ऐसी रचनाओं में भगवती पार्वती प्रसन्न होती है"[9] कथक नृत्य में 'तांडव' एवं 'लास्य' दोनों का समन्वय दिखाई देता है। जहां इसके नृत्तांग (परण, तोड़ा आदि) तांडव अंग में नाचे जाते है, वहीं इसका नृत्यांग या भावपक्ष लास्य अंग में नाचा जाता है। कथक नृत्य के नृत्यांग में मुख्यतः ठुमरी, दादरा, होरी, कजरी, चैती एवं गजल आदि गीतविधाओं पर भाव प्रस्तुत किया जाता है। दादरा, होरी, कजरी, चैती आदि गीतों की विषयवस्तु अधिकतर शृंगारिक होते है। कृष्ण राधा की छेड़छाड़, प्रेम –

व्यवहार, प्रेमियों के उलाहने, शिकायत, विरह- वेदना, आसक्ती, नाज – नखरे, चुहलबाजी आदि विषयवस्तु इन गीतों में प्रधान्य रखते हैं। ऊपर से सोने में सुहागा कि रूठना – मनाना, शिकवा - शिकायत प्रेम की छेड़छाड़, तकरार, कलाई मरोड़ना जैसे सुकुमार भावों के सुंदर अंदाज कथक नृत्य के भाव पक्ष में बेशुमार हैं, जो गीतों के सहज सरल शब्द में निबद्ध होकर हाव – भाव, तथा हेला के साथ इस नृत्य में फूट पड़ते हैं। गजल जिसकी वर्ण्य विषय घोर श्रृंगार परक होता है, पर भी कथक नर्तक भाव प्रस्तुत करते है। उपरोक्त गीतविधाओं के माध्यम से शृंगार रस की परिपूर्ण भावाभिव्यक्ति कथक नर्तक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। श्रृंगार रस लास्य का विषय है। किंतु ऐसा नहीं है कि शृंगारिक होने के कारण यह अनैतिक है। कथक का भाव पक्ष शृंगारिक अवश्य है किंतु नैतिकता के घेरे में।

कथक नृत्य का प्रारंभ हमेशा वंदना से होता है जिसमें किसी देवी - देवता संबंधी भक्तिपरक संस्कृत श्लोक आदि पर भाव प्रस्तुत किया जाता है फिर नृत्तांग की प्रस्तुति के पश्चात कई नर्तक भजन पर भी भावाभिनय करते हैं। ये दोनों अंग भी कथक के नृत्यांग के अंतर्गत ही हैं एवं स्वयं में भक्ति एवं आध्यात्मिक भावना को समेटे हुए हैं, जिस पर सौंदर्यपूर्ण हस्ताभिनय एवं मुखाभिनय के द्वारा भाव प्रदर्शन किया जाता है। भक्ति को भी लास्य का विषय माना जाए तो यह अमान्य नहीं होना चाहिए क्योंकि क्रोध,उत्साह, रौद्र आदि भावों से ईशभक्ति संभव नहीं।

कथक नृत्य के नृत्तांग को प्रधानतयः तांडव अंग में नाचने का प्रावधान है किंतु विभिन्न घरानों में तांडव एवं लास्य के प्रभावानुसार कलाकार इसे अपने अपने तरीके से नाचते है जैसे जयपुर वाले तोड़े - टुकड़े, तिहाई आदि को खूब तेजी तैयारी, अनगिनत भ्रमरियों और क्लिष्ट पादघातों के संयोजन से नाचते है जो कि तांडव का विषय हैं। वहीं लखनऊ घराने के कलाकार उपरोक्त को बड़ी सुंदर सौंदर्यपूर्ण तरीके से नाचते हैं,उनके बोलों एवं अंगों को बरतने में नजाकत, खूबसूरती सौंदर्ययुक्त भंगिमाओं आदि का समावेश रहता है जो की लास्य का विषय है। कत्थक के अन्य दो घराने बनारस घराना एवं रायगढ़ में से बनारस घराना जिसका उद्भव जयपुर से ही माना जाता है के कलाकारों के नृत्तांग प्रदर्शन में मुख्यतः तांडव अंग ही दर्शनीय होता है। स्व. गोपीकृष्ण द्वारा किया जाने वाला तोड़ - मरोड़ वाला अंग विक्षेप तथा धरती पर फिसलते हुए अचानक से सम लेना आदि इसी विचार के घोतक हैं। वहीं रायगढ़ घराने के नृत्तांग में तांडव एवं लास्य दोनों का समिश्रण दिखाई देता है क्योंकि राजा चक्रधर सिंह के दरबार में जयपुर एवं लखनऊ दोनों घराने के गुरु थे जिनसे पं कार्तिक राम, भगवान दास, फिरतू दास जैसे शिष्यों ने शिक्षा ली थी। रायगढ़ घराना अपने वैविध्यपूर्ण बोलो के लिए सुप्रसिद्ध है। इस घराने के कलाकार लास्य प्रधान जिन रचनाओं को नाचते है उनमें मुख्य है त्रिचक्री कृष्णलास्य, कृष्णलास्य त्रोटक(तोड़ा), दुर्गाकाली लास्य, राधिका लास्य, माधवी लास्य आदि। इन बंदिशों को लास्य अंग में ही नाचने का प्रावधान इस घराने में है। यों तो तांडव पुरुषोचित माना गया है किंतु ऐसा कदापि नहीं है कि पुरुष लास्य ना करे वा स्त्री तांडव ना करे। शिव का आनंद, संध्या, गौरी, उमा आदि तांडव जो कि प्रसन्नता एवं पार्वती के प्रति सद्भावना एवं प्रेम का प्रतीक है में,शिव किंचित लास्य की योजना अवश्य करते होंगे क्योंकि समर्पण के भाव में उत्साह, क्रोध, ग्लानि आदि का कोई स्थान नहीं। वहीं कालिका तांडव करते हुए काली उद्धत अंगों का ही प्रयोग करती होंगी और लास्य का उसमें कोई स्थान ना होगा। इस बात की सार्थकता कथक नृत्य में भी देखने को

मिलती है। इसमें चाहे तो कोई पुरुष नर्तक लास्यांग में भी नाच सकता है और कोई स्त्री नर्तकी इच्छा अनुसार तांडव अंग में भी नाच सकती है। जयपुर घराने के कानूजी एवं हनुमान प्रसाद जी, लखनऊ घराने के लच्छू महाराज (लास्य सम्राट) एवं पं. बिंदादीन महाराज आदि लास्यअंगी ही थे। वही स्व. सितारा देवी जी के नृत्त पक्ष में ओज, उत्सव आदि तंडवीय गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते थे। कथक नृत्य में उपरोक्त विविधतायें इसलिए देखने को मिलती है क्योंकि कथक एक खुला एवं प्रयोगधर्मा शास्त्रीय नृत्य शैली है। इसमें शास्त्र का बंधन तो है किंतु ऐसा कदापि नहीं है कि शास्त्र या अनुशासन का बंधन पूरी तरह छूट जाए। इसमें खुलापन है किंतु आवश्यकता पड़ने पर शास्त्र का अंकुश ढीला भी कर दिया जाता है। ऐसा कदापि नहीं है कि शास्त्र या अनुशासन का बंधन पूरी तरह छूट जाए। इसमें खुलापन है किंतु शास्त्र के परिधि के अंतर्गत। वैसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो कथक के नृत्तांग में भी लास्य संगुफित रहता है। भरतकृत नाट्यशास्त्र एवं परिवर्तित ग्रंथों में 'मुखराग' शब्द आया है। इस मुखराग को भरत ने नाट्याभिनय के लिए बहुत महत्वपूर्ण माना है। यहां मुखराग से तात्पर्य चेहरे पर सौंदर्य या चेहरे की भावात्मक आकृति से है जो कि दर्शकों को आकर्षित करने वाला हो। मुखराग में दृष्टि के साथ होने वाले चेहरे के सूक्ष्म परिवर्तनों द्वारा भावों का सूक्ष्म निरूपण देखा जा सकता है। नाट्य एवं नृत्य के लिए मुखराग एक अनिवार्य तत्व माना जाता है किंतु नृत्त की प्रस्तुति में भी इसका प्रयोग संभव है। आशय है कि जब नृत्त में ताल लयानुसार अंगों के संचालन के दौरान यदि मुखराग (मुख, नेत्र, कपोल, आदि का यथोतिष्ट सन्निवेशन) की योजना हो तो नृत्त पक्ष और ज्यादा आकर्षक एवं चमत्कार पूर्ण हो जाता है। कथक नृत्य के गुणी- ज्ञानी, गुरुजन एवं साधक कलाकार अपने नृत्तांगमें मुखराग का उचित प्रयोग करते देखे जाते हैं। मुख्यतः थाट प्रस्तुति के समय भौंह, कपोल, ओठ, नयन आदि का सुंदर हलन- चलन तथा सम के समय मुख पर सुंदर हंसी मुखराग की सुंदर झांकी है। जिसके प्रयोग से नृत्तांग की शोभा द्विगुणित हो जाती है। निरर्थक बोल बंदिश भी इसके प्रयोग से सार्थक एवं बोलते हुए जान पड़ते है। अस्तु! कथक नृत्तांग में भ्रू, कपोल, नयन आदि का ऐसा महत्वपूर्ण सूक्ष्म एवं सुंदर प्रयोग लास्य का ही तो विषय है। इसी प्रकार गतनिकास एवं कवित्त जो कि कथक नृत्तपक्ष का ही अंगवस्तु है, पूर्णतयः लास्यगामी है। जहां कवित्त में सौंदर्यपूर्ण हस्त मुद्राओं एवं मुखाभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित किया जाता है, वहीं गतनिकास में सार्थक हस्त मुद्राओं (यथा मुरली, मुकुट, मटका आदि) को धारण कर मार्दव पूर्ण एवं सुंदर तरीके से चाल चला जाता है। इस प्रकार का लावण्यमय चाल लास्य के अंतर्गत ही माना जाएगा।

निष्कर्षतः लास्य, ललिता संज्ञा से कहीं जाने वाली पार्वती का नृत्य है। यह उस महामाया शक्ति स्वरूपा गौरी का नृत्य है जो अनवरत चलता रहता है। जिससे सृष्टि में आनंद, शांति, संतुलन एकता आदि का पादुर्भाव होता है। ये लास्य इस लौकिक प्रकृति का भी नृत्य कहा जा सकता है। यदि बिजली का कड़कना, घनघोर बादल का छाना और मूसलाधार वृष्टि का होना तांडव का रूप है तो इसी स्थिति में पेड़ - पौधे लता - पत्तों का झुम उठना, मोर का नाच उठना लास्य का रूप है। मीरा पग में घुंघरू बांध, कृष्ण प्रेम में नाच उठती थी मीरा का यह नृत्य तांडव तो नहीं होगा, वह लास्य रूप ही होगा। देवदासियाँ ईश्वर मूर्ति के समक्ष नृत्य करती थी वो उन्हें पति मानती थी, लास्य भाव के बिना वो उनको रिझा भी नहीं सकती थी। अतः लास्य नृत्य वह है जिसमें उस सर्वौच्च के प्रति समर्पण का भाव निहित है।

नृत्य हो या अन्य नृत्यकला यह सौंदर्य का अनुसरण करता ही है। कथक नृत्यकला का प्रदर्शनकर्ता भी हमेशा ध्यान रखता है कि उसके प्रस्तुति (चाहे नृत्तांग हो या नृत्यांग) में सौंदर्य एवं आकर्षण पर गुण अवश्य रहे। इस उद्देश्य को सार्थक करने का प्रयत्न प्रत्येक कलाकार अवश्य करता है। यह सौंदर्य एवं आकर्षण लास्य का ही प्रमुख गुण है। अस्तु! कथक नृत्य में पार्वती सृजित लास्य का प्रमुख स्थान है और लास्य के प्रयोग से यह नृत्य सम्पूर्ण विश्व को सम्मोहित करने का सामर्थ्य रखता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनय दर्पण, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, प्रकाशन दिल्ली 1989, पृष्ठ 82 -81 –
2. सिंह मांडवी, भारतीय संस्कृति में कत्थक परंपरा, स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली,) 1990 प्रथम संस्करण35 – पृष्ठ (वही
3. बख्शी ज्योति, अक्षरों की आरसी, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल,2000 , 24 – पृष्ठ (प्रथम संस्करण),25
4. आचार्य बलदेव, भारती दर्शन, शारदा मंदिर रविंद्रपुरी दुर्गाकुंड वाराणसी 5-प्रकाशन, पृष्ठ 300 -
5. वही पृष्ठ 493 -
6. पाण्डेय रामतेज,श्रीमद देवी भागवत (टीकाकार), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,(उ.प्र2004 वर्ष (, पृष्ठ 1030-
7. अग्रवाल डॉ मोहन (हिन्दी भाषानुवादकार),शारदातनय विरचितभावप्रकाशनं, चौखम्बा सुरभरतीप्रकाशन .,2020, पृष्ठ 66-65
8. शर्मा जयचंद्र, संगीत नृत्याक्षर दिग्दर्शन, अंक6-, जून1989-, संगीत कार्यालय हाथरस (प्र.उ), पृष्ठ .15-

कथक नृत्य और उसमें प्रयोग होने वाली कतिपय अंग भंगिमाएं

विशाल कुमार

कथक नृत्य उत्तर भारत की शास्त्रीय नृत्य शैली है। कहा जाता है कि कथक नृत्य की उत्पत्ति कथावाचनसे हुई है । कथावाचक की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रही है,जिससे इस नृत्य शैली और कथकों के संबंध को प्रमाणिक रूप से देखा जा सकता है। यह मान्यता हैं "कथन करे सो कथक या कथा कहे सो कथन कहिये।" प्राचीन काल में लोगों के मनोरंजन की दृष्टि से कथावाचकों ने कथा प्रवचन में रंजकता हेतु अंग भंगिमाओं के प्रयोग से नृत्य का समावेश करने लगे । जिससे कि आध्यात्मिकता के साथ लोगों को रंजकता का अनुभव होने लगा। मंदिरों में कथावाचन के साथ-साथ एक विशेष नृत्य शैली भी विकसित होने लगी और कालांतर में भिन्न भिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर समृद्धि होते रही । कथावाचक विभिन्न सामाजिक उत्सवों के अवसर पर भी समाज को पौराणिक कथाओं के माध्यम से मनोरंजन तथा उपदेश के उद्देश्य से भी कथावाचन करते थे । इस प्रकार यह कथावाचन आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिक परिवेश से भी प्रभावित रहा। कथक नृत्य को जब महलों एवं दरबारों का सरंक्षण मिला तो इस शैली में अनेक आयाम जुड़े।

कथक नर्तकों से शासकों की रूचि के अनुसार अनेक प्रयोग हुए तथा दर्शकों को प्रभावित करने के लिए प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी। अंग संचालन व लयकारी के साथ पद क्रियाओं को विकसित किया गया। कथक नृत्य की प्रस्तुति में तेजी तैयारी, चमत्कारिकता, विविध रचनायें तथा जोश व उत्साह के साथ पढ़ंत आदि की शैली विकसित की गई। कथक नृत्य में श्रृंगारिता का भी विकास हुआ। जिससे अंगों की नजाकत एवं अभिनय को भी महत्व दिया जाने लगा। कथक नृत्य में तोड़े, परने व तत्तकार आदि के साथ-साथ कथा रूप को भी सुरक्षित किया गया । जिसमें कवित, भजन तथा कथानक आदि नवीनता के साथ प्रस्तुत किए जाने लगे।

भारती गुप्ता से गुरु रोहिणी भाटे जी ने अपने विचार साझा करते हुए कहा कि " वह मुगल काल को संस्कृति काल के नाम से भी पुकारती हैं। यह कहती है कि इस समय एक तरफ हानि हुई तो दूसरी तरफ लाभ भी हमने उठाया। हमारे कथक नृत्य में नयापन भी तो आया, नहीं तो अभी तक हम कथा वाचक ही रहते।"[1]मुगल शासकों की कथक नृत्य के प्रचार - प्रसार में अत्यधिक भूमिका वर्तमान के कथक नृत्य में भी स्वतः ही परिलक्षित होती है। आज कथक नृत्य इतना विकसित हो गया है कि उसमें अलग-अलग धाराओं अर्थात घराना पद्धति में विविधता तथा विशेषता से जनमानस को प्रभावितकिया है। वर्तमान कथक ने भारत तथा अन्य देशों में सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं,कला समीक्षकों एवं विभिन्न प्रयोगशील कला रूपों में अपना क्षेत्र विस्तृत किया है। आज का कथक नृत्य जब मंचीय कला रूप में स्थापित है तो उसमें मंचसज्जा से लेकर मंचीय ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ कुशल संगतकारों की भी अहम भूमिका रही है। विद्वान साहित्यकारों, मूर्तिकारों तथा चित्रकारों ने भी अंतःमन से नृत्य शैली को अपने विषय के साथ जोड़ते हुए कथक नृत्य के स्वरूप एवं चिंतन को विस्तार प्रदान किया है। वर्तमान में कथक नृत्य के नये स्वरूप या दिशा प्रदान करने में स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज का बहुमूल्य योगदान है। महाराज जी ने न केवल कथक नृत्य के सौंदर्य में वृद्धि की अपितु इसमें सरलता तथा सर्वसामान्य के लिए भी अनुकूल बनाया। इन्होंने कथक नृत्य के आंगिक

स्वरूप को स्पष्ट एवं प्रमाणित करते हुए अंगों में ठहराव, नवीनता व संतुलन बनाया। इसके अतिरिक्त वर्तमान परिदृश्य में कथक नृत्य के विकास में अनेक गुरुओं, कलाकारों तथाचिंतकों आदि का बहुमूल्य सहयोग रहा है। इन सभी के सार्थक प्रयास से विविध प्रयोगों के बाद कथक नृत्य का स्वरूप आकर्षक एवं प्रभावशाली हुआ है।

सामान्यतः कथक नृत्य वस्तु क्रम निम्नलिखित अनुसार है।

- वंदना :- वर्तमान में कथक नृत्य की परंपरागत प्रस्तुति का प्रारंभ वंदना से होता है। इसमें नर्तक गणेश, शिव, विष्णु, सरस्वती, कृष्ण तथा देवी आदि की स्तुति में नृत्य प्रदर्शन करता है।

- थाट :- 'थाट' विलंबित लय की प्रारंभिक प्रस्तुति हैं ।इसमें कसक - मसक तथा कटाक्ष का प्रदर्शन 'थाट' का प्रमुख आकर्षण होता हैं । "थाट के संदर्भ में स्वर्गीय श्री कल्याणपुरकर के अनुसार 'थाट' एक सौन्दर्यमयीलावण्यायुक्त भंगिमा हैं ।"[2]

- आमद :- 'आमद''फारसी'भाषा का शब्द है । जिसका अर्थ आगमन या प्रवेश होता है। मुगल काल में कलाकार दरबार में नृत्य के लिए प्रवेश करता था तो उसे 'आमद' कहा गया। वर्तमान में 'आमद' एक विशेष प्रकार की रचना है, जिसमें ताथेईततथेई, आ थेईततथेई, के बोलों का प्रयोग आवश्यक है। कथक नृत्य के घरानों में 'आमद' की परंपरा में लखनऊ धा त क थू गा तथा जयपुर घराने में धातिटधातिट इत्यादि कूटाक्षरों के परन बोलो को 'आमद'के बोलों के साथ जोड़कर 'परन आमद'रूप में नाचते हैं।

- सलामी :- 'सलामी'की प्रस्तुति भी कथक नृत्य को मुगलकाल की देन है। इसमें कलाकार अदब के साथ सलाम या नमस्कार की क्रिया से इसे प्रस्तुत करता है।

- टुकड़ा -:'टुकड़े' का अर्थ कोई छोटा अंश, भाग या सूक्ष्मतम रूप से है। तबले के कूटाक्षरतकिटधिकिट तक, तिरकिट आदि बोलो की रचना को कहा जाता है। 'टुकड़ा'

- तोड़ा :- नृत्य के बोलोंकी ऐसी रचना जिसमें ताथेईततथेई, तिग्धादिगदिगथेई, त्राम इत्यादि बोलो का सम्मिश्रण हो वह 'तोड़ा'कहलाता है।

- परन :- पखावज पर बजाये जाने वाले बोलो की रचना को 'परन'कहते हैं।'परन' में खुले व दमदार बोलो में सामान्यतः तांडव प्रधान अंगों का संचालन होता है।

- परमेलू जब नृत्य के बोल -:पखावज,प्रकृति तथा लोक वाद्य जैसे नगाड़ा, झांझ, मंजीरा इत्यादि वाध्यों के ध्वनिमय प्रधान बोलों का सौंदर्यमयी मिश्रण किया जाये तो वह विशेष रचना 'परमेलू'या 'प्रिमलु'कहलाती है।

- तत्तकार ' कथक नृत्य की परंपरागत प्रस्तुति में -:तत्तकार' से कार्यक्रम का समापन होता था, किंतु वर्तमान प्रदर्शन में ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।'तत्तकार'का अर्थ पद संचालन से है। यह कथक नृत्य की विशेष

प्रस्तुति है, जो अन्य नृत्य शैलियों में दृष्टिगोचर नहीं होती। यह कथक नृत्य के सशक्त पद संचालन का बेजोड़ नमूना है।

- गत निकास ' -:गत'शब्द का अर्थ गति तथा 'निकास'का अर्थ निकल कर आने की क्रिया से है। इसमें नर्तक किसी विशेष भंगिमा में स्थित होकर विभिन्न पल्टे व चाल का सौंदर्यपूर्ण प्रदर्शन करता है।

- गत भाव :- 'गत भाव'में किसी कथानक की प्रस्तुति होती है। यह कथानक पौराणिक ही होते हैं। इसमें एक ही नर्तक कथानक में निहित विभिन्न चरित्रों के साथ कथा को कलात्मक ढंग से प्रदर्शित करता है।

- कवित्त :- 'कवित्त'कथक नृत्य की ऐसी रचना या बोल है, जिसमें कविता या पद को लयबद्ध करके प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी इसमेंनृत्य तथा अन्य वाध्य के बोलों को भी सम्मिलित किया जाता है।

- तराना :- यह एक संगीतिक रचना है। वर्तमान कथक नृत्य में इसका बहुधा प्रदर्शन देखा जाता है।

उपर्युक्तरचनाओं के प्रदर्शन के पश्चात अभिनय के प्रदर्शन में ठुमरी, भजन, गजल, अष्टपदी या ध्रुपद धमार आदि का प्रदर्शन किया जाता है। इन सभी रचनाओं के प्रदर्शन में आंगिक अभिनय की मुख्य भूमिका होती है। नाट्यशास्त्र तथा अभिनय दर्पण में आंगिक क्रिया को लेकर विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। किसी भी नृत्य शैली का ढांचा या स्वरूप आंगिक अभिनय पर ही आधारित होता है। कथक नृत्य शैली में भी तोड़े, टुकड़े, परन, गत आदि प्रदर्शित करते समय निश्चित अंग भंगिमाओं का प्रयोग किया जाता है। यहां पर कुछ ऐसे अंगो के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है जो कथक नृत्य के पारंपरिक प्रदर्शन में मूलतः प्रयोग होते हैं। कथक नृत्य के वर्तमान में आंगिक सौंदर्य, हस्तकों के रखाव तथा संचालन में स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज का महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इन्होंने कथक नृत्य की संपूर्ण अंग भंगिमाओं को एक नई दिशा दी है ।

❖ कथक नृत्य प्रदर्शन की यह प्रारंभिक भंगिमा है। इस स्वरूप को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने' उत्पत्ति'का नाम दिया है। क्योंकि इस स्वरूप से ही कथक नृत्य की अन्य भंगिमाओं का संचालन का प्रारंभ होता है। इसीलिए 'उत्पत्ति'शब्द इसके लिए बहुत सार्थक है। यह स्वरूप नृत्य के हस्तकों का आधार है।'उत्पत्ति'कथक नृत्य की संपूर्ण शारीरिक अंग संरचना को संतुलित, नियंत्रित तथा सौंदर्यपरक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके साथ ही साथ इस स्थिति में नर्तक नृत्य प्रस्तुति के लिए अपने आप को केंद्रित करता है। मात्र इस स्थिति से नर्तक की योग्यता का अंदाजा लगाया जा सकता है। यह अपने अंग में योग की स्थिति हैं ।

कथक नृत्य के आंगिक स्वरूप एवं स्थिरता हेतु 'उत्पत्ति'के प्रति नर्तक की सजगता अत्यंत आवश्यक है। इसमें ठहराव तथा आवश्यकतानुसार कलाइयों का संचालन इस भंगिमा को सौंदर्य प्रदान करता है। अतः 'उत्पत्ति'कथक नृत्य की आंगिक क्रियाओं का केंद्र बिंदु है।[3]नाट्यशास्त्र के नवे अध्याय (श्लोक संख्या-178) में आचार्य भरत ने 'नृत हस्त' के अंतर्गत 'चतुरस्त्र' का वर्णन किया हैं ।[3] इसका स्वरूप 'उत्पति' के समान ही हैं, अंतर इतना हैं कि 'उत्पति' में दोनों हाथों में 'अराल मुद्रा' को धारण किया जाता हैं ,जबकि 'चतुरस्त्र' में दोनों हाथों में 'कटकामुख मुद्रा' को धारण किया जाता हैं । 'उत्पत्ति' और 'चतुरस्त्र' की स्थिति लगभग समानहैं और दोनों ही स्थिति में एक योग जैसा शरीर का सामजस्य स्थापित होता हैं । इसमें आचार्य भरत ने दोनों हाथों को शरीर से 'आठ अंगुल' के अंतर पर रखने

की बात कही हैं । स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज अपने नृत्य प्रशिक्षण में इस अंतर के लिए 'एक बीतें' का माप बतातें थे । इसके अध्ययन से 2000 वर्ष पूर्व लिखे गये नाट्यशास्त्र और कथक नृत्य की मौखिक परम्परा का गहरा सम्बन्ध स्थापित होता हैं ।

(1) (2) (3)

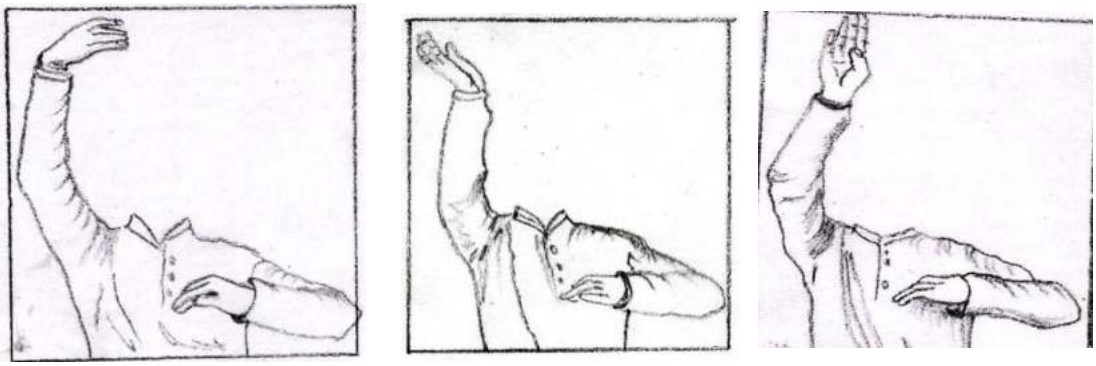

❖ यह प्रथम हस्तक संचालन की स्थिति है । कथक नृत्य शिक्षा के दौरान हस्तकों की श्रृंखला में यह प्रथमतः सिखाया जाता है । इसका उचित अभ्यास इसे पूर्णता और सौंदर्य प्रदान करता है । इस हस्त संचालन क्रिया को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'ऊर्ध्व हस्त चक्र'नाम से संबोधित किया है । इस हस्त संचालन में परिक्रमा तथा गुरूत्वाकर्षण का भाव दिखता है । जिसमें एक हाथ संचालन करता है, तो वही दूसरा हाथ 'उत्पत्ति'में अवस्थित रहता है ।

सर्वप्रथम यह हस्त क्रिया दाहिने हाथ से प्रारंभ होती है । जो कि 'उत्पत्ति'मुद्रा से ऊपर की ओर अर्थात एक रेखा का अनुकरण करते हुए पताका हस्त मुद्रा में तर्जनी उंगली तथा कलाई की सहायता से वृत्ताकार शिर के समक्ष हाथ को बाहर से अंदर की ओर हथेली घुमाकर हथेली बाहर की ओर रखते हुए पुनः उसी रेखा के अनुसार हस्तक को नीचे उतारा जाता है । इसी प्रकार बाये हाथ की भी प्रक्रिया होनी चाहिए । यह भीकहा जाता है कि अंगूठी दिखाते हुए ऊपर की ओर तथा हथेली की मेहंदी दिखाते हुए हाथ को नीचे लाना है । इससे हस्त संचालन में भाव पैदा हो जाता है ।

❖ यह नीचे की ओर संचालित होने वाला हस्तक संचालन है । इस हस्त क्रिया को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'तल हस्त चक्र'नाम दिया है । यह हस्त क्रिया में 'उत्पत्ति'से नीचे की ओर अर्थात भूमि की ओर कटि भाग से एक निश्चित दूरी बनाते हुए वृत्ताकार घुमाकरकंधे के समान्तर हाथ को वापस 'उत्पत्ति'पर स्थापित किया जाता है । कथक नृत्य की हस्त क्रियाओं में कलाई का सही घुमाव तथा हाथ को संभालते हुए प्रयोग किया जाता है ।

❖ इस हस्तक संचालन के दौरान हाथ की हथेली खुली व पताका मुद्रा में बाहर की ओर तर्जनी उंगली का अनुकरण करते हुए क्रिया पूर्ण कर 'उत्पत्ति'में स्थित हो जाती है । जबकि इस क्रिया में भी एक हाथ के संचालन के दौरान दूसरा हाथ 'उत्पत्ति'मुद्रा मेंअवस्थित रहता हैतथा क्रिया के दौरान दाहिने हाथ का अनुकरणकर अपनी क्रिया को पूर्ण करता है । इस हस्तक को स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने 'तल हस्त चक्रका नाम दिया हैं' । इस क्रिया

मेंशरीर के ऊपरी भागअर्थात मुख्यतकमर का कटाव तथा कसाव अहम भूमिका निभाता है ।इसके अतिरिक्त : संपूर्ण हस्तक्रियामें रेखीय,कोणीय तथा वृत्तीय रूप का ध्यान आवश्यक होता है ।

- ‘उत्पत्ति’की स्थिति से एक एक हाथ को दाये और बाये फ -ैलाते हुए संचालित किया जाता है । यह हस्त क्रिया आड़ी रेखा के अनुरूपपरिलक्षित होती है ।

इस हस्तक को स्वर्गीय पंडितबिरजू महाराज ने ‘समतल’नाम रखकर परिभाषित किया है ।कथक नृत्य में इस हस्तकका प्रयोग बहुत होता है, जो कि यह एक संचालन क्रिया है । जिसे तत् तत् नृत्य बोलों के साथ अधिक प्रयोग में देखा जाता है ।

- यह अंग ताथेईततथेई, आ थेईततथेईमें अधिक प्रयोग होता है । इसका प्रारंभ ‘उत्पत्ति’से या कहीं कहीं ऊपर से नीचे की ओर प्रवाह के सदृश होता है । इसीलिए स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने इस हस्त संचालन क्रिया को ‘स्त्रोत’कहा है । इसमें पैरोंकी स्थिति पर भी ध्यानआवश्यक होता है, क्योंकि अंग झुकाव पृष्ठ भाग की ओर होता है । इसके अतिरिक्त इस संचालन क्रिया में शरीर से हस्तक की निश्चित दूरी तथा कटि के कटाव व रखाव के साथ साथ हस्तक द्वारा अंगों की रेखाओं में संतुलन की अहम भूमिका होती- है ।
- नर्तक हस्त भंगिमाओं को ‘उत्पत्ति’से प्रारंभ करते हुए शरीर से दूर एक विशेष स्थिति में रखता है । तत्पश्चात हस्त भंगिमाओं को ‘उत्पत्ति’की ओर गति के साथ खींचते समय वृत्ताकार अर्थात घड़ी की सुईयों के विपरीत दिशा में पद, शिर, कंधे आदि की सहायता से एक साथ घूमते हुए, जो कि 360 डिग्री वृत विकसित होता है । उसे स्वर्गीय पंडित बिरजू महाराज ने ‘भ्रमरी’कहां है । इन्होंने ‘भ्रमरी’के पांच प्रकार बताए हैं । जिसमें "फेरी,अर्ध फेरी, बद्ध फेरी, मुक्त फेरी, पवन फेरी"[4] उल्लिखित है ।

कथक नृत्य के प्रदर्शन में ‘भ्रमरी’एक महत्वपूर्ण क्रिया है । इसे कथक नृत्य की भाषा में ‘चक्कर’भी कहा जाता है । यह प्रक्रिया कथक नृत्य को आकर्षक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । आकर्षण के साथ-साथ कथक नृत्य के प्रदर्शन को गति एवं चमत्कार देने में इसका प्रयोग एवं मायने रखता है । कथक नर्तक ‘चक्कर’को कितने संतुलन तथा परिपूर्णता के साथ गति दे सकता है, यह उसकी अपनी तैयारी और योग्यता अनुसार प्रयोग पर निर्भर करता है ।यह क्रिया सामान्यतः एक स्थान पर होती है परंतु वर्तमान परिदृश्य में रंगमंच की जगह व स्थानों का सही से प्रयोग करने के लिए भी ‘भ्रमरी’का प्रयोगहोता है ।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैलियों में ‘भ्रमरी’का प्रयोग एकमात्र कथक नृत्य शैली में ही परिलक्षित होता है । जिसमें कि कथक नृत्य के जयपुर घराने के चक्करों में विविधता एवं चमत्कारिकता की एक विशेष परंपरा रही है । आचार्य नंदीकेश्वर ने अभिनय दर्पण में इस क्रिया को ‘भ्रमरी पाद’भेद के अंतर्गत बताया है ।

" भ्रमर्यालक्षणान्यत्रवक्ष्येलक्षणभेदतः ।।
उत्प्लुतभ्रमरी चक्रभ्रमरीगरुड़ाभिधा ।
तथैकपादभ्रमरीकुंञ्चितभ्रमरी तथा ।।
आकाशभ्रमरीचैवतथाङगभ्रमरीति च ।

भ्रमर्यः सप्त विज्ञेयानाट्यशास्त्रविशारदैः ।।"[5]

'भ्रमरी पाद' के सात प्रकार बताते हुए उसके लक्षण सहित व्याख्या की गई है। जिनके नाम इस प्रकार से है - उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एक पाद, कुंचित, आकाश तथा अंग । नाट्याचार्यों द्वारा 'भ्रमरी' विस्तृत व्याख्या से यह अनुमान लगाया जा सकता हैं कि वर्तमान ही नहीं हजारों वर्ष पूर्व भी 'भ्रमरी' का प्रदर्शन नृत्य में आवश्यक रूप से किया जाता रहा हैं। कथक नृत्य के उपर्युक्तवर्णित कुछ हस्त भंगिमाओं व 'भ्रमरी'की व्याख्या प्रदर्शन के दृष्टिकोण से की गई हैं । इसी प्रकार से अन्य भंगिमाओं की परिकल्पना की जा सकती हैं। प्रयोग करने से पूर्व प्रत्येक हस्तक ,भंगिमा तथा प्रक्रियाओं का चिंतन या अध्यनन कथक नृत्य के प्रदर्शन में सौदर्यवर्धन के साथ - साथ आनंद प्रदान करता हैं ।

संदर्भ सूची ;-

1. गुप्ता भारती, कथक और आध्यात्म, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण :2001, पृष्ठ -73।
2. रघुवीर डॉ श्रीमती गीता, कथक के प्राचीन नृत्तांग (दुर्लभ बंदिशों का संकलन एवं विश्लेषण), पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, प्रथम संस्करण :2000 -पृष्ठ,72।
3. शास्त्री बाबू लाल, वाराणसी,चौखम्भा संस्कृत संस्थान,2- भाग (हिंदी अनुवाद) नाट्यशास्त्र , संस्करण : पुनर्मुद्रित,वि स. 76- 75- पृष्ठ ,2072.।
4. Maharaj Pt.Birju ,Ang Kavya ,Har - Anand Publications Pvt.Ltd,page - 41- 45.
5. गैरोलावाचस्पति,, भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनय दर्पण, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण :2013, पृष्ठ -256।

Physical benefits and Indian Dance Forms: A scientific Approach

Anita Pandey
Professor I. D. Tiwari

Indian dance forms declare their allegiance to the Vedas which are the ancient most written documents of history. The proper documentation of Indian classical dance forms and their division is found in Nattyashastra of Bharat Muni. Before independence these art forms were promoted and protected by the rulers and religious institutions across the country. After India's freedom and balkanization of Indian subcontinent these Indian art forms have been taught and researched in institutions funded by government as well as non -government organizations. Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya Khairagarh came into being in 1957 and since then it has been serving Indian music and dance with its affiliated colleges and centers across the country. University has departments of these classical art forms where students from across the country and overseas religiously study and research in these dance forms. There are many art forms in India but Khairagarh University teaches and researches in Kathak, Bharatnatyam and Odishi only. The study collected data of 127 post graduate and undergraduate students of these departments to reach certain conclusions. Students of all these three departments participated in the online survey through Google Form for this study.

Indian classical dances were originally meant for spiritual well being and physical fitness. All dances begin with Guru Vandana and the worship of deity, mostly Lord Shiva or Saraswati - who are mythologically known as the deities of learning. The physical activity involved in these dances is complex and intricate These activities are identical to yoga postures practiced by ascetics and yoga gurus. However, the moves and postures of theses dances are rhythmic and coordinated as per the precepts of dance traditions. As these dances are practiced by all age groups the health benefits are not delimited to any particular age group. Physical fitness, spiritual calmness and emotional equilibrium are achieved by its practitioners as per their level of perfection of a particular dance form.

The primary purpose of this article is to evaluate the Indian dance forms in terms of health benefits, including mental and emotional one. This study also evaluated positive and adverse effects of these dances on the target group.

In ancient times Indian classical dances were performed in front of the deity for spiritual purposes but these dance also very deeply influence over all health of the dancers of every age group. Inhaling and exhaling, synchronized with physical movement, help lungs and heart to exercise. Proper supply of required amount of oxygen to mind, along with rhythmic movement increase dancer's mental and physical agility. Intricate dance postures of Indian dance forms strengthen the muscles of the dancers as well. The motor deficiency can also be toned up with the help of dance. The end result of whole exercise is aerobic fitness, mental alertness and physical well being.

We conducted online Survey of students of Indira Kala Sangeet University, Khairagarh C.G. through Google Form. The questionnaire was developed and questions were asked to the students online. This study gathered quantitative data through structured questionnaire to

understand each of the objectives. The study involves students ranging in age from nineteen to twenty-five, including all years of graduation and post-graduation. This study gathered quantitative data through structured questionnaire to understand each of the objectives. Individual survey questions were used to assess: form of dance, years of practice, and effects of sleeping, before and after health-related problems, fatigue, weight loss and mental health.

A literature search was done using Pub Med, Google Scholar, and Google search engines for original and review articles, using keyword health benefit from dance. The answer of the students' interview was analyzed and fused with the researcher's scientific study.

Discussion and result- A total of 128 participants were analysed at the end of the study. In which the experience of dance was found to be positive. All students who participated in the survey considered dance as an exercise. Earlier studies corroborate our findings. Dance as a form of physical activity can be performed in a range of environments. (Hauer K. et al.2002). Dance as a form of participation-based physical exercise was found to reduce anxiety and depression levels•(Adam, D 2016) 94.5% students are of the view that dance maintains weight, burns calories, strengthens muscles, improves balance, increases flexibility and proves good workout for heart. Dance, if performed properly and regularly also contributes to positive thinking and enhances self-confidence.

99.2% of students reported that dancing improves mental health. The data collected suggests that dance participation affects individuals in a range of ways that can improve health by reducing stress and depression leading to good physical, emotional and mental health. Earlier studies also suggest that dance practices release physical and mental stress, decreasing depressive symptoms. (Malchiodi CA.2003).4). 97.6 % students reported that they felt happier at the time of the dance. Scientific studies show that when someone is happy, the hormones like dopamine, serotonin, and endorphin are produced by different glands across our body. In fact, Dopamine is 'feel good hormone' associated with pleasurable sensation. Serotonin is neurotransmitter that helps to regulate mood, learning ability, memory and sleep. Endorphin is natural pain reliever. 21% of participants also experienced some illness during dancing. Impairment is the most frequent medical problem among classical and modern dancers as it involves intricate body movements. Research in the United States suggests that pain in the lower leg is the most common problem among ballet dancers followed by problems associated with the knee, ankle, foot, and lower spine. •Bowling A. (1989). An injury has been noticed on the lower part of the dancer's body. (Rovere GD1983), (Bowling A. 1989).6). 56% of student participants do not have any kind of respiratory trouble during the dance and they perform their dance in a very enjoyable way. Indian classical dances have rhythm of the ups and downs of breath that maintains their respiratory value 96.8% of Students who participated in the survey admitted that dance improved their self-esteem. Mobility and good physical work such as dance make important contributions to an individual's confidence and maintain overall health. Dance participation appears to contribute positively to individual's wellbeing and health across cultures and age groups. SheppardaA. (2020). 99% of students believe that their energy labels are maintained during the dance and their health is also maintained.

Dance may promote all round wellness by strengthening the immune system through muscular action and physiological processes. Dance conditions an individual to moderate,

eliminate, or avoid tension, chronic fatigue, and other disabling conditions that result from the effects of stress. Hanna,J L., (2007).

Evidences show that dance therapy is suggested for patients today as treatment for emotional and therapeutic support, as dance allows individuals to connect with their inner-self. Dance is also used as stress relieving exercise. The study found that dance has a positive effect on mental health physical health self-confidence, Self-Esteem and relationship with others.

Conclusions - The data analysis of this study which is based on the students of well known Indian dance forms like Katha, Bharatnattyam and Oddishi of Indira Kalam Sangit Vishwavidyalaya evidences that Indian dance forms have healthy effects on the physical mental and psychological health of the dancers. The result of the study also indicates that Indian dance forms also contribute to manage mental stress cardio vascular disorder, physical structural disorder and overall well-being of dance practitioners. Apart from these benefits Indian classical dance forms nurture and preserve a value system that is an important attribute of Indian culture.

References :-

• Adam, D., Ramli, A., & Shahar, S. (2016). Effectiveness of a combined dance and relaxation intervention on reducing anxiety and depression and improving quality of life among the cognitively impaired elderly. Sultan Qaboos University Medical Journal, 16, e47–19. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar

• Bowling A. (1989) Injuries to dancers: prevalence, treatment, and perceptions of causes. BMJ. 1989;298(6675):731–734. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar] [Ref list]

• Butt, C. A. (2017). “Move your arm like a swan”: Dance for PD demedicalizes Parkinson disease. JAMA, 317, 342–343. [PubMed]

• Bungay, H., & Vella-Burrows, T. (2013). The effects of participating in creative activities on the health and well-being of children and young people: A rapid review of the literature. Perspectives in Public Health, 133, 44–52. [PubMed] [Google Scholar]

• Coubard, O. A., Duretz, S., Lefebvre, V., Lapalus, P., &Ferrufino, L. (2011). Practice of contemporary dance improves cognitive flexibility in aging. Frontiers in Aging Neuroscience, 3, 1–12. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar]

• Cruz-Ferreira, A., Marmeleira, J., Formigo, A., Gomes, D., & Fernandes, J. (2015). Creative dance improves physical fitness and life satisfaction in older women. Research on Aging, 37, 837–855. [PubMed] [Google Scholar

• Duberg, A., Moller, M., &Sunvisson, H. (2016). “I feel free”: Experiences of a dance intervention for adolescent girls with internalizing problems. International Journal of Qualitative Studies on Health and Well-being, 11, 31946. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar]

• Fresnillo S. H. (2016) Dance participation and academic performance in youth girls, Nutr Hosp. 2016; 33(2):000-000

• Hanna,J L., (2007). The power of dance: health and healing The Journal of Alternative and Complementary MedicineVol. 1, No. 4[PubMed]

• Hauer K, Specht N, Schuler M, Bärtsch P, Oster P. Intensive physical training in geriatric patients after severe falls and hip surgery. Age Ageing. 2002;3:49–57. doi: 10.1093/ageing/31.1.49. [PubMed] [CrossRef] [Google Scholar] [Ref list]

• Hackney, M. E., & Earhart, G. M. (2010). Effects of dance on gait and balance in Parkinson's disease: A comparison of partnered and nonpartnered dance movement. Neurorehabilitation and Neural Repair, 24, 384–392. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar.
• Hwang, P.W.N., and Braun, K. L.(2015) The Effectiveness of Dance Interventions to Improve Older Adults' Health: A Systematic Literature Review, Altern Ther Health Med. 21(5): 64–70.
• Jensen, Eric. Arts With The Brain In Mind. Alexandria, Virginia: Association for Supervision and Curriculum Development, 2001.
• Karkou, V., &Meekums, B. (2017). Dance movement therapy for dementia. Cochrane Database of Systematic Reviews, 2, Cd011022. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar].
• Lapum, J. L., & Bar, R. J. (2016). Dance for individuals with dementia. Journal of Psychosocial Nursing and Mental Health Services, 54, 31–34. [PubMed] [Google Scholar].
• Lovatt, Peter. Dance Psychology. Norfolk, United Kingdom: Dr. Dance Presents, 2018
• McNeely, M. E., Duncan, R. P., & Earhart, G. M. (2015). A comparison of dance interventions in people with Parkinson disease and older adults. Maturitas, 81, 10–16. [PMC free article] [PubMed] [Google Scholar.
• Malchiodi CA. Handbook of Art Therapy. 1st ed. New York, USA: Guilford Press; 2003. pp. 5–24. [Google Scholar] [Ref list]
• Muro, A., &Artero, N. (2017). Dance practice and well-being correlates in young 5. Douglas S, James I, Ballard C. Non-pharmacological interventions in dementia. Adv Psychiatr Treat. 2004; 10:171–7. doi: 10.1192/apt.10.3.171. [CrossRef] [Google Scholar] [Ref list]women. Women & Health, 57, 1193–1203. [PubMed] [Google Scholar]
• Nimfa F. Buedron, EdD, (2015) Perceptions towards Folk Dancing of College Students in the University of Eastern Philippines. International Journal of Science and Research (IJSR) Volume 6 Issue 10,pp2092-2096.
• Rovere GD, Webb LX, Gristina AG, Vogel JM. Musculoskeletal injuries in theatrical dance students. Am J Sports Med. 1983;11(4):195–198. [PubMed] [Google Scholar] [Ref list]
• Russell J.A.,(2013). Preventing dance injuries: current perspectives. Open Access J Sports Med.;V 4: 199–210. [PubMed]
•
• Shepparda A. and Broughtonb M.C. (2020)Promoting wellbeing and health through active participation in music and dance: a systematic review15(1): 1732526.;
• Salo, A., (2019)"The Power of Dance: How Dance Effects Mental and Emotional Health and Self-Confidence in Young Adults". Master's Theses. 133.
https://digscholarship.unco.edu/theses/133
• Strassel JK, Cherkin DC, Steuten L, Sherman KJ, Vrijhoef HJM. A systematic review of the evidence for the effectiveness of dance therapy. Alternative Therapies. 2011;17(3):50–59. [PubMed] [Google Scholar]
• www.indiastudychannel.com/resources/161365-origin- evolution-indian-dance.
• https://kamat.com/kalranga/dances/dances.htm
• https://www.healthline.com/health/happy-hormone

The candour behind *Ibis*

Dr. C.P. Pramod

Choosing a title either for the work of fiction or non-fiction is a quite an interesting and at times challenging exercise of the author for the simple reason that it is really is not that simple as it might look like. The approach could be just to keep the reader guessing; at times the popular customs and beliefs or the objects themselves offer some clue for selecting the title of writing. The present hypothesis is about the possible reasons for Amitav Ghosh to come out with this title *Ibis* to his fiction-trilogy work based on the historical event on first Opium War in mid 19th century between China and Britain. Interestingly, *Ibis* is name of schooner on which plot of the first book of trilogy, *Sea of Poppies* (2008) revolves around. What intrigues me is the fact that, for Amitav there would not have been dearth of names for the ship as the title of the book, at his disposal, for his trilogy! But then, surprisingly it is *Ibis*, why not some other name? The term *Ibis* provides different connotations in this regard and my effort would simply to unearth probable logical relations in its proper perspectives in adapting the given title. This is merely my justification for the title *Ibis* and I leave it to Amitav Ghosh, the novelist to unveil the truth behind it, if really exists there, any.

Keywords: Opium war, bird *Ibis*, river Nile, land of Egyptian civilization, Opium trade.

In ancient civilisation of Egypt there are few birds and animals which enjoyed extremely high place in their belief system and mythology either in their original forms or inhybrid animalforms. The baboon for exampleheld an important place in among ancient Egypt sacred animals.Similarly, some other animals had different services to their credit. The elephants (seven of them)for instance supported the Earth on their backs, themselves standing on the back of a great turtle.And even if an animal was neither God nor the home of somebody's souleven if it had not taken part in the battles and did not support the Earth on its back it still was a symbol of reverence. The lion was the symbol of strength; the dog, was the symbol of watchfulness; the rooster and the peacock besides watchfulness also embodied pride; the white bull embodied justice and virtue.(Raissa, p.28-31) This we should not forget that man and animals always maintained a bonding or a kind of relation that survived from time immemorial.

In other words, the list of sacred animals, commanding respect and immunity embraced nearly the whole of the animal kingdom. A true believer did not dare to strike to say nothing of killing, an animal. He had no right to squash a worm or swat a fly.

In India the cow,the symbol of goodness and a true friend of Vishnu was heldin inordinate esteem. The Brahmins in India bestowed great honour on the cow. The homage paid to bulls and cows in ancient Egypt paled before the veneration of cow in India. Premeditated killing of cow was held on a par with the murder of Brahmin and was punished accordingly by death.

It's very interesting yet true that there are imagery animals which do not exist in reality still find, for some reason or other, important places in various mythologies in the world. They are venerated with utmost piety and reverence.Similarly, hybrid animals are revered as sacred animal or gods and goddessesall across the various civilisation of the world. In Hindu religion there is a belief that God takes*avatars* in different forms on earth as and when he feels his

presence is required to emancipate his devotee or to punish the individual not fit to survive any more on this earth. It is also said that whenever the sins committed by an individual king or *daanav*goes undeterredgod takes notice of it and lands on the earth in an avatar or incarnation to punish the culprits. Similarly,Egypt has number of these forms of animal which are depicted by many stone carvings and also depicted on the walls of the temples and other locations of importance. In India we have many such examples which are widely prevalent and are depicted at the places like walls of temples and other places of worship. Vishnu avatars like Varah, Narsimhaetc. and of course the very popular lord Ganeshand Hanuman are the glaring examples of Indian religious pantheons.

Most of the Indian ruling dynasties since the beginning of the Christian era or even before that shown immense interest in building the temples dedicated to various Indian deities mainly lord Siva, and Visnu, besides belonging to other lesser popular deities. These temples were constructed with tasteful designs and soothing architecture of various styles. The walls were decorated by exclusive carved designs and figures from both Ramayana and Mahabharatha and other gods and goddesses. Also independent stone sculptures of animals like Nandi, imagery figure of lion are placed in the temple premises. Siva linga and Garuda pillar are the symbol of Siva and Visnu temples respectively. Thus these majestic temples represented a centre of great artistic expression beside a place of worship.

As far as *Ibis* is concerned, in fact it is the name of a bird found in almost every continent of the world. According to Britannica Encyclopaedia there are twenty six species in this family. They wade in shallow lagoons, lakes and marshes and use their slender, down-curved bills to feed on small fishes and soft molluscs. The Sacred *Ibis* (Threskiornisaethiopica), of southern Arabia and Africa south of the Sahara and formerly of Egypt, was sacred to the ancient Egyptians. It is about 75 cm (30 inches) long, white with black in its wings, and has dark plumes on the lower back and a bare black head and neck. (Lotha Encyclopaedia) It is supposed to be found abundantly in the swampy banks of river Nile,the life line of Egypt for centuries.

Interestingly, Amitav, the author was addressed as Indian Doctor bythevillagersin rural region of Egypt that shows his personnel rapport with the local people of his locality. He spent his early twenties in rural Egypt for his doctoral dissertation and maintained a regular diary that culminated finally into a remarkable autobiographical piece of work,*In An Antique Land*. (Ghosh Blog). Living in these rural areas he caught the imagination of the local people their faith, belief systems and their love and affection,being amongst one of them and so on which somewhere *Ibis* the bird and also the popular deity Thoth reflected in his thoughts while in the company of the rural people of Egypt. Their bond of great strength and unwavering relationship spread the cultural horizon before him of the country he was passionately involved with.

Secondly, Thoth is one of the ancient Egyptian ardent deities. It is in hybrid form. In art, he was often depicted as a man with the head of an *Ibis* or a *baboon.* These forms are highly revered in ancient Egypt that is usually animals and human form sacred to ancients. According toEgyptian mythology he is the god of wisdom, writing, hieroglyphs, science, magic, art, judgment, and the dead. The *Ibis* had religious significance which is symbol of wisdom. Since Amitav spent enough time in the rural villages in Egypt, he might have observed the bird as divine entity and equally as people's aspirations of ancient civilization of Egypt. (Joshua Thoth)

It's highly interesting fact that man interacted with the animals from the time he opened his eyes on this planets thousands of years ago. Initially he lived in the caves and jungles in the primitive stage of evolution. He found himself surrounded by all kinds of animals, birds, insects and was also got gradually acquainted with aquatic life, as well. In due course of time he discovered that on the one hand where the ferocious animals were threat to his life on the other there were some that were great source of food for him and his people.It was great boon to him. All along his nomadic life he found animals mostly as a ample source of food stocks and hardly gave any other thought. It's true that during the course of the time he learnt quickly to use the hide of animals he killedfor various purpose of his daily life. Its horns, hooves and so on came handy also for other useful items in his day to day life.

Domestication of wild animals was a revolutionary step in his long journey of evolution. This probably came to him when man began to lead a settled life and needed few animals for his help to share his manual labour in farming, cultivation and so on. He needed those animals with strong physical structure to fulfil his desired activities.And of course it is much later that a typical relation with man emerged and it caught the imagination of man that he included most of the animals into godly status or simply accepted them as god-animals for some reason or other and which finally culminated into a newer relations that parthuman and part animal form accepted as a godly pantheons also. Almost all the leading and ancient civilisations of the world included such hybrid forms into their relation of veneration.

Thirdly, Crescent moon for Islamic population is quiet significant because historically and traditionally they follow the Lunar Calendardeveloped after Prophet Mohammed's death that is different than the Gregorian calendar or Solar Calendar. Muslim festivals like Ramadan and Idu-al-Fitrexclusively depend solely on the sight of the Crescent moon. The down-curved beak of *Ibis* symbolises Crescent moon and also represents the Fertile Crescent observed at the end of the month of Ramadan and the sighting of Crescent moon is highly critical due to its poor visibility, which would otherwise delay the event of festival. (Joshua Fertile Crescent)

Fourthly, the Fertile Crescent, often called the "Cradle of Civilization", is the region in the Middle East which curves, like a quarter-moon shape, from the Persian Gulf, through modern-day southern Iraq, Syria, Lebanon, Jordan, Israel and northern Egypt. The region has long been recognized for its vital contributions to world culture stemming from the civilizations of ancient Mesopotamia, Egypt, and alsothat included the Sumerians, Babylonians, Assyrians, Egyptians, and Phoenicians, all of whom were responsible for the development of civilization. (ibid)

The term Fertile Crescent was first coined in 1916 CE by the Egyptologist James Henry Breasted in his work Ancient Times: A History of the Early World and his phrase was widely circulated through the publications of the day becoming, finally, the common designation for this region. The Fertile Crescent is traditionally associated in the Jewish, Christian and Muslim faiths with the earthly location of the Garden of Eden. The area features prominently in the Bible and Quran and a number of sites there are associated with narratives from those works. Known as the Cradle of Civilization, the Fertile Crescent is regarded as the birthplace of agriculture, urbanization, writing, trade, science, history and organized religion and was first populated c. 10,000 BCE when agriculture and the domestication of animals began in the region. By 9,000

BCE the cultivation of wild grains and cereals was wide-spread and, by 5000 BCE, irrigation of agricultural crops was fully developed. By 4500 BCE the cultivation of wool-bearing sheep was practiced widely. Virtually every area of human knowledge was advanced by these people, including: Science and Technology, Writing and Literature, Religion Agricultural Techniques, Mathematics and Astronomy, Astrology and the Development of the Zodiac, Domestication of Animals,and Long-Distance Trade Medical Practices (including dentistry).

Lastly in one of his interviews, Amitav Ghosh himself admitted that being highly influenced by the Egyptian civilisation from the very early of his age, he opted Egypt for his Social Anthropology research studies, once he gets scholarship from Oxford University. He opts a village named Lataifa on his way to take up research and in the process learns Arabic to communicate with locals of the place. He remains very friendly with the poor and young and old people of the village and keeps minutedetails in his diary about the way of peoples living, belief system and always keen to understand the psyche of their rural philosophy.

Conclusion: Amitav's non-fiction narratives basically offer enough indication of his liking and somehow the hidden passion for Egypt and its civilization from the very early period of his life. The days he spent in Egypt as a research scholar in a small village and the habit of writing diary passionately in those days were his formative days which he confessed himself. Also he confessed that he was highly passionate about the Sphinx, Pyramids and so on. Thus *Ibis* as a choice for his trilogy, in my opinion, must have come to him naturally or otherwise it's just a matter of coincidence out of many other names at his disposal.

References:

1. Bobrova, Raissa, translator. *Man and Animals* by Yuri Dmitriyev, Raduga Publishers, Moscow.
2. "Fertile Crescent." Ancient History Encyclopaedia, 28 March 2018, www.ancient.eu/ Fertile Crescent. Accessed 10 October 2019.
3. Ghosh, Amitav. "Books." In An Antique Land – Blog, www.amitavghosh.com/antique.html. Accessed 09/06/2020.
4. Ghosh,Amitav. "A critical companion." edited by TabishKhair, Permanent Black, Delhi, 2003.
5. Lotha, Gloria, et al. "ibis bird - Threskiornithinae Subfamily." Encyclopaedia Britannica, May 20, 2019, www.britannica.com/animal/ibis-birdsubfamily#ref5918. Accessed 11 November 2019.
6. Mark, Joshua J. "Thoth." Ancient History Encyclopaedia, 26 July 2016, www.ancient.eu/ Thoth/#:~:text=Thoth%20is%20the%20Egyptian %20god,from%20the%20forehead%20of%20Set . Accessed 08/06/2020.
7. Singh, Anil Kumar. "Motifs of History and Ethnography: A Study of the Novels of Amitav Ghosh." shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/ 10603/171010/6/06_chapter%202.pdf. Accessed 08/06/2020.

Chinua Achebe's*Things Fall Apart :* A Colonial Analysis

Jabbar Ahmed

Chinua Achebe is an illustrious African novelist, poet, essayist and short story writer who made substantial contribution to African literature particular and global literature in general. *Things Fall Apart* is his most monumental fictional work effecting, scathing attack on colonial exploitation and suppression. The present paper is an attempt to re-analyse and re-assess the colonial onslaught on the Africans as reflected in Chinua Achebe's *Things Fall Apart*. It also aims to highlight the impact of colonialism on African cultural values and the projected justification of the colonizers in colonised nations. Rudyard Kipling's views on the divine justification of colonisers' presence in colonized nations are meticulously and critically examined in the light of Chinua Achebe and Frantz Fanon's understanding of colonialism. Methodology employed in this paper is close textual analysis as the research is qualitative in nature.

Rudyard Kipling has been discussed in this paper to bolster the argument that there were colonial intellectuals who tried to project colonialism as divinely ordained. At the same time Frantz Fanon's *Black Skin, White Mask* assists Achebe to prove his point that colonizers under the grab of "Civilizing Mission" actually destroyed the African cultural and religious fabric. This paper is a critical reanalysis of colonialism and claims that Achebe's portrayal of life and situations in *Things Fall Apart* is realistic.

Keywords: *Colonialism, White man's burden, Racism, Igbo, Hegemony, Cultural superiority, Power struggle.*

Introduction

This paper attempts a critical understanding of colonialism in the light of Rudyard Kipling and Frantz Fanon. Rudyard Kipling is an English author famous for an array of works like *'Just So Stories*, '*If*' and *'The Jungle Book'*. He received the 1907 Nobel Prize in Literature. In February 1899, British novelist and poet Rudyard Kipling wrote a poem entitled "*The White Man's Burden: The United States and the Philippine Islands."* In this poem, Kipling urged the U.S. to take up the "burden" of empire, as had Britain and other European nations. Published in February, 1899 issue of McClure's Magazine, the poem coincided with the beginning of the Philippine-American War and U.S. Senate ratification of the treaty that placed Puerto Rico, Guam, Cuba, and the Philippines under American control. Thus, Kipling appears as an agent of colonialism and this paper makes use of his works to draw a line of parallelism between colonial thinking and Kipling's own thinking.

On the other hand Frantz Fanon is one of the foremost writers of the 20th century mostly writing on racism, colonialism and decolonization. He produced two enduring books*: Black*

Skin, White Masks which is regarded as the preeminent study of the lived experience of racism, and *The Wretched of the Earth* is regarded as "the handbook of decolonization", presenting itself as both a clear-eyed prediction of the lasting legacy of neo colonialism. These two books encapsulate the major themes not only of Fanon's writing but also of his extraordinary life. This paper considers Fanon juxtapose with Achebe.

Understanding Colonialism

Colonizer can be defined as a culturally, economically and politically rich/powerful nation taking control over economy and polity of less powerful nation. Daniel states "the phenomena associated with colonialism include monopolistic, seizure of territory, enslavement of the indigenous population, racism and militarism" (1980). Thus Daniel points to the exploitative and discriminatory motif of the colonizers. Colonialism in simple language, as evident from definition given by various scholars is the presence of colonizers in colonies with an exploitative intent. The exploitation and grabbing of political power go hand in hand in the colonised nations because, in order to make the presence of the colonizers permanent in colonies, they need to become strong by taking over the polity of the colonies.

Colonialism left a deep and lasting impact on African religious and cultural values. It remains a fact that in African traditional belief, God is the ultimate of everything. The world is created by God. The Africans believes that the universe reflects the presence of God. Mbiti in this context says, "God is the explanation of man's origin and sustenance; it is as if God exists for the sake of man"(1969:119). To maintain law and order in the society, God's agents are charged with their responsibility. Thus both physical and supernatural forces are always present in the society for its administration.This centres on the idea of finding a causal link between religion and values. African religion commonly known as Afrel is uncompromisingly theonomous. The morality or values in Afrel is strictly traced to the supernatural being. In Africa, there are agents of moral implementation. They police the responses of man to the values of the society. They reward the obedient and punish the culprit. According to the philosophy, of the Afrel everything, including human beings can be given a natural explanation without appealing to the supernatural.

Colonialism stimulated positive and negative changes in Africa. Colonial rule was an imposition that unleashed deadly blow on African culture with the immediate consequence of the introduction of such values as rugged individualism, corruption, capitalism and oppression. Colonial rule disrupted the traditional mechanism, underdeveloped homogeneity and practices. The method of moral inculcation was vitiated, which resulted in the abandonment of traditional norms and values through a systematic depersonalisation of the African and pagination of its values. Instead of the cherished communalism which defined the life of the African, a

burgeoning societal construct was introduced which alienates and destroys the organic fabric of the spirit of we-feeling.

One consequence of this was the erosion of the values, culture and religion of the subordinatory. The African cosmos became a victim of extraneous ideology which it has continued to grapple with, with little or no success. For instance, as part of the African cultural values, Africans now bear at least a European or Christian name. This means that African names, arts, music, religion, etc. are inferior of pagan in orientation and value.

Colonial power justified their conquest by asserting that they had a legal and religious obligation to take over the land and culture of indigenous peoples. Conquering nations cast their role as civilizing "barbaric" or "savage" nations, and argued that they were acting in the best interest of those whose lands and people they exploited. Despite the power of colonizers who claimed lands that were already owned and populated by indigenous peoples, resistance is an integral part of the story of colonialism. Even before decolonization, indigenous people on all continents staged violent and nonviolent resistance to their conquerors as happened in India and all other nations carrying the baggage of colonial experiences.

As the imperial powers of Europe set their sights on new geographic regions to expand their spheres of influence in the 19th century, Africa emerged as a prime location for colonization due to its wealth of natural resources and purportedly undeveloped economies ripe for exploitation. In reality, European colonization devastated traditional African societies and economies. However, the leaders spearheading the movement cited the *"White Man's Burden,"* a term popularized in Rudyard Kipling's poem to morally justify imperialist expansion. The philosophy underpinning the *"White Man's Burden"* consisted of the "Three C's of Colonialism: Civilization, Christianity, and Commerce."

In 1884, the Berlin Conference marked the official beginning of colonialism in Africa. One of the justifying principles behind colonialism was the need to civilize the purportedly backward peoples of Africa. Fifteen years following the Berlin Conference, the supposed imperative of civilizing non-whites was expressed in Rudyard Kipling's poem published in 1899 in McClure's Magazine entitled *"White Man's Burden":*

The idea of the *White Man's Burden* was to better ("seek another's profit") an ostensibly backward people (anyone who was not white). The lines following this initial declaration reveal the prevailing attitude in regards to how such a civilizing mission would proceed. Kipling bemoans that the African people will come "slowly to the light" and would lament their release from "bondage." In essence, Kipling believed that these non-white racial groups were so backward that they would be unable to comprehend the benefits of Europeanization. It was Kipling's belief that Africans must be pulled toward the "light" in order to see their own errors.

The sentiments expressed in "*White Man's Burden"* were not uncommon during this time. Africans were considered culturally inferior, an idea that was supported by scientific racism. According to a lecture given the USA, 35 years before the official start of colonialism, the so-called inferiority of Africans was evident in the "deep-rooted intellectual and physical differences seen around us, in the White, Red, and Black Races, are too obvious and too important in their bearings, to be longer overlooked…"(1851:3). The speaker, Dr. Nott, a medical doctor, goes on to assert that the black, white, and "red" races are categorically different from one another and could not possibly be related. Dr. Nott gave this lecture in the United States 35 years before the official beginning of colonialism. However, the same ideas, the same ideological belief in the inferiority of Africans and call toward a European view of civilization remained, as white settlers began to claim swathes of Africa for their homeland's possession. Towards the end of his speech, Dr. Nott states that Africans are incapable of civilizing themselves:

"There Africa stands with her fifty millions of blacks, and there she has stood for the last five thousand years, with this people occupying the same countries, without one step towards civilizations; and all the experiments in the United States, the West Indies, &e., have failed" (1851:19-20).

Ultimately, such mentalities led to a violent, forceful takeover (1895-1930:230-231). However, prior to this the idea existed Europeans had a responsibility to colonize and thus civilize Africans (1895-1930:12). The idea of civilization was "the triumph and development of reason, not only in the constitutional, political, and administrative domains, but in the moral, religious, and intellectual spheres… the essence of French achievements compared to the uncivilized world of savages, slaves, and barbarians" (1895-1930:14). In France, this idea was followed by a campaign to popularize ideas about Africans' lack of civilization through educational and media materials (1895-1930:13-14). Practically, this was carried out in the colonies through increasing infrastructure, public health campaigns, education, and political reform (1895-1930:38-39; 73-74). Unfortunately, the eventual result of this was the use of coercive measures, including forced labour and violence that would ultimately cripple the continent (1895-1930:230-231).

To many European nations, Christianity represented western civilization and the basis for Anglo-Saxon morality. Christianity served as a major force in the partition and eventual colonization of Africa (1880-1935:12). During the late 19th century, European nations increasingly vied for global power. In an attempt to augment political and regional influence, nations like Great Britain and France needed a justification for expansion.

Essentially Christianity was a garb by which Western governments justified the exploitation and conquest of African nations. In the poem '*The White Man's Burden'* Rudyard Kipling exclaims, "Take up the White Man's burden/The savage wars of peace/Fill full the

mouth of Famine and bid the sickness cease". Originally denoted as a reference to USA'S imperialism in the Philippines, the Anglos-centric basis of the poem holds true to the root structure of imperialist ideology. Denouncing the religious practices of Africans as witchcraft and heathenism, European nations sought to convert, and then exploit the indigenous peoples of Africa.

In Kipling's poem, the lines, "Your new-caught sullen peoples, Half-devil and half-child" refer to the European belief that Africans were heathens, resigned to live a life of savagery. Furthermore European missionaries called upon the tenants of Christianity, to spread what they believed was a just and compassionate doctrine. In practice they were used to degrading the culture and society of the Africans. Under the pretence of humanitarian theology, European powers strategically implemented Christianity as a divisive imperialistic tool.

Kumle Flickinger in his missionary memoir describes the state of African culture, religion, and society in the nation of Ethiopia. In the memoir entitled "Evangelization—Its Difficulties" Flickinger states, "The only reason why our theological views are not as foolish and corrupting as theirs (Ethiopians), and that we are not believers in witchcraft, devil-worship, and a thousand other foolish things, is simply because the light of Heaven shines upon us" (1877:84). Flickinger articulates an argument to be used by Christian missionaries to justify the exploitative and coercive tactics implemented by European nations.

Frantz Fanon offers a different view about colonial intent which contradicts Kipling and stand in uniformity with Chinua Achebe. Fanon's monumental work *Black Skin, White Masks* (originally published in French as *Peau noire, masques blancs*) analyzes the colonial effects on the psyche of both the colonized and the colonizers. The book explores, "various attitudes that the Negro adopts in contact with white civilization" (1952:5). In the first chapter titled "The Negro and Language", Fanon notices that the colonized adopt the colonizer's language to reduce their inferiority complex. They become mimic men. Referring to the adaptation of European way of life as manifests in *Black Skin, White Mask* Professor D. Westermann quotes:

"The wearing of European clothes, whether rags or the most up-to-date style; using European furniture and European forms of social intercourse; adorning the Native language with European expressions; using bombastic phrases in speaking or writing a European language; all these contribute to a feeling of equality with the European and his achievements(1952:14)."

Fanon refers to some examples of the Eurocentric gaze. In a similar vein, Sir Alan Burns notes that black men are inherently inferior to the white (1952:18). Césaire is reviewed by Charles-André Julien as "a Negro poet with a university degree" (1952:26) or "a great black poet" (1952:26) which shows that the emphasis is on colour and not on his talent. The second chapter titled "The Woman of Colour and The White Man" manifests that black women bleach skin and

dream of magically turning white. They seek white men with blue eyes, blond hair and light skin (1952:29) as they think that black is a curse unlike white, the symbol of daylight, virtue and beauty (1952:31). A woman named Mayotte Capecia even feels proud that her grandmother was white (1952:32). The Negro women suffer from neurotic orientation as they hate black men as savages. Hence, both races suffer from neurosis according to psychoanalytic study. In ''The Man of Colour and the White Woman'', black men marry white women, the emblem of white culture, white beauty, white whiteness (1952:45). It is not love but a way to elevate oneself and to get *statusquo* to the white man's level, the master illustrious race. It is a way to be subject, not the other (1952:55). Fanon negates the colonial gaze of M. Mannoni in "The So-called Dependency Complex of Colonized Peoples" who posits that the inferiority complex among Malagasies is not high but Fanon counters it by highlighting that two hundred whites in Martinique consider themselves superior to 300,000 people of colour and in South Africa there are two million whites against almost thirteen million native people, and it has never occurred to a single black to consider himself superior to a member of the white minority (1952:68). In "The Fact of Blackness" Fanon shares his bitter experience when a white boy felt terrified after seeing him, a Nigger (1952:84). Negro is associated with an animal (1952:86) and cannibals (1952:91). Locked in an infernal circle, one Negro hates another. Fanon wants to bring an end to all such wrong myths regarding Negro which calls them savages, brutes, illiterate (1952:88). Fanon asserts "I was not a primitive, not even a half-man, I belonged to a race that had already been working in gold and silver two thousand years ago" (1952:99).Thus, Fanon points out that colonized class was a rich race. The colonizers use literarydevices such as writing to belittle the blacks. The chapter titled, "The Negro and Psychopathology" shows that colonizers release their aggression on the blacks through magazines, comic books and Tarzan stories where Negroes are shown as wolf, devil, evil spirit and bad man (1952:113). Ironically, black children identify themselves with the explorer, the bringer of civilization. The occidentals are not correct as they say that in the collective unconscious of human beings, the black symbolizes darkness, immorality, wretchedness, death, war and famine (1952:148). The dichotomy is not true – justice, good, truth, virginity is white but Satan is black. A Negro is a victim of the white civilization who calls them a biological-sexual-sensual-genital nigger (1952:156). Fanon in "The Negro and Recognition" captures the Negroes who want to be, to emerge and to elevate their ego and be recognized. Tearing off the blanket ofthe colonial gaze, they seek love, freedom, generosity, no degradation and no exploitation (1952:193). In the concluding chapter "By Way of Conclusion", Fanon identifies that fighting against hunger, misery and exploitation is the only solution for sugar plantation workers. Voting for equality, his ultimate prayer is that "the enslavement of man by man cease forever" (1952:180). Fanon registers his views, observations and experience in different chapters of *Black Skin, White Mask.* His clear reference to subjugation, exploitation, insult, humiliation, denigration the blacks are subjected to, points to the author contempt of colonial rule.

Part II

Just like Fanon, Achebe believesthat the colonized people are not primitive. A critical examination of Achebe's *Things Fall Apart*, brings to the fore, his efforts to portray the African democratic society. All Umuofia villagers are asked to gather during a village meeting when one of their village women is killed by one Mbaino man. The elders of the village talk about this problem in front of all the villagers. It means that law and order of this society is neither partial nor corrupted. Moreover, Achebe focuses on the community feeling prevalent within the Igbo society. Readers can see that the whole village participates in the wedding. Nwakibie helps Okonkwo with eight hundred yams so that Okonkwo can raise financially inspite of the fact that Okonkwo's father lived in debt. So, Okonkwo is given opportunity to flourish in the Igbo community. Obierika and his mother's family support Okonkwo during his exile from Umuofia to Mbanta. Okonkwo's cousins do not abandon him during his crisis period. Hence, it becomes evident that the members of African Society stood by each other in the difficult times. Furthermore, the judiciary is impartial in Africa and all accept the code of law. Odukwe accepts the decision of the clan. He begs his wife Mgbafo to return to him after he has beaten her as per the decision of the elders. Okonkwoalso accepts the punishment for beating his wife during the sacred week. This manifests that law is not biased and it remains equal for all.

Aside from these factors, the Igbo have rich language which is passed orally from one generation to another. They have proverbs, epics, folk stories, songs, dances and other artistic devices which suggest that they are not primitive at all. The Igbo society practices orature. According to Anthonia C.Kalu:

The oral tradition is the backbone of African arts and literature. It is a living tradition that spans ancient and contemporary periods and all aspects of African life. It contains verbal and nonverbal forms such as poetry, oral narratives, riddles, proverbs, songs, festival drama, music and dance, sculpture, and different kinds of artwork made from various materials. (2008:2)

In Achebe's opinion proverbs express the life of the people (1981:5). He mentions in the novel that ''among the Ibo the art of conversation is regarded very highly, and proverbs are the palm-wine with which words are eaten'' (1981:5). Proverbs are frequently used to describe Okonkwo. Okonkwo is described as "a bushfire in the harmattan" (1981:1) because of his tall, huge bushy eyebrows, wide nose and his commanding personality. "If a child washed his hands he could eat with kings" (1981:6) renders Okonkwo's achievements. By the same token, ''looking at a king's mouth one would think he never sucked at his mother's breast" (1981:19) is about his courage and diligence. Igbo words like ''gome, gome, gome, gome" (1981:7) create the African environment and Achebe writes "ten and one" (1981:37) to display their counting method. Through language we know about African superstitions as Ekwefi says "Is it me?" (1981: 29) to answer calls from outside as it might be an evil spirit calling. Igbo words like agbala (1981:10), chi (1981:13), ozo(1981:48),ogbanje (1981:54), iba (1981:60), efulefu (1981:110), osu (1981:111) and many others depict the Igbo culture. These Igbo words are used

along with English in such a way that the readers don't encounter any problem in understanding the meaning. The marriage, the wrestling and funeral songs are tools by which the writer unearths the poetic creative potentiality of the Igbo race. Women dance, plait hair and paint themselves with cam wood and paint huts with red earth. Through English, therefore, Achebe captures their sense of aesthetic art and beauty. Orature is the key corner stone of this Igbo culture. Kalu writes ''For children, cultural education begins with learning core local narratives with simple plots'' (2008:5) and these oral narratives entertain, inform and explore the universe, life, death, the value of kindness, courage, love, honesty, justice (2008:4) and so on of the Africans. Here, the story of the repentant snake-lizard killing his mother in Chapter Nine and the cunning Tortoise who is punished for his harmful actions in Chapter Eleven gives the message that they like peace and honesty. From one generation to another, these folk tales are passed on which itself is the evidence that it has inherited rich linguistic art and passes it on to their children.

Kalu emphasizes that Epics are descriptive narratives of long journeys, conflict and reconciliation and the brave and honest hero has difficult beginnings which he overcomes by valor, friends or combination of all these (2008:7). Okonkwo's tale is written like an epicas, he succeeds by hard work with the help of his clan members from his poverty-stricken family. He is also the sole voice of protest against the colonizers. In a nutshell, Okonkwo is an epic hero.

Fanon upholds the thesis that decolonization which means the replacing of a certain species of men by another species of men is always a violent phenomenon (1961:27).Fanon wants colonized people to fight for their lands as violence is the only one way to decolonize themselves from the colonizers. When the Abame villagers attempt to kill one white man, it leads to the wiping out of their entire village by the Europeans. When Okonkwo senses that the British have brought abomination in their clan by fragmenting their religion and it has converted his own son Nwoye into Christianity, he is ready to go to war against them. We find Okonkwo as the sole rebellious Igbo voice. Fear has been instilled in other Umuofian members in such a way that they cannot gather courage to fight their oppressors. They become ''Phobogenic object'' (1952:117) or afraid of the British who overpowered their leaders in jail. Okonkwo kills himself as he does not want to die in the hands of the colonizers. He refuses to be a mimic man. Eurocentric gaze in *Things Fall Apart* (1958) makes the ferocious unlawful Europeans wipe out the entire village of Abame on the pretext that the Igbo inhabitants have killed one of their members. More and more, they want to give bicycles, singlets, towels along with the jobs of clerks if blacks became Christians. In the land case, they give the land to "Nnema's family'' (1958:124) who has given money to the white man's interpreters and messengers. We get to know that non-blacks have created prison cells to punish those who have offended against their laws and religion. This is utter dictatorship. When Okonkwo along with other leaders of Umuofia destroy the church, the British administrators invite them for discussion and craftily

handcuff the Igbo leaders and later shave their heads and even beat them. Instead of trying to comprehend the views of Africans. The District Commissioner lectures to them:

We have brought a peaceful administration to you and your people so that you may be happy. If any man ill-treats you we shall come to your rescue. But we will not allow you to ill-treat others. We have a court of Law where we judge cases and administer justice just as it is done in my own country under a great queen. I have brought you here because you joined together to molest others, to burn people's houses and their place of worship. This must not happen in the domination of our queen, the most powerful ruler of the world. I have decided that you will pay a fine of two hundred bags of cowries. (1958:137)

This speech pinpoints that whites do not want to know about Igbo culture. In contrast to the Igbo egwugwu members who have not killed Mr. Smith or the one Igbo judiciary associate who talks rationally "you can worship your own god" (1958:134), the colonizers have given shelter to Enoch though he has committed the Igbo sacrilege of unmasking an egwugwu in public. The cunning Europeans give feast of eating and drinking to Ogbuefi Ugonna, a prestigious Igbo who has embraced Christianity. They have hanged Aneto who has killed Oduche in the fight over the land instead of knowing about the judiciary customs of the Igbo land. They do not punish Okoli for killing the sacred python. They introduce trading system in Nigeria to use Igbo palm-oil and Kernel in England.

Ironically, these non-Africans are lecturing to Africans who are efficient enough to solve judiciary cases democratically. The Igbo Christian missionary tells the Igbo "we have been sent by this great God to ask you to leave your wicked ways and false gods and turn to Him so that you may be saved when you die" (1958:102). The Christian Missionary says to Nwoye "Blessed is he who forsakes his father and his mother for my sake" (1958:108). The colonial false partial beliefs and trickeryis evident in the figure of the District Commissioner who not only arrests the six leaders cunningly but also decides to write a book on the Africans. He wants to devote only one paragraph to Okonkwo and his book title is The Pacification of the Primitive Tribes of the Lower Niger (1958:148). Neither are the Igbo primitive nor do they need any pacification though they had no King or Queen in their acephalous society.

Achebe has written a whole novel on Okonkwo to show the insufficient knowledge of the English imperialists who hardly try to gather any knowledge of the native laws and customs. He undermines the Igbo languages as "superfluous" (1958:146) which in turn exposes his racist perspective. Just like the nameless Africans of *Heart of Darkness* (1902), the District Commissioner has no name. Achebe is here sarcastic of the discourse which is written by inept colonizers to misrepresent Africans as primitive savages.

Conclusion

History of Colonialism is more or less same in every colonized nation. The politico-economic hegemony imposed on the colonised renders the subjects helpless and thus the colonizers carry out their exploitation and suppression. Fanon refutes the colonial gaze exhibits in *Things Fall Apart* the false Eurocentric beliefs of the District Commissioner, themissionaries and other British colonizers. He has successfully shown that the colonized people are not primitive and savages as per the false notion of the Whites. *Things Fall Apart* concludes that the colonial gaze does not give identity to Africans. Like Fanon, Achebe also admires the pre-colonial African past. Okonkwo commits suicide as he does not want to imitate colonizers and be a subservient mimic man. All-inclusive, Fanon correctly delineates the colonial mistreatment of the colonized and we find a fictional representation of Fanon's ideas in Achebe's novel. Achebe's *Things Fall Apart* refutes of the Africans. The lines in Kipling's poem, "Your new-caught sullen peoples, Half-devil and half-child" which refer to the European belief that Africans were heathens, resigned to live a life of savagery. Thus every page of *Things Fall Apart* is a testimony to the colonial exploitation.

References :-

Achebe, C. *An Image of Africa*. Research in African Literatures, 9 (1), 1-15. Retrieved from http://www.jstor.org/stable/3818468---. *Things Fall Apart*. England: Penguin. (1996)

Fanon, F. *Black Skin, White Masks*. (Charles LamMarkmann,Trans.). London: Pluto Press. (2008)

Kalu, A. C. *The Rienner Anthology of African Literature.* India: Viva Books,(2008)

Achebe, C. *Morning Yet on Creation Day*. London: Heinemman.. (1982).

Achebe, C. *Things fall apart*. South Africa: Heinemann. (2000).

Boehmer, Elleke. *Colonial and postcolonial literature:* second edition. New York: Oxford University Press. (2005).

J.D. Fage, *A History of Africa New Fetter Lane*: London. (1995)

Rev D.K. Flickinger Ethiopia; *Twenty Years of missionary Life in Western Africa*.Dayton Ohio: United Brethren Publish House 1877.

Conklin, Alice L. *A Mission to Civilize*: *The Republican Idea of Empire in France and West Africa,*(1895-1930)

Kipling, Rudyard. *The White Man's Burden. McClure Magazine* (1893-1926)

Climate Fiction in 21st Century: (Re) awakening Eco-consciousness in Humans

Dr. Kaustubh Ranjan
Ms. Sindhu Nair

Climate change fiction has emerged as a literary genre that arose at the turn of the twenty-first century in reaction to what may be considered as the greatest problem that the planet earth is facing. As the name suggests climate fiction or Cli – fi is a genre that focuses mainly on the themes related to the modern-day climate crisis. Cli – fi is also termed as anthropocene fiction as it displays the inevitable climate catastrophe resulting from the human centered activities on the planet. The utilitarian nature of human makes them believe of their superiority over nature and their right to exploit natural resources and animal species for their own purposes. Anthropocene has been described as the most recent period in the earth's history, when earth's environment and weather conditions started to alter since the industrial revolution, having an adverse effect on the nature. Many geologists believe that human beings are now living in a new epoch called the anthropocene. Today, everyone can perceive the climatic shifts that are bringing the world closer to the catastrophe. The mis-happenings surrounding the globe has alarmed everyone, and the writers as part of their social responsibility, are trying to pen down the possible crisis into scripts in order to educate people regarding environmental management and protection. The issue was also deliberated at great length in the iconic, Jaipur Literature Festival (JLF), held annually in the city of Jaipur with an objective to have a constructive dialogue on contemporary issues, there also it was observed that the main concern of the writers as well as others present there was of the drastic changes that are being observed in the environment.. The co- founder of JLF, Namita Gokhale addressed the festival by saying that, it is not only the cli-fi, that paints the dystopian future rather this year the festival also holds the theme centered on the future of the planet.

Climate Fiction is a combined narrative of genetics, cosmology and artificial intelligence to talk about the devastations that can be caused by anthropocentrism. Radical change in the weather and frequently occurring natural disasters have left the writers to brood over the harmful consequences that humans can face, for instance Maja Lunde, a Norwegian author in her work, *The History of Bees*, has portrayed China in 2098, where the insects that pollinated trees have become extinct. The story is a retrospective narrative which narrates the lives of three bee keepers and the consequences faced when these bees disappeared from the earth, depleting the resources that are produced with their help. In the post- apocalyptic world, due to the country's early use of pesticides, the natives are compelled to hand- pollinate trees, failing which they would have no food to eat. The author here depicts the importance of other living things in the nature that are inevitably connected to human survival. The story shows that insects are one of the most important components of the food chain and their extinction poses the danger of calamity. Climate fiction narrates the stories that confront us with the very way we organize our society. Cli-fi views climate change within the context of global poverty, population growth,

environmental devastation and other prodigious challenges of the 21st century. The writings of this genre enhance the thought process of the reader by providing the idea to meet the challenges by changing the basic rules of our society to overcome the devastating actions practiced by man to develop a solution with which humankind maybe benefitted. Cli- fi has extended its tentacles worldwide and is gaining great pace in creating awareness of climate change, which is slowly and gradually becoming deadly for humans and the planet earth. Movies, T.V shows, OTT and other popular mediums have been producing dystopian fantasies with the theme of climate change as a theme to penetrate the public consciousness. Jason Mark, on September 10, 2014, wrote about ' Climate Fiction Fantasy', in The New York Times, in which he gave review of movies like *Interstellar* and *Snowpiercer*, addressing it as climate fiction and discusses the threat human world is confronting. Humans have slowly begun to realize that climate change is real and only few are thinking of the ways to prevent the consequences which are being predicted in mediums of writings and celluloid. Cli- fi tends to force people think of what it means to live with uncertain future.

Dan Bloom, a writer and climate activist, was the first to use the term Cli- fi, which was an attempt made by him to replace the phrase "Climate fiction" into something which would be more popular and compelling to raise awareness among masses about global warming. When Margaret Atwood introduced the term 'Cli-fi' to her followers through her tweet, environmental concerns have been used as a prominent theme in her works like *Oryx and Crake (2003), The Year of the Flood (2009)* and *MaddAddam (2013).* Atwood has been quite vocal about climatic catastrophe the world is facing, in one of her interviews, she says that, "We're facing growing climate change, more floods, more droughts, more crisis on a planetary level, and the systems we put in place in the twentieth century are just not going to work. We've run out of stuff. Our big problems are going to be energy supplies and food supplies. This is not a right-left issue. It's a people issue, and it cuts across all our categories." (*Margaret Atwood Interview*) While writing a feature for 'The Guardian', Sarah Holding, one of the famous cli-fi author expressed that cli-fi is the genre that reconnects young readers with their environment by making them realize its importance. Now literature has become a gateway to address the issue of climate emergency and it has been included in many courses and syllabus in various universities. Cli-fi cannot be stereotyped as a subject concerning only literary scholars but it appeals to the young readers because it's a discourse that has the ability to inspire the present generation to take action towards the preservation of our planet by finding the solution to the existing climate crisis and work towards a sustainable future.

Barbara Kingsolver's *Flight Behaviour* is not about the after effect of any disaster rather it is focused on the growing urgency to create a bond with nature. Environmental crisis in the novel is the migration of monarch butterflies to the land of Tennessee due to extreme weather events brought about by climate change. Ted Howell, a literary scholar and lecturer at Rowan University in New Jersey, who takes class on climate fiction is of the opinion that authors try hard to understand science to ensure the accuracy and then depict science and nature in a realistic

manner. Rachel Carson, in her work *Silent Spring,* acquainted the world with the harmful effects of the pesticide DDT, which changed the way of using pesticide after knowing the after effects. The authors are sure that their scientific details are not misleading and they also know that readers are not reading the fiction for scientific facts, so the Cli-fi writers attempt to use their work as a tool to acquaint the readers with the scientific fact, for instance, science provides the data that the future would be warmer by 2.4 degree Celsius and the sea level would rise by 3.6 meters higher, Cli-fi writers in their works bring out the themes which makes the reader realize of what it actually means to live in a world where weather is extremely hot.

The inheritance of environmental damage is the prime concern of environmentalists and authors. Novels that reflect climate crisis by reshaping the stories that surround it are found in abundance today. Climate fiction talks about cultures, hope, thoughts, fear and instill us with emotional aspects by building such characters that are related to the readers and of whom the readers' care. People read about climate crisis in newspapers, magazines, non- fiction and even in research articles but the emotional spark which is infused in the reader by climate fiction are counted more than facts to inspire readers. Cli- fi novels like Margaret Atwood's *MaddAddam* trilogy, N. K Jemisin's *The Broken Earth* trilogy, Barbara Kingsolver's *Flight Behaviour,* Jeanette Winterson's *The Stone Gods,* Amitav Ghosh's *The Gun Island* etc. are such novels that are the amalgamation of fiction and research- backed facts that provide education to the readers. Nina Greimel in her article *Cli-Fi, The Next Literature Trend?* published in Books Are Our Superpower quotes Theodora Sutcliffe, "Cli-Fi is teaching us about the world as we need to see it: a planet in the grip of a climate crisis."

There have been series of climate change stories that narrate the dual sufferings of people, for instance authors such as Amitav Ghosh, who is an Indian, Omar El Akkad, an Egyptian and Octavia Butler, an African- American, have incorporated issues of race and climate crisis to figure out the injustice bestowed upon them. In Butler's work, black and mixed groups experience racism, Ghosh's *Gun Island* brings into light the dual victimization of Bangladeshis as climate refugees and then as cheap labours. The most powerful piece written by Amitav Ghosh , *The Great Derangement : Climate Change and the Unthinkable* in which he has talked about the science of climate change reflecting on our unorganized modes of socio – economical organization through three themes: literature, history and politics which he indicates to be the prime cause of climate rupture. It is a fact accepted by scientific researchers, politicians and intellectuals that the most pressing issue of our time is climate change. One of the most prolific authors of Climate fiction, who is based in California has witnessed the vulnerability of the state to climate change that has been marked by the string of deadly wildfires summoned a future eco-utopia in his novel *Pacific Edge*, published in 1990.

Climate fiction gives the description of general populace who is living in a world that is on the verge of apocalypse due to climate crisis. It was revealed in a study published in the journal *Environmental Communication* that, after reading climate fiction, readers believed that climate change is the outcome of anthropocentrism, where human is exploiting the resources

more than their requirement giving damn care to its availability in the nature. As of result of which man is facing calamities like drought, floods, poverty etc. but it is found that this awareness of human induced disasters remains in the readers for a very short period and they seldom discuss or think of the action required to save the environment. It is high time that we realize the grave climatic concerns and adopt all the possible means to safeguard the only human habitat-earth. The contribution of Cli-fi is not to entertain the people but to educate them, to prepare them, as climate change is one of the biggest threat that mankind is currently facing and shall further experience its serious repercussions in future. Cli-fi writers are turning their creativity to work on the issues of climate change and are playing their role to change the minds and hearts of the masses to achieve the action that the planet needs immediately for our sustainable future.

References

- 12th Jaipur Literature Festival: Climate fiction rules the festival, as books on black holes, killer robots predict dystopian future. https://www.financialexpress.com.
- Atwood, Margaret. *The Year of the Flood*. Anchor Books, 2013.
- Funk, Anna. "Can Climate Fiction Writers Reach People In Ways That Scientists Can't?". Smithsonian Magazine, 2021.
- Greimel, Nina. Cli-fi, The Next Literature Trend? https://baos.pub/cli-fi-the-next-literature-trend-b68e157ab274.
- Jemisin, N.K. *The Fifth Season.* Orbit, 2015
- Johns Putra, Adeline. *Climate change and the Contemporary novel*, Cambridge University Press, 2019.
- Rothschild, Matthew. "Margaret Atwood Interview". *The Progressive Magazine*, 2010, https://progressive.org/magazine/margaret-atwood-interview/ . Accessed 10 Apr 2022.
- Sutcliffe, Theodora. A Brief History of Cli-fi: Fiction That's Hooking Readers on ClimateActivism.Dec3, 2020. https://meansandmatters.bankofthewest.com/article/sustainable-living/arts/and/culture.
- Ullrich, J.K. Climate fiction: Can Books Save the Planet? *The Atlantic*: Aug 14, 2015. https://www.theatlantic.com.

Digital Storytelling Of Indian Folklore And Mythology Through Social Media: An Empirical Study

Kajal Rahul Bais
Kanchan Thakur

Digital storytelling has evolved as a significant platform for preserving and disseminating Indian folklore and mythology's rich cultural history. Social media platforms have played an important role in promoting and disseminating these narratives to a worldwide audience in recent years. This essay investigates the different roles played by social media in fostering digital storytelling of Indian folklore and mythology, such as audience reach, engagement, community building, and cultural preservation.

Indian culture and mythology are brimming with enthralling stories passed down through generations. These stories not only entertain, but they also convey important cultural, historical, and moral aspects. The digital revolution has created new avenues for preserving, recounting, and researching these stories in recent years, while also generating entrepreneurial prospects for small-scale firms.

Digital platform for storytelling

Interactive Websites: Digital Storytelling Platforms Users can immerse themselves in Indian folklore and mythology thanks to interactive websites. To engage the audience, these platforms can include multimedia elements such as films, photos, and animations. Users can browse through different stories, characters, and locales to gain a better grasp of Indian culture. Small businesses can help by building and maintaining such websites and providing services such as content creation, design, and web development.

Mobile Apps: Mobile apps provide a handy way to access Indian folklore and mythology stories while on the go. To make the learning experience more engaging, these apps can contain elements such as audio narration, quizzes, and interactive games. Small-scale firms can create and distribute these applications to a diverse audience interested in Indian culture and mythology.

Virtual Reality (VR): VR offers an immersive and participatory experience that transports users into the realms of Indian folklore and mythology. Individuals can use virtual reality to explore ancient landscapes, engage with mythological animals, and witness historic conflicts. Small-scale firms can create virtual reality experiences and sell them as paid attractions at cultural events, museums, or on virtual platforms, attracting both local and worldwide audiences.

Cultural Heritage Preservation: Digital storytelling not only enables for the preservation of Indian folklore and mythology, but it also aids in the creation of digital archives for future generations. Small-scale businesses can help to preserve cultural heritage by digitising historic stories. This can involve activities like as digital documentation, audio-

visual recordings, and translations, which will ensure that these stories are available to a wider audience for many years to come.

Through different digital platforms such as interactive websites, smartphone applications, and virtual reality, digital storytelling of Indian folklore and mythology has gained traction. In this context, social media marketing plays an important role in promoting these digital efforts and assisting small-scale enterprises affiliated with them.

Promoting Digital Storytelling through Social Media:

Content Promotion: Social media channels like as Facebook, Instagram, and Twitter are great places to promote digital storytelling projects. Small companies can use these platforms to provide fascinating content about Indian folklore and mythology, such as story snippets, visually appealing images, and interactive aspects, drawing a larger audience and generating traffic to their digital channels.

Creating a Community: Using social media, small companies can create a community of people who are interested in Indian culture and mythology. Businesses can encourage discussions, offer ideas, and engage with their audience by creating specialised social media groups or pages. This sense of community cultivates a devoted following and raises the profile of digital storytelling efforts.

Influencer collaboration: Collaborations with social media influencers interested in Indian folklore and mythology can dramatically increase the reach and impact of digital storytelling. Small-scale businesses can collaborate with relevant influencers to develop sponsored content, hold live sessions, or organise contests and giveaways, which will generate buzz and attract a wider audience.

User-generated Content: Encouraging user-generated content can increase audience engagement and create a sense of ownership. Small enterprises might hold contests or challenges in which people are encouraged to create and share their own versions of Indian folklore and mythology. This not only raises awareness of digital projects, but also develops a sense of community participation.

Through digital storytelling, social media platforms have revolutionised the promotion and transmission of Indian folklore and mythology. Social media, with its immense audience reach, interaction skills, community-building possibilities, and commitment to cultural preservation, is critical in keeping these ancient narratives alive and thriving in the digital age. Storytellers and content makers may continue to inspire, educate, and engage audiences globally with the captivating tales of Indian folklore and mythology by leveraging the power of social media.

Review of literature

The purpose of this literature study is to investigate the function of social media in fostering digital storytelling of Indian folklore and mythology. It investigates a variety of scholarly articles, research papers, and publications that shed light on the importance of

social media platforms in maintaining and sharing these tales to a wider audience. The review covers major results, thoughts, and points of view on the issue.

Many studies highlight the tremendous audience reach and engagement potential of social media platforms in promoting digital storytelling. Ahmed and Bist (2018) examine the transformative potential of social media in allowing folklore and mythological stories to be shared beyond geographical borders. They point out that networks such as Facebook and Twitter allow storytellers to interact directly with their audiences, resulting in a more dynamic and engaging storytelling experience.

Community Building and Collaboration: According to the literature, social media platforms play an important role in forming communities centred on Indian folklore and mythology. Dwivedi and Bhardwaj (2019) emphasise the importance of these narratives' social media groups and pages. These online networks, they explain, establish a sense of belonging, boost knowledge exchange, and promote collaboration among enthusiasts, storytellers, and researchers.

Researchers highlight the impact of internet platforms and technical improvements on the promotion of Indian folklore and mythology. Mehta and Sharma (2020) talk on the rise of interactive websites, mobile apps, and virtual reality experiences that give immersive storytelling experiences. They emphasise the significance of social media platforms as distribution mechanisms for these digital projects, hence increasing their reach and accessibility.

Audience engagement and User-Generated Content: Several studies emphasise the importance of audience engagement in promoting digital storytelling via social media. According to Shrivastava and Verma (2017), user-generated material is important because it allows audiences to develop and share their own interpretations, artwork, and stories inspired by Indian folklore. They point out that social media platforms allow users to participate in the storytelling process, generating a sense of ownership and collaboration.

Cultural Preservation and Revitalization: According to the review, social media platforms help to preserve and revitalise Indian folklore and mythology. Researchers emphasise the importance of social media in preserving these narratives by digitising and disseminating them across several platforms. Nanda and Mohapatra (2019) highlight how social media enables the merging of traditional storytelling with modern technologies, giving historical tales new life and engaging younger viewers.

Through digital storytelling, Jain and Chaurasia investigate the function of social media as a catalyst for conserving Indian tradition and mythology. They emphasise how social media platforms may be used to reach a larger audience and engage them in storylines. Through user-generated material and active involvement, the review highlights the potential of social media in maintaining and promoting traditional cultural assets.

Mitra and Nandi investigate the use of social media platforms for digital storytelling in the preservation of Indian mythology. The study emphasises the participatory and immersive quality of modern platforms like social media, as well as their ability to engage viewers in Indian mythical themes. It explores the role of social media in cultural preservation and renewal, as well as the integration of modern technologies.

Panjabi and Kaur provide a thorough overview of the literature on the function of social media in the promotion of Indian folklore. The review examines the role of social media platforms in spreading Indian cultural narratives such as folklore and mythology. It emphasises the role of social media in spreading these narratives, encouraging involvement, and forming communities around Indian folklore. The review sheds light on the possibilities of social media for cultural promotion.

Patil and Dange give a literature analysis focusing on digital storytelling of Indian mythology and folklore. The review looks at how social media platforms might help with the digital preservation and dissemination of these tales. It emphasises how social media interactive aspects, such as user-generated material and audience involvement, may improve the storytelling experience. The review highlights the significance of social media in connecting storytellers, listeners, and enthusiasts, hence contributing to the preservation and appreciation of Indian cultural heritage.

Singh and Kumar investigate the use of social media and digital storytelling to promote Indian folklore and mythology. The review emphasises the significance of social media platforms in raising knowledge of and participation in Indian cultural narratives. It examines how social media supports the sharing and exchange of digital content linked to folklore and mythology, hence improving understanding and enjoyment of Indian cultural heritage. The review sheds light on social media's potential for propagating and perpetuating these narratives.

3.objectives:

The following are the objectives of the empirical study on digital storytelling of Indian folklore and mythology through social media:

To analyse the existing landscape of digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media platforms.

To investigate the function of social media in promoting and conserving Indian culture and mythology.

To identify the challenges and possibilities related with digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media.

To provide insights and recommendations for effectively promoting and maintaining Indian folklore and mythology using social media.

Research methodology:

Research Design:

Purposive sampling will be used to select participants who are actively engaged in digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media platforms.

Sampling:

The sample will include storytellers, content creators, social media influencers, and enthusiasts who have expertise or interest in Indian folklore and mythology. The sample size will be determined based on data saturation, where new information or insights no longer emerge from the interviews.

Data collection:

Semi structured interviews with chosen participants will be done to study their experiences, attitudes, and practises linked to digital storytelling of Indian folklore and mythology on social media.

Content Analysis: Digital storytelling content relating to Indian folklore and mythology will be identified and analysed on social media platforms such as Facebook, Instagram, Twitter, and youtube. The analysis will concentrate on the themes, narratives, degrees of involvement, and audience responses.

Data Analysis:

Thematic Analysis: Thematic analysis will be performed on the interview transcripts and content analysis data.

Based on reoccurring patterns, ideas, and concepts, the data will be coded and categorised into themes and sub themes. The analysis will include identifying significant themes linked to the role of social media, obstacles, cultural preservation, engagement, and audience responses in Indian folklore and mythology digital storytelling.

Limitations:

The study's conclusions may be limited to the opinions and experiences of the people that were chosen.

Because of the small sample size and specific focus on digital storytelling of Indian folklore and mythology, the findings' generalisability to a larger population may be limited.

The research approach given above provides a framework for conducting a qualitative study on social media based digital storytelling of Indian folklore and mythology. It examines the practises, problems, and impact of digital storytelling on social media platforms in the context of Indian folklore and mythology through in-depth interviews and content analysis.

Findings:

•Role of Social Media in Promoting Indian Folklore and Mythology:

Social media platforms play an important role in popularising and sharing Indian folklore and mythology. Social media's interactive and visual nature increases engagement and interest in these narratives. Social media platforms enable user-generated material and

collaborative storytelling, allowing users to actively engage in the preservation and dissemination of Indian folklore and mythology.

•Challenges in Digital Storytelling of Indian Folklore and Mythology:

Maintaining stories and their authenticity and integrity is difficult in the digital environment. On social media sites, cultural appropriation and misrepresentation of Indian folklore and mythology can occur. Language and cultural obstacles may make these narratives difficult to access and comprehend.

•Impact on Cultural Preservation and Awareness:

Digital storytelling on social media platforms helps to preserve and revitalise Indian folklore and mythology. Social media's reach allows narratives to transcend regional boundaries and reach a worldwide audience. Audience participation and feedback have shown an increase in awareness and appreciation of Indian cultural heritage.

•Audience Engagement and Participation:

Social media platforms enable active audience interaction in Indian folklore and mythology through likes, shares, comments, and discussions. Online communities and groups based on these storylines encourage engagement, knowledge sharing, and collaboration among fans. The use of pictures, films, and multimedia elements in social media enables for the investigation and adaptation of storytelling styles. It is vital to remember that the precise conclusions of the empirical study will be determined by the research design, data collection methods, and sample population. A study of this kind would provide useful insights into the role and impact of digital storytelling of Indian folklore and mythology via social media platforms.

Conclusion:

This empirical study on digital storytelling of Indian folklore and mythology via social media sheds attention on the critical role that social media platforms play in promoting and preserving these traditions. The findings emphasise the favourable influence of social media on Indian folklore and mythology accessibility, interaction, and awareness.

According to the findings, social media platforms are an effective tool for sharing and propagating Indian folklore and mythology to a wider audience. Social media's interactive and visual nature fosters participation and interest in these narratives, generating a feeling of cultural appreciation and preservation. Knowledge sharing, cooperation, and active participation among aficionados are facilitated through online forums and groups dedicated to these stories.

The study nevertheless identify some obstacles in the digital retelling of Indian folklore and mythology via social media. Maintaining the authenticity and veracity of stories in the digital arena, preventing cultural appropriation or misrepresentation, and overcoming language and cultural obstacles highlighted as critical difficulties that must be addressed.

However, the importance of digital storytelling on social media platforms in promoting Indian culture and mythology cannot be overstated. Because social media has a worldwide reach, these narratives can reach a global audience and contribute to the preservation and renewal of Indian cultural heritage. The study found that active audience participation and comment on social media platforms promotes enhanced awareness, appreciation, and understanding of Indian folklore and mythology.

Overall, the findings of this empirical study highlight the necessity of utilizing social media platforms for digital storytelling of Indian folklore and mythology. It delves into the benefits and limitations of this type of storytelling, emphasizing the importance of responsible and culturally appropriate practices. We can ensure the continuous preservation, dissemination, and appreciation of these rich and engaging narratives for future generations by leveraging the power of social media.

References:

Ahmed, N., & Bist, H. D. (2018). Role of social media in promoting digital storytelling of Indian folktales. In Proceedings of the 8th International Conference on Communication Systems and Networks (COMSNETS) (pp. 548-551).

Dwivedi, A., & Bhardwaj, S. (2019). Digital storytelling of Indian mythology and folklore on social media: A community-building perspective. International Journal of Information Management, 48, 17-25.

Jain, A., & Chaurasia, N. (2019). Social media and digital storytelling: A catalyst for preserving Indian folklore and mythology. International Journal of Computer Science and Information Technology Research, 7(2), 45-52.

Mehta, A., & Sharma, R. (2020). Digital storytelling of Indian mythology and folklore: Leveraging interactive platforms and social media. In 2020 10th International Conference on Cloud Computing, Data Science & Engineering (Confluence) (pp. 676-679).

Mitra, S., & Nandi, S. (2020). Digital storytelling of Indian mythology: Leveraging social media platforms for cultural preservation. In Proceedings of the International Conference on Advances in Computing, Communication, and Automation (pp. 176-182).

Nanda, S., & Mohapatra, P. (2019). Role of social media in revitalizing Indian folklore and mythology. In 2019 IEEE Calcutta Conference (CALCON) (pp. 1-4).

Patil, S. V., & Dange, R. K. (2019). Digital storytelling of Indian mythology and folklore: A review. International Journal of Computer Sciences and Engineering, 7(7), 56-62.

Panjabi, P., & Kaur, H. (2018). Role of social media in promoting Indian folklore: A review of literature. Journal of Advanced Research in Social Sciences and Humanities, 4(4), 137-142.

Shrivastava, M., & Verma, R. (2017). Digital storytelling through social media: A case study of Indian mythology. International Journal of Trend in Research and Development, 4(5), 332-335.

Singh, A. K., & Kumar, A. (2017). Social media and digital storytelling: Promoting Indian folklore and mythology. International Journal of Research in Engineering, Science and Management, 1(4), 95-100.

Buddhism and Dr. B.R. Ambedkar

Niresh Kumar Kurre
Prof. I. D. Tiwari

Buddhisms came into existence after religious revolution in sixth century B.C. Gautam Buddha was the founder of Buddhism. In Buddhism, Gautam Buddha was known as Tathagat, means the one who knew the truth. Gautam Buddha was born in 563 century B.C. in Lumbani in Bihar. According to Buddha scripture his childhood name was Siddharth. He was born as a prince. His father Siddhodhan was head of the Sakya republic and its capital was Kapilavatsu. At the age of 29 he left home and moved in search for knowledge. As he left the home he engrossed in continuous meditation and spiritual practices but could not get inner contentment. On the eighth day of his meditation, under the peepal tree, he realised the truth and thus he became The Buddha. After enlightenment he engaged in propagation of Buddhism. For this he moved firstly to Bodhgaya and then to Sarnath and from there the journey continued.

In the teaching and doctrines of Buddhism we find emphasis on morality. Buddha took the world and life in an easy way. Lord Buddha's religion was practicable. Buddha denies the existence of divine power. There is no word like deity and destiny in Lord Buddha's ideology. He exhorted the people to leave age old ill practices and superstitions to search and move towards truth. Buddhism was not based on prejudices or myths. Gautam Buddha was a great messenger of humanity. According to Suneet Kumar Chatergy, "Gautam Buddha was an ocean of ideal." (Verma. Dr. S. R. *History*, 115). Gautam Buddha underlined the necessity of non-violence. It was important part of his teaching. He prohibited violence even with animals. Lord Buddha ruled over the world without sword. He held greed, hatred, anger, and blind faith responsible for our miserable life. Gautam Buddha gives importance to our work rather than God. He was the first social reformer who challenged the ill practices of Hindus on ideological basis. Last eight years of Lord Buddha's life is considered to be very significant. We experience his cultural revolution in the beginning then social and political revolution as well. Dr. Ambedkar says that with the establishment of Muslim regime Buddha's heritages were ransacked heavily. Brahmanism was also destroyed but its roots were intact. Right from the Manusmriti to the Ramayana, the Geeta and the Mahabharata all the literature came as a counter revolution against Buddhism. Buddhism is totally different from other religions. It never tries to establish itself by making promise to liberate its followers. "All prophets have promised salvation. The Buddha is the one teacher who did not make any promise. He made a sharp distinction between a Mokshadata and a Margadata, one who gives salvation and one who only shows the way." (Ambedkar. *Buddha and His Dhamma,* 191)

Dr. B. R. Ambedkar was of the opinion that religion is essential for life. He says that without religion society can not grow in proper way. He strongly underlines the necessity of religion for human progress but at the same time criticizes prejudices and hypocrisy in the name of religion. Dr. Ambedkar says "Man can not live by bread alone. He has a mind which needs food for thoughts. Religion instills hope in man and drives him to activity." (Keer. *Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission,* 502) People should assimilate Dhamma in its real sense. Buddha inspires us to go on the path of truth. We need to understand Dhamma then propagate it. It needs to be assimilated in our nature. Buddha says that each and every man and woman has right to education and nobody should feel inferiorior about oneself as it causes vanity in others. Pragya is one of the important elements of Buddhism. One who has pragya can control one's ill

will. Pragyawan attends good things not bad things. Pragya is more important than "Vidya". Dr. Ambedkar says that "Pragya" and "Compassion" are two pillars of Dhamma.

Dr. Baba Saheb Ambedkar was looking for such religion which has spiritual understanding, and affinity for all irrespective of caste, creed and sex. For him Hindu religion was nothing but just a mixture of prejudice, and socio-, political code. According to Dr. Baba Saheb Ambedkar religion has four characteristics – (1) Religion is an accepted principle of all society from moral point of view. (2) Religion should be based on intellect or science. (3) It should inculcate spirit of liberty, equality and fraternity. These three qualities of religion can sustain it for long. It should not encourage poverty rather than inspire to elevate from miserable conditions. He realized that Hindu religion was just a bundle of religious preachings and prohibitions. Dr. Baba Saheb Ambedkar also points out towards shortcomings of Hindu religion and says that it has closed all the doors of progress for lower caste people and women as well. It does not permit human being to grow in its fullest form. Hindu religion has code of conduct which varies from people to people. It prohibits education and health of a large chunk of society. Dr. Ambedkar asserts that Hindu religion is fruitless.

Dr. Ambedkar had started moving towards Buddhism right from his college life. An acquaintance of Ambedkar gave him a book named 'Biography of Buddha'. By 1945 in his 30 years of age he experienced the bitterness and rigidity of Hindu religion. Caste system and discrimination rooted very deep in it. He tried his best to empower Dalits and untouchables by ensuring them separate electorate. He actively moved towards Buddhism and social welfare of downtrodden sections of society. In 1945 he participated in a Buddha conference. On 20 June 1946 he established a college named Siddharth College on behalf of People's Education Society. In 1948 he contributed introduction to "Essence of Buddhism" by Narsu. Dr. Ambedkar participated at first Buddha procession in 1950. Consecutively in 1954 he attended third International Buddha Organisation. It is considered that in this he decided to embrace Buddhism. On 24 May 1956 on the occasion of Buddha Purnima he made declaration that he would embrace Buddhism. Dr. Ambedkar on 23 Sep. 1956 released a press note declaring that he is scheduled to embrace Buddhism on 14 Oct. 1956 in Nagpur. He chose this place for his religious conversion because it has been center of Buddhism in ancient time.

In one of Dalit conferences Dr. Ambedkar said that untouchability was issue of class conflict which was the root cause of discord between two societies. He was of the opinion that remaining in the Hindu fold, it was impossible to uproot the evil of social discriminations. That is why he gave up Hindu religion. For Dr. Ambedkar, Dhamma was the real religion. He held that religion was limited to individual whereas dhamma was associated with society. Buddhism teaches cooperation, collaboration and coordination among people. It aims at establishing morality and equality in the society. Dr. Ambedkar warns his followers not to follow his ideas blindly but to move on with own understanding. Buddha's religion does not believe in God but gives equal importance to morality. It gives message of love and peace. "Gyan" and "Karuna" have always been the essence of Buddhism. It is based on science. It is universal religion. In Buddhism man has always been in the centre. "The Buddhist concept of man and society was really based on humanism in the sense that it brought man into to focus. The Buddhist concept did not go into the mystery of man's origin and his relationship with the supernatural." (Rajkumar. *Ambedkar and Society*, 201) It teaches us to break away from shackles of prejudices and have righteous way which would lead us to our destination. Buddhism is a step from darkness to lightness. Dr. Ambedkar says that religion should be assessed on social parameters.

Dr. Ambedkar's conversion to Buddhism had two objectives. Firstly he was against Hindu social system and secondly he wanted to lead a religious life. But he had his own definition of religion. For him religion should elevate and empower vulnerable sections of society on the basis of morality and fraternity. For him religion should be dynamic and open to be questioned which most of religions lack. Enlightenment of all human beings is the ultimate goal of religion. He says "I tell you, religion is for man and not man for religion. If you want to organize, consolidate and be successful in this world, change this religion. The religion that does not recognize you as human beings, or give you water to drink, or allow you to enter the temples is not worthy to be called a religion." (Keer. *Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission*, 275)

He was of the view that only religion can bring equality in the society. For man and society dhamma is conducive. Dr. Ambedkar emphasized on dhamma as it was the righteous way. Dr. Ambedkar wrote a book "*Buddha and His Dhamma"* in which he described extensively all the elements of Buddhism. He found Buddhism truly democratic, moral and egalitarian. He came to conclusion that to get rid of social discrimination and class conflict Buddhism was the best way to follow. We have to imbibe it and bring about some difference in our life. We move away from the world of sorrow and come into the world of happiness. We have found this right path now. We now have to walk along this path. Tathagat was a believer in the Madhyama Marga, the middle path, which is neither the path of pleasure nor the path of self-mortification. (Ambedkar. Buddha and His Dhamma, 114) Buddhism is not just becoming Buddhist but to follow the message of Buddha in life

Works Cited :

Ambedkar, Dr. BR. The Buddha And His Dhamma. Samyak Prakashan 2016.
Verma , Dr. S. R. History, SBPD Prakashan 2014-15.
Keer, Dhananjay Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission. Popular Prakashan 1971.
Rajkumar, Ambedkar and Society. Commonwealth Publication 2011

Value-Based Education

Prafulla Kumar Meher

In modern times, education has become money-oriented. A child's formal education begins in school and continues through university or professional training. In addition to government educational institutions, the Indian education system has a large number of government-aided and private institutions. The main focus of parents, teachers and authorities is the annual result. Everyone expects students should get good grades to acquirea successful career. Only a few institutions are interested in educating moral values to their incumbents. Hence,life of the children has been more complicated and crucial. The system as well as the quality of education has come down. Value-based education is the only thing that can guide a person the right direction in their life. This is the perfect way to protect a nation's culture, and its identity.

Value based Education is essential for each and everyone. With this, one gets perfection in every sphere of his life. Holistic approach to education plays very important role to run the society in its real fervour. In addition to enhancing one's talents and intelligence, education broadens its meaningful presence in social life. Value-based education teaches men how to lead a disciplined life. True education shapes a student'slife as humane, kind, truthful, disciplined, determined. Education should not be acquired solely as a means of surviving; but to become a perfect human. Earning is essential for survival but the aim of education is to nurture the character building. According to Sri Sathya Sai Baba, "education and educare are two wings of a bird which is essential to soar high in the sky. Education makes us great, educare makes us good. Education gives us intellect, Educare awakes one's intuition, Education teaches Svara and Tala but educare brings out Bhava". So secular education and value-based education both are required to balance the life.

Review literature:

Dr.Ajay Bharadwaj(2016) explained that education provides us with the knowledge of unconditional love and a system of values, which is the greatest gift we can receive. Every chapter of our curriculum should include value-based education.

Achyut Krishna Borah (2014) stated that education consists of three components: physical, mental, and character building, with character being the most important component. A pure mind and a pure heart are the keys to finding the solution.

According to Dilip Roy (1967/70),explained that the educational system is the stem. Branches are various activities carried out by various organizations. Finally, those actions result in leaves, flowers, and fruits. Education system can't survive without a solid value foundation.

Reyaz Ahmad Bhat (2018) explained that the current educational system places a greater focus on scientific and information-based education than on value-based education. Education and value are closely linked; in fact, they are two sides of the same coin.

According to S.Srinivasan (May 2013)stated that **v**alues contribute to the long-term survival of a civilization and its culture. The Ramayana, would be useful for the studies of value

education. Stories, on the other hand, should be told not only for pleasure but also for moral purposes.

Aim and objective of study:

In this paper, the aim of education is to pursue effective learning, how in modern time rapid commercialized I will discuss education is taking place, and also the ancient, medieval, andmodern Education. It also defines the importance of modern Gurukula systemas well asthe role played by parents, teachers and institutions to encourage value-based education in their own lives.

Research methodology:

The research study is descriptive in nature and secondary data has been used for the purpose of this study. The secondary data has been collected from various sources such as books, journals,researchers, web sources etc.

Meaning of value:

In 1880, the German philosopher Friedrich Nietzsche coined the term "values."The word "value" comes from the Latin word "Valerie," which means "strong."'Value' signifies 'Worth,' according to the Oxford dictionary. 'Satyam (truth)Shivam (goodness) and Sundaram (beauty)'is the traditional philosophical idea of value of India.

Etymological meaning of education:

Education is derived from the Latin word "Educare," which means "to nourish," "to raise," and "to bring up." This indicates that educating a child involves nourishing the child with certain goals in mind. Another Latin word is 'educere,' which means "to lead out" or "to express."This indicates that educating a child entails bringing out what is already embedded in him or guiding him from darkness to light. Some educationists explain the word 'Educatum' in a different way, claiming that "E" stands for "out of" (intuition), while "Duco" stands for "lead out" (pull out). It is "learning" via awakening the inner strength of the child.

Views of Indian and Western thinkers about education:

According to Sri Adi Shankaracharya ‘Education as the realization of self’. According to Swami Vivekananda “Education is the manifestation of divine perfection already in man”. According to Mahatma Gandhi “By education, I mean an all-round drawing out of the best in child andman-body, mind and spirit”. According to Aristotle “Education is the creation of a sound mind in a sound body, it develops man’s faculty especially his mind so that he may be able to enjoy the contemplation of supreme truth, goodness, and beauty of which perfect happiness essentials consists”. According to Comenius “All who are born as human beings need education because they are destined to be real men, not wild beasts, dull animals, and clumps of wood”.

Formal and informal education:

Formal education means when a child learns basic academic knowledge formallyfrom school, goes to college, universities, and professional courses for higher studies. After completing the courses,he or she gets a degree and does a job to earn a living.

Informal education relates to when parents teach their children at home. A child is a keen observer in the family, learning everything from his or her parents and, as the child grows older, from his or her neighbours, society, and country. Education is a lifelong process from birth to death. A human learns from one's own experiences to be a good human being, which is required to be a good ideal person. Formal and informalsystems of education are the two sides of a coin.

Education in Ancient India:

Ancient education was considered a source of information, customs, and practices that guided and motivated humanity. In Ancient times education was under Guru-Shishya Parampara. At the period, the highest value-oriented education and holistic methods were an integral part of life, with both the inner and outer self-being cared for. Between the teacher and the student, there was a close bond. The core principle of education was available to everyone. The education begun Early in Brahmacharya.Ashram The Shishya lived a life similar to that of Brahmachari. They used to serve the Guru. The Guru treated his pupil as his son. Education was formed by the live relationship between the student and the teacher. Students used to do teacher's daily work, such as collecting wood for Agnihotra(a symbolic sacrifice), managing the house, and tending animals was liberal education and daily rounds of begging for support to his school, to destroy self-ego.

Sravana, Manana, and Nididhyasana(listening, contemplating and practicing) were the three important steps of Education in Ancient times. A pupil listned to the teachers' words, contemplating and practicingstrictly to attain the realization of truth. It was much more important to have practical knowledge than scholarly knowledge. In ancient education, music was also given one of the subjects of learning. Samais one of the four Vedas; that is based on musical tones. Naradiya and Yagyavalkya Shikshas are written to teach the science of intonation and tonal values of Sama music. Sama is sung; and that is why it is called Sama Gana.

Educational institutions in ancient times:

There were a few ancient educational universities in India i.e .Takshasila, Nalanda, Valabhi, Vikramshila, Odantapuri, Jagaddala,SharadaPeeth, etc.; which focused on overall development of the students .In Takshashila, students Studie the Vedas and in addition to it law school, medical school, and school of military science.Training was given to them in Eighteen Arts including skills like archery, hunting, and elephant lore .Buddhism has been the roots of Nalanda's philosophy which emerged as acenter of higher learning .Students were taught Buddhist education as well as fine arts, medicine, mathematics, astronomy, politics, and other subjects .Morality and Integrity also became essential for total personality which was being focused on by the authority of the universities .If these are not useful in daily life, then the subjects learned are meaningless .

The ancient education system had the benefit of being more disciplined and well-planned. The students had a higher level of concentration .Regardless of caste, creed, religion, or culture, all pupils were treated equally .They had strong morals and personalities .Gurus were highly respected by the pupils .Simple living and highthinking were the core value .Guru looked after the shishyaas their son. The recitation of Vedas was a part and parcel of their life including all subjects.

Medieval education:

In the medieval period, the Islamic system of education replaced the Vedic system of education .Ancient Buddhist, Hindu temples, schools, and other educational centers were demolished and mosques and madrasas were built .They imparted primary education in maktabs and higher education was imparted in the madrasas .There was gradual destruction of the Indian values system by the Islamic system.Despite this catastrophe, India continued to rise because of its rich culture . In this period classical music was flourished, the original concept of Guru Shishya Paramparacontinued .As everything changedgradually, the Hindustani teaching method of music became a part and parcel of some specific families .Therefore,the Gharana system took place;which was mainly confined tothe family.

Modern education:

The importance of the institutional education system has increased in the modern period. Regular study is available in many institutions, while both regular and distance learning are also available in many others. There is a limited time to learn and to interact with the teachers, lecturers, and professors. The institutions, teachers, and students focus on the syllabus. The primary goal of today's educational system is to complete the curriculum in a timely manner. Students always focus on completing a specific syllabus, earning a degree, receiving a certificate, and looking for a job.

Educational institutions in the modern period:

Many schools, colleges, and universities developed over time; eventually forming an institutional education system. In 1835, Lord Macaulay introduced westernized education to India for the first time. Only English, science, and mathematics, as well as metaphysics and philosophy, were included in the curriculum. The classroom had been the only place where teaching took place. The relationship with nature had come to an end. The teacher-student connection was purely mechanical. Bengal, Madras and Bombay Boards were older.Rajputana's Board of High School and Intermediate Education was established in 1929. The board's constitution was altered in 1952, and it was renamed the Central Board of Secondary Education (CBSE).

Hindustani music has also continued in the modern period through the Gharana system, which includes general education, but it is not rigorously followed due to open learning. In 1871, Kshetra Mohan Goswami founded the first Sangit Vidyalaya in North India, followed by Raja Shaurindra Mohan Tagore asBangalSangeetVidyalaya inKolkata, Bengal. The teaching of classical music had begun to some extent in various places by the end of the nineteenth

century.But Pt. VD Paluskar and Pt.VN Bhatkhande worked relentlessly to establish separate classical music education as well as to include music education in institutions. Thus, music as a subject got a place in schools, colleges, and universities.

The availability of books and sufficient internet materials is a benefit of modern education . Students receive world knowledge, including subject knowledge, through web sources in modern education .There are numerous online classes available to assist students in better understanding . Technology allows students and teachers to be more efficient .Students are given the opportunity to think in a broader manner.

There is less interaction between the teachers and the students. Students and teachers do not have a natural relationship like that of ancient education. The students don't give much respect to the teachers as compared to ancient education. In the institutions, there is a time constraint. Education has taken on a business-like quantity. Because value-based education is weak, students are easilydistracted. They have an extremely aggressive nature. Students also misuse the equipment that is available to them.

In today's time, following the ancient Gurukul system is impossible. Modern education doesnot help the students completely. As a result, we need a hybrid educational model in which students live in a hostel and study modern education including integral education. That is called the modern Gurukula system.

Modern Gurukul system

In the modern Gurukula system, students gain both secular and spiritual knowledge. There are many spiritual institutions that followthegurukul system. To name a few:The Buddhist Renaissance under His Highness Dalai Lama, Jain Education Movement, Sri Ramkrishna Mission, Chinmaya Educational Movement, Sri Sathya Sai Institute of Higher Learning, Amritanandamayi Education Movement. In these institutions, students stay in the hostel, study both worldly and spiritual education in a disciplined manner. These institutions have been playing a great role in the wholesome development of the students.

In modern Gurukula,the role of the system, teachers, and students is very important. The system integrates value education and designs a curriculum for students based on the expectations of the institution's founder. Due to their busy schedules, students do not have time to reflect on negative thoughts. From morning to night, students enjoy all of the planned activities. The students love the change of work which helps them to relax. Discipline is the only way to achieve human transformation. A teachertakescare of the students in the right way. The students adhere to all rulesand regulations in order to turn themselves into good human beings and at the same time very good in studies.

At this pointnot only do institutions have a responsibility to reformthe students, but also parents, teachers, and students.

Role of parents and teachers:

'As is the seed, so is the tree'. The mother is the first teacher. In ancient times mothers taught values of life to their children and made them aware of social justice. Aryaambawas an

example who played a significant role in the journey of AdiShankara's life. Swami Vivekananda who was a renowned figure followed his mother Bhubaneswari's advice. Putulibai had taught his son Mahatma Gandhi the values of truth and right conduct. Nanci Hanks Lincoln, instilled in her son Abraham Lincoln the importance of maintaining his dignity in all circumstances. Ishwar Chandra Vidyasagar was instructed by Bhagawati Devi, his mother, to set an example to other men and live an ideal life. Sri Sathya Sai Baba was the son of mother Eshwaramma who fulfilled his mother's wish and built hospitals for free treatment, schools, and universities for free education, and provided free drinking water for the masses.

If parents want their children to succeed, they must first change themselves. They should show respect for elders and behave accordingly in the presence of children. Parents should teach values to their children at a young age, such as how to behave with others, respect elders and teachers, help parents, serve society, and have a love for the country. They also teach that universal truth exists in all religions and love is the universal truth of all religions.

School is the second home of children, where they come and learn formal and value-based education. It is not only the responsibility of parents, but teachers too are responsible to make children ideal citizens. Teachers are role models for the students. They make the students' future. The children come from different backgrounds and environments. Some children are highly intelligent, some average, and some below average. Children are like soft clay. It is the duty of a teacher to give shape to the clay and mould the students. Teachers face many challenges during class but they should keep patience. They should also control their anger. That is why it is important for teachers to learn values and practice them in their life. According to William Arthur Ward, "The mediocre teacher tells,the good teacher explains, the superior teacher demonstrates andthe great teacher inspires".

Sources of values:

In institutions, the teachers should teach values to the children in the following manner:

1. The Direct approach :To inculcate values in students through specific methods which can help them to become more disciplined in their daily lives; such as morning prayer, silent sitting, night prayer, group singing, storytelling, etc.

2. The Indirect approach :To teach values through self-reliance, helping, serving, cooperation, cleanliness, etc.

3. The integrated approach :Values should be taught in the regular curriculum, for example, in the subject of biology, teachers can teach values through trees, highlighting that trees provide us with oxygen, fruits, and shade, but what does a man do? In the subject of physics," action has an equal and opposite reaction, which means "as you sow, so you reap ."This way we can teach values to the students.

Conclusion:

Institutional education in the present time is profit-driven, with a give-and-take policy approach. The majority of students are diverted from their intended path. All unpleasant emotions such as hate, anger, frustration, and jealousy are ingrained in their minds. They are

losing their self-confidence,trust, concentration and are not able to balance their professional and personal life due to a lack of values.

The values of a person begin with what he or she sees andlistens which has an impact on their thought process. Such thought process has an impact on their words and through words their work. So, one must-see, hear and think good. Indian scriptures say 'Trikaranasudhhi' (unity and purity of thoughts, words, deeds) purifiesthe mind, improves concentration power, and leads us towards the divine. It is the real value in the true sense. Sri Sathya Sai Baba says, "The thoughts, words, and deeds of man should always be sacred. The heart unpolluted by desire and anger, the tongue untainted by untruth and the body unblemished by the acts of violence - these are the true human values".

It is difficult to teach value to a young person's mind. We need to find a way to instil values in their mind through continuous practice as the saying goes, "When there is a will, there is a way". It is our collective duty and responsibility toteach values to the next generation. From an early age, parents should teach values to their children. Values should be taught to the students in institutions by teachers. Values should be integrated into the curriculum and students should be encouraged to practice them. If it is so, then the overall development of the students will take place and they will be good citizens of the country; many social issues will be avoided and the country will progress.

References:

1. Mookerji, RadhaKumud, Ancient Indian Education, MotilalBanarasidass, Varanasi, 1989.
2. Bhatia, K.K,Principles of Education, Kalyani Publishers, Bharatia Towers, Badambadi, Cuttack, Orissa, 1989.
3. Burrows, Loraine, Sathya Sai Education in Human Values, Sri Sathya Sai Publication Trust, PrasanthiNilayam, 2006.
4. Kapani, Madhu, Education in Human Values, Sterling publishers, Pvt .Ltd., 2000 .
5. Seshadri,Dr .Hiramalini&Harihar,Dr.Sheshsadri, Educare)for parents, teachers, and students(, 2004.
6. Singh, Ranvir,Fundamental of Sri Sathya Sai Educare, Sri Sathya Sai Books and Publications Trust, PrasanthiNilayam, 2006.
7. Bhardwaj Dr.Ajay)June 2016" -(Importance of Education in Human Life :a Holistic Approach" International Journal of Science and Consciousness .ISSN :2455-2038
8. Chakaravarti, Prof .Indrani, SvarAurRagonKeVikasmeinVadyonKaYogadan, Chaukhamba Publishers, Varanasi, 2000.
9. Singh, Dr .Thakur Jaidev, Indian Music, Sangeet Research Academy, Calcutta, 1995.
10. Singh, Dr .Thakur Jaidev, BharatiyaSangeetKaItihas, VishwavidyalayaPrakashan, Varanasi, 2010.
11. Borah, Achyut Krishna, A comparative study on Need for Value-Based Education an Opinion Survey among School Teachers Achyut Krishna Borah, ISSN :2349-6959,2014.
12. Roy, Dilip, Alumnus – Presidency College Alumni Association, Calcutta, 1967/70.
13. Bhat, ReyazAhmad, Value-based education :a need of present society .International Journalof Advanced Research .843-ISSN :2320-5407, 2018.
14. S .Srinivasan,Value Education Concepts as reflected in Sri Sundara Kanda of Srimad Valmiki Ramayana .Research paper : ISSN No 2277 –8179, 2013.
15. M.Mangesh, Ghonge, Bag, Rohit, & Singh Aniket, Indian Education-- Ancient,MedievalandModern, https//:www.researchgate.net/publication, 2020.

Going Beyond The Language Dilemma: A Study of Poile Sengupta's *Keats Was A Tuber*

Dr. Satya Prakash Prasad
Dr. Shiv Kumar

Poile Sengupta's plays are deeply entrenched in the Indian soil and respond to social and historical imperatives of the time. Rather than dealing with some metaphysical reality her plays are deeply rooted in the socio-political condition of India and talk about the problems which are ingrained into the literary as well as a social reality. Her first play, Mangalam, published in 1993, deals with the language problem in the Indian context. She infuses the emotions of natives into English syntax to convey the "idea of Tamil being spoken" as Sengupta asserts, intertwining it with the larger issue of women's place in a rural and urban patriarchal society (qtd. Deshpande 12). This reminds us of Raja Rao's merging of native expression into English syntax in Kanthapura and the way he translates the spoken words into the English language.

Sengupta's second play, *Inner Laws*, published in 1994, is a comedy. She uses an all-women cast and talks about the issues related to the domestic condition of women and mutual antagonism between mothers-in-law and daughters-in-law. *Alipha*, published in 2001, talks about self-enhancement and empowerment through language learning and provides a feminist perspective about the larger society. *Thus Spoke Shoorpanakha, So Said Shakuni*, published in 2001, is set in an airport. It talks about the mythical revenge which still dominates the contemporary world and is reflected in the threat of terrorist attacks. *Samara's Song,* published in 2007, explore the world of politics and governance in a democratic nation and deals with power politics. It shows how people, to acquire power, manipulate the power through language strategies.

The play, *Keats Was A Tuber* (1996), is set in a small English Department room in a remote town. It captures the historical progress and development of the English language in India and the dilemmas related to it. It responds to the social and historical changes of the English language in India and creates a trajectory of linguistic debates from colonization to the contemporary situation. It echoes the concern for bilingualism and the desire to learn the English language for socio-economic prosperity and global recognition to participate at the global level. It is also a satire on the bureaucratic attitude of college lecturers or academicians who, rather than fulfilling the visions of various education commissions' recommendations, work to create followers of Macaulay's recommendations.

Through the use of monologues, the playwright directly participates in the linguistic debate and explains it according to modern conditions. In the monologue, the woman narrator takes up the ongoing language issue, which is dramatized in the play and expresses her subjective understanding of the English language and its progress. By being a speaker of the English language, the woman of the monologue finds herself at the fringes of society. It is believed that the internalization of the English language causes great psychological ruptures "alienating one from one's roots and reality", as Shashi Deshpande puts it (12). This exclusion from the cultural and social milieu forces the playwright to formulate a critical consciousness to evaluate the socio-cultural condition of the English language in India and vis-à-vis creates her own space by directly engaging in the critical debate. The opening monologue expresses the speaker's subjective experiences and lays bare the dilemma of her soul, the narrator says, "English is not my language. It is not the language that my grandparents and parents speak at

home" (145). This assertion places the English language outside the socio-cultural milieu of India. It is only an acquired language, not a part of any Indian myth or culture. This point she confirms when she claims, "in fact, I do not think I knew anything of English before I went to school" (145). This statement connects the monologue and the speaker directly to the central motif of the play i.e. teaching the English language in India. She also points out the mentality of her parents and the earlier age, even contemporary, when they send her to "a school run by Franciscan nuns" to learn English at an early age. After spending some years the narrator becomes a stereotypical representative of the workability of Macaulay's ideas. Later she asserts that "English is now the language of my thoughts, it is the language of my reason, the language I use for loving" (145). This statement refers to the present condition of the narrator who has learned the language and now it has become a part of her reasoning, imaginative faculty, and a medium of expression. This is the only language that predominantly occupies her mind, which has broadened her understanding and perception of the world. It has given her a new insight into every aspect of life.

The second monologue begins in the middle of second act scene 2 where she talks about the syncretic nature of Indian culture which has assimilated the cultures of Moguls, Pathans, etc., who also dominated India for their benefits. But they left their footprints in visible and invisible forms. The rich taste of their culture is reflected in the Indian language as they become a part of Indian cultural history and tradition rather than annihilating the native culture. But English people, rather than becoming part of the exuberant and syncretic culture of India, tried to erase the existence of vernacular language by imposing their alien language on the natives. This attempt places them outside the cultural milieu of India and consequently, they are perceived as an incompatible and unwanted elite culture. This is reflected in the character of the woman narrator as the geographical and social incompatibility between both the cultures splits her identity, as she says, "why is it that the English legacy divides my being so unbearably?" (169).

The woman narrator specifically positions the bilingual generation within this critical debate, like herself, and attempts to justify their place in the contemporary Indian situation. Through dramatic representation, she justifies her stance and connects it with the gradually changing global scenario. This dramatic technique seems to be the only available method through which she could make her space in the cultural atmosphere of India as she asks, "have we been enchanted so as to wonder forever homeless?" (145). This rhetorical question reflects the post-colonial self-ostracism from the society as the Indian society culturally does not acknowledge the identity of English users. This question also brings forward the post-colonial dilemma of writers writing in English than in the vernacular native language. She dramatizes this entire debate and tries to justify the contemporary values of English by depicting its pros and cons through this play.

Although for many, this alien language signifies economic and social enhancement it is also a fundamental factor that creates fissures in the society, internally divides the entire nation into two broad sections, i.e., English speakers and native speakers. This tension is portrayed in the play indirectly. When the play begins someone removes the nameplate of the English Department from its wall dashing it on the ground. Although the narrator never tells the audience who removes it the action itself speaks loudly and makes the intention overtly explicit as the stage direction suggests, "it has obviously fallen down or been knocked down from outside the

door" (146). The paucity of economic and social opportunities through vernacular languages forces the natives to learn this alien language which also reflects the growing disintegration of the native language in India. The adverse effect, of the centralization of the English language on the other language department, is reflected in their treatment of the English department's nameplate. Here the normative process is disturbed through this kind of treatment as this incident bears a connotative symbolic meaning, as Mr. Iyer says, "somebody seems to have knocked it down deliberately. One of the nails is bent" (149). To which Mrs. Nathan, HOD of English Dept. adds further and talks about the past incidents when "First they spray ink on it, they draw obscene pictures, now" (149).

In this scene, we have Macaulay's true disciple Mr. Iyer, who says, "perhaps we should not admit defeat that easily" (149). He represents pseudo-Indianness; he never takes the pain to educate the voiceless creature Ramanan, the peon, or help Sarala, who asks his help in explaining some parts of the texts. She requests him if "sometimes, some passages that [he] can explain…with your experience and knowledge" (147). But rather than extending a helping hand, he "shrugs", as the stage direction suggests, which reflects his unhelpful attitude as he reminds her that she is getting late for the class. His literary and romantically imaginative world, a world related to the historical past intrinsically away from the mundane world, makes him incapable of participating in the socio-political reality of contemporary India. His romantic escape from the real world does not let him understand the deep hidden concern or love of Sarala, who finally hopelessly vanishes in a tragedy. This uneven relationship also portrays the dilemma of the woman narrator who was also unable to formulate a meaningful bond with native culture.

The second Act begins with the third monologue which reflects on the historical process and the manipulating strategies deployed by the representatives of the British Empire to permanently enslave the minds of natives. The outcome and the psychological effect of the British linguistic policies are presented in the case of Damini and Mr. Iyer, in their conversation on Jane Austen's *Pride and Prejudice*. Language acquisition divides them internally and detaches them from their historical and contemporary situation and aligns them with the foreign culture. Damini beautifully articulates these feelings at the end of act 1 scene 2 when she says, "sometimes I feel so divided in myself. As if I was two people. I read Jane Austen and Wordsworth and everything they say is like a jewel. And then my family talks to me and they seem to be using words that don't have any meaning anymore" (180). This intense expressive emotion also corresponds to the emotions of the woman of the third monologue, when she writes, "thus I was formed, wearing Macaulay motley, my skin brown, my mind English pale" (182). This refers to a process of forming a being away from his/her socio-political reality who inherits and follows an alien culture.

Later, Mr. Iyer associates himself with Damini's feelings and expresses his own decision when he faced the dilemma of choosing between Indian and English identity. He says "I made a choice, a difficult one… I chose my books and spurned the family" (180). As a result of mental domination, he does not connect himself with the motherland and questions his innate native identity as it does not conform to the assimilated effects of an alien culture. This emotion is beautifully expressed in Damini's heart-rendering question, when she cries, "oh sir!...why…why were we born in India?" (180). This kind of assimilation results in mental blockage and this episode renders exposed the workability of colonial ideology in English education in India. Here

he, rather than creating conditions to oppose the enslaving powers, simply conforms to it and does not take any proactive measure against the ideological domination of English. He affiliates with it and propagates the same ideology in promoting its influence on the students' minds. By spurning his family he represents the effects of the internalization of the Western idea of individualism. This same idea is seen in the character of Damini, who also does not prefer to stay with her family and does not give importance to family and social matters. This is reflected in her decision to marry Raghu at the end of the play without even consulting her parents. It seems that she sees this marriage as an escape from traditional bonds which bind the individual to a larger society which is represented by a family.

A contrast is set between Damini, who unquestionably internalizes the cultural values of the English culture, and the culturally rooted Sarala. On the other hand, we have Sarala who is also a lecturer in the same college. She is depicted as a person who has spent a long period of time learning this language but is still unable to express her emotions fluently and spontaneously like Dr. Dennis, Raghu, and Mr. Iyer do. In the conversation between Damini and Mr. Iyer, we find traces of Sarla's inability to assimilate the cultural nuances of the English language which is reflected in her teaching method. Damini complains about Sarala's inability in appreciating Wordsworth as she turns the beautiful poem into some incomprehensible core material of the study, as she says, "it sounds so beautiful when you say it like that, sir. But when madam… when we did it in core English class last year, I hated the poem" (163). In Act-2 scene-1 Sarala accepts her inability to innately assimilate the alien language after the poetic competition cum conversation between Raghu and Mr. Iyer. She says, "I only remember poetry quotation in my language, not in English. So many years I have learnt English literature and now, even though I teach also, I still can't remember" (195).

The fourth monologue, which begins after Sarala's confession, echoes her feelings. She is presented as naturally incapable of expressing herself in English but still remembers lines or extracts of poetry in her mother tongue. The woman narrator claims that native linguistic expression does not follow a systematic semantic ordered process but English does follow it and the reconciliation between both the opposite factors seems to be impossible. She accepts that "when I needed more urgent endearments when I looked for words as pulsating as passion itself, I found Macaulay had done me wrong. My English upbringing could not cope with my Indian experience" (195).

On the other hand, we have a contemporary figure Raghu, who is away from any kind of dilemma and believes in activity theory rather than participating in historical debates over the English language and its effects. The stage direction describes him as a person going beyond the traditional debates and "seems to carry about him the conviction and the excitement that he has been born to change the world. He does not look upon other with scorn; nevertheless, he thinks himself superior" (153). The last phrase places him away from biased dichotomous categories and people like Mr. Iyer as he respects and treats equally the socially and economically poor people. This is presented in his attitude towards Ramanan the peon. When he joins the department, apart from shaking hands with Dr. Dennis and Mr. Iyer, he shakes hands with Ramanan and does not command or treat him as a subservient as other people in the department do.

The playwright seems to believe that the egalitarian and experimental attitude of the contemporary generation has moved beyond the binary oppositions which create fissures in the society in terms of language differentiation. This new generation believes in the enlightening ability of the language and tries to infuse the passion with an idea of progressiveness and empowerment in society. This characteristic feature is reflected in Raghu's attitude towards Ramanan. He teaches the English language to this speechless representative of the native tongue and makes him capable to communicate to the entire world. This compact seems to be a possible alternative on which the playwright seems to rely and sees it as a possible solution for the bilingual speakers in India.

Raghu does not prefer to be an English clone and tries to resuscitate the ailing educational system in the country by actively working and implementing the recommendations proposed by various education commissions of India. He believes in practical learning rather than mimetically memorizing for the purpose of exams. He prefers to teach creatively by broadening the horizons of the student's thinking process, which was recommended by The Secondary Education Commission of India formed in 1952-53. This committee emphasized a shift from verbalism and memorization to learning through a creative process and gave preference to the pedagogical relationship between a teacher and students. It recommends;

"Any method, good or bad, links up the teacher and his pupil into an organic relationship with constant mutual interaction… Every teacher and educationist knows that even the best curriculum and the most perfect syllabus remain dead unless quickened into life by the right methods of teaching and the right kind of teacher" (quote. Krishnaswamy & Sriraman 36).

These same principles he deploys in teaching a class and asserts to Mrs. Nathan, "I am expanding [students] minds, helping them to grow, that's what teaching is about. Real teaching. Not the cramming and vomiting out" (168). This shows his progressive spirit which he tries to infuse into the students' spirit as well, away from the traditional way of teaching and learning. He encourages and awakens the inquisitive spirit of students so they could see beyond the limited scope of the college syllabus.

The effects of the experimental teaching methodology of Raghu are portrayed indirectly in the episode when Sarala complains. In Act-2 scene-1, Sarala complains to Mrs. Nathan that "the first year B.A's, nowadays they ask me so many questions my head round and round" (183). To this complaint Mrs. Nathan replies, "(exasperated) it's because of Raghu. I knew it. This is all Raghu's work" (183). Later she asks him, "what sort of ideas are you putting in their heads?" (183). To this question, he replies, "telling them to think. Telling them to use their heads", which is the first step in the teaching and learning process. This is a process of enhancing knowledge and broadening understanding rather than making them passive consumers who vomit the memorized stuff on the exam sheets.

He also satirizes the conventional and orthodox college syllabus where he has to teach, "Charles Lamb's essay, 'A Dissertation Upon Roast-Pig" (168). He protests against the outdated syllabus of the university which seems to be insufficiently conceived according to the modern requirements. He even extends a helping hand to Mrs. Nathan by proposing to 'draft a letter' to request the University to modify the syllabus but she seems reluctant to accept the offer.

Rather than believing in excluding policy Raghu practices a mutually inclusive approach to teach characters like Ramanan. He tries to bring out the potential of natives explicitly to the surface by upgrading his knowledge to break away from the cultural stereotypes. He works on larger scale inclusion which is a prerequisite for social and national integration. The effect of this practice is portrayed in the character of Ramanan the peon. The passive peon is a typical symbol of the non-existence of natives in the world of the English speakers, who "cannot speak, but can hear perfectly well" (149). His speechlessness signifies that non-English speakers do not have any say in this acquired civilized world. His external description, "He wears a khaki uniform, large, baggy shorts, and an ill-fitting jacket and has a large untidy smear of holy ash across his forehead", refers to a typical subservient man who upholds his cultural identity in terms of his external appearance (149). He is shown as a firmly entrenched persona in Indian soil whose external factors signify his strong belief in his monolingual Indian identity. But later his complicity with Raghu changes his obsolete and restricted way of perceiving his position within the larger world.

Raghu enfranchises the powerless Ramanan with the power of language to create a mutual bond with the larger society by making him a part of a larger world. The stage direction signifies these changes which are presented through the change of external appearance of Ramanan. The first physical appearance is contrasted with his later transformation where all kinds of cultural and traditional identification marks vanish and he appears in a liberal get-up. The stage direction indicates, when he enters into the staff room on the day of Raghu's farewell occasion, "he has changed out of his usual uniform and worn a white khadi kurta pyjama. He looks pleased with the effects" (202). A gradual makeover where the native comes to terms with the global scenario whose effects are reflected on his positive and confident appearance.

The transforming effect of the English language is also presented in his confidence to communicate with the department which he does by carrying a slate to write down everything in English. Even what he writes on his slate, during Raghu's farewell function, symbolically delineates the situation of the staff room and micro-cosmically raises the fundamental question which he seems to ask. Mr. Iyer reads the phrase on his slate and says, "what is it? Oh I see. Be Indian, Wear Indian. That's very good. But wait. There is a small spelling mistake. It's not W.h.e.r.e but wear" (202). This speechless expression could be seen in two ways. On the one hand, the actual inscription of the slate refers to Raghu as he is the only Indian in the English department who has understood the needs of the nation and is eagerly working to place the nation on the global map and who is not available or to whom he has been looking for. Secondly, it is the rhetorical question that this enlightened mind asks to these self-acclaimed intellectuals, wearing the garb of enlightened souls but maintaining the elite hierarchy rather than working for the nation.

Various critics have pointed out the effects of Westernization which consequently destroy the concept of family or collectivism. On the contrary, Raghu tries to revive the same bond by bringing the isolated figure into the larger framework and making him a part of it for an all-around development where "the wordless person becomes the strongest symbol" of progress (Deshpande 14).

The play ends with the last monologue which moves beyond earlier reflections and emphasizes a dynamic solution to the linguistic problems. It transcends the concept of absolute truth and centralization of power and emphasizes diversity than homogeneity. The woman narrator rejects the orthodox approaches in interpreting the effects of language acquisition as these concepts do not hold any validity in contemporary situations. In the contemporary global scenario, the culturally constituted concept of static identity is not considered as monolithic but rather fluid, as she says, "across land and water, over hills and desert, language is a traveling. It can never arrive" (214). Here the narrator goes beyond the linguistic dilemma and asserts that language is an evolving factor and with it, identity also evolves in a very dynamic fashion. For her, identity is an evolving phenomenon and one has to conform to the necessity of time and situation to keep pace with the changing world.

Works Cited

Deshpande, Shashi. "Introduction". *Women Centre Stage: The Dramatist and the Play*. New Delhi, Routledge. 2010, 9-15.

Kachru, Braj B. "Non-Native Literature in English as a Resource for Language Teaching". *Language and Literature Teaching*. Ed. C.J. Brumfil and R.A. Carter. Oxford, Oxford University Press. 1986, 140-149.

Krishnaswamy, N and T. Sriraman. "English Teaching in India: Past, Present and Future". *English Language Teaching in India: Issues and Innovations*. Ed. R. K. Agnihotri and A. L. Khanna. New Delhi, Sage Publication. 1995, 31-57.

Sengupta, Poile. "Keats Was A Tuber". *Women Centre Stage: The Dramatist and the Play*. New Delhi, Routledge. 2010, 142-214.

Negotiating Marginalities: Gender, Sexuality and Disability in *Margarita with a Straw*and *Barfi!*

Dr. Satya Prakash Prasad
Anisha Kaul
Abhishek Jha

The concept of disability has evolved over time with the development of various approaches. Traditionally societies across the globe have tried to comprehend disabilities through the frames of fate by associating it with sin, shame and even guilt. Generally disabled people have been at the receiving end of the socially discriminatory practices. These forces contribute to the systematic oppression of this marginal category and leads to the stigmatisation of their existence. The identities of individuals with disability are essentialised and compromised to the extent that they arelooked down upon as hapless and eventually get objectified evoking compassionate sentiments accentuating the constructed disabilities devoid of any agency.

Further, disability is perceived as an abnormality to the 'natural' order and positions the disabled body as the other to the able one. Renu argues that "[t]hroughout the ages the disabled have been looked down upon with disdain, almost as if they were sub-human" (1). The humane aspect is extracted from their identity and a degree of strangeness is ascribed to them. Apart from the lens of fate and the socially inflicted disability, the medical model perceives disability "as a defect or sickness which has to be cured through medical intervention" (Tarshi 18).

Arguably, the disabled are not considered Self enough and a certain *lack* physical and/or intellectual is cited for justification. The treatment of the *affected* body is sought as a remedial measure for *rectification*. Thus, through medical correction the *gap* between the disabled and the normative prototype is bridged. The hierarchal location further alienates the disabled Other from the sphere of familiarity and relegates towards the periphery. This positioning also initiates series of exploitations of the marginal disabled by the central abled self.

Hence, it is indispensable to differentiate the concept of disability from impairments for the two are at times are tentatively used interchangeably. Disability is a socially constructed outlook which is"external to the individual and is a result of environmental and social factors" (The DEMOS project).Whereas, an impairment refers to the conditions "affecting functions that are essentially mental (memory, consciousness) or sensory, internal organs (heart, kidney), the head, the trunk or the limbs" (Barbotte et al,1047).The construction and restrictions surrounding an impairment further it into a disability. Hence, an individual with a specific impairment is forced to undergo societal trials and tribulations once they are marked disabled from an ableiststandpoint.

The focus of discourses surrounding disability is directed towards equal educational, and employment rights along with financial independence for the disabled. However, around the discourse of the sexuality of persons with disability there has been a problematic silence "as sexuality and disability both bear the weight of stigma and discomfort" (Tarshi 8). There exists a taboo around the pleasure principle and sexual rights of disabled. Thus, coming together of the

two becomes twice unsettling to the dominant worldview. Sexual passivity or rather an asexual conformity is expected of the disabled and any deviation from this norm is looked down upon.Discussions regarding their sexual identity, orientation and intimacy remain unaddressed.

They internalise social stigma leading to apologetic behaviour for possessing awareness in related sexual issues. As a response to society'srigorous conditioning many (un)consciously impose restraints on their sexual identity. These self-inflictions limit potential experiences which the disabled individual might have ventured for.Further, it is assumed that due to their dependency on others (family, friends, care givers) disabled people are childlike with need to be protected from 'corrupt'sexual engagements.Dissociating them absolutely from the discourse of sexuality with minimum support against possible sexual abuse and violence.Hence, leaving them vulnerableand their sexual identities closeted.

Furthermore, disability has been widely represented in Bollywood's rich cinematography. Since its inception in the early 1900s, the cinematic craft has undergone a considerable transformation. From silent, black and white films to coloured motion pictures with sound, led to the emergence of the golden period of modern Indian cinematography through the 1940s to 1960s. Exceptional directors projected remarkable performances concerning various subject matters. Yet their thematic resonances are usually able-centric and impairment/ disability never surfaces as a significant issue.

The Hindi cinema has largely been afflicted with ableism of various kinds and shades. The experiences mirrored on-screen are exclusive in nature and reach out to a certain population. The narrative focuses on the able-bodied with sporadically featuring the disabled bodies. People with disabilities have faced manifold marginalisationand have had very less representation throughout the cinematic timeline.If any was staged it served as a mere caricature, a 'supporting' character to the 'main' theme or a brief moment of comic relief.Over time with negligible empowering representations, the disabled women internalise these standardised norms.

Thus, it is necessary to destabilise this discriminating hierarchy both within and outside the disabled space through a gendered analysis.The present paper aims to focus on the interplay of gender, sexuality and disability in the movies*Margarita with a Straw*and *Barfi!*to decentre the various centres of power. The interaction of these functions determines the degree of marginalisation, societal discrimination/ segregation and possible resistance/ reinforcement. The research proposes to investigate the ways in which the movies produce certain positive or negative images of disability leading toreinforcement or resistance of stereotypes. The paper explores the functioning of sexuality of disabled characters within heteronormative and queer context.Also, the relevance of this research is to highlight the effect of (mis)representations of disabilities and sexuality on the society.

As a popular mode of cultural production, Bollywood through "its narrative style, constructed spectacle, and embedded normative ideals" has more often than not engaged in perpetuating and reinforcing stereotypes and stigma about the disabled. These "embedded

normative ideals are inevitably heterosexual and incline towards the able-bodied, who fit within the parameters of what is considered desirable as per societal standards." (Sinha)

The film *Margarita with a Straw* (2014), directed by Shonali Bose indicates a positive transition in the ways that mainstream Bollywood engages with the questions of female sexuality and disability. In a marked departure from reiterating stigma related to and caricatural images of women's disability, it also exemplifies the ways in which the sexuality of disabled women is often overlooked and mis-represented in dominant modes of cultural production like cinema.

Bose engages in a non-normative representation of disability and sexuality through the central character of Laila, a young girl with cerebral palsy. It focuses on Laila's exploration of her sexuality through both heterosexual and queer encounters with Dhruv, Jared and Khanum across varying societal set-ups of New Delhi and New York City. Although it is argued that"in a culture that is largely silent about women's sexuality, the voices of women with disabilities with respect to their sexual desires are completely muted" (Tarshi 128); Laila resists such boundaries by actively pursuing the contours of her sexuality.

She breaks all stereotypes setup by the society surrounding sexuality of disabled people. She expresses her sexual urges often and frequently masturbates to online porn site. She also takes charge of her sexual desires and doesn't allow morality to act as an impediment in her sexual explorations. She defies being appropriated by stereotypical heteronormative categories of passivity, submissive nature and dependency; often attributed to people with disabilities.In the film, Laila's sexual encounter with Khanum and the subsequent relationships ends in a certain disillusionment as she engages in a one of her flings with Jared. Thus, the director Basu denies the heteronormative ideal of a happily ever after in case of Laila's various relations.

The film also deals with the highs and lows of parents and care-givers of people with disability, as they face challenges "of addressing sexuality related concerns of their young children with disabilities, which often bring home the reality of their children as sexual and reproductive beings. This can be hard to accept if families and societies have been denying this aspect of young people with disabilities" (Tashi 45-6). Laila shares a special relationship with her mother Shubhangini. Her mother is shown as a gentle yet bold character who is a constant support in all of Laila's pursuits until her death. InitiallyShubhangini faces a lot of difficulty in overthrowing the heteronormative conditioning which has been embedded in her.

Thus, a nuanced and sensitive portrayal enables a greater visibility to conversations around the concept of ability, disability and sexuality. The relevance of such projections regarding the sexuality of disabled women is aptly justified in that it helps create a rippling effect across the sensibility of the viewers.

Meanwhile, Anurag Basu's*Barfi!* (2012) recreates the life of a couple with disabilities and their interaction with non-disabled people. The movie highlights various kinds of struggles, of which the disabled characters Murphy 'Barfi' and Jhilmil become a site. The narrative introduces Murphy as an unfortunate child with speech and hearing disability raised by his widower father. While his dead mother had lovingly named him otherwise, owing to his

disability, he is unable to pronounce his name and just utters Barfi.This simple act of word play symbolises the construction of a parallel identity and an irreversible journey of becoming Barfi. The introductory song "Ala Barfi" closely traces this transition with everyone realising that the newly born is disabled, "Munna mutehi aansubahaye/ Munnajhunjhuna sun bhinapaye" ("Ala Barfi" 3:49-4:02).By and by all fail to remember Murphy, he is a thing of past and Burfi subsumes their collective psyche.

The shifting frame of narrative arrives at the adult mischievous Barfi falling in love with non-disabled Shruti. However, Shruti's mother cites his impairments as the reason for the match being unsuitable. She tactfully avoids his proposal for their daughter by telling her husband that he has come to collect donation money. Disheartened Barfi too realises his class difference and Ranjeet's "able" body as visible signs for him being Shruti's equal companion. In the backdrop of heavy rain and sombre music tear-eyed Barfi and Shruti part ways. Disability is often seen as a hinderance in relationships romantic or not. It leads to systematic exclusion of the disabled individuals, isolation and even depression.

The other disabled protagonist and chief character in the movie is Jhilmil Chatterjee, Barfi's childhood acquaintance and the daughter of his father's employer. Jhilmil's autism is a cause for her parents being ashamed and she is uncared for at her home. Her drunk mother had previously tried to kill her andher gambler fatheris only interested in Jhilmil's inheritance.

The disorderly home and equally problematic relations fail to understand her. She receives no nurturing and shares a distanced relation with her family members. No medical assistance is sought to diagnose the severity of her condition. Rather her maternal grandfather leaves her at the care home *Muskaan* where she receives the love (but not medical treatment). Autism is a condition faced by all genders yet it "is rarer in females than in males" (Rudy) with possibilities ofeven underdiagnosis and/or misdiagnosis. Lisa argues that "it seems likely that many girls with autism do not receive accurate diagnoses until much later than boys. Some are not diagnosed until adulthood despite having had autism symptoms since early childhood." (Rudy) Thus, left untouched the conditions of autistic individuals might even deteriorate with time giving way to other associated complexities.

The viewer first meets Jhilmil in the acute autistic disorder and unsettled condition. She is leaving the care house to return home. Ironically, each time she is extracted from this comfort space it creates only distress and anxiety forher. Later, Jhilmilis subjected to staged and real kidnapping cycles without considering the impact of these on her psyche. Barfi with speech and hearing impairment is her only solace. He kidnaps/ rescues her and together the couple ease Jhilmil's stress. The film closely underlines the struggles of autistic individuals in social situations such as their resistance to touch or hyper-active response to brightness, movement and sound etc. It further elaborates the use of compensatory strategies"also known as camouflaging strategies, to fit in" (Oswald) used more likely by women than autistic men.

The director engraves Jhilmil with a developmental character graph. Though she is unable to comprehend the profoundness of her relationship with Barfi, yet she notices and

reconstructs the social relation of a man and wife with him in the platonic sense. She mimics Shruti's dressing style and body language "mimicking someone's body language, is a strategy that has helped autistic women or girls" (Oswald). More females (un)intentionally camouflage their traits to conform to the social norm.

However, along with the disabled women, even disabled men have to align with dominant structures and discourses. This can be exemplified through the titular character Barfi. Until his father's death, Barfi is depicted as dependent on him for financial and emotional sustenance. The male head of the family takes charge while other members go about their daily routines. Significantly, with the decline of his father's health and his consequent tragic death, Barfi is locked in this site forever. Barfi's gradual character development is visible through his outward behavioural maturity and the subtle characteristics like sporting a beard which are added to his personality. He (un)knowingly conforms with the ideal masculine role and works to financially support himself and Jhilmil.Together they stage the perfect homely scenario.

Further, their relationalso epitomises the only way of existence which is known to Barfi. His experiences with heteronormativity have naturalised and conditioned his orientation prior to him even exploring much. While delineating Barfi's life history, no references are made to single men or homosexual men (disabled or non-disabled) living life comfortably. There are only normative archetypes abundantly provided to him to mime from and before he is even aware Barfi is constrained within the heteronormative world order. He had also previously tried to establish the same circumstance with Shruti, however the disparities between them are never resolved. With his second encounter with Jhilmil, as both of them belong to the same side of the margin and he simply replicates the cycle.

Moreover, Jhilmil'spresence in the narrative is not accidental and she has a progressive development within the movie as well. She has more agency in deciding to continue the relationship or not. Barfi is greatly dependent on her,he feels lost without her and even Shruti is unable tofill that void. Though the narrative focuses on various tangents, still Jhilmil emerges as the agent of change and hope while teaching young girls with special needs.

Conclusively, the sensitive and nuanced portrayal of issues concerning gender, sexuality and disabilityin movies like *Margaritawith a Straw*and *Barfi!*are encouraging signposts in an otherwise burgeoning series of stereotypical cinematic representation. Therefore, it is incumbent upon Indian filmmakers to further engage and create films problematising and dismantling ableism. The movies holistically employ a sensitive approach while dealing with the themes of disabilities. Both the directors highlight the concerns of disabled individuals without essentialising any of their characters. On the contrary, both Basu and Bose's depictions resist attempts of caricaturing by portraying the humane character

With the immense power wieldedby the medium of cinema, it is necessary to moderate the representations which are bombarding the minds of masses. Instances of mis-representations have the potential of undoing the positive effort done by others. Progressive, palpable changes

can make suitable and sustainable differences not only on the big screen but also in the society as well. Whereby all individuals enjoy equal life to right, opportunities and fair representation.

Works Cited

Addlakha, Renu. "Gender, Subjectivity and Sexual Identity: How Young People with Disabilities Conceptualise the Body, Sex and Marriage in Urban India." *Centre for Women's Development Studies*, No.46, 2007. https://www.cwds.ac.in/wp-content/uploads/2016/09/GenderSubjectivity.pdf.Accessed17 Mar. 2022.

"Ala Barfi! - Official Full Song – Barfi." *YouTube*, uploaded by Sony Music India, 23 Aug. 2012, https://www.youtube.com/watch?v=VBHjGRi4OqA.Accessed 27 Mar. 2022.

Barbotte, et al. "Prevalence of impairments, disabilities, handicaps and quality of life in the general population: a review of recent literature." *Bulletin of the World Health Organization* vol. 79, no.11,2001,World Health Organization.https://apps.who.int/iris/bitstream/handle/10665/268464/PMC2566690.pdf?sequence=1&isAllowed=y.Accessed 20 Mar. 2022.

"Barfi!" YouTube, uploaded by Movies Now, 21 June 2019, https://www.youtube.com/watch?v=TcDmarWK68c&t=6947s.Accessed 27 Mar. 2022.

"Margarita with a Straw."YouTube, uploaded by YouTube Movies, 2014, https://youtu.be/86LGFVlD0uA.Accessed 28 Mar. 2022.

Oswald, Dr Tasha. "Women with Autism: Autism Traits are Often Missed or Ignored in Women."*Open Doors Therapy*,16 Mar. 2020, https://opendoorstherapy.com/women-with-autism-autism-traits-missed-ignored-women/.Accessed 22 Mar. 2022.

Rudy, Lisa Jo. "Women With Autism: How Autistic Traits May Differ." *Very Well Health,* 7 Dec. 2021, https://www.verywellhealth.com/autism-in-women-5209272. Accessed 22 Mar. 2022.

Sinha, Priyam. "Margarita with a Straw: Female Sexuality, Same Sex Love, and Disability in India." *EPW Engage*, 8 April. 2020, https://www.epw.in/engage/article/margarita-straw-female-sexuality-same-sex-love-and.Accessed 15 Mar. 2022.

Tarshi. "Sexuality and Disability in the Indian Context." 2018,https://www.tarshi.net/downloads/Sexuality_and_Disability_in_the_Indian_Context.pdf.Accessed 23 Mar. 2022.

The DEMOS project. "Definitions." Feb.2003,https://jarmin.com/demos/course/awareness/091.html.Accessed 10 Mar. 2022.

The Oppression Faced By Female Characters In Ann Petry's Novel "The Street"

Shweta Mour,
Ashok Singh Rao

Ann Lane Petry was a renowned writer. She was born and brought up in Old Saybrook, Connecticut, on 12October, 1908. Ann was the youngest of three daughters born to Peter Clark Lane and Bertha James Lane.They were from the black middle class of a tiny town. Her father was a pharmacist who owned and operated a neighborhood drugstore.Her mother was a licensed chiropodist. Petry began writing short stories and plays while still in high school. She earned her bachelor's degree in pharmacy from Connecticut College. She worked as a journalist for two Harlem Newspapers as a sort of apprenticeship. Furthermore,she came up with the slogan of perfume advertisement, while she was in a high school.

In 1938, she married George D. Petry, a mystery writer from New York, and relocated to the city. After her marriage, her life took a turn for the better. In New York, she worked as a reporter for The Amsterdam News and The People's Voice, two Harlem newspapers. Marie of the Cabin Club, her debut short story, was published in 1939. Petry was awarded the Houghton Mifflin Literary Fellowship in 1945 for the opening chapters of her first novel, The Street.Petry was a role model for a new generation of black women writers, including Alice Walker, Toni Morrison, and Gloria Naylor, who had followed in the footsteps of Zora Neale Hurston. Petry's historical works for young readers include The Drugstore Cat (1949), Harriot Tubman: Conductor on the Underground Railroad (1955), Tituba of Salem Village (1964), and Legends of the Saints (1970)are among Ann Petry's historical books for young readers. Miss Muriel and Other Stories (1971), a collection of short stories, illustrates her extraordinary flexibility.

She also worked on a sociological study on the effects of segregation on ghetto children in addition to her writing career. She was a recreational specialist at a Harlem elementary school while also teaching a course at the National Association for the Advancement of Coloured People. Ann Petry's work was significantly impacted by her experiences as a reporter, social worker, and active community member in the inner city. After a brief illness, she died on April 28, 1997, near her home in Old Saybrook. Her characters were average, law abiding African-American from the working class. They were dedicated to hard work and aspired to be a middle-class aspirant who believed in the American Dream.

Ann Lane Petry's novel The Street was a masterpiece of African American Literature. Lutie Johnson, a young black mother, and her struggle to raise her son in Harlem was the subject of the film. Harlem was in the midst of a racial and economic crisis in the late 1940s. Ann Petry's novel was her debut.The Street (1946) was the first book written by a black woman to sell over a million copies.A newspaper article about an apartment home administrator teaching a young child how to collect letters from mailboxes inspired The Street.Petry claims that, the goal of the picture was to "highlight how cheaply and readily the environment can affect the path of a person's life".The Street concentrates on a young woman's frustrated and natural efforts as a spectacle, as a body to be begun with and exploited by male sexual desire. The accomplishment of The Street must be viewed in the context of the objectification of women; rape and dismemberment of women are preconditions for Bigger's ascension into manhood.

Oppression faced by female characters in the Street

The Street was generally praised as the first female novel written by a Black American Woman. It was translated into Spanish, French, Portuguese, Japanese, among other languages. The novel is set in Harlem in the 1940s. It premieres in November 1944 in New York City. In the 16th Century, black women were depicted as “icons of evil”. Western culture further degraded the image by portraying Black Women as a sexual excess in the minds of White men. As a result, black males were enslaved, while women were relegated to the role of "sexual receptacles for men.” Afro-American women brought to America were forced to work as breeding animals. They were designed to be used as a "body toy" or a "sexpot." Slavery existed in the United States even after it was abolished.

Lutie Johnson, the main protagonist of the novel. She was a Black Woman. She was looking for a place to live that was available for rent. AnPetry explained how women's prior experiences and current situations made them strong enough to fight for what they wanted. Lutie and Bub were living with her father and Lil, his girlfriend. Lil was a terrible woman. Lutie wished to separate Bub from Lil. Bub was a tiny baby.Lil had him light her cigarettes for her and give him sips of gin when he was just eight years old. Lutie was concerned that Bub might develop a liking for smokes and gin. That was really detrimental to his future. Lutie was also concerned about Lil's intentions toward Bub, and Lil's potential to teach the small kid anything.Petry eloquently depicted in this story how the breakdown of the family leads to a generation of lost children.

Lutie Johnson is trapped on all sides by the great "three isms" of American White and Black societies, namely Capitalism, Racism, and Sexism, unleashed on her by the Chandlers, Junto, Mr.Croose, Jones, Boots Smith, Mrs. Hedges, and Jim. The Chandlers, for whom Lutie works as a "domestic," represent and personify capitalism at the top of the story. The Chandlers are also racist and sexist towards Lutie(both men and women).Lutie Johnson was challenged and made aware of the threefold oppression perpetrated by members of society (American citizens).Lutie Johnson was a young, self-assured white black lady who confronted triple oppression from her estranged husband and white Americans.

Lutie, a single mother living in Harlemand with her eight-year-old son Bub, was subjected to three forms of discrimination.It emphasizes race and gender as persisting hurdles to achieving the American dream.Lutie Johnson is a very ambitious and native black lady, filled with all of the necessary concepts and ideals for success, as well as the drive to carry out her goals as a single black mom, but she was unfairly denied entrance to the world of Benjamin Franklin's philosophyLutie couldn't overcome her sense of self, and she firmly believed that even if Ben Franklin could survive on a small sum of money and thrive, so could she. Following her divorce from her marriage, she relocated to Harlem, New York. Harlem is a black neighborhood in New York City. She is still there, repressed and silenced as a result of triple oppression.

As more than just a young mother and a Black African woman, Lutie Johnson suffers prejudice in all aspects of her life, both personal and professional. Because they are believed to be of a lesser race, Lutie and the other African Americans in the story are wrongly denied various rights and opportunities that are accessible to Anglo-neighboring Americans. Housing in New York City was separated by race at the time Petry wrote her novel, and only certain buildings would rent flats to black tenants—a kind of institutional racism that severely limited African Americans' options.Lutie, like many other black New Yorkers, wishes to leave crowded Harlem but is unable to do so because she has the financial means to do so.Due to the extreme

severe poverty and gender inequality that existed before to the 1960s civil rights struggle, the novel's Black American protagonists are inextricably tied to Harlem.

they feel angered and upset since they would not have the same rights and privileges as others. The notion that Black People should have fought alongside other Americans in World War II for liberties that predominantly favor white Americans magnifies these emotions. The representation of misogyny and communism in the 1940s in the U. S. is also significant in Petry's work. Those who do not value Lutie as a woman approach her as a commodity in her search of a good job. She feels compelled to conceal the fact that she has ason because possible employers, such as Boots, are only interested in her for her romantic potential.As the novel's sad climax illustrates, hard work alone is unable to overcome the barriers of race, gender, and class that exist in American culture. The heroine, Lutie Johnson, is introduced to the notion that achievement and economic independence are inevitable results of hard work and perseverance while working for the Chandlers, a white family of considerable wealth—the American ideal.Lutie adopts this mind-set and is always concerned with money, wanting to climb above her poor circumstances in Harlem.

Bub, her son, does not really comprehend why Lutie is so concerned about money, but he too tries to impress his mother, so he works hard to make money. William Jones is imprisoned after trying to take advantage of his desire to earn his mother's affection by luring him into stealing mail. However, as Petry's work vividly portrays, American in the 1940s was not really a place of equal rights for Black People or females. Lutie faces cultural and class prejudice while trying to generate money. Finally, she seems unable to achieve her dream of winning the street war.

Conclusion

Ann Lane Petry was one of the most illustrious authors of African American literature, and her novel The Street was profoundly moving. The notion of a woman's struggle and defeat played a significant role in this story. Petry's most well-known piece, The Street, was a picture of African Americans' economic suffering.Lutie was a novel's black female protagonist who was both distinct and significant. Petry was a well-known author in African American literature who focused on contemporary social concerns such as female struggle, single parenting, and sex politics.The Street addresses the African American woman's specific role in sustaining her position in a world of classism, sexism, and racism. Through the work, Ann Petry studied the black woman as the heart of the family and community. Lutie owed race a moral and ethical obligation.

References

1. Alain Locke, ed., The New Negro, Atheneum, New York, 1968.
2. Bernard W. Bell "Ann Petry's Demythologizing of American Culture and Afro-American Character," in Marjorie Pryse and Hortense Spillers' Conjuring: Black Women, Fiction, and the Literary Tradition. Indiana University Press, Bloomington, 1985.
3. Greenbie, Barrie. 2006. Home Space: Fences and Neighbors. Signs of Life in the U.S.A. 5th ed. Sponia Maasik and Jack Solomon. Boston: Bedford/St. Martin's.
4. Petry, Ann L. 1946. The Street. Boston: Beacon.
5. http://en.wikipedia.org/wiki/AnnLanePetry
6. http://en.wikipedia.org/wiki/AfrianAmericanLiterature

Environment in India: A Study of Continuity and Changes of Forest in *Dandakaranya*

Dr. Tirtharaj Bhoi

The Governance identifies the power dependence involved in the relationships between institutions involved in collective action. The contribution of the governance perspective to theory is not at the level of causal analysis. Nor does it offer a new normative theory. Its value is as an organizing framework. The value of the governance perspective rests in its capacity to provide a framework for understanding changing processes of governing. Theoretical work on governance reflects the interest of the social science community in a shifting pattern in styles of governing. The traditional use of 'governance' and its dictionary entry define it as a synonym for government. Yet in the growing work on governance there is a redirection in its use and import. Rather governance signifies 'a change in the meaning of government, referring to a new process of governing; or a changed condition of ordered rule; or the new method by which society is governed (Rhodes, 1996). On this level Kautilya's work is remarkably modern in the way it attempts to describe the impact of administrative governance mechanisms on the daily lives of the citizenry. He discovered the science of administration and used in the day to day practices.

The Historical Geography of *Dandakaranya*:

On this region the Geographers (Johnson, 2001) distinguish some fourteen physiographic regions in India and the dandakaranya plateau is one of four sub-regions in the "Plateaus and Basins" category. Geographers, differ on the precise boundaries of these regions. In ancient period part of the *dandakaranya* was governed by Kusa in his kingdom Kosala. The Mahabharata speaks of a mass migration of the people of eastern Kosala to the south owing to the terror caused by Jarasanda and the immigrants resided in the Chhattisgarh region. The Mahabharata also refers to the Uttara and Daksina Kosala. Bhima conquered the Uttara Kosala during his eastern conquest and Sahadeva won over the Daksina Kosala during his southern campaign.

Historiography:

In the Balghat inscription of Narendrasens II (440 to 460 A. D.), he has been described as lord of the Kosala and Mekala. Harisena of the Basin branch of the Vakataka is said to have conquered Kuntala, Avanti, Lata, Kosala, Kalinga and Andhra. The Vakataka supremacy remained over Kosal up to the fifth century A. D. In the Aihole inscription of Pulakesin II, he has been credited with the conquest of Kosala and Kalinga. According the B. C. Law, Daksina Kosal is referred to in the Allahabad pillar inscription of Samudragupta during whose region it was ruled over by the King Mahendra who was defeated by the Gupta Monarch. According to H. C. Roy Chaudhuri, Daksina Kosala comprised of the modern Bilaspur, Raipur an Sambalpur district

and its capital was Sripura, the modern Sirpur, about 30 miles from Raipur. The Kosala Khanda states that there was a king named Kosala who ruled the territory on the south of Vindhya, from the capital Nagapatan, which was probably the present Nagpur, and after him, the state came to be known as Kosala. It is from the work of Alexander Cunningham an important endeavour was made in the direction of understanding historical geography. His work, *Geography of Ancient India* is an attempt of identification of places mentioned by Xuan Zang in his work. After him scholars like, B. C. Law, D. C. Sircar, Mark Collins, S. B. Choudhary, N. L. Dey, Motichandra and M. R. Singh enriched the study of historical geography in India.

Adopted Methods:

An attempt is made to give an extensive evaluation of existing historical writings that deals with ancient governance. It is focusing on in-depth study of actual condition pertaining in the village and the people's perceptions on a forest governance related issues such as, traditional governance system of forest, status of present forest and PESA act, protection and rights over the forest etc. Standard anthropological tools and technique has been used for data collection in the villages of Madhya Pradesh, Chhattisgarh and Western part of Odisha.

The Forests in ancient India have been well mentioned in *Vedic* texts, *Epics* and *Puranas*. The principles regarding forests and their sustainable management are well encroached in pre-historic India. The Vedas provide description about the uses and management of forests. In ancient India, several plants were considered sacred because of their natural, aesthetic and medicinal qualities. Further, they were also believed to be significant because of their proximity to a particular god or goddess. It is believed that archaeological evidence in the form of artifacts and animal remains are a more reliable guide to the changes in the land in centuries past than literature is. There is little doubt that there were several sites in India where hunting, the rearing of goats or sheep, and cereal-eating, often went together. The Chinese traveler Hieun-Tsang in his travels across India during Seventh century A. D. refers frequently to the immensity of the forested spaces that made travel unsafe and difficult.

The Brahmanas texts, which are ascribed by the leading Sanskritists to the period 800 to 500 B.C., speak of the *Govikartri* or "Master of Forests" as one of the twelve important officers of State, to whom the King or Raja was bound to make handsome offerings, on the occasion of his accession or coronation. Kautilya in his *arthasastra* declares various classes of forest to be essential to the well-being of an Indian kingdom in the year 300 B.C., the forest are such forest use for Brahmanas, use for forest products, use for royal game and use for general public.

The *Dandakaranya* area is rich in forest. This area could be divided into four belts from the point of view of its distribution such as mixed forest of the north part, central moist region comprising the Sal belt, the teak belt, the dry region comprising mixed forest. During ancient

period this region was ruled by various dynasty and they maintain the forest as per their administrative system.

The punch marked coin of Sonepur hoards tell us about Nanda rule in this region. P. K. Deo described that there is a prospect of Punch marked coins to have been minted by local people in this region since this area is been rich for iron ore. This region probably formed the eastern Attavika land of South-Kosala and some part of this reign was included in Mauyan Empire. The special Kalinga Edict of Ashoka reveals that the Maurya emperor conquered only the coastal plains of Kalinga and the wild uplands in the west, which was known as the Attavika territory was left unconquered. King Ashoka was interested to conquer Kalinga because it had the more coastal area, and he wanted to extend the trade and commerce to Ceylon through this route. So, it is very difficult to say that whether Mauryas ruled this region.

Pulsalkar says that the Chedi rastra was situated in Madhyadesa during the Mahabharata period. Sircar is of the opinion that, in the first century B.C. Kalinga became one of the strongest powers in India under the vigorous rule of Kings belonging to the Maha-Meghvahana family of the Chedi clan. The Brahmi inscription of Kharavels has been discovered in Guntupally village of the west Godavari district of Andhra Pradesh. This was the evidence of the extension of Chedi dynasty to south. The above evidences tell us that; the region either came under the Chedi dynasty before or, it was totally independent region, which was not conquered by Kharavela. From the Allahabad pillar inscription of Samudragupta, we came to know that he sent an expedition to southern India through Kosala and Mahakantara. The route which was followed by the Samudragupta was probably the most frequented one by the caravan of traders of *Dandakaranya* region, when they used to keep touch with the north. During the military excursion of Samudragupta, to the Deccan, Mahendra was the king of South Kosala, whose territory comprised southern part of Madhya Pradesh and Orissa.

The excavation reports reveals that, sites like Sirpur, Malhar, Tarighat, Asurgarh, Manamunda, Maraguda valley, Kharligarh, Nehena had their existence even during early historical period in this region. Sirpur, the ancient *Shripura* located in the upper Mahanadi valley served as political centre of Sarabhapuriyas and Panduvamshis and they issued number of inscriptions from here. The appropriate location of Malhar which is surrounded by three rivers Arpa, Lilagarh and Seonath helped Malhar in gaining political and economic importance. It is one of the most important early historic and early medieval fortified sites in the upper Mahanadi basin. From here evidence of black and red ware, two pieces of northern black polished ware bricks corresponding to Mauryan and Satavahana types has been found. Apart from these findings, this site also yielded a baked pendant and a clay seal. This seal is really important as it bears the legend *Maharaja Mahendrasya*. Some identified him with Mahendra of Koshala mentioned in the Allahabad pillar inscription while some relate him with Mahendraditya of Sarabhapuriya dynasty. On the basis archaeological findings it appears that Malhar was a major

centre of trading and commercial activities. It was an epicenter of urban conglomeration in upper Mahanadi basin which played a significant role in giving impetus to historical developments in this region.

Even the Mughals, they did not do much to change India's forest environment particularly in this region. Their expansion limited to the Bengal province. During medieval period this region was called as *Gondwana* where the majority of the population belonged to the Gond tribe. **Ibn Khaldun was the first scholar who deals the environmental issues in this period. There are large number of literature deals with the forest administration of this region were Abul-Fazal.**

The East India Company, a trading firm, paved the way for India's colonization by the British up to 1887. The main aim of the colonial rulers was conquest with a strong military thrust into resistance areas including the forest depths, the hill sides and hill tops. In the name of good governance tribal areas were opened up and contractors, civil and military officials, traders, alcohol vendors and timber merchants entered these areas and under the Nelson's eye of the rulers forced the tribal into indebtedness, alienated lands, looted the environment and pushed the tribal into slavery, while reservation of forests made them intruders in their own home. It is not that the tribal took the intrusion quietly. Confrontation was the quintessence of the situation in tribal areas after the rise of 'state' as a formal political and administrative authority. While the people in the rest of the country living under the aegis of the erstwhile, feudal states quickly adjusted to the rule of the 'conquerors' and found their survival spaces under the new regime, the tribal, living in relative isolation from the rest, in a political economy and system of governance that was integrally and uniquely their own, rightly saw the imposition of the formal state an act of subjugation.

Traditional Governance:

With the beginning of the Panchayati Raj system, this region was under covered by fifth scheduled area. This villager has always followed a collective system of governance where, whenever any conflict or issue arose in the villages, the matter was brought to the court of "Gaonpanchayat" i.e. the respected, older members of the village forming a bench. They used to resolve the matter. This governance system used to be unbiased and just for all. People used to swear in the name of "Bhagavat Gita" and God before the bench in this process. This was a very simple but just and accepted means of conflict resolution in the village. If someone was not satisfied with the proceedings of this bench, the matter was referred to forest department. This system of governance had its own legal recognition. In most serious matters related to forest, the case was supposed to be referred to the court. Most of the matters used to get resolved in the village itself.

Present Status of Forest:

The villagers are protecting forest in three parts or places. First their parents started protecting the nearby hill. Till date on the festival days, people go there and sow seeds of different trees. After few years, they started protecting forest. Then, the youth group and other villagers got together and first collected seed and started sowing. The forest patches started growing well. Whenever there occurred any problem related to forest, all the villagers are called for a meeting and the matter is resolved there only. The village youth group and some aged persons were the pioneers in this process. To increase the support of villagers, they used to act plays on roadside (Nataka) spreading message of benefits of forest and need of conservation. Villagers have received enormous support from *various NGOs* in the form of training, capacity building, and awareness.

The Protection System:

The villager used to sit five to six times a year in the collective general village meeting on forest protection and related issues. Men, Women and Youth of the village participate in this meeting. Some people due to their otherwise personal engagements/ emergencies do not attend the meeting. This general body looks after the work of the Executive Committee on forest protection comprising eleven members. This also decides the members to represent in the executive committee. The Executive committee does not have a time limit but whenever General committee feels, they can bring in changes in the composition, rules and regulations of the executive committee. The role of the executive committee is to resolve the conflicts related to forest. When the matter remains unresolved, it is brought to the notice of the Village general meeting. The executive committee bears the responsibility of enforcing rules related to forest and whoever breaks the rules of forest protection is punished by this committee either in terms of collecting fine or begging excuse with a bond of non-repetition. There is no restriction regarding collection of minor forest products from the protected patch of forest but People of neighboring villages have no rights over it. These people from neighboring villages also agreed to the villager's demand and respect their forest protection initiative.

Forest Protection and other Institutions:

The Villagers almost have no relation with outside agencies intervention on the issue of forest protection. Only when a serious situation arises like when someone denies abiding by the village forest committee decision, the case is handed over to the forest department. Even they don't have much relation with forest department on this matter. Neither they are at loss nor in benefit from relationship with forest department. Forest department are pursuing them to form *Van Samrakshyan Samiti* (VSS) and make Forest Department a partner in the forest protection initiative. The people have relations with non-government organization for forest protection which provided them saplings for plantation in the barren land and trained them on plantation techniques and protection measures. No one has objected their forest protection initiatives till

date.

Future of Forest Protection:

As far as future of forest is concerned, it is difficult to say, about the forest. One thing people have promised that they will continue forest protection. According to villagers, they do not know what the next generation would do with this forest, but, they will try to make them understand the importance of forest for existence of life. The rapid industrialization and mining processes are definitely a threat to today's forest. The presence of Naxal movement in this region may be the positive for the forest to deforestations.

Conclusion:

The forest is governed by the system of governance from ancient period in this region. The role of Forest Protection committees has to be more effective. An active Forest department needs to play vital role in forest protection and regeneration in the interest of the poor and marginalized. There needs to be laws in place in favor of forest and people. There has to be proper plan of afforestation every year on the waste land and forest management plans with people's participation. Both people and Forest Department can collectively make a lush and green forest possible. The Jungle Bachao campaign is continuing in the villages of this region and they intend to continue protecting and regenerating our forest. At least one more generation will care for and preserve the forest for the future. They are also teaching their children to preserve and protect the forest. There is a need to raise the consciousness of the community regarding forest protection by explaining the importance of forest in human lives.

Notes and References:

- Gerry Stoker, *Goverance as Theory: Five Prepositions*, Blackwell, 1998, pp. 49-72.
- Shamasastry, R, *Kautilya's Arthashastra*, Mysore, 1960, p. 10.
- Sabhaparva, XIII, pp.591-92.
- E. I. vol. IX, p. 267.
- B. C. Law, *Geography of Early Buddhism*, Varanasi, 1973, p. 61.
- Kisala Khanda, in Hindi, is referred in the explanation of the Maurayans Pius, doha -118, 4th edition.
- Sahu, J. K., *Historical Geography of Orissa,* New Delhi: Decent Books, 1997, *p*. 6.
- V. K. Gupta, *Forest and Environment in Ancient India*, B. R. Publication, 2010, pp. 27-39.
- S. M. Edwardes, "Sidelights on the Maintenance of Forests in Ancient India," *Empire Forestry Journal*, Vol. 5, No. 1, 1926, pp. 32-38.
- Orissa Historical Research Journal, vol. XIV, No.4, pp. 25-61.
- S. Beal, *Buddhist Record of the Western World,* vol. II, pp. 204-17.
- D. Pusalkar, *The Bharata War*, vol. I, 1965, p. 306.
- D. C. Sircar, *Kalinga and the Chedis*, vol. II, 1968, p. 211.
- Sahu, B. P, *The Changing Gaze, Regions and the Constructions of Early India,* New Delhi, Oxford University Press, 2013, p. 83.
- Ranajit Guha, *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*, Oxford, 1983.

उत्तर प्रदेश का लोकसंगीत एवं उसमें निहित स्वरूप

अरूण मिश्रा

"गायन वादन नृत्यम् त्रयम् संगीतमुच्यते "

गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का सामूहिक नाम संगीत है। अर्थात् संगीत के अन्तर्गत यह तीनों कलाएँ मानी जाती हैं। संगीत में गायन तथा नृत्य के साथ-साथ वादन का भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वादन का तात्पर्य विशिष्ट पद्धति से निर्मित किसी वाद्य यंत्र पर थाप देकर, फूंककर या तारों में कम्पन्न-उत्पन्न कर के लय बद्ध तरीके से संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करना है।

उत्तर प्रदेश की संस्कृति, सभ्यता, मान्यता एवं मौलिकता आदि स्वरूपों को निश्चित ढंग से कंठस्थ करने की कृति लोकगीत सर्वथा प्रसिद्ध एवं सम्पन्न विधा मानी गयी है उत्तर प्रदेश प्रतिभा सम्पन्नजन मानस का ऐसा स्थल है जिसका वर्णन कर पाना असंभव है यहाँ प्रचलित भाषाओं ,बोलियों में लोक संस्कृति की झलक दिखती है | यदि हम लोक की बात करे तो लोक का अर्थ इस प्रकार है- लोक शब्द संस्कृत के लोक दर्शने ने धातु से धञ प्रत्यय करने पर उत्पन्न हुआ है। इस धातुका अर्थ देखना होता है। जिसका लट्लकार में अन्य पुरूष एक वचन का रूपलोक होता है। लोक शब्द का अर्थ देखने वाला है। लोक गीत ऐसा संगीत है, जो परम्पराओं में पड़कर समय-समय पर परिवर्तित होती है। लोकगीतों में हमारे समस्त जीवन के पहलुओ को प्रकट करती है। जो हमारे मन प्राण को शीतलता और संतोष प्रदान करता है। लोकगीतों में हमारे काव्यों और संगीत का मिला-जुला संगम होता हैं। सामान्य भाषा में हम कह सकतें हैं कि मनुष्यों के हृदय के ज्ञानों को **लोकगीत** कह सकतें हैं। लोक संगीत दो शब्दों से मिलकर बना है **लोकसंगीत** | जिसका अर्थ जनमानस में प्रचलित संगीत | लोक संगीत सहज, सरल, सुलभ बंधन रहित एवं परिवर्तनशील है क्योंकि इसका मुख्य आधार लोक रूचि है विभिन्न क्षेत्रों की परम्पराएँ, रीत-रिवाज़, आचार-विचार, भाषा, संस्कार, व्यवहार, तौर-तरीके, विश्वास, रूढिया, धार्मिक, अनुष्ठान आदि को सामान्य प्रवृत्तियों के दर्शन वहाँ के लोक में होते हैं | अर्थात जीवन का कोई भी प्रसंग भावनायां प्रवत्तियां अछूती नहीं है |

लोक संगीत का छंद यद्यपि संक्षिप्त होता है, परन्तु भाव के अनुकूल होने से वह मन मस्तिष्क पर पूरा प्रभाव डालता है। भावों की सनातनता के कारण लोक संगीत कभी पूराना नहीं पड़ता, वह सदाबहार है। गायक और श्रोता के बीच सीधा जुड़ाव होने के कारण भाव सम्प्रेषण की प्रक्रिया में लोक संगीत सबसे अधिक सक्षम है। सशक्त भाव पक्ष के कारण ही लोक संगीत अन्य सभी शैलियों में अग्रणी है।

माँ की ममता, मृत्यु का विशाद, दीन की करुणा, ईष्या, राग-द्वेष, उल्लास, कामना, क्रोध, अहम्, मद, लोभ, मोह आशा-निराशा, सभी का दिग्दर्शन लोक संगीत में सहजता से होता है। अपने इस भाव के पक्ष की प्रधानता के कारण लोकसंगीत पूरे संसार में लोकप्रिय है।

हमारे लोक साहित्य की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। यह परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा के माध्यम से चली आ रही है। लोक संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग गीत होता है। लोकगीतों के माध्यम से हमारी संस्कृति व

सभ्यता का परिचय मिलता है जोकि आने वाली पीढ़ी के लिए उदाहरण स्वरूप रहता है लोकगीतों में हम अपने जीवन में होने वाली घटनाओं, सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्राकृतिक आपदाओ इत्यादि को हम गीतों नृत्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं जो कि लोकसंगीत का ही एक स्वरुप है । इनमें से किसी प्रकार कि बाध्यता या बंदिश नहीं रहती है । लोकगीतों में जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत होते हैं । इसके अंतर्गत संस्कार गीत, सोहर, बन्ना-बन्नी, चैती-कजरी, चौमासा, बारहमासा, धोबिया, छठगीत, सावन गीत इत्यादि और भी प्रकार के गीत आते हैं । इन गीतों में एक खास बात होती है कि इनके रचयिता अज्ञात होते है । हमारी लोक परम्परा से ही शास्त्रीय संगीत कि उत्पत्ति हुई है । यह कहना गलत नहीं होगा | लोकगीत किसी एक व्यक्ति की व्यक्तिगत पूंजी नहीं होती है । ये पूरे समाज कि धरोहर होती है । इन लोकगीतों में सामूहिक सदभावना की भावना होती है । इन गीतों में किसी भी प्रकार के रागों का प्रभाव कम होता था । मगर ये लय-प्रधान गीत होते थे । इनमें जब गायक गाने कि लाइन गाता था तो समूह के सभी लोग उस लाइन को दोहराते थे और आज भी ये देखने को मिलता है |

लोक संगीत के भाव पक्ष का विश्लेषण किया जाए तो उसमें निहित निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं।

1. लोक संगीत का उद्देश्य अपनी परम्परागत कला को जीवित रखना होता है, अतः किसी अहं की भावना को, वे उसमें नहीं आने देते और परिपाटी के अनुसार मुक्त हृदय से उसका प्रदर्शन करते हैं ।

2. जाति, समुदाय, धर्म, पर्व और राष्ट्रीयता की चेतना कायम रखते हुए लोक संगीतकार अपने भावों को उत्साह के साथ प्रकट करते हैं । लोक संगीत की यही प्रेरक शक्ति सामाजिक उत्थान मे सहायक सिद्ध होती है ।

3. लोक संगीत किसी बौद्धिक विश्लेषण या बौद्धिक सम्प्रेषण की अपेक्षा नहीं रखता, अतः कलाकार सहज मन से प्रेरित होकर शीध्रता से संवेदनशील हो उठता है और भौतिक दुख सुख भूलकर एक अद्वितीय आनन्द से पूरित हो जाता है । यही इसका मानसिक धरातल, सृजनात्मक शक्ति से ओत-प्रोत होकर नवस्फूर्ति एवं नवरस का संचार करने में समर्थ हो जाता है।

4. लोक संगीतकार छोटी से छोटी धनु में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि भाव प्रदर्शन करने के लिए नवीन स्वर, नवीन ताल या नवीन लय की भिन्नताओं का दिग्दर्शन अलग से कराने की जरुरत नहीं होती । उनकी समस्त भावनाएँ बंधी-बंधाई लोक धुन में धनीभूत होकर, रसो का स्वंय संचार और संचालन करती हैं ।

लोकगीत लोक के गीत हैं। जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है । सामान्यतः लोक में प्रचलित लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक समर्पित कर देता है । शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भतू करता है वही लोकगीत है । लोक संगीत हमारी संस्कृति को जीवित रखने में महत्वपूर्ण योगदान निभाते हैं भारत के लोकसंगीत का क्षेत्र बहुत विशाल एवं विस्तृत है, विभिन्न प्रान्तों में उत्तर प्रदेश क्षेत्र का लोकसंगीत बहुत ही आकर्षित और सराहने

योग्य है जहाँ के लोक संगीत में हमें यहाँ सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की झांकी देखने को मिलती है।

उत्तर प्रदेश के लोकसंगीत को हम निम्न वर्गो में वर्गीकृत कर सकते है –

- **ऋतु सम्बन्धी गीत**
- **संस्कार गीत**
- **जातिगत गीत**
- **खेल गीत**
- **प्रणय सम्बन्धी गीत**
- **प्रबंध गीत**

ऋतु सम्बन्धी गीत

मानव जीवन में ऋतुओ का विशेष महत्व होता है अपने यहाँ चौमासा, बारहमासा, फागुन, सावन, बसंत इन विषयों पर भी गीत है, कृषि कार्य एवं दैनिक क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज आदि ऋतुओ केआधार पर विभाजित होते है हमारेउत्तर भारत में 4 मुख्य ऋतुये होती है वर्षा, शरद, बसंत और ग्रीष्म |

संस्कार गीत

भारतीय संस्कृति में संस्कारो का विशेष महत्त्व है संस्कारों का मिला-जुला स्वरुप ही संस्कृति है मनुष्य का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु सब संस्कारों में गुंथा हुआ है संस्कार गीत में जन प्रचलित मान्यताओं तथा परम्पराओं के माध्यम से आज भी गतिशील है इन गीतों मै पुत्रजन्म, मुंडन यज्ञोपवीत, विवाह गौना तथा मृत्यु प्रधान संस्कार गीत है | हमारे वेदों में 16 संस्कार माने गये है जो इस प्रकार है– गर्भाधान, पुसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चुड़ाकर्म, कर्णवेद, उपनयन, वेदारम्भयाविद्यारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्ठी |

जातिगत गीत

आर्यों की वर्ण व्यवस्था के शिथिल होते ही जाती व्यवस्था का विकास हुआ धीरेधीरे जातियों की कई - अहीर -इसमें | उपजातियां बनी जिनमे रोटी और बेटी का व्यवहार संकीर्ण होता चला गया गी ,पासी गीत ,धोबी गीत , | नाइयो के गीत ,कहार गीत ,कुम्हार गीत

खेल सम्बन्धी गीत

पहले समय में खेलों के भी गीत हुआ करते थे और खेल से सम्बंधित गीतों की श्रंखला कुछ इस प्रकार है– लोरी गीत, बालको के खेल के गीत, बालिकाओं के खेल के गीत, तुक शब्द उच्चारण सम्बन्धी गीत, जलक्रीडा के गीत |

प्रणयसम्बन्धीगीत

प्रणय का अर्थ प्राणियों के बीच का परस्पर स्नेह ,प्रेम, स्नेह इत्यादि | प्रणय सम्बन्धी गीत के अन्तर्गत निम्न गीत आते है– नकटा, पूर्वी, झूमर , लचारी, विदेसियाँ, ग़ज़ल |

प्रकीर्णगीत

इसकेअन्तर्गत दो प्रकार के गीत आते है– गारी गीत और मुसलमानों के गीत |

प्रबंध गीत

प्रबंध गीत को गाथागीत या लोकगाथा गीत कहते है किसी लोककथा को प्रबंधात्मक शैली में गायन परम्परा को लोकगाथा कहते है |

निष्कर्ष

इस लेख के माध्यम से **निष्कर्षतः**उत्तर प्रदेश क्षेत्र का लोक संगीत उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय संस्कृति का र्दपण है। अर्थात यहाँ के लोक संगीत में इस प्रदेश की संस्कृति व सभ्यता प्रतिबिम्बित होती है। इस की क्षेत्र लोक संस्कृति को प्रवाहशील बनाए रखने में यहाँ के लोक संगीत ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उत्तर प्रदेश में बहुत सी संस्कृति एवं सभ्यता के लोग निवास करते है जिसका प्रभाव हमें अपने आस-पास में देखने को मिलता है लेकिन हम आधार की बात करें तो हमारी लोक संस्कृति अत्यधिक प्राचीन है जो की पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा के माध्यम से चली आ रही है इस लेख में लोक संगीत एवं उसमें निहित स्वरूपों को दर्शाया गया है |

सन्दर्भग्रन्थसूची–

- मिश्र,डॉ० लालमणिभारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन :दिल्ली .भारतीय संगीत वाद्य ., .2011
- डॉसुमन (उ०प्र०) गाज़ियाबाद ,ऋतु कालीन लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत के तत्व ,नैतिक प्रकाशन२०१२ ,
- गोस्वामी ओम, 1980, डोगरी लोक गीत भागजम्मू प्रकाशक -:5-,जम्मू ललित कला संस्कृति एवं साहित्य अकादमी।
- सिंह डॉ संजय कुमार २०१० ,कनिष्क पब्लिशर्स , नईदिल्ली ,भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी लोकसंगीत,
- shabdkosh.raftaar.in
- इन्टरनेट के माध्यम से |

बस्तर दशहरा (छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में)

जितेन्द्र कुमार साखरे
डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय

वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य प्राचीन दक्षिण महाकोसल का मध्य स्थल था। अतीत से ही हिन्दुस्तान के हृदय स्थल मध्यप्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भू-भाग का क्षेत्र छत्तीसगढ़ का एक विशिष्ट सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक महत्व रहा है। वैभव-संपन्नता, सुख-शांति एवम् सांस्कृतिक समन्वय यहॉं के प्राचीन सुप्रशासन के द्योतक रहे है। वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य व्यतीतकाल में दक्षिण कोसल, महाकांतर, दण्डकारण्य आदि नामों से जाना जाता रहा है। यह क्षेत्र प्राकृतिक संपदा से सपन्न होने के साथ-साथ आदिवासी संस्कृति के लिए भी प्रसिध्द रहा है।[1]

छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में एक ऐसा त्यौहार मनाया जाता है, जो 75 दिनों तक चलता है। यह है, विश्व का सबसे लंबा चलने वाले त्यौहारों में शामिल ''बस्तर का दशहरा''। बस्तर अंचल के दशहरे का संबंध रावण वध से नहीं है। इसकी जन स्वीकृति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यह 75 दिनों तक चलता है, एवम् इसमें शामिल होने बस्तर के कोने-कोने से आदिवासी आते हैं। बस्तर दशहरे का स्वरुप बस्तर के राजघराने की परंपराओं एवम् जगन्नाथ पुरी की रथ परिक्रमा परंपरा से जुड़ा हुआ है। मॉं दन्तेश्वरी के साथ ही बस्तर के सभी देवी-देवताओं के छत्रों की इस अवसर पर उपस्थिति इसे जनस्वीकृति एवम् धार्मिक स्वरुप प्रदान करती है। एक लोक उत्सव के रुप में इसकी ख्याति अत्यधिक है। इस अवसर पर हजारों पर्यटक जगदलपुर आते हैं। पूर्व बस्तर राज्य के परगनिया मांझी, मुकद्दम और कोटवार आदि ग्रामीण आज भी दशहरे की व्यवस्था में समय से पहले मनोयोग से जुट जाया करते हैं। भूतपूर्व बस्तर राज्य में मंदिर व्यवस्था की देख-रेख में दशहरा मनाया जाता था। हर गॉव में खाने-पीने की सामग्री जुटाई जाती थी एवम् इस सामग्री को कोठी के कोठिया को सौप दी जाती थी। समय एवम् परिस्थितियों के बदलने पर शासन ने जनभावनाओं का सम्मान करते हुए दशहरा कमेटी के माध्यम से इसे मूर्त रुप दिया है।[2]

बस्तर का पारम्परिक दशहरा पूरे विश्व में अपने तरह का विशिष्ट आयोजन है। विश्व के प्रत्येक कोने में दशहरा का त्यौहार "असत्य पर सत्य की विजय" का प्रतीकात्मक त्यौहार है, जिसे विजय पर्व भी कहॉं जाता है। लेकिन बस्तर का दशहरा पर्व यहॉं के राजघराने की अधिष्ठात्री कुल देवी तथा आदिवासियों की आराध्य देवी मॉं दंतेश्वरी को केन्द्र मानकर मनाया जाता है। यह परम्परागत पर्व विधि विधानों के मध्य अनेक चरणों:- काछन गादी, नवरात्रि, जोगी बिठाई, फूल रथ चालन, मावली परघाव (देवी बुलावा, दंतेवाड़ा से जगदलपुर), भीतर रैनी, बाहरी रैनी, रथ चोरी, गोन्चा (रथ उत्सव), काछिन जात्रा, मुरिया दरबार (काछिन जात्रा के दिन सायंकाल मुरिया दरबार का आयोजन) का आयोजन किया जाता है। इसके पश्चात् ही इस पर्व का समापन होता है। बस्तर का यह ऐतिहासिक दशहरा विविधताओं से पूर्ण है। इसे देखने न केवल देश के वरन् विदेशी भी पहुचते है। इस पर्व के मध्य यहॉं मेले में अनेक शासकीय, गैरशासकीय प्रदर्शनियॉं आयोजित की जाती हैं। इस प्रकार यह पर्व सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ व्यावसायिक एवम् आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बन गया है।[3]

बस्तर संभाग मुख्यालय जगदलपुर से 85 किलोमीटर दूर स्थित दंतेवाड़ा दंतेश्वरी देवी के प्राचीन मंदिर के कारण प्रसिध्द है। यह मंदिर शंखनी तथा डंकिनी नदी के तट पर बना है। गर्भगृह में महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा

प्रस्थापित है, जिसे दंतेश्वरी कहॉं जाता है। दशहरे के अवसर पर दंतेश्वरी मॉं की शोभायात्रा इस त्यौहार का मुख्य आकर्षण का केन्द्र है। इसके लिए माता की डोली दंतेवाड़ा से जगदलपुर लायी जाती है। दशहरे का विधि-विधान सम्पन्न होने के पश्चात् उन्हें ससम्मान दन्तेवाड़ा के लिए विदा कर दिया जाता है।[4]

प्रचलित लोकश्रृति के अनुसार जिन स्थलों पर मॉं सती के पार्थिव शरीर का अंग गिरा वहॉं-वहॉं शक्ति पीठ की स्थापना की गई। भारत के दक्षिणी भाग में दंत-खंड के गिरने का उल्लेख पुराणों में मिलता है। दण्डकारण्य के बस्तर भूखण्ड में दंतखंड गिरने से मॉं दंतेश्वरी प्रकट हुई तथा दंतेश्वरी शक्तिपीठ की स्थापना दंतेवाड़ा में हुई। बस्तर में महापर्व दशहरा का प्रारंभ हरियाली अमावस्या के दिन मॉं दंतेश्वरी की पूजा से प्रारंभ होता है, जो 75 दिनों तक चलता है। इस पर्व का समापन आश्विन शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को होता है, जब गंगा मुण्डा के मावली शिविर से पूजा मण्डप में अन्य ग्रामों से आयी हुई आराध्य देवी-देवताओं की विदाई की जाती है। गॉव-गॉव से आए विभिन्न देवी-देवताओं के क्षेत्र व मावली माता की विदाई के साथ दशहरा महापर्व सम्पन्न हो जाता है।[5]

दंतेश्वरी माता की प्रतिमा को पालकी में बिठाकर बाहर निकालने का अनुष्ठान उत्सव का महत्वपूर्ण पक्ष होता है। रथ खींचने का कार्य दंडामी माड़िया व धुरवा आदिवासी करते हैं। गोंड आदिवासी इस अवसर पर भवानी माता की पूजा करते है। गॉव की रक्षा के लिए भूमिया आदिवासी इस अवसर पर गामसेन देव की पूजा करते है।[6] इस उत्सव का प्रारंभ काकतीय राजवंश के राजा ने किया था। बस्तर में 14 वी शताब्दी के पूर्वार्ध्द में काकतीय राजवंश का शासन रहा है। यह वंश चालुक्य वंश के नाम से भी जाना जाता रहा है। इस वंश का उदय दक्षिण भारत के तेलंगाना राज्य से माना जाता है। शिलालेखों में भी इस का उल्लेख किया गया है। इस वंश के नरेश पुरुषोत्तम देव 1408 ई. में गद्दी पर बैठे एवम् 1439 ई. तक शासन किया। ऐसा प्रचलित है कि पुरुषोत्तम देव ने पैदल चलकर जगन्नाथपुरी की तीर्थ यात्रा की एवम् भगवान जगन्नाथ के मंदिर में दान दिया। बस्तर नरेश की श्रध्दा से प्रसन्न होकर भगवान जगन्नाथ ने स्वप्न में आकर उन्हें ''रथपति'' की उपाधि दी। तब से लेकर आज तक बस्तर में दशहरा पर्व के अवसर पर विशाल काष्ठ रथ की परिक्रमा होती है। पहले रथ पर राजा बैठा करते थे, किन्तु बदली परिस्थितियों में अब मॉं दंतेश्वरी का छत्र रथ पर रहता है।[7]

यहॉं के आदिवासी गीतों में भी पुरुषोत्तम देव बस्तर दशहरा का वर्णन मिलता है। बस्तर दशहरा पर्व के अवसर पर मुंडा आदिवासियों द्वारा ''चूड़ामणि गीत'' गाया जाता है, इसमें बस्तर दशहरा के अंतिम चरण में मुरिया दरबार के आयोजन का उल्लेख है।

मुड़ी दरबार एबे बैठे महाराजा, रंगीन के माहला लागै आज
हुजूर प्रभु बाना बॉंधे, नेगी असा बैठे जोगी असा बैठे, बैठे सैदार

संस्कृत वंशवली श्लोक 17 में उल्लेख है कि विष्णु ने प्रसन्न होकर राजा पुरुषोत्तम देव को सौभद्र प्रदान किया और उन्हें बारह मंगलमय चक्रों से युक्त किया। तब उन्होंने बस्तर में बारह पहियों वाले रथ का निर्माण करवाया अपनी रथपति उपाधि के अनुसार-

सौभद्रं दत्तवान विष्णुश्चक्रद्वादशसंयुतम्
बस्तरे नगरे राजा साधितं स्यन्दनोत्तमम्।

उन्होंने "भारी तथा हल्के" दोनों प्रकार के रथों का निर्माण करवाया और यह सब कुछ विष्णु की कृपा से हुआ। वे तथा उनकी पत्नी ने दुर्गोत्सव के अवसर पर पहली बार रथ पर आरोहण किया-

विष्णुशक्त्या तया तं वैकृत्वा लघुगुरुन् द्विधा
साधु दुर्गोत्सवे तस्य चारोहणमकारितः।

इस प्रकार पुरुषोत्तम देव बस्तर के "रथयात्रा" महोत्सव के प्रवर्तक हैं, और उन्होंने उक्त महोत्सव को देवी जात्रा से जोड़ दिया। उक्त महोत्सव 1490 ई. में दुर्गोत्सव के अवसर पर पहली बार आयोजित किया गया था। रथयात्रा पर्व भी बस्तर में इन्होंने ही प्रारंभ किया। बस्तर में यह पर्व गोंचा के नाम से प्रसिध्द है। आज भी यह पर्व जगदलपुर में प्रति आषाढ़ मास में मनाया जाता है।[8]

पाठजात्र:- इस त्यौहार का प्रारंभ पाठजात्रा पूजा से होता है, जो कि सावन मास की अमावस्या को होती है। इस दिन रथ के लिये लकड़ी का पहला तना लाया जाता है, जिसे यहॉ के आदिवासी तुरलू खोटला कहते है। इसका अर्थ है, सम्पूर्ण या मजबूत स्वस्थ लकड़ी का तना।[9] यह एक प्रथा प्रचलित है, जिसे पाठजात्रा के नाम से जाना जाता है। इसमें वन विभाग से स्वीकृति प्राप्त कर जंगल से लकड़ियॉ लाकर रथ बनाना शुरु होता है। सबसे पहले सिंह द्वार के पास लकड़ी का एक लट्ठा लाकर रख देते है और उसकी विधिपूर्वक पूजा करते हैं। इसके कुछ दिन बाद फिर रथ निर्माण के लिये लकड़ियॉ लायी जाती है। हरेली अमावस के दिन यह प्रथा पूरी की जाती है। पर्व से दो माह पूर्व पर्व को सार्थक बनाने में लकड़ी काम आती है। लकड़ी के इस महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसलिये इस प्रथा के माध्यम से बस्तर का जन-जीवन लकड़ी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है। बस्तर दशहरे की तैयारी में इस प्रथा का प्राथमिक महत्व है। बेड़ाउमर गॉव के आदिवासी रथ बनाने का दायित्व पूरा करते थे। अछॉड पाटा, मोंगरमोही, खंभे मचान, छवनी आदि रथ के अलग-अलग भागों का निर्माण कार्य अलग-अलग दलों में बॅट जाता है, और सब मिलकर रथ का निर्माण करते है। दशहरा उत्सव में स्थानीय प्रतिनिधि, ग्रामीण सरकार सभी का सहयोग रहता है।[10]

श्रम सहकार:- रथ निर्माण हेतु जंगल से लकड़ी लाने के लिये अगरवारा, कचोरापाटी और रायकेरा परगनों के आदिवासी निश्चित है और तीनों परगनों के विभिन्न गॉवों से लोग इस कार्य में भागीदारी बनते हैं। प्रत्येक ग्राम के प्रत्येक घर से एक सदस्य सम्मिलित होता है। झाड़ उमरगॉव और बेड़ा उमरगॉव के बढ़ई और लुहार मिलकर बस्तर दशहरे के विशालकाय रथ का निर्माण कार्य प्रति वर्ष बड़ी जिम्मेदारी के साथ पूरा करते हैं। करंजी, केसरपाल और सोनाबाल गॉव के आदिवासी रथ खींचने के लिये रस्सी निर्माण का काम पूरी तत्परता के साथ सम्पन्न करते हैं। चार पहियों वाले प्रारंभिक फूल रथ को कचोरापाटी और अगरवारा परगनों के लोग खींचते हैं। 8 पहियों वाले बड़े रैनी रथों पर सीढ़ी लगाने वाले आदिवासी गढ़ेया गॉव के लोग होते हैं।[11] रथ खींचने 30 गॉवों से सियाड़ी पेड़ की छाल को लाया जाता है। रथ को खींचने के लिए सियाड़ी के पेड़ की छाल से ही रस्सी बनाई जाती है। इस रस्सी का निर्माण पिछले 40 सालों से करंजी और उसके आस-पास के ग्रामीण करते हैं। दशहरा खत्म होने पर यह लोग इस रस्सी के छोटे-छोटे टुकड़े कर अपने घर ले जाते हैं। यहॉ ऐसी मान्यता है कि इससे धन वैभव प्रतिष्ठा के साथ वंशवृध्दि होती है।[12]

काछिनगादी:- बस्तर दशहरा पर्व मनाने की शुरुआत काछनगादी से होती है। काछिनदेवी बस्तर के मिरगान आदिवासियों की कुल देवी है। आश्विन मास की अमावस्या के दिन काछिनगादी का कार्यक्रम आयोजित होता है।

रथ परिक्रमा प्रारंभ करने से पहले काछन गादी में कुवारी अनुसूचित जाति की कन्या को कांटे के झूले में बिठाकर झूलाते हैं तथा उससे दशहरा की अनुमति एवम् सहमति ली जाती है।[13] काछिनगादी का अर्थ होता है काछिन देवी को गद्दी देना। काछिनदेवी की गद्दी कॉटों की झूलेदार होती है। मान्यता के अनुसार काछिनदेवी धन-धान्य की रक्षा करती हैं। कार्यक्रम के तहत् एक भैरम-भक्त सिरहा, आव्हान करता है और उस कुंवारी लड़की पर काछिन देवी आरुढ़ होती है। जिसे झूले पर झुलाया जाता है। देवी की पूजा के पश्चात् दशहरा मनाने की स्वीकृति प्राप्त की जाती है। अनुसूचित जाति की देवी को बस्तर के भूतपूर्व राजाओं द्वारा इस प्रकार प्राथमिक सम्मान दिया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि बस्तर भूमि के उन विगत राजाओं की दृष्टि में अनुसूचित जाति अस्पृश्य नहीं थे। काछिन देवी कॉटों को जीतने का संदेश देती हैं।[14]

रैला पूजाः- बस्तरांचल में एक दंत कथा प्रचलित है कि बस्तर के प्रथम काकतीय नरेश अन्नमदेव की बहन का अपहरण कर लिया गया था। बाद में उसे छोड़ दिया गया, परंतु कुलीन राज परिवार ने उसे नहीं अपनाया तो एक अनुसूचित जाति परिवार ने उसे अपना लिया। राजकुमारी राजपरिवार के ऐसे व्यवहार से दुःखी होकर जल-समाधि ले ली। यह दिन दशहरा का था। मिरगान लोग अपनी इस लाडली राजकुमारी का प्रतिवर्ष अपने ढंग से श्राध्द मनाने लगे। राजकुमारी का नाम "रैलादेवी" था। राजकुमारी रैलादेवी का वहीं श्राध्द कर्म बस्तर के दशहरा पर्व में रैला-पूजा के नाम से जाना जाता है। काछिन मंदिर में काछिन गादी हो जाने के बाद जगदलपुर के बाजार में शाम को रैला पूजा होती है। रैला पूजा मिरगान जाति की पूजा है। रैला-पूजा में मिरगान महिलाए अपनी मिरगानी बोली में एक गीत-कथा प्रस्तुत करती है, जिसमें रैला-देवी का कारुणिक चित्रण मिलता है।[15]

जोगी बिठाईः- आश्विन शुक्ल से बस्तर-दशहरा अपना नवरात्र कार्यक्रम आरंभ करता है। इसके अंतर्गत देवी देवताओं की पूजा के पश्चात् सीरासार नामक स्थान में जोगी बिठाई की रस्म पूरी की जाती है। ऐसी मान्यता है कि दशहरे का कार्यक्रम निर्विध्न चले, किसी प्रकार की कोई परेशानी ना आयें। इसी कामना के साथ हल्बा समाज का एक आदमी सीरासार भवन के मध्य भाग में बनाये गये गड्ढे में दशहरे की समाप्ति तक लगातार नौ दिनों तक योगासन की मुद्रा में बैठता है। जोगी इस बीच सिर्फ फलाहार करता है।[16] जोगी बिठाते समय सात "मॉगुर माछ" काटने का रिवाज है। पहले एक बकरा भी कटता था।

रथ चालनः- जोगी बैठने के दूसरे दिन रथ चलना प्रारंभ हो जाता है। प्रारंभ में बारह पहियों वाला एक विशालकाय रथ किसी तरह चलाया जाता था, परंतु चलाने में असुविधा होने के कारण बाद में उस एक रथ को आठ और चार पहियों वाले दो रथों में विभाजित कर दिया गया। आश्विन शुक्ल द्वितीया से लेकर लगातार आश्विन शुक्ल सप्तमी तक चार पहियों वाला रथ चलता है। यह रथ पुष्प-सज्जा प्रधान रथ होने के कारण फूल रथ कहलाता है।[17] आश्विन द्वितीया से आश्विन शुक्ल सप्तमी तक चलने वाले फूलरथ पर राजा बैठते थे अब राजपरिवार के सदस्य रहते है। उनके साथ देवी दंतेश्वरी का छत्र आरुढ़ रहता है। साथ में देवी का पुजारी रहता है। प्रतिदिन शाम एक निश्चित मार्ग पर रथ परिक्रमा करता हुआ राजमहल के सिंह द्वार के सामने खड़ा हो जाता है। रथ के साथ-साथ गॉव-गॉव से आमंत्रित देवता भी चलते हैं। पहले बस्तर दशहरा में इस रथ यात्रा के दौरान हल्बा (आदिवासी) सैनिकों का वर्चस्व रहता था। आज भी उनकी भूमिका उतनी ही महत्वपर्ण हैं।[18]

मावली परघाव:- आश्विन शुक्ल सप्तमी को चार पहियों वाले रथ की समापन परिक्रमा चलती है। तत्पश्चात् दूसरे दिन दुर्गाष्टमी मनायी जाती है। दुर्गाष्टमी के अंतर्गत निशा-जात्रा का कार्यक्रम होता है। निशा-जात्रा का जुलूस नगर के बाजार के समीपस्थ पूजा-मंडप तक पहुचता है। आश्विन शुक्ल को संध्या जगदलपुर स्थित सीरासार में बैठे जोगी को समारोह पूर्वक उठाया जाता है। फिर जोगी को भेट सम्मानित करते है। इस कार्यक्रम में दंतेवाड़ा से दंतेश्वरी माई की पालकी में श्रध्दा पूर्वक लायी गयी मावली-मूर्ति की अगवानी की जाती है। मावली देवी दंतेश्वरी माई का ही एक भिन्न रुप है। नये कपड़े में चंदन का लेप देकर एक मूर्ति बनायी जाती है और उस मूर्ति को पुष्पाच्छादित कर दिया जाता है। यहीं मावली देवी की मूर्ति है। मावली माता निमंत्रण पर दशहरा पर्व में सम्मिलित होने जगदलपुर पहुचती है। इनकी डोली को राजा, कुवर, राजगुरु और पुजारी कंधे देकर मावली मंदिर तक पहुचाते थे। आज भी पुजारी, राजगुरु और राज परिवार के लोग डोली को श्रध्दा सहित उठा लाते है, और दंतेश्वरी मंदिर में पहुंचाते हैं।[19]

दंतेवाड़ा से डोली तृतीया को निकलती है। यह डोली जगदलपुर नवमी के दिन पहुँचती है। छड़ी, चॅवर, छत्र, चांद, सूरज के निशान आदि साथ में रहते है। दो राउत डोली उठाते है। इस क्षेत्र के निवासी नाइक, भुइया, आदि डोली के साथ जाते है। रात को जगदलपुर में डोली का स्वागत (परघाव) किया जाता है। यहॉ पूजा के पश्चात् कुछ दिन माई को रखने के बाद माई डोली जगदलपुर से रवाना होती है। विदाई के दिन अनाज, चावल, खाने का सामान, कपड़ा, अनेक आभूषण, आदि दिए जाते है। दंतेवाड़ा आने पर सब नये कपड़े तथा गहने बड़ी मूर्ति को पहनाकर श्रृंगार किया जाता है।[20]

भीतर रैनी- बाहिर रैनी:- विजयादशमी के दिन भीतर रैनी तथा एकादशी के दिन बाहिर रैनी के कार्यक्रम होते हैं। दोनों दिन आठ पहियों वाला बड़ा रथ चलता है। भीतर रैनी अर्थात् विजयादशमी के दिन यह रथ अपने पूर्ववर्ती रथ की दिशा में ही होता है। इस पर झूले की व्यवस्था रहती है, जिस पर रथारुढ़ शासक वीरवेश में बैठे झूलते रहते थे। आज इस झूले पर देवी का छत्र आसीन रहता है। विजयादशमी की शाम को पहले भैंसे की बलि दी जाती थी। विजयादशमी के रथ की परिक्रमा जब पूरी हो जाती है, तब भतरा, मुरिया आदिवासी आठ पहियों वाले रथ को चुराकर प्रथा अनुसार कुम्हड़ाकोट ले जाते हैं। कुम्हड़ाकोट में राजा अपनी कुल देवी को नया अन्न चढ़ाकर प्रसाद रुप में उसे खाते थे। कुम्हड़ाकोट राजमहल से लगभग 2 मील दूर पड़ता है। बाहिर रैनी का झूलेदार रथ कुम्हड़ाकोट से चलकर चौराहे से गुजरता है। भीतर रैनी और बाहर रैनी के कार्यक्रमों में रियासती शासन काल में भतरा जाति के आदिवासी युवा अपनी पारम्परिक एवम् विचित्र वेश-भूषा में लगातार दो दिन सक्रिय हुआ करते थे, उन्हें धनुकॉडेया कहॉ जाता था। अब यह प्रथा बंद हो चुकी है। धनु कॉडेया का अर्थ होता है धनुष-तीर वाला। इनका कार्य था, किसी भी ग्रामीण को (स्त्री या बच्चे को छोड़कर) पकड़कर रथ के पास तक ले जाते और उसके हाथों रथ की रस्सी थमा देते थे। निश्चित गॉवों तथा निश्चित परिवारों के अधिकृत सदस्य ही धनुकॉडेया बनाये जाते थे।[21]

मुरिया दरबार:- आश्विन शुक्ल 12 को निर्विध्न दशहरा संपन्न होने की खुशी में काछिन-जात्रा के अंतर्गत काछिनदेवी को काछिन गुड़ी के पास वाले पूजा मंडप पर पुनः सम्मानित किया जाता है। इस दिन संध्या को सीरासार में ग्रामीण तथा शहरी मुखियों की आम सभा लगती थी, जिसे मुरिया-दरबार कहॉ जाता था। इस दरबार में राजा-प्रजा के बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ करता था। विभिन्न समस्याओं के निराकरण हेतु खुली चर्चा होती थी।[22] सही मायने में यह काकतीय राजवंशीय बस्तर के राजाओं की संसद रही है, जिसमें राजा, राजगुरु एवम् उनके मंत्री सीधे

विभिन्न ग्रामों से आये मांझी, मुखिया एवम् अन्य ग्राम प्रतिनिधियों से चर्चा करते थे। आज भी मुरिया दरबार के स्वरुप को प्रजातांत्रिक स्वरुप में स्वीकार किया जा रहा है। इस परंपरागत दरबार में राज्य के मंत्री, बस्तर के सांसद, विधायक भाग लेते है साथ ही बस्तर क्षेत्र में विकास योजनाओं पर चर्चा की जाती है। बदले हुए स्वरुप में जनप्रतिनिधि बस्तर क्षेत्र के विकास के लिये संकल्प लेते है। इस प्रकार इस परंपरागत दरबार का एक सार्थक उपयोग बस्तर दशहरे की विशेषता है।

ओहाड़ी:- मावली माता के मण्डप से आश्विन शुक्ल 13 को मावली माता को समारोह पूर्वक दंतेवाड़ा के लिये विदा किया जाता है। इस विदायी समारोह को ओहाड़ी कहते है। ओहाड़ी के साथ ही बस्तर दशहरे के कार्यक्रम समाप्त हो जाते हैं। लोकोत्सव का स्वरुप ग्रहण कर चुके बस्तर दशहरे को देखने देश-विदेश से हजारों शैलानी आते हैं। इस अवसर पर राज्य शासन की ओर से विकास प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है।[23] बस्तर का यह दशहरा कुछ बातों में प्रजातांत्रिक भी है। बस्तर के इस राजकीय पर्व के प्रति बस्तर का आदिवासी समाज इतना आस्थावान है। उनकी आस्था का एक बड़ा कारण है- देवी दंतेश्वरी आरण्य की संस्कृति के

तहत् देवी-देवताओं का स्थान सर्वोपरि है। देवी दंतेश्वरी बस्तर के काकतीय राजघराने की इष्ट देवी है। इसी कारण बस्तर दशहरा अपने संपूर्ण अंचल की भावात्मक एकता को रेखांकित करता है।[24]

बस्तर का दशहरा सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्वाह के साथ विश्व में सर्वाधिक दिनों तक चलने वाला पर्व अनेक देवी-देवताओं का एक स्थल पर सम्मिलन, राजा पुरुषोत्तम देव के पन्द्रहवीं शताब्दी में सिंहासनारुढ़ होने से लेकर अद्यतन वर्ष तक बिना किसी विध्नबाधा के सांस्कृतिक धरोहर को निर्बाध बनाए रखने की परम्परा ने इसे अनूठा

स्वरुप प्रदान किया है। सम्पूर्ण दशहरा पर्व के पूजन अर्चन में मॉ दंतेश्वरी का विशेष स्थान है।[25]

आदिकाल से चले आ रहे दशहरा पर्व का बस्तर में मनाने का ढंग अत्यंत निराला तथा परंपरा के निर्वहन में विभिन्न प्रथाओं को पूरा किया जाना, बस्तर की सांस्कृतिक धरोहर है। साथ ही एकता के प्रतीक हेतु आज भी प्रासंगिक है। बस्तर की लोक संस्कृति में बस्तर के महापर्व दशहरा का संबंध आदिशक्ति के रुप में मॉ दुर्गा से है। मॉ दुर्गा के शक्ति पीठों में से एक मॉ दंतेश्वरी शक्तिपीठ जन आस्था का केन्द्र है, तथा बस्तर के विभिन्न ग्रामों में मॉ दंतेश्वरी के विभिन्न रुपों की पूजा अलग-अलग देवियों के नाम से की जाती है। मॉ दंतेश्वरी को ही मावली माता के रुप में दशहरा पर्व तक लाया जाता है। दंतेवाड़ा दंतेश्वरी व दशहरा बस्तर की आदिम संस्कृति की प्रतीक है, सांस्कृतिक धरोहर है। नए परिप्रेक्ष्य में बस्तर वासियों के लिए एकता सूत्र का द्योतक है।[26]

छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर क्षेत्र का दशहरा पर्व एकता का प्रतीक है। सभी मिलकर एक उद्देश्य के लिये कार्य करने की झलक यहॉ दृष्ट्रिगोचर होती है। समानता, श्रम विभाजन, प्रकृति के विविध रुपों की पूजा, आदिवासी संस्कृति आदि बस्तर दशहरा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. शुक्ला शांता, (1988),छत्तीसगढ़ का समाजिक-आर्थिक इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,नई दिल्ली, पृ0 6
2. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता,(2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 32,33
3. त्रिपाठी संजय, त्रिपाठी चंदन, (2002), वृहद संदर्भ, उपकार प्रकाशन आगरा, पृ0 460
4. आगत से अतीत तक की धरोहर, फोल्डर, छत्तीसगढ़ पर्यटन मंडल, रायपुर पृ0 2 क्रम 14
5. तिवारी सुरेश, (2011), बस्तर पर्यटन इतिहास और संस्कृति, द्वितीय संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 202,203
6. देवांगन, रमेशचंद्र, (2019), प्रतियोगिता सारांश, ईशिता प्रकाशन, जुना बिलासपुर, पृ0 350
7. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 37, 38
8. शुक्ल, हीरालाल, (2007), आदिवासी बस्तर का वृहद् इतिहास, चतुर्थ खण्ड, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन दिल्ली, पृ0 120, 121
9. विश्व का सबसे लंबा त्यौहार बस्तर दशहरा, उपलब्ध, www.kosalkathlcom पृ0 1
10. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 126, 11. वही पृ0 127
12. पत्रिका रायपुर, 30 सितम्बर 2019 सोमवार, पृ0 3
13 .बस्तर दशहरा उपलब्ध, patrika.com/jagdalpur-news/jagdalpur dussuhra
14. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 128, 15. वही 129
16. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 34
17. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 130
18. बस्तर दशहरा, उपलब्ध, patrika.com/jagdalpur-news/jagdalpur dussuhra
19. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 131
20. ब्रिटिश कालीन छत्तीसगढ़ हिंदी गजेटियर, (2017),भाग-1, छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर
21. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 132, 22. वही 133
23. गौड़ शरत चंद्र, गौड़ कविता, (2010), बस्तर एक खोज, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ0 36
24. जगदलपुरी लाला, (2016), बस्तर इतिहास एवम् संस्कृति, चतुर्थ संस्करण, मघ्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 127
25. तिवारी सुरेश, (2011), बस्तर पर्यटन इतिहास और संस्कृति, द्वितीय संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 2011, पृ0 206, 26. वही 208, 209

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य व्यंग्य

डॉ. मानक चंद टंडन

लोकगीत, लोकमन की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोकगीत लोककण्ठों में विराजता है, जो उनके दीर्घकाल के अनुभव, चिन्तन एवं साधना के द्वारा संचित ज्ञानकोष का जीवन्त रूप है। यही कला रूप युगानुरूप परिवर्तन के साथ अपनी मूलभावना को सहेजे पीढ़ी दर पीढ़ी वाचिक परम्परानुरूप हस्तांतरित हो रही है। लोकजीवन के क्रमिक इतिहास, लोक संस्कार, रीति-नीति, परम्परा, खान-पान, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि के बहुरंगी रूप लोकगीतों में स्वतः ही समाहित रहते है। छत्तीसगढ़ में लोकगीतों के इन्द्रधनुषी रंग विद्यमान है-लोरी, फुगड़ी, सुआ, बारहमासा, ददरिया, भोजली, गौरी-गौरा, फाग, जस, जंवारा, करमा, पंथी, छेरछेरा, पंडवानी, भरथरी, चंदैनी, ढोलामारू, बांसगीत, संस्कारगीत, देवारगीत आदि। इन लोकगीतों ने छत्तीसगढ़ी लोकजीवन के सुख-दुख, जीवन-मरण, मिलन-विरह, आसू और मुस्कान सब को जीवन्तता प्रदान की है।

हास्य-व्यंग्य लोकजीवन का प्रमुख अंग है। विसंगतियों-बुराईयों पर व्यंग्य करना लोक का स्वभावगत गुण है। मनोविनोद एवं मनोरंजन के लिए भी गीतों में हास्य-व्यंग्य को माध्यम बनाया जाता है। लोकगीतों में हास्य-व्यंग्य के पुट जनमानस को स्वस्फूर्त बनाता है, आंदोलित करता है एवं दीर्घायु बनता है। ऐसे सहज व्यंग्य में व्यंग्यकर्ता तथा जिस पर व्यंग्य किया जा रहा है, उस पर किसी तरह का मतभेद, दुराव या घृणा का भाव नहीं होता, ये व्यंग्य मनोविनोद या प्रेमवश किये जाते है। लोकगीतों के व्यंग्य सीधे और सटीक पड़ता है। लक्ष्य पर सीधा प्रहार होता है। रिश्तों-नातों में प्रगाढ़ प्रेम को स्थापित करने एवं समालोचना कर या कहे ताना कसकर कमियों को दूर करने में हास्य-व्यंग्य प्रधान गीतों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। 'प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंड का पर्दाफाश करता है। वे कहते हैं-''व्यंग्य एक माध्यम है कोई राजनीतिक पार्टी नहीं, व्यंग्य उजागर और सचेत करता है।' व्यंग्य एक सही मापदण्ड है व्यवस्थित जीवन के लिए। उनके अनुसार-''सही व्यंग्य व्यापक जीवन परिवेश को समझने से आता है, परिवेशगत विसंगतियों की तह में जाना, कारणों का विश्लेषण करना, उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखना-इसी से सही व्यंग्य बनता है। उनके अनुसार ''सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार कराता है, चेतना मे हलचल पैदा करता है, व्यवस्था की सड़ाँध की ओर इंगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है।''[1]

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में हास्य और व्यंग्य की स्वभावतः जुगलबंदी होती है। लोकगीतों में जनमानस का जहाँ सहज उमंग-उल्लास होता है, वहाँ हास्य मौजूद होता है तथा विपरीत परिस्थिति में वही व्यंग्य का रूप ल लेता है। 'व्यंग्य' अपने साथ चमत्कारीक गुण को समाये होता है, कटाक्ष सम्पन्न होता है। यह किसी को आल्हादित लगता है और किसी को नीम सा कड़वा भी लगता है। लोकगीतों में समाहित हास्य-व्यंग्य लोकजीवन के कमियों को उजागर करने वाला प्रकाश-परावर्तक होता है और सुधार करने वाला कोंचक हथियार भी। इसका प्रयोग विसंगतियों-बुराईयों को आहत और नष्ट करने के इरादे से किया जाता है। कहीं-कहीं यह व्यंग्य, विशुद्ध रूप से हास्य से सज्जित होता है, लेकिन दूसरी ओर करूणा के भाव को भी दर्शाता है। प्रियतम से बिछुड़ने का दुख तथा देशकाल पर व्यंग्य भाव इस देवार गीत में चित्रित है-

''मन मिले जोही अब तो भुलागे वो गुने ल भइगे
दिल मिले जोही अब तो भुलागे.....
एक तो भुलागे दीदी बन के कोयलिया वो
बन के कोयलिया
दूजे भुलागे संगी साथी वो गुने ल भइगे
मन मिले जोही..... ।''[2]

दरोगा, पटवारी, अमीन आदि के अत्याचारों को लोकगीतों के माध्यम से गाया जाता हैं। नेताओं द्वारा भ्रष्टाचार, भोगलिप्सा और ऐश्वर्यप्रियता भी लोकगीतों के विषय क्षेत्र में अपना स्थान बना लेते है। देवार करमा गीत में वही व्यंग्यात्मक भाव परिलक्षित हो रहा है-

''एक तारा हो टुटे पहाड़ म परे
पटवारी के लइका जुलुम किये
हो एक तारा..... ।
काबा म काबा फुले, बन बन पटवारी
छोटे सही जान परे, साल होगे भारी
हो एक तारा..... ।''[3]

विवाह संस्कार के इस अवसर पर चूलमाटी लाने वर-वधु पक्ष के लोग गौठान में जाते हैं। इस रस्म में मिट्टी खोदते समय जीजा-साली, भाभी-ननद, दादा-दादी, ढेड़हीन-ढेड़हा, सुवासिन-सुवासा में गीतों के माध्यम से आपसी नोंक-झोंक होता है। हास्य व्यंग्यात्मक गीतों से ये एक दूसरे पर ताना कसते है। यह दृश्य बड़ा ही मनमोहक होता हैं-

तोला माटी कोड़े ल
तोला माटी कोड़े ल
नई आवय मीत धीरे-धीरे
धीरे-धीरे अपन मेछा ल तीर धीरे-धीरे
तोला माटी बोहे ल
तोला माटी बोहे ल
नई आवय मीत धीरे-धीरे
धीरे-धीरे अपन लुगरा ल तीर धीरे-धीरे

विवाह संस्कार के अवसर पर विविध रस्मों के अनुरूप अनेक प्रकार के गीत गाये जाने की परम्परा है। इस अवसर पर भड़ौनी गीतों में हास्य-व्यंग्य के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं-

''राती राती आये बरतिया दिखे कंवल के फूल हो
डफड़ा बरोबर छतिया दिखत हे, घोड़ा बरन तोर मुँह हो..... ।
नंदी तीर के करू करेला फरगे झोंपा चार हो
समधी राजा का डांड़ पड़गे अपन बहिनी बेचे ला जाय हो..... ।''[4]

भड़ौनी गीत की एक अन्य शैली यह भी है-

''आइन बरतिया वो गाँथे अउ कोरे,

वो गाँथे अउ कोरे
कि खड़े हे दांत निपोरे रे सगा ह
खड़े हे दांत निपोरे।।
आइन बरतिया वो पेट संधोये
वो पेट संधोये
कि मुंह घलो नइतो धोये रे सगा
मुंह घलो नइतो धोये।।''[5]

डिड़वा नाच छत्तीसगढ़ का स्त्री प्रधान गीतिनाट्य है। इसके गीत विशुद्ध रूप से श्रृंगारिक तथा हास्य-व्यंग्यपूर्ण होता है। गीतों के माध्यम से एक-दूसरे को ताना कसकर मनोरंजन करना कलाकारों का मुख्य उद्देश्य होता है-

''समधिन भऊजी के दाई, ओकर छेना बिने गये हे
छेरका म मन लगगे
झऊहा म लइका बियाये हे
ये दे झऊहा म लइका बियाये हे
झऊहा म लइका बियाये.....
झऊहा म लइका कऊन रंग होवय
झऊहा म लइका कऊन रंग होवय
के कारी बिलई लमचोची
कारी बिलई लमचोची भऊजी के
कारी बिलई लमचोची भऊजी के
ओकर चोंचे म बैठे हे कऊआ
भौजी के चोंचे म बइठे हे कऊआ।''[6]

छत्तीसगढ़ में प्रचलित राउत दोहों में जहाँ शौर्य का भाव है, वहीं हास्य-व्यंग्य के भी विविध भाव परिलक्षित होते हैं। ऐतिहासिक संदर्भों के साथ ही सम-सामयिक गतिविधियों पर भी लोक की पैनी नजर रहती है। राउत दोहों में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है-

''बामन होय से का होत है, पहिरे तीन ताग के सूत।
भाव-भंजन जाने नहिं, रहे भूत के भूत।।
भले गाँव भरतपुर जिहाँ बहुते फरे हे पिकरी रे।
निपनिया के टूरी मनला देखतो खसखस ले चिपरी रे।।
बइला ला देहंव दाना-पानी, भईसा ल देहंव भूसा रे।
ये खपरी गांव के टूरी मन हा मोला कइथे मोसा रे।।
सबके लउठी रिंगी-चिंगी, अउ मोर लउठी कुसुवा रे।
धर बांध के डउकी लानेंव, उहू ल लेगे मुसुवारे।।
ठाकुर ल जोहारे आयेन संगी, बुचुआ हंडिया मा बासी हो
ठाकुर पहिरे सोन चांदी, ठकुराइन पहिरे घांटी हो।।''[7]

लोक अपने आराध्य देवी-देवताओं के चरित्र या घटनाओं को भी लोकजीवन की कसौटी में कसकर देखता है । वह उन पर भी व्यंग्य करने से नहीं कतराता । लोकनाट्य 'रहस' में प्रचलित गारी गीत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है-

''गारी गावय सबे बिरीजनारी, सुनले तंय घनस्याम ।
गोरिया हे नंद जसोदा गोरी, गोरिया हे बलराम
कइसे तंय करिया भये मोहन, जनम लिये नंद धाम ।
बहिनी तोरे रानी सुभदरा, जाने नगर समाज
अरजुन के संग भागे उढ़रिया, बोरे कुल के नाम ।''[8]

सुवा गीत मूलतः श्रृंगारिक गीत है किन्तु इनमें लोक जीवन के विविध प्रसंगों एवं क्रियाकलापों का समावेश स्वतः ही हो जाता है । हास्य-व्यंग्य का सुन्दर रूप इस सुवागीत में चित्रित है-

''तरि हरि ना-ना मोर ना-ना सुवना खोरवा बनिया
खोरवा बनिया हला-हला कनिहा बेचै धनिया
पहिरे चिक्कट पटकू, अऊ निच्चट चेंदुवा, खोरवा-बनिया
मुँड़ी ल चाबै घेरी-बेरी मँगसा-खोरवा बनिया ।
मारे थपरा मुँड़ी म आगे झारा झारा कचरा खोरवा बनिया ।
खोरवा बनिया हलाहला कनिहा बेचै धनिया ।''[9]

छत्तीसगढ़ के सामाजिक जीवन मूल्यों पर आधारित जनप्रिय लोकनाट्य विधा है-नाचा । नाचा में ऐतिहासिक चरित्रों के गुण-व्यवहार को आधार बनाकर उन्ही के सदृश चरित्रों पर हास्य प्रधान शैली में व्यंग्य किया जाता है-

तोला जोगी जानेव रे भाई
का जानंव लंका पति रावन जोगी जानेंव
अरे दंड कमंडल धर के तंयहा
साधू भेस मं आयेजी
धोखा देके भिक्छा मांगे
लाज घलो नइ आये, तोला जोगी जानेंव
तोला जोगी जानेव रे भाई.....

नाचा में साखी के माध्यम से भी जनमानस के समक्ष हास्य-व्यंग्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये जाते है जिनसे लोक का मनोरंजन के साथ-साथ तार्किक बुद्धिमत्ता का भी विकास होता है-

1. नदी बियाये ढ़ोड़गी अऊ ढ़ोड़गी बियाये रेत
बुढ़िया-बुढ़िया के लइका होगे, मुटियारी ठठाये पेट जी ।।
2. चारमहिना के छोकरी छः महिना के पेट
अट्ठारह ठन लइका बियाय, पुरूष संग नइये भेंट ।।
3. दस चरण दस नेत्र है, पाँच मुड़ जीव चार,
उलटा घड़ा पनिहारिन के, संगी करो विचार ।।

छत्तीसगढ़ की पावन भूमि संत-महात्माओं की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली भी रही है । यहाँ गुरू घासीदास, धनी धर्मदास, रैदास आदि संतों के विचारों, आदर्शों का गहरा प्रभाव है । वे अपने चरित्र एवं वाणी से निर्गुण भक्ति का

संदेश देकर यहाँ के जनमानस में भक्ति तथा आध्यात्म का संचार किये हैं। इस नश्वर शरीर पर अभिमान ना कर आडम्बर रहित उच्चतम मानवीय जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। इस निर्गुण भजन में समाज को करूण भावों के साथ व्यंग्यात्मक शैली में यही बात कही गयी है-

'पंछी के कउन हे ठिकाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना.....
बढके सुख संतोस ल नइये
लोभिया गिधवा समाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना.....
जीयत भर मन मोर-मोर भावे
मिरीत सरीर तुरते हटावे
मोह माया तोर चार दिन बर
धन, बल कछु संग नइ जावे
जुच्छा आये जाना हे जुच्छा
एक दिन सब हे गवाना रे नर तन
पर जाही कब उड़ जाना..... ।''[10]

सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरू घासीदास बाबा के चरित्र, उपदेश तथा संदेशों को पंथी गीत में गाया जाता है। इनमें मानवीय जीवन के बाह्य आडम्बर पर तीखा व्यंग्य किया जाता है जिससे वे सत्मार्ग पर अग्रसर हो-

मंदिरवा मा का करे जइबो
अपन घट के ही देवा ल मनइबो.....
पथरा के देवता हाले नइतो डोले वो
ना तो कुछु खाये पीये ना तो कुछु बोले
मंदिरवा मा का करे जइबे.....

ददरिया लोकगीत श्रम और साधना के गीत है। खेत-खलिहानों पर मेहनतकस मजदूर हरे-भरे फसलों के मनोहारी दृश्य को देखकर अनायास ददरिया लोकगीतों को गुनगुनाने लगता है। इनमें भी हास्य-व्यंग्य के अनेक रूप व्याप्त होते हैं-

''खाये ल कहेंव तंय नई खाये
मोर जीव ल लेवाके तंय नई आये
कारी बिजुनारी कुदारी बन मा
कइसे गोहरावंव जवानी पन मा
झुलके मारे झुलनी उठाके मारय बान
का जानंव भऊजी तोर भाई बेइमान
जोरे पीरीत ल, जोरे पीरीत ल काबर टोरे वो... ।''[11]

लोकगीतों में देशकाल एवं तत्कालीक घटनाओं के दृश्य भी समाहित होते हैं। भारतीय स्वाधीनता आंदोलनों में जनजागरण में लोकगीतों की महती भूमिका रही है। इस करमा गीत अंग्रेजों द्वारा भारत को गुलाम बनाने के घटनाओं का व्यंग्यात्मक शैली में वर्णन हुआ है-

''ओ हो हो हो हाय रे गुलाम भये रे
देस हमर अंगरेजन के गुलाम भये रे
सात समुन्दर पार ले आके, बनिन हे बैपारी
संगी बनिन हे बैपारी
राज पाठ ला कबजा डारिन, करे अतियाचारी
रे गुलाम भये रे.....
जात धरम म हमला लड़ाके, अपन बनगे हितवा
भइया अपन बनगे हितवा
सोना-चांदी सबो नंगालिस, जइसे मांस ल गिधवा
रे गुलाम भये रे..... ।''[12]

लोकजीवन के उमंग का पर्याय है-फाग गीत। फागगीतों में भी अवसरानुकूल हास्य-व्यंग्य के मनोहारी स्वरूप दिखाई देते हैं-

''चल हां दसोदा तोर बेटवा अतलंगहा हे
कलसा फोर लेवना चोराय
दसोदा तोर..... ।
कलेचुप लुका के वो घर भीतरी आथे
सींका टोर सबो संगी ला खवाथे
दसोदा तोर..... ।''[13]

पूस पुन्नी के दिन छेरछेरा पर्व का गांव-नगर सभी जगह धूम रहता है। छेरछेरा गीत में भी हास्य-व्यंग्य की प्रचुरता रहती है-

''छेरीक छेरा छेर बरतनीन छेरछेरा
मांई कोठी के धान ल हेर, हेरा..... ।
धनी रे पुनी रे ठमक नाचे डुवा, डुवा
अंडा के घर बनाये, पथरा के गुड़ी
तीर-तीर मोटियारी नाचे, बीचे मं बुढ़ी
धनी रे पुनी..... ।
कारी कुकरी करकराय, पुसियारी सेय
बुढ़िया ल पाठा मिले, मोटियारी रोय
धनी रे पुनी..... ।
कबरी बिलई दउड़े जाय, कुकुर पछुवाय
बिलई ह टांगमारय, कुकुर गुर्राय

धनी रे पुनी..... ।''[14]

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में भिन्न-भिन्न वस्तुस्थिति, जीवन दृष्टि, सामंतवादिता, मनोविनोद, प्रेम तथा जीवन में नये आदर्शों की स्थापना के लिए भी हास्य व्यंग्य समाहित किये जाते है । धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विसंगतियों पर भी लोकगीतों के माध्यम से लोक, समाज पर व्यंग्य बाण छोड़ता है ताकि लक्ष्य उन विसंगतियों को दूर कर सकें।

संदर्भ सूची-

1. हिन्दी व्यंग्य-कर्म एवं समकालीन दृश्य-संपादक-डॉ. विनय कुमार पाठक, श्रीमती जयश्री शुक्ला, प्रकाशन-प्रयास प्रकाशन सी-62, अज्ञेय नगर, बिलासपुर 495001 प्रथम संस्करण 2002 पृ. सं.-15
2. श्रीमती रेखा देवार, ग्राम-कुकुसदा, थाना-पथरिया, जिला-मुंगेली, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 13.05.2013
3. श्रीमती रेखा देवार, ग्राम-कुकुसदा, थाना-पथरिया, जिला-मुंगेली, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 13.05.2013
4. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
5. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
6. श्रीमती गनेशिया बाई रात्रे, ग्राम-मुढ़ीपार, थाना-बिल्हा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 26.03.2015
7. श्री पीरीत राम यादव, ग्राम-भरतपुर, थाना-भाटापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक- 15.09.2014
8. पं. जैतराम गर्ग, ग्राम-मुढ़ीपार, थाना-बिल्हा, जिला-बिलासपुर, छ.ग. से संग्रहित। दिनांक-12.04.2014
9. छत्तीसगढ़ के सुवागीत-डॉ. जगदीश कुलदीप, प्रकाशन-बिलासा प्रकाशन प्रेस क्लब भवन ईदगाह मार्ग बिलासपुर, छ.ग. प्रथम संस्करण 2007 पृ. क्र. 37
10. नाचा-अनिल जांगड़े गौतरिहा, प्रकाशन-वैभव प्रकाशन, अमीन पारा चौक, पुरानी बस्ती, रायपुर, छ.ग.1 संस्करण 2015 पृ.क्र. 56
11. श्रीमती अंजोरा बाई कुर्रे, ग्राम-तेलसरा, थाना-चकरभाठा, जिला-बिलासपुर, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 20.03.2015
12. श्री सुखराम ध्रुव, ग्राम-सेम्हरा, थाना-भाठापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक-11.02.2016
13. श्री सुखराम ध्रुव, ग्राम-सेम्हरा, थाना-भाठापारा, जिला-बलौदाबाजार, छ.ग.से संग्रहित। दिनांक- 11.02.2016
14. छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति- डॉ. पीसीलाल यादव, प्रकाशन-सर्वप्रिय प्रकाशन 1569, प्रथम मंजिल, चर्च रोड काश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 2020 पृ. क्र.-81

कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासियों की जीवन शैली और संस्कृति

मोनिका साहू

छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर संभाग में स्थित "उत्तर बस्तर" नाम से विख्यात कांकेर ज़िला भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही समृद्ध रहा है। कांकेर ज़िला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है, जहाँ प्रचलित विशिष्ट मान्यताएँ, रीति-रिवाज़, पर्व-उत्सव, लोकगीत, लोक-नृत्य एवं लोककला आदिम संस्कृति के परिचायक हैं। यहाँ निवासरत गोंड जनजाति का संपूर्ण जीवन मानों लोककला तथा लोकसंगीत से सराबोर है। गोंड जनजातियों का जीवन मुख्यतः कृषि, पशुपालन एवं प्राकृतिक वनोपज पर आश्रित रहते हुए गोंड़ जनजाति प्रकृति की अनुपम गोद में पला-बढ़ा है। इस क्षेत्र में निवासरत गोंड जनजाति नगरीकरण की चकाचौंध से कोसों दूर आज भी अपनी आदिम परंपरा तथा लोक संस्कृति को संरक्षित एवं सुरक्षित बनाए हुए हैं।

आदिवासियों को "प्रकृति पुत्र" कहा जाता है, इसके पीछे का कारण यह है कि आदिवासी प्रकृति से जुड़े हुए हैं। आधुनिकीकरण के इस दौर में भी वे जंगलों में रहना पसंद करते हैं। कांकेर जिले के गोंड़ आदिवासी आज भी अपनी मूल अवस्था में है, जहाँ आदिवासी समाज गैर आदिवासी समाज के संपर्क में आकर अपनी संस्कृति छोड़ नगरीय संस्कृति अपना रहा है, वही कांकेर के गोंड़ आदिवासी अपनी संस्कृति को समेटे हुए हैं। यहाँ के आदिवासियों की संस्कृति अपने आप में अनूठी है। इनका जीवन प्रकृति से जुड़ा हुआ है। अन्य जनजाति की ही तरह ये भी प्रकृति के पुजारी हैं। जन्म से लेकर मृत्यु संस्कार तक हर स्थान पर यह लोग प्रकृति की पूजा विशेष रूप से करते आए हैं। इनके भोजन, आवास आदि सभी तत्व एवं आवश्यकताएँ मूलतः प्रकृति से ही प्रभावित हैं। मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा के बाद मकान का स्थान आता है। आश्रय एक ऐसा कारक है जो मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। इन्हीं कारणों से आदिकाल से आश्रय के लिए नए-नए तरीके अपनाए गए। प्रारंभ में तो प्राकृतिक आवास का उपयोग किया जाता था जिसमें पत्थरों की गुफाएँ, वृक्ष आदि थे। जैसे-जैसे मानव चेतना विकसित होती गई, फिर मनुष्यों ने कठिन मौसम से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए मकान या आवास के नए-नए तरीके अपनाने लगा। सामाजिकों के लिए आवास एक आवश्यक अंग है, जो पारिवारिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके साथ-साथ सुरक्षा की दृष्टि से भी यह अति आवश्यक है। किसी जनजाति के सामुदायिक संगठन, पारिवारिक संगठन, जीवन-स्तर तथा आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ संस्कृति व रीति-रिवाज़ों को समझने में उनके आवास की व्यवस्था का अध्ययन अत्यंत सहायक होता है। इससे आदिवासियों की प्रकृति उनकी प्रवृत्तियों पारस्परिक संबंधों विश्वास व आस्थाओं कला-बोध आदि का सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है।'

यह क्षेत्र प्राकृतिक रूप से पतझड़ वन वाले हैं। इस दृष्टिकोण से यहाँ वर्षा की स्थिति के अनुकूल है। ग्रीष्म एवं शीतकाल के अनुरूप आवासों का निर्माण किया जाता है। 'घर विभिन्न संस्कारों को क्रियान्वित करने का स्थान है, जहाँ जन्म, विवाह और नित्य संस्कार घर में ही रहकर किए जाते हैं। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है, कि घर

संस्कार निर्माण का एक महत्वपूर्ण सोपान है।' गोंड जनजाति का व्यक्ति मकान बनाने हेतु सर्वप्रथम ऐसे स्थान का चयन करता है, जहाँ आसपास उसके परिजन निवास करते हों। स्थान का चयन करते समय इस बात का भी ध्यान दिया जाता है कि मकान के आसपास उसकी आवश्यकताओं की वस्तु आसानी से उपलब्ध हो सके। विशेष बात यह है कि स्थान के चयन मात्र से मकान नहीं बनाया जाता अपितु मकान बनाने के लिए उस स्थान का परीक्षण करने की भी परम्परा है। अपने देवी-देवता और धरती माता से अनुमति मांगी जाती है। अनुमति मिलने पर ही उस स्थान पर मकान बनाया जाता है। इस प्रक्रिया को कुछ लोग "अनुमति मांगनाँ तो कुछ लोग वह लोग "परीक्षण" करना कहते हैं। अनुमति हेतु घर का मुखिया गाँव का गायता (सिरहा) एवं देवी-देवता संबंधी जानकारी रखने वाले लोग उस स्थान पर एकत्र होते हैं। निश्चित स्थान का सेवा (पूजा) किया जाता है। महुआ का शराब से तर्पण किया जाता है। तत्पश्चात स्थान के चारों ओर घर के मुखिया द्वारा चावल रखा जाता है। इस प्रक्रिया को "कुडही" देना कहा जाता है। कुडही रखकर गोंड जनजाति अपने देवी-देवता एवं धरती माता से अनुमति मांगते हैं। साक्षात्कार के दौरान बांसपत्तर निवासी श्री मोहन वट्टी एवं श्री यशवंत कश्यप जी ने यह बताया, कि- 'गोंड जनजाति का यह विश्वास है, कि अगर कुडही 24 घंटे तक जैसा रखा गया था, ठीक वैसा ही है। न कुडही दिया गया चावल बिखरा हो और न किसी पशु-पक्षी के द्वारा खाया गया हो, तो देवी-देवता उस स्थान पर मकान बनाने की अनुमति प्रदान करते हैं। यदि चांवल इधर-उधर बिखरा हो या उस स्थान में पाया ही नहीं जाता, तो यह मान लिया जाता है कि वह स्थान देवी-देवताओं के आने-जाने का मार्ग है। तो उस स्थान पर मकान नहीं बनाया जा सकता। इस स्थिति में दूसरे स्थान का चयन किया जाता है, लेकिन उस व्यक्ति के पास और कोई स्थान न होने पर पूजा-पाठ करके देवी-देवताओं को मनाने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे करने से अगर संभव हो तो देवी-देवता उनका अप्रत्यक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त करते हैं।

कांकेर जिले के गोंड आदिवासी अपने प्रत्येक कार्य को करने से पहले देवी-देवताओं का स्मरण अनिवार्य रूप से करते हैं। कोई भी शुभ कार्य पूजा से ही प्रारंभ होती है। गोंड जनजाति पूजा को 'सेवा' कहते हैं, जिस प्रकार गैर गोंड समाज अपने आराध्य देव की 'जय' बुलाते हैं, उदाहरण- "शंकर भगवान की जय", ठीक उसी प्रकार गोंड़ समाज "बूढ़ादेव बाबा ना सेवा सेवा" कहकर अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

गोंड़ आदिवासियों की जीवन-शैली अत्यंत सरल एवं स्वाभाविक है। सुबह उठते ही गोंड़ परिवार अपने-अपने कामों में लग जाते हैं। महिलाएँ घर के कार्यों में तथा पुरुष जानवरों एवं खेत के कार्यों में अपना दिन व्यतीत करते हैं। गोंड़ पुरुषों को शिकार करना बहुत पसंद है। आज भी गोंड़ पुरुष चूहा और चिड़िया का शिकार करते हैं। चूहे का मांस इन्हें बहुत प्रिय होता है इस कारण यह लोग चूहे के शिकार में दिनभर लगा देते हैं। चूहे का शिकार सामूहिक रूप से किया जाता है। महिलाएँ अपना बचा हुआ समय झाड़ू बनाने या जंगल से लकड़ी लाने में उपयोग करती हैं। जंगलों से वनोपज संग्रहण करना गोंड समाज का अभिन्न अंग है। लगभग सभी गोंड़ परिवारों के घरों और खेतों में महुआ का पेड़ होता है। महुआ गोंड समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि कोई भी सामाजिक एवं धार्मिक कार्य महुआ के शराब के बिना संपन्न नहीं होता है। कांकेर ज़िले की गोंड़ जनजातियों में किसी भी मौसमी फल के

उपयोग से पहले त्यौहार मनाने की परम्परा है। त्यौहार में देवी-देवताओं को पहले वह फल अर्पित किया जाता है, उसके पश्चात प्रसाद के रूप में सभी को दिया जाता है। इन सब त्योहारों को गाँव के 'ठाकुर दाई' नामक स्थान पर संपन्न किया जाता है। उस स्थान को लीप कर, चांवल आटे से गायता (सिरहा) के द्वारा चौक पूरा जाता है। दीपक जलाकर महुआ का शराब, मुर्रा, लाई एवं जो भी मौसमी फल है उसे देवी-देवताओं को अर्पित किया जाता है। जब तक यह त्यौहार नहीं मना लिया जाता तब तक कोई भी गोंड़ परिवार का सदस्य उस फसल का उपयोग नहीं करता। उदाहरण के लिए जब तक 'महुआ जोगानी' का त्यौहार नहीं मना लिया जाता, तब तक कोई भी परिवार नए महुआ के फूल से शराब नहीं बना सकते। ठीक उसी प्रकार गोंड समाज में 'चईत-रईत' (चैत-रैत) या 'आमा तिहार' नहीं मनाते, तब तक कोई भी गोंड़ परिवार के व्यक्ति के द्वारा आम नहीं तोड़ा जाता। न ही गिरे हुए आम से सिलबट्टा में चटनी बनाया जाता है और न ही हंसिया से काटा जाता है। गोंड़ समाज का ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से देवी-देवता नाराज हो जाते हैं और गाँव में विपत्ति आती है। महुआ जोगानी मनाने के पश्चात् गाँव की महिलाएँ एवं लड़कियों के द्वारा 'रेला नृत्य' किया जाता है। यह नृत्य वे अपने गाँव के सभी मोहल्लों एवं दूसरे गाँव में जाकर भी करते हैं। चौराहों में रेला नृत्य किया जाता है इसके बदले सभी घरों से उन्हें महुआ मिलता है।

कांकेर जिले के गोंड जनजाति जिस प्रकार सभी मौसमी फलों को देवी-देवताओं को अर्पित करने के बाद खाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो उनकी मुख्य फसल धान के उपयोग से पहले भी त्यौहार मनाया जाता है। यह गोंड़ समाज का प्रमुख त्योहार है, जिसे 'नवा तिहार' के नाम से जाना जाता है। कांकेर ज़िला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र होने के कारण नवा त्यौहार के दिन ज़िला स्तरीय अवकाश दिया जाता है। नवा तिहार सब अपने-अपने घरों में मनाते हैं। नई फसल को अपने कुल देवी-देवताओं को अर्पित करते हैं एवं नए चांवल के बने 'चिवड़ा' को प्रसाद के रूप में सभी घरवाले ग्रहण करते हैं। इस प्रसाद को केवल घर के सदस्य ही खाते हैं। दूसरे दिन 'बासी तिहार' मनाया जाता है। इस दिन सभी के घरों में मुर्गा, मछली, सूअर आदि के मांस पकते हैं। अपने सगे संबंधियों एवं पड़ोसियों को खाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस दिन सब गोंड़ परिवार ठाकुर दाई जोहरनी पूजा में जाते हैं। घर से पाव भर चावल एवं पाव भर महुआ का शराब लेकर ठाकुर दाई के पास जाकर सेवा किया जाता है। इसके उपरांत गाँव में 'हुल्की' एवं 'रेला नृत्य' किया जाता है। गोंड पुरुष भी हुल्की बजाकर नृत्य में शामिल होते हैं-

सिरक रोलो रोरोले, रोलय रोरो रोरो लय।
रोलय सिरक रोलो रोरोले रोला रोरो लय।।

समाज का प्रथम इकाई परिवार होता है न कि व्यक्ति। व्यक्ति से परिवार बनता है और परिवार से समाज। पारिवारिक जीवन का आधार वैवाहिक जीवन होता है। विवाह संस्कार मानव जीवन के प्रमुख 16 संस्कारों में से एक महत्वपूर्ण संस्कार है। गोंड जनजाति में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित है, किंतु सबसे प्राचीन विवाह 'टीका विवाह' है। टीका विवाह में वर बारात लेकर वधु के घर जाता है और वहाँ सगाई करके वधु को अपने साथ ले आता है। इसे 'सत्ता मडवा' कहा जाता है। इस विवाह में वर और वधू का विवाह सभी वैवाहिक रस्मों साथ में ही एक ही मंडप में

होता है। विवाह के सारे खर्च वर-वधू दोनों पक्षों के द्वारा मिलकर किया जाता है। जैसे कि पहले ही बताया गया है कि गोंड आदिवासी किसी भी शुभ कार्य से पहले अपने देवी-देवताओं का स्मरण करते हैं। विवाह के पहले दिन उपस्थित सभी युवक-युवती (चेलिक-मोटियारिन) के द्वारा मंडप में गीत गाकर रेला नृत्य किया जाता है और अपने देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता है। यह नृत्य मंडपाच्छादन से पूर्व किया जाता है-

गीत -

रिरिलोयो रेला रेला रेरेला रिरिलोयो रेरेला।
रेला साय रेला, रेरेला, रिरि लोयो रेरेला -2
जोहर-जोहर जिमिदारिन जोहरी, जोहर जोहर जोहारी।
तोला लागे भने गुरु जी जोहर जोहर जोहारी।।
जोहर-जोहर बूढ़ादेव ला जोहरी, जोरि, जोहर जोहारी।
तोला लागे भेल गुरु जी जोहर, जोहर जोहारी।।

इस प्रकार गीतों का सिलसिला चलता रहता है और युवक-युवती कंधे से कंधा मिलाकर नृत्य करते हैं। गोंड समाज के विवाह में आडंबर के लिए कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार गैर आदिवासी समाज अग्नि को साक्षी मानकर उसके चारों ओर सात फेरे लेते हैं वैसे ही गोंड समाज में भी विवाह के समय मंडप में सात फेरे लगाए जाते हैं। इसे 'लगीन मारना' कहा जाता है। रस्म में वर एवं मधु के भाई उन्हें पीठ में बिठाकर मंडप के साथ चक्कर लगाते हैं। वर-वधु को चादर से छुपा दिया जाता है। वर की माँ कलश सर में लेकर सामने घूमती है। उपस्थित सभी लोग मुर्रा एवं लाई छिड़क कर आशीर्वाद देते हैं। विवाह के 10 से 15 दिन बाद वर-वधू और वर के परिवार के सदस्य सगे संबंधी सभी वधू के घर जाते हैं। इस रस्म को 'सगा देखना' कहा जाता है। इस दिन वर पक्ष की तरफ से मुर्गा, बकरा, सूअर एवं महुआ का शराब वधू के घर ले जाकर स्वयं बनाकर वधू पक्ष के लोगों को खिलाने की परम्परा है।

हम यह पढ़ते और सुनते आए हैं कि आदिमानव अपना भोजन जंगलों से प्राप्त करते थे। वे कच्चा मांस का सेवन करते थे धीरे-धीरे मानव चेतना विकसित होती गई तो वह मांस का आग में भूनकर खाने लगे। गोंड आदिवासियों में यह संस्कृति आज भी दिखाई देती है। वह आज भी जंगलों में से सब्जी एकत्र करते हैं। गोंड जनजाति चूहे के मांस को आग में भूनकर बड़े चाव से खाते हैं। अन्य सब्जी उबाल कर या भूनकर बनाया जाता है। गोंड़ आदिवासी तला हुआ भोजन करना पसंद नहीं करते, यही उनके स्वस्थ जीवन का रहस्य है। लगभग 90 प्रतिशत महिलायें एवं पुरुष शराब का सेवन करते हैं। महुआ के शराब के साथ-साथ सल्फी, ताड़ी एवं छींद रस का सेवन भी किया जाता है।

संदर्भ सूची-

- पाटिल, डॉ अशोक, "कोरकू आदिवासियों की ग्राम रचना व आवास व्यवस्था की विशेषताएँ ,"**चौमासा,** वर्ष 8, अंक 26, जुलाई-अक्टूबर 1991, पृ. 62
- निरगुने .पृ ,भोपाल ,मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी ,**"लोक साहित्य"** ,बसंत ,501

शरीर कला एवं दृश्य भाषा : पूर्वी एवं पूर्वोत्तर जनजातियों में गोदना

डॉ. नीलिमा पाण्डेय

गोदना एक प्रकार की विजुअल लैंग्वेज या दृश्य भाषा है जिसकी समझ हमें जनजातीय समाज को जानने, समझने और विश्लेषित करने योग्य बनाती है। इस भाषा में दक्षता जनजातीय संस्कृति को समझने में मदद करती है। ज्यादातर जनजातियों ने गोदने को अपनी दैनंदिन की चर्या में शामिल कर रखा है। सबसे खास वह विशिष्ट गोदना चिन्ह हैं जो एक जनजाति को दूसरी से अलग करते हैं और उन्हें पृथक रूप् से चिन्हित करने में मददगार होते हैं। तमाम सांस्कृतिक विशिष्टताओं की सूचना देने के साथ-साथ एक तरह से ये अलग-अलग जनजातियों की निशानदेही में काम आते हैं।

गोदने की कला का इस्तेमाल जनजातियों ने आकर्षण-विकर्षण, शौर्य प्रदर्शन, विरोध-प्रतिरोध आदि अनेक संदर्भों में किया है। अनेक जनजातियाँ इसे न खोने वाले जेवर, गहने और आभूषण की तरह साज-सज्जा के लिए इस्तेमाल करती हैं। कुछ शत्रु एवं परपुरुष की कुदृष्टि से अपनी स्त्रियों को बचाने के लिए इसे विकर्षण का माध्यम बनाती हैं। तानी (अरुणाचल प्रदेश), कोंध/खोंड (ओडिशा) और धनुक (बिहार) जनजाति की स्त्रियाँ इनमें प्रमुख हैं। नागालैंड की कोन्याक जनजाति के पुरुष शौर्य के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे और छाती पर गोदना गुदवाते हैं। वहीं छत्तीसगढ़ के रामनामी संप्रदाय के लोगों ने जातीय विद्वेष के विरोध के प्रतीक के रूप में इसे चुना। कुल मिलाकर गोदने के माध्यम से विविध मनोभावों को व्यक्त किया गया है। गोदने का इस्तेमाल जनजातियों में बहुउद्देशीय दिखता है। इस शोध पत्र में हम पूर्वी भारत में निवास करने वाली संथाल एवं कुई जनजातियों और पूर्वोत्तर की नागा जनजाति के विभिन्न समूहों में प्रचलित गोदना चित्रांकन और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व का विश्लेषण करेंगे।

झारखंड और बिहार में गोदना प्रथा:

झारखंड में आस्ट्रो-एशियाटिक नृजातीय समूह की अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। इनमें संथाल, मुण्डा, हो, खरिया आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। आस्ट्रो-एशियाटिक दक्षिण एशिया में निवास करने वाला एक लातिनी (लैटिन) शब्द है। लैटिन प्राचीन रोम में बोली जाने वाली भाषा थी। झारखंड में निवास करने वाली इन सभी जातियों ने गोदना कला को अंगीकार कर रखा है। कला के सतही प्रारूप में समानता के बावजूद उसके मायने सबके लिए अलग-अलग हैं। संथालियों की गोदना से अभिन्नता और उसका सांस्कृतिक विस्तार अन्य की तुलना में अधिक है। इस जनजाति के पुरुष अपने शरीर पर गोदना नहीं करवाते हैं। गोदने की जगह उनके हाथ की त्वचा को जलाकर उस पर सिक्के जैसा गोल निशान बनाने की परम्परा है। संथाल स्त्रियाँ गोदने को आभूषण और अक्षुण्ण सम्पत्ति की तरह त्वचा पर धारण करती हैं। संथालियों में प्रायः गोदना बनाने का काम जुलाहिन स्त्रियाँ करती हैं। आजीविका से अधिक पारिवारिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए अथवा उससे प्रेरित होकर ये काम करती हैं।

जुलाहा इस्लाम के मानने वाले हैं। उनके अपने समाज में गोदने का प्रचलन नहीं है। पीढ़ियों से उनके परिवार दूसरों के शरीर पर चित्रांकन करते रहे हैं। इस वजह से जुलाहिने इस काम में पर्याप्त दक्ष हैं। गोदना बनाने वाली स्त्रियों को संथाली खुदनी कहते हैं। उनके यहाँ गोदना खुदा कहलाता है।

उराँव जनजाति में गोदने की शुरुआत स्त्रियों के चेहरे से होती है जो क्रमशः हाथ, पीठ आदि शरीर के विविध अंगों पर फैलता जाता है। चेहरे पर गोदना रचने की शुरुआत बचपन से हो जाती है। इस जनजाति की स्त्रियों में आम धारणा है कि गोदने के दौरान जिस तकलीफ से शरीर गुजरता है वह उसे आगे के कष्टों को झेलने के लिए पुख्ता बनाता है। उनके लिए गोदना व्यक्तित्व को मजबूती देने का माध्यम है।

तर्क जो भी गढ़े जाएँ जनजातीय अंचलों में गोदना बनाने के लिए जो आदिम तरीके इस्तेमाल होते हैं उनसे शरीर निहायत ही तकलीफदेह प्रक्रिया से गुजरता है। दूसरे जनजातियाँ गोदना बनाते समय किसी दर्द निवारक या एनेस्थीसिया का प्रयोग नहीं करती हैं। यह भी दर्द बढ़ाने की वजह बनता है। उराँव और पूर्वोत्तर की जनजाति एओ नागा (Ao Naga) से इस बात के संदर्भ मिलते हैं कि गोदना करवाने वाली लड़की के मुँह में कपड़ा ठूँस कर गोदना बनाया जाता है। उसके हाथ पाँव दो तीन स्त्रियाँ कस कर पकड़े रहती हैं जिससे दर्द होने की वजह से वह हाथ पाँव न हिलाए और उसका करुण रुदन गोदना बनाने वाले को विचलित न कर दे।

उराँव जनजाति में गोदना बनाने वाली स्त्रियाँ मालारिन कहलाती हैं। ये सात सुइयों से गोदना रचती हैं। रंग के लिए काजल और नवजात की माँ के दूध का इस्तेमाल किया जाता है। रचने के बाद गोदने को गोबर से ढक दिया जाता है। गोबर का इस्तेमाल एंटीबायोटिक की तरह किया जाता है।

गोदना बनाने की प्रक्रिया में आम तौर पर तीन दिन लगते हैं। हालाँकि दर्द हफ्तों बना रहता है। उराँव स्त्री-पुरुष ये मानते हैं कि शरीर, आत्मा, सौन्दर्य, त्वचा सब नष्टप्राय है। गोदना ही है जो जीवन के साथ ही रहता है और जीवन के बाद भी रहता है। उराँव लोग खासकर स्त्रियाँ ये मानती हैं कि मरने के बाद की नई दुनिया में गोदना उन्हें संगी ढूँढने में मदद करता है। इसलिए भी वे बेहद चाव से अपने शरीर पर गोदना रचवाती हैं कि जीवन और मृत्यु के किसी मोड़ पर वे अकेली न पड़ जाएँ।

झारखंड की मुण्डा और खरिया जनजाति शौर्य के प्रतीक के रूप में गोदने का इस्तेमाल करती हैं। मुण्डा पुरूष अपने माथे पर तीन खड़ी लकीरों के रूप में गोदना धारण करते हैं। ये तीन लकीरें उनके जनजातीय इतिहास से सम्बद्ध हैं। परम्परा से मुण्डा जनजाति ये मानती हैं कि इतिहास में तीन ऐसे मौके आये जब मुण्डा जनजाति का मुगल सेना से आमना-सामना हुआ और वे मुगलों को पराजित करने में सफल रहे। माथे की तीन गोदना लकीरें तीन विजयों की प्रतीक हैं।

हो जनजाति गोदने को पवित्रता के प्रतीक के रूप में धारण करती हैं। भारतीय समाज के स्तरीकरण में पवित्रता-अपवित्रता का भाव गहरा है। जाति व्यवस्था का पूरा दारोमदार ऊँच-नीच और पवित्रता-अपवित्रता के भाव पर टिका हुआ है। जनजातियों में भी पवित्रता के भाव को लेकर तमाम अंधविश्वास और टोटके पसरे हुए हैं।

बिहार की धानुक जाति में भी गोदने की प्रथा है। परम्परा के अनुसार, 'धनुक' संस्कृत शब्द 'धनुषकः' से लिया गया है जिसका अर्थ धनुषधारी है। धानुक जाति के लोग अपनी सटीक निशानेबाजी की वजह से राजतंत्र के दौरान सैनिक के रूप में शासकों की पहली पसंद थे। सामाजिक स्तरीकरण में धानुक एक नीची जाति मानी जाती है। जहानाबाद के भूमिहार बहुल इलाके में धुनक स्त्रियाँ ऊँची जाति के लोलुप पुरुषों की कुदृष्टि से खुद को बचाने के लिए अपने शरीर पर गोदना गुदवाती हैं। उनके लिए अनेक जनजातियों की तरह गोदना विपरीतलिंगी आकर्षण का माध्यम नहीं है। बल्कि उन्हें विकर्षित करने का माध्यम है। स्त्रियाँ ये मानती हैं कि गोदना उन्हें कुरुप बनाकर सामर्थ्यवान ऊँची जाति के पुरुषों से सुरक्षा देता है।

सुरक्षा के साथ-साथ उन्हें अपनी सामाजिक हैसियत बताने के लिए भी गोदना पहनना होता है। एक तरह से गोदना स्त्रियों के जाति के संकेतक की भूमिका निभाता है। नीची जाति की स्त्रियों को अपने शरीर के खुले अंगों पर अनिवार्य रूप गोदना करवाना होता था जिससे घूँघट या पर्दे में होने पर उन्हें चिन्हित किया जा सके। पुरुषों के लिए यह जरूरी नहीं था। सीमित जनसंख्या वाले ग्रामीण समाज में सभी एक दूसरे के नाम जाति पेशे से पीढ़ियों से वाकिफ होते हैं। पुरूषों के पहनावे में घूँघट और पर्दा शामिल नहीं थे। इसलिए उन्हें किसी किस्म की निशानदेही की आवश्यकता नहीं थी।

इन जातियों को दिए गये नाम भी अपना इतिहास रखते हैं। संथाली अपने मूल स्थान मिदनापुर के सोअन्त नामक स्थान से पहचाने गए और संथाली कहलाये। मुण्डा का अर्थ मुखिया है तो उराँव का घुमंतू। हो मानव या आदमजात का समानार्थी है। धानुक अपनी धनुर्धर विद्या से पहचाने गए।

संथाली गोदना: सिक्का और खुदा

सजना-सँवरना मानव का मूल स्वभाव है। ये गुण नैसर्गिक है। प्रकृति प्रदत्त है। अलग-अलग मानव समुदायों के साज-सज्जा के तौर-तरीकों में प्रायः अंतर होता हैं पर निखरने-सँवरने और आकर्षक दिखने की प्रवृत्ति सभी में अभिन्न है। आकर्षक दिखने के लिए नाना प्रकार के आभूषण, केश-सज्जा, रंग-रोगन का इस्तेमाल सूदूर अतीत से किये जाने की परम्परा रही है। गोदना भी त्वचा का रंग-रोगन कर उसे आकर्षक बनाने का एक तरीका रहा है। इसे कभी-कभी पछेता या अंकन कह-कर भी सम्बोधित किया गया है। आज की तारीख में अंग्रेजी में इस्तेमाल किया जाने वाला टैटू शब्द अधिक व्यापक है। इसे पोलिनेशिया के सैमोनन द्वीप समूह में बोली जाने वाली भाषा से लिया गया है। 18वीं शताब्दी में इस शब्द को यथावत बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिया गया। इस शब्द का अर्थ चोट पहुँचना है। गोदना चित्रांकन की प्रक्रिया में बार-बार सुई को त्वचा में चुभाए जाने की पीड़ा की यह उचित व्याख्या करता है।

गोदने का इस्तेमाल जनजातियों ने आकर्षण, विकर्षण, शौर्य, प्रदर्शन, प्रतिरोध, जनजातीय पहचान आदि अनेक संदर्भों में किया है। अनेक जनजातियाँ इसे कभी न खोने वाले आभूषण की तरह इस्तेमाल करती हैं। कुछ के लिए यह बुरी नजर से बचाने वाला जंतर है तो कुछ अन्य के लिए विपरीत लिंगी आकर्षण का माध्यम। कुल मिलाकर

जनजातीय समाज में गोदने की उपादेयता को किसी एक खाँचे के भीतर बाँधा नहीं जा सकता है। विविध रंग-रूप रखने के साथ ही इनकी सुगंध में भी पर्याप्त भिन्नता है।

भारत अनेकानेक जनजातियों का निवास स्थान है। कुल 645 जनजातियाँ गणना में हैं। जनसंख्या के दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, गुजरात, राजस्थान, झारखंड, छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल और कर्नाटक जनजाति बहुल माने जा सकते हैं। इन राज्यों में कुल जनजातीय जनसंख्या का 83 प्रतिशत निवास करता है। इन राज्यों में निवास करने वाली जनजातियों में अनेकानेक समानताओं के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर अनेक भिन्नताएँ भी हैं। इस तथ्य को गोदने से जुड़ी मान्यताओं के संदर्भ में भी देखा जा सकता है।

जनजातीय समाज का गोदना कला के साथ अभिन्न सांस्कृतिक जुड़ाव है। इस कला में शरीर की त्वचा को कैनवास की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इस कैनवास पर बनाए जाने वाले मोटिफ्स में खुदपसन्दगी आमतौर पर नहीं होती। उनका निर्धारण सुदूर अतीत में कभी जनजातीय पंचायत द्वारा किया गया होगा। जो लम्बे समय में निरंतरता में बनाए जाने की वजह से परम्परा में ढल गए और जनजातीय अस्मिता के प्रतीक बन गए। मानवशास्त्र के अध्येताओं ने अपने शोध और अध्ययन के दौरान गोदना मोटिफ्स के प्रतीकात्मक महत्व को समझने और उन्हें विश्लेषित करने के अनेक प्रयास किए हैं।

मुंडा नृजातीय समूह से सम्बद्ध संथाल जनजाति झारखंड की बहुसंख्य जनजाति है। झारखंड के अलावा संथाल बिहार, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, छत्तीसगढ़, असम और त्रिपुरा में भी पाए जाते हैं। मिदनापुर के सओन्त (Saont) नामक स्थान को इनके मूल स्थान के रूप में चिन्हित किया गया है। सओन्त के नाम पर ही ये संथाली कहलाए। गोदना संथालियों की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। इन जनजाति में स्त्री और पुरूष के लिए अलग-अलग चिन्ह निर्धारित है।

पुरूष आमतौर पर अपनी कलाई पर एक सिक्के जैसा चिह्न अंकित करवाते हैं जो दिखने में गरम धातु से दागे हुए निशान जैसा दिखता है। समरूपता की वजह से इसे सिक्का या सिका कह कर संबोधित किया जाता है। इनकी संख्या विषम रखी जाती है। ये 01 से 07 के बीच होती है। संथालियों में मान्यता है कि विषम संख्याएँ जीवन की प्रतीक होती हैं जबकि सम संख्याएँ मृत्यु की द्योतक हैं।

त्वचा पर सिक्का बनाने के लिए सूती कपड़े या कपास को बीड़ी/सिगरेट का आकर देकर सुलगाया जाता है। जिस जगह गोदना चिह्न अंकित करना हो उसे इस बीड़ी नुमा कपड़े से जलाते हैं। चमड़ी पर जलने के निशान बनने के साथ उसे राख से ढक कर ठंडा करते हैं। त्वचा पर पड़ा हुआ छाला कुछ दिन तकलीफ देकर ठीक हो जाता है और त्वचा पर एक गोल निशान छोड़ जाता है। पुरूषों के हाथ पर दागा गया सिक्का स्त्रियों के गोदने के समकक्ष है। इसे बाएँ हाथ पर बनाया जाता है।

संस्थाल स्त्रियों में गोदना चित्रांकन खोदा कहलाता है और इसे बनाने वाली स्त्रियाँ खुदनी कहलाती हैं। तमाम अन्य जनजातियों की तरह संथाली भी गोदने को स्थायी सम्पत्ति की तरह देखते हैं जो मृत्योपरांत भी उनके साथ रहती

हैं। संथालियों में एक किस्सा आम है कि मरने के बाद स्वर्ग में जब कोई स्त्री पानी की तलाश में जाती है तो जल स्रोत के पास उसे एक मेंढकनुमा दरबान मिलता है। कीमत चुकाए बिना वह पानी भरने की अनुमति नहीं देता है। स्त्रियाँ पानी की कीमत गोदने का कुछ हिस्सा देकर चुकाती हैं। इसी वजह से जिस स्त्री के शरीर पर गोदना चित्रांकन बहुतायत से होता है उसे धनाढ्य समझा जाता है। ये किस्सा जीवन में जल के महत्व और गोदने को आभूषण अथवा सम्पत्ति मानने से अभिप्रेरित है। स्त्रियों के लिए गोदना ऐसी सम्पत्ति है जिसे उनसे विलग नहीं किया जा सकता, ऐसी सम्पत्ति जो आड़े वक्त काम आती है। अपनी इस सम्पत्ति को स्त्रियों ने ससुराल और मायके के बीच विभाजित कर रखा है। दायें हाथ के चित्रांकन को वह मायके का उपहार मानती हैं और बाएँ हाथ के चित्रांकन को ससुराल पक्ष से मिलने वाले तोहफे के रूप में कबूल करती हैं। उनके लिये गोदना गौरव, आस्था और जनजातीय अस्मिता का प्रतीक है।

संथाली में खुदा का अर्थ छापा बनाना है। गोदने में जो चिन्ह/छापे शरीर पर अंकित किये जाते हैं उनमें नेक्की खुदा (लकड़ी का कंघा), कदम बहा (कदम का फूल), पान सकम (पान का पत्ता), मिरू खुदा (सूरज), सिम कटा (मुर्गे की टाँग), हर/होर चिन्ह (जनजाति का प्रतीक चिन्ह) प्रमुख हैं। इनके अलावा हाथ और गले पर फूल जैसे छापे अंकित करने का चलन है। गले में छापे नेकलेस की तरह अंकित किये जाते हैं। हाथ के ऊपरी हिस्से में और अंगूठे के नीचे मछली जैसे चित्रांकन भी बनवाने की परम्परा है। स्त्रियों में छाती पर भी गोदना बनवाने का चलन है। इसे छाती गुदायी कहा गया है। छाती गुदायी किशोरावस्था में प्रवेश के समय अथवा ब्याह के समय करवाई जाती है। शरीर पर सबसे अधिक बनवाये जाने वाले चिन्हों में नेक्की और होर के छापे हैं। संथाली ये भी मानते हैं कि जो व्यक्ति बिना गोदना गुदवाए मर जाता है उसके शरीर को कीड़े खा जाते हैं।

वर्तमान में संथालियों में गोदने की प्रथा में निरंतर गिरावट देखने को मिल रही है। नई पीढ़ी इस प्रथा से लगभग विमुख हैं। सामाजिक जागरूकता और मुख्यधारा से जुड़ने की चाह इसके मूल में है। राजनीतिक उद्देश्यों से अपनी जनजातीय अस्मिता को भुनाने वालों से इतर ज्यादातर आम लोग बड़े पैमाने पर गोदना करवाने से गुरेज करने लगे हैं। इनमें युवा अधिसंख्य हैं जो आम नागरिक के रूप में पहचाना जाना पसंद कर रहे हैं। समाज के वयस्क और बुजुर्ग भी उनके तरक्की पसंद नजरिए का स्वागत और समर्थन कर रहे हैं।

कुई जनजाति में गोदना

कुई जनजाति कोंध और खोंड के नाम से भी जानी जाती है। यह जनजाति ओडिशा में निवास करती है। जनजातियों में शरीर पर गोदना गुदवाने की प्रथा आम है। गोदने से जुड़े हुए उनके विश्वास आस्था व्यवहारिक वजहें अंधविश्वास जरूर एक दूसरे से जुदा हैं। कुछ जनजातियाँ अपनी स्त्रियों के चेहरे पर गोदना गुदवाने की परम्परा रखती हैं। ऐसा उन्हें परपुरूष की कुदृष्टि से बचाने के लिए किया जाता है। कोंध जनजाति में भी यह परंपरा पाई जाती है। बालिकाओं के आठ वर्ष की उम्र पूरी करने के बाद उनके चेहरे गोदने से चित्रांकित करवा दिए जाते हैं। दुश्मन कबीलों के पुरूष घात लगाकर उनकी स्त्रियों को उठा ले जाते थे। इस वजह से स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए यह परम्परा

अस्तित्व में आई। एक दूसरी वजह मृत्योपरान्त पाताल लोक/world of spirits में प्रवेश लेने पर एक दूसरे को चिन्ह लेने से भी जुड़ी हुई है। ये वजह अधिक दमदार लगती हैं क्योंकि स्त्रियों के चेहरे पर छापे गए गोदने मोहर (seal) सरीखे ही दिखते हैं।

गोदना बनाने के लिये ये जनजाति काँटे का इस्तेमाल करती है। गोदने की प्रक्रिया में त्वचा के ऊपर बने घावों को संक्रमित होने के लिए खुला छोड़ दिया जाता है। इससे चित्रांकित गोदना आकार में बड़ा होकर स्पष्ट रूप ले लेता है और त्वचा में गहरा उतर जाता है। स्त्रियों के चेहरे को विरूप कर सुरक्षा देने का यह उपाय कितना कारगर रहा होगा कहना मुश्किल है। जनजातीय अस्मिता के तहत अनेक स्त्रियाँ इसे पीढ़ियों से अपनाती रही हैं। अबोध उम्र में गोदने की प्रक्रिया से गुजरने वाली बच्चियों से किसी परम्परा के नकार की उम्मीद नहीं की जा सकती है। वयस्क समाज की सहर्ष सहमति ने ही उसे निरन्तरता में बनाये रखा होगा।

कोंध स्त्रियों के चेहरे पर अंकित गोदने में जो एकरूपता दिखती है, वह चेहरे को विरूप करने से अधिक जनजातीय ठप्पे की तरह लगती है। स्त्री को देख दूर से ही उसकी जनजाति चिन्हित की जा सकती है। जाहिर है कि गोदने का प्रारूप/पैटर्न पूर्व निर्धारित है। उसके चुनाव अथवा उसमें किसी किस्म के बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं है। बुजुर्ग स्त्रियाँ ये जरूर कहते सुनी जा सकती हैं कि चेहरे पर गोदना उन्होंने स्वेच्छा से करवा रखा है। उसे वह जनजातीय गर्व और गौरव की तरह प्रदर्शित करते हुए भी देखी जा सकती है। उम्मीद है कि इस 'स्वैच्छिक चुनाव' और 'गर्व' में उनकी 'अपनी मर्जी' का कितना प्रतिशत है इसका इल्म भी उन्हें एक दिन होगा।

नागा जनजाति में गोदना:

नागा जनजाति अपने साहस, निर्भीकता और क्रूरता के लिये खासी प्रसिद्ध है। विषम से विषम परिस्थितियों में जीवित रह लेना उन्हें खूब आता है। दुर्दान्त होने के लिये कुख्यात इस जनजाति में लम्बे समय तक हेड हंटिंग का प्रचलन रहा है। दुश्मन को मार कर उसका सर काट लेना और उसे ट्राफी की तरह घर के बाहर टांग देना उनका शगल था।

नागाओं के अनेक कबीले रहे हैं जो अपनी तमाम सांस्कृतिक विशेषताओं में समान होने के बावजूद भाषाई भिन्नता की वजह से एक दूसरे से अलग विशिष्ट पहचान रखते थे। नागाओं के मूल स्थान को चिन्हित करना संभव नहीं हो सका है। प्रायः नागा भाषाओं को तिब्बती-बर्मा (Tibeto-Burman) मूल का स्वीकार किया जाता है। साहित्य से जो संदर्भ उपलब्ध हैं उनमें उन्हें पूर्वोत्तर से प्रव्रजित (migrated) जनजाति कहा गया हैं इस आधार पर हम तिब्बत, पूर्वी चीन अथवा मंगोलिया में उनके मूल स्थान के स्थित होने की संभवना जता सकते हैं। उनके समाज में प्रचलित मिथक और प्रथाएँ Iban of sarwak & the bugis और Sea Dayaks of Indonesia से साम्य दर्शाते हैं। उनके कर्मकाण्डों में कौड़ी की केन्द्रीय भूमिका उनके समुद्री मूल (marine origin) की आहट देती है। जनजातीय समाज में हेड हंटिंग और चेहरे तथा छाती पर किया गया विस्तृत गोदना उनका पहचान पत्र थे। वर्तमान में अधिकांश नागा जनजातियाँ पूर्वोत्तर भारत और उत्तर पश्चिम म्यामांर (बर्मा) में बसी हुई हैं। उनकी संस्कृति और

परम्परा में पर्याप्त समानता दिखती है। नागालैण्ड और नागा सेल्फ एडमिनिस्टर्ड जोन ऑफ म्यांमार में बहुसंख्यक होने के साथ-साथ भारत में मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश, असम में भी वे ठीक-ठाक उपस्थिति दर्ज करते हैं।

नागा जनजाति में स्त्रियों और पुरूषों में गोदना करवाने की परम्परा रही है। पुरूष शौर्य के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे, छाती और शरीर के अन्य अंगों पर गोदना करवाते हैं। शौर्यवान होने का तमगा उन्हें हेड हंटिंग से मिलता था। स्त्रियाँ शरीर में आने वाले परिवर्तनों और सामाजिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की सूचना के निमित्त गोदना करवाती थीं। नागा जनजाति में यह अंधविश्वास रहा है कि व्यक्ति की आत्मा की पूरी शक्ति उसकी खोपड़ी में निहित होती है। उनकी मान्यता है कि खोपड़ी समृद्धि और उर्वरता से लबरेज होती है। व्यक्तिगत जीवन को सुखमय बनाने के लिये, गाँव और फसल को बेहतरी के लिये दुश्मन के शरीर से काटकर उसे अपने साथ रखना जरूरी है। शत्रु को आघात पहुँचा कर उसकी खोपड़ी हासिल करने को नागा जनजाति में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। हेड हंटर्स अपने शौर्य और साहस के प्रतीक के रूप में अपने चेहरे और धड़ को गोदना से चित्रांकित रखते थे। गोदना बनाने का काम शुरूआत में स्त्रियाँ ही करती थीं। बाद में कुछ लड़कों ने अपनी माँ से सीख कर इस काम में कौशल हासिल किया।

भारत में नागाओं की कोन्याक जनजाति मुख्य रूप् से नागालैण्ड में निवास करती है। उनके हेड हंटर्स की आखिरी पीढ़ी के कुछ सदस्य अभी जीवित हैं। उनके रंग-रूप (गोदना) पहनावे और अनुभवों से हम हेड हंटिंग की प्रथा और उससे जुड़े गर्व और शौर्य के मनोभावों को समझ सकते हैं। उनका विश्लेषण कर सकते हैं। आने वाले समय में यही दर्ज अनुभव इतिहास बन जायेंगे।

कोन्याक जनजाति की आन्तरिक सामाजिक संरचना में गोदना कला का विशेष महत्व था। गोदना चित्रांकनों के माध्यम से वे अपने समाज के सदस्यों को अलग-अलग स्तर और प्रस्थिति प्रदान करते थे। गोदने का इस्तेमाल बच्चों, किशोर, युवा और वयस्क (वरिष्ठ) सदस्यों में अंतर के लिये किया जाता था। आमजन और योद्धा में अंतर, अभिजात्य स्त्री को पहचान देने, विवाहिता और अविवाहित स्त्री में भेद करने आदि के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के गोदने का इस्तेमाल कर उन्हें चिन्हित किया जाता था। इहलौकिक महत्व के साथ-साथ गोदने का पारलौकिक महत्व भी था। स्त्री और पुरुष दोनों का यह कर्तव्य था कि वे गोदने की प्रक्रिया से गुजरें। गोदना परलोक में सुरक्षित प्रवेश सुनिश्चित करने के लिये अनिवार्य था। इस वजह से कोन्याक समाज के प्रायः प्रत्येक सदस्य की त्वचा गोदनांकित थी।

स्त्रियों में जीवन चक्र के विभिन्न चरणों को गोदने के माध्यम से रेखांकित करने की परम्परा थी। बच्ची, किशोरी, वयस्क, विवाहिता, नवजात-शिशु की माँ, मंगेतर, अविवाहिता प्रत्येक की पहचान के लिये भिन्न-भिन्न गोदना चित्रांकन निर्धारित थे। गोदने के माध्यम से स्त्रियाँ अपने जीवन के विभिन्न चरणों की इन्डेक्सिंग (Indexing) तो अपनी त्वचा पर करवाती ही थी साथ ही उनके शरीर पर कुछ विशिष्ट चित्रांकन किये जाते थे जो उनके पिता, भाई अथवा परिवार के अन्य पुरुषों की उपलब्धि का उद्घोष करते थे। परम्परा से स्त्रियाँ पितृसत्ता की वाहक रही है। कोन्याक जनजाति में गोदने का यह संदर्भ जनजातियों में स्त्रियों के द्वारा पितृसत्ता के वहन की कड़ी प्रस्तुत करता है।

पुरुषों के लिये गोदना हेडहंटिंग के दौरान प्रदर्शित पराक्रम और रण कौशल को प्रतिबिम्बित करने का माध्यम था। प्रदर्शित पराक्रम और कौशल की डिग्री के अनुरुप ही उन्हें चित्रांकित किया जाता था। कह सकते हैं कि गोदना चिन्ह प्रदर्शित पराक्रम का पैमाना थे। हेडहंटिंग के अलावा पान में प्रवेश से सम्बन्धित दीक्षा संस्कार के अवसर पर भी पुरुषों में गोदना बनवाने की परम्परा थी। पान (PAAN) को आम बोलचाल में मोरुंग (Morung) भी कहा जाता है। यह कोन्याक पुरुषों का कम्यूनिटी क्लब (Club) था जो सामाजिकता में प्रशिक्षित करने वाले संस्थान की भूमिका में था। पान की सदस्यता और उसके द्वारा दिये गये उत्तरदायित्वों का निर्वहन जनजातीय निष्ठा और प्रतिबद्धता का प्रमाण माना जाता था। कोन्याक नागाओं में गोदना स्त्रियों के द्वारा करने की परम्परा थी। ये स्त्रियाँ अभिजात्य वर्ग की होती थी। इनका सम्बोधन अंघ्या (Anghya) मिलता है।

कुलीन परिवार की ये स्त्रियाँ जनजाति प्रमुख (मुखिया) की पत्नी की भूमिका में होती थी। साहित्य में कुछ स्थानों पर इन्हें 'रानी' कह कर उद्धृत किया गया है। गोदना करने का हुनर और तकनीक पीढ़ी दर पीढ़ी माँ से बेटी में हस्तान्तरित होती थी। कुछ पुरुष भी इस कला में दक्षता रखते थे। उनकी दक्षता एक खास प्रकार के गोदने को लेकर थी। इसे शहन्यु कहा गया है। 'SHAHNYU-TIGER FAMILIER SPIRIT' शक्तिशाली अंघ्य/मुखिया (Anghy/Tribal Chief) की पीठ पर बनाया जाता था। शहन्यु को लेकर प्रचलित लोक विश्वास में कहा गया है कि किसी समय जंगल में एक कोन्याक स्त्री और बाघ के बीच प्रेम हो गया। उनकी संतानों में मानव और बाघ दोनों के गुण आये। दिखते में तो वह मानव प्रजाति से मिलते-जुलते थे लेकिन उनकी आत्मा बाघ की थी। जब ये बच्चे वयस्क हुए तो उन्हें अपने बल साहस शौर्य और पराक्रम से शक्तिशाली अंघ्य का दर्जा हासिल हुआ। ऐसा माना जाने लगा कि कोन्याक जनजाति में जब एक अंघ्य का जन्म होता है तो ठीक उसी समय जंगल में एक बाघ भी जन्म लेता है। ऐसे अंघ्य/मुखिया जिनके बारे में कोन्याक समाज यह धारणा रखता कि उनकी आत्मा बाघ की है, उनकी पीठ पर एक विशेष प्रकार का गोदना अंकित किया जाने लगा। इसे 'शहन्यु' कहा गया। जनजाति का कोई आम सदस्य भी यदि बाघ का शिकार करने में सफल हो जाता था तो उसे भी सम्मानित ओहदा देने की परम्परा थी। कोन्याक उसके प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन करते और मानते कि उसमें भीतर बाघ की आत्मा का प्रवास है। सम्मान और श्रद्धा अंघ्य के समकक्ष होती थी।

पुरुषों में गोदना प्रत्यक्षतः हेड हंटिंग के अभियान से जुड़ा हुआ था। हेड हंटिंग के प्रतिबंध ने पुरूषों में गोदना की प्रथा को भी प्रभावित किया। बहरहाल एक समय जनजातीय दम्भ का प्रतीक रहे हेड हंटिंग और गोदने की प्रथा कोन्याक जनजाति में क्षीण हो चली है। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में वे क्रमशः मुख्य धारा समाज से जुड़े और जीवन यापन के अन्य सुरक्षित तरीकों से परिचित हुए। धीरे-धीरे उनके समाज में औपचारिक रूप से शिक्षित सदस्यों की आवृत्ति बढ़ी। इन परिवर्तनों ने उनके जनजातीय समाज पर प्रभाव डाला। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा धर्मान्तरण कर ईसाई हो गया। बड़ी संख्या में उन्होंने जीविकोपार्जन के लिये कृषि पर निर्भरता बढ़ाई, यद्यपि मांसाहार उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा बना रहा। हेड हंटिंग जैसे अभियान सरकारी प्रयास और कानून के दबाव में प्रतिबन्धित हो

क्रमशः समाप्त हो गये। नागालैण्ड के कोन्याक समाज से सन् 1960 के बाद हेड हंटिंग की सूचना नहीं मिलती है। मिशनरी प्रभाव, कानून और शिक्षा के साथ युवाओं ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1966 में छात्र संघ ने एक रिजोल्यूशन पास कर गोदना की प्रथा को 'शारीरिक प्रताड़ना' बताते हुए उसे प्रतिबंधित करवाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया।

नागालैण्ड के अलावा अरूणाचल प्रदेश में भी नागा जनजाति ठीक-ठाक संख्या में निवास करती है। वान्चू और ओल्लो नागा जनजाति का उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है। यद्यपि ये दोनों जनजातियाँ कोन्याक नागाओं की तरह चर्चित नहीं रहीं इनकी परम्परा और लोक विश्वास (folklore) कोन्याक नागाओं से काफी मिलते जुलते हैं। इन दोनों जनजातियों में भी हेड हंटिंग और चेहरे पर गोदने का प्रचलन रहा।

म्यामांर की नागा जनजातियों में मकुरी (Makuri), गुगा (Guga) ओल्लो (Ollo) और खियामुइन्गन (Khirmniungan) का उल्लेख किया जा सकता है। ये सभी म्यांमार के सगैंग डिवीजन में निवास करने वाली जनजातियाँ हैं। यह भारत-म्यामांर का सीमावर्ती क्षेत्र है।

अन्य नागाओं की भांति मकुरी नागा जनजाति में भी हेड हंटिंग और टैटू की परम्परा रही है। गोदने के संदर्भ में मकुरी इस मायने में विशिष्ट है कि उनमें पुरुषों के चेहरे को गोदने से चित्रांकित करने की परम्परा कभी नहीं रही। उनकी स्त्रियों के चेहरे पर गोदना मिलता है। पुरुष सदस्य भी शरीर के अन्य अंगों पर गोदना करवाते रहे हैं। गोदना मृत्योपरान्त जीवन में पूर्वजों के विश्वास, स्नेह और आशीर्वाद पाने का माध्यम था। शरीर के गोदना चिन्हांकित न होने पर इस बात का भय था कि पूर्वज उन्हें पहचानेंगे भी या नहीं। इस वजह से गोदना मकुरी जनजाति में मृत्योपरान्त जीवन में जनजातीय पहचान पत्र के रूप में अनिवार्य था। मर्त्यलोक में वह शत्रु मित्र में भेद करने की भूमिका निभाता था। मकुरियों ने अन्य नागा समूहों की तुलना में तीव्रता से धर्मान्तरण कर ईसाइयत को अपना लिया था। मुख्यधारा के आधुनिक तौर तरीकों को अंगीकार कर उन्होंने परम्परागत जीवन शैली से दूरी बना ली। 2018 में किये गये शोधपरक सर्वेक्षण के दौरान पाया गया कि वर्तमान में एक भी ऐसा पुरूष सदस्य जीवित नहीं है जिसकी स्मृतियों में हेड हंटिंग और उससे जुड़े नास्टॉलजिया (Nostolgia) का स्थान हो। मकुरी स्त्रियों में अन्य नागा प्रजातियों की ही भांति गोदना पारिवारिक सामाजिक भूमिका में आने वाले परिवर्तन का संकेतक था। स्त्रियों में जीवन के एक चरण से दूसरे में प्रवेश के समय उत्सवपूर्वक शरीर को गोदना चित्रांकित करवाने की परम्परा थी।

गुगा म्यामांर का काफी कम जनसंख्या वाला नागा समुह है। मकुरी जनजाति की ही भाँति गुगा नागा जनजाति थी, ये ले शी टाउनशिप में निवास करते हैं। प्रायः नागा समूहों में हेड हंटिंग और गोदना अभिन्न दिखते हैं। किन्तु गुगा नागा गोदने को एनीमिस्टिक बिलीफ्स से जोड़कर देखते हें। उनका मानना था कि खास किस्म के चित्रांकन भाग्योदय एवं प्रीतिकर भविष्य की रचना करने में सक्षम होते हैं। इसके अलावा अच्छे स्वास्थ्य, भरपूर पैदावार को गोदना से अभिन्न मानने की परम्परा थी। कुल मिलाकर गुगा जनजाति में गोदना धन-धान्य और स्वास्थ्य को हासिल करने का लकी चार्म था। उन्हें हासिल का ऐसा टोटका था जो सफलता सुनिश्चित करता है। गुगाओं की वर्तमान

जनसंख्या गोदना चिन्हों और प्रतीकों की व्याख्या करने अथवा उनके संदर्भ बताने में असमर्थ है। लेकिन एक बात पर सभी सहमत मिलते हैं कि गोदना पृथ्वी लोक में गुड लक चार्म है और स्वर्ग लोक में जनजातीय पहचान पत्र। गुगा जनजाति की बुजुर्ग स्त्रियों की याद में ढेर सारे गोदना चिन्ह, उनके नाम, संदर्भ की मिटती हुई याद है। वे हुलस कर अपने समय में पूरे शरीर को गोदना से आच्छादित किया जाना बताती हैं।

नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश और म्यामार के सगैंग डिवीजन में बसी नागा जनजातियों में गोदने की परम्परा और उससे जुड़े लोक विश्वास में पर्याप्त समानता है। प्रायः सभी जनजातियाँ गोदना चित्रांकन को अपनी जनजातीय अस्मिता से जोड़ कर देखती है। चिन्हांकित होना अपनी जनजाति से अभिन्न होने का उद्घोष था। गोदने के माध्यम से इहलोक और परलोक में जनजातीय पहचान पुख्ता की जाती थी। अस्मिता से जुड़ा गोदना जीवन के प्रत्येक हर्षोल्लास उत्सव उपलब्धि के अवसर पर प्राथमिक था।

संदर्भ:

1. कोन्याक, फेजिन. द कोन्याक्स, लास्ट ऑफ द टैटूड हेड हंटर्स. नई दिल्ली: रोली बुक्स, 2017. प्रिंट।
2. किसलय, के. "यंग ट्राइबल्स वांट टैटू इरेज्ड" टाइम्स ऑफ इण्डिया (15 जनवरी) <https://times0/-india.indiatimes.com> (रिट्राइव्ड आन 29-08-2018)।
3. क्रूतक, एल. द कलचरल हेरीटेज ऑफ टैटूइंग: अ ब्रीफ हिस्ट्री"टैटूज स्किन एण्ड हेल्थ. सम्पादित जे. सेरप, एन. क्लूगर, डब्ल्यू. बामलर एट अल. बेसेल: कारेगर पबलिशर्स, 1-5. प्रिन्ट।
4. जेना, एम.के., एट ऑल. फारेस्ट ट्राइब्स ऑफ ओडीशा, लाइफ स्टाइल एण्ड सोशल कंडीशन्स ऑफ सेलेक्टेड ओरीसन ट्राइब्स. वाल्यूम 1, मैन एण्ड फारेस्ट सिरीज 2. नई दिल्ली: 2002. 13-18. प्रिन्ट।
5. बर्गर, पीटर, फ्रैंक हाइडयन. सम्पादित. द मार्डन एन्थ्रोपोलाजी ऑफ इंडिया: ऐथनोग्राफी, थीम्स एण्ड थयोरी. लंदन: रटलेज. प्रिन्ट।
6. रवीन्ड्रन, ए. "क्रानिकिलिंग द कोन्याक्स" द हिन्दू (04 नवम्बर) https://www.thehindu.com> (रिट्राइव्ड आन 18-07-2018)।
7. राइट, के. "रिकार्डिंग अ वेरी पर्टिकुलर कस्टम: टैटूज एण्ड द आर्काइव" आर्काइवल साइन्स, 9 (1-2)ः 99।
8. रसेल, राबर्ट वेन, डिसक्रिप्टिव आर्टीकल्स ऑन प्रिन्सिपल कास्ट एण्ड ट्राइब्स ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविन्सेज. लंदन: मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1916. प्रिंट।
9. स्टिर्न, अगलाजा, पीटर वान हेम, सम्पादित. द हिडेन वर्ल्ड ऑफ नागा, लिविंग ट्रडीशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया एण्ड बर्मा. लंदन: प्रिस्टेल, 2003. प्रिन्ट।
10. हार्डेनबर्ग, रोलैण्ड. चिल्ड्रेन ऑफ द अर्थ गाडेस, सोसाइटी सेक्रीफाइस एण्ड मैरिज इन द हाईलैण्ड्स ऑफ ओडीशा इन ट्रांसफारमेशन्स इन सैक्रीफाइसियल प्रैक्टिसेज, फ्राम एण्टीक्वीटी टू मार्डन टाइम्स, बर्लिन: वाल्टर डी ग्रेट्र गम्बथ् एण्ड को. के.जी., 2017. प्रिन्ट।

बस्तर की दोरला जनजाति एवं उनके अवान्तर वाद्य

पुनीत पटेल

बस्तर में निवास करने वाली मूल आदिवासी जनजातियाँ कौन हैं ? इस संदर्भ में भी विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किन्तु अधिकतर विद्वानों का यह मानना है कि बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियाँ मुख्यतः द्रविड़ जातियाँ हैं। इन जनजातियों को द्रविड़ जातियों के रूप में स्वीकार किए जाने का मूल कारण इस क्षेत्र की जनजातियों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा (क्षेत्रिय बोलियाँ) हैं। इन जनजातियों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा मूल रूप से दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में निवास करने वाली द्रविड़ जातियों की भाषाओं यथा - तेलुगू, तमिल इत्यादि से निकटता रखती हैं। (शिव कुमार तिवारी) बस्तर में निवास करने वाली इन द्रविड़ जनजातियों को गोंड़ जनजाति नाम से संबोधित किया जाता है।

बस्तर की जनजातियाँ

डॉ. हीरालाल शुक्ल रचित आदिवासी अस्मिता और विकास नामक पुस्तक में अविभाजित मध्यप्रदेश के दक्षिण क्षेत्र में निवास करने वाली आदिवासी जनजातियों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जिसके अंतर्गत वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य के दक्षिण स्थित बस्तर क्षेत्र को ही मध्यप्रदेश का दक्षिणी आदिवासी क्षेत्र कहा गया है। इस वर्णन के अनुसार हलबा, भतरा, धुरवा, दोरला, दंडामी माड़िया, अबुझमाड़िया, मुरिया, गोंड, नाहर, मुंडा, कोया, कमार, भुँजिया, कवर तथा बिंझवार आदि जनजातियों को मध्यप्रदेश के दक्षिणी क्षेत्र अर्थात बस्तर में निवास करने वाली जनजाति कहा है। (शुक्ल 18) जगदलपुर स्थित मानव विज्ञान सर्वेक्षण संग्रहालय के मानचित्र में प्रमुख जनजातियाँ सात दर्शायी गई हैं - अबुझमाड़िया, भतरा, दण्डामी माड़िया, धुरूवा, दोरला, हल्बा, मुरिया। इनमें अबुझमाड़िया को ही अंग्रेजी भाषा में हिलमाड़िया तथा दण्डामी माड़िया को बायसन हॉर्न माड़िया नाम से संबोधित किया गया है। (तोड़े)

उपर्युक्त विश्लेषणानुसार बस्तर संभाग की लगभग सभी आदि निवासी जनजातियाँ गोंड़ जनजाति की ही मुख्य शाखाएँ मानी गयी हैं तथा अन्य जिन जनजातियों की जानकारी प्राप्त होती है वे या तो यहाँ की मूल जनजातीय शाखा की उपशाखा अथवा मुख्य शाखा की ही मिश्रित उपशाखा है। बस्तर की इन मुख्य जनजातियों में माड़िया, मुरिया, हल्बा, भतरा, परजा, दोरला, गदबा इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है।

दोरला जनजाति

बस्तर संभाग की मुख्या आदिवासी जनजातियों में से एक इस जनजाति की संस्कृति एवं रहन सहन के संबंध में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। दोरला, गोंड जनजाति की एक उपशाखा है। इस जनजाति का निवास स्थान सुकमा जिले के कोंटा तथा बीजापुर जिले के भोपालपटनम् एवं कोंटा क्षेत्र को माना जाता है। इस जनजाति के विवरण में दोरला शब्द के संबंध में लाला जगदलपुरी लिखते हैं – "दोरली में 'दोरा' शब्द का अर्थ होता है - जाति का मुखिया अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति। आगे चलकर 'दोरा' शब्द ही 'दोरला' के रूप में प्रचलित हो गया।" (99 जगदलपुरी)

इस जनजाति की बोली दोरली है जो कि द्रविड़ परिवार की भाषा है यह बोली तेलगु की ही उपभाषा मानी जा सकती है। दोरली बोली का प्रयोग अधिकतर उन्हीं क्षेत्रों में है, जो आंध्र प्रदेश के तेलगु भाषी क्षेत्र से लगे हुए हैं। तेलगु में 'दोरा' का अर्थ होता है मालिक अथवा स्वामी। W.V. Grigson ने भी इसी मत की विस्तृत व्याख्या की है। किन्तु उन्होंने दोरला जनजाति को दण्डामी माड़िया (बाईसन हॉर्न माड़िया) जनजाति की ही शाखा के रूप में वर्णित

किया है। (Grigson 53) यह जनजाति स्वयं को वारंगल से आयी हुई कहती है। इनके एक मृत्यु गीत में कलेगी राजू अर्थात् कलिंग राजा का उल्लेख मिलता है इससे भी इनके मूल स्थान पर प्रकाश पड़ता है। पहले वारंगल भी कलिंग राजा के अधीन था। कलिंग राजा का उल्लेख यह भी स्पष्ट करता है कि दोरला जाति अशोक के काल में भी विद्यमान थी। इस प्रकार भारत के प्राचीन आदिवासियों में इनकी गणना की जा सकती है। वारंगल से यह जनजाति बस्तर कब आयी इसके बारे में सही जानकारी नहीं मिल पायी है। (67 श्रीवास्तव)

लाला जगदलपुरी जी ने इस जनजाति की एक कथा का वर्णन किया जो दोरला जनजाति के गोत्र कथा के रूप में जानी जाती है –"'कोयकाप' उनका आदिपुरुष था, जिसकी भार्या का नाम - मुरिमंगम्मा था। दोरली में प्रचलित एक गोत्र-गीत के अनुसार उनके छः पुत्रों और पाँच पुत्रियों का होना प्रमाणित होता है। गोत्रकथा में वर्णन मिलता है कि दोरला जाति के आदिपुरुष के साथ एक गाय भी उत्पन्न हुई थी। आदि पुरुष जब बीमार पड़कर मरनासन हो गया, तब उसने गाय को यह बता दिया कि उसका अंतिम समय निकट आ गया है। यह सुनकर गाय बहुत दुखी हुई और बोली - मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती इसलिए तुम्हारे साथ मैं भी मरना चाहती हूँ। इसी कारण आदि पुरुष की मृत्यु के साथ-साथ गाय को भी मार डाला गया ताकि गाय के साथ उसका संबंध बना रहे। गाय की पूंछ काट कर मृतक के हाथ में पकड़ा दी गयी। तदुपरान्त दाह संस्कार कर दिया गया। घर जाकर मांस को पकाकर खा गये। दोरला कुटुम्ब में यही प्रथा प्रचलित है।"(99 जगदलपुरी)

W.V. Grigson के अनुसार गोंड़ जनजाति स्वयं को कोया या कोइतोर शब्द से संबोधित करते हैं तथा पहाड़ों में रहने वाले गोंड़ जनजाति के लोग, अपने आप को 'मेटा-कोईतोर' कहते हैं। इसी प्रकार मैदानी क्षेत्रों में रहने वाले गोंड़ अपने को 'दोरभूम' का निवासी कहकर स्वयं को 'दोर-कोइतोर' कहते हैं। 'दोरला' इन्हीं मैदानी क्षेत्रों में निवास करने वाले दोर कोईतोर का ही अपभ्रंशित नाम है। ग्रिग्सन का मानना है कि तेलुगु प्रभाव वाले कोइतोरों के प्रति पहाड़ी क्षेत्रों कोइतोर लोग तिरस्कृत दृष्टि रखते थे, अतः दोर कोइतोर स्वयं को कोइतोर कहलाना पसंद नहीं करते थे। इसी कारण इस जनजाति के लोग स्वयं को 'दोर कोइ' के स्थान पर 'दोरा', 'दोरलु' अथवा 'दोरला' संबोधित करने लगे। कोंटा क्षेत्र के दोरला अपने समीपवर्ती माड़िया निवासियों की चर्चा करते हुए गोट्टे कोइतोर कहकर संबोधित करते हैं। तेलगु में गोट्टे या गुट्टा का अर्थ पहाड़ों से लिया जाता है। गोंड़ी बोली में भी 'मेटा' शब्द का अर्थ पहाड़ ही लिया जाता है। (Grigson 53-57) अर्थात् दोरला जनजाति एक प्रकार से दण्डामी माड़िया जनजाति की ही एक शाखा है जिन्हें दोरला नाम से जाना जाता है।

दोरला संस्कृति

बस्तर क्षेत्र की शोध यात्रा के दौरान शोधार्थी द्वारा देखा गया की दोरला जनजाति की विभिन्न शाखाएँ बस्तर के भोपालपट्टनम् से बीजापुर तथा बीजापुर से सुकमा तथा कोंटा क्षेत्र तक निवासरत हैं। क्षेत्र का सूक्ष्म अवलोकन करने पर दोरला जनजाति की ही विभिन्न शाखाओं की संस्कृति में भिन्नता स्पष्ट रूप दिखाई पड़ती है। अर्थात बस्तर के दक्षिणी क्षेत्र के भोपालपट्टनम् से बीजापुर तक के दोरला लगभग एक सामान संस्कृति का अनुसरण करते हैं किन्तु बीजापुर से आगे बढ़ते हुए सुकमा से कोंटा की ओर जाने पर वहाँ निवास करने वाली दोरला आदिवासियों की संस्कृति में भिन्नता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कोंटा क्षेत्र के दोरला आदिवासियों की संस्कृति बस्तर के अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली माड़िया जनजाति की संस्कृति से पूर्ण समन्ता रखती है। इनके नृत्यों में गौर सींग माड़िया नृत्य (जिसमें बैल के सींग से बने मुकुट को धारण कर नृत्य किया जाता है) एवं वाद्य के रूप में माड़िया जनजाति के

समान ही ढोल का वादन करते हुए नृत्य किया जाता है। इनके नृत्य की शैली भी माड़िया जनजाति के नृत्य से पूर्ण समानता रखती है।

इन क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियों की संस्कृति, बस्तर की संस्कृति से पूर्ण रूप से समान है। बस्तर के मूल निवासी होने के कारण इनके त्यौहारों एवं उत्सवों का स्वरूप तो लगभग एक ही है किन्तु भाषा अंतर से नामों में भिन्नता आ जाती है। बस्तर के दक्षिणी क्षेत्र में दक्षिणी प्रदेश की संस्कृति का प्रभाव अधिक देखा जा सकता है। दक्षिणी बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियों में दक्षिणात्य प्रदेश (तेलंगाना) की भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। दोरला जनजाति की भाषा दोरली, गोंडी भाषा में तेलुगु के मिश्रण का ही परिणाम है। कहीं-कहीं इन जनजातियों द्वारा तेलगु भाषा का भी प्रयोग किया जाता है।(Grigson 53)

दोरला जनजाति के अवनद्ध वाद्य

विवाह इत्यादि सामाजिक कार्यक्रमों में दोरला जनजाति द्वारा शहनाई के साथ **मद्देड़ बाजा** का वादन नृत्य करते एवं गीत गाते हुए किया जाता है।दोरला जनजाति के लोगों में भी मृत्यु संस्कार के नियमों के अनुसरण के समय भी विशेष तरीके से दोरला ढोल का वादन किया जाता है। शोध यात्रा के दौरान प्राप्त मृत्यु संस्कार गीत के विडियो के अनुसार "दोरला जनजाति समाज के आदिवासियों में रिवाजानुसार मरणोपरांत मृत आत्मा की शांति के लिए विभिन्न क्रियाएं कर दोरली बोली (भाषा) में गीत गाया जाता है जिसे दोरली में (आनापाटा) कहा जाता है।" (मृत्यु संस्कार गीत)

बस्तर क्षेत्र की शोध यात्रा में दोरला जनजाति की संस्कृति का विस्तृत अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि दोरला संस्कृति में अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग विभिन्न सस्कृतिक अवसरों पर किया जाता है जिनमें 'मद्देड़ बाजा, दोरला बाजा, बडे दोरला ढोल' इत्यादि मुख्य हैं। भोपालपट्टनम क्षेत्र की दोरला जनजाति के नृत्यों में मुख्य वाद्यों के अंतर्गत मद्देड़ बाजा तथा दोरला बाजा का प्रयोग देखा जाता है, जिनमें दोरला लोगों द्वारा दोरला बाजा को केवल दैवीय कार्यों हेतु प्रयोग किया जाना बताया गया। (कड़के) बीजापुर क्षेत्र में निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा मद्देड़ बाजा तथा दोरला बाजा का प्रयोग तो किया जाता है, किन्तु साथ ही बीजापुर के आवापल्ली क्षेत्र में दोरला जनजाति के बड़े ढोल , जिस दो व्यक्तियों द्वारा डण्डेपर रस्सी की सहायता से लटकाकर बजाते हुए देखा जा सकता है। (Shrivastav) उपर्युक्तानुसार सुकमा से कोंटा क्षेत्र के दोरला आदिवासी एक प्रकार से माड़िया जनजाति से समानता रखती हैं तथा इनके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले ढोल वाद्य की बनावट एवं वादन विधि पूर्ण रूप से माड़िया ढोल के समान है अतः **माड़िया ढोल** को भी दोरला जनजाति के वाद्य की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है। कोंटा की दोरला) (जनजाति इसके अतिरिक्त संपूर्ण बस्तर प्रदेश की लगभग सभी जनजातियों में सामान्य रूप से प्रयोग किये जाने वाले वाद्य **निसान** एवं **तुड़बुड़ी** जैसे वाद्यों का भी प्रयोग दोरला आदिवासियों द्वारा किया जाता है।दोरला संस्कृति के सभी सांस्कृतिक आयोजनों यथा विवाह, जन्म तथा मृत्यु इत्यादि संस्कारों के अतिरिक्त विभिन्न पारंपरिक पर्व उत्सव इत्यादि में इन्हीं वाद्यों का मुख्यता से प्रयोग किया जाता है। दोरला आदिवासियों से चर्चा करने एवं उनके वाद्यों के अवलोकन के पश्चात् इन वाद्यों की बनावट निर्माण विधि, वादन विधि तथा प्रयोग अवसर के संबंध में विवरण निम्नानुसार है।

- **मद्देड बाजा (छोटा ढोल)**

दक्षिणी बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियों में दोरला आदिवासियों के बीच इस वाद्य का प्रयोग देखा जाता है। शोधार्थी की दृष्टि में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस वाद्य को दोरला जनजाति से संबद्ध माना जाना ही

उचित प्रतीत होता है। दोरला जनजाति इस वाद्य को छोटा ढोल के नाम से संबोधित करती है। जिसे सार्वजनिक सभी कार्यक्रमों में प्रयोग कर लिया जाता है। बस्तर के बीजापुर क्षेत्र की महाराष्ट्र एवं तेलंगाना राज्य की से निकटता के कारण बस्तर क्षेत्र के बीजापूर में निवास करने वाले दोरला जनजाति में महाराष्ट्र तथा तेलंगाना क्षेत्र की भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

यूट्यूब पर उपलब्ध सी.सीआरटी के चैनल पर दोरला नृत्य पर उपलब्ध विडियो "CCRT - CCRT produced Documentary Film "Dance of Dorla Tribes" from the archives of CCRT in 1995." में इस वाद्य का प्रयोग किया जाता देखा जा सकता है। (CCRT OFFICIAL CHANNEL)

शोधार्थी को शोध यात्रा के दौरान बीजापुर तथा भोपालपट्नम क्षेत्र के निकट दोरला जनजाति के आदिवासियों के पास इस वाद्य को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। शोधार्थी का मानना है कि भोपालपट्नम क्षेत्र के पास मद्देड़ नामक स्थान पर इस वाद्य को ही स्थान के नाम पर मद्देड बाजा के नाम से प्रचारित किया गया जिसके कारण यह वाद्य मद्देड़ बाजा के नाम से प्रचलित हो गया। शोधार्थी द्वारा बस्तर के बीजापुर के पास गांवों में निवास करने वाली दोरला जनजाति के पास भी इस वाद्य को देखा गया जो इसका नाम केवल ढोल ही बताते हैं। (बड़दी)

बनावट

इस वाद्य की बनावट दक्षिण भारतीय वाद्य 'ताविल' से लगभग मिलती-जुलती है। दोरला जनजाति द्वारा प्रयोग किये जाने वाले वाद्य का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस वाद्य का खोल पूर्ण रूप से ताविल वाद्य के लकड़ी के खोल के समान ही निर्मित किया जाता है। इस वाद्य एक मुख में चमड़ा मढ़ने के लिए ताविल में प्रयुक्त किये जाने वाले मोटे चक्र के स्थान पर थोड़े पतले और मुख के आकार से दोगुना बड़े चक्र का प्रयोग दिखाई देता है तथा दूसरे मुख पर ताविल वाद्य के समान ही लोहे के गोल चक्र के माध्यम से चमड़ा मढ़ा जाता है।

यह वाद्य लंबाई में लगभग 1.5 से 1.75 फीट के आस-पास का निर्मित किया जाता है। इसके दो मुखों में एक मुख के बड़े आकार वाले चक्र का व्यास 14 से 15 इंच के आसपास होता है किन्तु इस मुख पर लकड़ी के खोल के

मद्देड़ बाजा, बीजापुर क्षेत्र में प्रचलित दोरला जनजाति (छायांकित)

मुख का व्यास 6 से 7 इंच का ही होता है। दूसरी ओर तावित वाद्य के मुखों पर लगे लोहे के चक्र के समान ही चक्र लगा होता है जिसकी मोटाई लगभग 1.5 इंच तथा चक्र का व्यास 10 से 11 इंच का होता है। इस चक्र के आंतरिक गोलाई का व्यास 8 से 9 इंच का होता है जो खोल के मुख की बाहरी सतह के व्यास के लगभग बराबर होता है। (बड़दी)

निर्माण विधि

इस वाद्य का निर्माण जनजाति के लोग स्वयं ही कर लेते हैं। इस वाद्य के खोल के लिए बीजा एवं शीशम की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी को बेलनाकार काट लिया जाता है तथा वाद्य के खोल को तैयार करने के लिए लोहे के औजारों की सहायता से इसकी बाहरी सतह को गोलाई में अर्थात मुखों पर व्यास कम रखते हुए, खोल के मध्य भाग की ओर जाते हुए व्यास गोलाई में अधिक होता जाता है। इस तैयार लकड़ी के अंदर की ओर के ठोस हिस्स को भी औजारों की सहायता से खोदकर निकाल दिया जाता है। इसके दोनों मुखों में एक मुख का व्यास अधिक तथा दूसरे का व्यास कम रखा जाता है।

इस वाद्य के दोनों मुखों पर बकरे के चमड़े को लोहे से निर्मित चक्रों के सहायता से मढ़ा जाता है। बड़े मुख की ओर जो चमड़ा मढ़ा जाता है वह छोटे मुख के चमड़े से अधिक मोटाई का होता है। बड़े मुख पर लगे मोटी गोलाई के चक्र पर चमड़े को अच्छी तरह चिपका का सुखा लिया जाता है। इसी प्रकार छोटे मुख पर लोहे के बड़े आकार वाले चक्र पर बकरे के चमड़े को विशेष रूप से तैयार करके मढ़ा जाता है। इसके लिए चमड़े को चूने के पानी में रात भर भिगो कर रखा जाता है। जिससे इस पर उपस्थित बाल हट जाते हैं तथा चमड़े का रंग सफेद हो जाता है। इस सफेद चमड़े को चक्र पर बद्धी के लिए स्थान छोड़ते हुए लकड़ी के छोटे-छोटे गुटकों को चमड़े के अंदर डालते हुए चिपका लिया जाता है। इस प्रकार तैयार चमड़े युक्त दोनों चक्रों को रस्सी की सहायता से खोल पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन दोनों ओर से लकड़ी से किया जाता है। इसके बड़े मुख पर अर्थात मोटे चक्र वाले मुख पर तेंदु वृक्ष के निर्मित 10 इंच लंबे तथा आधे इंच मोटे घुण्डी युक्त डण्डी से वादन किया जाता है। इस मुख नीचे के स्वर वाली ध्वनि प्राप्त होती है। इस मुख पर डण्डी से आघात करते हुए कभी-कभी ध्वनि में विविधता प्राप्त करने के लिए आघात के तुरंत पश्चात् हाथ की ऊंगलियों के स्पर्श कर दिया जाता है। दूसरे मुख पर बांस की लकड़ी से निर्मित पतली डण्डी से आघात कर वादन किया जाता है। इस मुख की ध्वनि ऊंचे स्वर वाली होती है। (Korram)

प्रयोग अवसर

पंडुम अर्थात विभिन्न त्यौहारों, शादी, नामकरण संस्कार इत्यादि के अवसर इस वाद्य का वादन किया जाता है। दोरला नृत्य के साथ भी इस वाद्य का वादन किया जाता है। इस वाद्य के साथ अन्य वाद्य के रूप में दक्षिण भारतीय सुषिर वाद्य नादस्वरम् को ही शहनाई कहकर दोरला जनजाति प्रयोग करती है।

- **दोरला बाजा**

शोधार्थी द्वारा शोध यात्रा के दौरान दोरला जनजाति के आदिवासियों के पास देखा गया द्वितीय वाद्य है जिसे दोरला लोगों द्वारा बड़े ढोल नाम से संबोधित किया जाता है। (कड़के)

बनावट

इस वाद्य की बनावट साधारण ढोल के समान ही होती है। इस वाद्य की लंबाई 1.5 से 2 फीट के मध्य होती है। इस वाद्य के खोल के मुखों का व्यास एक ओर लगभग 12 इंच तथा दूसरी ओर 14 इंच के लगभग होता है। वाद्य का निर्माण आदिवासियों द्वारा स्वयं ही किया जाता है अतः वाद्य के आकार का निश्चित माप होना आवश्यक नहीं होता।

निर्माण विधि

इस वाद्य का निर्माण बीजा एवं शीशम की लकड़ी से किया जाता है। लकड़ी के मोटे तथा वाद्य की लंबाई की आवश्यकता अनुसार काट कर इसके उपरी भाग को औजारों के माध्यम से अथवा मशीन के माध्यम से छीलकर ऊपरी सतह बना ली जाती है। जिसमें दो मुखों में एक का बड़ा तथा दूसरे को छोटा रखा जाता है। बड़े मुख से छोटे मुख की ओर बढ़ने पर क्रमशः व्यास कम होता जाता है। इसके पश्चात् लकड़ी के अंदर के ठोस हिस्से को औजारों की सहायता से खोद कर निकाल लिया जाता है। इस वाद्य के दोनों मुखों पर मढ़ने के लिए बकरे चमड़े का प्रयोग किया जाता है। इस दोनों ही मुखों पर मुख के बाहरी सतह के आकार से थोड़े बड़े आकार के धातु के चक्रों की सहायता से चमड़ों को मढ़ा जाता है। धातु चक्रों पर चमड़े को चिपका दिया जाता है। दोनों मुखों पर इन चक्रों को रखते हुए धातु पर चिपके चमड़े के भीतरी हिस्सों पर छेद कर दिया जाता है। इन छिद्रों में से रस्सी को गुजारते हुए इसे खोल पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन भी मद्देड़ बाजा के समान ही एक ओर तेंदु से निर्मित घुण्डी युक्त डण्डी से तथा दूसरी ओर बांस की निर्मित पतली डण्डी से किया जाता है। नादस्वरम (जिसे दोरला लोग शहनाई कहते हैं) पर बजाये जाने वाले स्वरों के आधार पर इस वाद्य का वादन किया जाता है। (कड़के)

प्रयोग अवसर

दोरला आदिवासियों के अनुसार इस वाद्य का प्रयोग अधिकतर सार्वजनिक अवसरों पर न किया जाकर केवल दैवीय कार्य अथवा देवी देवताओं की आराधना तथा निजि पारंपरिक अवसरों पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त पारंपरिक नृत्य एवं गीत के साथ वादन के लिए इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है।

- **माड़िया ढोल**

प्राचीन ढोल वाद्यों से समानता रखता यह वाद्य साधारण रूप से सरई वृक्ष के तने से निर्मित एक ढोल वाद्य है। यह माड़िया जनजाति का मुख्य नृत्य वाद्य होने के कारण इस वाद्य को माड़िया ढोल कहा जाता है। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने इस वाद्य को बिरिया ढोल कहा है। बस्तर की दोरला जनजाति के नृत्यों में भी यह वाद्य माड़िया नृत्य के एक

स्वरूप में देखने को मिलता है। दोरला अपने सभी वाद्यों को अपनी जनजाति से संबोधित करते हैं अतः वे इस वाद्य को दोरला बाजा भी कह देते हैं।

बनावट

चित्रानुसार इस द्विमुखी ढोल अवनद्ध वाद्य की बनावट एक समानांतर बेलन के आकार वाले लकड़ी के खोल की दिखाई देती है। इस वाद्य का खोल सरई वृक्ष के एक तने को काटकर बीच से खोखला करके बनाया जाता है। इसके दोनों मुखों का व्यास लगभग एक फीट से डेढ़ फीट का होता है। इसकी लंबाई लगभग 1.5 मीटर की होती है। (तरमा)

निर्माण विधि

इस वाद्य के निर्माण के लिए सरई, सेमर इत्यादि की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। गोलाई में मोटी व लम्बी लकड़ी को लोहे औजारों के माध्यम से चारों ओर छीलकर समानांतर बेलन का आकार दे दिया जाता है। इस प्रकार बराबर किये गये लकड़ी को भीतर से लोहे की छड़ से बने धारदार औजार सब्बल की सहायता से खोद कर हटा दिया जाता है। यह खोल एक मुख से दूसरे मुख तक पूरी तरह खोखला होता है। (secret_bastar) इसके मुखों पर मढ़ने के लिए एक तरफ गाय अथवा बैल का तथा एक तरफ बकरे के चमड़े का प्रयोग किया जाता है। दोनों मुखों पर अलग-अलग पशु के चमड़ों का प्रयोग का कारण केवल दोनों मुखों की ध्वनि में अंतर प्राप्त करना होता है। बकरे के चमड़े वाले मुख से पतली ध्वनि तथा गाय-बैल के चमड़े वाले मुख पर मोटी ध्वनि उत्पन्न होती है। चमड़े को मुखों पर मढ़ने के लिए इसे बांस के चक्र में चिपका लिया जाता है। इस चक्र को बनाने के लिए बांस के पतली व लंबी डण्डी को खोल के मुख के बाहरी हिस्से के व्यास मे गोलाकार चक्र के समान मोड़ लिया जाता है। मुख के आकार से थोड़े बडे आकार में काटे गये चमड़े को इस चक्र पर गोंद की सहायता से चिपका लिया जाता है। इस प्रकार तैयार चमड़े युक्त चक्र को दोनों मुखों पर रख कर बांसचक्र के अंदर के भाग के चमड़े पर छेदकर बैल के चमड़े से निर्मित बद्धी को इनमें से गुजारते हुए अंग पर कस दिया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन, इसके दोनों मुखों के किनारों पर बंधी रस्सी कि सहायता से (चित्र में दिखाये अनुसार) कंधे पर थोड़ा तिरछा लटकाकर किया जाता है। जिस ओर गाय अथवा बैल के चमड़े का प्रयोग किया जाता है, उस ओर लकड़ी के निर्मित डण्डे से आघात करते हुए वादन किया जाता है तथा जिस ओर बकरे का चमड़ा मढ़ा होता है उस मुख का वादन हाथ कि ऊंगलियों से मुख के चमड़े के किनारों पर प्रहार करते हुए किया जाता है। अधिकतर इस वाद्य के दाहिने भाग पर बकरे के चमड़े वाला मुख तथा बांयी ओर गाय अथवा बैल के चमड़े वाला मुख होता है तथा वादन के समय डंडे से वादन किए जाने वाले भाग क नीचे की ओर झुका कर रखा जाता है।

प्रयोग के अवसर

यह वाद्य दण्डामी माड़िया, गौर सिंह माड़िया तथा बस्तर के दक्षिणी छोर पर निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा माड़िया नृत्य के साथ प्रयोग मे देखा जा सकता है। इस नृत्य के साथ इन जंजातियों द्वारा रेला गीत का गायन किया जाता है। यह वाद्य माड़िया जनजाति विशेष का वाद्य है अतएव इस जनजाति द्वारा प्रत्येक सांस्कृतिक अवसर यथा दशहरा, मेला जात्रा, दियारी, आमुस, नयाखानी, शादी, मरनी इत्यादि मे मुख्यता से प्रयोग किया जाता है।

- **दोरला ढोल**

पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है कि बीजापुर के पास के क्षेत्र में आवापल्ली में निवास करने वाली दोरला जनजाति द्वारा आकार में बहुत बड़े ढोल का प्रयोग किया जाता है। जिसका वादन दो व्यक्तियों द्वारा इसे डण्डे की सहायता से कंधे पर लटकाकर किया जाता है। शोधार्थी द्वारा जानकारी के आभाव में पूर्व में इस वाद्य का वर्णन दोरला बाजा के नाम से किया गया था। किन्तु शोधार्थी शोध यात्रा के दौरान इस वाद्य के अतिरिक्त भी दोरला जनजाति के अन्य वाद्यों के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई, जिसके अंतर्गत ज्ञात हुआ के दोरला जनजाति के मध्य छोटे आकार में प्रयुक्त ढोल को दोरला बाजा कहा जाता है। आकार में ढोल के समान बेलनाकार होने के कारण इसे दोरला जनजाति का ढोल कहा जा सकता है। अतः इस ढोल को शोधार्थी द्वारा दोरला ढोल कहकर वर्णन किया जा रहा है।

इस वाद्य के संबंध में शोधार्थी को यूट्यूब पर उपलब्ध एक विडियो के माध्यम से जानकारी प्राप्त हुई थी। उक्त विडियो में इस बड़े ढोल के साथ अन्य कई छोटे ढोल का प्रयोग भी विडियो में देखा जा सकता है। (Shrivastav) इस वाद्य के संबंध में जानकारी प्राप्त करने हेतु शोधार्थी द्वारा प्रयास किया गया, जिसके अंतर्गत दोरला जनजाति के संबंध में यू-ट्यूब पर उपलब्ध विडियो को अपलोड करने वाले शिवशंकर श्रीवास्तव जी से संपर्क किया गया। शिवशंकर जी के अनुसार इस वाद्य का स्थान बीजापुर जिले के आंवापल्ली क्षेत्र का बताया गया तथा यह उस क्षेत्र में निवास करने वाली दोरला जनजाति के आदिवासियों का ही बताया गया। शोधार्थी द्वारा शिवशंकर जी के साथ उस क्षेत्र तक पहुंचने का प्रयास किया गया किन्तु क्षेत्र में निवास करने वाले संपर्क सूत्रों के अनुसार नक्सली गतिविधियों के कारण उस क्षेत्र में सेना द्वारा स्थानीय नागरिकों के अतिरिक्त किसी अन्य का आवागमन प्रतिबंधित कर दिया गया था। अतः शोधार्थी इस क्षेत्र तक पहुंच पाने में असमर्थ रहा। इस वाद्य के संबंध में शिवशंकर जी से प्राप्त विडियो के अवलोकन से प्राप्त जानकारी के अतिरिक्त अन्य कोई जानकारी प्रस्तुत कर पाने में शोधर्थी असमर्थ है।

वादन शैली

दोरला बाजा, दोरला ढोल, मद्देड़ बाजा का वादन दोनों मुखों पर डण्डे से किया जाता है। से आघात करते हुए भी वादन किया जाता है। माड़िया ढोल का वादन एक मुख पर डण्डे के प्रहार से तथा दूसरे मुख पर हाथ की अंगुलियों से मुख के किनारों पर प्रहार करते हुए किया जाता है।इन वाद्यों पर वादन सामग्री के रूप में स्वर वाद्य पर बज रहे स्वरों का अनुसरण किया जाता है। स्वर वाद्य पर बजाये जाने वाले इन स्वरों को पाड़ नाम से संबोधित किया जाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के समान इन वाद्यों की वादन सामाग्री में ताल जैसे निश्चित मात्रा वाले बोलों का प्रयोग नहीं

किया जाता है। नृत्य के साथ वादन के समय भी किसी विशेष निश्चित ताल का वादन नहीं किया जाता अपितु इन पर बजने वाले पाड़ प्रत्येक आवर्तन (चक्र) के साथ परिवर्तित होते चलते हैं। दोरला जनजाति के वाद्य **दोरला बाजा** तथा **मद्देड बाजा** (छोटा ढोल) पर भी पाड़ का वादन किया जाता है जो नृत्य के साथ बजाये जाने के कारण तीन अथवा चार की संख्या में निश्चित होते हैं। वाद्य की संरचना के कारण इस वाद्य पर वादन में विविधता की अधिक संभावना होती है अतः वर्तमान में हिन्दी भाषा के संगीत प्रचलित विभिन्न आरती गीतों एवं अन्य फिल्मी गीतों के साथ इसका वादन करते हुए देखा गया है। इस पर फिल्म संगीत में प्रचलित तालों का भी वादन किया जाता है। **दोरला ढोल** की वादन शैली तथा इस पर बजने वाले पाड़ की जानकारी अप्राप्त है।

दोरला जनजाति की संस्कृति में दक्षिण भारतीय संस्कृति के प्रभाव केवल उनकी संस्कृति में न होकर उनके वाद्यों में भी देखे जा सकते हैं। शहनाई के रूप में दोरला जनजाति के द्वारा प्रयोग किया जाने वाला स्वर वाद्य वास्तव में दक्षिण भारतीय वाद्यों में प्रयुक्त नादस्वरम ही है। इसी प्रकार यदि बनावट के आधार पर देखा जाए तो ज्ञात होता है कि मद्देड़ बाजा जिसे दोरला छोटा ढोल कहते हैं, का लकड़ी का खोल दक्षिण भारतीय वाद्य तविल के खोल से पूर्ण समानता रखता है अंतर केवल वाद्य के मुखों पर मढे गये चमड़े का होता है। यह भी संभव हो सकता है कि ताविल वाद्य इस वाद्य का ही विकसित स्वरूप हो। बस्तर की दोरला जनजाति में वाद्यों की संख्या तो बहुत अधिक नहीं है किन्तु फिर भी इस जनजाति की संस्कृति में वाद्यों के प्रयोग को विशेष महत्व दिया जाता है। इनके किसी भी दैवीय कार्य में इन्हीं वाद्यों के वादन को महत्व दिया जाता है। जहाँ इनके दैवीय कार्यों में दोरला बाजा का प्रयोग निश्चित है वहीं इनके सामाजिक कार्यक्रमों में मनोरंजन के वाद्य के रूप में मद्देड़बाजा का वादन निश्चित होता हैं। इनके वाद्यों के वादन की कोई विशेष शास्त्रीय वादन शैली नहीं है किन्तु फिर भी इनके वाद्यों का वादन सुनने में मन को मोह लेने वाला होता है। वर्तमान आधुनिकता के दौर में जहाँ शहरी क्षेत्रों में पारंपरिक अवसरों पर पारंपरिक वाद्यों के वादन का महत्व लगभग समाप्त हो चुका है वहीं दोरला जनजाति आज भी अपने वाद्यों की पारंपरिकता को संजाये हुए हैं।

दोरला जनजाति की संस्कृति के संबंध में आज भी बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती इनकी संस्कृति में शोधार्थी द्वारा केवल वाद्यों का ही अध्ययन किया गया है जिनमें पूर्ण प्रयासों के पश्चात् भी सभी वाद्यों के संदर्भ में जानकारी अप्राप्त रही। पूर्ण संभावना है कि उपर्युक्त वर्णित इन वाद्यों के अतिरिक्त भी कई अन्य वाद्य इस क्षेत्र में प्राप्त हों।

दोरला जनजाति की संस्कृति पर भी पूर्ण स्वतंत्र शोध कार्य की संभावना बनती है इनकी संस्कृति में दोरली बोली के गीत, नृत्य एवं इनकी जीवन शैली के संबंध में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती अतः शोधार्थी की दृष्टि में इन विषयों पर भी दोरला जनजाति को केन्द्र में रखकर शोधकार्य किये जाने चाहिए।

सन्दर्भ सूची ;-

CCRT OFFICIAL CHANNEL. *CCRT - CCRT produced Documentary Film "Dance of Dorla Tribes" from the archives of CCRT in 1995.* 02 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=kd09L9K0H50&t=616s>.

Nagraj Koram.*gudipadwa village arjunalli Bhopal patnam* .8 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=_vTV-qy43H0>.

Nagraj Korram.*gudipadwa village arjunalli Bhopal patnam* .08 July 2021. <https://www.youtube.com/watch?v=_vTV-qy43H0>.

secret_bastar.*https://www.instagram.com* .5 July 2021. <https://www.instagram.com/tv/CQ7S7KJpe0i/?utm_medium=share_sheet>.

Shivshankar Shrivastav.*Dorla dance of Bastar, Chhattisgarh* .23 May 2018. <https://www.youtube.com/watch?v=4l1dAi1GkOU>.

W.V. Grigson.*The Maria Gonds of Bastar* .London: Oxford University press, 1938.

.कोंटा की दोरला जनजाति"" *कोंटा के दोरला जनजाति द्वारा किया जाने वाला नृत्य*कोंटा सुकमा: शोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 21.

नत्थू लाल तोड़े .*बस्तर की लोक कथाओं का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन*खैरागढ़: इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय ., 2010.

नर्मदा प्रसाद श्रीवास्तव .*आदिवासी बस्तर (इतिहास एवं परम्पराएं).* जगदलपुर: शैलजा श्रीवास्तव, 1992.

.मृत्यु संस्कार गीत"" *मृत्यु संस्कार गीत दोरला जनजाति बीजापुर*बोर्जे ., बीजापुरतुलसी राम यारलम जी से प्राप्त :, अक्टूबर 2021 23.

लाला जगदलपुरी .*बस्तर इतिहास एवं संस्कृति* :भोपाल .मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2000.

शंकर कड़के .*साक्षात्कार शंकर कड़के दोरला बाजा वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 18.

शिरीन लाखे .*बस्तर के आदिवासियों के नामो का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन*रायपुर: रविशंकर विष्वविद्यालय ., 1988.

श्रीकमल शर्मा शिव कुमार तिवारी .*मध्य प्रदेश की जनजातियाँ समाज एवं व्यवस्था*भोपाल: मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी ., 1999.

सत्यम बड़दी .*साक्षात्कार सत्यम बड़दी - मद्देड बाजा वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., अक्टूबर 2021 19.

सुखराम तरमा .*साक्षात्कार सुखराम तरमा माडिया ढोल वादक* - पुनीत पटेलशोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो ., जून 2021 29.

हीरालाल शुक्ल .*आदिवासी अस्मिता और विकास*भोपाल: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी ., 1997.

कमलनारायण रचित जस–पचरा का वर्ण्य–विषय

प्रो. डॉ. राजन यादव

किसी भी प्रदेश के पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता के अन्वेषण-अध्ययन में तत्कालीन विनिर्मित ग्रंथ अमूल्य सहायता प्रदान करते है। लोग जीवन में प्रचलित रीति –रिवाज, राजनैतिक स्थिति उस समय के मानवों के चिंतन आदि प्रधान विषयों पर परिज्ञान साहित्य के तलस्पर्शी मन पर ही अवलंबित है। साहित्य की विविध विधाओं में गीति एक सशक्त विधा है, जिसका जन्म राममय भावनाओं से होता है। नागवंश के 22वें पीढ़ी के राजा कमल नारायण कृत कमलनारायण, कमलनारायण प्रहर्ष कमलप्रकाश रागमाला एवं शीतल यश का उल्लेख मिलता है। वह संगीत प्रेमी ही नहीं अपितु संगीत के जानकार थे रागमाला इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। राजा कमलनारायण सिंह जी का जन्म 11 अगस्त 1871 ईस्वी को नागपुर में हुआ था। आप सन 1890 ईस्वी में गद्दीनशीन हुए थे

जस-पचरा में आदिशक्ति जगदंबा का विविध विध गान किया जाता है। नवदुर्गा से लेकर अनेक देवी शक्तियां उनकी महिमा, यशोगान इत्यादि जस-पचरा के वर्ण्य विषय होते हैं। इसमें स्थानीय या क्षेत्रीय देव-देवियों की महिमागान किया जाता है। चूँकि देवी उपासकों के लिए परमशक्ति महामाया, महागौरी, जगदंबा ही हैं। इसलिए समस्त अन्य देव-देवियाँ आदिशक्ति की कृपा के अभिलाषी रूप में चित्रित होते हैं। छत्तीसगढ़ शक्तों का गढ़ रहा है। यहाँ के ग्राम-ग्राम में ठाकुरदेव, कंकालिन, सतबहनियाँ, भईंसासूर, लंगुरा बीर इत्यादि शाक्त परम्परा के देव-देवियाँ प्रतिस्थापित हैं। घाट-घाट में महादेव घाटी-घाटी में बंजारी विराजमान हैं। वैष्णधारा के देव-देवियाँ ब्रह्म, विष्णु , महेश सरस्वती, गणेश , सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि देव-देवियों का भी गान जसगीतों में होता है। राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा में लोक देव-देवियों की अपेक्षा वैष्णव धारा के देवी-देवताओं का अधिक वर्णन हुआ है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित जसगीतों के आधार पर राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा के वर्ण्य –विषय का विश्लेषण भी आवश्यक जान पड़ता है। छत्तीसगढ़ में गाये जाने वाले देवीगीतों (माता सेवा, जँवारा, जसगीत) का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

1. वंदनापरक - देवी की स्तुति, वंदना, यशगान, पूजा, आरती, महिमा।
2. श्रृंगारपरक - देवी के अलंकारश्रृंगार , पुष्प श्रृंगार , भुवन श्रृंगार , नखशिख श्रृंगार , बारहमासी श्रृंगार।
3. बधाईपरक - बधाई, पालना, हिंडोला, मालिन, लंगुरवा-बरुवा।
4. वाद्ययंत्रपरक - वाद्यों के प्रकार, नृत्य इत्यादि।
5. युद्धपरक - दैत्य-संहार, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि।
6. पौराणिक आख्यानपरक - भागवत पुराण, शिवपुराण, नरसिंह पुराण इत्यादि।
7. महाभारत कथापरक - कौरव-पाण्डव युद्ध के पहले देवी आराधन इत्यादि।
8. श्रीरामकथापरक - श्रीरामकथा के विविध पात्रों सम्बन्धी।
9. श्रीकृष्णकथापरक - श्री राधा की महिमा व अन्य कथानक।
10. प्रकृति चित्रणपरक - पशु, पक्षी, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, वनस्पति जगत इत्यादि।
11. लोकजीवनपरक - लोक जीवन के दैनिक कार्यों, अभिलाषाओं इत्यादि का चित्रण।
12. पकवानपरक - देवी के भोग हेतु विविध पकवानों का वर्णन इत्यादि।

13. बरुवा कष्टनिवारणपरक - सेवक, भक्त व देव चढने वाले बरुवों की मंगल कामना इत्यादि।

देवीगीतों के गायन-वादन की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया जा सकता है। राजा कमलनारायण कृत जस-पचरा के वर्ण्य–विषय को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है- 1. वंदनापरक, 2. श्रृंगारपरक, 3. भागवत पुराणपरक, 4. श्रीरामकथापरक, 5. श्रीकृष्णकथापरक, 6. महाभारत कथापरक, 7. युद्धपरक, 8. प्रकृति चित्रणपरक, 9. लोक कल्याणकारीपरक, 10. पकवानपरक, 11. बरुवा कष्ट निवारणपरक। यथा-

1. वंदनापरक - भक्त अनिष्ट निवारण के लिए अपने इष्ट से प्रार्थना करता है। संसार की दैहिक दैविक और भौतिक तापों से वह अपने इष्ट के चरणों में जाकर ही त्राण पाता है। देवी-भक्त आदिशक्ति की वंदना करता है कि वेद और अठारह पुराण आपके गुणों का बखान नहीं कर सकता। मैं अज्ञानी हूँ, मैं तो आपका आह्वान, पूजा, ध्यान जानता ही नहीं हूँ, मेरा मन तो सांसारिक विषय वासनाओं में डूबा रहता है। इसलिए हे मातेश्वरी , आपकी शरण में आया हूँ। मेरा मान और मुक्ति आपके हाथों में है-

माई देवी नमस्ते नमो तू ही सुखदायिनी माय ।।
नमो नमो जगदंबा भवानी नमो शीतला माई
नमो नमो ते क्षमा मंगला नमो नमो बमलाई
नमो नमो गौरी पद्या तू नमो शची मेघाई
नमो नमो दुर्गा बगला ते नमो नमो सुखदाई
नमो जया विजिया ते देवी शिवा सुभद्रा माई
नमो नमो हेडंबा अंब ते नमो जयंती गाई
सावित्री ते नमो शारदा कमला शची सुहाई
कंकाली ते नमो कालिका कमल सिंह यश गाई ।।

बधाईपरक जसगीतों में विवाह, उत्सव इत्यादि का प्रसंग आता है। हिम कन्या भवानी भूत भावन भगवान शंकर की प्राण प्यारी हैं। जब वे सती के रूप में थीं तब अपने पिता दक्ष यहाँ यज्ञ में अपने पति का भाग नहीं देखीं तो योगग्नि से शरीर त्याग देती हैं। क्रोधित होकर शंकर महाकाल, नंदी और भृंगी को भेजकर यज्ञ विध्वंश करा देते हैं। फिर सती का जन्म हिमवान के यहाँ पार्वती के रूप में हुआ और शंकर के साथ विवाह हुआ-

नगजाते कुमारी, शंकर प्राण पियारी हो माय ।।
सती हत्ती तू आदि भवानी, पिता यज्ञ तन वारी।
मखशाला नहिं देखिं भाग हर, क्रोधानल तन जारी ।।
दक्ष प्रजापति यज्ञ नष्ट कर, कष्ट दिन अधिकारी।

2. श्रृंगारपरक - प्राचीन काल से मानव के जीवन में श्रृंगार का विशेष स्थान रहा है। मनुष्य विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषणों को धारण कर अलंकृत होता है। भक्त अपने परिवेश और सामर्थ्य के अनुसार देवी को वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कर अर्चन-वंदन करता है। आभूषण श्रृंगार , फूल श्रृंगार बारमासी, नख-शिख श्रृंगार , भुवन श्रृंगार इत्यादि का राजा कमल नारायण रचित जस गीतों में वर्णन हुआ है। यथा-

षटदस सजि के सिंगार, कनक राजे वेदिका ।।

नाना रतनों सो जटि, रुचि भर लसी
माया मोरे लखि मोहित संसार। कनक राजे.....

आदिशक्ति की महिमा का बखान करते हुए उनके पुष्प श्रृंगार का वर्णन किया गया है। विविध फूलों के मुकुट, कंगन, कुण्डल, वस्त्र इत्यादि का वर्णन करके भक्त याचना करता है कि हे सुषमा की खान गणेश-माता, बरुवा आपके शरणागत है। आपकी विमल छवि यह भक्त अपने हृदय में बसाया हुआ है।

बारहमासा वर्णन साहित्य की प्राचीनतम परम्परा रही है। लौकिक प्रेम की दृष्टि से वियोग और उसी के साथ बारहों मास का वर्णन किया जाता है। महीनों की विशेषता के साथ-साथ विरहजन्य गत भावों का सुन्दर चित्रण बारहमासा के अन्तर्गत किया जाता है। भक्तिपरक बारहमासा में महीना के अनुरूप उनके साज श्रृंगार का गान किया जाता है। जैसे-

जन मन रंजन जग सुख करनी बरनत परम उमाह हो माय ।।
कातिक मास प्रकास प्रकासित, मनि मय दीप धराये हो माय।
हिम रितु अगहन मास सुहाये, हेम अधिक सरसाये हो माय ।।
पूस तुसार वास दिन रतिया, वसन सुतूल भराये हो माय।
माघ वसंत वसंती सारी, केसर रंग सुहाये हो माय ।।
फागुन फाग सेज सब जित जित, कुसमित रंग सिंचाये हो माय।
चैत बाग बिच आमन मौरे, चंचरीक ध्वनि छाये हो माय ।।
माघव मास धरम के महिना, सुंदर कलस पुजाये हो माय।
ग्रीसम जेठ चहूँ दिसि दाहत, मलअज अंग लगाये हो माय ।।
मास असाढ़ मेह घहराने, बरखा अति नियराये हो माय।
सावण बुंद झुमुक झर लाये, हरित भूमि तृन छाये हो माय ।।
घुमड़ि घटा नभ छाये, चपला छवि दरसाये हो माय।
सरद मास अस्विन तव अरचत, कमल सिंह जस गाये हो माय ।।

अत्यन्त प्राचीन काल से अंग-सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए 'नख-शिख ' की परम्परा मिलती है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश सभी भाषाओं में यह वर्णन मिलता है। कमलनारायण ने भी उसी परम्परा का वर्णन करते हुए अंग-सौंदर्य के चित्रण के लिए 'नख-शिख' का वर्णन किया है। 'नख-शिख' के अन्तर्गत प्रायः पैर के नाखून से लेकर चोटी तक अंग के प्रत्येक भाग का प्रभावोत्पादक वर्णन किया जाता है। इसके लिए यह कवि-परम्परा प्रचलित है कि देवियों अथवा दिव्य नारियों के अंग-सौंदर्य का चित्रण पैर के नख से आरम्भ करके क्रमशः सिर के वर्णन तक किया जाता है और साधारण स्त्रियों का अंग सौन्दर्य प्रस्तुत करने के लिए सिर से आरम्भ करके पैर के नाखून तक का वर्णन किया जाता है। इसलिए प्रथम वर्णन को 'नख-शिख' तथा दूसरे वर्णन को 'शिख-नख' कहना चाहिए, परन्तु दोनों प्रकार वर्णनों के लिए साहित्य में 'नख-शिख' नाम ही प्रसिद्ध है।

कमल नारायण ने देवी के मनोहारी रूप को अंकित करने के लिए, उनके चरणों से लेकर सिर तक के सौन्दर्य का चित्रण केवल उपमानों के सहारे बड़ी ही सजीवता एवं मार्मिकता के साथ किया है।

अमर गुण गाये तव गुण अगम अपार हो माय

शरद शशिवदनी हरहु सकल दुख दारिद मात ।।
निशदिन सब सुर करत वंदना, विधि हरिहर पद पुजे।
पद तल अरुण नखन शोभित, ऊपर नूपुर कूजे ।।

3. भागवत पुराणपरक - इस पुराण में बारह स्कन्ध हैं। सप्तम स्कन्ध में जय-विजय कथा, हिरण्यकशिपु के द्वारा प्रहलाद के वध का प्रयत्न करने पर नृसिंह भगवान का प्रादुर्भाव, प्रहलाद-चरित्र तथा मानव धर्म, यतिधर्म और गृहस्थधर्मादि का निरूपण है। हिरण्यकशिपु ने क्रोध करके प्रहलाद से पूछा कि बता तेरा वह जगदीश्वर कहाँ है? जब वह सर्वत्र है तो इस खंभे में क्यों नहीं दिखता? उसी समय उस खंभे में एक बड़ा भयंकर शब्द हुआ। भक्त की रक्षा के लिए भगवान ने नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपु के सामने खड़े हो गये। सिंहनाद करता हुआ हिरण्यशिपु हाथ में गदा लेकर नृसिंह भगवान पर टूट पड़ा परन्तु जैसे पतिंगा आग में गिरकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही वह दैत्य भगवान के तेज के भीतर जाकर लापता हो गया। प्रहलाद की रक्षा हुई। देवतागण बार-बार भगवान पर पुष्पों की वर्षा करने लगे, दुंदभी बजाने लगे।

कवि की अभिलाषा है कि जिस प्रकार अपने भक्त की रक्षा नृसिंह ने की थी उसी प्रकार हे शिवरानी, उमा, भवानी मुझ बालक बरुवा पर कृपा कीजिए। कमलनारायण बारम्बार आपके यशोगान करते हुए यही जयघोष कर रहा है, हे माँ उमा भवानी आपकी जय हो-

मैय्या अरर अरर अर्राय, फटे जब खंभ हो माय ।।
चरचराय नरसिंघ रूप धर, जब प्रगटेव भगवान।
हरिणाकुश के रूप देखिकर, गर्जेव प्रलय समान ।।(1)
तीन लोक चैदहों भुवन में, शब्द भये अति भारी।
ब्रह्मा शक्र देव सब काँपैं, काँप उठे त्रिपुरारी ।।(2)

4. श्रीरामकथापरक - रामकथा ने भारतीय वांग्मय को ही नहीं अपितु विश्व साहित्य को प्रभावित किया है। वह भारतीय जन-जीवन की आचार संहिता है। आदिकाव्य रामायण से इसकी जो परम्परा प्रारंभ हुई, भारत की विभिन्न भाषाओ में वह अद्यावधि प्रवहमान है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत चेतना रामकथा के पात्रों और उनके आचरण के विविध आयामों में अभिव्यक्त हुई है। श्रीराम प्रेम के प्रतीक है तो सीता करुणा की मूर्ति है। सीता, श्रीराम की लीला सहचरी हैं। उनका चरित्र प्रभु की नरलीला का आधार है। वे जनकजी की पुत्री, जगत की माता और करुणा निधान श्रीराम की प्रियतमा हैं।

कमलनारायण जी का यह पद वाल्मीकि रामायण की कथा अनुसार है। पूर्वजन्म में जानकी ऋषि कुशध्वज की पुत्री वेदवती थीं। युवावस्था में ही वे हिमालय में कठोर तप कर रही थीं। रावण ने उनका अपमान किया तब वेदबती उन्हें श्राप दिया कि तेरी तप शक्ति नष्ट हो जाए। वेदबती ने कहा- अपने को भस्म करके मृत्यु को वरण करूँगी। लेकिन अगले जन्म में मैं तुम्हारी मृत्यु का कारण बनूँगी। योग अग्नि में भस्म होने के बाद वेदवती कन्या के रूप में अलौकिक ढंग से एक कमल के फूल में पैदा हुई। रावण उसे अपने घर उठा लाया। यहाँ जन्म प्रसंग की दूसरी कथा का उल्लेख है। इसमें रावण ऋषियों से कर माँगता है। ऋषिगण उन्हें रक्त भरा घट देते हैं। आगे की कथा वाल्मीकि रामायण की तरह है। धरती के जरिये यह कन्या महाराजा जनक के राज्य में चली गई। जब राजा जनक हल से धरती को जोत रहे थे तो हल से बनने वाली लकीर के बीच से वह कन्या निकली। इसका नाम हल जोतने से पड़ी रेखा के नाम पर सीता रखा गया-

मैया जनक दुलारी, जानकी नाम कहाय हो माय ।।
जानकी नाम कहाय जाय के, कर निमिवंश उजियारी।
पालन किये षंभुवर मन्दे, लीन्ह मनुज अवतारी ।।
एक समय असुराधिप रावण, कर माँगे मुनि झारी ।
रुधिर भरे घट दिये कहत यों, एही ते काल तुम्हारी ।।
खोलत ख्वार हो यह सुनते ही, दुतिन्ह कहत पुकारी ।
काल बटोर लाय मम सन्मुख, तुरत ही ताहि निकारी ।।
चर ले जाय रात धर आये, जनकपति के बारी ।
कमलनारायण तहाँ प्रकट भये, सीता भूमि सुतारी ।।

5. श्रीकृष्णकथापरक - भारतीय जन मानस को दो अवतारों ने अधिक प्रभावित किया है । राम और श्रीकृष्ण। इन्हीं दो आलोक-पुंजों की आभा से प्रतिभाषित कालजयी कृतियाँ हैं- रामायण और महाभारत। ''रामायण ज्ञान-पीठ है तो महाभारत कर्म-भूमि। रामायण से ज्ञान का आलोक और महाभारत से कर्म का आलोक लेकर ही श्रीमद्भागवत ने इच्छा-जगत की स्वच्छ स्वच्छंद रसवाहिनी से युक्त भक्तिमंदाकिनी को प्रवाहित किया है । रामायण का ज्ञान, महाभारत का कर्म और श्रीमद्भागवत की इच्छा-इन्हीं तीन सूत्रों से आबद्ध होकर आर्शवाणी भारतभारती को भारतीय बनाती है ।''(रामकथा नवनीत; पांडुरंग राव,भूमिका)

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में लीला-बिहारी कृष्ण के लीला-विहार वर्णन है । संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, जनपदीय तथा लोक साहित्य में नानाविध- राधा-कृष्ण, गोप-गोपियाँ, रास-लीला इत्यादि का वर्णन है । इस यश गीत में कवि ने राधा की महिमा का गान किया है । श्रीकृष्ण अपनी प्राण प्यारी राधा का स्मरण करते रहते हैं । रासेश्वरी की महिमा गान वेद, पुराण, नारद, शारद भी पूर्णरूपेण नहीं कर पाते हैं । दिव्य आभूषणों से शोभित श्रीराधा के लिए मोहन मुरारी वन-वन फिरते हैं-

मैया कीर्तिकुमारी कीरति जग त्रय छाये हो माय ।।
राधा नाम धाम सुख पाये, श्रीवृषभान दुलारी।
रशेश्वरी रटत निशि वासर, सो प्रिय रास बिहारी ।।
सोडस सहस साथ नित तोरे, श्री हरि प्राण पियारी।
कुंज भवन सुख सदन सुहावत, नीलांबर तन धारी ।।
नारद-शारद-सुर-मुनि सारे, रति सती मदनारी।
वेद पुराण अष्ट दस वरणे, तदपि न पावत पारी ।।
अंग विभूषण अमित विराजे, अकथ भये कवि चारी।
कमलसिंह तेरे हित प्यारी, वन वन फिरत मुरारी ।।

6. महाभारत कथापरक - आदिशक्ति की महिमागान वेद-पुराण में ही नहीं महाभारत में मिलता है । उनकी कृपा के बिना कृष्णसखा अर्जुन महाभारत का समर नहीं जीत पाते। इसीलिए कुरुक्षेत्र में युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण ने अर्जुन के हित के लिए कहा था कि शत्रुओं को पराजित करने के लिए पवित्र होकर वे दुर्गादेवी की स्तुति करें भगवान वासुदेव के द्वारा ऐसी आज्ञा देने पर अर्जुन रथ से नीचे उतर पड़े और हाथ जोड़कर दुर्गा का स्तवन करने लगे - मन्दरचल पर निवास करनेवाली सिद्धों की सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है । तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला,

कृष्णपिंगला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामों से प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है। दुष्टों पर प्रचण्ड कोप करने के कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तों को संकट से तारने के कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीर का दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ-

जय कहि के पारथ करत पुकार हो माय ।।
दुर्योधन दल प्रबल सुहाये, द्रोन द्रोन सुत भारे।
भीषम कृपाचार दुसासन, कुरुक्षेत्र पग धारे ।।
कौंरो प्रबल मेघ से धाये, धर्मराज मन मारे।
कहें कृष्ण सों हार मानि के, अब के कौन उबारे ।।
इतना सुनि के वासुदेव तब, दीरघ बचन उचारे।
दुर्गा जी की करहु अस्तुति, दुर्ग कस्ट ते तारे।
यह उपदेश लहत ही पारथ, भारत के हितकारे।
कमल नरायेन सिंह दास तब अस्तुत परम उचारे ।।

महाभारत में दुर्गादेवी को परम पूज्या माना गया है। शक्ति यानी दुर्गा की भक्ति महाभारत काल में खूब की जाती थी। महाभारत युद्ध के पूर्व दुर्गा का स्मरण करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसके स्तोत्र-पाठ करने की आज्ञा दी है।

7. युद्धपरक (भक्त रक्षण) - महाशक्ति ही परब्रह्म परमात्मा हैं, जो विविभन्न रूपों में विविध लीलाएँ करती हैं। इन्हीं की शक्ति से ब्रह्मा विश्व की उत्पत्ति करते हैं, इन्हीं की शक्ति से विष्णु विश्व का पालन करते हैं और शिव जगत का संहार करते हैं, अर्थात् ये ही सृजन-पालन-संहार करने वाली आद्या नारायणी शक्ति हैं सतयुग, त्रेता , द्वापर और कलियुग में शक्ति की बड़ी महिमा गई है। इन्हीं शक्ति के बल पर रावण अत्याचार कर रहा था किन्तु श्रीरामचन्द्र ने उनका संहार करके सज्जनों की रक्षा की। जब असुरों ने छल-बल किया तो देवगण व्याकुल हो उठे। वानर-भालु जब विकल हो गये, प्रभु भी जब मूर्छित होने लगे तब अद्भुत रूप धारण करने इन्हीं महाशक्ति ने दानव दलन किया-

मैया कंपत सह सुर राय, विकल भई मेदनी ।।
रावण दुस्ट मरो इक अबही, बन्दि छुटे अमराय।
रामचन्द्र के चरित मनोहर, रहे त्रिभुवन में छाय ।।(1)
दूसर प्रगट भये महिरावण, किन्हों सुरन विहाल।
तासे बन्दु छुड़ाय कृपानिधि, कीजे सकल निहाल ।।(2)
आरत सुन प्रभु लियो सरासन, लखन दियो हुंकार।
महावीर सब बीर सजग भये, षैल लिये कर धार ।।(3)
चढ़ि विमान पुष्प पर बैठे, आदि शक्ति संग लाग।
सप्त दीप कोलाहल मच गये, सोवत सिंघ सो जाग ।।(4)

कमलनारायण रचित जस गीतों में देवी के रौद्र रूप का अधिक वर्णन हुआ है। विविध आयुध धारण करके प्रबल दैत्य दल का दलन करने वाली आदिशक्ति, कराल काली जिह्वा लपलपाती हैं, अट्टहास करती हैं और दुष्टों का नाश करती हैं।

8. प्रकृति चित्रणपरक- कविन्द्र रविन्द्र ने लिखा है- हमारे देश की कविता में प्रकृति-प्रेम का जो परिचय मिलता है, वह उसे अन्य देशों की कविता से अलग करता हैं उसे विशिष्टता प्रदान करता है। यह प्रकृति पर प्रभुत्व नहीं, प्रकृति का

उपयोग नहीं; प्रकृति के साथ मिलन है। सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य एवं प्रकृति का प्रगढ़ सम्बन्ध रहा है। सभ्यता एवं संस्कृति की बीजांकुरण की प्रथम सिहरन की अनुभूति के साथ ही कदाचित मनुष्य प्रकृति के साथ तादात्म्य की मधुर अनुभूति से अभिभूत हो उठाऔर इसकी अनुभूति अभिव्यक्ति बन शब्द रूप ले साकार हो उठी। काव्य में प्रकृति चित्रण भारत की प्राचीनतम परम्परा है।

प्रकृति ने इस देश की विभिन्न ऋतुओं के माध्यम से विविध भाँति अलंकृत किया है। सहृदया प्रकृति ने इस देश की धरा को अपने अनुपम अनुग्रह से अधिक ही उपकृत किया है और यह उपकृति छह ऋतुओं के अद्वितीय सौन्दर्य के रूप में शस्य-श्यामला भारत माता के प्रांगण में थिरक उठती है। कभी वह धानी आंचल बन लहरा उठती है, कभी स्वच्छ उज्ज्वल धौत शारदीय बन खिलखिला पड़ती है। यही कारण है कि कवियों ने अपनी अशेष काव्य प्रतिभा ऋतु चित्रण में न्यौछावर कर दी है-

देवन आय भुवन पर गढ़े रितु रितु करत सिंगार हो माय।
सरद आभूसन लाल रंग के लाल कमल उर धार हो माय ।। (1)
हिम रितु नीलांवर तन सारी मृग मद छिरकत सार हो माय ।। (2)
सिसिर वसंत वसंती पहिरे कर वीना रंग दार हो माय ।। (3)
हरित दुकूल हरित रंग चोली हरित बसंत सिंगार हो माय ।। (4)
ग्रीसम स्वेत झीन तन सारी मलअज फूल वयार हो माया ।। (5)
पावस लहंगा पीत रंग अँगिया गज मुक्ति उर हार हो माय ।। (6)
ओढ़नी पीत पीत तन सोहे सकुचत बुद्धि अगार हो माय ।। (7)
कलम नरायन सिंह भूप कहि बरूवा कष्ट निवार हो माय ।। (8)

9. लोक कल्याणकारी - कृपा से आर्द्र चित्त, दीर्घ आयु-बलवान शरीर, उच्च कुल, अधिक धन, अधिक बल, उच्च स्वामित्व, विपरीत अवस्था से रहित आरोग्य, और तीनों लोकों में अत्यधिक यश प्रदान करता है। कृपा प्राप्त कर संसार-सागर से पार उतरना सहज हो जाता है। भगवती शक्ति ही जगत का पालन कर रही है। वह धर्मात्माओं के घर में साक्षात लक्ष्मी है। जगत् की सम्पूर्ण विद्या भगवती शक्ति के ही भेद हैं और सम्पूर्ण स्त्रियाँ भी उसी का अंग हैं। इसीलिए कमलनारायण विनय करते हैं कि - हे जग जननी! तुम्हीं सनातन शक्ति हो, तुम्हीं विश्व के अनन्त मूल स्रोत हो। व्यक्त अनेक नाम-रूपों में तुम्हारी ही शक्ति अभिव्यक्त हो रही है। हे जगदंम्बा ! व्यास आदि कवि श्रेष्ठ आपके गुणों का गान करते हैं। मद-मोह से मोहित होकर हम तुम्हें भूल जाते हैं परन्तु जब हम तुम्हारी पूजा करते हैं और तुम्हारी शरण आते हैं तब तुम अज्ञान से एवं संसार की आसक्ति से मुक्त कर देती हो और अपने बच्चों को शाश्वत सुख प्रदान करती हो-

जगत हित कारनि शशि वदनी शुभ नैनी हो माय ।।
जयति शीतला शीत दायनि शीतल शील तुम्हार।
सकल सृष्टी रक्षक वर जननी, को कहि पावत पार ।।

10. पकवानपरक - जसगायक व रचनाकार राजा कमलनारायण ने अपने परिवेश के अनुरूप पकवानपरक जसगीतों में अपने समय के पकवानों का वर्णन किया है, जो राजपरिवार या सम्पन्न घरों में परोसे जाते थे। कुछ लोक व्यंजन का भी उल्लेख है भक्त याचना करता है कि- हे माता! आप बैठक में विराजित हैं और हम सोने की थाली में पकवान लिये

खड़े हैं। स्वर्ण-थाल में विविध व्यंजन रखे हुए हैं जिनमें- खाजा, पपची, पीड़िया, कुसली, हथवा, फेनी अरसा इत्यादि अमृत के समान है। इसके अलावा हलुवा, मोतीचुर और दूध में डूबी जलेबी भी है। साथ ही भक्त कमल सिंह आपकी इच्छा के अनुरूप हाथों में बरफी और पान लेकर खड़ा है-

कनक थार पकवान, धरे है मैया पावरी हो, माय ।।
खाजा पपची पीड़िया, माया मोरे कुशली कुशल निधान।
हथवा फेनी है धरी, मैया मोरे अरसा अमिय समान।
हलुवा मोतीचूर है मैया मोरे दूध जलेबी छान।
कमल नरायण बरफी चहे मैया मोरे ठाढ़े कर धर पान ।।

11. बरुवा कष्ट निवारणपरक - देवी भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कालिका पुराण इत्यादि देवी विषयक ग्रंथों में दुर्गा, काली, जगदम्बा आदि अनेक रूपों का वर्णन मिलता जो दैत्यों से घनघोर युद्ध करते हैं दानवों का दलन और भक्तों का उद्धार करती है आदिशक्ति-

आनंदी मैया-बरूवा कष्ट निवारो हो माय ।।
दुर्गा दुर्गती नाश करन को, निरजन नाम पुकारे।
अंबा अखिल लोक अवलंबा, मदन को तव तारे ।।1 ।।

राजा कमलनारायण रचित जस-पचरा हिन्दी, जनपदीय भाषा छत्तीसगढ़ी तथा लोकधारा की रचना है। लोकधारा इसलिए कि लोक ने गायन की सुविधा की दृष्टि से कुछ शब्दों को आगे-पीछे, या हो, या अहो जोड़कर लोकगीतों में गाया है। जनपदीय इसलिए कि कुछ पद छत्तीसगढ़ी में व कई पदों में छत्तीसगढ़ी मिश्रित हिन्दी संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

वस्तुतः राजा कमलनारायण कृत जस-पचरा बहुवर्णी है। पुराण, महाभारत, रामायण इत्यादि की बहुप्रचलित कथानकों को उन्होंने प्रभावी ढंग से लिखा है। वे स्वयं जस गाते थे इसलिए गायन पक्ष की दृष्टि से उनके गीत जस मंडलियों के लिए भी गेय हैं।

संदर्भ सूची –

1. **श्री भूखेन्द्र सारथी, दाऊचैरा से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसपचरा की पाण्-डुलिपि।**
2. **श्री झुमुक लाल सिमकर, ग्राम धौराभाठा की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
3. **श्री जीवन रजक, बरेठपारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त कमलनारायण रचित जसगीत।**
4. **श्री कन्हैया लाल यादव नया टिकरापारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
5. **श्री किशन रजक, बरेठपारा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण कृत जसगीत।**
6. **डॉभरत पटेल पूर्व अधिष्ठाता लोक कला एवं संगीत संकाय., इकी डायरी से प्राप्त जसगीत। .वि.सं.क.**
7. **श्रीमती प्रमिला यादव, दाऊचैरा, खैरागढ़ की डायरी से प्राप्त राजा कमलनारायण रचित जसगीत।**

छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना

रंजीत कुमार मोहने

जब किसी वस्तु, पदार्थ आदि की बहुतायत हो जाती है तब उसका व्यवस्थित वर्गीकरण कर दिया जाता है | जिससे उसका स्पष्ट आकलन हो सके, पहचान हो सके | वर्गीकरण का यही आधार स्तम्भ हमें भारत की कला, संस्कृति आदि में दृष्टिगोचर होता है | जब भारत के बाहर अर्थात् अन्य देशों में भारत की कला, संस्कृति आदि की बात होती है तो उसे भारतीय कला, संस्कृति कहकर ही संबोधित किया जाता है | किन्तु जब भारतीय कला, संस्कृति की बात भारत में कहीं भी हो तो विशेषज्ञों द्वारा उसे संबंधित क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचलसंबोधन का प्रयोग करते हुए व्यक्त करते हैं | जब किसी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचलकी कला, संस्कृति की बात उसी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचल में होती है तबउसे जनपद और ग्राम्य में विभक्त कर अपने मनोभावों को व्यक्त किया जाता है | कहीं-कहीं तो शिष्ट और अशिष्ट जैसे संबोधन भी पढ़े और सुने जाते हैं | विशेषकर जब भारत में ही राष्ट्रीय स्तर पर बात होती है | वर्गीकरण का यह आधार सही है या गलत इसपर चिंतन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है | अपितु "अनेकता में एकता का जीवित रूप है भारत |" भारत विभिन्न कलाओं का उत्पत्ति स्थल है, भंडार है | जिसमें शिक्षादायक एक विशेष कला है नाट्यकला | इस विशेष कला को भी क्षेत्र, राज्य, प्रदेश या अंचल से संबंधित बताकर संबोधित किया जाता है | अवगत है कि भारत विभिन्न राज्यों में विभक्त है | इन्हीं में से एक जनजातीय बहुल क्षेत्र है छत्तीसगढ़ | जिसे १ नवंबर वर्ष २००० से संवैधानिक रूप से राज्य का दर्जा प्राप्त है | छत्तीसगढ़ खनिज संपदा के साथ ही संस्कृति और विभिन्न कलाओं से समृद्ध है | कलाओं के इस विपुल भंडार में मनोरंजनात्मक एवं शिक्षादायक एक कला है नाटक| जो मौखिक और लिखित दोनों परम्पराओं में निरंतर सुर-सरिता की तरह गतिशील है | छत्तीसगढ़ की इस नाट्यकला को भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मौखिक नाटक, लिखित नाटक, लोकनाट्य, जनपदी नाट्य, ग्राम्य नाट्य आदि कहकर संबोधित किया जाता है किन्तु शोधार्थी इस राज्य की नाट्यकला को विशेषकर छत्तीसगढ़ी बोली में मौखिक और लिखित परंपरा के नाटकों को 'छत्तीसगढ़ी नाटक' संबोधन से व्यक्त करते हुए **छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना** विषय पर लेख प्रस्तुत करता है | छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों की संवेदना पर चर्चा करने से पूर्व संवेदना पर संक्षिप्त में विचार करना अनुचित न होगा |

संवेदना के अर्थ व परिभाषा के रूप में निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं | यथा-

मन में होने वाला अनुभव या बोध, अनुभूति, किसी के शोक, दुःख, कष्ट, या हानि को देखकर मन में उत्पन्न वेदना, दुःख या सहानुभूति प्रकट करने की क्रिया, दूसरों की वेदना से उत्पन्न वेदना |"[१] तीव्र अनुभूति, चेतना, भावना, वेदना, ज्ञान, बोध, सहानुभूति, दूसरों का दुःख देखकर मन में होने वाली अनुभूति के रूप में प्राप्त होते हैं | [२]

संवेदना के लिए अंग्रेजी में "सिम्पैथी,सेंसेशन, सेंसिटिविटी, इमोटिविटी, फीलिंग आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है | मूलतः संवेदना का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव या ज्ञान, किन्तु आजकल सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में अधिक होने लगा है |[३] संवेदना शब्द साहित्य और मनोविज्ञान दोनों विषयों से ग्रहण किया गया है |[४] आचार्य रामचंद्र शुक्ल जीने संवेदना को सुख दुखात्मक अनुभूति बताकर उसमें भी दुखानुभूति से गहरा संबंध बताया है |[५] मुक्तिबोध जी ने संवेदना को मानसिक प्रतिक्रिया में अन्तर्भूत माना है | जिसमें दृष्टि या दृष्टिकोण भी अन्तर्भूत है |[६] डॉ. शलभ जी साधारण संवेदना को सृष्टि रचना में असमर्थ मानकर उसे मात्र संवेग कहते हैं | सच्ची संवेदना उसे कहा है जो कलानुभूति बन जाये | ऐसी संवेदना वस्तु के वास्तविक कर्म को उद्घाटित करती है | जिससे उसका प्रभाव भी पुरजोर होता है |[७] हंसराज भाटिया जी संवेदना को सरलतम मानसिक प्रक्रिया मानते हैं, जो विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से अभिभूत होती है | ये संवेदनाएँ शारीरिक और मानसिक दोनों हैं | संवेदना ज्ञानात्मक संबंध का सर्वप्रथम और सरलतम रूप है |[८]

संवेदना की उपरोक्त संक्षिप्त चर्चा से यह कहा जा सकता है कि मानव हृदय पर किसी वस्तु, भाव या स्थिति से जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो सहज प्रतिक्रिया होती है वही संवेदना है | इसे कुछ इस तरह भी जाना जा सकता है कि हमारे आसपास भरा-पूरा वातावरण है | नाना प्रकार के रंग हैं, पदार्थ हैं, वस्तुएँ हैं, लोग हैं | ये किसी न किसी तरह से मन को प्रभावित करते हैं | जिस तरह स्थिर पानी मेंकंकड़ फेकने से तरंगें उठती हैं, उसी तरह जब हम कुछ देखतेहैं, सुनते हैं याहमें कुछ हो जाये तो हृदय में भाव उत्पन्न होता है | परिणामतः हम प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं | उत्पन्न प्रतिक्रिया दोनों परिस्थितियों में हो सकती हैं | अर्थात् दूसरों को दुखी देखकर भी और सुखी देखकर भी| किन्तु आजकल शब्द प्रयोग के विचार से संवेदना का अर्थ कुछसंकुचित होकर केवल कष्ट, शोक,विपत्ति आदि प्रसंगों में ही देखा जाता है | उदाहरणार्थ जब किसी के साथ कुछ अनहोनी हो जाये तो उसके जान-पहचान वाले यह कह देते हैं कि हमारी संवेदनाएँ उसके और उसके परिवार के साथ हैं | उपरोल्लेखित संवेदना के अर्थ और परिभाषा के आधार पर एक वाक्य में कहा जाये तो हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव और उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया ही संवेदना कहलाती है |

संक्षेप में चर्चा करने पर संवेदना का जो स्वरूप सामने आया है उसका स्पष्ट संकेत छत्तीसगढ़ी नाटकों में दिखाई देता है | क्योंकि छत्तीसगढ़ी नाटकों का सृजन और प्रदर्शन मात्र ताली बटोरने, वहवाही लूटने या प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं होता है | अपितु मनोरंजनात्मक रूप से पाठकों व दर्शकों की संवेदनाओं को जीवित रखकर, उन्हें सही-गलत की शिक्षा देते हुए, जागरूक करने के उद्देश्य से छत्तीसगढ़ी नाटकों को छत्तीसगढ़ी नाटककारों द्वारा रचा जाता है | इस पवित्र उद्देश्य के परिणाम स्वरूप ही छत्तीसगढ़ी नाटककारों की कृतियों में संवेदना के प्रभावशाली प्रसंग व दृश्यों से पाठक व दर्शक संवेदनात्मक रूप से पूरी तरह जुड़कर भावविभोर हो जाते हैं अर्थात् भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में दृश्यकाव्य और दर्शक के बीच जो"तादात्म्य"[९] संबंध की प्रधानता की ओर संकेत किया है | उसकी पूर्ति करने में छत्तीसगढ़ी नाटक सफल होते हैं | क्योंकि किसी भी स्थिति में तादात्म्य संबंध 'परस्पर दो या दो से अधिक

व्यक्तियों के मध्य तभी स्थापित होगा जब संवेदना रूपी सेतुहोगा | ' साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि तादात्म्य संबंध की स्थापना में संवेदना एक सेतु है जिसका आधार भाव है |

भाव प्रधान छत्तीसगढ़ी नाटकों का गहराई से अध्ययन और अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककार समाज और व्यक्ति के जीवन की आंतरिकता के गहरे और जटिल यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटककारों के नाटकों में संवेदना का रूप मनोवैज्ञानिक गहराईयों के साथ जीवन के यथार्थ को रेखांकित करते हुए दिखाई देता है | नाटकों के माध्यम से नाटककरों ने अपनी संवेदनाओं को शोषितों की दयनीय स्थिति, क्षेत्र की दुर्दशा, समाज पर होने वाले अत्याचारों इत्यादि प्रसंगों को रेखांकित करते हुए व्यक्त की है | जागरूकता के साथ सामाजिक मूल्य की चेतना के दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए नाटककारों ने अपने नाटकों को रचा है | संस्कृति, शिक्षा, सामाजिक विसंगति, ऐतिहासिक महत्त्व आदि के प्रति अपनी संवेदनाओं को छत्तीसगढ़ी नाटककारों ने अपनी कृतियों में स्थान दिया है | "पंडवानी एकल थियेटर से लेकर रहस लोक नाट्य तक फैला हुआ छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य का संसार छत्तीसगढ़ी मनुष्य के हास-विलास, दुःख-दारिद्रय के साथ झूमता इठलाता और दुःख के क्षणों में दो-चार बूंद आंसू भी बहाता है | यही छत्तीसगढ़ी लोक नाटकों और मनुष्य के बीच का रिश्ता है |"[१०] इसी रिश्ते को छत्तीसगढ़ी नाटकों में देखा जा सकता है | समाज में व्याप्त किसी प्रसंग से उत्पन्न संवेदना को अपनी मनोरंजनात्मक नाट्य कृति के रूप में समाज के सामने रखकर समाज को जागरूक करता है | जिसके प्रमाण पंडित शुकलाल प्रसाद के नाटक "केकरा-धरैया"[११] और "खीरा-चोट्टा"[१२]हैं |

अधिकारी, राजा-महाराजा और बलिपूजा के बहाने भोली-भाली जनता के क्रूर शोषण की परंपरा से उपजी संवेदना के परिणाम स्वरूप "पंडित मुरलीधर पांडे ने छत्तीसगढ़ी खेतिहर संस्कृति का पर्व हरेली के बहाने बलिपूजा का निषेध क्रान्तिकारी विचार युक्त विस्वास नाटक"[१३] के माध्यम से किया | पेट भर खाना न मिलने का दुःख और पेट भर खाना मिलने पर प्राप्त अनुभूति का बोध विस्वास नाटक के इस संवाद से होता है | जब नाटक का पात्र गोविन्द कहता है कि "का कबे संगी अतेक दिन म में हर आजेच पेट भरहा खाये हँव... हरेली तिहार में दुगुरिहा मिले रहिस, ओइच म मन भरहा खाये हँव | "[१४] इस संवाद में मात्र मन भर खाने से मिली संतुष्टि रूपी संवेदना ही नहीं है, अपितु पात्र गोविन्द के रूप में मेहनत कश आम जनता के भूखे पेट रहने की त्रासदी और व्यवस्था से उपजी भुखमरी की ओर नाटककार ने संकेत करते हुए अपनी संवेदना प्रकट की है | इस तरह की संवेदना के कई स्तर विस्वास नाटक में मिलते हैं | संवेदना का एक स्तर बलिपूजा और उसके बहाने डर का माहौल बनाकर लूटपाट करने का धंधा, भगवान की आराधना करने के तरीके में परिवर्तन करने के संकेत के रूप में भी नाटककार ने दिखाया है | जब नाटक का पात्र खखंदू सतनामी कहता है "हमरो सतनामी मन तो जीवन जीव मारन ल बिलकुल बंद कर देइन हवैं.... ये बइगा गुनियाँ मन सेंदुर-सेंदुरा चुपर के डौकी-डौका मनला नी डेरूआँही नहीं तो उंकर बात ल कोन मानही, कोन डेराँही ?"[१५]

नारी की सामाजिक स्थिति के प्रति संवेदना भी छत्तीसगढ़ी नाटकों में है | नारी को सम्मान और उनके अधिकारों को न्याय दिलाने की भावनाएँ छत्तीसगढ़ी नाटकों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होतीहैं | नारी के प्रति संवेदना का ज्वार-भाटा ही था कि नाटककार ने छत्तीसगढ़ी लोककथा को "बहादुर कलारिन"[१६] नामक नाटक में रूपांतरित कर दिया | बहादुर कलारिन नाटक में संवेदना युक्त अनेक प्रसंग हैं | जिनमें नारी सम्मान के लिए झटपटाती वेदना है | मातृत्त्व से ओत- प्रोत संवेदना भी है | पतिवृत्ता नारी, १२५ सौतनों का दर्द, नारी की विवशता, समाज में उनकी स्थिति, पिता के रहते हुए नाजायज औलाद का लांछन औरअपमान सहन करते हुए जीवन जीने का दर्द आदि संवेदनात्मक प्रसंगोंका सशक्त प्रमाणबहादुर कलारिन नाटक है |धर्म-अधर्म के चक्कर में न पड़कर व्यक्ति को कर्मशील बनने की प्रेरणादायक संवेदना "पोंगा पंडित"[१७]नाटक में स्पष्ट दिखाई देती है |जीवन यापन हेतु छत्तीसगढ़ के लोगों की पलायन करने की समस्या और राज्य का दायित्व क्या होना चाहिए| इसकी ओर संकेत करने वाला नाटक है, रंग सब एक|[१८]इस नाटकमें राज्य का दायित्व और पलायनवादी प्रवृति के प्रति विरोध रूपी संवेदना है |समय के अनुकूल वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव से विकसित हुई विसंगतियों, जटिलताओं से त्रस्त मानव के प्रति संवेदनाएँ "ऊँच-नीच"[१९] नाटक में प्रकट की गयीहैं | नाटककार ने व्यक्तियों के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए उन्हें शांति, करुणा व विश्वमैत्री का संदेश दिया है |प्रेम का उच्च स्तर पर संघर्ष, दौलत की लालच में अधिक उम्र के व्यक्ति से विवाह, जीवन में प्रेम का महत्त्व और अंचल का पारंपरिक त्यौहर के प्रति संवेदना "गाँव के नाँव ससुरार मोर नाँव दमाद"[२०]नाटक में नाटककार ने अपने पात्रों के माध्यम से दर्शायाहै |

ऋण के बोझ तले दबे किसानों की मनःस्थिति की अवस्था और उसके दुष्परिणाम से उपजी वेदना का बोधक है "साहूकार से छुटकारा"[२१] नाटक | जिसमें छत्तीसगढ़ के किसानों की स्थिति, समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कर्मकांडों का परम्परागत चलन आदि से होने वाले नुकशान को देखकर नाटककार ने ग्रसित लोगों की वेदना का संवेदनशील चित्रण किया है | सुखी बने रहने के लिए गलत रास्ता अपनाने और गलत संगति से मनुष्य को होने वाले कष्ट के अहसास का चित्रण "सर्वनाश"[२२] नाटक के रूप में नाटककार ने प्रस्तुत किया है | बाँझ होने की पीड़ा और सौत के पुत्र के प्रति ममता रूपी संवेदना "दू-सौत"[२३] नाटक में स्पष्ट लक्षित होती है | निष्कर्ष रूप में कहा जाये तो छत्तीसगढ़ी नाटकों के रचयिताओं में आदर्श की प्रधानता देखी जा सकती है | जिन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों की समस्याओं के प्रस्तुतिकरण में नाटक की प्रभावपूर्ण सार्थकता को समझा है | जिससे वे समाज के प्रति अपनी संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककारों ने अपने अंचल की परम्पराओं, रीति-रिवाज आदि को अपनी रचना में शिल्प के रूप प्रयुक्त किया है | कथानक की प्रधानता तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृत्तियों के कारण छत्तीसगढ़ी नाटककार मानव-मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सफल होते हैं | छत्तीसगढ़ी नाटकों में सामाजिक समस्याओं ववसंगतियों को जन-मानस के परिचित प्रसंगों में पिरोकर संवेदनाएं प्रस्तुत की जातीहैं | परम्पराओं के प्रति नकारात्मक रुख, आधुनिक जीवन की विसंगतियों के कारण उत्पन्न अनास्था की भावना पर व्यंगात्मकप्रसंग व संवाद छत्तीसगढ़ी नाटकों में नाटककार रखते हैं | जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण छत्तीसगढ़ी नाटकों एवं

लोकनाट्य नाचा में दिखाये जाने वाले प्रसंगों में दिखाई देते हैं | मानसिक जटिलताओं के प्रति वेदना, विघटित होते जीवन के समन्वय, संबंधों के अलगाव आदि को दूर करने के लिये उपजी संवेदना ही है, जिसके परिणाम स्वरूप छत्तीसगढ़ी नाटककार ऐतिहासिक तथा पौराणिक विषयों को प्रधानता देते हुए, इनके प्रति आकर्षित हुए साथ ही इन विषयों को अपने नाटकों में स्थान देकरप्रेरणादायक छत्तीसगढ़ी नाटकों की रचना की |

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

१. वर्म्मा, रामचन्द्र. मानक हिंदी कोश, मोहनलाल भट्ट सचिव प्रथम शासन निकाय हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६.
२. चातक, डॉ.गोविन्द-संपा. आधुनिक हिंदी शब्द-कोश, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८६.
३. https://www.scotbuzz.org/2020/11/sanvedana-ka-arth.html
४. वही
५. वही
६. वही
७. वही
८. वही
९. मुनि, भरत. नाट्यशास्त्र, संपा-श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८३.
१०. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
११. पाण्डेय, पं. शुकलाल प्रसाद. केकरा-धरैया, लोकनाट्य प्रदर्शन.
१२. पाण्डेय, पं. शुकलाल प्रसाद. खीरा-चोट्टा, लोकनाट्य प्रदर्शन.
१३. तिवारी, नन्दकिशोर. संपादक-छत्तीसगढ़ी लोकाक्षर, वैभव प्रकाशन, रायपुर, जून-१९९८.
१४. वही
१५. वही
१६. तनवीर, हबीब. बहादुर कलारिन-नाटक, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, २००४.
१७. तनवीर, हबीब. निर्देशित-पोंगा पंडित, नाट्य प्रदर्शन, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, २००२.
१८. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
१९. डॉ. खूबचंद बघेल व्यक्ति एवं विचार, डॉ. परदेशीराम वर्मा, छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर, २००७.
२०. तनवीर, हबीब. गाँव के नाँव ससुरार मोर नाँव दामाद-नाटक, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, २००४.
२१. तिवारी, नन्दकिशोर. छत्तीसगढ़ी साहित्य दशा और दिशा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, २००६.
२२. वही
२३. वही

लोककला को समर्पित कलाकार 'श्री ज्योति भट्ट'

डॉ0 श्रुति अम्बेशचन्द्र

सम्पूर्ण पृथ्वी पर सभ्यता के चरम पर पहुँची मानव सभ्यता को उसके पूर्वगामियों का स्मरण कराते कुछ मानव समूह आज भी वनों, कंदराओं, उपत्यकाओं में विकास से अनभिज्ञ, अपने अदम्य साहस के बल पर, जीवन की जटिलताओं और संघर्षों के बीच साँस ले रहे हैं। जिनके समक्ष प्रतिदिन का सूर्योदय जीवन के विकट प्रश्नों को लेकर आ खड़ा होता है। वे ना केवल दिन का अवसान वरन् दो वक्त की क्षुधापूर्ति के जुगाड़ में होने की प्रतीक्षा ही करते रहते हैं। संघर्ष और अभाव की पीड़ा के बीच नृत्य, संगीत एवं चित्रांकन द्वारा अवकाश के हर पल को जीवन्त बनाकर मंगलकारी बना देते हैं।

मानव मन है ही ऐसा, वह अपनी पीड़ा, व्यथा, विजय, उत्साह, प्रसन्नता जब तक अपने कुटुम्बियों के साथ बाँट नहीं लेता, तब तक न तो उसकी व्यथा की मुक्ति हो पाती है, न ही उसका विजयोत्सव सम्पन्न हो पाता है। यही वजह है कि सभ्यता के उदय से ही, मानव ने अपनी इन भावनाओं को गुफाओं की भित्तियों (दीवार) पर अंकित कर अपने अस्तित्व की मोहर लगा दी। विकास के पथ पर बढ़ते हुए कुछ मानव समुदायों में से, कुछ ने सभ्यता कीदौड़ से स्वयं को अलग रखा और वहीं ठहर गये। उन्होंने अपनी परम्पराओं एवं अपने रिति–रिवाज़ों का एक अलग ही संसार रच डाला। समय के साथ–साथ समग्र विश्व की लोक कलाएँ समृद्ध व परिष्कृत होकर, आज पूर्णतया परिपक्व अवस्था में है और सभ्य समाज को उनका कला संसार बरबस ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। सहज प्रवृत्ति पर आधारित,इनके स्वतः स्फूर्त आकार, आदिवासियों की उमंग, उत्साह और उत्सव के प्रतीक हैं, जिन पर किसी भी प्रकार के बाह्य आचार–व्यवहार का दिखावटी आरोपण नहीं, न ही कोई आडम्बर तथा नही कोई बाध्यता, विशुद्ध रूप से आत्मिक अभिव्यक्ति है। अपनी परम्पराओं की अक्षुण्ता को युग–युगान्तर से संजोये, ये आदिवासी किसी शालेय शिक्षा के मोहताज नहीं वरन्कला उनके जीवन से साँसों की भाँति बसी है, सम्बद्ध है। ये अवकाश के क्षणों में भी स्वतः ही आकार लेने लगती है।

लेकिन शहरीकरण व व्यावसायिकता की चोट से, यह कलात्मक अभिव्यक्ति भी सुरक्षित नहीं रही। क्षुधापूर्तिहेतु आजीविका कमाने, जो एक बार यह समुदाय शहरों की ओर उन्मुख क्या हुआ? तथाकथित सभ्य समाज ने तो उन्हें भी सभ्य बनाने का मानों बीड़ा उठा लिया। शहरीकरण एवं व्यावसायिकता की हवा ने शिक्षित होते युवाओं को, उनकी परम्परा से विलग करने में भी कोई कसर नहीं रखी और फिर ये यह कला

आकार धीरे–धीरे समेटने लगे। यद्यपि आज भी कुछ स्वयं सेवी संस्थाएँ (NGO'S) इन्हें, इनके यथास्वरूप में रखने के लिए प्रयत्नरत हैं, परन्तु वे भी मात्र मुट्ठी भर लोग ही हैं।इनके विरोध में खड़े हैं,आज शहरीकरण, औद्योगिकरण, वैश्वीकरण तथा कम्प्यूटर क्रान्ति।[1]

सदैव से ही कलाकार मन उन्मुक्त रहा है। सहज प्रवृत्ति से प्रेरित होकर की गई स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की सच्चाई ने, न केवल यूरोप के दिग्गज आधुनिक कलाकारों के अन्वेषण का मार्ग भी प्रशस्त किया, अपितु हमारे देश में भी कई कलाकारों को लोककला और लोक जीवन की सुगन्ध ने आकर्षित किया। उन्होंने समय रहते कला से अनुप्राणित, इस मानव समुदाय और उसकी कला को बचाने की मुहिम छेड़ दी। ऐसे ही संवेदनशील कलाकारों में श्री ज्योतिभट्ट का नाम भी शीर्ष पर आता है। स्वयं उनके शब्दों में –"कि मेरा ध्यान पूर्णतया गाँवों की जीवंत कला पर है, जो आज आधुनिक उपभोक्ता के जीवन शैली से प्रभावित होकर नष्ट हो रही। मैं इसके प्रति चिन्तित भी हूँ केवल फोटोग्राफी के लिए नहीं वरन् ये जीवन शैली कहीं हमेशा के लिए नष्ट न हो जाये। इसी कारण फोटोग्राफी के माध्यम से प्रलेखन भी करता हूँ।"[2]

कलाकार सदैव परिवेश से जुड़ा रहता है। जन्मजात प्रवृत्तियों को जब आसपास के कलात्मक वातावरण का सानिध्य मिलता है, तो उसकी कला को भी एक नया आयाम मिलता है। गुजरात के भावनगर में जन्मे, श्री ज्योति भट्ट (ज्योतिन्द्र मनशंकर भट्ट) की कला को भी लोक एवं आदिवासी कला परम्परा की बयार ने छुआ और उनका युवा कलाकार मन अपने कैमरे में लोक कला के रंग–बिरंगे संसार को कैद करने के लिए आतुर हो उठा। एम. एस. यूनिवर्सिटी में अध्यापन के बाद मिले अवकाश का सदुपयोग वे अपने नवपरिचित मित्र कैमरे के साथ गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा, बिहार आदि के ग्रामीण एवं आदिवासी अंचल के कला रूपों को छायांकित करने में बिताते। इसी समय उन्हें यह अनुभव हुआ कि इससे पहले कि यह कला रूप नष्ट होने की कगार पर आये, उससे पूर्व इनके दृश्यप्रतिलेखन (Visual documentation) रूपों को संरक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं उनके शब्दों में कि –"बहुत सारी लोक कलाएँ एवं शिल्प आज खत्म होते जा रहे हैं या अदृश्य हो रहे हैं। विशेष रूप से सामान्यजन के कपड़े, घर वेश एवं कारोबार का भी धीरे–धीरे कायापलट हो रहा है। इनके साथ ही सहवर्ती घटना एवं सहायक मूल्य तथा मानदण्ड भी।[3]

वर्ष 1967 में भारतीय विद्या भवन मुम्बई द्वारा दिये गये, गुजरात के लोक कला के छायांकन के कार्य ने उनकी अंगुली पकड़ श्री ज्योति भट्ट को, उनके जीवन के लक्ष्य की राह पर ला खड़ा किया।साथ ही इस युवा कलाकार को जीवन का एक ध्येय भी मिल गया और देश के कोने–कोने की यात्रा कर पारम्परिक कला रूपों का फोटोग्राफी द्वारा

संकलन कर, उन्हें चिरस्थायी रूप प्रदान करने में उनके कलाकार मन को सन्तुष्टि भी प्राप्त होने लगी।

अपनी बाल्यावस्था में ही भाव नगर में रहते हुए, उनको सौराष्ट्र की अद्भुत् कशीदाकारी और मोलियों से निर्मित कलाकृतियाँ देखने का अवसर प्राप्त हुआ। आगे चलकर जब ये बड़ौदा में कला अध्ययन कर रहे थे, तब उनका साक्षात्कार गुजरात के विभिन्न मंदिरों एवं ग्रामीण अंचल के घरों की भीत (दीवारों) पर बने चित्र, रेखांकन एवं मिट्टी से उभार कर बनाई कलाकृतियों से हुआ। व्यक्ति के आने वाले कल अर्थात् भविष्य को दिशा देने में बहुत से कारक प्रभावी होते हैं, जिनमें माता पिता, समुदाय, समाज, परिवेश और परिस्थितियाँ, उसकी स्वयं की रूचि, अभिरूचि तथा योग्यता का जितना हाथ होता है, उतनी ही महती भूमिका गुरू की भी होती है और इस दृष्टि से श्री ज्योति भट्ट एक सौभाग्यशाली शिक्षार्थी साबित हुए।इन्हें मूर्धन्य कलाकार एन. एस. बेन्द्रे, के. जी. सुब्रमण्यन एवं शंखु चौधरी जैसे महान कला गुरूओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिन्होंने लोक कलाकारों की सशक्त द्विआयामी चारित्रिक विशेषता की ओर इन्हें उन्मुख किया। इसी विशेषता के कारण इन्हें अपने सृजन में त्रिआयामी संयोजन कभी रूचिकर नहीं लगा। "लोक कला के द्विआयामी रेखात्मक संयोजन अब ज्योतिभट्ट की कला में अद्भुत रूप से अपना अस्तित्व तलाशने लगे और सृजन में सहज एवं सरल रूप में समाहित होते चले गये।"[4]

छायांकन द्वारा लोक कला एवं आदिवासी कला रूपों को संयोजित, सुरक्षित रखने के लिए कृतसंकल्प ज्योतिभट्ट की कला ने लोक कला को अपने कलेवर में समाना शुरू कर दिया। ये लोकाकृतियाँ ही उनकी कला का अभिन्न अंग बन गई। इसे हम उनके अनेक चित्रों और ग्राफिक प्रिंट में देख सकते हैं। श्री राघव कनेरिया के साथ लोक कला को छायांकित करते हुए, श्री भट्ट ने सदैव यह महसूस किया है कि उनके छायांकन में सृजनात्मकता की कमी है,जो उनकी सहज स्वीकारात्मक एवं सकारात्मक विनम्रता है। उनके छायाचित्रों में सृजनात्मकता एवं वास्तविकता का अद्भुत समन्वय है। मैं हमेशा यह विश्वास करता हूँ कि विषय वस्तु आधारों से ऊपर है।

श्री ज्योति भट्टके छायाचित्रों में ग्रामीण, उनके द्वारा बनाई गई विभिन्न कलाकृतियाँ और उनके आस–पास का वातावरण, एक अविभाज्य अंग समग्रता के रूप में उभर कर सामने आता है।"इनके द्वारा किये गये छायाचित्रों में जटिल एवं विस्तारपूर्वक उत्कीर्ण दरवाजे, पात्र (बर्तन), पैन, दीवारें, घर आदि हैं जो ग्रामीण भारत की लोक कला के अंग हैं।"[5]

इनकी पैनी दृष्टि से कुछ भी नहीं छुप सकता। लोक से प्राप्त ये रूपाकार उन पर इतने हावी हुए कि कभी–कभी उनकी धर्मपत्नी ज्योत्सना भट्ट, (सुप्रसिद्ध सिरेमिक

कलाकार) द्वारा निर्मित चीनी मिट्टी की आकृतियों को अलंकृत करते हुए, जो अलंकरणात्मक रूप उन्होंने प्रयुक्त किये, वे भी आदिवासी कला एवं लोक कला से अधिक प्रभावित थे। इन आकारों की समानता, उनके एचिंग के संयोजनों में भी उपलब्ध होती है।[6]

राजस्थान में लिए गये छायाचित्र में लोक जीवन के दैनिक विषय में एक ग्रामीण स्त्री को गाय के ऊपर गोल बिन्दुओं को अंकित करते हुए छायांकित किया गया है उसकी साड़ी में भी वृत्त हैं तथा पृष्ठभूमि की भित्ति पर भी अंकित मोर की आकृति में भी वही गोलाकार प्रतिबिम्बित हैं।

बिहार के मिथिला क्षेत्र से लिये गये एक चित्र में एक वृद्धा को हाथ ऊपर उठाकर भित्ति पर देवी का चित्रण करते हुए दर्शाया गया है उसका उठा हुआ हाथ भित्ति पर अंकित देवी के हाथ से एकाकार हो गया है। वृद्धा कलाकार का दुबला पतला ढाँचा रेखांकन द्वारा अंकित, देवी के कोणात्मक आकार में प्रतिबिम्बित होता दिखाई देता है। इस प्रकार श्री भट्ट ने मानवाकृतियों का स्थिर पृष्ठभूमि के साथ भी छायाचित्रों का सुन्दर समन्वय किया है। इस दृष्टि से न केवल कलाकृतियों को बल्कि कलाकारों को भी अमर कर दिया है।

इनके एक अत्यन्त नयनाभिराम छायाचित्र में सौराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्र में एक घर का बाहरी हिस्सा दिखाया गया है, जिसकी सम्पूर्ण भित्ति ही नहीं, छत को सहारा देती लकड़ी की बल्ली भी सुन्दर अलंकरण ढंग से सुसज्जित है। दीवार के मध्य में दो अलग–अलग विभाजनों में मोर के चित्र अंकित हैं। अग्रभूमि में अर्द्ध विवस्त्र आदिवासी बालक–बालिकाएँ इस कलावीथिका को स्वयं से सम्बद्ध दिखाते हुए एवं गौरान्वित होते हुए प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दे रहे हैं।

किसी भी संस्कृति की समग्रता को नया आयाम, कलाकार की समसामयिक सोच देती है, वहीं उसके संरचना सक्रियता के आधार में रची–बसी लोक कला भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जो अविभाज्य अंग है। उनका मानना था कि "कुछ कलाकारों के जब नवीन पंख लग जाते हैं तो वे अपनी जड़े छोड़ देते हैं। लेकिन मेरे लिए यह बात विरोधात्मक है। मैं हमेशा ही अपनी जड़ों की ओर खिंचा हूँ जैसे कोई गुरूत्त्वाकर्षण शक्ति के समान। अनुकूलता एवं परिपक्व होने का कोई मतलब नहीं, जब तक उसका कोई आधार न हो। मैंने हमेशा अपने हृदय की बात सुनी।

उम्र अधिक होने के कारण व नेत्रज्योति की समस्या के चलते बाहर यात्राएँ करना एवं छायांकन करना भी अब दुष्कर सा होता जा रहा है। वे अपने स्टूडियो में ही बैठकर अधूरे छूटे कार्यों को पूर्ण करने में तथा चित्रांकन में भी अधिक समय व्यतीत करते हैं।

अभी वे अपने उद्देश्य से भटके नहीं हैं। लोक कला के अलंकरण, जो पहले हूबहू छायाचित्रों द्वारा संरक्षित हो रहे थे, वे अब अधिक सृजनात्मक रूप में दिख रहे हैं। उनके चित्रों में सौराष्ट्र की शैली अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उन्होंने बड़ी चतुराई से अपनी समसामयिक सोच एवं लोक कला को अपनी कला में समावेशित किया है चाहे वह चित्रकला हो या छापाकला। लोककला रूपों के विभिन्न अलंकरणों व प्रतिरूपों के साथ–साथ उन्होंने केलीग्राफी (Calligraphy) को भी अपनी कला में सम्मिलित किया है, जो इनकी कला का एक और सृजनात्मक पहलू है। ट्रक व रिक्शे के पीछे लिखे स्लोगन, गलत तरीके से उच्चारित व अंकित शब्दावलियाँ, मांडणा, गोदना (टेटू) सभी उनके संयोजन में उचित स्थान पा जाते हैं। यद्यपि शहरीकरण एवं औद्योगिकरण से यह कला रूप अब अछूते नहीं रहे हैं किन्तु ज्योति भट्ट का लक्ष्य, इन प्रभावों से मुक्त अपने स्वभाविक रूप में स्थित सदैव लोक कला को संरक्षित करना ही रहा है।

इनके चित्रों में जहाँ सावधानी पूर्वक अन्तराल में लगे छोटे–छोटे बिन्दु,जो राजस्थान की मीणा जनजाति एवं सौराष्ट्र की महिलाओं द्वारा अंकित भित्ति चित्रो में रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए लगाये जाते हैं। यत्र–तत्र बिखरे हुए बिन्दुओं की याद दिलाती हैं, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी के ठ की पुनरावृत्ति भील जनजाति की ''खजूरी'' की याद दिलाती है।

इसी प्रकार सीधी रेखाओं की अनेक बार की गई पुनरावृत्ति मीणा जनजाति के चित्रों की ''मोरड़ी'' के पखों का स्मरण कराती हैं। ज्योति भट्ट के चित्रों में यह अलंकरण सहज एवं स्वतः ही चले आते हैं। साथ ही गुजरात के आदिवासी अंचल के मोलियों के काम कशीदाकारी व वेशभूषा के इन्द्रधनुषी रंग, उनकी कला के अविभाज्य अंग हैं। इसके अतिरिक्त स्वास्तिक, सर्प, सूर्य, चन्द्रमा सभी उनके संयोजन को पुष्ट बनाते हैं। जिसका प्रभाव इनके धार्मिक विषय से सम्बन्धित चित्रों में मिलता है।

श्री ज्योति भट्ट ने स्वयं की कला विद्याओं को समृद्ध करने के स्थान पर अपरिचित अनजान कलाकारों की कला को संरक्षित करना अधिक उचित समझा। आज के भौतिकवादी युग में नयी पीढ़ी जहाँ यश, मान, सम्मान की दौड़ में लगी है, वहीं श्री ज्योति भट्ट जैसे कलाकार भी हैं, जो समाज के प्रति, सामाजिक सरोकारों के प्रति आज भी कृतसंकल्प हैं। गुजरात की सीमाओं को लांघकर राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा सुदूर क्षेत्रों तक कहीं भी उनके कदम रूके नहीं। निस्वार्थ भाव से बिना किसी आडम्बर के, शहरी भागदौड़ से दूर इन अपरिचित कलाकारों की क्षयोन्मुख कला को बड़े यत्न से संभालने का, यह महत्ती योगदान, उन्हें अन्य कलाकारों की पंक्ति में सर्वोच्च एवं शीर्ष पर ला खड़ा करता है। स्वयं उनके शब्दों में यह खुद के देश को

नजदीक से देखने का ज़रिया है –"The opportunity of knowing my country from a close distance."[7]

वास्तव में आज की युवा पीढ़ी के लिए अति आवश्यक है कि वे श्री ज्योति भट्ट से प्रेरणा लेकर न केवल स्वयं की अभिव्यक्ति की दौड़ में ही रहें, वरन् अपने देश की धरोहर को संरक्षित रखने का संकल्प भी लें।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. Madhur Tankha - A retrospective of painter Jyoti Bhatt - The Hindu, Sep. 12-2007 on line edition of India's national newspaper
2. Yatra My Journey - Jyoti Bhatt - Portrait of an artist catalogue
3. A modest proposal - Karin Mmiller Lewis - Art India volume 5 issue 3 Page- 68
4. A modest proposal - Karin Miller lewis - Art India Magazine volume 5 issue 3 page 69
5. Sanjukta Sharma - D. A. G. Sept. 15 to Oct. 27 Parallels that meet - Catalogue
6. Matters of Art. Net, India's first ezine on art news Sept. 2007
7. Sandhya bordeweekar, "Negotiation the traditional and the modern "Art India Magazine, Vol. Issue-ii-, (Mumbai, 2004), P. 66

छत्तीसगढ़ी लोक गीतों में "राम"

डॉ. विधा सिंह राठौर

लोक संस्कृतियाँ चाहे किसी भी प्रादेशिक पृष्ठभूमि से सम्बधित हो, अध्यात्म से अधिक ओत–प्रोत होती है। आध्यात्मिक आदर्शें का चरित्र चिंतन व उनका अनुकरण परम्परागत रूप से चली आ रही लोक–सांस्कृतिक धारा की विषयवस्तु रहा है। प्रभु श्रीराम व श्रीकृष्ण के आदर्श जीवन चरित्र से लोक–सांस्कृतिक कोष भरा पड़ा है। शनैः–शनैः मानव सभ्यता की विकास यात्रा ने लोक–संस्कृति के स्वरूप में वैसे तो बहुत से बदलाव किये किन्तु अध्यात्म का प्रभाव आज भी विभिन्न लोक–संस्कृतियों में स्पष्ट प्रकाशित होता है।

अब यदि हम छत्तीसगढ़ी लोक–संस्कृति की बात करें तो रघुकुल नंदन मर्यादा पुरूषोत्तम प्रभु श्री रामचंद्र जी के आदर्श चरित्र से छत्तीसगढ़ी लोक–सांस्कृतिक परम्पराओं को आपूरित पाते हैं। इसका हेतु स्पष्ट करने के लिए कई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध है जो कि स्पष्ट करते हैं कि, छत्तीसगढ़ अंचल से प्रभु श्रीराम का सीधा संबंध रहा है। राम चरित मानस में उल्लेखित दक्षिण कोसल व दण्डकारण्य क्षेत्र इस व्यकतव्य को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है। ''छत्तीसगढ़ श्रीराम की माता कौशल्या की जन्म भूमि है। श्रीराम के वनवास काल का अधिकांश समय यही व्यतीत हुआ, लव–कुश की जन्म भूमि श्रृंगी, अंगिरा, अगस्त, गौतम, शरभंग, लोमश, वाल्मीकि आदि की तपोभूमि रहा। ''[1]

''प्राचीन ग्रंथ वाल्मिकी रामायण में दो कोसलों का उल्लेख है 1. उत्तर कोसल, 2. दक्षिण कोसल । उत्तर कोसल महाजनपद सरयूतर पर विस्तृत रूप से फैला हुआ था जबकि दक्षिण कोसल विध्यांचल पर्वतमाला के दक्षिण मे विस्तृत था। इसी कोसल की राजकुमारी कौशल्या उत्तर कोसल के राजा दशरथ अयोध्यापति को व्याही गई थी। बिलासपुर में कोसल नामक एक गाँव है जनश्रुति के अनुसार कोसला किसी समय सुमन्नत अवस्था में था। कौशल्या यहीं के राजा की पुत्री थी जो सुन्दरी होने के साथ–साथ राजनीति में पट्ट थी।[2] छत्तीसगढ़ी लोक–संस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार ऐसा माना गया है कि प्रभु श्रीराम का ननिहाल यहीं छत्तीसगढ़ में है और यही कारण है कि छत्तीसगढ़ी अंचल मे भांजों को श्रीराम

का प्रतिबिम्ब मानकर विशिष्ट रूप से सम्मानित किया जाता है, फिर चाहे वो लड़का हो या लड़की उनके चरण छू कर उनसे आशीर्वाद लेने की परम्परा प्रचलित है। क्षेत्रीय परिवेश में आज भी यदि हम ग्रामीण अंचलों में जायें तो वहाँ लोगो को ''पॉव परथव भाचा'' या ''पाँव परथव भांची'' कहते हुये सुन सकते हैं, यहाँ आध्यात्मिक वैशिष्टय तो स्पष्ट ही है साथ ही लड़का व लड़की की समकक्षता इस लोक–संस्कृति की वैचारिक विशिष्टता को मुखरित करती हैं। इन जैसे अनेकों उदाहरण हैं जो श्रीराम से छत्तीसगढ़ी लोकसंस्कृति को जोड़ते हुए दिखाई देते हैं। छत्तीसगढ़ी लोकसांस्कृतिक परिवेश में आदिकाल से एक परम्परा अति प्रचलित है कि जब कभी दो परिचित आपस में भेट होने पर अभिवादन स्वरूप ''राम–राम'' कहते हुए नजर आते हैं। इस परम्परा के पीछे आध्यात्मिक दृष्टिकोण तो स्पष्ट ही है साथ ही मनोवैज्ञानिक गूढ़ता भी अत्यंत विचारणीय हैं। दो बार राम–राम कहने के पीछे का गूढ़ मनोवैज्ञानिक तथ्य ये है कि हिन्दी वर्णावली में ''र'' सत्ताईसवाँ (27) शब्द है ''आ'' दूसरा (2) और ''म'' पच्चीसवाँ (25)। इन तीनों अंको का योग चौवन (54) होगा अर्थात् एक राम का योग होगा चौवन (54) और दो राम का योग होगा– एक सौ आठ (108)। अब ये तो सर्वविदित हैं कि जब कभी भी हम किसी मंत्र का जाप करते हैं तो ''एक सौ आठ'' मनकों की माला लेकर करते हैं अर्थात् केवल ''राम–राम'' मात्र कह देने से एक सौ आठ राम नाम का जाप पूर्ण हो जाता हैं। इस तथ्य को समझने के बाद लोक संस्कृति में नीहित गूढ़ मनोवैज्ञानिक वैचारिक विशिष्टता भी स्पष्ट होती है।

केवल इतना ही नहीं यदि हम विभिन्न सामाजिक संस्कारों का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक संस्कारों में ''राम'' का नाम सर्वाधिक रूप से उपयोग में लाया जाता है अर्थात् प्रत्येक संस्कार में संस्कार गीत गाने की जो परम्परा आदिकाल से चली आ रही है उन गीतों में राम नाम का अधिकाधिक उपयोग दिखाई पड़ता है। जन्म संस्कार में गाये जाने वाले सोहर गीत हो, विवाह संस्कार में गाये जाने वाले ''बिहाव गीत'' हो या फिर छत्तीसगढ़ के अन्य लोकगीत जैसे– सुआ, करमा, ददरिया, लोक भजन, जस–पचरा, फाग आदि सभी गीतों में राम का वर्णन अवश्य ही मिलता है जैसे सर्वप्रथम छत्तीसगढ़ के सोहर गीत और बधाई गीत :–

सोहर :– ''राम धरिन अवतारे धरिन अवतारे हो ललना
अजोध्या में होवे जयकार सोहर मंगल गावथे हो ललना।''[3]

बधाई :– ''जनम धरिन' रघुरइय्या अवधपुर बाजे बधइय्या
बाजे बधइय्या जी बाजे बधइय्या
कऊने गावे कऊने बजावे
नाचत हे ताता थइय्या
फूफू गावे फूफा बजावे
नाचत हे ताता थइय्या''[4]

प्रायः प्रसव कक्ष में महिलाएँ लोक में प्रचलित देवी–देवता, आदर्श चरित्र, अपने इष्ट देव, महापुरूषों आदि के गुणों का गीतों के माध्यम से बखान करती हैं। मर्यादा पुरूषेत्तम श्रीराम जी के जैसे आदर्श चरित्रवान ही हमारा होने वाला पुत्र हो, ऐसी लोक की धारणा होती है जो लोक गीतों में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती हैं। संस्कार गीतों में राम की उपमा श्रीराम के आदर्श जीवन चरित्र से प्रेरित होकर उनका अनुशरण करने की प्रेरणा से दी जाती हैं। यदि पुत्र हो तो वह माता कौशल्या व दशरथ नंदन राम की तरह हो जिसने मातृ–पितृ भक्ति में जीवन का सर्वस्व सुख जो कि एक आदर्श पुत्र के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्राकर विवाह संस्कार में एक वधु अपने आपेक्षित वर में श्रीराम का स्वरूप पाना चाहती है और केवल इतना ही नहीं ससुर में राजा दशरथ, सास में माँ कौशिल्या एवं देवर में लक्ष्मण जी के स्वरूप की कामना से आपूरित इन संस्कार गीतों की रचनाएँ हुआ करतीं है। लोक में विवाह संस्कार के गीतों में दुल्हा–दुल्हन को राम और सीता के स्वरूप में मानते हुए गीत गाया जाता है :–

तेलचघ्घी :– ''रामे ओ लखन के दाई तेल वो चढ़त हे
काखर अंगना दाई होवत हे बिहाव,
रामे ओ लखन के दाई तेल वो चढ़त हे
दसरथ अंगना दाई होवत हे बिहाव,
काखर बिटिया दाई सीता वो जनुकिया

काखर अंगना दाई होवत हे बिहाव,
जनक बिटिया दाई सीता वो जनुकिया
दसरथ अंगना दाई होवत हे बिहाव''[5]

नहडोरी :– ''काखर अंगना दाई कुँआ खनाये वो
कौने वो दाई मोर करेव असनान,
रामे के अंगना दाई कुँआ खनाये हो
सीता वो दाई मोर करेव असनान''[6]

सुआ छत्तीसगढ़ के परम्परिक लोकनृत्य गीत में महिलाओं का सर्वाधिक लोक प्रिय माना जाता है। सुआ नृत्य गीत में ''सुआ'' से तात्पर्य मनुष्य की तरह बोलने वाले एक प्रचलित पालतु पक्षी ''तोता'' से है। यहाँ अपने मन को सुआ अर्थात् तोते की संज्ञा दी जाती हैं तथा मन की भावनाओं को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता हैः–

''तरी हरी नाना मोर नाना री नाना वो
ए पिंजरा ले मैना बोले,
हाँ जी मोर सोन के चिरइय्या
ए पिंजरा ले मैना बोले,
राजा जनक के मोर बाढ़े हे बेटी वो
ए पिंजरा ले मैना बोले,
राजा दसरथ घर के आये बाराती वो
ए पिंजरा ले मैना बोले''[7]

उक्त सुआ गीत में एक विवाह योग्य हो चुकी कन्या अपने माता–पिता के मन में उठ रही भावनाओं की अभिव्यक्ति उपमालंकार का उपयोग करते हुए बड़े ही सुंदर शब्दों में करती है, जहाँ उसके माता–पिता ये परिकल्पना करते हैं कि उनकी कन्या अब विवाह योग्य हो चुकी है तो वे उसके लिए मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम जी जैसे चरित्रवान वर की तलाश कर रहे हैं। यहाँ वह स्वयं को सीता व अपने माता–पिता को राजा जनक व महारानी सुनयना के रूप में आलेखित कर बड़ा ही मार्मिक समीकरण प्रस्तुत कर रही है। छत्तीसगढ़ का आंचलिक परिवेश

आदिकाल से श्रमसाध्य रहा है। कठोर परिश्रम ही छत्तीसगढ़ी लोक जन के जीवनयापन का मुख्य आधार रहा हैं। श्रम का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक है क्योंकि ''ददरिया'' का श्रम से सीधा संबंध हैं। खेत खलिहानों में जब सारा दिन कठोर परिश्रम करते हैं तो उससे वे थक के चूर हो जाते हैं तब तन व मन की विश्रांति के लिए वे ददरिया गीत व नृत्य कर के श्रम जनित उक्ताहट व थकान को दूर करते हैं, केवल इतना ही नही ददरिया से उन में नई ऊर्जा व उमंग का भी संचार होता हैं। ददरिया का मुल स्वभाव श्रृँगारिक है किन्तु बदलते समय की आवश्यकतानुसार उसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया उसकी विषयवस्तु धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आदि होती गयी।

उक्त ददरिया गीत में श्रीराम जी के जीवन चरित के उस अवसर को प्रमुख रूप से उद्‌भेदित किया गया है जिसमें उनके जीवन के कठोर परिश्रम अवसर चित्रित हैं। जब चौदह वर्षों के वनवास के दौरान लंकाधिपति रावण द्वारा माता सीता का हरण कर लिया जाता है व श्रीराम लखन व हुनमान द्वारा उनकी खोज में कठिन परिश्रम किया जा रहा है। वैसे तो ददरिया गीतों में शब्दों की तारतम्यता का कोई विशेष महत्व नहीं होता किन्तु विषयान्तर्गत श्रम की पराकाष्ठा को श्रीराम के जीवन चरित से जोड़कर गाया जाने वाला यह लोकगीत छत्तीसगढ़ लोक जनजीवन में प्रभु श्रीराम के महान चरित्र चिन्तन की उपलब्धता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है।

''राम धरे धनुस लखन धरे बान
सीता माई के खोजन बर निकलगे हुनामान''[8]
''पागा तो बांधे पुरूत करिके,
राम झिरिया म रोये सुरूत करिके''[9]

जस गीत में जस का सीधा–सीधा अर्थ यश अथवा महिमा मंडन से होता हैं। इस गीत के माध्यम से लोक जन अपने अधिष्ठाता, आराध्य देवी–देवताओं के यश तथा महिमा का, गीत के माध्यम से बखान करते हुये दिखाई देते हैं। अध्यात्म चिन्तन आदिकाल से लोक की प्रमुख विषय वस्तु रहा है, छत्तीसगढ़ लोक जनजीवन में दैवीय आस्थाओं की प्रमाणिकता जस गीतों द्वारा ही प्रकाशित होती है। वैसे तो छत्तीसगढ़ी जसगीतों में देवी माँ की महिमा का,

यशगान का मुख्य रूप से दृष्टि गोचर होता है किन्तु उपरोक्त जसगीत में प्रभु राम, माता सीता व उनके अनुज भ्रातागणों का यशगान परिलक्षित हो रहा है। प्रभु श्रीराम जी के चौदह वर्ष वनवास के पश्चात् लंका पर विजय एवं माता सीता के अयोध्या नगरी आगमन पर उन्हें राजा–रानी के रूप में अधिग्रहित कर के उनके राजदरबार सहित उनकी पूजा–आरती की जा रही हैं।

''सिरी राम सिया के आरती उतारंव हो
आरती उतारंव हो,
राम सिया के आरती उतांरव, रहिंहव मोर सहाई
संझा बिहनिया तोला मनावंव, तोर चरण सुखदाई
हाथ जोड़के विनती करत हो, रघुकुल हे रघुराई
अहो दसों अंगुरिया के बिनती करत हंव
आरती उतारव हो.....
राम लछिमन भरत सत्रुहन, दसरथ राज दुलारे
सुमिरत हंव मय चारो भाई, अयोध्या के राजकुमारे
सिया राम भकतन हितकारी, सब ला पार उतारे
अहो सुमर–सुमर तोर अरजि करत हंव।''[10]

सम्पूर्ण राम दरबार का चित्रण उक्त जसगीत में बड़े ही सार्थक रूप में उत्कीर्ण किया गया अर्थात् केवल सीयाराम ही नहीं वरन् राजा दशरथ के चारों पुत्रों सहित चारों अयोघ्या के राजकुमारों का महिमा मंडन करते हुए उनसे सदा सहायक रहने की विनती की जा रही हैं। प्रजा–जन द्वारा अपने आदर्श राजा के रूप में प्रभु श्रीराम की आराधना की जा रही है।

इन सभी लोकगीतों की विषय वस्तु स्पष्ट करती है कि छत्तीसगढ़ की लोक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में मर्यादा पुरूषोत्तम रघुकुल नंदन प्रभु श्रीराम की महिमा सर्वव्याप्त है। विभिन्न लोकसंस्कृतियों में आध्यात्म का प्रभाव दिखाई देता हैं किन्तु छत्तीसगढ़ी लोकसांस्कृतिक पृष्ठभूमि अपने आराध्य से प्रत्यक्ष साक्षातकार कर के अभिभूत है।

संदर्भ ग्रंथ सूंची :–

(1) डॉ राजन यादव– ''छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति में धार्मिक आस्था'' (आलेख)

(2) डॉ निरूपमा शर्मा– इन्द्रधनुषी छत्तीसगढ'' पुस्तक पृ.क्रं. 27

(3) कुमारी विश्वकर्मा, ग्राम दिलीपपुर, खैरागढ़ से प्राप्त गीत

(4) ''वही''

(5) डॉ.पी.सी लाल यादव– संस्कार गीत, पुस्तक।

(6) श्रीमती राधा बाई यादव, टिकरी पारा, गंडई से प्राप्त गीत।

(7) डॉ परमानंद पाण्डेय– छत्तीसगढ़ के पर्व परक लोकगीत– एक अध्ययन (शोध प्रबन्ध), पृ.क्रं. 192।

(8) लोकसंगीत विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ से प्राप्त गीत।

(9) श्री सुमिरन धुर्वे, सेवा निवृत्त संगतकार, लोकसंगीत एवं कला संकाय इं.क.सं.वि.वि खैरागढ़ से प्राप्त गीत।

(10) निजी संग्रह से लिया गया गीत।

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री सरोकार

अंबुज तिवारी

नासिरा शर्मा ने प्रगतिशील मानव धर्मी लेखिका के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। स्त्री सरोकार इनकी लेखनी का प्रमुख बिन्दु है। मुक्ति के लिए छटपटाती नारी का जैसा चित्रण इनकी कहानियों में मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कहानियों में पुरुष वर्चस्व को झेलते हुए स्त्री पात्रों का चित्रण है। इनकी दृष्टि व्यापक है। स्त्री पुरुष के संबंधों के संदर्भ में पारंपरिक नैतिक मूल्यों का विघटन , रिश्तों के खोखलेपन और स्त्री होने पर होने वाली मानसिक शोषण की समस्या दिखाई देती है। रूढ़िवादिता किस तरह हमारे समाज में व्याप्त है इसकी अद्भुत झलक इनकी कहानी 'बावली' में दिखाई देती है। इस कहानी में नायिका सलमा शादी के सात साल बाद भी माँ नहीं बन पाती है तो उसके पति को दूसरी शादी करवाने के लिए उसे राजी किया जाता है और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। सहमत न होने के बावजूद उसे हाँ बोलना पड़ता है, तब सलमा के मन में प्रश्न उठता है – 'दुनिया के सारे रिश्ते क्या झूठे होते हैं? हर रिश्ता कुछ मांगता है, जब न दो तो टूट जाता है। फिर सोचती है, मैं पानी से भरी बावली रिश्तों के नाम पर बांटती आई। हमेशा कुछ दिया , कुछ लिया नहीं। आज जब अपनी कोख से एक बच्चा नहीं दे सकी तो, तो मैं एक बेकार शै मान ली गयी। मेरा और खालिद का रिश्ता इस औलाद को लेकर टूट गया। आगर खालिद मेरी गोद न भर पाते तो क्या मैं दूसरी शादी करती ? उस समय गोद लेने की बात उठती। सब्र और कुर्बानी की बात उठती। तो औरत के नाम के साथ क्या मर्द कुर्बानी नहीं कर सकता?'[1]

लेखिका ने अपने जीवन के अनुभवों तथा आस –पास के परिवेश के कथानक गढ़े हैं जिसका प्रतिबिंब आज भी हमारे समाज में दिखाई देता है इनकी कहानियों में स्त्री पात्र शोषित हैं लेकिन उनमें विद्रोह का स्वर है और अपने जीवन मूल्यों के प्रति जागरूक भी हैं। शामी कागज कहानी विधवा स्त्री के आत्मनिर्भर होने की दास्तान है। इसमें पाशा के पति की असमय मृत्यु हो जाने पर वह व्याकुल हो जाती है, किन्तु ऐसी विषम परिस्थितियों में होने के बावजूद भी वह डटकर उनका सामना करती है और अपने मित्रा महमूद द्वारा दी जाने वाली सहायता को इंकार कर देती है, कहती है महमूद आज के बाद कभी भी मेरा गम बांटने की कोशिश मत करना। महमूद द्वारा पुनर्विवाह का प्रस्ताव रखे जाने पर वह कहती है- 'कोई जरूरी है की एकबार जी हुई ज़िंदगी को दुबारा दोहराया जाये ?..... नौकरी कर रही हूँ, खाने भर का कमा लेती हूँ मैं भी कोई शामी कागज थोड़ी हूँ कि जब जरूरत पड़ी उसे धोकर दूसरा फरमान लिख दिया, मैं इंसान हूँ और इंसान के दिल पर लिखे हर्फ बार बार धोये नहीं जा सकते हैं।'[2]

इस प्रकार पाशा अध्यापिका बनकर जीवनयापन करने लगती है एवं स्वाभिमानी और सशक्त महिला के रूप में हमारे सामने आती है। लेखिका स्त्री सरोकार के बहाने हमारे समाज में दबे हुए मानवीय मूल्यों से रूबरू कराती हैं। नासिरा शर्मा सचेत भाव से स्त्रीवादी हैं जिसके कारण इनके स्त्री पात्र विद्रोह करते हैं। स्त्री पात्र पति को भाग्य-विधाता

न मानकर उनके द्वारा शोषण किए जाने पर पति का परित्याग करने में भी जरा सा संकोच नहीं करती। ड्योढ़ी में रहने वाली स्त्री भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। गूंगा आसमान कहानी की नायिका मेहरअंगीज अपने धूर्त सत्ताधारी पति के चंगुल से तीन स्त्रियों को छुटकारा दिलाती है। इसमें पुरुष वर्चस्व को सभी वर्गों में झेलते हुए दिखाते हैं। क्रान्ति के दौरान नायक फरशीद अपनी पुलिसिया ताकत का फायदा उठाकर अपने घर में कैद कर लेता है। पहले मेहरअंगीज फरशीद को मानवीयता के प्रति सचेत करते हुए कहती है – 'खुदा ने बहुत दिया है। इन मासूम परिंदों को उड़ा दो, यह गुनाह है, दीन- धर्म भी इसकी इजाजत नहीं है...मुझे ही कुछ करना होगा, पिंजरे का दरवाजा खोलना होगा।'[3]

इस तरह वह शहर से बाहर जाकर लड़कियों को बाहर निकालने की योजना अपने मायके वालों के साथ बनाती है और उनको फरशीद के पिंजरे से आजाद भी करवा देती है। लेकिन फरशीद जालसाजी करके मेहरअंगीज को ही गुनहगार साबित कर देता है और अब वह उसी घर की कैदी बन जाती है। इस समय प्रतिद्वंदी को पछाड़ कर उसके सीने पर विजेता की तरह पैर रखकर खड़े होने का सुख फरशीद की आखों में नफरत का सैलाब बन कर साफ झलक रहा था। इस तरह समाज में अधिकांश स्त्रियाँ इन अत्याचारों को चुपचाप सहन करती रहती हैं किन्तु उनमें से कुछ ऐसी भी निकलती हैं जो इन अत्याचारों का पुरजोर विरोध करती हैं और इन अत्याचारियों से जूझती भी हैं। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में अपनी अशिक्षा, नारी आचरण के परंपरागत मूल्यों, आर्थिक पराधीनता अज्ञान के कारण स्त्री को तरह-तरह की यातनाएं झेलनी पड़ती हैं। सरहद के इस पार कहानी में नायक रेहान मानसिक दिवालियापन का शिकार होने के कारण हिंदुओं के विरोध में कुछ न कुछ बोलता रहता है लेकिन इस कहानी में जब हिन्दू लड़की को कुछ मुसलमान लड़के परेशान कर रहे होते हैं तब रेहान द्वारा हिन्दू लड़की की रक्षा की जाती है इसी में वह अपनी जान भी गँवा देता है। इस कहानी में हिन्दू मुस्लिम दोनों की एक दूसरे के प्रति संकीर्ण मानसिकता को दिखाया गया है लेकिन लेखिका द्वारा इंसानियत को जीवित रखने का प्रयास किया गया है। धर्म और जाति के नाम पर शोषण करने वालों पर सवाल उठाया गया है। रेहान धर्म और जाति के नाम पर स्त्रियों का शोषण करने वाले के खिलाफ सख्त आवाज उठाने हुए कहता है- 'मेरे जीते जी इस मोहल्ले में किरपी , जालिम औरंगजेब की पैदाइश नहीं हो सकती। तारीख दोबारा मेरे सामने नहीं दोहराई जाएगी वरना....।'[4]

मानसिक दिवालियापन की स्थिति में भी हिन्दू लड़की में अपनी बहन नरगिस की छवि दिखाई देती है। लेखिका ने मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दशा का यथार्थ चित्रण किया है। मुस्लिम समाज की महिलाओं की तमाम जटिलताओं को बारीकी से उकेरा है।

खुदा की वापसी कहानी में दो पक्षों को दिखाया गया है,एक तो यह कि पति एक दुनियावी खुदा है जिसकी हर इच्छा को मानना ही स्त्री कि नियति है। दूसरा यह है कि खुदा कि वापसी जिसने एक ही साँचे से स्त्री पुरुष दोनों को ही बनाया है , इसलिए दोनों के समान अधिकार हैं। इस कहानी में फरजाना को शरीयत के नाम पर उसकी इच्छा के विरुद्ध विभिन्न बंधनों में जकड़ दिया जाता है। यहाँ लेखिका हमारे समाज के एक बड़े वर्ग के तबके को कटघरे में

खड़ा करती है जो स्त्रियों कि यही नियति वाली सोच रखते हैं। लेखिका ने अपनी कहानियों में उन नारियों की पीड़ा को केंद्र बनाया है पराधीनता ही जिनकी नियति है। क्रांति के दौरान महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली औरतें आज़ादी के बाद पर्दे में आ गयी। ज़िंदगी को देखने का आपका दृष्टिकोण बेहद सकारात्मक है। क्रूरता , शोषण , अन्याय , छद्म और अमानवीयता का प्रत्येक स्थिति में विरोध किया। निश्चय ही पुरुष वर्चस्व के प्रति, प्रतिकार का भाव है और पीड़ित नारी में भी परिवर्तन होता है, जो सशक्त नारी बनकर हमारे सामने आती है। पत्थर गली कहानी संग्रह में संकलित ताबूत कहानी में निम्नवर्गीय मुस्लिम परिवार का वर्णन है तीन लड़कियों का पिता कासिम अली बेटा ना होने के कारण दुखी रहने लगा है साबुन फैक्टरी में काम करके जैसे-तैसे परिवार का भरण पोषण करता है मगर दिल के रोग ने उसे ऐसे जकड़ा कि काम-धाम ही छूट गया- "सारे दिन दर्द से तड़पते हुए लड़कियों को कोसते रहते हैं। हाय -हाय के बीच में हमेशा लड़के की कमी उन्हें खलती रहती थी और खुदा से कहते थे कि तेरी नगरी में यह कैसा अंधेर है ? एक बाप की गोंद लड़के से खाली रखी। उनके घर कोई नया जब पूछता तो कहते मेरी कोई औलाद नहीं है पूछने वाला हैरत से पूछता फिर यह तीन लड़कियां ? जब कह देते यह बीबी की औलादें हैं। लड़का होता हो मेरी औलाद होता। कासिम अली की हाय-हाय सुनकर लड़कियां कमाऊ पूत बनने की कोशिश करने लगी तो उनका सामना रूढ़िगतबंधनों से होता है। एक ही काम था जो खामोशी से इज्ज़त बचा कर किया जा सकता था , वह था बीड़ी बनाना।'[5]

बाप की बात सुन-सुनकर माँ के दिल पर भी यह लड़कियां तीन भारी पत्थर बन गयी थी। रात-दिन मेहनत , मुरादों के बावजूद वे तकदीर का लिखा न मिटा सकीं। फिर बेबसी में प्रश्न उठता है – यह दुनिया सिर्फ मर्दों की है केवल मर्दों की। औरत का अपना कुछ भी नहीं है। वह तो उसके हाथों की खेती है। जब फसल पकी देखी कटकर खलिहान भर लिया। इतना अथक परिश्रम करके भी फहमीदा अपने पिता की संकीर्ण मानसिकता को नहीं बदल पाती और सोचती है-

"ज़िंदगी क्या सचमुच बदलाव चाहती है ? बदलाव ही ज़िंदगी है , वरना ठहरा पानी तो सड़ जाता है। क्या हमारी ज़िंदगी सड़ा पानी है ?[6]

पत्थरगली कहानी में संकलित बंद दरवाजा कहानी में शबाना और काजीम के दाम्पत्य जीवन की बरबादी का कारण उन दोनों के अभिभावकों का वैमनस्य होता है। शबाना के पिता उसे ससुराल नहीं भेजते और उसकी इच्छा पूछना जरूरी नहीं समझते – "गुजरे कल की औरतें क्या थी ? बलिदान की मूर्तियाँ या बलि की वेदी पर चढ़ाई गयी बकरियाँ?....." ऐसे हालत में उसे जलते -जलते पिघलना है। मर्यादा की लौ को सिर उठाए दम तोड़ना है। घूंट- घूंट इस समंदर के दर्द को पीना है। बड़े घरों की कहानियाँ उनके आँगनों में दम तोड़ती हैं। ऊंचा खान- पान मान- मर्यादा का कब्रिस्तान होता है , जहां रोज रोज बुजुर्गों की ख़्वाहिशों की कफन में लिपटी लाश दफन कर दी जाती है। मेरी कब्र

भी मेरा इंतजार कर रही है।"[7] शबाना सोच की गहराइयों में उतरने लगती है। इस तरह झूठे मान मर्यादा के रूढ़िगत बंधनों में जकड़े हुए शबाना और काशिम की मृत्यु हो जाती है।

नासिरा शर्मा अपनी कहानियों में स्त्री विषयक समस्याओं को स्पर्श करती हुई मार्मिक चित्रण करती है। इनकी कहानियों कि नारी पात्र टूटने- बिखरने और हताश होने के बजाय पुरुष वर्चस्व वाले क्रूर समाज से जूझने कि क्षमता रखती हैं। इसके लिए वह स्त्रियों की शिक्षा और आत्मनिर्भर होने पर ज़ोर देती हैं जिससे वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहें। समय से साथ हमारा समाज भी बदल रहा है और शिक्षा का प्रभाव अब स्पष्ट दिखाई देने लगा है। स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1.शर्मा नासिरा, पत्थर गली ,पृष्ठ 21 , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली ,प्रथम पुस्तकालय संस्करण 1986

2.शर्मा नासिरा , शामी कागज , पृष्ठ 97, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्कारण 2009

3.शर्मा नासिरा , संगसार , पृष्ठ 14,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली ,संस्कारण 2009

4. शर्मा नासिरा , पत्थर गली , पृष्ठ 34 , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली , प्रथम पुस्तकालय संस्कारण 1986, 5.वही , पृष्ठ 95 , 6. वही , पृष्ठ 95 , 7. वही ,पृष्ठ 48

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता और डॉ. धर्मवीर भारती

देवराज वर्मा

डॉ. देवमाईत मिंज

हिंदी पत्रकारिता का संक्षिप्त इतिहास – मनुष्य का स्वभाव प्रारंभ से ही चिंतनशील प्रवृत्ति का रहा है। अपने विचारों को प्रभावी तरीके से दूसरों तक पहुंचाना, उसे प्रिय रहा है, जिससेउसके विचारों का प्रसार हो सके। इसके प्रभावी माध्यम के रूप में पत्रिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में पत्र-पत्रिकाओंके उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया अधिक प्राचीन नहीं है। अंग्रेजों के आगमन के बाद पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में वृद्धि हुई। बंगाल की भूमि प्रारंभ से ही विद्वानों के जन्मस्थल के रूप में प्रसिद्ध रही है ज्ञान का प्रसार यहाँ से भारत के अन्य क्षेत्रों में हुआ। बंगभूमि से सर्वप्रथम 'उदंतमार्तंड' का प्रकाशन सन् 1826 में पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने किया किंतु 4 सितंबर सन् 1827 को आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्र बंद कर दिया गया। 1850 में 'साम्यदंत मार्तंड'निकला इसके बाद कलकत्ता से ही बंगदूत, प्रजामित्र और हिंदी का प्रथम दैनिक पत्र 'सुधा वर्षण' का प्रकाशन हुआ इसके बाद कलकत्ता से ही भारतमित्र,सर सुधानिधि और 'उचित वक्ता' पत्र निकले। यह याद रखने वाली बात है कि कलकत्ता जैसे बंगभाषी क्षेत्र हिंदी पत्रकारिताकी जन्म स्थली बना। उस समय के प्रमुख पत्रकारों में पंडित जुगल किशोर शुक्ल ,पंडितछोटूलाल मिश्र, पंडित हर मुकुंद शास्त्री, पंडित रूद्रदत्त शर्मा, अमृतलाल चतुर्वेदी, बाबूलाल मुकुंद गुप्त, बाबू राम विष्णु पराड़कर, पंडित अम्बिका दत्त वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण, गोविन्द नारायण मिश्र, शंभू नाथ मिश्र, डॉ.पट्टाभि सीतारमैया आदि प्रमुख थे।

हिंदी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं संपादक एवं प्रकाशन स्थान–पंडित जुगलकिशोर शुक्ल द्वारासम्पादित'उदन्त मार्तण्ड' यह कलकत्तासे प्रकाशित होता था। राजाराम मोहन राय ने 'बंगदूत'(1829) कलकत्ता से प्रकाशित किया। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार' काशी से प्रकाशित हुआ। तारा मोहन मिश्र का 'सुधाकर' काशीसे, राजा लक्ष्मण सिंह का 'प्रजाहितैषी' आगरा से, बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप' (1877) इलाहाबाद से, नवीन चंद्र राय का 'ज्ञान प्रदायिनी' लाहौरसे प्रकाशित हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'कविवचन सुधा'(1868) बद्री नारायण चौधरी प्रेमधनका 'आनंदकादंबिनी' भारतेन्दु हरिश्चंद्रका 'हरिशचन्द्र मैग्जीन'(1873) काशी से तथा पंडित प्रताप नारायण मिश्र का'ब्राह्मण' (1883) कानपुर से प्रकाशित होता था। द्विवेदी युगीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में 'सरस्वती' जिसका संपादन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया सरस्वती का प्रकाशन सन् (1900) से प्रारंभ हुआ था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1903) इसके सम्पादक बने। यह काशी एवं इलाहाबाद से प्रकाशित होता था। 'सुदर्शन'(1900) देवकीनंदन खत्रीका 'समालोचक'(1902) चंद्रधर शर्मा गुलेरी जयपुर, से 'अभ्युदय'(1907) मदनमोहन मालवीय प्रयाग, अन्य प्रमुख पत्रिकाओं में रुद्रदत्त शर्मा का 'हित वाणी'(1904),'कर्मयोगी'(1909) सुन्दरलाल प्रयाग,'पर्याप्त'(1909) कृष्णकांत मालवीय प्रयाग,'इंदु'(1909) अम्बिका प्रसाद गुप्त काशी 'प्रताप'

(1913) गणेश शंकर विद्यार्थी कानपुर, 'प्रभा'(1913) कालूराम खंडवा, 'पाटलिपुत्र' (1914) काशी प्रसाद जायसवाल पटना द्विवेदी युग में इन पत्र-पत्रिकाओं की हिंदी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

छायावादी पत्र पत्रिकाओं मेंकृष्णकांत मालवीयका 'मर्यादा' (1909) महात्मागांधी का 'हिंदी नवजीवन' (1920) दुलारी लाल भार्गव का 'माधुरी' (1922),रामरस सहगल का'चाँद'(1923) बाबू गुलाबराय का 'साहित्य संदेश'(1927)बनारसीदास चतुर्वेदी का'विशाल भारत'(1928) प्रेमचन्दका'हंस'(1930)डॉ धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' डॉक्टर हरिकृष्ण देवसरे'पराग'मृणाल पांडेय 'कादम्बिनी'जगदीश चंद्रगुप्त 'नई कविता'नामवर सिंह'आलोचना'राजेन्द्र यादव 'हंस'पंकज बीस्ट 'समयांतर'रविन्द्र कालिया कावागर्थ ,नया ज्ञानोदयप्रमुख रहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता का इतिहास समृद्ध रहा है,उसने उच्च कोटि के साहित्यकारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओं ने जनमानस के मनोभाव पर स्पष्ट प्रभाव छोड़ा है। स्वतंत्रता से पूर्व पत्रकारिता में जाने का अर्थ अंग्रेजी सत्ता के मजबूत पंजों से मुकाबला करना था आर्थिक कठिनाइयों में फंसना और निरंतर पथरीले मार्ग का पथिक बनना था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संचार क्रांति की निरंतर उपलब्धियों के कारण पाठकों की भीड़ उमड़ रही है, भावुकता के स्थान पर चतुर योग्य विशेषज्ञ होना जरूरी है स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता ने हिंदी की विविध विधाओं को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है स्वतंत्रता के पश्चात प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में मुख्यत: सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों को उभारने वाली पत्रिकाओं का प्रकाशन होता था। मनोरंजक एवंज्ञानवर्धक रचनाओं को भी इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता था। प्रमुख पत्रिकाओं में 'नए पत्ते' संपादक लक्ष्मीकांत वर्मा (1953) इलाहाबाद, कन्हैयालाल मिश्र 'ज्ञानोदय'(1955) डॉ धर्मवीर भारती 'निकष' (1956) ज्ञान रंजन 'पहल' (1960) जयपुर, रघुवीर सहाय 'दिनमान' साप्ताहिक (1965) दिल्ली, रघुवंश 'का खा गा' (1963) इलाहाबाद विभूति नारायण राय 'वर्तमान साहित्य'(1984) इलाहाबाद, हरि नारायण 'कथादेश' (1997) दिल्ली, मुक्तिबोध 'नया खून' मध्यप्रदेश उल्लेखनीय रहा है। डॉ धर्मवीर भारती के पत्रकारिता जीवन की शुरुआत 'अभ्युदय' नामक पत्रिका में सह-संपादक से हुई। इलाहाबाद से निकलने वाली इस पत्रिका के संपादक पद्मकांत मालवीय जी थे। भारतीजी का कार्य सभी दैनिक समाचार-पत्रों को पढ़कर उनको अपने शब्दों में लिखना होता था, उनके कार्य के लिए 100 रू. महीना दिया जाता था। पत्रकारिता की प्रथम शिक्षा उन्हें मालवीय जी से प्राप्त हुई। पत्रकारिता में भाषा का उपयोग कैसे करते है,इसके संबंध में मालवीयजी से ही उन्होंने सीखा। जैसे मालवीय जी का यह कथन उद्धृत है, "बोलचाल की भाषा में यदि तुम वह संवेदना उत्पन्न कर सको जो साहित्यिक लोग अपनी भाषा में करते हैं तो यह पत्रकार के रूप में तुम्हारी सफलता होगी"। अभ्युदय में काम करते हुए भारती द्वारा लिखी गई दो टिप्पणियों पर अधिक चर्चा हुई जिनके विषय थे लॉर्ड लिनलिथगो के बारे में और गाँधीजी जी की घड़ी के संबंध में। भारती अभ्युदय पत्रिका में दो वर्ष 1946 से 1948 तक तक काम करने के बाद संगम पत्रिका के उप संपादक बन

गए। इस प्रकार कहा जा सकता है , कि भारती की पत्रकारिता जीवन का प्रारंभिक बिंदु अभ्युदय पत्रिका सेमानना उचित होगा।

'संगम' पत्रिका के संपादक पंडित इलाचंद्र जोशी थे साथ ही गंगा प्रसाद पांडे, ओमकार शरद और रामनाथ अवस्थी जैसे उच्च कोटि के साहित्यकार भी सम्मिलित थे।'संगम' पत्रिका ने भारती के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारती के कार्य से जोशी जी इतने प्रभावित हुए और संगम पत्रिका के आयोजन-संपादन की जिम्मेदारी उन्हें स्वतंत्र रूप से सौंप दी। भारती को इस कार्य से पत्रकारिता के क्षेत्र में अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ। कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं –"संपादन संबंधी इस स्वतंत्रता द्वारा संगम में ही भारती ने अभ्यास किया कि लोक रुचि को प्रशिक्षित, उन्नत और संस्कारित किया जा सकता है"[1]। इस तरह 'अभ्युदय' और 'संगम' पत्रिकाओं में काम करने के अनुभव ने उनमें पत्रकारी दृष्टिकोण विकसित किया तथा उनकी वैचारिक विविधता की पृष्ठभूमि तैयार करने के साथ ही आत्मविश्वास में वृद्धि करने में भी योगदान दिया। भारती इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं – "अभ्युदय में मैंने श्री पद्मकांत मालवीय से यह सीखा कि पत्रकारिता की भाषा शोधछात्र, अध्यापक, साहित्य समीक्षक की भाषा से अलग भाषा होती है। उसे सीधे सामान्य पाठक तक पहुंचना चाहिए"[2]। उन्हें संगम में काम करते हुए जो अनुभवप्राप्त हुए, उन पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं-संगम में काम करते हुए यह महसूस किया कि सामान्य पाठक में भी सूझ-बूझ वाली पत्रकारिता के द्वारा साहित्यिक सूझ-बूझ जगाई जा सकती है। 'संगम' पत्रिका के मुख्य पृष्ठ पर संपादक का ही नाम छपा होता था, सह-संपादकों के नामों को नहीं छापा जाता था नामो के प्रकाशन में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती थी, इस परिपाटी को तोड़कर भारती ने धर्मयुग में सह-संपादकों के नाम भी प्रकाशित करवाना आरंभ किया।

धर्मवीर भारती ने 'आलोचना'पत्रिका के संपादनदायित्व का निर्वहन भी किया। साहित्य और पत्रकारिता का मुख्य दायित्व सामाजिक सांस्कृतिक नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूक करना होता है। 'आलोचना' का संपादन कार्य भारती एवं उनके साथियों डॉक्टर रघुवंश,बृजेश्वर वर्मा और विजय देव नारायण साही के हाथों में आने पर भारती ने व्यक्ति स्वतंत्रता पर दृढ़ता से बल दिया। सम्पादकीय लेखों में व्यक्ति स्वतंत्रता के विचारों को प्रमुखता से प्रस्तुत किया इससे पूर्व शिवदान सिंह चौहान के संपादन के दौरान आलोचना, प्रगतिशील आंदोलन का केंद्र बनी हुई थी भारती और उनके मित्रों ने इस विचारधारा को प्रत्यक्ष स्वीकार न कर उसे दूसरे तरीके से स्वीकार किया। 'निकष' - भारती ने आलोचना में कार्य करने के बाद सन 1955 में लक्ष्मीकांत वर्मा के साथ 'निकष' पत्रिका का संपादन किया। 'निकष' एक अर्धवार्षिक साहित्यिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित होती थी, जिसमे विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों की कृतियों का संकलन होता था।

'निकष' के संपादकीय वक्तव्य में भारती जी ने लिखा था कि - यथार्थ के नए स्तर, नैतिकता की नई चेतना, उदार मानवीय प्रतिमान से पृथक नहीं हो सकते। नया मानवीय यथार्थ टुकड़ों में नहीं समग्रता में ही उभारा जाना

चाहिए, यह नई साहित्यिक मर्यादा की एक महत्वपूर्ण मान्यता है। नए लेखन कार्य करने वालों के लिए भारतीय ने एक मंच प्रदान किया जिससे वे अपने साहित्यिक विचारों की अभिव्यक्ति सरलता से कर सके। निकष'में नया एवं विविध क्षेत्रों के रचनाकारों की उच्चकोटि की रचनाएं प्रकाशित की जाती थी। डॉक्टर विद्यानिवास मिश्र, फणीश्वर नाथ रेणु और केशवप्रसाद मिस्र की रचनाओं को जो उस समय चर्चित थी लोगों द्वारा पसंद किया जाता था। इनको 'निकष'में स्थान दिया गया। इन विशिष्टताओं के बाद भी 'निकष' अधिक समय तक नहीं चल पाया। साधनों के सीमित होने के कारण तीन चार संकलनों के बाद इसका प्रकाशन न हो सका।

'निकष' की सफलता के बारे में मोहन राकेश की टिप्पणी से यह पता चलता है–"साहित्य के स्तर पर इतना सुथरा प्रकाशन प्रतीक के बाद पहली बार हुआ है"[3]। भारती इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करते थे। इसी माध्यम से उन्होंने 'आलोचना' और 'निकष' में संपादन कार्य भी किया 'निकष' का प्रकाशन बंद हो जाने के बाद भारती सन् (1960) में धर्मयुग पत्रिका का संपादन कार्य सम्हालने के लिए बम्बई आ गए। 'धर्मयुग' पत्रिका टाइम्स ऑफ इंडिया की पत्रिका थी। धर्मयुग का प्रकाशन सन (1950) में मुंबई से प्रारंभ हुआ था। यह पत्रिका टाइम्स समूह के मालिक साहू शांति प्रसाद जैन की पत्नी रमारानी जैन की कल्पना थी इस समय देश में आजादी का शुरुआती दौर चल रहा था, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक,सांस्कृतिकस्थिति को समाज के सामने लाने में इस पत्रिका की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। 'धर्मयुग' और धर्मवीर भारती एक दूसरे के अभाव में अधूरे प्रतीत होते हैं। आज पत्रिकाओं में बिना किसी विचार के कुछ भी छापा जा रहा है, जो भावी पीढ़ी के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। धर्मयुग में सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक जीवन के सकारात्मक पहलुओं को इसमें स्थान दिया जाता था। "डॉ. भारती ने 'धर्मयुग' का संपादन कार्य स्वीकार किया। इस दायित्व का उनके ललित साहित्य सृजन पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा। हिंदी साहित्य के वर्तमान स्वरूप को अखिल भारतीय पाठकों के सामने प्रस्तुत करना, भाषाओं को परस्पर समीप लाना, सामाजिक संस्कृति को प्रोत्साहित करना यदि रचनाधर्मिता का अंग है तो 1960 से 1987 तक के कालखंड को भारती जी की महत्वपूर्ण साहित्य सेवा का पर्व माना जाना चाहिए"[4]।

अंत में यह मानना ही होगा कि हिंदी पत्रकारिता की विकास यात्रा में, विशेषत:स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता को मूल्यपरक स्वरूप देने में तथा प्रत्यक्षघटना क्षेत्रों में उपस्थित होकर निर्भीकता से सच्चाई को जानकर प्रस्तुत करने की विशेषता के लिए भारती सदा स्मरणीय रहेंगे। उनकी पत्रकारिता के वैशिष्टयको खोलने इन कुछ पंक्तियों से ही यह स्पष्ट हो जाता है-"भारती जी निर्भिक पत्रकार के रूप में भी हमारे सामने उपस्थित होते हैं भारती विजय वाहिनी और बांग्लादेश की मुक्ति वाहिनी के सम्मिलित अभियान में डॉ. भारती भी अपने संपादकीय और लेखकीय कार्य के लिए सम्मिलित हुए। है कि खूनी मुठभेड़ों, बम और गोलियों की वर्षा घायलों और मुर्दो के बीच से युद्ध यात्रा करते हुए भारतीय जी के असैनिक और अनभ्यस्त कदम रंचमात्र भी नहीं डगमगाए उन्होंने अपनी आँखों से बांग्लादेश की जनता का राष्ट्रीय उत्साह और समर्पण भाव देखा"[5]।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान की हिंदी पत्रकारिता किसी न किसी रूप में अपने प्रारंभिक दौर में धर्मयुग और भारती से जुड़े हैं। भारती समय और पाठकों की रुचि को भली भांति पहचानते थे इसलिए साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों को अपनी पत्रकारिता के माध्यम से लोगों तक पहुंचाने में सफल रहे है।

संदर्भ सूची –

01- कृष्ण बिहारी मिश्र 121) हिंदी पत्रकारिता का इतिहासपृष्ठ नंबर -) भारतीय ज्ञानपीठप्रकाशन,अलीपुर पार्क प्लेसकलकत्ता 27, प्रथम संस्करण -1968

02- भारती पुष्पा धर्मवीर भारती से साक्षात्कार -, पृष्ठ नंबर114)) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,प्रकाशन वर्ष-2004द्वितीय संस्करण, वही पृष्ठ 115

03- धर्मवीर भारती ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, 21 ए दरियागंज नई दिल्ली-110002द्वितीय संस्करण (7) पृष्ठ नंबर 2009 संपादक चंद्रकांत बांदिवडेकर।, वही पृष्ठ नम्बर 08))

प्रेमचन्द कृत 'मंत्र': आंतरिक विकास की कहानी

डॉ. जयति बिस्वास

हिन्दी साहित्य जगत में प्रेमचन्द की कृतियाँ विश्व साहित्य की अनमोल धरोहर हैं। इनका साहित्य उच्च चिंतन, समभाव और जीवन की वास्तविकता का दर्पण है। इनकी कहानियाँ मानव हृदय के कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हैं। ये कहानियाँ मानव जीवन में व्याप्त स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ करने की प्रेरणा देती हैं। प्रेमचन्द की कालजयी कहानियों में बड़े घर की बेटी, पंच परमेश्वर, सुभागी, बूढ़ी काकी, ईदगाह, नमक का दरोगा आदि प्रमुख हैं। जिसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मानवीय मूल्यों को प्रस्तुत किया गया हैं। इसी भाव बोध से प्रेरित कहानी 'मंत्र' है।

वर्तमान भारतीय समाज के लिए प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रेरणा स्त्रोत तथा पथ प्रदर्शक की भूमिका निभाने में सक्षम है। आज का मानव भौतिकता की चकाचैंध में स्वयं को सर्वशक्तिमान व निर्बल असहायों को अनदेखी कर जीता चला जा रहा है। परंतु ईश्वरीय शक्ति के आगे मनुष्य की शक्ति क्षीण प्रतीत होती है। प्रेमचन्द कृत कहानी मंत्र इसी तरह की कहानी है, जहाँ स्वार्थ पराजित होकर मानवता जीत प्राप्त करती है।

यह कहानी एक चिकित्सक की है, जिसे लेखक ने डॉ. चड्ढा नाम प्रदान किया है। डॉ. चड्ढाका जीवन अत्यंत संयमित और अनुशासित है। वे अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए रोगियों की देखभाल चुस्ती-फूर्ती से करते हैं। आस-पास के क्षेत्र में वे ख्याति प्राप्त हैं। उनके पास से मरीज अवश्य ही स्वस्थ होकर लौटता है। किन्तु वे अपनी दिनचर्या से बाहर मरीज का इलाज नहीं करते। उनके खाने-पीने-सोने, मनोरंजन व मित्रों से मिलने का समय निश्चित है। उन्हें गोल्फ खेलने का शौक है। एक दिन उनके गोल्फ खेलने के समय में गाँव का एक देहाती बूढ़ा अपने सात वर्षीय बेटे के इलाज के लिए उनके पास आकर निवेदन करता हैं। डॉ. चड्ढा उस देहाती बूढ़े को इन शब्दों में मना करते हैं- ''कल सबेरे आओ, कल सवेरे, हम इस वक्त मरीजो को नहीं देखते।.....डॉ. चड्ढाने कलाई पर नजर डाली। केवल 10 मिनट और बाकी था। गोल्फ स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले - कल सबेरे आओ कल सबेरे। यह हमारे खेलने का समय है।''[1] देहाती बूढ़ा डॉ. चड्ढा से यह कहते हुए उनके गाड़ी की ओर दौड़ता है- ''सरकार बड़ा धरम होगा। हुजूर दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार में कोई और नहीं है बाबू जी।''[2] इस तरह बेबस गिडगिड़ाहट का भी डॉ. चड्ढाके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। डॉ. चड्ढाके लिए अपना शौक सात वर्षीय बालक के इलाज से ज्यादा महत्वपूर्ण जान पड़ता है। बिना समय गँवाए वे अपने गाड़ी में बैठकर गोल्फ खेलने चले जाते हैं। देहाती उन्हें गाड़ी में बैठकर जाते हुए देखकर निश्चल खड़ा रह जाता है। सब ओर से निराश होकर ही वह बहुत उम्मीद के साथ बेटे के इलाज के लिए यहाँ आया था। बड़ी मुश्किल से वह डॉ. चड्ढा के घर तक पहुँच पाया था, उसका यह प्रयास भी निष्फल हो गया। सात वर्षीय बेटे की इस तरह माता-पिता के सामने अचानक जीवन लीला समाप्त हो गई। उनका हृदय टूट गया उन्हें सहारा देने वाला इस समय कोई नहीं था।

इस घटना को कई वर्ष व्यतीत हो गए। देहाती पति-पत्नी अपनी गरीबी के साथ झोपड़े में जीवन यापन करते रहे। डॉ. चड्ढा का भी धन-यश लगातार बढ़ता रहा। उनकी दो संताने हुई एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र कैलाश के स्वभाव और चरित्र को प्रेमचन्द इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं - ''थोड़े दिन हुए उसने विद्यालय में सांपो पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचाकर भी दिखाया था। प्राणिशास्त्र के बड़े-बड़े पंडित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गए थे। यह विद्या उसने एक बड़े सँपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज था। इतना पता भर मिल जाए कि किसी व्यक्ति के पास कोई अच्छी जड़ी है फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हजारों रूपये फूँक चुका था।''[3] कैलाश को साँप पालने के साथ-साथ प्रहसन आदि से भी विशेष लगाव था। वह स्वयं प्रहसन लिखता व उसके मंचन में मुख्य भूमिका निभाता था।

कैलाश के बीस वर्ष की उम्र पूरी होने पर पिता डॉ. चड्ढा अपने घर में जन्मोत्सव का भव्य आयोजन करते है। कैलाश अपनी सहपाठी मृणालिनी से प्रेम करता है। मृणालिनी इस चहल-पहल, भीड़-भाड़, शोर-गुल के वातावरण में कैलाश से साँप देखने का आग्रह करती है। कैलाश पहले तो मृणालिनी के आग्रह को टालता है किन्तु मृणालिनी की जिद के आगे वह साँपों को दिखाने के लिए तैयार हो जाता है। प्रीति भोज की समाप्ति और संगीत प्रारंभ होते ही कैलाश ने ''मृणालिनी व अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के पास ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था। ऐसा जान पड़ता था कि ये कीड़े उसकी एक-एक बात उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसी को उठा लिया किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गरदन में न डालो, दूर ही से दिखा दो, बस जरा नचा दो। कैलाश की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने कहा। मगर कैलाश एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपनी सर्प-कला प्रदर्शन का ऐसा अवसर वह कब चूकता।''[4]

कैलाश इस तरह अपने जन्मदिन के अवसर पर साँपों को लेकर अचंभित करने वाले करतब दिखाने लगा, लोगों को कैलाश की हिम्मत पर शक होने लगा उन्हें महसूस होने लगा कि शायद साँपों के जहरीले दाँत निकाले जा चुके है। इस बात का उत्तर कैलाश इन शब्दों में देता है- ''दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गए। कहिए तो दिखा दूँ, कहकर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया और बोला- मेरे पास इससे बड़ा और जहरीला साँप दूसरा नहीं हैं। अगर किसी को काट ले तो आदमी आनन-फानन में मर जाए। लहर भी न आए। इसके काटे पर मंत्र नहीं। कहिए तो दिखा दूँ, ऐसा कहकर वह साँप के दाँत दिखाने का प्रयास करने लगा। उसने साँप की गर्दन पकड़कर जोर से दबायी, इतनी जोर से दबायी कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गयीं। साँप ने

अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं, उसे शायद भ्रम हुआ कि मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया। कैलाश ने उसकी गर्दन खूब दबाकर मुँह खोल दिया और उसके जहरीले दाँत उसने लोगों को दिखाने लगा।''[5] मित्रों का शंका-समाधान करने के लिए कैलाश ने अपनी जान जोखिम में डाल दिया। ''कैलाश ने दाँत दिखाकर साँप की गर्दन ढीली कर दी और उसे जमीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुँवन क्रोध से पागला हो रहा था। गर्दन नरम पड़ते ही उसने सिर उठाकर कैलाश की उँगली में जोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलाश की उँगली से टप-टप खून टपकने लगा।''[6] इस घटना से जन्मदिन का उत्सव मातम में बदल गया। चारों ओर कैलाश को साँप के काटने की सूचना फैल गयी। माता-पिता तथा अन्य स्नेही जन कैलाश को बचाने का हर-संभव प्रयास करने लगे। कैलाश के द्वारा एकत्रित की गई जड़ी-बूटी का भी कोई असर नहीं हुआ। धीरे-धीरे कैलाश की आँखे बंद हो गयी। डॉक्टर चड्ढा अपने पुत्र की यह हालात देखकर बेचैन हो गए, उनके हृदय की अनुभूति को प्रेमचन्द इन शब्दों में व्यक्त करते हैं - ''.....बुलाइए। किसी झाड़-फूँक करने वाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले-ले मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर घर से निकल जाऊँगा; मगर मेरा कैलाश; मेरा प्यारा कैलाश उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलाइए।''[7] डॉ. चड्ढा की यह हालत देखकर कुछ लोगों के प्रयास से विष झाड़ने वाले आए, किन्तु कैलाश की तबियत देखकर उनकी भी हिम्मत ने जवाब दे दिया। शहर से कई मिल दूर एक बूढ़ा-बुढ़िया अपनी झोपड़ी में मेहनत-मजदूरी करके जीवन निर्वाह कर रहे थे, उनकी संपत्ति के नाम पर वह एक झोपड़ी थी, जहाँ एक चूल्हा था, और तेल की एक कुप्पी रात में रोशनी के लिए। ''बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी और बूढ़ा रस्सी बटकर बाजार में बेच आता था। यही उनकी जीविका था। उन्हें न किसी ने रोते देखा न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फुरसत।''[8] यहाँ यह बात स्पष्ट है कि बूढ़े दंपत्ति का जीवन अत्यंत कठिन था फिर भी वे पुरुषार्थ करके अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। ठंड की अँधेरी रात में एक आदमी उनके द्वार पर आकर यह सूचित करता है कि डॉ. चड्ढा के बेटे को साँप ने काट लिया है, यदि उसका इलाज करते हो तो आदमी बन जाओगे। बूढ़ा भगत इस समाचार से चौंक जाता है। परंतु उसके अंदर का पिता उसे वहाँ जाने से रोकता है। वह खबर देने वाले आदमी से कहता है - ''मैं नहीं जाता। मेरी बला जाए। वही चड्ढा है, खूब जानता हूँ। भैया को लेकर मैं उन्हीं के पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरो पर गिर पड़ा कि एक नजर देख लीजिए; मगर सीधे मुँह से बात तक न की। भगवान

बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का गम कैसा होता है। कई लड़के हैं ? .... भगवान बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े थे। पर उन्हें तनिक भी दया न आयी थी। मै तो उनके द्वार पर होता तो भी न पूछता।''[9] बूढ़े भगत की यह अनुभूति एक सामान्य इंसान की अनुभूति है, जहाँ समय निकल जाने पर भी हृदय के दर्द में कमी नहीं आती, बूढ़ा भगत अपने इकलौते पुत्र को मौत से वापस लाने के लिए डॉ. चड्ढा से मिन्नते करता रहा किन्तु उनके हृदय का इंसान उस समय जागृत नहीं हुआ। आज वे अपने बेटे को मृत्यु शय्या में देखकर परेशान हैं। बूढ़ा भगत भी इस घटना को ईश्वर प्रदत्त मानकर संतुष्ट हो रहा है कि कल इसने जो मेरे साथ किया, वही आज डॉ. चड्ढा के साथ हो रहा है। प्रेमचन्द ने बूढे भगत के अंदर पिता से ऊपर एक सच्चे मनुष्य का सृजन किया है, उसका एक मन पिता के रूप में कैलाश के इलाज से रोकता है वहीं दूसरा मन डॉ. चड्ढा के बेटे के जहर को उतारने में छटपटा रहा है। बूढ़े भगत के मन में शांति की जगह व्याकुलता है; अंततः परमार्थ ने स्वार्थ को पछाड़ दिया, बूढ़ा भगत ठंड की अंधेरी रात में डॉ. चड्ढा के घर जाने का निर्णय लेकर निकल पड़ता है- ''भगत ने आगे और पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह काबू में नहीं रहती पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, जुबान से निकलता कुछ है वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतिकार था, पर कर्म मन के अधीन न था।''[10] जिस समय बूढ़ा भगत डॉ. चड्ढा के घर पहुँचा उस समय रात के दो बज रहे थे। वहाँ उपस्थित लोग सुबह होने का इंतजार कर रहे थे, ताकि कैलाश की लाश को गंगा की गोद में दिया जा सके। डॉ. चड्ढा बूढे भगत को कैलाश के पास ले जाते हैं, कैलाश की स्थिति देखकर भगत डॉ. चड्ढा को सांत्वना देता है और अपना झाड़-फूँक आरंभ करता है भगत की आज्ञानुसार कैलाश को कई घड़े पानी से नहलाया जाता है, इस बीच मंत्रोच्चार तथा जड़ी सुँघाने का कार्य भी भगत के द्वारा किया जाता है। प्रातः होते-होते सुबह की तालिमा के साथ कैलाश भी लाल-लाल आँखें खोल देता है। इस प्रकार बूढ़ा भगत कैलाश को पुनर्जीवन प्रदान कर परिवार को खुशहाली से भर देता है। इस पुण्य कार्य के पश्चात् भगत किसी से बिना मिले वहाँ से निकलकर पत्नी के उठने से पहले घर पहुँच जाना चाहता है। डॉ. चड्ढा भी बूढ़े भगत को सुबह की रोशनी में पहचान लेते हैं, किन्तु उससे मुलाकात नहीं हो पाती। भगत के चले जाने पर वे पत्नी नारायणी से कहते है - ''आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे खोज निकालूँगा और उसके पैरों में गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ, उसका जन्म

यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है जो अब से जीवन-पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।''[11]

डॉ. चड्ढा पुत्र को मौत के दरवाजे से वापस पाकर अत्यंत प्रसन्न है, इस घटना ने उन्हें चिकित्सकीय व्यवसाय के प्रति ईमानदार बना दिया। उनका हृदय परिवर्तन हो गया है, वे यथार्थ और आदर्श के बीच संतुलन स्थापित कर सार्थक, जीवन की ओर उन्मुख होते है। बूढ़े भगत का कर्म प्रधान जीवन डॉ. चड्ढा के लिए प्रेरणा स्त्रोत है। उन्हें अपनी पिछली गल्तियों का एहसास है अब वे अपने शेष जीवन को जन-सामान्य के लिए समर्पित करने का दृढ़ संकल्प ले चुके है। उन्हें यह ज्ञात हो गया है।

संदर्भ: -

1. पृ. 68 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।, 2. पृ. 68 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
3. पृ. 69,70 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
4. पृ. 70 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।, 5. पृ. 71 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
6. पृ. 71 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
7. पृ. 72 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
8. पृ. 73 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
9. पृ. 73 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
10. पृ. 75 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।
11. पृ. 77 - प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ भाग 04।

मिथिलेश्वर की कहानियों में लोक सांस्कृतिक चित्रण : लोकवृत्त एवं लोककलागत

जीतलाल

पूरे भारतवर्ष में लोकवृत्त एवं लोककलाओं का भंडारण है। प्रत्येक प्रदेश में इनका कोई न कोई विशिष्ट रूप विद्यमान है, जहाँ अनेक जातियों एवं जनजातियों के लोग निवास करते हैं। लोकवृत्त एवं लोककला विशेष रूप से पिछड़े अँचलों में निवासकरने वाले जनसमूहों द्वारा ही रचित एवं संरक्षित किए जाते हैं। इन्हीं लोगों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही लोकगीत, लोकनाट्य, लोक कथाएँ, लोक गाथाओं एवं लोक-सुभाषित आदि को लोकवृत्त तथा चित्रांकन, अल्पना, महावर, गोदना एवं शिल्पकला आदि को लोककला के अंतर्गत रखते हैं। लोकवृत्त एवं लोककला शास्त्रीयता से भिन्न जमीन पर खड़े दिखाई देते हैं। ग्रामीण परिवेश में रहने वाले जो लोग पढ़ाई-लिखाई में दिलचस्पी नहीं लेते, वे भी इनमें पारंगत होते हैं। इनमें उनके लोकव्यवहारों, धार्मिक भावनाओं, रीति-रिवाजों एवं परंपराओं की झलकियाँ दृष्टव्य है। रेखा श्रीवास्तव लोककला के संबंध में कहती हैं "पुस्तकीय ज्ञान से भिन्न व्यवहारिक ज्ञान पर आधारित जनसमुदाय की अनुभूति की अभिव्यक्ति ही लोककला है, जिसकी उत्पत्ति धार्मिक भावनाओं, अंधविश्वासों, भय निवारण, अलंकरण प्रवृत्ति एवं जातिगत भावनाओं की रक्षा के विचार से हुई है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया लोक कलाएँ भी विकसित होती गई।"[1] लोकवृत्त एवं लोक कलाओं से लोक संस्कृति पुष्ट एवं परिवर्द्धित होती है, ये धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज एवं परंपराओं की परिचायक भी बनती है। वर्तमान में लोकविदों ने लोक रूपों को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया है लोकवृत्त एवं लोककला। इनके भी अनेक रूप विकसित हुए हैं, जिन्हें विद्वज्जनों ने मान्य किया है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकवृत्त एवं लोक कलाओं के जिन रूपों का चित्रण हुआ है, उनका विवेचन इस प्रकार है

लोकवृत लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। इसे लोक-भाषण की सहज, स्वाभाविक एवं अकृत्रिम अभिव्यक्ति कहा जा सकता है तथा इसके ज्ञान का संबंध व्यवहारिक जीवन से होता है। लोकवृत्त लोकचित्त को आकृष्ट करने वाला तथा एक कंठ से दूसरे कंठ तक पहुँचने वाला, सभी जनसाधारण को आंदोलित करने वाला, सामान्य जन की बोली के नैसर्गिक रूप को संजोकर रखने वाला भी कहा गया है। अतः जो लोक की परिधि में आते हैं, वे ही लोकवृत्त है | इसमें प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है तथा उसमें निहित सौंदर्यभाव सर्वथा साधारण जन की अनुभूतिजन्य हैं। लोकसाहित्य के विद्वानों ने इन्हें मुख्य रूप से पाँच भागों में बाँटा है1.लोककथा 2.लोकगाथा 3.लोकगीत 4.लोकनाट्य 5.लोक सुभाषित। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य एवं लोक सुभाषित आदि के जो महत्वपूर्ण चित्रण मिलते हैं, उनका विवेचन इस प्रकार हैं

लोकगीत का संबंध लोकजीवन के सुख-दुख से हैं, इनमें जनजीवन के भाव अभिव्यक्त होते हैं। किसान-मजदूर, चरवाहा या स्त्री अपने मन की बात को गाकर सहज ढंग से अभिव्यक्त कर सकती है, अतः लोकगीत मनुष्य के हृदय का स्पंदन है। ग्रामीण लोगों की भावनाओं, अनुभूतियों एवं सौंदर्य भावनाओं आदि का प्रतिनिधित्व लोकगीत करते हैं तथा लोकगीतों में संबंधित अँचल बोल उठती हैं। लोकगीत जीवन के सुख-दुख, हास-परिहास, पतझड़ और

मधुमास का उद्गार है। वह किसी जाति, समूह और देश की लोक संस्कृतियों के परिचायक होते हैं, उनमें जीवन की प्रत्येक धड़कनों का एहसास देखा जा सकता है। लोकगीतों के उद्गम के संबंध में देवेंद्र सत्यार्थी लिखते हैं "कहाँ से आते हैं इतने गीत? स्मरण-विस्मरण की आँखमिचौली से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदात्त हृदय से। कहाँ से आते हैं इतने गीत? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत।... जीवन के सुख, जीवन के दु:ख, ये है लोकगीत के बीज।"[2] लोकगीत को परिभाषित करते हुए डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव लिखते हैं "लोकगीत श्रम परिहार से लेकर लोक की व्यथा को व्यक्त करते हुए विरेचन का कार्य भी करते हैं। अधिकतर ये गीत आँसू और सपनों के ताने-बाने से बुनी चादर होते हैं, जिन्हें बड़ा संभालकर, संजोकर रखता है ये लोक।"[3] अतः लोकगीतों के माध्यम से हम अपनी प्राचीन लोक संस्कृति एवं परंपराओं को जान सकते हैं। लोकगीतों को अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जिनमें संस्कारगीत, ऋतुसंबंधी गीत, व्रतसंबंधी गीत, श्रमसंबंधी गीत एवं जातिसंबंधी गीत प्रमुख है। मिथिलेश्वर की कहानियों में ऋतुसंबंधी तथा जीवन की व्यथा संबंधी लोकगीतों का चित्रण हुआ हैं। 'तिरिया जनम' कहानी में सुनयना की व्यथा को व्यक्त किया है। सुनयना जब किसी बच्चे को जन्म नहीं दे पाती हैं, तो उसके पति दूसरी पत्नी लाते हैं तथा सुनयना को पहले वाले कमरे से निकालकर उपेक्षित कमरे में ला देते हैं, जहाँ घर की बेकार एवं फालतू चीजें रखी जाती हैं। जिससे सुनयना का जीवन यातनापूर्ण हो जाता है और उसे गाँव में महिलाओं द्वारा गायी जाने वाली लोकगीत याद आती है

"जाहू हम जनिती धियवा कोंखी रे जनमिहे।
पिहितों में मरिच झराई रे।
मरिच के झाके-झुके धियवा मरि जाइति,
छुटि जाइते गरुवा सन्ताप रे।"[4]

अर्थात विवाहित स्त्री को यदि यह पता चल जाता कि उसके गर्भ में धियवा (पुत्री) है, तो वह मिर्च पी लेती, जिससे उसकी धियवा (पुत्री) गर्भ में ही मर जाती तो उसके सारे संताप, दुख-पीड़ा दूर हो जाती। जब कोई विवाहित स्त्री पुत्री को जन्म देती थी, तो उन्हें अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता था, जिसके कारण वह अपनी पुत्री को गर्भ में ही मार देना चाहती थी। लोककथा लोकवृत्त का एक अभिन्न अंग है। लोककथाएँ वे कथाएँ हैं, जो किसी समाज से संबंधित होती है तथा व्यक्तियों के अनुभवों एवं घटनाओं के आधार पर निर्मित होती हैं। यह मौखिक तौर पर उस समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कहने की प्रक्रिया द्वारा पहुँचाई जाती हैं। ये कथाएँ किसी समाज, जाति, संप्रदाय के प्रसिद्ध व्यक्ति की या किसी सामान्य व्यक्ति की भी हो सकती हैं, इसमें तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को बताते हैं। इन कथाओं का प्रमुख उद्देश्य समाज के ज्ञान, समझ और नैतिक मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे पहुँचाना होता है। प्रत्येक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरह की लोककथाएँ मौजूद हैं, जैसे पहाड़ी, समुद्र तटीय तथा मैदानी क्षेत्रों की कथाओं में वहाँ की रीति-रिवाज, खान-पान, पर्व-त्यौहार, वेशभूषा आदि का चित्रण परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं। लोककथाओं पर विचार व्यक्त करते हुए वसंत निरगुणे लिखते हैं

"लोक कथाएँ हमारी वाचिक परंपरा की अमूल्य धरोहर है। नानी-दादी की वाणी में सुनी कथाओं का आस्वाद ही भिन्न होता है। लिखित शब्दों में वह वाक् सौंदर्य और प्रभाव कहाँ जो प्रसंगानुकूल उतार-चढ़ाव के अनुरूप बोले गये शब्दों में मिलता है, लिखे गये शब्दों में ध्वनि तत्व गायब हो जाता है और ध्वनि व्यंजना की सबसे सशक्त संवाहक होती है।"[5] लोक विद्वानों ने लोककथाओं को मुख्यत: छ: भागों में विभाजित किया गया है पौराणिक कथा, मनोरंजन कथा, उपदेश कथा, प्रेम कथा, व्रत कथा और सामाजिक कथा आदि प्रमुख है। मिथिलेश्वर की कहानियों में आदिवासी एवं प्रेत से संबंधित सामाजिक लोककथाओं का चित्रण हुआ है

'प्रेत की जट' कहानी में बिरदा सिंह और जटहवा प्रेत के बीच होने वाले लड़ाई का बड़ा ही रोचक ढंग से चित्रण हुआ है। उसी लोककथा को नैरेटर के बाबा सुनाते हैं "ओह बखत गाँव में बिरदा सिंह की जोड़ का दूसरा मरद नहीं। देह भाँजते हुए बिरदा सिंह चलते और अपने से वजनी पहलवानों को भी उठा कर पटक देते। रात-बिरात कहीं आने-जाने में उनको इचको (तनिक-सा भी) भय नहीं। ऊ सोचते कि कौन माई का लाल है जो उन्हें पछाड़ सके। बस, एक रात ऊ पड़ गये जटहवा प्रेत (जटा वाले प्रेत) के चक्कर में। बाघी बगीचे में जो बुढ़वा बरगद का पेड़ है, उसी पर रहता है जटहवा प्रेत...।"[6] इस प्रकार मिथिलेश्वर की कहानियों में लोककथाओं का चित्रण हुआ है|

लोकवृत्त का एक महत्वपूर्ण अंग लोकनाट्य भी होता है। लोकनाट्य में लोकजीवन के हर्ष और विषाद भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारतीय गाँवों में लोकनाट्य जनधर्मी हैं, लोकनाट्य का मूल उद्देश्य लोकानुरंजन हो सकता है, परंतु साथ-ही-साथ वह समाज की अच्छाई एवं बुराई की नब्ज को भी पकड़ते हैं। इनके माध्यम से जनजीवन में व्याप्त हर्ष, उल्लास एवं कलात्मक अभिव्यक्ति को भी चित्रित करते हैं। लोकनाट्य पर विचार करते हुए वसंत निरगुणे जी कहते हैं "लोकनाट्य अपने पारंपरिक विद्रूप, अभिनय से गुदगुदाने का कार्य करते हैं, वहीं समसामयिक चुटीले संवादों से तीखी मार भी करते हैं। यह सब हँसी-हँसी में होता है और इसकी चपेट में राजा रंक सभी आ जाते हैं।"[7] लोकनाट्य के विविध रूपों में नाचा, शेखावटी, तमाशा, मार्च, स्वांग, विदेशिया, नौटंकी, जात्रा, गम्मत, यक्षगान, रामलीला और रासलीला आदि आते हैं। इन लोकनाट्यों का आयोजन विभिन्न पर्वोत्सवों में किया जाता है। जन-जीवन में लोकनाट्य आज भी जीवित है। मिथिलेश्वर की कहानियों में नौटंकी का वर्णन हुआ है

'बाबूजी' कहानी में भोजपुर के प्रसिद्ध लोकनाट्य नौटंकी का चित्रण हुआ है। बाबू ललनसिंह(बाबूजी) की नौटंकी की चर्चा पूरे भोजपुर जिले में है। जिनका चित्रण मिथिलेश्वर ने इस प्रकार किया है "शामियाना एकदम खचाखच भरा था। शामियाने से बाहर भी काफी लोग बैठे थे। नगाड़े की आवाज पूरे परिवेश में गूँज रही थी। बाबूजी का रोबीला चेहरा अलग से ही चमक रहा था। उनकी अँगुलियाँ तबले पर एकदम बिजली की तरह नाच रही थी। तबले की थाप पर नर्तकियों के जिस्म का हर हिस्सा थिरक रहा था। अजीब आनंद आ रहा था और फिर मंच की सजावट और प्रस्तुतीकरण का ढंग भी निराला था। सचमुच बाबूजी की नौटंकी पूरे जिले में एक नंबर की थी।"[8] इस प्रकार मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकनाट्यों के परिदृश्यों का चित्रण हुआ है | सर्वसाधारण जन द्वारा सुंदर ढंग से कही गई बातें लोक-सुभाषित कहलाती है। लोक-सुभाषित लोकवृत्त का ही एक अंग है तथा इनका निर्माण लोक के

द्वारा हुआ है। लोक-सुभाषित जन-जन का तपा हुआ ज्ञानानुभव है, इसमें रंजकता तो होती है, साथ-ही-साथ सत्य-असत्य के खंडन-मंडन की पुरजोर शक्ति भी समाहित होती हैं। लोक-सुभाषित लोक की ऐसी अनुभवपरक अभिव्यक्ति है, जिसमें जीवन के हर्ष-विषाद एवं रंग-व्यंग्य समाहित है। इनके प्रमुख अंग है लोकोक्तियाँ, मुहावरे, ढकोसले, पहेलियाँ एवं सूक्तियाँ। मिथिलेश्वर की कहानियों में अनेक लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे देखने को मिलते हैं।

लोकोक्तियाँ लोक सुभाषित का महत्वपूर्ण घटक है। लोकोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है, लोक+उक्ति अर्थात सर्वसाधारण जन द्वारा प्रयुक्त होने वाले कथन। इनके द्वारा ही किसी कथन को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। लोकोक्तियाँ या कहावते जनसमुदाय के व्यवहारिक ज्ञान एवं उनके प्रकृति निरीक्षण को प्रकट करता है। इनके माध्यम से हम किसी देश की संस्कृति, ज्ञान और विचारधारा को सुगमता से समझ सकते हैं। लोकोक्तियों या कहावतों की यह परंपरा हमारे प्राचीन साहित्य में भी दिखाई देती हैं। वेद एवं उपनिषदों में अनेक लोकोक्तियाँ देखने को मिलती हैं, जिनसे हमें प्राचीन समाज का ज्ञान प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य में कालिदास, श्रीहर्ष, माघ और भारवि आदि कवियों ने लोकोक्तियों(कहावतों) का प्रयोग कर अपनी भाषा को प्रभावोत्पादक एवं समृद्ध किया है। लोकोक्तियों या कहावतों में किसी समाज के लोकाचारों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक भावनाओं तथा नैतिक मूल्यों से संबंधित विवरण मिलता है। लोकोक्ति को परिभाषित करते हुए डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जी लिखते हैं "लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनंत काल तक धातुओं को तपाकर सूर्यराशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार मानवीय ज्ञान के घनीभूत रत्न है, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।"[9] अतः लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाली प्रभावी अभिव्यक्ति है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकोक्तियों या कहावतों का प्रयोग प्रमुखता से हुआ है

'नपुंसक समझौते' अन्य पुरुष में लिखी गई कहानी हैं, 'वह' इस कहानी का नायक है, जो बेरोजगार है और घर-गृहस्थी की पूरी जिम्मेदारी भी उन्हीं के ऊपर है। वह आषाढ़ के महीने में बादलों के एक भी टुकड़े न देखकर हैरान और परेशान है। उनके गाँव के अधिकांश लोग बीज डाल दिए हैं, परंतु उसके जैसे ही कुछ लोग नहरों के पानी का इंतजार कर रहे हैं। उसे चौधरी बाबा की कहावत याद आती है "आगे खेती आगे-आगे पीछे खेती जोगे-भोगे।' लेकिन चौधरी बाबा की यह कहावत सिर्फ वे लोग ही सार्थक करते हैं, जिनके पास धन दौलत है।"[10] अत: जिसके पास पानी की सुविधा है, वही समय पर बीज डालकर अच्छा उत्पादन ले सकते हैं। 'बाबूजी' कहानी में बाबूजी की बातों से बौखलाकर बड़े भैया कहते हैं "शराबियों से बात नहीं की जाती। 'वह बात के नहीं, लात की जात होते हैं।"[11] अत: यहाँ पर भी लोकोक्तियों का सुंदर चित्रण हुआ है। मुहावरे भी लोक-सुभाषित का महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में जिन वस्तुओं का सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण कर है, उन्हें शब्दों में प्रकट करता है, वही मुहावरे हैं। 'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। ये किसी भी भाषा की संजीवनी शक्ति एवं प्राण है, जिससे वाक्य की रोचकता बढ़ जाती है तथा ये अनावश्यक शब्दों के विस्तार से दूर रहता है। मुहावरा एक वाक्य खंड है। इनका अर्थ लक्षणा एवं

व्यंजना से युक्त होती है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने मुहावरे को इस प्रकार से परिभाषित किया है "मुहावरा किसी बोली या भाषा में प्रयुक्त होने वाला वह अपूर्ण वाक्य खंड अथवा वाक्यांश है जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सबल, सतेज, रोचक तथा चुस्त बना देता है।"[12] मुहावरों में लोक जीवन एवं लोक संस्कृति की झाँकी दिखाई देती है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकोक्तियों की तरह मुहावरों का प्रयोग भी बड़ी तल्लीनता से हुई है

'तिरिया जनम' कहानी में सुनयना बड़ी हुई, तब उसे लड़के और लड़कियों के बीच का भेदभाव समझ आने लगा, "बचपन में वह भाइयों की बराबरी के लिए लड़ने-झगड़ने लगती। लेकिन बड़ी होने के बाद समझ गयी कि लड़के 'आकाश कुसुम' होते हैं और लड़कियाँ 'पांव की धूल'।"[13] आलोच्य कहानी में ही जब सुनयना के दस साल बाद भी कोई बच्चा नहीं हुआ, तो डॉक्टर के पास इलाज कराने के लिए पति-पत्नी दोनों जाते हैं तथा डॉक्टर सुनयना को ठीक बताकर सुनयना के पति में ही दोष बतलाते हैं "एकाएक सुनयना के पति को तो जैसे 'काठ मार गया' डॉक्टर के सामने उसकी बोलती बंद हो गयी।"[14] इस प्रकार मिथिलेश्वर ने सुंदर एवं सटीक मुहावरे का प्रयोग किया है। भारतवासियों का जीवन सदैव कलात्मक रहा है। उसके गृह-निर्माण से लेकर घरौंदा बनाने तक में एक विशेष प्रकार की कला दिखलाई पड़ती है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से लोककला को अनेक भागों में विभाजित किया है, जिनमें मुख्यतः 1. चित्रकला 2. मूर्तिकला 3. वास्तु कला 4. अल्पना 5. गोदना 6. मेहंदी 7. महावर 8. विविध कला। मिथिलेश्वर की कहानियों में चित्रकला, अल्पना एवं गोदना जैसे लोककलाओं का चित्रण हुआ है, जिनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है भारतीय चित्रकला के नमूने यत्र-तत्र प्रदर्शनीय एवं सार्वजनिक स्थानों में दृष्टव्य है, परंतु उन चित्रों की तरफ ध्यान नहीं देता, जो हमारे घरों, चौराहों एवं गाँवों में विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। मनुष्य आनंद एवं उल्लास के अवसरों पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं तथा हल्के-गहरे रंगों से उस संसार को चित्रित करता है, जो उसका अपना है। जिसमें बनावटी एवं दिखावें की कोई छाप नहीं होती, इन चित्रों में उसका सच्चा हृदय अंकित होता है। इन आडंबरहीन और मौलिक चित्रों से मनुष्य के सच्चे स्वभाव का पता लगता है। इन्हीं लोक कलाओं में मनुष्य की सुंदर भावनाओं का संसार छिपा रहता है, यदि इन्हें उनके जीवन से हटा दें, तो जीवन जीने योग्य ही नहीं रह पायेगा। विवाह के अवसरों पर घर की लिपाई -पुताई कर दीवारों पर देशी रंगों में अनेक चित्र बनाए जाते हैं, वे बड़े अद्भुत होते हैं। इस तरह चित्रकला के माध्यम से अपने परिवेश की लोक संस्कृति को उद्घाटित करते हैं। चित्रकला के दो रूप होते हैं भित्ति चित्र तथा पट चित्र। मिथिलेश्वर की कहानियों में चित्रकला का चित्रण निम्न रूपों में दिखाई पड़ता है 'जहाज का पंछी' कहानी में पंछी का चित्र बनाने का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी के नायक केदार के बारे में मिथिलेश्वर लिखते हैं "क ख ग घ लिखते हुए ही वह कभी किसी पंछी का चित्र बनाने लगता तो कभी किसी आदमी का।"[15] कहानीकार ने यहाँ चित्रकला को उद्घाटित किया है।

विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर अल्पना बनाने की प्रथा प्रचलित है। विवाह के अवसर पर लड़की वाले 'द्वारपूजा' के लिए अल्पना बनाते हैं। पहले द्वार के सामने की जमीन को गोबर से लीप देते हैं, फिर गेहूँ के आटे को चुटकी से लेकर जमीन पर गिराते हुए वर्गाकार, गोलाकार एवं अन्य आकृति बनाती है। यहीं पर कलश की

स्थापना की जाती है। विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर अल्पना की विभिन्न 'डिजाइन' बनायी जाती हैं, जिन्हें 'चौक पूरना' भी कहा जाता है। मिथिलेश्वर की कहानी 'जहाज का पंछी' में अल्पना का चित्रण हुआ है। विवाह के अवसर पर नाई और उसकी पत्नी अनेक कार्य करते हैं, जैसे "कभी उससे आम के 'पल्लव' लाने की फरमाइश की जाती है, तो कभी मूँज की रस्सी लाने की। उसकी पत्नी चौका पूरती हैं। मालिक के घर की औरतों के पाँव रंगती है।"[16] 'वैतरणी भौजी' कहानी में गोदना गोदने का चित्रण मिलता है। विवेच्य कहानी में नेटुओं की टोली के संबंध में मिथिलेश्वर लिखते हैं "उनकी महिलाएँ घघरा पहनतीं। उनमें से कुछ गाँव में जाकर गोदना गोदने का काम करती।"[17] इस प्रकार से मिथिलेश्वर ने अल्पना एवं गोदना के माध्यम से लोकजीवन एवं लोक संस्कृति को उजागर किया है।

निष्कर्षतः लोकवृत्त एवं लोककला लोक संस्कृति का अहम हिस्सा है। मिथिलेश्वर की कहानियों में लोकवृत्त के अंतर्गत लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य और लोक सुभाषितों के दर्शन होते हैं तथा लोककलाओं के अंतर्गत चित्रकला, अल्पना एवं गोदना के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। हमें इन लोकवृत्त एवं लोककलाओं की सुरक्षा एवं संरक्षण के प्रति सजग रहना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीवास्तव रेखा आलेख लोककला, पृष्ठ संख्या 02
2. सत्यार्थी देवेंद्र धरती गाती है, पृष्ठ संख्या 178
3. तिवारी डॉ.कपिल (संपादक) चौमासा पत्रिका, वर्ष23, अंक72, नवंबर 2006 ई. फरवरी 2007 ई., पृष्ठ संख्या 63
4. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग2, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 18
5. निरगुणे वसंत लोक संस्कृति, प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमीभोपाल, संस्करण : पंचम (आवृत्ति) 2012 ई., पृष्ठ संख्या 111
6. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग3, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 254
7. निरगुणे वसंत लोक संस्कृति, पृष्ठ संख्या 104
8. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग1, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशनदिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 ई., पृष्ठ संख्या 102
9. परमार डॉ. श्याम भारतीय लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या 184
10. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 1, पृष्ठ संख्या 27
11. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 1, पृष्ठ संख्या 97
12. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशनइलाहाबाद, संस्करण : 1988 ई., पृष्ठ संख्या 303
13. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 19
14. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2,पृष्ठ संख्या 27
15. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 124
16. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 2, पृष्ठ संख्या 127
17. मिथिलेश्वर मिथिलेश्वर की संपूर्ण कहानियाँ भाग 3,पृष्ठ संख्या 68

मोहब्बत के बाज़ार में ऐ 'नज़ीर' अब

कुमुद रंजन मिश्र

नज़ीर हिन्दुस्तानी के उन कुछ अवामी शायरों में से एक हैं, जिनकी रचनाओं में सामान्य जन जीवन अपनी सादगी, सहजता, स्वाभाविकता और सम्पूर्णता के साथ स्वर पाता है। नज़ीर अकबराबादी का रचनाकाल वही समय है जिसे हम हिंदी साहित्य में रीतिकाल के नाम से जानते हैं। इनका वास्तविक नाम वली मुहम्मद है। अन्य मध्यकालीन कवियों की तरह 'नज़ीर' ने भी अपने जीवन की कोई सूचनात्मक जानकारी नहीं दी है। सन् 1900 के आस–पास प्रो. अब्दुल गफूर शहबाज़ ने नज़ीर की नातिन की मदद से नज़ीर के जीवन संबंधी जो जानकारियाँ एकत्र की, वे ही आज नज़ीर के संबंध में प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। कहा जाता है कि भाषाएँ तमाम सत्ताओं को नज़रंदाज़ करती हुई अपनी रौ में अपने नए रूपाकार ग्रहण करती चली जाती हैं। पर भाषाओं के नए रूपाकार के बनने में उसे बरतने वाले समाज, समाज में रहने वाले व्यक्ति और व्यक्तियों में भी साहित्यकारों की बड़ी भूमिका होती है। आज की हिंदी जिस रूप और संरचना को प्राप्त कर सकी है उसे गढ़ने में कुछ उन रचनाकारों–कवियों का भी अविस्मरणीय योगदान रहा है जिन्हें सांप्रदायिक नकारात्मक शक्तियों ने परिदृश्य से बाहर रखने की साजिश की। नज़ीर इस साजिश के सबसे बड़े शिकार हैं।

नज़ीर अकबराबादी हिंदी साहित्य के 18वीं शताब्दी के प्रमुख कवि हैं। जिन्होंने अपने समय से आगे के युग को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। हिंदी में लम्बे समय तक नज़ीर की रचनाओं को खासा महत्व नहीं दिया गया। इधर पिछले कुछ वर्षों में नज़ीर पर कुछ एक–दो लेख जरूर प्रकाशित हुए हैं जिनमें नज़ीर की कविता के महत्व पर चर्चा की गई है। किन्तु अब भी हिंदी आलोचना में नज़ीर पर बहुत व्यवस्थित ढंग से विचार नहीं किया गया है। नज़ीर की कविता के एक दो संग्रह आये हैं जिनमें भूमिका के रूप में नज़ीर के काव्य वैविध्य पर चर्चा हुई है। इनमें से एक 'नज़ीर की बानी' नाम से फ़िराक गोरखपुरी द्वारा संपादित किताब है जिसमें उन्होंने नज़ीर की 51 रचनाओं को संग्रहीत किया है। इसकी भूमिका लिखते हुए फ़िराक़ ने बताया है कि नज़ीर सांसारिकता से अलग एकांत में रहकर कविता करने वाला कवि नहीं है जैसी आमतौर पर कवियों को लेकर धारणा प्रचलित है। नज़ीर 'दुनिया के रंग में रँगे हुए एक महाकवि थे' उनकी कविताओं की विशेषता बताते हुए फ़िराक ने लिखा है – ''नज़ीर की कविताओं में उनके समय का जीवन, हर स्तर, हर वर्ग, हर तरह, हर रंग, हर ढंग, हर अवस्था, हर स्थिति का जीवन इतने भरपूर ढंग से अपनी पूरी गतिशीलता के साथ और इतने स्वाभाविक और सजीव रूप में चित्रित हुआ है कि भाषा, संस्कृति, संप्रदाय, जाति–धर्म–सब भेद मिट गए हैं''

नज़ीर की भाषा के सम्बन्ध में भी फ़िराक का विचार महत्वपूर्ण है। फ़िराक, नज़ीर की भाषा 'बचपन' या 'लड़कपन' की उर्दू बताई है अर्थात उर्दू का आरंभिक रूप नज़ीर की कविताओं में नज़र आता है। नज़ीर की कविताओं में ठेठपन का जादू है। वास्तव में फ़िराक ने नज़ीर की भाषा की तुलना अनीस, चकबस्त, और इकबाल से करना अन्यायपूर्ण माना है। फ़िराक की दृष्टि में विषय–प्राचुर्यता की दृष्टि से नज़ीर सबसे महत्वपूर्ण

कवि हैं। इधर कुछ वर्ष पूर्व बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो. आशीष त्रिपाठी ने नज़ीर की रचनाओं के सन्दर्भ में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'महिमा भी रहे जिसका नाम नज़ीर' इस लेख में प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की कविताओं पर गंभीरता से विचार किया है। उन्होंने नज़ीर को प्रत्यक्ष के कवि के रूप में नागार्जुन का पूर्वज बताया है। नज़ीर की कविताओं पर बात करते हुए उन्होंने नज़ीर को इहलोक का कवि बताया है जिसके लिए परलोक से ज्यादा महत्वपूर्ण इहलोक है। वह इहलोक जिसे हम प्रायः 'माया' मानते आये हैं नज़ीर ने उस पर कविता की। नज़ीर की भारतीय समाज की समझ पर विचार करते हुए उन्होंने बताया कि नज़ीर भारतीय समाज की समझ रखने वाले कवियों में सबसे बेहतर है। उन्होंने नज़ीर को आधुनिक कवि माना है। वे लिखते हैं – ''हिन्दुस्तान में उभरती हुई लौकिक चेतना के पहले बड़े कवि नज़ीर अकबराबादी हैं। नज़ीर भारतेंदु, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के पूर्वज हैं।''

कविता की दुनिया को अस्पृश्यता से मुक्त कराने वाले कवि के रूप में प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की कविता का उल्लेख किया है। नज़ीर अपने आस–पास के तमाम चीजों को, घटनाओं को, व्यक्ति को कविता का विषय बनाते हैं। उनके यहाँ कविता के विषय को लेकर कोई छुआछूत की भावना नहीं है। प्रो. त्रिपाठी ने नज़ीर की काव्य–चेतना की तुलना कबीर से करते हैं । वे बताते हैं नज़ीर की काव्य–चेतना कामगर वर्ग की काव्य चेतना है ठीक उसी तरह जैसे कबीर की काव्य चेतना शिल्पी वर्ग की है। प्रो. त्रिपाठी नज़ीर को काव्य–शास्त्र के तमाम नियम तोड़ने वाले कवि के रूप में देखा है। वास्तव में नज़ीर की कविता छंद अलंकार के नियमों से इतर है। नज़ीर संबंधी एक और लेख सत्यकेतु सांकृत ने लिखा है। इसका शीर्षक है 'साझी विरासत का प्रथम आधुनिक हिंदी कवि नज़ीर' इस लेख में जैसा की शीर्षक से स्पष्ट है प्रथम आधुनिक हिंदी कवि के रूप में नज़ीर पर विचार किया है। इसके साथ ही सांकृत जी ने फ़िराक़ के हवाले से नज़ीर के सांस्कृतिक पक्ष पर भी विचार किया है। उन्होंने नज़ीर की काव्य–चेतना पर विचार करते हुए, रीतिकालीन सामंती काव्य–चेतना से अलग बताया है। वास्तव में नज़ीर के यहाँ जन–साधारण की चेतना ठीक कबीर की ही भाँति है। नज़ीर जहाँ 'मुफलिसी' की बात करते हैं जहाँ 'आटे–दाल का भाव' करते हैं 'बरसात की बहारें' लिखते हुए भी उनके यहाँ साधारण जनता का पक्ष आता है। सांकृत जी उर्दू और हिंदी में नज़ीर पर विचार करते हुए दोनों साहित्य में नज़ीर की उपेक्षा का कारण तत्कालीन आलोचना का अविकसित अवस्था में होना बताते हैं। इन्होंने नज़ीर के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण बात कही वह ये कि शुक्ल जी ने प्रतापनारायण मिश्र के सम्बन्ध में जिस 'पद्यात्मक निबंध' की बात कही दरअसल वह फ़ारसी की नज़्म है जो सबसे अधिक नज़ीर के यहाँ निखर के आती है – ''शुक्ल जी ने 'मुक्तक' और 'प्रबंध काव्य' के अतिरिक्त नए प्रकार की काव्यविधा 'पद्यात्मक निबंध' का उल्लेख किया है। 'पद्यात्मक निबंध' वस्तुतः फारसी की 'नज्म' है, जिसे 'हिंदी/हिंदवी' कवियों ने अपनाया था, पर गजल के सामने वह दबी रह गई थी। उसे पहली बार नज़ीर अकबराबादी ने महत्व दिया था। वस्तुतः नज़ीर अकबराबादी इस काव्यविधा के सबसे बड़े हिंदी कवि हैं, पर शुक्ल जी ने यह श्रेय उन्हें नहीं दिया है। शुक्ल जी के अनुसार प्रतापनारायण मिश्र ने अपने लिए इस विधा का चयन किया।''

सांकृत जी नज़ीर को जनकवि बताते हुए उनकी तुलना कबीर से करते हैं। वे आचार्य शुक्ल द्वारा की गयी नज़ीर की उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'बहुत दिनों तक आचार्य शुक्ल की यह धारणा बनी रही कि खड़ी–बोली कविता का माध्यम नहीं बन सकती' शुक्ल जी द्वारा कबीर की उपेक्षा का कारण भी उन्होंने कुछ हद तक यही माना है और नज़ीर की उपेक्षा को भी वे शुक्ल जी की 'शिष्ट साहित्य' की अवधारणा से जोड़ते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है की सत्यकेतु सांकृत ने भी नज़ीर पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने का प्रयास किया है। स्पष्ट है कि हिंदी आलोचना और इतिहास में नज़ीर पर बहुत कम चर्चा हुई है। गार्सा–द–तासी से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक हिंदी साहित्य के इतिहास में नज़ीर की उपस्थिति तो मिलती है किन्तु यह उपस्थिति उनके आंशिक साहित्य अर्थात उनकी कुछ–एक रचना के आधार पर ही। उपर्युक्त इतिहासकारों के समक्ष संभवतः नज़ीर के सम्पूर्ण साहित्य का अभाव रहा होगा। यही कारण है कि इन इतिहास ग्रंथों में नज़ीर से सम्बन्धित सूचनाएं भ्रामक हैं। प्रायः इतिहास ग्रंथों में तो उनकी रचनाओं के नाम भी नहीं मिलते। नज़ीर से संबंधित प्रामाणिक सूचनाएं केवल बच्चन सिंह के यहाँ मिलती हैं, चाहे वह रचनाकाल से संबंधित सूचना हो या उनकी रचनाओं से संबंधित हो। 'मिश्रबंधु–विनोद' में तो नज़ीर का समय और रचना दोनों ही भ्रामक है।

हिंदी के आरंभिक इतिहास में नज़ीर की उपस्थिति प्रायः दर्ज है, इसका एक–मात्र अपवाद 'शिवसिंह–सरोज' है। शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास में नज़ीर का उल्लेख नहीं किया है। आचार्य शुक्ल के बाद के इतिहासकारों में बच्चन सिंह के अतिरिक्त अन्य किसी इतिहास में नज़ीर का उल्लेख नहीं मिलता। न डॉ. नगेंद्र के यहाँ और न ही रामस्वरूप चतुर्वेदी के यहाँ। हिंदी के लोकवादी इतिहासकार माने जाने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि भी नज़ीर पर नहीं जाती। नवीन इतिहासकारों में नज़ीर की उपेक्षा एक गंभीर दोष है। क्योंकि यह केवल नज़ीर की उपेक्षा नहीं है अपितु यह मेल–जोल की उस पूरी संस्कृति की उपेक्षा है, जिसे हम सामासिक अथवा साझी संस्कृति कहते हैं तथा इसके सबसे बड़े नायक नज़ीर हैं। उस काल विशेष में उस प्रगतिशीलता की उपेक्षा की गयी जो आज कविताओं में खोजी जाती है और सबसे महत्वपूर्ण उस साधारण जन–जीवन की उपेक्षा की गयी, जिसकी अभिव्यक्ति नज़ीर की कविताओं में मिलती है।

वस्तुतः यह प्रश्न उपस्थिति–अनुपस्थिति का नहीं है यह प्रश्न इतिहास बोध का है। प्रश्न साहित्य–विवेक का है। इतिहास में नज़ीर की उपेक्षा कोई साधारण बात नहीं है ठीक उसी तरह जैसे कबीर और मीरा की उपेक्षा साधारण बात नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद पर व्यवस्थित रूप में बात नहीं होती है मीर पर बात नहीं होती है वली दक्कनी पर बात नहीं होती। यह कोई साधारण बात नहीं है। ये महज एक इत्तेफाक नहीं है कि आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे ही मुसलमान कवि मौजूद हैं जिनका झुकाव हिन्दू संस्कृति की ओर है। चाहे हम रहीम और रसखान की बात करें या जायसी की। नज़ीर की उपस्थिति भी आचार्य शुक्ल के इतिहास में इसी वजह से है। क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल ने नज़ीर की चर्चा करते हुए वे ही पद प्रस्तुत किए जिनका संबंध कृष्ण से है। नज़ीर ने 'रोटीनामा' लिखा 'आदमीनामा' लिखा 'आटे दाल का भाव' लिखा 'रूपये की फिलासफी' लिखी 'पेट की फिलासफी' लिखी किन्तु इन सब पर

बात नहीं होती है। समस्या यहाँ है। आचार्य शुक्ल स्वयं कहते हैं "सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूंढा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल व मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुंह में चारा डालते हुए परिवारों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में भी कभी–कभी सौन्दर्य के दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।" नज़ीर की कविताओं में 'कौए और हिरण की दोस्ती' है, 'रीछ का बच्चा' है 'गिलहरी का बच्चा', 'बुलबुलों की लड़ाई', 'आगरे की तैराकी', 'आगरे की ककड़ी' आदि ऐसी कविताएँ है जो महलों और दरबारों के चमत्कारिक और सौंदर्यपूर्ण काव्य–विधाओं से कोसों दूर है। ऐसे में क्या कारण हो सकते हैं कि नज़ीर को हिंदी आलोचना और इतिहास में इस तरह भुला दिया गया? क्या आलोचकों की दृष्टि के आगे रीतिकाल की प्रवृत्ति हावी हो गई? क्या रीतिकाल का युगबोध आलोचकों को नज़ीर के साहित्य की ओर जाने से रोकता है? या रामचंद्र शुक्ल का अनुकरण करते हुए आलोचकों की दृष्टि, धारा–विशेष से अलग हटकर रचने वाले साहित्यकारों की ओर नहीं गयी। या उर्दू साहित्य में भी होने के कारण हिंदी आलोचना नज़ीर की ओर से विमुख हो गयी? संभवतः शुक्ल जी के यहाँ मज़हब का भी कुछ महत्व था अन्यथा जायसी के सन्दर्भ में वे यह नहीं कहते – ''इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ, हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता के साथ कहकर...''।

यदि रीतिकालीन प्रवृत्ति के हावी होने की बात है तो रीतिमुक्त कविता का विधान किस लिये था? वास्तव में बात यह है कि हिंदी के इतिहासकार, वैसी रचनाशीलता जो दोनों तहजीबों के बीच कोई सेतु बनाती है, को समझने के लिए तैयार नहीं थे और यह बात केवल हिंदी में नहीं है अपितु उर्दू साहित्य का भी यही हाल है। स्वाधीनता आंदोलन की इसी पृष्ठभूमि में ही हमारा इतिहास बोध विकसित हुआ, नवजागरण की पृष्ठभूमि भी यही थी। सन् 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने हिन्दू–मुसलमानों में फूट डालना आरंभ किया। इसका प्रभाव हमारे इतिहास बोध पर भी पड़ा। हिंदी–उर्दू के साहित्य में भेद की नींव ग्रियर्सन ने रखी–

बाद के इतिहासकार भी उनका अनुकरण करते चलते हैं। शुक्ल जी भी अपने इतिहास ग्रंथ में हिंदी–उर्दू पर टिप्पणी करने से बच नहीं पाते। उनका मानना है कि ''यदि शब्दावली की भिन्नता नहीं होती तो हिंदी उर्दू का साहित्य एक होता'' वास्तव में शुक्ल जी को यहाँ यह समझना चाहिए कि शब्दावली की भिन्नता तो मैथिली और अवधी के साथ भी है क्या इन दोनों का साहित्य एक नहीं है? हिंदी–उर्दू पर शुक्ल जी का यह कथन भी देखिये ''हम भोली–भाली जनता को इस हिन्दुस्तानी से सावधान करना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है।'' वास्तव में ये विचार इतिहास लेखन के क्रम में भी हावी थे। यह समस्या हिंदी–उर्दू के लगभग इतिहासकारों के साथ रही है।

संक्षेप में हम कहेंगे कि हमारा जो इतिहास–बोध विकसित हुआ उसकी ज़मीन नफरत की ज़मीन थी जो ब्रिटिश–कालीन भारत में तैयार हुई है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यह एक गहरा घाव था जिसने हमारे समाज में, हमारी संस्कृति में, हमारी भाषा में भेद पैदा कर दिया। इसी अलगाववाद का शिकार हमारी आलोचना दृष्टि हुई और इसने हमारे इतिहास–बोध को भी प्रभावित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो

लोग दोनों संस्कृतियों को जोड़ कर देखते थे अथवा इन दोनों संस्कृतियों में फर्क नहीं समझते थे उन्हें नजरंदाज किया गया। नज़ीर भी इसका शिकार हुए हैं। नज़ीर हिंदी के कवि हैं इसमें कोई दो राय नहीं है ठीक उसी तरह जैसे जायसी, तुलसी और भारतेंदु हिंदी के कवि हैं। नज़ीर, भारतेंदु के अग्रज हैं अतः हिंदी कविता में आधुनिकता का प्रस्थान नज़ीर से माना जाना चाहिए। उनके यहाँ मार्क्स से भी पहले प्रगतिशील स्वर की झलक मिलती है। हिंदी साहित्य के इतिहास में यदि नज़ीर को नहीं समझा गया तो वास्तव में उस सांस्कृतिक संगम को, उस लगाव को नहीं समझा गया। वास्तव में यह नज़ीर की या उनके साहित्य की कमजोरी नहीं है। ये कमजोरी हमारे इतिहास लेखन की है, हमारी आलोचना दृष्टि की है। अतः यदि हिंदी साहित्य का एक मुकम्मल इतिहास लिखना है तो हमें हिंदी–उर्दू दोनों को साथ लेकर चलना होगा।

संदर्भ :

- गोरखपुरी, फ़िराक़, नज़ीर की बानी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृष्ठ संख्या संख्या– 8–9
- सिंह, डॉ. प्रभाकर, रीतिकाव्य मूल्यांकन के नए आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृष्ठ संख्या – 284
- http://www-hindisamay.com/content/7309/1/रचनाकार–सत्यकेतु–सांकृत–की–आलोचना–साझी–विरासत–का–प्रथम–आधुनिक–हिंदी–कवि–नज़ीर.cspx
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; चिंतामणि; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 2015; पृष्ठ संख्या – 108
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 2014, पृष्ठ संख्या – 89
- Grierson, George A., The Modern Vernacular Literature of Hindustan, Asiatic Society Calcutta, 1889, Preface (vii-viii)
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 2014, पृष्ठ संख्या – 58
- सिंह, ओमप्रकाश; आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2007; पृष्ठ संख्या – 72

छत्तीसगढ़ के मौखिक स्रोतों में गांधी दर्शन

डॉ. सरिता साहू

सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी के छत्तीसगढ़ में साक्षरता का प्रतिशत नाम मात्र था । तत्कालीन छत्तीसगढ़ की जनसंख्या का एक बड़ा भाग ग्रामों में निवास करता था । किन्तु समृद्ध परंपराओं के कारण यहाँ के निवासी व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण एवं आर्थिक रूपसे संपन्न थे । छत्तीसगढ़ में घटित अंग्रेजी विरोधी घटनाओं पर गौर करें तो राष्ट्रीय चेतना जागृत होने व इसके व्यापक प्रचार प्रसार का प्रमुख साधन यहाँ की परंपराएं रही हैं । यहाँ की जनता को जागृत करने में लोकगीतों, लोकनाट्यों व परंपराओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । संचार के साधनों के कमी के कारण कांग्रेस की शुरुआती गतिविधियाँ मात्र जिला मुख्यालयों तक सीमित थी किन्तु कालान्तर में पारंपरिक ददरिया, छेरछेरा, करमा गीत, सुआ गीत, नाचा आदि के माध्यम से गांधीजी के सत्याग्रही विचार एवं अंग्रेज विरोधी भावनाओं का प्रचार प्रसार सरगुजा से लेकर सुदूर बस्तर तक हुआ । इस माध्यम ने ग्रामीण जनता की भावनाओं को झकझोर कर उनके राष्ट्रीय आंदोलनों में भागीदारी को सुनिश्चित किया। समय के प्रवाह में कुछ वाचिक परंपरा से प्राप्त स्रोत प्रासंगिक नहीं रहने के कारण विस्मृत हो गए हैं । किन्तु कुछ स्रोतों के संग्रहण व संरक्षण का कार्य हमारे वरिष्ठजनों ने बखूबी किया । इन स्रोतों के अध्ययन से स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में यहां की परंपराओं का महत्वपूर्ण स्थान था । इस शोध पत्र मं उन्हीं समकालीन स्रोतों की महत्ता एवं उपादेयता के आकलन का प्रयास किया गया है।

छत्तीसगढ़ में अंग्रेजों का प्रत्यक्ष प्रभाव सन 1818 के तृतीय आंग्ल मराठा युद्ध के पश्चात पड़ना शुरू हुआ । इसके साथ ही मराठों का प्रभाव व दिल्ली फतह की उनकी महत्वाकांक्षा लगभग समाप्त हो गई । तदन्तर नागपुर के तत्कालीन नरेश अप्पाजी द्वारा अंग्रेजों के साथ की गई अपमानजनक संधि के अनुसार छत्तीसगढ़ का एक बड़ा भूभाग सरगुजा सीधे-सीधे अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया ।[1] अंग्रेजों ने परसों जी के अल्प वयस्क पुत्र रघु जी तृतीय को राजा बना कर संपूर्ण नागपुर राज्य का शासन अपने हाथों में ले लिया । इस प्रकार तत्कालीन छत्तीसगढ़ जो नागपुर मराठा राज्य का ही एक भाग था अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया अंग्रेजों ने अपने अधिकृत क्षेत्रों का भरपूर शोषण किया और यहां की संपन्नता को लूटने में कोई कसर नहीं छोड़ी । रघु जी के वयस्क होने के पश्चात अंग्रेजों ने संधि के अनुसार उन्हें मराठा राज्य सन् 1830 में विभिन्न चरणों में सौंपा ।[2] डलहौजी की विलय नीति का प्रभाव नागपुर राज्य में भी

पड़ा इस राज्य के अंतिम मराठा शासक रघु जी तृतीय की 11 दिसंबर 1853 में मृत्यु हो गई ।[3] निःसंतान होने के कारण, उनके मौत के पश्चात संपूर्ण नागपुर राज्य अंग्रेजों द्वारा हड़प ली गई। वस्तुतः भारत में अंग्रेज व्यापारी बनकर आए थे । व्यापार की आड़ में धीरे-धीरे उन्होंने पूरे भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था। स्थानीय राजाओं को हटाकर वे भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना करने में कामयाब हुए । इस असंतोष की भावना का चित्रण अधोलिखित ददरिया की पंक्तियों में मिलता है :-

आइस विलायत ले, करीन रोजगार। झट राजा बन बैठिन, कहां के हकदार।। [4]

अंग्रेजों ने यहाँ की धन संपदा को मनमाने तरीके से लूटा । लोगों पर तरह-तरह से अत्याचार किये । भारतीयों के मान-सम्मान को उन्होंने अपने पैरों तले कुचल दिया । अहीर जाति द्वारा गाए जाने वाले बाँसगीत में भी इन आहत भावनाओं के दर्शन होते हैं :-

गै राजा रजवाड़े भाई हो, अउ गए परजा के फेर मान हो।

आ गए राज फिरंगी के भाई, फेर धरसा में बोजागे धान हो। [5]

बांस गीत के इस दोहे में कहा गया है कि राजा और उनके राज समाप्त हो गए हैं। प्रजा का मान भी नष्ट हो गया है, अब हमारा धान फिर गढ्ढे में चला जाएगा अर्थात् अंग्रेज हमारा सब अन्न लूट लेंगे और अपमान भी करेंगे। दो पंक्तियों का यह बांसगीत, छत्तीसगढ़ की जनता की गुलामी का दर्द बयान करने में सक्षम है । अंग्रेजी शासनकाल में मंहगाई के कारण आम जनता त्रस्त थी इसका प्रभाव सुदुर वनवासी अंचलों में भी पड़ा । हल्बी बोली के गीतों में इसका चित्रण कुछ इस प्रकार मिलता है -

अंगरेज राज कंगाल होली, गोटक रुपिया चाउर सोली। [6]

(अंग्रेजो के राज्य में हम कंगाल हो गये। एक रुपये में हम सोली चाँवल कैसे खरीदें।)

मराठों के पतन के साथ ही सन् 1853 से छत्तीसगढ़ भी अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया । यहाँ के भोले-भाले नागरिकों पर कर का बोझ लादने एवं स्थानीय देवी देवताओं, स्थापित परंपराओं व सम्माननीय व्यक्तियों की अवहेलना के कारण छत्तीसगढ़ की जनता भी अंग्रेजी राज्य से असंतुष्ट थी । उन्हें ऐसा लगने लगा कि अंग्रेज हैजे की बीमारी की तरह द्रुत गति से फैलकर सोनचिरैया कहलाने वाली हमारी मातृभूमि को मिट्टी का बना दिए हैं । अंग्रेजों के इस प्रकार के शोषण का उल्लेख छत्तीसगढ़ी ददरिया में मिलता है-

धुंकी साही अंग्रेज, भुइयाँ म छाइगे। सोना के चिरईया माटी के होइगे।। [7]

(इस धरती पर अंग्रेज हैजे की बीमारी की तरह फैल गये हैं हमारी मातृभूमि जो सोने की चिड़िया कहलाती थी आज मिट्टी की हो गई है।)

उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध, भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शाखाएं अब पूरे भारत में फैल गई थी । 13 अप्रेल सन् 1919 को हुई जालियांवाला बाग नरसंहार की घटना ने पूरे भारत को झकझोर दिया था । इसी समय गांधीजी कांग्रेस के महानायक के रूप में उभरे । गांधीजी के विचारों को भारत की जनता ने बहुत ही ध्यान से सुना और उसका अनुकरण भी किया । छत्तीसगढ़ की जनता भी गांधीजी के विचारों से ओतप्रोत हुई, जो यहाँ के लोकगीत ददरिया में भी दिखाई दिया।

लाए ला माटी बनाए ला मटका। गांधी बबा के कहे ठौका-ठौका ।। [8]

(जिस प्रकार मिट्टी लाकर कुम्हार मटका बनाता है । उसी तरह हमने अपना बल, बुद्धि, विवेक गांधी के चरणों में समर्पित कर दिया है। गांधीजी सत्य के पुजारी हैं वे सहीं सहीं कहते हैं।)

गांधीजी मात्र स्वतंत्रता संग्राम सेनानी नहीं थे । सहीं मायनों में वे उच्चकोटि के राजनैतिक, संत, महान समाज सुधारक, अर्थशास्त्री, पंचायती राज के हिमायती, पथ प्रदर्शक, साहित्यकार के साथ ही महान विचारक एवं युगदृष्टा थे । गांधीजी के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय भावना के साथ साथ एक जनचेतना का उदय हुआ । इसलिए सन् 1920 के पश्चात उनकी मृत्यु तक का काल गांधी युग के नाम से जाना जाता है । गांधीजी ने भारत की पराधीनता के साथ- साथ यहाँ फैली विभिन्न प्रकार की कुरीतियों पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया । गांधी जी की ये विशेषता खेतों और खलिहानों में भी गूंजने लगी।

आमा रे आमा, आमा के चानी। बाबा गॉधी, भारत माता के दरद जानी।। [9]

राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में गांधीजी के तीन महत्वपूर्ण आंदोलनों ने जनव्यापी आंदोलन बनकर ब्रिटिश सत्ता की नींव हिला दी । सन् 1920 का असहयोग आंदोलन, 5 अप्रेल सन् 1930 का सविनय अवज्ञा आंदोलन, 8 अगस्त सन् 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन प्रमुख हैं। सन् 1920 का असहयोग आंदोलन की उद्घोषणा से ठीक एक सप्ताह पूर्व कंडेल सत्याग्रह में भाग लेने गांधीजी 20 दिसंबर सन् 1920 को पहली बार छत्तीसगढ़ आए। [10]

गाँधीजी के छत्तीसगढ़ आगमन से ही यहाँ की राजनीति व लोकसंस्कृति गांधीमय हो गई। यहाँ की जनता ने उनके चमत्कारिक व्यक्तित्व व सादगीपूर्ण जीवन को बहुत ध्यान से देखा।

उन्होंने महसूस किया कि गांधीजी के रायपुर में चरण पड़ते ही गोरी हुकुमत ने किसानों की कुर्क की गई संपदा एवं पशुधन निःशर्त वापस की । ब्रिटिश सरकार ने किसानों के ऊपर आरोपित सभी प्रकरणों को एक तरफा समाप्त करने का निर्णय लिया।

सत्य की सदैव जीत होती है तथा अहिंसा के द्वारा कठिन से कठिन लड़ाई भी जीती जा सकती है । छत्तीसगढ़ की जनता ने गांधीजी के इन संदेशों का प्रभाव भंली भांति देखा । गांधीजी छत्तीसगढ़ से सीधे कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने नागपुर पहुंचे । उनके विचारों से ओतप्रोत यहाँ के अनेंक नेतागण भी उनके साथ नागपुर अधिवेशन में भाग लेने पहुंचे। नागपुर के 35 वें अधिवेशन में असहयोग आंदोलन की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गई |[11]इस अधिवेशन से गांधीजी ने असहयोग आंदोलन की शुरुआत की और सरकारी लगान नहीं पटाने तथा सरकारी उपाधियों के त्याग करने की अपील की । उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का बहिष्कार करने और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया। सत्याग्रह से प्रभावित होकर ठाकुर प्यारेलाल सिंह, पंडित राम नारायण तिवारी ने वकालत एवं पंडित यादव राव देशमुख ने सरकारी नौकरी छोड़ी। वामन राव लाखे, कल्याणजी मोरारजी, सेठ गोपी किशन, काजी शमशेर खान ने अपनी उपाधि त्याग दी।[12] विधानसभा का बहिष्कार भी तीन बार यहाँ के लोगों के द्वारा की गई जो सत्याग्रह की सफलता का पर्याय है । असहयोग आंदोलन में बस्तर के लोगों की सहभगिता रही जो निम्न हल्बी गीत से स्पष्ट है।

असहयोग करुंदे, सत्याग्रह करुंदे,

बिगर हथयार, धरम लड़ई आमी लड़ुंदे, दखेदे संवसार ।

(हम असहयोग करेंगे। सत्याग्रह करेंगे। बिना अस्त्र-शस्त्र के लड़ेंगे। यह हमारा धर्मयुद्ध होगा। सारा संसार इसे देखेगा।)

इस आंदोलन मेंगॉधीजी ने राष्ट्रीय पंचायतों की स्थापना पर जोर दिया ।[13] धमतरी क्षेत्र में इस प्रयास को बहुत अच्छा प्रतिसाद मिला । रायपुर शहर में राष्ट्रीय पंचायत का संगठन 4 मार्च सन् 1921 को किया गया ।[14] कांग्रेस के आव्हान के अनुसार शासकीय कोर्ट का बहिष्कार कर राष्ट्रीय पंचायतों में प्रकरण निपटाने का प्रयास किया गया । इस भावना से ओतप्रोत हल्बी भाषा के गीत मिलते हैं-

इरखा कुचुर बाहिर डाला, सबके मिलावा,

गांव चो झगड़ा गांव टूटो, पंच वसावा । हो पंच वसावा। छेर छेर।[15]

(ईर्ष्या-द्वेष की भावना को समाप्त करने के लिए, व झगड़ा-फसाद के निपटारे के लिए पंचायत की स्थापना हो। छेर छेर।)

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार भी असहयोग आंदोलन की एक प्रमुख कड़ी थी । ब्रिटिश कपड़ा मिलों में तैयार होने वाले आकर्षक वस्त्र भारतीय जनता के मध्य प्रचलित था । ये कपड़े दिखने में आकर्षक होने के साथ-साथ सस्ते भी थे । अंग्रेजों के लिए यह राजस्व प्राप्ति का बड़ा साधन था । गांधीजी के अनुरोध से यहाँ विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने, विदेशी कपड़ों की होली जलाने एवं खादी अपनाने के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

खेलत है लछिमन जती हो, राम जी धनुषधारी।

सब कपड़ा ले कते कपड़ा भारी हो,राम जी .....

सब कपड़ा ले खादी कपड़ा भारी हो, राम जी। [16]

छत्तीसगढ़ की महिलाओं में डॉ राधा बाई, मनटोरा बाई, अंजनी बाई, केतकी बाई, फूलकुंवर, रुक्मणी बाई आदि ने विदेशी सामानों के बहिष्कार हेतु अनेक आम सभाएं एवं आंदोलन की । जगह-जगह सूत कातने का प्रशिक्षण दिया जाने लगा। लोग विदेशी कपड़ों की वस्तुओं को त्यागने लगे । महिलायें मंदिर में एकत्रित होती तथा वहाँ वे धर्म-कर्म की चर्चा के साथ सत्याग्रह और देश-विदेश में होने वाले इस तरह के आंदोलन की चर्चा भी करती थी । वे सलाह मशवरा करती थी कि विदेशी वस्त्रों की होली कहां पर जलाए जहां विदेशी वस्त्र बिकते थे वहां सभी महिलाएं दुकान के सामने जाकर लेट जाती थी और कहती थी कि यदि विदेशी वस्त्र आपको खरीदना है तो हमारे ऊपर से चलकर आप विदेशी वस्त्र खरीदें । हमारी भारतीय संस्कृति में महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यहां पर उनकी जीत हुई । वे विदेशी वस्त्र बेचने वाले दुकानदारों से भी निवेदन करती थीं कि वह विदेशी वस्त्रों को ना बेचें। कई जगह दुकानदारों ने उनकी बात मानकर विदेशी वस्त्रों की बिक्री बंद कर दी । इसके साथ ही यहां स्वयं सेवकों द्वारा जगह-जगह चरखों से सूत कातने का प्रशिक्षण भी दिया गया । इन प्रयासों से यहां के लोग विदेशी कपड़े की जगह खादी अपनाने लगे।17 लोकगीत ददरिया में भी खादी अपनाने एवं इसके प्रचार की बात निम्नानुसार दिखाई देती है-

नानकुन छोकरा पहिरे ला पागी, गांधी बबा के कहे पहिरबो खादी।[18]

(छोटा बालक पगड़ी पहनकर कहता है। गाँधी बाबा के कहने से मैं खादी पहन रहा हूँ।)

मद्य निषेध भी इस आंदोलन का एक महत्वपूर्ण भाग था । मद्य निषेध छत्तीसगढ़ में अत्यंत प्रभावी रहा । सन 1921 में स्थिति देखने में आई कि रायपुर में शराब, गांजा, अफीम जैसे नशीले पदार्थों की बिक्री हेतु नीलामी बोलने के लिए कोई भी आगे नहीं आया। मद्य निषेध के प्रभाव का इससे भी आकलन किया जा सकता है कि यहां बसने वाले कलार, जिनका पारंपरिक व्यवसाय शराब उत्पादन व विपणन है । इन्होंने भी अपना परंपरागत व्यवसाय छोड़कर गांधी जी के आंदोलन को पूरा सहयोग दिया । बस्तर के लोक जीवन में शराब अनेक धार्मिक व दैनिक क्रियाकलापों के लिए आवश्यक पदार्थ है । किंतु वनवासी भाइयों ने भी असहयोग आंदोलन को सफल बनाने मद्य निषेध को स्वीकार किया था।

मतवार भाई मंद चो भाटी, देहे चो भाटी काजे।

घुरुन पड़ले घसरी जीविस, जीव माया चो राजे, भगति भाव ने जा

ए हिड़तो बीता, झपके झपके पॉव बढ़ाठन जा।।[19]

(शराबी भाई, शराब की भट्टी से मोह छोड़, राष्ट्रप्रेम कर।)

चौरी चौरा कांड के पश्चात असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया, जिसका पालन छत्तीसगढ़ में भी हुआ । इसके पश्चात् झंडा सत्याग्रह के तहत् सन् 1923 में चरखे युक्त तिरंगे झंडे को कांग्रेस ने अपने प्रतीक के रूप में चिन्हित किया । तदन्तर प्रत्येक कांग्रेसी सभा व जुलुस में झण्डा लेकर कार्य करने की परंपरा शुरू हुई। छत्तीसगढ में झंडा सत्याग्रह का पालन कर अनेक सत्याग्रहियों ने हाथों में झंडा लेकर जुलुस निकाला । झंडा सत्याग्रह का भाव यहाँ की प्रतिनिधि लोकगीत ददरिया में निम्नानुसार प्रकट हुआ -

गोरी के अचरा भुइयाँ म झूले, गाँधी जी के झंडा दुनिया म फिरे। [20]

सन 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन नें भी छत्तीसगढ़ में गहरी छाप छोड़ी । सरकारी कानूनों की अवहेलना कर यहां की जनता नें गिरफ्तारी दी । गटासिल्ली, महासमुन्द, दुर्ग, बिलासपुर व रायपुर में भी सरकारी कानून तोड़ने के आरोप में बहुत से राष्ट्रप्रेमी गिरफ्तार हुए।

दिया मांगे बाती, बाती मांगे तेल। सुराज लेबो अंग्रेज, कतेक देबे जेल।।

(दीप को जलाने के लिए दीपक और तेल की आवश्यकता होती है । अग्रेजों हम स्वराज लेकर रहेंगे, चाहे जितना जेल में डाल दे।)

छत्तीसगढ़ में कुछ सत्याग्रही पुलिस की बर्बरता के भी शिकार हुए । कुछ लाठियों व पुलिस गोली से शहीद भी हुए किन्तु इनका हौसला कम नही हुआ । इसी दौरान यहां सत्याग्रही

आश्रम की भी शुरूआत हुई । इस आश्रम के माध्यम से 1 सप्ताह के प्रशिक्षण के पश्चात सत्याग्रही गांधी टोपी पहनकर व तिरंगा झंडा लेकर राष्ट्रीयता का प्रचार करते थे । इस क्षेत्र में गांधी टोपी पहनने का पर्याय सत्याग्रह से होता था।

बागे बगीचा दिखे ल हरियर। टोपी वाला नइ दिखे बदे हौं नरियर।।

(बगीचा हरियाली से भरा हुआ है । नारियल की मनौती मानकर टोपी वाले (सत्याग्रही) की राह देख रही हूँ ।)

द्वितीय गोलमेज परिषद की असफलता के पश्चात मैकडोनाल्ड ने सन 1932 में कम्युनल अवार्ड की घोषणा की।21 इस घोषणा के विरोध स्वरूप गांधी जी ने सन् 1932 में अछूत उद्धार कार्यक्रम की शुरूआत की । इस सिलसिले में गांधीजी 22.11.1933 से 28.11.1933 तक छत्तीसगढ़ में रहे । अपने द्वितीय प्रवास में गांधी जी ने अस्पृश्य बंधुओं को हरिजन कहकर जातीय भेदभाव समाप्त करने की अपील की । हालांकि यह पता चलने पर की पं सुंदरलाल शर्मा छत्तीसगढ़ में अछूतोद्धार का कार्य कर रहे हैं, गांधी जी ने बड़ी ही बेबाकी से कहा कि इस दिशा में मैं शर्मा जी को अपना गुरु मानता हूं ।22 तत्कालीन परिदृश्य में लोकनाट्य ने भी इस भावना के संप्रेषण में अहम भूमिका निभाई । गम्मत (नाचा का एक नाटकीय भाग) की प्रस्तुति के माध्यम से छुआछूत मिटाने की अपील भी की जाती थी । सन् चालीस के दशक में जब पूरा देश द्वितीय विश्वयुद्ध की आग में जल रहा था । तब दाऊ मंदराजी ने अपनी रवेली नाचा पार्टी में राष्ट्रवादी गीतों तथा ब्रिटिश सत्ता की क्रूरता को नाचा के कथानक का विषय बनाया । उनका यह प्रयास भी जनमानस को आंदोलित कर राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में सफल रहा । इन कारणों से एक बार ग्राम-आमदी, जिला-दुर्ग में रवेली नाचा पार्टी के कार्यक्रम को अंग्रेजी पुलिस बंद करवाने भी आई थी।

जात खातिर कतेक तोर गुमान रे ओ बइहा,
कुकुर बिलई घर में पोसे, नइ गइस तोर जात,भाई-भाई के मार-पीट में, लगथे तोला भात।।
पनही पहिरे, चाहा पीथैं, अउ रोटी-भात खाथैं,कइसन बाम्हन होटल में हे, पूछे कउन जाथैं।।
मुर्रा भजिया रोटी चना, हाट-बाट में खाथै,बेचइया मन कउन जात हे, पूछे कउन जाथैं।।
महापरसाद ल जम्मों मन, जगन्नाथ में खाथैं, मानुस चोला एकेच हावै, गॉधीजी बताथै।। [23]

गांधीजी ने रायपुर में रहकर मंदिरों के दरवाजे अछूतों के लिए खोलने का आग्रह किया । उनके इस प्रयास को यहाँ की जनता ने गंभीरता से लिया और अनेक मंदिर हरिजनों के लिए

खोले गए । यहाँ गांधी जी ने हरिजनों से भी जीवन स्तर ऊंचा उठाने का आग्रह किया । गांधी जी के इन प्रयासों से अब छत्तीसगढ़ का कोई भी मंदिर या देवालय ऐसा नहीं है जहां हरिजनों का प्रवेश नहीं हो सकता है।

सन 1942 में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' की शुरूआतकी और द्वितीय विश्व युद्ध में भारतीयों को भेजे जाने का भी विरोध किया । गांधीजी ने इस अवसर पर देश को नया नारा दिया-

ब्रिटिश युद्ध प्रयत्न में, जन धन देना भूल है।

सकल युद्ध अवरोध में, सत्य अहिंसा मूल है।।

भारत छोड़ो आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में यहाँ के सैकड़ों नेताओं ने गिरफ्तारियाँ दी । हालांकि इस दरमियान यहाँ कुछ अविस्मरणीय क्रांतिकारी घटनाएं भी घटीं । छत्तीसगढ़ के लोगों का भी मानना था कि अंग्रेजी हुकूमत ने निर्दोष भारतीयों की हत्या करने उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध में धकेला है। रवेली नाचा पार्टी ने भी इस भावना को गीत के माध्यम से जनजन तक पहुंचाया।

लकड़ी अउ लोहा के गाड़ी बना के, दुनिया ला भरमाई।

अहो अंगरेज के, अहो जरमन के, मातगे हावे लड़ाई।।[24]

(लकड़ी और लोहे की रेलगाड़ी बनाकर तुमने दुनिया को भ्रम में डाल दिया है । जर्मन और अंग्रेज के बीच में घमासान लड़ाई मची है।)

एक अन्य लोक गीत में भी जर्मन के युद्ध में मृत्यु की आशंका बताई गई है।

अरे पानी रे आवै भराई भरना। जरमन के लड़ाई में सबो ल मरना।।[25]

गांधी जी के विचारों से प्रेरित होकर छत्तीसगढ़ की जनता ने उनके सभी आंदोलनों में बढ़-चढ़कर भाग लिया । गांधीजी के आह्वान पर यहाँ के व्यक्तियों ने गिरफ्तारियां दी एवं अपनी उपाधियों का त्याग भी किया । आंदोलन के दौरान कुछ छत्तीसगढ़िया पुलिस की बर्बरता का भी शिकार हुए। उन सभी शहीदों व क्रांतिकारियों पर छत्तीसगढ़ गौरवान्वित है । इन्हीं प्रयासों के कारण भारत भूमि सन 1947 को आजाद हुई । किंतु इस दरम्यान हमें विभाजन का भी दर्द झेलना पड़ा। इस दर्द की प्रतिक्रिया हमारे लोकगीतों में इस प्रकार दिखता हैं:-

गेंयेंव बाजार, बिसायेव गोभी पान।

मै तो गावथौं ददरिया, झन जाबे पाकिस्तान।।

उपरोक्त तथ्यपरक विवेचना से मैंने इस शोधपत्र के माध्यम से ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है कि राष्ट्रीय आंदोलनों में छत्तीसगढ़ के लोगों की भी सक्रिय भागीदारी रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए गाँधी जी के नेतृत्व में किए गए सत्याग्रह एवं अन्य आंदोलनों में इस अंचल के नगरीय, ग्रामीण एवं दूरस्थ वनांचलों में निवास करने वाले जन समुदाय का भी सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था। जन समर्थन के कारण देशभक्ति एवं अंग्रेजी राज्य के विरूद्ध विद्रोह के स्वर लोकनाट्य नाचा व लोकगीतों यथा ददरिया, बांसगीत, छेरछेरा गीत, करमा गीत के माध्यम से छत्तीसगढ़ी व हल्बी-भतरी बोलियों में भी गुंजायमान होकर लोकाचार का अंग बनी। इस तरह राष्ट्रीय चेतना के स्वर यहां की लोक संस्कृति में प्रतिबिंबित हुई है।

संदर्भ

1. वर्मा, भगवान सिंह, छत्तीसगढ़ का इतिहास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1995, पृ. 37
2. जिला गजेटियर बिलासपुर, पृ. 76
3. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, नागपुर, 1955, पृ. 129
4. साहू, सरिता, गांधीयुगीन आंदोलन और छत्तीसगढ़, भिलाई, 2020, पृ. 9
5. तिवारी, रूद्रदत्त, बांसगीतों का लोकतात्विक अध्ययन, बिलासा कला मंच, बिलासपुर, पृ. 119.
6. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, महानदी प्रका., सत्ती बाजार, रायपुर(म. प्र.),पृ. 68,
7. नायक, ठा.भा., छत्तीसगढ़ में गांधी,गांधी शताब्दी समारोह समिति, रविशंकर वि.वि.,रायपुर,1970,पृ. 57.
8. उपरोक्त पृ. 58
9. साहू, सरिता, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक इतिहास, हिन्दी साहित्य सदन, दिल्ली, 2021,पृ.
10. कर, चित्तरंजन,छत्तीसगढ़ के गॉधी प. सुदंरलाल शर्मा,रायपुर,2004, पृ.17
11. पी.सी.बम्फोर्ड, हिस्ट्रीज ऑफ द नॉन कोआपरेशन एण्ड खिलाफत मूवमेंट्स, पृ. 17
12. साहू, सरिता, वही, पृ. 238
13. नायक, ठा. भा., वही, पृ.घ
14. शर्मा, अरविन्द, वही, पृ. 122-23
15. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, वही, पृ. 75
16. परमार, नारायणलाल, छत्तीसगढ़ी लोकगीतो की भूमिका, पहचान प्रकाशन, रायपुर, 2000, पृ. 31
17. साहू, सरिता, गांधीयुगीन आंदोलन और छत्तीसगढ़, भिलाई, 2020, पृ. 40
18. नायक, ठा. भा., वही, पृ. 58
19. शुक्ल, हीरालाल, बस्तर के वनवासी गीतों में गांधी, वही, पृ. 53
20. नायक, ठा. भा., वही, पृ. 58
21. अग्रवाल,किशोर कुमार, बीसवीं शताब्दी का छत्तीसगढ़, वैभव प्रका.,रायपुर, 2006,पृ. 167
22. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, जीवनी खंड, पृ. 28
23. साव, खुमान (लोक संगीतकार), ग्राम-ठेकवा, राजनांदगांव, साक्षात्कार, दिनांक 23.02.2012 का अंश।
24. साहू, सरिता, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक इतिहास, वही, पृ. 249
25. साव, खुमान (लोक संगीतकार), ग्राम-ठेकवा, राजनांदगांव, साक्षात्कार, दिनांक 23.02.2012 का अंश।

"संभाषण कुशलता और सफलता के द्वार"

डॉ.उमेंद कुमार चंदेल

संभाषण-कुशलता अथवा बातचीत करने की शैली के कारण मनुष्य जीवन में सफलता के कई द्वार स्वतः खुल जाते हैं। पंडित माधव राव सप्रे जी को सामान्य पाठक जन एक कहानीकार एवं विख्यात पत्रकार के रूप में जानते हैं लेकिन 'सप्रे' जी एक कुशल निबंधकार भी हैं। इनके निबंधों में व्यावहारिक ज्ञान एवं नैतिकता का समर्थन दिखाई पड़ता है। बिना व्यावहारिकता एवं नैतिकताके बिना मनुष्य अपने जीवन रूपी सागर में सफल हो जाए यह दुष्कर है। निबंधों की इसी क्रम में इनका संभाषण-कुशलता नामक निबंध को इस लेख के केन्द्र में रखकर चिंतन-मनन किया जाएगा बातचीत या एक-दूसरे से सम्पर्क करने के लिए हम किस प्रकार की बातों का प्रयोग करे इस पर सप्रे जी के विचार दृष्टव्य है- "संभाषण अथवा परस्पर बातचीत वह कुँजी है जो हृदय के खजाने को खोलकर समाज के सामने परीक्षण के लिए रख देती है।"[1]

इस कथन के माध्यम से पता चलता है कि मनुष्य की बोलचाल, हावभाव यह सब बताने के लिए पर्याप्त है कि वह व्यक्ति कितना प्रभावशाली है। अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न अवसरों पर अपने आप को प्रस्तुत करने के लिए बातचीत का ही सहारा लेते हैं और उस व्यक्ति की पहचान उसकी शैली के चलते हो जाती है। "हम किसी लेखक की इस या उस रचना से प्रभावित होकर उसे ऊँचा स्थान नहीं देते, रचनाओं के साथ उस रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व जुड़ा होता है, उसी व्यक्तित्व में से ये रचनाएँ जन्म लेती है।"[2]

भीष्म साहनी जी ने भले ही यह बात प्रेमचंद जी के लिए कहा हो लेकिन यह बात प्रत्येक रचनाकारों की रचनाओं में देखने को मिलता है। ठीक सप्रे जी भी इन्हीं लोगों में से एक है। "साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है" यह एक कोरी कल्पना या निरर्थक बातें नहीं है। आज के परिवेश में देखे तो साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं पथ प्रदर्शक का कार्य भी बखूबी निभा रहा है। सप्रे जी छोटी-छोटी मगर गंभीर बातों के माध्यम से प्रत्येक क्षण एक नई जानकारी देते हैं और लोगों को समाज में प्रिय या प्रसिद्धि प्राप्त करने के आसान उपायों से अवगत कराते हैं- "जिस मनुष्य को यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि किस मौके पर किस मनुष्य के साथ कैसी बातचीत करनी चाहिए उसके पास एक बड़ा भारी अस्त्र है। यह उस अस्त्र की सहायता से स्वार्थ और परार्थ साधन करके थोड़े ही परिश्रम से समाजप्रिय हो सकता है।"[3] संभाषण-कुशल व्यक्ति अपने लिए सभी जगह एक निश्चित स्थान बनाने में कामयाब रहते हैं। साहित्य मानव जीवन को एक नई दिशा प्रदान करता है और जिस साहित्य में मानव कल्याण की बात नहीं होती उसे हजारी प्रसाद द्विवेदी जी साहित्य मानने में ही संशय करते हैं।-

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजीदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[4] द्विवेदी जी के इस कथन और साहित्य का

मानव जीवन पर प्रभाव हम "संभाषण-कुशलता" में स्पष्ट रूप से महसूस कर सकते हैं। सप्रे जी मानव मात्र के कल्याण की बात अपनी प्रत्येक रचनाओं में करते भी हैं। बातचीत करते समय हमें कुछ चीजों से बचने की सलाह इस निबंध के निबंधकार देते हैं। बातचीत करने के दौरान हमें इन दुर्गुणों से बचना चाहिए। किसी व्यक्ति की बातों में हाँ में हाँ हमेशा नहीं मिलाना चाहिए, जहाँ हाँ बोलने की आवश्यकता हो वहाँ, अवश्य बोले लेकिन जहाँ आवश्यक नहीं है गलत शैली का समर्थन नहीं करना चाहिए - "पहला दुर्गुण जो बातचीत करते समय बहुत से मनुष्यों मे देखा जाता है, "जी हाँ का है।"[5]

सप्रे जी इस प्रकार के दोष से बचने के लिए कहते हैं। इसी दुर्गुण को समझाने के लिए कपास रूपी खेत और फसल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लोग किसी व्यक्ति पर इतना विश्वास करते हैं कि उनकी प्रत्येक बातों पर भले ही वह सही-गलत का निर्णय लेने में असमर्थ होते हैं तब भी उनकी बातों पर भरोसा कर लेते हैं, क्योंकि अपने आदर्श के आगे उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता है। पहले दुर्गुण के समान ही दूसरा दुर्गुण भी समाज हित में किसी विस्फोटक से कम नहीं है। कई लोग किसी भी बातों का उत्तर या प्रतिउत्तर कहें, हमेशा नहीं में देते हैं। सप्रे जी इन दुर्गुणों से बचने का आग्रह करते हैं। और हमेशा नकारात्मक बातों या विरोधी प्रवृत्ति को त्याग देने की बात करते हैं- "''किसी-किसी मनुष्य का हर एक बात को "नहीं'' कहने और उसका प्रतिरोध करने का स्वभाव सा हो जाता है।"[6] हमेशा दूसरों की गलती पर ध्यान देने के बजाय उसे सुधारने का अवसर प्रदान करना चाहिए। हमारे समाज में कई लोग ऐसे होते है जो किसी को मौका ही नहीं देते। भले ही उस विषय के प्रति जानकारी या ज्ञान न हो तब भी अपनी राय देने से बाज नहीं आते हैं। ऐसे लोग "अंधों में काना राजा'' वाली कहावत को सत्य सिद्ध करने में लगे रहते हैं, क्योंकि इन लोगों को कम व्यक्तियों के बीच अपनी धाक जमाने में आनंद आता है और सप्रे जी इसे न्यूनांश में रहना पसंद करने वाले लोग बताते हैं- "किसी विषय में अधिकांश विचारशील मनुष्यों की चाहे कुछ भी राय हो परंतु इनकी खिचड़ी अलग ही पका करती है। ये अधिकांश में नहीं बल्कि न्यूनांश में रहना पसंद करते हैं।"[7]

संभाषण के दौरान सप्रे जी इन दुर्गुणों से बचने की सलाह के साथ ही परनिंदा को भी इन दुर्गुणों में शामिल करते हैं और निंदा करने की प्रवृत्ति को त्याग देने के लिए आग्रह करते हुए दिखाई देते हैं। निंदा करने वाले लोगों की वास्तविक स्थिति को बताने के लिए फुटबाल का उदाहरण दिया गया है कि कैसे वह एक-दूसरे से मार खाता है। सप्रे जी बोलते समय नपा-तुला शब्दों का प्रयोग करने के लिए कहते हैं, जहाँ कम बोलने से काम चल सकता है वहाँ अपनी विद्वता व्यर्थ में प्रकट नहीं करना चाहिए। इस बात का प्रमाण शुक्ल जी के इस कथन से मिल जाता है -

"वैर, क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"[8]

इतनी बड़ी और गंभीर बात को रामचंद्र शुक्ल जी ने कितने सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। ठीक इसी प्रकार का उदाहरण साकेत के रचनाकार मैथलीशरण गुप्त जी के इन पंक्तियों में देख सकते हैं -

"अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखो में पानी।"[9]

स्त्री जीवन की पीड़ा एवं व्यथा-कथा का पूर्ण चित्रण उपर्युक्त कथन के माध्यम से हो जाता है। सप्रे जी इन्हीं बातों एवं कथनों पर जोर भी देते हैं कि जब सहज रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है तो व्यर्थ में अपनी बुद्धिमता प्रकट करना मूर्खता है। संभाषण के दौरान सप्रे जी प्रमुख रूप से इन चार बातों पर विशेष ध्यान देने के लिए कहते हैं। बोलते समय लोगों का कर्त्तव्य है कि वह किसी भी बातों के लिए झूठ का सहारा न ले अगर आपकी बातों में सच्चाई है तो लोग आकर्षित हुए बिना रह ही नहीं सकते लेकिन बातचीत करने के दौरान झूठ का सहारा ले रहे हैं तो तात्कालिक लाभ भले ही हो जाए परंतु बाद में लोग आपसे घृणा करने लगेंगे। समय और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बोलना चाहिए - "समय और समाज की आवश्यकताओं के प्रतिकूल कभी कुछ नहीं बोलना चाहिए। प्रचलित विषय पर कुछ बोलना या उसको मनोयोग-पूर्वक सुनना श्रेयस्कर है।"[10]

संभाषण करते समय सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ चीजों को आराम से और आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है वहाँ व्यर्थ में टेढ़ा कथन या चमत्कारिक वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए ऊपर हम कह आए हैं कि शुक्ल जी गंभीर बातों को भी कैसे सरल रूप में प्रस्तुत करते थे। शिष्ट एवं आनंद-वर्धक भाषण-शैली का प्रयोग करने पर सप्रे जी जोर देते हैं। हमेशा नकारात्मक बातें नहीं करना चाहिए इससे आपके आस-पास एक नकारात्मकता का महौल तैयार हो जाता है और लोग इस नकारात्मकता भरी बातों के लिए आपसे दूरी बनाने लगते है - "प्रायः देखा जाता है कि कोई मनुष्य सदा रोगों दुःख और संसार असारता की ही बातें किया करता है अथवा अपने वृथा आडम्बर के नशे में दूसरों की निंदा कर बैठता है।"[11] सप्रे जी के विचार हमारे व्यावहारिक जीवन से सरोकार रखने के साथ ही स्थायी सीख भी देते हैं। परनिंदा पर हम ऊपर विचार कर आए हैं इसलिए अभी इस पर प्रकाश डालना उचित नहीं है। वाक्चातुर्य या संभाषण-कुशलता का लाभ हम इसी से महसूस कर सकते है कि किसी की बातों को हम घंटों सुनते हैं और किसी की बातों से तुरंत उब जाते हैं। सप्रे जी, जीवन में अच्छे मित्रों के चुनाव पर भी जोर देते हुए कहते हैं कि हम जिस प्रकार अच्छी पुस्तकों का चुनाव करते हैं ठीक उसी प्रकार हमें अच्छे मित्रों की संगति करनी चाहिए क्योकिं संगति का असर पड़ता ही है। सप्रे जी जीवन में सफलता प्राप्त करने के अनेक उपाय एक साथ प्रस्तुत करते हैं और गंभीर से गंभीर बातों को सहज रूप में आसानी से समझ आने वाली भाषा का प्रयोग करते हैं।

"बातचीत करने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण नियम यह है कि सदैव सच बोलने का प्रयत्न करो और जो कुछ बोलो उसे शान्ति और विनम्रता के साथ। मृदुभाषण में जादू की शक्ति होती है।"[12]

इस प्रकार हम देखते है कि सप्रे जी संभाषण-कुशलता के माध्यम से प्रत्येक पाठकजन का हर तरह से कल्याण के रास्ते खोलने की बात करते हैं। जो व्यक्ति सत्य के पथ पर अग्रसर है उन्हें किसी भी बातों को चिखकर एवं चिल्लाकर बताने की आवश्यकता नहीं पड़ती वह अपनी बातों को सरल एवं सहज रूप से शांति पूर्वक प्रकट करता है जो बहुत प्रभावी रहता है और लोगों पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। संभाषण-कुशलता के माध्यम से बड़े-बड़े कार्यों को करने में आसानी होती है। संभाषण-कुशल व्यक्ति अपनी कुशलता से शब्दों का प्रयोग और भाषाका प्रयोग कर सकता है। चाहे तो उन्हीं वाक्यों से किसी को बचा सकता है या उन्हीं वाक्यों से पीटवा सकता है।

"नहीं मारो, मत जाने दो''

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. सप्रे माधवराव-संभाषण कुशलता रामजी लाल शर्मा, हिंदी प्रेस-प्रयाग, संवत् 1984 वि. जीवन-संग्राम में विजय - प्राप्ति के कुछ उपाय, पृष्ठ संख्या –96
2. साहनी भीष्म- प्रतिनिधि कहानियाँ- प्रेमचंद राजकमल प्रकाशन- दिल्ली, सोलहवां संस्करण - 2018 भूमिका से ।, 3. सप्रे माधवराव- संभाषण - कुशलता, पृष्ठ संख्या –97
4. द्विवेदी डॉ.मुकुंद - हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-10, राजकमल प्रकाशन - दिल्ली, संस्करण- 2013, पृष्ठसंख्या –2,
5. सप्रे माधवराव- संभाषण-कुशलता, पृष्ठ संख्या - 97,
6. वही पृष्ठ संख्या –98, 7. वही पृष्ठ संख्या –98
8. शुक्ल आचार्य रामचंद्र - चिंतामणि भाग-1 'क्रोध' पंचशील प्रकाशन - जयपुर, संस्करण - 2016 पृष्ठ संख्या –86
9. सिंह बच्चन- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास में उल्लेखित साकेत-मैथलीशरण गुप्त, राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली, बारहवां संस्करण - 2021, पृष्ठ संख्या –315, 10. वही पृष्ठ संख्या –100, 11. वही पृष्ठ संख्या –101, 12. वही पृष्ठ संख्या - 105

संगीत में मार्गदेशीय परम्परा की ऐतिहासिक विवेचना

डॉ. दिवाकर कश्यप

भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'मार्ग' और 'देशी', ये दो शब्द विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं। संगीत की तीनों ही धाराओं में मार्ग और देशी संबंध उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'मार्ग' और 'देशी' संगीत के विषय में प्रायः विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत रहे हैं। साहित्येतिहासकारों ने वेदों के आधार पर 'वैदिक' और 'लौकिक' की चर्चा की है। प्रतीत होता है, कि संगीत में प्रयुक्त 'मार्ग' और 'देशी' संज्ञायें क्रमशः वैदिक और लौकिक की संकल्पना से अनुप्राणित है। इसके समानान्तर लोक में प्रचलित संगीत को लोक-संगीत अथवा 'देशी' संगीत कहते हुए शास्त्रीय संगीत को 'मार्ग' संगीत के रूप में भी स्वीकार किया गया। कुछ विद्वानों के यह भी मत है कि 'मार्ग' संगीत तो अब समाप्त हो गया, जो बचा है और आज व्यवहार में है वही 'देशी' संगीत है। इसी 'देशी' संगीत का जो कुछ भाग शास्त्रबद्ध कर दिया गया, वह 'शास्त्रीय संगीत' के रूप में स्थापित हो गया तथा उसमें से भी जो बच गया, उसे संगीत का 'लौकिक' स्वरूप या 'देशी' कहा गया। वहीं दूसरी ओर, नृत्य से सरोकार रखने वाले कुछ विद्वानों ने शास्त्रीय नृत्य को 'मार्ग' और लोकनृत्य को 'देशी' नृत्य कहते हुए दोनों का सीधा-साधा विभाजन कर संतुष्ट हो गए।

इस प्रकार संगीत के संदर्भ में 'मार्ग' और 'देशी' इन दो भेदों के समानान्तर 'वैदिक' और 'लौकिक' तथा 'शास्त्रीय' और 'लोक' ऐसा विभाजन भी प्राप्त होता है। सर्वप्रथम 'वैदिक' और 'लौकिक' के आधार पर बात करें, तो सीधे और सरल शब्दों में वेदों से प्रभावित या वेदों में संगीत का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उसे 'वैदिक' संगीत कहा जा सकता है। भरत ने नाट्य की उत्पत्ति-कथा में सामवेद से संगीत ग्रहण करने की बात कहते हुए वैदिक संगीत को स्वीकार किया। इस फल यह हुआ कि परवर्ती काल में हुए अनेक आचार्यों ने भी संगीत के मूल स्रोत के रूप में वेदों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया है। इसका कारण यह है, कि वेदों में संगीत शास्त्र से संबंधित अनेक प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोगसहित उल्लेख प्राप्त होता है। 'वेद और वैदिक साहित्य में स्वर-विधान संबंधी पुष्कल सामग्री सुरक्षित है। पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, ग्रामगेयगान, आरण्यगेयगान, स्तोव, स्तोभ आदि पारिभाषिक शब्दावली से तत्कालीन संगीत की समृद्धि का पता चलता है।' सामवेद के मंत्रों को सस्वर व सछन्द गाने की परम्परा थी तथा वेद से संबंधित ग्रंथों में तीन स्वर स्थानों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिन्हें सात स्वरों के उद्गम का स्रोत माना गया है। वेदों में संगीत के लौकिक पक्ष का भी विवरण प्राप्त होता है। पूर्वोल्लेखित 'ग्रामगेय' और 'अरण्यगेय' का सीधा संबंध लोक से था। ग्रामगेय, ग्रामीण अंचलों में निवास करने वाले ग्रामीण द्वारा व्यहृत था जबकि अरण्यगेय वनों या वन प्रदेश में लोगों के लिए निश्चित किया गया था। इस आधार यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि वेदों में निहित संगीत वैदिक रूप में जितना प्रसिद्ध और व्यवहारिक था, उतना इसका लौकिक स्वरूप प्रचलन में रहा।

संगीत के मार्ग और देशी परम्परा से तारतम्य स्थापित करते हुए देखा जाए, तो संगीत वैदिक पक्ष मार्ग संगीत का द्योतक प्रतीत होता है जबकि लौकिक पक्ष को देशी संगीत की दृष्टि से देखने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। अर्थात् संगीत-शास्त्र में जिस मार्ग और देशी की कल्पना संगीत के आधार पर की गई थी, उसकी आधारभूमि वेदावलंबित वैदिक व लौकिक पक्ष अनुमानतः हो सकते हैं। वैदिक संगीत विशेष रूप से देवताओं, गन्धर्वों व अप्सराओं आदि के लिए रूढ़ हो गया तथा लोक के लिए संगीत का लौकिक स्वरूप शेष रह गया। कालान्तर में, भरत ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से संगीत के मार्गी स्वरूप की संकल्पना प्रस्तुत की है, जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया गया है। अर्थात् जिस संगीत की स्थापना ब्रह्मा द्वारा की गई, वह मार्ग संगीत कहलाया तथा और जिस संगीत की खोज ब्रह्मा द्वारा नहीं की गई और उसे मार्ग नहीं माना जा सकता है, तो क्या उसे देशी मान लेना चाहिए। संगीतदर्पण में मार्ग संगीत के संबंध में कहा गया है, कि-

"द्रुहिगेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्।।"

यहाँ भी ग्रंथकार ने भरतमत के समर्थन करते हुए ब्रह्माजी द्वारा अविष्कृत संगीत, जिसका प्रदर्शन भरत भगवान शिव के समक्ष किया गया तथा जो मुक्तिदायक है, वह मार्ग संगीत है। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्गी संगीत का अर्थ सीधे-सीधे देवताओं से हैं, जो संभवतः वेदों में वर्णित 'वैदिक' संगीत हो सकता है। वह संगीत जो कठोर नियमों का पालन करता है तथा जिसमें किसी भी दृष्टि से परिवर्तित नहीं किया जा सकता और मार्ग संगीत पूर्णतः देवताओं व गन्धर्वों के द्वारा व्यवहृत था। इस बात की पुष्टि करते हुए वाचस्पति गैरोला ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उल्लेख किया है, कि- 'जो अनादी सम्प्रदाय है, गंधर्वों द्वारा ही जिसका प्रयोग होता है, जो नियत श्रेयस् का हेतु है, उसे ही गांधर्व गान अथवा मार्गी संगीत कहा गया।' इस आधार पर सामान्य मनुष्यों में जो संगीत व्यवहार में था वहीं देशी संगीत है। दर्पणकार के मतानुसार, जो संगीत देश के भिन्न-भिन्न भागों में गाया-बजाया जाता है अथवा उसका व्यवहार किया जाता है तथा जिससे लौकिकों का मनोरंजन होता हो, वह देशी संगीत है-

"तत्तदेशस्थया रीत्या यत्स्यात् लोकानुरंजनम्।

देशेदेशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते।।"

दर्पणकार द्वारा की गई देशी संगीत की इस व्याख्या से तो यही प्रतीत होता है, कि आज जो संगीत व्यवहार में है, वह देशी संगीत है। टीकाकार व अनुवादक विश्वम्भरनाथ भट्ट ने संगीतदर्पण (पृ.6-7) में इस बात की संभावना व्यक्त की है कि आचार्य शारंगदेव के समय में भी यद्यपि मार्ग संगीत प्रचलन में नहीं था तथापि तत्कालीन संगीत में मार्ग संगीत का किंचित उल्लेख शास्त्रों में किया गया। समय व काल के अनुसार संगीत में रहे परिवर्तन के कारण मार्ग संगीत शनैःशनैः शास्त्रों से पृथक् हो, विलुप्त हो गया। परवर्ती संगीतशास्त्रज्ञों ने मार्ग संगीत पूर्ण रूप से त्याग दिया। इस

प्रकार व्यवहार व शास्त्रों में जो शेष रह गया वह देशी संगीत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस संबंध में डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार ने मार्ग और देशी संगीत विषय पर आधारित एक संगोष्ठी में चर्चा की है, जिसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं- 'आज हम गा-बजा रहे हैं, उसमें से कुछ भी ऐसा नहीं जो कि ब्रह्मा ने खोजा हो और जिसके बारे में कहा गया कि ये ब्रह्मा ने खोजा। उसके बारे में भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं, कि यह ब्रह्मा ने ही खोजा है। तो ऐसी स्थिति में उसका लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ लेना चाहिए। जो पुरानी परम्परा से चला आया है, जिसको स्थापित करने में हमारे पूर्वजों का योगदान रहा है और जिसको हमने एक तरह से श्रेयस्कर के रूप में स्वीकार कर लिया है, उसे मार्ग कहते हैं।' सुभद्रा चौधरी के अभिमत से- 'संगीत में मार्ग और देशी शब्दों का ग्रहण लोक से किया गया है, इसलिए उनकी प्रवृत्ति लोक-परम्परा से भी जुड़ी हुई है। 'मार्ग' में खोजना और 'देशी' में देना अर्थ अन्वित है।' डॉ. ब्यौहार के कथनानुसार- 'ब्रह्मा द्वारा खोजे जाने का चूँकि कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तो ऐसी स्थिति में यह कहना पड़ता है, कि मार्ग तो पूरा का पूरा समाप्त हो चुका है। आज जो कुछ भी है वो पूरा का पूरा देशी है और ऐसी स्थिति में जो आज का शास्त्रीय संगीत है, इसको भी देशी कहें तो कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि वास्तव में जो हमारा आज का शास्त्रीय संगीत है, उसका विकास ही हुआ है, 13वीं शताब्दी के देशी संगीत से। इस तरह से उसी देशी संगीत की परम्परा से आज का हमारा शास्त्रीय संगीत विकसित हुआ। तो पुराने देशी संगीत से ही हमारे आज के शास्त्रीय संगीत की परम्परा जुड़ी हुई है।'

उक्त विवेचन एवं विद्वानों के द्वारा दिए गए मतों से स्पष्ट हो जाता है, कि वर्तमान भारतीय संगीत, जो व्यवहार में है, वह पूर्णतः 'देशी' है और मार्ग संगीत का पूर्णतः लोप हो चुका है। फिर भी, संगीत के मार्ग व देशी पक्ष पर विद्वानों में तर्क होता रहा है। भले ही मार्ग संगीत को विलुप्त मान लिया गया हो, परन्तु प्रबुद्ध विद्वान वर्ग आध्यात्मिक सद्भावनावश मार्ग संगीत को स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि वर्तमान संगीत में शास्त्रीय के साथ-साथ लोक-संगीत भी व्यवहार में है। जिस प्रकार दर्पणकार ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, उस आधार पर यही प्रतीत होता है कि देश के विभिन्न अंचलों में गाया-बजाया जा रहा है, वही देशी संगीत है। लोक साहित्य से सम्बद्ध विद्वानों ने सामान्य जनमानस द्वारा व्यवहृत संगीत को लोक-संगीत माना है। ऐसी स्थिति में एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या देशी और लोक संगीत एक ही है ? मतंग, शारंगदेव आदि आचार्यों ने अपने संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों में जिस प्रकार राग-पद्धति व राग विभाजन संबंधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उसके माध्यम से संभव है कि उक्त प्रश्न का समाधान किया जा सकता है। भारतीय शास्त्रज्ञों ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि मार्ग संगीत में स्मृतियों का पूर्वाग्रह है, इसलिए इसे अपौरुषेय भी कहा गया। साथ ही मार्ग संगीत जड़ रूप में एक ही स्थान पर स्थिर रह गया। वहीं दूसरी ओर देशी संगीत में निरन्तर विकास होता रहा और समयानुरूप संगीत-शास्त्र के माध्यम से इसके सैद्धान्तिक पक्ष का परिष्कार होता रहा है। इसके अतिरिक्त देशी संगीत के परिप्रेक्ष्य में 'राग' की परिकल्पना की गई। आचार्य शारंगदेव ने सर्वप्रथम मार्ग और देशी के मध्य सामंजस्य की स्थिति निर्मित की, तदनन्तर प्रचलित रागों को दस भागों, यथा- ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा, अन्तर्भाषा, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग में विभाजित कर नए

सिद्धान्तों की स्थापना देशी संगीत के परिप्रेक्ष्य में की। इसका परिणाम यह हुआ कि, जैसे-जैसे देशी संगीत सम्पन्न होता गया वैसे-वैसे रागों की संख्या भी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे यह अनगिनत हो गई। इस दृष्टि से देशी संगीत का विकास वैज्ञानिक रीति से हुआ, परिणाम स्वरूप देशी संगीत शास्त्रीय मापदण्डों के आधार पर स्थापित होने के साथ प्रचलित भी हुआ। अतः संगीत की शास्त्रीय परम्परा में देशी का जो स्वरूप शास्त्रबद्ध हुआ, वही संगीतज्ञों के बीच प्रयोग के माध्यम से प्रसिद्धि प्राप्त सका। साथ ही, इसकी प्रसिद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण विभिन्न शास्त्रों द्वारा लिखे गये संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथ थे, जिन्होंने इसे शास्त्रीय आधार पर प्रदान किया। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत में विविध गायन शैलियों का विकास हुआ।

गायन शैलियों को भी आधुनिक कालीन विद्वानों ने प्रमुखतः तीन भागों में विभाजित कर दिया। ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि शास्त्रीय गायन विधाओं को पूर्णतः शास्त्रीय, ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी, चैती जैसी लोकाधारित शैलियों को उप-शास्त्रीय और ग़ज़ल, खमसा आदि को सुगम-संगीत कहा गया है। इस रीति से संगीत का जो स्वरूप निर्मित हुआ, उसे 'शास्त्रीय संगीत' कहा गया। वस्तुतः आधुनिक काल में संगीत में निहित मार्गी और देशी संबंधी विरोधाभास कम होता गया। युग परिवर्तन के साथ-साथ शास्त्रकारों ने इस स्थापित देशी संगीत में अनेक सैद्धान्तिक प्रयोग किये। पंडित लोचन ने 'रागतरंगिणी' में मूर्च्छनाओं के स्थान पर मेल या थाट के आधार पर राग-वर्गीकरण की संकल्पना प्रस्तुत की। अहोबल ने 'संगीतपारिजात' में श्रुतियों के आधार पर सात शुद्ध और पांच विकृत स्वरों की स्थापना की। यद्यपि उन्होंने उन्नीस स्वरों की कल्पना की थी, किन्तु प्रयोग में बारह स्वर ही प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त इन्होंने उत्तर और दक्षिण की स्वर-विधियों में सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयास किया। पुण्डरिक विठ्ठल में लोक प्रसिद्ध और परम्परागत रागों का वैज्ञानिक पद्धति से राग-रागिनी और पुत्र रागों के रूप में वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इन सभी ग्रंथों पर संगीतरत्नाकार की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। आचार्य शारंगदेव ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्रीय परम्परा के समानान्तर 'संगीत' की परम्परा स्थापित करने का जो यत्न किया, उससे परवर्ती काल में संगीत के विकास का मार्ग प्रशस्त होने लगा। दूसरा प्रमुख कार्य आचार्य द्वारा यह किया कि उन्होंने मार्गी की अपेक्षा देशी संगीत को लक्ष्य करते हुए शास्त्रीय प्रतिमानों की स्थापना की। परवर्ती आचार्यों ने संगीतरत्नाकर की इन दो महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं का न केवल सम्मान किया अपितु उन्होंने इसी आधार पर देशी संगीत का परिमार्जन कर उसके विकास में सहयोग दिया।

तथ्यतः उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है, कि वर्तमान में शास्त्रीय संगीत का जो स्वरूप प्रचलित है, वह पूर्णतः देशी है तथा पूर्ण रूप से लोक संगीत से पृथक् भी है। मार्ग और देशी के विषय में संगीत से सम्बद्ध जिज्ञासु वर्ग के बीच अब भी इन स्वरूपों की चर्चा वर्तमान है। इसका कारण यह है कि संगीत के शास्त्र या प्रयोग पक्ष की जब भी बात होती है, तो उस स्थिति संगीत-शास्त्र से संबंधित उक्त ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। परिणाम स्वरूप विचारकों और जिज्ञासुओं के मध्य मार्ग और देशी विषय चर्चा का विषय बना ही रहता है। विशेष रूप से विद्यार्थी वर्ग कहीं-न-कहीं अब भी इस संशय में कि वे जो संगीत सीख रहे हैं वह मार्गी है या फिर देशी। क्योंकि वर्तमान में शास्त्रीय संगीत

के समानान्तर लोक-संगीत भी प्रचलित है और अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार में है। इस समस्या का समाधान करते हुए संगीतशास्त्री डॉ. ब्यौहार का मत सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है। इस संबंध में वे कहते हैं, कि- 'आज के संदर्भ में यदि हम मार्ग और देशी की बात करें, तो गुरु के द्वारा सिखाए गए संगीत को आप 'मार्ग' मान लीजिए और जब आप उसकी साधना कर उसमें परिवक्व हो जाते हैं तथा उस पर प्रयोग करने लगते हैं, तो उसे आप देशी संगीत मान सकते हैं।' गुरुमुख से सीखा गया संगीत शिष्य के लिए मार्गी है, क्योंकि शिष्य उसकी साधना ठीक उसी रीति से करता है, जिस पद्धति से गुरु ने उसे सिखाया है, वह उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। संगीत शिक्षा के उपरान्त जब शिष्य एक परिपक्व कलाकार या संगीतज्ञ बन जाता है और अपनी गायकी, शैली तथा रचनात्मकता के आधार पर उसमें प्रयोग करने लगता है, यह महत्त्वपूर्ण भी है और शास्त्रीय संगीत के विकास का परिचायक भी।

संदर्भ सूची-

1. संगीत के क्षेत्र में यह प्रसिद्ध है कि आचार्य शारंगदेव के मत से गायन, वादन और नृत्य के समुच्चय को 'संगीत' कहा गया है।
2. गैरोला, वाचस्पति, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण संवत् 2017, पृ.754
3. भट्ट, विश्वम्भरनाथ, 'दामोदर पंडित और उनका संगीत दर्पण', संगीत निकेतन, आगरा, 1950, स्वराध्याय, श्लो.4, पृ.6
   "अनादिः सम्प्रदायो यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते।
   नियतश्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्व जगुबुर्धाः॥"
4. गैरोला, वाचस्पति, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण संवत् 2017, पृ.765
5. भट्ट, विश्वम्भरनाथ, 'दामोदर पंडित और उनका संगीत दर्पण', संगीत निकेतन, आगरा, 1950, स्वराध्याय, श्लो.5, पृ.6
6. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.
7. चौधरी, डॉ. सुभद्रा, लेख - 'मार्ग और देशी का विवेचन', 'संगीत', अगस्त 2013, अंक 8, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ.19
8. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.
9. संगीत संकाय, इं.क.सं.विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी, मुख्य वक्ता - प्रो.डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, विषय - "मार्ग व देशी संगीत" से साभार उद्धृत.

Samyak Gitam

Prof. Dr. Indrani Chakravarti

The basic concept of the Universe is Vibration. Vibration gives birth to beats; beats maintain speed of the heart and from there on music starts. The beats and the rhythm are mutually reliant or inter-dependant. Vibration causes the movement of self experiences, thereafter the voice starts speaking.

From the very beginning of creation, vibration and movements were inherent in nature. But before becoming aware of such phenomenon and understanding them properly, man started feeling uniformity and oneness with nature. His soul commenced humming, his feet started tapping on the floor and his fingers began playing with some imaginative (but unseen) strings. Thus, music was born.

“Why?" "How?" and "Where”? These questions had always been disturbing man’s mind right from the inception of human civilization. Man made a move to find out the answer; but barely could he succeed. However, that did not deter him. He continued his quest of journey. His *intelligence* and *consciousness* slowly bloomed then on. Accomplished himself with self-experiences, he began music as medium of expression to get the answer for his quest. It was music henceforth, that had been a prime expression in man’s life.

A Look Back:

Since prehistoric age, medium of expression of man was either hand/body gestures or uttering vibrating sounds as a medium of expression to exchange the feelings with each another. Thereafter, in grief or in joy, in happiness or in pain, in bravery or in poverty, in love or in devotion; the way of his expression had primarily only been music. It might be several intonations of sound, a song or a musical instrument or the body gestures, which later on established as various forms of dance and drama.

In socio-cultural civilization, music played an unparallel role in evolving many aspects of human life. When man was happy, he sang and danced; when restless, he found music to ease him; when angry, even then he sang to calm himself down and when he was in unbearable sufferings and pain, his musical tones vibrated the Universe.

As time passed, the human intellect discovered that music had enormous power to

correlate with his feelings and emotions through songs, instruments, and also through

many dance forms. Both solo and group performances were accepted as excellent

mediums of expressions. The solo and individual music was related to each and every discipline known as Vocal, Instrumental and Dance. Group music too, followed the above disciplines.

Samyak Gitam:

In ancient Sanskrit texts, the etymology of *Sangita* (music) was elaborated as '*Samyak Gitam'*---*'Samyak rupena gitena iti sangitam'* (to sing in proper manner with accompaniment). Here, the word *gitam* also comprises of musical instruments as well as the dance forms. In Indian tradition, we find a few theoretical concepts on the origin sources of music:

(a)- ***Divine Forces*:**

Music is originated from Divine Forces (like Gods and Goddesses). Nataraja Shiva (The Compassionate One), Brahma (The Originator), Vishnu (The Sustainer), Parvati and Saraswati (Goddesses of Power and Learning, respectively) are still considered the originators of different disciplines of music and many other fine art forms. Later on, Ganesha (the elephant-headed God) and some other super human sects like Gandharvas and Kinnaras, Rishis and Munis were also named as masters of different disciplines like *Svaras* (Dhaivata svara was considered as the innovation of Tumburu Rishi who was also referred to as the originator of Tambura or Tanpura), *Raga-Raginis,* musical instruments, many dance forms.

Bharata (dramaturgist and musicologist, who presented us with a beautiful bouquet known as Natya Shastra) narrated that- 'Lord Brahma was the creator of the Natya Veda (the art of drama, considered as fifth or Panchama Veda). Dattila followed him in his work titled 'Dattilam'. Nataraja Shiva is still believed to be the Originator of dance forms called Tandava (frantic) and Mother Parvati as Possessor of Lasya (amorous postures). A few musical texts referred that Shiva innovated Veena after observing the beautiful sleeping posture of Goddess Parvati.

(b)-- ***Other Forces*:**

Another tradition like Naradiya Shiksha (with a few more) said that music originated with the sound of birds and animals. As explained by Narada-the sound of various svaras or tones originated with:

Svara or Tone	**Source of Sound**
Shadja (Sa)	Mayur (Peacock)

Rishabha (Re)	Chatak (swallow)
Gandhara (Ga)	Aja (Goat)
Madhyama (Ma)	Krauncha (curlew/stork)
Panchama (Pa)	Koel (cuckoo)
Dhaivata (Dha)	Medhra (Frog)
Nishada (Ni)	Hasti (Elephant)

Latter scholars often quoted Naradiya Shiksha to justify their views on the origin of seven tones which came out from different sounds of birds and animals. It proves that the musician-scholars widely accepted the above theory of musical tones originated from the nature.

Hence, the creation of the seven tones from the natural sound of birds and animals roughly seems logical. If we see the pictures of dance postures and the body movements of pre-historic tribes and their attire, we realize that those are perfect proof of their power of adaptability from the nature and other living beings (like birds and animals). To be more precise, I would like to give a few instances as under:

i- The concept of flute originated from the bamboo sticks with a few holes to produce sounds when blown air into it.

ii- It is pretty well accepted fact that the sound of shooting with an arrow during warfare, evolved a beautiful idea of the innovation of stringed instruments (chordophones). We find wide references of bow-shaped *Vina* right from the Vedas, Ramayana, Mahabharata and other literary works and inscriptions. The word *Jya* is synonymous to 'bow string'. In ancient Tamil literature, the similar word was known as '*Yazh'.* Such instrument is still found in Tamil Nadu.

iii- According to Bharata; Sage Swati invented Tri-pushkara after watching the sound of rainwater-drops falling on lotus leaves in a lake. He named the instruments Urdhwaka (Panava, Pataha-today's Dholak), Ankika (Mridanga, Mardala→modern Pakhawaj) and Aalingya (Dardara→today's Hudukka). (Natya Shastra,32).

iv- Most of the ancient and modern instruments are primarily made of wood, bamboo, cane, skins of some animals and birds. In some instruments, strings are still made of the intestinal chords of some particular animals. Plectrums of a few instruments are made of coconut shells, wooden or bamboo sticks etc.

Since the dawn of civilization, man was inspired with the immaculate sources of the nature. For production of sounds through his voice, or the instruments and dance forms, he modified the onomatopoeic materials from the nature. Man, by nature, is worthy of 'art of copying'. So, he copied various sounds that emerged from nature and the animals; which, through constant rigorous experiments, he refined and reshaped the sound of the instruments accordingly. Thus, he proved himself to be the 'Master of Sound Production'. And the process is still continuing.

From time immemorial, man has acknowledged God as the originator of music but it is also true that man himself has opened new vistas of music to arrive at the level of an art form with his incredible intellect, imaginations and experiments. The master-musician's unmatched emotion and passion have been the mother of invention for these celestial art forms. As the man's knowledge grows, the art of music has also improved and there came a time when music has been considered as an indispensable part of men's life.

Whether it is Indian or Western, music had been an integral part of society since the dawn of cultural evolution. In India, right from pre-historic age, the adoration of music took place in day-to-day life of man. The ancient sculpture and frescoes were the true proof found in many places in our country. With his complicated nature, man personified whatever thought arose in his mind, and therefore, paintings, frescoes (wall paintings) or sculptures emerged as medium of his expression. Thus, music and other fine art forms blossomed in his daily routine as a part of his life. These art forms also played an incessant role in making new ideas and experiments.

Man is a social creature. He is bound to observe rules and regulations to balance his life. Hence, he prepares rules/regulations for different disciplines of music, to enable him and others to be governed by the tradition.

Towards the History:

The history of music is as old as the creation of human life. According to the western scholar Harmis, 'Music is the reflection of evolution of the nature.' Pythagoras opines that 'Every atom of this world is pervaded with music'. According to Bloomfield, 'Samagana dwells with the sounds of folk music' (!)

Sama mentioned popular songs sung in battle fields. Therefore, a few modern western scholars considered Sama music as folk-type; followed by some Indian scholars too! Apart from musical sound, the words like 'Hau, Hau' (the *stovas*) were used in excess in Sama music; and that might be the root cause of such explanation. But we should be aware of the word 'folk'. Today, what is understood and imposed by these scholars, invariably differs from the concept of *Vaidika* and *Laukika* disciplines, explained by *Shikshas* (texts on chanting/singing codes) to explore the Vedic

tradition. (The word folk (*Loka*) has been discussed by me in another of my research papers named, 'Origin of folk music').

Man has investigated and found some solutions on the applications and influences on various disciplines of music. It was accepted that during the *Yajna* (fire sacrifice), if a hymn was chanted in perfect intonation with the required oscillations, accompanied by instruments; the desired result could invariably be attained by the *Yajamana* (the one, on whose behalf a priest performed the rituals).

Every *Yajna* had its specific *mantra*s (hymns), and those were sung or recited with proper tones and tunes. These Sama *mantras* (hymn) were perfectly notated by the sages (Samaveda). To train the disciples, a few texts were written, known as *Shiksha Granthas*. Why the Vedic *Yajnas* are not so successful today; it is mainly because of non-compliance of singing the traditional *mantras* (with the proper accent, tones and accompaniments). The cause might be due to constant turmoil in the country, ignorance in following musical intonations as written and directed in the texts; or tradition itself broke in due course of time.

Sangita* and *Nada (Music and Sound):

The absolute vital force of music is sound (*nada*). The whole universe has been considered as Nadatmaka (replete with sound). "*Tasmat Nadatmakam Jagat*". The word *nada* derives from the root called 'n*ad'*. Hence, source meaning of *nada* is 'absolute word or sound'. There are three forms of sound, viz: *Vyakta* (manifested), *Avyakta* (absolute or un-manifested) and *Vyaktavyakta* (blended with both). The *vyakta* sound comes from the vocal cords, *avyakta* from instrumental strings and the third sound *vyaktavyakta* is produced by blending the above two types of sounds (dance forms?).

***Nada* in Jain Literature:**

Like the Vedic scriptures, Jain literature has also elaborated *Nada* aspects. *Nadavindu* or *Nadakala* (art of sound) is portrayed as half- moon, where the color of sound is white and the dot (*bindu*) is black.

Omkara has been established as *Naadabrahma* which is synonymous to the Supreme Lord Himself- *Tasya Vachakah Pranavah*, *Om ityekaksharam Brahmah*. Therefore, *Om* is God Omnipresent who protects and saves us.

Nada has come out of *Sphota* (the sound bursting and splitting asunder) with the help of *agni* (fire) and *vayu* (air). Hence *sphota* is the origin of each sound. The whole world is pervaded with sound- '*Vyapta yena characharam'*. *Sadhaka* elevates himself from individual to the collective

sound; only then he is able to hear the celestial sound from his own cosmic body. To be more precise, an example has been given- A *Shraman* (the Jain muni) is completely unaware of the jewels worn by his protector. Similarly, when the mind is immersed into the sound of pure music, the *sadhaka* is least concerned of the worldly objects or the body senses.

Kabir too, has beautifully compared the *Nada* or *Bindu* with a boat in the ocean of world. The chanting of *Rama*'s name works like a boatman. 'By singing the glory of Rama (the God) and following the path shown by *Guru* (the master), one can easily cross the ocean of worldly desires.

Nada and Svara:

The *nada* (musical sound), has potency to please others by itself. *Nada* is also known as *svara*. *Pada* (the word) is the proximity of *svara* and meaning of *pada* substantiates the *svara*. *Parshvadeva*, the Jain scholar-musicologist rightly says:

Svayam yo rajate nadah svarah sa parikirtitah.

Padam svaradikaranam arthasya pratipadakam..

(Sangita Samaya Sara, 5/16-17)

Parshvadeva continues further; "*Nada* leads to the most blessed state what the human being aspires. *Paramadeva Jineshwara* (the Jaina Thirthankara) is worshipped with *nada*. Only a pure hearted soul can produce purest *nada* through his sacred body." Thus, it is proved that Parshvadeva had complete knowledge of science of *nada* as well as its practical applications

The other Jain Munis (the sages) too, had thorough knowledge of various disciplines of arts. Indian knowledge had never been centered to a single direction. Hence, these sages made deep cogitation, contemplation and radical analysis in their texts. Among other texts, Rayapaseniya Sutta, Thananga Sutta, Anuyogadwara Sutta, are the most important works which give unparallel information on contemporary music.

Modern Concepts:

Nobody could repudiate the effect of sound in life. In early 20th Century, the scientists have acknowledged the enormous effective power of sound. Some of the unwise readers though, have tried to discard the ancient and old scriptures due to their ignorance and inability to understand and follow the wisdom recorded in these texts. But a few scientists of the East and West have already experimented and proved such theory with the help of modern scientific equipments. It can be clarified with a few examples given as under:

a- In Indian concept, *shabda* (the tone or ethereal sound) got an important place. The sages called it *Shabda Brahmah* or 'the Word Absolute'. Our scriptures say, 'The Absolute Wisdom is one'. This can be understood in this way:--'the identity of the whole universe with the Eternal Spirit (the *Brahman*) is expressed through *shabda*. The *Akasha* (ether or space) is one of the five elements. *Shabda* exists in *akasha*. Hence *shabda* or the tone always remains in the space. Today many scientists have proved that the matter and energy are same and matter can be converted to energy. After revelation of this truth, scientists now claim that, with the help of some advanced technology, they will successfully be able to re-search and re-construct the ancient voice and sound of music from the ether which still exist but have faded in course of time.

b- Acharya Jagdish Chandra Bose, who, apart from being one of the greatest scientists of his age, was an excellent violin player. He postulated that plants have feelings like other living beings. Plants blossom in happiness and wither when sad. Successfully he proved his theory with the help of Pandit Omkarnath Thakur (the maestro of Gwalior Gharana/tradition). Panditji sang Raga Bhairavi to see its effects on the plants. After a few moments, the plants showed an un-expected brightness in their color. And with his pleasing sound, the Coro-plat in protoplasm of the plants swerved and became active.

c- The army band is not allowed to march across the over-bridge, as their rhythmic footsteps together with the musical band can damage or break the bridge. Hence, such activity is strictly restricted to the army soldiers or other marching bands.

d- Not only animals or birds, but even human beings are cured of certain diseases by music. In his book, Dr. J. Paul has emphasized on music therapy. In ancient Egypt, the music was used to cure the psychic patients. Pandit Omkarnath Thakur had cured acute insomnia of Mussolini- the Italian Head of State during II World War. He made him sleep when Mussolini failed to sleep for more than three/four days due to war tension.

e- In Indian musical scriptures, there are specific mentions of different colors of the *svaras*. Modern scientists have discovered with their experiments that each *svara* has one or more colours.

f- Similarly, each *svara* has its own embodied deity that manifests when perfect *svara* -phrases are used with devotion. The *Raga-Ragini* system has been narrated with a firm belief that each *Raga* has specific characteristics and feelings. If it is sung according to its nature and characteristics, the *raga* transforms itself alive.

Scientists have successfully demonstrated the perfect structural forms of the tones after their experiments with an apparatus called 'Idophone'. Today, we need scientists like Acharya

Jagdish Chandra Bose, Prof. C. V. Raman, Dr. S.N.Bose and others who will honor our rich cultural heritage and refrain to ridicule the claim of ancient sages and saints, and start new research projects to re-explore and re-establish our unparallel knowledge with the help of modern scientific gadgets.

Music is such a spontaneous art that can express its forms through the tones. The yogis narrated that the entire universe remained under the *Absolute Nada* (musical sound). '*Tasmaat Nadadheenam Jagat.*' Through music, one can attain the main objective of life i.e. *Dharma, Artha, Kama* and *Moksha* (righteous acts, wealth, desire and salvation). On the other hand, the entire day's work has been tied with music by the people who want to live in the society in unison. From dawn to dusk man has explored musical nuances and invoke more energy for him and others. In worship, in sowing the field, in the workshops, in washing clothes and loading vessels from the river; in marriage ceremonies and parting farewell to the bride; in welcoming a new guest in the family or mourning the death of a dearest one; we find not a single moment has been left, where music has not shown its influence. After the daylong physical or intellectual work, when a person returns home; be he a farmer or an educated one or a tribal, he likes to get rid of the whole day's exhaustion by listening to or by participating in music and/or group dances.

Music has left its footprints and has influenced every part of man’s life. The nature of musical connotation may differ from one another; but its quality and effect have always attracted the people of the world; though, they may or may not understand its nuances. The language of music is one; even though its uneven fundamental structure, creative principles and the essence of beauty, differ from each other. The core soul of music always remains the same.

The Indian sages, scholars and musicians realized the value cognizance of music. Some of them left home and/or social contacts for their spiritual union with God. They made music as the medium of unison with their Beloved One. Sri Chaitanya, Meerabai, Tulsidas, Surdas, Purandaradasa, Tyagaraja, Sakkubai, Andal are the best examples to be remembered.

Music has always been accepted as the most important instrument for self realization. Nanak, Kabir, Sri Chaitanya Mahaprabhu, Namdev, Swami Haridas, Ramakrishna Paramahansadeva, Swami Vivekananda and in modern times Sri Sathya Sai Baba are the best examples to follow. They have slowly and successfully entered the heart of people with inimitable power of music making music as strong medium to transform the society. Some have lovingly narrated the meaning of Bharata as: 'Bha' stands for Bhava (feeling/emotion), 'Ra' for Raga (melody) and 'Ta' stands for Tala. These three terms are root cause of music.

Rightly said by Vedic rishi: "One who is ignorant of the knowledge of music, can be termed as an animal without having horn and tail'.

Sahitya Sangeeta Kala Vihinah

Sakshat Pashuh Puccha Vishanahinah

Lord Vishnu announced:

Naham Vasaami Baikunthe Yogina Hridye Cha Na Ravau

Mad Bhaktah Yatra Gaayanti Tatra Tisthami Naradah.

"I do not dwell in Vaikuntha nor in the hearts of the Yogis, I dwell only where my devotees sing my glory, O Narada"

****

Reference:

1. Naradiya Shiksha, Narada

2. Yagyavalkya Shiksha, Yagyavalkya

3. Natya Shastra, Bharata, 32/

4. Brhaddeshi, Matanga

5. Sangita Ratnakatra, Sharngadeva

6. Sangita Samaya Sara, Parsvadeva, 5/16-17

7. Svar aur Ragon ke Vikas me Vadyon ka Yogdan, Pof. Indrani Chakravarti

8. Sangit Manjusha, Ibid

"ख्याल की बंदिशों में सौन्दर्य के लक्षण।"

जगदेव नेताम

बंदिश का अर्थ-

'बंदिश' का अर्थ बांधने की क्रिया से लिया जाता है और इसका सम्बन्ध 'भाव' से होता है। संगीत का मूलभूत उद्देश्य आनंदानुभूति हैऔर यह चित्त को एकाग्र करते हुए जन रंजन से भव भंजन तक की यात्रा करने जैसा है। शास्त्रीय संगीत में गायन शैली व निबद्धित रचना का सर्वाधिक महत्व है। स्वर व ताल इसके अभिन्न अंग या आधार माने जाते हैं। गान पद्धति में स्वर, ताल व पद तीनों का संयोजित रूप जब हमारे सामने आता है तो वह श्रोता के मानस पटल पर एक अमिट छाप छोड़ देता है। अतः स्वर, ताल और पद में सुबद्ध और सुनियोजित रचना को **'बंदिश'** कहते हैं। बंदिश वह दर्पण है, जिसमें राग के स्वरूप और चलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

भारतीय संगीत के इतिहास में 'बंदिश' के विभिन्न पर्यायवाची रूप- गीत, रचना, निबद्ध, प्रबन्ध्, वस्तु, रूपक, चीज़, गत इत्यादि प्राप्त होते हैं। प्राचीन व मध्यकालीन संगीत ग्रन्थों में गेय रचना (जो गाया जा सके) को सामान्य रूप से 'गीत' कहा गया है। जिसकी व्याख्या सर्वप्रथम पं. शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकार' में इस प्रकार की है :-

'रंजक: स्वरसन्दर्भो गीतभित्यभिधीयते।
गान्धर्वगान मित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्।।

भावार्थ-मन को रंजन करने वाले स्वर-समुदाय को गीत कहते हैं, जिसके 'गान्धर्व' एवं'गान' दो नामिक भेद हैं। जिसमें गान के बारे कहा गया है:-

'गान-यक्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद् गानम् जनरंजनम्।।

अर्थात् वाग्गेयकार के द्वारा रचित ऐसी रचना जो देशी रागों व देशी तालों में रचित है तथा जो मनोरंजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो उसे 'गान' कहा गया है।गान को भी दो भागों में विभक्त किया गया है –**'निबद्ध व अनिबद्ध'**।

'निबद्धमनिबद्ध तद् द्वेधा निगदितं बुधैः।।

निबद्ध गान का अर्थ होता है बंधा हुआ और अनिबद्ध का अर्थ उपज से है।अर्थात् जब कोई गीत रचना जो किसी भी राग के स्वरों और ताल के विशिष्ट सामंजस्य से पूर्व रचित हो, वह **'निबद्ध गान'** कहलाता है और जब प्रस्तुतिकरण में कलाकार के द्वारा जब उस गीत रचना में निहित किसी राग के स्वरों का विस्तार – आलाप-तान या लयकारीके माध्यम से करता है तो उसे 'अनिबद्ध गान' कहा जाता है। किन्तु हम यहाँ सिर्फ निबद्ध गान की चर्चा करेंगे-

'बद्धं धातुभिरअङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते।'

अर्थात् वह पूर्वरचित रचना धातु और अंगों से बंधा हुआ हो या दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसी गेय जो अर्थयुक्त, ताल युक्त, छन्द के नियमों में बंधा तथा ब्रम्हा द्वारा गाये गये नियत संख्या के अक्षरों से युक्त हो उसे '**निबद्ध गान**' कहा गया है। '**प्रबंध, वस्तु** और **रूपक** ये निबद्ध की ही तीन संज्ञाएँ बताई गई हैं':-

1) संगीत में प्रयुक्त होने वाले प्रबन्ध शब्द में यह अर्थ अन्वित है क्योंकि यहाँ भी धातु और अंगों की सीमा में बाँधकर जो रूप बनता है, वह 'प्रबन्ध' कहलाता है। ''प्रबन्ध (प्र+बंध्) का शाब्दिक अर्थ है – **प्रकृष्ट रूपेण बन्ध:** अर्थात् वह गेय तत्वजिसमें चार धतुओं (उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग) और छः अंगों (तेनक, विरुदम्, पद, पाट, स्वर, ताल) को भली भाँति और सुन्दर रूप में बाँधा गया हो। प्रबन्ध के लिए आज जो 'बंदिश' शब्द प्रचलित है, उसमें भी बन्ध् धातु का समावेश है। किसी भी बंधी हुए रचना में **स्वर** और **शब्द** ये दो पक्ष होते हैं। जिसमें स्वर पक्ष को **'धातु'** और शब्द पक्ष को **'मातु'** कहा गया है। इस प्रकार प्रबन्ध व बंदिश का शब्दार्थ विभिन्न स्थानों में प्राय: एक सा मिलता है। अतः प्रबंध का अपभ्रंश रूप 'बंदिश है।

2) वस्तु का भाषान्तर चीज़ है।पं. भातखण्डे जी ने 'क्रमिक पुस्तक मालिका' में रागों की बंदिशों के लिए **'चीज़'**शब्द का प्रयोग किया है।

3) **'रूपक'** जो संगीत से हटकर नाट्य का विषय हो गया है। इसके अतिरिक्त गायन, वादन एवं नृत्य की बंदिशों अथवा उनके निबद्ध रूप को 'रचना' भी कहा जाता है।

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक भारतीय लोक एवं शास्त्रीय संगीत में ही नहीं वरन् संसार के प्रत्येक देश के संगीत में रचनाओं का किसी न किसी रूप में प्रयोग हुआ है। भारतीय संगीत का इतिहास विभिन्न रूप की रचनाओं से भरपूर है। जिसमें वैदिक काल में **सामगान-स्तुतिगान-गान्धर्वगान**, प्राचीन काल में **ध्रुवगान-जातिगान-गीतिगान**, मध्य काल में **प्रबन्ध, ध्रुपद-धमार,कीर्तन, क़व्वाली** तथा आधुनिक काल में **ख़्याल, ठुमरी, टप्पा, तराना** आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल के शास्त्रों में रचना को **गीत**, मध्य काल में **प्रबन्ध** एवं आधुनिक काल में **बंदिश** अथवा **गत** के नाम से संबोधित किया है। अतः आदि काल से ही भारतीय संगीत में बंदिश का अत्यन्त महत्व रहा है।

बंदिश में निहित सौन्दर्य तत्त्व :-किसी भी गीत रचना (बंदिश) के दो भेद माने गये हैं –'नाद सौन्दर्य' और 'लय सौन्दर्य'।

नाद सौन्दर्य :-हम जानते हैं कि, संगीत के मूल आधार तत्व **स्वर** (संगीतोपयोगी नाद) और **लय** हैं और इन्हीं तत्त्व के सामंजस्य से संगीत का निर्माण होता है।जिसके माध्यम से कलाकार अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को श्रोताओं के समक्ष अभिव्यक्त करता है। अतः संगीत का मुख्य उद्देश्य भावाभिव्यक्ति है। कोई भी सौन्दर्य विधान किसी भी रूप या आकर के बिना परिलक्षित नहीं हो सकता। सम्भवत: इसी कारण परम्परागत बंदिशों को भारतीय संगीत का आधार स्तम्भ कहा जाता है। संगीत में नादके सौन्दर्य की बात करते हैं तो इसके तीन आधारभूत तत्त्व हैं -

1. वैज्ञानिक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध सत्य या यथार्थ से है।
2. मनोवैज्ञानिक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध मानव प्रक्रिया से है (कलाकार + श्रोता)।

3. सौन्दर्य मूलक तत्त्व – जिसका सम्बन्ध आनन्द से है।

नाद की इन्हीं तत्वों तथा उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर जब एक कलाकार या संगीतकार इनमें तारतम्य तथा समन्वय स्थापित करते हुए एक रचना करता है तो उसे हम **'राग'** कहते हैं। राग मेंरंजकत्व का गुण निहित है। राग के गुणों की व्याख्या मतंग मुनि ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में इस प्रकार दी है -

योऽयंध्वनिविशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।

रञ्जको जन चित्तानाम् स रागः कथितो बुधैः॥

अर्थात् संगीतोपयोगी ध्वनियों की वह विशिष्ट रचना, जो स्वर और वर्ण से विभूषित है और लोगों के मन का रंजन करती हो, बुद्धिमान जन इसे **'राग'** कहते हैं। इसके अतिरिक्त राग को रंजक बनाने में राग के तत्त्व – मींड, सूत,कण, खटका, मुर्की, गमक इत्यादि भी सहायक हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर जब गायक या वादक कलाकार अपनी पस्तुति देता है और इस प्रस्तुतीकरण को श्रोता जब सुनता है तो उसके मन में आनंद का आविर्भाव होता है और इस आनंद की अनुभूति का कोई अंत नहीं होता। अतः नाद सौंदर्य जनित आनंद अनन्त है।

लय सौन्दर्य - मनुष्य जब अपने भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से करता है तो काव्य की रचना होती है। संगीत में लय काल तत्व का रूप निर्धारण करती है और काल या समय के मान को ही **'ताल'** कहते हैं। संगीत रत्नाकरग्रंथ में पं. शार्ङ्गदेव ने लय को परिभाषित करते हुए कहा है कि-

'क्रियान्तरविश्रान्तिर्लयः।

अर्थात क्रियाओं के मध्य समान विश्रांति को वे लय कहते हैं। संगीत में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य विश्रांतिओं कीक्षमता लय का आधार है और समता सौंदर्य का। यह एक सामान्य सा सिद्धांत है अतः लय की विभिन्न लयकारियों और उनकी विविधता से संगीत में सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है।

संगीत के सहज आनन्द की सृष्टि मूल रूप से किसी गीत रचना पर ही निर्भर करती है और यह भी एक कारण हो सकता है कि पाँच ललित कलाओं में संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। हमारी कला में भावनात्मकता विद्यमान है और जहां भाव है वहाँ रस है और जहां रस है वहाँ सौंदर्य की अनुभूति निश्चित है। रसानुभूति एवं सौंदर्य बोधदोनों पर्यायवाची हैं। मनुष्य के हृदय में स्थाई भाव सदैव विद्यमान रहते हैं उन भावों के उद्दीपन से रस उत्पन्न होता है और इससे कला जन्य सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है।

सन्दर्भ :-

1. पं. शार्ङ्गदेव,संगीत रत्नाकर- 2, प्रबंधाध्याय, (व्याख्याकार-डॉ.सुभद्रा चौधरी-2008), पृ.- 201.
2. वही, पृ.- 203.
3. वही, पृ.- 204.
4. वही, पृ.- 205.
5. पं वही, पृ.- 205.
6. बृहद्देशी, मतंग मुनि, श्लोक – 280-281, पृ.- 81
7. पं. शार्ङ्गदेव, संगीत रत्नाकर- 3, तालाध्याय, (व्याख्याकार-डॉ. सुभद्रा चौधरी-2008), पृ.- 34.

ठेका : एक संक्षिप्त अध्ययन

जगजीत शाह

प्राचीन काल से ही भारत में गायन वादन नृत्य तथा नाट्य की परम्परा रही है। पांचवां वेद कहे जाने वाले ग्रंथ ''भरतमुनि कृतः नाट्यशास्त्र'' में नाट्य तथा संगीत को समान रखा है। नाट्य के साथ संगीत को भी उन्होंने उच्च स्थान दिलवाया है ? 'नाट्यशास्त्र' के बाद ही संगीत सम्बन्धी अन्य ग्रंथ उपलब्ध होते है। संगीत सम्बन्धी सभी ग्रंथों में स्वर, ताल, लय मूर्च्छना, राग, ग्राम आदि समान रूप से महत्त्व रखते हैं। संगीत में स्वर के साथ लय का महत्व भी समान रूप से ही देखा जाता है।

हम अपने जीवन अथवा दिनचर्या में कोई भी कार्य करें उसकी कोई निश्चित गति होती है, उसे ही सांगीतिक भाषा में लय कहा जाता है। संगीत में जब कोई गायन-वादन होता है, तो उसकी चाल या गति को हम लय कहते है तथा जब उस लय को हम किसी निश्चित समय चक्र में बांध देते हैं, तो वह ताल बन जाता है तथा ताल को जिन बराबर समय खण्डों में बांटा जाता है, उन्हें मात्रा कहते हैं तथा जब उन मात्रा खण्डों को निश्चित नाम अथवा बोल दे देते हैं तो उन्हें 'ठेका' कहा जाता है। 'ठेके' का संगीत क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, 'ठेका' ताल वाद्यों का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है तथा इसे कभी कभी 'ताल' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग गायन-वादन एवं नृत्य की संगत में किया जाता है। ठेका कुछ निश्चित पाट-अक्षरों की बन्दिश है, जिनकी विशिष्ट संख्या तथा विभाग निश्चित है।

'ठेका' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1857 ई. में लिखे गये उर्दू ग्रंथसन्दर्भ देना चाहिये'सरमाए इश्रात' में हु आ। ऐसा हो सकता है कि ठेके का प्रयोग गायन-वादन में 18 वीं शताब्दी के आस-पास ही प्रारम्भ हो गया हो। प्राचीन ग्रंथों में तालों के नाम तो अवश्य मिलते है परन्तु किसी बोलों का उनमें प्रयोग नहीं मिलता है। ध्रुपद गायन शैली से पूर्व उत्तर भारत में कहीं भी ठेके का प्रयोग नहीं मिलता है, क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में ठेका अथवा बोल प्राप्त नहीं होते है, आज भी कर्नाटक संगीत में कहीं भी ठेके के बोल निश्चित नहीं है, केवल ताल व उनकी जातियां ही प्राप्त होती है, किसी ताल के लिए कोई ठेका निश्चित नहीं किया गया है। प्राचीन मृदंग वादक, मृदंग का प्रयोग गायन की ताल, लय अथवा छंद के लिए किया करते थे। उस समय गायक स्वयं हाथ से लय अथवा छंद देकर गायन करता था। वीणा वादक स्वरों की संगत तथा मृदंग वादक छंदों की संगत करते थे। कभी कभी हाथ से ताल देने वाले कुशल व्यक्ति को साथ में बैठाया जाता था जिसे 'पाणिध' अथवा 'ताड़घ' कहा जाता था, जो भी छंद गायन वादन में प्रयुक्त होते थे वह पहले से निश्चित रहते थे। इसलिए उस समय 'ठेके' की आवश्यकता महसूस नहीं हुई होगी। ताल के ठेका का जन्म मध्य युग में ध्रुपद-गायन के साथ हुआ। वैसे तो अधिकांश गायक मृदंग के ठेके पर भरोसा न करके स्वयं हाथ से ठेका देते थे। ठेके के आने से संगीत में एक क्रांति उत्पन्न हुई तथा साथ ही अति विलम्बित लय में ध्रुपद गाने का चलन संभव हो पाया। ख्याल गायन के आने से 'ठेके' का महत्व और भी बढ़ गया 'ख्याल' में कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करते हैं। जिसके लिए उन्हें ठेके की आवयकता पड़ती है। वह अपनी कल्पना की उड़ान भरकर पुनः आकर ताल में मिल जाता है तथा बंदिश के मुखड़े को उठाता है। इसलिए मध्य तथा द्रुत लय में ताल वादक कुछ बदलाव या भराव कर सकता है। परन्तु विलम्बित लय में ताल वादक को ठेका ही बजाना पड़ता है। इसलिए ठेके के बोल निश्चित किये गये। जिन्हें बार-बार दोहराया जाता है तथा गायक-वादक ठेके के वज़न के अनुसार अपने गायन का रखरखाव

करता है। इसी बार-बार दोहराई जाने वाली तालों से वे सभी और भी प्रस्तारित हो गये व परम्पराओं व पीढ़ीयों तक याद रखे जाने लगे।

जब से ठेका वादन का प्रचार बढ़ा तभी से ठेके के अतिरिक्त तबले के अन्य बोलों का गठन भिन्न-भिन्न नामों से होने लगा। इस प्रकार कायदा, रेला, पेशकार, टुकड़ा, गत, परन, आदि प्रकारों का प्रचलन बैठा, जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे अवनद्ध वाद्यों का प्रचार प्रसार तथा ताल साहित्य में वृद्धि होने लगी तथा अवनद्ध वाद्यों का स्वतंत्र वादन भी होने लगा। स्वतंत्र वादन के साथ-साथ संगीत जगत में ठेके के आ जाने से अनेक प्रकार के परिवर्तन आए। सबसे पहले गायन वादन के सौंदर्य में वृद्धि हुई। 'ठेका' संगत के दौरान गायक एक निश्चित नियम तथा समय बन्धन में बंध जाता है तथा उसका गायन वादन अनुशासित हो जाता है। जिससे गायन-वादन सुगठित, स्थायी, व चमत्कारिता से भर जाता है। ठेके के निश्चित स्वरूप से गायक वादक अथवा नर्तक सचेत रहता है तथा बेताला होने से बचता है। ख्याल गायकों के निबद्ध गान में कल्पना का भरपूर प्रयोग होता है। ऐसे में गायक की दृष्टि एवं एकाग्रता स्वरों के सौंदर्य पर रहती है। अतः ताल वादक विलम्बित या द्रुत लय में आवश्यकतानुसार ठेका प्रदान कर कलाकार को मज़बूत अवलम्ब प्रदान करता है। इसी प्रकार ध्रुपद व ख़्याल के बाद अन्य शैलियों में ठेके निर्मित हुए। ध्रुपद धमार के लिए खुले बोल का पखावजी ठेका तथा ख्याल, टप्पा, ठुमरी के लिए बंद बोल के द्रुतगति में बजने वाले तथा ग़ज़ल भजन दादरा आदि के लिए छोटी मात्राओं के सुन्दर व कोमल ठेकों का निर्माण हुआ जो गायन के अनुकूल रस उत्पत्ति उत्पन्न करने में सक्षम हुए।

आगे चलकर ठेकों के बोलों को उल्ट पलट कर उनके वज़न तथा चलन में कुछ परिवर्तन करके ठेकों के विविध स्वरूप बनाए जाने लगे। जिन्हें ठेके के प्रकार कहा जाने लगा। ठेका जितना खूबसूरत बनाया जाए गायन वादन में उतना ही आनन्द आता है। गायन शैलियों की विविधता तथा प्रस्तुतिकरण के ढंग के आधार पर ठेके में दायां व बायां अर्थात् भारी व तीव्र बोलों का प्रयोग किया जाता है तथा छोटे-छोटे बोल समूहों द्वारा जिन्हें आज मोहरा, मुखडा, तिहाई, आदि कहा जाता है, का प्रयोग कर ठेके व गायन को और भी सुन्दर बनाया जाता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि संगीत में 'ठेके' का अत्यधिक महत्व आवश्यकता एवं उपयोगिता है। गीत, वाद्य और नृत्य को आधार प्रदान कर संगीत में नियमबद्धता, सौन्दर्य एवं आनन्द का समावेश करने के कारण संगीत में 'ठेके' का विशेष स्थान है।

संदर्भः

1. चौधरी सुभद्रा – संगीत संचयन, कृष्णाब्रदर्स, अचमेर, प्रथम संस्करण 1989, 07-04-2022
2. पाठक, डॉ. सुनन्दा – हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, प्रथम संस्करण 1989, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 7-4-2022
3. भातखण्डे पं. विष्णु नारायण – क्रमिक पुस्तक मालिका भाग-2, जून 1989, संगीत कार्यालय हाथरस (उत्तर प्रदेश)
4. पूछ वाले राजा भैया – ध्रुपद धमार गायक प्रथम भाग संवत् 2011 प्रकाशक शंकर रामचन्द्र गोलवलकर, रामचन्द्र संगीत पुस्तक भंडार, ग्वालियर

'तराना' गायकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप

डॉ. लिकेश्वर वर्मा

'रागदारी' भारतीय संगीत की विलक्षणता है जो विश्व के अन्य प्रकार के संगीत से भारतीय संगीत को अलग करता है। राग परम्परा का मूल हमें नारदीयशिक्षा से प्राप्त होता है परन्तु स्पष्ट रूप से राग की परिभाषा मतंग मुनि प्रणीत 'बृहद्देशी' ग्रन्थ में मिलता है। निबद्ध एवं अनिबद्ध 'राग' को व्यक्त करने के दो माध्यम हैं। निबद्ध एवं अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग भरत, मतंग, शारंगदेव आदि सभी मनीषियों ने किया है। भरत ने अत्यंत व्यापक अर्थ में नियत अक्षर वाले, छंदोबद्ध, तालबद्ध और सार्थक प्रयोग को 'निबद्ध' कहा है और अनियत स्वरुप वाले, छंदरहित, ताल रहित और निरर्थक प्रयोगों को 'अनिबद्ध' संज्ञा दी है । भारतीय संगीत में निबद्ध की अपेक्षा मुक्त विस्तार की हमेशा प्रधानता रही, फिर भी गीत का विशेष स्थान व प्रयोजन रहा है ।

राग को अभिव्यक्त करने के लिए 'निबद्ध' सांगीतिक रचनाएँ या गीत, विभिन्न कालों में अनेक रूप में प्रचलित रहे हैं जिनमें से उत्तर भारतीय संगीत में ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, ठुमरी इत्यादि प्रमुख हैं। इन सभी गीत प्रकारों में से 'तराना' एक महत्त्वपूर्ण गायकी है जिसकी उत्पत्ति, स्वरूप व प्रस्तुतीकरण के विषय में अलग-अलग तरह के विचार प्रचलित हैं । 'तराने' को सामान्यतः निरर्थक बोलों से निर्मित व द्रुत लय में गाये जाने वाला एक गीत प्रकार कहा जाता है साथ में यह भी जोड़ दिया जाता है कि इसका आविष्कार अमीर खुसरो ने किया। संगीत के पुस्तकों में भी प्रायः तराने की यही परिभाषा मिलती है तथा संगीत के सामान्य विद्यार्थियों का सरोकार भी तराने के इसी स्वरूप से होता है क्योंकि उन्हें पाठ्यक्रम में सिखाये जाने वाले तराने भी उक्त परिभाषा को पुष्ट करते हैं। 'तराना' के सन्दर्भ में कुछ बिंदु विचारणीय हैं जैसे –1. तराना क्या केवल निरर्थक शब्दों से निर्मित रचना है ? 2. क्या तराना में प्रयुक्त शब्द सार्थक हैं? 3. क्या तराने में सार्थक शब्दों का प्रयोग भी होता था ? 4. क्या इसका आविष्कार अमीर खुसरो ने किया ? 5. क्या तराने को केवल मध्यलय अथवा द्रुत लय में गाया जाता है? अथवा 6. तराना एवं तिल्लाना में क्या समानता एवं विभिन्नता है ? उक्त सभी बिनदुओ पर पूर्व में अनेक विद्वानों के द्वारा गहन विचार किया गया है जिनको देखकर लगभग सभी प्रश्नों को उत्तर हमें मिल सकते हैं, तथापि इस विषय पर पुनर्विचार करना भी उचित है ताकि कुछ नवीन तथ्यों को उसके साथ जोड़ा जा सके जिससे वर्तमान में शोधपरक दृष्टि रखने वाले तथा जिज्ञासु विद्यार्थियों का कुछ लाभ हो सके।

''तराना एक फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- गीत। संभवतः तराना की उत्पत्ति 'तरन्नुम' शब्द से हुई। जब कोई शायर अपनी ग़ज़ल को गाकर अर्थात् विशेष धुन के आधार पर प्रस्तुत करता है तो उसे 'तरन्नुम' कहते हैं। तराना के बोल- तदारे, दानि, दीम, तदानि, ओदानी, तनूम इत्यादि होते हैं। तराना के बोलों के संबंध में मतान्तर देखने को मिलते हैं । प्रथम मत के अनुसार तराना के प्रचलित बोल हमारी पुरातन संस्कृति के 'ओम अनंत

हरिनारायण' इत्यादि शब्दों के विकृत हुए बोल हैं। द्वितीय मत के अनुसार यह अरबी भाषा से लिये गये शब्द हैं जिनका प्रयोग नबी, अल्लाह की उपासना में किया जाता है। तृतीय मत के अनुसार इसके बोल निरर्थक हैं, जो लय-ताल में गाये जाते हैं। राजा नवाब अली ने अपने ग्रन्थ मारिफ़ुन्नग़मात में कहा है कि तराने का आविष्कार दिल्ली वाले अमीर खुसरो ने किया है। भारतीय संगीत में ख़याल विधा के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद अमीर खान साहब ने 'तराना' पर बहुत गहन विचार कर कहा था कि तराने में आने वाले शब्द तदीम, तन न न , तान, तानी, तदानी,दानी, ओदानी, तोम, तनोम, दारी, दिर-दिर, देरेना,यला, अलालुम इत्यादि सार्थक शब्द हैं जैसे 'ओदानी' का अर्थ है – 'वह जानता है' और 'तुदानी' का अर्थ है – 'तुम जानते हो' इसके साथ ही अलहिला, लिल्ला, अली,अललूम – ये सभी ईश्वर के पर्यायवाची हैं, इत्यादि। उन्होंने अनेक रागों में फ़ारसी शेर युक्त तरानों की रचना की जिसमें से राग दरबारी एक बंदिश **'या रे मन बया बया'** दृष्टव्य है, जो संगीत जगत् में अत्यंत प्रसिद्ध है। उस्ताद अमीर खां ने इसके अलावा अन्य कई रागों में तराने की रचना की, जिनमें राग- भाव के अनुकूल फ़ारसी शेरों का उचित समावेश किया। उनकी मान्यता है की अमीर खुसरो ने संभवतः तराने की बहुत सी रचनाएं की होंगी।

तराने के सन्दर्भ में ज़्यादातर लोगों का मत है कि इसका अविष्कार अमीर खुसरो ने किया परन्तु आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ 'संगीत चिंतामणि' में इसका खण्डन करते हुए कहा है कि ''खुसरो तराने के आविष्कारक नहीं थे। जब सूफ़ी भारत में आये तब अपनी रुचि का तराना भी साथ लाये। तराना हज़रत अमीर खुसरो से पहले की चीज़ है।'' यह बात वास्तव में विचारणीय है कि तराने को यदि निरर्थक बोलों से निर्मित रचना कहा जाये तो भारतीय संगीत में इसका इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 'निर्गीत' अथवा 'बहिर्गीत' का उल्लेख पांचवे अध्याय में किया है जिसे निरर्थक गीत भी कहा गया है और इसके आविष्कर्ता नारद माने गए हैं ;-

चित्रदक्षिणवृत्ते तु सप्तरूपे प्रकीर्तिता।
सोपोहने सनिर्गीते देवास्तुत्यभिनन्दिते॥
नारद्दैस्तु गंधर्वैंसभायाम देवदानवाः ।
निर्गीतं श्रावितः सम्यग्लयतालसमन्वितम्॥

अर्थात् जब नारद मुनि आदि वाद्यविशारदों और गन्धर्वों के द्वारा चित्र और दक्षिणमार्ग से युक्त, सप्तरूप समन्वित उपोहन किया और 'निर्गीत' के साथ देवताओं की स्तुतिओं से प्रशस्त स्वरूप वाले तथा लय और ताल के उचित मेल से युक्त उस निर्गीत को देवता और दानवों की सभा में सुनाया गया। आचार्य भरत ने 'निर्गीत' का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि –

निर्गीतं गीयते यस्माद्पदं वर्ण योजनात्।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम्॥

अर्थात् यह शब्द या पद रहित केवल निरर्थक वर्णों की योजना से गाए जाने के कारण 'निर्गीत' कहलाता है और यही देवगणों की असंतुष्टि के कारण 'बहिर्गीत' भी कहलाता है।

इस निर्गीत में स्तोभाक्षरों या शुष्काक्षरों का प्रयोग होता था। ओंकार और स्वर-व्यंजन-युक्त हकार की गणना भी स्तोभाक्षरों में है। इनका प्रयोग वैदिककाल से भारतीय संगीत में प्रचलित है। शुष्काक्षरों से युक्त छंद का रूप भी नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है जैसे – **दिग्ले दिग्ले झण्टू झण्टू। जम्बुकपलितक ते ते चाम॥**

इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि निरर्थक शब्दयुक्त गीतों का गान भारतीय संगीत में प्राचीनकाल से प्रचलित है। इन प्रमाणों के अनुसार तराना जिसका प्राचीन नाम निर्गीत या बहिर्गीत था अमीर खुसरो की रचना नहीं है, उसके कर्त्ता नारद हैं। उसके रूप में युगानुकूल परिवर्तन होता रहा। प्रबंध काल में एक प्रबंध के समान, ध्रुपद काल में ध्रुपद के साथ और अब ख्याल के काल में ख्याल के समान त्रिवट व तरानों को गाने की परिपाटी चली। इतिहास में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अमीर खुसरो फ़ारसी ,अरबी और तुर्की के विद्वान थे व ईरानी संगीत के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप से परिचित थे, परन्तु उन्हें 'तराना' का आविष्कारक कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। संभवतः निर्गीत से मिलते-जुलते किसी गीत का गान ईरानी या फ़ारसी संगीत में होता रहा हो इसलिए खुसरो के साथ भारतीय निर्गीतों को भी फ़ारसी भाषा के तराना शब्द से संबोधित किया जाने लगा।

पं. भातखण्डे जी के क्रमिक पुस्तक मालिका के अतिरिक्त अन्य कई किताबों में उपलब्ध तरानों में कभी-कभी मृदंग के बोल अथवा फ़ारसी भाषा के एक-दो शेरों का संयोग दिखाई देता है। फ़क़ीरुल्लाह ने अपने ग्रन्थ तर्जुम-ए-मानकुतूहल व रिसाल-ए-रागदर्पण में तराने के विषय में कहा है कि 'तराना' में 'ता ना तिली' आदि शब्दों के अतिरिक्त उर्दू व फ़ारसी भाषा के सार्थक शब्द भी होते हैं तथा 'तिल्लाना' में केवल निरर्थक बोलों का समावेश होता है। इसके संबंध में प्रो. शहाब सरमादी ने कहा है कि **"It is to be borne in mind that Ta-na-tilli happened to be Tala-style, instead of solfa syllables, and never a jingle of meaningless or extemporized words."** फ़क़ीरुल्ला ने जिस प्रकार के तराने का वर्णन किया है उसके प्रमाण क्रमिक पुस्तक मालिका तथा 'नादविनोद' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है जिसका उद्धरण तराने के प्रकार के अंतर्गत किया जायेगा। इन उदाहरणों तथा फ़क़ीरुल्लाह के विचार से प्रमाणित होता है कि तराने के वास्तविक स्वरूप में निरर्थक शब्दों के अतिरिक्त सार्थक शब्द भी होते थे जो आजकल कम प्रचार में है। तराने के उद्भव के विषय में भले ही मतभेद हो मगर इसकी लोकप्रियता के सन्दर्भ में सभी विद्वान एक मत हैं। जब गायक ख्याल गायन प्रस्तुत करके अंत में तराना प्रस्तुत करता है तो श्रोताओं में एक नई चेतना का संचार होता है। वर्तमान में सामान्यतः 'ख्याल' गाने के बाद 'तराना' को मध्यलय/द्रुत लय में प्रस्तुत करते हुए उसके बोलों व ताल के सामंजस्य से एक विचित्रता उत्पन्न की जाती है। 'तराना' अधिकतर मध्य तथा द्रुत लय में ही गाया जाता है परन्तु संगीत के अनेक पुस्तकों में विलंबित तराने भी देखने को मिलते हैं, जिसे कुछ विद्वान 'ख्यालनुमा' तराना कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'तराने' को बनावट के आधार पर निम्नानुसार समझा जा सकता है :-

1. **तराने का एक प्रकार जिसमें स्थायी व अंतरा दोनों में केवल तराने के बोल होते हैं, आजकल अधिकांशतः तराने का यही स्वरुप प्रचार में है।**

राग – भूपाली

स्थायी – तोम तना देरेना तनोम तदियाना रे ,

तारे दानि तदारे दानि नाद्रे तुंद्रे दीम तारे दानि तदानि तदारे दानि ।।

अन्तरा- तनन तनन तोम तदारे तन देरे,

तानोम तनोम ओदतन दीम तदीम दीम दीम

तोम तोम तदियान रे तारे दानि तदानी तदारे दानि ।।

2. **तराने का दूसरा प्रकार जिसमें मृदंग आदि के बोल भी होते हैं :-**

राग –देस

स्थायी - तदारे दानि दीम तन देरेना ,

तन देरेना तन देरेना ।।

अन्तरा – ना दिर दिर दानि तुम दिर दिर दानि तदारे दानि,

दियानारे तोम तन तक्घड़ान तिरकिट तक्घड़ान धा ।।

3. **तराने का तीसरा प्रकार जिसके स्थायी में तराने के बोल तथा अंतरे में फारसी भाषा के अर्थपूर्ण पंक्तियों का समावेश होता है :-**

राग- बिलासखानी तोड़ी

स्थायी- अते तदेदानि दीम तननन दीम् तननन

दारा दारा तारे दान्नी तर दे तर दे तरे उदानि तदानि दारा दारा।

अन्तरा- बर मजारे मा ग़रीबां इं चराबां चूं गुले।

ने सरे परवाना दारद ने फोआ ने बुलबुले।।

4. **पं. पन्नालाल गोस्वामी के ग्रन्थ 'नादविनोद' में तराने का एक प्रकार उद्धृत है जिसमें फ़ारसी भाषा की पंक्ति के स्थान पर हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषा की कविता का समावेश है :-**

राग- तोड़ी

स्थायी- अरे मन दर तुम दर तदानी दरनिले तू नदानि न दानी तरसे।

अन्तरा- तरनरे तारनरे दरतुं दरदे तुंदर तुमरे तुम तनम दरसे।

आभोग-कैसी ये भांत चपला सुघर ना बोले, ऐसी सुन्दर सूसरसे तर दरादर तरदरादर दरबार मन, आ मेरे सुन्दर-सुन्दर तरीर तरीर राखूं सुघरसे। (नाद-विनोद)।

इसी तरह वर्तमान में 'तिल्लाना' कर्नाटक संगीत में प्रयुक्त एक महत्त्वपूर्ण गीत-प्रकार है जिसे उत्तर भारतीय तराने का पर्याय माना जाता है। फकीरुल्लाह के अनुसार तराने में कविता अर्थात् सार्थक पद के साथ 'ता ना तिली' आदि निरर्थक शब्दों का समावेश तथा दूसरी ओर 'तिल्लाना' में केवल निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता था। तिल्लाना के विषय में डॉ. सुभद्रा चौधरी का विचार है कि ''यह नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत है जिसमें प्रमुख रूप से तों, तनन, न, दे, धिम् जैसे निरर्थक अक्षर, सोलकट्टु अर्थात् पाटाक्षर और स्वर तथा चरणम् में पद रहता है। इसकी रचना 18वीं सदी के वाग्गेयकारों के द्वारा हुई।'' आचार्य तुलसीराम देवांगन के अनुसार 'तिल्लाना' नृत्य के साथ प्रयुक्त ताल, पद, स्वर एवं तेनादि स्तोभाक्षरों से युक्त रचना है। उत्तर भारतीय 'तराना' के समान इसकी रचना होती है। पद के रूप में संस्कृत या तेलगू भाषा या अन्य दाक्षिणात्य भाषा के शब्द रहते हैं। 'ति' 'ल' 'ला' 'ना' आदि अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। इसी से इसका नाम 'तिल्लाना' है। इसमें 'चोलुकेट्टुओं' (विभिन्न प्रकार के बोलों) की प्रधानता होती है। तराना एवं तिल्लाना का वर्तमान स्वरूप फ़कीरुल्लाह के मत के ठीक विपरीत हैं क्योकि तराने में शब्द या कविता का अभाव है तथा तिल्लाना में निरर्थक शब्दों के अलावा दाक्षिणात्य भाषा के शब्द पाये जाते हैं। तराना एवं तिल्लाना में समानता एवं असमानता दोनों है अस्तु तिल्लाना को तराने का पर्याय कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध विद्वान गायक पं. विद्याधर व्यास जी का आगमन इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,खैरागढ़ में सन् 2000 में हुआ था। 'मल्हार के प्रकार' विषय पर अपने प्रदर्शनात्मक व्याख्यान के दौरान उन्होंने राग गौड़ मल्हार में एक तराना **'तन ना दिर दिर दानि'** प्रस्तुत की जिसमें छोटी-छोटी तानों का प्रयोग करते हुए कहा था कि यह **'तनायती तराना'** है। अर्थात् ऐसा तराना जो गायक को तान करने के लिए प्रेरित करे **(दृष्टव्य : मल्हार के प्रकार - पं. विद्याधर व्यास, सन् 2000- वि.वि. ऑडियो-विजुअल विभाग)।** इसी तरह के तराने को कुछ संगीतविद् 'तान बंधान' तराना भी कहते हैं जिसमें गायक तराने को अपने-अपने ढंग से विभिन्न प्रकार के तानों से सजाते हैं। उल्लेखनीय है कि छत्तीसगढ़ के लोकगीतों में भी तराने के जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता है। छत्तीसगढ़ का लोकसंगीत अत्यंत समृद्ध है। यहाँ लोकगीतों का प्रयोग विभिन्न अवसरों में होता है, जिसमें से छेरछेरा पूर्णिमा के अवसर पर गाये जाने वाले 'डंडा गीत' तथा सावन मास व दीपावली के अवसर में प्रयुक्त 'सुआ गीत ' में निरर्थक बोलों का प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे डंडा गीत के साथ – **'ये हरि ना ना मोर नाना रे भैया'** तथा सुआ गीत के साथ **'तरी ओ हरी नहा नरी नहा नरी ना ना ना रे सुआ हो तरी ओ हरी नहा नरी नहा नरी ना'** आदि तराने के सदृश शब्दों का प्रयोग होता है।

कला की परिवर्तनशीलता उसकी जीवन्तता का प्रमाण है। संगीत एक अमूर्त कला है, इसलिए परिवर्तन इसके बाह्यस्वरूप में ही देखा व महसूस किया जा सकता है इसीलिए उसकी आत्मा उसी रूप में सदियों से विद्यमान है। कोई भी परिवर्तन या सृजन अनायास नहीं होता। संगीत की मुख्य धारा के साथ अनेक सहायक धाराएं समानांतर प्रवाहित होती रही हैं और समय के साथ वही सहायक धाराएं कालांतर में मुख्य धारा में जुड़कर उसे मज़बूत और प्रवाहमान बनाती रही हैं। संगीत में प्रचलित गीत-प्रकार एकाएक अस्तित्त्व में नहीं आये बल्कि समानांतर चलने वाली

चीज़ों को समय-समय पर विद्वानों ने परिमार्जित और परिष्कृत कर अपनाया है। इसी तारतम्य में प्राचीन काल से 'तराना' गायकी का अस्तित्त्व भी रूपभेद से भारतीय सगीत में रहा है। वर्तमान में केवल द्रुत लय के संक्षिप्त तराने अधिकतर प्रस्तुत किये जाते हैं जो तराने का एक प्रकार मात्र है। अतः इसे अमीर खुसरो का आविष्कार, केवल निरर्थक बोलों का समूह तथा द्रुत लय में गाये जाने वाला गीत प्रकार कहना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

संदर्भ :-

- नारदीय शिक्षानारद :, शिवराज आचार्य कौण्डियायन, श्लोक-07 पृष्ठ क्र .24,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-2002 संस्करण।
- मतंग मुनि : बृहद्देशी खण्ड)02)-, केसाम्बशिव शास्त्री ., श्लोक 264-265, पृष्ठ क्र .76 त्रावणकोर संस्कृत सीरीज़ -1928।
- बावरा डॉ. जोगिन्दर सिंह: भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, पृ0 क्र0 97-98, ए. बी. एस. प्रकाशन, जालन्धर, 1994।
- रसूल ग़ुलाम : तराना अंक, सगीत पत्रिका , जनवरी 1968, , पृष्ठ क्र. 16 सगीत कार्यालय हाथरस।
- Ustad Amir Khan : Interview in London, https://youtu.be/HatNtgCuA-0
- आचार्य भरत : नाट्यशास्त्र पंचम अध्याय श्लोक संख्या 31-32, पृष्ठ क्रमांक-162 ,संपादक एवं व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संसथान, वाराणसी।, वही श्लोक संख्या-43 , पृष्ठ क्रमांक 165
- वही श्लोक संख्या-113 , पृष्ठ क्रमांक 182
- Sarmadi Shahab: Tarjuma-i-Manakutuhal & Risala-i-Ragadarpan (English Translation), published by Indira Gandhi National Centre for the Arts,1996,page no 284 .
- भातखंडे पंडित विष्णुनारायण : क्रमिक पुस्तक मलिका भाग -03, पृष्ठ क्रमांक 36, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
- वही पृष्ठ क्रमांक 278-79
- रसूल ग़ुलाम : तराना अंक, सगीत पत्रिका , जनवरी 1968, , पृष्ठ क्र. 17 सगीत कार्यालय हाथरस।, वही पृष्ठ क्रमांक-18
- चौधरी सुभद्रा: भारतीय संगीत मे निबद्ध, पृष्ठ क्रमांक 330, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली।
- देवांगन आचार्य तुलसीराम: भारतीय संगीत शास्त्र, पृ0 क्र0 367, म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

वर्तमान शिक्षा में 'संगीत शास्त्र' की सहभागिता एक चर्चा

डॉ. श्रुति कश्यप

भारतीय संस्कृति में 'शिक्षा' को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्राचीन काल से ही गुरुओं द्वारा अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा दिए जाने संबंधी अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस बात में कोई संशय नहीं है कि संगीत के विकास में शिक्षा का योगदान सर्वप्रथम है। प्राचीन भारत में संगीत को धर्म के साथ जोड़कर देखने की परम्परा थी। अर्थात् धर्म के लिए संगीत का व्यवहार समाज में होता था। सामाजिक पर्व-उत्सवों के माध्यम से संगीत संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन होता था। रामायण, महाभारत आदि धर्म-ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह बात पुष्ट हो जाती है। 'संगीत को संरक्षण प्रदान करने तथा अग्रिम पीढ़ी तक पहुँचाने के उद्देश्य से शिक्षण की आवश्यकता होना स्वाभाविक था, इसलिए ऋत्विजों को सामगान का विशेष प्रशिक्षण मूल सामग ऋषियों द्वारा दिया जाना अनिवार्य था। संभवतः यही से संगीत शिक्षा का प्रारंभ हुआ।'

उल्लेखनीय है, कि भारत में प्राचीनकाल से अब तक संगीत शिक्षा की प्रमुखतः तीन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। पहली पद्धति प्राचीन ऋषि-मुनियों के आश्रमों में पल्लवित हुई, जिसके कारण इसे 'आश्रम' या 'गुरुकुल पद्धति' कहा गया। 'भारतीय संगीत-शिक्षा-प्रणाली मूलतः गुरुकुल-पद्धति पर ही आधारित रही है। गुरुकुल का अर्थ है- गुरु के गृह या आश्रम में रहकर विद्योपार्जन करना। जिन विद्यार्थियों को संगीत शिक्षा ग्रहण करने की प्रबल इच्छा होती थी, वे गुरु के आश्रम या घर में उनके साथ रहकर कई वर्षों तक लगातार संगीत की शिक्षा लेते थे।

दूसरी पद्धति 'गुरु-शिष्य परम्परा' के रूप में घरानों के माध्यम से प्रसिद्ध हुई। यह पद्धति आश्रम या गुरुकुल पद्धति से अनुप्राणित थी, जहाँ विद्यार्थियों को गुरु के सम्मुख संगीत की शिक्षा प्राप्त होती थी। 'संगीत शिक्षा के सिद्धान्तों का ज्ञान गुरुमुख के द्वारा प्रत्यक्षिक के साथ दिया जाता था। विद्वज्जन तथा रसिकों के समक्ष जब संगीत का प्रदर्शन अभीष्ट था तो यह आवश्यक था कि छात्र अपनी गुरु परम्परा का वहन अखण्डित रूप से करे।' तीसरी पद्धति को 'संस्थागत संगीत शिक्षण' या 'आधुनिक शिक्षा पद्धति' के नाम से जाना गया। वर्तमान में आश्रम पद्धति पूर्ण समाप्त हो चुकी है, किन्तु संगीत शिक्षा के क्षेत्र में शेष दो पद्धतियाँ अभी भी व्यवहार में हैं। इन दो पद्धतियों में से आधुनिक शिक्षा पद्धति का क्षेत्र वर्तमान में अत्यधित विस्तृत हो चुका है।

उक्त वर्णित तीनों पद्धतियों में संगीत के प्रायोगिक और सैद्धान्तिक इन दोनों पक्षों की शिक्षा समान रूप से दिए जाने का विधान रहा है। विशेष रूप से गुरु-शिष्य परम्परा और संस्थागत शिक्षा पद्धति में विद्यार्थियों को संगीत के ये दोनों ही पक्ष समान रूप से सिखाये जाते हैं। संगीत का सैद्धान्तिक पक्ष मुख्य रूप से 'संगीत-शास्त्र'

पर आधारित होता है। प्राचीन समय से ही आचार्यों ने संगीत को शास्त्रबद्ध कर 'संगीत-शास्त्र' की रचना की। यद्यपि इस विषय का सूत्रपात भरत द्वारा नाट्यशास्त्र में किया गया तथापि मतंग, शारंगदेव आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों की रचना कर संगीत-शास्त्र के अंतर्गत गायन और वादन कला के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का विवेचन कर भारतीय संगीत को सुगठित स्वरूप प्रदान किया। उक्त आचार्यों के अतिरिक्त आधुनिक कालीन अनेक विद्वानों ने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखे गये संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों की समीक्षा, व्याख्या और अनुवाद कर प्राचीन परम्परा को गति देने में महति भूमिका निभाई।

भारत में संगीत शास्त्र के क्षेत्र में विदुषी डॉ. प्रेमलता शर्मा, डॉ. सुभद्रा चौधरी, डॉ. हरिहरनिवास द्विवेदी, डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार, डॉ. राधेश्याम जायसवाल, डॉ. तेजसिंह टाक आदि अनेकानेक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय रहे हैं। इसके अतिरिक्त संगीत-शास्त्र के साथ-साथ प्राचीन ग्रंथों के आधार पर अनेक विद्वानों ने संगीत का व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया, जिनमें राजा सौरेन्द्रमोहन, ठाकुर जयदेव सिंह, डॉ. शरच्चन्द्रश्रीधर पराँजपे, के. वासुदेव शास्त्री आदि के नाम विशिष्ट रहे हैं। इन विद्वानों ने संगीत के शास्त्र और इतिहास पक्ष को परम्परा के साथ-साथ सिद्धान्तों के आधार पर विश्लेषित किया।

आधुनिक काल में संगीत की शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से प्रदान की जाने लगी, जो इससे पूर्व घरानों में गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में दी जा रही थी। यद्यपि गुरु-शिष्य परम्परा और घरानों का अस्तित्व अब भी है तथापि शिक्षा प्रणाली की दृष्टि से संस्थागत प्रणाली आधुनिक काल में संगीत-शिक्षा की प्रमुख पद्धति के रूप में स्थापित हो चुकी है। इसके कारण कुछ घराने विलुप्त हो गए। "जिन परम्पराओं में योग्य शिष्यों का निष्पादन होता रहा, वे बनी रहीं तथा जिनमें अच्छे शिष्य उत्पन्न नहीं हुए वे परम्परायें क्षीण होती चली गई या फिर विलुप्त हो गयीं।" अतः विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में संगीत की शिक्षा पाठ्यक्रम के अनुरूप प्रदान करने की व्यवस्था की गई। स्नातक और स्नातकोत्तर की कक्षाओं के रूप में संगीत-शिक्षा को नियमित समयावधि में बांध दिया गया। इसके अतिरिक्त संगीत के प्रयोग पक्ष के साथ-साथ सैद्धान्तिक पक्ष की शिक्षा विद्यार्थियों को दिए जाने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम निर्मित गये। उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय स्तर पर संगीत की शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ पहली संस्था रही है, इसके पश्चात् देश में अनेकानेक विश्वविद्यालयों में संगीत को विषय के रूप में सम्मिलित किया गया तथा सुचारू पाठ्यक्रम के माध्यम विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था हुई। विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली गायन, वादन की शिक्षा हेतु निर्धारित पाठ्यक्रम में 'संगीत-शास्त्र' को भी स्थान दिया गया। परन्तु स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों में संगीत शास्त्र को सीमित कर दिया गया। इसका एक कारण यह है कि विद्यार्थियों को प्रयोग और सिद्धान्त के साथ संगीत-शास्त्र के अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन सीमित अवधि में पूर्ण करना असंभव है। अतः प्रारंभिक समय में तत्कालीन विद्वानों ने विश्वविद्यालयों में संगीत का विषय

विभाजन कर दिया। जो विद्यार्थी संगीत के प्रायोगिक पक्ष का अध्ययन करना चाहते थे, उनके लिए अलग पाठ्यक्रम बनाया गया और जो विद्यार्थी विशिष्ट रूप से 'संगीत-शास्त्र' संबंधी अध्ययन करने में रुचि रखते थे, उनके लिए 'संगीत-शास्त्र' को विषय के रूप में पृथक् पाठ्यक्रम के साथ स्थापित कर दिया गया।

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, संगीत के शास्त्र पक्ष की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से प्रमुख केन्द्र रहे हैं। परन्तु धीरे-धीरे संगीत-शास्त्र विषय इन विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से बाहर हो गया अथवा शिक्षकों के सेवानिवृत्त हो जाने और उनके स्थान पर अन्य संगीत-शास्त्र से संबंधित शिक्षकों के न आने से यह पाठ्यक्रम प्रायः वर्तमान संगीत शिक्षा से दूर हो चुका है। परिणाम स्वरूप में संगीत-शिक्षा में 'शास्त्र' पक्ष अतिसीमित हो गया और वर्तमान यानी 21वीं सदी के तीसरे दशक के आते-आते लगभग संगीत-शास्त्र विषय का लोप ही हो चुका है।

संगीत-शास्त्र, जो मूलतः भारतीय शास्त्रीय संगीत का कभी आधार हुआ करता था, आज वही आधारहीन हो चुका है। इसके कारणों पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि संगीत-शास्त्र विषय गायन और वादन की शिक्षा की अपेक्षा अधिक कठिन और श्रमसाध्य है। इसका दूसरा और गंभीर कारण यह है कि प्राचीन संगीत-शास्त्र से संबंधित ग्रंथ संस्कृत भाषा में ही प्राप्त होते हैं, हालांकि अनेक प्राचीन ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद और व्याख्या की गई है तथापि अब भी ऐसे अनेक ग्रंथ है, जिनका अनुवाद नहीं हो सका है।

तीसरा कारण यह है, कि भारत में शालेय शिक्षा और उच्चशिक्षा में संस्कृत और हिन्दी माध्यम का स्थान अंग्रेजी भाषा ने ले लिया है। चूँकि सम्पूर्ण उत्तर और मध्य भारत में हिन्दी बोलचाल की भाषा भी है, अतः हिन्दी भाषा में अध्ययन की दृष्टि से उतनी समस्या नहीं आई, किन्तु संस्कृत भाषा का प्रचार अतिसीमित हो गया। अंग्रेजी माध्यम में संस्कृत भाषा की शिक्षा नहीं दी जाती तथा हिन्दी माध्यम की शालाओं में कक्षा दसवीं तक संस्कृत वैकल्पिक भाषा के रूप में पढ़ाई तो जाती है, किन्तु आज हिन्दी माध्यमों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में अपेक्षा से अधिक गिरावट आयी है। परिणाम स्वरूप संगीत-शास्त्र संबंधी प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने, समझने और उस आधार पर अध्ययन करने में विद्यार्थियों को होने वाली कठिनाई के कारण धीरे-धीरे संगीत-शास्त्र विषय के विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी।

संगीत-शास्त्र विषय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. अनिल बिहारी ब्यौहार ने एक साक्षात्कार में, वर्तमान संगीत शिक्षा में शास्त्र के स्वरूप और विद्यार्थियों के रुझान में परिवर्तन के संबंध में पूछे गये प्रश्न के प्रतिउत्तर में कहते हैं, कि- "शास्त्र के प्रति संगीत के विद्यार्थियों का रुझान प्रायः कम ही देखा जाता है। आज भी कम है और पहले भी कम ही था, बहुत ज्यादा नहीं था। तो बहुत अन्तर तो नहीं आया है। यह अवश्य है कि जैसे पहले क्रियात्मक क्षेत्र में भी काम करने वाले वाले विद्यार्थियों में ज्यादा सिंसियारिटी पाई जाती थी वैसी ही सिंसियारिटी शास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थियों में भी होती थी। अब उस सिंसियारिटी का अभाव आज प्रयोग में भी

मिल रहा है। जो समर्पित विद्यार्थी संगीत के प्रयोग को सीखने को तत्पर नहीं होते हैं, बस किसी प्रकार से डिग्री प्राप्त कर लें और नौकरी मिल जाए, सीखना उनको बहुत ज्यादा न पड़े। तो वो स्थिति, जैसी आज प्रयोग में है, लगभग वैसी ही उपेक्षा शास्त्र पक्ष में भी है बस अन्तर खाली क्या आ गया है, कि शास्त्र में पहले नियमित पाठ्यक्रम चल रहा था, बनारस विश्वविद्यालय या खैरागढ़ विश्वविद्यालय में, तो वहीं पर अध्ययन अध्यापन होता था। आज की स्थिति में लगभग यह पाठ्यक्रम न के बराबर चल रहा है, तो ऐसी स्थिति में जो विद्यार्थी थोड़ा-बहुत उत्सुक रहे भी हैं इस विषय में, तो उनको बहुत मौका नहीं मिला शास्त्र पढ़ने का अब केवल जो प्रयोग के विद्यार्थी हैं यदि वे जानना चाहते हैं तो उनको अवश्य हम जानकारी उपलब्ध कराते हैं। औपचारिक तौर पर अब यह पाठ्यक्रम न के बराबर है। अभी फिलहाल इस वर्ष औरंगाबाद विश्वविद्यालय में ये पाठ्यक्रम शुरु किया गया है।

प्रो. ब्यौहार की बातों से स्पष्ट है, कि संगीत शास्त्र का पाठ्यक्रम अब लगभग समाप्त हो चुका है। विद्यार्थियों में भी इस विषय को लेकर कोई उत्सुक्ता विशेष रूप से दिखाई नहीं देती। इतना अवश्य है, कि विश्वविद्यालयों में संगीत पर शोध कर रहे शोधार्थियों का एक वर्ग ऐसा दिखाई देता है, जिन्होंने प्राचीन संगीत-शास्त्र संबंधी ग्रंथों पर अपना शोध-कार्य पूर्ण किया है अथवा कर रहे हैं। यहाँ भी समस्या यह है, कि शोधार्थियों को शास्त्र-पक्ष के विषय में मार्गदर्शन का प्रायः अभाव ही रहता है और संस्कृत भाषा से संबंधित समस्या अपने स्थान पर यथावत है। ऐसे शोधार्थी जैसे-तैसे अपना शोध-कार्य तो कर लेते हैं, किन्तु भविष्य में उस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य अथवा संगीत-शास्त्र से संबंधित कोई विशेष कार्य करने के प्रति उनका रुझान कम ही होता है। ऐसी परिस्थितियों में जो शोध-कार्य हुए भी हैं, तो वे विश्वविद्यालयों के ग्रंथालयों में अज्ञातवास भोग रहे हैं।

विश्वविद्यालयों तथा अन्य संगीत शिक्षा से जुड़ी संस्थाओं द्वारा समय-समय पर आयोजित होने वाली राष्ट्रीय व अंतराष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियों में कभी-कभी संगीत-शास्त्र से संबंधित विषय दिखाई दे जाता है। वर्तमान में इस तरह के अधिकांश आयोजन प्रायः समकलीन विषयों और परिस्थितियों पर केन्द्रित होने लगे हैं।

आधुनिकता के इस दौर में भारतीय शास्त्रीय संगीत अत्याधिक प्रभावित हुआ। जैसा कि डॉ. ब्यौहार ने बताया कि विद्यार्थियों का मूल उद्देश्य डिग्री लेकर रोजगार प्राप्त करना है। इन परिस्थितियों के कारण संगीत के शास्त्र पक्ष के साथ-साथ क्रियात्मक पक्ष भी कुछ सीमा तक कमजोर होता दिखाई देता है। इस आधुनिक युग में विद्यार्थियों की मानसिकता पर अति-आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इंटरनेट, यूट्यूब और सोशल मीडिया जैसे अनेक ऐसे माध्यम आज सहज उपलब्ध हैं, जहाँ प्रारंभिक स्तर के विद्यार्थी भी संगीत का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करके प्रस्तुतियाँ देने लगे हैं। संगीत के वरिष्ठ गुरुओं और विद्वानों का मानना है, कि संगीत साधना से प्राप्त हो सकती है और इसके लिए धैर्य, परिश्रम, ईमानदारी के साथ-साथ समर्पण का भाव नितान्त अनिवार्य है। गुरु-शिष्य परम्परा में आज भी गुरु की आज्ञा के बिना शिष्य अपनी कला की प्रस्तुति मंच पर या

सोशन मीडिया पर नहीं दे सकता। घरानों में बरसों से चली आ रही यह परम्परा आज भी वैसी ही बनी हुई है। संस्थाओं में इस भावना का प्रायः अभाव ही दिखाई देता है। समस्या यह भी है, कि आज संगीत सीखने वाला प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम समय में 'कलाकार' बनना चाहता है और कलाकार बनने का एकमात्र उद्देश्य धनार्जन है, न कि संगीत-साधना। यद्यपि आज भी ऐसे अनेक विद्यार्थी हैं, जो संगीत के प्रति समर्पित भाव से साधना कर रहे हैं, किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत सीमित ही दिखाई देती है।

वस्तुतः उक्त वर्णित संगीत-शिक्षा संबंधी बातें, वास्तव में वे कारण हैं, जिसके कारण संगीत में शास्त्र की सहभागिता प्रायः लुप्त होने की प्रतीक्षा कर रही है। संगीत शास्त्र पर हो रहे शोध के माध्यम से 'डूबते को तिनके का सहारा' जैसी स्थिति अवश्य बनी हुई है, परन्तु उसका भविष्य भी अंधकार में ही दिखाई देता है। साहित्य जगत में भी संगीत संबंधी प्राचीन संस्कृत भाषी ग्रंथों का अनुवाद अब प्रायः समाप्त हो चला है, आज जो अनुवादित व व्याख्या सहित ग्रंथ प्राप्त होते हैं, वे सभी पूर्वाल्लेखित विद्वानों द्वारा किए गए हैं, जिसके कारण संगीत-शास्त्र के क्षेत्र में प्राणवायु के समान अपनी भूमिका निभा रहे हैं।

संगीत-शास्त्र रूपी ग्रंथ वास्तव में भारतीय शास्त्रीय संगीत प्राचीन धरोहर होने के साथ-साथ आदि-अनादि काल से चली आ रही भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला के प्रतिनिधि हैं। इन ग्रंथों और इनमें निहित संगीत शास्त्र को सहेजना भी संगीत-शिक्षा से जुड़े प्रत्येक वर्ग का दायित्व है। परन्तु समस्या यह है कि विद्यार्थियों में शीघ्रातिशीघ्र कलाकार बनने की होड़, रोजगार और आराम पसंद जीवन, अति-आधुनिकता का प्रभाव पड़ चुका है। संस्थाओं में संगीत-शास्त्र से संबधित पाठ्यक्रम भी समाप्त कर दिए गए, यदि कोई विद्यार्थी अध्ययन करना भी चाहे तो उसके समक्ष संस्थाओं का अभाव है। इस तथ्य को भी समझना अनिवार्य है, कि संगीत के क्षेत्र में जितनी आवश्यकता कलाकारों की है, उतनी ही आवश्यकता 'संगीत-शिक्षक', 'कला-समीक्षक', 'अनुवादक', 'व्याख्याकार', 'कला इतिहासकारों' की भी है, इसी से संगीत का भविष्य सुरक्षित भी रह पायेगा। अतएव वर्तमान संगीत की शिक्षा व्यवस्था में 'संगीत-शास्त्र' की सहभागिता आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत होती है।

संदर्भ सूची-

- शर्मा, डॉ.राधिका, "भारतीय संगीत को संस्थानों और मीडिया का योगदान", संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 03
- शर्मा, डॉ.राधिका, "भारतीय संगीत को संस्थानों और मीडिया का योगदान", संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 11
- परांजपे, डॉ.शरच्चंद्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1994, पृ. 146
- चौबे, अमरेश चन्द्र, "संगीत की संस्थागत शिक्षण-प्रणाली", कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, प्रथम संस्करण, 1988 पृ. 9
- संगीत गैलेक्सी, यूट्यूब चैनल पर प्रसारित प्रो. अनिल बिहारी ब्यौहार से 9 दिसम्बर, 2021 को हुई बातचीत के अंश, विडियो टाईम 9.30 मिनट से 11.35 मिनट, लिंक-https://youtu.be/-EKh-SistGQ (assess on 12-04-2022)

HUMANISING ANIMALS IN ADVERTISING

Dr. Debasish Chakraborty

Anthropomorphism is the process of assigning real or imagined human characteristics, motivations, or emotions to non-human objects. People have imbued creatures from natural world with human traits and motivations.The concept of portrayal of anthropomorphic animal is well evident in different occasions in Indian mythology, where non anthropomorphic forms were fused with anthropomorphic forms to present a divine image with a human experience. For example the depiction of *Lord Ganesha* in Indian mythology is a fused imagery with the head of an elephant and the body of human being. Many other animals such as elephant, tortoise, bull, fish etc. also played different interesting role in Indian mythology. This response toward portrayal of such anthropomorphic animals along with human characteristics also plays an important role in advertising, because people tend to draw toward things and objects that are similar to themselves. The physical similarities of the animals with that of humans associate the product, service or idea to create and enhance positive image about the product. Advertisers have capitalised on this tendency by creating a variety of anthropomorphic animal mascot for various brands, services, ideas and packaging materials. Animal mascots as trade symbol have been an important element used in Indian advertising along with other pictorial representations such as logo, symbols, and trademark etc. Every civilisation looks at animals, birds and other creatures in its special way. The Romans saw animals as fierce which has to be tamed and controlled for human survival. The Greek saw them as symbol of power and affluent. Though the animal kingdom have not undergone major changes in terms of their shape or appearances, their presence and perception in human life have undergone changes from age to age. They have been presented in beautiful forms in paintings, sculptures, pottery, architectural designs and every other human activities that finds expression of human imagination are often use as symbols of power, identity, beauty, elegance, dignity and wisdom and affluence. The symbolic and dominant presence of animals in Indian culture, portrays animals to be inspiring growth, promoting unity and prosperity which gives us the glimpses of the incomparable diversity of Indian forest landscapes, animals and birds shown as exotic symbols of Indian religious culture especially.

The most popular amongst them is the Lord *Ganesha*, with the head of an elephant and Lord *Hanuman* with the body of the monkey, symbolises auspiciousness, strength, devotion and power. The fascinated world of animals and birds were well depicted with their powerful presence in Indian art also where the creatures were depicted as companions of deities, mythical beasts, hybrid animals, anthropomorphic forms, religious symbols, presented in different poses, aspects and forms. The diversity of the animals depicted on cave or rock paintings of

Bhimbetka, Seals of HarappanCivilisation, with frequent occurrence of bulls, hybrid animals, multi hooded cosmic serpent, cosmic boar, elephant represents the stature of being divine.

Various other animals like tiger, lions, deer, elephant, monkeys, birds, one horned rhinoceros, crocodiles, antelopes, and squirrel were also depicted in their natural surroundings, hunting scenes, on seals, stone reliefs, rock cut halls, sculptures, and paintings features to be hallmarks of Indian Art. The finest amongst them is the lion capital at Sarnath erected by Asoka provide us with the best remaining example of Mauryan Art that projects the mood of grandeur is also adopted as the emblem for the modern republic of India.

The fascinating world of animals were also depicted in the rock-cut monasteries with images of elephant, horse, monkey etc, participating in cosmic events. The association of animals in Indian art also features the anthropomorphic animal characters, where mythological stories such as incarnation of Vishnu as the cosmic boar, *Varaha* which is his third descent-*avatara* depicts the churning of the milk sea ocean, *Makara*-the mythical beast, that is a part of crocodile and part elephant, multi hooded serpent *Ananta*, slaying of buffalo demon – *Mahisasura*were remarkable in their depictions(Craven,1997). The Gupta period provides us with some of the earliest surviving examples of Indian painting in continuous visual narration along the wall and the best preserved are located in the twenty nine caves at Ajanta, one such example depicts image of an elephant in lotus pond, one of many small panels decorating the ceiling, representing the huge mammal scattering lotus. The image was later incorporated in the logo of Ministry of Tourism, Government of India. The elephant is but one of the hundreds of animals-horses, bulls, birds, monkeys and others which were brightly woven through the pictorial fabric at Ajanta .Moghul school of painting also depicts the subtle native Indian elements with images of animals, birds, flowers, vegetation and landscapes. Also to mention *Pahari,Jain* and *Rajasthani* paintings depicts animals in various occasions.

Indian advertising scene also spearheaded a notable contribution in depicting animal imagery in various forms like- fictitious characters, mascots, anthropomorphic forms of the diverse sets of the animal resources of India that reflects the uniqueness of the animals apart from birds and vegetation, representing the wisdom, power, beauty, opulence and grandeur that uphold and dignify the indigenous fauna and also restore the conservation issues through powerful visualisation and gratification. Animals were used as visual metaphors, symbolic of the role played in a society in advertisements to draw the attention of the potential consumers to deliver a specific message without too many words.

The association of animal imagery in Indian advertising represents an integral aspect of consumer behaviour with various images taken from Indian mythology, legends, and epics, which also directly associate them with religious embodiment and national symbols. For example the caricature of *Shera,* the mascot of the XIX Commonwealth Games 2010, is taken from the *Hindi* word '*Sher'* (means 'Tiger' in English), embody the power and courage associated with Goddess *Durga,* who acts as a powerful vehicle, that the goddess rode in her epic and victorious battle against '*Mahisasura'*, a dreaded demon with the body of a buffalo in

Indian mythology. His athletic proficiency, courage and speed in well evident with the human like portrayal with jersey, boot and most interestingly the folded hand, commemorating Indian hospitability. Majestic animal, elephant is also associated with Indian mythology that had accredited the anthropomorphic representation of animals in Indian advertising.The mascot of Indian Railways -*Bholu the Guard Elephant*, represents the embodiment of the caricature of an elephant in the attire of a railway guard holding a signal lamp with green light in one hand symbolising safety of a running train and the well-being of the passengers. Such physical similarity to humans is indeed an important determinant of how people react to such visual representation appeared in the various print advertisements, logos and symbols, posters packaging design etc.

Caricatures also had a decisive role to carry out with the association of personification of animals and other living creatures in advertising. They are often used in advertising, especially in print and television commercials, giving a human characteristic which makes humourous appeal with their special physical appearances. These animals are neither real animals nor real humans but are hybrids or fake animals. Advertisements that feature anthropomorphic representation of the image of animals are often very successful due to the hilarious approach of the presentation which associates the creature with human activity.

Such physical similarity to humans is indeed an important determinant of how people react to such visual representation with caricatures to stimulate positive humourous appeal. Several other animal mascots for companies like *ShareKhan Ltd, BritanniaTiger Biscuits,*appeared in the various print advertisements, packaging design etc. to cater the taste and need of Indian consumers with witty anthropomorphic image that resembles human characteristics. The concept of brand mascots which was discussed earlier, finds an important place to justify the use of cartoons and caricature in advertising for children. It catches the attention of the children and creates an emotional connection with kids and engages them in the brand that results in acceptance of these fictitious characters to become child's best friend.Modern advertising that flourishes with development of technology and research had led to increased sophistication in advertising in recent time.

Digital enhancements of visual images were now possible with the help of various tools. From the hand painted hoardings to digital advertising, creativity in Indian advertising made a spectacular transition from its early stage to recent time. With innovative and creative execution of the advertising message, irrespective of theme, advertising appeal, visual elements, and execution style, a complete makeover is evident with widespread usage of various technique and rendition in recent time. The unlimited scope of accommodating creative talent and the capability for experimentation in the advertising world has created a niche space for animation.

The concept of animation in brand endorsements gives room to creative experimentation and the flexibility to make the character in both 2D and 3D formats to do things that are beyond the reach of humans. The impact and success, however, depends on how effectively it conveys the brand values and the ideals that consumers would associate with. Animation provides an

important identity to the brand and helps fixing it firmly in the imagination of the targeted consumers. The developments and application of animation had challenged the monotony of the static characteristic of the presentation in recent time and have provided a new domain for creative advertising in India. For example,*Fevicol* has re-invented the humour appeal of the brand image from the static 2D logo in its recent animated TVC with the playful gesture of the 3D images of the two elephants, celebrating the power of bond, ushered a new trend of humour Indian advertising. The changing trend of concept and technology had instigated few such occasions where 2D and 3D characters of animals were used in advertising to create positive brand identity in real life situation. Advertisements for brands like *Mortein*, *Harpic, Allout,* and many other brands*,* featured animated images of tiger, frog, cockroaches, mosquito, spiders etc. to create new dimensions for depicting the humourous image of an animal within a new set of effective forms which shows a fresh approach for visual embodiment of anthropomorphic representations.Children often react with fondness to various cartoon characters that display positive characteristics. They educate the children about the image of an animal and at the same time create a positive brand image which promotes the concept of environmental awareness and conservation of certain species of animals among the children. For example, global animal mascots such as*Tony -the Tiger*, *Kellogg's Rooster,Kellogg'sChocosBear,Kellogg's Honey Pops* are some of the variety of anthropomorphic animal mascots used on the packaging designs of the breakfast brand to attract the children that had associated a long enhanced bonding between animals and human being with a noble reason forenvironmental conservation and animal protection.

References :-

Bhojanna,U and Murthy, S.N. *Advertising, An IMC Perspective,* Excel Books,2007.

Choudhuri, Arun. *Indian Advertising: 1780-1950 A.D,*Tata McGraw Hill Education,2007.

Choudhuri, Arun. *Indian Advertising Laughter & Tears 1950-2003*Niyogi Books, 2014.

Craven, Roy. C. *Indian Art, A Concise History,* Thames and Hudson,1997.

D'Souza, A. *Advertising and Promotions: An IMC Perspective*, Tata McGraw-Hill Education, 2009.

Desai, S. *Amul's India: Based on 50 years of Amul Advertising*, Harper Collins,2012.

Gupta, Om.*Advertising in India Trends and Impact*, New Delhi, Kalpaz Publication, 2005.

Gupta,Ruchi.*Advertising Principles and Practices: With 17 Recent Indian Cases*, New Delhi, S.Chand Publishers,2012.

Kazmi, S.H.H and Batra, S. *Advertising and Sales Promotion,* Excel Books,2008.

Rege, G.M.*Advertising Art and Ideas,*Himalayan Art Book Centre,1990.

Singh,Raghuvir.*Advertising Planning and Implementation,* PHI,2009.

Sharma,Sangeeta.*Advertising Planning and Implementation,*PHI,2009.

Shah,Kruti. *Advertising and Promotions: An IMC Perspective*, Tata McGraw-Hill,2009.

Sahay, Kesari. N. *An Anthropological Study of Cartoons in India*, Commonwealth Publishers,1998.

Influence of Archetype Patterns in Indian Paintings

Mrs. Juhi Latwal Mehra

We are surrounded by types of forms and patterns that are geometric, numeric, planetary, etc. These forms are widely recognized as Archetype forms. Pythagoras founded a school of philosophy and mysticism on the premise that "all is number"**.**Plato was another philosopher who share a deeper knowledge about forms and types but failed to describe their influences and evolution in World. There are different views on Archaic forms, according to John Sanford, something is an archetype meansit is an essential building block of the personality**.**The Archaic forms or types differ according to the field of study but in the end, they are interconnected and inseparable. They sometimes are categorized into different categories one of which is Universal Archetype. Universal archetypes are those symbols, signs that have a similar meaning and impact for example- hero, mother goddess, etc. Nature rest on the internal foundation of archetypal principle symbolized by numbers, shapes, and their arithmetic and geometric relationship.

In Jung's opinion,an archetype is an inherent idea or mode of thought derived from the experience of the species /race and present in the individual and collective unconscious. Jung is credited for identifying Archetype form as a source of the collective unconscious. Similarly, Frye was first in literature, and Frazer has brought out the importance of Archetype in Mythology. This proves that these symbols which are most of the time ignored hold an important position in understanding not only their philosophical and psychological hidden meaning but also that they are inbuilt in us and work like DNA. Archetypes are the forms, patterns,patternsof behavior,and symbols that can neither be created nor be destroyed. Most of these archetypes are collective and share the same meaning and message in all cultures. The experiments which were conducted by Jung provedthe same, as each and every patient of his when asked to draw were drawing similar patterns(geometrically) which were spontaneous. These patterns are often used as religious symbols across the World. Hindu Yantra or Buddhist Mandala, Western Christian Mandala, ancient architecture, and cosmos are all part of these Archaic symbols. Our civilization, social structure, art especially folk arts are constructed and inspired by these forms. Even if try to avoid these patterns and create something it is almost impossible cause they play base for everything.

These symbols can be unearthed precisely in cave paintings across the World. The symbols used in paintings are geometric forms such as triangles, squares, circles, lines, etc. that are identified as archaic symbols along with animalsthat symbolize the deity. Shelter 3 from Bhimbetka cave F-19 also known as Bull rock depicts a red colour bull whose horn and hair are black. This unnatural animal seems to be attacking a small fleeing human figure in front of which is shown a large crab, this scene is believed to be mythological.The bull is an archaic symbol used to

exemplify Lord Shiva and is used in different styles of painting. In phase vi paintings of Bhimbetka portrays wavy lines, zigzags, lattices as well as spiral lines for embellishing animals' body. The impact of the geometric motifs of Chalcolithic pottery design is seen in the animal bodies**.** Thereare also depictions of Hindu religious motifs and geometric patterns that can be traced in the Bhimbetka cave painting. We even came across a wall which is known as cluster iii A that is fullof hand imprints, similar handprints are tracked in other caves such as Altamira, Cueva de las Manos, Argentina, Maros- Pangkep Karst, Indonesia, etc. These handprints are archaic patterns used for religious purposes, they are even divided into two categories that are negative and positive handprints. Marking something or anything with hands is a behavior pattern that is developed from the collective archetype.

Indus's valley civilization is one of the well-known civilizations in India that carry these archaic patterns forwards from the pre-historic period in the form of seals, and town planning. The mother goddess status of terracotta is a female archetype that is adopted Worldwide and was even found in the great ancient civilizations one of which is Indus. The symbolic expression of the human psychic phenomenon is to be found in the figures of the Great Goddess represented in the myths and artistic creation of mankind**.** The term Great Mother is a partial secretaspect of Archetypal feminineis a late abstraction, presupposing a highly developed speculative consciousness. Other archaic patterns like trees, bulls, unicorns, shiva, hero, etc. can be traced down in the seals and wall paintings of Indus. The hero archetype that is sometimes represented as a warrior is depicted in many prehistoric paintings and mythology. Frye has identified the hero as an archetype as every time and culture believes in its existence.

Hindu yantra is an integration of geometric forms -circle, square, rectangle, etc. which has a deep philosophical and psychological meaning. According to Hindu beliefs, there are Universal patterns used to denote a Universal map in the physical world. Each archaic symbol has a hidden meaning for example- a triangle represents both Shiva(upward) and Shakti (downward), whereas a point that is also known as Bindu denotes the center of the earth and sometimes consciousness. The miniature paintings are based on mythology that depicts a great number of symbolic archetypes which has similarities with otherancient culture in the world. Sun is thearchaic symbol of a deity who has gained an important place in every religion and painting. Similarly, other archaic symbols like-the snake symbolizes time,the lotus for peace and purity, and so on.

Result

Archetypes are present everywhere the geometric patterns and forms values, angles, etc. are known to all but no one knows the evolution of the same, even if they are archaic patterns. What we know is that they exist but how we have no answer. Carl Jung, Frazer, and Frye have tried to answer this question in their respective work. Paintings are time mirrorswhere we can see the collective archaic form and how they became an inseparable part of our behavior and culture. Most ancient and classic paintings in India are based on mythology which is full of archaic

forms. The archaic pattern is not a new approach in art but can be a new discovery in the art that has to invoke the innovative power of an artist. Even contemporary art is full of these patterns, form but unfortunately, none knows the origin.

Conclusion

Embedded in the very structure of ordinary numbers is another level, which may be called symbolic**.**Thesesymbols are rhythmic and harmoniously connected and form a pattern. Scientists and mathematicians are on a quest to understand and decode these symbols. The belief is that these patterns are a kind of secret language which might help us in understanding the Universe. These patterns are set in a way that every time they replicate themselves and are believed to be part of a bigger pattern. If we see Indian prehistoric paintings from different areas, places, and caves they all almost represent the same emotion and expression in the same way. Even the subjects are the same based on warriors, wizards, sacrifice, group dance, hands print, etc.

Reference -

- Robertson Robin, Jungian Archetypes Jung, Gödel and Histry of Archetypes, publisher open road distribution, ISBN 13- 9781504033770, 2016, p-11.
- Greene Mark, Adventure in Archetype: Depth psychology and the Humanities, volume -1, Mercury Pier, Hong Kong, ISBN 978- 988-15672-1-5, 2011,page no.- 9
- Schneider S. Michael, A Beginner Guide to Constructing the Universe, Harper Collins, ISBN-ISBN-978-0060926717,2014.
- Jones. D Marie, The power of Archetype, The Career Press, Inc., 2017.
- Mishra. N.V, The Prehistoric Art of Bhimbetka, Central India, Contributor: National Centre for the Performing Arts, Mumbai, 2018.
- Ibid-3.
- Ibid-3.
- Rock Shelter of Bhimbetka, A proposal for nomination for inclusion in the World Heritage list, Archaeological Survey of India, 2003.
- Neumann Erich, The Great Mother, Princeton University Press, first edition, 1995, ISBN-0-691-01780-8, page no. – xi.
- Ibid-7, page no. -11.
- Ibid-3,page no.- 14.

भारतीय चित्रकला में अमूर्त : सौन्दर्यबोध और सिद्धान्त

डॉ. (श्रीमती) के. राजलक्ष्मी

मनुष्य प्रकृति का अविभाज्य अंग है तथा पूर्णतः इससे प्रभावित रहता है। मनुष्य में परिवर्तन व कुछ नया करने की जिज्ञासा ने कलाओं को जन्म दिया होगा, जो परम्परा, परिवर्तन और सम्भावनाओं के निश्चित क्रम में गतिमान है। भारतीय चित्रकला भी समान रूप से परम्परा, परिवर्तन तथा सम्भावनाओं की इस प्रवृत्ति का मूल कारण सुख या आनंद की अनुभूति है। कलाओं का मुख्य ध्येय भी परमानंद की प्राप्ति ही रहा है। इस संबंध में विभिन्न कलामर्मज्ञों की धारणा एक ही है कि आनंदानुभूति या परमानन्द की प्राप्ति का सहज माध्यम कलायें ही रही हैं। मनुष्य कला की जिस विधा से प्रभावित होता है, उसमें आमूलचूल परिवर्तन और प्रयोग कर कुछ नया करने का प्रयास करता रहता है। विशेष बात यह है कि किसी कार्य को पहली बार करने से परम आनन्द की प्राप्ति या सुख की अनुभूति अथवा सौन्दर्यबोध होता है, किन्तु ठीक वही कार्य दूसरी बार करने पर भी तुलनात्मक रूप से उतना ही आनंद प्राप्त होगा, यह आवश्यक नहीं। संभवतः यही कारण है कि मनुष्य परम्परा, परिवर्तन और सम्भावनाओं की तलाश करता हुआ नये-नये प्रयोग करता रहता है।

सीधे शब्दों में मनुष्य की रचना जो उसके जीवन में आनंद प्रदान करती है, 'कला' कहलाती है। भारत के अध्यात्मवादी चिन्तकों ने कलाओं का विभाजन स्वतंत्र तथा आश्रित अथवा उपयोगिनी कलाओं के रूप में किया है। इस विभाजन के अनुसार स्वतंत्र कलाओं की संख्या तीन है- 'काव्य, संगीत और वास्तु (जिसके अंतर्गत वास्तु, मूर्ति व चित्र तीनों हैं।) इन्हीं तीन कलाओं से परतत्व के इन्द्रिय ग्राह्य रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप अभिव्यक्ति संभव हो सकती है।' इस प्रकार आधुनिक काल में भी कला के दो स्वरूप- 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' स्वीकार किए गये हैं। 'उपयोगी कला को मानव समाज के लिए उपयोगी माना गया है तथा ललित कला को सौन्दर्यप्रधान गुण होने के कारण विशेष स्थान और विभिन्न प्रकारों में विभक्त कर स्वीकार किया गया है, जिनमें स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य कला हैं।'

कला का मूल उद्देश्य सौन्दर्य की अनुभूति कराना है, इसका मूल कारण वस्तु या व्यक्ति अथवा किसी भी परिस्थिति से उत्पन्न आकर्षण है, जो भावात्मक रूप से सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकता है। यदि आकर्षण नकारात्मक है, तो निश्चित रूप से इसी आधार पर मनोभाव उत्पन्न होंगे तथा इन्हीं मनोभावों के आधार पर रस का सृजन होगा। मानव-हृदय में वस्तुगत आकर्षण एवं आध्यात्मिक अभिचेतना के सुख में जो तल्लीनता पाई जाती है, वह अनेक मनोविकारों के जन्म का आयाम बनती है और ये मनोविकार ही विभिन्न भावों की उद्दीप्ति के कारक बनकर उस भाव-व्यंजना की अभिव्यक्ति की सारणी रस की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ सामाजिक मनुष्य स्वयं को विस्मृत करके उसमें एकीकरण को प्राप्त हो जाता है- यही रस की अवस्थिति मानी गयी है। वस्तुतः आकर्षण ही सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य विवेच्य विषय रहा है।

वस्तु और व्यक्ति (मानव या देखने वाला) के बीच के अन्तर्सम्बंध को सौन्दर्यबोध का आधार स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्ति साधारण अनुभव से परे वस्तु के दिव्य रूप की झाँकी पाना चाहते हैं। इसमें वस्तु के 'पर' और 'अपर' दो रूप हो जाते हैं। इसलिए व्यक्ति के सौन्दर्य के अनुभव में 'अपर' से 'पर' रूप को देखने की चेष्टा रहती है। कला में इस चेष्टा के कारण कलाकार (या चित्रकार) मूर्ति, रेखा, रंगों और स्वरों द्वारा अमूर्त को मूर्त, निराकार को साकार, आमेय को मेय बनाते हैं। प्रत्येक अनुभव में उसी अरूप, अनंत विराट का दर्शन करते हैं, समष्टि ही सत्य है;

सूर्य आदि का प्राकृतिक रूप नगण्य है, इसका दिव्य, आध्यात्मिक रूप ही परम सत्य है। रूप के द्वारा अरूप की खोज, मेय के द्वारा अमेय की झाँकी, शान्त और सादी के द्वारा अनंत और अनादि का दर्शन ये भारतीय कला-जीवन और सौन्दर्य अनुभूति के अविकल अंग बन गये हैं। चूँकि सौन्दर्य-बोध मनुष्य की चित्त-वृत्ति से उत्पन्न एवं प्रभावित होता है। अतः मनुष्य की मनःस्थिति अथवा मानसिक प्रवृत्ति ही सौन्दर्य का बोध करने में सक्षम है। दूसरी ओर भारतीय कलाओं में सौन्दर्य-बोध शास्त्र के अंतर्गत इसके व्यक्तिक, धार्मिक और सामाजिक पक्ष भी उतने ही प्रभावशील एवं उत्तरदायी हैं। संभवतः इसीलिए भारतीय मनीषियों ने प्रारंभ से भारतीय कलाओं को धर्म एवं समाज से जोड़कर प्रस्तुत किया है और शास्त्रों के माध्यम से सौन्दर्य, रस, भाव आदि लक्षणों का प्रतिपादन किया।

भारतीय परम्परगत् चित्रकला में रूप, आकार, रेखा, रंग आदि तत्वों से परिपूर्ण चित्रकला तो थी, साथ ही इस कला का धर्म के साथ सम्बद्धता एवं इसी आधार पर समानान्तर रूप से प्रतीकात्मक चित्रण शैली भी व्याप्त थी, जिसके प्रमाण धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होते है। वहीं दूसरी ओर, प्रागैतिहासिक कालीन गुफाओं से प्राप्त चित्र भी प्रतीकात्मक शैली में ही प्राप्त होते हैं। अतः एक ओर शब्दों के आधार पर मूर्त रूप में चित्रकला सप्रमाण प्राप्त होती है, वहीं अमूर्त व प्रतीक रूप में चित्रांकन पद्धति के प्रमाण भी समान रूप से प्राप्त होते हैं।

आधुनिक समय अर्थात् लगभग 19वीं शताब्दी का अन्त और 20वीं शताब्दी का प्रारंभिक समय, जिसे मुगल और आधुनिक के बीच संक्रान्ति काल भी माना जाता है, में भारतीय कला एवं साहित्य का एक नया युग प्रारंभ हुआ। इसके साथ ही प्रारंभ हुआ भारतीय चित्रकला का एक नया अध्याय। इस समय में चित्रकला के साथ 'अमूर्त' शब्द जुड़ने लगा। यह शब्द भारतीय परम्परागत चित्रकला का नवीन पक्ष था।

जब भी चित्रकला की बात होती है, तो इसके साथ-साथ इसकी विविध तकनीकों एवं शैलियों पर भी चर्चा की जाती है। कलाकार अपने आन्तरिक गुणों का सृजनात्मक अन्वेषण करता है, इससे उसमें चेतना का संचार होता है, जिसके फलस्वरूप मूर्त-अमूर्त रूपाकारों की सृष्टि होती है। जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ, उसकी कला भी विकसित और परिपक्व होने लगी। भारतीय चित्रकला में बिम्ब, प्रतीक और कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है तथा चित्रकार अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए सदैव स्वतंत्र रहा है। माध्यम व तकनीक कभी-भी उसके लिए बंधन नहीं बन सकी क्योंकि कला केवल तकनीक और रूपाकारों तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह कलाकार के चिन्तन में भी होती है। वह चिन्तन जो उसकी कलाकृति में सहज ही घुल जाता है और दर्शक की अनुभूतियों में विलीन हो जाता है।

भारतीय चित्रकला (प्राचीन, शास्त्रीय और लोक) प्रवृति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) प्रतीक, (2) यथार्थ और (3) अमूर्त चित्रकला। 'प्रतीकात्मक' प्रवृति यथार्थ का बोध कराने में सक्षम है। चित्रकला में अमूर्त की प्रवृत्ति से मूर्त अर्थात् यथार्थ को पृथक् स्थान प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व चित्रकला केवल 'चित्रकला' थी और इसके इतिहास में कहीं भी अमूर्त या अमूर्तन जैसे 'शब्द' चित्रकला के लिए प्रयोग भले ही न किये गये हों, किन्तु प्राचीन चित्रकला में प्रतीकात्मक प्रवृत्ति के प्रमाण प्राप्त होते हैं। संभवतः वर्तमान चित्रकला में जिसे 'अमूर्त' या 'अमूर्तन' कहा जा रहा है, उसका प्रारंभ भारतीय चित्रकला में प्रतीक, कल्पना, बिम्ब आदि तत्वों से हुआ है।

'प्रतीक' की भारतीय अवधारणा सर्वप्रथम धर्म में प्राप्त होती है। प्रतीक (प्रति$इक्) अर्थात् यहाँ 'प्रति' से तात्पर्य 'अपनी ओर' तथा 'इक्' से आशय 'झुका हुआ' है। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो, फिर उसका ज्ञान हो, तो उसे 'प्रतीक' कहते हैं। अतः सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंश रूपी विभूति या भाग प्रतीक हो सकता है। 'ओम' शब्द से निराकार परब्रह्म का आभास होता है। इसी

प्रकार भारतीय देवी-देवताओं के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से देखा जा सकता है। इसे ही आज 'प्रतीकात्मक चित्रकला' के नाम से जाना जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रतीक वस्तु और रूप के समीप होती गई और इसे 'यथार्थवादी चित्रकला' कहा गया। परन्तु 'आधुनिक युग में अनेक विधाओं और आविष्कारों के बाद भी मनुष्य ने देखा कि किसी वस्तु का पूर्ण यथार्थ रूप चित्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए चित्रकला प्रतीकात्मक ही कही जा सकती है, चाहे वह यथार्थ के कितने ही समीप क्यों न हो।' 'कल्पना', कलाकार की मानसिक सृजन शक्ति है तथा कला की दृष्टि से कल्पना का स्थान सर्वोपरि है। कल्पना के माध्यम से ही कलाकार के भीतर रचनात्मकता और अभिनव रूप-व्यापार विधान की शक्ति प्राप्त होती है। अतः विद्वानों के विचार से कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है। कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न भले ही हो, किन्तु इतना अवश्य है कि कला का मूर्त आधार जितना वास्तविकता के निकट होगा, उसमें कल्पना का समावेश अपेक्षाकृत कम होगा। वास्तव में कल्पना में अमूर्त से मूर्त का सृजन होता है न कि मूर्त से मूर्त का।

कल्पना से ही 'बिम्ब' का जन्म स्वीकार किया गया है। विकास की दृष्टि से विद्वानों बिम्ब के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत बिम्ब वस्तु-विशेष की छाया या स्पष्ट सम्मूर्त्तन करते हैं और दूसरे प्रकार में छाया की छाया का। तीसरे प्रकार में बिम्ब वस्तु-बोध से इतने पृथक् हो जाते हैं कि वे प्रतीक के समीप एवं समकक्ष बन जाते हैं। 'इसके लक्षित बिम्ब-विधान में विवक्षित वस्तु की बाह्य रूपरेखा का स्पर्श या संकेत अवस्थित होता है। अतः इस कोटि के बिम्ब विधान में वर्णबोध एवं चाक्षुष तत्वों की प्रधानता रहती है। फलस्वरूप ऐसे बिम्ब प्रायः क्रियाप्रधान एवं चित्रात्मक होते हैं।' वस्तुतः कलाकार की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्तता मिल पाती है तथा निश्चित अर्थ वाले बिम्ब प्रतीकों का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रतीकवादी कलाकार प्रतीकों, रंगों और रूपों की चित्र-फलकों पर प्रयोग प्रतीकात्मक आधार पर करते हैं न कि प्राकृतिक आधार पर। विद्वानों के अनुसार- प्रतीक और प्रतिबिम्ब में वही अन्तर होता है, जो शार्ट हैण्ड और लाँग हैण्ड में। अमूर्तन की ओर कला में यह मध्यवर्ती स्थिति है। 'एक ओर कुछ चित्रों का वास्तविकता घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जो हू-ब-हू किसी फोटो की भाँति प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर अमूर्त चित्रण हैं, जिन्हें प्रायः लोग समझ नहीं पाते। इन दोनों चरम सीमाओं के मध्य 'प्रतीक' है, जो कहीं-न-कहीं गहन दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से प्रभावित होते हैं।' मानव सभ्यता के विकास के साथ प्रतीकों की भी रचना होती आयी है, जो आधुनिक कला में चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। प्राचीन भारतीय चित्रकला में प्रथमतः लोक-चित्रकला, समाज के उस वर्ग को भारतीय चित्रकला के इतिहास में विशेष स्थान बनाने में मददगार सिद्ध हुई, जो न तो शिक्षित था और न ही समाज में उसे कोई उच्चस्थ स्थान प्राप्त था। लोक-चित्रकार केवल अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज और सामाजिक जीवन तक सीमित था, जिसे उद्घाटित करने का माध्यम उसने अपनी कला को बनाया। साथ ही, भारतीय शास्त्रीय चित्रकला-यात्रा को गतिमान बनाये रखने में भी सहयोग प्रदान किया। अर्थात् इतिहास में मध्यकाल का वह समय जब शास्त्रीय चित्रकला राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होने लगी और इस पर बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव बढ़ने लगा, तब भी भारतीय लोक-चित्रकला परम्परा अपनी नियत गति से अग्रसर थी। वर्तमान में भी भारत की लोक-कलाओं का विशेष महत्त्व हैक्योंकि इन पर आधुनिकता का प्रभाव अपेक्षाकृत कम हुआ और ये अपने मूल भावना से सराबोर, किसी 'वाद' से ग्रसित हुए बिना सामान्य व्यक्ति के साथ सांस्कृतिक सीमा में रहते हुए निरन्तर गतिमान हैं।

दूसरा स्थान 'भारतीय शास्त्रीय चित्रकला' का है, जो पूर्णतः शास्त्रों में वर्णित नियमों में बंधी अपने गौरवमयी इतिहास की साक्षी है।19वीं शताब्दी के मध्य एवं उत्तरार्ध की समयावधि में भारतीय कला का परिचय 'आधुनिक' से

हुआ, जिसने भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में जहाँ एक ओर विभिन्न 'वाद' को जन्म दिया, वहीं चित्रकला 'मूर्त' और 'अमूर्त' शैलियों में विभाजित होने लगी। 'मूर्त' अर्थात् स्पष्ट चित्रण और 'अमूर्त' अर्थात् चित्रण में चित्रित विषय, जिनमें मनोभावों को विशेष रूप से प्राथमिकता और स्वतंत्रता दी गई हो तथा 'रूप' और 'आकार' गौण होते चले गये। 'अमूर्त' भी चित्रकला की एक 'शैली' है, जो 'आधुनिक कला' में न केवल 'चर्चा' अपितु 'विवाद' का भी विषय भी रही है। ऐसा कदापि नहीं है, कि 'अमूर्तन' केवल चित्रकला के क्षेत्र में है, अन्य कलाओं में यह समान रूप से विद्यमान है, किन्तु चित्रकला में यह सदा ही विवेच्य विषय रहा है।

चित्रकला की दृष्टि से 'अमूर्त' से आशय साहित्य के ही समानान्तर प्रतीत होता है। किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थादि, जिन्हें चित्रकार अपने विषय के रूप में ग्रहण करता है, उसकी एक छवि अपने मानस पटल पर निर्मित करता है, उस छवि के प्रति अपनी संवेदना, भावाभिव्यक्ति और विचारों को ध्यान में रखते हुए उसका सारांश या सारगर्भित स्वरूप चित्रित करता है। यहाँ अर्थ की दृष्टि से तो 'मूर्त' के विपरीत 'अमूर्त' स्पष्ट होता है, किन्तु चित्रकार वास्तव में 'मूर्त' का सारांश या सारगर्भित स्वरूप अपनी कृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। अतः अमूर्त शैली को सीधे-सीधे मूर्त का विरुद्धार्थी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि मूर्त से तात्पर्य किसी भी निश्चित आकार, विधान, दृश्य रूप में उपस्थित वस्तु से है, जबकि 'अमूर्त' से आशय 'निराकार', 'भाववाचक' और 'अव्यवहारिक' से है। वह जो वास्तविकता से दूर होते हुए भी अपने चरित्र को अभिव्यक्त कर सके। एक सुन्दर-सा फूल, जो स्वयं 'मूर्त' है, किन्तु उसकी सुन्दरता और उसमें निहित खुशबू 'अमूर्त' है। प्रकृति की दृष्टि से देखें, तो 'मूर्त' और 'अमूर्त', सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं, जहाँ एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। क्षितिज में भूमि और आकाश का मिलन होता है, वहाँ 'रूपाकार' समाप्त हो जाते हैं और बचता है 'निराकार'। 'मूर्त' और 'अमूर्त' का संबंध ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे रात्रि के अंधकार को चन्द्रमा अपनी शीतल अनुभूति और अत्यल्प प्रकाश से स्पष्ट करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर प्रातःकाल सूर्य की किरणें धीरे-धीरे अपने तेज से प्रकृति को रूपाकृति प्रदान करती हैं। एक छोटे से बीज से वृशाल वृक्ष की रचना हो जाती है। कहीं-न-कहीं 'अमूर्त' किसी 'मूर्त' का बोध कराने में सहायक सिद्ध होता है, तो कहीं 'मूर्त' अपने भीतर भाव और रस से परिपूर्ण परम आनन्द का अमूर्त आभास करा देता है। इस प्रकार सृष्टि में 'मूर्त' और 'अमूर्त' का क्रम सदा से चलता आ रहा है।

कला-समीक्षक मनमोहन सरल द्वारा प्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रज़ा से उनके अमूर्त चित्रों और उनकी व्यापक के सम्बन्ध में पूछे गये एक प्रश्न का उत्तर देते हुए रज़ा कहते हैं- 'मानवीय अनुभव सिर्फ़ आँखों से प्रकृति को देखना ही नहीं है, बल्कि वह महसूस करना भी है, जो आँख की पुतली की परिधि से परे भी दिखाई देता है। क्रम उष्णता महसूस करते हैं, आँधी को झोंका झेल सकते हैं, ताजी हवा की गंध, जंगल का संगीत या चिड़ियों की चहचहाहट सुन सकते हैं, नंगी आँख से देखने की क्षमता से आगे बढ़कर क्रम इन तमाम अनुभवों को मन के भीतर महसूस कर सकते हैं। यही सम्पूर्ण अनुभूति है- समग्र अनुभव किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिए और चित्रकार-कवि-कलाकार की क्षमता सामान्य से थोड़ी ज्यादा ही होती है। वह कल्पना का सहारा भी ले सकने में सक्षम होता है, इसलिए उसकी प्रकृति को 'देखने' की दृष्टि और व्यापक हो जाती है। चित्रकार के लिए सिर्फ़ देखना ही काफी नहीं है, बल्कि उसके लिए आन्तरिक रूप से अनुभव करना भी ज़रूरी है। अब कुछ चित्रकार हैं, जो जैसा देखते हैं, वैसा बना देते हैं। कुछ जो 'अनुभव' करते हैं उसे उतारने की कोशिश करते हैं। एक है ऑप्टिकल रियलिटी और दूसरी इनर लाइफ की तलाश।

कला समीक्षक मनमोहन सरल से एस. एच. रज़ा ने अपने चित्रों और उन चित्रों की आधारभूत संकल्पना पर चर्चा करते हुए बताया है कि- 'मेरा आज का काम प्राकृतिक सौन्दर्य के आस्वाद को आकार की समझ के साथ, अनुभव के समानान्तर प्रस्तुत करना है। इसलिए मेरा नया काम प्रकृति के अनुभवों की आंतरिक तलाश के साथ-साथ शुद्ध 'फार्मल ऑर्डर' की तलाश को समर्पित है। चित्रकार को रंगों, आकारों, स्पेस, अनुपात, संयोजन के तत्त्वों को भी समझना है और मेरा काम इससे भी आगे शक्ति के केन्द्र-न्यूक्लियर-एक अकेले बिन्दु की दिशा में है। यहाँ भी मुझे ककैया के बचपन के हेडमास्टर नंदलाल जी ध्यान आते हैं, जिन्होंने सफेद दीवार पर एक बिन्दु बनाकर आदिशक्ति के स्रोत का मुझसे साक्षात्कार करवाया था। बिन्दु को एकाग्र होकर देखने से जैसे मुझे नई ऊर्जा मिली हो। शायद, इसी बिन्दु को आज मैं व्याख्या देने की कोशिश कर रहा हूँ, जो अमूर्त वहीं, परन् साक्षात् आकार है।' रज़ा साहब के उक्त कथन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमूर्त से आशय चित्रकार द्वारा चित्रित किये गये विषय का सारांश है या मूल है, जहाँ से उस विषय का जन्म या प्रारंभ हुआ हो।

यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि कला-साधकों ने धीरे-धीरे चित्रांकित विषयों के माध्यम से अपनी कला में 'स्व' का समावेश प्रारंभ कर दिया अर्थात् विचारों और दृष्टिकोण में स्वतंत्रता का पक्ष महत्त्वपूर्ण होता गया तथा रूप और आकार में स्वतंत्रता, रंग और रेखा में स्वतंत्रता, तकनीक को अपनाने की स्वतंत्रता के साथ कला 'मूर्त' से धीरे-धीरे 'अमूर्त' होती गई। 'अमूर्त शैली' को आधुनिक (स्वतंत्रता के बाद की समयावधि) कलाकारों का पूर्ण समर्थन भी प्राप्त हुआ। ऐसा नहीं है कि समकालीन (वर्तमान संदर्भ में) कला में सभी चित्रकार 'अमूर्त शैली' ही करते हों, कलाकारों का एक ऐसा भी वर्ग है, जो 'मूर्त' और 'रूपाकार' प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है। किन्तु आधुनिकता (स्वतंत्रता से पूर्व की कला-प्रवृत्ति) के आधुनिकीकरण (वर्तमान स्थित में), वैज्ञानिक तकनीकों की सुव्यवस्था और वैश्वीकरण से कला का प्रभावित होना स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, जो प्राचीन काल से चली आ रही परिवर्तन की क्रिया का अगला कदम है। साथ ही इस आशंका से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि जिस प्रकार प्राचीन भारतीय कला का स्थान आधुनिक कला और अमूर्त कला ने ग्रहण किया है, इसका स्थान भविष्य की किसी कला द्वारा नहीं किया जाएगा। अध्ययन के आधार पर यह तो पूर्णतः स्पष्ट है कि कला परिवर्तनशील है। भविष्य में संभव है कि अमूर्त कला का स्थान कोई अन्य कला ग्रहण कर ले। वर्तमान में अमूर्त कला के साथ-साथ कला जगत में 'संस्थापन कला' भी अपना स्थान लेती प्रतीत हो रही है, जो निश्चित कला में नवाचार है।

संदर्भ सूची-

- जौहरी, डॉ. ऋतु, भारतीय कला समीक्षा (विचार व रूप), राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर, प्र.सं. 2013, पृ. 25-26
- प्रताप, डॉ. रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर,17वाँ सं.2014, पृ. 7
- सक्सेना, डॉ. सरन बिहारी लाल एवं डॉ. (श्रीमती) सुधा सरन, कला सिद्धान्त और परम्परा, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, प्र.सं. 1986, पृ. 77
- शर्मा, डॉ. हरद्वारी लाल, सौन्दर्य शास्त्र (कला और संगीत के संदर्भ में), मानसी प्रकाशन, मेरठ, 1999, पृ. 15
- तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, श्रीमद्भागवतगीता-रहस्य, अनुवादक - माधव राव सप्रे, तिलक मंदिर, गायकवाड़ बाड़ा, पुणे, सं. 1955, पृ. 425
- शुक्ल, रामचन्द्र, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, लखनऊ, तृ.सं. 1974, पृ. 114
- विमल, डॉ. कुमार, सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 228
- बाजपेयी, डॉ. राजेन्द्र, सौन्दर्य, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2012, पृ. 201
- सरल, मनमोहन, कला-क्षेत्रे, महाराष्ट्र साहित्य अकादमी के सहयोग से प्रकाशित, प्र.सं. 2004, पृ. 33-34

Advent of Modern Art in India

Keshawram

The culture and civilization of any country is assessed through art. The form of art in India has been changing and growing on the basis of religious, social, and political beliefs. To understand the evolution of Indian art, it is very important to understand the changes taking place in the social and economic life in the middle of the 19th century and the beginning of the 20th century.

In modern art, experimentation is necessary but not only to generate attraction but also to express the feeling and meaning of life. The experiments should not seem to be imposed but should arise from the conscience. The modern artists strives to substitute new innovative create values. Today art has reached the limit of achievement by going a wide way through the process of experiments but no definite concept of form determination has been determined. Art has been revolutionized by new techniques and approaches and now the artist's experience cannot be confined within limits. Modern art has its own distinct identity and due to external influences the artist's vision become sharp and analytical. As a result, each of their works appears to be a synthesis in an elemental form. Art is changeable and relative, that is why the invention and establishment of new elements is inevitable. In fact, the art of the present time is progressing towards full development by continuously connecting the new subsections.

The use of the term 'Modern' in Indian art history dates back to the 1880s and painting created by Raja Ravi Varma. It is considered to be the art style prevalent in India between 1895 and 1920.[1] The major art institutions of the country also have an important contribution in development of the Indian Modern Art. Thus the beginning of the Modern art cannot be pinpointed to a certain date. Abandoning the subject primacy of ancient art 'expression' is prominent in art today and various styles are used with experiments. The principle tradition of ancient art has been replaced by experimental methods.

In the late 18th century when the British ruler was took the control of India and ran the country in his own way.[2] Its impacts were seen in the social, culture, and political condition of the country. The demand of art created in European style was increased when the British East India Company was established in Calcutta. It was popular across the British India at that time, various Indian Kings who were patrons for the art they also demand for arts in European style. In this way, there was large market for art when the British East India Company was operating. At that time artists began to depict their surrounding environments, everyday life, portraits of Maharaja, landscape, historical monuments, festivals, and other social events etc.[3]

The Indian artists also influenced by the British art mediums and techniques then speedly amalgamation of new ideology was seen in Indian traditional art such as Mughal, Rajasthan, and Bengali and new art style was established as Modern Art. If we see the traditional art of Indian religion, culture, and mythology. That was not created for the commercial purpose but for devotion of Indian god-goddesses. The traditional art was purely rooted on the Indian aspects.[4] But when we see the art form of Mughal style to British style there is huge change can seen which were influenced by the foreign countries.

When the Mughal and Rajput rulers were started getting indifference towards art. Then the Indian artists were searching for the patrons and they started work for the British rulers. At that time many European traveller artists such as Thomas Daniell, J. Zoffany, Tilly Kettle and others were came to British India whose work styles, subjects, techniques, and mediums influenced the local artists of the India.[5] These artists started to adopt the principle of perspective, light-shade, and academic realism in their paintings. Specially it reached to across the India and followed by the various artists. Even the British officers and artists could not keep themselves away from Indian civilization and culture. Influenced by Indian civilization and culture they started sending paintings to Europe which were related to Indian animal-birds, occasions, and social life. In this way, Indian art was developed on the basis of European art elements and Indian themes.

The pioneer of the Indian Modern Art Raja Ravi Varma was also influenced by the British Art style and he started learnt art from the European artists. He was the first Indian painter to work on Indian subjects in the European style. The Maharaja of Travancore also appreciated his art. He learnt oil painting techniques and created transcendent paintings which are very famous in present time. He mainly painted the paintings related to Hindu epics and mythology. In his work women figures are prominent which he created beautiful and graceful manners (Image 1). Raja Ravi Varma was born in 1848s in Kilimanoor at the Travancore, Kerala. He learnt his primary art education from his uncle Raj Varma.[6] He used to paint in Tanjore style and was a fan of European style. He learnt oil technique from Theodore Jensen. He introduced the possibility of a new art form by combining Indian ideology and European style. On the special recommendation of the Raja of Trancore, he was awarded by 'Honour of the Bengal' in 1866. In 1904, the British Government honoured him with the 'Kesar-e-Hind'.

Raja Ravi Verma's art style was in line with the public interest, which had the ability to attract the imagination of the viewer. He also tried to depict the national spirit through mythological and religious aspects. Raja Ravi Varma achieved unprecedented fame, popularity and success as an artist. In the context of Ideal beauty, keeping in mind his original concept, he painted the image imprinted in the mind on the basis of literary sources. In addition to scenes from mythological and historical tales quoted from the epics, he painted the portraits of eminent personalities, social events carrying moral messages.

Bengal was a major commercial and political centre during the European rule due to geographical reason. Along with this, Calcutta had also become a major centre of cultural activities due to its development as a metropolis. The society and culture were influenced by the European culture. Tagore family did remarkable work of public awareness of art in the emerging background of patriotism. There was also important cooperation of great scholars like E.B. Havell and Ananda Coomaraswamy.[7] The Bengal School came into existence with the significant contribution of Abanindranath Tagore and soon spread across the India through the art students of Santiniktan and Government College of Art and Crafts, Kolkata.

Abanindranath Tagore was a pioneer of the Bengal school of art. He emphasized the indigenous values through his artworks. His artworks are amalgamation of Rajput and Pahari painting styles. He expressed the feelings through his paintings in transcendent manners. In his painting titled 'Bharat Mata' he depicted women who is holding rudraksha, white cloths, books, and sheaves of paddy through his four hands (Image 2). This women figure is looking as 'sadhvi'. This painting was created by Abanindranath

tagore in 1905 during Independence Movement against British. His landmark painting 'Last day of Shahjahan' was a novel experiment in the beginning of Indian Modern Art. In this painting the emotional expression is very significant and centre of attraction for the viewers. If we see the beginning of the Bengal school of art, we can find the artworks were different from the academic British style and the artists prominently emphasized to depict their works rooted on Indian themes and techniques. Some artists from this school also participated in Indian nationalist movements through his artworks.

The art schools brought together the artists and the enlightened class on one ground and place in major cities of the country. These art schools were started by private businesses for the same purpose and were later subsumed by the provincial European Government. Some of the upper class students took admission in these schools and tried to learn the new academic techniques with full curiosity and dedication, because they were not familiar with both Indian and European art. In art schools, students have access to libraries, art galleries and museums. These schools were followed the art teaching method of 'British Royal Academy of London', where more emphasis was given on the study of perspective, light-shade, and human-body structure. This education was attracted towards the European style and method, in which artists and students studied the best ideals and pictorial language.

Government College of Art and Crafts, Madras was established in 1850s by surgeon Dr. Alexander Hunter from the Madras Regiment as the name of 'Madras School of Art'. In 1884, E.B. Havell profoundly influenced the Indian art scene by taking the position of principal. Havell made a significant contribution to the progressive development of art education by staying here till 1892. Then in 1929, sculptor Devi Prasad Roy Chowdhury was appointed the first Indian principal who actively used self-energy in the art scene here.[8] Modern art was also included in the curriculum along with Eastern art styles. He gave a definite shape to the new cultural ideology in Chennai as well as encouraged the Bengal style and also spread the ideas of European Impressionist artists. In 1854, when the K.C. S. Paniker was the principal a style of abstraction assimilated in the field of sculpture with full enthusiasm.

In 1864, Government College of art and crafts, Kolkata was founded by the joint efforts of Indian and European members before it known as the 'School of Industrial Art'. In 1896, E.B. Havell moved from Chennai to Kolkata and appointed as principal of Government College of art and crafts, Kolkata. Simultaneously, this art college became an important part of Modern Indian Art history. Abanindranath Tagore was invited to the post of Vice-principal who contributed to the aesthetics importance of art and return to the Indian art tradition. Through this art college, many of his disciples came out who also achieved fame in the art world such as- Surendranath, Asit Kumar Haldar, Kshitindranath Majumdar, Samrendranath gupta, Nandlal Bose, and Sudhir Khastgir.

Sir J.J. School of Art, Mumbai was first started by William Jerry in the name of 'Elephistone Institute of Art and Industry'. Initially, art teachers and principals were appointed here from London. At that time, here the teaching style was based on the education system of Royal Academy of London. In this way, several art colleges were established which played an important role in development of Indian Modern Art such as – Rajasthan School of Art, Jaipur, Mayo College of Art and Crafts, Lahore, Kala Bhawan, Santiniketan, College of Fine Arts, Lucknow etc.

Undoubtedly, Indian artists like Rabindranath Tagore, Amrita Shergil and Jamini Roy contributed significantly to the early development of Indian Modern Art through their efforts. After that some art

group emerged which played an important role in promoting Indian Modern Art such as – Young Turks, Calcutta Group-43, Progressive Artists Group, Mumbai, Progressive Artists Association, Srinagar, Shilpi Chakra, New Delhi, Bombay Group, Group 1890, Cholamandal Artists Group, Madras etc. The artists from all these groups did many innovative experiments and showed their excellent creativity and imaginations and played important role in evolution of Indian Modern Art.

(1) "Hamsa Damayanti" by Raja Ravi Verma

(2) "Bharat Mata" by Abanindranath Tagore

List of Images

1. Image:"Hamsa Damayanti", by Raja Ravi Verma, Oil Painting, 1899. http://www.rrvhfoundation.com/
2. Image:"Bharat Mata" by Abanindranath Tagore, Watercolour, 1905. https://www.thehindu.com/news/cities/kolkata/abanindranaths-bharat-mata-on

References

1. Chaturvedi, Dr. Mamta. Samkalin Bhartiy Kala. Jaipur: Rajasthan Hindi Granth Akademy, 2014. Print. Page no. 1.
2. Sardar, Marika. "Company Painting in Nineteenth Century India" In Heilbrunn Timeline of Art History, New York: The Metropolitan Museum of Art, 2000. http://www.metmuseum.org/toah/hd/cpin/hd (October 2004)
3. Maurya, Shakuntala. "Company Chitrakala", Swati Publication, 1 Jan, 2003. Page no. 42.
4. Sivaramamurti, C. "INDIAN PAINTING", National Book Trust, New Delhi. Page no. 45.
5. "European Traveller Artists." ngmaindia, National Gallery of Modern Art, New Delhi. www.ngmaindia.gov.in/showcase.asp. Accessed 19 Dec 2021.
6. Varma, Rukmini. "RAJA RAVI VARMA", Raja Ravi Varma Heritage Foundation. Rrvhfoundation.com
7. Venkatachalam, G. "Some Reminiscences about the Bengal School", Lalit Kala Contemporary, Lalit Kala Academy, New Delhi, 1962. Page no. 22.
8. Mago, Pran Nath. "Contemporary Art in India: A perspective", NATIONAL BOOK TRUST, INDIA, New Delhi, 2000. Page no. 23

कला एवं धर्म में अन्तर्सम्बन्ध

कनक शर्मा

आदिम कालीन समाज और आज के समाज के स्वरूप में एक अन्तर दिखाई देता है। यह अन्तर क्यों हुआ ? इस समस्या का समाधान धर्म और कला के सम्बन्धों को सुलझाने में स्पष्ट हो जाता है। समाज धर्म के आध्यात्मिक और भावनात्मक जीवन पर आधारित है जबकि कला में उपयोगी पक्ष की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति भी निहित है। किन्तु कला की अपेक्षा धर्म का स्वरूप व्यापक है। इसके अतिरिक्त समस्त सौन्दर्य शक्ति का स्त्रोत धर्म में निहित है तथा समाज के अनेक पक्षों में से धर्म एक मुख्य पक्ष भी है। कला, धर्म और समाज को साथ लेकर चलती है।

यद्यपि कला और धर्म के अंतःसम्बन्ध को स्पष्ट करने से पूर्व धर्म के स्वरूप को जानना अतिआवश्यक है। यह धर्म कहाँ से और कैसे आया। आज के समाज के धर्म और प्राचीन समाज के धर्म के स्वरूप में क्या अंतर है ? इन प्रश्नों का हल हम धर्म के स्वरूप और उसके कार्यों के सम्बन्धों के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य के मन में अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ जैसे चन्द्रमा, सूर्य, ज्वालामुखी, भूकम्प ने भय उत्पन्न किया और आदिमानव ने इन्हें शक्ति मानना आरम्भ कर दिया। आदिमानव के हृदय में किसी भी वस्तु का रूप वही रहा जो उसने देखा। उसके मस्तिष्क में प्रत्येक वस्तु को लेकर रहस्य की भावना अवश्य रही। इस प्रकार उसने सभी प्राकृतिक शक्तियों को रहस्यपूर्ण समझ कर उन्हें धर्म के अधीन अलौकिक माना। इन्हीं रहस्यमयी शक्तियों के प्रति मनुष्य ने तर्क की अपेक्षा भावनाओं को अधिक महत्व दिया और जहाँ तर्क व विचार न हो वहीं भावना एवं विश्वास के आधार पर धर्म का उदय होता है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास हुआ वैसे-वैसे मानव चेतना के आधार पर सभी समस्याओं को सुलझाने एवं समझने का स्थायी प्रयास किया गया। किन्तु जिन तत्वों का समाधान नहीं हुआ, उन्हें विश्वास के आधार पर स्वीकृत किया। विश्वास की आधारशिला पर जिन मान्यताओं का विकास हुआ और असीम शक्ति का आभास हुआ उसे ही धर्म माना गया। जहाँ मनुष्य ने स्वयं को रहस्यमयी प्रकृति के समक्ष दुर्बल और तर्करहित पाया वहाँ उसने धर्म को अपनाया तथा धर्म ने इन समस्याओं को सुलझा दिया। ''समाज में व्यक्तिगत शुभ या कल्याण की भावना को धर्म ने ही, कला के माध्यम से सामूहिक कल्याणकारी बताया।''[1]

कला के प्रसार एवं विकास में धर्म अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इतिहासकारों ने भी प्राचीन रेखाचित्रों, भित्तिचित्रों, मूर्तिकला व वास्तुकला के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत तथा अन्य देशों में कला का उद्भव धर्म के साथ हुआ अर्थात् कला का मुख्य प्रेरणा स्त्रोत धर्म को माना गया। आदिमानव ने पर्वत की शिलाओं पर अनेक कलाकृतियों का अंकन किया तथा उसके द्वारा अंकित जंगली जानवरों के चित्र उतने ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं जितने कि स्वयं वन्य जीव। समाज के साथ-साथ कलात्मक सृजन का विकास हुआ और कला ने प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक जगत के मध्य कड़ी का कार्य करना आरम्भ कर दिया। जब पवित्र धार्मिक ग्रन्थों में लिखित उपदेशों, कहानियों एवं संदेशों को चित्रों व मूर्तियों के रूप में मूर्त रूप प्राप्त हुआ तो उनके द्वारा जन समान्य तक धर्म का

प्रचार हुआ । कहा जा सकता है कि मनुष्य ने उस अदृश्य असीमित शक्ति यानि ''ईश्वर या ''परमात्मा '' का दृश्यीकरण करने के लिए कला को माध्यम चुना । कला ने प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को संचालित एवं प्रसारित किया, जिस वजह से कला में अनेक नवीन शैलियों का विकास हुआ । अंततः कला के द्वारा धर्म को लोकप्रियता मिली और दोनों में अंतःसम्बन्ध स्थापित हुआ ।

कला और धर्म में कुछ साम्यता भी देखने को मिलती है । जब व्यक्ति उपासना करता है तो वह अपने अहंकार, मोह, लोभ, भय इत्यादि दैनिक आवश्यकताओं को भूलकर आत्मचेतना रहित स्थिति में पहुँच जाता है । इसी प्रकार कलाकार भी सृजन के समय अपनी कला में ही ब्रह्मलीन हो जाता है । डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है कि ''धर्म में जब उपासना तत्व की अनिवार्यता होती है, तब प्रेम का उदय होता है । प्रेममय ईश्वर की उपासना हेतु प्रतिमा का सृजन किया जाता है ।''[2] इस प्रकार हम कला के माध्यम से ईश्वर के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं । पाश्चात्य समाज में ईसाई धर्म को प्रचारित करने के लिए कला को ही माध्यम चुना गया जिसका सबसे विख्यात उदाहरण सिस्टाइन चैपल के भित्ति-चित्र है । इसी प्रकार भारतीय समाज में भी प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक धर्म कलाओं का प्रेरणा स्त्रोत रहा । प्रागैतिहासिक कालीन मनुष्य ने अमूर्त शक्तियों को प्रसन्न करने हेतु शिलाओं पर अनेक प्रतीक चिन्हों को अंकित किया । हड़प्पा व मोहनजोदड़ों से प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमा, मौर्यकाल में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सम्राट अशोक ने स्तम्भ, विहार, शिलालेख बनाए । मौर्यकालीन समय से लेकर शुंगकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल तथा आधुनिक कला आन्दोलन तक बौद्ध, हिन्दु व जैन धर्म ही कला के मूल स्त्रोत रहे। धर्म ने सभी कलाओं के लिए लौकिक अनुभव के द्वार खोल दिए । अतः भारतीय कला में धार्मिकता पूर्ण रूप से सम्मिलित हो गई और चित्रकला को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया। यथा -

''कलानां प्रवंर चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।''

चित्रसूत्र''[3]

भारत में कला को परम ब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना जाता है । कला के द्वारा ही इस अलौकिक सत्ता की प्राप्ति होती है । कला उस परमानंद के काल्पनिक स्वरूप को तथा उसकी दंत कथाओं को मूर्त रूप प्रदान करती है । इस प्रकार कलाएँ धर्म साधना की विभिन्न अनुभूतियाँ जैसे उदात्ता, अलौकिकता, वैश्विक - कल्याण, करूणा, चमत्कार इत्यादि के प्रभाव को उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है । वस्तुतः कला और धर्म क निकट सम्बन्ध स्थापित होने की कई वजह है - जैसे कला संप्रेषण का सबसे मुख्य साधन है, जिसके द्वारा सम्बन्धित जाति समुदाय के बिंबों, प्रतीकों एवं मान्यताओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है । इसीलिए विभिन्न युगों से सम्राटों व धार्मिक समुदाय ने अपने सिद्धांतों, विचारों, देवताओं का प्रजा में प्रचार करने के लिए काव्य, संगीत, मूर्ति, वास्तु तथा चित्रकला को माध्यम बनाया, जिसके कारण बिना पढ़े-लिखे लोग भी धर्म को जान सके । दूसरा यह कि भारत जैसे देश में सभी मानवीय गतिविधियाँ परम्परा व धर्म से प्रेरित होती थी । इसी उद्देश्य के लिए कला द्वारा प्रेरित हुई । तीसरा, प्राचीन भारत में संग्रहालय या कला दीर्घाएं नहीं थी और कला को सामाजिक महत्व भी प्राप्त नहीं था ।

भारत तथा अधिकांश पूर्वी देशों में भगवान बुद्ध की जीवन की घटनाएँ कला की लोकप्रिय विषय रही है। भारत में बौद्ध कला के द्वारा शान्ति, अनासक्ति का सन्देश प्राप्त हुआ। इसका उदाहरण अजन्ता की पहली नम्बर गुफा में ''बौद्धिसत्व अवलोकितेश्वर'' का भित्ति चित्र है, जिसमें विनम्र व शान्तभाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। बौद्ध मत के अतिरिक्त वैष्णव, शैव मत ने भी कलाओं को बढ़ावा दिया। गुप्तकाल की शिव-पार्वती एवं विष्णु इत्यादि हिन्दू देवी-देवताओं की अद्भूत प्रतिमा, भव्य मन्दिर निर्माण योजना जो कि उनका कला में अतुलनीय योगदान है, भी गुप्तकाल की देन है। वैसे भी गुप्तकाल को भारतीय मूर्तिकला का स्वर्णयुग कहा जाता है। भारतीय लघु-चित्रकला में हिन्दु धार्मिक ग्रन्थ जैसे रामायण, महाभारत व कृष्ण-लीलाओं को ही अंकन मिलता है। इस प्रकार कला के माध्यम से ही हिन्दु धर्म से सम्बन्धित विभिन्न समुदाय धार्मिक ग्रन्थों की गाथाओं, मान्यताओं और शैव, वैष्णव, शाक्त मत को जान पाए। इसी तरह जैन पाण्डुलिपियों में ऐसे अनेक चित्रों का अंकन हुआ, जिससे जैन धर्म का प्रचार हआ। निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि विश्व में ऐसा कोई धर्म या मत होगा जो कला द्वारा प्रचारित नहीं हुआ हो। अतः धर्म को प्रचारित करने के लिए कला को ही एक सफल माध्यम चुना गया और कला व धर्म एक-दूसरे पर आश्रित होने लगे। कला व धर्म न केवल एक-दूसरे के सहयोगी हैं बल्कि पूरक भी है। दोनों ही व्यक्ति को उपयोगिता के बन्धन से मुक्त करके परम मूल्यों के उच्चतम संसार की ओर तक ले जाते हैं। ''जैसाकि क्लाइव बैल का विश्वास है, इन दोनों में ही मनुष्य को ''मानवोत्तर आनन्दातिरेक'' तक पहुँचाने की शक्ति है और दोनों ही परमार्थिक मनःस्थिति तक पहुँचने के साधन हैं। इसीलिए कला और धर्म को ही मनुष्य की आत्मा की मूल अभिव्यक्ति माना गया है।''[4]

संक्षेप

कला और धर्म दोनों ही प्राचीनकाल से अस्तित्व में है व इन दोनों का एक साथ ही विकास हुआ। दोनों ही इन्द्रियानुभवी सुख से कुछ गहनतर संतुष्टि प्रदान करते रहे हैं, जो कि मानव की नैतिक उत्पत्ति में भी सहायक रही है। धर्म के प्रचार के लिए मंदिर, गिरिजाघर आदि भवनों का निर्माण हुआ तथा उसमें देव-महिमा का वर्णन करने के लिए चित्र लगाए गये, प्रतिमा स्थापित की और भक्ति-आलाप बजाए गये। इस प्रकार धर्म ने वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत व काव्य सभी कलाओं को एक सूत्र में पिरोया है।

संदर्भ

1. सक्सेना, श्याम बिहारी व सरन, सुधा, कला सिद्धान्त और परम्परा, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, तृतीय संस्करण, 1993, पृ.सं. 34
2. वही, पृ.सं. 36
3. वर्मा, अविनाश, भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, ग्याहरवां संस्करण, 2006, पृ.सं. 2
4. सक्सेना, मन्जुला, ऐस्थैटिक्स, डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड प्रा.लि., नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 87

भारतीय संस्कृति में अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ

डॉ. पवन कुमार जांगिड.

चित्रकला के प्रति अकबर की रुचि आरम्भ से ही रही थी । अबुलफज्ल की आईने अकबरी के अनुसार अकबर के दरबार में सौ से अधिक ऐसे चित्रकार थे जो विश्वभर के श्रेष्ठ चित्रकारों से टक्कर ले सकते थे । साधारण चित्रकारों की तो कुछ गिनती ही न थी । अकबर ने जिस प्रकार सभी धर्मों का समन्वय करके दीन-इलाही' का आरम्भ किया उसी प्रकार उसके समाश्रित चित्रकारों ने कई शैलियों के समन्वय से एक नई शैली चलाई । अगर हम मुगल काल और ग्रन्थ-चित्रकला के बारे में अध्ययन करें तो तैमूरलंग के अभियानों के फलस्वरूप ईरान और चीन के मध्य सांस्कृतिक विनिमय की पुनरावृत्ति हुई । उसने राज्य विस्तार ही नहीं किया बल्कि ललित कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया । उसके और उसके वंशजों के संरक्षण में समरकन्द और हिरात में ग्रन्थ-चित्रकला का विकास हुआ । [1]भारत के संदर्भ में देखे तो मुगल शासक बाबर यद्यपि स्वयं चित्रकार नहीं था तथापि चित्रकला से उसे बड़ा प्रेम था। उसने अपनी आत्मकथा में ईरान के विख्यात कलाविद् बिहज़ाद के चित्रों की अत्यन्त मार्मिक समीक्षा की है । उसके पुत्र हुमायू का जीवन भी उसी की तरह ही संघर्षों में बीता । इस कार्य का श्रेय उसके पुत्र अकबर को मिला । 1556ई. में अकबर का गद्दी पर बैठना सर्वथा नवीन युग के समारम्भ का सूचक है । अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला-प्रेमी था। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त था । देश की संस्कृति और कलाओं से अब तक अधिकांश सुल्तान विमुख रहते थे, अकबर ने इन कलाओं को अपनाकर एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उसकी इस उदार नीति ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग उन्मुक्त कर दिया ।

अकबर की चित्रकला, स्थापत्य और संगीत में भी बहुत रुचि थी। उनकी छत्रछाया में चित्रकला ने बड़ी प्रगति की है । अकबर महाकाव्यों, कथाओं में रूचि रखता था इसलिए उसके काल के चित्र रामायण, महाभारत और फारसी महाकाव्य पर आधारित है । अकबर द्वारा शुरू की गई सबसे प्रारम्भिक पेंटिंग परियोजनाओं में से तूतीनामा महत्वपूर्ण थी, जो कि 52भागों में विभाजित फारसी के गद्य और पद्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों को चित्रित किया गया और इस प्रकार बहुत से चित्र बने । अकबर कालीन चित्रकला को चार भागों में बाँटा जा सकता है - (1) चित्रपट (Rolls) (2) ग्रन्थचित्र (Miniatures) (3) व्यक्तिचित्र (Portraits) (4) भित्तिचित्र (Frescoes)

इस शोध पत्र में हम केवल अकबर कालीन ग्रन्थ (Miniatures)चित्रों के बारे बात करेगें । ग्रन्थ चित्रों की श्रेणी में भारतीय कथाएं और ऐतिहासिक ग्रन्थ दोनों ही आते हैं । अनेक भारतीय तथा इस्लामी पुस्तकों को अकबर ने उस समय चित्रित करवाया था । इनमें अनेक चित्र कपड़े पर बने हैं और आकार में काफी बड़े हैं । अन्य पुस्तकों में कागज पर बने चित्र लगाये गये हैं । अकबर-कालीन चित्रों के विषय अभारतीय कथाओं (हम्जानामा, खमसा निजामी आदि), भारतीय कथाओं (रामायण, रज्मनामा, नलदमन, अनवार-ए-सुहैली आदि), ऐतिहासिक घटनाओं तथा दरबारी

जीवन, राज-परिवारों की जीवनी (शाहनामा, अकबरनामा, तैमूरनामा, बाबरनामा, जामीउत-तवारीख, तारीखे-अल्फी आदि) सामाजिक तथा व्यक्ति-चित्रों (शबीहों) पर आधारित रहे हैं। [2]अकबर कालीन मुगल चित्रकला अधिकतर चित्रित ग्रन्थों के रूप में हमारे सामने आती है। जैसे कि :-

(1) वाकायत-ए-बाबरी (अकबर की आत्मकथा) :- इसका फारसी अनुवाद तुर्की में खानखाना ने किया, जिसकी एक प्रति सन् 1598ई. में अकबर को भेंट में मिली। मध्य एशिया से कूच कर हिन्दुस्तान में मुग़ल वंश की स्थापना तक की उथल-पुथल को लघुचित्रों के रूप में संजोए 'वाक़यात-ए-बाबरी' को लंदन, दिल्ली व अलवर ने भी सहेज रखा है। 16वीं सदी की इस ऐतिहासिक पुस्तक में युद्धों का विवरण दिया गया है। अकबर के शासनकालीन प्रति में उन्नीस उच्च कोटि के हिंदू और तीन उच्च कोटि के मुसलमान चित्रकारों का वर्णन है।[3]

(2) तारीख-ए-खानदान-ए-तैमूरिया (तिमुरनामा) :- तैमूरियों के इतिहास अथार्त ईरान और भारत में तैमूर के उत्तराधिकारियों का इतिहास है। इस समृद्ध रूप से चित्रित पांडुलिपि को महान मुगल सम्राट और तैमूर के वंशज जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर के शासनकाल के बाईस साल बीत जाने के बाद सन 1577-78में लिखा और रचा गया था। इस ग्रन्थ में तैमुर वंश के आरम्भ से अकबर के 1577ई. वर्ष तक का चित्रण है। (चित्र सं. 2) इसका रचना काल 1584-86ई. तक का है। इसमें 132चित्र है। इसके चित्र उस ऊँचाई के अनूठे उदाहरण हैं जिन्हें कला के इतिहास में मुगलों द्वारा प्राप्त किया गया था। इसका मुख्य चित्रकार दसवन्त था। इसकी सचित्र प्रति खुदाबक्स ओरिएण्टल पब्लिक लाइब्रेरी पटना में है।[4]

(3) हम्जानामा (किस्सा अमीर हम्जा-1558-1573ई.) :- अकबरकालीन समस्त ग्रन्थों में 'हम्जानामा चित्रावली बहुल महत्त्वपूर्ण है। अकबर की सरपरस्ती में जो बहुत बड़ा काम हुआ वह हम्जानामा की कथा को 14जिल्दों में चित्रित किया गया और कुशल कलाकारों ने इस कहानी के 1400 सुन्दर चित्र बनाए। यह हज़रत मुहम्मद के चाचा अमीरहम्ज़ा के जंगी कारनामों की दास्तान है। यह सूती कपड़े के टुकड़ों पर चित्रित की गई थी। हम्जानामा के चित्र चित्रपट की श्रेणी में आते हैं। ये सवा दो फुट लम्बे और लगभग 2फुट चौड़े हैं और सूती कपड़े पर भारतीय चित्रपटों की परंपरा में ही बनाए गए हैं। हम्ज़ानामा अकबर के युग की सबसे पहली कृति है। इसके चित्रों में ईरान की हिरात-शैली का प्रभाव मिलता है फिर भी इनमें अपना एक निजत्व है जो निश्चय ही भारतीय कलाकारों के हाथों पाया है। वेषभूषा और पहनावा भारतीय है। आकृतियां गतिमान् और भावपूर्ण हैं। प्रकृति चित्रण में भारतीय फलफूल जैसे-केले, वट, पीपल, आम, और पशु-पक्षी जैसे हाथी, मोर आदि का चित्रण किया गया है। इसमें भारतीय देवी-देवताओं की छवियां भी मिलती है। 'श्री रायकृष्ण दास जी' का मानना है कि इसे पूर्णतया अकबर ने ही चित्रित कराया था। इसमें बनाये कुछ चित्र भारतीय शैली के हैं। इस दास्तान की आश्चर्यजनक घटनाओं को आरम्भ से अन्त तक चित्रित कराया गया। प्रत्येक चित्र में सम्मुख-भाग पर 'काजबीन (मुंशी)' या 'ख्वाजा अताउल्लाह लिपिक' ने चित्रों पर विवरण लिखे हैं।[5]बिहजात के समान तूलिका वाले चित्रकार इस पुस्तक को तैयार करने के लिये नियुक्त किये गये और

बाद में ख्वाजा अब्दुलस्समद 'शीराजी' की देखरेख में यह कार्य चलता रहा। अमीरहम्जा के चित्रों में फारसी प्रभाव अधिक है। आज इसके 150चित्र उपलब्ध हैं, जिसे 'गुलूक' ने संगृहीत कर सन् 1925ई. में वियना से छपवाया था। आज 61 चित्र 'वियना में 25 साउथ केन्सिंगटन संग्रहालय, लंदन तथा 15 अमेरिका के विभिन्न संग्रहालयों में हैं। [6]भारत में 6चित्र हैं जिनमें 2चित्र भारत कला भवन, वाराणसी, 2मुम्बई, 1 हैदराबाद व 1बड़ौदा संग्रहालय में हैं। इस चित्रावली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :-

(1) कवचधारी व्यक्तियों को छोड़कर शेष पुरुषों का पहनावा भारतीय है। स्त्रियों का परिधान त्रिकोण दामन वाली लम्बी कुरती, ओढ़नी तथा पाजामा है। यह पहनावा कश्मीरी है जो काश्मीर शैली के प्रभाव से मुगल शैली में आया।
(2) ये चित्र आलंकारिक न होकर घटना चित्र हैं जो हिरात शैली से भिन्न हैं। इनमें भीड़-भाड़ है तथा नाजुकपन भी नहीं है।
(3) इन चित्रों की रेखाओं में भारतीय ढंग की गोलाई देखी जा सकती है। स्त्रियों की आकृतियाँ पूर्ण भारतीय हैं। एक-चश्म चेहरों की अधिकता है, बड़ी-बड़ी मछली जैसी आंखें हैं।
(4) प्रकृति का अंकन भारतीय तथा फारसी मिश्रित ढंग का है तथा उसमें मोर, पीपल, आम, केला, वट-वृक्ष, आदि का भी अंकन हुआ है।
(5) आकृतियों को भाव-भंगिमाओं तथा वस्त्रों की फहरान आदि पर भारतीय गतिपूर्ण मुद्राओं का प्रभाव है। भारतीय ढंग के हाथियों का चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं भारतीय वास्तु का भी दिग्दर्शन हुआ।
(6) कुछ देवताओं की छवियाँ भी अंकित की गई हैं जिन पर पाल शैली की परम्परा वाली काश्मीर शैली का प्रभाव है।
(7) इस चित्रावली में प्रधान अंश काश्मीर शैली का है, शेष अंश राजस्थानी तथा ईरानी शैली के हैं।[7]

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन चित्रों में ईरानी विषयवस्तु होते हुये भी अकबर की अन्तरात्मा 'सुलहकुल' व 'भारतीयनुगत विचारधारा से प्रभावित चित्रकारों ने भारतीय व ईरानी शैली को सम्मिश्रण के रूप में प्रस्तुत किया है।

हम्जानामा चित्रावली के चित्रकारों में तब्रेज निवासी मीर सैयद अली सफवी शैली का फारसी चित्रकार था। काबुल में मीर सैयद् अली तथा अब्दुस्समद शीराजी के निर्देशन में अनेक हिन्दू-मुसलमान चित्रकारों ने 'दास्तान-ए-अमीर हम्जा' के चित्रों का निर्माण प्रारम्भ किया। इस पुस्तक के दृष्टान्त चित्रों की रचना कर (मीर सैयद् अली और अब्दुस्समद) अपने अथाह ज्ञान और अपरिमित साधना का परिचय दिया। किन्तु इसके कोई प्रमाण नहीं हैं कि इन दोनों ने भी इसके कुछ चित्र बनाये थे। ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी भारत में मुगल शैली के जन्मदाताओं में से एक था। वह फारसी सुलिपिकार एवं चित्रकार था। तैमूरनामा के एक उल्लेख के अनुसार हुमायू तथा अकबर ने उससे कला की शिक्षा ली। 'मआतिर-उल-उमरा' के लेखक 'शाह नवाजखान' ने लिखा है कि हम्जा चित्रावली के निर्माण में अकबर ने 50से ज्यादा चित्रकार नियुक्त किये थे। पूर्व में मीर सैयद अली ने इसका निर्देशन किया, किन्तु बाद में ख्वाजा

अब्दुस्समद के निर्देशन में यह कार्य पूर्ण हुआ। हम्जानामा के अधिकांश चित्र इसी के निर्देशन में बने थे। इसका एक प्रमुख शिष्य दसवन्त था।[8]अबुलफज्ल के विवरणानुसार दसवन्त कहार का लड़का था। सम्भवतः दसवन्त ने अमीर हम्जा के भी कुछ चित्र बनाये थे किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। जो चित्र उपलब्ध हैं उनमें से कुछ चित्रों को दसवन्त के बनाये हुए सिद्ध करना बड़ा दुष्कर है।[9]

(4) रज्मनामा (महाभारत का अनुवाद) :- 1574ई. में अकबर ने फतेहपुर सीकरी में मकतबखाना (अनुवादघर) शुरू किया। अकबर ने महाभारत का फ़ारसी में अनुवाद कराया। 'अब्दुल कादिर बदायूँनी' अकबर दरबार का संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान था। महाभारत का फारसी अनुवाद रज्मनामा के नाम से इसी के द्वारा हुआ था, जिसको पूरा करने में एक वर्ष लगा और यह सन् 1582ई. में पूरा हुआ। रज्मनामा की तीन प्रतियां है। प्रथम जयपुर अजायबघर में, दुसरी 1599 में तैयार जो वर्तमान में विविध संग्रहालय में रखी गई है और अंतिम रज्मनामा रहीम का है जो 1616 में पुरा हुआ था। रज्मनामा अपने चित्रों के कारण महत्वपूर्ण है। पहले अनुवाद (1584-1586) के दौरान मुश़फिक ने तस्वीरें बनाने का कार्य किया जिसके साथ महाभारत की कथा को समझने में सुविधा होती है। इस समय इस अनुवाद की एक नकल जयपुर शहर के महल अजायबघर में मौजूद है। इस किताब का दूसरा अनुवाद 1598 से 1599के दौरान किया गया। इसमें 161चित्र शामिल है। इस अनुवाद की कई नकल शाही खानदान के सदस्यों को तोहफे के तौर पर दी गई।[10]

इसकी एक प्रति को 1588 में तीन जिल्दों में चित्रित किया गया अकबर का भारतीय आत्मा से लगाव का यह प्रबल उदाहरण है। लगभग 169 चित्र इसमें बनाये गये। इसके लिये करीब पचास चित्रकारों ने दिन-रात परिश्रम किया। चित्रों में भारतीय प्रभाव जम चुका था और ईरानी प्रभाव का लगाव छूटता जा रहा था। कर्नल हैन्डले ने अपनी एक पुस्तक में इसके 148 चित्र छापे थे इस ग्रन्थ के चित्रण कार्य के बीच में ही दसवन्त चितेरा पागल हो गया था और 1584 में उसने आत्महत्या कर ली थी। बसावन, लाल, तुलसी व मिस्कीन आदि चितेरों ने इस ग्रन्थ को चित्रित किया। मुहम्मदशाह ने इसे जयपुर के सवाई जयसिंह को भेंट कर दी थी। अब यह जयपुर के सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय के संग्रह में हैं।[11]अकबरकालीन रज्मनामा के अनुकरण पर कुछ अन्य शासकों ने भी रज्मनामा की सचित्र प्रतियाँ तैयार करायीं। इसके चित्रों में से 24चित्रों में 'दसवन्त' चित्रकार ने कार्य किया। उसका नाम तैमूरनामा के एक चित्र की अनुकृति पर तथा रज्मनामा के अनेक चित्रों पर है। दसवन्त द्वारा बनाया हुआ एक चित्र 'राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में भी सुरक्षित है। जयपुर रज्मनामा वाली प्रति के 21 चित्रों पर दसवन्त का नाम अंकित है, इन्हीं चित्रों से उसकी श्रेष्ठ कला शैली का अनुमान लगाया जा सकता है। दसवन्त ने भारतीय देवी-देवताओं तथा पूर्वजों का अंकन बहुत उच्च कोटि का किया है। बसावन यह सोलहवीं शती के भारतीय चित्रकारों में पर्याप्त प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण कलाकार था। इसने भारतीय जीवन की बड़ी विविध झाँकी प्रस्तुत की है। तैमूरनामा तथा रज्मनामा में बसाबन और दसवन्त दोनों ही कलाकारों के बनाये चित्र हैं। बहारिस्ताने जामी के अतिरिक्त दाराबनामा' को भी बसावन ने चित्रित किया था। बसावन ने लगभग चालीस वर्ष तक कार्य किया अतः अनुमान है कि उसने लगभग दो सौ चित्र बनाये होंगे। अकबर-नामा में भी उसके चित्र हैं। सम्भवतः हम्जानामा में भी उसके चित्र रहे होंगे किन्तु किसी

भी चित्र पर उसका नाम अंकित नहीं मिलता। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अयार दानिस, अनवार ए सुहैली (पंचतंत्र का अनुवाद,), रामायण, तारीखे खानदाने तैमूरिया, वाकआत बाबरी, अजायब-उल- मखलूकात, जफरनामा, नफहत-उल-उन्स, बहर-उल-हयात, तारीख-ए-अलफी, अकबरनामा, शाहनामा, नल-दमन (नल-दमयन्ती चरित्र), तारीख-ए-रशीदी, दाराबनामा, खम्सा निजामी तथा बहारिस्ताने जामी आदि की चित्रित प्रतियाँ भी विभिन्न संग्रहालयों में हैं। [12]रामायण के अनुवाद को भी चित्रित किया गया। पंचतंत्र के अनुवाद अनवार ए सुहैली की एक प्रति को भी 1604 में चित्रित करना प्रारम्भ किया गया। ऐतिहासिक ग्रन्थों में तारीखे खानदाने तैमूरिया की प्रति को सबसे पहले चित्रित किया गया।[13]

अकबरनामा के चित्रों में अकबर, उनकी सेनाओं तथा मुगल दरबार की विविध झांकी मिलती है। शान-शोकत तथा वैभव के मध्य कहीं-कहीं प्राचीन विशाल भारत की भी झाँकी मिल जाती है। अकबरनामा में 100से अधिक चित्र हैं और यह 1602में पूर्ण हुई।[14] (चित्र सं.8) 'तारीख-ए-खानदान-तैमूरिया', 'जफरनामा', 'अकबरनामा' (चित्र सं.9), 'बाकयात बाबरी' आदि ग्रन्थों में व्यक्ति चित्रों की भरमार है। व्यक्ति चित्रण में अधिक मनोयोग से कार्य किया किया गया। अकबर के काल में बने चित्रों में अनेक ऐसे चित्र भी हैं जो उस समय के सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, प्याऊ, पनघट, ऋषि-मुनियों का जीवन, किसान, गरीबों की झोंपड़ी, उत्सव आदि चित्रों में मुखरित हुये हैं जिसमें उस समय के खान-पान, सिंचाई व्यवस्था, कृषि कार्यों, जल-व्यवस्था तथा रहन-सहन के ढंग का पता चलता है। पंचतंत्र के जो अनुवाद हुए उनके कारण मुगल चित्रकारों में प्राकृतिक जगत के प्रति कुछ संवेदनशीलता जागृत हुई है। अनेक संतों, साधुओं तथा आखेट के दृश्य भी बने है। यदपि कृषकों, चरवाहों एवं लोक जीवन के अनेक दृश्यों का अंकन हुआ है तथापि प्रधान रूप से मुगल दरबारी जीवन की झाँकी उन चित्रों में प्रस्तुत की गई है। कहीं-कहीं तम्बुओं एवं रनिवास के भी चित्र प्रस्तुत किये गये है।[15]राय कृष्णदास जी के मतानुसार अकबर काल में लगभग बीस हजार चित्र बने। छिन्न चित्रों में राजा पृथु वाला चित्र जो भारत कला भवन बनारस संग्रहालय में है, बड़ा महत्त्वपूर्ण चित्र है। यह सभी ग्रन्थ दिल्ली-आगरा (फतहपुर सीकरी) और लाहौर में अकबरी पोथीखाने की शोभा थे लेकिन विदेशी आक्रमणों तथा मुगल शहंशाहों की लापरवाही से अधिकांश ग्रन्थ काल कवलित हो गये।

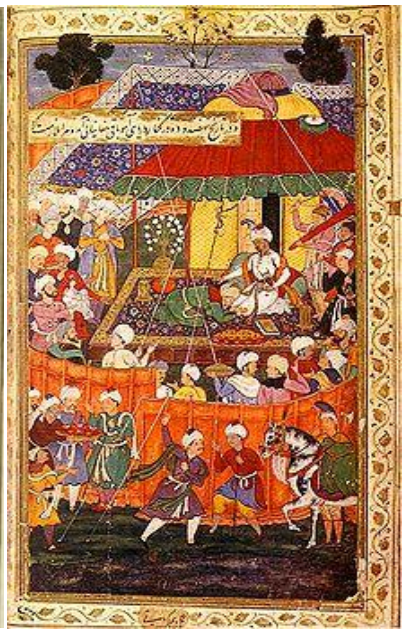

अनवार ए सुहैली बाबरनामा अकबरनामा

अकबर के पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें थीं जिनमें सैकड़ों ग्रन्थ चित्रित थे। इससे उस महान् सम्राट ने चित्रकला को कितना प्रोत्साहन दिया इसका अनुमान लगाया जा सकता है। अकबर ने सन् 1558 से 1572ई. तक आगरा में, सन् 1572 से 85ई. तक फतेहपुर सीकरी में, सन् 1585 से 1601ई. तक लाहौर में और सन् 1603 से 1605ई. तक पुनः आगरा में चित्रशालाएँ स्थापित की। अकबर का शाही पुस्तकालय भी तीन विभिन्न बड़े नगरों में स्थापित रहा-आगरा, दिल्ली और लाहौर।

अकबर ने अलग से एक 'कला-निकेतन' की भी स्थापना कर रखी थी, जिसका अध्यक्ष अब्दुस्समद' था। यहाँ वह प्रति सप्ताह चित्रों की प्रदर्शनी संग्रह को दिखाता था। पोथी चित्रण पूर्ण करने के लिये तीन व्यक्तियों की जरूरत होती थी। उसमें पहला कलाकार शेर लिखता था, दूसरा चित्रकारी करता तथा तीसरा उसमें रंग भरता था। ऐसे कलाकारों में कातिब मीर अली, मुलतान अली, मुहम्मद हुसैन, उस्ताद गफ्फारी, अब्दुलरहीम आदि के नाम प्रमुख हैं। संस्कृत और फारसी हस्तलिखित पोथियों के दृष्टांत चित्रों को अकबर ने बड़ी रुचि से तैयार करवाया। यह ग्रन्थ धार्मिक, शास्त्रीय, काव्य, काव्यनीति, इतिहास, नाटक, जीवनी आदि सभी विषयों के थे। अकबरकालीन चित्रशैली की अपनी कुछ विशेषताए हैं जो इसे अन्य चित्र शैलियों से पृथक् करती हैं। इन चित्रों की मूल प्रेरणा ईरानी होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय है। हम्जानामा के पश्चात् यह कला ईरानी और भारतीय विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट होती है। इसके आलेखन में गति और अभिव्यंजना है। आकृतियां भावपूर्ण हैं। चित्रों में केवल रेखाओं की ही कला नहीं है अपितु उनमें सजीवता और उन्मुक्तता है। ईरानी आलंकारिकता को भारतीय विषयों, वेषभूषा, पशु-पक्षी, प्रकृति और वातावरण के चित्रण के साथ-साथ घोल मेल लिया गया है।

अकबर के चित्रकार अधिकांशतः विशुद्ध भारतीय रंगों का प्रयोग करते हैं, जैसे सिन्दूर, पेवड़ी, लाजवर्दी, हिंगुल, जंगाल, गेरू, हिरोंजी, रामरज, हरा भाटा एवं नील आदि। इन रंगों के मिश्रण से बड़े सुन्दर चमकदार और मीने की तरह दमदमाते चित्र बनाए जाते थे। उनके ऊपर प्रभा के लिए स्वर्णकारी की जाती थी। अबुल फज़ल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि अकबर के राज्यकाल में रंगों के मिश्रण में विशेष प्रगति हुई है। अकबर चित्रकला को आमोद और अध्ययन के ध्येय से प्रोत्साहन देता था। राष्ट्रीय सम्राट की अपनी कल्पना के अनुरूप भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को संरक्षण देना वह अपना कर्तव्य भी समझता था। अकबर के शासन काल में शिक्षा, संस्कृति व कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। अकबर के शासन काल तक उत्तरी भारत में एक विस्तृत एवं समृद्ध साम्राज्य स्थापित हो चुका था और साथ-साथ इसी सुखद एवं शान्त वातावरण में ललित कलाओं का भी दिनों-दिन विकास हुआ। अनेक कलाकारों साहित्यकारों संगीतकारों का यहाँ जमावड़ा था।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. डॉ. रामनाथ - मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ.सं. 11
2. आर. ए. अग्रवाल - कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1995, पृ.सं. 134
3. https://m.bharatdiscovery.org/india /वाकयात-ए-बाबरी
4. डॉ.ममता सिंह - भारतीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2017, पृ.सं. 561
5. वही, पृ.सं. 555
6. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
7. डॉ.ममता सिंह - भारतीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2017, पृ.सं. 556
8. शर्मा लोकेश चन्द, भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, गोयल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1999, पृ.सं. 94-95
9. Hi.m.wikipedia.org
10. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
11. आर. ए. अग्रवाल - कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1995, पृ.सं. 138
12. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 181
13. डॉ. रामनाथ - मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ.सं. 14
14. शर्मा लोकेश चन्द, भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, गोयल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1999, पृ.सं. 96
15. डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल - कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1978, पृ.सं. 182

छापाकला का विकासात्मक स्वरूप और तकनीक

डॉ.राखी कुमारी

छापाकला छपाई की प्रक्रिया को कहते है। इसमें दो सतह से काम होता है। एक सतह जिसमें चित्रण किया जाता है तथा दूसरी सतह में इसकी छपाई की जाती है जो चित्रण करने वाला तल होता है। वह कई वस्तुओं का हो सकता है जैसे पत्थर, धातु, लकड़ी, कपड़ा, आदि। रंग द्वारा किसी रूप में सृजन करने में छापा लगाना सरलतम क्रिया है, वह क्रिया जिस सरल रूप में आज छापा लगाने में दिखाई देती है उसका प्रारंभिक रूप आदि मानव द्वारा लगाये हुये छापों में देखा जा सकता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में कोयले तथा राख से सने हुये हाथ से अनायास कही पर छाप लग जाने से रूप बना होगा। जो छापे-चित्रण के पहले अभिव्य रूप रहे होंगे। उस समय के मानव अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित होकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पत्थरों एवं तूलिका द्वारा रेखाओं एवं आकृतियों को गुफाओं की मित्तियों और चट्टानों पर अंकित करना प्रारम्भ किया। जो कला का प्रारम्भिक रूप था। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया कला भी नये स्वरूपों में सामने आने लगीं।

पूर्व में आदिमानव अपने ऐतिहासिक और धार्मिक अनुभव एक वंश से दूसरे वंश तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक केवल मौखिक रूप से ही बताकर परंपरा के रूप में जीवित रखते थे और वह भी केवल उन व्यक्तियों के द्वारा जिनकी स्मरण शक्ति कुछ अधिक होती थी। फिर भी आदिमानव केवल व्यक्ति की स्मृति क्षमता पर ही निर्भर नहीं रहना चाहता था। शीध्र उसे ज्ञात हो गया कि मानव को भूलने की भी आदत होती है। इसके अतिरिक्त अनुभव जितने व्यक्तियों द्वारा आगे व्यक्त किए जाते थे वह अपने मूल रूप से भिन्न होते चले जाते थे और सही बात लुप्त हो जाती थी। जबकि धार्मिक गीत ओर चिकित्सीय रागों के शब्दों में तोड़-मरोड़ होने से उनका महत्व ही समाप्त हो जाता है। परन्तु छापाकला के विकास से ज्ञान को जन-जन तक सही शब्दों के पहुंचाना आसान हो गया।

कोहबर (मिर्जापुर) की गुफा छत में तथा कंडाकोट पहाड़ के समीपवर्ती मार्ग में स्थित अनेक शिलाश्रयों पर क्षेपांकन विधि से अंकित गेरूएँ रंग के ऐसे अनेक हस्तचिन्ह प्राप्त हुए है। जिन्हें हम भारतीय छापाकला के प्रारंभिक चिन्ह मान सकते है। कहीं अकेले एक हाथ की छाप मिलती है तो कहीं दोनों की। वाकणकर को भोपाल क्षेत्र की कुछ गुफाओं में ऐसे चिन्ह मिले हैं। यूरोप की कास्तिलों (castillo) आदि अनेक गुफाओं में ऐसे चिन्हों का अंकन इनकी एक विश्वव्यापी परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है। चित्रित चिन्हों में कहीं-कहीं हथेली के नीचे भी रंग लगा है। रंग जानवरों के रक्त अथवा स्थानीय उपलब्ध खनिज रंग होते थे।

ऐसी सम्भावनाएँ आज भी लोकचित्रों में भित्ति पर हाथ से बने हुए छापे तथा अंगुलियों के पोरूओं से बने छापों का दृश्य देखा जा सकता है।

कृषि युग तक आते-आते मानव में कला चेतना का और विकास हुआ। मानव समाज कबीलों और वृहत परिवारों में पनपने लगा। जन्म और मृत्यु उसके लिए दैवी कारण थे। मृत्यु को वह दैवी प्रकोप मानता था। परिवार में मृत्यु के समय वह अपने दिवंगत परिजनों की भी याद करता था। वृद्धों की याद को स्थाई बनाने के लिए मानव ने

परिवार के वृद्ध-सदस्य के हाथ के पंजों को निश्चित प्राचीन पहाड़ की चट्टानों पर छापना प्रारंभ कर दिया। इस पंजों को छापने की क्रिया का उसने एक उत्सव का रूप दिया। परिवार के वृद्ध सदस्य की मृत्यु से पूर्व कबीले के सरदार और अन्य परिवार जनों के साथ निश्चित पहाड़ की चट्टान के समीप ले जाया जाता था परिवार के लोग कन्द को मुँह से चबाकर सफेद रस मुँह में बना लेते थे और वृद्ध के पंजों को चट्टान पर रखकर मुँह के रस को हाथों के ऊपर फूंक देते थे। इस प्रकार हाथों की आकृतियाँ चट्टान पर छप जाती थी। इनका मानना था कि मृत्यु के बाद इस सदस्य की आत्मा यहाँ निवास करेगी। पूर्वजों के छपे पंजों की पूजा तथा बलि देने से उनकी आत्मा प्रसन्न होगी और महामारी, प्राकृतिक प्रकोप, दैवी संकटों का निवारण होगा। मानव की इस प्रथा ने छापाकला का प्रारंभ अनजाने में ही कर दिया।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने चित्रों को अपने विचारों की सरल अभिव्यक्ति एवं उन्हें सुरक्षित रखने के लिए सरलीकरण किया। पूर्व के गुहाचित्रों को ही 3500 ई.पू. में चित्रात्मक लिपि और लगभग 3000 ई.पू. से 2500 ई. पूर्व तक ध्वनि के आधार पर कीलाक्षर लिपि का रूप दिया। शुरुआती दौर में बौद्ध तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा ही छापा कला का प्रारंभिक प्रयास देखने को मिलता है। चीन, जापान और कोरिया में हुए ये प्रयास बौद्धों द्वारा सार्वजनिक संवाद को बढ़ावा देने के उद्देश्य से किये गये थे। सर्वप्रथम चीन में लकड़ी के ब्लाँक बनाकर छपाई कला का प्रारंभ किया गया। इसमें छपाई के लिये लकड़ी के समतल धरातल पर आकृति बनाकर उसके आस-पास के स्थान को खोदकर हटा देने के पश्चात् उभरे हुए भाग से मुद्रण किया जाता था। चीन में ही 105 ई. के प्रारंभ में पत्थरों को खोदकर चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशस के उच्च कोटि के साहित्य (Confucian Classic) की पत्थर की पुस्तक के पृष्ठ तैयार किए गए। पत्थर को रखने में बहुत कठिनाई होती थी क्योंकि पत्थर भारी होता था और रखने के लिए ज्यादा स्थान की भी आवश्यकता होती थी। इसलिए पत्थरों के ऊपर स्याही लगाकर मुद्रण किया जाने लगा।

594 ईसा पूर्व चीन में काष्ठ ठप्पों से किताबों की छपाई की जाती थी। काष्ठ ठप्पों से छपी संसार की पहली किताब हीरक सूत्र लगभग अच्छी अवस्था में यह ग्रंथ दक्षिणी चीन के तुन हआंग स्थान पर सहस्त्र बुद्ध गुफाओं से खोज निकाला गया है। हीरक सूत्र भारत के (संस्कृत ग्रंथ वज्रछेदित प्रज्ञापारमिता) का चीनी भाषा में अनुवाद है। जिसका मुद्रण 868 ई. में किया गया था। इसे अर्द्ध भारतीय और अर्द्ध तुर्की बोध कुमार जीव ने 402 ई. में लिखा था। उस समय पेपर काफी पतला होता था। अतः छपाई एक तरफ ही की जाती थी। उस समय अकारडियन बुक यानी तहो वाली लहरदार किताबों की छपाई होती थी। पेपर को फोल्ड करके साइड से स्ट्रेच किया जाता था।

चीन से बौद्ध मिशनरीज ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए काष्ठ छापा को जापान में फैलाया। 770 ईसा पूर्व ठप्पों द्वारा छपाई के प्रमाण हमें मिलते हैं। जापानी सामग्री शो तोकू ने बौद्ध मंत्रों की छपाई के द्वारा वह पृथ्वी पर अपने लम्बे जीवन को निश्चित करना चाहते थे। यह मंत्र लकड़ी के ठप्पों द्वारा बांस के कागज पर छापे गए थे। इस प्रकार छपाई की कला को संसार के समक्ष रखा गया। प्राचीन काल में व्यापार सिल्क रूट से एक देश से दूसरे देश में किया जाता था। अतः पेपर भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगा। सिल्क रूट से यूरोप में भी पेपर प्रयोग होने लगा। इन पेपरों पर हस्तलिपि (मेनस्क्रीप्ट) यानी हाथ से लिखी जाने लगी जिसे लोगों ने काफी पसन्द किया। 13वीं सदी के

प्रारंभ में यूरोप में लकड़ी के ब्लाक बनाकर छपाई की गई। शुरुआत में ताश के पत्ते और धार्मिक छवियों का छपाई की जाती है। यह जानकारी हमें 1423 ई. में छपी धार्मिक पुस्तक के पृष्ठों से मिलती है। सन् 1467 ई. में रोम शहर में और सन् 1469 में बेनिस तथा 1480 में लंदन और सन् 1438 में स्टाकहोम में छापेखाने की स्थापना हुई। 15वीं शताब्दी छपाई कला का प्रारंभिक काल था। धीरे-धीरे किताबों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा।

मार्क पोलो ;डंतबवच्वसवद्ध जो कि इटली के एक महान खोजकर्ता थे। जो चीन में काफी साल तक खोज करने के बाद इटली वापस लौटा। वो अपने खोजों में चीन काष्ठ छपाई विधि भी अपने साथ लेकर आए। इस तरह काश्ठ छापा पूरे यूरोप में फैल गई। धीरे-धीरे किताबों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा। किताबों की मांग बढ़ने के साथ-साथ यूरोप भर के पुस्तक विक्रेता विभिन्न देशों में निर्यात करने लगे। भिन्न-भिन्न स्थानों पर पुस्तक मेले लगने लगे। बढ़ती मांग की आपूर्ति के लिए हस्तलिखित पांडुलिपियों के उत्पादन के भी नए तरीके सोचे गए। किताबों की बढ़ती मांग को हस्तलिखित पांडुलिपियां पूरी नहीं कर पा रही थीं नकल उतारना खर्चीला, समय साध्य और श्रम साध्य काम था। पांडुलिपियां अक्सर नाजुक होती थी, उनको लाने ले जाने, रख-रखाव में तमाम मुश्किलें थीं। ऐसे में एक सस्ती मुद्रण तकनीक की जरूरत थी।

15वीं ईसा शताब्दी के उत्तर्ार्द्ध में यूरोप में छपाई कला प्रारंभ हुआ। जर्मनी के गुटेनबर्ग ने मुद्रण कला का आविष्कार किया। सन् 1452 ई. में जर्मनी के स्ट्रासबुर्ग शहर में स्थापित छापेखाने से बाइबिल का प्रथम संस्करण छापा गया। छपी हुई बाइबिल के प्रत्येक पृष्ठ पर 42 पंक्तियां छपी थी, बाद में मुद्रित बाइबिल को पुस्तकों में धीरे-धीरे कास्ट छापों का प्रयोग होने से अब किताबों के कारण लोगों को नई-नई विषयों की जानकारी होने लगी। ज्यादा मात्रा में किताबों की छपाई होने से इसकी कीमत भी कम हो गई। कीमत कम होने से गरीब भी किताब पढ़ने लगे और अपने विचारों को एक-दूसरें के समक्ष रखने लगे। इस तरह 17वीं से 18वीं शताब्दी तक यूरोप में साक्षरता 60 से 80 प्रतिशत हो गयी।

भारत में हस्तलिपि का चालन प्राचीन काल से प्रचलन रहा है। इसको पाम लीफ या हैन्डमेड पेपर पर लिखा जाता था, जिसमें काफी मेहनत होती थी। इनको प्रतिदिन की दिनचर्या में प्रयोग भी नहीं किया जा सकता था। काफी सावधानी से प्रयोग किया जाता था। 1550 ई. में भारत में पहली छपाई की मशीन गोवा में स्थापित की गई थी। पुर्तगाली ईसाई धर्म के प्रचार के लिए लिस्बन से छापा मशीन और चल टाईप का आयात किया था। भारत छपाई इतिहास में वर्ष 1579 अत्यन्त स्मरणीय है। यह वह वर्ष था जब सर्वप्रथम भारतीय भाषा में एक पुस्तक छपी थी। फादर हेनरीक्स द्वारा अनुवाद की हुई 'दोत्रीना क्रिस्तियाना' शीर्षक की यह पुस्तक चल धातु टाइप छापी गई थी। इस किताब में एक काष्ठ रेखा चित्र भी है।

1650 ई. ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अंग्रेजी छपाई की मशीन का आविष्कार किया, जिसका प्रयोग वे लोग ही करते थे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी कार्यों के लिए न्यूज पेपर का प्रकाशन करने लगे परन्तु इसमें ब्रिटिश सरकार के खिलाफ कुछ नहीं लिखा जा सकता था। 18वीं शताब्दी में बहुत सारे भारतीय भी अपना प्रेस खोल लिये- जैसे बाल गंगाधर भट्टाचार्य ने बंगाल गजट नाम से न्यूज पेपर पब्लिश किये। बाल गंगाधर, राजाराम मोहन राय के बहुत करीबी

थे। इस तरह छपाई कला ने लोगों को अपने-अपने विचार व्यक्त करने का मौका दिया। इंग्लैण्ड के महान चिन्तक, कला-समीक्षक पी0 एच0 मूर के अनुसार 'छापाकला और छपाई कला' का मानव संस्कृति और समाज पर अदभुत प्रभाव पड़ा। मानव के दैनिक जीवन की समस्याओं से लेकर विज्ञान की बड़ी-बड़ी खोजों को छपाई कला ने विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया। छपाई कला ने ही चाक्षुष कला को जन-जन तक प्रकाशित किया। समाज में कला चेतना का विस्तार किया। मानव संस्कृति और सभ्यता को आगे बढ़ाने में छापाकला ने हमेशा ही संवाहक की भूमिका का निर्वाह किया है। इस प्रकार छापाकला आधुनिक समाज का एक नया रूप दिया।

छापाकला का सामान्य अर्थ किसी वस्तु में स्याही लगाकर उसका छापा अन्य पर लिया जाता है। छापने की क्रिया की चार विधियाँ प्रचलित है:-

(अ) उभार सतह उत्कीर्णन प्रणाली (Relief Printing)

उभार सतह द्वारा छापा-चित्र हड़प्पा, मोहन जोदड़ो, मेमोपोटामियाँ आदि क्षेत्रों में प्राप्त शिल्प अवशेशों के द्वारा हम यह जानकारी प्राप्त कर सकते हे कि इसका जन्म इन्हीं सभ्याताओं से हुआ होगा। इस पद्धति में सपाट सतह से जिस भाग को छापना नहीं होता उसे काटकर निकाल दिया जाता है जो शेष भाग उभरा हुआ रह जाता है उस पर स्याही लगाकर दबाव के साथ उसका छापा कागज पर ले लिया जाता है।

(ब) अन्तः सतह उत्कीर्णन प्रणाली (Intoglio Printing)

इन्टेग्लियाँ ऐसी प्रक्रिया है जिसमें धातु की प्लेट या अन्य प्लेट में वह भाग गहरे खोदे जाते है जिसमें स्याही भरकर छपना होता है खुदाई द्वारा वह प्रक्रिया तेजाब द्वारा ऐचिंग से की जाती है। खुदी हुई प्लेट पर स्याही लगाकर इस प्रकार पोछ दी जाती है कि गहराई में बनी हुई इंक बनी रहे। (यह गहराई हम भिन्न-माध्यमों में बिना एसीड के भी कर सकते हैं) जब इस पर दबाव के साथ कागज लगाया जाता है तब कागज गहराई में जाकर स्याही को सोख लेता है। परम्परागत रूप से ताबें की प्लेट प्रयोग की जाती है। किन्तु जस्ता, स्टील, ऐल्युमिनियम की प्लेट भी प्रयुक्त की जाती है।

(स) समतल सहत प्रणाली (Plenography Printing Lithrography)

इस विधि में प्लेट की किसी भी प्रकार की काट-छांट या फिर इंचिग सम्मिलित नहीं होती है, बल्कि आकृति सीधे छपाई वाले ब्लाक पर बनाई जाती है। कभी-कभी लिथो प्रिन्ट देखने पर पेन्सिल का धोखा होने लगता है। लिथोग्राफी की विधि इस मूल्य पर आधारित है कि तेल और पानी एक दूसरे के विपरीत है, यानि क्रेयान या इंक का इस्तेमाल किया जाता है उसके बाद पत्थर पर पानी फैला कर रोलर से इंक लगाया जाता है। जिस स्थान पर इंक से ड्राइंग किया जाता है उस पर इंक पकड़ लेता है और छपाई करते है। जब-जब छापा लेना होता है स्टोन को पानी से भिंगाकर रोलर से इंक लगाकर छापा निकालते है।

सैरीग्राफी माध्यम(Silk Screen printintg)

सैरीग्राफी छापा निकालने का एक सीघा माध्यम है इसमें सिल्क के ऊपरगोंद से वह जगह बंद कर दी जाती है जिसकों कलाकार को छापा नहीं निकालना होता है। फिर इसके उपर गाढ़ा रंग डालकर स्कूर्जा से दूसरी ओर रंग खींचा जाता है। जिस स्थान पर गोंद नहीं होता, वहाँ से रंग निकल कर कागज पर आ जाता है। सिल्क स्क्रीन छापाकला के क्षेत्र में एक नया माध्यम है वह वास्तव में एक स्टेंसिल विधि है, जो प्राचीन काल से ही प्रचलित है।

छापाकला के कुछ तकनीकी शब्द

छापाकला का आनन्द लेने के लिए कुछ तकनीकी शब्दों के बारे में जानना आवश्यक है, ये शब्द छापा निर्माण या छापा पूर्ण होने के बाद प्रयेाग में आते है। इन शब्दों का प्रयोग प्रायः छापाकार कला समीक्षक कला प्रशंसक तथा छापा संग्रहकत्र्ता करते हैं। छापाकार एक छापे के अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद उस छापे के दाहिनी ओर नीचे लिखनी होती है। जैसे एक छापाकार ने एक प्लेट या ठप्पे से 20 अनुकृतियाँ बनाई जो क्रम संख्या के अनुसार वह पहले छापे पर दाहिनी ओर 1/20 लिखेगा। अर्थात यह बीस प्रतियाँ में से पहली प्रति है। प्रारंभ की पांच छापा प्रतियाँ अति महत्वपूर्ण होती है जैसे-जैसे छापों की संख्या बढ़ती जाती है उनका महत्व कम होता जाता है। छापाकार छापे के बाई ओर नीचे अपने हस्ताक्षर और निर्माण वर्ष लिखता है। यह लेखन कार्य 6 बी पेन्सिल से होता है। इस लेखन के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि यह छापा मेरे द्वारा या मेरे निर्देशन में छपा है। मैं इस छापे से संतुष्ट हूँ। यह छापा प्रमाणित छापा है।

अन्तराष्ट्रीय छापाकला नियमों के अनुसार छापाकार या कलाकार के हस्ताक्षर के बिना छापा पूर्ण नहीं माना जाता है। इसे 'आर्टिस्ट डिकलेरेशन' कहते है। इस नियम को हर देश के छापाकार मानते है।

कलाकार या छापाकार छापे को अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के क्रम में जो छापे बनते है उन्हें आर्टिस्ट प्रूफ A/P कहते है और छापाकार छापे की निश्चित संख्या छापने के बाद ठप्पे या प्लेट को क्रास X उत्कीर्ण कर अंतिम छापा निकालते है ताकि यह छापा प्रमाणित कर सके कि इस प्लेट या ठप्पे से अब छापे नहीं निकाले जा सकते है।

इस अंतिम छापे को कैंसलेशन छाप (CP) कहते है।

संदर्भ

1. भारतीय छापाचित्र कला आदि से आधुनिक काल तक "डाॅसुनील कुमार 0" पृकला प्रकाशन भारतीय 2,3,4,5-सं0 0
2. प्राचीनतम काष्ठ छापाकला "श्याम शर्मा" बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ5,6,7,8-सं0 0
3. विज्ञापन तकनीक एवं सिद्धांत "नरेन्द्र सिंह यादव" मानव संसाधन विकास मंत्रालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ10,11-सं0 0
4. ग्राफिक डिजाइन "नरेन्द्र सिंह यादव" मानव संसाधन विकास मंत्रालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृ6,5-सं0 0
5. द न्यु उड कट " एमसलमान सी0 0" "सीजीयोफरी होलम 0" लन्दन, द स्टुडियों लिमिटेड लीयेसेस्टट स्क्वायर 44, डब्लु सी2 0
6. मीलर्स फलेक्टीग प्रीन्टस एन्ड पेास्टर्स "जेनेट गलेसने"
7. Miss Gupta Rashi Print Culture & Modern World,
8. www.youtube.com Accessed 05.03.2020 Published on 17 Nov 2019
9. Gupta Divyam History, Print Culture and the Modern world.
10. www.youtube. com Accessed- 05.03.2020 Published on 17 Nov-2016.
11. India Social Science and the contemporary world-II Texbook in History Class X NCERT.
12. Printing Tool fo Free dom by ELIZABETH DEAM- Page No.-57

Emergence of Evolutionary Art Systems: is it Really Being A Help to The Art or are There More Negatives Than Positives?

Dr. Rabi Narayan Gupta

Evolutionary art is a branch of generative art where artists have the luxury to create something by assigning the task to a system rather than constructing the art work themselves. Evolutionary art system has influenced the art industry in a pervasive way by influencing the way we create and appreciate art. Its drastic impact can be seen in the transformed methodology to accomplish any art work. Today, artists have better access to information, resources and tools to engage in their artistic process conduct. New art systems provide a powerful lens for engaging with traditional art because of its high degree of freedom in making large conceptual leaps across domains, delivering surprising outcomes.

The combination of advanced art systems and artists give rise to new methods, algorithms and prototypes, opening new horizons. The same connection endows a breeding ground for unique projects which eventually caters the need to survive in the digital era. The exterior walls of these art systems have established a professional network and an effective way of communication that helps artists to improve the quality of work and spread their artistic message into the world. It lessens the production time and offers a paradigm to explore art beyond the traditional canvas.

Artists can choose whether they want to resist technological advances in pursuit of true connection to nature or embrace new innovations to explore something unique. Nowadays, most of the artists have switched their mode of working from traditional to digital and are embracing modern art techniques because it has a lot to offer. Therefore, it has become an unbreakable chain that artists cannot resist. However, in a nutshell it has shortened their average effort reward timespans.

The focus here is to study what happens when the user himself has no idea and command a system to use a process that they do not fully understand? Will the outcome from this computer generated system be worthy? In this paper, light is thrown on different aspects of evolutionary art systems be it disadvantage, advantage, degree of technical expertise in order to create something and its role in art industries.

Advantages and Disadvantages of Evolutionary Art System

*Advantage and power of evolutionary tools

i) Desirable device

Needless to say that the evolutionary art system offers things that today's artists desired the most- to explore something new, to be given a platform where they discover their own server ties with whatever is considered to be traditional.

ii) Sound Manipulation

Sound art or sound creativity is another gift we have got from technological advancement. This encompasses different software's, musical and digital instruments, performers, computers in order to produce music. In today's era sound editing has become the most important essence for the music and film industry. A lot of sound artists are dependent on this for their work. Sound manipulation can be done by using audio signal processing.

iii) Photography

Photography art breaks away the traditional forms of optical and chemical reactions. Based on advanced techniques, photography art has now a better way of expression and it can transform the photography art into an existing physical camera. News industry has seen a huge difference due to the development of photography technology. It has also influenced and improved the standard of living of people.

iv) Cinematography

Earlier the motion pictures were recorded as if they were stage plays which would have been a messy work that required a lot of effort and time. Major impact of technology is perhaps felt in cinema. Today editors don't have to go through the painstaking process of video editing where the effect had to blend seamlessly with what was being shot. Instead, digital effects are easily added or created to the same program. Software's allows editors to work on the entire project of a film such as audio, doing editing etc. The final outcome looks clear with added digital effects that blend with the movie and provide the audience a wonderful view. Without technology it would be nearly impossible to watch this type of art without disturbance.

v) Introducing more audiences through social media

Social media has proven itself as a boon for artists. They can upload their art creations or even make their own page dedicated to their arts and gain followers or audiences. Social media offers them a platform to connect with people on a wider level. Various social media platforms allow you to monetize your work with a systematic way of marketing.

vi) Efficiency

Electronic devices and software helps artists to ensure efficiency in their artworks. Electronic media and gadgets create better design.

Vii) Accuracy

One of the best features of advanced tools is it provides accuracy, neatness and a better finishing while creating any art work. You can also undo the mistake here unlike the traditional method and hence, gives a flawless and beautiful look.

Disadvantages and challenges evolutionary art system presents

i) A lot of people do not consider an art created by a computer-generated system to be genuine and authentic as it can show up anywhere in exactly the same way. This technologically created art is deprived of real physical touch and won't look the same as a painting done by hand even when it is printed. This downside makes it possible to steal artwork.

ii) Tools used in the evolutionary art system are way faster than traditional media. This is an advantage but at the same time it takes away the magical feeling of creating something done by hands. Working traditionally allows you to produce something tangible and authentic on the contrary use of new art systems takes away this feeling for the most part.

iii) The music industry has always been at the front line to receive technological advances however, this advances also makes way for several downfalls resulting in the music industry. With the ease of file-sharing feature problem of music piracy can be seen. Music production process encounters laziness because of new programs and hence losing the freshness and authenticity in music. Its adverse effects can also be seen in the skills of musicians, as they have gotten less talented with the arrival of new software's and music systems. Creativity in producing music is also losing its grip as some songs sound more like a cacophony of digitally operated audio effects which is a clear disappointment for music lovers.

iv) Film industry also faces some shortcomings of evolutionary tools. Film industry mainly suffers from the huge costs involved with digitization of cinemas along with the cost of purchasing digital equipment for projects. To handle the digital equipment safely training is needed. Without the use of digital equipment success is not guaranteed as employing technology provides a lot of opportunities therefore, one cannot choose to go without embracing evolutionary tools despite knowing it as a costly affair.

v) Art of Photography experienced a major transformation with the adoption of digital technology. However, it also comes with some negatives such as it requires good computer and editing skills, cost of digital camera is higher as compared to film camera, difficult to focus, images are less subtle than film images, consumes batteries etc.

Working process and outcome of computer-generated system

It's difficult to judge a computer generated system as an artist based on the quality of the work it produces. The computer has an algorithm that provides stimulating, beautiful and skillful output independent of the properties of the computer itself. The better the computer generated art becomes the more we will hear the uproar that if computers can replace artists. Skill is not necessary to be an artist. Anyone can make art, including children as beauty lies in the eyes of the beholder, it depends on us how we perceive art. On the contrary, a computer is a manmade machine that is programmed to create boundless series of realistic or abstract imagery, demonstrating technical competency way beyond human capacity. (Undiana, https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology)

Every technology that we employ such as photography, film, software algorithms, they are actually basic tools just like brushes and paint. The same thing is with new artificial intelligence based algorithms. They are not always predictable, outcomes can be sometimes surprising. There is no possible sense where a true artificial intelligence or computer generated system reflects as there is always a human behind the creation of every artwork.

You cannot create a worthy artwork if you don't command the computer to perform functions. The selection process of tools, inputs, adjustment of setting, modification until a desired result is produced. It takes time, effort, conception of the idea, implementation and execution of the idea of a human artist to create a computer-generated artwork too. In a few cases the AI algorithms have been indicated as potential artists. However, in our present understanding, all art algorithms including methods based on machines are tools for artists and hence they are not themselves artists. No matter how dexterous and intelligent a computer is it will never replace the artists.

Digital art is widely embraced by artists nowadays however some argue and claim that digital art should not be considered as art. They call digitally prepared art as a manipulative form of art. We should not forget that it also requires ample skill to create an artwork from a digital process just like the skill needed to produce a traditional art. The only difference between two is the choice of method of creation. Even if you have got all the digital or electronic devices but have no skills, no idea, no imagination there will be no art.

No matter how much the technology becomes advanced in the upcoming years, it won't be able to take away the importance of human artists. It's the artist who can express his emotions, ideas and feelings through his art, a machine can never make you feel touched as its only work is to ease the work.

Necessity of technical skill to create art

Artists often become discouraged when they notice works of other artists who have mastered the technical skill and make art out of it. It can become a little uneasy when you are

surrounded by peers who value technical skill over other aspects. Thus, it is important for artists to evaluate their own work beyond the limitations of technical skill.

It would be controversial to suggest that technical skill in painting is limiting. In some situations based on the individual it can do well. At the same time, an artist who has mastered technical skill may create something that doesn't really convey anything besides the fact it was produced by a skilled artist while on the other side, an artist who has yet to reach the level of technical skill may create something that actually conveys the message to its audience. Mastering technical skill is important but it's not always everything. Often for viewers, viewing an artwork is more important than to evaluate how technically sound the artwork is overall. (Codreanu)

It would not be wrong if we say, what makes the artwork unique and great is the spark that rests within the artist's mind while creating it, the same spark and passion the artist portrays on his canvas create a powerful impact on viewer's mind. Therefore, in order to create something powerful you need to dig within yourself. In this sense, mastery of technical skill in art is not everything. The most important part for an artist is his art heard by viewers, connecting with viewers and communicating with them irrespective of the technical skill the artist has used.

There are many works titled as technically sound but fail to make a lasting impression at the same time. Some of the said works were created by artists who have dedicated years to learn technical skills but haven't paid attention to self-discovery as individuals. From a marketing point of view, it is observed that art with high technical skill doesn't always sell. Then there comes the case of artists who are masters from an academic point of view but still couldn't attract the attention of viewers. On the other hand, there are artists who are relatively new but in terms of selling their art they are far more advanced than the experienced ones. (Galanter)

At last, we can say that learning to be skillful in every aspect is important. There is nothing like learning technical skill is a waste of time, technical skill plays a crucial role in putting an extra essence to your canvas and working style which only helps you to produce something beautiful. However, technical skill is not a parameter to judge the artwork. It's always the viewer's mind that perceives an art as good or bad. Flexibility is a key to balance both sides. Ability to work beyond the lens of technical skill and present something wonderful or ability to work with the assistance of technical skill and give out something astonishing, it's all about the outcome at the end. Doesn't matter how you present it's just that the art must be powerful enough to express itself in the audience's mind, that's what matters.

FINDINGS OF THE STUDY

1. From the above discussion, it can be said that the evolutionary art system has redefined art in a surprising way. As in the case of art industries, different mediums and genres of art impact the evolutionary art system is more positive than negative. Whenever this topic arises a lot of people show displeasure to such an approach by claiming technology breaks the authentic connection between the author and the piece by making the process trivial. Of course, this is entirely false. Arrival of the evolutionary art system is like a fresh breeze of air for different art sectors be it cinema, photography, music and many more. It has become a powerful weapon for artists to produce artworks flawlessly. Therefore, the discussion reveals that besides having some downsides the evolutionary art system proves to be a powerful tool that gives art organizations and artists new ways to promote artworks, engagement with audiences, provide opportunities and extend the life and scope of their work.

2. Evolutionary art system provides artists with new, attractive materials that allow them to expand horizons of creativity and to develop groundbreaking ideas. It also allows artists to focus more on contemplation by reducing the time spent in the actual execution of artwork. (Galanter)

3. Another finding we got from discussion is that a computer-generated system can never replace an artist, as art requires inspiration, passion, a strong desire to express something. Therefore, it would be entirely wrong to give credit to a machine rather than to its author for a wonderful creation. A computer is a man-made machine which runs on command. Outcome from this system depends on the skill of the artist itself. If an artist has a clear idea about his creation the result would come out as expected.

4. Lastly, it can be said that technical skill is not compulsory to create artwork. A good artwork is an outcome of a great and unique idea paired with a highly skilled artist. Use of technology is only a matter of choice; it has nothing to do with the parameter of judging art. technical skill and technology is just a medium or method to ease the process of making.

CONCLUSION

Evolutionary art system has endless possibilities to offer, but creativity and skill is also needed to do something with those possibilities. Artistic intelligence is a precious asset that makes an artist gain popularity in the crowd of millions. Evolutionary art system is no less than a revolution to art industries in the digital era. It has a lot to offer. With the broad array of options it offers, some negative effects can also be seen like it can create confusion sometimes which can reflect in their work. Artwork can become devoid of imagination and spirit. With the rapid growth of advanced technology artists find it more difficult to present innovative ideas and to stretch their imagination in order to bring out something worthy. Connection of technology with

art defines and continues to reshape the world we live in. With the advanced technology the world seems to be making room for a different sphere.

.

References

Berman, David. "https://davidberman.com/wp-content/uploads/CHINDigitalArtAudiencesLiteratureReviewandMethodologyBerman20050418.pdf." 18 Apr 2005. *https://davidberman.com/.* Laptop. 06 Apr 2022.

Boucher, Philip. "https://www.europarl.europa.eu/RegData/etudes/BRIE/2019/634441/EPRS_BRI(2019)634441_EN.pdf." may 2019. *https://www.europarl.europa.eu/.* 07 Apr 2022.

Codreanu, Florina. *https://www.researchgate.net/publication/277309359_Art_and_Technology_-_The_Role_of_Technological_Advance_in_Art_History*. may 2015. Desktop. 05 Apr 2022.

Galanter, Philip. *https://www.researchgate.net/publication/220867411_The_Problem_with_Evolutionary_Art_Is*. Apr 2010. Laptop. 06 Apr 2022.

Gamboa, Sarah. "https://www.usf.edu/business/documents/undergraduate/honors/thesis-gamboa-sarah.pdf." 15 Jul 2015. *https://www.usf.edu/.* Desktop. 05 Apr 2022.

McWilliams, Andrew. *https://www.thoughtworks.com/insights/blog/how-artists-are-reshaping-emerging-technology-research*. 27 Jun 2018. Laptop. 06 Apr 2022.

Samdanis, Marios. *https://www.researchgate.net/profile/Marios-Samdanis*. Sep 2016. Desktop. 03 Apr 2022.

Undiana, Nala Nandana. *https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology*. Jan 2020. Desktop. 03 Apr 2022.

—. *https://www.researchgate.net/publication/340301326_New_Media_Art_Between_Art_Design_and_Technology*. Jan 2020. Desktop. 03 Apr 2022.

V., Silka P and Andrey. *https://www.widewalls.ch/magazine/the-serious-relationship-of-art-and-technology*. 05 Jul 2017. Laptop. 06 Apr 2022.

नान्यदेव भूपाल कृत भरत भाष्यम एक अध्ययन।

डॉ. प्रभाकर कश्यप

भूमिका :- संगीत सदा से संस्कृति का दर्पण रहा है, संस्कृति के उद्गम एवं विकास के साथ ही संगीत का उद्गम एवं विकास देखा जा सकता है। संगीत को उतना ही प्राचीन माना गया है जितनी हमारी संस्कृति व मानव जाति है। भारतीय संस्कृति में संगीत का प्रमाणिक इतिहास वैदिक काल से प्राप्त होता है तथा इसके क्रमिक विकास को स्पष्टतः देखा जा सकता है। संगीत के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु वैदिक काल से वर्तमान तक ग्रंथों एवं ग्रंथकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग वैदिक काल है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्व वेद के अतिरिक्त उनकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मण आरण्यक नामक ग्रंथ मिलते हैं यद्यपि वैदिक युग में संगीत का विवेचन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं प्राप्त होता, परंतु संगीत संबंधी इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि तत्कालीन संगीत का इतिहास साकार हो सके। वैदिक युग के पश्चात संगीत पर वृहद् विश्लेषण प्रदान करने वाले बहुत से ग्रन्थ प्राप्त होते है जैसे– नारदीय शिक्षा, नाट्य शास्त्र, बृहद्देशी, संगीत मकरंद, संगीत रत्नाकर इत्यादि। संगीत के विभिन्न ग्रंथों में से 11 वीं शताब्दी के मिथिला नरेश नन्यादेव भूपाल का भरत भाष्यम ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमें संगीत के विभिन्न पक्षों पर विस्तार पूर्वक चर्चा प्राप्त होती है जिसका इस शोध पत्र के माध्यम से संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

नान्यदेव एवं उनका काल :- बिहार का मिथिला प्रान्त अपनी संस्कृति के लिए सदा से ही जाना जाता रहा है, नान्यदेव मिथिला प्रान्त के राजा थे यह ग्रन्थ में उपलब्ध उल्लेखों से स्पष्ट है। नान्यदेव का समय 11 वीं शताब्दी माना जाता है।

भरत भाष्यम ग्रन्थ का सामान्य परिचय :- इस ग्रन्थ के रचयिता नान्यदेव है। इसका काल 11 वीं शताब्दी माना जाता है। यह काल संगीत का वह स्वर्णिम युग था जिस समय भोज, सोमेश्वर, शारंगदेव आदि संगीत के महान शास्त्रकार हुए। प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग 7००० श्लोक है। ग्रन्थ की सूची में कुल 17 अध्याय है, किन्तु ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में 16 वाँ – 17 वाँ अध्याय तथा उसके पूर्व के कुछ प्रष्ठ प्राप्त नहीं होते। इस ग्रन्थ का नाम सरस्वती हृदयालंकार था जो कालांतर में भरत भाष्यम के नाम से प्रचलित हुआ।

भरत भाष्यम का दूसरा भाग भी उपलब्ध होता है जिसमें संभवतः 251 श्लोक है। इस भाग में जाति प्रशंसा, जाति लक्षण, गृह अंश आदि लक्षण षाडव-औडव भेद, शुद्ध व् विकृत जातियों का वर्णन कपालं, पनिका कम्बलम एवं राग भाषा भेद के अंतर्गत षड्ज ग्राम के रागों में 52 रागों का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अलापक और भैरव रूपकम की व्याख्या स्वरों के आधार पर की गयी है।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट में अतियंत जीर्ण अवस्था में प्राप्त होती है।

उक्त ग्रन्थ में राजा के लिए महासम्त्थाधितिः धर्मवालोक क्षमापाल नारायणः मिथिलाधिपतिः राजनारायण इत्यादि उपाधियों का प्रयोग किया गया है। भरत भाष्यम ग्रन्थ के लिए सरस्वती हृदयालंकार, सुराग चंद्रोदय एवं भरत वृत्तिका जैसे उपनाम भी है। तथापि इस ग्रन्थ का प्रसिद्ध नाम भरत भाष्यम है। इस ग्रन्थ में मुख्यतः आचार्य भरत का अनुसरण किया गया है। संगीत रत्नाकर के पूर्ववर्ती ग्रंथों में यह अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भरत भाष्यम की अध्यायानुसार विषय वस्तु :- उक्त ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अंतर्गत वेणु, वीणा, घन, अवनद्ध वाद्यों का निरूपण किया गया है। वीणा को दार्वी एवं गात्रवीणा के अंतर्गत रखा गया है। सुषिर वाद्यों को गीत अर्थात स्वर संदर्भित और वाद्य अर्थात विविध प्रकार के तार्तानुरूप वंशियों के अंतर्गत रखा गया है। घन वाद्यों का सशब्द एवं निःशब्द क्रियायों के प्रतीकात्मक प्रयोग के आधार पर विभाजन किया है। ताल वाद्य के अंतर्गत कांस्य और विभिन्न प्रकार के ताल प्रयोगों की चर्चा प्राप्त होती है। द्वितीय अध्याय के अंतर्गत नारदीय शिक्षा एवं पाणिनि शिक्षा के विशेष सांगीतिक विषयों का वर्णन किया गया है। मुख्यतः स्वर के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन है। अध्याय के अंत में व्याकरण के स्फोट सिद्धांत का दार्शिनिक निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय स्वर पर आधारित है। स्वर के वर्ण. जाति, छंद, ऋषि, देवताओं का वर्णन मिलता है। विभिन्न पशु-पक्षियों के साथ स्वरों का सम्बन्ध, स्वर स्थान, नाद, तीन ग्राम, श्रुतिओं का मृदुमध्य, आयत, करुण एवं दीप्त स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में मूर्छना पर विशेष चर्चा प्राप्त होती है। इस अध्याय के अंतर्गत स्वरों की लोपविधि का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। 84 मूर्छना तानों का उल्लेख है कूट तानों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय अलंकार संदर्भित है। इस अध्याय के अंतर्गत काकूभेद पर विशेष चर्चा प्राप्त होती है। षष्टम अध्याय जाति विधान पर आधारित है। सप्तम अध्याय में मुख्यतः रागों का वर्णन प्राप्त होता है। ग्रंथकार ने कश्यप और मतंग ऋषि का विशेष सन्दर्भ लिया है। ग्राम एवं देशी रागों का भी वर्णन प्राप्त होता है। शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा तथा साधारिणी पाँचों गीतियों का विवरण मिलता है। अष्टम अध्याय में गीतक का विशद विवेचन है। नौवा एवं दसवां अध्याय मुख्यतः ध्रुवा सम्बंधित है। अपने पूर्वर्ती आचार्यों में ग्रंथकार ने आचार्य भरत के अनुसार पांच प्रकार के ध्रुवाओं का वर्णन दिया है।दसवें अध्याय के अंतर्गत मार्ग तालों का विवरण भी प्राप्त होता है। ग्यारहवें अध्याय में देशी का अर्थात देशी प्रबंधों पर वृहद् वर्णन प्राप्त होता है। बारहवें अध्याय में तत वाद्यों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है। वीणा के विभिन्न अंगों की चर्चा के साथ विभिन्न प्रकार के वादन भेद पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथकार ने इस अध्याय के अंतर्गत निर्गित एवं बहिर्गित को भी स्पष्ट किया है। तेरहवां अध्याय सुषिर वाद्य संदर्भित है। चौदहवां एवं पन्द्रहवां अध्याय अवनद्ध वाद्यों पर आधारित है। 16 वाँ अध्याय छन्दाध्याय एवं 17 वाँ अध्याय भाषाध्याय जो कि ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में प्राप्त नहीं होते।

भरत भाष्यम में नान्यदेव ने अपनी पूर्वर्ती आचार्यों में आचार्य भरत एवं मतंग मुनि के मतों का विशेषतः अनुसरण किया है। ग्रन्थ में वर्णित सांगीतिक विषयों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है की नान्यदेव आचार्य भरत के अधिक अनुरागी रहे, क्यूंकि इन्होने छंद और भाषा पर पृथक अध्याय लिखा, साथ ही श्रुति को स्पष्ट करते हुए भी नाद पर विशेष प्रकश नहीं डाला। नान्यदेव के ग्रन्थ में सर्वप्रथम श्रुतियों के 22 नामों का वर्णन प्राप्त होता है।

श्रुतियों के सन्दर्भ में नान्यदेव का मत :- उक्त ग्रन्थ में ग्रंथकार ने शिक्षाकारों द्वारा बताई गईं 5 श्रुतियों का वर्णन किया है। नान्यदेव ने सप्त स्वरों में विभक्त 22 श्रुतियों को दीप्ता आदि 5 श्रुति जातियों के अंतर्गत रखा है। नान्यदेव के अनुसार काल, कला एवं प्रमाण भेद के आधार पर शिक्षाकरोक्त 5 श्रुतियां ही विकसित होकर 22 श्रुतियों के रूप में आयीं। इन्होंने स्वरों की व्युत्पत्ति, रंग आदि का वर्णन नारदीय शिक्षा के अनुरूप दिया है, परन्तु स्वरों की जातियों के विषय में इन्होने मतंग मुनि के मत का अनुसरण किया है। ग्राम एवं मूर्छना की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में ग्रंथकार ने आचार्य भरत के मत का अनुसरण किया है। इस ग्रन्थ में गांधार ग्राम के विषय में इसकी सप्त स्वर मूर्छानाओं का स्वर क्रम क्रमशः ग, म, प, ध, नि, सा, रे के रूप में बताया है। ध्रुवाओं के विषय में ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ध्रुवाओं के ताल, भंग, उपभंग, विभंग आदि ताल के उपभागों का वर्णन प्राप्त होता है। भरत के सम्प्रदाय से होते हुए भी ग्रंथकार ने राग

तथा प्रबंध की चर्चा अत्यंत विस्तार पूर्वक विभिन्न अध्यायों के अंतर्गत की है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि देशी संप्रदाय का प्रभाव भी नान्यदेव के सिद्धांतों और विचारधाराओं में रहा है।

वाद्यों के विषय में भी ग्रन्थ में अत्यंत विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अंततः यह कहा जा सकता है, कि ग्रन्थ का नाम भरत भाष्यम होते हुए भी भरत के अतिरिक्त ग्रंथकार ने मतंग मुनि की सांगीतिक अवधाराणाओं का अनुसरण किया है। साथ ही याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदीय शिक्षा, पाणिनी शिक्षा इत्यादि ग्रंथों का भी अनुसरण ग्रंथकार ने किया है। हमारी संस्कृति एवं भारतीय कला और साहित्य ने शास्त्रागत एवं प्रायोगिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महत्ता कायम कर रखी है, चाहे वह संगीत हो, नाट्य हो या साहित्य । हमारे प्राचीन विद्वानों द्वारा संगीत के क्षेत्र में किये गए अतुलनीय कार्यों जैसे नाट्यशास्त्र, ब्रहद्दशी, एवं भरत भाष्यम जैसे महान ग्रंथों से यह स्पष्ट होता है, कि भारतीय शास्त्रीय संगीत सदा से ही अपनी मधुरता एवं वैज्ञानिकता के लिए प्रचलित रहा है। भरत भाष्यम जैसे ग्रंथों से यह सिद्ध होता है, जिनमें संगीत की प्रायोगिक ही नहीं वरण सैद्धांतिक एवं वैज्ञानिक पक्षों के सन्दर्भ में भी वृहद वर्णन प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि:-

1. गुप्ता, लिपिका दास, भारतीय संगीतशास्त्र ग्रन्थ परंपरा: एक अध्ययन, बी.एच.यू., 2009.
2. टाक, तेज सिंह, नेट संगीत, लुमिनस बुक्स, वाराणसी,2010.
3. सिंह, ठाकुर जयदेव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2016.

संस्कृते स्तोत्र परम्परा

डॉ0 पूर्णिमा केलकर

सुमहत् खलु संस्कृतस्य स्तोत्रसाहित्यम्। वस्तुतः भारतीयमानसं न क्षणमपि भगवदालम्बनमन्तरेण स्थातुं प्रभवति।भक्तानां हृदयं भूयः भूयः भगवदनुग्रहं कामयते। भगवद्भक्तो हि भक्त्यावेषितेन मनसा स्वकीयमाराध्यं स्मारं स्मारं तदीयगुणवैभवमैश्वर्यं च प्रकटीकरोति। कदाचिदीशस्य विभूतिं विलोक्य चकितान्तर्मनो भूत्वा अपारं च प्रेमाणं स्मृत्वा सहजमेव जगदीशं स्तौति।कस्यचिद् भक्तस्य पष्चात्तापः पराकाष्ठां गतः भगवत्–स्तवस्यापूर्वं खलु महिमानं व्यनक्ति, चमत्करोति च सुधियो चेतांसि।तदवलोक्यताम्–

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि।

(1 मम्मट कृत काव्यप्रकाशः दशमोल्लासः काव्यलिंगालंकारः)

कश्चिद् भक्तः शिवं प्रत्याह– हे भगवन् पुरा जन्मन्यहं त्वां न प्रणतवान् अत एव इदं मया शरीरं प्राप्तम् त्वत्प्रणामे सति मुक्तिलाभेन शरीरोत्पत्तिर्नाभविष्यत्। उत्तरकालेऽपि प्रणामो न भविष्यति यतो हि इदानीमहं नमस्करोमि। नमनं कृत्वा मुक्तो भविष्यामि अतः पुनः मुक्तत्वात् देहप्राप्त्यभावात् नमनं न सम्भविष्यति। तदिदं मे अपराधद्वयं क्षम्यताम्।

स्तुतिप्रियाः वै देवाः। विश्ववाङ्मयस्य प्रथमा कृतिः ऋग्वेदः आद्यन्तं देवतानां स्तुतिवचनैः सम्पृक्तम्।दशसु मण्डलेषु ऋग्वेदे देवताविषयकाणि सूक्तानि ऋषिभिः प्रोक्तानि।आदावेव अग्नेः स्तुतिं कुर्वाणो यजमानः – अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (2 ऋग्वेदः अग्निसूक्तम् 1.1) इति मन्त्रेण अग्निदेवतां स्तौति।भक्तानां पारमार्थिक–दृष्ट्या देवतानां स्तवनमिदं श्रेयस्करमस्ति । मन्त्रैः स्तूयमानाः देवा आनुकूल्यं भजन्ते प्रसीदन्ति च।अग्निस्तवनेनाग्नेः प्रसादमवाप्य यजमानः स्वकीयमभीष्टमवाप्नोति। प्रकृतौ प्रतिकणं चिच्छक्तिरूपेण देवत्वमभिव्याप्तमिति मत्वा , भक्तः चराचरां प्रकृतिमेव स्वकीयामाराध्यं मनुते। अखिलमपि वस्तुजातं परब्रह्मणोंऽशभूतमिति भावनया सर्वत्रानुस्यूतं चैतन्यं साक्षात्कृत्य आत्मकल्याणमभिकांक्षति।

रुद्राष्टाध्यायां परिणतप्रज्ञः आर्षः कविः विविधैः मन्त्रैः विराट् पुरुषं स्तौति।नमकाध्याये प्रतिरूपं शिवस्य स्मृत्वा 'नमस्ते रुद्रमन्यव इत्यारभ्य आसमाप्तिं रुद्रं प्रणमति।शतरुद्रियं नमनं कृत्वा चमकाध्याये 'वाजश्च मे, प्रसवश्च मे.....अश्मा मे , मृत्तिकाच मे..... अग्निश्च मे, घर्मश्च मे.....गर्भाश्च मे वत्साश्च मे.....एकाच मे तिस्रश्चमे (3 यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी चमकाध्यायः) इत्यन्तं सर्वमपि लोकेऽभीष्टं भक्ताय कल्पतां देव इति प्रार्थ्यते।अनेन शतरुद्रिययज्ञेन ब्रह्मलोके महीयते। भगवत्परायणो भक्तो यदातितीव्रेण श्रद्धायुक्तेन मनसा भगवन्तं स्मरति , तदा भगवानपि व्यग्रचित्तः सन् स्वकीयं भक्तं द्रष्टुकामः तस्मै स्पृहयति।भगवता स्वयमेवोक्तं श्रीमद् भागवते– अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः।साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।(4 श्रीमदभागवतपुराणम् 9.4.63) श्रीमद् भगवद्गीतायामप्युक्तम्–ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।(5 श्रीमद्भगवद्गीता 4.11)

आचार्य–पुष्पदन्तप्रणीतं शिवमहिम्नस्तोत्रम् स्तोत्रसाहित्ये सुपरिचितं सुप्रथितं च वर्तते। वस्तुतः महेश्वरस्य शिवस्य स्तवनं नाल्पप्रयाससाध्यं वर्तते। आशुतोषोऽपि भगवान् नित्यं समाधिमास्थाय प्रसंख्यानपरो भवति।

महादेवं प्रसादयितुं न कश्चिदकृतपुण्यो जनः प्रभवति। अपारं हि शिवस्य महिमानं जानन्नपि शिवभक्तः स्वात्मसंतुष्टये तं स्तौतुं प्रवर्तते। तदुच्यते कविना–

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति। (6 शिवमहिम्नि 32)

महाकवेः कालिदासस्य प्रबन्धानां व्याख्याता मल्लिनाथोऽपि नोत्सहते महाकवेः गिरां सारं शब्दैरभिव्यक्तुम। अस्य लेखनी कालिदासमवगन्तुमादौ सरस्वतीं ब्रह्माणं च प्रार्थयते।आत्मनः असामर्थ्यं स्वीकृत्य भगवदाश्रयमन्तरेण न किमपि साध्यं भवतीति मत्वा मल्लिनाथो वदति–

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृषाः। (7 कालिदासीय ग्रन्थेषु मंगलारणे मल्लिनाथः)

ईशस्तवनेन न केवलं पारमार्थिकोऽभ्युदयो भवति, अपितु ऐहिको, दैहिको वा व्याधिरपि निरस्यते। मयूरभट्टस्य शारीरको व्याधिः सूर्यशतकेन स्तोत्रेण सर्वतोपगतः। स हि शतश्लोकैः भगवन्तं सूर्यनारायणमभिष्टूय कुष्ठरोगान्मुक्तो जातः।गद्यकर्तृणां निकषायमाणः सर्वेषां कवीनां ललामभूतो बाणभट्टः चण्डीशतके भगवत्याः दुर्गायाः प्रशस्तिं गीयमानः , अक्षय्यं काव्यनैपुण्यं समासादयति। अविकलेन मनसा स्तुता भगवती भवानी महाकवेरखिलमपि दुरितमपनीय तस्य प्रातिभं चक्षुरुन्मीलयति।

जगत्यस्मिन् अद्वैतवेदान्तस्य प्रतिष्ठापकआदिशंकराचार्यः परमार्थतः अद्वैतस्योपासकोऽपि लोके नानाविधदेवतानां स्तोत्राणि प्रणीय प्रसिद्धिमलभत। वस्तुतः सगुणोपासनामन्तरेण न निर्गुणस्य परब्रह्मणः प्राप्तिः संभवति। अतः आचार्येण श्रीविष्णोः, श्रीरामस्य, शिवस्य, गणपतेः, देव्याः, हनूमतः सूर्यादीनां च अतिरमणीयानि स्तोत्राणि विरचितानि।प्रातरुत्थाय सर्वप्रथमं हृदि स्फुरन्तमात्मतत्वं स्मृत्वा प्रणम्य च आह्निकं प्रारम्भणीयम्। तदनन्तरं विष्णु–शिव–रामादीनां स्मरणं वन्दनं च विधाय नित्यकर्मणि प्रवृत्तो भवेदिति ऋषीणामादेशः। शंकराचार्यस्याखिलमपि स्तोत्रसाहित्यं दैदीप्यमानं रत्नमिव सहृदयानां मनसि चकास्ते।तत्र सांगीतिकं माधुर्यमपि सर्वेषां चेतांसि आवर्जयति। मनोहरं तालल्यसमन्वितं संगीतं कस्य मनो न हरति।भगवतः शंकराचार्यस्य चर्पटपञ्जरी नामकं स्तोत्रं विश्वस्मिन् नितरां लोकप्रियं वर्तते। विपत्तिबहुलेऽस्मिन् जगति आचार्यस्य स्तोत्राणि निशम्य प्रगीय च अशान्तमपि चित्तं शमं लभते, मनसि अलौकिकमानन्दं च लभ्यते।

सौन्दर्यलहर्यां भगवत्याः अलौकिकमनिर्वचनीयं च सौन्दर्यं वीक्ष्य कस्य चेतो न द्रवति? देव्याः विगलितवेद्यान्तरं लावण्यं रामणीयकं चित्तस्यान्तःस्तलं स्पृशति। काव्यलालित्येन सह तन्त्रशास्त्रीयमपि गूढतमं रहस्यमत्रोद्घाटितमस्ति। अशरणशरण्यां देवीं प्रपद्य तच्चरणारविन्दं प्राप्य न किमपि वक्तुं पारयति जनः। शब्दातीतः खलु देव्याः कृपाप्रसादः।स्वकीयं दौर्बल्यं कार्पण्यं च उरीकृत्य भक्तेन स्वात्मा देव्याः पुरतः समर्पितः। तदुच्यते–

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः
प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि।
न षड्भिः सेनानी दशशतमुखैरप्यहिपति
स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः।(8 आनन्दलहर्याम् 1)

अनिर्वचनीयं खलु देव्याः सौन्दर्यम्। तस्याः रूपमाधुर्यं चित्रयितुमशक्तापि कवेर्लेखनी नात्मानं निवारयितुं शक्नोति।प्रतीयमानं सौन्दर्यं हि केवलमनुभूतिविषयमेव न तद् शब्दवाच्यम्। देव्याः रामणीयकं लावण्यं वा चेतसि

दिव्यं किमप्यनुभावयति येन स्वात्मा विगलितवेद्यान्तर इव परब्रह्मणि लीयमान इव तिष्ठति। देव्याः ललितायाः शृङ्गारं वीक्ष्य कस्य चेतो न द्रवति? पश्यतां पद्यस्यास्य शब्दसम्भारः–

मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला
ललाटे कश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता।
स्फुरत् काञ्ची शाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्।(9 आनन्दलहर्याम् 3)

भारतीयवाङ्मयेषु स्तोत्राणां नाल्पीयसी संख्या। कुलशेखरस्य मुकुन्दमालास्तोत्रम् यमुनाचार्यस्य स्तोत्ररत्नम्, कृष्णकर्णामृतं च, लीलांशुकस्य लक्ष्मीसाहस्री (अत्र सहस्रपद्यैः भगवत्याः लक्ष्मीदेव्याः स्तवनं कृतम्)सर्वाण्येतानि स्तोत्राणि संस्कृतस्य विलक्षणोऽक्षययश्च निधिः। विष्णुभक्तानां हि स्वकीयमाराध्यं स्तौतुमस्खलितो वाक्प्रसरो दृश्यते। पण्डितराजो जगन्नाथः शास्त्रपण्डितोऽपि लहरीपञ्चकमाध्यमेनात्मनः इष्टदेवतां समाराधयति । 1–गङ्गालहरी2–अमृतलहरी 3–यमुनालहरी 4–लक्ष्मीलहरी 5–करुणालहरी इति पञ्चधा लहरीभिः स्तवनसागरे तरंगितः पण्डितराजस्यात्मा । कालिन्द्यास्तटे विहरन्तं श्रीकृष्णं गोपिकामुखेन स्तूयमानः कविराह–

स्मृतापि करुणातपं करुणया हरन्ती नृणाम्
अभंगुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि मन्दाकिनी। (10 यमुनालहरी 1)

शैवस्तोत्रेषु उत्पलदेवस्य शिवस्तोत्रावलिः, जगद्धरभट्टस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलिश्च स्तोत्रसाहित्ये प्रथिततरौ ग्रन्थौ स्तः।भगवतः शिवस्य कण्ठे स्थितं महाकालकूटमपि विषं भक्ताय रोचते। भगवत्प्रसादरहितममृतमपि तस्मै अग्राह्यं भवति।काश्मीरक श्रीउत्पलदत्तेन स्पष्टमुक्तम्–

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवदवपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।(11परमेश्वरस्तोत्रावल्याम् 13स्तोत्रम्)

भारतीय–दर्शनेषु तादत्म्यमापन्नाः जैनाः बौद्धाश्च स्वस्वोपास्यानां गुणानुवदमाध्यमेन भारतीयं स्तोत्रवाङ्मयं पुपुषुः।मानतुङ्गाचार्यस्य भक्तामरस्तोत्रम्, सिद्धसेनदिवाकरस्य कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, श्रीवादिराजस्य एकीभावस्तोत्रम्, सोमप्रभाचार्यस्य सूक्तिमुक्तावलिः, जम्बूगुरोः जिनक्षतकादयष्च सुतरां प्रसिद्धि मापन्नाःशून्यवादस्य प्रतिष्ठापकः नागार्जुनः चतुःस्तवम् नामकं स्तोत्रं विलिख्य देशान्तरेष्वपि ख्याति मापन्नः। वेदान्तदेशिकेन पञ्चविंशतिसंख्यातोऽप्यधिकानिस्तोत्राणि विरचितानि। कविः सोमेश्वरः स्वकीये काव्यत्रये (कीर्तिकौमुदी, उल्लासराघवम्, शमशतकम्) स्वाश्रयदातुः भगवतः परमेश्वरस्य च स्तवमतिमनोहारिभिः पद्यैः करोति। नीलकण्ठदीक्षितस्य योग्यतमः विषयो रामभद्रो दीक्षितः शार्दूलविक्रीडितमाश्रित्य रामचापस्तवम् विलिख्य परां प्रसिद्धिमुपगतः।पं.शूरनारायणेन विरचितम् सुदर्शनशतकमपि विदुषां हृदयावर्जकम्। श्रीनिवासाचार्येण विरचितः जानकीचरणचामरः सर्वेशामनुभूतिप्रवणानां चित्तमाकर्षयति। मधुसुसूदनसरस्वती–कृता आनन्दमन्दाकिनी भगवतो विष्णोः सुतरां मनोहरं वर्णनं पुरस्कृत्य भक्तानां चेतांस्यावर्जयति।

श्रीकृष्णगोपिकानां परस्परं प्रेमाणं रासक्रीडां चाभिलक्ष्य माधवभट्टेनातिरमणीयः प्रसङ्गः चित्रितः। नारायणभट्टस्य नारायणीयम्, अप्पयदीक्षितस्य वरदराजस्तवः, उभावपि स्तोत्रग्रन्थौ स्तोत्रसाहित्ये अनितरसाधारणं महत्वं दधाते। अत्र काञ्ची पुरस्य भगवतो वरदराजस्य स्तुतिः गीयते कविना। शक्तितत्वस्य परमोपासकः ऋषिः दुर्वासा नाम आसीत्।तेन भूयांसि शक्तिस्तोत्राणि प्रणीय त्रिपुरा सम्प्रदायस्य क्रोधभट्टारक इत्युपाधिर्लब्धः इति साहित्यिकेषु प्रसिद्धः। अस्यैव पर–शम्भु–महिम्नः स्तवः शिवभक्तेषु प्रसिद्धः।अनेन रचितं

ललितास्तवरत्नम् ललितादेव्याः स्तुतिपरं ग्रन्थरत्नम् ।कश्मीरदेशस्य शिरोभूषणायमानो महाकविः कल्हणः राजतरंगिणीकारः अर्धनारीश्वरस्य स्तोत्रं प्रणिनाय ।अत्र पार्वतीपरमेश्वरौ अतिप्रासादिकतया प्रस्तुतौ ।

पञ्चस्तवी नामकं स्तोत्रपञ्चकं केनचित् कलिदास इति नामधारिणा कविना विरचितम् । अस्मिन् ग्रन्थे 1–लघुस्तुतिः 2–घटस्तवः 3–चर्चास्तुतिः 4–अम्बास्तुतिः 5–जननीस्तवः इति पञ्चविधं स्तोत्रं समुपलभ्यते । गुरुगौडपादाचार्यः सुभगोदयस्तुतिं लिलेख । वस्तुतः स्तुतिगन्थानां विवरणं संकलनं वा नात्राभीष्टम् । यतो हि अनन्ताः खलु स्तुतयः ।स्तुतिग्रन्थानां परिगणनं कर्तुमल्पीयसा कालेन अस्मिन् निबन्धे तेषां नामनिर्देशोऽपि कर्तुं न शक्यते । पुरातनम् ऋग्वेदकालीनं साहित्यमारभ्य ऐदंयुगीनं वाङ्मयमव्याहतरूपेण भगवद्विषयकैः स्तुतिवचनैः आप्यायितम् ।

इदमत्रावधेयं यत् स्तुतिकाव्यानि न केवलं देवताविषयकं स्तवनमेवानुबध्नाति, अपितु महतां विभूतीनां ऋषिकल्पानां सत्पुरुषाणामुदात्तचरितमाश्रित्य बहूनि स्तोत्राणि विरचितानि । कवीन्द्रचन्द्रोदये, कवीन्द्राचार्यमनुलक्ष्यानेकैः कविभिः स्तुतिमयानि पद्यान्युपहारीकृतानि ।महाकविं कालिदासं विषयीकृत्य अष्टाविंशतिकाः कवयः ''कालिदास प्रतिभायाम्' (ग्रन्थोऽयं श्रीधर भास्कर वर्णेकर महोदयेन सम्पादितः ।) कविवर्याणां काव्यनैपुण्यमभिव्यक्तम् । ब्रह्मलीनैः श्रीमद्भिः श्रीधर भास्कर वर्णेकर–महोदयैः 'कालिदास–रहस्यम्' इति ग्रन्थे कालिदासस्य प्रातिभं चक्षुः साक्षात्कृत्य अतिमधुराभिर्वचोभिः महाकवेरात्माप्रकटीकृतः ।

अन्ते ' जयतु जयतु गीता वाङ्मयी कृष्णमूर्तिः ' इति पादान्तं स्तोत्रं प्रगीय प्रज्ञाभारती इत्यभिधानेन भूषितः वर्णेकरमहोदयः स्तोत्रवाङ्मये विशिष्टं महत्वं धत्ते ।

–:सन्दर्भः–

1 मम्मट कृत काव्यप्रकाशः दशमोल्लासः काव्यलिंगालंकारः
2 ऋग्वेदः अग्निसूक्तम् 1.1
3 यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी चमकाध्यायः
4 श्रीमदभागवतपुराणम् 9.4.63)
5 श्रीमद् भगवद्गीता 4.11
6 शिवमहिम्नि 32
7 कालिदासीय ग्रन्थेषु मंगलारचरणे मल्लिनाथः)
8 आनन्दलहर्याम् 1
9 आनन्दलहर्याम् 3)
10 यमुनालहरी 1
11परमेश्वरस्तोत्रावल्याम् 13स्तोत्रम्

भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण

पूजा चौधरी

यह संसार प्रकृति से ही उद्भुत होता है | समस्त जीवों का आश्रय स्थान एकमात्र यही है, अत: प्रकृति के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती | प्रकृति वह जीवनदायिनी शक्ति है जो जीवों में प्राण का संचार करती है | संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा प्राकृतिक उपादानों से परिपूर्ण दिखाई देती है क्योंकि प्रकृति तो साहित्य का मूल होती है | एक साहित्यकार, जो कि इस धरा से जुडा होता है, अपने भावों की अभिव्यक्ति में प्रकृति का विवेचन निश्चित रूप से करता है | प्रकृति, कवि के सर्जनात्मक साहित्य में प्रेरणा का वह स्रोत होती है, जो उसे नवीन आयामों से अभिमुख कराती है | भर्तृहरि भी प्रकृति के सुकुमार कवि है, इनके काव्यों में प्रकृति की सहजता व सरलता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है | इनके तीनो शतक (नीतिशतकम् , श्रृंगारशतकम् तथा वैराग्यशतकम्) प्रकृति के सुन्दर व सुकोमल रूप के कोष ग्रन्थ है, जिनमें जीवन की वास्तविकता के साथ-साथ प्रकृति के रमणीय चित्रों को भी उकेरा गया है | इसीलिए शोधार्थी द्वारा " भर्तृहरिकृत शतकत्रय में प्रकृति चित्रण " विषय पर यह शोध आलेख प्रस्तुत किया गया है |

प्रकृति के प्रति भर्तृहरि की सूक्ष्म दृष्टि शतकत्रय के साहित्यिक सौन्दर्य को चरमोत्कर्ष पर ले जाती है | इसमें वर्णित प्राकृतिक-छटा सहृदयों के हृदय को आह्लादित करती है | बाह्य प्रकृति के अन्तर्गत कवि, हंस के जल-विहार का एक सुन्दर चित्र अंकित करते है-

अम्भोजिनीवन विहार विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता |
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्धकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थ: ||[1]

ऋतु परिवर्तन प्रकृति के विभिन्न रूपों का दर्शन कराता है | श्रृंगारशतकम् में षड्ऋतुओं का ऐसा समायोजन किया गया है, जिसके श्रवण मात्र से ही इन ऋतुओं की अनुभूति हो जाती है | ऋतुवर्णन प्रसंग में भर्तृहरि सर्वप्रथम ऋतुराज वसंत का वर्णन करते है-

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला कलरवैर्मलयस्य च वायुभि: |
विरहिण: प्रहिणस्ति शरीरिणो विपदि हन्त सुधापि विषायते ||[2]

यह तो सत्य ही है की वसंत ऋतु में पृथ्वी पल्लवित व फलित होती है | प्रकृति का पूर्ण सौंदर्य वसंत में ही विस्तृत होता है | पवन, मलयचन्दनयुक्त तथा पुष्प सुगंधयुक्त होते है | कोमल-कोमल आम्रमंजरियाँ नव-जीवन की ओर संकेत करती है | ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी चित्रकार ने समस्त रंगों का प्रयोग कर एक सुन्दर चित्र का निर्माण किया है |

ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में, सूर्य की तप्त किरणें शरीर को सन्तप्त करती है, किन्तु संध्या के समय चन्द्रमा की धवल चांदनी मन को संतोष प्रदान करती है | मनोहर गंधवाली मालाएं, कमलों के पराग-कण , चन्दन का चूर्ण, ताल के पंखे की हवा आदि पदार्थ इस ऋतु में सुख देने वाले होते है |[3]

वर्षा ऋतु में प्राय: नित्य ही आकाश में बादलों का संग्रहण प्रकृति को एक भिन्न रूप प्रदान करता है | नव अंकुरित भूमि, नवीन कुटज, कदम्ब पुष्पों से सुगन्धित उपवन सभी प्राणियों को उत्कंठित करते है | इस ऋतु में मेघ के गर्जन व बिजली की चमक से उल्लसित मयूरों जा वर्णन द्रष्टव्य है –

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूरा: |
क्षितिरपि कंदलधवला दृष्टि पथिक: क्व पातयति ||[4]

पेड़-पौधे, वायु, जल, पर्वत, नदी आदि ये सभी प्रकृति के घटक हैं, जिनमें गंगा को सिर्फ एक नदी न मानकर उसे भर्तृहरि ने ऐसा स्थान माना है, जहाँ व्यक्ति ईश्वरोपासना से अपने परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति सहजता से कर सकते है-

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलितले क्वापि पुलिने
सुखासीना: शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरित:
भवाभोगोद्विग्ना: शिव शिव शिवेत्युच्चवचस: ||[5]

कवि के द्वारा वाराणसी अर्थात् काशी में सुरनदी गंगाजी के तट पर निवास कर, कौपीन वस्त्र धारण कर, भगवान् शिव की आराधना का भी संकेत किया गया है |[6] गंगाजल सर्वाधिक पवित्र एवं शुद्ध होता है, जिसको भर्तृहरि जी ने प्रमाणित किया है |

मानव तथा प्रकृति का अविभाज्य समबन्ध होता है | मानव की भांति पेड़-पौधों में भी सजीवता व भावनाएं होती है तथा ये निरंतर वृद्धि को प्राप्त करते है | इस सन्दर्भ में मनु का कथन है कि –

"अन्त: संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता:" |[7]

इसी प्रकार भर्तृहरि भी ऋतु परिवर्तन के कारण विकसित होने वाले नवपल्लवों का वर्णन करते हैं –

परिमलभृतो वाता: शाखा नवाङ्कुरकोटयो
मधुरविधुरोत्कण्ठाभाज: प्रिया: पिकपक्षिणाम् ||[8]

प्राकृतिक घटक के रूप में ये वृक्षादि, चेतना युक्त होते है तथा समयानुसार इनमें वृद्धि होती जाती है |

प्रकृति सिर्फ जीवन ही नहीं देती अपितु जीवन-निर्वाह के साधन भी उपलब्ध कराती है | इसकी नैसर्गिकता में आनन्द की जो अनुभूति है, वह कृत्रिम वस्तुओं में कहा होती है? कवि के अनुसार जीवनयापन के लिए सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती है, यह प्रकृति ही पर्याप्त है | भुजाएँ तकिये का कार्य करती है, आकाश छत्र का प्रतिरूप होता है, मंद-मंद पवन पंखे की तरह है तथा शरदकालीन चन्द्र प्रकाशमान दीपक के समान है |[9]

वैराग्यशतकम् में मानव तथा पशु-पक्षी के मध्य सामंजस्य का चित्रण भर्तृहरि का प्रकृति के प्रति अटूट प्रेम को प्रमाणित करता है –

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योति: परं ध्यायता-

मानन्दाश्रु जलं पिबन्ति शकुना निश्शङ्कमङ्केशया: |

अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-

क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायु: परं क्षीयते ||[10]

प्रस्तुत पद्य में मनुष्य तथा पक्षियों के मध्य साहचर्य का भाव दृष्टिगत होता है | जहाँ पक्षिगण नि:संकोच होकर स्वच्छंद भाव से तपस्या में लीन मुनियों की गोद में क्रीडा का आनन्द ले रहे है | अत: यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति सहयोग तथा विश्वबंधुत्व की प्रेरणा देती है | पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रथम स्रोत सूर्य है इसके उदित होने पर जीवों में चेतना का संचार होता है | नीतिशतकम् में वर्णित है कि सूर्योदय तथा चन्द्रोदय से क्रमानुसार कमलिनी तथा कुमुदनी का विकास संसार की निरन्तरता को दर्शाता है –

"पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ||[11]

निष्कर्षत: हम यह कह सकते है की भर्तृहरि की वाणी चैतन्या प्रकृति को अभिव्यक्त करती है | इनके काव्य में कहीं प्रकृति का सौम्य रूप दिखाई देता है तो कही कारुणिक रूप | कवि का षड्ऋतुओं के प्रति जो अलौकिक चिंतन है, वह तो सम्पूर्ण धरा को सौंदर्य प्रदान करता है | शतकत्रय में अंकित प्रकृति वर्णन, पर्यावरण चेतना को उद्बोधित करता है | आधुनिक विकासात्मक युग में ये काव्य ही प्रकृति के प्रति सजगता के माध्यम स्वरूप हैं, जो हृदयाह्लाद के साथ-साथ सामाजिक शिक्षा भी प्रदान करते है | अत: भर्तृहरि का शतकत्रय प्रकृति चित्रण की श्रेष्ठता का प्रमाण है |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1) भर्तृहरि, नीतिशतकम्, श्लो. सं- 18, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, १९७०, संस्कृत
2) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 82, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
3) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 88, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
4) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 92, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
5) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 85, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
6) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 87, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
7) शास्त्री, पं श्री हरगोविंद, श्लो. सं- 1/49, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस , संस्कृत
8) भर्तृहरि, श्रृंगारशतकम्, श्लो. सं- 81, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
9) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 94, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
10) भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, श्लो. सं- 14, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६७, संस्कृत
11) भर्तृहरि, नीतिशतकम्, श्लो. सं- 74, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, १९७०, संस्कृत

पुस्तक समीक्षा।

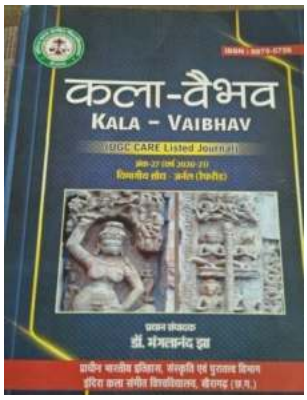

जर्नल का शीर्षक	:	कला–वैभव, अंक 27, वर्ष 2020–21
प्रधान–संपादक	:	डॉ. मंगलानन्द झा, व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
प्रकाशक	:	इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) पिन– 491881
जर्नल का आकार– पृष्ठ संख्या	:	ए/4 साईज़, कुल पृष्ठ संख्या 427, रंगीन आकर्षक कव्हर–पृष्ठ तथा शुभकामना–संदेशः मल्टीकलर्स, फाईन ग्लेज्ड आर्ट पेपर, पृष्ठ संख्या 1–4
मूल्य	:	मुद्रित नहीं है।
विशेष	:	यू.जी.सी. केयर्ड जर्नल, ई.मेल– kalavaibhav@iksv.ac.in

डॉ. मंगलानंद झा (सहायक प्राध्यापक तथा प्रधान–संपादक) के निर्देशन में कला–वैभव वार्षिक, शोध–जर्नल, अंक–27, वर्ष 2020–21, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) पिन कोड 491881, के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित कराये जाना वाला वार्षिक शोध–जर्नल है। यह यू.जी.सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित स्तरीय शोध–परक जर्नल है। इसका ISSN: 0975-5756 है।

'कला–वैभव' का प्रस्तुत अंक–27 अनेक विविधताओं एवं विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। शोध–जर्नल के प्रारंभ में संरक्षक के रूप में पद्मश्री से सम्मानित आदरणीया कुलपति, श्रीमती (डॉ.) मोक्षदा (ममता) चंद्राकर के साथ–संपादक मण्डल के सदस्यों– प्रोफेसर (डॉ.) मृदुला शुक्ल, अधिष्ठाता, कला–संकाय, प्रोफेसर (डॉ.) इंद्रदेव तिवारी, कुलसचिव तथा विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग; पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा, सेवानिवृत्त अधीक्षण पुरातत्त्वविद् एवं पूर्व पुरातात्विक सलाहकार, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, आचार्य (डॉ.) रमेन्द्र नाथ मिश्र, रायपुर, डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, प्रोफेसर (डॉ.) शिवाकांत द्विवेदी, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म.प्र. तथा जर्नल के प्रधान–संपादक डॉ. मंगलानंद झा, खैरागढ़ के नाम संपादक– मण्डल में समाविष्ट हैं। परामर्श–मण्डल के अंतर्गत प्रोफेसर (डॉ.) काशीनाथ तिवारी, अधिष्ठाता, लोक–संगीत एवं कला–संकाय, प्रोफेसर एस.पी. चौधरी, अधिष्ठाता, दृश्य

कला–संकाय तथा प्रोफेसर (डॉ.) हिमांशु विश्वरूप, अधिष्ठाता, संगीत–संकाय, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के नाम सम्मिलित हैं।

विवेच्य जर्नल के प्रारंभ में सम्माननीया कुलपति महोदया जी; कुलसचिव जी तथा अधिष्ठाता, कला–संकाय (प्रोफेसर मृदुला शुक्ल) के आशीर्वचन स्वरूप शुभ–कामना संदेश समाहित हैं, साथ ही शोध–पत्रों की विशद् व्याख्या सहित प्रधान–संपादक का प्रभावशाली संपादकीय अभिव्यक्ति सविस्तार प्रकाशित की गई है।

अनुक्रमणिका के अंतर्गत लेखों के शीर्षकों तथा लेखकों की सूची दी गयी है, जिसमें 85 (पचासी) चयनित शोध–पत्रों को उप–शीर्षकों में विभाजन के साथ प्रकाशित किया गया है। शोध–लेखों की भाषा हिन्दी, संस्कृत तथा आंग्ल भाषा है।

प्रथम उप–शीर्षक के अंतर्गत प्राचीन भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विषयक् शोध–पत्र संख्या 1 से 36 (पृ. संख्या 1–191 तक) दिये गये हैं, जिनमें 31 शोध–पत्रों की भाषा हिन्दी तथा पाँच शोध–पत्र अंग्रेजी में हैं।

द्वितीय अनुभाग चित्रकला के शोध–पत्रों से परिपूर्ण है। विवेच्य उप–शीर्षक के अंतर्गत क्रम संख्या 37 से 46 तक, पृष्ठ संख्या 192–244 तक दस शोध–पत्र चित्रकला विषयक् हैं, जिनमें पाँच हिन्दी तथा पाँच अंग्रेजी भाषा के शोध–पत्र हैं। तृतीय खण्ड में संस्कृत के दो शोध–पत्र क्र.सं. 47 तथा 48, पृष्ठ संख्या 245 से 251 में दिये गये हैं।

चतुर्थ अनुभाग हिन्दी–विषय से संबंधित है, जो क्र.सं. 49 से 56 तक तथा पृष्ठ संख्या 252 से 286 तक हैं। इस उप–खण्ड में दस शोध–पत्रों को प्रकाशित किया गया है।

पंचम अंग्रेजी अनुभाग के अंतर्गत सात शोधपत्रों (क्र.सं. 57–63 तक तथा पृष्ठ संख्या 287 से 311 में समाहित किया गया है।

अगला अनुक्रम षष्ठ–अनुभाग 'संगीत' विषयक् है। इसमें आठ शोध पत्र क्र. संख्या 64 से 71, पृष्ठ संख्या 312 से 348 में समाविष्ट हैं।

सप्तम 'नृत्य' अनुभाग के अंतर्गत पाँच शोध–पत्रों को सम्मिलित किया गया है, जो क्र. सं. 72 से 76, पृष्ठ संख्या 349 से 374 में प्रकाशित हैं।

अष्टम अनुभाग 'लोककला' से संबंधित है। इसमें 77 से 83 तक सात शोध–पत्र हैं– चार हिन्दी तथा तीन अंग्रेजी भाषा से संबंधित हैं, पृ.सं. 375 से 417 तक।

अंतिम नवम उप–खण्ड में 'थियेटर' विषय से संबंधित दो लेख हिन्दी भाषा में हैं, जो क्र.सं. 84–85, पृष्ठ संख्या 418 से 427 तक हैं।

इस प्रकार कला–वैभव के प्रस्तुत अंक में नौ उप–शीर्षकों–प्राचीन भारतीय इतिहास, कला–संस्कृति एवं पुरातत्त्व, चित्रकला, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, संगीत, नृत्य, लोक–कला तथा थियेटर आदि विषयों से संबंधित कुल 85 शोधपरक अनुसंधान पत्रकों को सम्मिलित कर प्रकाशित करना, प्रधान–संपादक, डॉ. मंगलानंद झा का अथक श्रम–साध्य प्रयास है, जो अत्यंत ही सराहनीय है। इसमें प्रधान–संपादक की अकादमिक दक्षता तथा शोध–परक दूर–दृष्टि का समन्वय सन्निहित है। ए–4 आकार में 1–427 पृष्ठों को सुव्यवस्थित रूप से विभिन्न उप–विषयों में वर्गीकरण करना भी अत्यन्त परिश्रम का कार्य है।

प्रस्तुत 'कला–वैभव', अंक 27 (वर्ष 2020–21) का आवरण रंगीन मुख–पृष्ठ बहुत ही आकर्षक एवं मनोहारी है। आवरण के चित्र रतनपुर के कण्ठीदेवल परवर्ती कलचुरि कालीन मंदिर की कला–स्थापत्य से संबंधित हैं। प्रथम आवरण चित्र के पश्चात् द्वितीय आंतरिक आवरण–पृष्ठ में 'छत्तीसगढ़– राज्य–गीत' अत्यंत ही मधुरता से परिपूर्ण है। कव्हर के तृतीय आंतरिक पृष्ठ में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय का सुमधुर भाव–पूर्ण 'कुलगीत' के अतिरिक्त चतुर्थ आवरण के पृष्ठ पर पूर्व में प्रकाशित विभागीय शोध–जर्नल 'कला–वैभव' (संयुक्तांक 24–25 तथा 25–26) के विमोचन से संबंधित चित्ताकर्षक फोटो तथा नीचे 'छत्तीसगढ़ का पुरातत्त्व एवं भावी–संभावनायें विषयक् ऑन–लाईन व्याख्यान' का चित्र दिया गया है, जो विभाग के अकादमिक एवं रचनात्मक क्रिया–कलापों के परिदृश्य की ओर इंगित करता है। जर्नल के आंतरिक पृष्ठों में शोध–पत्रों से संबंधित छायाचित्र (श्याम–श्वेत) दिये गये हैं।

'कला–वैभव' का प्रस्तुत अंक 27 (वर्ष 2020–21) बहु–आयामी स्तरीय शोध–पत्रों तथा अनेक विधाओं से परिपूर्ण वृहदाकार कलेवर में है, जो संबंधित कई विषयों के शोधार्थियों, उच्च–शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों, इतिहासकारों तथा प्रबुद्ध–जनों के लिये अत्यंत ही उपयोगी है।

अनेकशः स्तरीय शोध–पत्रों को आहूत कर उनका संपादन करना; प्रवाहमयी भाषा–शैली, विषय–वस्तु की शोध–परक उपादेयता; स्वच्छ, स्पष्ट एवं शुद्ध परिमार्जित भाषाओं में प्रकाशन इत्यादि प्रस्तुत जर्नल को उच्च–स्तरीय मानकों में प्रतिष्ठित करता है। एतदर्थ, प्रधान–संपादक की कार्य–दक्षता, बौद्धिक–क्षमता तथा अथक श्रम को भी प्रदर्शित करता है। मेरी ओर से प्रधान–संपादक, डॉ. मंगलानंद झा को हार्दिक बधाई एवं शुभ–कामनायें। उन्होंने विभाग के अकादमिक तथा स्तरीय शोध–कार्यों को परंपरागत उच्च–स्तरीय मानकों के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

!! शुभमस्तु !!

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

जे–3 पद्माकर नगर, सागर (म.प्र.)

कला–वैभव

KALA-VAIBHAVA

(UGC CARE Listed Journal)

संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23)

शोध–लेख प्रस्तोता

क्र.	लेखक का नाम एवं पता
1.	Abdul adil paray, Dr. Manoj Kumar, AIHC & Archaeoloty IGNTU Amarkantak (M.P.)
2.	Dr. Anand Kumar Bhoyar Dept. of History Bhagvantrao Arts College Sironcha, Dist. Gadchiroli (M.H.)
3.	Anita Pandey, Prof. (Dr.) I.D. Tiwari I.K.S.V.V., Khairagarh (C.G.)
4.	डॉ. अंजना चौरसिया, सहायक प्राध्यापक नृत्य, शा. महारानी लक्ष्मीबाई कन्या स्थल, महाविद्यालय., इन्दौर
5.	डॉ. अनूप परसाई, डॉ. प्रताप पारख, जे. योगानंदम छत्तीसगढ़ कॉलेज, रायपुर
6.	आराधना चतुर्वेदी, डॉ. मंगलानंद झा, प्रा.भा.इ.सं एवं पु., इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
7.	अरूण मिश्रा (शोधार्थी), संगीत संकाय, अवनद्ध वाद्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
8.	अम्बुज तिवारी (शोधार्थी हिन्दी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
9.	डॉ. अमित कुमार, इतिहास विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय वि.वि., अमरकंटक (म.प्र.)
10.	डॉ. आशुतोष चौरे, संग्रहालयध्यक्ष, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
11.	Dr. C.P. Pramod, Dept. of English, I.K.S.V.V., Khairagarh
12.	डॉ. चैन सिंह नागवंशी 'श्याम', प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि.,खैरागढ़(छ.ग.)
13.	Dr. Debasish chakraborty, Asst. Prof. Dept. of Visual Arts, Assm University, Silchar

14.	देवराज वर्मा (शोधार्थी हिन्दी), कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
15.	Prof. Dinesh Nandini parihar, Bhenu, AIHC & Archreology, Pt. R.S.V.V. Raipur
16.	डॉ. दिवाकर कश्यप, सहा.प्राध्यापक गायन, संगीत संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़(छ.ग.)
17.	प्रोफेसर डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती (पूर्व कुलपति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़) गोकुलम रोड पुट्टापरथी (आ. प्र.) 515134
18.	Jabbar Ahmad, Research Scholar, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
19.	जगदेव नेताम, सहा.प्राध्यापक गायन, संगीत संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
20.	जीतलाल (शोधार्थी हिन्दी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
21.	जितेन्द्र कुमार साखरे, डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय, रानी रश्मिदेवी शास. महाविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)
22.	डॉ. जयति बिश्वास, सहायक प्राध्यापक हिन्दी, वीरांगना अवन्तीबाई शास. महा. छुईखदान (छ.ग.)
23.	Mrs. Juhi Latwal Mehra, Research Scholar, Painting Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
24.	डॉ. के. राजलक्ष्मी, विशाखापट्टनम, आन्ध्रप्रदेश
25.	डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.), जे–3 पदमाकर नगर, सागर (म.प्र.)
26.	Kajal Rahul Bais, Kanchan Thakur, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
27.	कनक शर्मा (शोधार्थी), चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
28.	Dr. Kaushtubh Ranjan, Mrs. Sindhu Nair, Eng. Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
29.	कविता गंगबोईर (शोधार्थी), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
30.	Keshawram (R.Scholar) I.K.S.V.V., Khairagarh
31.	किशनदास महंत (शोधार्थी), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
32.	कुमुद रंजन मिश्र (शोधार्थी हिन्दी), काशी हिन्दु वि.वि., वाराणसी (उ.प्र.)

33.	डॉ. लिकेश्वर वर्मा, सहायक प्राध्यापक गायन, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
34.	Prof. Loveneesh Sharma, Mrs. Srishti Banerjee, School of Fine Arts, Kolkata
35.	मानक चंद टंडन, ग्राम– भरतपुर, पो. निपनिया, जिला–बलौदाबाजार (छ.ग.)
36.	डॉ. मंगलानंद झा, सहायक प्राध्यापक प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
37.	Maninder Singh Dhunna, Research Scholar, Graphics Department, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh, Chhattishgarh
38.	डॉ.मीनू अग्रवाल, एसो.प्रोफे. प्राचीन इतिहास विभाग, एस.एस. खन्ना महिला म.वि., प्रयागराज, (उत्तरप्रदेश)
39.	मोहन कुमार साहू, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
40.	मोहन लाल चढार, सहायक प्राध्यापक, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय वि.वि., अमरकंटक (म.प्र.)
41.	मोनिका साहू (शोधार्थी), लोकसंगीत एवं कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
42.	प्रो. नागेश दुबे, विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, डॉ. हरि सिंह गौर वि.वि., सागर
43.	डॉ. नीलिमा पाण्डेय, एसो. प्रोफे., जे.एन.एम.पी.जी. कॉलेज, लखनऊ वि.वि., लखनऊ (उत्तरप्रदेश)
44.	Niresh Kumar Kurre, Pro. I.D. Tiwari, English Dept., I.K.S.V.V., Khairagarh
45.	Nishant Sunil Zodape, Ph.D. Scholar, Department Of Ancient Indian History, Culture And Archaeology, Visva Bharati, Santiniketan, West Bengal
46.	डॉ. नितेश कुमार मिश्र, सहायक प्राध्यापक, ढाल सिंह देवांगन, भाग्यश्री दीवान (शोधार्थी) प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, अध्ययन शाला पं.र.शं.वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
47.	डॉ.पवन कुमार जांगिड, सहायक आचार्य, चित्रकला, श्री रतनलाल कंवरलाल पाटनी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, किशनगढ़ (राजस्थान)
48.	पूजा चौधरी (शोधार्थी संस्कृत), इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)

49.	डॉ. प्रभाकर कश्यप, सहायक प्राध्यापक–अतिथि, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
50.	डॉ. प्रसन्न सहारे, दाऊचौरा, खैरागढ़ (छ.ग.)
51.	प्रशांत चौरे (शोधार्थी इतिहास), प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
52.	प्रियंका ठाकुर, एम.फिल.छात्रा, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहील, शिमला (हिमाचल प्रदेश)
53.	पुनीत पटेल, अति.व्याख्याता, अवनद्ध वाद्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
54.	डॉ.पूर्णिमा केलकर, सहायक प्राध्यापक संस्कृत, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
55.	Dr. Rabi narayan Gupta (Ass. Prof. Graphics) I.K.S.V.V., Khairagarh
56.	प्रो. राजन यादव, अधिष्ठाता–दृश्यकला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
57.	डॉ. राखी कुमारी, सहायक प्राध्यापक छापाकला, कला एवं शिल्प महाविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)
58.	रंजीत कुमार मोहने, कला संकाय, नाट्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
59.	Rashid manzoor Bhat (R.Scholar) Dept. of History, Anna malai University , Annamalai nagar Tamilnadu
60.	Ratna Successena Japan Pulla , Dr.E.V. Padmaja, Acharya Nagarjuna University, Dept of History & Archaeology
61.	Rudra Prasad Behera Assistant Curator, Panchanan Mishra,Chemical Assistant ,Odisha State Archaeology, Bhubaneswar, Shankar Jai Kishan,Curatorial Associate, Bihar Museum, Patna, Bihar
62.	शबीना बेगम (शोधार्थी), प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरा. , पं.र.शं. वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
63.	Dr. Sandeep Kumar Chaudhary, Deptt. of AIH and Archaeology,University of Lucknow, Lucknow **(**U.P.)
64.	एस. कुमार, डॉ. सपना शर्मा सारस्वत समाज शास्त्र विभाग, शा. वि. या. ताम. स्व. स्नात. महावि., दुर्ग (छ.ग.)

65.	डॉ. सरिता साहू, शास.पु.मा. शा. धौराभाठा, दुर्ग (छ.ग.)
66.	Dr. Satya Prakash Prasad (Corresponding Author),Assistant Professor, Department of Applied Sciences, Faculty of Engineering and Sciences, Jamia Millia Islamia, New Delhi. Dr. Shiv Kumar, Assistant Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi, UP
67.	Dr Satya Prakash Prasad Assistant Professor,Anisha Kaul and Abhishek Jha, Research Scholars, Applied Sciences and Humanities (English),F/o Engineering and Technology Jamia Millia Islamia , New Delhi
68.	शीतल कुमार उरांव (शोधार्थी कथक नृत्य), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
69.	डॉ. शिल्पी, संगीत शिक्षिका, दाऊदपुर
70.	Shipra Singh Chauhan, Research Scholar, School of Studies in Travel & Tourism Management, Jiwaji University, Gwalior, Madhya Pradesh
71.	डॉ. श्रुति अम्बेश चन्द्र, शिक्षक कॉलोनी, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
72.	डॉ. शुभ्रा रजक, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरा. , पं.र.शं. मुठ वि.वि., रायपुर (छ.ग.)
73.	Shweta Mour, Ashok Singh Rao, Department of Arts, Mody University, Laxmangarh, Sikar, Rajasthan (332311)
74.	डॉ. सुधीर कुमार उपाध्याय, वरष्ठि पत्रकार, दैनिक भास्कर, रायपुर (छ.ग.)
75.	सुमन साहू, शोध छात्रा, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
76.	सुनील कुमार, सहायक प्राध्यापक, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज (उत्तरप्रदेश)
77.	रूकैया खानम (शोधार्थी), तनुजा सिंह, आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
78.	Dr. Tirthraj Bhoi, Sr. Assistant Professor, Department of History School of Social Sciences University of Jammu Jammu-180006, JKUT
79.	डॉ. उमेंद कुमार चन्देल, रानी रश्मिदेवी शास. महाविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

80.	डॉ. विधा सिंह राठौर, अतिथि व्याख्याता, लोकसंगीत एवं कला संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)
81.	विनय कुमार, काशी हिन्दु वि.वि., वाराणसी (उत्तरप्रदेश)
82.	Mr. Varij Khanna, Prof Loveneesh Sharma, Student, School of Fine Arts, Amity University, Kolkata (West Bengal)
83.	विशाल कुमार (शोधार्थी कथक नृत्य), नृत्य संकाय, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ (छ.ग.)

मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर
(पद्मश्री से सम्मानित)
कुलपति
Mokshada (Mamta)
Chandrakar
(Recipient of Padam Shri)
Vice Chancellor

इन्दिरा कला संगीत
विश्वविद्यालय,
(संगीत, नृत्य एवं ललित कलाओं का
विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़ – 491881
Indira Kala Sangit
Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC, DANCE AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग द्वारा विभागीय शोध–जर्नल कला–वैभव (**UGC CARE Listed Journal**), संयुक्तांक 28–29 (वर्ष 2021–22, 2022–23) का प्रकाशन हो रहा है।

इस शोध पत्रिका में छत्तीसगढ के साथ– साथ भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य, लोककला एवं संगीत की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित लेख समाहित हैं। एक ही शोध–पत्रिका में अलग अलग विषयों से सम्बन्धित लेखों के समावेश से यह शोध–जर्नल अध्येताओं, शोधार्थियों एवं कला मर्मज्ञों के लिए उपयोगी तथा संग्रहणीय होगा।

संपादक को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ ...

(कुलपति)

प्रोफेसर (डॉ0) आई.डी.तिवारी
कुलसचिव

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

मैं अत्यन्त गौरवान्वित महसूस कर रहा हूँ कि यू. जी.सी केयर लिस्टेड जर्नल कला–वैभव, संयुक्तांक 28-29 का प्रकाशन होने जा रहा है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, विभाग द्वारा प्रकाशित शोध जर्नल कला–वैभव आज के प्रतियोगीशील युग में भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध संस्थानों , तकनीकी केन्द्रों आदि के लिए संग्रहणीय एवं पठनीय है, जो स्वर्णिम कैरियर के लिए लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। उक्त शोध–जर्नल के सफलतम सम्पादन एवं अनवरत प्रकाशन हेतु डॉ० मंगलानंद झा, (प्रधान संपादक) को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ देता हूँ।

अमित शुभकामनाओं सहित.....

(कुलसचिव)

प्रो0(डॉ0) काशीनाथ तिवारी
अधिष्ठाता, कला–संकाय

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का विश्वविद्यालय)
खैरागढ़, छत्तीसगढ़
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, विभाग द्वारा प्रकाशित शोध–जर्नल (यू.जी.सी केयर लिस्टेड) कला–वैभव संयुक्तांक 28–29 का प्रकाशन हो रहा है।

छत्तीसगढ़ राज्य के साथ–साथ देश के विभिन्न क्षेत्रों की कला, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य, लोक–कला एवं थियेटर आदि से संबंधित 'शोध–लेखों' के समावेश से यह शोध–पत्रिका विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित शोधार्थियों, अध्यापकों एवं कला प्रेमियों के लिए निश्चय ही पठनीय तथा संग्रहणीय है। इसके अनवरत प्रकाशन के लिए संपादक डॉ. मंगलानंद झा बधाई के पात्र हैं।

अनंत शुभकामनाओं सहित.....

(प्रो० काशीनाथ तिवारी)

सम्पादकीय

या सांगोपांगवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती।।

(अर्थात् अंग और उपांग सहित ऋग्वेदादि चतुर्वेद एकमात्र जिसकी स्तुति करते हैं, वही अद्वैत ब्रह्म की शक्ति (सरस्वती) हमारा पालन करें)

भारत वर्ष की वसुन्धरा सृष्टि के समय से लेकर वर्तमान तक नित्य निरन्तर उर्वरा रही है। संगीत, नृत्य, चित्रकला, लेखनकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला आदि विधाओं में मानव की प्रगतिशीलता एवं रचना प्रियता का आभाष होता है। प्रागैतिहासिक कालीन समाज को आमतौर पर असभ्य माना जाता है, पर ऐसा कुछ भी नहीं था। उस समय के मनुष्य पग–पग पर अपनी आवश्यकता के अनुरूप आविष्कार में संलग्न थे। इतिहास गवाह है कि आदिमानवों ने ही कृषि, समाज, अग्नि, हल, कृषि, पहिया, गांव, प्रशासन, रीति–रिवाज, वस्त्र, धर्म, देवी–देवता आदि का समयानुरूप आविष्कार कर उनका विकास व प्रचार–प्रसार किया था। सिन्धु घाटी सभ्यता तो प्राचीन मानव के अत्याधुनिक प्रगतिशीलता को प्रदर्शित करते हैं। लेखनकला में तो मानव समाज इतना विकसित हो गया था कि उन्होंने वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, महाभाष्य, अष्टाध्यायी, चरक संहिता, धर्मसूत्र एवं स्मृति आदि ग्रंथों की रचना करके प्राचीन भारतीय समाज को अनुशासित एवं नियोजित किया।

प्राचीन भारतवर्ष महान आत्माओं की जन्मभूमि भी रही है। श्रीराम जी, श्री कृष्ण जी, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, गुरु नानक देव, कबीरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि का जीवन दर्शन आज भी समूचे विश्व के लिए अनुकरणीय है। इन्हीं महान आत्माओं की श्रेणी में तत्कालीन खैरागढ़ रियासत के महाराज राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं रानी पद्मावती देवी भी है जिन्होंने कला एवं ललितकला शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए अपना वैभवयुक्त विशाल राजमहल को दान में अर्पित कर दिया। जिसमें आज एशिया प्रायःदीप का प्रथम संगीत विश्वविद्यालय संचालित है। जिसका जनप्रिय नाम इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय है। इसी विश्वविद्यालय के हृदय स्थल में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग स्थित है जो प्रतिवर्ष कल–वैभव नामक विभागीय शोध जर्नल का प्रकाशन करता है। अभी तक इस शोध जर्नल के 27 अंक प्रकाशित हो चुके हैं, जो भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शिक्षण संस्थाओं, शोध केन्द्रों आदि के केन्द्र बिन्दु में स्थित रहे हैं।

वर्तमान में शोध जर्नल कला–वैभव संयुक्तांक 28–29 हेतु भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध–केन्द्रों पुरातत्व संचालनालय, तकनीक क्षेत्रों आदि में